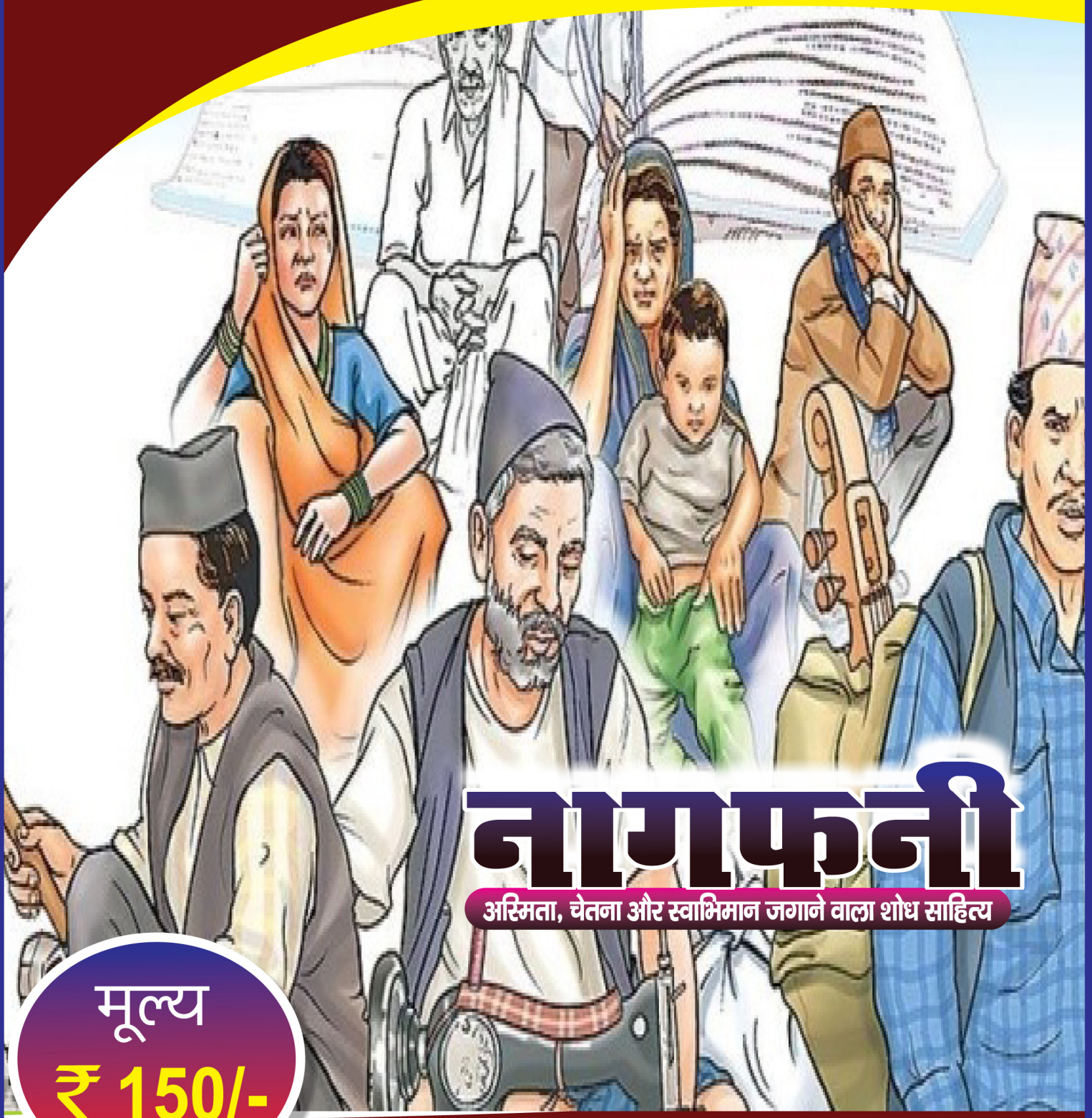
UGC Care Listed

त्रैमासिक साहित्यिक शोध पत्रिका

ISSN-2321-1504 Nagfani
RNI No. UTTHIN/2010/34408

वर्ष-13, अंक-44, जनवरी - मार्च 2023



नागफनी

अस्मिता, चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला शोध साहित्य

मूल्य
₹ 150/-

अगामी अंक की सूचना

अप्रैल से जून 45वाँ अंक के लिए आगामी 30 मई 2023 तक ही आलेख स्वीकार किये जायेंगे। 30 मई के बाद प्राप्त आलेख को उसके आगे वाले अंक के लिए रखा जाएगा। शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको मेल से ही सूचित किया जाएगा। इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं। स्वीकृति संबंधी मेल प्राप्त होने के बाद सदस्यता के बारे में जानकारी के लिए सम्पर्क कर सकते हैं. सदस्यता के संबंध में नागफनी के वेवसाइट पर विस्तार से जानकारी दी गयी है."नागफनी" अस्मिता,चेतना,और स्वाभिमान जगाने वाली त्रैमासिक साहित्यिक शोध पत्रिका है। इस पत्रिका को यूजीसी केयर लिस्ट मे शामिल किया गया है पत्रिका का ISSN-2321-1504 nagfani और RNI No-UTTHIN/2010/34408 नम्बर है। साथ ही यह Peer Reviewed Referred journal है। आलेख nagfani81@gmail.com पर भेजने का कष्ट करें। व्यक्तिगत पंच वार्षिक सदस्यता लेने पर पांच साल तक पत्रिका मिलेगी। शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको मेल से ही सूचित किया जाएगा। इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं ।

आलेख भेजने संबंधी निर्देशः–

- शोधालेख यूनि कोड kokila फॉन्ट 16 साइज में तथा एरियल युनिकोड में टाइप करके word और PDF दोनों में भेजना है ।
- मौलिकता और प्लेगरिज्म संबंधी प्रमाण–पत्र
- अन्य किसी टाइप फान्ट को स्वीकृत नहीं किया जाएगा।
- आलेख मेल पर भेजने के बाद आलेख स्वीकृति/अस्वीकृति की सूचना मेल पर ही दी जाएगी ।

धन्यवाद!

नागफनी

A Peer Reviewed Refereed Journal
(अस्मिता चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला शोध साहित्य)
UGC Care Listed Journal त्रैमासिक साहित्यिक शोध पत्रिका
ISSN-2321-1504NaagfaniRNI No.UTTHIN/2010/34408

वर्ष-13 अंक 44,जनवरी-मार्च-2023

संपादक
सपना सोनकर

सह संपादक
रूपनारायण सोनकर

Co Editor(English
Prof.Rajesh karankal
Dr.Santosh Kumar Sonkar

कार्यकारी संपादक
डॉ.एन.पी.प्रजापति

सलाहकार मण्डल (Peer Review Comittee)

प्रोफेसर विष्णु सरवदे, हैदराबाद (तेलंगाना)
प्रोफेसर आर. जयचंद्रन तिरुअनंतपुरम (केरल)
प्रोफेसर दिनेश कुशवाह,रीवा (मध्य प्रदेश)
डॉ.एन. एस. परमार, बड़ौदा (गुजरात)
प्रो. दिलीप कुमार मेहरा, बी.बी.नगर (गुजरात)
डॉ.उमाकांत हजारिका, शिवसागर(असम)
प्रोफेसर संजय एल. मादार,धारवाड़ (कर्नाटक)
प्रोफेसर गोबिन्द बुरसे, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
डॉ.दादा साहेब सालुनके, महाराष्ट्र (औरंगाबाद)
प्रोफेसर अलका गड़करी, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
प्रोफेसर मोहनलाल 'आर्य' मुरादाबाद (उत्तर प्रदेश)
डॉ.जी.व्ही .रत्नाकर हैदराबाद(तेलंगाना)

प्रकाशन/मुद्रण

प्रकाशक रूपनारायण सोनकर की अनुमति से डॉ.एन.पी.प्रजापति द्वारा नमन प्रकाशन–423/Aअंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली 11002 में प्रकाशन एवं मुद्रण कार्य।

मुख पृष्ठ– उत्कर्ष प्रजापति, सिंगरौली - मध्यप्रदेश

संपादकीय/व्यवस्थापकीय कार्यालय

दून व्यू कॉटेज स्प्रिंग रोड, मंसूरी -248179, उत्तराखण्ड, दूरभाष : 0135-6457809 मो.0941077718

शाखा कार्यालय

पी.डब्ल्यू. डी. आर. -62 ए ब्लॉक कॉलोनी बैढ़न, जिला-सिंगरौली म. प्र. पिन-486886 मो. 09752998467
सहयोग राशि -150/-रुपये, वार्षिक सदस्यता शुल्क (संस्था के लिए)-1500/-रुपये, पंच वार्षिक सदस्यता शुल्क (व्यक्ति के लिए)-3000/-रुपये पंच वार्षिक संस्था और पुस्तकालयों के लिए –3500/-रुपये, विदेशों में$50 आजीवन व्यक्ति-6000/-रुपये,संस्था-10,000/-रुपये।

सदस्यता शुल्क एवं सहयोग राशि-Dalit Utkarsh Samiti–A/C–31590110006504
IFSC Code-UCBA0003159 Branch-Waidhan ward no 40

नोट:-पत्रिका की किसी भी सामग्री का उपयोग करने से पहले संपादक की अनुमति आवश्यक है। संपादक-संचालक पूर्णतया अवैतनिक एवं अध्यवसायी हैं।**'नागफनी'**में प्रकाशित शोध-पत्र एवं लेख, लेखकों के विचार से सलाहकार मंडल की सहमती के उपरांत ही प्रकाशित किया जाता है।**'नागफनी'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल देहरादून न्यायालय के अधीन होंगे। अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है। सारे भुगतान मनीऑर्डर, बैंक/चेक/बैंक ट्रांसफर/ई-पेमेंट आदि से किए जा सकते हैं। देहरादून से बाहर के चेक में बैंक कमीशन 50/-अतिरिक्त जोड़ें दें।

लेख भेजने के लिए –Mail-ID- nagfani81@gmail.com
पत्रिका के बारे मे विस्तार से जानने के लिए देखें Website:–http:naagfani.com

दलित उत्कर्ष समिति के सौजन्य से प्रकाशित

संपादकीय 3

साहित्यिक विमर्श

1. भारतीय समाज और इतिहास की वैचारिकी सत्ता: एक विश्लेषण-**सूरज प्रकाश बडत्या** 4-8
2. हिन्दी गीत और ग़ज़ल का प्रतिबिंबात्मक वैशिष्ट्य-**डॉ.शिव शरण कौशिक** 9-12
3. गढवाल हिमालय के लोकगीतों की भाव सम्पत्ति-**डॉ.डी.एस.भण्डारी** 13-14
4. स्वातंत्र्योत्तर आलोचना के आधार स्तंभ: नामवर सिंह-**चेतन चंद्र जोशी** 15-16
5. 'वीमा' नाटक में व्यक्त विविध समस्याएँ- **डॉ.भुरे बालाजी श्रीपती** 17-19
6. कृष्णा सोबती के उपन्यासों में चेतना के विविध आयाम-**रश्मि पुशाम** 20-21
7. 'छत पर दस्तक' कहानी का मूल्य -बोध-**डॉ.सुषमा चौधरी** 22-23
8. अमृतलाल नागर का 'महाकाल' उपन्यास : प्राकृतिक आपदा कोरोना के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता-**डॉ.बोबडे जयंत ज्ञानोबा** 24-26
9. हिंदी कहानी में चर्चित वृद्ध समस्याएँ -**डॉ.एन. लावण्या** 27-30
10. पत्रकारिता के बदलते आयाम:एक दृष्टि-**अमित कुमार गौतम &प्रो.दिनेश कुशवाह** 30-31
11. मुक्तिबोध की कविता में सत्ता के विरूद्ध संघर्ष-**डॉ.सुनीता कुमारी** 32-33
12. हरिशंकर परसाई की रचनाओं में व्यक्त व्यंग्य की प्रासंगिकता- **डॉ.कृष्ण विहारी राय** 33-35
13. नयी कविता और प्रयोगवाद-**अनिल मेरावी&डॉ.गंगाधर ढोके** 35-36

स्त्री विमर्श

1. दलित साहित्य में स्त्री:बदलते प्रतिमान-**रजिला. ओ.पी.** 37-38
2. सुब्रमण्यम भारती के साहित्य में नारी मुक्ति-**डॉ.के.महालक्ष्मी** 38-39
3. 'रसीदी टिकट' और 'कस्तूरी कुण्डल बसै' स्त्री संघर्ष का दस्तावेज-**अनू पाण्डेय&डॉ.विश्वजीत कुमार मिश्र** 40-41

दलित विमर्श

1. सनातन : भारतीय सामाज व्यवस्था का पोस्टमॉर्टम-**प्रा.डॉ. गिरीश मोरे** 42-51
2. सामाजिक विसंगतियों एवं दलित जीवन की त्रासदी का दस्तावेज़: 'गट्टर का आदमी'-**डॉ.पान सिंह** 52-55
3. हिंदी कथा साहित्य में अस्मिता मूलक विमर्श:विविध आयाम-**प्रो.डॉ.एम.डी.इंगोले** 56-57

आदिवासी विमर्श

1. भारत में जनजातीय विकास: आशाएं और योजनाएं-**डॉ.संजय यादव** 58-61
2. बालाघाट जिले के जनजातीय समाज की समस्याएं-**नीतेश मेश्राम&डॉ.मधुलिका श्रीवास्तव** 61-63

विविध विमर्श

1. अनुवाद में प्रोक्ति,परिवृत्ति की अवधारणा-**डॉ.श्रीराम हनुमंत वैद्य** 64-66
2. श्रीमद्भागवत में तरु पूजा-**डॉ.राखी गुप्ता** 67-68
3. भारत में विवाह के बदलते आयाम सामाजिक विधिक अध्ययन-**दिनेश कुमार** 68-69
4. वेदों में वनस्पति व औषधीय प्रबंधन-**मोनिका सिंघानिया&डॉ दीप्ति वाजपेयी** 70-73
5. भारत में समावेशी शिक्षा और उसकी उपादेयता: एक शैक्षिक अध्ययन-**डॉ.राजकुमारी गोला** 73-75
6. लॉकडाउन के दौर में दो प्रमुख हिंदी अखबारों की रिपोर्टिंग का विश्लेषणात्मक अध्ययन-**निखिल शर्मा&डॉ.कुंजन आचार्य,** 76-80

Canonical Literary Discourse

1. The changing discourse of Subalterns: From subordination to dominance-**Jayini Bhaumik& Bikram Ghosh&Dr. Bidisha Ghosh Dastidar** 81-82

Feminist Discourse

1. STRUGGLES OF MODERN INDIAN WOMEN IN THE NOVELS OF SHOBHA DE AND SHASHI DESPANDE.-**Birendra Kumar Pandey** 83-85

Others

1. Unemployment problem among graduates -A study in the Dima Hasao district of Assam-**Ms.Tina Bardhan & Dr Mousumi Borah** 86-89
2. A Study of Impact of Modern Technologies on Society-**Dr. Mohan Lal 'Arya'** 90-93
3. DEPICTIONS OF CHILDHOOD AND INNOCENCE: A COMPARATIVE STUDY OF ROALD DHAL AND R.K NARAYAN-**Raghwendra Prasar** 93-94
4. A Study on : Environmental Impact Assessment (EIA)-**Nabamita Nath** 95-98
6. RELATIONSHIP BETWEEN FRUSTRATION TOLERENCE &MENTAL HEALTH OF SECONDARY SCHOOLGOING ADOLESCENTS- **DR.Bimal Mandal** 99-101
7. Re-reading Disability: A Study of Ishan Mushahari's Bodo Short Story "Abari"-**Dr.Chandrima Sen** 101-103
8. MENTAL HEALTH DISORDER IN ADOLESCENTS-**Tuli Bhattacharya** 104-105
9. Learning as a Bystander: Case of *Lakshami* in Shyam Benegal's *Ankur*-'**Vaishali Yadav** 106-108

10.धर्मवीर भारती कृत उपन्यास 'गुनाहों का देवता' की लोकप्रियता के प्रमुख कारण-**भारती** 109-112

11. Lonely Gods and Urban Ghosts: An Exhibition of Existential Struggles in Selected Indian English Novels- **Dr. Dharmendra Kumar Singh** 113-117

12. यू.पी.बोर्ड कें माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की अभिवृत्ति का उनकी शैक्षिक उपलब्धि के परिपेक्ष्य मे अध्ययन–**नवनीत कुमार , डॉ प्रदीप कुमार** 118-120

13. Indian Knowledge System (IKS): A Blueprint of the Purushartha Scheme for Human Flourishing-**Abnish Singh Chauhan** 121-126

14.The Impact of the Menstrual Cycle on an Athlete's Performance-**Dr. Ayaz A. Khan, Dr. Alok Kumar Singh,Prerna Mishra** 127-129

15.हिंदी रंगमंच पर लोककला का प्रभाव-उदय सिंह मीना 130-134

16.भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में नवजागरण की भूमिका-डॉ.अभिषेक कुमार पटेल 135-137

17.Buddhist Wisdom for Emotional Well-being: Overcoming Negativity Through Mindfulness-***Reeta Rani ,Dr Shiv Nandan Maurya*** 138-143

18. अमरकान्त की कहानियों में स्त्री अंतर्मन-**डॉ. राजवंती** 144-146

19. दोहरा अभिशाप : आत्मकथा में स्त्री जीवन संघर्ष-**भारती** 147-149

20. डॉ. एस. राधाकृष्णन के अनुसार सार्वभौमिक धर्म: भारतीय धार्मिक चिंतन का एक आधुनिक रूपरेखा- Ghaneshyam Mandal, Dr. Reeta Kumari Sharma 150-153

21. हिन्दी के संस्मरण में भाषा-शैली का महत्व क्यों जरूरी है-**निशांत शेखर** 154-156

22. झारखंड की जनजातीय महिलाओं में सशक्तिकरण एवं स्वावलंबन में शिक्षा का महत्व-डॉ. जुई बनार्जी ,डॉ.रीता कुमारी शर्मा 157-159

23.योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' सतसई और बिहारी सतसई में चित्रित नीति तत्व-शोधनिर्देशक,डॉ.मंजूनाथ एन अंबिग 160-162

24. The Role of Criminal Liability in Contemporary Society and Its Impact on Modern Criminal Law-**Dr. Inderpreet Kaur Narang** 163-172

25.सतत पारिस्थितिकीय पर्यटन-**डॉ. मनोरमा मिश्रा** 173-176

26.भारतीय संघवाद का अवलोकन: अवसर और चुनौतियाँ-**डॉ. सीमा शर्मा** 177-181

27.महात्मा गांधी और सत्याग्रह-**प्रो. आशुतोष कुमार** 182-184

28.महात्मा ज्योतिबाफुले की बाल्यकालीन परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन-**सोनिया पटेल,डा. विपिन कुमार सिंह** 185-187

29. Nature, Biodiversity and Indian knowledge system: Philosophical inquiry -Dr. Abhishek Upadhyay , Swati Kumari 188-194

30. **सपर्क भाषा के रूप में हिन्दी: संप्रधायिक सद्भावना का प्रतिक -** टोकपेट पेर्टिन 195-195

31. शङ्कराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध : एक भ्रान्ति-डॉ० शारदा गौतम 196-197

32. Uniformity of Sentence Structure in Translation: A Case of English Translation of Japanese Sentences-Kumar Surya Prakash 198-202

33. Effect of Menstrual Cycle on Physical Fitness of Football Players-Prerna Mishra ,Dr. Ayaz A. Khan ,Dr. Alok Kumar Singh 203-205

34. खाद्य सुरक्षा योजनाएँ और उनका कार्यान्वय (धनबाद जिला के संदर्भ में) –डॉ. ममता कुमारी 206-208

35. हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श -एकता 209-211

36. असम के नाट्य साहित्य का विकास -डॉ. अजय कुमार 212-214

37. आधुनिक शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन के शैक्षिक विचारों की प्रासंगिकता– डॉ.हेम चन्द्र,डॉ.गीता तिवारी पाण्डे 215 –218

38. योग शिक्षा के प्रति उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की अभिवृत्ति का अध्ययन–मंजरी तिवारी, संगीता पवार 219–223

39. गुप्तकालीन अभिलेखों में धार्मिक समरसता–डॉ.सुरेन्द्र कुमार यादव, भरत यादव 224–229

40. निम्न मध्यवर्गीय स्त्री जीवन का संघर्ष (लौटना नही हैं उपन्यास के विशेष संदर्भ में) -शहनाज 230-233

41. 'संस्कार' उपन्यास में परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्व- डॉ. श्वेता 234-237

42. आर्ष महाकाव्यों में पर्यावरणीय नीतिशास्त्र : एक अध्ययन - डॉ. धनञ्जय मणि त्रिपाठी 238-241

43. भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में शक्ति(देवी)का विकास एवं मिथिला : एक समीक्षात्मक अवलोकन—-नीतू कुमारी , डॉ अजय कुमार झा 242-246

44. Negotiating Language and Power in Medieval North India-Sumit Bhardwaj 247 –250

45. वेदः प्रमाणम्- डा "आर् शिवकुमारस्वामि 251-255
46. Integrating Geographic Analysis to Assess Agricultural Viability in Rural Development in Bilhaur Tahsil Kanpur Nagar U.P.-Durgesh Singh, Mohit Singh, Vijay Jayswal 256-264
47. मधुसूदन सरस्वती सम्मत भक्ति साधन रूप चित्तदुर्ति-डॉ. संदीप कुमार ,डॉ. महीप कुमार मीना 265-266
48. प्रगतिशील साहित्य (कविता) का यथार्थवादी आग्रह- डॉ० बालेन्द्र सिंह यादव 267-269
49. दलित समाज और उनकी आर्थिक स्थिति-अतुल कुमार 270-273
50. संजीव की कहानियों में मध्यवर्गीय मानवीय संवेदना का यथार्थ-प्रो. इंदु वीरेंद्रा 274-278
51. शिवमंगल सिंह सुमन की कविताओं में राष्ट्रीयता के स्वर -आरती कुमारी मिश्र 279-283
52. Biological Basis in the Emergence and Development of Learning Disabilities: Understanding the Past and Shaping the Future-Vidyasagar Maurya 284-300
53. अनामिका की कविताओं में समसामयिक स्त्री चिंतन - विश्वजीत सिंह 301-303
54. आधुनिक संदर्भों में संस्कृत का उपयोग-विज्ञान योग और दर्शन के परिप्रेक्ष्य में --श्रीमती सुषमा 304-315
55. हिंदी साहित्य में बनारस नगरी और क्षेत्र के रचनाकारों का योगदान--डॉ. सन्मुख नागनाथ मुच्छटे 316-318
56. राष्ट्रबोध की कविता: पं. सोहनलाल द्विवेदी के काव्य में युगध्वनि-डॉ. मनोज कुमार स्वामी 319-322
57. बाजार आबाद और किसान बर्बाद की दास्तान 'ढलती साँझ का सूरज'--डॉ. मनोहर भंडारे 323-324
58. नाट्य प्रक्रिया के विविध सोपान -प्रतीक कुमार यादव 325-328
59. नारदपुराण में दार्शनिक तत्व-हलधर भारद्वाज 329-332
60. समान नागरिक संहिता: अनुच्छेद 44 का विश्लेषण-राजू 333-334
61. दिनेश चमोला "शैलेश" के काव्य में मूल्य-बोध-रश्मि पी हेगडे,डा.मंजुनाथ एन अंबिग 335-337
62. 'ग्लोबल गाँव के देवता' में अभिव्यक्ति आदिवासी समुदाय का सामाजिक चिंतन-पवन कुमार 338-341
63. 'धरती धन न अपना' में दलित जीवन संदर्भ-सुरेन्द्र 342-345
64. "शिकंजे का दर्द" आत्मकथा में चित्रित दलित जीवन-डॉ सीमा 346-347
65. हिंदी उपन्यासों की दृष्टि से आदिवासी जीवन का कथात्मक पुनर्पाठन -डॉ.वी.गोविन्द 348-349
66. पर्यावरण की कीमत पर विकास--शुभम यादव 350-353
67. विभाजन विमर्श और पसमांदा मुस्लिम समाज: सन्दर्भ 'छाको की वापसी'-- राहुल कुमार यादव 354-357
68. मुझे पहचानो (संजीव) उपन्यास में अभिव्यक्त भारतीय सरोकार (स्त्री , धर्म , राजनीति के आलोक में)- डॉ अंकिता विश्वकर्मा 358-360
69. 'जहरीली जडे': मानवीय संवेदनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति- प्रो. रामाश्रय सिंह 361-363
70. दक्षिण एशिया में नृजातीयता की समस्या: पाकिस्तान के विशेष संदर्भ में-पूजा 364-369
71. पूर्वाञ्चल के लोक कहावतों का सामाजिक संदर्भ - -नंदकिशोर प्रसाद 370-372
72. Ambedkar's Vision and the Crisis of Social Justice in Modern India-Dr. Minati Kalo 373-376
73. श्रौत यज्ञानुष्ठान स्वरूप एवं अधिकार विधि मीमांसा -श्री प्रकाश पाण्डेय, प्रो.दया शंकर तिवारी 377-381
74. ढूंढ़ाड़ी भाषा के लोकगीतों में स्त्री और समाज--डॉ. रामचंद्र मीना 382-384
75. लोक संस्कृति में मौखिक साहित्य-कु शीतल 385-388
76. स्वाधीनता आंदोलन में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान-प्रो. प्रदीप कुमार 389-392
77. अमरकान्त की कहानियों में स्त्री अंतर्मन-डॉ.राजवंती 393-395
78. प्रेमचंद की परंपरा में दलित विमर्श और चेतना-तानिया लाम्बा 396-400
79. शोध केन्द्रित सवालों की जाँच-पड़ताल- भारती 401-403
80. नैषधीयचरितम् महाकाव्य में आध्यात्मिक चेतना-भुवनेश भारद्वाज 404-407
81. भारतीय भाषाओं की वर्तमान स्थिति और विदेशीकरण का प्रभाव- कविता शर्मा 408-410
82. द्वितीय नगरीकरण के काल में बौद्ध विहार और स्तूप: शहरी संरचना एवं सांस्कृतिक परिवर्तन-देवेश तिवारी 411-415
83. स्त्रियों के हिस्से का लोकतन्त्र : झूलानट के बहाने स्त्री-विमर्श-डॉ चेतन आनंद 416-419
84. ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहित डॉ. रावुरि भरद्वाज की कहानियों में चित्रित जनमानस की समस्याएँ 'जो धनवान है - वही प्रधान है '-सय्यद मक़सूद 420-422
85. इक्कीसवीं सदी के प्रमुख दलित उपन्यास : एक अध्ययन--दीपक कुमार अहिरवार , डॉ. संतोष कुमार अहिरवार 423-427
86. Dhamma and Economics in the Age of Artificial Intelligence: Toward an Ethical Framework for Human-Centred Development-Avinash Kumar,Dr. Chandan Kumar 428-433
87. कबीर का रहस्यवाद-- परमार रेखा बेन मनुभाई 434-435
88. हिंदी दलित आत्मकथाओं में प्रयुक्त शैली का तुलनात्मक भाषिक विश्लेषण -डॉ.आंचल यादव 436-440
89. पाठ्यचर्या की अवधारणा : एक सैद्धांतिक अन्वेषण-निपुण निशान्त, नेहा भगत,अखिलेश कुमार गौतम 441-445
90. तालाबों का क्षेत्र के सामाजिक ,आर्थिक स्थिति पर प्रभाव -आशीष कुमार सिंह 446-448
91. भारतीय सनातन परम्परा में मातृ शक्ति लक्ष्मी की आराधना -डॉ कल्पना कुमारी 449-453
92. Decolonizing Environmental Ethics: A Buddhist–Indic Critique of the Anthropocene -Abhishek Kumar Singh 454-461
93. छन्द:शास्त्र में प्रयुक्त गणों का स्वरूप और विकास-डॉ. रवि कुमार मीना 462-466
94. पतंजलि के अनुसार कर्मवाद एवं व्यक्तिगत जीवन में उसका प्रभाव-डॉ. प्रदीप कुमार 467-471
95. महर्षिदयानन्दानुसारं वैदिकाख्यानानां स्वरूपम् -डॉ. हंसराज जोशी 472-475
96. सुभद्रा कुमारी चौहान के साहित्य में बाल चेतना का स्वरूप'- मधुरा केरकेट्टा 476-479
97. उज़बेक कोश निर्माण परंपरा का इतिहास- मामुरा सुलेयमानोवा 480-484
98. औपनिवेशिक भारत में अकाल –डॉ.ज्योति टम्टा 485-490
99. रामायणकालीन सामाजिक संरचना: परिवार, कुटुम्ब और समाज -संजीव मिश्र 491-497
100. पंडित दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक सिद्धांत की वर्तमान समय में प्रासंगिकता-डॉ. राजेश सिंह 498-501
101. Role of Music and Nutrition in Emotional Balance, Stress Management and Emotional Regulation in Adolescents -Dr. Nirmala Joshi,Dr. Deepa Singh 502-507

102. The Impacts of AI on the Society and warfare - Dr. Atul Chand 508--510
103. नवीन परिपेक्ष में नई कविता के विविध आयाम - राजेश मीना 511-513
104. Joint Stock Merchants and the Transformation of Chief Merchant Authority in Late Seventeenth-Century Madras: The Changing Fortunes of the Venkatadary Brothers.-Dr. Nitin Kumar 514-518
105. 21वीं सदी में संत रविदास की प्रासंगिकता-डॉ. सुजाता पी. पातरपेकर 519-524
106. Artificial Intelligence in English Literature Teaching: Transforming Pedagogical Practices in Higher Education-Dr. Uma Pandey Padalia,Bharat Ram 525-529
107. Exploring the Rights of Migrated Women in Contemporary Society: A Sociological Inquiry-Dr. Rahul Kumar Tiwari 530–538
108. 'दोहरा अभिशाप' में चित्रित दलित स्त्री की पीड़ा, संघर्ष और विमुक्ति -विजय कुमार यादव 539-542

संपादकीय .....

भारत रत्न बाबा साहेब डॉक्टर अंबेडकर के दर्शन से दलित,पिछड़ा, गरीब सवर्ण और अल्पसंख्यक समाज बदल रहा है
" शिक्षित बनो, संगठित हो ,संघर्ष करो"

बाबा साहेब डॉक्टर भीमराव अंबेडकर का उपर्युक्त अमर वाक्य पब्लिक डोमेन में ऊर्जा भर रहा है। गरीब से गरीब लोग अपने अपने बच्चों को शिक्षित करने में लगे हैं जो बहुत ही उत्साह वर्धक है।

आजादी के बाद सरकार ने लगभग प्रत्येक गांव में कक्षा एक से पांच तक प्राइमरी पाठशालाओं का निर्माण किया। कई गांवों के मध्य एक एक जूनियर हाईस्कूल खोले गए। बड़े बड़े कस्बों में राजकीय इण्टर कॉलेज खोले गए। इसके बाद बड़े बड़े शहरों में विश्व विद्यालय खोले गए। शिक्षा ने तेजी से गति पकड़ी और नौजवान पीढ़ी शिक्षित होने लगी।वे लोग बी.ए, एम. ए. करने के बाद छोटी बड़ी नौकरियां पाने लगे। लोगों की गरीबी दूर होने लगी।मुझे याद है मेरे सगे रिश्तेदार श्री आर डी सोनकर जो गांव सौह तहसील बिंदकी,जिला फतेहपुर उत्तर प्रदेश भारत के रहने वाले थे। नेहरू इण्टर कॉलेज बिंदकी से इंटर मीडिएट करने के बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद से दर्शनशास्त्र में एम ए किया। इसके बाद आई ए एस हो गए।जिला फतेहपुर के सभी वर्गों के नौजवानों ने श्री आर डी सोनकर का अनुसरण किया और इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद से पढ़ने के बाद आई ए एस , पी सी एस और एलाइड सेवाओं में चुने गए। श्री आर डी सोनकर एक पथ प्रदर्शक के रूप में ख्याति प्राप्त की।

उस समय स्कूल,कॉलेज और विश्वविद्यालय की फीस बहुत ही कम थी। गरीब से गरीब आदमी का बेटा और बेटी उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता था। जब से प्राइवेटाइजेशन शिक्षा के क्षेत्र में हुआ,शिक्षा बहुत ही मंहगी हो गई।गरीब आदमी धीरे धीरे शिक्षा से वंचित होता जा रहा है। प्राइवेट स्कूलों का व्यावसायिककरण हो गया है। शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। जगह जगह पैसा कमाने के लिए प्राइवेट इंजीनियरिंग व मेडिकल कॉलेजों की भरमार हो गई है। जो बहुत अधिक धनाढ्य होगा वही डॉक्टर बनेगा। पी. एम. टी. टेस्ट के बाद जो डॉक्टर बनते थे उनमें दक्ष डॉक्टर समाज को मिलते थे। जो इंजीनियर सरकारी इंजीनियरिंग कॉलेजों से निकलते थे।वे सभी बहुत ही काबिल इंजीनियर होते थे।अब बी टेक,एमबीए करने के बाद नौजवान सड़कों पर बेरोजगार घूम रहे हैं।

एक उदाहरण देना चाहता हूं। एक एम बी ए ,एक स्टोर की दुकान में काम कर रहा था ।
वह घर घर जाकर स्टोर में बिकने वाली वस्तुओं का प्रचार कर रहा था।मैने जानने के लिए उससे पूछा, -
"आप कितना पढ़े हैं?"उसने कहा- " एमबीए " मैने कहा-
" आपको कोई अच्छी नौकरी नहीं मिली और आप इस काम के लिए प्रति माह कितना रुपया पाते हो?"
वह बोला- " केवल सात हजार"
मैने अफशोश जताते हुए कहा- " यह धनराशि बहुत ही कम है!"
उसने उत्तर दिया - " किसी तरह सरवाइव करना है।"
मुझे यह जानकर बहुत पीड़ा हुई। करोड़ों बेरोजगारों का यही बुरा हाल है।
रोटी रोटी के लिए
संघर्ष कर रहा है प्रत्येक आदमी
उच्च शिक्षित आदमी
फिर भी भूंखां सोता है
इस संबंध में मेरी एक कविता प्रस्तुत है।
वह रिक्शा चला रहा था
तेज बुखार से उसका बदन तप रहा था
वह शाम को अपने बच्चों को
रोटी खिलाना चाहता था
एक सेठ रिक्शा पर बैठा
उससे तेजी से रिक्शा चलाने को
कह रहा था
जर्जर शरीर रिक्शा न थाम सका
जमीन पर गिर पड़ा था
मरते मरते जय भारतi जय भारतii
का रहा था।

आपका ही .....
- रूप नारायण सोनकर

****

भारतीय समाज और इतिहास की वैचारिकी सत्ता: एक विश्लेषण

सूरज प्रकाश बडत्या
विजिटिंग एसोसिएट प्रोफेसर
टोक्यो युनिवर्सिटी ऑफ़ फोरेन स्टडीज टोक्यो, जापान

शोधालेख सार - इस शोधालेख में भारतीय समाज की जातिव्यवस्था का विश्लेषण किया गया है . इसके अंतर्गत हर समय बहुत सी सत्ताएं अपने वर्चस्व को बनाए हुए रहती हैं | प्रस्तुत शोधालेख उन्हीं सताओं का विश्लेषण करता है | जातिव्यवस्था का विश्लेषण करना है | वर्ग और वर्ण को भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में रखकर उनका मूल्यांकन करता है | इसी सन्दर्भ में डॉ आंबेडकर के विचारों को इस शोधालेख का आधार बनाता है |

बीज शब्द- भारतीय समाज, जाति व्यवस्था, सत्ता, आंबेडकर, इतिहास -दर्शन , वर्चस्ववादी सत्ता , वर्चस्वाद

किसी समाज-इतिहास एवं समय की वर्चस्ववादी सांस्थानिक शक्ति को सत्ता के रूप में प्रायः चिन्हित किया जा सकता है। बहुत से चिंतकों ने अपने-अपने ढंग से इसके बारे में विचार किया है। भारत में महात्मा बौद्ध से लेकर अंबेडकर तक और प्लेटों से लेकर कार्ल मार्क्स तक इसपर बहुत लिखा जा चुका है। मार्क्स ने समाज की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए उसे आदिम साम्यवादी युग, दास युग, सामंती युग, पूंजीवादी युग, समाजवादी युग एवं साम्यवादी युग के रूप में विभक्त करके विश्लेषण किया है। हालांकि यह एक प्रकार से समाज का **वर्गीय सत्तामूलक** विश्लेषण है। जिसे भारतीय समाज के संदर्भ में लागू नहीं किया जा सकता। उन्होंने बताया है कि मानव सभ्यता के शुरुआती चरण में समाज शोषणमुक्त, सामूहिक सत्तामूलक समाज था। जहां वर्ग नहीं बने थे, कोई भी सत्ता नहीं बनी थी। इसलिए उसे उन्होंने लोकतंत्रावादी सत्तामूलक समाज की संज्ञा कहा था। जैसे-जैसे समाज में वर्ग बने, तो श्रम करने वालों को दास बनाया गया और उन पर अधिकार रखने वाला दास मालिक बन गया। यह उच्चवर्गीय सत्ता की शुरुआत थी जिसे इतिहास में दास एवं दास मालिक के रूप में चिन्हित किया गया। इसी प्रकार खेतिहर समाज में किसान-सामंत एवं पूंजीवादी समाज में सर्वहारा और पूंजीपति के रूप में चिन्हित है। इस विश्लेषण से हम यह जान पाते हैं कि विश्व समाज में अभी तक समाज के नीति निर्धारक और नियामक उच्चवर्गीय लोग थे इसलिए उन्हीं की सत्ता कायम थी। सत्ता के सभी संस्थान शिक्षा, राजनीति, संस्कृति, अर्थतंत्रा, समाज की अधिकांश इकाइयां उच्चवर्गीय सत्ता से संचालित थी। मार्क्स ने इसे ही बदलकर मेहनत करने वालों की सत्ता कायम करने की बात की है। इसे राजसत्ता और लोकसत्ता का रूप भी कह सकते हैं। समाज में कोई भी सत्ता हो, वह अपनी वैचारिकी को तमाम शैक्षणिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक संस्थानों के माध्यम से समाज में परोसने का कार्य करती है। साहित्य, कला, संस्कृति, इतिहास, धर्म स्थापित सत्ता के मूल्यों का प्रचार-प्रसार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

इसे हम भारत के संदर्भ में भी समझने का प्रयास कर सकते हैं। भारतीय समाज जातिवादी समाज है। भारत के इसी समाज को आधार बनाकर बाबा साहेब डा. अंबेडकर ने भारतीय समाज का विश्लेषण करते हुए बताया कि कैसे भारतीय समाज अपने विकास की प्रक्रिया में जातियों के आधार पर समाज का बंटवारा करता है और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तीन उच्च वर्ग (जातियां) मिलकर एक उच्च वर्गीय सत्तामूलक समाज की स्थापना करते हैं। इससे भारत का इतिहास, संस्कृति, साहित्य, राजनीति, अर्थव्यवस्था, सभी इससे प्रभावित होते हैं। इसे डॉ अंबेडकर ने ब्राह्मणवादी वैचारिक सत्ता के रूप में चिन्हित किया है। उनका मानना था कि भारत में इसी ब्राह्मणवादी वैचारिकी ने एक ऐसी संस्कृति का निर्माण किया जो आज रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन, तीज-त्यौहार, भाषा सभी के माध्यम से भारतीय समाज का विभेदमूलक स्वरुप दीखाई देता है।वैसा देखा जाए तो 'सत्ता' का सीधा सामान्य अर्थ है सामाजिक संगठन। इसके अंतर्गत प्राधिकारी शक्ति विरोधपूर्ण एवं समूहगत हितों में समन्वय के द्वारा मानवीय क्रियाकलापों को संचालित करने, समझाने-बुझाने या जोर-जबर्दस्ती से उन्हें एक ही वैचारिकी-नियमों के मातहत करने की कोशिश करती है। मनुष्य के शुरुआती चरण में कबिलाई समाज की सत्ता कायम थी। यह कबिलाई समाज की सत्ता एक ऐसा लोकतांत्रिक व्यवसाय था जिसमें सभी वयस्क सदस्य बैठकर विचार-विमर्श कर किसी नतीजे पर पहुंचने की कोशिश करते थे। लेकिन धीरे-धीरे मानव समाज के विकास के साथ यह लोकतांत्रिक पद्धति एकाधिकारी वर्चस्व के रूप में बदलकर एक दमनकारी संस्थान के रूप में विकसित हुई। मार्क्सवादी विश्लेषण पद्धति का मानना है कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के कारण सत्ता की प्रकृति में बदलाव आया। इससे कुछ लोग मालिक बन गए और अधिकांशत लोग गुलाम। अपने इसी मालिकाने वर्चस्व को बचाए और बनाए रखने के लिए 'स्वयंभू मालिकों' ने नयी सांस्थानिक सत्ताओं की नींव डाली। इनमें से धर्म का सांस्थानिक सत्ता है। धर्म की सत्ता के साथ कुछ मूल्य - पद्धतियों, संस्कृति, नैतिकता को भी सांस्थानिक रूप दिया गया। लेकिन इस मार्क्सवादी चिंतन प्रणाली को भारत के संदर्भ में पूरी तरह से लागू नहीं किया जा सकता। क्यूंकि यहाँ जाति आधारित विभेद उनके विश्लेषण का आधार नहीं बन पाता।

'सत्ता' का संबंध अंग्रेजी के 'पावर' से सीधे रूप में जुड़ा है, जिसे शक्ति के रूप में भी चिन्हित किया जाता है ।भारत के संदर्भ भारतीय इतिहास, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य, राजनीति, अर्थ सभी सामाजिक-राजनीतिक इकाइयां ब्राह्मणवादी वैचारिकी और मूल्यों से संचालित होती आ रही हैं। डॉ अंबेडकर का ऐसा मानना है।

'सत्ता' और 'संस्कृति' से हमारा आशय मूलतः इसी वर्चस्ववादी मूल्यपद्धति के विश्लेषण पर आधारित है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक अधिकांशत भारतीय सामाजिक, सांस्थानिक इकाइयों ने न केवल वैचारिक स्तर पर बल्कि व्यावहारिक रूप में भी अपनी गहरी पैठ जमाई हुई है। पूरी दुनिया के सामाजिक विकास के विभिन्न सोपानों का विश्लेषण मॉर्क्सवाद एवं अन्य चिंतकों ने किया है लेकिन भारत के संदर्भ में ज्योतिबा फुले और अंबेडकर ने भारतीय समाज की एकदम नई व्याख्या-विश्लेषण प्रस्तुत किया।

हालांकि देखा जाए तो प्रकारांतर से इन वर्चस्ववाली सत्ताओं को हाशिये पर रहे वर्ग-वर्ण समूहों से चुनौती मिलती रही है लेकिन अपने उच्चवर्गीय-उच्चवर्णीय संस्कारों और वैचारिकी के कारण समाजविज्ञानी और इतिहासकार प्रायः उन चुनौतियों और प्रतिरोधों को नजरअंदाज करता रहा है। आधुनिक काल में बहुत से समाज विश्लेषक एवं चिंतकों ने हाशिये पर रहे शूद्र- दलित की सांस्कृतिक विरासत, संस्कृति, चुनौतियों और उनके प्रतिरोध को सामने लाने की कोशिश की। उसी का परिणाम हुआ कि आज से लगभग सौ साल पहले स्वामी विवेकानंद को भी कहना पड़ा कि – 'आने वाला समय शूद्रों का होगा'। भारतीय समाज का अध्ययन करते हुए हमें अनेक सत्ताएं अपने सांस्थानिक रूप में दिखाई देती हैं। इन्हीं सत्ताओं का विश्लेषण हमारे इस 'लिखत' का आधार है। यूरोपीय चिंतक कार्ल

मार्क्स ने एक स्थान पर इतिहास का विश्लेषण करते हुए कहा था कि- 'अभी तक का आविर्भूत समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों और प्लेबियन, सामंती स्वतंत्रा मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन, सामंती प्रभु और भूदान, शिल्प-संघ का और मजदूर-कारीगर संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित बराबर एक-दूसरे का विरोध करते आए हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक-दूसरे से लड़ते रहे हैं, जिस लड़ाई का अंत हर बार या तो पूरे समाज के क्रांतिकारी पुनर्गठन में, या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में हुआ है।'[1]

यहाँ एक तथ्य साफ तौर पर उभर कर आता है कि समाज के विकास के पहले चरण से ही समाज में दो वर्ग विद्यमान रहे हैं। पहला वर्ग वह है जो सत्ता में था और उत्पादन के सभी साधनों पर उसका अधिकार रहा। दूसरा वर्ग वह है जो वंचित रहा। उत्पादन के साधनों के साथ इस वंचित तबके का संबंध बराबर बना रहा लेकिन वह मालिक नहीं दास था और भारत में शूद्र-अछूत। यह शूद्र-अछूत सृजनकर्ता तो था लेकिन भोक्ता नहीं था, वह समाज और सभ्यता के विकास का नियामक था लेकिन खुद समाज और सभ्यता के विकास से बाहर था। यह दुःखद किन्तु आश्चर्यजनक है कि इतिहास और समाज की गति का नियामक स्वयं गति से बाहर था। भारत में उत्पादन के साधनों पर काबिज वर्चस्वशाली वर्ग था लेकिन वह वर्ण-जाति के रूप में ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्दावली से चिन्हित है तो दूसरी तरफ वंचित वर्ग शूद्र-अछूत पद के रूप में। मार्क्स ने कहा था 'वर्ग का विभाजन श्रम के विभाजन से जुड़ा है।' लेकिन इस समझ से असहमति व्यक्त रखते हुए भारत के प्रमुख समाजशास्त्री डा. अंबेडकर ने कहा कि- 'जाति-व्यवस्था श्रम का नहीं बल्कि श्रमिकों का विभाजन है।'2 यह एकदम नए और भिन्न रूप में भारत के समाज और इतिहास का विश्लेषण है। भारत के संदर्भ में एक अन्य विशिष्ट बात यह भी है कि उपर्युक्त तीनों वर्चस्वशाली सत्ताओं की अलग-अलग सत्ता होते हुए भी ये तीनों सत्ताएं एक-दूसरे से जुड़ी हैं।। लेकिन सवाल यहां पर यह है कि हजारों साल से सामाजिक फासीवाद का दंश झेलती दलित जातियों के उत्पीड़न को क्या केवल आर्थिक विश्लेषण से समझा जा सकता है ? जैसा कि मार्क्सवाद समझाता है | भारत के संदर्भ में यह भी गौरतलब होगा कि 'जाति' को 'अधिरचनागत' विश्लेषण के आधार पर नहीं समझा जा सकता है इस पर सोचा जाना चाहिए।

इतिहास की सत्ता: एक विश्लेषण:-

प्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच. कार का एक उद्धरण हैं- 'इतिहास के अध्ययन का अर्थ है उसके कारणों का अध्ययन।'[3] ई.एच. कार यहां 'कारण' को इतिहास के अध्ययन की एक प्रमुख कसौटी मानते हैं। क्योंकि बिना कारण के दुनिया में कोई भी परिघटना घटित नहीं होती। किसी परिघटना के अंजाम तक जाने में कोई एक कारण नहीं बल्कि कई सारे 'कारणों' की शृंखलाएं होती हैं। अक्सर इतिहासकार अपनी वैचारिकी और अंतःजगत के संस्कारों और मूल्यों से प्रेरित होकर एक ही कारण को किसी परिघटना के लिए निर्णायक एवं नियामक मानकर अन्य 'कारणों' की अनदेखी करता है। भारत के संदर्भ में लिखे गए राजा-रजवाड़ों के गौरवगान और तथाकथित सवर्ण जातियों के अलौकिक तथा चमत्कारी क्रिया-कलापों को ही इतिहास के रूप में दर्ज कर दिया गया। यही इतिहास की तथाकथित सवर्ण (ब्राह्मणवादी) सत्ता का इतिहास विमर्श था जिसने इतिहास में मौजूद बहुत से कारकों को इतिहास से बेदखल कर दिया | इतिहास से बेदखल होने का अर्थ किसी समुदाय-विशेष, वर्ग-विशेष या समाज-विशेष का इतिहासविहीन होना या इतिहासशून्य होना नहीं बल्कि इस समाज के इतिहास में हाशिये पर किया गया मानना चाहिए। इतिहास में 'हाशिये' पर होने का सवाल ही 'इतिहास के पुनरुत्पादन' के सवाल के साथ बहुत ही गहरे रूप से जुड़ा हुआ है। इतिहास का यह 'पुनरुत्पादन' इतिहास-विश्लेषण और समाज को समझने की खिड़कियों को हमारे सामने खोलता है। अभी तक के इतिहास में जो 'कर्ता' था वह अब समाज और इतिहास में 'भोक्ता' बनना चाहता है। इसे हम 'हाशिये' और 'केंद्र' के उदाहरण से भी समझ सकते हैं। परिस्थितियों के घात-संघात इतिहास के पहिये को जब घुमाते हैं तो इतिहास में 'हाशिये' पर रहा वर्ग 'केंद्र' में आने को व्याकुल हो उठता है और इतिहास की यही व्याकुलता इतिहास-विश्लेषण के सहारे इतिहास का पुनरुत्पादन करती है। इतिहास में बेजुबां रही यह व्याकुलता अपनी संस्कृति व परंपरा के सार्थक योगदानों का भी निर्धारण करती है। जैसा कि ई.एच. कार का कथन है कि ''अतीत का कोई भी सार्थक अध्ययन निश्चित रूप से भविष्य की अंतर्दृष्टि द्वारा प्रेरित और आलोकित होगा।''[4]

इतिहास में हाशिये पर रही यह बेजुबां व्याकुल अस्मिताऐ (शूद्र -अछूत) अपने भविष्य के निर्धारण के लिए इतिहास के गर्भ में जाकर अपने इतिहास, संस्कृति व परंपरा का निर्धारण करने की कोशिश कर रही है। और यह निर्धारण पुराने इतिहास के सत्ता विमर्श के विचलन का संकेत है और नए इतिहास के सत्ता स्थापन के प्रारंभ का प्रस्थानबिन्दु। इतिहास में तथ्यों की एक महती भूमिका होती है किन्तु यह इतिहासकारों के संस्कार, विचार व दृष्टिकोण पर निर्भर करता है कि वह किन ऐतिहासिक तथ्यों को अपनाता है और किन्हें छोड़ता है? कौन से तथ्य उनके लिए 'विशेष तथ्य' और 'सामान्य तथ्य' का दर्जा पाते हैं। इसलिए तथ्यों का चुनाव और विश्लेषण आज कहीं गहरे में अर्थ संदर्भों की वृहत्तर व्याख्या की ओर संकेत करते हैं। ई.एच. कार कहते हैं कि 'इसीलिए तथ्य के चुनाव की प्रक्रिया की जांच होनी चाहिए।'5 ऐतिहासिक तथ्यों के चुनाव की यह प्रक्रिया इतिहास के संस्कार, जीवनानुभव, वैचारिकी, अभिरुचि और विवेक से संबद्ध है। कार्ल मार्क्स ने इसे 'क्लास कैरेक्टर' के रूप में चिन्हित किया था और भारत के संदर्भ में डा. भीमराव अंबेडकर ने इसे 'कास्ट कैरेक्टर' के रूप में रेखांकित किया है। इतिहास के तथ्यों के चयन में जुड़ी यही प्रक्रिया इतिहास निर्माण के साथ-साथ दर्शन, साहित्य, सैद्धांतिकी, राजनीति और संस्कृति की सत्तामूलक अवधारणा को सामने रखती है।

दलित का ऐतिहासिक रूप और आर्य-ब्राह्मण संबंध:-

दलित का शब्दगत अर्थ है जिसका समाज में विभिन्न रूपों में दलन हुआ हो अर्थात यह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से एक ऐसा 'पद' है जो भारतीय समाज की वर्णश्रेष्ठत्व की परिधि में निचले स्थान पर मान लिया गया। दलित भारतीय समाज में एक ऐसा समुदाय है जो ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से ही हेय, नीच और ब्रह्मा के पांव से उत्पन्न माना गया। जन्म के आधार पर ही इस समुदाय को अछूत नहीं माना गया बल्कि इनके शोषण को दार्शनिक-पौराणिक और धार्मिक आधार प्रदान किया गया। 'दलित' शब्द आज भारतीय समाज में किसी सामान्य अर्थ को ध्वनित नहीं करता बल्कि यह समुदाय विशेष, जाति विशेष या वर्ग विशेष के रूप में चिन्हित कराता है। दलित शब्द की गहरी जांच-पड़ताल करने के लिए हमें सर्वप्रथम भारतीय समाज का गहन अध्ययन करना होगा। जाति का प्रस्थान बिंदु क्या है उसे समझना होगा। भारतीय समाज में चार प्रकार के वर्गों (वर्णों) के स्तरीकरण स्पष्ट रूप में दिखाई देते हैं। चार प्रकार के स्तरीकरण का कोई ठोस वस्तुगत आधार नहीं है बल्कि यह सीधे 'मालिक' और 'गुलाम ' की संबंध शृंखला को बनाए रखने का परिचायक है। हालांकि पूरी दुनिया में 'मालिक' और 'गुलाम' की इस संबंध-शृंखला को देखा जा सकता है। लेकिन भारत में यह संबंध-शृंखला श्रम करने वाली जमात को धर्म और पुराण के सहारे अछूत बनाए जाने के रूप में दिखाई देती है। यहां मालिक और गुलाम की यह संबंध-शृंखला ब्राह्मण-क्षत्रिय (मालिक) और शूद्र (-अतिशूद्र) (दलित) पदों से चिन्हित की गई है। इस रूप में भारतीय समाज की यह स्तरीकृत संबंध-शृंखला दुनिया के सामाजिक वर्ग-विभाजन से एकदम नए रूप में दिखाई देती है।

भारतीय समाज चार वर्णों पर टिका है। समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तो महत्वपूर्ण श्रेणियां मानी गईं लेकिन शूद्र का ऊपर की तीनों जातियों ने सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और शारीरिक रूप से न केवल शोषण किया बल्कि इनकी आने वाली पीढ़ियों तक को इतिहास और समाज से बेदखल कर दिया। अछूत समुदाय तो इस वर्गीकरण में शामिल ही नहीं था | भारतीय सामाजिक जाति-व्यवस्था पर विचार करते हुए प्रमुख समाजविज्ञानी डा. भीमराव अंबेडकर का कहना है कि 'हिन्दू सोसायटी उस बहुमंजिली मीनार की तरह है जिसमें प्रवेश करने के लिए न कोई सीढ़ी है न दरवाजा। जो जिस मंजिल में पैदा हो जाता है उसे उसी मंजिल में मरना होता है।'[6] भारतीय समाज का इससे कठोर लेकिन वास्तविक विश्लेषण शायद ही किसी विद्वान ने किया हो। इस आधार पर भारतीय समाज को गतिहीन और बंद समाज के रूप में रेखांकित करना अनुचित नहीं होगा।

डॉ भीमराव अंबेडकर ऐसे समाजविज्ञानी हैं जिन्होंने इस जातिवादी समाज के मूल मर्म को समझा, इसे पहचाना और इसका विश्लेषण किया। हालांकि इनकी चिंतन प्रणाली और विश्लेषण क्षमता को स्वीकार करते हुए भी अधिकांश समाजविज्ञानी और इतिहासकारों ने इनके मतों को स्वीकारने में आनाकानी की। इसका कारण उनका सवर्ण समुदाय से होना भर है होना है| हिन्दू समाज में शूद्र शब्द की वास्तविकता और शूद्र समुदाय की सामाजिक हैसियत का विश्लेषण करते हुए डा. अंबेडकर कहते हैं कि-

'मेरी व्याख्या यह है कि भारतीय आर्य समुदाय के शूद्रों को कालांतर में ब्राह्मणवादी व्यवस्थाओं की कठोरताओं ने इतना हेय बना डाला कि समाज में उनका स्थान वास्तव में निम्नतर हो गया। इसके दो परिणाम हुए। एक परिणति यह हुई कि शूद्र शब्द के गुणार्थ ही बदल गए। एक वर्ग विशेष के रूप में शूद्र शब्द के मूल अर्थ में परिवर्तन हो गया और यह निम्न जातियों का सामान्य नाम बनकर रह गया जिसकी कोई सभ्यता नहीं, संस्कृति नहीं, कोई मान-सम्मान और हैसियत नहीं। दूसरा परिणाम यह हुआ कि शूद्र की परिधि बढ़ जाने से विधि-विधानों का दायरा भी बढ़ गया। यही कारण है कि आज के तथाकथित शूद्र इस व्यवस्था के शिकार हो गए, यद्यपि वे शूद्र शब्द की परिभाषा में नहीं आते। कुछ भी हो वास्तविकता यह है कि जो विधि-विधान मूल अपराधियों के लिए बने थे उन्हें बेकसूर लोगों पर ही थोप दिया गया। यदि हिंदू विधिवेत्ताओं को पर्याप्त ऐतिहासिक ज्ञान होता तो वे मूल शूद्र शब्द को समझते जो आज के शूद्रों से नितांत भिन्न है...। यह तथ्य बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि विधि संग्रह की वही कठोरता आधुनिक शूद्रों के प्रति बरती जाती है जो कभी मूल शूद्रों के साथ बरती जाती थी।''[7]डा. अंबेडकर के विश्लेषण से यह महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने उपस्थित होता है कि आज का आधुनिक दलित अर्थात प्राचीन शूद्र -अछूत वास्तविक अर्थों में वह नहीं था जिसके लिए यह शूद्र शब्द प्रचलित किया गया। इस विश्लेषण से यह जिज्ञासा भी प्रबल होती है कि ऐतिहासिक रूप से वह समुदाय कौन सा था जिसके लिए कठोर विधि-विधान बनाए गए? दूसरा प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि वे कौन से कारण थे कि शूद्र पद उस समुदाय से अलग होकर एक अन्य अर्थ में दूसरे समुदायों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा? इस संदर्भ में हम डा. अंबेडकर के विश्लेषण को ही पुनः सामने रखकर इसे समझने की कोशिश करेंगे। उनका मत है कि-

1. शूद्र आर्यों के सूर्यवंशी समुदाय में से ही थे।
2. एक समय था जब आर्य समुदाय ने केवल तीन वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही मान्यता दी।
3. शूद्रों का अलग से कोई वर्ण नहीं था, वे भारतीय आर्य समुदाय के क्षत्रिय वर्ग से आते थे।
4. शूद्र राजाओं और ब्राह्मणों के बीच अनवरत संघर्ष होते रहते थे और ब्राह्मणों को शूद्रों के हाथों अनेक कष्ट और अपमान सहने पड़े।
5. शूद्रों द्वारा किए गए उत्पीड़न और पीड़ाओं से त्रास्त होकर ब्राह्मणों ने शूद्रों का उपनयन संस्कार संपन्न करना बंद कर दिया।[6]. उपनयन संस्कार से वंचित होने पर शूद्र जो क्षत्रिय थे, उनका सामाजिक ह्रास हो गया। उनका दर्जा वैश्यों के नीचे हो गया और वे चैथे वर्ण में गिने गए।''[8]डा.अंबेडकर का मत हमारे सामने नए तथ्यों और नई व्याख्या को प्रस्तुत करता है। उपर्युक्त मत शूद्र शब्द के उद्भव और विकास की गहराई से जांच-पड़ताल का मार्ग प्रशस्त करता है। उपर्युक्त विश्लेषण पर गौर करें तो यह साफतौर पर दिखाई देगा कि 'आर्य' और 'ब्राह्मण' एक ही समुदाय से प्रतीत नहीं होते हैं। हालांकि यह चैंकाने वाला तथ्य है कि शूद्र भी आर्यों के ही सूर्यवंशी समुदाय के थे। इस पर हमें गहराई से सोचना चाहिए कि कालांतर में ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपने को आर्यों का वंशज बताकर शूद्र समुदाय को अनार्य घोषित किया। अगर इससे आगे बढ़ें तो यह तथ्य भी निकलकर सामने आएगा कि शूद्रों के आक्रमण से डरकर, अपमान सहते हुए और उनसे त्रास्त होकर उन्होंने शूद्रों का उपनयन संस्कार संपन्न करना बंद कर दिया। इस संबंध में मुद्राराक्षस महोदय का कथन देखना समीचीन होगा। वे कहते हैं कि- 'डा. अंबेडकर भारत के बुद्धिजीवियों में ब्राह्मण तंत्र के सबसे सशक्त विरोधी थे। उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति को लेकर जो कुछ कहा उसको परवर्ती ब्राह्मण चिंतकों ने बहुत उद्धृत किया है। उन ब्राह्मण विचारकों ने अंबेडकर की इस अवधारणा पर बहुत संतोष जाहिर किया कि भारतीय अतीत में शूद्र कोई नहीं था, सभी आर्य थे। इसी एक सच की पड़ताल भारतीय इतिहासकारों ने कभी नहीं की।''[9]

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है जिसकी ओर पहले डॉ अंबेडकर ने संकेत किया और फिर मुद्राराक्षस भी इस ओर इशारा करते हैं कि आर्य और ब्राह्मण एक नहीं हैं बल्कि दोनों ही अलग-अलग समुदाय और जातियां हैं। दोनों में ही परस्पर युद्ध होता था। ब्राह्मणों के लिए आर्य कभी भी न तो सम्माननीय रहा और न ही उल्लेखनीय। इसलिए इस पर गौर करें कि किसी भी ब्राह्मण ग्रंथ, पौराणिक पुस्तक में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को आर्य के रूप में चिन्हित नहीं किया गया। उनके साथ तो हमेशा द्वेष भाव रखने या फिर उन्हें खदेड़ने के रूप में आर्य पद आया है। अगर वेद आर्यों ने लिखे थे तो वेदों में आर्यों की प्रशंसा नहीं है जिसकी ओर मुद्राराक्षस भी इशारा करते हैं। वे कहते हैं कि ''इस गुत्थी को सुलझाने के लिए हम कुछ दूसरे ग्रंथों के साक्ष्य लेना चाहेंगे। पतंजलि ने अनिरवसित शूद्रों का जिक्र किया है। ये उनके अनुसार वे लोग थे जो आर्य इलाके के भीतर रहते थे। ब्राह्मण समाज के लिए यह असुविधाजनक और अधार्मिक स्थिति थी। पतंजलि के अनुसार, आर्य बस्तियों में चांडाल आदि जातियां बाकायदा घर बनाकर रहती थीं। यह स्थिति वैदिक ब्राह्मण प्रभुत्व वाले इलाकों में संभव नहीं थी।'[10]आर्य शब्द का सीधा संबंध हिन्दू मनीषी अपने साथ जोड़कर देखते हैं। वे तो लगातार यह गर्व के साथ दोहराते हैं कि 'संपूर्ण विश्व को आर्य बनाओ।'[11] लेकिन अगर पौराणिक ग्रंथों और वेदों को एक बार उलट लिया जाए तो ये आर्य हैं ही नहीं प्रतीत होते। ब्राह्मणों और अन्य तथाकथित उच्चवर्णीय समुदाय ने अपने को आर्यों का वंशज किस आधार पर कहना शुरू किया होगा उसका विश्लेषण होना चाहिए। इसमें गौरतलब यह भी है कि भारतीय समाजविज्ञानी और इतिहासकारों की नजरों से इतना बड़ा तथ्य कैसे ओझल हुआ यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। मुद्राराक्षस ने अपनी पुस्तक में ऐसे बहुत से महत्वपूर्ण तथ्यों को उजागर किया है जिनका जिक्र किए बिना आगे बढ़ना मुश्किल है। वे बताते हैं कि-

'यहां आर्य जाति के बारे में विचार करते हुए हम वेदों के पाठ पर नजर डालना चाहेंगे। ऋग्वेद में (6-33-3) एक मंत्र आया है 'त्वं तान् इंद्र उभयां अमित्रांदासा बृत्राणि आर्या च शूर। वधी वन रस सुधितेभिः अत्कैः आ पुत्सु दर्षि नृणां नृतम्।' अर्थात इंद्र, तुम उन दोनों अमित्रों और दासों, वृत्रों, आर्यों और दस्युओं को कुल्हाड़ी से जंगलों की तरह

काट डालो जिन्हें काटने-मारने का अनुरोध इंद्र से किया जा रहा है, उनमें आर्य भी हैं। आर्यों को भी मार डालने का आह्वान है। ध्यान रहे, बुरे आर्य के लिए वैदिक साहित्य में शब्द मौजूद है। यहां बुरे या खराब आर्य को नहीं, आर्यों को ही काट डालने की बात है। इसी प्रकार ऋग्वेद के श्लोक की तरह अथर्ववेद का भी एक मंत्र है जो अपने मत के समर्थन में हम रखना चाहेंगे-

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजानु मां कृणुः।
प्रियं सर्वस्य पश्चात् उत् शूद्रे उत आर्ये। 19-62-1

यानी हमें देवताओं में प्रिय बनाओ, सबका प्रिय बनाओ यहां तक कि शूद्रों और आर्यों का भी प्रिय बनाओ।''[12]यह बहुत ही विचित्र है लेकिन वास्तविकता है कि जिस प्रकार ब्राह्मण-वैदिक ग्रंथों में स्पष्ट रूप से दासों को, अमित्रों को और आर्यों को भी मारने की बात की जा रही है ऐसे में ब्राह्मण और आर्य एक कैसे हो सकते हैं? एक होना तो बहुत दूर की बात है वे तो मित्र भी नहीं थे बल्कि उनके बीच शत्रुओं जैसी स्थिति थी। अथर्ववेद के उपर्युक्त श्लोक में भी स्पष्ट रूप से आया है कि हमें आर्यों और शूद्रों के बीच भी प्रिय बनाओ। यदि ब्राह्मण और आर्य एक ही पदश्रेणी हैं तो आर्यों का उल्लेख शूद्र के समतुल्य क्यों किया जा रहा है। इस अर्थ में डॉ अंबेडकर का विश्लेषण महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने ब्राह्मण और आर्यों को एक-दूसरे से विलग कर समझने की कोशिश की है। इसके साथ ही एक अन्य तथ्य भी गौरतलब है कि बौद्ध साहित्य में आर्य शब्द का उल्लेख बहुत ही सम्माननीय अर्थ में आया है। वहां 'आर्य मार्ग', 'आर्य निकाय' आदि आते हैं। जो शब्द ब्राह्मण ग्रंथों में अपमानजनक और शत्रुतापूर्ण तरीके से आया हो और बौद्ध साहित्य में सम्माननीय रूप में तो उसके संदर्भ में इस अंतर को समझना होगा। प्रायः भारतीय इतिहासकार वेद लिखने वाले ब्राह्मणों को और आर्यों को एक ही संस्कृति का मानते रहे हैं। बौद्ध साहित्य की ओर उनका ध्यान क्यों नहीं गया? बौद्ध साहित्य में चिंतन की तर्कपूर्ण राह को आर्य मार्ग के रूप में उल्लेख करते हैं। एक तथ्य और भी है जो प्रायः बौद्ध साहित्य में दिखाई देता है। वहां पर एक शब्द आया है 'पृथग्जन', पृथग्जन का सामान्य अर्थ है साधारण कामगार, शिल्पी या वह कुलीन जो अभिजन नहीं है। यहां अनार्य शब्द को लेकर एक भ्रम की स्थिति बन सकती है। यदि शूद्र आर्यों की ही एक जाति से संबंधित थे तो फिर अनार्य कौन थे जिसका उल्लेख भी वैदिक ग्रंथों और पुराणों में धड़ल्ले से हुआ है। पृथग्जन या अनार्य उसे कहा जाता था जो प्रायः अपने में ही केंद्रित था या मोहमाया के बंधन में फंसा रहता था। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म की शाखा हीनयान में ही आर्य मार्ग की भी प्रतिष्ठा हुई होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इस आर्य और अनार्य के अंतर को अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें फिर से मुद्राराक्षस के मत का उल्लेख करना पड़ेगा ''बुद्ध वचनों में बौद्ध साहित्य के पृथग्जन का जिक्र बार-बार आया है। इसका अर्थ बौद्ध विद्वानों ने जो किया है वह ध्यान देने योग्य है। उनके अनुसार पृथग्जन का अर्थ होता है अनार्य या अनाड़ी। भाषा के इतिहासकारों का ध्यान इस ओर जाना चाहिए कि अनाड़ी शब्द क्या है? वास्तव में वह अनार्य, आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार बाहर से आई आर्य जाति का विरोधी अनार्य नहीं। अनार्य उसी समाज का अंग है जिसका आर्य अंग है और दोनों में जातीय विरोध नहीं है। आर्य परिष्कृत, कुलीन लोग थे और अनार्य उन्हीं के साथ रहने वाले अपेक्षाकृत अपरिष्कृत और अनाड़ी। इसी अनाड़ी को संस्कृत भाषा में अनार्य कह लिया गया है।''[13]डा. अंबेडकर के इस मत को अधिकांश भारतीय इतिहासकारों ने सिरे से खारिज करने की कोशिश की है। प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रमुख ज्ञाता हैं रामशरण शर्मा। इन्होंने अपनी पुस्तक 'शूद्रों का प्राचीन इतिहास' में डा. अंबेडकर के मतों का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि-

''शूद्रों के बारे में एकमात्र प्रबंध रचना (1946) सुविख्यात भारतीय राजनीतिज्ञ अंबेडकर की है। यह शूद्रों के उद्भव तक ही सीमित है। लेखक ने पूरी सामग्री अनुवादों से जुटाई है और उससे भी बुरी बात यह है कि उनके लेखन से यह आभास मिलता है कि उन्होंने शूद्रों को उच्चवंश का सिद्ध करने का दृढ़ संकल्प लेकर अपनी यह पुस्तक लिखी है। यह उस मनोवृत्ति का परिचायक है, जो हाल में नीची जाति के पढ़े-लिखे लोगों में उत्पन्न हुई है। 'शांतिपर्व' के मात्रा एक स्थल पर शूद्र पैजवन द्वारा किए गए यज्ञ की चर्चा को शूद्रों को मूलतया क्षत्रिय होने का पर्याप्त प्रमाण मान लिया गया है।''[14]डा. रामशरण शर्मा प्राचीन भारतीय इतिहास के एक आधिकारिक ज्ञाता माने जाते हैं। संभवतः डॉ अंबेडकर शूद्रों की जिस प्राचीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर इशारा करना चाहते हैं रामशरण शर्मा उसे नहीं पकड़ पाते। डा. रामशरण शर्मा शूद्रों को आर्यों के ही एक समुदाय से संबंधित होने वाले तर्क को सिरे से खारिज करते हैं। वे डा. अंबेडकर पर आरोप लगाते हैं कि इन्होंने सारी सामग्री अनूदित पुस्तकों से ग्रहण की और निष्कर्ष निकाल लिया। लेकिन क्या हम डा. शर्मा से यह पूछ सकते हैं कि उन्होंने तो प्राचीन भारतीय समाज पर उपलब्ध मौलिक सामग्री का ही अध्ययन किया होगा फिर वे अपने इस निष्कर्ष पर कैसे पहुंच गए कि 'शूद्र' और आर्य का कोई संबंध नहीं था। मुद्राराक्षस द्वारा संस्कृत के मौलिक ग्रंथों और वेदों के द्वारा जुटाई गई सामग्री की तरफ क्या डा. शर्मा का ध्यान नहीं गया? उन्होंने भी संभवतः ऋग्वेद और अथर्ववेद की मूल पांडुलिपियों का अध्ययन किया होगा। फिर कैसे उनसे इतने महत्वपूर्ण तथ्य छूट गए? इसीलिए ई.एच. कार का यह कथन बहुत ही महत्वपूर्ण जान पड़ता है कि 'तथ्यों के चुनाव की प्रक्रिया की जांच होनी चाहिए।' आगे चलकर डा. रामशरण शर्मा कहते हैं कि-

''यह जोर देकर कहा गया है कि ब्राह्मणों के साथ दीर्घकाल तक संघर्ष करते रहने के फलस्वरूप क्षत्रियों को शूद्र की स्थिति में पहुंचा दिया गया और ब्राह्मणों ने अपने शत्रु शूद्रों को अंततः उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) के अधिकार से वंचित कर दिया। महाभारत के 'शांतिपर्व' में वर्णित एकमात्र अनुश्रुति के आधार पर कि पैजवन शूद्र राजा था, यह दावा किया जाता है कि शूद्र आरंभ में क्षत्रिय थे। इस तरह की धारणा का कोई तथ्यगत आधार नहीं है।''15

डा. अंबेडकर के उपर्युक्त विश्लेषण और रामशरण शर्मा के मत दोनों में अंतर मूलतः वैचारिकी की भिन्नता के कारण आया दिखता है। हालांकि डा. अंबेडकर जिस मत को सामने रखते हैं उस मत को उदाहरणों के माध्यम से मुद्राराक्षस और अधिक पुष्ट और ठोस आकार देते हैं। चूंकि डा. अंबेडकर की यह विश्लेषण पद्धति कोरे तर्कों की हवाई उड़ान नहीं भरती और न ही कुछ नया कहने-करने की हठधर्मिता करती है बल्कि यह भारतीय इतिहास के मान्य आधार ग्रंथ पुराण, वेद, धार्मिक ग्रन्थ , ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध साहित्य और विदेशी चिंतकों के आधार पर अपना विश्लेषण सामने रखती है। इस अर्थ में ऐसा लगता है कि शूद्र भी आर्य समुदाय की किसी अन्य शाखा से सम्बन्धित रहे हों जिसकी प्राचीन भारतीय समाज में अपनी सत्ता और वर्चस्व रहा हो। जिस पुरुष सूक्त में वर्णव्यवस्था का वर्णन करते हुए शूद्र को ब्रह्मा के पांव से पैदा हुआ बताया है वह तीखी ब्राह्मण प्रतिक्रिया रही हो। चूंकि ब्राह्मण समुदाय और आर्य समुदाय के झगड़े तो ब्राह्मण ग्रंथों के आधार पर सामने आ रहे हैं। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों के परस्पर संघर्ष को हम महाभारत और रामायण में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। भाषा के आधार पर भी भाषाविदों ने ऋग्वेद के पुरुष सूक्त पर प्रक्षेपित होने का अर्थात बाद में जोड़े जाने का आरोप तो लगाया ही है। डा. रामशरण शर्मा का मत कि प्रारंभ में 'शूद्र' एक जनजाति ही रही होगी जो उत्तरार्द्ध में मवेशियों के कारण पैदा हुए विवाद और भूमि हथियाने की लड़ाई के कारण, श्रमिक

वर्ग में बदल गई। मवेशियों और भूमि पर कार्य हेतु श्रमिक दास की आवश्यकता थी और हारे हुए समुदाय की स्त्री तथा पुरुषों को कार्य हेतु रख लिया गया। वे ही अंततः शूद्र कहलाए। डा. रामशरण शर्मा की चूंकि 'वर्ग' की मार्क्सवादी समझ है इसीलिए 'वर्ण' को समझने के लिए उनके पास वैसी सामाजिक तर्क प्रणाली नहीं है जो डा. अंबेडकर के पास मौजूद थी। अगर रामशरण शर्मा के मत को मान भी लें कि वह आर्थिक कारण ही रहे होंगे जब शूद्र शब्द श्रमिक समुदाय के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा, तो क्या डा. शर्मा बता सकते हैं कि अस्पृश्य की, समाज से बाहर रहने वाली सामाजिक स्थिति कैसी हो गई? वह अंत्यज, चांडाल, अछूत जैसी श्रेणी में कैसे पहुंचा दिया गया? हालांकि मार्क्सवादी इतिहासकारों का यह प्रमुख तर्क है कि आर्थिक श्रेणी ही सामाजिक श्रेणी (पद, वर्ग या समुदाय) को प्रभावित करती है। लेकिन आज के आधुनिक समाज की स्थिति में सामाजिक हैसियत (वर्ण श्रेष्ठता) ही आर्थिक आयामों, आधारों और कार्य-कारण संबंधों को प्रभावित करती हुई दिखाई देती है। इसीलिए केवल आर्थिक विश्लेषण और 'वर्गवादी ' समझ के आधार पर यूरोपीय समाज-इतिहास का अध्ययन और विश्लेषण तो किया जा सकता है लेकिन भारतीय प्राचीन-आधुनिक समाज और इतिहास के अध्ययन-विश्लेषण के लिए भारत की वर्णव्यवस्था को समझना होगा।

'शूद्र' शब्द और अर्थ के संदर्भ में प्राचीन मनीषियों से लेकर आधुनिक इतिहासकारों और चिंतकों की कुछेक व्याख्याएं एवं विश्लेषण हम पहले ही देख चुके हैं। कुछ और यहां प्रस्तुत हैं। 'शूद्र' शब्द के व्युत्पत्यर्थ निकालने के जो प्रयास हुए हैं उनमें सर्वप्रथम वेदांत सूत्र के बादरायण में एक व्याख्या मिलती है। इसमें शूद्र शब्द को दो हिस्सों में बांटा गया है 'शुक' (शोक) और 'द्र' जो 'दर' धातु से बना है और जिसका उद्देश्य-अर्थ है दौड़ना। इसकी टीका करते हुए शंकर ने इस बात की तीन वैकल्पिक व्याख्याएं की हैं कि जनश्रुति में शूद्र क्यों कहलाया -

'वह शोक के अंदर छोड़ गया', 'वह शोक-निमग्न हो गया'1 (शुचम् अभिदुद्राव)2, उस पर शोक दौड़ आया',-3 उस पर संताप छा गया'। शंकर का निष्कर्ष है कि शूद्र शब्द के विभिन्न अंगों की व्याख्या करने पर ही उसे समझा जा सकता है अन्यथा नहीं। 'शूद्र' शब्द की उपर्युक्त व्याख्या के संबंध में इतिहासकार रामशरण शर्मा कहते हैं कि ''बादरायण द्वारा शूद्र शब्द की व्युत्पत्ति और शंकर द्वारा उसकी व्याख्या दोनों ही वस्तुतः असंतोषजनक हैं। कहा जाता है कि शंकर ने जिस जनश्रुति का उल्लेख किया, वह अथर्ववेद में वर्णित उत्तर-पश्चिम भारत के निवासी महावृषों पर राज्य करता था। यह अनिश्चित है कि वह शूद्र वर्ण का था। वह या तो शूद्र जनजाति का था या उत्तर-पश्चिम की किसी जाति का था, जिसे ब्राह्मण लेखकों ने शूद्र के रूप में चित्रित किया है।''[16]

रामशरण शर्मा अपने लेखन में बादरायण और शंकर दोनों से ही अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। असहमति व्यक्त करना कोई अनुचित बात नहीं है लेकिन दिक्कत यह है कि वे 'शूद्र वर्ण' और 'शूद्र जनजाति' को किस कसौटी के आधार पर अलगाते हैं यह समझ नहीं आता। वे अपनी हठधर्मिता और पूर्वानुमान के आधार पर 'शूद्र' को एक जनजाति मनवाने पर तुले हैं। 'शूद्र' शब्द के व्युत्पत्ति संबंधी अर्थ का उल्लेख पुराणों में भी मिलता है। इसमें शूद्र 'शुच' धातु से संबद्ध जान पड़ता है जिसका अर्थ है संतप्त होना। इसका अर्थ हुआ 'जो खिन्न हुए और भागे, वे शारीरिक श्रम करने के अभ्यस्त थे, तथा दीन-हीन थे उन्हें शूद्र बना दिया। इसके अतिरिक्त 'शूद्र' शब्द की व्याख्या का प्रयास बौद्धों द्वारा भी किया गया। बौद्ध मत के अनुसार जिन व्यक्तियों का आचरण आतंकपूर्ण और हीन कोटि का हो वे सुध (संस्कृत शूद्र) माने जाने लगे। इस तरह मध्यकाल के बौद्ध शब्दकोश में 'शूद्र' शब्द क्षुद्र का पर्याय बन गया। रामशरण शर्मा उपर्युक्त व्याख्या का विश्लेषण करते हुए कहते हैं

''दोनों ही व्युत्पत्तियां भाषा विज्ञान की दृष्टि से असंतोषजनक हैं, किन्तु फिर भी महत्वपूर्ण हैं। ब्राह्मणों द्वारा प्रस्तुत व्युत्पत्ति में शूद्रों की दयनीय अवस्था का चित्रण किया गया है | बौद्ध व्युत्पत्ति में समाज में उनकी हीनता और न्यूनता का परिचय मिलता है। इन व्युत्पत्तियों से केवल इतना पता चलता है कि भाषा और व्युत्पत्ति संबंधी व्याख्याएं भी सामाजिक स्थितियों से प्रभावित होती हैं।''[17]

भारतीय इतिहासकारों चिंतकों से लेकर विदेशी इतिहासकारों-चिन्तकों तक ने अपने अध्ययन और विश्लेषण के लिए इन्हीं पौराणिक-धार्मिक साहित्य को ही आधार सामग्री के रूप में इस्तेमाल किया। इसी के कारण इनके निष्कर्ष भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाए। लेकिन जब बौद्ध चिन्तक या समाजशास्त्री , फुले-आंबेडकर भारतीय समाज का विश्लेषण करते हैं तो उन्हीं अध्ययन सामग्री से नए तरह के तथ्य और विश्लेषण हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं .

इस शोध आलेख के माध्यम से हमने प्राचीन भारतीय समाज में कैसे और किन-किन सत्ताओं की मौजूदगी थी उसे देखने की कोशिश की है. उन सताओं की प्रकृति और इतिहास के तथ्यों के चयन उनके विश्लेष्ण में उस नजरिये का भी मूल्यांकन किया है जो एक विशेष दृष्टिकोण से परिचालित रहा है .

****

संदर्भ

1. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र; कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स, परिकल्पना प्रकाशन , प्रथम संस्करण पृ. 24.
2. जाति का जहर, संपादन-राजकिशोर , लेख डा. भीमराव अंबेडकर, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली , संस्करण -2011, पृ. 14.
3. इतिहास क्या है?, ई.एच. कार, , मैकमिलन प्रकाशन संस्करण -2020, नई दिल्ली, पृ. 74.
4. वही.
5. वही, पृ. 6.
6. बाबा साहेब डा. अंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड16 , डा. अंबेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली सेंस्करण 2001 पृष्ठ , पृ. 7.
8. वही. पृ. 9
9. धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ, लेखक मुद्राराक्षस, गौतम बुक सेंटर . नयी दिल्ली ,प्रथम संस्करण 2015 , पृ. 14-15.
10. वही, पृ. 29
11. वही, पृ. 29 .
12. वही. पृ. 27.
13. वही, पृ. 32-33.
14. शूद्रों का प्राचीन इतिहास, लेखक: रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन , भूमिका, संस्करण- 2000 पृ. 12.
15. वही, पृ. 34.
16. वही, पृ. 37.
17. वही, पृ. 37.

हिन्दी गीत और ग़ज़ल का प्रतिबिंबात्मक वैशिष्ट्य

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1468

डॉ. शिव शरण कौशिक
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, राजगढ़ (अलवर) राजस्थान

कविता जीवन का अन्तर्दर्शन और उसकी रागात्मक अभिव्यक्ति है। हिन्दी काव्य में प्रारम्भ से ही अनेक काव्य - विधाएँ प्रचलित रही हैं, लेकिन आधुनिक काल में प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक काव्य की विधाएँ उत्तरोत्तर गौण तथा अलोकप्रिय होती गईं और गीतिकाव्य के विविध रूपों जैसे - गीत, प्रगीत, ग़ज़ल, चतुर्दशपदी, मुक्त छन्द की दीर्घ कविता तथा छन्द मुक्त निबन्ध कविता आदि का प्रचलन विशेष रूप से हुआ। वस्तुत: गीत और ग़ज़ल को दो विपरीत ध्रुवों के रूप में मानना या स्थापित करना तर्कसंगत नहीं होगा, क्योंकि दोनों ही काव्य रूप मानवीय संवेद्य की अभिव्यक्ति के दो वृत्त हैं। जहाँ गीत आदिम संगीत - काल से ही मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम रहा है वहीं ग़ज़ल भी आदिम संवाद - काल से ही जीवानुभवों तथा विचार-बोध का प्रकटीकरण करती रही है।

काव्य मानव-जीवन के स्पन्दन से अनुप्राणित होने के कारण विभिन्न भाव - सरणियों का संवाहक है। यही भाव सरणियाँ कवि की अनुभूति की उत्तेजना में निहित रहती हैं, जिनमें ऐन्द्रिय, मानसिक तथा बौद्धिक तत्त्वों का सम्मिश्रण रहता है और यदि यही भाव सरणियाँ संगीत तत्त्व तथा अर्थ तत्त्व का अवलम्ब पाकर अभिव्यक्त होने लगें तो काव्य का जो रूप प्रकट होगा वह है - गीत - काव्य.हिन्दी गीत तथा ग़ज़ल दोनों ही गीत-काव्य की दो विधाएँ हैं। आज जीवन की व्यस्तताओं के कारण पाठक के मन में सुदीर्घ- प्रबन्धात्मक कविता के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं होती बल्कि वह जीवन की किसी एक घटना, एक परिस्थिति तथा एक अनुभूत को चुनिन्दा शब्दों के संक्षिप्ताकारी गेय छन्दों में पढ़कर आनन्द लेना अधिक पसन्द करता है, जो साथ - साथ उसकी निजानुभूति में भी उद्रेक उत्पन्न करता चले। इस उद्देश्य में गीत और ग़ज़ल सर्वथा उपर्युक्त व प्रेषणीय सिद्ध हुए हैं।

आज के गीत और ग़ज़ल दोनों ही आत्माभिव्यक्ति, हृदय की रागात्मकता तथा आत्मा की मुक्तावस्था जैसी पुरातन अर्थ सीमाओं को तोड़कर लोक - मानस के धरातल पर जीवन की ही तरह व्यापकता तथा विविधता वाले हो गए हैं। मानव के अमूर्त रूपाकारों, विचारों, अनुभूतियों तथा संवेदनों की अभिव्यक्ति की इन दोनों ही विधाओं को किसी एक निश्चित सीमा में बाँधना दुस्साध्य है।

गेयता व लयबद्धता के कारण संगीत के अंक में बँधा हुआ कथ्य श्रोता को गुनगुनाहट के साथ एक समय तक आबद्ध किए रहता है और यदि संगीत के बाह्य रूप का निर्वाह न भी हो तो आन्तरिक संगीत व लयबद्धता के कारण गीत व ग़ज़ल दोनों ही छन्द सदैव संवेदनीय बने रहे हैं। हाँ समय और परिवेश के प्रभाव से उसमें परिवर्तन आना स्वाभाविक था। इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप आधुनिक हिन्दी कविता कभी पारम्परिक गीत, कभी छायावादी, कभी प्रगतिवादी, कभी प्रयोगवादी, कभी नई कविता, कभी विचार कविता और कभी नवगीत के रूप **में** दृष्टिगोचर होती है। गीति-काव्य का ही दूसरा काव्य रूप ग़ज़ल है जो नपे -तुले शब्दों में हृदय की तीव्रानुभूतियों को पाठकों तथा श्रोताओं तक सम्प्रेषित करने में सहायक होता है। कुछ काव्यकारों ने इसे गीतिका अथवा अनुगीत की संज्ञा प्रदान की है। ग़ज़ल में कम शब्दों में बहुत कुछ कहे जाने की क्षमता विद्यमान होने, संक्षिप्तता तथा अनुभूति की तीव्रता के कारण रचनाकारों ने अपने पूर्ववर्ती द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता व छायावादी वायवीयता की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रगतिवादी व परवर्ती काव्य में ग़ज़ल को उपयोगी विधा के रूप में स्वीकार किया। यहाँ यह कह देना भी प्रासंगिक होगा कि हिन्दी ग़ज़ल ने कवि व समाज के अन्तस् के भावों को जन मानस तक पहुँचाने में अपना प्रभावकारी महत्त्व प्रतिपादित किया। हिन्दी में गीत-काव्य का इतिहास गौरवशाली है। **हिन्दी** में गीत का प्रादुर्भाव महान् गीतकार विद्यापति से माना जाता है जो कि संस्कृत के 'गीत गोविन्द' से प्रभावित हैं। मध्यकाल के कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि के शास्त्रीय रागों **में** निबद्ध अनेक पद विश्व - विश्रुत हैं।रीतिकालीन गीतात्मक शुष्कता को कवियों ने छायावाद में आकर सरस बनाया। मैथिलीशरण गुप्त से प्रारम्भ हुई उन्नत गीत परम्परा को प्रसाद, निराला, महादेवी तथा पन्त आदि ने वैयक्तिक सुख - दुखानुभूति तथा भारतीय संस्कृति के प्रांजल रूप की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति के रूप में स्थापित किया। अन्ततः इन्हीं छायावादी गीतकारों में से पन्त, निराला आदि ने निजी वायवीयता से बन्धनमुक्त होकर प्रगतिवाद के रूप में नवीन भाव-बोध, भाषा-बोध तथा शिल्प - बोध की आधारशिला रखी। आज यही परम्परा नवगीत लेखन के रूप में सम-सामयिक युग चेतना को नवीन रूपाकारों के माध्यम से अतियथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करते हुए बुद्धिवाद के सहारे प्रयोगधर्मी भाव-भूमियों को रेखांकित करती है। दूसरी ओर ग़ज़ल उर्दू कविता का सर्वश्रेष्ठ, अनूठा व सशक्त काव्य-रूप है इसका प्रादुर्भाव फ़ारसी भाषा में हुआ तथा उर्दू के माध्यम से हिन्दी में प्रवेश पाकर अपने रचनात्मक स्वरूप के शिखर बिन्दुओं का स्पर्श किया। यद्यपि अमीर खुसरो के बाद व्यापक स्तर पर हिन्दी ग़ज़ल का विकास सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और दुष्यन्त कुमार के समय से ही हुआ, किन्तु स्फुट रूप में ग़ज़ल के तत्त्व भारतेन्दु काल में भी मिलते रहे हैं। महात्मा कबीर ने भी आम आदमी की बोलचाल की भाषा में कतिपय ग़ज़लें लिखी हैं। लेकिन इस विधा को साहित्य में प्रमुख स्थान दुष्यन्त कुमार ने दिलाया। छायावादोत्तर काल **में** हिन्दी ग़ज़ल लेखन में अनेक रचनाकारों ने काव्य तथा शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचनाधर्मिता का निर्वाह किया।

अत्याधुनिक युग की ग़ज़लों को साठोत्तरी अथवा आज की समकालीन हिन्दी ग़ज़ल की संज्ञा देना उचित ही है। विगत कुछ दशकों में हिन्दी ग़ज़ल की परम्परा का चहुँमुखी विकास हुआ है। आज का ग़ज़लकार सर्वहारा वर्ग द्वारा भोगे जा रहे यथार्थ, थोथी व्यवस्था के प्रति विद्रोह तथा ह्रासोन्मुख सामाजिक व नैतिक मूल्यों की नींव पर हिन्दी ग़ज़ल की सुदृढ़ भित्ति का निर्माण करता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मानवीय कोमल भावों को संक्षिप्तता व गहराई से अभिव्यक्ति प्रदान करने में कुछ विधाएँ अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई हैं जिनमें गीत तथा ग़ज़ल प्रमुख हैं। गीत और ग़ज़ल दोनों ही काव्य की स्वतन्त्र विधाएँ हैं तथा दोनों के ही संवेदनों ने जनमानस को अत्यधिक प्रभावित किया है। मानव जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म पहलू, घटना तथा विचार का सुगठित चित्र प्रस्तुत करने के कारण ही आधुनिक युग में यह गेय विधाएँ अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। अपने विशिष्ट शिल्प-विधान के कारण भी गीत और ग़ज़ल ने हिन्दी काव्य में अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाई है। यहाँ हम गीत और ग़ज़ल **में** परस्पर तथा समकालीन कविता के साथ संवेदना एवं शिल्पगत प्रतिबिम्बता, वैशिष्ट्य तथा दिशा पर प्रकाश डालेंगे तथा देखेंगे कि गीत और ग़ज़ल एक ही दिशा की विधाएँ होते हुए भी किस प्रकार से अपनी अलग पहचान रखती हैं तथा कैसे वे एक-दूसरे में संक्रमित करती हैं।

(1) **संवेदनात्मक प्रतिबिम्बता** -काव्य प्रवृत्तियाँ विविधात्मक होती हैं, किन्तु सभी प्रवृत्तियों के केन्द्र में कोई मूल संवेदना अवश्य रहती है। यही मूल चेतना काव्य का प्रतिपाद्य कहलाती है। गीत में मूलतः कवि

की रागात्मक अन्तर्दृष्टि, उसके निजानुभव तथा मानवीय संवेदनो का ही चित्रांकन होता है । एक ओर जहाँ गीत कवि तथा मनुष्य की आन्तरिक वेदना, आत्म तुष्टि, दर्शन तथा अध्यात्म जैसे अन्तर्मुखी पक्ष को उजागर करता है, तो वहीं दूसरी ओर हिन्दी ग़ज़ल दिनोंदिन बढ़ती बौद्धिक प्रवंचनाओं, छल-छद्म, गिरते सामाजिक मूल्यों, विषमताओं तथा विद्रूपताओं जैसे बहिर्मुखी पक्ष का परदाफ़ाश करती है । प्रारम्भिक काल से आधुनिक काल तक हिन्दी गीत में अनेक भाव - धाराएँ प्रवाहित हुई हैं । किन्तु इन सभी पड़ावों को पार कर आज हिन्दी गीत और ग़ज़ल संवेदना की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुधा साम्य रखते हुए प्रतिबिम्बित करते हैं । क्योंकि गीत-प्रगीत के परम्परागत गुण - आत्मानुभूति की तीव्रता,मार्मिकता,कल्पनाशीलता, प्रभविष्णुता, चित्रोत्पादकता, संगीतात्मकता तथा भाषा की सुकुमारता आदि आज की गीत - सृष्टि से देखते हुए अपर्याप्त सी लगने लगी तथा बदले हुए परिवेश तथा नवीन युग-बोध को भाव तथा कलापक्ष की दृष्टि से गीत और ग़ज़ल परस्पर दोनों बौद्धिक चिन्तन, वैचारिक, विशिष्टता, युग परिवेश का यथार्थ, प्रतीकात्मकता, जैसे गुणों के साथ स्पन्दित करने लगे । आज हिन्दी गीत और ग़ज़ल आम आदमी, समाज, राष्ट्र राजनीति, विज्ञान, संस्कृति, अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व-बोध पर समान रूप से अपनी काव्य-दृष्टि डालते हुए मानवीय संवेदनाओं तथा आम आदमी की व्यक्तिगत समस्याओं से जूझते हुए सन्तोष का अवकाश खोजते प्रतीत होते हैं। ऐसे में बिखराव से अलग हटकर कवि को जहाँ राहत की साँस मिल सकती थी । वह गीत व ग़ज़ल का ही क्षेत्र है । नवगीत लेखन में जहाँ गीत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव - बोधों को काव्य **में** पुष्पित- पल्लवित कर रहा है। साथ ही वह व्यक्ति की ऊहात्मक तथा द्वन्द्वात्मक मनोदशा, सामाजिक विसंगतियों, राजनीतिक विद्रूपताओं, सांस्कृतिक अवमूल्यन, वैज्ञानिक आविष्कारों के गम्भीरतम परिणामों आदि का कँटीला ताज लेकर काव्यकार की पीड़ा का आगाज करता दिखाई देता है।

" जलती हुई मशालों में भी धुआँ बहुत है,
आग नहीं है कोई भी बेदाग नहीं है ।

वहीं आज की हिन्दी ग़ज़ल की अतियथार्थवादी प्रकृति को भ्रष्ट व्यवस्था, भ्रष्ट राजनीति, भ्रष्ट धर्मनीति, कालाबाजारी, बेरोजगारी, महँगाई, आम आदमी की कुंठा, पीड़ा, त्रासदी तथा निराशा आदि शब्द - रेखाओं के रूप में देखा जा सकता है।

"कुछ नई पगडंडियों पर इस तरह भटका,
हो गया परदेस जितना दूर मेरा गाँव । "

हिन्दी गीत और ग़ज़ल में संवेदनात्मक प्रतिबिम्बता का एक और विशिष्ट पहलू यह है कि आधुनिकता - बोध की अभिव्यक्ति का माध्यम हिन्दी गीत भारतीयता की चेतना के साथ भारतीय ज़मीन के प्रति गहरे लगाव को भी अभिव्यक्त करता है तो समरूप में हिन्दी ग़ज़ल भी हिन्दी का मुहावरा पाकर भारतीय सांस्कृतिक भाव-बोध के स्वर मुखरित कर हिन्दी - मन- भावन के भारतीय जनमानस को प्रतिबद्धता के साथ रूपायित करती है । राहिताश्व अस्थाना की परिभाषानुभा हिन्दी ग़ज़ल का शेर देखिए :-

दर्द का इतिहास है हिन्दी ग़ज़ल
एक शाश्वत प्यास है हिन्दी ग़ज़ल .
आदमी के साथ नंगे पाँव ही ढो रही संत्रास है हिन्दी ग़ज़ल.

साथ ही आज के गीत और ग़ज़ल कवि के मर्म को ही नहीं छूते बल्कि विचार को भी छूते हैं । इन दोनों ही गीति-विधाओं ने पाठक या श्रोता को न केवल भावोद्रेक ही प्रदान किया है, बल्कि सोचने को भी विवश किया है। इसके साथ ही गीत और ग़ज़ल में कुछ सूक्ष्म संवेदनागत वैशिष्ट्य भी पाए जाते हैं ।

(2) संवेदनात्मक वैशिष्ट्य:-हिन्दी गीत और ग़ज़ल का आदिकाल से छायावाद तक परिशीलन करने पर यह बात साफ तौर पर सामने आती है कि गीत और ग़ज़ल की संवेदना के बीच कुछ विभेदक रेखाएँ भी स्पष्ट दिखाई देती हैं जो दोनों ही विधाओं की भिन्न-भिन्न विशिष्टता की द्योतक हैं। अपनी परम्परा में गीत ने एक तरफ व्यक्तिगत रागानुभवों से सम्पृक्त शृंगार गीतों की सृष्टि की तो दूसरी तरफ प्रकृति के रहस्यों से प्रभावित होकर उसे भक्ति, दर्शन तथा अध्यात्म का अलौकिक आधार प्रदान किया । लोक भाषा के गीतों में प्रयुक्त **होने** से मैथिल कोकिल विद्यापति ने कृष्ण-भक्ति का आधार लेकर अनेक ऐसे मधुर गीतों की सर्जना की जो हिन्दी साहित्य में गीति - परम्परा की अमूल्य निधि हैं । विद्यापति के गीतों की व्याख्या करते हुए डॉ. आशा किशोर ने लिखा है- "इनकी रचनाओं में सजीव मूर्ति-विधान की अपूर्व क्षमता है। इन्होंने लोक भाषा में राधा को प्रतिष्ठित किया है । हिन्दी कवियों के बीच इनके गीतों में वैष्णव भक्ति का पहली बार स्पष्ट स्वर सुनाई देता है। "3 भक्तिकाल **में** कबीर की लोक-धर्मी गीति - परम्परा ने ऐसा अनूठा ताना-बाना बुना है कि भारतीय लोक-मानस में भक्त हृदय की दीनता, भावप्रवणता, समर्पण तथा तादात्म्यानुभव का प्रत्यक्षीकरण ही उपस्थित होता है । इन्हीं के समकालीन सूर, मीरा तथा तुलसी ने भी सगुण भक्ति के माध्यम से अपने आराध्य के प्रति पूर्ण तदाकार होकर तन्मयता के साथ पद-गीतों का भाव व शिल्प की दृष्टि से परिष्कार किया ।

रीतिकाल में रसखान, घनानन्द, बोधा, आलम जैसे गीत - कवियों ने प्रेम के प्रांजल रूप के लौकिक तथा अलौकिक दोनों पक्षों को उजागर किया, लेकिन फिर भी स्थूल - शृंगारिकता के चलते भक्तिकालीन मीरा की मार्मिक भावुकता रीतिकाल तक आते लुप्त सी हो गई । डॉ. रामकुमार वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि " जिस प्रकार दीपक की उज्ज्वल शिखा से काजल निकलता है, उसी प्रकार सूर, मीरा के उज्ज्वल और तेजोमय पवित्र शृंगार से अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का कलुषित शृंगार प्रादुर्भूत हुआ।" [4]यदि हिन्दी ग़ज़ल के प्रतिपाद्य का आदिकाल से आधुनिक काल के प्रारम्भ तक अनुशीलन करें तो यह स्पष्ट ही है कि फ़ारसी से उर्दू तथा पुनः हिन्दी **में** आया यह छन्द अपने पारम्परिक परिधान को कैसे उतार सकता था । उर्दू ग़ज़ल की संक्षिप्तता तथा अनुभूति की तीव्रता का हिन्दी के कवियों पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने ग़ज़ल को हिन्दी में अपनाया । अमीर खुसरो हिन्दी के प्रथम ग़ज़लकार हैं, जिन्होंने ग़ज़ल के शाब्दिक अर्थ 'प्रेमी से वार्तालाप' को आधार मानकर ही रोमानी तथा प्रेमानुभूति विषयक ग़ज़लें लिखीं। भक्तिकाल में कबीर, मीरा ने भी कतिपय रचनाएँ लिखी हैं, लेकिन उनके द्वारा रचित भक्ति के पद गतों की अपार राशि की तुलना में ये 'ग़ज़लनुमा ' रचनाएँ मात्रा में न्यून ही हैं। डॉ. रोहिताश अस्थाना लिखते हैं "कबीर की अमीर खुसरो से ली हुई यह परम्परा हिन्दी में चलती रही, किन्तु कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि सम्मुख नहीं आई । " अतः स्पष्ट है ईश्वर भक्ति तथा अध्यात्म-दर्शन की अभिव्यक्ति में गीत हिन्दी ग़ज़ल की तुलना **में** अतुलनीय रूप से समृद्ध है तथा अपनी विशिष्ट पहचान के लिए विश्व विश्रुत है ।

इधर हिन्दी गीत में छायावाद गीत - काव्य के स्वर्णयुग के रूप **में** स्थापित हुआ । भाव और शिल्प की दृष्टि से छायावाद एक नवीन धरातल लेकर प्रकट हुआ । यद्यपि छायावादी गीतों में राष्ट्रीय संवेदन के अनेक गीतों की रचना हुई, लेकिन मूलतः इन कवियों की अन्तर्दृष्टि व्यक्तिवादी, रोमानी तथा प्रकृति प्रेरित ही कही जाएगी। लेकिन यह कह देना छायावादी गीतों को कमतर आकना नहीं है, बल्कि इसे कलात्मक गरिमा, सौष्ठव, सौन्दर्य, मृदुता तथा ऋजुता भी प्रदान की । प्रसाद, निराला, महादेवी, पन्त आदि ने गीतों में तीव्रानुभूति, भावों की एकतानता, मानवीय दृष्टिकोण की व्यापकता तथा नारी के प्रति उदार तथा नवीन दृष्टिकोण के साथ नवीन मान्यताएँ स्थापित कीं । यह उद्धरण देखिए-

'जल्द - जल्द पैर बढ़ाओ आओ-आओ
आज अमीरों की हवेली होगी
किसानों की पाठशाला।"

दूसरी ओर यदि हिन्दी ग़ज़ल की छायावादी संवेदनागत स्थिति पर विचार करें तो पाएँगे कि प्रसाद, निराला आदि ने कतिपय ग़ज़लों में प्रेम विषयक, राष्ट्रीयता तथा व्यंग्य प्रधान ग़ज़लें लिखी हैं, लेकिन छायावादी गीत राशि की तुलना में ये ग़ज़लें शतांश ही मानी जाएँगी। ग़ज़ल शेरों की माला होती है और भाव - संवेदन या कथ्य की दृष्टि से ग़ज़ल का प्रत्येक शेर एक स्वतन्त्र इकाई होता है, अतः जहाँ तक गीत में एक साथ एक ही संवेदन को अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है वहीं ग़ज़ल का प्रत्येक शेर मानव जीवन की अलग-अलग कथा कहता चलता है। यही कारण है कि प्रगतिवाद व प्रयोगवाद में यद्यपि हिन्दी गीत टूटती हुई मान्यताओं, सतही भावुकता, सीमित अभिव्यक्ति तथा पिछड़ेपन व बुद्धिहीनता आदि के आरोपों से आक्षेपित रहा लेकिन इस काल की हिन्दी ग़ज़ल का एक-एक शेर एक विचार है तथा समाज की सच्ची तस्वीर है। निराला की ग़ज़ल का यह शेर देखिए-

" ज़माने की रफ्तार से कैसा तूफ़ाँ,
मरे जा रहे हैं, जिये जा रहे हैं। " [7]

वर्तमान की अत्याधुनिक जीवन-शैली तथा वैश्वीकरण के कारण परिवारों के विघटन तथा सामाजिक परिवर्तन की एक सच्ची तस्वीर गोपाल गर्ग ने अपनी इस ग़ज़ल में बेहद सार्थकता के साथ प्रस्तुत की है -

रह नहीं पाता तुम्हारा एक-सा दिनमान चिड़िया
इन दिनों की धूप का इतना बुरा न मान चिड़िया
मिल तो जाता है घरों में एक मुट्ठी बाजरा
पर तुम्हारी भूख पर जाता नहीं है ध्यान चिड़िया
उड़ गये जो पंख मिलते ही घरौंदा छोड़कर
एक दिन होगा उन्हें भी इस व्यथा का भान चिड़िया।

यह सच है कि नवगीत ने पुन: हिन्दी गीति-काव्य को उच्च भाव-भूमि पर ला खड़ा किया है, लेकिन यह तो सिद्ध है ही कि जहाँ हिन्दी गीत की संवेदना की दृष्टि से आदिकाल से छायावाद तक विविध प्रवृत्यात्मक काव्य - राशि की अत्यन्त समृद्ध परम्परा मिलती है वहीं **हिन्दी** ग़ज़ल तो प्रारम्भिक काल से भारतेन्दु युग तक अपने अस्तित्व के लिए ही जद्दोजहद करती - सी प्रतीत होती है, लेकिन आज की समकालीन हिन्दी ग़ज़ल गीत की तुलना **में** अधिक तीक्ष्ण होकर आम आदमी के अधिक करीब आई है और इसकी आधारशिला रखने का श्रेय निःसन्देह दुष्यन्त कुमार को ही जाता है। उनका यह शेर देखिए-

(3) शिल्पगत प्रतिबिम्बता:-

"यहाँ तक आते-आते सूख जाती हैं कई नदियाँ,
मुझे मालूम है पानी कहाँ ठहरा हुआ होगा।'

साहित्य की प्रत्येक विधा का अपना स्वतन्त्र शिल्प-विधान होता है और यही शिल्प - विधान उन्हें एक-दूसरी विधा से अलगाकर स्थापित करता है। हिन्दी गीतिकाव्य की दोनों विधाओं - गीत और ग़ज़ल का भी अपना अलग-अलग शिल्प विधान है, किन्तु फिर भी उनमें शैल्पिक दृष्टि से अनेक साम्य तथा प्रतिबिम्बताएँ स्पष्ट दृष्टिगत होती हैं। बल्कि ग़ज़ल और गीत दोनों ही गीतकाव्य की शैलियाँ ही हैं, जिनमें गीत काव्य के शैल्पिक तत्त्व समान रूप से मिलते हैं।

आज हिन्दी गीत और ग़ज़ल दोनों में ही प्रतीकात्मकता, ध्वन्यात्मकता तथा विषयानुरूप शब्द, भाषा, लय, संगीत तथा छन्द के अभिनव प्रयोग दिखाई देते हैं। गीतों के लोकगीत तथा कला गीत दोनों ही रूपों तथा हिन्दी ग़ज़ल में समान रूप से संगीत तत्त्व की अनिवार्यता काव्य के आविर्भाव के साथ ही असन्दिग्ध है। सुधांशु उपाध्याय के गीत की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

'भूखे हैं, **नंगे** हैं लोग भले **चंगे** हैं। [9]

गीत और ग़ज़ल दोनों ही गेय विधाएँ हैं, इसलिए इनमें अनुभूति की तीव्रता के कारण कवि गाने के लिए सहसा प्रेरित होता है, परन्तु इनकी संगीतात्मकता स्वर-ताल आदि के बाह्य संगीत की अनिवार्यता से आबद्ध नहीं है बल्कि ये भाव के आन्तरिक संगीत तथा भाषा के शब्द -संगीत से ही जुड़ी रहती है। शब्द-संगीत से आशय स्वर, व्यंजन, पद आदि के भावानुकूल तथा ध्वन्यात्मक संगीत उत्पन्न करने से है। गेय कविता संसार की समस्त भाषाओं में आदि से वर्तमान तक सृजित होती रही है। हिन्दी गीत और ग़ज़ल के शिल्प विधान में लयात्मकता की दृष्टि से जो विशिष्टता नज़र आती है उसके पीछे एक मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट दिखाई देता है कि भारतीय संस्कृति में यहाँ के लोग जीवन की विषम परिस्थितियों में भी जीवन की लयात्मकता से विलग नहीं हो पाते। स्वाभाविक है जीवन की विषमता को गीत और ग़ज़ल में व्यक्त करने का उपक्रम छन्दोबद्ध और लयात्मक कविता के माध्यम से लोक मानस को तुष्टि प्रदान करने **में** ही सिद्ध हुआ है।

संगीत का आवश्यक तत्त्व है - आकार की लघुता तथा संक्षिप्तता। और यह तत्त्व गीत और ग़ज़ल दोनों विधाओं में समान रूप से पाया जाता है। दोनों ही विधाएँ विभिन्न छन्दों में संगीत शास्त्रीय राग-रागनियों के आधार पर गेय हैं। यहाँ तक कि कुछ हिन्दी गीत तो ग़ज़ल के शिल्प पर ही लिखे गए हैं। ग़ज़ल में लिखा बलवीर सिंह 'रंग' का यह गीत देखिए-

"वर्तमान से मुझे शिकायत भारी है
कह सकता कुछ नहीं बड़ी लाचारी है
घेर लिया है मुझको दोनों ओर से
आगे सेवक हैं पीछे अधिकारी है। [10]

इनमें यह अन्तर कर पाना कठिन होता है कि यह गीत है या ग़ज़ल। केवल काफ़िया तथा रदीफ़ का निर्वाह ही यहाँ इनके बीच विभेदक का कार्य करता है। शोधार्थी के विचार में गीत और संगीत **में** चोली-दामन का साथ है जो न कभी टूटा है और न टूटने की सम्भावना है। बदले परिवेश में नवगीत में भी भले ही बाह्य शास्त्रीय संगीत तथा परम्परागत छन्द प्रयोग की रूढ़ियाँ टूट गई हों लेकिन आन्तरिक संगीत, लय तथा छन्द-संगीत का निर्वाह सफलतापूर्वक किया जा रहा है। हिन्दी गीत और ग़ज़ल **में** भारतीय काव्य शास्त्र के दोहा, मन्दाक्रान्ता, हरिगीतिका सवैया जैसे छन्दों का भी समान रूप से प्रयोग हुआ है। एक और साम्य गीत और ग़ज़ल में दिखाई देता है और वह है दोनों का ही मात्रिक छन्दों में लिखा जाना। महादेवी का "बीन भी मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' 11 23 मात्राओं **में** लिखा गया छन्द है। हिन्दी गीत की तो मूल प्रकृति ही वर्ण-वृत्त - प्रधान है। वहीं हिन्दी ग़ज़ल भी फ़ारसी अरूज (गण शास्त्र) की दरूहता के कारण छन्द (बहर) की दृष्टि से मात्रिक ही है। 19 मात्राओं के छन्द **में** लिखी ग़ज़ल का यह मिसरा देखिए-

" आदमीयत खो चुका है आदमी
अब तो केवल यंत्र - सा है आदमी
सभ्यता विकसित हुई कुछ इस तरह
भीड़ में गुम हो गया है आदमी।' [12]

आधुनिक युग में गीत और ग़ज़ल रचना के कवियों में संगीत, अलंकार आदि के प्रति विशेष आग्रह दिखाई नहीं देता, बल्कि आज के नवगीत तथा आज की हिन्दी ग़ज़ल में नई कविता के समानान्तर नवीन प्रतीक, उपमान, बिम्ब तथा छन्द आदि सभी की प्रयुक्ति से काव्य- जगत **में** अपना स्थान सुनिश्चित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, किन्तु दोनों में शैल्पिक वैशिष्ट्य तथा वैषम्य भी स्पष्ट दिखाई देता है।

(4) शिल्पगत वैशिष्ट्य:-हिन्दी गीत और ग़ज़ल दोनों का ही छन्द विधान अलग-अलग है, बल्कि गीत ने प्रारम्भ के पदों से लेकर आज

के नवगीत तक कई छान्दसिक स्वरूपों को ग्रहण किया है, जबकि ग़ज़ल के छन्द में प्रादुर्भाव से लेकर आज तक कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देता।

गीत के छन्द - विधान में चाहे भक्तिकालीन - छायावादी पद हों या आज का नवगीत - सभी में कमोबेश स्थायी (टेक) से गीत का आरम्भ होता है, तदुपरान्त अन्तरे के रूप में कुछ चरण आते हैं, जिनकी संख्या दो से अधिक होती है। ये चरण स्थायी के मात्रिक वजन में भी हो सकते हैं तथा अलग वज़न में भी। पुनः स्थायी की सम मात्रिक पंक्ति तथा स्थायी (टेक) का आवर्त्तन गीत के पहले अन्तरे को पूर्ण करता है। यह गीत देखिए-

स्थायी अन्तरा

पागल मन मत मनुहार करो।
भ्रम हो सकता वरदान नहीं
सच होते स्वप्न - विधान कहीं
मेरे मन जलमाया से हट
अपने पर तो अधिकार करो
स्थायी पागल मन मत मनुहार करो। [13]

दूसरी ओर ग़ज़ल में दो-दो पंक्तियों के शेर होते हैं। शेर की हर पंक्ति मिसरा कहलाती है। ग़ज़ल का प्रथम शेर मतला कहलाता है जिसकी दोनों पंक्तियों (मिसरों) में काफ़िया व रदीफ़ का निर्वाह होता है। अन्तिम शेर को मक़ता कहते हैं, जिसमें कवि का उपनाम होता है। ग़ज़ल में कम-से-कम 5 शेर होते हैं। ग़ज़ल की खास बात यह है कि उसका प्रत्येक शेर अपने आप में एक सम्पूर्ण कविता होता है। विषय-वस्तु की दृष्टि **से** एक शेर का दूसरे शेर से पूर्वापर सम्बन्ध हो यह आवश्यक नहीं होता। इसका आशय यह हुआ कि यदि किसी ग़ज़ल में 12 शेर हैं तो यह कहना गलत न होगा कि उसमें 12 स्वतन्त्र कविताएँ हैं। ग़ज़ल का प्रत्येक शेर एक-एक भाव, एक-एक विचार तथा एक-एक अनुभव है। 'रदीफ़', 'ग़ज़ल' के मतले की दोनों पंक्तियों के अन्त **में** तथा बाँद वाले प्रत्येक शेर की दूसरी पंक्ति के अन्त में आने वाला समान्त शब्द-समूह है। रदीफ़ से पहले आने वाला 'तुकान्त' शब्द 'काफ़िया' कहलाता है। यह ग़ज़ल देखिए-

" भूख जैसे सवाल **मत पूछो**
मतला देश का हालचाल **मत** पूछो
इस प्रजातन्त्र की व्यवस्था **में**
'तन्त्र' की ढील - ढाल **मत** पूछो।" [14]

इसमें 'मत पूछो 'रदीफ़' है तथा 'सवाल', 'हालचाल', 'ढीलढाल' आदि 'काफ़िया' हैं। भाषा की दृष्टि से हिन्दी गीत व ग़ज़ल में जो वैशिष्ट्य - वैषम्य दिखाई देता है, उसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि आदिकालीन गीतों में विद्यापति ने मैथिली भाषा का प्रयोग किया तो भक्तिकाल में अवधी तथा ब्रज भाषा गीतों का माध्यम बनी। द्विवेदी काल से छायावाद तक संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के रूप ही गीतों में दृष्टिगोचर होते हैं। दूसरी ओर हिन्दी ग़ज़ल **में** प्रारम्भ से आज तक फ़ारसी- उर्दू प्रधान हिन्दी, संस्कृतनिष्ठ तत्सम हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी के मिले-जुले रूप परिलक्षित हुए हैं। आज के हिन्दी गीतों में आंचलिक भाषा तथा विदेशी भाषाओं के शब्द भी प्रवेश पा गए हैं, जबकि हिन्दी ग़ज़ल आम बोलचाल की हिन्दुस्तानी भाषा के अधिक करीब आ गई है।

ज़हीर कुरेशी का यह शेर देखिए
आपका, मेरा, हर किसी का दुख,
एक जैसा है आदमी का दुख।' [15]

बह्र वज़न की दृष्टि से भी गीत और ग़ज़ल में पर्याप्त वैषम्य दिखाई देता है। जहाँ गीत में मुखड़े (स्थायी) तथा अन्तरे में मात्राओं की संख्या सामान्यतया भिन्न ही होती है (समान भी हो सकती है) वहीं ग़ज़ल का प्रत्येक शेर बल्कि प्रत्येक मिसरा एक ही बहर वज़न (लय खंड) में होगा। हिन्दी गीत **में** आज अनेक लोकगीतों के छन्द भी आकर समाहित हो गए हैं। डॉ. आशा किशोर ने लोकगीतों के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है - "जीवन के नवीनतम तत्त्वों को अपने में समाहित करते रहने के कारण लोक गीतों **में** एक जीवन्त गति है, जिसमें जीवन के नित - नूतन आदर्श प्रतिष्ठित हैं। [16]हिन्दी गीत और ग़ज़ल की संवेदना व शिल्पगत प्रतिबिम्बता व वैशिष्ट्य में आई स्थापनाओं के साथ ही समकालीन कविता की गीत और ग़ज़ल में पाई जाने वाली समानता व विशिष्टता का भी सूक्ष्म में ही सही, निष्कर्ष रूप में विचार करना उचित होगा। आज जहाँ एक ओर गीत बाह्य-संगीत तथा आलंकारिकता के लबादे को उतारकर जन-जीवन से जुड़ते हुए नई कविता के समानान्तर बौद्धिकता तथा नवीन रूपाकारों, प्रतीकों, बिम्बों के सहारे पहचान पाता है, वहीं हिन्दी ग़ज़ल न केवल घने अन्धकार में प्रकाश की प्रथम किरण है, बल्कि महानगरीय सभ्यता के बन्द द्वार पर परिचय की दस्तक भी है। डॉ. कुँअर बेचैन का ऐसा ही एक शेर देखिए-

निष्कर्ष -

" फिर रहा है अपने घर में ही यतीमों की तरह,
मन हमारा मारा-मारा और हम खामोश हैं। " [17]

वस्तुतः आज जहाँ एक ओर हिन्दी गीत अपनी कोमलता, माधुर्य, संगीतात्मकता, जीवन की लयात्मकता तथा नवीन युग-बोध के कारण लोगों के दिलों में उतरने का सामर्थ्य रखता है तो वहीं दूसरी ओर हिन्दी ग़ज़ल भी आम आदमी के दुख-पीड़ाओं, त्रासदियों को व्यक्त करती तथा सामाजिक बुराइयों का पर्दाफ़ाश करती लोकप्रिय काव्य-विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। जहाँ तक गीत की भाव व शिल्प की दृष्टि से भावी सम्भावनाओं का प्रश्न है - देखा यह जा रहा है कि नवगीत लेखन से 'नव' के आग्रह में हिन्दी गीत को नई कविता, अकविता आदि के समानान्तर ' आज का गीत', 'नया गीत', 'आधुनिक गीत' तो कहीं नवगीत की संज्ञाओं से अभिहित किया जा रहा है यदि इस पर हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो पाएँगे कि हर बदलते युग का काव्य अपने समय में आज का होता है, नया होता है, आधुनिक होता है तथा 'नव' होता है। स्पष्ट है ये शब्द परिस्थिति सापेक्ष एक विशेषण तो बन सकते हैं, परन्तु ये निरपेक्ष प्रवृत्ति अथवा मूल्यबोधक नहीं बन सकते। साथ ही यह भी देखने **में** आता है कि आज के अधिकांश गीतकार कहने को तो आधुनिकता का दम्भ भरते हैं, किन्तु उनकी रचनाओं **में** आधुनिक विचार - बोध, विज्ञान - बोध की प्रवृत्ति अधिक नहीं पनप पाई है। गीति-कर्म से पहले गीतकार को आज के अति बौद्धिकतावादी युग **में** विचार - साहित्य से जुड़ाव रखना अपरिहार्य हो गया है। फिर भी अपनी विशिष्टात्मकता के कारण **गीत** आज काव्य की अन्य विधाओं के बीच अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। आज की कविता के समानान्तर ही ग़ज़ल भी समसामयिक, सामाजिक, अधिक संवेदनशील, चेतनाकामी, सरल तथा मनुष्य को समझने वाले मित्र के समान प्रतीत होती है।

****

सन्दर्भ -

1. धर्मपाल अवस्थी - नए पुराने गीत, अंक-2, पृ. 59 से उद्धृत। गोपाल गर्ग ऋण चुकाती है नदी, पृ. 30 से उद्धृत।
2. आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का स्वरूप और विकास - डॉ. आशा किशोर, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. 537 1
3. हिन्दी ग़ज़ल का उद्भव और विकास - डॉ. रोहिताश्व अस्थाना, पृ. 176।
4. बेला- निराला, पृ. 78।
5. बेला – निराला, पृ. 68 1
6. साए में धूप - दुष्यन्त कुमार, पृ. 15।
7. नवगीत दशक - 3 - सं. शम्भुनाथ सिंह, पृ. 55। पृ. 12।
8. बलबीर सिंह रंग - (हिन्दी गीत और गीतकार - डॉ. उपेन्द्र पृ. 23 से उद्धृत)
9. नीरजा - महादेवी वर्मा, पृ. 20।
10. ग़ज़ल : शिल्प और संरचना - डॉ. नरेश, पृ. 38।
11. शम्भुनाथ सिंह : हिन्दी गीत और गीतकार - डॉ. उपेन्द्र, पृ. 47 से उद्धृत।
12. हिन्दी ग़ज़ल के विविध आयाम - डॉ. सरदार मुजावर, पृ. 74
13. चाँदनी का दुख - ज़हीर कुरेशी, पृ. 19।
14. आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का स्वरूप और विकास - डॉ. आशा किशोर, पृ. 51
15. शामियाने काँच के - डॉ. कुँअर बेचैन, पृ. 70

गढवाल हिमालय के लोकगीतों की भाव सम्पत्ति

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1464

डॉ.डी.एस.भण्डारी
विभागाध्यक्ष हिन्दी
बालगंगा महाविद्यालय सेन्दुल
केमर टिहरी गढवाल उत्तराखण्ड
मो.9917699690,8126543239

सारांश-काव्यशास्त्र के बंधनों से दूर लोकगीतों की सरसता के समक्ष लिखित साहित्य का काव्य सौन्दर्य फीका दिखाई देता है लोकगीत मानव समाज की सामूहिक अनुभूति को व्यक्त करने के सबसे सशक्त माध्यम दिखाई देते हैं। लोकगीत में अनुभवजन्य ज्ञान होता है इस कारण उन्हें काव्य के साथ ही जीवन दर्शन भी माना जा सकता है। लोकगीत सामूहिक रचना है जबकि कविता व्यक्तिगत कविता विश्राम के क्षणों की काल्पनिक सृष्टि है जबकि लोकगीत लोकजीवन की अनेक परिस्थितियों संघर्षों और आवश्यकताओं के परिणाम हैं। लोकगीत श्रम उत्सव और मानव उल्लासों से संबद्ध मिलते हैं। कोई भी लोकगीत ऐसा नहीं है जिसकी सामाजिक उपयोगिता न हो। लोकगीतों में इतिहास भूगोल संगीत नृत्य आदि अनेक विषय समाहित रहते हैं। अनेक भावों के समागम से लोकगीत बनते हैं जबकि कविता में इन तथ्यों की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस प्रकार से गढवाल हिमालय के लोकगीतों की भाव सम्पत्ति अतुलनीय और असीमित है प्रस्तुत शोध पत्र में इसी तथ्य का विवचेन किया गया है। गढ़वाली लोकगीतों का एक बहुत बड़ा भाग स्त्री गीतों से सम्बन्धित है। श्रम साध्य गढ़वाली समाज में स्त्री की भूमिका महत्वपूर्ण है। अनेक प्रकार की पीड़ाएं उसे सहन करनी पड़ती हैं और इन्हीं पीडाओं से, अनुभूतियों से लोग कण्ठ में स्वर लहरी फूट पड़ती है।1

खै जौली मांजी पहाडू की बेरी।
कनी किस्मत रै हवैली मेरी।
केकु बाबा न इण्टर पढाई।
केकु बाबा न राठ विवाई।
मैन न बाबाजी सैसर नि जान।
बांज की डाली मां फांस लगाण।

गढ़वाल हिमालय के बहुत कम क्षेत्र गांव ऐसे हैं जहां भौतिक सुख सुविधाएं उपलब्ध है। अगर कुछ क्षेत्र गांव में सुख सुविधाएं हैं भी तो उसका लाभ स्त्री को नहीं मिलता है। गढ़वाल का राठ क्षेत्र श्रम साध्य जीवन के लिए प्रसिद्ध है।2 यहां रात दिन परिश्रम के बल पर ही जीवन यापन किया जा सकता है परिश्रम का सबसे अधिक भार परिवार की बहू को उठाना पड़ता है। परिवार में खाना बनाने की जिम्मेदारी से लेकर बच्चों की देखभाल, गाय भैंस की देखभाल, मीलो दूर से उनके लिए चारा पानी लाना मीलों दूर से खाना बनाने के लिए लकड़ी लाना, खेती का काम और पीने का पानी भी कहीं किलोमीटर दूर से पीठ पर लाद कर लाना, दिन-रात के इस परिश्रम में उसे न सूर्य उगने का पता चलता है और न सूर्य ढलने का। ऐसी श्रम साध्य जिंदगी को देखकर नव विवाहित युवती के कण्ठ से सहसा निकलता है कि हे मां मेरी कैसी किस्मत रही होगी मुझे पिताजी ने इण्टर तक क्यों पढ़ाया होगा? और इण्टर पढाने के बाद मेरा विवाह राठ में क्यों किया होगा? मैं पिताजी अब सैसर नहीं जाऊंगी मैंने बांझ के पेड़ पर फांसी लगानी है।

एक कण्ठ से निकला यह स्वर हजारों कण्ठ का स्वर बन जाता है। गीत में अनुभूति की तीव्रता दिखाई देती है मायके विषयक स्मृतियां और ससुराल के दुख गीतों में वर्णित होते हैं। मायके का सुख ही याद नहीं आता वरन वह मायके को देखना चाहती है और कहती है कि-

मैं छऊं वैणी निरदया नगरी।
लोक बोली देंदा भारी नऊं देदाधरी।
बर्छियों की मार देंदा तलवारियों का घौं।
तेल मेरी सासु त्वे तनी मेरो भाग।

उंची डांड्यों तुम नीसी जावा
घणी कुलायों तुम छांटी होंता देखण देवा मैत का देश।

गढ़वाली लोकगीतों में प्रकृति के प्रति अपार ममता का भाव दिखाई देता है। गीतों में बसंत की छवि, फूलों के रंग, कफ्फू हिलांश फ्योंली के प्रति अत्यधिक आत्मीय भाव दिखाई देते हैं। यहां के धार्मिक गीत भावों की दृष्टि से अत्यधिक समद्ध दिखाई देते हैं। प्रेम और वीरत्व की अद्भुत व्यंजना इन लोकगीतों में दिखाई देती है। डॉक्टर गोविन्द चातक कहते हैं कि जागर पवाडे प्रेमाख्यान खुदेड़ गीत लिखित साहित्य की भक्ति वीर श्रृंगार और करुण रस की परंपराओं को भी मात करते हैं। जागरों में देवी-देवताओं की अर्चना और स्तुति में अपूर्व रसमयता दिखाई देती है। बसंती गीतों में प्रकृति का अपार वैभव वर्णित है।[3]प्रकृति के प्रति मानव की आत्मीयता और एक सूत्रता के दर्शन सम्पूर्ण गढ़वाली लोकगीतों में दिखाई देते हैं। यहां प्रणय गीतों में जो रसात्मकता और सौन्दर्यानुभूति दिखाई देती है वह अन्यत्र नहीं दिखाई देती है।

तैंकी मुखडी मां सुरीज पीठी मां चन्दा।
वीं का रंग मां मैलो होंद घुमैलो सुरीज।
भ्वां नी घरें दी वा हाथु नी लियेंदी।

उसके मुख में सूरज के समान तेज तेज है पीठ चंद्रमा के समान उसके तेज से सूर्य भी धूमिल हो जाता है उसे न तो जमीन पर एक रखा जा सकता है और न ही उसे हाथों में लिया जा सकता है। यद्यपि रूप वर्णन इनका मुख्य विषय नहीं है लेकिन सौन्दर्य और अनुभूति की रसात्मकता से रूप वर्णन मुख्य विषय बन जाता है प्रेमिका को भक्कू की गीता और बातू की रामायण कहकर ऐसे भाव उत्पन्न किए जाते हैं कि हिंदी साहित्य में भी वह नहीं मिलते हैं। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि इसकी एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ मुग्धाएं खंडिताएं और धीराएं न्यौछावर की जा सकती हैं। प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं। रूप के प्रति आसक्ति दिखाई देती है लेकिन इसके बाद भी काव्य में अन्य भाव सम्मिलित होने के कारण उसकी महिमा कम नहीं हुई है। प्रेम के साथ-साथ पतिव्रत दाम्पत्य गृहस्थ के प्रति आस्था की भावना लोकगीतों में विभिन्न रूपों से वर्णित हुई है। प्रेमाभिव्यक्तियों के साथ अनेक लोकगीतों में यौवन की अस्थिरता के भाव भी दिखाई देते हैं। समसामयिक घटनाओं से संम्बद्ध और ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित अनेक लोकगीत मिलते हैं। लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर लोग कर्तव्य की ओर प्रेरित करती है। यही कारण है कि सामान्य से सामान्य पंक्ति भावपूर्ण लगती है। काव्य के समान ही लोक काव्य में सरसता और रसवत्ता दिखाई देती है। कुछ विघन ही इनमें अन्तर मानते हैं। डॉक्टर रघुवंश कहते हैं कि काव्य और लोक काव्य की भावभूमि मौलिक अन्तर दिखाई देता है।[4]रस की स्थिति लोग जीवन की वास्तविक भावनात्मक प्रक्रिया में निहित है। लोक जीवन में जिस प्रकार विभिन्न भावों और संवेगों के कारण रस की अनुभूति होती है यही अनुभूति लोककाव्य में भी दिखाई देती है। यहां के लोकगीतों में श्रृंगार करुण और वीर रसों का समावेश ही अधिक दिखाई देता है, अन्य रस इन लोकगीतों में नहीं दिखाई देते हैं। बाजूबंद, छूडा, लामण, छोपती, चौफुला , चांचर, में श्रंगार, झुमैलो

और खुदेड गीतों में करुण और पवाडों में वीर रस की निष्पत्ति होती है। इन रसों के अतिरिक्त वात्सल्य के भाव भी गढ़वाली लोकगीतों में दिखाई देते हैं। मांगल खुदेड गीतों में वात्सलय की सुन्दर अभिव्यक्ति दिखाई देती है।शिशु की मृत्यु को लेकर रचे गये गीतों में भी वात्सल्य और करुणा का अपूर्व संयोग दिखाई देता है अपनी बेटी की मृत्यु की से अनजान मां कहती है कि-

मेरी उनाड्या माडी बीजी जादी।
लाड्ली बेटुली हे बीजी जादी।
तेरी कैसी नींदरा हे बीजी जादी।
सिरवाणी को घाम हे बीजी जादी।
भौरेला पंछी हे बीजी जादी।
बासण लैन हे बीजी जादी।
त्वै वाच न सान हे बीजी जादी।
तेरा बोलांदा पराण हे बीजी जादी
को देव लीणे हे बीजी जादी

इस लोकगीत में करुण और वात्सल्य की निष्पत्ति हुई है। यह कहा जा सकता है कि लोकगीतों में वात्सल्य भाव भी सर्वाधिक व्यक्त हुआ है बुरांश का फूलना, आग का मरमराना, कफ्फू का बासना यह शब्द मात्र नहीं है। इन शब्दों से सम्पूर्ण लोकमन का उल्लास स्वयं उद्घाटित होता है ऐसे अनेक शब्द लोक साहित्य में मिलते हैं।लोकगीतों में कथ्य प्रमुख होता है। लोक काव्य की शैली सरल होती है शैली में पुनरावृति की प्रवृत्ति दिखाई देती है। भावों को सघन और सजीव बनाने में भी इन पुनरावृति प्रवृत्ति का महत्वपूर्ण योगदान होता है। कई गीतों में कथा की अपेक्षा जीवन चरित्र अधिक वर्णित होता है। लोक की लोक साहित्य में वर्णित होनी चाहिए। डॉ, सत्येंद्र कहते हैं कि सुरुचि भी लोक साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है। प्रतीक लोक भाषा में दिखाई देते हैं किसी शब्द का प्रतीक रूप में विकसित होने के लिए उस क्षेत्र की सांस्कृतिक चेतना का सहायक दिखाई देती है।[5]

झंगोरा की बाली सुवा उडी परदेस गैरे पिंजरी खाली।
खाई जालो खाजो कै अनाडी का हाथ पडे हारमुनी बाजो।
गेऊं जौ का कीस।
ज्यों ज्यों ठण्डो पाणी त्यौं त्यों ज्यादा तीस।

लोकगीतों में संगीत तत्व की प्रधानता होती है। ध्वनि सौन्दर्य जो लोकगीतों में दिखाई देता है वह लिखित साहित्य में नहीं दिखाई देता है। लोकगीतों में अलंकार स्वतः प्रविष्ठ हो जाते हैं। अलंकार केवल शैली के बाहय उपकरण नहीं उनका आधार मानव मनोविज्ञान है। लोक काव्य में अभिजात साहित्य के अलंकार मिलते हैं लेकिन उनका लोककाव्य में समावेश जानबूझ नहीं किया जाता है वरन लोकानुभूति की तीव्रता के कारण वह स्वतः ही सम्मिलित हो जाते हैं।

बनलो बसंत आलो।
तू उड्यांयु पंछी मैं विव्यांदु मौर ।
छवा सी हलकी पाणी सी पतली।
रूप को रौजिहया होल फूलू क हौंजिया।
बज सी अरेंडी देखी दई सी तरेंडी।
तेरू नौं लीक प्रभु विपदा बैरेन्दी संकट करेन्दी।
चिलमी को सूट।
कांठा की जुन्याली छुमा उजाला सी मूठ।

अनुप्रास के साथ यमक और श्लेष भी गढ़वाली लोकगीतों में दिखाई देते हैं।

कूडा की रैणी।
डांडू की फ्यूंली छई धार मां सी गैणी।
अखाड़ू की सांई।
तेरी ज्वानी इनी लौंखणी छोटी जनी बार की कुलाई।
दोतारी को तार
अमर हवै जाया सुवा तू धरती की चार

लोक काव्य में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार की उपमाएं दिखाई देती हैं। उपमा के अतिरिक्त रूपक के भी कई उदाहरण लोकगीतों में दिखाई देते हैं। प्रेमी और प्रेमिका के पारस्परिक सम्बन्धों को अनेक रूपकों में व्यक्त किया गया है।[6] अतिशयोक्ति लोककाव्य में प्रयुक्त होने वाला प्रमुख अलंकारों में से एक दिखाई देता है। अधिकांश वीर काव्य में अतिशयोक्ति अलंकार दिखाई देता है।लोकगीतों में छंद की रचना उक्ति के साथ साथ अनायास ही होती है। लोकगीतों में स्वर और लय छंद का आधार होता है और गढ़वाली लोकगीतों में यही दिखाई देता है। लोक साहित्य स्वतः स्फूत होता है मात्राएं गिनकर लोक साहित्य रचना की कल्पना नहीं की जा सकती है लोकगीत मौखिक होते हैं इसलिए उनमें वर्णों की गिनती सम्भव नहीं अतः यहां छंद वर्ण की अपेक्षा ताल और लय पर आधारित होता है।

पोखरी का हीत जय जश दे।
तेरी जाति आयोजन जश दे।
भैदली क्या लायो जय जश दे।
सैवन धुपाणी जय जश दे।

उपरोक्त के अतिरिक्त अनेक गढ़वाली लोकगीतों में नपी तुली वर्ण योजना मिल जाती है किन्तु यह वर्ण योजना समास नहीं है वरन वर्णों की संख्या ताल और लय से समाहित होने के कारण समान होने का वाहय है तुम और छंदों की अपेक्षा लय ही लोकगीतों का आधार होता है।

निष्कर्ष:लोकगीत मानव की सामूहिक अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं। उनमें लोक का अनुभूत ज्ञान व्यक्त होता है। यहां का लोक काव्य काव्यशास्त्र के बंधनों से मुक्त है। भाषा भेद के कारण लोक काव्य की रसात्मकता में बाधा उत्पन्न होती है अनुवाद से लोक काव्य का प्राण जीवित नहीं रहता उसके प्राण तत्व को ग्रहण करने के लिए उस लोक काव्य की भाषा को आत्मसात करना पड़ेगा। यहां का लोक काव्य श्रमशील परिस्थितियों का परिणाम है। लोक का हर्ष उल्लास आदि सभी कुछ वर्णित होता है। यहां के लोकगीतों में प्रकृति के प्रति अपार स्नेह भाव व्यक्त हुआ दिखाई देता है। लोकगीतों का एक बड़ा भाग नारी वेदना से सम्बन्धित है। यहां के लोक काव्य में प्रेम वात्सल्य की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। भावनाओं की तीव्रता और सौन्दर्यानुभूति इस लोक काव्य की महत्वपूर्ण विशेषता है।

****

संदर्भ :-

1.डॉक्टर गोविंद जातक गढ़वाली लोकगीत के सांस्कृतिक अध्ययन तक्षशिला प्रकाशन पृष्ठ संख्या 345
2.डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य की भूमिका पृष्ठ संख्या 106
3.डॉक्टर गोविंद जातक गढ़वाली लोकगीत एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ 34
4.डॉक्टर रघुवंश हिंदी अनुशीलन धीरेंद्र वर्मा विशेषांक पृष्ठ 503
5.डॉक्टर सत्येंद्र ब्रिज लोक साहित्य का अध्ययन पृष्ठ 546
6.डॉ नगेंद्र रीति काव्य की भूमिका पृष्ठ 95

स्वातंत्र्योत्तर आलोचना के आधार स्तंभः नामवर सिंह

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1476

चेतन चंद्र जोशी
शोधार्थी हिंदी
(ल.सिं.म. राजकीय स्ना. महा.
पिथौरागढ़, उत्तराखण्ड) 263637 मो.9412092340,9690996935

साहित्य में आलोचना का कुछ वैसा ही स्थान है जैसा हमारी स्कूली शिक्षा में गुरुजनों का। जैसे एक अच्छा शिक्षक उस छात्र की तकदीर और तस्वीर दोनों बदल देता है, ठीक वैसे ही एक संतुलित आलोचना भी साहित्यिक रचनाओं के वातावरण को एक नयी ऊर्जा प्रदान करती है। गुण और दोषों का संतुलित विवेचन किसी भी परिदृश्य का अत्यावश्यक तत्व है, जिसके बगैर उस वस्तु की कसौटी को जाना नहीं जा सकता। हिंदी साहित्य में भारतेंदु युग से चली यह परंपरा द्विवेदी और शुक्ल युग में अपने प्रौढ़ावस्था को प्राप्त करती है। आचार्य शुक्ल की आलोचनात्मक कृतियां हिंदी साहित्य में मील का पत्थर हैं, जो हर उस राहगीर को साहित्य का भान कराती हैं जब भी वह भटकाव की स्थिति में होता है। विश्वनाथ त्रिपाठी अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'हिंदी आलोचना' में लिखते हैं-

"कहने का तात्पर्य यह है कि पं. रामचंद्र शुक्ल ने अपने समय में उपलब्ध वैज्ञानिक जानकारी हासिल की थी। अनेक साहित्येतर विषयों का गंभीर अध्ययन करके उन सबके प्रकाश में साहित्य की समीक्षा की थी या यों कहिए कि जीवन की संगति मैं साहित्य को बिठलाया था। इस पृष्ठभूमि के बिना यथार्थ को देखने की निराविल एवं अचूक दृष्टि की प्राप्ति असंभव थी।"1वस्तुतः आलोचन के मूल कर्म को जिस तरह आचार्य शुक्ल ने उद्घाटित किया उसी का परिणाम था कि यह परंपरा आगे जाकर मील का पत्थर साबित हुई। इसी परंपरा से छनकर निकले समीचीन आलोचकों में नामवर सिंह का भी नाम आता है जिनकी आलोचनाएं स्वातंत्र्योत्तर युग का आधार स्तंभ मानी जाती हैं। नामवर सिंह के रचना कर्म पर प्रो0 सुभाष चंद्र लिखते हैं-

"नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना में जब से (57-58 वर्ष पहले) कदम रखा तभी से वे इसके केंद्रीय किरदार रहे हैं। इस दौरान साहित्यकारों की पीढ़ी बदल गई। हिंदी-साहित्य में कई आंदोलन आए और गए। आलोचक और रचनाकार आए और गए, लेकिन इस मायने में नामवर सिंह एक अपवाद ही हैं कि इतने लंबे समय बाद भी न तो आए-गयों की सूची में शामिल हुए न ही पुराने पड़े। एक तो हिंदी-आलोचना की यह विडम्बना रही है कि आमतौर पर इसके महत्वपूर्ण आलोचक भी विशेष समय के बाद के साहित्य के भावबोध को सही नहीं पहचान पाए और नये लेखन को पुराने विचारों व साहित्यिक मानदंडों के आधार पीटते रहे और खारिज करते रहे।"[2]नामवर सिंह का आलोचनात्मक कर्म इतना सुव्यवस्थित और संतुलित है कि किसी भी परिस्थिति में वह अपने सिद्धांतों के साथ समझौता करता नहीं दिखता। मूलतः तब जब विचारों की टकराहट समकालीन रचनाकारों में आमबात होती थी जिसमें किसी तीसरे को आकर उसे सुव्यवस्थित करना पड़ता था। इस संदर्भ में नामवर सिंह लिखते हैं-

"कहना न होगा कि काव्य-मूल्यों की शुद्धता के बारे में मुक्तिबोध को उतनी ही आस्था है जितनी अज्ञेय को; फिर भी दोनों दृष्टियों में यदि अंतर है तो जाहिर है कि उसका स्रोत कहीं और होगा। अज्ञेय के लिए जो लेख 'दूषित दृष्टि' और 'द्वेषभरी मनोवृत्ति' का परिचायक है, उसे मुक्तिबोध व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हुए कहते हैं कि "सामजिक प्रतिष्ठा के जोर से साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जो आडंबरपूर्ण दृश्य हमें यत्र-तत्र दिखाई देते हैं, उनसे विचलित होकर वह आलोचना प्रस्तुत की गई है। इसीलिए भगवतशरण जी के लेख का अपना अतिरिक्त महत्व है।" अज्ञेय जिसे एक व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक व्याधि समझकर संतोष कर लेते हैं, मुक्तिबोध उसी को सामाजिक व्याधि के रूप में देखकर मूल्य-निर्णय देते हैं।"[3]नामवर सिंह की आलोचनात्मक प्रकृति असाधारण है फिर चाहे वो कविताओं के संदर्भ में हो, कहानियों के संदर्भ में हो अथवा इतिहास के संदर्भ में हो। हिंदी साहित्य की आलोचनात्मक प्रकृति में काव्य-समीक्षा ही मूलतः आलोचकों के केंद्र में रही है, लेकिन इन सबसे इतर नामवर सिंह ने गद्य विधा में भी अपनी असाधारण प्रतिभा को साधा। वे अपनी रचना 'कहानीः नई कहानी' की भूमिका में इस संदर्भ में लिखते हैं-"यह कहानी-चर्चा कुछ काव्य समीक्षकों को पसंद नहीं आई। उन्हें इस बात पर एतराज था कि हिंदी में कहानी चर्चा को खामखाह इतना तूल दिया जा रहा है। उनकी नजर में कहानी इस लायक है ही नहीं कि उसे गंभीर समस्या का विषय बनाया जाय।"[4]इसी में आगे वे लिखते हैं-"यह नजीर दूसरों के लिए भले ही पर्याप्त न हो किंतु इससे मेरी इस धारणा को बल मिला कि हिंदी आलोचना जो अभी तक मुख्यतः काव्य-समीक्षा रही है, कविता से इतर कथा-नाटक आदि साहित्य रूपों को विधिवत विश्लेषण करके ही अपने को सुसंगत एवं समृद्ध बना सकती है। कहानी समीक्षा संबंधी ये निबंध इसी दिशा में विनम्र प्रयास है। इसीलिए मेरे निकट इनका महत्व केवल कहानियों की समीक्षा तक सीमित न होकर एक व्यापक समीक्षा-पद्धित के निर्माण की दिशा में है।"[5]समीक्षा करना आसान नहीं भले लोगों की मूल प्रवृत्ति कमियाँ निकालने की रही हो लेकिन गुण और दोषों का तात्विक विवेचन बौद्धिकता के आधार पर ही किया जा सकता है ना कि व्यर्थ के बकवादी वाचाल से। आलोचक लीक से हटकर ही यह कर्म करने की ओर प्रवृत होता है, क्योंकि वह जानता है कि मिथ्यारूपी मिठास कहीं ज्यादा बेहतर होती है रचनाकारों के लिए; मुख्यतः आज के परिदृश्य में बजाय तिक्ताहटरूपी यथार्थ से। यह तिक्ताहटरूपी यथार्थ भले उनकी जड़ों को दुरुस्त करता हो लेकिन तत्समय विरले ही उससे संतुष्ट हो पाते हैं। आज आलोचन कर्म जिस तरह अपने मूल सिद्धांतों से भटक चुका है उसका एक बड़ा कारण यह मिथ्यारूपी मिठास ही है जिसमें रचनाकारों के अनर्गल रचनाओं का कीर्तिगान आलोचकों द्वारा बखूबी किया जा रहा है। आज के दौर में जहाँ रचनाकर्म स्वांतःसुखाय के केंद्र पर ही अपनी रचनाओं को गुनता-बुनता है, ऐसे में आलोचना का कार्य और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह रचनाकारों के मूलधर्म को भावनाओं की अतिरंजना से बचाने के लिए उनका पाथेय नये सिरे से प्रशस्त करे। इस कार्य को नामवर सिंह ने जिस तरीके से किया है वह हमेशा याद किया जाता है और जायेगा। वे लिखते हैं-

"इस बात को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि लेखक अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज को साहित्य का रुप देता है। जो लेखक समाज के प्रति कुछ जागरुक हैं वे तो इस तथ्य को स्वीकार करते हैं; लेकिन कुछ लेखक इतने फक्कड़ होते हैं कि वे अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज की अभिव्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति समझते हैं। कोई जरूरी नहीं कि ऐसे लेखक हमेशा समाज से कटे हुए सर्वथा व्यक्तिवादी ही हों। साहित्य-रचना की भावाकुलता में लेखक अक्सर सबकुछ भूल जाता है। उसके भीतर प्रसव-वेदना की तरह केवल एक ही अनुभूति उमड़ती रहती है कि अपने को यथासंभव पूरा का पूरा अभिव्यक्त कर दे।"[6]इसी में वे आगे विकृत होती आलोचना और आलोचकों को लताड़ लगाते हुए कहते हैं-"लेकिन ऐसे भी आलोचक हैं जिन्हें न तो विवेक से कोई मतलब है और न

वास्तविकता से। उनकी बिगड़ी मति के अनुसार आलोचना के सामने 'असली सवाल सामाजिक यथार्थ का नहीं है, बल्कि उस यथार्थ की विकृतियों के अध्ययन का है। यथार्थ की विकृतयों का अध्ययन करते-करते भृंगकीटन्याय से उनका मस्तिष्क इतना विकृत हो गया है कि आलोचना, कविता, कथा आदि सभी क्षेत्रों को वे अपनी मानसिक विकृतियों से विकृत कर रहे हैं। कोई जरूरी नहीं है कि जो सवाल इनके लिए असली हों, वह सारे साहित्य का भी असली सवाल हो जाये। लेकिन विकृत मस्तिष्क की यही तो बीमारी है कि सारी दुनिया विकृत मालूम होती है! फिर भी यह निश्चित है कि दो-चार लेखकों के इस साहित्य-बिगाड़ काम से सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं रुक जायेगी। मुर्गे की तबीयत, बांग न दे लेकिन सुबह का होना नहीं रूकेगा। समाज अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति के लिए हमेशा की तरह व्यक्ति और व्यक्तित्व पैदा कर लेगा!"[7]नामवर सिंह की समीक्षात्मक दृष्टि इतनी सूक्ष्म है कि वह काव्यात्मक चमत्कार से लेकर गद्यात्मक विस्तार तक अपना विशेष प्रभाव हर बार दर्ज कर जाते हैं। छायावादी महाकाव्य 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा के साहचर्य को जिस तरीके से आज के आधुनिक परिदृश्य में रखते हैं वो उन्हें एक विशेष दर्जे का समीक्षक बना देता है। वे कहते हैं-

"इस प्रथम परिचय में धीरे-धीरे साहचर्यजन्य प्रगाढ़ता आने लगती है; फिर भी एक-दूसरे के प्रति एक तरह का रहस्य अनुभव होता है। परस्पर समीप आते हुए भी कहीं कुछ कमी मालूम होती है। जितना ही एक-दूसरे को जानते जाते हैं, उतने ही अज्ञेय प्रतीत होते हैं। सामान्य परिचय में एक नए ढंग के रागात्मक कुतूहल का उदय होता है:

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष;
गूढ़ अंतर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वन-पंथ अंत का आलोक;
सतत होता जा रहा हो, नयन की गति रोक।

यह रहस्य मध्युगीन और प्राचीन कवि के लिए सर्वथा अपरिचित है। इस तरह की गूढ़ता दुष्यंत और शंकुतला के प्रथम परिचय में भी नहीं है। यह आधुनिक युग के विकसित मन की क्रिया है और इसलिए आधुनिक युवकों और युवतियों के प्रणय-संबंध अथवा परिचय के विकास-क्रम में ही मिल सकती है।"[8]

नामवर जी का रचना संसार जिस तरह काव्य में पड़ी सिलवटों को दूर करता है ठीक उसी तरह गद्य की गिरहों को भी वह बड़ी बारिकी से सुलझाता है। वे अपने रचनाकर्म के दायरे को किसी ख़ास विधा तक ही सीमित नहीं रखना चाहते वरन् वह हर विधा के सत्य-सौंदर्यबोध को अपनी पूर्ण आस्था के साथ परखते हैं। वे कहते हैं-

"साहित्य के रूप केवल रूप नहीं है बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम हैं। एक माध्यम जब चुकता दिखाई पड़ता है, तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है। अपनी महान् जययात्रा मे सत्य-सौंदर्य-द्रष्टा मनुष्य ने इसी तरह समय-समय पर नये कलारूपों की सृष्टि की ताकि वह नित्य विकासशील वास्तविकता को अधिक से अधिक समझ और समेट सके। हमारी इसी ऐतिहासिक आवश्यकता से एक समय कहानी भी उत्पन्न हुई और अपने रूप सौंदर्य के द्वारा इसने हमारे सत्य-सौंदर्य-बोध को भी विकसित किया। कहानी की इसी ऐतिहासिक भूमिका की माँग है कि वर्तमान परिस्थिति में उसकी सार्थकता की परीक्षा व्यापक संदर्भ में की जाय।"[9]

नामवर सिंह के कहानी विषयक आलोचन कर्म पर प्रो0 सुभाष चंद्र विस्तारपूर्वक लिखते हैं-"नामवर सिंह ने कहानी की आलोचना में उसकी रचना-प्रक्रिया पर जोर देते हुए नामवर सिंह ने तत्कालीन कहानियों की इस ढंग से व्याख्या की कि कहानी के अध्ययन में एक नई स्फूर्ति का संचार हुआ। यद्यपि यह भी सही है कि उनकी इस रचनात्मक हरकत से उस समय के बहु प्रतिष्ठित कहानीकारों के अहं को चोट पहुँची, जिसकी अभिव्यक्ति जब-तब लेखों में, भाषणों, गोष्ठियों-सेमिनारों और पत्रिकाओं के संपादकियों में होती रही है। अनुभव को ही प्रमाणिक मानकर रचित कहानियाँ जिस तरह मध्यवर्गीय कुंठा, निराशा, घुटन व पराजय बोध की विकृतियों का शिकार हुई वह आज भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। नामवर सिंह का हिंदी कहानी पर अपनी कलम चलाना शुभ संकेत था जिसने हिंदी कहानी को एक नई दिशा दी थी। हिंदी में शायद ही कोई आलोचक हो जो रचना को इस तरह प्रभावित कर सका हो।"[10]

यह हर दौर में मनुष्य की प्रकृति का एक अहम हिस्सा रहा है कि किसी भी नई चीज की शुरुआत में उसने या तो उपहास किया है या आलोचना लेकिन आलोचना भी अगर संतुलित ढंग से हो तो उसके कुछ माने होते हैं लेकिन आलोचना मे दोषरूपी विकृती ही दिखाई पड़े तो उसे फिर आलोचना नहीं कहा जा सकता। आलोचना का मूल अर्थ ही गुण और दोषों का विवेचन करना है, लेकिन जब किसी भी एक तत्व की अधिकता इसमें होने लगे फिर इसे आलोचना तो बिल्कुल नहीं कहा जा सकता ना ही यह उसकी कसौटी पर खरी उतर सकती है। नामवर सिंह इस विधा के मूलधर्म का जिस ढंग से नेह-निबाह करते हैं वही उन्हें अद्वितीय कोटी के आलोचकों में स्थान दिलाता है और वही उनके समकालीनों के भीतर उनके अंह को कचोटते हुए उनके लिए ईर्ष्या का भाव भी पैदा करता है। लेकिन नामवर सिंह ने कभी अपने इस मूलधर्म में कोई छेड़छाड़ नहीं की जो दुर्लभ था उसे सुलभ किया और जो अव्यवस्थित था उसे सुव्यवस्थित किया। मशहूर आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी इस संदर्भ में अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'हिंदी आलोचना' में लिखते हैं "डॉ.नामवर सिंह समसामयिक साहित्य-रचना का महत्व मानकर आलोचना कार्य में प्रवृत्त रहने वाले आलोचक हैं। जो लोग केवल महान साहित्य पर ही कलम चलाते हैं, वे बहुत जल्द जड़ हो जाते हैं। यदि आप अपने समसामयिक साहित्य का अध्ययन नहीं करते, उसमें रुचि नहीं रखते और उसे माँजकर अपनी दृष्टि निर्मल नहीं रखते तो आप किसी युग के साहित्य को नहीं देख सकते। यह सोचना कि आज जो कुछ लिखा जा रहा है, वह उपेक्षणीय है, आलोचक के 'महंथ' बन जाने का लक्षण है जो उसकी जड़ता घोषित करती है कि आलोचक प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन भी अपनी समसामयिक दृष्टि अर्जित करने के बाद ही कर सकता है। पं. रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी, सूर, जायसी की समीक्षा अपने युग के भावबोध से की है। डॉ. नामवर सिंह समसामयिक रचना-जगत के संदर्भवान आलोचक हैं।"[11]

साहित्य के आलोचनात्मक विधा में नये प्रतिमान स्थापित करने के लिए नामवर सिंह हमेशा याद किये जाते रहेंगे। नामवर सिंह का आलोचन कर्म हर दौर हर ठौर के लिए एक मिसाल है जो मशाल की तरह साहित्य की सभी विधाओं को आलोकित कर उनके लिए बेहतर मार्ग प्रशस्त करता है या फिर मेहतर की तरह वह उन साहित्यिक विकृतियों को साफ़ करने का बीड़ा उठाये हुए है, जिसमें कोई दूसरा अपने हाथ गंदे नहीं करना चाहता।

****

संदर्भ :-

1. हिंदी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2021 पृ.सं-55
2. नामवर सिंहः हिंदी आलोचना के 'मेहतर', प्रो0 सुभाष चंद्र
3. कविता के नए प्रतिमान, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, सं-2021, पृ.सं.67-68
4. कहानीः नयी कहानी, नामवर सिंह, भूमिका लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 2019
5. वही
6. इतिहास और आलोचना, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ.सं.42-43
7. वही, पृ.सं.44
8. छायावाद, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ.सं. 58-59
9. कहानीः नयी कहानी, नामवर सिंह, भूमिका लोकभारती प्रकाशन, सं-2019, पृ.सं.20
10. नामवर सिंहः हिंदी आलोचना के 'मेहतर', प्रो0 सुभाष चंद्र
11. हिंदी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2021 पृ.सं-202

'वीमा' नाटक में व्यक्त विविध समस्याएँ

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1482

डॉ. भुरे बालाजी श्रीपती
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
शिवजागृती वरिष्ठ महाविद्यालय,
नलेगाँव ता.चाकुर जि.लातूर

आधुनिक काल में हिंदी साहित्य के विकास में अन्य विधाओं की तरह नाटक विधा का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। समाज मध्यमों में दृक-श्राव्य माध्यम हमेशा प्रभावी रहे हैं। दृश्य-श्राव्य माध्यम होने के कारण नाटक विधा की भी श्रोता एवं पाठकों को प्रभावित कर उन्हें विकासात्मक दिशा में ले जाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका रही है। हिंदी नाटककारों ने समाज में प्रचलित विविध समस्याओं को यथार्थता के साथ अपने नाटकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। नाटककार समाज में जो कुछ देखता है या अनुभव करता है उसे अपनी बौद्धिक एवं तार्किकता की कसौटी पर कसकर संवादात्मक और अपनी कुशल अभिव्यक्ति क्षमता से नाटक की सृजना कर समाज के सामने यथार्थ को रखते हुए सकारात्मक परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। रत्नकुमार सांभरिया भी ऐसे ही नाटककारों में से एक हैं।

अपने सृजनात्मक जीवन में दलित, पीडित, विकलांग तथा निशक्तजनों की वाणी को मुखरित करनेवाले मेधावी प्रतिभा के धनी रत्नकुमार सांभरिया का जन्म हरियाणा के रेवाड़ी जिले के भाडावास गांव में06 जनवरी 1956 को हुआ। रत्नकुमार सांभरिया ने कहानी, एकांकी, नाटक, लघुकथा, आलोचना, अनुवाद आदि विधाओंपर लेखनी चलाकर हिंदी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके नाटक अभिनेता एवं मंचीयता की दृष्टि से पूरी तरह से सक्षम एवं सफल रहे हैं। उनके नाटकों की कथावस्तु, पात्र एवं उनके संवाद बिल्कुल हमारे जीवन से जुड़े हुए या अपने आसपास के परिचित लगते हैं। अतः पाठक बड़ी आसानी और सहज स्वाभाविक रुप से उनकी रचनाओं के साथ जुड़ जाता है।नाटककार ने अंबेडकर जी के शिक्षा, संघर्ष तथा संघटन के मूलमंत्र को केंद्र में रखकर इस' वीमा' नाटक की सृजना की है। इस नाटक में विकलांग के जीवन संघर्ष को अंकित करते हुए समाज में प्रचलित जातिप्रथा, विकलांगों की उपेक्षा, उच-नीच का भेदभाव, नेताओं की दोगली नीति, अंतरजातीय विवाह की समस्या, अनमेल विवाह की समस्या, रुढ़िवादी सत्ता ,सरकारी योजनाओं की धांधली, मीडिया का दोहरा चरित्र, पुलिस का रवैया, भ्रष्टाचार आदि विविध समस्याओं का चित्रण किया है। इस नाटक में व्यक्त समस्याओं को समझने के लिए हमें निम्नलिखित बिंदुओं को देखना होगा। जैसे -

विकलांगों की उपेक्षा-: रत्नकुमार सांभरिया ने अपने वीमा नाटक में विकलांग तथा निशक्तों की समाज द्वारा किस प्रकार उपेक्षा होती है या हो रही है इसका चित्रण नाटक के पात्र जमन वर्मा के माध्यम से प्रस्तुत किया है। जमन वर्मा दलित होने के साथ-साथ विकलांग तथा नेत्रहीन भी है। वह नेत्रहीन संस्था के संस्थापक श्यामाजी की संस्था में म्यूजिक टीचर के रुप में कार्यरत है। वह नेत्रहीन वीमा की गुंडो से रक्षा तो करता ही है। साथ ही साथ श्यामाजी की सलाह से उसके साथ विवाह भी करता है। लेकिन जब श्यामाजी को पता चलता है कि वीमा अपनी बिरादरी में से हैं तब वह उसे अगवाह कर उसके पिताजी के पास भेज देता है और जमन वर्मा से वीमा को भूलकर उसकी ही जाति की किसी लड़की के साथ शादी करने की सलाह देता है लेकिन जमन वर्मा उनकी बात मानता नहीं। तब उसे धमकाते हुए वीमा को भूलने की बात करता है। इस बात को लेकर जमन वर्मा का वीमा को यह कहना कि, " जो नि:शक्त या गरीब होते हैं। उनका तो भगवान भी नहीं होता है, वीमा। वहां भी सब गोल है। यहां भी सब गोल है। शोषण की सरगमें हैं, यहां-वहां"[1] हर जगह दिखाई देती है। यह विकलांगों के प्रति सामाज की उपेक्षा को ही व्यक्त करता है।

जाति-प्रथा का प्रचलन :-भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही जाति प्रथा का प्रचलन चलता आ रहा है, जो समाज एवं मानवता के लिए एक भयावह बीमारी की तरह है। आज आधुनिक काल में भी विज्ञान की तरक्की के बावजूद और पढ़े-लिखे, शिक्षित और समानता का पक्षधर माननेवाले समाज ने भी इस कुप्रथा को अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए बरकरार रखा है। नाटककार ने इस नाटक में इसे सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है। जब श्यामाजी विकलांग जमन वर्मा को कहते हैं कि तुम्हारी जाति का वीमा को पता लगने से उसने अपने एक परिचित के हाथों अपने पापा और भाई को बुलाकर इस नरक से निकालने की बात की है। इसी कारण वह तुम्हारे साथ रहना नहीं चाहती। तब श्यामाजी से जमन वर्मा स्पष्ट रुप से कहता है कि "जातिभेद जैसा ओछापन आपको शोभा नहीं देता। वीमा में बड़प्पन है। वह नहीं मानती जात-पाँत ,छुआछूत।"[2] और रही बात उसे धोखा देने की, तो "कोर्ट मैरिज के आवेदन पत्र के कॉलम में मैंने अपनी जाति भर दी थी। वीमा को साफ साफ बता दिया था, मैं अनुसूचित जाति से हूँ।"[3] तब उन्होंने ने कहा भी था कि जाति नहीं, आदमी को इंसान होना चाहिए। लेकिन जाति प्रथा के प्रचलन को बढावा देनेवाले श्यामाजी जैसे लोगों की संख्या समाज में कम नहीं है।

उच्च- नीच का भाव-: समाज में जाति पाति के भेदभाव के कारण ही उच्च नीचता का भाव दिखाई देता है। इस नाटक मे श्यामाजी जमन वर्मा को अपने बेटे के समान मानकर अपनी संस्था में नौकरी देते हैं। वे जमन वर्मा की शादी वीमा से भी करवाते हैं लेकिन वीमा को अपनी बिरादरी का जानते ही बौखला जाते हैं। क्योंकि उन्हें यह अपनी प्रतिष्ठा पर आयी आँच की तरह लगता है। अपनी झूठी प्रतिष्ठा को बचाये रखने के लिए जमन वर्मा पर वीमा से तलाक लैने का दबाव डालते हुए उनका यह कहना कि "वह वीमा, तुम जमन वर्मा। वह जमींदार, तुम फाफाकार। वह सिर, तुम चरण। शर्म आनी चाहिए तुम्हें।"4 यह उनके उच्च-नीचता से भरे विचार को ही व्यक्त करता है। जाति की कुप्रथा को माननेवाले ऐसे ही लोगों के कारण आज भी समाज में उच्च नीचता का भेदभाव दिखाई देता है।

नेताओं का दोहरा चरित्र-: धर्म ,राजनीति या समाज हो विविध क्षेत्रों में आज भी ऐसे नेताओं की कमी नहीं है, जो मंच से तो स्वयं आदर्शवादी तथा सत्यवादी बनने का स्वांग करते हैं। लोगों को सहानुभूति दिखाते हैं। लेकिन अपना स्वार्थ के लिए या जब कोई आँच अपने पर आने लगती है, तो उसी समय तुरंत अपना विचार बदलकर अपने ही कहे गए विचारों का विरोध करने लगते हैं। 'वीमा' नाटक में श्यामाजी तथा आका ये दोनों पात्र दोमुँहें नेताओं के चरित्र को व्यक्त करते हैं। जहां श्यामाजी जमन वर्मा का विवाह वीमा के साथ करते हैं वहाँ जैसे ही उन्हें पता चलता है कि वीमा अपने रिश्तेदार से है, तो तुरन्त जमन वर्मा का विरोध करने लगते हैं। वही आका भी जमन वर्मा का साथ न देकर श्यामाजी का ही पक्ष लेते हैं। इसी दोहरे चरित्र को लेकर जमन वर्मा को मित्र देवत सिंह का यह कहना कि," जमन, ये आका हैं न ,दोमुंहे है। उनको अपने चाहेते चाहिए। ऐसे चाहेते पैर चाटते रहे, पूछ हिलाते रहे। नि:शक्तों की पीड़ा से, उनकी समस्याओं से, उनका दूर-दूर तक लेना-देना नहीं है।"[5] यह दोमुँहे चरित्रवाले नेताओं को व्यक्त करता है।

अनमेल विवाह की समस्या :-जहां विवाह करनेवालों की आयु में मेल नहीं होता या किसी कम आयु की लड़की का विवाह प्रौढ़ या

वयस्क पुरुष के साथ होता है, तो उसे अनमेल विवाह कहा जाता है। समाज में इस अनमेल विवाह जैसी कुप्रथा का प्रचलन बहुत था। भले ही आधुनिक शिक्षा के कारण या कानून के कारण इसमें आज कमी आ गई हो, लेकिन समाज में कहीं-कहीं आज भी इस कुप्रथा का पालन किया जाता है, जो समाज तथा मानवता के लिए घातक है। 'विमा' नाटक में रत्नकुमार सांभरिया ने अनमेल विवाह की समस्या का भी संकेत किया है। अपने अनमेल विवाह से बचने के लिए जब विमा अपने ही परिवार को छोड़कर भाग निकलती है और कोई गुंडा बदमाश उसपर अत्याचार करने लगता है, तब जमन वर्मा उस गुंडे के चंगुल से वीमा को बचाकर अपने घर ले आता है। जब दोनों में वार्तालाप होता है तब अपनी पीड़ा को व्यक्त करते हुए वीमा बताती है कि हमारा एक खाता-पीता, नामी- गिरामी घर है। जमीन है। जायदाद है। मां नहीं तो क्या हुआ। बाप है, दो भाई हैं। दोनों सर्विस में हैं। दो भावजे हैं। एक टीचर है। दूसरी घर संभालती है। दो रोटियों के लिए बर्तन-भांडे धोना, बच्चों को नेहलाना धुलाना, स्कूल भेजना जितना बनता मैं करती। इतना करके भी " मेरे घरवाले मेरी शादी एक अधेड़ से करना चाहते थे। जिनके साथ वे मेरी शादी करना चाहते थे। उनकी पत्नी की कोख पाट रह गई। दूसरी बेवी होती मैं उनकी। हाँ जमींदार हैं वे। धान की खेती होती है। उपजाऊ जमीन की भांति वे मुझे रखते" [6] अच्छा हुआ यह ना कहकर भाग निकली। यहाँ बेमेल विवाह की समस्या का संकेत नाटककार ने दिया है।

अंतर्जातीय विवाह की समस्या :-स्वातंत्र्य और समता के आधारपर कानून ने आज भले ही अंतर्जातीय विवाह को मान्यता दी हो लेकिन समाज में कुछ रुढीवादी परंपरा को लेकर चलनेवाले लोग अंतर्जातीय विवाह का अपने स्वार्थानुरुप विरोध करते दिखाई देते हैं। इस नाटक में जमन वर्मा और वीमा दोनों का अंतर्जातीय विवाह होता है। जमन वर्मा अनुसूचित जाति से हैं, तो वीमा उच्च वर्णीय ब्राह्मण परिवार से हैं। दोनों अंधे हैं, निशक्त है। श्यामाजी स्वयं को मानवतावादी कहनेवाले नेता इन दोनों को कोर्ट मैरेज करने के लिए प्रेरित करते हैं। कोर्ट मैरेज करवाते भी है लेकिन जब उन्हें पता चलता है कि वीमा अपनी बिरादरी से रिश्ते में से हैं, तो इस विवाह का विरोध करने लगते हैं। यहां तक कि श्यामाजी तथा आकाजी दोनों जमन वर्मा से कहते हैं कि तुम " वीमा को भूल जाओ। नि:शक्तों के सामूहिक विवाह में तुम्हारी जात-बिरादरी की किसी विकलांग लड़की के साथ तुम्हारा विवाह करा देंगे।"7 यह अंतर्जातीय विवाह में रोडे डालनेवाली बात है। अंतर्जातीय विवाह का समर्थन करनेवाले अपनी ही बिरादरी या रिश्ते से संबंधित विमा को देखकर अपनी झूठी प्रतिष्ठा को बचाये रखने के लिए तुरंत अंतर्जातीय विवाह का विरोध करने लगते हैं यह बड़ी विडंबना है।

सामूहिक विवाह :-नाटककार ने 'वीमा' नाटक में सामूहिक विवाह का भी चित्रण ही किया है। सामूहिक विवाह यह एक आधुनिक अवधारणा सामने आ रही है। जिसमें विविध जाति, धर्म, संप्रदाय के युवक-युवतियोंका एक साथ सामूहिक विवाह किया जाता है। ताकि गरीब तथा निर्धन लोगों को आर्थिक समस्या से छुटकारा मिल सकें। इस नाटक में जमन वर्मा का विवाह वीमा के साथ हुआ है। लेकिन अपनी प्रतिष्ठा को बचाने के लिए श्यामाजी ने वीमा का अपहरण किया है क्योंकि वह उसकी बिरादरी के रिश्तेदार की बेटी है। वे जमन वर्मा पर तलाक के लिए दबाव डालते हैं और कहते हैं कि, "नि:शक्तों के सामूहिक विवाह के लिए हमने आवेवेदन आमंत्रित किए हैं। तुम अपनी अर्जी लगा दो। हां, जाति के कॉलम में अपनी जाति जरूर लिख देना साफ-साफ।"[8]यहाँ तक कि जमन वर्मा जब आका के पास जाते हैं, तो वे भी जो बात श्यामाजी ने कही थी वही कहते हुए कहते हैं कि, "वीमा को भूल जाओ नि:शक्तों के सामूहिक विवाह में तुम्हारी जात-बिरादरी की किसी विकलांग लड़की के साथ तुम्हारा विवाह करा देंगे।"[9]यहाँ सामूहिक विवाह का समर्थन तो किया गया है लेकिन स्पष्ट रुट से अंतर्जातीय विवाह का विरोध किया हुआ दिखाई देता है, जो बिलकुल स्वातंत्र्य और समता के खिलाफ है।

रुढिवादी सत्ता :- कहा जाता है यथा राजा तथा प्रजा। राजा का प्रजा अनुकरण करती रहती है। ऐसे समय समाज या सत्ता को चलानेवाले बड़े-बड़े नेता अगर सड़ी गली रूढ़ियों को लेकर चलते रहें, तो समाज का क्या होगा। आज अगर देखा जाए, तो धर्म और जाति का स्पष्ट प्रभाव सत्ता पर पडा हुआ हमें दिखाई देता है। कई राजनेताओं को लगता है भले ही धर्म पर आंच आए लेकिन जाति पर कोई आंच नहीं आनी चाहिए। इतने विकसित और उन्नत समाज में भी जाति पांति के भेदभाव को लेकर चलनेवाली सत्ता हो, तो उस राष्ट्र का विकास कैसे हो सकता है ? अर्थात सत्ता पर भी जाति का प्रभाव स्पष्ट रूप से आज भी हमें दिखाई देता है, जो समाज और राष्ट्र के विकास के लिए निश्चित ही हानिप्रद है। इस नाटक में श्यामाजी को जब यह पता चलता है कि वीमा अपने बिरादरी के रिश्तेदारों में से है तब उसे जमन वर्मा के साथ उसका विवाह होना अपमान एवं आपत्तिजनक लगता है। वे वीमा का अपहरण कर जमन वर्मा से वीमा को अलग करते हैं और जमन वर्मा को उसकी जाति को लेकर धमकाते हुए कहते है कि, " हम सालों-साल, उम्र भर, बिना धर्म जी सकते हैं, बिना जात पल भी नहीं रह सकते। पक्षी भी अपनी हैसियत के मुताबिक पंख फडफडाता है। उड़ता है। तुमने अपनी औकात का अतिक्रमण किया है, वर्मा।"[10] यह रुढिवादी सत्ता की मनोवृत्ति को ही दर्शाता है।

सरकारी नेतांओं की धांधली :-हम भ्रष्टनके भ्रष्ट हमारे यह आज के नेताओं का सूत्र बन गया है। अन्याय, अत्याचारी दूसरे अन्याय, अत्याचारी का साथ दे रहा है। अच्छी गुणसंपन्न संस्थाओं को या व्यक्ति को कभी पुरस्कार नहीं मिलता। जहां हमेशा भ्रष्टाचार होता है, अन्याय होता है ऐसे ही व्यक्ति या संस्थानों को आज पुरस्कार मिल रहा है। आज कल पुरस्कार या सम्मानों में भी धांदलि हो रही है। इसके पीछे सरकारी नेताओं की आपसी मिली भगत होती है। वे प्रशासकीय व्यवस्था के जरिए एक दूसरों की सहायता करते रहते हैं। इस नाटक में आका के आशीर्वाद से ही श्यामाजी की नेत्रहीन संस्था को पुरस्कार मिलता है। श्यामाजी की शिकायत लेकर जमन वर्मा जब आका के पास जाता है तब आका का श्यामाजी के ही समर्थन में यह कहना कि, " श्यामाजी जैसे सज्जन और संवेदनशील इंसान की इज्जत पर अंगुली उठा रहे हो, तुम। वे नेक ,हरदिल अजीज इंसान है। नि:शक्तों के लिए तो देवरुप हैं। क्यों ? क्या नहीं है सच ? विश्व विकलांग दिवस पर उनकी संस्था को पचास हजार रुपये का पुरस्कार मिला है।" [11] यह सब सरकारी नेताओं की धांधली को ही दर्शाता है। क्योंकि यह पुरस्कार गुणवत्ता के आधारपर न मिलकर आका की ही देन थी।

मीडिया का दोहरा चरित्र-: जमन वर्मा का मित्र देवत सिंह अखबार पर विश्वास करता है क्योंकि वह लोकतंत्र का चौथा खंबा है और हमारा समाज उसके बिना सुरक्षित नहीं रहता। वह राजनीति से लोकतंत्र को बचाए रखता है। लेकिन आज वर्तमान युग में मीडिया का दोहरा चरित्र हमारे आंखों के सामने आ रहा है। वह राजनीति की कठपुतली बनकर चल रहे हैं। इस नाटक में भी श्यामाजी तथा आका जैसे नेताओं के दबावतले मीडिया, समाचार पत्र के संपादक आ गये हैं। समाचार पत्र के संपादक सी.सी.झा हैं, जो जमन वर्मा की पीड़ा सुनकर श्यामाजी पर दबाव डालने की कोशिश तो करते हैं लेकिन श्यामाजी के कहने पर कि, "बेटे, आपकी शिराओं में भी उसी जाति का रक्त है, जो मेरी शिराओं में बह रहा है। झा बेटे, दुर्योग रहा लड़की मेरी रिश्तेदार निकल आई। नीची जाति का जमन वर्मा मेरे स्कूल में टीचर !"[12] यह सुनते ही अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए संपादक झा इस अवसर का लाभ उठाते हुए कहता है" श्यामाजी आका के दफ्तर में अपने एक आदमी का ट्रांसफर करवाना है। सेवक है, अपना। काम होना चाहिए।"[13] और वह जमन वर्मा पर हुए अन्याय का

समाचार न छपवाकर उसके उल्टा श्यामाजी के पक्ष में छपवा देता है। यहाँ मीडिया का स्वार्थी और दोहरा चरित्र हमारे सामने आता है।

पुलिस का भ्रष्ट रवैया :-

पुलिस समाज की सुरक्षा के लिए होती है। उसके जरिए समाज में अन्याय तथा अत्याचार को रोका जाता है तथा न्याय की रक्षा की जाती है। लेकिन जहां पुलिस का रवैया ही भ्रष्ट हो वहां न्याय की रक्षा कैसे हो सकती है। इस नाटक में अन्याय से पीड़ित जमन वर्मा अपने मित्र देवत सिंह की सहायता से श्यामाजी के खिलाफ पुलिसथाने में अर्जी देता है, तो पहले न्याय दिलाने की बात कहनेवाला थानेदार श्यामाजी की रिश्वत लेकर और आका के दबाव में आकर जमन वर्मा को ही गुंडा कहकर उसे डांट लगाते हुए कहता है कि, "ये कम दया है क्या, तुम दोनों विकलांग हो। और होते, अन्दर ले जाकर ऐसी पिटाई करता, ऐसी पिटाई करता, ऐ-बे सब भूल जाते। स्सालों, विकलांग हो या उचक्के ? स्साले, अंधे, लंगडे-लूले भी बडे घरों की लड़कियों को धोका देकर उनसे शादी रचाने लगे। ज्योदती करने लगे। गुंडे कहीं के।" [14] इतना ही नहीं थानेदार जमन वर्मा को डांटते हुए और उसे झठा करार देते हुए कहते हैं कि" ले ये तेरी अर्जी पकड़ और भाग जा यहाँ से। विकलांग हो दोनों। और होते, सीधा अन्दर कर देता। आइंदा झठी शिकायत लेकर थाने मत चले आना।" [15] यह पुलिस के भ्रष्ट रवैये को दिखाता है।

संस्थाओं में भ्रष्टाचार-:

आज समाज में विभिन्न संस्थाओं में रिश्वत एवं भ्रष्टाचार दिन-ब-दिन बढ़ते जा रहा है और इसी की आड़ में ईमानदार और सत्य को लेकर चलनेवालों का शोषण हो रहा है। नाटक में श्यामाजी निःशक्तों एवं विकलांग छात्रों को शिक्षा देने के नाम पर संस्था चलाते हैं। उनकी संस्था में अंधा जमन वर्मा म्यूजिक टिचर के रुप में कार्य करता है। श्यामाजी वहां के शिक्षकों को थोड़ी सी तनख्वाह देकर बाकी हडप लेते हैं। संस्था की आड में करुणा, दया और निःशक्तों के प्रति सहानुभूति दिखाकर वे भ्रष्टाचार करते रहते हैं। जमन वर्मा का वीमा को यह कहना कि, "वीमा यह संस्था है न ,सरकार के अनुदान से चलती है। अब मुझे तो दिखता नहीं है। पेन पकड़ कर साइन करा लेते हैं, मेरे। रोकड ! साइन तो ज्यादा पर ही कराते बताए। मेरी हथेली पर एक हजार रख देते हैं, बस।" [16] यह संस्थाओं में चल रहे भ्रष्टाचार को ही तो दर्शाता है।

ईमानदार संघटनों का अभाव :-

अन्याय, अत्याचार को नष्ट करने के लिए संघटध की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। नाटक का पात्र देवत सिंह निःशक्तों तथा विकलांगों के संगठन का अध्यक्ष है। उसकी सहायता से जमन वर्मा को न्याय मिलता है। संगठन के सभी सदस्य एक होकर श्यामाजी तथा आका के खिलाफ मुर्दाबाद, मुर्दाबाद के नारे लगाते हुए अपना आंदोलन तीव्र करते हैं। आखिर में श्यामाजी और आका को हार माननी ही पड़ती है और जमन वर्मा को उसकी पत्नी वीमा मिल जाती है। यहां संगठन का यश दिखाया गया है। लेकिन आज समाज में ऐसे संघटनों का अभाव दिखाई देता है।

निष्कर्ष-:

इस प्रकार रत्नकुमार सांभरिया जी ने विमा नाटक में विकलांग एवं निःशक्तों के जीवन संघर्ष को अभिव्यक्त करते हुए जमन वर्मा और वीमा के माध्यम से समाज में प्रचलित जाति प्रथा, निशक्तों की उपेक्षा, नेताओं की दोगली नीति जैसी विविध समस्याओं को प्रस्तुत किया है। इस नाटक की कथावस्तु से निम्नलिखित बिंदु हमारे सामने आते हैं -

समाज में श्यामाजी जैसे दोगली नीति को लेकर चलनेवाले नेताओं की आज भी कमी नहीं है, जो समानता के पक्षधर होने का दिखावा मात्र करते हैं।आज के विज्ञानवादी युग में भी जाति भेद जैसी कुप्रथाओंका प्रचलन समाज में दिखाई देता है, जो मानवता के लिए बहुत घातक बीमारी के समान है।समता तथा मानवता का मुखौटा धारण कर विकलांग तथा निशक्तों की उपेक्षा आज भी की जा रही है।समानता लाने के लिए आज भले ही अंतरजातीय विवाह का अच्छा प्रचलन आरंभ तो हुआ है लेकिन इस प्रचलन में कहीं न कहीं जमन वर्मा और वीमा जैसी घटनाएँ हमें दिखाई दे रही है, जो दुर्भाग्यपूर्ण ।नाटक के माध्यम से संगठनात्मक कार्य की सफलता का संदेश भी दिया गया है।आज स्वतंत्र देश में मीडिया का दोहरा चरित्र हमारे सामने आ रहा है। पुलिस तथा प्रशासन का भ्रष्ट रवैया जो दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है वह समाज के लिए घातक है।

कुल मिलाकर रत्नकुमार सांभरिया द्वारा लिखित' वीमा' नाटक समाज के सामने जाति प्रथा, छुआछूत जैसी कुप्रथाओं का तथा भ्रष्ट पुलिस एवं प्रशासन व्यवस्था, मीडिया का दोहरा चरित्र, नेताओं की दोगली प्रवृत्ति का खुलकर विरोध कर समानता, स्वतंत्रता के पक्ष पर बल देते हुए विकलांग तथा निःशक्तों के प्रति समाज के दायित्व को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह नाटक छोटे-छोटे संवाद, प्रभावी कथावस्तु, चरित्र चित्रण, वातावरण की दृष्टि से सफल साबित होता है।

****

संदर्भ सूची :-

रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण 2020, श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ37 .
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.18
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.19
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.18
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.53
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.40
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.61
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.16
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.61
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.30
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.29
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.68
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.69
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.70
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.73
रत्नकुमार सांभरिया - वीमा - प्रथम संस्करण ,2020 श्री नटराज प्रकाशन,दिल्ली - पृ.38

कृष्णा सोबती के उपन्यासों में चेतना के विविध आयाम

(दार्शनिक, राजनीतिक, धार्मिक के परिपेक्ष में)

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1481

रश्मि पुशाम
शोधार्थी हिंदी)
पंडित एस. एन. शुक्ला विश्वविद्यालय
शहडोल (मध्य प्रदेश) पंजीयन क्रमांक - 1184010006

सारांश : स्वातंत्रोत्तर हिंदी कथा साहित्य में कृष्णा सोबती का उपन्यास लेखन में महत्वपूर्ण स्थान है। अपने उपन्यासों के माध्यम से सोबती जी एक नए कथ्य और भाषा की विविधता के साथ समाज की हर दशा एवं दिशा को उजागर करने का प्रयास किया है, वैसे तो 19वीं शताब्दी के दूसरे - तीसरे दशक से ही हिंदी गद्य लेखन में महिला लेखिकाओं का पदार्पण हो चुका था । लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात नारी जागरण और स्त्री शिक्षा के व्यापक प्रचार - प्रसार के फलस्वरूप इस क्षेत्र में महिला कथाकारों कि एक मजबूत पीढ़ी सामने आई है, इसमें प्रमुख स्थान कृष्णा सोबती का है। जिन्होंने बनी बनाई परंपरा से परे हटकर अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर समाज में व्याप्त नारी की चेतना को अपने उपन्यासों के पात्रों के माध्यम से जगाने का प्रयास किया है।

बीज शब्द:- नारी चेतना, उजागर, प्रेरणा।

कृष्णा सोबती की रचनाएं एक समग्र दर्शनिकता का प्रतिफल है। जिसके पीछे भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन का प्रभाव दिखाई देता है। केवल कलात्मक प्रतिभा और संवेदनशीलता के बल पर श्रेष्ठ साहित्य उत्पन्न नहीं होता है, श्रेष्ठ साहित्य का सृजन साहित्यकार की जीवन दृष्टि और अनुभव पर निर्भर रहती है। यह तो उनकी संस्कृति उनके संपर्क में आने वाले अन्य संस्कृति और चिंतन धाराओं से भी बेहद प्रभावित होता है।

आधुनिक हिंदी साहित्य पर परंपरागत और आधुनिक भारतीय दर्शनों के साथ आधुनिक पाश्चात्य का विचारधाराओं का भी व्यापक असर पड़ा है। इसके साथ प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध भारत का स्वतंत्रता आंदोलन और उन उसका परिणाम आदि घटनाओं से प्रभावित सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में भी भारतीय जनमानस को गहरे रूप से प्रभावित किया है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास इन सभी विचारधाराओं और घटनाओं से प्रभावित मानसिकता की उपज है। कृष्णा सोबती का साहित्य किसी भी वादों और खेमों से घिरा हुआ नहीं है। कृष्णा जी लिखती हैं - ***"साहित्य किन्ही खेमों में बड़ा हैं।"*** लेकिन उनके साहित्य पर भारतीय परंपरागत चिंतन और आधुनिक पाश्चात्य विचार धाराओं का प्रभाव जरूर पड़ा है। अतः हम कह सकते हैं कि उनकी दार्शनिक दृष्टि भारतीय और पाश्चात्य चिंतन के धनात्मकता को स्वीकार करते हुए विकसित हुआ है। आधुनिक विज्ञान औद्योगिक सभ्यता तकनीकी विकास और दो विश्व युद्धों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न स्थितियां पाश्चात्य देश में अस्तित्ववाद के प्रचुर प्रचार में सहायक सिद्ध हुई। महानगरीय वातावरण की भीड़ में व्यक्ति नितांत अकेला महसूस करता है। वह समाज एवं परिस्थितियों से कटता हुआ स्वयं के लिए भी अजनबी बनता गया, उसके जीवन का वास्तविक आनंद खो गया और जिंदगी एक बोझ की तरह की सिमट कर रह गई है। व्यस्तता, बोध, पराएपन, कुंठा, संत्रास, और विसंगति आदि इस दर्शन से जुड़े शब्द हैं। **'बादलों के घेरे में'** रवि असफल प्रेम से जनित निराशा और कुंठा के कारण अकेलापन का अनुभव करता है। ***"खिड़की के सामने लेटे लेटे अकेलापन से घबराकर जब मैं बाहर देखता हूं तो धुंध भरे बादलों के घेरों में घुंघराले बालों वाला वही चेहरा दिखता है, वही....।***

'तीन पहाड़' की जया प्रेम में असफल होने पर आत्महत्या कर लेती है। कुछ नहीं कोई नहीं पहाड़ों के साए तले और दो बाहें, दो राहें की नायिकाएं इस तरह की जिंदगी में घुटन निराशा अकेलापन और कुंठा का अनुभव करती हैं।

मइस तरह पश्चिमी परिवेश में पनप रहे व्यक्तिवादी साहित्य के भूल में व्यक्तिगत सुख एवं व्यक्तित्व का विकास महत्व रखता है। समाज द्वारा स्वीकृत नैतिकता अनैतिकता की धारणा उन्हें माने नहीं है। क्योंकि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक है। समाज की यह परंपराए व्यक्ति के सुख एवं विकास में बाधक है उसे तोड़ने का साहस करते हुए अहम को संतुष्ट करता है। 'मित्रों मरजानी' की मित्रों और कुछ नहीं कोई नहीं के सिवा 'सूरजमुखी अंधेरे की' रती अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं अस्तित्व की रक्षा की छटपटाहट विद्यमान है। वे समाज में स्वयं के होने का बोध कराती रहती है।

अस्तित्ववादियों के अनुसार सारी दुनिया निरर्थक और एब्सर्ड है। यह निरर्थकता मनुष्य पर निराशा तथा अजनबीपन पैदा करती है और सारे संबंधों को जड़ बनाती है। आदमी की आदमियत में उसकी शक्ति और जीवन मूल्यों में विश्वास नहीं रखने के कारण यह वाद विकासशील मानवीय चेतना से युक्त नहीं समझा गया प्रत्येक विचारधारा अपनी पूर्व व्यवस्था के विद्रोह से उत्पन्न होती है और हर विचारधारा में युगानुकूल सत्यांश विद्यमान है। सच्चा साहित्यकार विकृत और झूठे पड़ गए विचारों को त्याग देते हुए अग्रसर होता है वह अपने समय जीवन अनुभव और दृष्टि की कसौटी पर प्रत्येक सिद्धांत को परखता है और उन अंशों को स्वीकार करता है। जो जीवंत और मानवीय हैं। कृष्णा सोबती व्यक्ति की स्वतंत्रता को सबसे महत्वपूर्ण मानती हैं। उनके नारी पात्रों में व्यक्तित्व अस्तित्व की रक्षा की छटपटाहट विद्यमान है। लेकिन उनकी दृष्टि पाश्चात्य विचारधाराओं के अतिवादी रूख से बिल्कुल मुक्त है। इसलिए मूल्यहीन और औचित्यहीन स्वतंत्र व्यक्ति के स्थान पर कृष्णा सोबती के पात्र संस्था और समाज के प्रति अपने दायित्व को स्वीकार करते हैं और समष्टिवादी चिंतन से अपनी स्वतंत्रता को मर्यादित करने को तैयार होते हैं। मित्रों के अंत में अपने पति के पास लौट जाना और रति के दिवाकर के निमंत्रण को ठुकराना इसके उदाहरण हैं। महक बानो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और आत्मसम्मान की स्थापना करने के बाद वकील साहब के जीवन से अलग हो जाती है। 'ए लड़की' की अम्मू में मैं मैं हूं का बोल हमेशा रहता है। फिर भी पारिवारिक सामाजिक जीवन के महत्व को वह स्वीकार करती है। समय की पात्र आरण्या में नर और नारी की मित्रता को नवीन मान्यता मिली है। अविवाहित और अकेले प्रौढ़ व्यक्तियों के एकाकीपन और व्यर्थ का बोध आज के युग में प्रमुख समस्या है। कामिनी और दमयंती आदि बूढ़ी औरतें निराशा, कुंठा, अवसाद, निरर्थक और मृत्यु संत्रास से पीड़ित है। लेकिन उपन्यास की नायिका आरण्या के स्वभाव में दार्शनिकता और दृढ़ता एवं स्वतंत्र निर्णय की शक्ति है। जीवनभर अकेले रहने का निर्णय उसने स्वयं लिया था वह भविष्य को देखते हुए यह निर्णय लेती है। उसका जीवन समाज से कटा हुआ और घुटन भरा ना रहे इस कारण वह अकेले जीवन निर्वाह का निर्णय करती है। इस सब के बाद भी उसका भविष्य निर्माण का निर्णय वह अंत में अपने दोस्त ईशान के साथ रहने का करती है।कृष्णा सोबती अपने दार्शनिकता के बल पर जहां आधुनिक जागरूक नारी की पहचान को रेखांकित करती हैं, वही व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन और सामंजस्य को बनाए रखने की कोशिश करती हैं।

भयुगानुरूप राजनीतिक परिस्थितियों उलटफेर आदि का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ता है राजनीतिक हलचलों का सामान्य व्यक्ति के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। देश में राजनीतिक स्थिरता से जीवन व्यवस्था में सुख शांति व समृद्धि की स्थापना होती है। राजनीतिक पतन से नैतिक मूल्य नष्ट होते हैं। तो सामान्य जनजीवन में भी अराजकता व्याप्त हो जाती है। इस पूरे तथ्य का उदाहरण जिंदगीनामा उपन्यास में दृष्टिगोचर होता है। जिंदगीनामा में विभाजन पूर्व और विभाजन पश्चात का चित्रण मिलता है। जिसमें राजनीतिक खोखलेपन में इंसानी जिंदगी जिंदा लाशों में किस तरह तब्दील हो जाती है, यहीं दर्शाया गया है। गांव वालों के मद्दगार बनने वाले शाहजी स्वयं इस खोखली राजनीति के उदाहरण है। फतेह अली सरकार की इस गंदी राजनीति को उजागर करता है - ***"शाहजी सरकार अंग्रेजी घोड़े पर कागज बूत भी बिठा दे तो कानून के जोर जबरदस्त में यह बोलने लगेगी।"***

भ्रष्ट राजनीतिक परिवेश में भ्रष्टाचार नीचे से ऊपर तक व्याप्त है। ऐसी स्थिति में बिना रिश्वत और चमचागिरी के काम पूरा होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। बख्शी कहता है -***"जो लक्ष्मी के जोर से इस कलयुगी देवी को रिझायेंगे भेंट चढ़ाएंगे वही खुश किस्मत मुरादे भी पाएंगे....।"*** जिंदगीनामा में सरकारी कर्मचारी अपने अधिकारों का प्रयोग करके खला भ्रष्टाचार करते हैं- ***"हर घर से एक बंदा पुत्तर नहीं हो तो चंदा"*** एक तरफ जहां देश को निकल जाने वाले भेड़िए हैं। तो वहीं दूसरी तरफ प्राणों की बलि देने वाले देशप्रेमी भी हैं। जिंदगीनामा में पंजाब पर अनेक आक्रमणों के बावजूद उसका बस जाना जहां लोगों के देश प्रेम का ही उदाहरण है। विभाजन पश्चात राजनीतिक कार्यकलापों ने जहां देश को गतिशीलता दी है, वहीं लोगों को भ्रष्ट भाग्यवादी भी बना दिया है। जिंदगीनामा में राजनीतिक वातावरण और उसके प्रभाव का प्रत्यक्ष चित्रांकन हुआ है। **'समय सरगम'** में कथानक में प्रसंगवश कहीं-कहीं पर कृष्णा सोबती को राजनीतिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई है। धोबी रामखेलावन के शब्दों में राजनीतिक अशुद्धता की पीड़ा मुखर हो उठी है। ***"साहिब ऊंची जात बिरादरी ने भी कम घृणा नहीं फैला रखी है। अपने को संस्कारी जातियां कहकर पुकारते हैं और दलितों पिछड़ों को असंस्कारी संस्कार विहीन नीचे पिछड़ा आरक्षण को लेकर कभी मनुवादी उबलते हैं और कभी दलित और कभी कमजोर वर्ग धंधे की राजनीति है। जाने कब तक खेला जायेगी यह सिलसिला कब तक चलता रहेगा।"*** कृष्णा सोबती ने अति संवेदनशीलता के साथ कश्मीर मुद्दे पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं, कृष्णा सोबती ने पुरुष उपन्यासकारों की अपेक्षा राजनीतिक विचार कम ही व्यक्त किए हैं, हालांकि जिंदगीनामा **'डार से बिछड़ी'** आदि में विभाजन का जिक्र है किंतु विशुद्ध राजनीतिक परिवेश का चित्र नहीं है। कृष्णा सोबती के संपूर्ण साहित्य का अध्ययन करने पर राजनीतिक चर्चा कम ही मिलती है, लेकिन जितनी है वह प्रभावी है। कृष्णा जी ने अपने उपन्यासों में राजनीतिक परिवेश में परिवर्तन की आवश्यकता की ओर संकेत किया है।

भारतीय समाज में धर्म का विशेष महत्व रहा है। भारतीय परिवेश में जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य का जीवन धर्ममय माना जाता है। संविधान के अनुसार भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है। लेकिन जब देश का विभाजन ही धर्म के आधार पर हुआ तो मनुष्य की भावना धर्म से उठने लगी। हम यह नहीं कह सकते कि आज मनुष्य का विश्वास भगवान और उसकी भक्ति पर से बिल्कुल उठ गया है। लेकिन इस विश्वास की भावना से व्यक्त जरूर हुआ है। आज धर्म की परिभाषा मनुष्य ने अपने समय और सुविधा के अनुसार निर्धारित किया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज में ही जीता एवं विचार करता है। समाज के माध्यम से ही व्यक्ति ज्ञान कला नैतिकता प्रथाओं मान्यताओं का विचार करता है और समाज की यही विरासत संस्कृति है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश में सांस्कृतिक परिवर्तन तेज गति से हो रहे हैं। परंपरागत भारतीय परिवेश को नवीन चेतना प्राप्त होती जा रही है जिसके परिणाम स्वरुप व्यवहारिक जीवन में भी तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। भारत एक विशाल देश है यहां अनेक जातियों धर्मों संस्कृतियों और भाषाओं का संगम है। पंजाबी में मुख्य रूप से हिंदू सिख और मुस्लिम तीनों धर्म के लोग रहते हैं। हिंदू और सिखों में अनेक उपजातियां समान है। उनके रहन-सहन के नीति- नियम भी बहुत कुछ समान रूप से मिलते जुलते हैं। इन उप-जातियों के बीच विवाह संबंध भी होता है। उपन्यास में साह परिवार हिंदू है, चाची म्हारी सिख परिवार की है जिसका प्रेम गणपत शाह से हो गया था। शादी के बाद गणपत शाह की मृत्यु हो गई चाची म्हारी अभी साहों के परिवार में इज्जत के साथ रहती है। गांव में हिंदू और मुसलमान सदियों से दो भाइयों के समान रहते हैं यह सही है कि गुरु गोविंद सिंह ने मुगलों से कई बार लड़ाई की थी। लेकिन यह राजनीतिक लड़ाईया थी। उनका बैर अत्याचारी महाराजा रणजीत सिंह के वजीरों में मुसलमान भी शामिल थे। उपन्यास में शाह के मजलिस से इसका जिक्र होता है। ***"महाराजा रणजीत सिंह के वजीरों के नाम तो सुने होंगे खलीफा नरूलद्दीन फकीर अजीजुद्दीन और ऐसे ही बेहिसाब अमीर उमरा और सरदार जागीरदार।"*** हिंदू और मुसलमान शताब्दियों से पंजाब के गांव में साथ साथ रहते हैं पारस्परिक सहयोग और एकता का जीवन व्यतीत करते हैं। गुजरांवाला में हिंदू और मुसलमानों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों में समानताएं हैं साहनी अपनी गोद भरने के लिए बाबा फरीद से मन्नत मांगती है गरीब नवाज आपके नवाज आपके हुकुम बंदी आप के दरबार में शीश झुकाने आए है। मेहरा वाला तेरी नजरें हो सीधी तो साहों के घर में भी झंडा फिरे।" गांव के हिंदू मुसलमानों के धार्मिक विचारों में अंतर होता है, लेकिन सामाजिक सांस्कृतिक और विचार में अंतर दिखाई नहीं देता। काशीराम कहते हैं – "यह तन सी में फिर से डारिया तो बाद की बातें हैं। मनुष्य ने खुद बनाई है, रब रसूल और करता करण हार सब एक ही है। कर्म स्लाही जी को कुछ सूज गया। बादशाहो इधर पंच पीर उधर पंच पांडव इधर पंचोलिया उधर पंच प्यारे।"अंग्रेज सरकार ने अपने शासन को बनाए रखने के लिए पहले पहल जनता में फूट डालने की शुरुआत की मुसलमानों को समर्थन करके उन्हें हिंदुओं के विरुद्ध भड़का कर जन आंदोलन को दबाने की कोशिश की सांप्रदायिक दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया और दोनों धर्म के लोगों में अलगाव बढ़ गया अभी तक तो चौधरी जी इतना ही आया है ना कि मुसलमान 3000 सालाना आमदनी पर मामला भरे तो चोन का हकदार बने। उधर हिंदू तीन लाखा सालाना पर मामला दे तो लो पर्ची डाल सके अब आप ही अंदाजा लगा तो लो बादशाहो की अपनी हालत क्या होने वाली है। "शताब्दियों से भाई-भाई के समान मिलजुल कर रहने वाले हिंदू मुसलमानों के परंपरागत संबंधों में इस तरह संघर्ष बढ़ने लगा। हिंदू हिंदी में अंग्रेज सरकार की राजनीतिक राष्ट्रीय चेतना और देश विभाजन के कारणों और परिणामों को प्रतिपादित करने वाले अनेक उपन्यास रचे गए। जिंदगीनामा विभाजन के समय सांप्रदायिक दंगों पर लिखा गया उपन्यास नहीं है। इसमें विभाजन से पूर्व पंजाब के ग्रामीण जीवन में हिंदू और मुसलमानों के बीच धरण मूल भाईचारे का चित्रण हुआ है। साथ ही साथ इन परिस्थितियों और कारणों का संकेत भी हुआ है जिसके फलस्वरूप ग्रामीण जीवन में सांप्रदायिक वैमनस्य उत्पन्न हुआ था.

****

संदर्भ ग्रंथ सूची: -

I. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, पृष्ठ 398
II. कृष्णा सोबती, बादलों के घेरे, पृष्ठ 29
III. कृष्णा सोबती जिंदगीनामा पृष्ठ संख्या - 17
IV. वही " " पृष्ठ संख्या - 39
V. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, पृष्ठ संख्या - 402
VI. कृष्णा सोबती जिंदगीनामा पृष्ठ संख्या - 338
VII. कृष्णा सोबती समय सरगम पृष्ठ संख्या - 120
VIII. कृष्णा सोबती जिंदगीनामा पृष्ठ – 201

'छत पर दस्तक' कहानी का मूल्य -बोध

Doi-https://doi.org/10.56716/4/1465

डॉ.सुषमा चौधरी
एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली Mo.-9811911763

परंपरावादी और प्रचलित रूढ़ियों को तोड़ने का साहस लेखिका मृदुला गर्ग ने अपनी कहानी में दिखाया है क्योंकि हमारा भाव-बोध हमारी अनुभूति पर द्वारा ही निर्मित नहीं होता ,बल्कि हमारे अध्ययन मनन से बनती बिगड़ती विचारधाराओं और जीवन दर्शन का भी लगातार इस पर घात- प्रतिघात होता रहता हैं। मृदुला गर्ग की यह कहानी वैश्विक परिदृश्य को लिए हुए है। मनुष्य का दायरा रोज़ी रोटी कमाने के लिए कितना विस्तृत हो गया है कि वह सब कुछ दांव पर लगाकर पश्चिम देशों में जाने का भरसक प्रयास करता है क्योंकि वे विकसित देश है। आधुनिक परिवेश में स्वयं को फिट करने के लिए व मानवीय संवेदना से परे और मशीनीकरण युग में यंत्रवत् चलते हुए ऐसे फंस जाता है कि वह प्रायः संवेदनहीन हो कर जीना प्रारंभ कर देता है। एक कठपुतली की तरह, जिस की डोर जिस दिशा में खींचती है, वह वैसे ही उपक्रमों को करने लग जाता है। ऐसा जीवन व्यतीत करते हुए मूल्यों का विघटन तो होता ही है ,साथ ही वह उपभोक्तावादी संस्कृति का हिस्सा बन जाता है । इस कहानी में हमें इसी पुनः स्थापना के बारे में बताया गया है कि विश्व हमारे लिए एक गांव बन गया हैं पर जिन सम्बन्धों से हमारा संसार सजा है वहीं हम से दूर होते जा रहे हैं । भारतीय ,अमेरिका में जाकर किस तरह बदल गए अपनी संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं ।इसी दर्द को परिभाषित करते हुए लेखिका कहती है, "मॉ- बाप की नागरिकता, सदियों की विरासत, खून और नस्ल, सब धरे रह जाते हैं और आदमी बिला गर्भ में आए, बिला मदद या परवरिश, नया जन्म ले लेता है"1। उसकी दृष्टि में अब तक के सभी मूल्य धराशायी हो जाते हैं या घिसे पुराने लगने लग जाते हैं । वह वहीं की संस्कृति का ,सभ्यता का , अंधानुकरण करने लग जाता है कि कहीं वह डॉलर की इस रेस में पीछे न दिखाई देने लग जाए। बाहर का रूप - रंग ही उसका भारतीय दिखाई देता है । बिना पुनर्जन्म लिए वह पूर्णतः पश्चिमी संस्कृति में ढल चुका होता है । वे बच्चों के गीत जो चंदा मामा दूर के थे । अब परिवर्तित होकर ट्विंकल ट्विंकल लिटिल स्टार बन चुके है। आज की आधुनिक पीढ़ी को यह पता भी नहीं चला कि जिन रिश्तों में आत्मीयता थी । जहां चांद भी मामा था । उसकी जगह पर न जाने कौन से बिम्ब आ गये ।

आज मध्यमवर्गीय स्त्री अनेक उतार चढ़ाव से गुजरकर विभिन्न स्थितियों से सामंजस्य बैठाकर अपने पुत्र को इस योग्य बनाती है कि वह सिलिकॉन वैली में डॉलर कमा सकें। इसके लिए वह अपने प्रॉविडेंट फंड के तमाम रुपयों को उसके हाथ में रख देती है ताकि बेटे का भविष्य उज्ज्वल हो सकें। उसके सभी सपने सुहाने हो सकें। बेटे के ऐसे ही सुविधा संपन्न घर को देखने के लिए, जब वह अमेरिका जाती है, तो अपने और बेटे के बीच एक प्राइवेसी को खड़ा हुआ देखती है। यह प्राइवेसी इतना विशाल रूप धारण कर लेती है कि माँ नलिनी के कदम बेटे के कमरे में जाने से डरने लगते हैं। वह दबे पांव सारे काम करने लगती है। पूर्णतः यंत्रवत् , उनके बीच संवाद होता है तो केवल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए। माँ के हाथों का खाना अर्थात परांठा तो उसे अच्छा लगता है पर उनकी बढ़ती हुई उम्र उसे दिखाई नहीं देती। एक तरह से वह दायित्वहीनता से ग्रस्त हैं । मूल्यों का ऐसा विघटन कई बार कहानी में देखने को मिलता है । जहाँ भौतिकतावाद हम पर इतना हावी हो जाता है कि उससे रिश्तों की आत्मीयता के मिठास को खत्म कर दिया । इन अपार्टमेंट्स की भव्यता के बारे में बताते हुए लेखिका कहती है, "ऊँचा खूबसूरत, सवाल- जवाब से खरा, बाहर इतना खुला- खुला और भीतर एकदम कैदखाना"[2] कैदखाने में ही हम दूसरों की भावनाओं को समझने का प्रयास नहीं करते क्योंकि वहां हम समय व्यतीत करते हैं । जीवन जीते नहीं है। तभी तो जिस बेटे के लिए उसने अपने जीवन की हर खुशी को न्योछावर कर दिया । बार-बार आग्रह करने पर भी दूसरा विवाह नहीं किया । अपने जीवन की सारी जमा पूंजी उसकी शिक्षा दीक्षा पर खर्च करती है ,ताकि वह सुखी और आनंदित हो । दूसरी ओर ससुर ने भी मरते वक्त दिल्ली के घर को देवर के नाम पर कर दिया कि उसका बेटा तो डालर कमाता है ऐसे कई घर बनवा देगा । स्त्री यदि शिक्षित हैं तो उसका शोषण नहीं होगा ऐसा नहीं है ।उसका स्वरूप और आकार बदल जाता है । यहां ममता की दुहाई देकर या सामाजिक मान मर्यादा के नाम पर छलावा देकर , उसे अधिकारों से वंचित किया जाता है । पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था में स्त्री के अधिकारों और उसकी अस्मिता की बात करना और उसे पाने के लिए चिन्तन ही आज स्त्री विमर्श है । लेखिका ने नलिनी के माध्यम से उस अनसुने स्वर को शब्द देने का प्रयास किया है । वह कहीं भी अपने अधिकार के लिए संघर्ष नहीं करती है । क्योंकि उसकी खुशी तो सम्बन्धों की आत्मीयता में है । वही बेटा इस बात से बिल्कुल बेखबर है कि मां रिटायर्ड हो चुकी है और उसके पास जीवनयापन का कोई अन्य मार्ग भी नहीं है । वही बेटा जब पूछता है कि, "तुम्हारी छुट्टी कब तक हैं ? 'छुट्टियाँ' ?अचकचाकर उसने दोहराया"[3] ।यह मध्यवर्गीय परिवार का एक सामाजिक यथार्थ है । जो अब तक अनकहा है । मां बाप अपने त्याग को अपना कर्तव्य समझकर निभाते हैं यही कारण है की बच्चे अपने दायित्व बोध से अनभिज्ञ हैं जाते हैं क्योंकि यही सबसे सुविधाजनक है ।शमशेर बहादुर सिंह ने इसी यथार्थ की व्याख्या की है, "सबसे बड़ा यथार्थ वह है जो हमारे अंदर है जिसे शब्दों में नहीं रखा जा सकता । वह तो शब्दों में आकर कभी -कभी बदल जाता है ,ग़लत हो जाता है , कभी कभी तो अपना मतलब ही खो देता है"4 उपभोक्तावादी संस्कृति में रहने के कारण वह अपने दायित्व- बोध, कर्तव्यबोध से पलायन करना उसे बेहद सुविधाजनक लगता है । उसे भौतिकता से जुड़े सभी सुख तो चाहिए पर आत्मीयता के कुछ क्षण भी वह अपनी माँ को नहीं दे पाता बल्कि अपनी निजता में खलल न पड़े। ऐसी प्राइवेसी की अपने और माँ के संबंधों के बीच में खड़ा कर देता । तभी तो उसे ना अपने खर्च किए हुए रुपयों का अंदाजा है और ना ही माँ के सेवानिवृत्त होने का बोध । वह पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित इस युग में केवल अपने सुख के लिए जी रहा है । भारतीय संस्कृति की विशेषता है कि सबके सुख में ही अपना सुख है । उसके लिए यह सब अर्थहीन बनकर रह गया है। यही कारण है कि मां परिस्थिति से तालमेल नहीं बिठा पा रही है । इस खोखलेपन से, इस शून्यता से, इस संवेदनहीनता से ,वह रात के सन्नाटे में भी भीतर के शोर को अनुभव कर पा रही थी । उसके अंदर की इतना शोर है जिसने उसकी आँखों से नींद को भी उड़ा दिया था । उस पर भी छत से पैर की चहलकदमी उसे स्पष्ट सुनाई दे रही थी । उसे शांत करने के लिए वह छत पर दस्तक देनी प्रारम्भ कर देती है । वस्तुवादी दृष्टि होने के परिणाम स्वरुप ही हमारे मानवीय संबंधों का अवमूल्यन होता जा रहा है । जहाँ एक ओर अमेरिका में वैभव के बीच अकेला पड़ा वह निस्सहाय बूढ़ा पुरुष , जिसे अब कोई नहीं चाहता और दूसरी तरफ भारत में भी भरे- पूरे पर अभावग्रस्त मध्यमवर्गीय परिवार में हाशिए पर पड़ी वह अधेड़ उम्र की विधवा स्त्री । बाकी सारे संसार के लिए दोनों की कोई उपादेयता

नहीं है, नगण्य मात्र है । पर हर रात उसकी चहल कदमी और नलिनी के ठक -ठक से ही उन्हें आत्मीयता अनुभव होती और दोनों सो जाते । दोनों के बीच यही छत की दस्तक का ही रिश्ता था । जिसमें उन्होंने अपनापन ढूंढ लिया । उसने सोचा भी की एक दिन जाकर मिल लेंगी । पर अचानक उसी रात छत की दस्तक की आवाज ना आयी । घबराहट में उसने अपार्टमेंट इमरजेंसी पर कॉल किया । दरवाजा खोलकर देखा रॉबर्ट घिसे- पिटे कालीन पर बेहोश पड़ा था । पश्चिमी संस्कृति के अनुसार वृद्ध व्यक्ति को वृद्धाश्रम में रहना चाहिए । जहाँ उसकी सेहत ,सुख -सुविधा का ध्यान रखा जाता है । पर उन चारदीवारी में अपनत्व ही तो नहीं मिलता । शायद इसी अपनेपन को ढूंढने की चाह में रॉबर्ट अकेले उस घर में रह रहा था। जहाँ उसका ध्यान रखने वाला कोई नहीं था । पर दोनों हाशिए पर पड़े लोगों में आपसी संपर्क था । तभी तो वह जब पर्स से निकाल कर अपने कंघे से मेज पर टक टक करती है तो वह तुरंत पहचान लेता है न-लि-नी यही तो है सामाजिक यथार्थ ,जिससे परिभाषित किया है लेखिका ने । मानव सदैव आत्मीयता ,प्रेम ,स्नेह , वात्सल्य की चाह में जीवन व्यतीत करना चाहता है। अपार सुख वैभव भी नितांत अकेलापन उसे बेबस कर देता है उसके जीने की इच्छा को कम कर देता । दूसरी तरफ हम भारतीय खोखलेपन को अपनाना चाहते हैं । क्योंकि वहाँ सांसारिक सुख तो सामने दिखाई देता है। जबकि भारतीय संस्कृति में कुटुम्ब की अपनी महत्ता है । यही कारण है कि भारत में आज भी वृद्धाश्रमों को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता है ।इस पूरी कहानी में नलिनी ही एक ऐसा पात्र है जो अपने मर्म की पीड़ा को पहचानती और दूसरे के भावों को भी पोषित करती है । माँ और बेटे के बीच एक अलग -सी खामोशी है या कहिये प्राइवेसी है । जिसके कारण वह अपनी शादी की बात को भी माँ से इस तरह कहता है, "मैं शादी कर रहा हूँ" । वह उठकर बैठ गई 'मुबारक' अमरीकन लड़की है"[5]

विवाह जैसे महत्वपूर्ण मुददे पर भी वह माँ की पसंद, उनकी इच्छा को कोई महत्व नहीं देता । ऐसा वह अकेला नहीं है। यह सब संक्रांत संस्कृति का प्रभाव है। जबकि भारतीय संस्कृति में विवाह संस्था सबसे सुदृढ़ है ।पर पाश्चात्य संस्कृति को ओढने, पहनने और अपनाने में भारतीय कहीं भी पीछे नहीं रह गए हैं । उसी तरह चर्च में शादी करना चाहते हैं । माँ बाप को केवल बता देना चाहते हैं । उन्हें उपभोक्तावादी संस्कृति ने जैसे ग्रस्त कर, मूल्यविहीन कर दिया है । नलिनी अब बेटे के विवाह की मंगलकामनाएं करने लगती है और सोचती है कि उससे पैसे मांगना तो नामुमकिन है। उसके पास थोड़े जेवर हैं जिन्हें बेचकर ,वह खाना बनाकर ,दफ्तरों में टिफिन भरकर भेजने का काम कर सकती है।वह उम्र की इस ढलान पर भी इस काम को ममत्व के कारण तत्पर हैं । इस तरह इस कहानी में नलिनी ही एक आदर्शवादी पात्र हैं । उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के अनुसार, "आदर्शवाद हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं ,जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं ,जो साधु प्रवृत्ति के होते हैं यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार कुशल नहीं होते हैं, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन काइंयापन से ऊबे हुए प्राणियों तथा ऐसे सरल और ऐसे व्यवहारिक ज्ञानविहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनंद मिलता है"[6] ऐसे चरित्र ही हमें जीवन जीने का मार्ग दिखाते हैं ।

1. इस कहानी में लेखिका उस वर्ग से प्रत्यक्ष से जुड़ी हुई दिखाई देती है जो वैश्विक धरातल पर बदलते हुए युग बोध से प्रभावित होकर पश्चिमी देशों में रोजगार की आपा- धापी में गुजर बसर करने के लिए घर से निकल पड़ता है। जिसके कारण ये प्रभाव पड़ता है कि हम बिना सोचे समझे पूर्णतः अमेरिकन संस्कृति में ढल जाते है । समाज के उस वर्ग के यथार्थ को अपेक्षाकृत अधिक गहराई से देख समझकर पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है। लेखिका ने नारी मनोविज्ञान को भी अच्छी तरह से समझा है, इसलिए नलिनी की मन की दुर्बलताओं, सफलताओं - असफलता को, पीड़ा और नितांत एकांत को बहुत ही अच्छे से चित्रित किया है। बदली हुई स्त्री की अस्मिता की पहचान से नलिनी के माध्यम से हमें परिचित करवाया है। इस तरह नारी की चिरपरिचित साया से उसे मुक्त कर नये रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है। बेटे के औपचारिक व्यवहार से माँ के कोमल अंतर्मन की कुंठा को हमारे सामने रखा है । उनकी कहानी कहने का तरीका, उसे संभालने ,संजोने का तरीका उनकी क्षमता का परिचय करवाता है ।साथ ही बेहद अपनेपन से आज की पीढ़ी के लिए एक उदाहरण बन कर पाठकों के सामने आई है।इस तरह लेखिका वैश्विक पटल पर अपने सांस्कृतिक मूल्यों के पक्ष में खड़ी हुई प्रतीत होती है । इसीलिए डॉ नगेंद्र के अनुसार, "साहित्य का मूल उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति होता है ,यहाँ यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि साहित्य समाज का दर्पण होने के कारण एक ओर जहाँ समाज की तस्वीर दिखाता है ।वहीं दूसरी ओर समाज को दिशा देने का पथ-प्रदर्शक कर गुरु कर्तव्य भी निभाता है। यदि साहित्यकार या रचनाकार इन दोनों लक्ष्यों में सफल हो जाता है। तो यह उसके लिए सबसे बड़ी उपलब्धि होती हैं"[7] मृदुला गर्ग की इस कहानी ने हमें उस सच से परिचित करवाया है । जहाँ मानवीय संवेदना शून्य होती जा रही है। व्यक्ति निरंतर मूल्यों के विघटन के कारण उपभोक्तावादी संस्कृति का गुलाम बनता जा रहा है । आत्मीयता , निजता और संवेदना के स्थान पर अह्म आ कर खड़ा हो गया है । मूल्यों का संत्रास और विघटन इतनी तेजी से हो रहा है कि संबंधों में अब प्राइवेसी आकर खड़ी हो गई है । इस शब्द का दायरा इतना बढ़ रहा है कि बाकी सब तो तुच्छ होता जा रहा ।कमाल की बात यह है कि यह शब्द ही भारतीय नहीं है । हमारे यहां तो सम्बन्ध प्रेम से पनपते हैं ।इसी के प्रति सजग करना लेखिका का कर्तव्य है, ताकि एक बार फिर से हम अपने विश्वास, विचारधाराओं और संवेदना के धरातल को परख सके ।

****

संदर्भ सूची

1.मृदुला गर्ग, समागम, पृष्ठ 45
2. वहीं पृष्ठ 51
3.वही पृष्ठ 54
4. डॉ पूनम शर्मा,शोध दिशा, पृष्ठ 89
5.मृदुला गर्ग, समागम पृष्ठ 66
6. सुभाषिनी शर्मा , उपन्यासकार प्रेमचंद, पृष्ठ 69
7. पोनेरी, जयदेव ,मृणाल पांडे के कथा साहित्य में यथार्थभिव्यक्ति डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू गूगल.कॉम

अमृतलाल नागर का 'महाकाल' उपन्यास : प्राकृतिक आपदा कोरोना के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता

डॉ. बोबडे जयंत ज्ञानोबा
सहयोगी प्राध्यापक, हिंदी विभाग
श्री शिवाजी महाविद्यालय, परभनी

प्रास्तावना :-प्रेमचंदोत्तर हिंदी साहित्य को जिन साहित्यकारो ने अपनी रचनाओं से संवारा है, उनमें अमृतलाल नागर का नाम प्रमुखता से लिया जाता है. किस्सागोई के धनी अमृतलाल नागर ने कई विधाओं से साहित्य को समृद्ध किया. अमृतलाल नागर ने कहानी और उपन्यास के अलावा नाटक, रेडियो नाटक, रिपोर्ताज, निबंध, संस्मरण, अनुवाद, बाल साहित्य आदि के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है. साहित्य जगत में उपन्यासकार के रूप में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त इस साहित्यकार का हास्य-व्यंग्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है. अमृतलाल नागर का जन्म एक गुजराती परिवार में १७ अगस्त, १९१६ ई. को गोकुलपुरा, आगरा, उत्तर प्रदेश में हुआ था. आगरा में इनकी ननिहाल थी. इनके पितामह पंडित शिवराम नागर १८९५ में लखनऊ आकर बस गए थे. पिता पंडित राजाराम नागर की मृत्यु के समय नागर जी सिर्फ १९ वर्ष के थे. पिता के असामयिक निधन के कारण जीवकोपार्जन का दबाव आन पड़ा और इस कारण अमृतलाल नागर की विधिवत शिक्षा हाईस्कूल तक ही हो पाई. विद्या के धुनी नागरजी ने निरंतर स्वाध्याय जारी रखा और साहित्य, इतिहास, पुराण, पुरातत्त्व, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों पर और हिंदी, गुजराती, मराठी, बांग्ला एवं अंग्रेजी आदि भाषाओं पर अधिकार हासिल कर लिया. रोजीरोटी के लिए अमृतलाल नागर ने एक छोटी सी नौकरी की और कुछ समय तक मुक्त लेखन एवं १९४५ से १९४७ ई. तक कोल्हापुर में हास्यरस के प्रसिद्ध पत्र 'चकल्लस' का संपादन किया. इसके बाद वे बंबई एवं मद्रास के फिल्म क्षेत्र में लेखन करने लगे. दिसंबर, १९५३ से मई, १९५६ तक वे आकाशवाणी, लखनऊ में ड्रामा, प्रोड्यूसर, रहे और उसके कुछ समय बाद स्वतंत्र रूप लेखन करने लगे. किस्सागोई में माहिर नागरजी के साहित्य का लक्ष्य साधारण नागरिक रहा. अपनी शुरुआती कहानियों में उन्होंने कहीं-कहीं स्वछंदतावादी भावुकता की झलक दी है. 'बूंद और समुद्र' तथा 'अमृत और विष' जैसे वर्तमान जीवन पर लिखित उपन्यासों में ही नहीं, 'एकदा नैमिषारण्ये' तथा 'मानस का हंस' जैसे पौराणिक-ऐतिहासिक पीठिका पर रचित सांस्कृतिक उपन्यासों में भी उन्होंने उत्पीड़कों का पर्दाफाश करने और उत्पीड़ितों का साथ देने का अपना व्रत बखूबी निभाया है. नागर जी की जिंदादिली और विनोदी वृत्ति उनकी कृतियों को कभी विषादपूर्ण नहीं बनने देती. 'नवाबी मसनद' और 'सेठ बांकेमल' में हास्य व्यंग्य की जो धारा प्रवाहित हुई है, वह अनंत धारा के रूप में उनके गंभीर उपन्यासों में भी विद्यमान है और विभिन्न चरित्रों एवं स्थितियों में बीच-बीच में प्रकट होकर पाठक को उल्लासित करती रहती है. महाकाल यह उनका महत्वपूर्ण उपन्यास है. इस उपन्यास की प्रसंगिकता को ध्यान में लेकर प्रस्तुत आलेख में प्राकृतिक आपदा और आजकी कोरोना आपदा को समानातर रुप में समिक्षनात्मक दृष्टी से विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है. जिससे नागर जी दरदृष्टि को रेखांकित किया गया है.

महत्वपूर्ण शब्द :-प्राकृतिक, आपदा, परिप्रेक्ष्य, प्रासंगिकता, राजनितिक संबंध, अधोगति, अकाल, समकालीन, अकर्मण्यता, निर्बलता, पूंजीवादी, प्रतिबद्धता, उत्तरदायित्व, मध्यवर्ग आदि.

पध्दति :-प्रस्तुत शोधालेख को लिखने के लिए विवेचनात्मक तथा समिक्षनात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है. जिसमें 'महाकाल इस उपन्यास में चित्रित परिस्थितियों का जायजा लेकर समसामयिक परिस्थितियों का लेखाजोखा प्रस्तुत कर समकालीन कोरोना की विपदा के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया है. इस विषय पर विदवानो द्वारा लिखे गए पुस्तकों, लेखों तथा सन्दर्भों का सहारा लिया गया है.

उद्देश्य :-अमृतलाल नागर के कृतित्व को उजागर करना.महाकाल उपन्यास में विश्लेषित परिस्थिति तथा पात्रों का विश्लेषण करना. समकालीन कोरोना की विपदा की भीषणता को विश्लेषित करना. प्राकृतिक आपदा की गंभीरता को विश्लेषित करना.
नागर जी की दूरदृष्टी को विश्लेषित करना. कोरोना के परिप्रेक्ष्य में महाकाल उपन्यास की प्रासंगिकता को विश्लेषित करना.

सार :-अमृतलाल नागर का यह प्रथम उपन्यास है. इस उपन्यास में बंगाल में १९४३ ई० में भीषण अकाल का यथार्थ और जीवंत चित्रण किया है. यह उपन्यास मध्यवर्गीय समाज की घृणा, पीड़ा, संघर्ष और आर्थिक विपन्नता का अंतद्वंद्व की यथार्थ करूण गाथा है. इस उपन्यास का नायक पाँचू हैं, जो शिक्षक है, इस उपन्यास में भूख के आगे विवश समाज कैसा रूप ले लेता है इसको दिखाया गया है. यह एक सामाजिक उपन्यास है. नागरजी ने इस उपन्यास में 'भूख' को मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता के रूप में दिखाया है. इस उपन्यास का एक और नाम है और वो है- भूख. पाँचू एक आदर्शवादी और ईमानदार शिक्षक है. इस गाँव में अकाल पड़ जाने के कारण लोग भूख से तड़प रहे है. दाने-दाने के लिए लोग इधर-उधर भाग रहे है. मास्टर पाँचू को भी अपने पापी पेट को भरने की चिंता है. इस उपन्यास में भूख के कारण एक आदर्श और सच्चे शिक्षक का किस प्रकार इन सब चीजों से धीरे-धीरे मोहभंग हो जाता है. इस पर नागरजी गंभीरता पूर्वक दिखाया है. भूख के कारण पाँचू की सारे आदर्श और संस्कार धीरे-धीरे यथार्थ की कटुता से टकराकर भयानक रूप ले लेती है. भूख के कारण रिश्तों के बीच में दरार तो हो गई लेकिन इन रिश्तों के खोखलेपन भी दिख गया. अन्न के अभाव में लोग मर रहे हैं, चीख रहे है, चिला रहे है, लेकिन मदद के लिए कोई नहीं है. सब अपने स्वार्थ साधने में व्यस्त है. इस प्रकार हम देख सकते हैं कि नागरजी अकाल के बहाने लोगों की इंसानियत को भी टटोलने का प्रयास किये है और उसमें वे सफल भी रहे. प्रस्तुत उपन्यास की यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में २०२० में आयी प्राकृतिक आपदा कोरोना को ध्यान में लेकर इस उपन्यास का विश्लेषण नये सिरे से करने का प्रयास किया है.

अमृतलाल नागर सृजक के रूप में :-अमृतलाल नागर हिंदी के प्रसिद्ध साहित्यकारों में से एक थे. उन्होंने एक लेखक और पत्रकार के रूप में अपने करियर की शुरुआत की, लेकिन वे सात साल तक भारतीय फिल्म उद्योग में एक सक्रिय लेखक बने रहे. उन्होंने दिसंबर १९५३ और मई १९५६ के बीच ऑल इंडिया रेडियो में एक ड्रामा प्रोड्यूसर के रूप में काम किया. उन्होंने नाटक, रेडियोनाटक, रिपोर्ताज, निबन्धे, संस्मरण, अनुवाद, बाल साहित्य आदि के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है. उन्हें साहित्य जगत् में उपन्यासकार के रूप में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त हुई तदापि उनका हास्य-व्यंग्य लेखन कम महत्वपूर्ण नहीं है. उन्होंने पहली बार दिसंबर १९२८ में पाक्षिक आनंद में एक कविता प्रकाशित की थी. यह कविता साइमन कमीशन के विरोध से प्रेरित थी जिसमें अमृतलाल को लाठी चार्ज के दौरान चोट लगी थी. अमृतलाल नागर एक लेखक और पत्रकार के रूप में अपने करियर की शुरुआत की,कुछ समय तक मुक्त लेखन एवं १९४० से १९४७ ई. तक कोल्हापुर में हास्यरस के प्रसिद्ध पत्र 'चकल्लस' के सम्पादन का कार्य किया. इसके बाद बम्बई एवं मद्रास के फ़िल्म क्षेत्र में लेखन का कार्य किया. उसके कुछ समय बाद स्वतंत्र लेखन का कार्य किया. उनके प्रमुख उपन्यासों में महाकाल से 'भूख' शीर्षक प्रकाशित

हुई, बूँद और समुद्र – १९५६ , शतरंज के मोहरे – १९५९, सुहाग के नुपूर – १९६०, अमृत और विष – १९६६, सात घूँघट वाला मुखड़ा –१९६८, एकदा नैमिषारण्ये –१९७२, मानस का हंस –१९७३ , नाच्यौ बहुत गोपाल –१९७८, खंजन नयन – १९८१, बिखरे तिनके –१९८२, अग्निगर्भा – १९८३, करवट –१९८५, पीढ़ियाँ –१९९० आदि. इसके आलावा भी कहानियाँ तथा अन्य विधाओं में उन्होंने योगदान दिया है. **अमृतलाल नागर की सामाजिक दृष्टी:-**अमृतलाल नागर सामाजिक जीवन के रचनाकार थे, इसलिए उनके साहित्य में समाज का जो रूप उभरकर आता है, वह आज के समाज के लिए बहुत ही उपयोगी है. आपसी स्वार्थ और मतभेदों की लड़ाई में पिसता मानव जीवन कब तक अधोगति को प्राप्त होता रहेगा, यह चिंता नागरजी के सम्पूर्ण साहित्य में ध्वनित होती है. वे व्यक्ति को समाज से और समाज को व्यक्ति से अलग करके देखने के अभ्यस्त नहीं हैं. उन्हें दोनों एक दूसरे के पूरक लगते हैं. उनके प्रसिद्ध उपन्यास नागरजी ने अपने उपन्यास 'बूंद और समुद्र' तथा 'अमृत और विष' में इन समस्याओं को बड़ी ईमानदारी के साथ चित्रित किया है. 'अमृत और विष' उपन्यास में नागरजी स्वाधीनता आंदोलन के समय और आज के समय की राजनीति में अंतर करते हुये कहते हैं, 'सन् ४२ में हम लोग जेल क्या गये कि हमारा सारा नैतिक बल और सत्य के लिए हमारा साहस, संगठन और कर्मशूरता ही अंग्रेजों के साथ भारत छोड़ो नारे को मानकर चली गई. आजादी के बाद आया कूट, असंगठन, विलास, व्यभिचार, लूट, डाके, खून और काले बाजार का जमाना. " 'बूंद और समुद्र' उपन्यास में वे लिखते हैं, 'इतना बड़ा राजनैतिक आंदोलन और त्याग करने के बाद भी खास गांधी जी के चेले आर्थिक, सामाजिक आंदोलन चलाने के बजाय मखमली कुर्सियों और मातहतों हुजूर सरकार सुनने की लालच में बैठे रहे. स्वाधीनता आंदोलन और स्वाधीन भारत के राजनेताओं में जो अंतर है, वह नागरजी जैसे लेखक को बहुत सालता है. जिस त्याग और संयम को लेकर हम साम्राज्यवाद से टकरा रहे थे, वह अब सब नष्ट-भ्रष्ट हो गया. चारों ओर एक अराजकता सी छा गई है. विकास पर छाई यह धुंध निरंतर फैलती जा रही है, जिसमें आदमी की चिंताएं ढक गई हैं. नागरजी अपनी चिंता को व्यक्त करते हुए लिखते हैं, 'जिस व्यक्ति की पीड़ाओं का सामूहिक रूप में दर्शन कर ये राजनीतिक सिद्धांत बने हैं, उसकी अनुभूति, उसकी तड़प अब हमारे मन से निकल गई है. हमारी नजर अब सिर्फ पोलिटिकल रह गई है, सिर्फ पोलिटिकल कोल्हू के बैल की तरह आदत के कारण चक्कर काटते चले जा रहे हैं, काम कुछ भी नहीं हो रहा. नागरजी सामाजिक जीवन के उपन्यासकार हैं, अतः स्पष्ट है कि उनके साहित्य में वर्णित घटनायें सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएं ही होंगी. जीवन परिचय और साहित्यिक संस्कार के अंतर्गत जिन महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर प्रकाश डाला गया है, उनमें यह स्पष्ट किया गया है कि पितामह, पिता और आगरा लखनऊ के संस्कार नागरजी को विशेषत्व से प्रभावित करते हैं. कम उम्र में विवाह और उसके बाद पूर्णतया लेखक बनने का निर्णय, नागरजी की सामाजिक प्रतिबद्धता और साहित्य के प्रति अटूट आस्था का परिचायक है. लेखक बनने के लिए वे हिंदी ही नहीं बंगला, गुजराती, मराठी और न जाने किस-किस भाषा के साहित्यकारों से मिलते घूमते रहे. यह घूमना तफरी के लिए नहीं था, वरन् वे उन सूत्रों की तलाश कर रहे थे, जिनके कारण वे लेखक अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण लेखक बन सके. उनके मन में यह बात विशेषत्व से घर कर गई थी कि यदि लेखक ही बनना है तो अपने क्षेत्र और अपनी भाषा का महत्त्वपूर्ण लेखक ही बनना चाहिये. प्रेमचंद से उन्होंने सामाजिक प्रतिबद्धता ली, निराला जी से फकड़पन और जीवन में फकीरी के सुखों को अपनाने की हिम्मत, शरत्चंद्र से नारी जीवन के करुण पक्षों को समझने और उन पर लिखने का साहस तथा अपने अनन्य मित्र डॉ. रामविलास शर्मा से अपनी बात पर दृढ़ रहने का साहस. इन सबके गुणों को लेकर नागरजी साहित्य के मैदान में निर्भय होकर कूद पड़े.

प्राकृतिक आपदा कोरोना के परिप्रेक्ष्य में 'महाकाल' की प्रासंगिकता :-नागरजी के उपन्यासों में सामाजिकता का जो स्वरूप उभरकर आता है, वह शोषणविहीन समाज की संरचना का है. अपने पहले उपन्यास 'महाकाल' में वे भूख से बिलबिलाती जनता के मुंह की रोटी छीनने वाले जमींदार और साहूकार की कुटिलताओं और उनकी दुष्टताओं को उजागर करते हैं. बंगाल में अकाल पर लिखा गया उनका यह उपन्यास उस समय की दयनीय स्थिति के साथ शोषणकारी शक्तियों की जन-विरोधी नीतियों को भी स्पष्ट करता है. अब तो यह स्पष्ट हो गया है कि बंगाल के अकाल के समय अनाज आदि जीवनोपयोगी वस्तुओं की उतनी कमी नहीं थी, जितनी कि जमींदार और साहूकार ने बना दी थी. कोरोना वायरस संक्रमण के कुछ इक्के-दुक्के मामले सबसे पहले चीन में सामने आए और उसके कुछ माह बाद ही देखते-देखते इसने वैश्विक महामारी का रूप धारण कर लिया. इस महामारी के कारण वैश्वीकृत दुनिया की एक दूसरे के साथ मजबूती से जुड़ी हुई प्रणालियां पूरी तरह से बदल गई है. इस वायरस के प्रकोप पर काबू करने के प्रयास के तौर पर अलग-अलग देशों की सरकारों ने आने-जाने तथा सामाजिक मेल-जोल पर बंदिशें लगा दी जिसके कारण दुनिया की ७.८ बिलियन की आबादी में से एक तिहाई से अधिक आबादी इस समय इस महामारी के कारण एक तरह से अपने घरों में बंद रहने को मजबूर है. कोरोना के दरिमियाँ भी यही हुआ एक ओर लौकडाउन तो दूसरी ओर दुकानदार ग्राहकों से दुगनी कीमत में वस्तु बेचने का घटियाँ काम कर रहे थे. वस्तु बेचने का यह सिलसिला गरीबों के जीवन को झकझोर देता है. जीवन जीने की अनिश्चितता मनुष्य प्रत्येक दिन पर अनुभव कर रहा था. ऐसे में व्यापारियों के द्वारा ऐसे व्यवहार करना गैर मानवीय था. एक तरफ नागर जी के उपन्यासों में उच्च वर्ग बहुत कम मात्रा में है. जहां गरीबी के कारणों और उनके नियामकों को जनता के सामने नंगा करने की स्थिति बनती है, वहां वे उच्च-वर्ग के पात्रों की क्षुद्र-वृत्ति का वर्णन करते हैं. इस वर्णन में उनकी घृणा भी सम्मिलित होती है. अपने उपन्यास 'महाकाल' में वे दयाल जमींदार और मोनाई महाजन को महाकाल के समय में भी दुष्टता करते दिखाते हैं और बताते हैं कि महाकाल के ईश्वरीय कारण जो भी रहे हों, लेकिन मानवी कारण भी कम नहीं है जो मोनाई और दयाल जैसे नर-पिशाचों की देन हैं. यह अकाल उतना प्रकृतिजन्य नहीं था, जितना मनुष्य-निर्मित. कोरोना के दरमियान ऐसा ही अनुभव मिला. जन्हा एक ओर मृत्यु से जूझने वाला सामान्य मनुष्य और दूसरी ओर इस समय का गैरजिम्मेदाराना फायदा उठानेवाले व्यापारी तथा वैद्यकीय क्षेत्र के गिनेचुने लोग. जब मजदूर, किसान, दलित वर्ग रोटी के लिए अपना ईमान धर्म तक ताक पर रखने के लिए विवश थे, तब व्यवसायी और सामंत अपनी तिजोरियां भरने में लगे हुए थे. बड़े बड़े शहरों में गरीबों के हाथ के लिए काम नहीं था. परिणाम लाखो लोगों ने एक समय का खाना खाकर गुजारा किया. कई लाख लोग एक शहर से दूसरे शहर को जाने के लिए गाडी न मिलने के कारण पैदल जा रहे थे. दुनिया में यह सब पहली बार हो रहा था. हमारा सामाजिक परिवेश कितना गंदा और लिललिजा है, इसमें खुलकर सांस लेना भी असंभव हो गया है. 'महाकाल' उपन्यास का पांचू गोपाल मुखर्जी मध्यवर्गीय पात्र है. इस उपन्यास के द्वारा नागरज ने महाकाल के समय समाज की स्थिति व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण और जीवन जीने की अदम्य इच्छा शक्ति को व्यापक फलक पर उभारा है.जो कोरोना आपदा के साथ प्रासंगिक दिखाई देता है. उपन्यास बंगाल के छोटे से गांव मोहनपुर की कथा कहता है, जिसमें ऐंग्लो बंगाली स्कूल का अध्यापक पांचू गोपाल मुखर्जी सारी विपत्तियों के बावजूद अपने परिवार का जैसे-तैसे भरण-पोषण कर रहा है, लेकिन एक दिन उसे लगता है कि अब वह अधिक दिन और इस नारकीय जीवन में नहीं रह सकता. इसलिए घर से भाग

जाता है. जंगल में उसे एक मृत महिला के वक्ष से जीवित बालक चिपटा दिखाई देता है. उसका मन एकदम बदल जाता है. उसमें जीवन के प्रति अदम्य लालसा उत्पन्न हो जाती है. वर्तमान समय के कोरोना ने भी हमें जीवन जीने के लिए प्रेरणा दी है ऐसा हम कह सकते है. वह निर्णय लेता है कि अब घर लौट चले. बच्चे को साथ लेकर अब वह इस बच्चे के लिए जियेगा. वह सोचता है- 'घर से भाग आना मेरी कायरता है. मैं अपने कर्त्तव्य से भाग आया, भूख शर्म की बात नहीं, सबको लगती है. अपनी पत्नी मंगला को बच्चे को देते हुए वह कहता है, जो होना था, वह हो गया. अब इसे संभालो, इसे बचाओ, इसे बचाने के लिए हम तुम जियेंगे. जंगल में मिला बच्चा पांचू गोपाल की जिजीविषा का कारण बनता है. उसे लगता है कि यह बच्चा जीवित रहेगा तो संतति का विकास होगा. संकट से जूझ-जूझकर हारे-थके, पलायन कर चुके पांचू के लिए जीवन-संघर्ष में लौट आना मायने रखता है. जिन स्थितियों में उसने पलायन किया था, वे स्थिति सिर्फ अपने वर्तमान के जीने तक की थीं, लेकिन लौटते समय की स्थितियों में उसकी चिंता भविष्य को जीवित रखने की है. हम सबको अपने-अपने घरों में बंद रखने वाला यह वायरस जो सरकार के साथ, बाहर की दुनिया के साथ और यहां तक कि एक दूसरे के साथ हमारे संबंधों को बदल रहा है हो सकता है कि यह महीनों तक रहे. आने वाले महीनों और सालों के दौरान हम जो परिवर्तन महसूस करेंगे उनसे हम अपरिचित हो सकते हैं और ये परिवर्तन हमारे लिए मुश्किल हो सकते हैं. क्या विभिन्न देश बंद रहेंगे? क्या स्पर्श वर्जित हो जाएगा? रेस्तरांओं और यात्राओं का क्या होगा? स्वास्थ्य क्लबों में किस व्यवहार का प्रदर्शन किया जाएगा? वैसे रेस्तरां स्थाई तौर पर बंद हो सकते हैं जहां लोग बैठकर खाना खाते हैं क्योंकि वहां कम संख्या में लोग जाएंगे. यह संभव है कि दुनिया भर में ऐसे रेस्तरां कम हो जाएं. पांचू की आस्था आदि सामाजिक जीवन में असंख्य बुराई होने के बाद भी उसमें परिवर्तन के प्रति विश्वास जगाती है. यही विशेषता इस उपन्यास को जिजीविषा से जोड़ती है और मध्यवर्ग की अदम्य जीवनेच्छा का प्रतीक बनती है.

आज इस बात को लेकर आम सहमति है कि अगले डेढ़ से दो साल तक पूरी दुनिया किसी न किसी रूप से संभवतः कोविड के तात्कालिक खतरे से ही जूझती रहेगी और उसके बाद भी पुनर्निर्माण और इसके स्थाई प्रभाव निःसंदेह कई वर्षों तक महसूस किए जाते रहेंगे. दुनिया के कई हिस्सों में, सीमाएं बंद हैं, हवाई अड्डे, होटल और व्यवसाय बंद हैं, और शैक्षणिक संस्थान बंद हैं. ये अभूतपूर्व उपाय कुछ समाजों के सामाजिक ताने-बाने को तोड़ रहे हैं और कई अर्थव्यवस्थाओं को बाधित कर रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर लोगों की नौकरियां छूट रही है और व्यापक पैमाने पर भूख की छाया बढ़ रही है.जैसे-जैसे यह महामारी दुनिया में बंद की स्थिति पैदा कर रही है वैसे-वैसे दो समान पहलू उभर रहे हैं. पहला तो यह कि यह सार्वजनिक स्वास्थ्य आपातकाल है जिसके दो साल तक जारी रहने की संभावना है. जब तक इसकी वैक्सीन विकसित नहीं होगी तब तक यह वायरस एक खतरा बना रहेगा क्योंकि अलग-अलग देश इस वायरस के नए संक्रमणों के चक्र पर काबू पाने के लिए संघर्ष करते रहेंगे और इस तरह से उनकी स्वास्थ्य प्रणालियों पर दवाब बना रहेगा. वैक्सीन के विकास, इसके उत्पादन और न्यायसंगत वितरण की बाधाओं को दूर करने के लिए सामूहिक प्रयास की भी आवश्यकता है. गहन चिकित्सा की आवश्यकता वाले तेजी से बढ़ रहे रोगियों का इलाज करने के लिए मास्क से लेकर वेंटिलेटर तक की जरूरी सामानों के उत्पादन एवं उनकी आपूर्ति के लिए अंतर्राष्ट्रीय आपूर्ति श्रृंखलाओं को युद्ध स्तर पर तैयार रखा जाना चाहिए.

बहुत से लोग जब पीछे मुड़कर देखेंगे तो पाएंगे कि उनके जीवन की कई चीजें बदल गईं।हमारे जीवन में बहुत कुछ आदतन है और हमारी ये आदतें हमें काम करने में, हमारे परिवार की देखभाल करने में और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में काफी प्रभावी तरीके से मदद करती हैं. इस व्यवस्था को जब झटका लगता है तो हमारी आदतें बदलती हैं. लोगों के काम करने एवं आने-जाने के तौर-तरीके बदल जाते हैं, उनकी रोजमर्रे की दिनचर्या और उनके जीवन की लय बदल जाती है. उनके खाने-पीने और अपने परिवार के साथ संवाद करने के तरीके बदल जाते हैं. जब लोग चीजों को अलग तरीके से करने को मजबूर होते हैं तो नई आदतें जन्म लेने लगती हैं.

निष्कर्ष :-

निष्कर्षतः हम कह सकते है की प्राकृतिक आपदा कौनसी भी हो उसमें मनुष्य ही प्रभावित होता रहा है, चाहे महाकाल हो चाहे कोरोना मनुष्य ने अपने आपको प्रकृति के अनुरूप ढालने का काम किया है. महाकाल के पांचू का संघर्ष प्रकृति के साथ साथ दुकानदारो, व्यापारियों तथा पूंजीवादियों के साथ था परन्तु वर्तमान परिवेश में प्राकृतिक आपदा के साथ अनेक स्तरों पर मनुष्य लड़ रहा है. महाकाल का चित्रण आज के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक है. आखिरकार संघर्ष ही केंद्रबिंदु में है. संघर्ष करना मनुष्य का सदियों का प्राकृतिक गुण है. अमृतलालजी मनुष्य के कालजयी संघर्ष को चित्रित किया है. यद्यपि महाकाल यह उपन्यास आजादी के बाद कुछ ही वर्षो में लिखा गया हो लेकिन यह उपन्यास आज ही प्रासंगीक लगता है.

****

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. महाकाल : अमृतलाल नागर
2. हिंदी उपन्यास : डॉ.शिवनारायण श्रीवास्तव
3. आस्था और सौंदर्य : डॉ. रामविलास शर्मा
4. www.hindisahitya.com
5. www.gadyakosh.com
6. www.hindinotes.com
7. www.liturature inhindi.com

हिंदी कहानी में चर्चित वृद्ध समस्याएँ

डॉ. एन.लावण्या
सहायक प्राध्यापिका एवं विभागाध्यक्ष
एतिराज़ महिला महाविद्यालय चेन्नई - 600008 मो - 9551781799

कथाएं अपने समय को शब्द देते हैं,काल का प्रतिनिधित्व करती हैं। काल विशेष की समस्याएं कहानियों का विषय बनते हैं, कालान्तर में ये सामाजिक परिवर्तन का कारण बनतीं हैं जब किसी एक समस्या को लेकर कई लोग देखने लगते हैं तब विशेष विमर्श का नामकरण होता है। जैसे- दलित विमर्श,जनजातीय विमर्श, स्त्री विमर्श, विकलांग विमर्श आदि-आदि। परिणामस्वरूप उनकी स्थिति में व्यापक परिवर्तन परिलक्षित हुआ है। विश्व की लगभग आधी आबादी की विभिन्न समस्याओं ने समकालीन कथा साहित्य में अपना स्थान बनाया है। वृद्धजन की पहली समस्या है शारीरिक अक्षमता,उम्र बढ़ने के साथ इस मरणधर्मा देह की कार्य क्षमता घटती जाती है। यौवन काल की अपनी शक्तियों को याद करके उनका हृदय अंदर ही अंदर आकुल व्याकुल रहता है। हिंदी साहित्य में ऐसी बहुत सारे कहानियां है जो वृद्धावस्था की समस्याओं पर केंद्रित है। प्रस्तुत लेख में मैंने हिंदी कहानी साहित्य में चर्चित वृद्ध समस्याओं पर आधारित है।

बीज शब्द - वृद्ध अवस्था , समस्याएं , समकालीन कहानियां , तनाव ग्रस्त जीवन, परिवार से प्यार न पाना ,

एक मनुष्य के जीवन काल को चार अवस्थाओं में बाँट सकते हैं – शैशवावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था। वृद्ध जीवन के अतिरिक्त अन्य सभी अवस्था में वह अपना काम खुद कर सकता है और परिवार की भी देखभाल कर सकता है। इसलिए सभी लोग उन्हें भी पसन्द करते हैं और उनका आदर भी करते हैं। लेकिन वृद्धावस्था में पहुंचते ही मनुष्य को दूसरों की सहायता अनिवार्य होता है। ऐसी हालत में कुछ दिनों के बाद लोग उन्हें नफरत करते हैं। धीरे धीरे वह समाज से तथा परिवार से अन्य और अकेला बन जाता है। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका के अनुसार Old Age also called senescence in human beings, the final stage of the normal life span. इस अवस्था को मनुष्य जीवन का आखिरी पायदान कह सकते हैं। वार्धक्य में आते ही शारिरिक तथा मानसिक क्षमताएं विकट होने लगती हैं। वृद्धावस्था को एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे संपूर्ण शारीरिक क्षमताओं में उत्तरोत्तर कमी से आंका जाता है। दरअसल, हमारे समाज में बुढ़ापा जिसे आमतौर पर निष्क्रियता, शिथिलता की शारीरिक दशा समझ कर बहुत काम की चीज नहीं समझा जाता है। परंतु वे बचपन से लेकर जवानी तक के जीवनानुभवों का कोश होता है- ऐसा प्रकाश पुंज होता है, जिसके आलोक में युवा पीढ़ी अपने वर्तमान को संवारते हुए भविष्य का शृंगार कर सकती है। यही कारण रहा है कि प्राचीन और पाश्चात्य दोनों परंपराओं में वृद्ध या वृद्धावस्था के प्रति सम्मानजनक भाव रहा है। इतिहास और साहित्य, दोनों ही इस तथ्य के साक्षी हैं कि बूढ़े-बुजुर्गों के अनुभवों-परामर्शों से लाभ उठाने वाली युवा पीढ़ी ही नव-निर्माण कर पाती है, जबकि इसके विपरीत मार्ग पर चलने वाली युवा शक्ति विध्वंस की वीरानगी छोड़ जाती है। इसके प्रमाणस्वरूप हम 'महाभारत' और 'रामायण' की कथाओं को देख सकते हैं।

हमारे प्राचीन धार्मिक महाकाव्य महाभारत' में एक तरफ भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर जैसे तपे-तपाए, अनुभव-सिद्ध ज्ञानी, तत्वेता की जमात है, तो दूसरी तरफ जवानी की शक्ति और जोश से बरसाती पानी से उफनती नदियों की तरह दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण आदि जैसे युवकों की जमात। वृद्धों, बुजुर्गों की मंडली ने युवा कौरव मंडली को बहुत समझाया कि पांडवों से युद्ध करने में अहित ही अहित है, अहंकार में दुर्योधन और उसके सहायकों ने बुजुर्गों के परामर्श को ठेंगा दिखाते हुए अंतत: युद्ध का मार्ग अपनाया। परिणाम यह हुआ कि महाविनाश- न वृद्ध बचे, न जवान- बचे सिर्फ पांच भाई पांडव और बेशुमार विधवाओं का चहुंओर विलाप। यही नहीं, इच्छा मृत्यु का वरदान पाए हुए भीष्म पितामह का महत्त्व तब अधिक उत्कृष्ट रूप में उभरता है, जब वे मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए अपने अनुभवों के आधार पर युधिष्ठिर को नीति, शांति, अहिंसा, राजधर्म आदि के संबंध में उपयोगी उपदेश देते हैं, जिन्हें युधिष्ठिर पार्थ स्वरूप अंगीकार करते हुए अपने राजधर्म का निर्वाह करते हैं।

महाभारत के विपरीत 'रामायण' में हम देखते हैं कि राम ने वृद्ध पिता की आज्ञा का सम्मान करते हुए वनवास स्वीकार किया। ऐसा करके राम ने अपने परिवार को कलह और विघटन से बचाया, तो दूसरी तरफ अत्याचारियों का दमन कर सार्वजनिक हित के कार्य संपन्न किए। इसी रामकथा का एक पात्र श्रवण कुमार अपने वृद्ध माता -पिता की अनन्य सेवा करके आदर्श पुत्र का प्रतिमान रच गया। हमारे यहां की पौराणिक तथा लोक-कथाओं में ऋषि-मुनियों, साधु-संतों से संबंधित जो कथाएं मिलती हैं उनसे ज्ञात होता है कि उन सबने कठिन तपस्या, साधना करते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त किया था, जहां पहुंच कर वे लोक, समाज और राज्य के नियमन तथा संचालन हेतु नीतियों का प्रतिपादन करने में सक्षम हो पाते थे। तबके राजा या शासक उन ऋषि सेवित तपोवनों में जाकर उनसे राजधर्म, लोकधर्म के निमित्त नीति निर्देशक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर अपने राजकीय दायित्वों का निष्पादन करते थे। 'पंचतंत्र' की कहानियों से पता चलता है कि वृद्ध, अनुभवी विष्णु शर्मा ने अपने अनुभवों के आधार पर पशु-पक्षियों की कहानियों का वाचन कर राजा के मूढ़ राजकुमारों को बुद्धिमान और व्यवहार कुशल बना दिया ।भारतीय इतिहास यह भी बताता है कि वृद्ध चाणक्य के साथ मिल कर युवा चंद्रगुप्त ने स्वेच्छाचारी नंद के कुशासन का अंत कर दिया। सिद्धार्थ ने जीवन की चरितार्थता की खोज में अपनी जवानी खपा दी, तब जाकर वे 'बुद्ध' बन सके। बीसवीं सदी ने भी देखा कि कैसे लाठी टेक कर चलने वाले बूढ़े महात्मा गांधी के नेतृत्व में संगठित होकर पूरे देश ने अहिंसा के मार्ग को अपनाकर पराधीनता के जुए को उतार फेंका। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि अब तक का मानव-विकास बुढ़ापे से प्राप्त पाथेय-पोषण का ही परिणाम है- इस सत्य को नकारने वाली युवा शक्ति आत्मघाती दिशा में ही प्रयाण कर सकती है।

दरअसल, देखा जाए तो वृद्ध और युवा, जिसे पुराना और नया भी कह सकते हैं, के बीच जो संबंध रहा है वह परस्पर संवाद का रहा है। वृद्धावस्था को परंपरा और युवावस्था को प्रगति मानें तो परंपरा से सकारात्मक पाथेय ग्रहण करके ही प्रगति सही दिशा प्राप्त करती है। युवा या नए के जोश में पुराने को पूरी तरह नकारना तात्कालिक दृष्टि से राजनीतिक-सामाजिक आंदोलनों में कुछ हद तक अपेक्षित हो सकता है, पर साहित्य के क्षेत्र में वह वांछनीय नहीं होता। साहित्य में वृद्ध और युवा या फिर पुराने-नए का जो परिदृश्य होता है वह आमने-सामने अवस्थित दो विरोधी शिविरों के बजाय पूर्वापर संबंधों के सह-अस्तित्व का होता है। नया रचने के उपक्रम में युवा या नए रचनाकार पुराने अनुभवों का पुन: सृजन करते हैं, बदलते युग-संदर्भ में उन्हें नवीकृत करते हैं। बूढ़ों या पुराने के अनुभवों से बहुत कुछ श्रेष्ठ, सकारात्मक मूल्यों को आत्मसात करके प्रकट होने वाली

रचनाशीलता ही भविष्य की दीपशिखा प्रज्जवलित करने में सक्षम होती है। तभी तो अंग्रेजी की आधुनिक नई समीक्षा के पुरोधा टीएस इलियट भी होमर से लेकर वर्तमान तक चली आ रही परंपराओं में स्नात होने की बात करते हैं। जहां तक भारत की बात है, यहां पुरातनता या वृद्धावस्था का अनादर नहीं किया गया। तभी तो आज का भी भारतीय मानस और चित्त जितना आधुनिक युग में जीता है, उतना ही वह अपनी पूजा-उपासना की विधियों, विविध रीति-रिवाजों आदि के जरिए बहुत कुछ पुरातन काल से भी जीवंतता प्राप्त करता है और यह सब उसका दोष नहीं, खूबी है। पुरानी मसल है- 'पुराना चावल ही पथ्य के काम आता है।' गांवों में बुखार ग्रस्त व्यक्ति को बुखार उतरने पर सुपाच्य आहार के रूप में पुराने चावल का ही भात दिया जाता था और इस चावल को बड़े जतन से संभाल कर रखा जाता था। आज की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं, असीम इंद्रिय-सुख की चाहत से बीमार होती जा रही मानव-आत्माओं को वाल्मीकि-व्यास से लेकर अब तक के मानवतावादी साहित्य तथा वृद्ध समझे जाने वाले लोगों से नाता जोड़ कर ही नीरोग किया जा सकता है। साथ ही आज के वृद्धों का दायित्व बनता है कि वे अपने अनुभवों के उजाले से युवा-पीढ़ी का प्रगति-पथ आलोकित करें।

जीवन सुरक्षा और संरक्षण पाने और देने के प्रयासों में बीत जाता है और सांध्य बेला में आकर हम पाते हैं कि सब कुछ बंद मुट्ठियों से फिसल चुका है। यह प्रावधान भी है, नियम भी और नियति भी। बुढ़ापा जीवन की प्रत्येक उत्पाद्य शक्ति सोख लेता है। भारतीय धर्म और दर्शन (मनुस्मृति) संन्यास और वानप्रस्थ के भूमंडलीकरण को जब महत्व देता है, तो सारी आचार संहिता स्पष्ट हो जाती है। जिंदगी भर मरते-खपते रहो, कमाते-जोड़ते रहो, संजोते- बनाते रहो, दूसरों के लिए हर पल क्रियाशील रहो और जीवन के अंतिम दिनों में इंद्रियों के दुर्बल और निष्क्रिय पड़ जाने पर जंगलों में ठेल दिए जाओ। निःसंदेह दीर्घ जीवन दीर्घ अभिशाप का ही पर्याय है।

हिन्दी कहानी में वृद्धों की समस्याओं को अनेक परिप्रेक्ष्यों में चित्रित किया गया है। परिवार में वृद्ध/वृद्धाओं की अवमूल्यित स्थिति का चित्रण अनेक संदर्भों में मिलता है। वृद्धों की जायदाद हड़पने का रिवाज इस देश में नया नहीं है। इस विसंगति पर कहानी यात्रा के आरम्भिक दिनों में कई कहानियों में वृद्धों की समस्या को निरूपित किया गया है। प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी' की वृद्धा के लिए जिव्हा स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी ।समस्त इंद्रिया- नेत्र , हाथ और पैर जवाब दे चुके थे ।पृथ्वी पर पड़ी रहती थीं ।घरवाले उनके खाने – पीने के समय का ध्यान नहीं रखते थे।और चीजों के प्रति वे उतना आकर्षण या तीव्रता नहीं जताती थी। मगर भोजन का समय टल जाता या उसका पूर्ण न होता अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो ये रोने लगती। उनका रोना – सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़ – फाड़कर रोती थी । बूढ़ी काकी कहानी के बुद्धिराम और रूपा का विचार है कि बूढ़ी काकी का काम ही उत्पात मचाना है। समस्या न काकी के स्वास्थ्य की है, न उसके पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन की, समस्या उसकी स्वादेंद्रिय की है। इस समस्या का जन्म उसी दिन हो गया था, जिस दिन इस अमीर विधवा बुढ़िया ने बेटों की मृत्यु के बाद सारी जायदाद भतीजे बुद्धिराम के नाम लिख दी थी।

संपत्ति हस्तांणतरणोंपरान्त मूल जैविक जरूरतें यानी भोजन भी समस्या बन जाता है। वे फालतू तो हैं ही, उनसे पागलों सा व्यवहार भी किया जाता है। बेटा बहू अपमानित करते हैं और बच्चे चुटकियां काटते हैं, उन पर पानी की कुल्ली कर देते हैं। काकी सिर्फ गालियां दे सकती है, कृपाण सी जिह्वा चला सकती है या आर्त्तनाद कर सकती है, बिलख-बिलख कर रो सकती है। काकी की संपत्ति हड़प कर उसी से घर में पोते का तिलक समारोह हो सकता है, शहनाइयां बज सकती हैं, भाट विरदावलियां गा सकते हैं, मेहमानों की सेवा एवं आव-भगत के लिए नाई बुलाए जा सकते हैं, हलवाइयों से तरह-तरह के पकवान एवं पूरियां बनवाई जा सकती हैं। भूखे कुत्ते की तरह काकी पोते के संस्कार समारोह में हलवाई के पास क्या आ बैठती है कि बहू भरी सभा में अपमानित करती है। बुद्धिराम घसीटते हुए कोठरी में पटक आता है। कारण- 'जिसकी कोठी दाने उसके कमले (मंदबुद्धि) भी सयाने।` इसी कारण यह क्षुधातुर, हतज्ञान बुढ़िया कूड़े से जूठन बीन कर खाने को अभिशप्त है। प्रेमचन्द ने भी बार-बार बूढ़ी काकी की स्वादेंद्रिय की बात कर उसके साथ न्याय नहीं किया। जैसे- बुढ़ापा तृष्णारोग का अंतिम समय है, जब सम्पूर्ण इच्छाएं एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं।

संपूर्ण परिवार मे यदि काकी से किसी को अनुराग था तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाड़ली थी ।लाड़ली अपने दोनों भाइयों के भय से अपने हिस्से की मिठाई – चबैना बूढ़ी काकी के पास बैठकर खाया करती थी।यही उसका रक्षागार था।कई बार काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महंगी पड़ती थी , तथापि भाइयों के अन्याय से सुरक्षा कहीं सुलभ थी तो बस यहीं ।इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों में सहानुभूति का आरोपण कर दिया था । वैसे भी बच्चे अपने बुजुर्ग अर्थात नाना – नानी , दादा – दादी ,या अन्य कोई बुजुर्ग जो उनके प्यार का, दैनिक प्रवृत्तियों का तथा उनके खेल का सहभागी हो , उन्हें बहुत प्रिय होता है और अन्य किसी के अधिकार से पहले वे उनपर अपना अधिकार समझते है तथा उससे बहुत प्यार करते है।

बुजुर्गों और बच्चों की अक्सर आपस में खूब बनती है। मां-बाप के कटु अनुशासन और बड़े भाई-बहनों की मारपीट से छुटकारा दादा-दादी, नाना-नानी ही दिलाते हैं। वे बच्चों के लिए मित्र और सलाहकार की भूमिका निभाते हैं। बुजुर्ग बच्चों को शिष्टाचार, धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों से परिचित कराते हैं। उन्हें पारिवारिक इतिहास से अवगत कराते हैं। उनके मानसिक विकास में सहायक बनते हैं और हमारे प्रवासी भारतीय बच्चों को इसकी बहुत जरूरत है।

भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' कहानी की वृद्धा शामनाथ की माँ है ।शामनाथ अपनी तरक्की के लिए माँ को जरिया बनाता है । माँ वृद्ध हें बाल बिखरे है, आँखों से धुंधला दिखाई देता है, कानों से सुनाई नहीं देता । रात – दिन माला जपती रहती है और प्रभु के नाम का रटन करती है। तीर्थ यात्रा पर जाने की इच्छुक माँ मन की अभिलाषा व्यक्त नहीं कर पाती है ।.बेटे की तरक्की के लिए लोकगीत गाकर चीफ को खुश करती है। फुलकारी के काम में निपुण माँ ,आँखों से कम दिखाई देने पर भी बेटे की तरक्की के लिए चीफ को फुलकारी बना देने के लिए तैयार हो जाती है ।.आज मनुष्य बहुत स्वार्थी हो गया है।. समर्थ होने पर भी बूढ़े माँ – बाप उसे बोझ लगते है। पाश्चात्य सभ्यता की अंधी दौड़ में वह अपने कर्तव्य और संस्कारों को भूलता जा रहा है। जो माँ शामनाथ को हीन,तुच्छ और हँसी का पात्र प्रतीत होती थी, जिसको व्यवहार कुशलता और आधुनिकता का ज्ञान नहीं था। वही माँ अंत में चीफ की दावत में चार चाँद लगा देती है और उसकी फुलकारी ही उसकी पदोन्नति का रास्ता खोल देती है. मन्नू भंडारी की 'अकेली' कहानी की सोमा बुआ अकेली है, वृद्ध है।पति छोड़कर चले गए है । पुत्र की मौत और पति के हरिद्वार चले जाने के पश्चात सोमा बुआ अकेली रह जाती है। उनके पति वर्ष के ग्यारह महीने हरिद्वार में और सिर्फ एक महीना अपने घर में बीतता था। इस एक महीने में वे बुआ से दो मीठे बोल भी नहीं बोलते थे । इसके बजाय उन्हें अलग – अलग कारणों से दिन भर डांटते रहते थे। अतः वह अपने आपको समाज को सौंप देती है अर्थात सामाजिक कामों में अपना मन रमा लेती है।पति के न होने पर बुआ आस - पड़ोस के लोगों के भरोसे अपना समय काट लेती थी। किसी के घर कोई भी कार्य वे करती,उनकी रोक – टोक पर वे कहतीं :– 'इन्हें तो नाते – रिश्तेवालों से कुछ लेना – देना है नहीं ,पर मुझे तो सबसे निभाना पड़ता है .' हमारे समाज में सोमा बुआ जैसी वृद्ध

महिला भी है जो अपने तनाव भरे जीवन से परे होकर सामाजिक जीवन की ओर अग्रसर होती है।

उषा प्रियंवदा की वापसी वृद्ध पुरुषों का दर्द प्रस्तुत करने वाली प्रथम सशक्त कहानी है। पैंतीस साल परिवार का पोषण करने वाले, स्वयं छोटे-छोटे स्टेशनों पर रहकर उनके लिए शहर में हर सुविधा जुटाने वाले गजाधर बाबू को रिटायरमेंट के बाद कमाने वाले पुत्र से लेकर पढ़ने वाले पुत्र तक, बेटी से लेकर बहू तक, यहाँ तक कि पत्नी भी परिवार का हिस्सा मानने से इनकार कर देती है। उनके आने से हंसते-खेलते परिवार में शोक की लहर सी दौड़ जाती है। उनके लिए न घर में जगह है, न दिलों में। रोक-टोक तो बर्दाश्त से बाहर है। बड़े बेटे अमर का सिहांसन हिल जाता है। कहता है- बूढ़े आदमी हैं, चुपचाप पड़े रहें, हर चीज मे दखल क्यों देते हैं।वह अलग होने की सोचता है। नरेन्द्र पढ़ाई की दुहाई देता है। बसंती मुंह लपेटे पड़ी रहती है। पत्नी के पास सिर्फ शिकायतें हैं। इतना फालतूपन, इतनी असंगति, इतना व्यर्थता बोध-मानो कल तक धनोपार्जन का आधार गजाधर बाबू फालतू सामान में बदल जाते हैं। उनकी स्थिति की प्रतीक उनकी चारपाई है, जो कभी ड्राईंग रूम और कभी रजाइयों, अचार के मर्तबानों के बीच पहुंच जाती है। बाजारवादी, उपयोगितावादी सोच ने रिश्तों का कायाकल्प कर दिया है। चन्द्रकिशोर जायसवाल की मानबोध बाबू में गाड़ी में मिले दो बुजुर्ग यात्रियों के संदर्भ में वृद्धों की पारिवारिक - सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। जायदाद वाले वृद्ध अगर गांव में रहें तो वहाँ जीवन की मूलभूत जरूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं। सब बेचकर बेटों के पास महानगरों में चले आए तो सारी राशि उनकी हथेली पर रखनी होगी। यदि ऐसा नहीं करते तो उन्हें घाटी बाप, पापी बाप, कठ बाप कहा जाएगा। बीच बाजार में अगर कोई गिरकर बेहोश हो जाए तो कोई अस्पताल पहुँचाने वाला तक नहीं मिलेगा।

बुजुर्ग पेड़ भले ही फल न दे, उसका साया तो रहता ही है। सुषम बेदी की झाड़ में अमेरिका में जन्मे सात वर्षीय समीर को भारतीयता से अवगत कराने, अमेरिका में रहकर भी भारतीय जीवन से थोड़ा बहुत परिचित कराने, घरेलू जीवन के स्नेह-ममत्व से सराबोर करने के लिए उसकी मम्मी अन्विता समीर की नानी मालती सक्सेना को भारत से बुलाती है। लेकिन इस बच्चे को नानी से कहीं अधिक सुविधाजनक बेबी सिटर लगती है। उसके पास दिल लगाने के लिए टी० वी० है, वी० डी० ओ० गेम्ज़ हैं, बेसबाल, फुटबाल, बास्केटबाल की गेम्ज़ हैं, खाने के लिए फास्ट फूड है, कंपनी के लिए बेबी सिटर है। उसके लिए नानी दूसरी दुनिया की चीज़ है। उसे न उसके बनाए खाने में रुचि है, न उसकी ड्रेस सेंस जँचती है, न रोक-टोक, न स्नेह के आवेग-क्योंकि वह कहीं से भी नानी की तरह इमोशनल या कमजोर नहीं है। सात समंदर पार से नानी का आना नानी को भावुक कर सकता है, दौहित्र तो मात्र नानी को झेल रहा है।

सुषम बेदी की गुनाहगार की रत्ना पूरे परिवार के जोर देने पर भी इस गुनाह के लिए अपने को तैयार नहीं कर पाती। उसे अकेलापन मंजूर है, लेकिन अमरीक सिंह दीप की तीर्थाटन की बेटों, बेटियों, नाती-नातिनों वाली तिरपन-चौवन वर्षीय विधवा सुदेश पर पुरुष के साथ वृन्दावन तीर्थाटन के लिए क्या जाती है कि बेटे साँपों की तरह फुंफकारने लगते हैं। घर की एक-एक ईंट गुस्से में बेहया, कुलटा, कुलच्छिनी चीखने लगती है। एक ही गूँज अनुगूँज बन जाती है-मार डालो, काट डालो, फूँक डालो। कहते हैं कि वृद्धों को सुबह-शाम सैर करनी चाहिए। पुस्तकें-पत्रिकाएं पढ़नी चाहिए। बागवानी में रुचि रखनी चाहिए। संगीत या कम्प्यूटर से मन बहलाना चाहिए, लेकिन इस देश में बेटों वाली विधवा को अपने ढंग से जीने का कोई अधिकार नहीं। क्योंकि बेटों को बुढ़िया, बीमार, पुरखिन, संजीदा, झुर्रियोंदार चेहरे वाली माँ चाहिए। सफेद, बुझे, धूमिल रंगों की साड़ियां पहनने वाली, घंटों पूजा-अर्चना करने वाली, तीज त्योहार पर व्रत रखने वाली, मंदिर में प्रवचन सुनने वाली, मृत्यु को अपनी प्रिय सहेली समझने वाली बुढ़िया माँ चाहिए। उन्हें न मार्निंग वॉक पर जाने वाली, न योगा करने वाली, न जगजीत-चित्रा, नुसरत फ़तेह अली खान की स्वर लहरियां सुनने वाली माँ चाहिए और न रामायण में पुरुष मित्र के पत्र संभालकर रखने वाली माँ चाहिए। बेटे बहुएं यह सब पता चलते ही म्यान से निकली वह तलवार बन जाते हैं, जो खून पीकर ही वापिस म्यान में जाती है। वृन्दावन गई जीती जागती मम्मी का दाह संस्कार कर दिया जाता है। छत के ठीक बीचों-बीच मम्मी की सारी किताबें, पत्रिकाएं, इश्किया कैसेट्स, डायरी, प्रेमपत्र, कविताएं, ग्रीटिंग्ज इकट्ठी करके उन्हें मुखाग्नि दी जाती है हो। ममी की अशोक वाटिका उजाड़ी जाती है। सारे फूल नोच डाले जाते हैं, पौधे उखाड़ फेंके जाते है, गमले तोड़ दिए जाते हैं। वृद्धा/प्रौढ़ा और वह भी बेटों वाली-अमरीक सिंह दीप स्पष्ट करते हैं कि वह अपने लिए कोई पल जी ले यह बेटे-बहुओं को पचेगा नहीं।

मनीषा कुलश्रेष्ठ की प्रेत कामना में मुंबई के समुद्र के तट पर बने तीन कमरों के बड़े फ्लैट में रिटायर्ड विधुर पिता टूटी दीवार से झरते सीमेंट सा भुरभुरा जीवन व्यतीत कर रहे हैं और बेटा महीनों बाद कभी खबर लेने आ जाता है। कभी वे जे० एन० यू० में एंथ्रोपोलॉजी के विभागाध्यक्ष थे। विदेश के चक्कर लगाते रहते थे और अणिमा जैसी शोधार्थी उनके विद्वता के कारण उन पर मरती थी। आज बेटा इसी शहर में अलग रहता है। बेटी कलकत्ता में है। पत्नी की मृत्यु हो चुकी है। उनके ईद-गिर्द न समाज है, न परिवार, न प्रतिष्ठा। ऐसे में अमेरिका से प्रवासी सप्ताह के लिए पुरानी छात्रा अणिमा लौटती है और डॉ० पंत के प्रेत जीवन में कामनाएं ऐसे लहराती हैं कि दोनों में शारीरिक संबंध कायम हो जाता है। पापा की इस नई दुनिया को देख बेटे के पैर दस-दस मन के भारी हो जाते हैं। सारी श्रद्धा, प्यार और मोह निथर आते हैं।

संबंधगत अकेलापन वृद्धों को गोद-गोद कर खा रहा है। कृष्णा अग्निहोत्री की यह क्या जगह है दोस्तो की संगीतकार ऋतु के पास न पति है, न प्रेमी, न बच्चे। यह औरत प्रेमी की अय्याशियों को ढोती रही है। पति की मृत्यु के बाद बच्चे उसके मूवी या टी० वी० देखने, संगीत सुनने या रियाज करने, रेडियो प्रोग्राम देने या फोन करने, किसी शादी-विवाह में जाने तक पर पाबंदी लगा देते हैं। यहाँ तक कि उसे साज बेच कम्प्यूटर खरीदने के लिए कहा जाता है।

एक रिपोर्ट के अनुसार एक रिटायर्ड बूढ़ा आदमी सप्ताह में ९१ घंटे और एक बूढ़ी औरत ७२ घण्टे खाली रहती है। यह समय बिताना वृद्धों के लिए समस्या है। भारतीय स्त्री तो घरेलू कामकाज में अपने को व्यस्त रखने के ढंग जानती है, ज्यादा समस्या पुरुषों के लिए है। सुषम बेदी की नाते में वर्षों पहले बेटा राज अमेरिका में जाकर सेटल हो गया था। धीरे-धीरे दोनों भाइयों को भी उसने बुला लिया। उसका लांग आईलैंड के हरे भरे इलाके में पाँच बेडरूम वाला दो एकड़ का घर है। जब-जब राज माला इंडिया आते हैं, नाते रिश्ते के सारे लोग माँ-बाप को ले जाने पर जोर देते हैं। अमेरिका में रह रही माला को भी लगता है कि बच्चों के पास दादा-दादी होने ही चाहिए। वे पहले माँ और फिर पिता को ले जाते हैं। माँ बहू के साथ छोटी मोटी झड़पें हो जाने के बावजूद वहां खुश हैं। वह बेटे, बहू, बच्चों के साथ ही रहना चाहती है। चंडीगढ़ की कोठी बेचने या किराए पर चढ़ने का सोचती है। जबकि ६७ वर्षीय अड़ियल पिता अनुकूल न कर पाने के कारण भारत लौट आते है। आज भले ही विश्व जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा बूढ़ों ने घेर लिया हो। सबसे वृद्ध का नाम गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड में लिखा जा रहा हो, परिवारों में वृद्ध त्रासद जीवन ही जी रहे हैं। ७० से १०० वर्ष के बुजुर्गों पर बर्लिन एजिंग स्टडी की एक रिसर्च के अनुसार आंकड़े कहते हैं कि १५ : वृद्धों में जीवन के प्रति उदासीनता और थकावट है। आधुनिक दौर संतानों की अपेक्षाओं और वृद्धों की उपेक्षाओं का दौर है। भारतीय संस्कृति की

पाश्चात्य संस्कृति से मुठभेड़ है ।यह देश राम और श्रवणकुमारों का रहा है ।मगर वर्तमान में व्यक्तिवादी सोच के बढ़ने के कारण भारतीय वृद्ध परिवार हाशिये पर है । युवाओं में भारतीय संस्कारों का अभाव है । परम्पराओं को दक़ियानूसी मानकर कथित आधुनिकता की दौड़ में माता – पिता को घर से बाहर का रास्ता दिखाने से ये नहीं चूकते । नई पीढ़ी पाश्चात्य दिखावे की शिकार होने के कारण बुरी तरह भटक रही है। इस दौर में जब मूल्यों पर व्यक्तिवादिता और दिखावा हावी हो चला है तब वृद्धों के लिए क्या वृद्धाश्रम ही अंतिम शरण स्थली है ?

मनुष्य यह सोचता नहीं कि हरेक व्यक्ति बूढा बन जाता है और उन्हें विविध समस्याओं को भोगना पड़ता है। इस अवस्था में सभी शारीरिक विकारों पर काबू पाना आवश्यक है। आहार और व्यायाम में कुछ ध्यान दें तो, एक हद तक इन कमजोरियों को दूर कर सकता है। एक समय में पूरा भोजन लेने के बजाय दिन में कई बार थोड़ा-थोड़ा खाना खाये तो अच्छा ही होगा। उसे मांस, मछली तथा तली हुई वस्तुओं के बजाय फल, खरी सब्जियाँ, खनिजों युक्त आहार को भी खाना है। शरीर को तंदुरुस्त रखने के लिए व्यायाम करना बहुत आवश्यक है। अपनी क्षमता और शारीरिक शक्ति के अनुसार विविध प्रकार के व्यायाम है जो रोगों को एक हद तक मुक्त करता है। आधुनिक पीढ़ी के लोगों को सिर्फ धन या अपना कामों में ध्यान देते वक्त कुछ समय इन वृद्धजनों की ओर भी मन लगाये तो ये उनके लिए बहुत ही शांति तथा सांत्वना की बात होगी।

****

संदर्भ ग्रंथ :-

1. समकालीन हिंदी कहानी में मानवीय संसक्ति – रवि रंजन
2. मानसरोवर—पृष्ट ५५ , प्रेमचंद सरस्वती प्रेस , इलाहाबाद
3. प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियाँ – इंद्रनाथ मदान हिंदी पाकेट बुक्स
4. भीष्म साहनी – प्रतिनिधि कहानियाँ राजकमल प्रकाशन
5. प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियाँ – इंद्रनाथ मदान हिंदी पाकेट बुक्स
6. वापसी उषा प्रियंवदा भारत दर्शन हिंदी साहित्यिक पत्रिका
7. झाड़ - सुषम बेदी , सुषम बेदी की यादगारी कहानियाँ— पेंगुइन बुक्स इंडिया
8. वृद्ध विमर्श : परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व कमलानंद झा
9. वृद्धावस्था विमर्श और हिंदी कहानी – शिवकुमार शौरिया – अद्वैत प्रकाशन
10. साहित्येतिहास में वृद्ध विमर्श, शिवचंद्र सिंह – दिशा इंटर्नैशनल बुक हाउस

पत्रकारिता के बदलते आयाम:एक दृष्टि

प्रो. दिनेश कुशवाह
शोध निर्देशक हिन्दी विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय
रीवा (म.प्र.)

अमित कुमार गौतम
शोध–छात्र
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय
रीवा (म.प्र.)

किसी भी लेख आलेख को पढ़ने से पहले उसका जो शीर्षक है उसके अर्थ को जानना बहुत महत्वपूर्ण है तो चलिए बात करते हैं कि पत्रकारिता के बदलते आयाम से क्या तात्पर्य है? सर्वप्रथम पत्रकारिता की शाब्दिक अर्थ की बात करते हैं अंग्रेजी में पत्रकारिता के लिए एक शब्द प्रयोग किया जाता है जिसे जर्नलिज्म कहते हैं जोकि शब्द जर्नल का विस्तारित रूप है। सामान्यतः जनरल का अर्थ सामान्य से लगाया जाता है लेकिन यहां 'जर्नल' शब्द का अर्थ 'दैनिक' है जिसमें रोजमर्रा की घटनाओं का विवरण रहता है।

अब बात करते हैं आयाम की जिसका सीधा सा अर्थ विस्तार करना यह सीमा बढ़ाना होता है अर्थात जैसे पहले पत्रकारिता जो है मात्र पत्रों और अखबारों के माध्यम से की जाती थी आज वह संचार के माध्यम उसके विस्तारित रूप हैं। इसी संदर्भ में डॉक्टर खाडिलकर का कथन है "छपने वाले लेख समाचार तैयार करना ही पत्रकारी नहीं रह गई। आकर्षक शीर्षक देना, पृष्ठों का आकर्षक बना उठना, जल्दी से जल्दी समाचार देने की होड़, देश विदेश के प्रमुख उद्योग धंधों के विज्ञापन प्राप्त करने की चतुराई, सुंदर छपाई और पाठक के हाथ में सबसे जल्दी पत्र पहुंचा देने वाली त्वरा,ये सब पत्रकार कला के अंतर्गत आ गये।"[1]

पत्रकारिता एक व्यापक अवधारणा है जिसे लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ माना जाता है । पहले के समय में पत्रकारिता सूचनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने का कार्य करती थी। जैसे-जैसे मनुष्य के रहन सहन में बदलाव हुआ है वैसे ही पत्रकारिता का स्वरूप भी बदलता रहा है। एक सुई से लेकर बड़ी से बड़ी कार्यप्रणाली की सूचनाओं का संप्रेषण पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से ही किया जाता है। पहले के समय में संचार के साधनों की मात्रा नाम मात्र की थी जिसके वजह से पत्रकारिता का बोल बालाथा। वर्तमान समय की स्थिति है की जो कार्य पत्र पत्रिकाएं करती थी वह कार्य आज संचार के साधनों के माध्यम सेसंचालित होता है। समृद्ध जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अर्थ से प्रभावित होता है"[2]

पत्रकारिता कावैश्विक स्वरूप में उदय आर्थिक राजनीतिक और व्यापारिक गतिविधियों संदर्भ में हुआ होगा क्योंकि बिना अर्थ के सब व्यर्थ है ऐसा कहा जाता है। वैसे तो पत्रकारिता का इतिहास कई वर्ष पुराना है लेकिन पत्रकारिता की शुरुआत का जो दौर था वह व्यापारिक और राजनीतिक हुआ करता था। भारत में पत्रकारिता का स्वरूप लगभग विश्व की पत्रकारिता जैसा ही था अर्थात इसका आरंभ भी आर्थिक और व्यापारिक गतिविधियों के संदर्भ में शुरू हुआ था। भारत में पत्रकारिता की शुरुआत हिक्की के अखबार 'हिक्की गजट' अथवा 'कोलकाता जनरल एडवरटाईजर' के रूप में 29 जनवरी सन् 1780 ईस्वी में कोलकाता से हुआ। हिक्की ने अपने पत्र के उद्देश्यों के विषय में लिखा था" व्यापारिक साप्ताहिक सभी पार्टियों के लिए खुला है लेकिन किसी से प्रभावित नहीं है"। [3]हिक्की के इन शब्दों से स्पष्ट होता है की बंगाल गजट का जो देश था वह आर्थिक और व्यापारिक गतिविधियों की सूचना देना। वस्तुतः पत्रकारिता का जन्म सूचनाओं के आदान-प्रदान तथा समाज सुधार के लिए किया गया था लेकिन यह इनके अलावा भी कई गतिविधियों का पोषक बना।

समय के साथ पत्रकारिता के आयाम भी बदलते गएअंग्रेजों का जो व्यापारिक केंद्र था वह कोलकाता था। व्यापार के साथ-साथ उन्होंने भारत में पत्रकारिता की शुरुआत तो की लेकिन उस शुरुआत का सीधा अर्थ उनकी आर्थिक गतिविधियों को बढ़ाना था। अंग्रेजों द्वारा 'द कैपिटल'

जोकि एक आर्थिक पत्र था उसका प्रकाशन 1868 में कोलकाता से ही शुरू किया। इस पत्र के संपादक पैटलोवाट और जेकरी टायसन थे जिन्होंने निष्पक्ष रहते हुए इस अखबार को चलाया। समय के परिवर्तनशीलता के साथ-साथ पत्रकारिता भी परिवर्तनशील होती गई जैसे कि शुरू में ही चर्चा हुई है कि जो इसका स्वरूप था वह व्यापारिक आर्थिक तथा राजनीतिक था स्वरूप तो वैसा ही था लेकिन उस चीजों में बदलाव जरूर हुए।

अंग्रेजों द्वारा भारत में की गई पत्रकारिता के पहल का परिणाम यह हुआ कि यह उन पर ही भारी पड़ी क्योंकि उस समय के जो भी आंदोलनकारी और क्रांतिकारी थे उनकी गतिविधियों के आलेख पत्र पत्रिकाओं में छपने लगे। हिंदी का जो प्रथम पत्र प्रकाशित हुआ जिसका नाम था 'उदंतमार्तंड'। प्रकाशन 30 मई 1826 ईस्वी को हुआ। बर्के ने प्रेस को चौथे राज्य की संज्ञा दी। अरुण पुरी पत्रकारिता को इतिहास का प्रथम राष्ट्र मानते हैं। पत्रकारिता के निहितार्थ अशोक भाटिया लिखते हैं "संसद और पुलिस को लोकतांत्रिक सरकारों के मुख्य अंग माना गया है संसद के तो निश्चित तिथियों पर अधिवेशन होते हैं जबकि प्रेस निरंतर गतिमान संसद है पत्रकारिता समाज के मूल्यों का निर्धारण या परिवर्तन भले ही ना कर सके किंतु विभिन्न मुद्दों पर जनता की राय को बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह अवश्य करती है।"[4] इन शब्दों से पत्रकारिता का जो अर्थ चरितार्थ होता है वह है कि यह व्यापारिक आर्थिक गतिविधियों के साथ-साथ लोकतांत्रिक मूल्यों में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। भारत में पत्रकारिता के प्रारंभ से ही उसमें जो क्रांति आई शायद ही किसी देश में आई हो वह पत्रकारिता जो कभी अंग्रेजों के क्रियाकलापों का और उद्देश्यों का कार्य पूर्ण करती थी वह भारत के स्वतंत्र राष्ट्र बनने तक के सफर में अपना अभिन्न योगदान देकरसत्यापित किया कि वह लोकतंत्र का पांचवा स्तंभ है। पत्रकारिता के आयाम समय अनुसार परिवर्तित होते रहे। पत्रकारिता ने समाज के उन सभी मुद्दों में अपना गहरा योगदान दिया जो समाज से अछूते अथवा अनभिज्ञ थे। राजनीतिक कूटनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक सभी क्रियाकलापों का जो भी विज्ञापन लोगों तक पहुंचाना होता है उसका माध्यम पत्रकारिता के अलावाजन संचार के माध्यमरेडियो, टेलीविज़न, इंटरनेट आदि हो गए हैं। पत्रकारिता का एक और पहलू जिसका नाम व्याख्यात्मक पत्रकारिता है उस के माध्यम से पहले तो संवाददाता यहां से वहां सीधे ही उस समाचार का प्रसारण करते थे आजकल स्टूडियो में बैठकर उस समाचार का व्यवस्थित व्याख्यात्मक एक पूरा ब्योरा लोगों तक पहुंचाया जाता है ताकि उससे संबंधित समस्त जानकारियां जो उनसे अछूते हैं उन तक पहुंच जाए। इसी के निहितार्थ एक कथन है कि "पत्रकारिता अभिव्यक्ति की एक मनोरम कला है। इसका कार्य जनता तथा जन नेताओं के समक्ष लोक कल्याण संबंधी कार्यों की सूची प्रस्तुत करना है।"

यह प्रसिद्ध पंक्ति है कि 'जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि' इसमें एक शब्द और जोड़ दें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 'जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि पहुंचाए पत्रकारिता।'

पत्रकारिता जैसा देश वैसा भेष के आधार पर कार्य करती है। क्योंकि बहुत सारे ऐसे मुद्दे हैं जिनमें लोगों का ध्यान कम ही जाता था जैसे स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, किन्नर विमर्श आदि । पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इन सब विषयों पर लिखा जाने लगा वह लोगों तक पहुंचा और लोगों द्वारा पढ़ा जाने लगा साथ ही साथ उसका जो निहितार्थ है वह है सफल हुआ। एक ओर जहां हम पत्रकारिता को धन्यवाद देते हैं वहीं दूसरी ओर इसकी आलोचना भी करनी चाहिए क्योंकि पत्रकारिता ही एक ऐसा माध्यम है जो लोग कल्याण और विकास पर आधारित था लेकिन आज के इस वैश्विक दौर में पत्रकारिता एकसाध्य के रूप में प्रयोग की जाने लगी जबकि इसका प्रयोग साधन के रूप में किया जाता था। जहां इसका कार्य लोगों को जागरूक करना था वही आज यही एक व्यापार के माध्यम की तरह प्रयोग की जाने लगी है। आज किस वर्तमान समय में ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जिसका संचालन और निष्पादन बिना पत्रकारिता के संभव हो। पत्रकारिता एक रीढ़ की तरह है जिस तरह अगर आपके शरीर में कोई भी एक अंग ना हो तब भी आप गुजर बसर कर सकते हैं लेकिन बगैर रीढ़ की हड्डी आप बेजान और विवश इसी प्रकार इस समाज में पत्रकारिता और संचार माध्यम हो गए हैं जिनके बगैर आप कोई भी कार करने में समर्थ नहीं महसूस करेंगे।जन संचार के जितने भी माध्यम हैं वह सब पत्रकारिता के अभिन्न अंग है जिनके माध्यम से ही पत्रकारिता का कार्य संभव हो पाता है।रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर के अनुसार "ज्ञान और विचार शब्द तथा चित्र के रूप में दूसरे तक पहुंचाना पत्रकारिता है।"[6] इसी संदर्भ में डॉक्टर भँवर सुराणा कहते हैं "पत्रकारिता वह धर्म है जिसका संबंध पत्रकार के उस कर्म से है जिससे वह तत्कालीन घटना व समस्याओं का सबसे अधिक सही और निबंध निष्पक्ष निवारण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करें और जनमत जागृत करने का संधि करें।"[7] इस प्रकार पत्रकारिता के आयामों में समय–समय में बदलाव होते रहते हैं। कभी पत्रकारिता आपको राजनीतिक लगेगी, कभी आर्थिक लगेगी तो, कभी व्यापारिक लगेगी तो, कभी धार्मिक लगेगी। इसका स्वरूप तथा आयाम समय व परिवेश के आधार पर बदलते रहते हैं। पत्रकारिता में आपको सर्व जगत समाचार प्राप्त होते हैं जैसे विज्ञान के क्षेत्र में कोई अनुसंधान हुआ या चिकित्सा के क्षेत्र में कोई खोज। खेल की बात करें तोखो–खो कबड्डी से लेकर क्रिकेट, फुटबॉल, वॉलीबॉल, हैंडबॉल बास्केटबॉल आदि खेलों का विवरण आपको पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही मिलता है जो पत्रकारिता के ही प्रमुख स्तंभ माने जाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र की बात करें तो पढ़ाई लिखाई से लेकर जो सरकारी नौकरियों का विज्ञापन है वह भी पत्रकारिता के माध्यम से लोगों तक पहुंचाया जाता है। साथ ही साथ कृषि संबंधी जो भी जानकारियां हैं वह भी किसान भाइयों तकश्रव्य और दृश्य संचार माध्यमों के द्वारापहुंचायीजाती है। कोई भी सरकारी पैगाम शहर से लेकर गांव तक पत्रकारिता के माध्यम से ही सुचारु रूप से हो पाता है। उसने सरकारी योजनाओं से लेकर निर्देशों तक का जो भी ब्योरा है वह लोगों तक पहुंचाने का प्रयास किया जाताहै। कुल मिलाकर पत्रकारिता बहुआयामी गुणों से सराबोर लोक तंत्र का मजबूत स्तंभ है।

इस प्रकार पत्रकारिता के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि एक तरफ लोकतंत्र का बहुत बड़ा हिस्सा है तो दूसरी तरफ इसमें दोष भी हैं। यह कहना गलत नहीं होगा की जहां पत्रकारिता पहले लोगों के हितों की बात करती थी आज व्यापारिक हो गई है। पहले पत्रकारिता में बाजार हुआ करते थे आज बाजार में पत्रकारिता है।

****

संदर्भ:

1. श्री रा.र.खाडिलकर: आधुनिक पत्रकार कला, पृष्ठ- 2
2. संपूर्ण पत्रकारिता, अर्जुन तिवारी, पृष्ठ- 13
3. संपूर्ण पत्रकारिता, अर्जुन तिवारी, पृष्ठ –13
4. हिंदी पत्रकारिता विकास और विविध आयाम, श्रीमती सुशीला जोशी, पृष्ठ संख्या –1
5. न्यू वेबस्टर डिक्शनरी (संपूर्ण पत्रकारिता अर्जुन तिवारी पृष्ठ संख्या –5)
6. पत्रकारिता के विविध परिदृश्य, संजीव भानावत, पृष्ठ संख्या- 2
7. आधुनिक पत्रकारिता, डॉ अर्जुन तिवारी, पृष्ठ संख्या- 1

मुक्तिबोध की कविता में सत्ता के विरूद्ध संघर्ष

डॉ. सुनीता कुमारी
सहायक प्राध्यापक
विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची मो0: 9470368260

भूमिका-गजानन माधव मुक्तिबोध **(1917-1964)** की गणना प्रगतिवादी कवियों में की जाती है। मुक्तिबोध को पढ़ते हुए हमेशा दोस्तोव्येस्की याद आते हैं दोनों ही मानवमन के रचनाकार हैं। मुक्तिबोध का सम्पूर्ण जीवन विरोधों और संघर्षों से भरा रहा। उनके मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव उनकी कविताओं में भी देखने को मिलता है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति कवि सर्वत्र आक्रोशित दिखाई देता है। कवि का विचार है कि वर्त्तमान आर्थिक व सामाजिक ढ़ाँचा पूर्ण रूप से जर्जर हो चुका है, उसकी नींव चरमरा गई है।

बीज शब्द - जर्जर, मार्क्सवादी, चरमराना।

मुख्य अंश- गजाननन माधव मुक्तिबोध की कुछ प्रमुख कविताएँ जैसे- रात, चलते हैं अकेले ही सितारे, बहुत शर्म आती है, शब्दों का अर्थ जब तथा अंधेरे में जिसे इन्होंने अपनी प्रिय कविता बताया है।

मुक्तिबोध की रचना प्रक्रिया का समय छायावाद के समापन से प्रारंभ होकर नई कविता के विखंडनवाद तक गतिशील है। ब्रह्मराक्षस मुक्तिबोध की एक लोकप्रिय व बहुचर्चित कविता है जिसका प्रकाशन 'कवि' नामक छोटी पत्रिका के अप्रैल **1957** के अंक में प्रकाशित हुई थी। स्वतंत्रता के बाद देश जिस भ्रष्ट, शोषक और अन्यायपूर्ण व्यवस्था से ग्रसित था मुक्तिबोध ने अंधेरे में नामक कविता के द्वारा उस व्यवस्था का वास्तविक चेहरा सामने लाया। इस कविता में मुक्तिबोध ने देश की आजादी से पहले और आजादी के बाद की स्थिति का चित्रण गहरी अनुभूति के साथ करते हैं। जिन स्वतंत्रता सेनानियों के प्राणोत्सर्ग के फलस्वरूप देश को आजादी मिली थी वे स्वतंत्रता के पश्चात् कहीं अंधेरे में खो गए तथा वे लोग प्रकाश में आने लगे, जो स्वार्थी और अवसरवादी थे। इनकी कविता 'अंधेरे में' पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम स्वयं अंधेरे से प्रकाश की यात्रा कर रहे हैं। मुक्तिबोध ने कभी समस्याओं से समझौता नहीं किया बल्कि परिस्थितियों का साहस के साथ सामना किया। जीवन में उन्हें पराजय भी देखना पड़ा लेकिन वह टूटे नहीं इसलिए तार सप्तक में कहते हैं-

''पर उसके मैं बैठा वहे जो समझौता कर सका नहीं जो हर गया यद्यपि
अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं''

'अंधेरे में' कविता के माध्यम से गंभीर संवेदनाओं एवं भावानुभूतियों की अभिव्यक्ति मिली है। इस कविता के माध्यम से उन्होंने शासक और बौद्धिक वर्ग के बीच गठबंधन का प्रयास किया है। शासक वर्ग आम जनता का शोषण करता है और जनता क्रांतिकारी बनती जाती है। यह कविता उस समय लिखी गई जब जनता ने स्वतंत्र भारत के शासकों से बड़ी-बड़ी उम्मीद पाल रखी थी, लेकिन बहुत जल्द ही मोहभंग की स्थिति आ गई, साधारण जन के सारे सपने टूट से गए। अंधेरे में कविता का मुख्य विषय देश में कायम फासिस्ट हुकुमत है और मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का आत्मसंघर्ष। नामवर सिंह ने इस कविता को 'अस्मिता की खोज' की कविता माना। अंधेरा मुक्तिबोध के लिए टेकनीक नहीं था, न ही वह उनके गुप्त पीड़ाओं चिंताओं से उपजा था। वह यथार्थ था, उनके समय और समाज का अंधकार जिसे निराला ने भी देखा था-

''उगलता गगन घन अंधकार
खो रही दिशा का ज्ञान
स्तब्ध है पवन चार''[1]

उस अंधेरे को मुक्तिबोध ने भी देखा -

''चिता हो गई कविता पढ़ते ही
इसमें से अंधेरे का भभकारा उमड़ा''[2]

अंधेरे में कविता में जो कलाकार मारा जाता है उस कलाकार के बारे में रामविलास शर्मा लिखते है- ''यह कलाकार मुक्तिबोध का प्रतिरूप है।''[3]रामविलास शर्मा यहीं नहीं रूकते बल्कि मुक्तिबोध की प्रसिद्ध पुस्तक 'कामायनी एक पुनर्विचार' को पढ़ते हुए भी वे इस तरह की बात भी करते हैं-

''कामायानी के मनू को मुक्तिबोध की निगाह से देखे तो वह स्वयं मुक्तिबोध से काफी मिलते-जुलते दिखाई देते हैं..... मनु वह सबकुछ हैं जो मुक्तिबोध है और होना चाहते हैं।''[4]

अंधेरे में का अनुभव विद्रोह और रचना का संपृक्त अनुभव है। वहाँ अर्थों की वेदना धिरती है मन में और प्रत्येक अर्थ की छाया में अन्य अर्थ झलकता है साफ-साफ। मुक्तिबोध ने भयाक्रांत शोषित वर्ग का चित्रण किया है-

''धरो गोली, दागो स्साले को एकदम
दुनिया की नजरों से हटकर
छूपे तरीके से
हम जा रहे थे कि
आधी रात उसने देख लिया हमको
वह जान गया वह सब
मार डालो उसको, खत्म करो एकदम।''[5]

मुक्तिबोध सत्ता के खिलाफ अकेले खड़े हैं कोई उनका साथ देनेवाला नहीं है। इनकी रचनाओं में समसामयिक समाज को बदलने की प्रतिबद्धता देखी जा सकती है। सांस्कृति विघटन के विस्तृत आयाम को बड़ी आत्यीयता के साथ 'मेरे मित्र सहचर' नायक लम्बी कविता में देखी जा सकती है-

''आज तो हमारी इन आँखों में
मानवीय चाँदनी की प्यारी लौ बनी हुई है
लेकिन इसके बावजूद
भारतीय अँधेरी गलियों में आजकल
सर्दी की भयानक काली-स्याह रातें हैं।''[6]

पूँजीवादी व्यवस्था के आगामी खतरों से अवगत होकर मुक्तिबोध ने अपने जीवन और साहित्य में इस व्यवस्था का विरोध किया। देश में असमानता को व्याप्त करने वाली इस कूटनीति से जनसाधारण को बचाना मुश्किल था। वे सत्ताधारी पूँजीपति वर्ग के विरूद्ध आक्रोश प्रकट करते हुए वे लिखते हैं- भूल (आलमगीर)/मेरी आपकी कमजोरियों के स्याह/लोहे का जिरहबख्तर पहन, खूँखार/हाँ खूँखार आलीजाह/वो आँखें सच्चाई की निकाले डालता/सब बस्तियाँ दिल की उजाड़े डालता/करता, हमें वह घेर/बेबुनियाद, बेसिर पैर/हम सब कैद हैं उसके चमकते ताम-झाम में/शाही मुकाम में।''[7]

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के समझौतावादी चरित्र का पर्दाफाश करते हुए उन्होंने कई कविताएँ लिखी हैं- जिनमें ब्रह्मराक्षस तथा अंधेरे में प्रमुख है। मध्यवर्ग बुद्धिजीवियों की स्वार्थपरता एवं अवसरवादिता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है मुक्तिबोध समझौता परस्ती, अवसरवादिता को पलायनवादी स्वभाव मानते हैं। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के ऐसे रवैये पर चिंता व्क्त करते हुए वे 'अंधेरे में कविता' मे लिखते हैं-

''कविता में कहने की आदत नहीं
पर कह हूँ

वर्तमान समाज चल नहीं सकता
पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता
स्वातनय व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन का।''[8]

पूंजीपति ताकतों की जगह यहाँ अब नई साम्राज्यवादी ताकतें अपना हक जमा रही हैं। ऐसे साम्राज्यवादी ताकतों ने मानव-मन पर भी कब्जा जमा लिया है। ऐसे अभिशप्त माहौल में रचनाताकारों में ऊर्जा फूंकने की ताकत मुक्तिबोध की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है-

''अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे। तोड़ने ही मठ और गढ़ सब
पहुँचाना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार
तब कहीं देखने मिलेंगी हमको
नील झील की लहरीली थाहें
जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता
नीली झील की लहरीली थाहें
जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता
अरूण कमल एक।''[9]

अर्थात् आलोचक पूँजीवाद के पक्षधर विचारक, मंत्री, कविगण, विद्वान् उद्योगपति सभी षड्यंत्र करते हैं और आम जनता का शोषण व अत्याचार करते हैं। ऐसे अनेक सबाल जो मुक्तिबोध के समय में थे और आज भी हैं, जिसे हम मुक्तिबोध की रचना अंधेरे में देख सकते हैं, पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं

''अबतक क्या किया
जीवन क्या जिया
ज्यादा लिया और दिया बहुत कम
मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुए...।''[10]

निष्कर्ष - मुक्तिबोध अपनी कविताओं के माध्यम से स्वतंत्रता के बाद की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में जो परिवर्त्तन आया, उसकी व्यथा-गाथा को अभिव्यक्त करते नजर आते हैं।

****

संदर्भ सूची

1.निराला - सूर्यकान्त त्रिपाठी, अपरा नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ. 43
2.जैन नेमिचन्द्र, मुक्तिबोध रचनावली-2, दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1980, पृ. 25
3.शर्मा रामविलास, संचयिता, सं. मुरली मनोहर प्र0 सिंह, आधार प्र0 2014, पृ. 468
4.शर्मा रामविलास, संचयिता, सं. मुरली मनोहर प्र0 सिंह, आधार प्र0 2014, पृ. 471
5.अस्सी चौराहाः साहित्य विचार-विमर्श की ई पत्रिका, मुक्तिबोध की कविता अंधेरे में पर पुर्नविचार शीर्षक शोध लेख से उद्धृत, लेखक रामज्ञाया शशिधर, 04 सितम्बर, 2014
6.मुक्तिबोध रचनावली-1 पृ. 321
7.मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ. 144
8.मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ. 350
9.मुक्तिबोध रचनावली-2 पृ. 348
10.मुक्तिबोध गजानन माधव, चाँद का मुँह टेढ़ा है, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1978, पृ. 25

हरिशंकर परसाई की रचनाओं में व्यक्त व्यंग्य की प्रासंगिकता

डॉ.कृष्ण विहारी राय
सहायक प्राध्यापक हिन्दी
शासकीय कन्या महाविद्यालय सीधी (म.प्र.)
मो.न. 9301238696, 8085011304

सारांश-आज हमारे देश में साहित्यकारों की कमी नहीं है एक से एक उत्कृष्ट साहित्यकार साहित्य का सृजन कर रहे हैं यद्यपि साहित्य के बारे में अनेक विद्वानों ने जो अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं उनमें किसी ने कहा कि साहित्य समाज का दर्पण है तो किसी ने कहा कि ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम साहित्य है समग्रतः यह कहा गया कि साहित्य वह है जिसमें सभी का हित समाहित होता है। यदि साहित्य के उपर्युक्त बातों पर ध्यान दिया जाए तो मुझे हिंदी की एक विधा समझ में आती है वह है व्यंग्य। हिंदी व्यंग्य विधा में सर्वोच्च स्थान रखने वाले व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई जी जिन्होंने अपने व्यंग्य वाणों से साहित्य की सार्थकता को सिद्ध किया है। उन्होंने सही मायने में देश की जनता की आंख खोला और देशभक्त ठेकेदारों, सच्चरित्र सत्यापन करने वाले चरित्रवानों, धर्म के ठेकेदारों की पोल खोलने का महान कार्य किया था, जिस प्रकार से दर्पण हमारे चेहरे की वास्तविकता बताता है उसी प्रकार परसाई जी ने देश में हो रहे गोरखधंधे, रूढ़िवाद, अंधविश्वास, धार्मिक एवं राजनैतिक छलावा जो सामान्य जनता के साथ हो रहा है, अफसर गिरी आज की सच्चाई को सामने रखने का कार्य किया। आज का नवयुवक बस कंडक्टर, सिनेमा थिएटर के गेट पर असहाय दवे कुचले लोगों के प्रति क्रांति कर राष्ट्रभक्ति का स्वांग रचते दिखाई देते हैं। परसाई जी ने व्यंग्य करते हुए कहा था कि जब तक आप बस कंडक्टर और गेटकीपर के विरुद्ध क्रांतिकारी आंदोलन करते रहेंगे, हम सुरक्षित रहेंगे, आप से अपील करता हूं कि आप इन्हीं के खिलाफ आंदोलन करते रहें, जिस दिन आप बुनियादी आंदोलन करने लगेंगे उस दिन हम उखड़ जाएंगे। इसीलिए आप सच्चे क्रांतिकारी बने सच्चा क्रांतिकारी कंडक्टर, गेटकीपर, चपरासी वगैह से ही संघर्ष करता है। मैं कहना यह चाह रहा हूं कि शायद परसाई जी के यह बातें आज भी प्रासंगिक हैं, इसीलिए देश के युवाओं से मेरी यही अपील है कि अपने अधिकारों एवं बुनियादी परिवर्तन के लिए सजग रहने की आवश्यकता है अतः हम यह कह सकते हैं कि परसाई जी आज भी प्रासंगिक हैं उनके व्यंग्य अभी भी पूर्ण रुप से चरितार्थ होते जान पड़ते हैं।

मुख्य शब्द- हरिशंकर परसाई, व्यंग्य, साहित्यकार, सामान्य जनता, छलावा, अंधविश्वास, रूढ़िवाद, धर्मांधता, अफसरगिरी, स्वतंत्रता, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक

जब हरिशंकर परसाई जी लिखना आरंभ किए होंगे तब कई साहित्यकारों एवं पाठकों के मन में यह सवाल था कि व्यंग को एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकारा जाए या नहीं? ऐसे में यह कहा जा सकता है कि एक सार्थक रचना धर्मिता किसी विधा की कायल नहीं हो सकती वह खुद-ब-खुद धारदार शब्दों को गढ़ने का महान कार्य करती है। वह ऐसा मोह नहीं पालते जो लुभावने एवं चारण संगीत रचने का काम करती हो बल्कि वह धरती से जुड़कर रक्त और मांस से अभिसिंचित अक्खड़ भांगड़ा नृत्य करती है, यही कारण है कि वे लोग नाराज होते हैं जो लीक से बंधे विधानों के कलेवर में दिखने वाले होते हैं। किंतु परसाई जी अपने कबिराई अंदाज में काहिली जनों की खूबसूरत समूह गान से बिल्कुल अलग-थलग अंदाज में समय की धड़कती सांसो पर नए ढंग से अपनी स्वर रचना करने के लिए दृढ़ संकल्पित हैं। परसाई जी के इस नए अंदाज को व्यंग्य विधा नाम दिया जा सकता है। स्वतंत्रता के पश्चात हमारे देश की विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्यारियों में विसंगत का सड़न

हमारे देश की संपूर्ण धरा पर किसी रचनात्मक हरित क्रांति के बीज उगाने में सक्षम ना हो सके। कहना न होगा कि परसाई जी ने इस लहलहाती हुई उपज में व्यंग का कटाक्ष अपनी रचना के पात्र इंस्पेक्टर मातादीन से चंद्रलोक पर निवास करने वालों को सभ्यता का प्रशिक्षण दिलवाते हैं, वहीं भोलाराम का जीव का मुख्य पात्र भोलाराम की जो कथा है वह व्यथा को घ्गहराती है। सुदामा के चावल सरकारों के चरित्र की गुफाओं की ओर संकेत करते हैं तो वहीं रामकथा क्षेपक उस चरित्र का पर्दाफाश करते हैं। कहना न होगा कि यह विवशता, टूटन, चरित्र का अवमूल्यन, ढकोसला, रूढ़िवादिता, समकालीन जनमानस के संस्कारों में नए विकारों का हलफनामा के रूप में है।

साहित्यकार के बारे में ठीक ही कहा गया है कि वह युग की आत्मा होता है तथा साहित्यकार का लेखन समय की निहारिका। स्वानुभूति रूपी थर्मामीटर से अपने समय की उस्मा को नापने का कार्य करता है। साहित्यकार अपनी कलम से समय और संपूर्ण वहां के वातावरण या यूं कहें कि माहौल की वास्तविकता का दस्तावेज लिखता है। यदि परसाई जी की बात की जाए तो उन्होंने अपने लेखन यात्रा के दौरान अनेक पड़ाव देखे हैं, उन्होंने जीवन की बदसूरती को एक ओर जहाँ निहारा है तो वहीं दूसरी ओर नग्न यथार्थ का अवलोकन भी किया है, चरित्र की सौदेबाजी किस प्रकार की जाती है और उसकी नीलामी सरे बाजार में किस तरह होती है यह भी उन्होंने बहुत नजदीक से देखा है। तत्कालीन समय के अपने आप को देशभक्त कहने वाले नेता देश सुधार के नाम पर देश की बोली लगाते थे, आजादी के मसीहा 'फाइवस्टार रेस्ट्रां' में शराब की आगोश में मस्ती में बेहोश रहते थे, यह सब भी परसाई जी ने करीब से देखा है। कहना न होगा कि चेतना से भरपूर परसाई जी ने विसंगतियों, शोषण, लूट, भाई भतीजावाद, साहित्यिक एवं राजनीतिक अखाड़े तथा गुटबाजी शिक्षा के नाम पर अनैतिकता, अराजकता को संस्कृत का एक हिस्सा बनते हुए स्वयं महसूस किया था। परसाई जी ने जो महसूस किया था वह आज भी प्रासंगिक जान पड़ता है।

आज नैतिकता एवं मानवता राजनीतिक स्वार्थ के कारण खत्म सी होती जा रही है, जिसे देखो वही राक्षसी हरकतों के दरिंदा रूपी पंजों से मानवता की छाती को चीरने में तुला हुआ है। आज ईमान का पाठ पढ़ाने वाला सुधारक बेईमानी की पीछे वाली खिड़की से पैसा कमाने का निर्लज्जता पूर्ण धंधा करता है, अपने आप को सचरित्र बताने वाला अधिकारी पहले स्त्री के कुंवारे पन का टेस्ट लेना चाहता है और देना चाहता है आदर्श चरित्र का टेस्टिमोनियल। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे सारे आदर्श एवं मानवीय मूल्य मटिया मेट हो गए, यदि सच कहा जाए तो आदर्श थे ही कहाँ ? जो चरित्र, धर्म, संस्कृति थे सब छूमंतर हो गए, बच गया केवल छलावा और धोखा ! एक हसीन लफ्फाजी, एक खूबसूरत फरेब ! देश के सभी पिता प्रत्येक वर्ष अपने-अपने पुत्रों को एक नया नारा थमा देते हैं कि लो नए वर्ष का गिफ्ट लॉलीपॉप की तरह मुख में डाले घूमते रहो तथा भारत के नौनिहाल भारत माता की जय बोल कर सो जाते हैं। समय का कैलेण्डर परिवर्तित होता रहता है और हमारे देश के उद्धारक पुराने रंगीन कैलेण्डरों को अपने प्रिय देशवासियों को भेंट में बांट देते हैं और हमारे देश की भोली-भाली जनता रंगीन तस्वीरों को देख कर मन बहलाने में लगी रहती है। वह पुराने सारे दुखों को भूल जाते हैं और नए वर्ष की इंद्रधनुषी आकांक्षाओं के क्षितिज पर आंखें गड़ाए रहते हैं। कहना न होगा कि यह हमारे देश की विडंबना नहीं तो और क्या है ? सारे देश को आजादी प्राप्त के पश्चात् बीमारी लग गई सभी अनैतिक बनने लगे पगडंडियों का जमाना आ गया और सदाचार का ताबीज बांटने लगे पुरुषार्थहीन, कमजोर दिल इंसानों को शक्ति और सामथ्र्य का अंदाजा देने के लिए अचानक कबीर प्रकट हो गए। सधुक्कड़ी भाषा में कहा 'सुनो भाई साधो'! लेकिन स्वतंत्र भारत के बंदे थोड़ा-बहुत इंटेलेक्चुअल हो गए थे, फिर इतनी सरलता से वास्तविकता को कैसे कबूल कर लेते ? मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि किसी भी व्यक्ति में नैतिकता एवं मानवता नहीं है, है! किंतु उनकी संख्या नगण्य है। या यूं कहें कि उनकी स्थिति ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार शिक्षण संस्थानों में भला आदमी का प्रोडक्शन ही नहीं होता, बल्कि उस भले इंसान को चरस, गांजा, कोकीन, अफीम आदि माफिया का सेवन कैसे किया जाता है, यह सब सिखाया जाता है।

धन किसका है ? कुबेर का! और उसकी मालकिन कौन है ? लक्ष्मी जी ! लक्ष्मी जी की सवारी उल्लू जैसा कि लोक प्रचलित है कि उल्लू को रात में ही दिखाई देता है यही कारण है कि धन कमाने के सारे कार्य रात के अंधेरे में होते हैं, क्योंकि रात में सन्नाटा रहता है और सन्नाटा माल के हेरा-फेरी में बहुत मदद करता है। लोकतंत्र में पुलिस की अहम भूमिका है पर परसाई जी ने जिस इंस्पेक्टर मातादीन की बात की है उससे बढ़कर बिल्कुल नहीं। इस धरा और मिट्टी की कसम खाकर चंद्रमा पर क्रांतिकारी परिवर्तन किए थे पर देश की यह पुलिस बेचारी ! दो नेत्रों वाले तस्करों पर देश की यह अहिंसक पुलिस भला कैसे लाठी बरसाए ? हां इतना अवश्य है कि महाभारत कालीन धृतराष्ट्र की काली करतूतों का बदला लेने के लिए अंधों पर लाठी जरूर चला सकते हैं इतना ही नहीं कैदियों की आंखें फोड़ सकती है। परसाई जी ने इस प्रकार के बहादुर पुलिस वालों पर व्यंग करते हुए लिखते हैं कि ''इसी तरह इनकी बहादुरी की मिसाल में एक दिन मातादीन का सार्वजनिक अभिनंदन किया गया। वे फूलों से लदे खुली जीप पर बैठे थे। आस-पास जय जयकार करते हजारों लोग। वे हाथ जोड़कर अपने गृहमंत्री की स्टाइल में जवाब दे रहे थे।"[1]

कहना न होगा कि परसाई जी का मन तत्कालीन प्रशासनिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों से व्यथित हुआ और उन्होंने अपने और देश की असहाय जनता के साथ हो रहे अन्याय अत्याचार एवं शोषण के विरुद्ध पीड़ा एवं दुख की अभिव्यक्ति का माध्यम व्यंग्य विधा को बनाया और स्वयं के व्यंग्य बाणों से काली करतूतों का पर्दाफाश किया। जो कि आज भी प्रासंगिक जान पड़ता है। हम ये नहीं कहते कि देश में न्याय नहीं है या ईमानदारी व मानवता नहीं है, है ! लेकिन उनके लिए जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से सक्षम हैं, जिनके सगे संबंधी शासन और प्रशासन में हैं, अन्यथा उनकी कौन सुनता है जो निर्धन, लाचार तथाकथित निम्न जाति के हैं। कानून व्यवस्था भी अधिकाधिक रूप से इन्हीं के लिए है जो निर्धन, लाचार एवं निम्न वर्ग के हैं। हमारे देश में अन्याय, अत्याचार, शोषण, भ्रष्टाचार के साथ ही धर्मांधता भी चरम पर है, किसी ने सही ही कहा था कि धर्म एक चोखा धंधा है। यह धंधा पान, तंबाकू और अन्य बिक्री की जाने वाली चीजों से भी अधिक चमत्कारिक है। हमारे देश में धर्म के नाम पर मिट्टी भी भारी कीमत में बिकती है, परसाई जी ने व्यंग्य करते हुए लिखे हैं कि ''आजकल सब जगह अंधेरा छाया रहता है। रातें बेहद काली होती है, अपना हाथ ही नहीं सूझता। आदमी को रास्ता नहीं दिखता। वह भटक जाता है, उसके पाव कांटो से बिंध जाते हैं, वह गिरता है और उसके घुटने लहूलुहान हो जाते हैं।"[2]

बेशक हमने प्रगति की है, प्रगति ऐसी कि अनेक दिग्भ्रमित करने वाले प्रसाधनों की उमदा वैरायटियों के रिसर्च में हमने बहुत बड़ी क्रांति की है। हमारी महानतम वैज्ञानिक खोज यह है कि मेकअप का आर्ट तैयार किया, जिसमें झठ और सच एक समान ही दिखते हैं। हमारे देश के चरित्र की शोभा बढ़ाते हैं। मुक्तिबोध जी ने लिखा है कि ''निष्क्रिय ईमानदार और सक्रिय बेईमान मिलकर षड्यंत्र सा बना लेते हैं।"[3]

कहना न होगा कि परसाई जी अपने देश के ऐसे चरित्रवान लोगों पर व्यंग्य किये हैं तथा अपने दुख को व्यक्त करते हैं जो महान ब्रह्मांड की भांति चरित्र बनाना चाहता है, वह अपनी बात का संकेतात्मक प्रमाण इंस्पेक्टर मातादीन का चांद पर बुलाया जाना को मानते हैं।

परसाई जी की पीड़ा कुछ हल्की हो जाती यदि ब्रह्मांड का चरित्र विकसित हो जाता । उन्होंने भारतीय जनता के साथ हो रहे छलावे, अन्याय, अत्याचार एवं शोषण को अपनी व्यंग्य रचना 'शिकायत मुझे भी है' में व्यक्त करते हुए लिखा है कि ''भारतीय दंड संहिता अपना महान महाकाव्य है । एकमात्र क्लासिक है । यह काव्य है और धर्म ग्रंथ भी । खास जातीय जीवन इसी धर्म ग्रंथ से संचालित हो रहा है । इसी की प्रेरणा से हम राष्ट्रीय जीवन की सिर्फ एक ही साधना कर रहे हैं तो उसे 'लाँ एण्ड आर्डर' यानी कानून और व्यवस्था कहते हैं । सारी प्रतिभा हमने कानून और व्यवस्था की साधना में लगा दी, फिर भी भारतीय दंड संहिता को अभी तक नोबेल पुरस्कार नहीं मिला ।''[4]

कहना न होगा कि परसाई जी का मन इस कारण से दुखी है कि जो हमारे देश को व्यवस्थित रूप से संचालित करने वाला ग्रंथ है जिसके कारण सभी लोग अमन-चैन एवं शांतिपूर्ण ढंग से देश को विकसित बनाने में महती भूमिका अदा करता है वह पवित्र ग्रंथ धर्म, जाति, क्षेत्र तथा पूॅजी के आगे उपेक्षित सा महसूस करता है, उसे आज तक दुनिया का सर्वोच्च पुरस्कार मिलना चाहिए किन्तु आज तक नहीं प्राप्त हो सका । हमारे देश में शोषणकारी प्रवृति के लोग देश की भोली-भाली जनता को सदैव अनुचित काम को ही उचित बताने का कार्य किया, जिस पर लेखक ने व्यंग्य करते हुए लिखा है कि ''जिस देश में जायज काम भी ना हो सके, उसमें सारे काम ही नाजायज है ।''[5] उनके लिए सोर्स चाहिए इतनी सोर्स प्रेमी जाति दुनिया में कोई नहीं है

निष्कर्ष एवं सुझाव-निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रचना वह होती है जो देश को सामाजिक दुर्व्यवहार, अराजकता, स्वार्थपरता, राजनैतिक लोलुपता, धर्मांधता, चरित्रहीनता एवं पाखंड से मुक्त कराकर स्वस्थ एवं सभ्य राष्ट्र का निर्माण करें । हिंदी साहित्य में अनेकानेक ऐसे महान साहित्यकार हुए जिन्होंने अपनी रचना धर्मिता से देश की जनता को तथाकथित बहुरूपिया नेताओं से जहां एक और सचेत किए हैं तो वहीं दूसरी ओर ईमानदारी का चोला पहन ने वाले एवं धर्म का पाठ पढ़ाने वालों की पोल खोलने का महान कार्य किया है। देश की जनता में चेतना जागृत करने के लिए अनेक माध्यम हो सकते हैं किंतु हिंदी साहित्यकारों ने विभिन्न विधाओं जैसे कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध तथा अन्य सुविधाओं के माध्यम से देश की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चेतना लाने का कार्य किया । हिंदी साहित्य की एक और स्वतंत्र विधा के रूप में है व्यंग्य विधा जो हिंदी गद्य विधा के अंतर्गत मानी जा सकती है और यह समाज को आईना दिखाने का महत्वपूर्ण माध्यम हो सकता है । व्यंग्य के माध्यम से हिंदी के महान व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई जी ने देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, अंधविश्वास, अनैतिकता, अमानवीयता, कदाचार, देशभक्ति के रूप में तेंदए एवं भेड़िया इन सभी पर अपने व्यंग्य बाण चलाया और देश की जनता को सजग करने में अविस्मरणीय योगदान दिया और रही बात मेरे सुझाव की तो मैं यही कहूंगा कि आज भी जरूरत है हरिशंकर परसाई जैसे महान व्यंग्यकारों की किंतु विडंबना इस बात की है कि क्या आज किसी में इतनी हिम्मत है ? कि वह भी खुलकर कह सके कि शिकायत मुझे भी है ? क्या आज वह समस्याएं नहीं है जो परसाई जी के समय में थी ? उत्तर होगा हां थी । लेकिन दुख इस बात का कि आज परसाई नहीं है, है ! लेकिन उस रूप में जिस रुप पर हरिशंकर परसाई जी ने व्यंग्य किया था ।

****

संदर्भ ग्रंथ-

1. हरिशंकर परसाई-शिकायत मुझे भी है, पृष्ठ 46
2. हरिशंकर परसाई-सदाचार का ताबीज, पृष्ठ 35
3. मुक्तिबोध-एक संस्मरण, तिरछी रेखाएं, पृष्ठ 54
4. हरिशंकर परसाई-शिकायत मुझे भी है, पृष्ठ, 11-12
5. हरिशंकर परसाई-शिकायत मुझे भी है, पृष्ठ, 11-12

नयी कविता और प्रयोगवाद

डॉ.गंगाधर ढोके
प्राध्यापक, एवं शोध निर्देशक
हिन्दी विरसिंह पुर पाली

अनिल मेरावी
शोधार्थी, हिन्दी
अवधेश प्रताप सिंह
विश्वविद्यालय रीवा (म.प्र.)

नयी कविता हिन्दी साहित्य में सन् 1951 के बाद की उन कविताओं कहा गया। जिनमें परम्परागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प विधान का अन्वेषण किया गया। यह प्रयोग के बाद विकसित हुई हिन्दी कविता की नवीन धारा की शुरू आत हुई है। हिन्दी काव्य में प्रयोगवाद का प्रारम्भ सन् 1943 ई. में 'अज्ञेय' द्वारा संपादित तार सप्तक के प्रकाशन से माना जाता है। प्रयोगवादी काव्य में नई संवेदना और नई भाव बोध एवं नई शिल्प का प्रयोग गया है। प्रयोगवादी कवि प्रयोग करने में विश्वास करता है। कवियों ने भाषा की दृष्टि से नए प्रयोग शिल्प की दृष्टि से नये प्रयोग, उपमानों की दृष्टि से नए प्रयोग और काव्य वस्तु की दृष्टि से नए प्रयोग अपनी कविताओं में किए है। अज्ञेय ने प्रयोग अपनी कविताओं में किए है। अज्ञेय ने प्रयोग को साधन मानते हुए लिखा है।

प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं वरन् वह साधन है। प्रयोगवादी कवि ने भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता को काव्य में स्थान दिया और जीवन की निराशा कुंठा, को काव्य में अनास्था, जड़ता एवं संघर्ष की अभिव्यक्ति प्रदान की दमित कामवासना के चित्र भी इस काव्य उपलब्ध होते हैं। लघु मानव गरिमा के साथ प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी प्रयोगवादी कवियों को दिया जाता है। प्रयोगवाद का विकास ही कालांतर में नई कविता के रूप में हुआ। डॉ. शिवकुमार शर्मा के अनुसार-ये दोनों एक ही धारा के विकास की दो अवस्थाएँ हैं। सन् 1945 से 1953 ई. तक कविता में जो नवीन प्रयोग हुए नई कविता उन्हीं का परिणाम है। प्रयोगवाद उस काव्यधारा को आरम्भिक अवस्था है और नई कविता उसकी विकसित अवस्था है। प्रयोगवाद और नई कविता में कोई सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती है। बहुत से अन्य कवि जो पहले प्रयोगवादी रहे बाद में नई कविता के प्रमुख हस्ताक्षर बन गए। इस प्रकार ये दोनों एक ही काव्यधारा के विकास की दो अवस्थाएँ हैं निष्कर्ष रूप में 1943 से 1955 तक की कविता को प्रयोगवाद एवं 1953 के बाद की कविता को नई कविता की संज्ञा दी जा सकती है। हिन्दी की नई कविता का कथ्य परंपरा से भिन्न है। नवीन विषयों की नवीन शैली में अभिव्यक्ति होने के नवीनता को इसकी प्रमुख विशेषता मानी जा सकता है। इसके अतिरिक्त बौद्धिकता, क्षणिकता और मुक्त यथार्थवाद को भी नई कविता की विशेषताओं में सामाविष्ट किया जा सकता है।

प्रयोगवाद का जन्म 'छायावाद' और 'प्रगतिवाद' की रूढ़ियों की प्रतिक्रिया में हुआ। भाव क्षेत्र में छायावाद की अतिन्द्रियता और वायवी सौंदर्य चेतना के विरूद्ध एक वस्तुगत मूर्त और एन्द्रिय चेतना का विकास हुआ है। और सौंदर्य की परिधि में केवल मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष, अनगढ़, भदेश का समावेश हुआ छायावादी कविता में वैयक्तिकता में उदात्त भावना थी। इसके विपरीत प्रगतिवाद में यथार्थ का चित्रण तो था किन्तु उसका प्रतिपाद्य विषय पूर्णतः सामाजिक समस्याओं पर आधारित और उसमें राजनीति की बू थी अतः इन दोनों की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयोगवाद का उद्भव हुआ। जो घोर अंहमवादी वैयक्तिकता एवं नग्न यथार्थवादी लेकर चला। प्रयोगवाद ने अपने शब्दाडम्बर में बहुत से शब्दों और बिम्बों के गतिशील तत्वों को नष्ट कर दिया था। दूसरे प्रगतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव स्तरों एवं शब्द संस्कार को अभिधात्मक का

पव्यक्त करने के लिए न तो शब्दों में सामर्थ्य था और न परम्परा से मिली हुई, शैली में परिणाम स्वरूप उन कवियों को इनसे पृथक में सर्वथा नया स्वर और नये माध्यमों का प्रयोग करना पड़ा क्योंकि भाव स्तर की नई दोनों से सर्वयाभिन्न थी।प्रयोगवाद नाम तार सप्तक में अज्ञेय के इस व्यक्तव्य से लिया गया। ''प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किए हैं। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करते आये हैं कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं। आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी हुआ ही नहीं है। जिनको अभेद्य मान लिया गया है। इन अन्वेषणकर्ता कवियों को अपनाया जो किसी एक स्कूल के नहीं है। किसी एक विचारधारा के नहीं है। किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं है। अभी राही है राही नहीं राहों के अन्वेषण काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है। उनमें मतैक्य नहीं हैं सभी महत्वपूर्ण विषय में उनकी अलग-अलग राय है। जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय में काव्य वस्तु और शैली के छंद और तुक में कवि के दायित्वों के प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक की हमारे के ऐसे सर्वमान्य और स्वयं सिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते हैं। जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता उद्योगों का समाजीकरण, यांत्रिक, युद्ध की अथवा कानन बाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता इत्यादि। वे सब एक-दूसरे की रूचियों-कृतियों और आशाओं और विश्वासों एक-दूसरे के मित्रों पेर भी हँसते हैं।

प्रयोगवाद एवं तार सप्तक का प्रकाशन अज्ञेय के संपादकत्व में सन् 1943 में हुआ। इस संग्रह से प्रयोगवादी का आरम्भ माना जाता है। इसमें जिन सात कवियों की रचनाएँ संकलित है। उनके नाम निम्न है। जैसे -नेमिचन्द्र जैन, गजानन, मुक्तिबोध, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा तथा सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय आदि कवि है। तार सप्तक का ऐतिहासिक महत्व इस रूप में है कि इसी संकलन से हिन्दी काव्य साहित्य में प्रयोगवाद का उदय होता है। आज भी अनेक काव्य प्रेमियों में इस संग्रह की कविताएँ आधुनिक काव्य प्रेमियों में इस संग्रह की हिन्दी कविता के उस रचनाशील दौर की स्मृतियाँ जगाएँगीं जब भाषा और अनुभव दोनों में नये प्रयोग एक साथ कर सकना ही कवि कर्म को सार्थक बनता है। तार सप्तक में गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा एवं अज्ञेय सहित सात कवियों की कविताएँ संकलित की गई है। तार सप्तक का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् 1943 ई. में किया गया है। इसके बाद दूसरा सप्तक तथा तीसरा सप्तक का प्रकाशन हुआ। प्रयोगवाद 1943 ई. से यो तों प्रयोग हर एक युग में होते आये है। किन्तु प्रयोगवाद नाम कविताओं के लिए रूढ़ हो जो कुछ नये बोध संवेदनाओं तथा उन्हें प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरू-शुरू में तार सप्तक के माध्यम से वर्ष 1943 ई. में प्रकाशन जगत में आई और जो प्रगतिशील कविताओं के साथ विकसित होती है। ''प्रयोग शब्द का सामान्य अर्थ है। नई दिशा में अन्वेषण का प्रयास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निरंतर चलते रहते हैं।

प्रयोगवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इस धारा के कवियों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं- प्रयोगशील कविता में नए सत्यों नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है। उन सत्यों के साथ नए रागात्मक संबंध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचने यानी साधारणीकरण की शक्ति भी है। प्रयोगवादी कविता में भावना है। किन्तु हर भावना के आगे एक प्रश्न-चिन्ह लगा है। इसी प्रश्न चिन्ह का आप बौद्धिकता सकते हैं। सांस्कृतिक ढॉचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न चिन्ह उसी की ध्वनि मात्र है। प्रयोगों का लक्ष्य है व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता का नवानुकूल माध्यम देना जिसमें व्यक्ति द्वारा इस व्यापक सत्य का सर्वमान्य या सर्वबोधगम्य प्रेषण सम्भव हो सके। प्रयोगवाद को प्रतीकों की प्रधानता और नवीन प्रतीकों को अपनाने के कारण प्रतीकवाद नाम से भी अभिहित किया गया। प्रयोग से कुछ लोगों को अभिप्राय 'रूपवाद' अथवा फार्मलिज्म तक सीमित है लेकिन रूपवाद प्रयोगवाद की शाखा मात्र है। क्योंकि प्रयोगवादी केवल रूप विधान या तकनीक पर ही ध्यान नहीं देते उसमें अन्य तत्व भी मौजूद है।

प्रयोगवाद के भीतर ही प्रपद्यवाद या नकेनवाद भी पनपा लेकिन वह प्रयोगवाद की एक छोटी शाखा मात्र बनकर रह गया। नकेनवाद बिहार में प्रचलित हुआ। नलिन विलोचन शर्मा, केशर कुमार और नरेश नामों के प्रथम अक्षर से बना है। नकेनवादी तीनों कवियों ने प्रयोग दश सूत्रों में प्रयोगवाद और शीलता में उतर स्पष्ट किया है ये प्रयोग को ही काव्य का एक मात्र लक्ष्य मानते हैं। प्रयोगवादी कविता का नई कविता का नाम दिया कुछ आलोचक नई कविता और प्रयोगवाद में कोई अंतर नहीं मानते जबकि कुछ का मानना है कि दोनों को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए हमारे दृष्टिकोण से नई कविता प्रयोगवाद का ही विकसित या स्थापित हुआ रूप है। प्रयोगवादी कविता जब काव्य जगत में स्वीकृत हो गई हो उसे नई कविता के नमा से अभिहित किया गया है। जो लोक प्रयोगवाद और नई कविता का अलग-अलग रूप में देखते हैं। वे दलगत राजनीति के शिकार है।

''प्रगतिवाद काव्य की प्रतिक्रिया स्वरूप कवियों ने एक नयी प्रकार की कविता को जन्म दिया जिसे प्रयोगवाद की संज्ञा दी गयी है। काव्य में अनेक प्रकार के नए-नए कलात्मक प्रयोग किये गए। इसीलिए इस कविता को प्रयोगवादी कहा गया है। प्रयोगवादी काव्य में शैलीगत तथा व्यंजनागत नवीन प्रयोगों की प्रधानता होती है। डॉ. गणपति चंद्र गुप्त के शब्दों में नयी कविता, नए समाज नए मानव की नयी वृत्तियों की नयी अभिव्यक्ति नयी शब्दावली में है। जो नए पाठकों के नए दिमाग पर नए ढंग से नया प्रभाव उत्पन्न करती है।''

''प्रगतिवाद की तरह प्रयोगवाद भी छायावाद के व्यक्तिवाद का विद्रोह स्वर है। इस धारा के कवियों में एकमत और एक स्वर नहीं है। जीवन धर्म, समाज, राजनीति आदि के विषयों में भी व्यापक मतभेद है। इनमें यदि कोई समानता है तो केवल इस अर्थ में की सबने भाषा शैली के क्षेत्र में प्रयोग किये हैं। उन्हें प्रयोगवादी कवि कहते हैं कि प्रयोग उनका साध्य या इष्ट नहीं है। अपितु इस काव्य के धारा के माध्यम से उन्हें जो नवीन सत्य की उपलब्धि हुई है। उसे समष्टि तक पहुँचने की चेष्टा करना लक्ष्य है। यही उनका प्रयोग भी है। इन कवियों ने कविता के भाव जगत के उपेक्षा करके शिल्प तथा वैचित्र्य विधान की ओर अधिक दिया है।''

****

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1.प्रयोगवाद और नयी कविता-सिंहा शम्भुनाद समकालीन प्रकाशन संस्करण 1916।
2. प्रयोगवादी काव्य-पवन कुमार मिश्र, प्रकाशक मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी मालवीय नगर भोपाल संस्करण प्रथम 1977।
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास-डॉ. नगेन्द्र, प्रकाशक साहित्य भवन नोयडा।
4. आधुनिक हिन्दी काव्य और उसका इतिहास-डॉ. नगेन्द्र, प्रकाशक साहित्य भवन नोयडा।
5. साहित्य का परिवेश-सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय, प्रकाशक नेशनल पब्लिशिंग हाउस संस्करण प्रथम 1985।
6. प्रयोगवादी काव्यधारा-सच्चिदानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'।

दलित साहित्य में स्त्री:बदलते प्रतिमान

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1475

रजिला. ओ.पी.
सहायक प्राध्यापक-हिंदी
शासकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय
कालिकट्ट, केरल मो.8129337760

दलित साहित्य वह साहित्य है जो दलितों के जीवन, उनके सुख दुख उनकी सामाजिक राजनीतिक स्थितियों उनकी संस्कृति, उनकी आस्थाओं, अनास्थाओं उनके शोषण व उत्पीडन विरुध दलितों द्वारा प्रतिरोध की परिस्थितियों को व्यापकता तथा गहराई के साथ, कलात्मकता से प्रस्तुत करता है।दलित साहित्य परम्परागत साहित्यक अवधाराणाओं मानदण्डों का विखण्डन करके नई अवधाराणाएँ और मानदण्ड निर्मित करते है। वैसे भी साहित्य के साथ लगा दलित शब्द अपने आप में विशिष्ट अवधारणा से संबन्धित है। इससे विशिष्ट साहित्यक अवधारणा का बोध होता है। दलित लेखक दलित चेतना और संवेदना के माध्यम से अपनी एक पृथक साहित्यक धारा बनाती है।

आधुनिक युग में यद्यपि स्त्री की समस्याओं और उनके जीवन संघर्ष को यथार्थ रूप से अंकित किया है तथापि नारी को लेकर भोगवादी विचारों से पूर्ण साहित्य का भी बोल-बाला रहा। समय परिवर्तन और परिस्थितियों के बहलाव तथा नारी संघर्ष की अवधारणा एवं क्रियात्मकता ने नारी विमर्श जैसी साहित्यक धारण व सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। इधर दलितों केलिए उनकी जीवन शौली, संघर्ष और दर्द को दिखाने केलिए जो साहित्य रखा गया उनमें अनेक साहित्यकारों ने नारी को भी दलित व दलित मानकर उसे दलित साहित्य में जगह दी।

रमणिका गुप्ता ने अपने आलेख दलित कहानियों का यथार्थ में स्त्री के प्रति पुरुष वर्ग की सोच का उल्लेख करते हुए लिखा है- "पुरुष दलित हो, अथवा आभिजात्य या सवर्ण औरत के प्रति दोनों का रवैया एक ही जैसा है- चूँकी दोनों का समाज पीतृ प्रधान है जिसमें औरत की इज्जत लूटकर दुश्मन से बदला लिया जाता है।"[1]

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र तो अभी निर्माण की प्रक्रिया में है लेकिन उसे परखने के मानदण्ड वही है जिनसे विश्वभर का उत्पीडितों का साहित्य परखा जाता है। दलित साहित्य में भी दलित स्त्री की एक अलग शाखा निकलती है। जो दलित लेखन की व्यापक दृष्टि को दर्शती है।

माधुरी छेडा के अनुसार "दलित का आत्मकथ्य अपार व्यथा की कथा है। पतियों की व्यथा को जो आत्मानुभूति का एक हिस्सा बनकर सारे व्यक्तित्व में घुलती है रही निष्कासन और निष्कृति की अनुभूति, और पददलित होने की अनुभूति, जैसे भीतर ही भीतर कोई छटपटाता हो, घुलता हो, और असहाय, विवश होने के बोध से थक थक जाता है। वर्ण और लिंग का तिहरा अभिशाप। बरसों से दबा, छुटा यह अभिशाप यह त्रास जिसे अब तक वाणी नहीं मिली थी वही आज दलित स्त्री लेखिकाओं की कलम से अभिशप्त होकर उनकी व्यथा कथा सुना रहा है। स्त्री चाहे सवर्ण वर्ग की हो या अछूत वर्ण – अत्याचार, शोषण और अपमान सहने को भाध्य ही होने है जिस पर भी दलित स्त्री की दशा तो भयावह और विद्रूपता से और पददलिता होने की अनुभूति- जैसे भीतर ही भीतर कोई छटपटोता हो, घुलता हो, और असहाय, विवश होने के बोध रो थक थक जाता है। वर्ण और लिंग का तिहरा अभिशाप बिरशों से दबा, घुटा यह अभिशाप यह त्रास जिसे अब तक वाणी नहीं मिली थी वी आज दलित स्त्री लेखिकाओं की कलम से अभिशाप होकर उनकी जाथा कथा सुना रहा है। स्त्री चाहे सवर्ण वर्ग की हो या अधूत वर्ण अत्याचार, शोषण और अपमान सहने को बाध्य ही होते है जिस पर भी दलित स्त्री की दशा तो भयावह और विद्रूपता से परिपूर्ण है।"[2]

हिन्दी दलित साहित्य आन्दोलन में महिलाओं का क्या भूमिका है था हो सकती है इस पर अब तक पर्याप्त विचार नही हुआ है। इस आन्दोलन में स्त्रियों की सक्रिय उपस्थिति इतनी कम है कि यह मुद्दा किसी की ध्यान नहीं खिंचती। दलित पुरुषों केलिए सफूलियत भरा मामला नहीं है इसका विमर्श के केन्द्र में न आ जाना स्वाभाविक है। पर बावजूद इन सब परिस्थितियों के दलित साहित्य ने ही दलित महिला को जीने का आशय भी बतलाया है। उसने सजग होकर जीना शुरु किया है। वह विचारबिन्दु नहीं विचार प्रवाह बनी है।

पुरुष दलित साहित्यकारों की अपेक्षा स्त्री दलित साहित्यकार स्त्रियों की पीडा उनकी मनोदशा और व्यवहार को अधिक अच्छे ढंग से समझकर विशिष्ट और प्रभावकारी प्रस्तुति देने में समर्थ है। दलित साहित्य लिखने केलिए दलित होना ज़रूरी है। क्योंकी एक दलित ही अपने अनुभव अपमान और भोगे हुए यथार्थ तथा संघर्ष का समाज और व्यवस्था की वस्तुस्थिति का वास्तविक व प्रभावि चित्रण कर सकता है।दलित साहित्य ने नारी विमर्श को एक नयी दिशा ही है। उसे भावनात्मक मार्ग के साथ-साथ तर्कपरक और तथ्यबद्ध ढंग रो लक्ष्यबोध और लक्ष्यबोध की क्रियान्विति के तरीके सुझाए है। विशेषकर दलित वर्ग की नारियों के संदर्भ में को यह और भी अधिक प्रासंगिक तथा प्रभावी बन पडा है। दलित कविता ने विषय और विस्तार दोनों ही दृष्टि से हिन्दी कविता की समृद्द किया है। जिसने हिन्दी कविता को नया आयाम मिला है।

दलित महिला कवयित्रियों में कुसुम मेघवाल, हेमलता, रजनी अनुरागी, नीरा परमार आदि अनेक नाम है जो निरंतर सक्रिय है। किन्तु सुशीला टाकभोरे के 'स्वाती बूँढ और खारे मोती', 'यह तुम भी जानो' और 'तुमने उसे कब पहचाना', रजनी तिलक का 'पदचाप', पूनम तुषामाड का 'माँ मुझे मत दो' और कुंती का 'अंधेरे में कन्दील' आदि कविता संग्रह महत्वपूर्ण है। इनमें रजनी तिलक विशेष रूप से सर्वाधिक उल्लेखनीय है। रजनी तिलक स्त्री अस्मिता और अधिकारों की प्रबल प्रवक्ता है। उनकी कविताओं में स्त्री का यही स्तर प्रमुख रूप से मुखरित हुआ है।

इकाई नहीं मैं
करोड़ों पदचाप है
मूक नहीं मैं।
आधी दुनिया की आवाज़ हुँ।[3]

रजनी की कविताएँ यथार्थ में बन्धन रो मुक्ति का आह्वान है जिनमें अतीत के प्रति आक्रोश वर्तमान के प्रति असंतोष और भविष्य के प्रति आशा का संचार है। कंवल भारती के शब्दों में रजनी एक नई नारी को जन्म देती है, जो समर्पण कर खाक होना नहीं चाहती वस्तु अपने अस्तित्व को एक नया अर्थ देकर जीना चाहती है।रजनी तिलक ने स्त्री की संवेदना को सार्थक अभिव्यक्ति दी है तो पूनम तुषामाडे ने दलित स्त्री के दर्द की सार्थक रूप में अभिव्यक्त किया है। उनकी कविताओं में आज की दलित स्त्री का स्वर मुखरिता हुआ है जो अपर्न सम्मान के प्रति सचेत और स्वाभिमान के प्रति सतर्क है। माँ मुझे मत दो कविता ने उनकी यही चिन्तन प्रकट होती है।

"मै नहीं पहनूँगी उतरत
मै नहीं खाऊँगी जूठन
झाड़ू तसली और कूड़े की विरासत
माँ मुझे मत दो।"[4]

वर्तमान दलित कविता दलित चेतना या मुक्ति की घोषण पत्र बन गयी है।

वह सदियों थे सामाजिक शोषण, भेदभाव और वर्जनाओं से मुक्ति और मानव अधिकारों की सशक्त आवाज़ ने परिवर्तित हो गयी है।दलित साहित्य यह अनुभव करता है कि भारतीय समाज में एक ऐसी संगठित विचारधारा की आवश्यकता है जो सभी एकांगी दृष्टिकोणों में सुधारकर एक नवीन समाज की स्थापना करे ऐसे समाज की स्थापना जिसका मूलाधार न्याय, स्वतंत्रता, समता एवं भ्रातृत्व हो उसकी कार्यविधि प्रजातांत्रिक हो।

दलित साहित्य अनेक प्रकार की चुनौतियों का सामना करते हुए तथा साहित्य और सैद्धातिकी के स्तर पर अनेक अंतविरोदों से घिरा होने पर भी भारतीय अभिव्यक्ति और सामंती मानसिकता और वर्णव्यवस्था केलिए चुनौती खूब करने से निरन्तर सफल हो रहा है। दलित साहित्य की यही शक्ति उभक्ते समकालीनता की द्योतक है।आधुनिक साहित्य में यदि दलित का साहित्य ने अपना खास मुकाम तय किया है तो इसका एक प्रमुख कारण दलितों के साथ-साथ नारियों के जीवन संघर्ष सन्ताप विरोधाभास और मनोस्थिति को समझकर उसका चित्रण करना भी रहा है। दलित साहित्य ने नारियों के समाज में गैर बराबरी की स्थिति से उबरने में पूर्ण योगदान दिया है। यह साहित्य दलित स्त्री वर्ग में आत्मविश्वास और दृढसंक्ल्प का संचार करने में सहयोगी बना है।

****

संदर्भ ग्रन्थ

1. रमणिका गुप्ता- दलित कहानियों का यथार्थ
2. माधुरी छेडा- मराठी दलित स्त्री की व्यथा कथा, अपेक्षा-जुलाई 2003, पृ.51
3. रजनी तिलक- पदचाप
4. पूनम तुषामाड- माँ मुझे मत दो
5. प्रमीला. के.पि- कविता का स्त्रीपक्ष
6. हरपाल सिंह अरुष- दलित साहित्य की भूमिका

सुब्रमण्यम भारती के साहित्य में नारी मुक्ति

डॉ.के.महालक्ष्मी

सहायक प्राध्यापक हिंदी

College of Science and Humanities

SRMIST , Vadapalani Campus,Chennai-26

"महिलाओं के पास जीवन है। उनके पास मन, बुद्धि, आदि पाँच इंद्रियाँ हैं। वे मात्र यंत्र नहीं हैं। जीवित पौधे-लताओं की तरह नहीं होते। आम तौर पर पुरुष के समान होती है, सिर्फ अंगों में परिवर्तन होता है, आत्मा वही होती है।" - सुब्रमण्यम भारती।

भूमिका:-सुब्रमण्यम भारती आधुनिक तमिल कविता के अग्रणी थे और उन्हें अब तक के सबसे महान तमिल साहित्यकारों में से एक माना जाता है।उन्होंने महिलाओं की मुक्ति के लिए लड़ाई लड़ी,समाज में सुधार के लिए सबसे आगे खड़े हुए।भारती ने अपने कविताओं के द्वारा स्त्रियों के मन में जो साहस उत्पन्न किया वह तो अतुल्य है।उनकी कविताएँ नारियों को अपने खिलाफ होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध लड़ने का बहादुरी दिया।

राजा एट्टप्पा नायककर ने उनके काव्य कौशल के लिए भारती की उपाधि दी, जिसका अर्थ है माँ सरस्वती। सन् 1949 में तमिलनाडु राज्य सरकार द्वारा भारती की पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था। भारत में पहला राष्ट्रीयकृत साहित्य भारतीयार का था।

नारीवादी आन्दोलन-नारीवादी आन्दोलन में भारती बालिका शिक्षा और महिलाओं के अधिकार के लिए सन् 1904 से सन् 1906 तक जोरदार तरीके से लिखा गया था। भारती मानते हैं कि महिलाओं को कुछ अधिकार मिलने से महिलाओं की मुक्ति हो जाती है। भारती इस बात से सहमत नहीं हैं कि महिलाओं को अपनी प्रतिभा को छिपाने के लिए गुलाम और उत्पीड़ित किया जाए और उन्हें अपने घरों तक सीमित रखा जाए। भारती महिलाओं को ऐसे रहने के लिए प्रेरित करते हैं कि उसको समाज में निडर, प्रतिभाशाली, मेहनती रहना चाहिए और अंधविश्वासों के आगे नहीं झुकना चाहिए और बिना डर से जीवन में कई कारनामे करनी हैं।

महाकवि सुब्रमण्यम भारती अपने क्रांतिकारी गीतों और अद्भुत कविताओं से सभी के मन में अमर हैं। भारती की कविता ने एक प्रगतिशील, सुधारवादी आदर्श व्यक्त किया। उनकी कल्पना और उनके पद्य की ताक़त विभिन्न पहलुओं में आधुनिक तमिल कविता के अग्रदूत थे। वह एक सशक्त प्रकार की कविता के अग्रदूत थे जो शास्त्रीय और समकालीन तत्वों को जोड़ती थी।

उन्होंने महिलाओं की मुक्ति के लिए लड़ाई लड़ी और इसके साथ समाज में सुधार के लिए खड़े हुए। भारत के पितृसत्तात्मक समाज के भीतर संस्कृति-विशिष्ट मुद्दों जैसे कि बाल विवाह,वंशानुगत कानून और सती जैसी प्रथा के खिलाफ भी लड़ाईयाँ लड़ी है। भारत की पितृसत्तात्मक संस्कृति ने महिलाओं को भूमि-स्वामित्व के अधिकार प्राप्त करने और शिक्षा तक पहुँच को चुनौतीपूर्ण बना दिया, भारती ने अपने कविताओं के द्वारा स्त्रियों के मन में जो साहस उत्पन्न किया वह तो अतुल्य है। नारियों के मन में स्वतंत्रता कि जागृति पैदा करके उन्हें पक्षियों की तरह उड़ने की आशा दिलाएवाले नेताओं में एक हैं सुब्रह्मण्य भारती।वह अपने सोच- विचार को अपने कविताओं के द्वारा नारियों के मन में छाप डाला। वह लिखते हैं "चलो उस मूर्ख को जलाते हैं, जो स्त्रियों को अपमानित करते हैं"। वह भारतीय नारियों को देश की शक्ति मानते थे। उनकी कविताएँ नारियों को अपने खिलाफ होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध लड़ने का बहादुरी दिया।

वह अपने कविताओं में लिखते हैं कि,स्त्री को अपनी परंपरा, अपना संघर्ष और अपनी भागीदारी का इतिहास खुद लिखना होगा। स्त्री जानती हैं कि भिन्न-भिन्न वर्गों, वर्णों और जातियों के बीच नए-नए समीकरणों के साथ उसे अपने लिए लड़ना होगा।

महिला जागरूकता- भारती कैसे नारीवादी हुआ ? इसके पीछे एक घड़ना था। जब भारतियार कलकत्ता में एक कांग्रेस की बैठक में गए, तो निवेदिता देवी ने भारती से पूछा, "तुम अपनी पत्नी को क्यों नहीं लाए?" भारती ने जवाब दिया, "हमें अभी अपनी पत्नी के साथ समान व्यवहार करने और उसे सार्वजनिक स्थान पर ले जाने कि आदत नहीं है, लेकिन मेरी पत्नी को कांग्रेस में लाने का क्या फायदा है?"भारती का उत्तर सुनकर निवेदिता देवी बहुत क्रोधित हुईं और उन्होंने कहा, "यदि महिलाओं को समान अधिकार और उचित शिक्षा नहीं दी जाएगी तो समाज में सुधार कैसे हो सकता है? अपनी पत्नी को अपने दाहिने हाथ के रूप में पुरुष सम्मान दें।"[1]

इस घटना के बाद ही भारती ने अपने विचारों को बदल दिया। भारती बंगाल विभाजन के बाद स्वदेशी आंदोलन में बंगाली महिलाओं के प्रयासों से चकित थीं और उन्होंने तमिलनाडु की महिलाओं को उनके बारे में जागरूक करने के उद्देश्य से 'चक्रवर्ती' में स्वदेशी विचारधारा के बारे में लिखा। भारती का विचार यह है कि,"अगर एक महिला को मुक्त होना है तो उसे पहले जागरूकता हासिल करनी होगी। जागरूकता का तात्पर्य उस ज्ञान से है जो ध्यान से कार्य करने के लिए आवश्यक है"। इसलिए भारती ने सोचा कि महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया जाना चाहिए।

नारीवादी आन्दोलन में भारती का योगदान -भारती तमिलनाडु की उन प्रतिष्ठित महिलाओं को दिखाना चाहते थे, जो पुरुषों के अधीन रहने की आदी हैं। इसलिए, 'धर्मयुथम' शीर्षक में महिलाओं के अधिकारों के लिए लड़े गए आंदोलनों के बारे में वह लेखे थे कि, "तुर्की में महिलाओं के भीतर मुक्ति विद्रोह ने दक्षिण अफ्रीका के पीटरमैरिट्सबर्ग शहर में सन् 1910 में स्थापित नारीवादी आंदोलनों 'महिला मुक्ति संघ', 'ब्रिटेन' और 'महिला साम्राज्य' आदि की शुरुआत की। तमिलनाडु की महिलाएँ इसके लिए कोई प्रयास क्यों नहीं कर रही हैं? "[2] उसने स्त्रियों को अपने स्थिति के बारे में सोचने पर मजबूर कर दिया।

"उन्होंने शीउज़िन नाम की एक चीनी महिला की प्रशंसा में रचित एक नारीवादी आंदोलन गीत का अनुवाद किया, जिसने एशिया में महिलाओं की मुक्ति के लिए लड़ाई लड़ी थी। उन्होंने पांडिचेरी में एक महिला सभा में अपनी बेटी शकुंतला भारती के साथ उस गाना को गाया।"[3] भारती की महिलाओं की उन्नति में गहरी रुचि है। उसने उन्हें आभूषण और कपड़ों जैसी विलासिता को त्यागने की चेतावनी दी। उनका मानना है कि यही महिला मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेगा।

"सन् 1904 में, जब भारती स्वदेशमित्र पत्रिका के लिए अनुवादक के रूप में काम कर रहे थे, चेन्नई के तिरुवल्लिकेनी से वैथियानाथ अय्यर ने महिलाओं के लिए 'चक्रवर्ती' नामक मासिक पत्रिका शुरू की। भारती सन् 1904 से सन् 1906 तक इस पत्रिका के संपादक रहे। इस अवधि के दौरान भारतीय महिलाओं की मुक्ति के लिए सबसे जोरदार तरीके से लिखा गया था।"[4]

बालिका शिक्षा-

बालिका शिक्षा की आवश्यकता को उजागर करना चाहते हुए भारती कहते हैं - "20-30 साल पहले तमिलनाडु में कई लोगों ने कहा था कि अगर बालिका शिक्षा होती तो वे मात्र अनुशासन में असफल हो जाते, अब तमिलनाडु में बालिका शिक्षा आम विषय है। ब्रह्मांडीय दीवारें अभी तक एक साथ खड़े हैं टूटे नहीं।"[5]उन्होंने कहा कि अभिभावकों को लड़कियों की पढ़ाई पर ध्यान देना चाहिए। उनका मानना था कि भारत तभी समृद्ध होगा जब सभी महिलाएँ शिक्षित होंगी।

महिलाओं के अधिकार-वह अपने एक लेख में ऐसे लिखते हैं- "ऐसी जगह, जहाँ नारी को पूर्ण समानता नहीं है,वहाँ हम पुरुषों के साथ नहीं रहेंगे, इसलिए हमें अपने पतियों और पुरुष सामाजिक भागीदारों द्वारा हम पर की जाने वाली क्रूरता से डरना नहीं चाहिए।बहनों, छह साल पर मौत आएगी और सौ पर भी मौत आएगी, धर्म के लिए मरने वाले भी हैं, और अन्य के लिए भी मरने वाले हैं ।बहनों, स्त्री मुक्ति के लिए धर्मयुद्ध शुरू करो, हम जीतेंगे।"[6] भारती नारियों से कहते हैं, पति, भाई, पुत्र आदि लोगों के साथ उनके सम्मान जीना है, सम्मानता के बिना जीने से मर जाना अच्छा है और वे यह भी कहते हैं शिक्षा भी इतनी बड़ी नहीं है, हिम्मत चाहिए। ऐसे भारती महिलाओं को अपने अधिकारों के लिए खुद कैसे लड़ना है करके सिखाते हैं।

भारती ने अपने एक लेख में यह भी बताया है कि एक महिला को अपने पति के साथ यदि वह सात्विक व्यवस्था का पालन करना चाहती है तो उसे ,यह कहना है कि "मैं आपके साथ रहूँगी यदि, मुझे हर तरह से आपके समान रहने के लिए सहमत है। अन्यथा मैं आज रात खाना नहीं बनाऊँगी और मैं सिर्फ मेरे लिए खाना बनाऊँगी और खाऊँगी जो मुझे चाहिए"।

समाज में रीति-रिवाजों के कारण महिलाओं को कई अधिकारों से वंचित किया गया था। भारती मानते हैं कि महिलाओं को कुछ अधिकार मिलने से महिलाओं की मुक्ति हो जाती है।

"महिला का विवाह वयस्क होने से पहले नहीं करना चाहिए।

उन्हें किसी ऐसे व्यक्ति से शादी करने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए जो उन्हें पसंद न हो।

बेटी को संपत्ति में हिस्सा दिया जाना चाहिए।

पति की मृत्यु के बाद पुनर्विवाह की अनुमति दी जानी चाहिए।

जो महिलाएँ बिना शादी किए उद्योग आदि करके सम्मानजनक जीवन जीना चाहती हैं, उन्हें आंगन में रहने के लिए जगह दी जानी चाहिए।

महिलाओं को अपने पति से अलग रहने की अनुमति दी जानी चाहिए। उसका अपमान मत करना चाहिए।

महिलाओं को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाना चाहिए।"ये अधिकार मिलने से समाज समृद्ध होगा। उनका कहना है कि ये अधिकार जल्द दिए जाने चाहिए।[7]भारती ने उस क्रांतिकारी महिला का वर्णन निम्नलिखित कविता में ऐसे कल्पना किए हैं कि- "सीधी नज़रों और साहसिक से राजसी चलानाअपनी बुद्धि पर घमण्ड नहीं करती;और पृथ्वी पर किसी से नहीं डरती;क्रन्तिकारी महिला ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। वह अंधी अज्ञानता में डूबने को तैयार नहीं, वह आगे बढ़ेंगी और अपनी असली कीमत साबित करेंगी। "[8]

उपसंहार-स्त्रियाँ ही संसार की शक्ति है, शक्ति के बिना कुछ भी असंभव है।स्त्रियाँ संसार की भागीदारी हैं,उनके उन्नति से दुनिया की उन्नति निर्भर करती है। चेतना, आत्मविश्वास एवं अपने अधिकारों के प्रति जागृत होने के लिए स्त्री-शिक्षा के महत्त्व और नारीमुक्ति पर 'सुब्रमण्यम भारती' ने अपने रचनाओं के द्वारा घोषित किया है।

****

संदर्भ :-

1. भारती जीवनी, पृष्ठ 28
2. भारतीयर और सामाजिक सुधार, पृष्ठ: 121
3. भारती और सामाजिक सुधार, पृष्ठ: 122
4. सम्राट, जनवरी 1906, पृष्ठ: 143
5.महाकवि भारतियार कट्टैरगल, पृष्ठ: 257
6.महाकवि भारतियार कट्टैरगल, पृष्ठ: 248
7. भारती और सामाजिक सुधार, पृष्ठ: 133
8. पुतुमैपेन ,भारतियार

'रसीदी टिकट' और 'कस्तूरी कुण्डल बसै' स्त्री संघर्ष का दस्तावेज

डॉ.विश्वजीत कुमार मिश्र
सहायक प्राध्यापक,हिन्दी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
अरुणाचल प्रदेश

अनू पाण्डेय
एम.फिल.शोधार्थी,हिन्दी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय अरुणाचल प्रदेश
मो.7002776262

शोध सार- प्रस्तुत शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य 'रसीदी टिकट' और 'कस्तूरी कुण्डल बसै' आत्मकथाओं में अभिव्यक्त स्त्री संघर्ष को रेखांकित करना है | मानव जीवन के व्यक्तित्व के निर्माण में समाज का योगदान अभूतपूर्व होता है | आत्मकथा लेखन में साहित्यकार अपने जीवन के अनुभवों को रेखांकित करता है ये अनुभव सत्य की नींव पर खड़े होते है | यही सत्यनिष्ठता 'रसीदी टिकट' और 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में सफल रूप में दृष्टिपात होते है | आत्मकथा लेखन साहस और चुनौतीपूर्ण कार्य है | यह साहस अमृता प्रीतम और मैत्रेयी पुष्पा के लेखन में दिखाई देता है | नारी संघर्ष का स्वरुप जो आत्मकथा में उभर कर आया है, वह साहित्य के अन्य विधाओं कहानी, उपन्यास और नाटक से अधिक यथार्थ रूप में सामने आता है |

बीज शब्द- आत्मकथा, संघर्ष, अमृता प्रीतम, मैत्रेयी पुष्पा, साहित्य

समानता, मुक्ति, स्वतंत्रता किसी एक वर्ग, जन या समुदाय की नहीं होती बल्कि इस पर सबका समान रूप से अधिकार होता है चाहे वह स्त्री हो या पुरुष | पर यह हमारे समाज की विडंबना ही रही है, जिसमें स्त्री को पुरुषों के समकक्ष न समानता ही प्राप्त है, और न स्वतंत्रता मिली है | स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है, यह संघर्ष ही स्त्री को सफलता दिला सकती है| संघर्ष करती स्त्री की व्यथा को निर्मला पुतुल ने शब्दों में व्यक्त किया है-

"क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण
बता सकते हो तुम ?
एक स्त्री को स्त्री-दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?
अगर नहीं |
तो फिर जानते क्या हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में ...?"[1]

'रसीदी टिकट' में स्त्री संघर्ष के विविध रूपों को देखा जा सकता है, जिसमे अकेलेपन का संघर्ष, प्रेम संबंधी स्त्री संघर्ष, विवाहोत्तर संघर्ष और पारिवारिक संघर्ष प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होते है | बचपन से लेकर आजीवन तक अमृता प्रीतम का जीवन अकेलेपन से भरा हुआ था | अमृता प्रीतम की माँ के मृत्यु के बाद छोटी बालिका अमृता के जीवन में अँधेरा छा जाता है | यह अँधेरा उसके जीवन का अंग बन गया | माँ की मृत्यु के बाद पिता के जीवन में वैराग्य उत्पन्न हो गया | 'रसीदी टिकट' में अमृता प्रीतम कहती है "कई पल ऐसे भी आते थे-मैं बिलख उठती, मेरी समझ में नहीं आता था मैं उन्हें स्वीकार थी या अस्वीकार..."[2] जीवन में वैराग्य उत्पन्न हो जाने के बाद वे सारी रात कविता लिखते और सारा दिन सोते | अमृता प्रीतम को पिता से वह प्यार न मिला जिसकी उन्होंने कल्पना की थी| अमृता प्रीतम का विवाह सन् 1936 में उनके पिता द्वारा करा दिया जाता है | यह विवाह अमृता प्रीतम की मर्जी के विरुद्ध होता है, विवाह के बाद उनके जीवन में अकेलेपन के साथ-साथ मानसिक संघर्ष को भी झेलना पड़ता है, वह एक ऐसे रिश्ते में बंध गई थी जो उन्हें कभी दिल से स्वीकार नहीं था | विवाह के बाद अमृता प्रीतम के जीवन में साहिर आते है | बचपन में 16 वर्ष की आयु में अमृता प्रीतम ने जिस 'राजन' की कल्पना की थी, उस राजन की झलक उन्हें साहिर में दिखाई देती है | अपनी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' में उन्होंने अनगिनत बार साहिर की चर्चा की थी | अमृता प्रीतम ने साहिर को बड़ी सिदत से चाहा | पर साहिर अमृता प्रीतम को अपना नहीं पाते | जिस कारण अमृता प्रीतम का जीवन अकेलेपन से भर जाता है |

'कस्तूरी कुण्डल बसै' आत्मकथा में दो स्त्री रूप माँ-बेटी के संघर्ष को देखा जा सकता है, जो एक दूसरे से विचारों में भिन्न एवं असहमत दिखाई देती है | पहली स्त्री रूप कस्तूरी का है और दूसरी स्त्री रूप मैत्रेयी पुष्पा का है | कस्तूरी का जीवन संघर्षमय जीवन रहा है, उनका संघर्ष सम्पूर्ण स्त्री जाति के लिए प्रभावित और प्रेरित करने वाला है | मैत्रेयी पुष्पा को भी अपनी माता जी कस्तूरी के जीवन संघर्ष ने प्रभावित किया था, जिस कारण वह अपनी माता की आत्मकथा लिखती है | एक इंटरव्यू के दौरान मैत्रेयी पुष्पा कहती है,कि वह एक ऐसी स्त्री की कहानी कहनी चाहती थी जो विधवा हो जाने के बाद अपने ससुर से कहती है कि वह पढना चाहती है, और वह ऐसे ससुर की कहानी कहना चाहती जो उस समय (आजादी से पूर्व) अपनी बहू को पढने की इज्जाजद देते है | यह घटना प्रभावित करती है | 'कस्तूरी कुण्डल बसै' आत्मकथा में अकेलेपन, शिक्षा के लिए संघर्ष, मुक्ति के लिए संघर्ष दिखाई देता है | यह सर्वविदित है, कि आजादी से पूर्व स्त्रियों को पढने-लिखने की इज्जाजद नहीं होती थी | लड़कियों को तो बोझ समझा जाता था, परिवार वाले यही चाहते थे कि बेटियों को जल्द से जल्द विवाह के बँधन में बाँध दे | विवाह के लिए योग्य लड़का की आवश्यकता उन्हें महसूस नहीं होती, अधेड़ व्यक्ति से ही अपनी लड़की को खूंटे से बाँध देना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं होती थी | यही घटना कस्तूरी के साथ घटती है | एक अधेड़ व्यक्ति से कस्तूरी का विवाह उसके परिवार वाले बिना उसके मर्जी से कर देते है | जिस कारण वह अल्पआयु में ही विधवा हो जाती है | यह संसार की विडंबना है, कि जब कोई स्त्री विधवा हो जाती है, तो न तो उसका साथ उसके मायके वाले देते है, न ससुराल वाले | 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में दूसरी स्त्री रूप मैत्रेयी पुष्पा का है | मैत्रेयी पुष्पा का बचपन दु:खों और अकेलेपन के मध्य में व्यतीत हुआ | मैत्रेयी पुष्पा की माँ कस्तूरी नौकरी करने के कारण मैत्रेयी का ध्यान नहीं रख पाती और न उसे वह प्यार ही दे पाती है, जिसे बचपन में हर संतान की इच्छा होती है | मैत्रेयी इस व्यथा को आत्मकथा में व्यक्त करती है वह कहती है- "दादी,सरला,शिवकुमार के कितने मजे है, रोते है, जिद करते है | चीख -चिल्लाकर अम्मा को पुकारते है | वे डांटती है तो कंधे उचकाकर भाग जाते है | मेरी माताजी इतना सब नहीं झेल सकती | सो मैंने कभी नहीं कहा कि मैं खेलूँगी, मैं गाऊँगी, मैं झूलूँगी |"[3] माँ का साथ न मिलने के कारण मैत्रेयी के युवा अवस्था के दौरान कभी उसे ड्राईवर, कभी प्रिंसिपल, कभी अपने ही सहपाठियों के दूर्वव्यवहार का सामना करना पड़ता है | 'कस्तूरी कुण्डल बसै' आत्मकथा में मैत्रेयी पुष्पा के अकेलेपन से ग्रस्त स्त्री का मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है | उनका ऐसा मानना है कि अकेला बच्चा इस संसार में सबसे ज्यादा असहाय होता है, इस दर्द को उन्होंने खुद झेला था | आत्मकथा में एक जगह वह लिखती है-"अकेली निस्सहाय औरत की अपेक्षा अकेला बच्चा कई गुना असहाय होता है |"[4] इन्हीं कारणों के कारण मैत्रेयी को लगता कि वह एक बंधन में जकड़ी हुई है और इस बंधन की डोर कस्तूरी के हाथ में है | मैत्रेयी पढने में अच्छी थी पर उनका पढने में मन नहीं रमता था | इसका एक कारण उनके अंदर असुरक्षा की भावना थी |इस असुरक्षा

का निवारण करने के लिए मैत्रेयी अपनी माँ से अपना विवाह करने को कहती है | मैत्रेयी सोचती थी कि अगर उसका विवाह हो जायगा तो वह सुरक्षित हो जाएगी | पति के सान्निध्य से उसका अकेलापन भी दूर हो जाएगा | विडंबना यही रही कि विवाह के बाद मैत्रेयी को सुरक्षा तो मिली पर उनका अकेलापन दूर नहीं हुआ | पति के रूप में उन्होंने दोस्त की कामना की थी | पर जब पति ने उन्हें गृहस्थी सँभालने को कहा तो उनका सारा सपना टूट गया | इस तरह मैत्रेयी पुष्पा का सम्पूर्ण जीवन अकेलेपन से भरा रहा |

अमृता प्रीतम और मैत्रेयी पुष्पा दोनों स्त्रियों ने संघर्ष को बहुत करीब से देखा और भोगा है और इस संघर्ष की जटिलताओं को उन्होंने आत्मकथाओं में व्यक्त किया है | 'रसीदी टिकट' और 'कस्तूरी कुण्डल बसै' आत्मकथाओं में स्वतंत्र होने की छटपटाहट, लक्ष्य प्राप्त की आतंरिक अकुलाहट और अधिकार प्राप्ति के संघर्ष को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है |विडंबना यही है, कि दोनों लेखिकाएँ अपनी अस्मिता को निरंतर बचाए रखने के लिए घर, परिवार और समाज रूपी चक्की में लगातार पिसती रहती है | वे संघर्ष करती है , रुढ़िवादी मान्यताओं, आदर्शों और मान्यताओं का |

उपसंहार – समाज को वही प्रेरित कर सकते है, जिसके मन में समाज कल्याण जैसे उदगार हो | अमृता प्रीतम, मैत्रेयी पुष्पा और कस्तूरी समाज से अपने हक़ के लिए संघर्ष तो करती ही है पर उनके मन में यह उदार भावना भी है कि वह अन्य स्त्रियों के बारे में सोचती है | जन कल्याण की भावना सबके मन में नहीं आ सकती | अमृता प्रीतम, मैत्रेयी पुष्पा और कस्तूरी का यह व्यक्तित्व प्रभावित करने के साथ-साथ प्रेरणा भी देता है | अमृता प्रीतम का जीवन स्त्री संघर्ष का ज्वलंत उदाहरण है वे पूरे जीवन संघर्ष करती है उनके इस संघर्ष से वो स्त्रियों को भी शिक्षा मिलती है जो संघर्ष करने से भागती है | पितृसत्तात्मक समाज अमृता प्रीतम, मैत्रेयी पुष्पा और कस्तूरी को दबाने की कोशिश करते है लेकिन वे कहीं भी कमजोर नजर नहीं आती है |

****

सन्दर्भ –

1)http://kavitakosh.org
2)रसीदी टिकट, अमृता प्रीतम, पृ-9
3)कस्तूरी कुण्डल बसै, मैत्रेयी पुष्पा,पृ-42
4)कस्तूरी कुण्डल बसै,मैत्रेयी पुष्पा,पृ-120

बाबा साहेब अंबेडकर के अनमोल विचार...

* मैं ऐसे धर्म को मानता हूं, जो स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा सिखाए।
* हम सबसे पहले और अंत में भी भारतीय हैं।
* भाग्य में विश्वास रखने के बजाए अपनी शक्ति और कर्म में विश्वास रखना चाहिए।
* बुद्धि का विकास मानव के अस्तित्व का अंतिम लक्ष्य होना चाहिए।
* जब तक आप सामाजिक स्वतंत्रता नहीं हासिल कर लेते, कानून आपको जो भी स्वतंत्रता देता है, वो आपके किसी काम की नहीं।
* जीवन लंबा होने की बजाए महान होना चाहिए।
* उदासीनता एक ऐसे किस्म की बीमारी है जो किसी को प्रभावित कर सकती है।
* यदि हम एक संयुक्त एकीकृत आधुनिक भारत चाहते हैं तो सभी धर्मों के शास्त्रों की संप्रभुता का अंत होना चाहिए।
* जो कौम अपना इतिहास तक नहीं जानती है, वे कौम कभी अपना इतिहास भी नहीं बना सकती है।
* यदि मुझे लगेगा की संविधान का दुरुपयोग हो रहा है तो सबसे पहले मै इस संविधान को ही जलाऊंगा।
* एक इतिहास लिखने वाला इतिहासकार सटीक, निष्पक्ष और ईमानदार होना चाहिए।
* समानता एक कल्पना हो सकती है, लेकिन फिर भी इसे एक गवर्निंग सिद्धांत रूप में स्वीकार करना होगा।
* हिन्दू धर्म में विवेक, कारण और स्वतंत्र सोच के विकास के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।
* एक महान आदमी एक प्रतिष्ठित आदमी से इस तरह से अलग होता है कि वह समाज का नौकर बनने को तैयार रहता है।
* पति-पत्नी के बीच का संबंध घनिष्ठ मित्रों के संबंध के समान होना चाहिए।
* हर व्यक्ति जो मिल के सिद्धांत कि 'एक देश दूसरे देश पर शासन नहीं कर सकता' को दोहराता है उसे ये भी स्वीकार करना चाहिए कि एक वर्ग दूसरे वर्ग पर शासन नहीं कर सकता।
* इतिहास बताता है कि जहां नैतिकता और अर्थशास्त्र के बीच संघर्ष होता है, वहां जीत हमेशा अर्थशास्त्र की होती है। निहित स्वार्थों को तब तक स्वेच्छा से नहीं छोड़ा गया है, जब तक कि मजबूर करने के लिए पर्याप्त बल न लगाया गया हो।
* मनुष्य नश्वर है, उसी तरह विचार भी नश्वर हैं। एक विचार को प्रचार -प्रसार की जरूरत होती है, जैसे कि एक पौधे को पानी की, नहीं तो दोनों मुरझाकर मर जाते हैं।
* कानून और व्यवस्था राजनीतिक शरीर की दवा है और जब राजनीतिक शरीर बीमार पड़े तो दवा जरूर दी जानी चाहिए।
* समाज में अनपढ़ लोग है ये हमारे समाज की समस्या नहीं है लेकिन जब समाज के पढ़े-लिखे लोग भी गलत बातों का समर्थन करने लगते है और गलत को सही दिखाने के लिए अपने बुद्धि का उपयोग करते है यही हमारे समाज की समस्या है।

****

सनातन : भारतीय सामाज व्यवस्था का पोस्टमॉर्टम

प्रा. डॉ. गिरीश मोरे
अनुवाद : डॉ.उत्तम राजाराम आळतेकर ,Mo-9881056506

॥ १ ॥

शरणकुमार लिंबाले का उपन्यास 'सनातन' 2018 में प्रकाशित हुआ था। उस समय उसके बारे में बहुत कुछ कहा या लिखा नहीं गया था। के. के. बिरला फाउंडेशन, नई दिल्ली द्वारा भारतीय भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास के लिए 'सरस्वती सम्मान 2020' से सम्मानित किया गया। उसी दिन से उपन्यास 'सनातन' चर्चा में आया। इसका दुसरा संस्करण 2021 में प्रकाशित किया गया है। इससे पहले, शरणकुमार लिंबाले ने अपने आसपास की कई घटनाओं और घटित प्रसंगों पर शाब्दिक प्रतिक्रिया देकर उपन्यास लिखें है। उनके 'भिन्नलिंगी' (1991), 'उपल्या' (1998), 'हिंदू' (2003), 'बहुजन' (2006), 'झुंड' (2009), 'ओ' (2015), 'सनातन' (2018) और 'राम राज्य' (2019) ऐसे आठ उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

क्या लिखें, कैसे और कब लिखें यह लेखक का प्रश्न है, उसे वह स्वतंत्रता है। एक बार लेखन प्रकाशित हो जाने के बाद, इसके बारे में क्या कहना या लिखना पाठकों का प्रश्न है, यह उनकी स्वतंत्रता है। लेखक और पाठक की अपनी–अपनी अलग अभिव्यक्ति होती है। और यह स्वतंत्रता का सम्मान साहित्य और सामाजिक व्यवहार के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक भी है।

जबकि लेखक विशेष प्रभाव से लिखता है और पाठक बिना प्रभाव के नहीं होता है। एक निष्प्रभावी या शुद्ध मनुष्य के रूप में मनुष्य का व्यवहार धीरे-धीरे खराब होता जा रहा है। मनुष्य न केवल प्रकृति का एक तत्त्व है, वह समाज का एक अभिन्न अंग भी है। उस समय की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्कृति उन्हें प्रभावित कर रही है। लेखक उस संस्कृति को पचाने की कोशिश करते हुए लिखता है या उस पर कोई वैकल्पिक विचार देता है। पाठक उस पर पारित संस्कृति के साथ पढ़ भी रहा है। अतः स्वाभाविक है कि साहित्यिक कृतियों में व्यक्त विचार और पाठकों द्वारा व्यक्त की गई प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।

भारत जैसे बहु-जातीय, बहु-धार्मिक, बहुभाषी, बहु-सांस्कृतिक वातावरण में तटस्थ होकर सोचना असंभव नही है, लेकिन आसान भी नहीं है। यह एक शाश्वत सत्य है कि प्रकृति में रहने वाला प्रत्येक प्राणी स्वार्थी है। उस व्यक्ति या समूह के स्वार्थ का स्तर क्या होना चाहिए यह एक सवाल है। यद्यपि यह शाश्वत सत्य है कि जीवन स्वार्थी है, स्वार्थ शाश्वत नहीं है। गौतम बुद्ध के अनुसार स्वार्थ को आवश्यकता में बदलना आना चाहिए। स्वार्थ के लिए की गई हिंसा और आवश्यकता के कारण की गई हिंसा में अंतर किया जाना चाहिए। गौतम बुद्ध आवश्यकता के लिए की गई हिंसा की वकालत करते हैं। इसका पता लगाया जा सकता है कि, लेखन लेखक का स्वार्थ है या यह एक आवश्यकता है। शरणकुमार लिंबाले द्वारा 'सनातन' के माध्यम से ली गई भूमिका स्वार्थी है या आवश्यकता , इसका भी पता लगाया जा सकता है। उससे पहले सनातन क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर खोजना होगा। सनातन का अर्थ है शाश्वत, चिरस्थायी, अखंड, अपरिवर्तनीय या अविनाशी। जो हमेशा के लिए रहता है उसे सनातन कहते है। सनातन का अर्थ है परंपरा द्वारा किए गए कार्यों पर विश्वास करना । इसलिए सनातन शब्द में पारंपरिक या रूढ़िवादी का अर्थ छिपा है। उसके आधार पर, सनातन धर्म वास्तव में क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। वह धर्म जो अनादि काल से चला आ रहा हो और जिसका कोई अंत न हो, वह सनातन धर्म कहलाता है। हिंदू धर्म शाश्वत है क्योंकि इसमें कोई परिवर्तन नहीं है । जन्म, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, आत्मा, ईश्वर, जाति व्यवस्था, या प्रथाएं सनातन धर्म की परंपरा में शाश्वत हैं। जो इसके विरुद्ध सोचता हो और व्यवहार करता है, वह शाश्वत नहीं है। शरणकुमार लिंबाले के उपन्यास 'सनातन' में भी इसको खोजा जा सकता है।'सनातन' का समर्पण पत्र- शरणकुमार लिंबाले द्वारा लिखा 'सनातन' का समर्पण पत्र आज के समय में बहुत अलग हो सकता है। *' जो गाय की हत्या के लिए मारे गए थे ।'* इस वाक्य मे आज का वर्तमान इंगित होता है । भूतदया शब्द नया नहीं है। जानवरों के प्रति दया दिखाना इसे भूतदया कहते है। भारत के संविधान के अनुच्छेद 48 में कहा गया है - 'राज्य आधुनिक और वैज्ञानिक तरीके से कृषि और पशुपालन की एक ध्वनि प्रणाली स्थापित करने का प्रयास करेगा और विशेष रूप से गायों, बछड़ों और अन्य दुधारू, प्रजनन की नस्लों के संरक्षण तथा सुधार के उपाय करेगा। मवेशियों और उनके वध पर रोक लगाने के लिए... अनुच्छेद 48 (सी) के अनुसार, राज्य देश के पर्यावरण की रक्षा और संरक्षण साथ ही वनों और वन्य जीवन की रक्षा करने का प्रयास करेगा। (2003 : पृ.18) यह निगरानी करना आवश्यक है कि यह खंड लागू होता है या नहीं। उक्त उपवाक्य में कहीं भी धार्मिकता नहीं है।

1976 में महाराष्ट्र में पशु संरक्षण अधिनियम बनाया गया था। इस अधिनियम में गाय की हत्या पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया था। 1995 में, गठबंधन सरकार ने पशु संरक्षण संशोधन विधेयक पारित किया। 2014 में, पशु वध पर प्रतिबंध लगाने के लिए पशु संरक्षण संशोधन विधेयक में संशोधन किया गया था। यह बिल 2017 में पास हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि गौ-पोषण, संरक्षण और वध निषेध की नीति बहुत पहले की है। इस नीति को धर्म का समर्थन प्राप्त था और समाज में स्वयंभू गौरक्षकों का उदय हुआ।

हालांकि भैंस और रेडा गाय की तरह उपयोगी जानवर हैं, लेकिन उनके वध पर प्रतिबंध नहीं है। गाय में 33 करोड़ देवी-देवताओं के वास करने की धार्मिक मान्यता को बल मिला। स्वयंभू गौरक्षकों में हड़कंप मच गया। राजस्थान में अलवर हाईवे पर वाहनों को रोककर जांच शुरू कर दी गई है, उसमें कुछ गायें मिलीं। आशंका जताई जा रही है कि इन्हें बूचड़खाने ले जाया जा रहा है। पंद्रह लोगों को बेरहमी से पीटा गया। उनमें से एक की मौत हो गई। यह घटना 2017 की है। उसी वर्ष नवंबर में, उमर खान नाम के एक व्यक्ति को एक गौ रक्षक के हमले में मात्र संदेह के आधार पर मार दिया गया था। 2018 में रकबर नामक युवक की हत्या कर दी गई थी। इन सभी मामलों में बिना सच या झूठ का पता लगाए कानून तोड़ने की घटनाएँ घटित हुई । 2017 में गोरक्षा के नाम पर हुई घटनाओं और उपन्यास 'सनातन' की भेंट को सहसंबद्ध किया जा सकता है। मारे गए लोग मुसलमान थे। भारतीय मुसलमानों में जो धर्मांतरित हैं, शूद्रतिशूद्र जातियों ने अधिक से अधिक धर्मांतरण किया है। इसलिए 'सनातन' की आहुति दर्शाती है कि जो लोग गोहत्या के संदेह में मारे गए थे वे भारतीय धर्मांतरित थे। वह सनातन धर्म के सिद्धांत पर अछूत थे। उनके प्रति सहवेदना इस समर्पण पत्र मे व्यक्त की गई है। 'सनातन' में समय का टुकडा और प्रवृत्ति -अगर हम ' सनातन ' के समय के टुकडे को समझें, तो सामाजिक जीवन की सीमा और प्रवृत्ति को समझा जा सकता है। कालशरणता और कालभेदकता की प्रवृत्ति समय समय का फल होता है। कालशरणता के कारण संघर्ष नहीं होता है, लेकिन कालभेदकता सामाजिक जीवन में उथलपुथल का कारण बन सकता है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ हर युग में पायी जाती हैं। इसलिए 'सनातन' मे चित्रित समय का टुकडा और प्रवृत्ति को समझना चाहिए।सोनाई गांव के महार बस्ती के युवा लड़के भीमनाक और सिदनाक होली का त्योहार मनाते हैं। " गाँव की होली तब तक

नहीं जलती जब तक महारों की होली से अंगार ले जाकर जलाई नहीं जाती। यह हमारी होली की शान है।" (लिंबाले : 2021,पृ.16) ऐसे अंबरनाक गर्व से कहता है। गांव के लोग महारों की होली से अंगार ले जाकर गांव की होली जलाते है। ' सनातन ' उपन्यास की शुरुआत इसी घटना से होती है।भीमनाक और सिदनाक ब्रिटिश सेना में शामिल होते है । सिदनाक अपनी ही भूमि पर इधर-उधर तबादला होते-होते रिटायर हो जाता है। लेकिन भीमनाक को लंदन जाना पड़ता है । वह कैरेबियन 'मेरी' नामक लडकी से शादी करता है। उनको एक लड़का होता है जिसका नाम पीटर था। पीटर की शादी नीग्रो मूल की नाइजीरियाई बार्बरा से हुई थी। उनके दो बेटे हैं, कॉर्टर और जॅक। मजदूरों को लाना और भेजने वाले जहाज पर काम करते हुए भीमनाक सौ सौल जीता हैं। हालाँकि, पोता कॉर्टर अपने दादा के पैतृक गाँव का दौरा करने के लिए भारत आता है। वह सोनाई गांव के महार बस्ती में मरी हुई गाय का मांस खाने वाले महारों को रोकता है। यह देखकर कि कोई उसकी बात नहीं सुन रहा है, वह मांस पर मल फ़ेक देता है। महार लोंग कॉर्टर की बात से सहमत होते हैं। लेकिन यह सोचकर कि उसने मरी हुई गाय का मजाक उड़ाया है, गांव के युवक उसे लाठी और कुल्हाड़ियों से पीटते है । नरसोपंत का बेटा वेदांत और हिंदू संगठन के स्वयंसेवक आते हैं, वेदांत अंतिम संस्कार करने के लिए सहमत होते हैं और उपन्यास पूरा हो जाता है। दिसंबर 1600 में भारत में स्थापित कंपनी ' द कंपनी ऑफ मर्चेंट्स ऑफ लंदन ट्रेडिंग टू द ईस्ट इंडीज ' का उल्लेख आया है। एक और कंपनी 1698 में भारत में प्रवेश करती है। 'सनातन' में उल्लेख मिलाता है कि 1708 में दोनों कंपनियों का विलय हुआ और 'ईस्ट इंडिया कंपनी' बनाई गई। व्यापार करने आई ईस्ट इंडिया कंपनी को मुग़ल-मराठों ने रोक लिया था I 1757 की प्लासी की लड़ाई से अंग्रेजों ने भारत में शासन करना शुरू किया। कंपनी ने व्यापार की रक्षा और सत्ता स्थापित करने के लिए 1758 से भर्ती शुरू की। विभिन्न जातियों के लोगों को सेना में भर्ती किया जाता था। 1781 में, ब्रिटिश सरकार ने कंपनी पर नियंत्रण कर लिया। अंग्रेजों ने भारत में पूर्ण सत्ता स्थापित करने की पहल की। कई संस्थानों पर कब्जा कर लिया। उत्तर पेशवाई के दूसरे बाजीराव को अंकित करना शुरू किया। 1818 में भीमा कोरेगांव की लड़ाई ने पेशवाई को समाप्त कर दिया। इस समय के दौरान, मिशनरी ख्रिश्चन धर्म का प्रचार कर रहे थे और धर्मांतरण करवा रहे थे। हिंदुत्व खतरे में था। इसलिए हिंदू धर्म के रक्षक सक्रिय हो गए। ब्रिटिशों का धार्मिक हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं था। आदिवासी और हिंदू धार्मिक सैनिकों ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। विद्रोहियों को सेना से बर्खास्त कर दिया गया था। अछूत सैनिकों को भी हटा दिया गया। इस अवधि के दौरान पुणे में सामाज सुधार आंदोलन शुरू हुआ। 1848 में जोतीराव फुले जी ने लड़कियों के लिए एक स्कूल शुरू किया। जैसे ही अंग्रेजों द्वारा हथियार जब्त किए गए, अछूत महार सैनिकों के अधिकार समाप्त हो गए। वे धार्मिक गुलामी में फंस गए। 1903 में शिवराम जानबा कांबले ने सासवड में महारों की एक सभा का आयोजन किया। 1588 को अछूतों को सेना में भर्ती करने का अनुरोध करते हुए महारों का समर्थन पत्र ब्रिटिश सरकार को प्रस्तुत किया गया।

1918 में, साउथ बरो कमेटी के समक्ष, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ने गवाही देकर अछूतों का पक्ष लिया। राजर्षि शाहू जी ने पिछड़े लोगों के लिए आरक्षण की नीति की घोषणा की थी। महर्षि विठ्ठल रामजी शिंदे जी का अस्पृश्यता का काम शुरू था।'सनातन' उपन्यास में चित्रित समय लगभग दो सौ से ढाई सौ वर्ष पुराना है। इस समय की प्रवृत्ति धर्मांतरण थी।निजाम शासन के दौरान महार मुसलमान बन गए। बादनाक महार चांदअली बन जाता है। बाद में, सिदनाक महार ख्रिश्चन बन गया और फिलिप बुश बन गया । रतनाक स्टीफन बन जाता है। इस काल में सैनिकों की प्रवृत्ति भी ध्यान देने योग्य है। भीमनाक और सिदनाक सेना में शामिल हो गए। स्वाभिमान का जीवन जीने लगते हैं । इसके अलावा पलायन की प्रवृत्ति को भी उपन्यास में विशेष स्थान प्राप्त है। गांव में हो रहे अन्याय को दूर करने के लिए गांव छोड़ा जा रहा था।

धर्म की रक्षा के लिए कार्य करने की सनातन प्रवृत्ति इस समय के टुकडे के केंद्र में आ गई है। देवगढ़ के गोविंद भट्ट सनातन धर्म की रक्षा के लिए धर्मांतरण को रोकने की कोशिश करते हैं। उनकी विरासत को उनके बेटे मोरोपंत और नरसोपंत जारी रखते है। नरसोपंत धर्म परिवर्तन लाने वाले फादर एडमंड को गोली मारकर हत्या कर डालाता है । उसका पुत्र वेदांत अपने पूर्वजों की शाश्वत परंपरा को जारी रखता है। सनातन प्रवृत्ति की तरह अंग्रेजों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति भी इस समय के टुकडे में आ गई है। सैनिकों की भर्ती स्वार्थ के लिए की जाती है। संख्या बढ़ाने और ब्रिटिश सरकार को लाभ पहुंचाने के लिए मिशनरियों द्वारा धर्मांतरण किया जाता है। यह समस्याओं का समाधान नहीं करता है। इसके अलावा भारतीय मजदूरों को गुलाम बनाकर देश के बाहर की कोलोनी में मेहनत करवाने भेजा जाता हैं।कुल मिलाकर 'सनातन' का इतिहास निजाम शासन, उत्तरी पेशवाओं, 1757 में प्लासी की लड़ाई, 1818 में भीमा कोरेगांव की लड़ाई, 1857 के विद्रोह और सुधारवादी आंदोलनों का है। इस काल में सनातन प्रवृत्ति जो परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयास करती है, धार्मिक बंधनों को सहने की प्रवृत्ति, अन्याय से मुक्त होने की प्रवृत्ति, परंपरागत विरोधी प्रवृत्ति, अन्याय के खिलाफ लड़ने वाले आदिवासियों की जुझारू प्रवृत्ति और लोगों को गुलाम बनाने की अंग्रेजों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से उपन्यास ' सनातन ' मे दर्शाया गया है। शरणकुमार लिंबाले का उपन्यास 'सनातन सामाजिक व्यवस्था के पेट के रोग का निदान करता है। उपन्यास उन एंटीबॉडीज पर भी विचार करता है जो रोग को मिटाने के लिए उत्पन्न होते हैं। इसके अलावा, यह सामाजिक व्यवस्था में शाश्वत प्रवृत्ति को भी प्रकट करता है। ऐसा करते हुए उपन्यासकार कुछ टिप्पणी करता है, जिससे उसकी भूमिका को भी याद किया जाता है।

॥ २ ॥

'सनातन' का निदान -शरणकुमार लिंबाले के उपन्यास 'सनातन' में भारतीय सामाजिक व्यवस्था का पोस्टमार्टम है। बीमार व्यक्ति डॉक्टर के पास जाता है और जांच करवाता है। डॉक्टर उसमें रोग का कारण बताता है। यदि निदान सही है, तो उपचार सही ढंग से किया जा सकता है। केवल अनुमान और कल्पना से उपचार करने से रोग ठीक नहीं हो जाता। यह सूत्र उपन्यास 'सनातन' पर लागू किया जा सकता है। शरणकुमार लिंबाले उपन्यास 'सनातन' में सामाजिक व्यवस्था के निदानकर्ता की भूमिका निभाते नजर आ रहे हैं। उपचार के लिए पहला कदम निदान होता है। उपन्यास 'सनातन' इसका निदान करता है और अगला 'रामराज्य' (2019) क्या यह उपन्यास सामाजिक व्यवस्था की बीमारी का इलाज हो सकता है? इसकी भी अलग से तलाश की जानी आवश्यक है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में रोग का निदान कौन करता है, जिनको समाज व्यवस्था के सदमे, दर्द और पीड़ा सहनी पड़ती हैं। सामाजिक व्यवस्था का लाभ पाने वाले कभी भी निदान के लिए आगे नहीं आएंगे। उन्हें लगता है कि सामाजिक व्यवस्था के आंतरिक और बाहरी पहलू बेहद स्वस्थ हैं। इस अर्थ से लेखक एक निदानकर्ता की भूमिका ग्रहण करता है, उसे सिस्टम के साथ एक दाहक अनुभव आया होगा ऐसा लगता है। न केवल भारत में बल्कि दुनिया के किसी भी देश के, नागरिकों को दूसरों की तरह इंसान के रूप में रहने में सक्षम होना चाहिए। यह उनका प्राकृतिक अधिकार है। हर कोई हर किसी की तरह इंसान के रूप में नहीं रह सकता क्योंकि मानव निर्मित प्रणाली कुछ लोगों के लिए बाधाएं पैदा कराती है । इसके पीछे कुछ लोगों का

स्वार्थ निहित है। यह सत्ता का, हित का और साम्राज्यवाद का स्वार्थ है। यह उपन्यास इस बारे में सोचता है कि एक भारतीय व्यक्ति के रूप में जीने में क्या क्या बाधाएँ हैं।भारत में बुद्धि के आधार पर बनाई गई चतुर्वर्ण प्रणाली प्रायः शोषण पर आधारित है। यह चतुर्वर्ण प्रणाली है जो निचले वर्ण का शोषण करने वाले ऊपरी वर्ण का खुलकर समर्थन करती है। इसके माध्यम से गठित विभिन्न उच्च-निम्न जातियाँ इस पारंपरिक व्यवस्था का पालन करती हैं।

शोषक - शोषित की भूमिका में व्यवहार करने के लिए विभिन्न जातियों ने कई रुढ़ियों, परंपराओं और रीतिरिवाजों को विकसित किया है। उन परंपराओं में से एक अस्पृश्यता है। 'सनातन' उपन्यास में अस्पृश्यता की परंपरा पालन करनेवाले दोनों गट का चित्रण किया गया है। उसमें भी महार जाति को अछूत जाति मानकर गावं का होनेवाला व्यवहार चित्रित किया गया हैं। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि अछूतों की परछाई भी न पड़े। बादनाक, अमृतनाक, अंबरनाक, भूतनाक, येसनाक, सिदनाक, भीमनाक, धोंडनाक, रायनाक, रतनाक, जतनाक, कृष्णनाक, नागनाक, खंडनाक और अलग नाम धारण करनेवाला चोखा महार जो अपवाद के रूप में आए थे, वे सभी महार जाति के लोग हैं जो अस्पृश्यता की प्रथा का पालन करते हैं। हम अछूत हैं, ऊंची जाति के लोगों को अपना स्पर्श न हो इस बात का ख्याल रखते हैं। प्रतिदिन मंदिर जाने वाले चोखा महार अंदर जाने की बजाय सवर्णों द्वारा मंदिर के बाहर छोड़े गए जूतों के पास बैठ जाते हैं। बाहर छोडा गया जूता नरसोपंत का है या किसी और का हैं, उसको जबानी याद है।

शोषक – शोषितों के लिए बनाई और एक परंपरा है गावकी। गावकी गाँव के मामलों को चलाने के लिए बनाइ गई गाँव की परंपरा का एक अभिन्न अंग गावकी होता है। गांव के विभिन्न कार्य कौनसे है और उसे कौन करेगा इस संबंध में 'सनातन' में एक तस्वीर रेखांकित की गई है। सोनाई गांव के महार बस्ती के अंबरनाथ, भूतनाक, यसनाक और धोंडामाय यह गांव के येसकर थे । गांव की सेवा करना उनका काम था । उन पर लगाई गई पाबंदियों को लेकर एक बयान है - ' महारों का सार्वजनिक स्थानों पर घूमना प्रतिबंधित है। उनके लिए एक अलग बस्ती, एक अलग जलकुंड और एक अलग शमशान निर्धारित है। महारों को जाती के स्थान के अनुसार वर्तन करना पड़ता था।...महार का मतलब दो पैरों वाला जानवर। वे गुलामी के सहज आदी थे।...लोग महारों को मरे हुए जानवर को घसीटकर ले जाने को कहते। महार मरे हुए जानवरों को घसीटते हुए ले जाते । (लिंबाले: 2021, पृ. 20) महारों को गाँव से या बाहर से आए किसी भी उच्च जाति के व्यक्ति की सेवा करनी पड़ती । सेवा करने से या सेवा करवाने के कारण समस्याएँ उत्पन्न होती नहीं, लेकिन उस समय किया गया खराब व्यवहार या शोषण सामाजिक जीवन को रोगी बना देता है। शोषण के आधार पर मानदंड बनाने के लिए कई मिथक बनाए जाते हैं। महारों की वर्तमान स्थिति के लिए पिछले जन्मों के पाप ही जिम्मेदार है ऐसा कारण दिया जाता है । महार अछूत क्यों हैं ?, वे गाँव के बाहर क्यों रहते हैं ?, वे मरे हुए जानवरों का मांस क्यों खाते हैं ?, इसका उत्तर कई मिथकों में मिलता है। उनमें से कुछ कहानियाँ 'सनातन' उपन्यास में छपी हैं। जैसे कि महादेव- पार्वती के गाय खाने वाले बच्चे की कहानी, गाय के चार पुत्रों में से चौथे पुत्र की कहानी जिसने गाय को अपने पेट में रखा । अछूतों के मन में धार्मिक किंवदंतियों के समर्थन से रीति-रिवाजों को स्थापित किया जाता हैI इसलिए अस्पृश्यता और ग्राम्यता देखी जाती है। क्या खाना है, क्या पहनना है, कैसे व्यवहार करना है, इसके नियमों का पालन किया जाता है। यह 'सनातन' उपन्यास में दर्शाया गया है। अस्पृश्यता की प्रथा शारीरिक ही नहीं मानसिक हो जाती है। ऐसी मानसिकता उच्च जाति के शोषकों के साथ अछूतों लिए भी आम है I होली के बाद धुलवड (महाराष्ट्र में होली के बाद दूसरे दिन यह त्यौहार मनाया जाता है) आती है I सिदनाक नदी में नहाता है I नदी में नहाने से उच्च जाति लोग पवित्र होते है ,उनका पाप धुल जाता है लेकिन निवेदक कहता है, " सिदनाक कितनी ही बार नदी मे नहाता है फिर भी वह अछूत ही रहता है ...वह अछूत ,उसका शरीर अछूत, उसकी छाया अछूत, उसकी आवाज अछूत है। "(वही, पृ.17) हम अछूत है, महार है यह मानसिकता रीवाजों का संस्कार है। यह मानसिकता ' सनातन ' उपन्यास में दर्शाया गयी है। में एक तस्वीर रेखांकित की गई है। सोनाई गांव के महार बस्ती के अंबरनाथ, भूतनाक, यसनाक और धोंडामाय यह गांव के येसकर थे । गांव की सेवा करना उनका काम था । उन पर लगाई गई पाबंदियों को लेकर एक बयान है -' महारों का सार्वजनिक स्थानों पर घूमना प्रतिबंधित है। उनके लिए एक अलग बस्ती, एक अलग जलकुंड और एक अलग शमशान निर्धारित है। महारों को जाती के स्थान के अनुसार वर्तन करना पड़ता था।...महार का मतलब दो पैरों वाला जानवर। वे गुलामी के सहज आदी थे।...लोग महारों को मरे हुए जानवर को घसीटकर ले जाने को कहते। महार मरे हुए जानवरों को घसीटते हुए ले जाते । (लिंबाले: 2021, पृ. 20) महारों को गाँव से या बाहर से आए किसी भी उच्च जाति के व्यक्ति की सेवा करनी पड़ती । सेवा करने से या सेवा करवाने के कारण समस्याएँ उत्पन्न होती नहीं, लेकिन उस समय किया गया खराब व्यवहार या शोषण सामाजिक जीवन को रोगी बना देता है। शोषण के आधार पर मानदंड बनाने के लिए कई मिथक बनाए जाते हैं। महारों की वर्तमान स्थिति के लिए पिछले जन्मों के पाप ही जिम्मेदार है ऐसा कारण दिया जाता है । महार अछूत क्यों हैं ?, वे गाँव के बाहर क्यों रहते हैं ?, वे मरे हुए जानवरों का मांस क्यों खाते हैं ?, इसका उत्तर कई मिथकों में मिलता है। उनमें से कुछ कहानियाँ 'सनातन' उपन्यास में छपी हैं। जैसे कि महादेव- पार्वती के गाय खाने वाले बच्चे की कहानी, गाय के चार पुत्रों में से चौथे पुत्र की कहानी जिसने गाय को अपने पेट में रखा । अछूतों के मन में धार्मिक किंवदंतियों के समर्थन से रीति-रिवाजों को स्थापित किया जाता हैI इसलिए अस्पृश्यता और ग्राम्यता देखी जाती है। क्या खाना है, क्या पहनना है, कैसे व्यवहार करना है, इसके नियमों का पालन किया जाता है। यह 'सनातन' उपन्यास में दर्शाया गया है। अस्पृश्यता की प्रथा शारीरिक ही नहीं मानसिक हो जाती है। ऐसी मानसिकता उच्च जाति के शोषकों के साथ अछूतों लिए भी आम है I होली के बाद धुलवड (महाराष्ट्र में होली के बाद दूसरे दिन यह त्यौहार मनाया जाता है) आती है I सिदनाक नदी में नहाता है I नदी में नहाने से उच्च जाति लोग पवित्र होते है ,उनका पाप धुल जाता है लेकिन निवेदक कहता है, " सिदनाक कितनी ही बार नदी मे नहाता है फिर भी वह अछूत ही रहता है ...वह अछूत ,उसका शरीर अछूत, उसकी छाया अछूत, उसकी आवाज अछूत है। "(वही, पृ.17) हम अछूत है, महार है यह मानसिकता रीवाजों का संस्कार है। यह मानसिकता ' सनातन ' उपन्यास में दर्शाया गयी है। मृत्यु के बाद ब्राह्मण दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है, अर्थात आत्मा शरीर बदलती है। महारों के पास यह अवसर नहीं है। उसके पास आत्मा नहीं बल्कि भूत होता है, वह भूत बन जाता है। गलत करने वाले से बदला लेता है। ऐसी कई मान्यताएं समाज के गर्भ में पलती हैं।भारतीय धार्मिक व्यवस्था में गाय का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके शरीर में तैंतीस करोड़ देवता निवास करते हैं। अछूतों द्वारा उसे मारना और क्षत-विक्षत करना अपराध है। अर्जुन खताल की गाय मर जाती है और महारों को बुलाया जाता है। महार मरी हुई गाय को लाकर काट कर उसका मांस खाते हैं। अगले दिन गाँव के लोग महारों को चावड़ी में बुलाकर, हाथ बांधकर उनकी पिटाई करते हैं। देवराव पाटील कहते हैं, " तुमने एक गाय को मार डाला है ... गाय को मारते हो , गोमांस खाते हो ? आपने हिंदुओं की भावनाओं को आहत किया है। तुममे घमंड भर गया है।

" (वही, पृ. 34) इसपर महारों के पास कोई जवाब नहीं है, भले ही उत्तर होता भी तो विस्वास नहीं करते। उपन्यास 'सनातन' से पता चलता है कि यह थोपा गया शोषण व्यवस्था के पेट में है। " व्यवस्था के पेट में कुछ मान्यताएँ और अंधविश्वास हैं, जो अछूतों को शोषण की ओर ले जाते हैं। सोनाई के महारों का मानना था कि मरिआई (हिन्द देवता का नाम) के क्रोध के कारणही गांव ने उन्हे पीटा है । वे देवी कौ शांत करने की कोशिश करते है। उसके सामने बैल की बलि चढाते हैं । उसकी पूजा करते है। वे उसकी जय -जयकार करते हैं और उससे आशीर्वाद मांगते हैं। गांव में महामारी का रोग फैलता है। गांववाले महारों से कहते हैं कि, अगले गांव की सीमा पर छोड़ी गई मरिआई की गाड़ी अगले गांव की सीमा पर छोड़ दे I महार उस काम को अंजाम देते हैं। महार अपने आप अंधविश्वास में नहीं फंसते, यह व्यवस्था उन्हें फंसाती है, इसका चित्र 'सनातन' में आया है। अछूतों को रिवाज तोड़ने पर सजा का सामना करना पड़ता है। अगर उंची जाति के लोग नियम तोड़ते हैं तो कोई बड़ी सजा नहीं है। भीमनाक और सिदनाक सेना में शामिल हो जाते हैं, जिसका अर्थ है नियम तोड़ना। भीमनाक नौकरी पर था तब कोंडाआई की मृत्यु हो गई। बभ्रुवान खराटे शव यात्रा को रोक देता है I परंपरा से महारों को दी गई शमशान भूमि पर कब्जा कर वह वहां बुआई करता है। लाश पर लाठी से वार किया जाता है। शव को घर में ही दफनाने का निर्णय लिया जाता है। अकबर अली लाश को अपने खेत में दफनाने के लिए जगह देता है और आगे की आपदा टल जाती है। गांव में रहकर भी शमशान भूमि का अधिकार छीनने वाला शोषण 'सनातन' उपन्यास में आ गया है। सामाजिक व्यवस्था के पेट में पलने वाला यह रोग ध्यान में रखना आवश्यक है ।

देवगड गांव के रतनाक महार ने अपने बेटे जतनाक की शादी के लिए महिपतिराव देशमुख जैसे एक मतबार आदमी को आमंत्रित किया। सेना में भर्ती होने कि जतनाक की इच्छा महिपतिराव को परेशान करती है। वह सोचता है, ' अंग्रेजों ने हिंदुओं पर शासन करना चाहिए, लेकिन महारों को सेना में नहीं लेना चाहिए। अंग्रेज गलती कर रहे हैं। (वही, पृ. 81) रतनाक अपने पुत्र की शादी में मीठा भोजन देते हैं। क्या खाना चाहिए इसका नियम बनाने वाले गाँव के गुंडे दावत पर हमला करते हैं। भोजन में मिट्टी मिलाई जाती है। दुल्हे को मारपीट की जाती है । दुल्हन के भाई की हत्या कर दी जाती है। मंडप तोडा जाता है। यह प्रणाली उन लोगों को दंडित करती है जो क्या खाएं और क्या न खाएं के खिलाफ जाते हैं चुनिंदा लोगों के खुशी के लिये पारंपरिक व्यवस्था अछूतों की बलि देने से हिचकिचाती नहीं । देवगड में देशमुख के बुरुज का बांधकाम गिर रहा था। कहा जाता है कि अगर किसी गर्भवती महार महिला को वहीं दफना दिया जाए तो निर्माण बच जाएगा। चोखा महार की पत्नी राही गर्भवती थी। उसे यह खबर चलते ही वह अपनी पत्नी के साथ गांव छोड देता है। सोनाई के भूतनाक की गर्भवती पत्नी पार्वती खेतों में काम करने गई थी। वहां से उसे उठाकर निर्माण की नींव में दफनाया जाता है। उपन्यास 'सनातन' से पता चलता है कि शोषण की ऐसी कई प्रथाएं सामाजिक व्यवस्था के पेट में हैं।

पेशवाई अछूतों के उत्पीड़न का सर्वोच्च चरम था। महार गले में मटकी और कमर में झाड़ू बांधे बिना नहीं घूमते, यह प्रथा पेशवाई की देन थी। यदि कोई अछूत पुणे में आखाड़े के सामने से गुजरता है, तो उसका सिर गोल पहाड़ी मैदान में काट दिया जाता था । इसका भी उल्लेख 'सनातन' में आया है।

सेना से बर्खास्त लक्ष्मण अपने दामाद माणिक को अतीत की एक गन्दी प्रथा के बारे में बताता है। अछूत स्त्री को चोली पहनने का कोई अधिकार नहीं था। अगर उसने चोली पहनी तो उसके स्तन काटे जाते थे। उसकी चोली फाड़ दी जाती थी। उसे पेड से उलटा लटकाया जाता था । उच्च जाति के पुरुषों को उसके नंगे स्तनों को देखने का अधिकार था। जब राजा मंदिर की ओर जाते तो अछूत महिलाओं को नंगे स्तनों से दोनों तरफ खड़े होकर फूलों की वर्षा करनी पड़ती थी। इस प्रथा को 1814 में त्रावणकोर के निवासी कर्नल मुन्रो ने बंद कर दिया था। उच्च जाति के लोगों को घुस्सा आया इसलिए राजा ने 1929 में फिर से इस प्रथा शुरू की। नंगेली इस महिला को अपने स्तनों का टैक्स देना पडा था । इसका भी उल्लेख 'सनातन' में किया गया है। ' जब टैक्स लेने अधिकारी नंगेली के घर गए, तो नंगेली ने उनको स्तन काट कर दिए। अत्यधिक रक्तस्राव के कारण उसकी मौत हो गई। '(पृ.158) इस कर के खिलाफ विरोध प्रदर्शन हुए और कर वापस ले लिया गया। बाद में त्रावणकोर के राजा ने अछूत महिलाओं को ऊपरी वस्त्र पहनने की अनुमति दी। 'सनातन' में पाया जाने वाला एक और अंधविश्वास सामाजिक व्यवस्था में अंतर्निहित बीमारी का निदान करता है। यज्ञ के पूरा होने के बाद, ब्राह्मण भोजन शुरू होता है। केले के पत्तों पर बचे झूटे भोजन पर अछूत लोग लेटते हैं। ब्राह्मण द्वारा छुआ और बचा झूटा भोजन शरीर से चिपकने से अछूतों को पुण्य मिलता है, ऐसे अछूतों के मन पर थोपा जाता है।

' सनातन ' यह उपन्यास भारतीय सामाज के पेट में पलने वाली बीमारी का निदान करता है। अछूतों के शोषण को उजागर करता है। महार जाति को अस्पृश्यता, जातिवाद, उच्च-नीच का भाव, दासता, शिक्षा पर प्रतिबंध, व्यवसाय पर प्रतिबंध, कपड़ों पर प्रतिबंध, भोजन पर प्रतिबंध के माध्यम से गुजरना पडता था। विभिन्न प्रतिबंधों को धर्म, पुराणों, किंवदंतियों, पुण्य और पाप द्वारा समर्थित किया जाता था। प्रतिबंध के खिलाफ व्यवहार करने वालों को कड़ी सजा दी जाती थी। अछूत महिलाओं को उच्च जाति के पुरुषों के लिए नग्न रहना पड़ता था। उनकी चोली पहनने पर प्रतिबंध था। ' सनातन ' यह उपन्यास अछूतों के शोषण की एक्स-रे कॉपी है। इसलिए भारतीय सामाजिक व्यवस्था की यह एक्स-रे कॉपी मानवता को कोखला करने वाली बीमारी का निदान बनती है। धर्मांतरण, स्थलांतर, देशांतर और सिपाईगिरी-उपन्यास 'सनातन' न केवल निदान करता है बल्कि सामाजिक व्यवस्था में काम कर रहे एंटीबॉडीज को भी दिखाता है। यह उपन्यास व्यवस्था के अन्याय से छुटकारा पाने के लिए अछूत लोग कौनसा व्यवहार करते थे, इस तरफ दिशानिर्देश करता है।

एक प्रतिबंधित और अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए धर्मांतरण, स्थलांतरण, देशांतरण और शिपाईगिरी परिवर्तन के मूल्य हैं। व्यवस्थावाद और परंपरावाद के खिलाफ रुख और प्रयास ही परिवर्तन है। एक ही समय मे या एक समूह में सभी लोग परंपरा को तोड़ने के लिए कार्य नहीं कर सकते हैं। 'सनातन' में परिवर्तन की राह बनाने वाले पात्रों का चित्रण उपन्यासकार ने किया गया है। अस्पृश्यता और जातिवाद के दुखों से बाहर निकलने का एक तरीका धर्मांतरण है। 'सनातन' में परिवर्तित होने वाला पहला व्यक्ति सोनाई गांव का है। ' बीस-पच्चीस झोपड़ियाँ। उनमें से दो –तीन लोगों ने धर्मांतरण किया हैं I उनकी कुटिया खाली पड़ती है। वे मुस्लिम मोहल्ले में रहने चले गए। सोनाई बहमनी राज्य का एक गाँव था। ' (पृ.18) निज़ाम के शासन के कारण, भले ही गाँव में मुसलमानों के केवल दो घर थे, गाँव उनसे डरता था। महार इस तथ्य को जानते थे, यही कारण था कि ,उनमें से तीन ने मुस्लिम धर्म स्वीकार किया। इससे अन्याय कुछ हद तक कम हुआ है। सोनाई में अंबरनाक के दादा बादनक महार, बीदर के वज़ीर महमूद गांव में आने के बाद उनकी सेवा करते हैं। वज़ीर उससे प्यार से पूछताछ करता है। नतीजा यह हो जाता है , बादनाक एक मुसलमान बन जाता है और चाँद अली नाम धारण करता है। गांव में मीनार बनाता है । गांव की इस चाँद मीनार को देखकर अंबरनाक भी मुसलमान बनना चाहता है। उन्हें हिंदू धर्म के प्रति गहरा प्रेम और घृणा भी थी। (पृ.21) लेकिन अंबरनाक का धर्मपरिवर्तन लंबे समय तक विचार के स्तर पर बना रहता

है। वह अपने जाति के लोगों के साथ अन्याय सहता है। मरे हुए जानवरों को घसीटता है, खाल निकालता है, मरे हुए जानवर का मांस खाता है, गांववालों की पिटाई सहन करता है। बाद में वह बुढ़ापे मे मुसलमान हो जाता है। निजाम शासन के दौरान महारों का मुसलमानों में धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया चल रही थी। ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश शासन भारत में आया। इसलिए लोग ख्रिश्चन धर्म स्वीकार करने लगे। देवगढ़ में सोनाई की तुलना में बड़ी संख्या में धर्मांतरण होते हैं। बेटे की शादी में मीठा खाना परोसने पर गांववालों ने रतनाक महार की पिटाई कर दी। परिणास्वरूप रतनाक महार हवेली का काम छोड़ देता है। ख्रिश्चन धर्म स्वीकार करता है। वह स्टीफन बन जाता है , बेटा हैरी बन जाता है । रतनाक की पत्नी केरसुनी रिबेका बन जाती है । जतनाक की पत्नी येसुबाई सेरेना बन जाती है । फादर फ्रांसिस उन्हें बाप्तिस्मा देते है । स्टीफन चर्च निर्माण के लिए जाता है। फादर फ्रांसिस की वजह से ही धर्म की हकीकत जानी जाती है। पिछले जन्म के पाप के कारण महार का जन्म हुआ है यह समझ दूर हो जाता है। स्टीफन बना रतनाक हिंदू देवीदेवताओं की मूर्तियां फेंक देता है। यह परिवर्तन धर्मांतरण के कारण हुआ है। इसलिए, धर्मांतरण सामाजिक व्यवस्था की बीमारी को ठीक करने के लिए एक एंटीबॉडी के रूप में कार्य करता है।भीमनाक और सिदनाक सेना में शामिल होने के बावजूद, गांव के लिए वह महार ही रहते हैं । गांव में उनका अपमान किया जाता था । इसलिए सिदनाक ने ख्रिश्चन धर्म स्वीकार कर लिया और फिलिप बुश बनकर देवगड़ में रहने लगा । 'धर्मांतरण अछूतों की गुलामी को नष्ट कर सकता है', इस फादर फ्रांसिस के विचारों से वह सहमत हैं।देवगड में कई महार और आदिवासी धर्म परिवर्तन करते हैं। ' नौ महार परिवारों ने केवल इस कारण से बाप्तिस्मा लिया कि ख्रिश्चन बनने के बाद, वे मोर तालाब का पानी पी सकते हैं। ईसाई मिशनरियों ने धर्मार्थ अस्पताल शुरू करते है I अनेक आदिवासी ख्रिश्चन धर्म को स्वीकार करते है I' (पृ.89) सायखेड़ गांव के निकट कलवण गांव के अछूत एक साथ धर्म परिवर्तन करने जा रहे हैं और फादर एडमंड उन्हें बाप्तिस्मा देने जा रहे हैं। झोल संस्थान के दीवान भी ख्रिश्चन धर्म अपनाते हैं, लेकिन ये धर्मांतरण सवर्ण जातियों का हैं। उसका कोई विरोध नहीं करता है। निचली जाति का धर्म परिवर्तन एक विद्रोह है। उपन्यास 'सनातन' अन्याय के खिलाप धर्मांतरण और स्वार्थ के लिए धर्मांतरण के अंतर पर भी प्रकाश डालता है।

फिलिप बुश(सिदनाक)का परिवार नौकरी से अवकाश लेने के बाद झोल संस्थान में रहता है। फिलिप सोनाई को जाता है। ख्रिश्चन धर्म के कारण भी अगर पैसा नहीं कमा पाए तो उसका क्या फायदा ऐसी बात करनेवाले वीरू धनगर से फिलीप कहता है , इंसानियत मिलती है। "(पृ.118) सैन्य भर्ती के बारे में महार बस्ती के महादेव, लक्ष्मण, बलभीम, केशव आदि को जानकारी देता है। कुछ दिनों के बाद यह सरे जवान झोल संस्थान में आकर उसे मिलते है I महादेव कहता हैं, "हम ख्रिश्चन बनना चाहते हैं।" लक्ष्मण कहता है , "हम ख्रिश्चन लड़कियों से शादी करना चाहते हैं। उस समय फिलिप घुस्से से कहता है महारों को लड़कियों के लिए, पैसे के लिए नहीं बदलना है ; महार अपना कलंक दर करने के लिए धर्मांतरण करते हैं। मुझे किसी धर्म की परवाह नहीं है, मुझे केवल अपनी अवज्ञा की परवाह है। धर्म मेरा व्यवसाय नहीं है। "(पृ.126) सिदनाक के विचार अछूतों के धर्मांतरण के कारणों की व्याख्या करते हैं। उस स्थान पर जाकर जहां मनुष्य के रूप में व्यवहार किया जाता है, उस धर्म, उस गांव, उस विचार और उन लोगों का स्वीकार करते हुए, धर्मांतरण की प्रक्रिया ' सनातन ' उपन्यास में आ गई है। धर्मांतरण की तरह, सैनिक बनना भी अन्याय, परिवर्तन और स्वाभिमान से मुक्ति की प्रतिरक्षी है , इसका चित्रण 'सनातन' में किया गया है। धोंडानक कहता हैं, ईस्ट इडिया कम्पनी द्वारा सेना में भारती शुरू करते ही रहमतपुर का एक महार सेना में भर्ती हो गया। अंबरनाक हैरान है कि हिंदू महारों से प्रभावित हैं लेकिन अंग्रेजों से नहीं। वे कहते हैं, "किसी महार के हाथ से झाड़ू लेना और उसे बन्दूक देना चमत्कार है। सवर्णों द्वारा बहुत सताया गया है। अछूतों को हथियार मिले तो बदला लेंगे।" (पृ.४०) सेना में शामिल होने से उनमें आत्मविश्वास पैदा होता है। एक तरह का साहस आता है। सवाल पूछने की हिम्मत आती है । गांव में आकर समाज के साथ हो रहे अन्याय का अहसास होता है। भीमनाक यह जानकर क्रोधित हो जाता है कि उसकी माँ के शव को क्षतविक्षत कर दिया गया है I सिदनाक देवराव पाटील की बातों का बिना किसी डर के जवाब देता है। यह परिवर्तन सैनिक बनने के कारण हुआ है, इसकी स्पष्ट तस्वीर 'सनातन' में आई है। सिदनाक और भीमनाक को देवगढ़ में नियुक्त किया गया था। हाथ में बंदूकें और अंग्रेजों द्वारा समर्थित थे । अंग्रेजों ने महिपति राव के अधिकार छीन लिए हैं। दोनों महल से बाहर आ रहे महिपतिराव के घोड़े को रोकते हैं। अन्य महार महिपतिराव को नहीं देख सके, लेकिन इन दोनों ने उन पर अपनी बंदूकें तान दीं। महिपतिराव को रोका गया। महारों की सैनिक भर्ती उसे बिल्कुल भी पसंद नहीं है लेकिन वह कुछ नहीं कर सकता। सैनिक भर्ती के कारण अछूतों के जीवन में परिवर्तन और मुक्ति की दिशा में उठाए गए कदमों को 'सनातन' में दर्शाया गया है। 'सनातन' यह उपन्यास धर्म परिवर्तन और सिपाही के साथ – साथ 'स्थलांतर' यह सामाजिक व्यवस्था की बीमारी के लिए किस प्रकार उपयोगी है इसको दर्शाता है । स्थलांतर की प्रक्रिया का एक हिस्सा देशांतर है।

स्थलांतरण एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। प्रतिकूल हवामान से बचने के लिए पक्षी अनुकूल हवामान वाले क्षेत्रों में प्रवास करते हैं। इसी तरह महार या अछूत भी प्रवास करते हैं। वे सुख, स्वाभिमान, स्वस्थ जीवन और मनुष्य के रूप में जीने के लिए पलायन करते हैं। ऐसी धारणा है कि स्थलांतरण कुछ हद तक बदलाव ला सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रवास की प्रक्रिया बड़े पैमाने पर हुई। अछूत गाँव छोड़कर शहर चले गए। खेतिहर मजदूर काम के लिए शहर गए थे। यद्यपि ब्रिटिश काल के दौरान स्थलांतरण की एक छोटी मात्रा थी, इसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। स्थलांतरण करना या ऐसा करने के लिए मजबूर होना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन्हें 'सनातन' में चित्रित किया गया है।

'सनातन' उपन्यास में पहला स्थलांतरण बदनाक महार का है। निजाम शासन के दौरान अंबरनाक के दादा बदनाक मुसलमान बन जाता है और महारों की बस्ती से मुसलमानों की बस्ती में रहने चला जाता है I सोनई गांव में पलायन धर्मांतरण के कारण हुआ। बयान में कहा गया है कि पच्चीस झोपड़ियों में से दो या तीन परिवर्तित हो गए हैं। ' उनकी कुटिया उजाड़ है। वे एक मुस्लिम मोहल्ले में रहने चले गए... गांव में मुसलमानों के सिर्फ दो घर थे। धर्मांतरित महारों ने मुस्लिम मोहल्ले के पीछे अपने घर बनाए। "(पृ.18) हालांकि महार बस्ती से मुस्लिम मोहल्ले में स्थलांतरण गांव के भीतर था, यह ध्यान दिया जा सकता है कि इसके पीछे सुरक्षा और अन्याय से मुक्ति का दृष्टिकोण था। बाद की अवधि में अंबरनाक एक मुस्लिम बन गया और उसने गांव छोड़ दिया। वह बीदर में जाता है और वहाँ रहने लगता है। उसके इस स्थलांतरण को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

इसकी तुलना में भीमनाक और सिदनाक का स्थलांतरण अलग है। सेना में भर्ती होने के कारण उन्हें सोनाई छोड़कर देवगड जाना पड़ता है। देवगड में इन दोनों का निवास देवगड के महारों से अधिक सम्माननीय था। अपने साथ हुए अन्याय के कारण रतनाक महार ख्रिश्चन बन जाता हैं और गांव के बजाय चर्च के साथ व्यवहार करता हैं। उसका दैनिक व्यवसाय समाप्त हो जाता है। फादर फ्रांसिस के साथ एक नया पेशा शुरू होता है। यह स्थलांतरण गांव-मंदिर-महार बस्ती से चर्च की ओर होता हैं। बल्कि चोखा महार का स्थलांतरण अलग और नजर आने वाला है।

देवगड मे चोखा महार और उनकी पत्नी राही गावकी के हिसाब से व्यवहार करते थे। एकतारी पर हरि - हरि का जाप करने वाला चोखा मंदिर के बाहर छोड़े गए जूतों के पास बैठता है। महिपतिराव के काले महल की मीनार का निर्माण ढह रहा था। गोविंद भट ने चोखा को 'मंगलवेढ़ा के चोखा मेला' की कहानी सुनाई। काले महल में, उनकी पत्नी के साथ उनको बुलाया जाता है। वह निहित चेतावनी को समझता है। वह यह भी जानता है कि वह अपनी गर्भवती पत्नी को निर्माण कार्य में दपनाया जायेगा। इससे निकलने के लिए वह अपनी पत्नी के साथ गांव छोड़ देता है। कंधे से झंडा फेंक देता है। गले से तुलसी की माला उतार देता है। ' उसने अतीत से मुंह मोड़ लिया था। (पृ.97) चोखा महार भले ही गांव की दृष्टि से भागा हों, लेकीन उसका यह स्थलांतरण है। अन्याय से छुटकारा पाने का यही तरीका है।

भीमनाक देवगड से मुंबई जाता है। वहां से वह लंदन जाता हैं। वह वहीं पर सेवानिवृत्त होता है। लेकीन फिलिफ (सिदनाक) सोनाई से देवगड जाता है, वहां से पुणे जाता है। पुणे से झोल जाता है और वहीं बस जाता है। उनका स्थलांतरण उनके जीवन में एक बड़ा बदलाव लाता है। उसकी भाषा, उसका पहनावा, उसका चेहरा बदल जाता है। उसका बोलने का तरीका भी बदल जाता है। जब वह सोनाई से मिलने जाता है तो सोचता है, " हम अगर गांव नहीं छोड़े होते... क्या होता ? गावकी कर रहे होते। जूठा भोजन खाकर जिंदा रहते । अपमान सह रहे होते। बहुतों द्वारा प्रताड़ित किया जाता। बूढ़े लोगों में खासते बैठे होते I दुनिया देखने को नहीं मिलती I मर गए होते I यह गांव मेरे भाग्य का मकबरा हैं। गांव परायासा लगता है...(पृ.118) फिलिफ (सिदनाक) का यह चिंतन स्थलांतरण द्वारा लाए गए परिवर्तन पर प्रकाश डालता है। अंग्रेजों ने अछूतों और मुसलमानों की भर्ती पर प्रतिबंध लगा दिया। कुछ को सेना से बखास्त कर दिया गया था। सोनाई गांव के बलभीम और लक्ष्मण को भी सेना से हटा दिया गया था। वे सोनाई वापस चले जाते हैं जहां वे खुश नहीं हैं। ' गांव छोड़े बिना अपना उध्दार नहीं है, यह उनकी समझ में आता है। वे दोनों झोल में ही बस जाते है।' (पृ. 152) इसलिए स्थलांतरण यह व्यवस्था के परिवर्तन में योगदान देता है, यह एक तथ्य 'सनातन' उपन्यास में दर्शाया गया है।

स्थलांतरण की तुलना में देशांतर एक अलग अनुभव देता है।अछूतों और मजदूरों का देशांतर परिवर्तन के लिये पूरक नहीं होता। भीमनाक सेना में भर्ती हो जाता है। उसे लंदन भेजा जाता है। वह भारतीय मजदूरों और गुलामों को ले जाने वाले जहाज पर काम करता है। एक इंडो-कैरेबियन मैरी से शादी करता है जो एक रेलवे स्टेशन पर काम करती है। उनको एक बेटा होता है, पीटर। वह नीग्रो वंश के एक नाइजीरियाई बार्बरा से शादी करता है। उनके दो बेटे हैं, कार्टर और जैक। भीमनक ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न उपनिवेशों की यात्रा करता है। वह हर किसी की तरह गुलाम है। वह सौ साल की उमर में मर जाता है। उनका पोता कार्टर भारत आता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि भीमनाक इन सारी परिस्थिति में बड़े सम्मान के साथ रहते हैं। भीमनाक का महार बस्ती से लंदन यह देशांतर अन्याय की मुक्ती नहीं होता, क्योंकि यह प्रवास अभिजात वर्ग का नहीं बल्कि एक अछूत दास का है। इसलिए 'सनातन' में रेखांकित किया स्थलांतरण प्रभावी है, लेकीन देशांतर 'यह भी कुछ कम नहीं ' के शीर्षक के अंतर्गत आता है।'सनातन' उपन्यास में धर्मांतरण, स्थलांतरण, देशांतर और सैनिकी जीवन सामाजिक व्यवस्था के पेट में बीमारी के प्रति एंटीबॉडी कैसे हैं इसको समजना भी जरूरी है।'सनातन' में सनातन प्रवृत्ति की चिकित्सा:-संतुलित सामाजिक व्यवस्था सबके लिए हितकर होती है। इससे व्यक्ति और देश का विकास होता है। भारतीय समाज असंतुलित है। वह कुछ ही लोगों के हित के लिए सोचता है। जिन्हें फायदा होता है, वे व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश करते हैं। यह सोचने और कार्य करने की शाश्वत प्रवृत्ति है कि, भले ही आम लोगों के हितों की उपेक्षा की जाए, धर्म जीवित रहना चाहिए। 'सनातन' उपन्यास में, यह देखा जा सकता है कि,शरणकुमार लिंबाले ने सनातन प्रवृत्ति की चिकित्सा की है। पारंपरिक ग्राम व्यवस्था भारतीय सामाजिक व्यवस्था का सनातन रूप है। अर्जुन खताल, बब्रूवान खराटे, नवनाथ जकिकोरे और वीरू धनगर को लगता है कि सोनाई गांव की परंपरा को तोड़ना एक नुकसान है। वे चाहते हैं कि मरी हुई गाय को घसीटा जाए लेकिन खाया नहीं जाए। देवराव पाटिल सोचते हैं, अगर महार सेना में शामिल हो गए तो गांव का काम कौन करेगा?गोविंद भट देवगड के विट्ठल मंदिर में पोथी पाठ करता था। उसका मानना है कि पोथी - पुराण के अनुसार समाज को चलना चाहिए। महिपतिराव देशमुख के माध्यम से अछूतों पर अंकुश रखने का प्रयास किया जाता है। बुरुज निर्माण के दौरान गर्भवती पार्वती की बलि दी जाती है। धर्म परिवर्तन का खुले तौर पर विरोध किया जाता है। गोविंद भट कहता हैं कि, एक महार का सेना में शामिल होना धर्म के खिलाफ है। वे कहता हैं, "महारों के हाथ में हथियार? शिव-शिव! यह हिंद धर्म के खिलाफ है।" (पृ.78) यह व्यवस्था की जाती है कि, अछूते और आदिवासियों को परंपरा तोड़ने पर बेरहमी से पीटा जाए। ब्राह्मण सभा को संबोधित करते हुए, गोविंद भट कहता हैं, " हिंद धर्म मंदिरों और तीर्थों के बजाय ब्राह्मणों की जुबान पर है। हमारी कई पीढ़ियों ने इस धर्म को बढ़ाया है ... धर्मांतरण को रोक देना चाहिए। हम भूदेव हैं ...जब धर्म का अस्तित्व धोके में आ जाए तब पापीयों का नाश करने ईश्वर अवतार ना ले तो यह जिम्मेदारी हमें अपने कंधो पर लेनी चाहिए।" (पृ. 86) 'सनातन' में गोविंद भट सनातन प्रवृत्ति के एक प्रतिनिधि व्यक्ति हैं। जब तक निम्न जातियों के मन में भय रहेगा तब तक हिन्दू धर्म सुरक्षित रहेगा। लोगों के मन में पाप और दंड का भय बढ़ जाना चाहिए। ईश्वर-धर्म का भय रहना चाहिए। वह उपदेश देते हैं कि यदि भय न हो तो उन्हें नष्ट कर देना चाहिए।

गोविंद भट व्यवस्था करता हैं कि उसकी मृत्यु के बाद भी धार्मिक व्यवस्था का ढांचा बरकरार रहे। यह सुनिश्चित करने का प्रयास करता हैं कि, सनातन प्रणाली के सिद्धांत अपने बच्चे मोरोपंत और नरसोपंत के साथ-साथ पोते-पोतियों को भी दिए जाएं। उनके साथी दयाशंकर, उमाशंकर, रामनारायण, विश्वनाथ, सनातन प्रावदा के ब्राह्मण हैं। वे पंचांग के साथ तैयार हैं। अछूतों की बलि किस प्रकार कर्मकाण्डों द्वारा दी जाएगी, इसकी व्यवस्था की जाती है।

पेशवा सनातन प्रवृत्ति के कट्टर समर्थक थे। प्रत्येक जाति अपनी गति से व्यवहार करने की कोशिश कर रही थी। उत्तर पेशवाई को 'सनातन' उपन्यास में चित्रित किया गया है। यदि कोई नियम तोड़ता है, तो उसे कड़ी सजा दी जाती थी। बाजीराव द्वितीय के शासनकाल के दौरान, गणपत महार सहज नजर से रानी को डोली से शनिवारवाडा की ओर जाते हुए देखता है। पेशवा क्रोधित हो जाता है। सभी महार जाति के लोग सजा के रूप में गले में गैज और कमर पर झाड़ू बाँधने के लिए विवश किया। ऐसी सजा और जबरदस्ती सनातन प्रवृत्ति है।

कुछ ब्राह्मण पुणे के ओंकारेश्वर मंदिर के सामने खड़े होकर बोलते हैं। उन्हें लगता है कि, पेशवा और अंग्रेजों के बीच लड़ाई नहीं होनी चाहिए। पेशवाई डूबे तो ब्राह्मणों की दुर्दशा कुत्तों से बत्तर हो जाएगी। अछूतों को बंदक देने वाले अंग्रेजों को मार देना चाहिए। हिंदत्व बच गया क्योंकि अंग्रेज भारत आए, नहीं तो मुगलों ने हिंद धर्म को नष्ट कर दिया होता। इस बातचीत में सनातन प्रवृत्ति आसानी से नजर आती है। इस अवधि के दौरान, शनिवारवाड़ा में होमहवन और अनुष्ठान जैसे धार्मिक अनुष्ठानों की भीड़ थी। 1818 में पेशवाई का अंत हो जाने के बाद भी सनातन प्रवृत्ति नहीं रुकी। कभी-कभी हिंसा का प्रयोग कर वह सृजनात्मक हो जाती थी, इसका चित्रण भी 'सनातन' उपन्यास में आया है।फादर एडमंड झोल शहर के इलाके में धर्म परिवर्तन करा रहे थे। सायखेड के पास कलवण गांव में अछूत समुदाय धर्मांतरण करने जा रहे थे I जंगल के आदिवासी भी धर्म परिवर्तन करने जा रहे थे। इस बारे में गोविंद भट के बेटे मोरोपंत और नरसोपंत को पता चलता है। नरसोपंत ने फादर फ्रांसिस को धमकाया। पिता एडमंड संस्कृत जानते थे। नरसोपंत

सोचते हैं कि हमे सावधान रहना चाहिए ताकि वे शास्त्रो को पढ़कर हिंदुओं का गलत विश्लेषण न करें। वह अपने साथी के साथ भगवद्गीता लेकर एडमंड के पास जाता है। वहां हुई चर्चा में एडमंड सही जवाब देते है। वहां से बाहर निकलने के बाद नरसोपंत के शब्द सनातन व्यवस्था की ओर इशारा करते हैं। नरसोपंत कहते हैं,

"हिन्दू धर्मग्रंथों को केवल ब्राह्मणों को ही पढ़ना चाहिए। इस पुस्तक में ब्राह्मणवादी भावनाओं को पढ़कर कई लोग भ्रमित हो सकते हैं। (एडमंड) एक बातूनी पादरी है। वह हिंदू धर्म का कुप्रचार किए बिना नहीं रहेगा... हमारे भगवान ने सृष्टि की रचना करते हुए ब्राह्मण के लिए ज्ञान की शक्ति आरक्षित कर दी है... राजत्व की शक्ति क्षत्रियों के लिए, वैश्यों के लिए व्यापार-उद्यमों और रोजगार के लिए आरक्षित है। और शूद्रों के लिए ये तीन वर्ण की सेवा करना । यह सालों से चला आ रहा है। यह जारी रहेगा। यह भगवान की इच्छा है। कोई भी नश्वर आदमी उसेमें बदलाव नहीं कर सकता। "(पृ.131) इसपर ब्राह्मण विश्वनाथ राय देता है कि, ब्राह्मणवाद और अस्पृश्यता को समाज के लाभ के लिए दफनाया जाना चाहिए। तब नरसोपंत कहते हैं, "यदि ब्राह्मणवाद और अस्पृश्यता को छोड़ दिया जाए, तो इस धर्म में क्या बचेगा? यही हिन्दू समाज का मूल है। "(पृ.132) सनातन प्रवृत्ति नरसोपंत के हर विचार और कार्य में पाई जाती है। " ख्रिश्चन धर्मांतरण की पृष्ठभूमि में, नरसोपंत सनातन धर्म की रक्षा के लिए एक निर्णय पर आते हैं। उन्होंने प्रतापराव देशमुख जो देवगड से पुणे में बस गए थे उनसे मदत लेता है। पुणे के ब्राह्मण नरसोपंत को एक बंदूक भेजते हैं। वह बंदूक लेकर फादर एडमंड के घर जाता है। उन पर वार करता है। वह एडमंड को मारता है जो हिंदू धर्म को बदलना चाहता है। धर्म की रक्षा में की गई यह हिंसा सनातन प्रवृत्ति को दर्शाती है। घर आकर वह अपनी पत्नी से कहता हैं, "पूजा से आज तक हिन्दू रक्षा होती थी, आज हाथ में शस्त्र लेकर की है।"(पृ.134) मंगल पाण्डे ने भी शस्त्रों के आधार पर धर्म की रक्षा की थी इस परम्परा का चित्रण 'सनातन' उपन्यास में किया है। सनातनी व्यवस्था में यज्ञ का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए यज्ञ में बलि चढ़ाने की प्रथा थी। उपन्यास 'सनातन' में लेखक ने सनातन प्रवृत्ति की चिकित्सा यज्ञ की प्रथा को दिखाकर किया है। रामपुर के महाराज अपने पुत्र के उज्जवल भविष्य के लिए यज्ञ करते हैं। इसमें अनेक ब्राह्मण भाग लेते हैं। वैदिक वाचन और जप किया जाता है। काशी के ब्राह्मण आते हैं और राजपुत्र को आशीर्वाद देते हैं। "सफल है आत्मा, जो भगवान की स्तुति करता है। पर्याप्त मन है, जो शिव के ध्यान में लगा हुआ है। कान पर्याप्त है, जो देवताओं की कहानी सुनने के लिए उत्सुक है। पर्याप्त हात हैं, जो शिव की पूजा करते हैं। (पृ. 164) इस यज्ञ और आशीर्वाद से सनातन प्रवृत्ति का पता चलता हैI

नरसोपंत के पुत्र वेदांत हिंदू धर्म की रक्षा करणे के लिये तैयारी होता है। उनकी माता सरस्वती विधवा थी। वह किसी भी गतिविधि में भाग नहीं ले सकती है। ब्राह्मण होते हुए भी विधवा होने के कारण घर में वह अपवित्र वस्तु थीं। 'गाय के सामने चारा डाल दिया जाए, वैसे थाली उसके सामने रख दी जाती थी । गाय पवित्र, और वह मानव होते हुए भी अशुभ थी I' (पृ.162) सनातन प्रणाली विधवा के जीवन को प्रतिबंधित करती है। यदि यह व्यवस्था ब्राह्मण स्त्री को इस सनातनी नजर से देखती है, तो यह कल्पना नहीं की जा सकती कि वह अछूतों को किस रूप में देखेगी। नरसोपंत का पुत्र वेदांत ब्राह्मण धर्म का पालन करता है। चाचा मोरोपंत वेदांत को सनातन परंपरा का पाठ पढ़ाते हैं। वे वेदांत से कहते हैं, "हिंदू धर्म जन्म में ऊंच-नीच और मृत्यु में स्वर्ग-नरक के विचार पर आधारित है। यह पाप-पुण्य के विचार उसका मूल आधार है। यह विचार ब्रह्म की श्रेष्ठता को सिद्ध करता है। हिंदू धर्म भेदभाव पर आधारित है। इसके पीछे पवित्रता की अवधारणा है। हिंदू धर्म ने जाति-जाति के संकर का निषेध किया है । "(पृ. 178) वेदांत की मां सरस्वती उन्हें मानव होने और अछूतों के बारे में सोचने की सलाह देती हैं। वेदांत माँ की बात सुनने के बजाए मोरोपंत की बात सुनता है।

वेदांत हिंदुराव पाटील की हवेली जाता है और तुलसी के विवाह की कहानी बताता है। हिंदू वाहिनी के सनातन कृती का समर्थन करता है। लंदन से भारत लौटे भौमनाक के पोते कॉर्टर से कहता हैं, "हिंदुस्तान धर्मशाला नहीं है। यह हिंदुओं का देश है। बाहरी लोगों को बर्दाश्त नहीं किया जाएगा। "(पृ.204) कॉर्टर हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन करने आया है ऐसा अंदाजा वह और उसके हिन्दू संगठन के स्वयंसेवक लगाते है । महार बस्ती में गए कॉर्टर पर उनकी नजर रहती है। महारों को मरी हुई गाय का मांस खाने से रोकने के लिए, वे उस पर मल फेकने वाले कॉर्टर को मार देते हैं। उनके अनुसार उसने गाय को अपवित्र किया है। महार यल्लमा कॉर्टर का खून हुआ है ऐसे कहती है । उस पर वेदांत कहता है, "जो कोई हिंदू धर्म के खिलाफ बोलेगा उसे मार दिया जाएगा।" (पृ.208) हिंदू धर्म अछूतों के खिलाफ बोलता है, उसका क्या?, यल्लमा के इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता है। हिन्दू धर्म व्यवस्था जीवित रहे, प्रथा -परंपरा-जातीयता-अस्पृश्यता का पालन किया जाए, यह सनातनी विचार ' सनातन ' उपन्यास में चित्रित हुआ है । 'सनातन ' उपन्यास में व्यवस्था बनाए रखने के लिए बनाई गई कई कहानियां और किवदंतियाँ आयी हैं। रामायण, महाभारत की अनेक कहानी, किवदंतियाँ, गरुड़-शिव-विष्णु पुराणों से प्रत्येक जाति की महानता को बताने वाली कई कहानियां बनाकर व्यवस्था को बनाए रखा जाता है। इन किंवदंतियों का इस्तेमाल शरणकुमार लिंबाले ने 'सनातन' में किया है। यह सामाजिक व्यवस्था के पेट में छिपी सनातन प्रवृत्ति को दर्शाता है।

'सनातन' की पहली कहानी पार्वती के बारे में है। कहानी बताती है कि, महार का जन्म क्यों हुआ, कैसे उन्होंने मरा हुआ मांस खाना शुरू किया और कैसे वह गाँव के बाहर एक अछूत के रूप में रहने लगे, इसके कारण बताते है I "पार्वती नदी में स्नान कर रही थी। उसने नदी से बहता हुए एक बेला का पत्ता देखा। वह हरे पत्ते को देखती रही। पत्ता करीब आया। पत्ते पर खून का एक लाल बूंद था। उसने पत्ते को छुआ। पत्ते पर एक बच्चा पैदा हुआ । पार्वती ने बच्चे की सराहना की। उसने बच्चे को अपने सीने से लगा लिया। बच्चे को साथ घर ले आयी। महादेव को दिखाया। जो हुआ था उसकी वास्तविकता बताई। महादेव खुश हुए। उन्होंने बच्चे को स्वीकार किया। महादेव के घर में बच्चा बढ़ने लगा।

एक दिन बच्चा घर से बाहर रेंगता हुआ गया। घर के बाहर एक मरी हुई गाय पड़ी मिली। बच्चा मरी हुई गाय का मांस खाने लगा। महादेव ने यह दृश्य देखा तो वह बहुत क्रोधित हुए। उन्होंने गुस्से से बच्चे को श्राप दिया - "तुम गाँव से बाहर रहोगे। तुम मरे हुए पशुओं का मांस खाकर जीवित रहोगे। तुम्हारी परछाई को भी लोग नीच समझेंगे।"(पृ.18) उस दिन से बच्चा मरे हुए जानवरों का मांस खाकर गांव के बाहर रहता है। इस किंवदंती के अनुसार, महारों के पूर्वजों ने हिंदू धर्म द्वारा पवित्र मानी जाने वाली गाय का मांस खाया और अछूत हो गया।

'सनातन' की एक अन्य कथा गोपुराण की है I "गाय को चार पुत्र थे I गाय चारों बेटों को समान रूप से प्यार करती थी। एक दिन गाय ने अपने बेटों से एक सवाल पूछा। गाय अपने बेटों के दिल को जानना चाहती थी, उसने बेटों से पूछा, "जब मैं मर जाउंगी तब तुम मेरा सम्मान कैसे करोगे ? प्रत्येक लड़के ने इस प्रश्न का उत्तर दिया। पहले तीन का उत्तर एक ही था,'हम तुम्हारा उतना ही सम्मान करेंगे जितना ईश्वर के दीपक का करते है। तीनों लड़कों का उत्तर सुनकर गाय को संतोष हुआ। उसने आखिरी लड़के से वही सवाल पूछा। सबसे छोटे लड़के ने उत्तर दिया - 'माँ, मैं तुम्हारे गर्भ में पैदा हुआ था। मैं तुम्हें अपने पेट में रखूंगा। तीनों लड़के उससे नाराज हुए। उन्हें गुस्सा आ गया। 'यह अपनी माँ को अपने पेट में कैसे रखेगा? क्या तुम मरी हुई माँ का मांस खाओगे ? ' तीनों भाईयों ने छोटे भाई का अपमान किया। उसे महा आहारी कहा I" (पृ.28-29) उपन्यास 'सनातन' में भूतनाक की पत्नी केरा को यह गोपुराण की कथा बताती है। सनातन महार जाति की उत्पत्ति कैसे हुई, इसे प्रभावित करने के कार्य की सनातन

व्यवस्था करता है।

रामायण में रेखांकित की हुई शंबुक की कहानी शरणकुमार लिंबाले ने 'सनातन' में दी है। गोविंद भट पोथी पढ़कर सनातन धर्म के दर्शन को लोगों को समझाने की कोशिश करता हैं। एक ब्राह्मण के बेटे की मृत्यु हो जाती है। वह श्री राम के पास जाता है और शिकायत करता है। राज्य में भ्रष्टाचार और पाप की वृद्धि के कारण मेरे बेटे की मृत्यु हो गई है। श्री राम नारदमुनि से जानकारी लेते हैं। उसे पता चलता है कि एक शूद्र घोर तपस्या कर रहा है। श्री राम उस शूद्र की खोज करने बाहर निकल जाते हैं। एक स्थान पर एक ऋषि तपस्या कर रहा था। श्री राम उनसे उनके वंश के बारे में पूछते हैं। वे कहते हैं, "मैं एक शूद्र हूं। मेरा नाम शंबुक है। एक पल की देरी के बिना, श्री राम ने तलवार अपने म्यान से बाहर निकाली और शंबुका का सिर काट दिया। तैंतीस करोड़ देवता स्वर्ग में एक साथ जमा हुए, तालियाँ बजाने लगे I और श्री राम के ऊपर फूलों की वर्षा करने लगे... शंबुक मारा गया, उसी समय ब्राह्मण का पुत्र जिन्दा हुआ I'(पृ.75) रामायण में चित्रित शंबुक की कहानी यह बताती है कि, वर्णाश्रम धर्म की रक्षा की जानि चाहिए, शूद्रों को दूसरों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए Iवेदांत हिंदुराव पाटील की हवेली में जाता है और तुलसी के विवाह की कहानी बताता है। फादर साइमन और अन्य लोग कहानी सुनने के लिए एकत्रित होते हैं। ' जालंधर राक्षस की पत्नी वृंदा पतिव्रता थी। जालंधर देश के खिलाफ लड़ता है। देवता उसे हराने के लिए एक साथ आते हैं। वे विष्णु की सहायता लेते हैं। विष्णु जालंधर का रूप धारण कर वृंदा के पास चले जाते हैं। उसकी शालीनता को भंग कर देता है। जालंधर मर जाता है। वृंदा को असली वजह का पता चलता है। वह विष्णु को श्राप देती है, ' हे भगवान, तुम पत्थर बन जाओगे और पृथ्वी पर गिर जाओगे। ' विष्णु ने वृंदा से कहा, "तुम तुलसी बनोगी । तुम्हारा विवाह शालिग्राम पत्थर से होगा। " (पृ. 182) वृंदा सती हो जाती है। उसकी राख से तुलसी उगती है। उसका विवाह शालिग्राम पत्थर से होता है। यह कहानी भगवान के कारनामों के बारे में है और उनके द्वारा किया गया विश्वासघात दिखाती है। सनातन व्यवस्था को मजबूत करने के लिए ऐसी कितनी कहानियां रची गई हैं, उपन्यास 'सनातन' इस ओर ध्यान खींचता है।

'सनातन' में चित्रित चोखा मेला की कहानी मध्यकाल की है। इसे एक ऐतिहासिक कहानी भी कहा जा सकता है, लेकिन यह व्यवस्था इतिहास को धार्मिकता का रंग देकर अगली पीढ़ी को देने का काम कर रही है। जब प्रतापराव देशमुख हवेली की मीनार का निर्माण कर रहे थे, निर्माण ढह रहा था। इसका उपाय गर्भवती अछूत स्त्री को दीवार के नीचे दफना देना है। चोखा महार की पत्नी राही गर्भवती हैं। इस कार्य में सहयोग करने के लिए गोविंद भट उन्हें मंगलवेढा के चोखा मेले की कहानी सुनाते हैं। चोका मेला एक महार है I मिनार का निर्माण ढह रहा था I चोका मेला अपनी पत्नी के साथ निर्माण स्थल पर जाता है I काम चल रहा होता है, निर्माण ढह जाता है, उसमें चोखा मेला दब जाता है। ढेर के नीचे से चोखा मेला की अस्थियां निकाली जाती हैं। उसमें से 'हरि हरि' का नारा सुनाइ पड़ता है। ऐसा एक किस्सा बताते हुए गोविंद भट कहता हैं, " बुरुज का निर्माण शुरू करने से पहले मांत्रिक ने कहा है कि, महारों का सम्मान करें और दान दे, धर्म का पालन करनेवाले महारों का सम्मान होना चाहिए इसलिए मैंने तुम्हारा नाम सुझाया है आज तुम यह पोथी ना सुनी तो भी कोई बात नहीं I बस अपना कर्तव्य पूरा करोI (पृ.95) इस कथा को सुनाने के बाद कई पीढ़ियों पर धार्मिक संस्कार किए जाते हैं। वह संस्कार और आगे बढ़ता है और व्यवस्था बनी रहती है, इसका वर्णन 'सनातन' उपन्यास में किया गया है।पेशवा काल की एक कहानी 'सनातन' में दी गई है। जब पेशवाओं की रानी डोली से शनिवारवाडा जा रही होती हैं, तो गणपत महार उसको देखता हैं। यह पेशवाओं को अपमान लगता है। गणपत महार की सजा के रूप में, उसकी महार जाति को उनके गले में मटका और कमर के चारों ओर एक झाड़ू बांधने के लिए मजबूर किया जाता है। गणपत महार की मृत्यु हो जाती है। मरने के बाद भी वह रानी को प्रताड़ित करता है। इसके समाधान के लिए शनिवारवाड़ा के दक्षिण में गणेश जी का मंदिर बनाया गया है। हालांकि यह एक ऐतिहासिक कहानी है, लेकिन यह एक किंवदंती की तरह फैली हुई है। यह कहानी शाश्वत व्यवस्था के आतंक को इंगित करती है। इस कहानी को एक उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है कि यदि आप मानदंडों, रीति-रिवाजों, परंपराओं और नियमों को तोड़ते हैं तो परिणाम कितने बुरे हो सकते हैं। इस उपन्यास में अमृतनाक महार की कहानी भी कुछ इस तरह सामने आती है। यह महार की ईमानदारी और बलिदान का वर्णन करती है। अमृतनाक ने अपनी पवित्रता साबित करने के लिए अपना लिंग काट कर रखा था। इस तरह की कहानियां, किंवदंतियां और मिथक बाद की पीढ़ियों तक पारंपरिक संस्कार को आगे बढ़ाते हैं। इससे सनातन व्यवस्था कायम रहती है, इस ओर ' सनातन ' उपन्यास ध्यान आकर्षित करता है।'सनातन' की टिप्पणिया:-उपन्यास 'सनातन' में की गई विभिन्न टिप्पणिया शरणकुमार लिंबाले के दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हैं। 1920 से पहले के 200 से 250 साल के समय का पोस्टमॉर्टम के दौरान लेखक ने कुछ काल्पनिक और कुछ ऐतिहासिक आकृतियों का चित्रण किया है। कई महार पुरुष जिनके नाम में 'नाक' है और महार महिलाएं जैसे केरा, तुकाई, सतवाई, मेसाई, कोंडामाई, केरसुनी 'सनातन' में आती हैं। नाक से समाप्त होने वाले नाम पीछे रह जाते हैं और अगली पीढ़ी में बलभीम, लक्ष्मण, महादेव, केशव जैसे नाम आते हैं। यह बदलाव महिलाओं के नाम में भी देखने को मिलता है। महार महिलाओं के नाम भामा, भीमा, जया हैं। कुछ नाम धर्मांतरण के कारण मुस्लिम और ख्रिश्चन परंपराओं से आते हैं। महारों के नामों में इस परिवर्तन को लेखक ने सूक्ष्मता से चित्रित किया है। तुलनात्मक रूप से पारंपरिक नामों में ज्यादा बदलाव नहीं आया है। इस वास्तविकता को 'सनातन' में भी चित्रित किया गया है। यह सब प्रस्तुत करते हुए लेखक के रूप में शरणकुमार लिंबाले ने कुछ टिप्पणियाँ की हैं। यह देखा जा सकता है कि लेखक किस प्रणाली के लिए खड़ा है।

'सनातन' में शुरुवात की टिप्पणी भी ध्यान देने योग्य है। इससे भारतीय सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को समझा जा सकता है। सोनाई गांव के महार गांव की मरी हुई गाय को घसीटते हैं, काटते हैं और उसका मांस खाते हैं। गांव सोचता है कि महारों ने गाय को जहर देकर मार डाला। महारों को चावड़ी बुलाकर पीटा जाता है। इस अवसर पर निवेदन आता हैं, ' अस्पृश्यता और कुछ नहीं बल्कि हिंदूधर्मशास्त्र में हिंदू धर्म का एक दृश्य रूप है। अछूतों में इन शिक्षाओं को पूरी तरह से समझने के बाद ही इन शिक्षाओं को अस्वीकार करने का साहस होगा। शास्त्रों को पढ़ने के लिए बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता होती है। हिंदू धर्म ने अछूतों का ज्ञान छीन लिया है। हिंदू धर्म ने अछूतों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर प्रतिबंध लगा दिया है। दलितों की गुलामी तब तक खत्म नहीं होगी जब तक हिंदू धर्म को गलत साबित नहीं किया जाएगा। ' (पृ.35) लेखक की टिप्पणी हिंदू धर्मशास्त्र की कमियों की ओर इशारा करती है। इसके लिए 'हिडीस'(गंदा,बदसूरत)शब्द का उपयोग किया जाता है। इसके अलावा अछूतों की गुलामी को समाप्त करने के लिए, शास्त्रों को मिथ्य बनाना, पढ़ना, सीखना पड़ता है , और प्रबुद्ध बनने अधिकार तो छीने गये हैं। लेखक इस तथ्य का वर्णन करता है। इसलिए, यह टिप्पणी हिंदू धार्मिक व्यवस्था का उपचार बन जाती है। 'सनातन' में धर्मांतरण, स्थलांतरण और देशांतर की प्रक्रिया को दर्शाया गया है। यह प्रक्रिया सारी दुनिया में चल रही थी जिस कारण ऐसा लगता है कि बदलाव होगा, जाति खत्म होगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ, लेखक ने इस पर टिप्पणी की है।" अरब, इराण और मध्य एशिया के मुसलमान खुद को श्रेष्ठ मानते हैं। ये मुसलमान अशरफ मुसलमानों को अछूत मानते थे। मस्जिदों और कब्रिस्तानों में उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता था। अछूतों के धर्म परिवर्तन से उनकी समस्या का समाधान नहीं हुआ, बल्कि यह और भी विकराल हो गया। धर्मांतरण के कारण अस्पृश्य अन्य धर्म में चले गए, इसलिए हिंदू धर्म मे वे अल्पसंख्य हो गए। अछूत धर्मांतरित हो गए , जाति छोड़ने के लिए। वे जिसी धर्म में गए, वहां उनकी पहचान उनकी जाति से हुई। अछूतों ने स्थलांतरण किया। अछूतों ने देशांतर किया। वे जिस देश में गए, वहां भी उन्हें उनकी जाति से ही पहचाना जाता था। उनकी कला,

उनका कौशल, उनकी प्रतिभा, उनके गुण कभी नहीं देखे गए। हर जगह उनकी जाति देखी। उनकी उपेक्षा की। उन्हें प्रताड़ित किया गया । शोषित किया गया। "(पृ .104)

उपरोक्त टिप्पणी सनातन व्यवस्था की निरंतरता को दर्शाती है। यह बताती है कि, जाति उन्मूलन के लिए धर्मांतरण, स्थलांतरण और देशांतर के स्वीकृत तरीके अपर्याप्त साबित हुए हैं। सनातन प्रणाली को बनाए रखने वाली प्रणाली कितनी मजबूत है, इस भाष्य में भी दिखाई देता है।एक अन्य भाष्य 'सनातन' में लेखक के दृष्टिकोण को सामने लाता है। यह टिप्पणी दुनिया भर के शासक वर्गों और देशों की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को उजागर करती है। एक लेखक के रूप में शरणकुमार लिंबाले हिंदू धार्मिक व्यवस्था की प्रशंसा नहीं करते हैं या ब्रिटिश और भारतीय राजतंत्र के पक्ष में नहीं हैं। 'सनातन' यह उपन्यास एक स्पष्ट तस्वीर दिखाती है कि कैसे धर्मसत्ता और राजसत्ता अछूतों का शोषण करते हैं। " हिंदस्थान मूल रूप सेकभी एक राष्ट्र नहीं था; छोटे राज्य थे, बड़े राजा छोटे राजाओं को निगल जाते थे। सत्ता के विकास में राजशाही सत्ता की बर्बर अवस्था थी। हाथ में तलवार लेकर आमने-सामने लोगों का वध करना ऐसी लड़ाई होती थी। लड़ने का अर्थ है लूट लेना, फिरौती लेना, युद्ध का खर्चा वसूल करना और सुंदर स्त्रियों का अपहरण करना। हिंसा के उन्माद का प्रदर्शन राजतंत्र है। राज्य की सीमाओं को बढ़ाने का अर्थ है राजस्व में वृद्धि... विदेशी शक्ति के भारत में आने से पहले, यहाँ के राजा महाराजा भारत की प्रजा को लूट रहे थे। राजा लड़ते और लूटते थे, जबकि लुटेरे हथियारबंद डकैती करते थे। राजशाही अनियंत्रित लूट का युग है। लूट की बेलगाम इच्छा से साम्राज्यवाद का उदय हुआ। उपनिवेशों की लूट पर ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण हुआ था। (पृ. 123 और 124) एक उदाहरण के रूप में ली गई उपरोक्त टिप्पणी से, हिंदू धार्मिक व्यवस्था के माध्यम से अछूतों के शोषण को देखा जा सकता है। वैश्विक साम्राज्यवाद कमजोर व्यक्ति या समूह का शोषण करता है। धर्मसत्ता और राजसत्ता एक साथ चलते हैं और एक दूसरे का सहयोग करते हैं। मतदाताओं के अधिकारों की रक्षा के लिए, उनके स्वतंत्रता और आनंद पर प्रतिबंध से बचने का प्रयास करता है। इसके लिए समर्थन के रूप में धार्मिक नियमों और हथियारों को लिया जाता है। मन पर मिथ्या इतिहास अंकित है। सीखने का माहौल खत्म किया जाता है I आत्महत्या को प्रोत्साहित किया जाता है। जब सभी रास्ते समाप्त हो जाते हैं, तो हथियारों की मदद से हत्या की जाती है। 'सनातन' उपन्यास साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों की दृढ़ता की ओर ध्यान आकर्षित करने का कार्य करता है, चाहे वह घरेलू हो या विदेशी - अंग्रेजी।

॥ ३ ॥

'सनातन' की संरचना और कुछ कच्ची कड़ियाँ :-उपन्यास 'सनातन' की संरचना अलग है। अन्य उपन्यासों की तरह, ऐसा कोई कथानक नहीं है। एक या कुछ पात्रों का विकास भी बाधित नहीं होता है। घटनाएं किसी खास जगह या गांव-शहर में नहीं होती हैं। देखने के लिए कोई माहौल नहीं है।

1920 से पूर्व समय के टुकडे की चिकित्सा करते हुए, लेखक ने प्रवृत्ति को प्राथमिकता दी है। स्वकीय और ब्रिटिश प्रभुत्व की मानसिकता को दर्शाया गया है। सनातन प्रवृत्ति की चिकित्सा करने से सलग कथासूत्र का प्रत्यय नही आता।'सनातन' की अवधि बहुत लंबी है। उपन्यास में दो सौ से दो सौ पचास वर्षों को समाहित किया गया है। 'सनातन' में उत्तरी पेशवाओं, बहमनी शासन, अंग्रेजी शासन, संस्थान काल, ब्रिटिश-विरोधी विद्रोह की शुरुआत और प्रबोधन काल की शुरुआत के बीच सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था आ गई है। पात्रों के नाम से इस काल का बोध होता है। अंत में 'नाक' नाम देकर पेशवा काल खड़ा होता है। ईस्ट इंडिया कंपनी और अंग्रेजों ने सत्ता की रक्षा के लिए सैनिकों की भर्ती की। इसमें अछूत भाग लेते हैं। इससे ब्रिटिश काल की अनुभूति होती है। पेशवा काल और ब्रिटिश काल के समानांतर निजाम शासन काल भी उपन्यास में आया है। इसके लिए लेखक ने मुस्लिम धर्म परिवर्तन की घटनाओं को प्रस्तुत किया है। महारों पर गांव की एक गाय को मारने और मरी हुई गाय का मांस खाने का आरोप है। मुसलमान तब आते हैं जब उन्हें पीटा जाता है। हमला करने वाले गाँववाले बिखर जाते है, इस से निजाम शासन का काल और दहशत इस उपन्यास मे चित्रित होती है। साऊथ बरो समिति का उल्लेख 'सनातन' उपन्यास में आया है। अछूतों के प्रतिनिधित्व के संबंध में डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने 1918 में समिति के समक्ष गवाही दी थी। यह भारतीय स्वतंत्रता और शासन में अछूतों के स्थान को दर्शाता है। समय के बोध को बनाए रखते हुए अंतिम नाम 'नाक' आता है, लेकिन चोखा महार नाम कुछ जचता नहीं है। लेखक ने यह कल्पना चोखा महार के संदर्भ को ऐतिहासिक हस्ती संत चोखा मेला से जोड़ने के लिए बनायी है।कथन और संवाद के लिए इस्तेमाल की गई भाषा उस काल का खयाल नहीं रखती। सिदनाक अंबरनाक से कहता है, "गर्म रोटियां हैं।" (पृ. 21) "चम्पी कुत्तिया को रोटी की चोरी करना सिखाया जाना चाहिए।" (पृ. 22) अंबरनाक सिदनाक से कहता है, "क्या आप जानते हैं कि लोग क्या कहते हैं?" (पृ. 22)) "हाँ, भूतनाक मुझे बता रहा था।" (पृ. 22) इस वाक्य में 'हैं', 'चाहिए', 'है', 'था' यह क्रियापद उस समय के महारों की बोली में शोभा नहीं देते। 1920 से पहले के दौर में 'दलित' शब्द नहीं था। हालांकि, इसकी चर्चा के दौरान 'दलित की गुलामी' (पृ. 35) शब्द का इस्तेमाल किया गया है। इसके स्थान पर 'अछूतों की गुलामी' का प्रयोग किया जा सकता था। आशय पर अधिक ध्यान दिया गया है, इसलिए भाषाशैली की उपेक्षा हुई है। 'बापतिस्मा' शब्द का आना धर्मांतरण को इंगित करता है, लेकिन यह ख्रिश्चन संस्कृति को नहीं दर्शाता है। बयान में 'हैजा' महामारी का जिक्र होने से रचना में बाधा नहीं आती लेकिन संवाद में कई शब्द माहौल और समय तय करने में कम पड़ जाते हैं। महारों के संवाद में 'परेशानी', 'मटन', 'गोवऱ्या', 'पैंजन', 'संकेत' जैसे कई शब्द सामने आए हैं। 'सैराट' शब्द पहले साहित्य में नहीं आया था, 'सनातन' उपन्यास में वह मराठी फिल्म के प्रभाव से आया है। उपन्यास 'सनातन' छह भागों में विभाजित है। पहला भाग सोनाई गांव के महार और गांव के रिश्तों पर आधारित है। दूसरा भाग महार और गोविंद भट इन दोनों के संदर्भ में है। तीसरे भाग में पुणे शहर के ब्राह्मण, पेशवा और महार सैनिकों को दर्शाया गया है। चौथे भाग में झोल क्षेत्र में ख्रिश्चन मिशनरियों, धर्मांतरण, आदिवासियों, अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह, फादर एडमंड की हत्या की घटनाएं हैं। पंचम भाग में महारों की सैनिक भर्ती पर रोक, आदिवासियों के साथ अन्याय, ब्राह्मण युवक वेदांत का उदय जैसी घटनाएँ हैं। अंतिम छठे भाग में भारत से बाहर अंग्रेज उपनिवेशवादियों को मजदूरों की आपूर्ति और भारत आने वाले कॉर्टर की हत्या का मामला सामने आया है। 'सनातन' में काल्पनिक गाँवों सोनाई, देवगड, सायखेड़ा, सुल्तानपुर, रहिमतपुर,तथा झोल और रामपुर जैसे काल्पनिक संस्थानों का समावेश किया गया है। हालांकि पुणे शहर वास्तविक है, लेकिन यह विशाल रूप में सामने नहीं आता है। लंदन में सिर्फ साउथ हॉल एरिया का ही जिक्र है जहां भीमनाक रहता था। सीलोन, बर्मा, मॉरीशस, मलाया, दक्षिण अमेरिका, लिवरपूल आदि अंग्रेजी साम्राज्य में उपनिवेशों का भी उल्लेख मिलता है। वहाँ का जीवन रेखांकित करना संभव था। ऐसा न करने से उपन्यास कुछ कहते - कहते रूक जाता है।'सनातन' में पाए जाने वाले मिथक, किंवदंतियाँ और ऐतिहासिक कहानियाँ उपन्यास की संरचना में योगदान करती हैं। 'पार्वती की कहानी', 'गाय की कहानी', 'शंबुक की कहानी', 'तुलसी की शादी की कहानी' जैसी कहानियां पौराणिक कथाओं को उजागर करती हैं। 'अमृतनाक और बावन्न अधिकारों की सनद', 'बहामनी शासन के दामजीपंत और विठु महार', 'मंगलवेढा के चोखा मेला', 'पेशवा के गणपत महार' से जुड़ी कहानियां बदलते समय को दर्शाती हैंयद्यपि कुछ घटनाओं और उच्च अंग्रेजी काल के व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है, गोपाल बाबा वलंगकर का उल्लेख करना आवश्यक था। सेना भर्ती के संबंध में छत्रपति शिवाजी महाराज का भी उल्लेख होने की उम्मीद थी।उपन्यास में घटनाओं को ठीक से संरचित नहीं किया गया है। पहली घटना के बयान के पूरा होने से ठीक पहले दूसरी और तीसरी घटनाओं को बताया जाता है। इसलिए, वे घटनाएं पर्याप्त रूप से आकार नहीं लेती हैं। सोनाई गॉव के महारों की जिंदगी बहुत संक्षिप्त से आती है। महारों के जीवन को कुछ चुनिंदा गतिविधियों के माध्यम से दर्शाया गया

है, जैसे कि मृतकों को अंतिम संस्कार की सेवाएं देना, गाँव के बाहर रहने लोगों द्वारा रोटी मांगना, एक निगरानी के रूप में काम करना, मरे हुए जानवरों को घसीटना और खाना।पुजारी की तीन पीढ़ियां, गोविंदा भट्ट, मोरोपंत-नरसोपंत और वेदांत 'सनातन' में आए हैं। पोथी पढने को अधिक महत्त्व देने के कारण ब्राह्मणों की अन्य गतिविधियों की उपेक्षा की गई है। जोतीराव फुलेजी के 'किसानों का कोड़ा' में भटशाही, अज्ञानता और ब्रिटिश शासन जिन कारणों से रेखांकन हुआ है वैसे कारण ' सनातन ' में आये नहीं। ब्राह्मणों का महार जाति के साथ होने वाला संघर्ष का व्यवहार दिखाया गया हैं, लेकिन अन्य अछूतों के साथ हुआ व्यवहार दिखाया नहीं गया। 'सनातन' में दिया गया इशारा उल्लेखनीय है। विस्तृतता टालने से उपन्यास की रचना अच्छी हो गई हैं। बीदर का वज़ीर सोनाई के पास आता है और अपना डेरा डालता है। उसके और उसके सैनिकों के आतंक को दिखाने के लिए निम्नलिखित कथन आता है - ' घुड़सवार गाँव गए थे। उन्होंने एक एक घर को चुनकर लिया। उसने कहा कि वह उस घर में रात को रुकेंगे। अंधेरा होते ही घर के लोग चादर ओढ़कर चावड़ी पहुंच गए। किसी ने विठ्ठल मंदिर में रात बिताई तो किसी ने महादेव मंदिर में रात बिताई। महिलाओं ने खाना बनाया। घुड़सवार गांव गए। घर के सामने घोड़े बंधे थे। महिलाओं ने बिस्तर सजाया था। सारी रात घर में घुड़सवार, और घोड़े बाहर।' (पृ. 21) इस कथन को और भी खंडित करने पर भी, मुस्लिम उत्पीड़न अपने रूप में महसूस किया जाता था। 'सनातन' उपन्यास में धर्मांतरण और सैनिक बनना दो महत्त्वपूर्ण केंद्र हैं। बापतिस्मा के समय की गई प्रार्थनाओं या अन्य अनुष्ठानों का कोई विवरण नहीं है। भर्ती और प्रशिक्षण का वर्णन किए बिना, कई घटनाओं की सूचना दी जाती है कि- 'सिदनाक ने इतवार को बाप्तिस्मा लिया, एक नया धर्म प्राप्त किया। एक नया नाम मिला। एक नई पहचान मिली। ' (पृ. 86)महार युवकों के सेना में जाने के बारे में एक कथन है - "सूर्य उग रहा था। भीमनाक और सिदनाक ने भी हाथ खड़े किए। उगते सूरज को छूने के लिए दो अंगुल की दूरी थी। (पृ. 50)) ऐसा विचारोत्तेजक बयान ही एक हजार से अधिक पृष्ठों का बनने वाला उपन्यास दो सौ पृष्ठों में पूरा होता है।उपन्यास 'सनातन' सोनाई गांव में शुरू होता है और समाप्त भी वहीं पर होता है। अंतिम दृश्य में सनातनी हिंसा को सूचकता से चित्रित करने में लेखक ने सफलता प्राप्त की है। ' पडीवार पशू-पक्षीयों ने हल्ला किया था। वे मृत मांस के टुकडे नोंच रहे थे। वेदांत और हिंदू वाहिनी के स्वयंसेवक कॉर्टर के मृत शरीर के नजदिक खडे थे। गिध्दों की भनभनाहट बढ़ गई थी। (पृ.210)लेखक ने मृत जानवर का मांस खाने वाले पशु-पक्षियों और अछूत कॉर्टर में दाह संस्कार करने वाली सनातन प्रवृत्ति मे समानता चित्रित की है। 'एक बार फिर से फाल्गुनी नदी के पास एक बवंडर उठ खड़ा हुआ था।' जो अंतिम बदलाव को इंगित करता है, साथ ही सनातन व्यवस्था की स्थायित्व को रेखांकित करता है।यह उपन्यास पुरी महार जाती का प्रातिनिधिक चित्रण नही है। पुणे के नजदिक पेशवाकाल में महारोंपर बिती समस्या को चित्रित करता है। महाराष्ट्र मे रहनेवाले सभी महार जाती के लोग इसी समस्या से पिडीत थे, ऐसा नही है। बाबासाहब आंबेडकर द्वारा लिखी ' हू वेयर शुद्राज ?' यह किताब महारों का गौरवशाली इतिहास प्रस्तूत करती है। इसका जिक्र यह उपन्यास नही करता।

निष्कर्ष :-कुल मिलाकर शरणकुमार लिंबाले का उपन्यास 'सनातन' अतीत के एक मृत टुकड़े में पड़ी सामाजिक व्यवस्था की चिकित्सा करता है। लेखक भारतीयों के 1920 के दशक, स्वतंत्रता-पूर्व युग और पूर्व-लोकतांत्रिक युग के समय के टुकडे की ओर देखने के लिये विवश करता है। ये भारतीय शिक्षित है , प्रबुद्ध हैं और एक लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था से संबंधित हैं। इसलिए यह उपन्यास इतिहास में दबी सनातन संस्कृति को उजागर करने का अहसास कराता है। यह उत्खनन 'अतीत की सच्चाई को प्रकट करता है एवं सामाजिक व्यवस्था की अंतर्निहित बीमारी का निदान भी करता है। यदि कोई रोग वर्तमान और भविष्य में प्रखरता के साथ उछलकर सामने आया तो पोस्टमॉर्टम इलाज के लिए जरूरी है। इसी प्रकार शरणकुमार लिंबाले ने 'सनातन' के माध्यम से भारतीय सामाजिक व्यवस्था का पोस्टमॉर्टम किया है। उसी के आधार पर यह उपन्यास कुछ निदानात्मक कार्य करता है। जाति व्यवस्था की बीमारी भारतीय सामाजिक व्यवस्था के पेट में है। गांव में शोषण की एक व्यवस्था छिपी हुई है। अस्पृश्यता और जातिवाद की बीमारियों ने अछूतों को कमजोर बना दिया है। लोगों को उच्च और निम्न जातियों में विभाजित किया गया है। यह उपन्यास बताता है कि व्यवस्था के शरीर में मौजूद एंटीबॉडी कम पड़ रहे हैं। उपन्यास 'सनातन' व्यवस्था की तकलीफ से बाहर निकलने के लिए धर्मांतरण, स्थलांतरण, देशांतर और सैनिक बनना आदि तरीकों को दर्शाता है। इन रास्तों को अवरुद्ध करने वाले तंत्र प्रबल हैं, इसलिए प्रवृत्ति आज भी उतनी ही सक्रिय है जितनी पहले थी। धर्मांतरण के बाद भी जातिवाद और छुआछूत का अंत नहीं हुआ। झाड़ू की जगह बंदूक हातों में आने के बावजूद व्यवस्था का असर बना हुआ है। उपन्यास इस बात की भयावहता को व्यक्त करता है कि स्थलांतरण का तरीका भले ही कुछ हद तक सफल हो, लेकिन समय के साथ वहा भी शोषण होता है, इसकी भयावहता यह उपन्यास प्रकट करता है I 'सनातन' उपन्यास मानवीय बुद्धि में व्याप्त साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को दर्शाता है। अंग्रेज भारत में केवल व्यापार के लिए ही नहीं आए, बल्कि इसके पीछे उपनिवेश, आधिपत्य और लूट की नीति थी। ख्रिश्चन धर्म का प्रसार बदलाव और मुक्ति के लिए नहीं था, धार्मिक आबादी को बढ़ाना और साम्राज्य के लिए अपना समर्थन हासिल करना यह स्वार्थ था। विभिन्न देशों के उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों और दासों की आपूर्ति शोषण पर आधारित थी।

ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति ने विकेन्द्रीकरण को वैसे ही खारिज कर दिया जैसे भारतीय रूढ़िवादियों ने सामाजिक परिवर्तन को खारिज कर दिया था। इसलिए 'सनातन' को एक साहित्यिक कृति के रूप में देखा जा सकता है जो धार्मिक और राजनीतिक शोषण से बाहर निकलने की दिशा दिखाती है। उपन्यास की कलात्मक कमियों को छोड़कर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि उपन्यास 'सनातन' भारतीय और वैश्विक शोषण की समस्या को उजागर करता है।'सनातन' को महार जाति के साथ अन्याय करने वाले उपन्यास इस दृष्टि से देखना संकुचित होगा। व्यापक अर्थों में, यह सांप्रदायिक, धार्मिक और आधिपत्य की रोग की ओर इशारा करता है जो सभी के भीतर व्याप्त है और इससे बाहर निकलने का भी सुझाव देता है।

****

संदर्भ

1. भारत का संविधान (2002) : भारत सरकार की ओर से मुद्रित और प्रकाशित
2. सनातन (2029) : शरणकुमार लिंबाले, दिलीपराज प्रकाशन, पुणे

सामाजिक विसंगतियों एवं दलित जीवन की त्रासदी का दस्तावेज़: 'गट्टर का आदमी'

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1471

डॉ. पान सिंह
अध्यक्ष हिंदी विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

समाज मनुष्यों का झुण्ड मात्र का नाम नहीं। समाज में रहकर सामाजिक होने के लक्षणों पर उतरना पड़ता है। कुछ कर्तब्यों तथा उतरदायित्वों को निर्वाह करना पड़ता है। कुछ संस्कारों एवं सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाना पड़ता है। कुछ नैतिक एवं सदाचारों को व्यावहारिक बनाना पड़ता है। कुछ त्याग और बलिदान करना पड़ता है। इस तरह न जाने कितने सांचों में ढलकर एक सामाजिक मनुष्य बना जा सकता है। एक सामाजिक मनुष्य ही सजग लेखक की भूमिका में समाज की सड़ी-गली मान्यताओं को अपनी नंगी आँख से देखता और अपने साहित्य के माध्यम से सम्पूर्ण समाज को अवगत करवाता है| इन सामाजिक विसंगतियों से ग्रस्त समाज को निजात दिलाने के लिए चिन्तन-मनन करना तथा विर्मश के रूप में उजागर करना एक जागरूक चितेरे लेखक का काम होता है| ठीक इसी काम को करते हुए यहाँ प्रतिष्ठित कथाकार एवं दलित चिन्तक रूप नारायण सोनकर दिखाई दे रहे हैं, जिन्होंने अपने उपन्यास 'गटर का आदमी' के माध्यम से नग्न समाज के नापाक चिथड़ों को उधेड़कर सम्पूर्ण समाज के सामने समस्या रूप में रखा है| उन्होंने इन चिथड़ों को उधेड़ने का ही नहीं, बलिक इनको जलाकर समस्त समाज को निजात दिलाने का मार्ग भी प्रशस्थ किया है। सोनकर जख्मों को कुरेदते ही नहीं, उनमें मरहम भी लगाते हैं और उनका उपचार भी करते हैं। सोनकर साहित्य शिखर की एक-एक सीढ़ी बड़े धैर्य सहजता, सोच-समझ, देख-परख कर चढ़ रहे हैं। एक उपन्यासकार के रूप में साहित्य जगत् की पहली सीढ़ी उनके उपन्यास 'डंक' से शुरू हुई और फिर 'सूअरदान' उनका बहुचर्चित तथा सम्पूर्ण समाज को एक जबरदस्त दस्तक देकर झकझोरने वाला, मिथकों को उखाड़ फैंक कर विविध आयामों को दर्शाता हुआ लोगों के दिलों में पहुंच कर गया। सोनकर एक-एक वाण तरकस से निकाल-निकाल कर संधान करते चले जा रहे हैं और वे वाण केवल मात्र साधारण वाण नहीं बल्कि पाठक वर्ग को आहत करने वाले बह्मास्त्र के समान हैं, जिनका बार अचूक है। इनका तीसरा बह्मास्त्र है इनका चर्चित उपन्यास 'गटर का आदमी'। 'गटर का आदमी' हिन्दी साहित्य में एक जबरदस्त दस्तक के साथ प्रस्तुत है। इस शोधालेख का उद्देश्य सोनकर के उपन्यास 'गटर का आदमी' में सामाजिक विसंगतियों एवं दलित जीवन की त्रासदी का विवेचन-विश्लेषण करना है|

'गटर का आदमी' उपन्यास की शुरूआत सोनकर एक प्रश्न के माध्यम से करते हैं। उपन्यास में यह प्रश्न उतना ही प्रभावी है जितनी उनकी सोच| उपन्यास की आरंभिक पंक्तियां इस प्रकार से हैं- 'जब एक ही बीज से दो तरह अंकुर निकलने लगें, जब एक ही घड़े से दो तरह का पानी आने लगे। जब एक ही आम से दो तरह का स्वाद मिले तब आप इसको क्या कहेंगे। तब क्या बीज, घड़ा और आम दोषी है?'' 'गट्टर का आदमी' उपन्यास एक ऐसा दस्तावेज़ है जिसे यदि गहराई से पढ़ा जाए तो केवल इस एक प्रश्न का उतर ही नहीं, बल्कि हजारों प्रश्नों के उतर स्वयंमेय ही मिल जाते हैं। उपन्यास में न जाने कितनी समस्याओं को सोनकर ने उजागर किया है और उनसे निजात पाने का तरीका भी बताया है। सोनकर का अभिव्यक्ति और अभिव्यंजना दोनों पक्ष ही बहुत सुदृढ़ हैं|

'गट्टर का आदमी' उपन्यास दलित समाज की व्यथा, उनके संघर्ष और कातर जीवन की त्रासदी तथा जिजीविषा के लिए तड़फ की कहानी है। दलित वर्ग जो अपने जीवन को तिल-तिल हवन करता हुआ और उच्चवर्ग के शोषण झेलता हुआ लाचारी से जीता है। सोनकर उस लाचार और शोषित दलित वर्ग को ठंडा लोहा बनाना चाहता है जिसकी चोट प्रहार होती है। उपन्यास में सोनकर इस वर्ग को चेतना प्रदान करता है और उसे हजारों रास्ते दिखाता है जिन्हें वह चुनकर समाज में अपना अस्तित्व स्थापित कर सकता है। 'गटर का आदमी' उपन्यास में बताया गया कि एक दलित मजदूर तपती दोपहर में सीवर लाईन की गंदगी साफ करने में स्वयं के जीवन की परवाह किये बगैर समाज की गंदगी को साफ करने में लगा हुआ है। उसका सारा बदन काले किचड़ में लतपथ और पसीने से सराबोर, है। वह जिन्दगी और मौत के बीच जूझता है। गट्टर साफ करते वक्त उसका सामना भंयकर विषधारी सांप से हो जाता है लेकिन वह उससे डरे बिना अपना काम करता है और सांप को अपने अस्तित्व पर हावी नहीं होने देता। मजदूर सांप को मारे बगैर पकड़कर बाहर लाता है और उपन्यास के नायक सौरभ को दिखाता है। सौरभ उसकी पीठ थपथपाता है और सांप को वन विभाग को सौंपने को कहता है। सौरभ उन गंदे किचड़ से लबालब मजदूरों को गले लगता है और उसकी प्रेमिका यह देखकर पूछती है- 'आप कहां इन दलितों के बीच आ गए। ये आपके कौन हैं?

''ये मेरे दलित भाई हैं।''

'क्या यही आपका देश है।''

'हां, यही मेरा देश है।''

''तब तुमने मुझसे प्यार क्यों किया? तुमने मुझसे धोखा क्यों किया। तुम इतने खूबसूरत हो कि तुम दलित नहीं हो सकते हो। ये तुम्हारी 5 फुट 7 इंच की उंचाई, गोरा बदन, भूरी-भूरी आंखें, मजबूत सीना, चौड़ा ललाट किसी बहुत बड़े घराने की याद दिलाता है।' सौरभ की प्रेमिका उसे दलितों को छोड़कर उनकी दुनियां में चलने के लिए कहती हैं जहां धन-दौलत, शानो-शौकत हैं, हवाई सैर की जाती है लेकिन सौरभ उसकी दुनिया को ठुकरा देता है। वह अपने दलित भाईयों को बदलना चाहता है। वह उन्हें जागरूक करना चाहता है। दलित समाज के प्रति बदलाव की यही सोच पूरे उपन्यास में व्याप्त है जो कथाकार सोनकर के चिन्तन और चिंता को स्पष्ट करती है| 'गटर का आदमी' उपन्यास प्रतीकात्मक रूप चरितार्थ होता है। यहां केवल सोनकर का पर्याय उस समाज से ही नहीं है जो गटरों से किचड़ और गंदगी साथ करते हैं, बल्कि उस समाज से भी है जो त्रसित है, गरीब है, शोषित एवं उत्पीड़ित है। उन्होंने समाज में न जाने कितने ही प्रकार की समस्यओं तथा ऐसी घटनाओं की ओर संकेत किया है जो भयानक गटर से कम नहीं हैं। ऐसी गटर रूपी समस्याओं में दलित समाज के अलावा अन्य लोग भी त्रसित हैं। सोनकर उपन्यास में एक के बाद एक समस्या चित्रित करते जाते हैं और सौरभ जो उपन्यास का नायक है, उन समस्याओं को मिटाता चला जाता है। फिर वह समस्या चाहे आंगनबाड़ी के बच्चों को उचित भोजन का प्रबन्ध करना हो, चाहे कूड़े के ढेरों से कचरा उठाते बच्चों को स्कूल में एडमिशन की हो या फिर वन गूजरों की समाज से कटी हुई जिन्दगी को लेकर हो| यह समस्या चाहे पढ़े-लिखे लड़कों का अपनी पढ़ाई के लिए जूते पॉलिश करने की हो, जिन्दा जानवरों पर किये जाने वाले अत्याचार की कहानी हो या फिर ऑनर किलिंग का मसला हो| यह समस्या फिर चाहे सैक्स तथा शारीरिक भूख को मिटाने की हो, उच्चवर्ग की शानो-शौकत तथा दलित वर्ग का निम्नतर जीवन की कथा हो या तांत्रिक तथा ढांगियों की पोल खोलना हो| यह समस्या चाहे फिर आंखों से अंधों को उनके किसी भी शारीरिक अंगों में आंखें बनाकर दुनियां में नया प्रयोग करना हो, भ्रूण हत्या को रोकना हो, बलात्कार जैसी विकृतियों को रोकने के लिए बलात्कारी को नपूंसक बनाकर,

बलात्कार जैसी समस्याओं से निपटना हो या फिर समाज के आदिवासियों के जीवन की समस्याएं हो| समस्याओं का इस उपन्यास में अंत नहीं एक के बाद इस समस्या का उल्लेख उपन्यास में हुआ है फिर चाहे वह समस्या गटर समाज की अबलाओं की दीन-दशा का चित्रण हो, चाहे अलपसंख्यकों की समस्याओं को निपटाना हो, विभिन्न प्रकार की घरेलू हिंसा की समस्याएं हों, काले धन को वापिस लाने की समस्या हो, चाहे बी. पी. एल परिवारों की दिवारों में 'मैं गरीब हूं' आदि मजाक जैसी समस्या हो, देवदासियों का शोषण, मन्दिर के पैसे का सही उपयोग, बाहरी देशों के युद्धों से बचने के लिए सीमाओं की बन्दी, नौजवानों को युद्ध टेनिंग, साहित्यकारों को जीवन यापन हेतु पेंशन का प्रबंध आदि-आदि न जाने कितनी ही समस्याओं को सोनकर ने उपन्यास में बयान किया है साथ -ही-साथ समस्याओं के हल भी सुझाए हैं।

उपन्यास में सोनकर परम्परावादी, पुरातनपंथी व शोषक वर्ग को भी गटर ही मानते हैं। वे समाज के इस गटर पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं- 'गटर दो प्रकार की होती है। एक गटर जो जमीन के अन्दर होती है। दूसरी गटर वह है जो जमीन के उपर होती है। जो दिखाई नहीं पड़ती है। समाज में परम्परावादी, पुरातनपंथी व शोषक वर्ग होता है जो समाज में भेदभाव, असमानता, उंच-नीच, छुआछूत की सुंरगे या गटरें तैयार करता है। यह गटर जमीन के अन्दर वाली गटर से ज्यादा खतरनाक होती हैं।' सोनकर का हृदय इस गटर समाज के प्रति दुखता है जिन्हें लोग हेय दृष्टि से देखते हैं। उपन्यासकार उनके लिए चिन्तित है। वह उनके अस्तित्व को लेकर चिन्तित है। उनके लिए तड़फ उपन्यास में पूर्ण रूप से दिखती है। वह उन्हें इस छुआछूत और भयानक संड़ाध से बाहर निकालना चाहता है और प्रयासरत् है। वह बताना चाहता है कि केवल वास्तविक गटर तथा उसकी गंदगी साफ करने वाले हेय नहीं हैं, बल्कि समाज की वह दूसरी गटर इससे ज्यादा हेय है जिसका उपर्युक्त वर्णन हुआ है।भारतीय प्रशासन की पोल खोलने में सोनकर ने कोई कसर नहीं छोड़ी है। जो प्रशासन दलितों और गरीबों के नाम पर कई कार्यक्रमों को चलाता है, उसका पैसा न जाने कहां प्रयोग होता है इसका कुछ भी पता नहीं। केवल जीने के लिए दो रोटी के टुकड़े ही जिन्दगी नहीं है। सोनकर बताना चाहते हैं कि यह हमारे देश की घटिया राजनीति है कि यदि दलित समाज को कुछ दिया जाता है तो उसके बदले उसके अस्तित्व पर एक भयानक प्रश्न चिह्न लगा दिया जाता है. जिसके तले वह दबकर रह जाता है। प्रशासन का इस निम्न एवं दलित वर्ग के प्रति कोई अच्छा रवैया नहीं है। सोनकर बताते हैं कि प्रत्येक बी. पी. एल. परिवारों के मकानों की दीवालों पर यह इबारत लिखी गई है- 'मैं गरीब हूं' इस इबारत को पढ़कर आदमी की हैसीयत बता दी जाती है कि तुम लाचार हो। यदि तुम्हें 2 रूपये प्रति किलो अनाज नहीं मिलेगा तो तुम भूखे मर जाओगे।' इस दलित समाज के युवाओं पर यह गोदना है कि तुम केवल गरीब हो, लाचार हो, नाकाम हो, बरोजगार हो, न जाने कितना कुछ कह देती है यह इबारत।

उपन्यास में ऑनर किलिंग की समस्या तथा कई अन्य प्रकार की समस्याओं को उजागर किया गया है। सोनकर बताते हैं कि श्री लोकेशचन्द्र परीजादा उच्च कुल के धनी हैं जिनके एक लड़का और दो लड़कियां हैं, लेकिन वे लड़के-लड़कियों में भेदभाव करते हैं। बेटा अपनी गर्लफ्रेन्ड के साथ रंगरलियां मानता है और बेटियों को घर से बाहर निकलने तथा दोस्त बनाने की इजाजत नहीं है। बेटियां मां से इस बात की शिकायत करती हैं तो मां कहती है- 'बेटी, लड़कों का कुछ नहीं बिगड़ता है। लेकिन लड़कियों का, लड़कों के साथ रहना ठीक नहीं होता है क्योंकि जब दो जवान लड़का और लड़की साथ रहते हैं तो दोनों के कदम डगमगा जाते हैं।' यह कितनी बड़ी बिडम्वना है कि लड़कियां फ्रेंड नहीं रख सकती, लेकिन लड़का कुछ भी कर सकता है। सोनकर लिखते हैं- 'माता पिता पुरानी परम्पराओं को ढो रहे थे। इस आधुनिक युग में भी वे प्राचीन बर्बर परम्पराओं को गले लगाये हुए थे। लड़कियों को वे अब भी लड़कों के बराबर मानने को तैयार नहीं थे। वास्तव में ऐसा करके व समाज में नारी के स्वप्नों का गला घोंट दिया जाता है। उसको अपना घर एक जेल की कोठरी लगने लगता है। मां-बाप खूंखार जेलर नजर आते हैं। लड़कियां हरदम उस जेल से बाहर निकलने की कोशिश करती हैं।' फिर वही होता है जो सोनकर बताना चाहते हैं। उनका दूरदर्शी दृष्टिकोण सफल रहता है। उनका मानना है, 'प्रकृति का यह नियम है कि प्राकृतिक चीजों को बहुत समय तक दबा कर मत रखो। शरीर में कुछ ऐसे हारमोंस पैदा हो जाते हैं जो आदमी और औरत के अन्दर कामाग्नि पैदा कर देते हैं। उस समय मेल-फीमेल को सही-गलत का कुछ ज्ञान नहीं रहता है। सेक्स शरीर की एक बायलॉजिकल नीड है। युवा समय में इसकी पूर्ति होना आवश्यक है।' ठीक ऐसे ही उपन्यास में दोनों बहिनों की शारीरिक भूख उनके दिमाग को खराब कर देती है और एक दिन वे दोनों हॉग आल्टर नामक मैकेनिक को लाइट ठीक करने के बहाने बुलाकर उससे अपनी कामाग्नि बुझाती हैं और उसे लहू-लुहान कर देती हैं। 'दोनों बहिनें निर्वस्त्र हो गयीं। थोड़ी देर बाद कमरे से चिलाने की आवाजें निकलने लगी। यह आवाजें बंगले में गूंज गयी। पूरे बंगले में चहल कदमी होने लगी। महिला बाडीगार्ड व घर के नौकर दौड़कर उपर वाले कमरे में आ गये। कमरे को खुलवाया गया। हॉग आल्टर बेड पर तड़प रहा था। खून पूरे बिस्तर पर फैल गया था। आल्टर के लिंग का कटा टुकड़ा बिस्तर के उपर पड़ा था। खून निकल रहा था। छोटी बहन संजना के हाथों में कैंची थी। बड़ी बहिन सुगना के हाथों में खून लगा था।.....महिला बाडीगार्ड ने तुरन्त पुलिस को फोन कर दिया। पुलिस बंगले में आकर दोनों बहिनों को अरेस्ट कर लिया।' सोनकर एक के बाद एक समस्या को उजागर करते हुए इस भयावह समाज के चिथड़ों को उधेड़ते चले जाते हैं।

सोनकर एक बहुव्यंगी एवं अनोखे शिल्पकार हैं जो अपनी कृति को मनोरम बनाने के लिए न जाने किन-किन औजारों का प्रयोग करते हैं। सोनकर के पास एक जबरदस्त हथियार है उनका चुस्त-दुरूस्त सैक्स का गर्मा-गर्म तड़का। पाठक जब भी ढीला पड़ जाता है तो उसकी शारीरिक और मानसिक मांसपेशियों को तरो-ताजा एवं उतेजित करने के लिए सोनकर का यह अद्भुत एवं विलक्षण वाण काम आता है। इनके इस प्रकार के प्रसंगों में एक अलग ही प्रकार की कशिश है। जिन्दगी को एक अलग ही नजरीये से एक एक अलग ही ढांचे में ढालने में सोनकर माहिर हैं। शारीरिक भूख किस प्रकार मानसिक भूख से बड़ी हो जाती है सोनकर जैसा अनुभवी एवं पारखी लेखक की बयान कर सकता है। उपन्यास में कई ऐसी घटनाएं हैं जो सोचने के लिए मजबूर कर देती हैं। सोनकर ने बनगूजरों की दशा अनोखे ढंग से बयान की है। बन गूजर सारे समाज से कटे तथा जंगली जीवन की विभिन्न कठिनाईयों को सहते हुए जीवन-यापन करते हैं। दूध बेचकर ही खाने-पीने की सामग्री जुटाते हैं। उनके दुख-दर्दों की कथा बयान करने के साथ-साथ रोमांटिक ढंग से उनकी सुन्दरता को भी बयान करते हैं। 'शादी विवाह आपस में इन्हीं कबीलों में होता है। लड़कियां बहुत खूबसूरत होती हैं। प्रकृति की गोद में रहकर ये जवान होती हैं। प्रकृति इनकी प्राकृतिक सुन्दरता बढ़ाने में मदद करती है। इनको देखकर मुझे परियों की याद ताजा हो जाती है। वही परियों जैसा रंग-रूप, परियों जैसी मुस्कान, सफेद मोती जैसे दांत, बड़ी-बड़ी आंखें, घुंघराले बाल बहुत बड़े-बड़े वक्षस्थल, घाघरे और चोली में जब चलती हैं तो ऐसा लगता है कि जैसी मोनालिसा साक्षात् प्रकट हो गयी है।' उपन्यासकार की कथा-कला बड़े ही बेवाक ढंग से प्रस्तुत हुई है।सोनकर बनगूजरों के जीवन से आहत हैं और चाहते हैं कि इनका जन-जीवन सुधरे। इसलिए वे बनगूजरों को सचेत करते हुए सौरभ के माध्यम से उपन्यास में कहते हैं- 'आप और आपके बच्चे यहां पर कितना कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पीने के लिए साफ पानी भी नहीं है।

आपकी झोंपड़ियों में बिजली नहीं है। अंधकार ही अंधकार है। बच्चों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। चिकित्सा की कोई सुविधा नहीं है। आप और आपके बच्चे इस देश के नागरिक नहीं लगते हैं।' सोनकर चाहते हैं कि सरकार इन बनगूजरों के जीवन के बारे में सोचे। इन्हें जीवन-यापन की कुछ सुलहतें प्रदान करे। बनगूजरों की दखद स्थिति का वर्णन करते हुए सोनकर एक प्रेमकथा को भी आगे बढ़ाते हैं जो सौरभ और गरिमा के बीच चल रही है। वह सौरभ को इस दलित समाज से अलग करना चाहती है| अतः गरिमा को पता चलता है कि सौरभ बनगूजरों के पास गया है तो वह वहां पहुंच जाती हैं और सौरभ से पूछती है- 'ये बनूगजर तुम्हारे कौन हैं? ये बनगूजर मेरे भाई हैं।'

गरीमा झुंझलाते हुए बोली- 'तुम्हारे कितने भाई हैं?

'जो आदमी रोटी-रोटी के लिए मोहताज है और सुबह से शाम तक अपने बच्चों का पेट भरने के लिए जी तोड़ मेहनत करता है फिर भी ये निर्दयी समाज उनका शोषण करता है। उनको भूखों मरने देता है। ऐसे सारे लोग मेरे भाई हैं।' सोनकर इस बन्धुता की भावना को सारे समाज में एक सन्देश की तरह छोड़ता है। वह सारे समाज को एक करके जातीय, सम्प्रदाय, तथा धार्मिक भेदभाव से समाज को उपर उठाना चाहता है।

दलित जाति के शोषण को लेकर वे इतने चिन्तित हैं कि उनकी बातों में आक्रोश और विद्रोह झलकता है। शोषक के प्रति इस आक्रोश और विद्रोह को वे दलित समाज का अस्त्र-शस्त्र बना डालने से भी संकोच नहीं करते। 'गटर का आदमी' उपन्यास में एक ऐसी भी भावना बयान होती है। एक अपटूडेट आदमी एक लड़के से अपने जूते पॉलिश करवाता है और दस रूपये मांगने पर वह व्यक्ति लड़के को गालियां बकता है- 'साले! ठग रहा है, साले तुम लोगों ने लूट मचा रखी है।.....लड़का स्वाभिमानी था। तुरन्त बोला- पॉलिश व ब्रश भी मंहगे हो गये हैं। मैंने मेहनत करके तुम्हारे जूते साफ किये हैं। मेरा शोषण क्यों करते हो?.....उल्टा चोर कोतवाल को डांटे। पांचे रूपये के बदले दस रूपये मांग रहा है। मेरे पांच रूपये लूट रहा है। नीच कहीं का..... लड़का बोला- हम लोग तुम्हारे जूतों की गन्दगी साफ करते हैं। .....ये साला, छोकड़ा दर्शन सिखाता है। चमार कहीं के।.....लड़का यह सुनकर विचलित हो जाता है। लपक कर उसका हाथ पकड़ लेता है। चार-पांच पालिश करने वाले लड़के उसको घेर लेते हैं।.....लड़का कहता है- मेरे जूतों में पॉलिश करो, मैं तुम्हें पन्द्रह रूपये दूंगा।' आदमी इंजीनियर था, बोला- जिसका काम होता है वही अच्छे ढंग से कर सकता है। लड़का कहता है- 'जूतों में पॉलिश करना केवल चमारों का काम नहीं है। जो आदमी परेशान है जूतों में पॉलिश करके अपना गुजारा कर सकता है, संविधान में कहीं नहीं लिखा कि केवल चमार ही जूतों में पॉलिश करेंगे।' लड़का बताता है कि उसके सब साथी पढ़े-लिखे हैं और हायर स्टडी के लिए फीस जमा करने के लिए ऐसा काम करते हैं। फिर वे सब मिलकर इंजीनियर से जूत पॉलिश करवाते हैं और उसे पन्द्रह रूपये देते हैं। लड़के ने इंजीनियर से पॉलिश इसलिए करवाई ताकि उसके मन से उंच-नीच की भावना को त्याग हो। सोनकर इस असहाय और दलित समाज के लिए कुछ भी करने और करवाने के लिए तत्पर रहते हैं। सोनकर उपन्यास में जिन्दा जानवरों पर होने वाले अत्याचारों के बारे में बताते हैं। समाज के इस दर्दनाक एवं क्रूर खेल को लेकर सोनकर का दिलो-दिमाग परेशान था कि कैसे एक इन्सान जिसे सामाजिक प्राणी कहा जाता है, जो बेवश एवं मूक जानवरों पर जुल्म ढाता है और जिसे अनदेखा कर हम कुछ कर नहीं पाते। सौरभ जानवरों के एक स्लाटर घर में जाता है जहां ढेरों जानवर कटते हैं। विदेशों तक में मांस सप्लाई होता है। 'दीन मौहम्मद ने कई भैंसों को लोहे के बड़े बड़े खूंटों से बांध रखा है। उनके चारों पैर एक मजबूत रस्सी से बंधे हैं। एक बहुत बड़ा कड़ाहा है, जो आग की भट्टी में चढ़ा है। उसमें पानी खौलता जा रहा है। दीन मौहम्मद और उसके नौकर जिन्दा जानवरों पर खौलता पानी उड़ेल रहे हैं। जानवर छटपटा रहे हैं और जोर-जोर से आवाजें निकाल रहे हैं। गरम पानी से धुलने के बाद उनको काटा जाता है।' दीन मौहम्मद कहता है कि वे ऐसा इसलिए करते हैं कि जानवरों का सोंधा मांस अधिक कीमत में बिकता है। 'सौरभ ने दीन मौहम्मद को समझाया और कहा कि यदि सोंधा मांस ही बेचना है तो जानवरों को काटने के बाद इनको उबले पानी में नहलाये तो जानवरों को भयंकर पीड़ा से मुक्ति मिल जायेगी। कटने के पहले उन्हें इतना अधिक दर्द नहीं सहना पड़ेगा।' सोनकर बताना चाहते हैं कि कैसे आज इन्सानियत पैसे पर मर गई है। आज इन्सान के लिए पैसा ही सब कुछ है। वह पैसे के लिए घिनौने से घिनौना काम करने से भी नहीं कतराता।इस घिनौने समाज की कथा यहीं खत्म नहीं हो जाती। न जाने कितनी ही ऐसी अनदेखी कहानियाँ हैं जिनके नापाक चिथड़े उधेड़ने के डर से ही जहन सहम जाता है। उपन्यास में सोनकर बताते हैं कि विदेशों में औरतें के साथ घिनौने अपराध नहीं होते। औरतें न तो दहेज के लिए जलायी जाती हैं और न ही उनकी कोख में बेटियों को मारा जाता है। उनका मानना है- 'इसके पीछे हिन्दू मैथालॉजी इसकी जड़ में है। दहेज के कारण ही कन्या भ्रूण हत्याएं हो रही हैं क्योंकि हिन्दू मैथालॉजी के अनुसार घर में एक लड़के का पैदा होना जरूरी समझा जाता है ताकि उनका वंश चल सके। विदेशों में इस तरह की कोई रूढिवादी धारणा समाज में नहीं पनपी है। भारत को इसलिए विदेशा अविकसित सोच वाला मुल्क कहते हैं।' सोनकर समाज को एक संदेश चेतावनी के रूप में देना चाहते हैं कि यदि विकसित देशों की सोच को अपनाएंगे तभी देश विकसित हो पायेगा, अन्यथा हमेशा विकासशील होने की दौड़ में भागते रहो। भारत तथा उसके नागरिकों के लिए यह करारा व्यंग्य है जो अपनी संकुचित मानसिकता को बदलना ही नहीं चाहते।

उपन्यासकार का मानना है कि हमारे देश में साधनों और साध्य की कमी नहीं है। कई लोगों के पास इतना धन है कि उन्हें पता भी नहीं कि कितना है और कई ऐसे हैं जिनके लिए रूपया भी बड़ी धन राशि है। रईसजादों के पास और फिल्मी सितारों के पास इतना पैसा और गाड़ियां हैं जिनका कोई अनुमान ही नहीं। लेकिन दूसरी और एक ऐसा वर्ग जिसके पास खाने के लिए रोटी भी नहीं। दूसरी तरफ लोगों के रहने के लिए जगह नहीं है जबकि आलीशान गाड़ियां आलीशान जगहों पर रहती हैं। इनकी देखभाल के लिए नौकर हैं लेकिन झग्गी-झोंपड़ियां में रहने वाले की देखभाल के लिए बिच्छु और सांप हैं, कीड़े-मकोड़े है। रईसजादों के बीमार होने पर बड़े-बड़े देशी-विदेशी अस्पताल हैं। दूसरी ओर इन गरीबों के बीमार होने पर सरकारी अस्पताल तक नसीब नहीं होता है। एक तरफ रईसजादों के मरने पर पूरा प्रिंट और इलेक्टानिक मीडिया व लोग इनके गम में शामिल होते हैं। शानदार ढंग से करोड़ों रूपये खर्च करके इनकी अर्थी निकाली जाती है।'

भारतीय समाज में दलित और औरत दोनों का शोषण सदियों से होता आया है और आज भी हो रहा है। सोनकर बताते हैं, 'गटर समाज में अबला, लड़कियों और औरतों का समाज जुड़ता जा रहा है जिनका दर्द असहनीय है। आदिवासियों, बेहद गरीब दलितों, पिछड़ों और अन्य अल्पसंख्यकों की लड़कियों को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में बेचा जा रहा है।.....चारों ओर दलाल फैले हुए हैं जिस तरह जानवरों को खरीदते समय उनको जांचा-परखा जाता है उसी तरह बिकने वाली लड़कियों को खरीरदार खूब जांचता-परखता है। जानवरों और मानवों के व्यापार में कोई अन्तर नहीं रहा है।.....ये सारी लड़कियां कष्टमय जीवन व्यतीत कर रही है। गरीबी के कारण मां-बाप अपनी बेटियों को जल्लादों के हाथों बेच देते हैं जिनको जल्लाद नोंच-नोंच कर खाते हैं।' सोनकर एक वैद्य की तरह हैं जो पाठक की नस टटोलकर उसे सही समय पर सही दवा देते हैं। वे जानते हैं कि किस मर्ज की क्या दवा है।? उन्हें पता है कि पाठक को क्या चाहिए?

सोनकर सब जानते हैं। उनके उपन्यासों में यह कला बखूबी देखी जा सकती है। ऐसा निडर लेखक, ऐसा विचारों का खुलापन, ऐसा चुटीलापन, ऐसी वाक्वैदग्धता शक्ति, ऐसी कशिश, ऐसा बहुव्यंगी, ऐसा समाज का जागरूक चितेरा, ऐसा अनुभवी, ऐसा दलित चिन्तक सोनकर के अलावा कौन है?

सोनकर उपन्यास में इतनी समस्याओं के साथ-साथ एक प्रेम कहानी भी बयान करते जाते हैं और अब दोनों प्रेमी एक-दूसरे की भावना को समझ गए हैं और मानने लगे हैं कि जो आत्मसंतोष गरीबों की सेवा करने में है वह किसी कार्य में नहीं है। गरिमा अब सौरभ को समझने लगी है और उसके कार्यों की सराहन करती है हुई कहती है- 'वास्तव में तुम महान हो। मैं तुम्हें समझ नहीं पायी थी।' मनुष्य से प्रेम करने वाला व्यक्ति कभी भी स्वप्रेम में असफल नहीं हो सकता। सोनकर यह बताने की कोशिश करते हैं कि जो व्यक्ति दूसरों की सेवा बड़े प्रेम से करता है, ईश्वर उससे उसका प्रेम कभी नहीं छीनता। उसे उसका प्रेम प्राप्त होकर ही रहता है।

सोनकर इस गटर रूपी समाज के बारे में कहते हैं- 'गटर के अन्दर गया आदमी गटर से बाहर निकल आता है। लेकिन गटर के उपर बसा यह विकलांग समाज जिसको सारी दुनिया गटर नजर आती है। उनके जीवन में कोई प्रकाश की किरण नहीं आती है। उनका सारा जीवन अंधकार में गुजरता है। उनकी पीड़ा व दुख-दर्द क्या हम सभी महसूस करते हैं? उनका जीवन एक रेगिस्तान की नदी के समान होता है। जहां जल धारा नहीं आती है। उनको केवल तेज सूर्य का प्रकाश तपाता रहता है। रेगिस्तान की बालू नीचे से आग निकालती रहती है। सूर्य और धरती के बीच फंसा यह विकलांग समाज दोनों तरफ से पड़ने वाली गलियों और दुर्व्यवहार से इनको और झुलसाता रहता है।' सोनकर एक दार्शनिक की भाँन्ति इस गटर रूपी संडान्ध के घिनौने रूप को व्यक्त करते हैं और साथ में इसको मिटाने के लिए तत्पर हैं।

उपन्यासकार, समाज में व्याप्त समस्याओं तथा विकृतियों को गटर की संज्ञा देते हैं। उनका मानना है कि आम स्थान के अतिरिक्त समाज के धर्म, तीर्थ और पूज्य स्थल भी इस गटर रूप से नहीं बच पाये हैं। तिरूपति से लेकर बड़े-बड़े मन्दिर, मठ तथा धर्म स्थल जहां हजारों श्रद्धालु आते हैं और इन मन्दिरों में गेरूए वस्त्र धारण किये हुए ढोंगी पुजारी, साधु, मंहत रहते हैं जो मन्दिरों में रहने वाली देवदासियों के साथ कुकर्म करते हैं- 'गरीब परिवार के लोग बाल्यावस्था में ही अपनी पुत्रियों को देवदासी बनने के लिए मन्दिरों के पुजारियों के सुपुर्द कर देते हैं। ये जीवन भर शादी नहीं कर सकती हैं। केवल इन पुजारियों की दासी बन कर पूरा जीवन गुजारती हैं। वास्तव में लगभग 12 साल की उम्र पार करते ही इन देवदासियों का कौमार्य बर्बाद कर दिया जाता है। वास्तव में ये देवदासी नहीं बकि इन पुजारियों की रखैल बन करके सार जीवन यापन करती हैं।' ईश्वर के नाम पर स्थापित इन स्थलों में भी ऐसा भयानक और नग्न नाच मनुष्य की नीचता का पर्दाफाश करता है। सोनकर समाज में इन धार्मिक स्थलों के प्रति प्रशासन की कार्यवाही की ओर संकेत करते हैं और इन संस्थाओं और धर्म स्थलों से उन लाखों बहु-बेटियों की आबरू बचाना चाहते हैं जो बेवस होकर चुप्पी साध कर और अपना भाग्य मानकर घुट-घुटकर जीवन जीने के लिए मजबूर हो जाती हैं। उपन्यास के अंत में सोनकर बताते हैं कि सौरभ और गरिमा देश के विभिन्न गटरों की ओर बढ़ जाते हैं जो आये दिन दलित समाज के लिए भंयकर गटर बनकर उनका शोषण का कारण बनते थे। वे दोनों आदिवासी प्रदेशों के कुछ इलाकों में जाते हैं जहां विभिन्न दवाईयां बनाने वाली कम्पनियां गरीब लोगों पर अपनी दवाईयों का टेस्ट करती थी जिससे समय-वेसमय उनकी मृत्यु भी हो जाती थी, उसे रोकने का प्रयास करते हैं। उन कम्पनियों को भंडाफोड़ करते हैं। सोनकर बताते हैं कि इस प्रकार सौरभ को इस गटर समाज के हित की विभिन्न योजनाएं मिलती जाती हैं। अब 'सौरभ का देश गरिमा के देश जैसा धीरे-धीरे बनता जा रहा था।' इन पंक्तियों से आश्य है कि सोनकर भी अपने देश को इस तरह का बनाना चाहते हैं जहां गटर का जीवन न जीया जाए। सोनकर, दलित वर्ग के लिए एक पथप्रदर्शक का कार्य कर रहे हैं।

निष्कर्ष:-कहा जा सकता है कि सोनकर एक-एक चीज का हिसाब रखने वाला बनिया है जो अपने साहित्य में भाषा, शैली, बिम्बों, प्रतीकों, उद्धरणों, मुहाबरों, कविताओं, गीतों, भावों, विचारों तथा सम्पूर्ण साहित्यिक गुणों को अपनी पारखी तथा विश्वसनीय तराजू में तोलकर बेचता है। न कम, न ज्यादा। वे जानते हैं कि सांप का विष किस मात्रा में औषधी का काम करता है? और किस मात्रा में वह जहर बन जाता है। सोनकर बहुत अनुभवी हैं हर बात का ध्यान रखते हैं। छोटे-छोटे एवं सहज वाक्यों के माध्यम से बड़ी-बड़ी बातों को आसानी से कह देते हैं और पाठक पढ़ते-पढ़ते ऐसा अनुभव करता है कि सोनकर सामने बैठ कर कोई मायवी कहानी सुना रहा हो और पाठक उसे बड़ी उत्सुकता एवं हैरानी के साथ सुन रहा हो। सोनकर की कथा-कला से प्रभावित पाठक अपने मन एवं अंगों-प्रत्यंगों से वैसे ही हाव-भाव व्यक्त महसूस करता है जैसे उपन्यास में व्यक्त हैं। पाठक खो जाता है और उपन्यास अपने अन्तिम चरण में पहुंचकर कृति के उद्देश्य को पूर्ण कर जाता है। सोनकर का दार्शनिक पक्ष अति सशक्त एवं अनुभवजन्य है। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि एवं प्रौढ़ शैली से लेखक अनुभवों को पिरोता चला जाता है और कब वह समाज के लिए दर्शन बन जाता है पता ही नहीं चलता। कथाकार सोनकर ऐसे जादूगर हैं जो बातों-बातों में दिल जीत लेते हैं। सोनकर के लिए कई उपमान देने को मन करता है लेकिन सभी उपमान उनके अनुभव, चिन्तन तथा उंची सोच के आगे फीके पड़ जाते हैं। वे ऐसे कारीगर हैं जो अपनी रचना को व्यष्टि रूप से निकालकर समष्टिगत बना डालते हैं। सोनकर एक दलित चिन्तक होने के नाते इस बात से चिन्तित भी हैं और प्रयासरत् भी कि किस प्रकार इस भंयकर बीमारी से निजात दिलाई जा सकती है। समाज का वह हिस्सा जो सदियों से सड़ांध को जीवन समझता है कब उससे बाहर आयेगा? सोनकर भी उस हट्टी लौहार की भान्ति हैं जो लोहे को कूट-कूटकर औजार बना कर ही छोड़ता है| लेखक उसी दिशा में कार्यरत है| निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'गट्टर का आदमी' उपन्यास प्राकृतिक सर्जना, मौलिक चिन्तन, सामाजिक विसंगतियों एवं दलित जीवन की त्रासदी का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

****

संदर्भ :-

1. रूपनारायण सोनकर, गटर का आदमी, अनिरूद्ध प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.11
2. रूपनारायण सोनकर, गटर का आदमी, अनिरूद्ध प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.1
3. वही, पृ.82
4. रूपनारायण सोनकर, गटर का आदमी, अनिरूद्ध प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.79
5. वही, पृ.47
6. वही, पृ.48
7. वही, पृ.49
8. वही, पृ.49
9. रूपनारायण सोनकर, गटर का आदमी, अनिरूद्ध प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.30
10. वही, पृ.33
11. वही, पृ.32-33
12. वही, पृ.39
13. वही, पृ.40
14. रूपनारायण सोनकर, गटर का आदमी, अनिरूद्ध प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.42
15. वही, पृ.43
16. वही, पृ.64
17. वही, पृ.52
18. वही, पृ.67
19. रूपनारायण सोनकर, गटर का आदमी, अनिरूद्ध प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.73
20. वही, पृ.66
21. वही, पृ.59
22. वही, पृ. 98
23. वही, पृ.102

हिंदी कथा साहित्य में अस्मिता मूलक विमर्श:विविध आयाम

प्रो.डॉ.एम.डी.इंगोले,
(हिंदी विभागाध्यक्ष तथा शोधनिर्देशक)
कला, वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय, गंगाखेड जि.परभणी-431514(महाराष्ट्र) मो.नं.9970721935

'अस्मिता' शब्द का मूल अर्थ है, "अहंता, अहंकार, अस्तित्व, विद्यमानता या मौजूदगी। इसके पर्यायवाची शब्द हैं, अभिमान, अहं, अहंभाव, अहंमन्यता, आत्मश्लाघा, गर्व, घमंड, दर्प, दंभ, मद, मिथ्याभिमान आदि कहे जा सकते हैं।"[1]अर्थात'अस्मिता' शब्द का अर्थ हुआ अपने होने का भाव, अपनी मौजूदगी, अपनी पहचान, अपनी सत्ता या हैसियत। इसे ही हम अस्मिता कह सकते हैं। अंग्रेजी में इसे 'आईडेंटिटी' शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रथमतः इसे अज्ञेयजी ने हिंदी में प्रयुक्त किया हैं। मूलतः यह स्त्रीलिंगी शब्द है, जो लडकी का नाम दर्शक है। भारतीय सामाजिक पृष्ठभूमि का अवलोकन करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि, वर्णाधिरित समाज रचना, जाति व्यवस्था, विविध धर्म-संप्रदाय, तथा सांस्कृतिक भिन्नता भारतीय समाज की गुण विशेषताएँ हैं। साथ ही यह सफेदपोश पूँजीपति, जमींदार शोषक वर्ग तथा किसान, मजदूर, कामगार, कर्मचारी, दलित-अस्पृश, आदिवासी और स्त्री वर्ग आदि में विभाजित हैं। पारंपरिक दृष्टि से अगर देखा
जाए तो सफेदपोश पूँजीपति और जमींदार वर्ग द्वारा दलित, आदिवासी, मजदूर, किसान, दबे कुचले और स्त्री वर्ग का निरंतर शोषण होता आया हैं। समकालीन समय में भी शोषण की प्रक्रिया आज भी जारी है, उसका केवल स्वरूप बदलला है।शिक्षा जागृति और लोकतंत्रात्मक मूल्यबोध के कारण अपनी अस्मिता और अस्तित्व की पहचान हर कोई तलाशने लगा है। उसे बचाये रखने की कोशिश में भी लगा है। अर्थात,

"अगर किसी व्यक्ति या समुदाय के वंश, जाति, धर्म, भाषा, लिंग या राष्ट्र की पहचनों को मिटाने की कोशिश या साजिश की जाती है तो वह व्यक्ति या समूह इन पहचनों को बचाने की चेष्टा करता हैं।"[2] अर्थात अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए वह दमखम कै साथ लडने को तत्पर रहता है। इतिहास के पृष्ठों को पलटकर देखें तो पता चलता है कि, मदमस्त सत्ता के अंधे ऐसे अस्मिता के आंदोलनों को दमन की नीति अपना कर नेस्तनाबूद कर देते हैं। अपने शिकंजे में कसकर पकड़ लेते हैं। भारत वर्ष में सदियों पूर्व अस्पृश, दलित, पिछडा, आदिवासी और स्त्री वर्ग अपनी पहचान खो बैठा था। इसके मूल में द्रविड़ संस्कृति के समय आर्य अनार्यों के बीच संघर्ष में हुई हार के बीज छिपे हुए हैं। प्रस्तुत वर्ग अपनी अस्मिता और.अस्तित्व की पहचान से बेखबर था। वह अपनी गुलामी को ही अपना प्रारब्ध मान बैठा था। या यूं कहें कि ऐसा उनके मानसपटल पर वर्णवर्चस्वी व्यवस्था ने बिंबित किया था। उनकी गुलामी का कारण अशिक्षा, अज्ञान और घोर अंधविश्वास था। इससे उबारने के लिए म.ज्योतिराव फुले, छ.शाहु और डॉ.बाबासाहब आंबेडकरजी ने ताउम्र अथक प्रयास किया है। म.ज्योतिराव फुलेजी का सर्व ज्ञात संदेश यहाँ दृष्टव्य हैं,

"विद्या बिना मति गई, मति बिना गति गई।
गति बिना वित्त गया, वित्त बिना शूद्र हतबल हुए।
इतना बड़ा अनर्थ केवल एक अविद्या ने किया।"

इसलिए उन्होंने सर्व प्रथम महिलाओं के लिए स्कूल खोले। अस्पृशों के लिए हॉस्टल और स्कूल खोले। छ.राजर्षि शाहुजी ने भी इससे भी आगे जाकर अस्पृशों के छात्रों के शिष्यवृत्ति प्रदान की। डॉ.बाबासाहब आंबेडकरजी ने निम्न वर्ग के लिए, "पढो-लिखो-संगठित बनों और अधिकार के लिए संघर्ष करो" का केवल नारा ही नहीं दिया अपितु उनके अस्तित्व एवं अस्मिता के लिए विभिन्न जन आंदोलन किएँ। जिनसे हम भली भांति वीदीत हैं। संविधान द्वारा शिक्षा का सभी को 14 वर्ष की उम्र तक मुफ्त में शिक्षा प्रावधान कर सामाजिक न्याय, भाईचारा, स्त्री-पुरूष समानता के मानवीय मूल्यों को स्थापित किया हैं। वर्तमान सरकार ने शिक्षा का नीजिकरण कर पिछड़े तपके के गरीब विपन्न वर्ग को इससे भी वंचित करने के प्रयास किये जा रहे हैं। महाराष्ट्र डॉ.बाबासाहब आंबेडकरजी की कर्मभूमि होने से दलित, पिछड़े, वंचित लोगों की अस्मिता के अधिकांश आंदोलन यहीं हुए हैं। परिणाम स्वरूप मराठी दलित साहित्य का यहां अविर्भाव हुआ। जिसमें उन पर हुए अन्याय, अत्याचार, गुलामी, लाचारी, तारतार कर दी गई'अस्मिता' को साहित्य विश्व पटल पर प्रेषित किया। उन आत्मकथाओं के अनुवाद अनेकानेक भारतीय भाषाओं में हुए। हमारा हिंदी साहित्य भी उससे अछूता नहीं रह सका। अर्थात हिंदी में दलित साहित्य उभरकर आया। उसने अपने अस्तित्व एवं अस्मिता को तलाशकर तराशना शुरू किया।

समकालीनता को पर अगर हम गौर करें तो पता चलता है कि, दलित साहित्य ही मुख्य धारा का साहित्य माना जाने लगा है। जो अपनी अस्मिता को सर्वोपरि मानता है। इसके समांतर में स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, किसान विमर्श, वृद्ध विमर्श और हाल ही में हिंदी साहित्य पटल पर किन्नर विमर्श अपने पुख्ता कदम जमाने की होड में लगा हैं। ये सभी अपनी अपनी अस्मिता एवं मानवीय अधिकार की जायज लडाई संवैधानिक तरीक़े से लडने में जुड़े हुए हैं। अगर ये सभी ऐसा नहीं करते हैं तो मानों वे पशुवत हैं, जडवत हैं। यह अस्मिताबोध शिक्षा एवं ज्ञान से ही संभव हो सका हैं। हिंदी साहित्य में दलित अस्मिता और अस्तित्व की लडाई ओमप्रकाश वाल्मीकि, भगवानदास मोरवाल, सूरजपाल चौहान, डॉ.माताप्रसाद, डॉ.तुलसीराम, श्यौराज सिंह बेचैन, जयप्रकाश कर्दम, अजय नावरिया, रूपनारायण सोनकर, कर्मानंद आर्य, आदि ने लडी हैं, लड रहें हैं। दलित, आदिवासी स्त्री विमर्श की बात करें तो कौशल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे, रमणिका गुप्ता, निर्मला पुतुल, कौशल पंवार आदि का कथा साहित्य देखा परखा जा सकता हैं। भारतीय सामाजिक परिवेश अंधविश्वास, वर्ण,वंश, जाति, स्पृश्य-अस्पृश्यता, शोषण और विषमता से ग्रसित हैं।इसका अंकन दलित साहित्य में यथार्थ और विस्मयकारी हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकिजी ने अपनी 'जूठन' आत्मकथा तथा 'सलाम' कहानी में प्रकट हैं। लेखक ने 'जूठन' द्वारा अपने समाज को दयनीय और हीनता बोध की स्थिति से अवगत कर उससे उबरने का मौलिक संदेश दिया है। यही नहीं अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष की नीति को भी अपनाया है। वरिष्ठ कथाकार मोहनदास नैमिशरायजी ने 'अपने अपने पिंजरे' (2भाग) आत्मकथा में वर्णवर्चस्वी व्यवस्था की गुलामी के पिंजरे को तोडकर खुले गगन में ऊंची उडान भरने का प्रयास किया है। 'महानायक डॉ.बाबासाहब आंबेडकर' इस ऐतिहासिक उपन्यास द्वारा डॉ. बाबासाहब आंबेडकरजी के समग्र जीवन दर्शन को हिंदी साहित्य के विश्व पटल पर 'महानायक' के रूप में विराजित किया हैं। जो अब तक के लब्धप्रतिष्ठ तथाकथित मुख्य धारा के हिंदी साहित्यकारों ने डॉ.बाबासाहब आंबेडकरजी को दुर्लक्षित, उपेक्षित किया था। वस्तुतः डॉ.आंबेडकरजी विश्वमान्य महानायक, महापुरुष हैं। हिंदी फिल्म जगत में मात्र इन्हें 'महानायक' के रूप में पहले ही स्वीकृत किया है। यह गौरव की बात है।जयप्रकाश कर्दमजी एक सशक्त हिंदी कथाकार हैं। उनका 'छप्पर' उपन्यास, "दलित जीवन की समस्याएं, दलितों का शोषण, दलितों के साथ किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार आदि बातों की अभिव्यक्ति और इसके खिलाफ दलितों में हुई जागृति के कारण संघर्ष करने के लिए चेतीत हुए दलितों का भी चित्रण उपन्यास में प्रकट हुआ है।... 'छप्पर' यह उपन्यास हमें सवर्ण अवर्ण की

स्थिति से ही नहीं बल्कि भारतीय समाज के मूल ढाँचे से परिचित कराता है। जिसका आधार वर्ण व्यवस्था है। ...हमारी समाज व्यवस्था सवर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच और जातिगत भेदभाव पर विभाजित हैं।"[4] अर्थात भारतीय समाज में हमारी आजादी के 75 वर्ष बाद भी दलित, आदिवासी, स्त्री अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं। श्यौराज सिंह बेचैन की कहानी 'शोधप्रबंध' उल्लेखनीय हैं। यह कलात्मक शैली में लिखी गयी है। इसमें उच्च शिक्षा व्यवस्था में मेधावी, होनहार, बुद्धिवादी, स्वाभिमानी दलित छात्र-छात्राओं के विरुद्ध किए जाने वाले षडयंत्र तथा शोषण को उघाडकर रख देती हैं। साथ ही यह दलित छात्रों के आंदोलन द्वारा न्याय की गुहार लगातीं है। श्यौराज सिंह बेचैन जी अपनी आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' के माध्यम से मानों अपने बचपन को अपने कंधों पर 'अस्तित्व' तथा 'अस्मिता' की तलाश में ढोते हुए नजर आते हैं। डॉ.तुलसीरामजी ने 'मुर्दहिया' के द्वारा दलितों के अभिशप्त जीवन की प्रतीति कराई है। सूरजपाल चौहान आत्मकथा 'तिरस्कृत' के माध्यम से अस्पृश्य, दलित समाज का वर्णव्यवस्था ने छुआछूत की बीमारी, गुलामी, शोषण ग्रस्त और तिरष्कृत समाज को आगाह कर आत्मभान तथा स्वाभिमान की राह दिखाकर उससे उबरने का संदेश दिया है।

रूपनारायण सोनकर जी हिंदी कथा साहित्य में नये मिथक गढने, नए प्रतीक प्रयुक्ति के कारण प्रयोगधर्मी रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। रूपनारायण सोनकर एक ऐसे कथाकार हैं, जो मनुवादी व्यवस्था की' छल-छलनीति' के 'डंक' से आहत 'नागफनी' के कंटीले पाश से जकडी 'जहरीली जडें' उखाड़ फेंकने का महनीय कार्य करते हैं। साथ ही वे 'सूअरदान' के माध्यम से भारतीय परंपरा से चली आ रही मिथकीयता को खंडित ही नहीं करते अपितु आमजन, पिछड़े, शोषित, दलित, सर्वहारा वर्ग को आर्थिक सबलता प्राप्त करने का दिशानिर्देश भी उदाहरण सहित प्रस्तुत करते हैं। अनभिज्ञ समाज को स्वाभिमान, अस्मिता, अस्तित्व बोध का जीवन दर्शन भी अपनी रचनाओं में प्रकट करते हैं। यही नहीं अपने स्त्री वर्ग को भी अपनी इज्ज़त बचाने हेतु ईंट का जवाब पत्थर से देते हैं। यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि, जहाँ भी अन्याय होता है, उसका जवाब कडे संघर्ष और लडाई से देते हैं। भारतीयों का सांस्कृतिक त्यौहार होली के अवसर पर दलित स्त्रियों की इज्ज़त-आब्रु सवर्ण लोग गंदी-गंदी गालियाँ देकर सरेआम निलाम करते हैं तब सोनकर जी खामोश नहीं बैठते, वहीं उल्टा जवाब देते हैं। इस बात का खुलासा भी वे करते हैं कि, "हमारा उद्देश्य ब्राह्मणों की औरतों को गाली देना नहीं है। हमारा उद्देश्य अपनी औरतों को अपमानित होने से बचाना है। हम तो यह भी चाहते हैं कि, औरत औरत होती है, चाहे वह दलित हो या गैर दलित। सभी औरतों की गरिमा, मानसम्मान की रक्षा करना हम सभी का कर्तव्य है। ... समाज में अपमानित होने वाली परंपराओं को बंद करना मात्र दलितों का उद्देश्य है।"[5]भारतीय वर्ष में आज भी कुछेक धार्मिक स्थलों, पनघटों पर पिछड़े वर्ग के लोगों का प्रवेश निषिध्द है। अतः अपनी अस्मिता को बचाये रखने हेतु यह वर्ग धर्म परिवर्तन की राह अपनाते हुए नजर आते हैं।

रूपनारायण सोनकरजी के कथा साहित्य के चरित्रों की खास विशेषता है कि, वे समस्याओं के सम्मुख घुटने नहीं टेकते, हार नहीं मानते हैं बल्कि वे उसके साथ दो-दो हाथ, संघर्ष करने के लिए तत्पर रहते हैं। छायावादी कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि, वे. जीवन की समस्याओं से विमुख होकर उसका समाधान प्रकृति में ढूंढते हैं। या उसीमें रममाण होते हैं। वास्तविक जीवन से पलायन करते हैं। परंतु सोनकर जी जीवन की हर मुसीबत का मुकाबला करते हैं। बडे साहस और संजिदगी से लडते हैं। परिस्थितियों से समझौता नहीं करते हैं। अपने सम्मुख कदमों में झुकने के लिए बाध्य करते हैं। प्रकृति में पशु-पक्षियों के साथ मानवीय सहजीवन को रूपायित करते हैं। यही मनुष्य जीवन की आर्थिक उन्नति में सहायक सिद्ध करते हैं। सोनकर जी अपने स्वाभिमान अधिकार की जंग संवैधानिक तरीक़े से लडते हैं। उनका उपन्यास 'सूअरदान' की मूल परिकल्पना 'पशु और मानव के क्लोन' से 'मानवर' की निर्मिति तथा उपन्यास के चरित्र 'सज्जन खटिक', 'सत्यनारायण त्रिपाठी' और 'पुजारी दयाशंकर' को आधार बनाकर राकेश रोशन ने 'क्रिश थ्री' फिल्म बनाई। जिसमें लेखक की कॉपी राईट की अवहेलना के जुर्म में 2013 में सोनकरजी ने इलाहाबाद हाईकोर्ट में मामला दर्ज कर लडाई लडी। समझौते के लिए उन पर दबाव भी डाला गया। धमकियां दी गई। उनके वकील को खरिदा गया। फिर भी वे मुकदमा जीत गयें। इस स्वाभिमान और हक की लडाई का जिक्र उन्होंने खुद हंस पत्रिका-नवंबर-2019 के दलित विशेषांक में 'भटकटैया' शीर्षक के अंतर्गत की है। दलित, आदिवासी, पिछड़े, शोषित वर्ग से भी अधिक दयनीय स्थिति स्त्री-वर्ग की है। शूद्रों से भी अतिशूद्र स्त्रियों को माना गया है। उसे केवल भाग की वस्तु और वंश चलाने का साधन मात्र माना गया था। स्वातंत्र्योत्तर काल में संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार तथा शिक्षा जागृति के कारण अपनी अस्मिता, अस्तित्व और स्वाभिमान की लडाई वे लड रहीं हैं। स्त्रियों में दलित, आदिवासी स्त्रियों की स्थिति तो और भी गंभीर, भयावह, सोचनीय, दयनीय, हैं। इसका जिक्र लेखिकाओं ने अपनी कथात्मक रचनाओं में बडी संजिदगी से एवं खुलकर किया हैं। कौशल्या बैसंत्रीजी ने 'दोहरा अभिशाप' में स्त्री किस तरह मजबूर, शोषण, अवहेलना, अवमान, अपमान, घृणा, प्रताडना, तिरस्कृत अभिशप्त जीवन जीती हैं, इसे उद्घाटित किया है।

समकालीन समय में 'किन्नर विमर्श' या 'ट्रांसजेंडर' अपनी अस्मिता की जडों की तलाश में संघर्षरत हैं। वह भी एक मानव है। उसे भी अपने मानवीय संवेदनाओं तथा अस्मिता के साथ जीने पूरा पूरा अधिकार है। इसे स्थापित करने में अलीगढ़ के डॉ.फिरोज अहमद तथा उनके सहयोगी डॉ.शगुफ्ता नियाज प्रयासरत हैं। उन्होंने, 'अनुसंधान' तथा 'वाङमय' के अनेक विशेषांक प्रकाशित किए हैं। उन्होंने कहानी, उपन्यास एवं साक्षात्कार को केंद्र में रखकर इस विमर्श को स्थापित करने का प्रयास किया हैं। किन्नर समाज मुख्य धारा समाज से घृणित, तिरस्कृत, अपमानित, यौन पीडित-शोषित, बहिष्कृत जीवन जीने के लिए मजबूर हैं। अतः वह भी अपनी अस्मिता, अस्तित्व, स्वाभिमान, मानवीयता की जंग लड रहा है। वह भी उच्च शिक्षा ग्रहण कर अपनी शापित जिंदगी को वैज्ञानिक अविष्कार का आधार लेकर सर्जरी द्वारा आम मनुष्य की तरह जीवन जीने के लिए प्रयासरत हैं। किन्नर की मनोदशा और उनके प्रति सामाज का रवैय्या क्या होता है, इसे 'दर्द न जाने कोय'(लवलेश दत्त), 'गुलाम मंडी'(निर्मला भूराडिया), 'यमदीप' (निरजा माधव), 'मैं पायल' (महेंद्र भीष्म), 'तीसरी ताली' (प्रदीप सौरभ), 'पोस्ट बॉक्स नं.203 नाला सोपारा' (चित्रा मुदगल), 'मैं भी औरत हूँ' (अनुसूया त्यागी), 'आधी दुनिया' (मेहराज अहमद), 'किन्नर गाथा' (महेंद्र भीष्म) आदि द्वारा बखूबी समझा जा सकता हैं। संक्षेप में अस्मिता मूलक विमर्श:विविध आयाम पर दृष्टिक्षेप करने से हमें यह ज्ञात होता है कि, भारतीय समाज व्यवस्था विभिन्नता से पूर्ण है। इसमें धार्मिक, सामाजिक गलत रूढि परंपरा, सांस्कृतिक, सांप्रदायिक, जातिगत भेदभाव, के कारण ऊँच नीच, स्पृश्य अस्पृश्य, छुआछूत, शोषण, हीनता भाव का शिकार वर्ग अपने अस्तित्व एवं अस्मिता की लडाई आजादी के 75 वर्षों बाद भी लड रहा हैं।

जिसमें प्रधान रूप से दलित, आदिवासी, स्त्री और किन्नर आदि विमर्शों को इसका अधिक शिकार होते हुए पाया जा ता रहा हैं। हिंदी कथाकारों ने इसे अनोखे ढंग से इसे रेखांकित किया है। अतः हम कह सकते हैं कि, चाहे दलित हो, आदिवासी हो, स्त्री वर्ग हो या किन्नर हो सभी अपनी - अपनी अस्मिता एवं अस्तित्व और स्वाभिमान की लडाई लड रहें हैं। अपना वतर्मान और भविष्य निर्माण में निरंतर प्रयासरत हैं। मानवीय मूल्यों- बंधुत्व, समता, न्याय, सौहार्द, सजग, संपन्न, समृद्ध आमन और शांतिपूर्ण मनुष्य जीवन की अभिलाषा हिंदी साहित्य करता है।

****

संदर्भ संकेत:

1.इंटरनेट
2.इंटरनेट
3.इंटरनेट:आलेख:जयप्रकाश कर्दम के 'छप्पर'उपन्यास में चित्रित दलित चेतना-डॉ.उत्तम लक्ष्मण थोरात
4.नागफनी:रूपनारायण सोनकर(पृ.60)

भारत में जनजातीय विकास: आशाएं और योजनाएं

डॉ. संजय यादव
सहायक आचार्य
जनजातीय अध्ययन, कला संस्कृति एवं लोक साहित्य
इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक. म.प्र.

सभी जीव धारियों को भोजन की आवश्यकता होती है। मनुष्य सभी जीव धारियों में बुद्धिमान प्राणी माना जाता है। मनुष्य को भी भौतिक रूप से आहार आवास और आवरण की आवश्यकता है। सभी भौतिक आवश्यकताओं में यह तीन आवश्यकताएं जीवित रहने के लिए अनिवार्य है। इन्हीं के निमित्त व्यक्ति अपने सभी कार्यों को निष्पादित करता है। हमारे वैदिक परंपरा में इसे स्वीकार भी किया गया है कि- "सर्वारंभा: तण्डुलप्रस्थामूला:।" अर्थात जितने भी उद्योग हैं सब की जड़ में पाव भर चावल का बल है। विकास के मानक भी आवास आहार और आवरण से ही निर्धारित किए जाते हैं। अपनी इस भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर पलायन करते रहते हैं। रोजी रोटी और रोजगार व्यक्ति को 'परदेसी' भी बना देती है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार 705 से अधिक जातियों को अनुसूचित जनजाति के रूप में चिह्नित किया गया है। अपरिगणित जनजातियों की संख्या 254 घुमंतू जनजातियों की जनसंख्या 198 तथा अर्द्धघुमंतू जनजातियों की संख्या 13 है। अर्ध घुमंतु जनजातियां केवल राजस्थान राज्य में चिन्हित की गई है। भारत में ही नहीं अपितु वैश्विक फलक पर भी इन जनजातियों का जीवन परिश्रम और संघर्ष का जीवन है। शारीरिक श्रम ही इनकी आर्थिक पूंजी है। यह समुदाय आर्थिक तथा सामाजिक रूप से सर्वाधिक पिछड़ा समुदाय है। यह समुदाय या तो अपना श्रम बेच कर अपना जीवन यापन करता है अथवा आखेट या वनोपज संग्रहण इसके जीवन का आधार है। विकास के आधुनिक मानक आर्थिक आधार पर ही निर्धारित किए जाते हैं। विकास के इन आधुनिक मानक पर यह समुदाय अन्य समुदायों की तुलना में अत्यंत पीछे हैं। इनमें से अधिकांश पीढ़ियों से वंचित और बेसहारा जीवन जी रहे हैं साथ ही साथ उनका भविष्य के लिए भी कोई निश्चित आधार नहीं दिख रहा है। कोई भी राष्ट्र किसी समूह को वंचित कर सर्वांगीण विकास का दावा नहीं कर सकता है क्योंकि राष्ट्र निर्माण में सभी जन की भूमिका होती है। सभी समुदायों की सहभागिता होती है। अथर्ववेद के 1 मंत्र (19.41) में राष्ट्र के जन्म का इतिहास मिलता है जिसमें हमारे वैदिक ऋषियों ने सबके कल्याण की चेष्टा की है- भद्रमिच्छन्त ऋषय:। सबकी कल्याण में ही राष्ट्र का कल्याण निहित है। ऐसे में सरकार द्वारा क्रमबद नियोजन और विकासात्मक ढांचा तैयार कर बहुस्तरीय लाभ देने का प्रयास आवश्यक है।

बीज शब्द: जनजातीय, विकास, सरकार, योजनाएं, आत्मनिर्भर।

उद्देश्य:- हरियाणा पंजाब चंडीगढ़ पांडिचेरी और दिल्ली को छोड़कर जनजातीय समाज संपूर्ण भारत में पाया जाता है। यह सभी समूह विकास के अलग-अलग स्तरों पर हैं। कई जनजातीय समूह ऐसे हैं जो खाद्य संग्राहक अवस्था में है तो कई समूह विकास के उच्चतम स्तर पर हैं। इन विभिन्न अवस्था वाले समाजों निम्न आर्थिक स्तर पर जीवन यापन करने वाले समूहों का अध्ययन तथा उनकी स्थिति में सुधार हेतु आवश्यक प्रयास तथा सरकारी योजनाओं का अध्ययन इस शोधपत्र का उद्देश्य है।

भूमिका:-भारत में भौगोलिक तथा सांस्कृतिक विविधता बहुतायत में है। उत्तरयंत समुद्रस्य, हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं। वर्ष तद् भारतं नाम भारती संतति। विष्णु पुराण की यह पंक्तियां भारतीय विविधता में उसकी एकता निरूपित करती है। इस भौगोलिक विविधता में एक आत्मिक एकता है कि जो भारतवर्ष में है वह मां भारती की संतति है तथा वह किसी भी जाति धर्म से पहले भारतीय है। भौगोलिक वातावरण के आधार पर मानव का रहन-सहन तथा सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश भी निर्भर करता है। भारत की विविधता युक्त भौगोलिक पृष्ठभूमि में विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के लोग निवास करते हैं। कविवर रवींद्रनाथ टैगोर ने भारत की सांस्कृतिक विविधता में उसकी एकता को निरूपित करते हुए उसे महामानव समुद्र कहा था (त्रिवेदी 2022)। कविवर रवींद्रनाथ टैगोर के ध्यान में हिमालय से हिंद महासागर तक और कच से कामरूप तक फैली हमारी जीवन शैली और जीवन दर्शन रहन-सहन का सतरंगी इंद्रधनुष था। उन्होंने भारत की विविधता और लोक मान्यताओं को निहारा था। भारत में विभिन्न धर्मों संप्रदायों तथा अनेक विदेशी पृष्ठभूमि के लोगों का एक साथ रहवास है। जिसके कारण यहां सांस्कृतिक विविधता बहुतायत में है। यह न केवल जातियां पाई जाती है। अपितु अनेक जनजातियां भी पाई जाती हैं।

जनजातीय विकास वर्तमान समय का सर्वाधिक चर्चित विमर्श है।जनजातीय विकास पर विचार से पूर्व जनजाति और विकास पर विचार न्याय संगत प्रतीत होता है। मानवशास्त्रीय अध्ययन में उन समुदायों को जनजाति की श्रेणी में रखा गया है जिनमें निम्नलिखित लक्षण पाए जाते हो-कम जनसंख्या घनत्व, अर्थव्यवस्था का आदिम स्वरूप, आदिम राजनीति व्यवस्था, धर्म का आदिम स्वरुप लिपि का अभाव तथा अन्य सामाजिक समूहों से पृथक्करण (वैद्य 2003)। 1965 में गठित लोकुर समिति ने भी अपने प्रतिवेदन में यही मानक निर्धारित किया था कि उन समूहों को जनजाति की श्रेणी में रखा जाए जिनमें निम्नलिखित विशेषताएं हो-आदिम लक्षण, विशिष्ट संस्कृति, अन्य समुदायों से संपर्क से संकोच, आर्थिक पिछड़ापन तथा भौगोलिक अलगाव।

आज आदिवासियों की भगौलिक अलगाव वाली छवि पुरानी हो चुकी है। अब उन व्यापक गतिशीलता आ गई है। भारत तथा यूरोप में मानव शास्त्री अब यह मानने लगे हैं कि जनजातीय समाज समय के साथ अपने को बदलने लगे हैं। भारत में प्राय: ऐसे सामाजिक समूहों को जनजाति कहा जाता है जिन्हें भारतीय राष्ट्रपति अनुच्छेद 342 के आधार पर सार्वजनिक सूचना द्वारा जनजाति घोषित करता है (पांडेय 2007)। विकास को परिभाषित करना कठिन कर्म है। अलग-अलग विज्ञान में इसे अलग-अलग रूपों में परिभाषित किया जाता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि एक निश्चित समय सीमा के अंतर्गत वांछित दिशा में परिवर्तन ही विकास है।

जनगणना वर्ष 2011 के अनुसार जनजातियों की संख्या 10.45 करोड़ है जो संपूर्ण भारतीय जनसंख्या का 8.6% है। 1961 में इनकी जनसंख्या 6.9% थी जो 2011 में बढ़कर 8.6% हो गई। लेकिन विकास के विभिन्न मांगों पर जनजातियों की सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति बहुत कम रही। यद्यपि की इनके विकास हेतु अनवरत प्रयास होते हैं। जनजातीय विकास के आरंभ का श्रेय मौर्य सम्राट अशोक को दिया जाता है। सम्राट अशोक ने इस कार्य के लिए अपने मंत्रिमंडल में एक मंत्री (अंतमहामात्य) की नियुक्ति की थी। अंतमहामात्य समान नागरिकों के हितों का ध्यान रखता था परंतु जनजाति समाज के विकास में उसके किसी विशिष्ट योगदान का वर्णन अशोक के किसी भी शिलालेख में नहीं मिलता है (वैद्य 2003)। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पहली बार जनजातियों के संदर्भ का स्पष्ट उल्लेख किया गया, परंतु इनके लिए किसी विकास कार्य का उल्लेख नहीं मिलता।

आधुनिक भारत के इतिहास में जनजातीय विकास को

व्यवहारिक धरातल अंग्रेजो द्वारा दिया गया परंतु उनका उद्देश्य जनजाति विकास नहीं था अपितु उनका लक्ष्य जनजातीय समाज की सरलता का लाभ उठाकर उसे ईसाईयत का पाठ पढ़ाना तथा अंग्रेजों का पक्षधर बनाना था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जनजातीय विकास को एक नया मोड़ दिया गया। नेहरू एल्बिन वार्ता के बाद जनजाति विकास के उपागम को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया गया। हमारे संविधान में अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के लिए अनेक प्रावधान किया गया।

संवैधानिक प्रावधान:- भारतीय संविधान निर्माताओं ने कमजोर वर्गों के विशेष जरूरतों को दृष्टिगत रखते हुए विशेषकर अनुसूचित जनजातियों की रक्षा के लिए कुछ विशेष प्रावधान किए हैं। अनुच्छेद 46 स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है कि राज्य लोगों के कमजोर वर्गों विशेष रूप से अनुसूचित जातियों जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष सावधानी से बढ़ावा देगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।" इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 10 वर्ष का समय भी निर्धारित किया गया पर समस्या इतनी जटिल थी कि 10 वर्ष के भीतर कुछ विशेष कर पाना बहुत मुश्किल था। संविधान द्वारा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए संवैधानिक प्रावधान इस प्रकार हैं-

क्रमांक	अनुच्छेद	प्रावधान
1	14	सबको समान कानूनी संरक्षण
2	15	धर्म, नस्ल, जाति लिंग जन्म स्थान के आधार पर विभेद की वर्जना
3	15(4)	सरकारी समाज के पिछड़े वर्गों विशेषकर अनुसूचित जनजातियों की उन्नति के लिए विशेष प्रावधान कर सकती है
4	16(4)	नियुक्तियों में आरक्षण की व्यवस्था
5	38	लोक कल्याण को बढ़ावा देने का कार्य
6	46	अनुसूचित सूचित जनजातियों समेत सभी कमजोर वर्गों को बढ़ावा देने का कार्य
7	164(1)	बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश जैसे अनुसूचित जनजातियों की बड़ी आबादी वाले राज्यों में एक जनजाति कल्याण मंत्री
8	275(1)	अनुसूचित जनजातियों के कल्याण को बढ़ावा देने के लिए अनुसूचित क्षेत्रों में प्रशासन के सुधार के लिए विशेष अनुदान।
9	330,332,335	लोकसभा, विधानसभा, और सेवाओं में अनुसूचित जनजातियों के लिए पदों का आरक्षण।
10	340	सरकार सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों की स्थिति का पता लगाने के लिए एक आयोग का गठन करेगी।
11	342	अनुसूचित जनजाति चिन्हित करने के संबंध में राष्ट्रपति की घोषणा।
12	पांचवी अनुसूची	अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और जनजातीय सलाहकार परिषद के गठन के लिए निर्देश [244 (1)]
13	छठी अनुसूची	असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के कुछ क्षेत्रों स्वायत्त जिला या स्वायत्त क्षेत्र घोषित कर तथा जिला परिषदों के गठन के द्वारा अनुसूचित क्षेत्रों का प्रशासन।

ग्रामीण भारत में स्थानीय स्वशासन को बढ़ावा देने तथा महात्मा गांधी के सपने लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए 1992 में 73वां संविधान संशोधन किया गया तथा पंचायतों को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई। इस संशोधन द्वारा त्रिस्तरीय पंचायती राज्य संस्था को कानून का रूप दिया गया। क्योंकि अनुच्छेद 343 (m) के अंतर्गत अनुसूचित और जनजातिय क्षेत्रों के लिए इसकी प्रासंगिकता सीमित थी। इस प्रासंगिकता के विस्तार के लिए पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार) अधिनियम PESA-Panchayat extension to schedule areas-1996 पारित किया गया। इस अधिनियम को 24 दिसंबर 1996 को राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदित किया गया था। इस अधिनियम द्वारा जनजातीय समुदाय को स्वशासन का अधिकार प्रदान किया गया। भूरिया समिति ने 1995 में जनजातीय स्वशासन पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति के प्रतिवेदन के बाद अनुसूचित क्षेत्रों में रहने वाले इस समिति के प्रतिवेदन के बाद अनुसूचित क्षेत्रों में रहने वाले लोगों हेतु आदिवासी स्वशासन सुनिश्चित करने के लिए पेसा अधिनियम 1996 अस्तित्व में लाया गया। यह ग्राम सभाओं के माध्यम से स्वशासन सुनिश्चित करने के लिए अधिनियमित किया गया था। यह अधिनियम आदिवासी समुदाय को स्वशासन की अपनी प्रणालियों के माध्यम से स्वयं को शासित करने का अधिकार देता है तथा प्राकृतिक संसाधनों पर उनके पारंपरिक अधिकारों को स्वीकार करता है।**पेशा अधिनियम और ग्राम सभाएं:-**

गांव के प्रधान को ग्रामीणी कहा जाता था। प्रियदर्शी अशोक ने गांव की भारतीय जनता के लिए एक अतिशय मनोहारी और सम्मानित शब्द का प्रयोग किया-'जनपद जन'। अशोक के लेखों का परायण करते समय बहुमूल्य शब्द मिलता है (अग्रवाल, 2009)। राजनैतिक जीवन में ग्रामवासी जन समुदाय की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ और चिरकाल से विस्मृत जन समुदाय की स्मृति सबको प्राप्त हो रही है। लोक स्थिति को सुधारने के लिए अशोक ने एक राज्यकीय पुरुष नियुक्ति किया जिसका कार्य केवल जनपद जन के हितों की चिंता करना था। प्रियदर्शी अशोक ने जनपद जन को शासन के केंद्र में रखकर एक नवीन आदर्श की स्थापना किया। बाद के समय में भी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में इसे प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया गया। पेसा अधिनियम के द्वारा ग्राम सभाओं को विकास योजनाओं को स्वीकृति देने और सामाजिक क्षेत्रों को नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का अधिकार दिया गया-

जल जंगल जमीन और संसाधन।
लघु वनोत्पाद।
स्थानीय बाजारों का प्रबंधन।
भूमि अलगाव को नियंत्रित करना।
नशाखोरी तथा नशीली पदार्थों पर नियंत्रण।
पहचान का संरक्षण तथा संघर्षों का समाधान।

यदि इस अधिनियम को वास्तविक रूप में क्रियान्वित किया जाए तो यह ग्रामीण स्वशासन प्रणाली तथा लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को पुनर्जीवित करने में सफल सिद्ध होगी। साथ ही साथ ही यह स्वशासन को अधिकाधिक लिंग समावेशी तथा लोकतांत्रिक बनाएगी। यह कानून जनजातीय समुदाय की धार्मिक एवं परंपरागत नीतियों के संरक्षण और संवर्धन पर विशेष जोर देती है। इसमें विवादों को प्रथा गत उपायों द्वारा समझाने तथा सामुदायिक संसाधन का प्रबंधन करने पर विशेष बल देती है। इस अधिनियम की धारा 4 (अ) तथा 4 (द) मैं यह उल्लेख किया गया है कि किसी राज्य की पंचायत से संबंधित कोई विधि उनके प्रथा गत कानून सामाजिक एवं धार्मिक नीतियों तथा सामुदायिक संसाधनों के परंपरागत प्रबंधन के व्यवहारों के अनुरूप होगी तथा प्रत्येक ग्रामसभा लोगों की परंपराओं एवं प्रथाओं के संरक्षण एवं संवर्धन उनकी सांस्कृतिक पहचान बनाए रखेगी तथा विवादों को प्रथागत ढंग से निपटाने में सक्षम होगी (Behura 2006)।

जनजातीय विकास की योजनाएं एवं कार्यक्रम:-

जनजाति विकास को लेकर औपनिवेशिक शासन में कुछ प्रयास

अवश्य किया गया था पर इस शासन की नीति जनजाति विकास के संदर्भ में स्पष्ट नही थी। ओमे लेने ब्रिटिश राज्य जनजाति संबंधी कार्यों की आलोचना में लिखा है कि-"आदिम जातियों के तत्काल उपयोग में आने की बात तो दर रही भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना ने लाभ से अधिक हानियां पहुंचाई है" (सिंह 1985)। ब्रिटिश शासन की जनजातीय विकास की नीति जनजातियों को सहायता देने की अपेक्षा उन्हें नियंत्रण में रखने की थी। जनजाति समस्याओं के समाधान के लिए मानव शास्त्री तथा स्वयंसेवी संस्थाएं भी कार्यरत रहीं। आज भी स्वयंसेवी संस्थाएं अपने उद्देश्यों और आदर्शों के अनुरूप जनजाति कल्याण में संलग्न है। यह संस्थाएं चंदा से प्राप्त धनराशि अथवा राज्य द्वारा प्राप्त अनुदान से जनजातियों के आर्थिक सामाजिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में कार्यरत हैं इन संस्थानों की कार्यों का प्रमाणित लेखा-जोखा नहीं है। इन संस्थानों का कार्य प्रणाली आदर्शोन्मुख हैं।अनुसूचित जातियों के विकास के लिए हमारे नीति निर्माताओं और योजनाकारों ने प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-1956) से ही सर्वोच्च प्राथमिकता दी है। इस योजना में अनुसूचित जनजातियों के समग्र विकास के लिए प्रभावी एवं सघन अभियान चलाया गया। जनजातियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए समेकित एवं ठोस विकास कार्यक्रमों की आवश्यकता महसूस की गई। फलत: दूसरी पंचवर्षीय योजना (1956-61) जिसके योजनाकार पीसी महालनोबिस थे इस योजना में जनजातीय विकास कार्यक्रमों को प्राथमिकता दिया गया और इन्हें 4 वर्गों में विभाजित किया गया।

1.संचार
2.शिक्षा और संस्कृति
3.अर्थव्यवस्था का विकास

स्वास्थ्य आवास और स्वच्छ पेयजल आपूर्ति। आर्थिक असमानता को कम करने का विशेष ध्यान रखा गया। योजन निर्माण के समय जनजातीय समाज की सामाजिक आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं को केंद्र में रखा गया। साथ ही साथ यह विचारणीय रहा कि समस्त योजनाएं जनजातीय समाज की संस्कृति और परंपराओं के प्रति सम्मान रखते हुए क्रियान्वित की जाए (Ewans,1964)।

ग्रामीण विकास योजना में जनजातीय विकास के लिए 1954 में बहुउद्देशीय विकास परियोजना (multi purpose development project) का शुभारंभ किया गया। इस परियोजना का मूल उद्देश्य जनजातियों का आर्थिक विकास करना था। प्रारंभ में इस परियोजना पर 5 वर्ष के लिए ₹27000 खर्च करने का विधान था। 1956 में भारत सरकार ने वेरियर एल्विन की अध्यक्षता में जनजाति विकास का प्रारूप तैयार करने के लिए एक कमेटी गठित की। इस कमेटी ने जनजातीय विकास को बहुत सावधानी पूर्वक क्रियान्वित करने का सुझाव दिया। इस समिति के प्रतिवेदन में- आर्थिक विकास शिक्षा स्वास्थ्य आवागमन और संचार पर बल दिया गया और ब्लॉक बनाने के बाद की गई। गति ब्लॉक 25000 की जनसंख्या का निर्णय लिया गया। तिरालिस विशेष बहुउद्देशीय जनजाति प्रखंडों की स्थापना की गई जिन्हें बाद में जनजाति विकास खंड (tribal development block) कर दिया गया। इस प्रकार पहली पंचवर्षीय योजना में जनजातीय विकास के लिए जो कार्यक्रम तैयार किए गए थे उन्हें 1961 तक प्रभावी स्वरूप दे दिया गया।(Vidyarthi 1968)। जनजाति विकास कार्यक्रम तथा उन्हें अवसर की समानता प्रदान करने के लिए दूसरी योजना के कार्यक्रमों और नीतियों को तीसरी योजना(1961-66) में भी निरंतरता प्रदान किया गया (शाशा, 2008)।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-74) में भारतीय जनता के जीवन स्तर में त्वरित सुधार का संकल्प व्यक्त किया गया जिससे समानता व सामाजिक न्याय सुनिश्चित किया जा सके। आर्थिक शक्ति के बढ़ते संकेंद्रण की प्रवृत्ति को समाप्त करने के लिए यह योजना गाडगिल फार्मूले पर अपनाई गई थी। स्थिरता के साथ आर्थिक विकास तथा आत्मनिर्भरता की प्राप्ति इसका प्रमुख लक्ष्य था। जनजातीय विकास की दृष्टि से इस योजना में कार्यक्रमों की एक श्रृंखला को अपनाया गया। जनजाति विकास एजेंसियां स्थापित की गई। पहली से चौथी योजना तक जनजाति विकास का क्षेत्रवार विवरण इस तालिका में देखा जा सकता है-

क्षेत्रवार जनजातीय विकास (रुपए करोड़ में

Plan	Education	Economic Uplifant	Health housing	Total
1st plan	5.10	8.46	3.81	17.37
2nd plan	8.05	22.70	9.76	40.51
3rd plan	13.23	30.72	7.10	51.05
4th plan	31.50	42.25	10.45	84.20

Source-Four Five year plan approch paper.

उपर्युक्त तालिका में जनजातीय विकास के सभी क्षेत्रों में वृद्धि के क्रम में आर्थिक अनुदान है।जनजातीय विकास की दृष्टि से पांचवी पंचवर्षीय योजना विशेष सफल मानी जाती है। इस योजना का समय 1974-78 तक रहा। इसमें विकास कार्यक्रमों का प्रत्यक्ष लाभ अनुसूचित जनजातियों तक पहुंचाने के लिए जनजातीय उपयोजना (tribal sub plan) शुरू की गई। जनजातीय उपयोजना में जनजातियों के जीवन स्तर में सुधार आर्थिक विकास के साथ-साथ उनके कानूनी व प्रशासनिक हितों का भी ध्यान रखा गया। छठी पंचवर्षीय योजना में निर्धनता उन्मूलन के माध्यम से 50% जनजातीय परिवारों को गरीबी रेखा से ऊपर लाने का प्रयास किया गया (योजना आयोग. 85)। अनुसूचित क्षेत्रों में अवसंरचनात्मक सुविधाओं का विस्तार किया गया। सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90) के द्वारा जनजातीय आर्थिक विकास को ध्यान में रखकर दो राष्ट्रीय संस्थाओं का गठन किया गया। आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में जन जातियों के शोषण को समाप्त, भूमि से बेदखली, न्यूनतम मजदूरी का भुगतान नहीं होने जैसी समस्याओं के समाधान का समुचित प्रयास किया गया। 9 वी पंचवर्षीय योजना में ऐसे परिवेश निर्माण को केंद्रित किया गया जिसमें जनजातीय समाज अपने संसाधनों और अधिकारों का सहज व स्वतंत्रता पूर्वक उपयोग कर सुखी जीवन व्यतीत कर सकें (योजना आयोग 1997-2002) दसवीं पंचवर्षीय योजना में जनजातीय समाज की समस्याओं को संभवत और न्याय व ढंग से सुलझाने पर ध्यान केंद्रित किया गया। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) और 12वीं पंचवर्षीय योजना (2012-2017) मैं जनजाति कल्याण संबंधी संरक्षण और सुरक्षा उपायों को सशक्त बनाने पर ध्यान केंद्रित किया गया। तत्पश्चात भारत सरकार की नीति आयोग द्वारा वार्षिक योजना में अनुसूचित जनजातियों के विकास पर ध्यान केंद्रित किया गया है। नीति आयोग ने केंद्रीय मंत्रालयों और विभागों को प्रतिवर्ष अपने कुल योजना आवंटन का 4.30 से 70.5% तक अंश जनजाति विकास के लिए रखने हेतु अधिकृत किया है (त्रिपाठी 2022.)। 2011 की जनगणना के अनुसार साक्षरता दर 73% थी जो अनुसूचित जनजातियों 59% है। कुल आबादी और जनजातियों के बीच साक्षरता दर का अंतर 14% है। भारत की संपूर्ण आबादी और जनजातियों की जनसंख्या के बीच साक्षरता दर का यह अंतर बहुत व्यापक है। नहीं संदेश सरकार की साक्षरता अभियानों का लाभ सभी वर्गों को मिल रहा है। किंतु इसका अपेक्षित लाभ सभी नागरिकों तक समान रुप में अभी भी नहीं पहुंच पा रहा है। भारत की साक्षरता दर को इस तालिका में देखा जा सकता है-

विभिन्न आयु वर्गो में साक्षरता दर जनगणना 2011						
उम्र समूह	कुल			जनजाति		
	व्यक्ति	पुरुष	महिला	व्यक्ति	पुरुष	महिला
सभी उम्र	73.0	80.9	64.6	59.0	68.5	49.4
10-14	91.1	92.2	90.0	86.4	88.3	84.4
15-19	88.8	91.2	86.2	80.2	85.7	74.6
20-24	83.2	88.8	77.3	69.2	79.6	59.0
किशोर (10-19)	90.9	81.8	88.2	83.6	87.1	79.9
युवा (15-24	86.1	90.0	81.8	75.0	82.9	67.1

स्रोत-महापंजीयक कार्यालय भारत (जनजातीय कार्य मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2021-22) से उद्धृत।

जनजातीय छात्रों में साक्षरता की कमी कम नामांकन अनुपात प्राथमिक उच्च प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं से विद्यालय परित्याग जैसी समस्याओं के समाधान के लिए उन्हें विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जा रहा है। निशुल्क शिक्षा तथा स्कूली पोशाक वितरित किए जा रहे हैं। पुस्तके भी मुफ्त प्रदान की जा रही हैं। जनजातीय बच्चों के लिए आवासीय विद्यालय खोले गए हैं। अनुसूचित जनजातियों के बच्चों के शैक्षिक उन्नयन के लिए जिला प्रशासनिक शिक्षा कार्यक्रम कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय मध्यान्ह भोजन योजना नवोदय विद्यालय के अंतर्गत विशेष ध्यान दिया जा रहा है। जनजातीय समाज के समग्र विकास के लिए निम्नलिखित योजनाओं का सरकार द्वारा क्रियान्वयन किया जा रहा है इसके लिए राज्य सरकार से प्राप्त प्रस्तावों के आधार पर राज्य सरकार को फंड निर्गत किया जा रहा है।

1.प्री मैट्रिक एवं पोस्ट मैट्रिक छात्रवृत्ति योजना।
2.संविधान के अनुच्छेद 275 (1) के तहत अनुदान।
3.विशेष रुप से कमजोर जनजातीय समूहों के लिए अनुदान।
टी आर आई को सहायता।

वित्तीय चक्र 2021-26 के लिए योजनाओं को समन्वित कर दिया गया है। उन्हें नए कलेवर में प्रस्तुत किया जा रहा है तथा उनका विस्तार कर दिया गया है। जनजातियों के समग्र विकास के लिए कुछ महत्वपूर्ण योजनाएं इस प्रकार हैं-

प्रधान मंत्री आदि आदर्श ग्राम योजना:-इस योजना के अंतर्गत 36028 गांव को आदर्श ग्राम के रूप में विकसित करने के लिए लक्ष्य रखा गया है। 1354 करोड़ रुपए की धनराशि आवंटित की गई है। इसका उपयोग जनजातीय कल्याण कार्यक्रमों के लिए विभिन्न मंत्रालयों को उनकी संबंधित योजनाओं के लिए आवंटित किए गए 87524 करोड़ रुपए के एसटीसी घटक के अतिरिक्त गैप फिलिंग व्यवस्था के रूप में किया जाएगा।

प्रधानमंत्री जनजाति विकास मिशन:-यह भारत सरकार की दूरदर्शी योजना है। इस मिशन का लक्ष्य बंधन समूह के गठन के माध्यम से अगले 5 वर्षों में आजीविका संचालित आदिवासी विकास प्राप्त करना होगा। इन वन धन समूह को वनधन केंद्रों के रूप में संगठित किया गया है। इस योजना को लागू करने के लिए ट्राई फेड नोडल एजेंसी होगी। मिशन के तहत अगले 5 वर्षों के लिए 1612 करोड़ की धनराशि निर्धारित की गई (वार्षिक रिपोर्ट 2021-22)।

वेंचर कैपिटल फंड-अनुसूचित जनजातियों के लिए उद्यम पूंजी कोष (वीसीएफ-एसटी) की नई योजना के लिए ₹50 करोड़ की धनराशि स्वीकृत की गई है। इसका उद्देश्य जनजातीय समुदाय में उधमिता को प्रोत्साहित करना है। इन तीनों योजनाओं के संबंध में यह जानकारी जनजातीय कार्य मंत्री श्री अर्जुन मुंडा ने 22 मार्च 2022 को लोकसभा में दी थी।

निष्कर्ष एवं सुझाव-सरकार की योजनाओं और कार्यक्रमों में जनजाति समाज के सामाजिक आर्थिक विकास के लिए निरंतर प्रयास किया गया है लेकिन इस दिशा में अपेक्षाकृत प्रगति आज भी नहीं है। अन्य समुदायों की तुलना में जनजातीय समाज की प्रगति में अपेक्षाकृत व्यापक असमानता है। आदिवासी समुदाय का एक बड़ा भाग अजीविका के लिए लघु वनोपज और कम उत्पादकता कृषि पर निर्भर रहता है। आदिवासी समुदाय अपनी विशिष्ट संस्कृति के लिए जाना जाता है उसके प्राकृतिक ज्ञान की अकूत थाती है। उनके भेषज ज्ञान और कौशल को उधमिता के वातावरण और प्रशिक्षण की आवश्यकता है। उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति को केंद्र में रखकर उनकी भाषा में आधुनिक शिक्षा को उन तक पहुंचाया जाए। शैक्षिक अवसंरचना में इस बात का ध्यान हो परिवर्तनशील और प्रतिस्पर्धी परिवेश में किस तरह आधुनिक और आवश्यकता आधारित प्रशिक्षण और कौशल उन्नयन के माध्यम से जनजातीय युवाओं की दक्षता और ज्ञान को परिष्कृत और परिवर्धित किया जाए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अनुसार अनुभव आत्मक शिक्षण पद्धति को आदिवासी क्षेत्रों के स्कूलों क्रियान्वित किए जाने की जरूरत है। क्योंकि शिक्षा व्यक्ति की स्थिति परिवर्तित कर देती है। सरकारी योजनाएं सरकार की जनजाति विकास के प्रति कटिबद्धता व्यक्त कर रही है। भारत सरकार राज सरकार इन तथा क्षेत्रीय कार्यों को सामानता स्थापित कर योजनाओं को जरूरतमंदों तक पहुंचाएं जाने की आवश्यकता है। सरकारों द्वारा क्रमबद नियोजन और विकासात्मक ढांचा विकसित कर स्तरीय लाभ देने की आवश्यकता है जिसमें मूलभूत जानकारी सामाजिक आर्थिक परिस्थिति और जीवन स्तर के विभिन्न मानकों के आधार पर स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास रोजगार, खाद्य सुरक्षा, वित्तीय समावेशन को बढ़ावा दिया जाए जिससे इनके समावेशी विकास का मार्ग तय हो तथा स्वास्थ्य भारत स्वच्छ भारत और सशक्त भारत का निर्माण हो सके।

****

संदर्भ

1. अथर्ववेद 19.41.
2. त्रिवेदी, सुशील. (2022) जनजातीय विरासत को उजागर करते वन क्षेत्र के मेले, कुरुक्षेत्र, प्रकाशन विभाग दिल्ली, पृष्ठ 45.
3. वैद्य, नरेश कुमार (2003) जनजातीय विकास: यथार्थ या मिथक, जयपुर, रावत पब्लिकेशन, पृष्ठ 03.
4. पांडे, जय नारायण. (2007). पृथ्वी पुत्र दिल्ली सस्ता साहित्य मंडल पृष्ठ 58.
5. बेहुरा एन.के. और पाणिग्रही (2006), ट्राईबल एंड इंडियन कांस्टीट्यूशन, दिल्ली, रावत पब्लिकेशन पृष्ठ 365.
6. Ewans-prichard, (1966), applied anthropology in India principle problem and case studies Allahabad, kilab Mahal.
7. Xaxa, virginius (2008), state society and tribes issues in post-colony India New Delhi, person education.
8. योजना आयोग, भारत सरकार छठी पंचवर्षीय योजना 1980-85 नई दिल्ली, पृष्ठ 636 642
9. योजना आयोग, भारत सरकार, अप्रोच पेपर, नौवीं पंचवर्षीय योजना 1997-2002.
10. त्रिपाठी के के समग्र विकास कुरुक्षेत्र सितंबर 2022 वार्षिक रिपोर्ट 2021-22 जनजातीय कार्य मंत्रालय.
11. Https;// tribal.nic.in जनजातीय कार्य मंत्रालय

बालाघाट जिले के जनजातीय समाज की समस्याएँ

डॉ.मधुलिका श्रीवास्तव
प्राध्यापक, समाजशास्त्र
ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा (म.प्र.)

नीतेश मेश्राम
शोधार्थी, समाजशास्त्र
ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय रीवा (म.प्र.)

ऐतिहासिक मान्यता है कि बालाघाट जिले की उत्पत्ति बुढ़ा गांव से हुई है। बालाघाट जिले की उत्पत्ति के संबंध में अनेक किवदंतियॉ प्रचलित है। प्राचीनकाल में बुढ़ी नामक दम्पत्ति का आगमन नगर में हुआ। जिसकी संतान का नाम बाला था, दूसरी श्रीराम जी रामपायली आये जिसका अर्थ बाला जी से है। तिसरी मान्यता है कि जिला घाटों के बीच में बसा है। इसलिए फारसी बाला ऊँचाई पर बालाघाट,बालाघाट चौथी मान्यता है कि बारह घाट होने के कारण तथा अंग्रेजों ने विभिन्न घाटों से प्रतिष्ठ होने के कारण बुढ़ा जिले का नाम बदलकर बारह घाट रखने का प्रस्ताव किया जो कि संशोधन के उपरान्त वर्ष 1895 में बालाघाट स्वीकृत हुआ। जिले का वर्तमान नाम भले ही अधिक प्राचीन न हो परन्तु इस भू-भाग का गौरवमय प्राचीनतम इतिहास तथा प्रगतिहासिक काल से अंग्रेजों के शासनकाल से प्राप्त पुरातात्विक अवशेष अवश्य ही प्राचीनतम है। वर्ष 1854 में लगभग इस भू-भाग पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। वर्ष 1854 से 1867 तक इस जिले के परसवाड़ा, बैहर, क्षेत्र मण्डला जिले के अंतर्गत था। कंटगी, लालबर्रा क्षेत्र सिवनी जिले के अंतर्गत और लांजी, किरानापुर भण्डारा जिले के अधीन थे। वर्ष 1861 में जब अंग्रेजों से मध्यप्रांत सी.पी. नामक प्रांत का निर्माण किया तब उसमें बालाघाट नाम का कोई जिला नहीं था। वर्ष 1867 में मध्यप्रांत के मुख्य आयुक्त सर रिचर्ड टेम्पल ने एक नये बालाघाट जिले का निर्माण किया जिसके अंतर्गत परसवाड़ा, लालबर्रा लांजी आदि क्षेत्र शामिल है। केन्टन लॉक प्रथम बार बुढ़ा कलेक्टर बनाकर भेजा गया स्थायी तौर पर जिले की घोषणा वर्ष 1871 में किया गया। जो कि संशोधनोपरान्त 1895 में बालाघाट जिला स्वीकृत होकर आया और नवम्बर 1956 में स्वतंत्र जिला घोषित किया गया। बालाघाट जिला मध्यप्रदेश राज्य के दक्षिण में स्थित उड़ते पंक्षी के आकार में परिलक्षित होता हुआ स्थित है। सम्पूर्ण जिला पर्वत शिखाओं से घिरा है। जिले के उत्तर में जबलपुर, मण्डला, जिला स्थित है। तथा दक्षिण में महाराष्ट्र के राज्य के विदर्भ भण्डारा जिला की सीमा लगी है। जिले का कुल क्षेत्रफल 9229 वर्ग किमी. है। बालाघाट जिला मध्यप्रदेश राज्य के दक्षिण भाग में 21.19 से 22.24 उत्तर अक्षांश तथा 79.39 से 81.3 पूर्व देशांत के मध्य स्थित है।

बालाघाट जिले में सभी वर्गों के लोग निवास करते हैं, जिले के चार विकासखण्ड-बैहर, बिरसा, परसवाड़ा एवं लॉजी आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र है। यहॉ के आदिवासी लोगों में विशेष रूप से बैगा, गोंड़ जाति के लोग निवास करते हैं। इस जिले की बैगा जनजाति वर्ग के लोग विशेष रूप से जंगलों में निवास करते हैं। इसके अलावा जिले के शेष 6 विकासखण्डों में भी आदिवासी वर्गों के साथ सामान्य, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग के लोग भी निवास करते हैं। इस जिले की आदिवासी बाहुल्य चार विकास खण्ड पूर्णतः नक्सल प्रभावित क्षेत्र है। जिले में नक्सली अपना प्रभाव दिखाने के लिए आये दिन अप्रिय घटनाए एवं गतिविधियॉ करते हैं। जनजाति समान नाम धारण करने वाले परिवारों का संकलन है। जो समान बोली बोलते है। एक ही भू-खण्ड पर अधिकार, करने का दावा करते है। तथा जो साधारण अन्तर्विवाही न हो जन जनजाति के परिपेक्ष में विभिन्न विद्वानों का मत निम्नबत है। सामान्यतः प्रत्येक जनजाति की अपनी भाषा होती है कुछ जनजातियाँ जिनकी जनसंख्या सीमित है तथ जो लिपि को विकसित नहीं कर सकी है। जनजातियेां की अपनी अलग-अलग भाषा होने के कारण भारत को ''भाषाओं का अजायबघर'' कहा है। जनजातीय समाज की अपनी परंपराए और मान्यतायें होती है। जनजातीय समाज आर्थिक दृष्टि से विपन्न है। अतः उसे अपनी परंपराओं और मान्यताओं को अपने जीवन में कुछ इस तरह ढालकर रखना पड़ा कि वे बहुत अधिक प्रदर्शनकारी न बन जाये। इस तथ्य को अक्सर ही गलत समझ गया। पश्चिमी विद्वानों ने इस बात पर बार-बार जोर देकर लिखा है कि अधिकतर जनजातीय अपनी सामाजिक या व्यक्तिगत परंपराओं में पुरोहितों को बहुत अधिक महत्व नहीं देती। जनजातियों के पारिवारिक कृत्यों, नामकरण और विवाह में पुरोहितों का महत्व इसलिए नहीं है कि अब भी इस प्रकार के अवसरों पर पूरा समाज की एकत्रित हो जाता है। जहॉ समूचा समाज एकत्रित हो वहॉ 'रस्म' का गौण हो जाना मामूली बात है किन्तु इसके ठीक विपरीत जब मड़ई का आयोजन होता है तब पुरोहित ही इस शुभ कार्य को प्रारम्भ कराता है। इस तरह लोक कल्याण के कार्यों में जनजातीय पुरोहित का महत्व सुनिश्चित ही है। जनजातियों का समूह जब-जब आर्थिक समाजिक समानता एवं राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए संगठित हुआ, तो तभी राष्ट्रपिता महात्मा गॉधी जी ने इनके विकास के लिए मार्ग खोलने का प्रयास किया आजादी के पश्चात संविधान में आरक्षण की व्यवस्था दे कर जनजातियों को सूचीवद्ध किया गया इन्हीं जनजातियों को ही अनुसूचित जनजाति का नाम दिया गया है।

भारतीय समाज में विभिन्न जनजातियों का पाया जाना हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। आधुनिक युग की खोज उपभोगवाद पर आधारित है। किन्तु आदिम इतिहास के संदर्भ में आदिम जनजातीय का अध्ययन करना भी आधुनिक समाज की आवश्यकता है। ये आदिम आदिवासी जनजाति जंगलों में निवास करती है, जंगल ही इनका जीवन है तथा आधुनिकता की चकाचौंध से कौसों दूर है। कभी कभी ऐसा लगता है कि ये जनजाति अपने जंगली वातावरण में ही मदमस्त जीवन यापन करने के लिए बनी है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और मानवीय विकास का चक्र निरन्तर चलता रहता है। समाज का कर्तव्य है कि समाज का प्रत्येक प्राणी सुखी-सम्पन्न जीवन-यापन करें। इस हेतु सरकार ने विभिन्न प्रकार की योजनाओं का क्रियान्वयन किया है। वर्तमान परिवेश में आदिवासी जनजाति समुदाय का विकास सरकार की प्रमुखता है। भारतीय समाज में किसानों, दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों और जनजातियों का एक ऐसा विशाल समूह हमेशा से विद्वमान रहा है, जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीति और सरकारी योजनाओं से हमेशा से ही वंचित और विकास से विमुख रहा है। सरकार ने पहले तो इन वंचित समूहों के विकास हेतु कोई खास योजना ही नहीं बनाई और यदि वर्तमान में इन समूहों को मुख्य धारा से जोड़ने की योजना बनाई भी गई तो सरकारी योजनाओं का समुचित लाभ ये समूह नहीं उठा पा रहे हैं।

अर्थ व्यवस्था एवं आर्थिक जीवन दोनों एक दूसरे के पूरक है। अर्थ व्यवस्था हमारे आर्थिक जीवन को प्रभावित करती है। दूसरे शब्दों में मनुष्य अपने भौतिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं को जिस ढंग से पूरा करता है, उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को अर्थ व्यवस्था कहा जाता है। अर्थ व्यवस्था की मूलभूत प्रक्रियाओं एवं अवधारणाओं का विस्तृत अध्ययन तो अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। किन्तु सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र मानवशास्त्र दोनों के अन्तर्गत किया जाता है। किसी भी समुदाय का अध्ययन करते समय चाहे वह जनजाति हो या विकसित आधुनिक समाज आर्थिक जीवन हमारी संस्कृति का एक मौलिक

पक्ष है। मानवीय सभ्यता एवं विकास के इतिहास को बिना आर्थिक जीवन के अध्ययन सही ढंग से समझा नहीं जा सकता। भारतीय समाज में जनजाति से आशय वन्य जाति, आदिवासी, वनवासी, आदिमजाति, गिरिजन आदि से है। ये जनजाति ऐसे लोगों का समुदाय है जो आज भी जंगलों में निवास करते हैं। प्राकृतिक साधनों से ही अपना भोजन ग्रहण करते हैं। आधुनिक सभ्य समाज से दूर रहते हैं तथा शिक्षा, कृषि, उद्योग-धन्धे आदि से अपरिचित है। भारत की जनगणना 1991 के अनुसार- ''ये अपने सीमित साधनों से केवल जीवित रहना ही सीख सके हैं और आज भी विज्ञान की इस चकाचौंध व सभ्यता की होड़ से अपरिचित ही है। ऐसे ही अपरिचित लोगों का उल्लेख भारतीय संविधान में अनुसूचित आदिमजाति या जनजाति (ट्रायबल) के अन्तर्गत किया गया है।''

भारतीय समाज में जनजातीय विकास के लिए गांधीवादी चिंतन को आधार मानकर कार्यक्रम को योजनाबद्ध किया गया है। मध्यप्रदेश में जनजातियों के संदर्भ में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जनजातियों के विकास के लिए मध्यप्रदेश सरकार ने जिन नीतियों एवं कार्यक्रमों को रखा है। वे जनजातीय कल्याण के साथ-साथ आदिम जाति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे रही है। मध्यप्रदेश शासन द्वारा निर्मित योजनाओं संकल्पना निम्नानुसार है। जनजातीय बाहुल्य राज्य शासन द्वारा जनजातियों के विकास के लिए अनेक योजनाए चलाई जा रही है। किन्तु वास्तविकता यह है कि आज भी जनजातीय वर्ग के लोग समाज के असरदार लोगों के कारण प्रभावित हो रहे हैं। उन्हें जनजातीय भेदभाव का शिकार होना पड़ता है। प्रशासन अमला भी इन्हें चाकर भी सहायता नहीं पहुचा रहा है। जिससे असरदारों के हौसले बढ़ रहे हैं। जिसके कारण जनजातीय लोग प्रताड़ित हो रहे हैं।

****

संदर्भ सूची:-

1. सेन्सेस ऑफ इण्डिया - 1991 (मध्यप्रदेश पार्ट) स्पेशल टेबिल्स शेड्यूल ट्राइबर भोपाल (म.प्र.)
2. डॉ. श्रीनाथ, जनजातीय समाज, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, 2015
3. डॉ0 श्री नाथ शर्मा - जनजातीय समाजशास्त्र, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल
4. आदिवासी समाज में आर्थिक परिवर्तन: राकेश कुमार तिवारी
5.गोयल अंजू, मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले के आदिवासी और जड़ी बूटियॉ, बुलेटिन आफ ट्राइबल एण्ड डबलमेंट, इंस्ट्यूट भोपाल मध्यप्रदेश, 1991

शिक्षा पर डॉ आंबेडकर के विचार

#1.यह जानते हुए की शिक्षा ही जीवन में प्रगति का मार्ग है, छात्रों को कठिन अध्ययन करना चाहिए और समाज के वफादार नेता बनना चाहिए। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर

#2 हमें शिक्षा के प्रसार को उतना ही महत्व देना चाहिए जितना कि हम राजनीतिक आंदोलन को महत्व देते हैं। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (मनमाड, 9 दिसंबर, 1945)

#3.तकनीकी और वैज्ञानिक प्रशिक्षण के बिना देश की कोई भी विकास योजना पूरी नहीं होगी। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (कोलकाता, 24 अगस्त 1944)

भीमराव अम्बेडकर के विचार

#4. शिक्षित बनो, आंदोलन करो, संगठित रहो, आत्मविश्वासी बनो, कभी भी हार मत मानो, यही हमारे जीवन के पांच सिद्धांत हैं। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (नागपुर, 29 जुलाई, 1942)

#5.किसी भी समाज का उत्थान उस समाज में शिक्षा की प्रगति पर निर्भर करता है। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (मनमाड, 16 जनवरी 1949)

#6 ज्ञान मानव जीवन का आधार है। छात्रों की बौद्धिक क्षमता को बढ़ाना और बनाए रखना; साथ ही उनकी बुद्धि को उत्तेजित करने का हर संभव प्रयास करना चाहिए। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (कोल्हापूर, 24 दिसंबर 1952)

#7 आप शिक्षित हो गए इसका मतलब यह नहीं है कि सब कुछ हुआ। शिक्षा के महत्व में कोई संदेह नहीं है, लेकिन शिक्षा के साथ-साथ शील (नैतिकता) भी सुधारी जानी चाहिए... नैतिकता के बिना शिक्षा का मूल्य शून्य है। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (मुंबई, 3 जून, 1953)

#8.लड़कों और लड़कियों को शिक्षित करें, उन्हें पारंपरिक व्यावसायिक कामों में शामिल न करें। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (मुंबई, 13 जुलाई 1941

#9 मेरा जीवन तीन गुरुओं और तीन उपास्य दैवतों से बना है। मेरे पहले और श्रेष्ठ गुरु बुद्ध हैं। मेरे दूसरे गुरु कबीर हैं और तीसरे गुरु ज्योतिबा फुले हैं... मेरे तीन उपास्य दैवत भी हैं। मेरा पहला दैवत 'विद्या', दूसरा दैवत 'स्वाभिमान' और तीसरा दैवत 'शील' (नैतिकता) है। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (मुंबई, 28 अक्टूबर 1954)

#10 प्राथमिक शिक्षा का सार्वत्रिक प्रचार सर्वांगीण राष्ट्रीय प्रगति के भवन का आधार है।.... इसलिए प्राथमिक शिक्षा के मामले में अनिवार्य कानून बनाया जाना चाहिए।- डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (महाबळेश्वर, 6 मई, 1929)

#11 इस दुनिया में स्वाभिमान से जीना सीखो। इस दुनिया में कुछ करके ही दिखाना है यह महत्वाकांक्षा हमेशा आपके अंदर होनी चाहिए। (याद रखना) जो लड़ने हैं वही आगे आते हैं। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (मुंबई, फरवरी 1933)

#12 स्वच्छ रहना सीखें और सभी दुर्गुणों से मुक्त रहें। अपने बच्चों को शिक्षित करें। उनके मन में धीरे-धीरे महत्वाकांक्षा जगाएं। उन्हें विश्वास दिलाएं कि वे महान व्यक्ति बनने जा रहे हैं। उनके अंदर की हीनता को नष्ट करें। उनकी शादी करने में जल्दबाजी न करें। – डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर (नागपूर, 20 जुलाई, 1942)

****

अनुवाद में प्रोक्ति, परिवृत्ति की अवधारणा

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1473

डॉ. श्रीराम हनुमंत वैद्य
श्री शिवाजी महाविद्यालय बार्शी,
तहसील- बार्शी, जिला-सोलापूर
महाराष्ट्र, पिन- 413411 मो.-9657243507

प्रस्तावना:-प्रत्येक भाषा का अपना एक विशिष्ट परिवेश होता है, जिसमें वह भाषा पलती है, फुलती है। कोई भी दो भाषाएं ध्वनि, शब्द, अर्थ, उच्चारण, लय, पदबन्ध, वाक्य विन्यास, मुहावरे, कहावतें, लोकोक्ति, अलंकार, छंद आदि भाषा के संरचनात्मक अवयव के स्तर पर एक दूसरे से भिन्न होती हैं। फिर भी हर भाषा का अपना एक सामाजिक-सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक परिपेक्ष होता है। उसी परिवेश गत विशेषताओं के आधार पर उनका अपना एक अभिव्यक्ति कौशल्य भी होता है। उसी के भाषा संरचना और भाषा व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग अभिव्यक्ति पक्ष को माना जाता है। "अभिव्यक्ति पक्ष का तात्पर्य उस माध्यम से हैं जो कथ्य को व्यक्त रूप देने का साधन बनाता है"१ डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अभिव्यक्ति को विशेष स्थान दिया है। उनके अनुसार" एक भाषा में व्यक्त विचारों को यथासंभव सम्मान और सहज अभिव्यक्ति द्वारा दूसरी भाषा में व्यक्त करने का प्रयास अनुवाद है"२ अर्थात अनुवाद का मूल लक्ष्य है, स्रोत भाषा की सामग्री को लक्ष्य भाषा में यथावत अपने मूल रूप में लाना। यह कहा जा सकता है कि भाषा अपनी मूल प्रकृति में शाब्दिक इकाइयों के बीच संबंधों की व्यवस्था है और व्याकरण, विभिन्न स्तर और संबंधों की व्यवस्था का अध्ययन करता है।

बीज शब्द:- अनुवाद, समतुल्यता, विचलन, परिवृत्ति, प्रोक्ति, स्रोत भाषा, लक्ष्य भाषा, भाषिक संरचना, अभिव्यक्ति आदि।

अनुवाद कार्य आसान नहीं है क्योंकि हर स्रोत भाषा अपनी विशिष्ट परिवेश में पनपती हैं। उनकी ध्वनि, शब्द या पद, पदबंध, वाक्य, प्रोक्ति, परिवृत्ति, प्रयुक्ति आदि महत्वपूर्ण इकाइयां है। जो एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के आधार बने हुए हैं। यही इकाइयां भाषा को प्रभावशाली एवं संप्रेषनीय बनाती हैं। अनुवाद में इन गहन अभिव्यक्तियों के लिए अनुवादक का लक्ष्य भाषा पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। मूल पाठ की मूल अभिव्यक्तियों को लक्ष्य भाषा में अनूदित करने के लिए प्रोक्ति, परिवृत्ति का अध्ययन करना आवश्यक है।

प्रोक्ति:- भाषा का प्रयोग किसी विचार या मंतव्य को अभिव्यक्ति देने के लिए होता है। विचार या मंतव्य को अभिव्यक्ति देने के लिए वाक्य की आवश्यकता होती है,जिसे भाषा की सार्थक और महत्तम इकाई मानते है लेकिन कई बार वाक्य से पूर्ण अर्थ का संप्रेषण नहीं होता है। इसलिए आधुनिक भाषा वैज्ञानिक मानते हैं कि विचारों के आदान-प्रदान के लिए केवल वाक्य परिपूर्ण नहीं है बल्कि पूर्ण संप्रेषण के लिए वाक्य की सीमा को पार करना पड़ता है। वाक्य के इस ऊपरी संरचना को प्रोक्ति कहते हैं। विचार या मंतव्य को अभिव्यक्ति देने के लिए एकाधिक वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है, उस एकाधिक वाक्य समुच्चय को प्रोक्ति कहते हैं। "वक्ता का संदेश और श्रोता तक उस संदेश को संप्रेषित करने वाला भाषिक व्यापार वाक्योंपरी स्तर का होता है। वाक्योंपरी स्तर की इस संरचना में वाक्यों का अनुक्रम होता है। इसमें अनेक वाक्य एक साथ मिलकर अभिव्यंजना की दृष्टि से एक इकाई का रूप धारण करते हैं। वाक्य के इस अंतर्संबंध से पाठ या प्रोक्ति का निर्माण होता है। अतः व्याकरणिक संरचना की दृष्टि से यदि वाक्य भाषा की महत्तम इकाई है, तो संप्रेषणीयत्ता की दृष्टि से प्रोक्ति भाषा की महत्तम इकाई है।"३ अर्थात प्रोक्ति, वाक्य या वाक्यों के ऊपर की व्यवस्था है। प्रोक्ति में अंतर वाक्य संयोजन होता है, जो अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक है। प्रोक्ति केवल वाक्यों का समुच्चय नहीं है,बल्कि उसमें एक निर्दिष्ट संदेश भी नहित रहता है। वह वाक्य एक दूसरे से जुड़े होते हैं। प्रत्येक वाक्य में वक्ता का कोई ना कोई प्रयोजन होता है। उनके आंतरिक संरचना में संप्रेषण तत्व की प्रधानता होती है। विषय के अनुरूप ही वाक्यों का क्रम होता है। इसी अंतरिक्ष संगति के कारण प्रोक्ति अपने आप में पूर्ण होती है। अनेक विद्वानों ने प्रोक्ति की परिभाषाएं निम्नानुसार की है-कृष्ण कुमार गोस्वामी-"प्रोक्ति यह संकल्पना व्याकरणिक और अर्थपरक इकाई के रूप में विकसित हुई है। इसमें अंतरवाक्यीय संयोजन होता है, जो अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक होता है व्याकरणिक और आर्थिक दृष्टि से इसकी वाक्योंपरी संरचना को प्रोक्ति कहते हैं।"४

कुसुमकुमार अग्रवाल-"तर्कपूर्ण, क्रमयुक्त और आपस में आंतरिक रुप से सबद्ध ऐसी व्यवस्थित इकाई को प्रोक्ति कहते हैं, जो संदर्भ विशेष में अर्थ-द्योतन की दृष्टि से पूर्ण हो।"५कुसुकुमार प्रोक्ति को तात्पर्ययुक्त संसक्त वाक्यों की एक कड़ी मानते हैं, जो वाक्यों की कड़ी से बीच संबंधों की व्यवस्था होनी चाहिए। उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि प्रोक्ति वाक्य या वाक्यों के ऊपर की व्यवस्था है। जिसमें वह वाक्य एक दूसरे से जुड़े होते हैं। वह वाक्य केवल वाक्यों की श्रृंखला नहीं होते हैं। तो वेह एक तात्पर्ययुक्त संदेश का वाहन करते हैं और मूल कथ्य को एकसंघ बनाकर पूर्ण अर्थरूप ग्रहण करते है।

अनुवाद में प्रोक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। अनुवाद करते समय पाठ का अर्थ ग्रहण शब्द तथा वाक्य की सीमा से आगे बढ़कर समग्र वाक्यों के स्तर पर होने लगता है। वहां अनेक वाक्यों की योजना संस्क्तिपूर्ण, संदर्भपरक एवं तर्कपूर्ण होता है। वास्तव में कई बार शब्दों तथा वाक्यों से अनुवाद नहीं होता बल्कि समूचे पाठ या प्रोक्ति का अनुवाद होता है। अनुवादक स्रोत भाषा के किसी पाठ के समूचे खंड का विश्लेषण करता है। उसका अर्थ ग्रहण करके फिर लक्ष्य भाषा में प्रोक्ति के रूप में अनूदित करता है। मराठी के श्रेष्ठ नाटककार वसंत कानेटकर का 'प्रेमा तुझा रंग कसा?' नाटक का हिंदी अनुवाद प्रा. वसंत देव ने 'ढाई आखर प्रेम का' शीर्षक से किया है। वसंत देव ने मूल नाटक के विषय, आशय और प्रस्तुति की ताजगी अनूदित नाटक में कायम रखी है। इस नाटक में मध्यमवर्गीय जीवन में आने वाले प्रेम के विविध रंगों का हंसता खेलता चित्रण किया है। उसे अनुवादक ने मूल के अनुरूप सुरक्षित रखने का यथासंभव सफल प्रयास किया गया है। जैसे-

मूल मराठी

"बब्बड: (अस्वस्थतेने खिडकीतून मागे वळत) बाबा-
बल्लाळ: (मान वर करीत) ऊं? (ती गप्प पाहून) काय ग पोरी?
बब्बड: माझ्याकडे कोणी आल होत का?
बल्लाळ: तुझ्याकडे? म्हणजे तुला भेटायला?
प्रियवदा: कोण यायचं होत?
बब्बड: (चाचरत) नाही….. नाही….. तसं यायचं नव्हतं कोणी…!
प्रियवंदा: म्हणजे?
बब्बड: नाही, तसं विशेष कोणी नाही गं-!
प्रियवंदा: कोणी मैत्रीण का यायची होती तुझी?
बब्बड: मैत्रीण…… नाही……. हो मैत्रीणच!! (जिन्याकडे जात) आई, मी बाहेर जाणार आहे आत्ता!!
प्रियवदा: अगं पण आत्ताच कॉलेजातून आलीस ना?
बब्बड:हो, पण-जरा इकडं….. (घुटमळत) म्हणजे फिरायला जाईन म्हणते. अभ्यासानं अगदी डोकं उठले माझं!
प्रियवंदा: अगं माझ्याबरोबर चल! येतेस, थोडसं 'मार्केटिंग' करून येऊ?

बब्बड- नको नको!! फार दमलेय ग मी. खोलीत पडते थोडा वेळ. (जिन्याच्या दोन पायऱ्या चढून, मागे वळते आणि विशेष चौकसपणे) पण तू जाऊन येते आहेस ना?प्रियवंदा: ही काय, निघालेच की मी. अगं चल येत असशील तर. तेवढंच पाय मोकळे केल्यासारखे वाटेल तुला. काही फार लांब जायचं नाही कोपऱ्यावर-

बब्बड: नको नको बाई! अभ्यास पुष्कळ करायचा राहिलाय. मी वाचत बसते थोडसं!! " [६]

हिंदी अनुवाद:-

बबली: (किंचित अन्यमस्कन होकर खिड़की की तरफ जाकर) पापाजी-

वर्मा: (गर्दन उठाकर) अयॅं? (उसे चुप देखकर) क्या है बबली?

"बबली: कोई आया था यहाँ ?

वर्मा: यहाँ ? यानी तुमसे मिलने ?

प्रियम्वदा: कौन आनेवाला था?बबली: (सिटपिटाकर) क - कोई नहीं- कोई नहीं आनेवाला!

प्रियम्वदा: क्या मतलब?

बबली: सच मम्मी, कोई खास नहीं- सच-

प्रियम्वदाः कोई सहेली आनेवाली थी?

बबली: सहेली?- नहीं - हाँ, सहेली ही तो (जीने की ओर मुड़कर) मम्मी, हम बाहर जा रहे हैं।

प्रियम्वदाः वाह! अभी-अभी तो कॉलेज से चली आ रही हो-

बबली: हॉ- मगर- यहाँ- (हकलाकर) जरा घुम आऊँ। पढ़ते पढ़ते दिमाग चकरा गया है।

प्रियम्वदाः तो चलो न हमारे साथ। शॉपिंग भी हो जाएगा। चलती हो?

बबली: नही मम्मी। बहुत थक गई हूँ। लेटूंगी कमरे में (जीने पर दो सीढ़ियों चढ़कर मुड़ती है और खास ढंग से पूछताछ कर) तुम तो जा रही हो ना?

प्रियम्वदाः जा ही तो रहे हैं। अरे भाई, चलती हो तो चलो। घूम आओगी तो जी बहल जाएगा। और दूर थोड़े ही जाना है। यही जरा नुक्कड़ तक-

बबली: नहीं मम्मी, नहीं। बहुत सा पढ़ना बाकी है। मैं कमरे में पढ़ूंगी"[७]

उपर्युक्त उदाहरण में बब्बड उर्फ़ बबली के मानसिक द्वंद्व को चित्रित किया हैं। पात्रों के कथन तात्पर्य युक्त है, जिसमें आवश्यकतानुरूप सामान्य निवेदन,जिज्ञासा,व्यग्रता,आश्चर्य,क्रियाशीलता,विस्मयआदि भावाभिव्यक्ति स्तर पर और कथन के विषय के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। लक्ष्य भाषा पाठ में प्रोक्ति के स्वरूप को सुरक्षित रखा है। मूल के समस्त वाक्य अनुवाद में है। वाक्यों में अनेकार्थता की स्थिति नहीं है। संलाप में पात्र सक्रियता से भाग लेकर संदेश को अभिव्यक्त करते हैं। संलाप में निश्चित संदर्भ के कारण वाक्य का एक ही अर्थ व्यंजित होता है। यह वाक्य वक्ता और श्रोता के कथनों के अंग है। इसमें कथन और संवाद से जुड़ी संसक्ति आयी हैं। मूल पाठ में वाक्य संसक्त पूर्ण है। इन वाक्यों की संसक्ति में तर्कपूर्ण मानसिक स्थिती का विधान है। यहाँ नायिका का कथन तात्पर्ययुक्त है। भक्ति में संवाद और संपादिता की स्थिती हमेशा बनी रही है। अनुवाद करते समय अनुवादक ने प्रोक्ति के सभी रूपों को सुरक्षित रखा है.

परिवृत्ति का स्वरूप:-परिवृत्ति का सामान्य अर्थ है दो भाषाओं के विभिन्नस्तरीय संवादिता से विचलन की स्थिति। हर भाषा के अपने नियम होते हैं। ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, तथा अभिव्यक्ति को विभिन्न स्तरों पर अपनी व्यवस्था होती है। भाषा का व्याकरण इन्हीं नियमों और व्यवस्थाओं से बनता है। सामान्य भाषा इन नियमों से बंधी होती है. किंतु नाटक में सामान्य भाषा के साथ-साथ विशिष्ट अनुभव को अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट भाषा का प्रयोग किया जाता है। विशिष्ट भाषा प्रयोग के कारण कई बार विचलन की स्थितियां उत्पन्न होती है। सामान्यतः विचलन या परिवृत्तियों को निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। "विचलन की दो स्थितियाँ होती है- अनिवार्य तथा ऐच्छिक। अनिवार्य विचलन भाषा की शब्दार्थगत एवं व्याकरणिक संरचना का अंतरंग है, उदाहरण के लिए मराठी नपुंसक लिंग संज्ञा हिंदी में पुल्लिंग या स्त्रीलिंग संज्ञा के रूप में ही अनूदित होगी। कुछ इसी प्रकार को बात अंग्रेजी वाक्य I have fever के हिंदी अनुवाद 'मुझे बुखार है' के लिए कहा जा सकता है, क्योंकि मैं बुखार रखता हूं हिंदी में संप्रेषणात्मक तथ्य के रूप में स्वीकृत नहीं। ऐच्छिक विचलन में विकल्प की व्यवस्था होती है। अंग्रेजी The rule ststes that.... को हिंदी में दो रूपों में कहा जा सकता है-' इस नियम में यह व्यवस्था है कि /कहा गया है कि. या 'यह नियम कहता है कि.. इन दोनों में पहला वाक्य हिंदी में जितना स्वभाविक प्रतीत होता है, उतना दूसरा नहीं। अनुवाद के संदर्भ में ऐच्छिक विचलन को विशेष प्रासंगिकता इस दृष्टि से है कि इससे अनुवाद को स्वभाविक बनाने में सहायता मिलती है। अनिवार्य विचलन, तुलनात्मक व्यतिरेकी भाषा विश्लेषण का एक सामान्य तथ्य है जिसमें अनुवाद का प्रयोग एक उपकरण के रूप में किसा जाता है।"[८] स्पष्ट है कि दो भाषाओं के बीच विभिन्न स्तरीय संवादिता विचलन स्वाभाविक रूप से होता है। उस स्थिति को परिवृत्ति कहते है। अनुवाद कार्य में या परिवृत्ति अनिवार्यता आती है।

पाश्चात्य विद्वान पापोविच ने अनुवाद परिवृत्ति के निम्नलिखित प्रकारों की चर्चा की है-

"संरचनात्मक परिवृत्ति: दो भाषाओं की संरचना, शैली आदि में मौलिक भिन्नता होने के कारण होने वाली अनिवार्य परिवृत्ति। विधा परिवृत्ति: साहित्यिक विधाओं में होने वाली अनिवार्य प्रवृत्ति; जैसे अंग्रेजी सानेट या ओड का हिंदी में सामान्य प्रगीत के रूप में अनुवाद

व्यक्तिनिष्ठ परिवृत्ति: अनुवाद की अपनी शैली के विशिष्ट से निष्पन्न तथा फलस्वरूप मूल पाठ की शैली से विचलन, परिवृत्ति। निषेधात्मक परिवृत्ति: मूल भाषा की संरचना से अपरिचय या न्यून परिचय के कारण मूल कथ्य में परिवर्तन। सूचनात्मक परिवृत्ति: मूल के सूचना पर बिंदुओं को किन्ही कारणों से अनुवाद में परिवर्तित कर देना"[९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि दो भाषाओं के बीच संरचनागत, विधागत, व्यक्तिनिष्ठ, निषेधात्मक, सूचनापरक आदि परिवृत्ति के कारण अनुवाद कार्य में शत प्रति शत कथ्य का अंतरण नहीं हो सकता है। विचलन की यह स्थिति अनुवाद में आती ही है। अनुवाद परिवृत्ति को विद्वानों ने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्न भागों में विभाजित किया है। संरचनात्मक परिवृत्ति,व्याक्तिनिष्ठ परिवृत्ति निषेधात्मक परिवृत्ति,सूचनात्मक परिवृत्ति आदि।

संरचनात्मक परिवृत्ति:-दो भाषाओं के बीच संरचना के स्तर पर विचलन संरचनात्मक परिवृत्ति हैं। हर भाषा की अपनी एक भाषा व्यवस्था और व्याकरणिक संरचना होती हैं। मराठी और हिंदी भाषाओं में काफी समानताएं मिलती हैं, किंतु कई असमानताएं भी विद्यमान है। हिंदी में दो लिंग हैं जबकि आर्य परिवार की और द्रविड़ परिवार की भाषाओं में तीन लिंगों की व्यवस्था है। पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। हिंदी में दो लिंग होते हैं। अर्थात नपुंसकलिंग नहीं है। कामता प्रसाद गुरु के अनुसार "हिंदी में लिंग का निर्णय करना कठिन है। इसके लिए व्यापक और पूरे नियम नहीं बन सकते, क्योंकि इसके लिए भाषा के निश्चित व्यवहार का आधार नहीं है।तथापि हिंदी में लिंग निर्णय दो प्रकार से किया जाता है-१. शब्द के अर्थ से और २. उसके रूप से। बहुधा प्राणीवाचक शब्दों का लिंग अर्थ के अनुसार और अप्राणीवाचक शब्दों का लिंग रूप के अनुसार निश्चित करते हैं। शेष शब्दों का लिंग केवल व्यवहार के अनुसार माना जाता है; और इसके लिए व्याकरण से पूर्ण सहायता नहीं मिल सकती।"१० मराठी भाषा में तीन लिंग की व्यवस्था है जैसे- पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। मराठी भाषा में भी लिंग का निर्णय करना कठिन कार्य है। लिंग निर्धारण के लिए जो नियम बनाए हैं वह परिपूर्ण नहीं है। मराठी भाषा में एक ही शब्द दो या तीन लिंगों में प्रयुक्त होता है। मराठी की नपुंसक लिंग संज्ञाओं में से कुछ संज्ञाओं का हिंदी में पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग में समावेश होता है।

अनुवाद करते समय स्त्रोत भाषा की सामग्री का लक्ष्य भाषा में अनुवाद करते समय अनुवादक स्त्रोत भाषा की व्याकरणिक संरचना और व्यवस्था से परिचित होना आवश्यक है। यदि अनुवाद इस बात का ध्यान न रखकर जों-का -त्यों अनुवाद करेगा तो अनुवाद हास्यास्पद बन जाता है। हर भाषाओं में व्याकरणिक कोटियां अर्थात लिंग वचन पुरुष कारक विशेषण सर्वनाम अव्यय तथा क्रिया के प्रयोग में वैषम्य होता ही है इसलिए अनुवादक को इसका ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक होता है। मराठी नाटक 'हिमालयाची सावली' का हिंदी अनुवाद 'हिमालय की छाया' में संरचनात्मक परिवृत्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं-

मूल मराठी: कृष्णा- (आश्चर्याने) तार आली? अगं बाई खरं काय झालं?" [११]

हिंदी अनुवाद: कृष्णा: (आश्चर्य से) तार आ गया? अरे सच? क्या हुआ? [१२]

उपर्युक्त उदाहरण में मूल मराठी के तार आली? का हिंदी अनुवाद तार आ गया? किया है। मराठी भाषा में एक ही शब्द दो या तीन लिंगों में प्रयुक्त होता है। यही स्थिति हिंदी में भी देखने मिलती हैं। 'तार' शब्द स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के अंतर्गत प्रयुक्त हुआ है। इस वाक्य में लिंग के अनुरूप क्रिया में परिवर्तन किया है। अतः यह परिवृत्ति अनिवार्यता आती हैं। मराठी नाटक 'अखेरचा सवाल' का हिंदी अनुवाद 'आखरी सवाल' में भी संरचनात्मक परिवृत्ति के कुछ उदाहरण मिलते हैं-

मूल मराठी:नंदा: माझी निवड तुला पसंत नाही का, मम्मी?[१३]

हिंदी अनुवाद:नंदू: क्या मेरा चुनाव तुम्हें पसंद नहीं है, मम्मी?[१४]

उक्त उदाहरण में मराठी के 'माझी निवड' का हिंदी अनुवाद 'मेरा चुनाव' के रूप में किया है। मराठी में निवड शब्द स्त्रीलिंग है और चुनाव शब्द पुल्लिंग है। अनुवादक ने यहां शब्द अनुवाद करने का प्रयास किया है जो गलत लगता है। उक्त उदाहरण का अनुवाद 'क्या मेरी पसंद तुम्हें अच्छी नहीं लगी, मम्मी?' अपेक्षित था।

व्यक्तिनिष्ठा परिवृत्ति:स्रोत भाषा सामग्री का लक्ष्य भाषा में अनुवाद करते समय अनुवादक की निजी शैली का प्रभाव दिखाई देता है। "अनुवाद में अनुवादक की अपनी शैलीगत विशिष्टता के कारण मूल शैली में विचलन आ गया हो तो उसे व्यक्तिनिष्ठ परिवृत्ति कहते हैं।"१५ इस परिवृत्ति में अनुवादक मूल वाक्य की वृत्ति में परिवर्तन करता है। मूल एक वाक्य के लिए अनेक वाक्य की योजना, अनेक वाक्य के लिए एक वाक्य की योजना, वाक्य क्रम में परिवर्तन आदि अनेक शैली के तत्व अनुवादक के व्यक्तिगत शैली से प्रभावित होते हैं। मराठी नाटक 'हिमालयाची सावली' का हिंदी अनुवाद 'हिमालय की छाया' में व्यक्तिनिष्ठ परिवृत्ति के उदाहरण मिलते हैं।

मूल मराठी:पुरुषोत्तम:(चुकचुकत)कसा रे राहतोस तू त्या आफ्रिकेच्या जंगलात.[१६]

हिंदी अनुवाद:पुरुषोत्तम: चचच चच! तू कैसा रहता है रे, अफ्रीका के जंगलों में? [१७]नाटक में एक साथ दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग मिलता है। एक हरकत की भाषा और दूसरी शब्दों की भाषा। जो बात हरकतों से व्यक्त होती है, वह शब्दों से नहीं कही जा सकती और जो शब्दों से कही जाती है, वह हरकतों से व्यक्त नहीं होती है। इसलिए अभिनय के अंतर्गत इन तत्वों को अधिक महत्व दिया जाता है। पात्रों के हरकतों का संकेत नाटक का कोष्टक में देते हैं उसी के अनुरूप पात्र मंच पर प्रस्तुत होते हैं। अनूदित नाटक में भी नाटककार के इन संकेतों का अनुवाद करना अनिवार्य है। अनुवादक अगर उसमें परिवर्तन करता है या छोड़ देता है तो नाटक के प्रदर्शन में समस्या आती है। उपयुक्त उदाहरण में पात्र के हरकतों का संकेत कोष्टक में दिया है। उसे अनुवादक ने कोष्टक के बाहर रखा है। इसलिए अनुवाद बोझिल या कृत्रिम बना है। यह स्थिति अनुवादक के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण आई है। अतः इसे व्यक्तिनिष्ठ परिवृत्ति के अंतर्गत रखा जाता है।

निषेधात्मक/अर्थगत परिवृत्ति:-स्रोत भाषा की पाठ्य सामग्री का लक्ष्य भाषा में अनुवाद करते समय दो भाषाओं की संरचना की विशेषताओं का परिचय अपेक्षित है। कई बार अनुवादक की असावधानी से अनूदित पाठ के अर्थ में क्षति उत्पन्न होती है तो मूल पाठ से अनूदित पाठ में अर्थगत परिवृत्ति आती है। इस परिवृत्ति का अर्थ है- मूल कृति के बारीकियों से अपरिचित या अज्ञानवश लक्ष्य भाषा में मूल अर्थ से विचलन। मराठी नाटक 'हिमालयाची सावली' का हिंदी अनुवाद 'हिमालय की छाया' में अर्थगत/निषेधात्मक परिवृत्ति परिवृत्ति के उदाहरण मिलते हैं।

मूल मराठी:"बयो: (हसून) हां रे रांडेच्या! त्यात काय चमत्कार आहे डोंबलाचा? आपले माणूस ज्याचे त्याला कळते."[१८]

हिंदी अनुवाद:"बयो: (हंसकर) इसमें कौन सा चमत्कार है रे? अपने लोगों की बात किसे नहीं समझ में आती?"[१९]स्रोत भाषा पाठ का लक्ष्य भाषा में अनुवाद करते समय न्यूनानुवाद,अधिकानुवाद, अर्थांतरण की स्थितियों से अर्थगत विचलन की आती है। उक्त उदाहरण में अनुवादक ने मूल सामग्री के कुछ सामग्री को छोड़ दिया है। अंतिम विधि वाक्य का अनुवाद प्रश्नार्थक वाक्य के रूप में किया है। उसका अनुवाद 'अपने लोगों की बात अपने ही लोग समझते हैं' करते तो अनुवाद अधिक प्रभावशाली बन सकता था।

सूचनात्मक परिवृत्ति:

इस परिवृत्ति में मूल सूचनात्मक बिंदुओं का परिवर्तन किया जाता है। इस प्रकार की परिवृत्ति लक्ष्य भाषा पाठक को मूल आशय ग्रहण से विचलित कर देती देती है। यह परिवर्तन कभी-कभी स कारण होता है।

मूल मराठी:-बल्लाळ: "आणि हातपाय तोडून, डोळे काढून, तुझ्या बाबाची ती गाढवावरून गावभर दिंड काढणार!"[२०]

हिंदी अनुवाद:"वर्मा: और हाथ पाव कटवाकर, आंखें फुड़वाकर, तुम्हारे पापा को चौराहे पर फिकवा देगी!"[२१]उपर्युक्त उदाहरण में मूल पाठ 'गाढवा वरून गावभर दिंड काढणे' का हिंदी अनुवाद 'चौराहे पर फिकवा देना' किया है। अर्थात अनुवादक ने लक्ष्य भाषा प्रकृति के अनुरूप अनूदित किया है। अपितु मूल पाठ की अभिव्यक्ति लक्ष्य भाषा पाठ में नहीं आई है। यहां अनुवादक ने मूल पाठ के सूचनात्मक बिंदुओं को बदल दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रोक्ति, प्रयुक्ति, परिवृत्ति और समतुल्यता अनुवाद सिद्धांत एवं मूल्यांकन के महत्वपूर्ण तत्व है। डॉ. सुरेश कुमार ने क्षतिपूर्ति नियम को अनुवाद मूल्यांकन का प्रेरक माना है। वे मानते हैं कि मूल पाठ को लक्ष्य भाषा पाठ में अनूदित करते समय मूल पाठ की क्षति होती ही है और इस क्षति को कम करने का प्रयास ही असली अनुवाद है।

****

संदर्भ:-

1. भाषा संरचना के विविध आयाम- रवीद्रनाथ श्रीवास्तव, पृ- २०४
2. भाषा संरचना के विविध आयाम- रवीद्रनाथ श्रीवास्तव पृ- २०५
3. अनुवाद विज्ञान की भूमिका- कृष्णकुमार गोस्वामी,राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली ११०००२, संस्करण-२०१२ पृ-२३०
4. अनुवाद विज्ञान की भूमिका- कृष्णकुमार गोस्वामी,राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली ११०००२, संस्करण-२०१२ पृ-२०६
5. अनुवाद शिल्प समकालीन संदर्भ- डॉ. कुसुम कुमार अग्रवाल, साहित्य सहकार प्रकाशन,२९/६२-भी विश्वास नगर, दिल्ली, सं-२००८, पृ-३९
6. प्रेमा तुझा रंग कसा?-वसंत कानेटकर, पॉप्युलर प्रकाशन महालक्ष्मी चैंबर्स मुंबई स- पृ १२-१३
7. ढाई आखर प्रेम का - वसंत देव पॉप्युलर प्रकाशन,३५ सी ताडदेव रोड, बम्बई संस्क-१९६५ ,पृ- १०
8. अनुवाद सिद्धांत की रूपरेखा- सुरेश कुमार, वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली - पृ- ६४
9. अनुवाद सिद्धांत की रूपरेखा- सुरेश कुमार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली - पृ- ६०
10. हिंदी व्याकरण-कामता प्रसाद गुरु, हिंदी मराठी प्रकाशन नागपुर-१२, पृ-१६१
11. हिमालयाची सावली-वसंत कानेटकर, पॉप्युलर प्रकाशन, महालक्ष्मी चैंबर्स मुंबई, पृ-०३
12. हिमालय की छाया- अनु. कुसुमकुमार, लिपि प्रकाशन, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली -पृ- ०९
13. अखेरचा सवाल- वसंत कनेटकर, वसंत कानेटकर, मेहता पब्लिकेशन हाऊस १९४१,सदाशिव पेठ, पुणे संस्करण-२००६ पृ-५३
14. आखरी सवाल-अनु. श्रीमती कुसुम तांबे, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली,-पृ- ७७
15. अनुवाद सिद्धांत की रूपरेखा- सुरेश कुमार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली - पृ- ६७
16. हिमालयाची सावली-वसंत कानेटकर, पॉप्युलर प्रकाशन, महालक्ष्मी चैंबर्स मुंबई,- पृ-३९
17. हिमालय की छाया- अनु. कुसुमकुमार, लिपि प्रकाशन, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली - पृ- ५५
18. हिमालयाची सावली – वसंत कानेटकर, पॉप्युलर प्रकाशन, महालक्ष्मी चैंबर्स मुंबई,-पृ-७८
19. हिमालय की छाया- अनु. कुसुमकुमार, लिपि प्रकाशन, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली पृ- १०५
20. प्रेमा तुझा रंग कसा? -वसंत कानेटकर, पॉप्युलर प्रकाशन महालक्ष्मी चैंबर्स मुंबई - पृ-१८
21. ढाई आखर प्रेम का – वसंत देव पॉप्युलर प्रकाशन,३५ सी ताडदेव रोड, बम्बई -,पृ- १६

श्रीमद्भागवत में तरु पूजा

डॉ. राखी गुप्ता

प्रस्तावना-तरु-पर्वत भी हमारी आस्था के द्योतक हैं। हमारी संस्कृति धर्म-प्रधान है। वृक्ष-गिरि देवी-देवता के रूप मान्य हैं। वे आस्तिक सोपान के अभीष्ट तत्व हैं। अश्वत्थ, पारिजात, तुलसी, वट और मन्दार आदि अनेक तरु में सनातन धर्ममतावलम्बी अपनी आस्था द्वारा पूज्य बुद्धि रखते हैं। धर्मशास्त्र इस प्रेरणा के मूल प्रेरक हैं। श्रीमद्भागवत में पूज्य वृक्षों का स्पष्ट उल्लेख मिलता हैं। भगवान ने विभूतियों के वर्णन में 'वनस्पतीनामश्वत्थ '[1] अर्थात् वनस्पतियों में 'अश्वत्थ' हूँ। महाराज पृथु ने पृथ्वी दोहन के समय श्रेष्ठ एवं व्यापक रूप वाले तट को वृक्षों के द्वारा बछड़ा बनाकर अनेक प्रकार का रस रूप दूध दुहा-

वटत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः [2]

बीज शब्द-समुद्र-मंथन से स्वर्गलोक की शोभा बढ़ाने वाला कल्पवृक्ष (पारिजात) निकला। वह याचकों की इच्छायें पूर्ण करता है अर्थात उनको इच्छित वस्तु प्रदान करता है। जैसे पृथ्वी पर राजा परीक्षित सबकी इच्छायें पूर्ण करते हैं-

ततोऽभवत पारिजातः सुरलोक विभूषणम्।
पूरयत्यर्थिनो योऽर्थेशश्वद् भुवि यथा महा॥ [3]

तुलसी-तरु की विशाल महिमा है। श्री हरि तुलसी से अपने श्री विग्रह को सजाते हैं और तुलसी की गन्ध का ही अधिक आदर करते हैं। यह देखकर वहां के मन्दार, कुन्द, कुरवक, उत्पल, चम्पक, अर्ण, पुन्नाग, नागकेसर, बकुल, अम्बुज और पारिजात आदि पुष्प सुगन्धयुक्त होने पर भी तुलसी का ही अधिक तप मानते हैं।

मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्ण पुन्नागनागबकुलम्बुज पारिजाताः ।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या, यस्मिंस्तपः सुमनसो
बहुमानयन्ति ॥ [4]

'तुलसी' का नाम 'वृन्दा' भी है। जहाँ वृन्दा के अनेक पेड़ होने के कारण उस स्थान की समष्टि संज्ञा 'वृंदावन' हुई। यह वृन्दावन भगवान की लीलाओं के लिये दिव्य स्थान रहा है। यहां प्रभु नित्य श्याम-श्याम के रूप में रहते हैं। गीता में भगवान ने 'अश्वत्थः' सर्ववृक्षाणाम् का उद्घोष किया है। 'वटवृक्ष' की पूजा सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने ऐश्वर्य की समृद्धि के लिये करती है। केशवप्रिया तुलसी और देववृक्ष अश्वत्थ की विस्तृत विवेचना अन्य पौराणिक ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत है-

उद्देश्य-अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् भारतीय जनजीवन में वनस्पतियों, वृक्ष आदि में भी देवत्व की अवधारणा परम्परा से चलती आ रही है। भगवान श्री कृष्ण ने गीता में अश्वत्थ वृक्ष को अपनी विभूति बतलाया है। **5** वैसे भी पच्चवट विशेष रूप से पूजनीय है। भारत के अधिकांश प्रदेशों में पीपल, गूलर, बरगद, पाकड़ और आम की 'पञ्चवृक्षों' में गणना की जाती है। धार्मिक आस्था के अनुसार इनमें भी अश्वत्थ (पीपल) का स्थान सर्वोपरि है।

अश्वत्थ वृक्ष के आरोपण का पुण्य अक्षय होताहै। कहा जाता है कि इस लोक मे अश्वत्थ वृक्ष के छायातल में जिस प्रकार प्राणी स्वच्छन्दता से भ्रमण करते हुए सुख प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार इस वृक्ष का आरोपकर्ता मृत्यु के पश्चात् विराम ओर विश्राम प्राप्त करता हुआ नियन्ता के निकट निवास करने का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है। उन्हें न यमलोक की यन्त्रणा हो सकती न दारुण संताप ही।विविध पुराणों में अश्वत्थ वृक्ष का अनेकधा उल्लेख करते हुए इसके माहात्म्य की अधिक विशिष्टता प्रतिपादित की गयी है। स्कन्द पुराण के अनुसार अश्वत्थ वृक्ष के मूल में विष्णु, तने में केशव, शाखाओं में नारायण, पत्तों में भगवान श्री हरि और फलों में सब देवताओं से युक्त अच्युत सदा निवास करते हैं। यह वृक्ष मूर्तिमान् श्री विष्णुस्वरूप है। महात्मा पुरुष इस वृक्ष के पुण्यमय मूल की सेवा करते हैं। इसका आश्रय करना मनुष्यों के सहस्त्रों पापों का नाशक तथा सभी अभीष्टों का साधक है। [6]श्रीमद्भागवत के अनुसार द्वापर युग में परमधामगमन से पूर्व योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण इस परम् पवित्र अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यानावस्थित हुए थे। [7]पीपल के वृक्ष को बिना प्रयोजन के काटना अपने पितरों को काट देने के समान है। ऐसा करने से वंश की हानि होती है। यज्ञादि पवित्र कार्यों के उद्देश्य से इसकी लकड़ी काटने से कोई दोष न होकर अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अश्वत्थ वृक्ष की पूजा करने से समस्त देवता पूजित हो जाते हैं।

छिन्नो येन वृथाश्वत्थश्छेदिताः पितृदेवताः।
यज्ञार्थं छेदितेऽश्वत्थे ह्यक्षयं स्वर्गमाप्नुयात् ॥
अश्वत्थः पूजितो यत्र पूजिताः सर्वदेवताः ॥ (अश्वत्थस्त्रोतम्)

अश्वत्थ वृक्ष की परिक्रमा करने एवं नित्यप्रति उस पर जल चढ़ाने से अशुभ नष्ट हो जाता है। इस वृक्ष के मूल में थाला बनाकर वैशाख मास में जल देने से महान फल की प्राप्ति होती है। इस वृक्ष के दर्शन एवं श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति नमन से सम्पदा में वृद्धि तथा दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। विष्णुरूप अश्वत्थदेव की इस प्रकार प्रार्थना की जा सकती है-

अश्वत्थ सुमहाभाग सुभग प्रियदर्शन।
इष्टकामांश्च मे देहि शत्रुभ्यस्तु पराभवम्॥
आयुः प्रजां धनं धान्यं सौभाग्यं सर्वसम्पदम् ।
देहि देव महावृक्ष त्वामहं शरणं गतः ॥

अश्वत्थ वृक्ष की प्रायः तीन बार प्रदक्षिणा करने का विधान है। प्रायः हिन्दू बालिकाएँ बाल्यकाल से ही अश्वत्थ वृक्ष से सम्बद्ध अनेक व्रतों का पालन करती हैं। 'ज्ञानभास्कर' नामक ग्रन्थ के अनुसार प्रबल वैधव्य योगवाली कन्या को 'अश्वत्थ-व्रत' का अनुष्ठान करना चाहिये। बृहद्वेताकार महर्षि शौनक ने 'अश्वत्थोपनयन' नामक महान् व्रत की महिमा बतलाते हुए कहा हैं कि किसी शुभ दिन में पुरुष पीपल वृक्ष का आरोपण कर उसे आठ वर्षों तक निरन्तर जल दान करें। इस प्रकार उसका पुत्रवत पालन एवं पोषण करता रहे। तत्तपश्चात् उस वृक्ष का यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न कर यदि उसका विधिवत् पूजन किया जाय तो अक्षय लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। अश्वत्थ वृक्ष का रोपण करने वाले व्यक्ति की वंश परम्परा कभी समाप्त नहीं होती, अपितु अक्षय रहती है। इसके आरोपण से समस्त ऐश्वर्य एवं दीर्घायु की प्राप्ति होती है तथा पितृगण नरक से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

अश्वत्थः स्थापितो येन तत्कुलं स्थापितं ततः।
धनायुषां समृद्धिस्तु पितॄन् क्लेशात् समुद्धरेत्॥

अश्वत्थ की पूजा एवं उसका स्पर्श प्रायः शनिवार को ही विशेष रूप से किया जाता है। 'व्रतराज' में अद्भुत सागर से संगृहीत अश्वत्थोपासना एवं उसकी प्रदक्षिणा की विधि विस्तार से वर्णित है, जिसमें इस विषय की विवेचना करते हुए अथर्वण ऋषि ने पिप्पलाद ऋषि से कहा है।' प्राचीन काल में दैत्यों से पीड़ित ब्रह्मादि सभी देवता श्री विष्णु की शरण में गये। उन देवताओं ने विष्णु से प्रार्थना करते हुए कहा- 'भगवान! हम राक्षसों से निरन्तर पीड़ित रहते हैं। हमारे दुःख की शान्ति किस प्रकार हो सकती है?' तब श्री विष्णु ने कहा-'मैं अश्वत्थ रूप से भूतल पर विद्यमान हूँ। इसलिये सभी प्रकार से तुम्हें अश्वत्थ वृक्ष का सेवन करना चाहिए।' अश्वत्थ व्रती को प्रातः नदी आदि में स्नान करना चाहिए। तत्पश्चात् नित्य-नियम से अश्वत्थ की जगह जाकर गोबर से उसे लीपना एवं सूत्र तथा गेरु से सुशोभित करना चाहिये। पूजा के द्रव्यों को एकत्रकर पुण्याहवाहन कराना चाहिये तथा ऋत्विजों का वरण करके पूजन प्रारम्भ करना चाहिए। ध्यान और आह्वान के साथ विष्णु की उपासना करने एवं उसी प्रकार नारायणमय पीपल वृक्ष को श्वेत, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य समर्पित करते हुए

ध्यानपूर्वक पुरुषसूक्त द्वारा पूजन करने का विधान है। तत्पश्चात् उसी से हवन, तर्पण एवं नमस्कार करना चाहिये। श्वेतवस्त्रा लक्ष्मी के साथ पुरुषोत्तम विष्णु के चिन्तनपूर्वक अश्वत्थ को अभिमन्त्रित कर प्रार्थना करे तथा व्रतोत्सव के समय अनुष्ठानादि में अश्वत्थ वृक्ष की एक सौ आठ प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

अश्वत्थोपासना करने वाले भक्तों को हविष्यान्न का भोजन, भूमि का शयन, जितेन्द्रिय एवं मौन होकर ध्यानपूर्वक स्तुति करनी चाहिये। विष्णु सहस्त्रनाम, पुरुषसूक्त एवं विष्णुसूक्त का पाठ पवित्र दिनों में करना चाहिए। तत्पश्चात् स्नानादि के द्वारा पवित्र होकर व्रत का उद्यापन करना चाहिये।भगवान बुद्ध को सम्बोधि की प्राप्ति बोधगया में अश्वत्थ वृक्ष के नीचे ही हुई थी। इस वृक्ष का बोधिगम भी कहा जाता है। आयुर्वेद के अनुसार अश्वत्थ मधुर, कषाय और शीतल है। इसके अनुपान-भेदपूर्वक सेवनक से कफ, पित्त और दाह नष्ट होते हैं। इसके फल के सेवन से रक्त-पित्त, विष, दाह,शोथ एवं अरुचि आदि दूर होते हैं। इस वृक्ष की कोमल छाल एवं पत्ते की कली पुरातन प्रमेह रोग में अत्यन्त लाभप्रद है। पीपल के फल का चूर्ण अत्यन्त क्षुधापूर्वक है। इसके अतिरिक्त अन्य कई व्याधियों के उपचार में भी अश्वत्थ-वृक्ष के महत्व का संकेत आयुर्वेद के विविध ग्रन्थों में यथास्थान दृष्टिगत होता है।

निष्कर्ष- निष्कर्ष यह है, कि अश्वत्थ धार्मिक, आयुर्वेदिक एवं सामाजिक सभी दृष्टिकोणों से भारतीय जनमानस के लिये आराध्य एवं वन्दीय है। इसकी महिमा अनन्त एवं अक्षय है। यह वृक्षराज उपासक की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ तथा पापहारी है।

****

सन्दर्भ

1. श्रीमद्भागवत - 1/11/21
2. श्रीमद्भागवत-4/18/23
3. श्रीमद्भागवत - 8/8/6
4. श्रीमद्भागवत-3/15/19
5. मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्धे केशव एव च।
नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवान हरिः ॥
फलेऽच्युतो न संदेहः सर्वदेवै समन्वितः।
स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तो महात्मभिः सेवतिपुण्यमूलं।
यस्याश्रयः पापसह;त्रहन्ता भवेन्नृणां कामदुधो गुणाढ्यः।
(स्कन्दपुराण, नागर. 247/41-42, 44),
6. भागवतपुराण 3/4/8
7. परमादरणीय डॉ. राकेशमणिजी त्रिपाठी (देवता अंक) पृष्ठ 255-56

भारत में विवाह के बदलते आयाम सामाजिक विधिक अध्ययन

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1480

दिनेश कुमार
शोध छात्र
मानवाधिकार विभाग
बाबासाहेब भीमराव आंबेडकर केन्द्रीय विश्वविद्यालय
लखनऊ उत्तर प्रदेश 226025मो. 9506155988

सारांश -किसी समाज की संस्कृति एक गत्यात्मक सामाजिक यथार्थ है जो निरन्तर परिवर्तनशील है। संस्कृति में परिवर्तन होने पर समाज की संस्थाओं जैसे विवाह, परिवार, जाति, धर्म, नातेदारी आदि पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। परिवर्तन समाज की प्रकृति है। विवाह संस्था पर भी इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा है समकालीन समाज में विवाह में अनेक परिवर्तन हो रहे है। यह परिवर्तन पति- पत्नी परिवार तथा समाज से संबंधित है। विवाह के प्रति बदलते दृष्टिकोणों को विवाह संस्था के अनेक लक्षणों को बदला है, जैसे विवाह की आयु विवाह के उद्देश्य, प्रकार, विधि-विधान, रीति-रिवाज, पति-पत्नी के अधिकार, संस्कारात्मक प्रकृति आदि। इनमें परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है क्योंकि आज हमारी विचाराधारा दृष्टिकोणों एवं संस्थाओं को कुछ कारक जैसे नगरीकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण, संचार, यातायात के साधन, आधुनिक शिक्षा, व्यवसायिक सामाजिक गतिशीलता, मीडिया, वैश्वीकरण आदि प्रभावित कर रहा है।

प्रस्तावना-विवाह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से स्त्री पुरुष की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उसे एक निश्चित तरीके से नियंत्रित करने, वंश आगे बढ़ाने तथा मान्य सामाजिक स्थिति को स्थिर रखने, और स्थाई रूप देने के लिए इस संस्कार का विकास अथवा निर्माण हुआ है। विवाह वह बहुमूल्य संस्कार है जो मानव का घर बसाता है बच्चों का भरण पोषण, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, राजनैतिक, विधिक एवं नैतिक उत्तरदायित्व की नींव डालता है। मानव के यौन इच्छाओं की पूर्ति, वंश आगे बढ़ाना, सुखमय जीवन निर्वाह, समाज की निरंतरता को कायम रखना एवं एक दूसरे के प्रति नैतिक दायित्वों अधिकारों और कर्तव्य समर्पण का समावेशी परिवार होता है। विवाह मानव संस्कृति के मूलभूत दायरे में सदैव अस्तित्व में रहेगा।

वर्तमान समय में विवाह का दायरा जातिगत न रहकर अंतर जातीय, एवं अंतर धार्मिक प्रथा का रूप ले रहा है। समाज में उन्नत पढ़े लिखे पुरुष एवं स्त्री ढांचागत दायरे से बाहर आकर सांस्कृतिक, धार्मिक परंपराओं के बाहर अंतर जातीय एवम अंतर धार्मिक विवाह विधिक क्रिया द्वारा करने लगे हैं।

बीज शब्द... विवाह, सामाजिक एवं कानूनी मान्यता, विवाह का बदलता स्वरूप

हिंदुओं में प्रमुख चार वर्ण की धार्मिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र है। भारतीय समाज का जातीय ढांचा, स्तरीकरण मूलतः चर्तुवर्ण सिद्धांत पर आधारित है। वर्ण का मुख्य अर्थ रंग और संदर्भ प्रजातीय है। ब्राह्मण के मुख्य कार्य ज्ञान, अध्ययन करना एवं कराना, यज्ञ करना एवं कराना, दान देना एवं लेना, संयम, सदाचारी, न्यायप्रियता आदि कार्य निर्धारित थे। क्षत्रिय के मुख्य कार्य, धर्म का पालन कराना, जीवन एवं समाज की रक्षा शौर्य पूर्वक करना, अध्ययन करना, यज्ञ करना, दान देना, स्वभाव से तेजवान, धैर्य एवं चातुर्य से युद्ध में विचलित न होना आदि कार्य थे। वैश्य के मुख्य कार्य, अध्ययन करना, यज्ञ करना व दान देना, उत्पादन व व्यवसाय, कृषि एवं पशुपालन भरण पोषण की क्षमता आदि कार्य थे। शूद्र के मुख्य कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना अच्छा सेवक बनकर रहना, आज्ञाकारी, संयमी विनम्रता पूर्वक व्यवहार आदि कार्य थे। इस प्रकार यह परिलक्षित होता है कि इसका मुख्य उद्देश्य समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति व्यवस्थित रूप से हो। कालांतर में हर वर्ण में अनेक उपजातियों का विकास हुआ और उनमें अनेक रीति-रिवाजों, चाल-चलन, रूढ़िवादिता, स्थानीय संस्कृति का जन्म हुआ। जातियों में रक्त शुद्धता का प्रचलन प्रारंभ हो गया जिसके अंतर्गत सगोत्र, सप्रवर, पूर्वज एवं सपिंण्ड, बिर्हविवाह अपनी उपजातियों में प्रारंभ हो गया।

हिंदू विवाह, हिंदू धार्मिक वेदशास्त्रों द्वारा मान्य परंपरा के आधार पर संपन्न होते हैं। विवाह का संपूर्ण कार्यक्रम वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ संपन्न कराएं जाते हैं धार्मिक विधि के अनुसार जन्म जन्मांतर तक साथ निभाने का संस्कार होता है हिंदुओं में अंतर जातीय विवाहों का प्रचलन नगण्य था इसका कारण हिंदू शास्त्र प्रतिलोम विवाह निम्न जाति का पुरुष उच्च जाति की कन्या का विवाह होना था। इनसे उत्पन्न संतान हिंदू वर्ण में न रखा जाना था इनको चाण्डाल या निषाद कहा जाता था।

हिंदू धर्म अनुलोम विवाह की अनुमति प्रदान करता था जिसमें इस प्रकार के विवाह को वैध माना गया लेकिन इसे उच्च कोटि का नहीं माना गया। मनुस्मृति की व्यवस्था के अनुसार चारों वर्ण के पुरूष अपने से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह कर सकते हैं महाभारत में उल्लेख है कि भीष्म के पिता शांतनु ने एक धीवर कन्या से विवाह किया था।

इस्लाम का शाब्दिक अर्थ होता है अल्लाह की शरण में आना समर्पण एवं उत्सर्ग जिसका अभिप्राय होता है अल्लाह खुदा की इच्छा के सामने झुकना इस्लाम केवल एक ही अल्लाह को मानता है। पैगंबरों में मुहम्मद साहब अन्तिम पैगंबर थे उनका उद्देश्य पथ भ्रष्ट मानवता को अल्लाह का संदेश समझाना था। जिसे उन्होंने अबरील नामक देवदूत से प्राप्त किया। पैगंबर साहब का अल्लाह द्वारा प्रदत्त ज्ञान कुरान शरीफ नामक धर्म ग्रंथ में संग्रहित किया गया है। कुरान शरीफ मुस्लिम रीति रिवाजों का मुख्य स्रोत व जीवन पद्धति का सर्वोच्च प्रामाणिक ग्रंथ है। इसी के अंतर्गत मुस्लिम विवाह एक संविदात्मक स्वरूप लिए हुए है। मुस्लिम विवाह को निकाह के नाम से जाना जाता है। हिंदू धर्म में जहां लड़की के पक्ष से रिश्ते की पहल की जाती है। इस्लाम धर्म में यह पहल लड़के के पक्ष से रिश्ता लड़की के घर में भेजा जाता है। हिंदू विवाह में लड़का एवं लड़की जन्म जन्मांतर तक साथ निभाने के लिए धार्मिक परंपरा के अनुसार कार्य करते हैं हिंदू में लड़की पक्ष से धन आदि दिया जाता है जबकि इस्लाम धर्म में लड़की को मेहर एक निश्चित निर्धारित धन शादी के समय या बाद में देने की सहमति होती है। यह कन्या धन होता है जिसका उपयोग पत्नी तलाक के बाद या पति की मृत्यु के उपरांत करती है। इससे यह परिभाषित होता है कि इस्लाम धर्म में निकाह एक संविदा या समझौते का स्वरूप लिए है। निकाह में वर एवं वधू की सहमति काजी के सामने होना आवश्यक होता है। और पुरुष दो की संख्या में या एक पुरुष और दो औरत गवाह के रूप में रखे जाते हैं। जबकि हिंदू धर्म में सप्तपदी अग्नि को साक्षी मानकर जीवन पर्यंत साथ निभाने का व्रत पालन करना होता हैं।

ईसाई धर्म में हिंदू धर्म या इस्लाम धर्म की तरह कोई अनिवार्य संस्कार या रूढ़िवादिता नहीं है। ईसाई धर्म में अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यंत महत्वपूर्ण पवित्र कार्य माना जाता था। कैथोलिक संप्रदाय में यह आदर्श बहुत दृढ़ था। बाद में ईसाई धर्म की प्रोटेस्टेंट शाखा के विकास के साथ विवाह की यह अवधारणा परिवर्तित हो गई और विवाह को वंश परंपरा एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में स्वीकारा गया इसका एक उद्देश्य समाज में व्यभिचार रोककर पवित्र जीवन जीने का आधार भी माना गया। विवाह के इस आधार को सेंट पॉल के अनुसार ''यदि अविवाहित और विधवाएं संयम नहीं रख सकती हों तो पाप करके चलने की अपेक्षा विवाह करना अति उपयुक्त है'' ।भारत में ईसाई समुदाय का अधिकांश भाग ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म परिवर्तन करके बना है। मूल ईसाई परिवार जो ब्रिटेन से आए थे। भारत को आजादी मिलने के बाद स्वदेश चले गए उनमें अधिकांशतः विवाह परंपरा लड़के - लड़की द्वारा स्वतः पसंद करके संपन्न होता है ।लेकिन भारत में विवाह माता-पिता द्वारा तय करके संपन्न होने लगा है। लड़के - लड़की द्वारा स्वयं पसंद करके होने वाले विवाह को अच्छा माना जाता है। ईसाइयों में लड़की के चयन के पश्चात सगाई के लिए पादरी को सूचना दी जाती है। भारत का हर ईसाई परिवार किसी न किसी चर्च का सदस्य होता है। पादरी की अनुमति के पश्चात, पादरी तीन रविवार तक चर्च में प्रार्थना के समय चर्च के समक्ष उपस्थित सदस्यों को सूचना देता है। यदि किसी सदस्य द्वारा कोई एतराज नहीं होता तो पादरी वर वधु को एक स्थान पर बिठा कर दोनों की स्वीकृति लेकर मँगनी की रस्म की स्वीकृति प्रदान करता है। मंगनी की रस्म के समय लड़के वाले नारियल, अंगूठी, मिठाई, वस्तु लेकर जाते हैं। पादरी बाईबिल के कुछ पाठ पढ़कर लड़का लड़की को अंगूठी, नारियल, वस्त्र, बाईबिल की प्रति आदि देता है। इसी प्रकार का सामान वधू पक्ष की ओर से भी लड़के को दिया जाता है। पादरी एक दूसरे को अंगूठियां पहना कर मंगनी की रस्म पूरी कराता है। इस रस्म अदायगी के बाद विवाह की रस्म के समय वर वधू के परिवार विवाह की स्वीकृति के लिए उपस्थित रहते हैं। पादरी वर वधू की स्वीकृति लेकर विवाह संपन्न करवा करके आशीर्वाद देता है। यदि कोर्ट मैरिज होता है तो लड़का लड़की चर्च में आशीर्वाद के लिए जाते हैं। भारत में इस्लाम एवं ईसाई धर्म के अलावा हिंदू धर्म के समानांतर बौद्ध धर्म, सिख धर्म, एवं जैन धर्म भी है जिनमें धार्मिक कट्टरता नहीं है। इसलिए भारत सरकार ने हिंदू विवाह अधिनियम 1955 में बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन करके तमाम प्रचलित धार्मिक मान्यताओं को निरस्त कर दिया हैं। यह विधान हिंदू, बौद्ध, सिक्ख, के लिए मील का पत्थर साबित हुआ है ।यह अधिनियम 18 मई 1955 को लागू हुआ इसमें धारा 2 के अनुसार हिंदुओं पर वे चाहे जिस वर्ग के हो इस प्रकार यह लिंगायत, ब्रह्म, आर्य समाजियों पर लागू होता है भले ही वें रूढ़िवादी हिंदू समाज से अलग हो गए हो यह हिंदू धर्म से, धर्म परिवर्तन करके गए जैन, सिक्ख, बौद्धों पर भी लागू होता है विवाह के संदर्भ में यह अधिनियम अत्यंत व्यापक रुप से उपरोक्त धर्म मानने वालों के बीच विवाह संबंध स्थापित करने की अनुमति प्रदान करता है।

यह अधिनियम पूर्व प्रचलित नियमों, मान्यताओं, रुढियों को निरस्त करता है भारत में अंतर धार्मिक विवाह का विधिक रूप ब्रिटिश शासन में विशेष विवाह अधिनियम 1872, अधिनियम 1923 द्वारा संशोधित, इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी कि रजिस्ट्रार के सम्मुख हिंदू, बौद्ध, जैन, सिक्ख धर्म वालों के बीच आपस में वैध रूप से संपन्न विवाह वैध माना जाएगा ।प्राचीन भारत में अंतर धार्मिक विवाह का उल्लेख मिलता है यूनानी राजा सेल्यूकस जो पारसीक था चंद्रगुप्त मौर्य से हार के बाद अपनी पुत्री का विवाह किया था। महाभारत काल में अंतर जातीय विवाह का उल्लेख मिलता है ये विवाह अनुलोम विवाह थे। भीष्म ने हिडिंबा राक्षसी से विवाह किया था। राजा शांतनु ने सत्यवती के साथ विवाह किया था। महाभारत में प्रतिलोम विवाह एकमात्र ययाति और देवयानी का मिलता है। यह प्रतिलोम विवाह था जो हिंदू धर्मानुसार अति निंदनीय था ।बुद्ध काल में सजातीय विवाहों की प्रधानता थी। अंतर जातीय विवाह का भी उल्लेख मिलता है दिव्यावदान में शूद्रपुरुष और ब्राह्मण कन्या का विवाह मिलता है। यह प्रतिलोम विवाह है। कौशलराज प्रसेनजित ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या के साथ विवाह किया था जो अनुलोम विवाह था। मध्यकालीन युग में अकबर ने क्षत्रिय वंश की जोधाबाई से विवाह किया था जो अंतर धार्मिक विवाह था।

निष्कर्ष-भारतीयों की वर्षों से रूढ़िवादी मानसिकता रही है। वे एक ही जाति से बाहर विवाह की कल्पना नहीं कर सकते थे। उनका मानना था कि विवाह एक ही समुदाय और जाति के भीतर ही संभव है। सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन कर अंतर्जातीय विवाह करने का दुस्साहस करने वालों को हिंसा, सामाजिक बहिष्कार, पारिवारिक बहिष्कार और मृत्यु (ऑनर किलिंग) का परिणाम भुगतना पड़ा। इस इक्कीसवीं सदी में भी भारत के अधिकांश हिस्सों ऑनर किलिंग प्रचलित है, जब अंतर्जातीय विवाह के मामले सामने आते हैं। इतिहास बताता है कि विभिन्न समाज सुधारकों और व्यक्तियों द्वारा भारत को जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता और नस्ल भेदभाव के चंगुल से मुक्त करने के लिए प्रयास किए गए हैं और जब हम भारतीय विवाहों की बात करते हैं जो अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक हैं, तो यह अधिकांश लोगों को वर्जित लगता है। लेकिन जाति व्यवस्था और जातिगत भेदभाव को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि अंतर-जातीय और अंतर-धार्मिक विवाह हो।वर्तमान समय में विशेष विवाह अधिनियम 1954 ने प्रचलित मान्यताओं को दरकिनार कर अब जाति, उपजाति, अनुलोम, प्रतिलोम, गोत्र, प्रवर सभी बंधनों को समाप्त कर दिया है। सपिंण्ड व्यक्तियों को छोड़कर स्त्री पुरुष आपस में विवाह कर सकते हैं।

****

सन्दर्भ :-

1. भारत का सविधान 1950
2. हिन्दू विवाह अधिनियम 1955
3. विशेष विवाह अधिनियम 1954
4. भारत का विधि आयोग रिपोर्ट संख्या 212
5. पारस दीवान आधुनिक हिंदू विधि
6. अकील अहमद मुस्लिम विधि

वेदों में वनस्पति व औषधीय प्रबंधन

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1461

डॉ दीप्ति वाजपेयी
एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत विभाग
कु०मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, बादलपुर गौतमबुद्ध नगर
गौतम बुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश

मोनिका सिंघानिया
शोध छात्रा "संस्कृत विभाग"
कु० मायावती राजकीय महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय बादलपुर, उत्तर प्रदेश

सारांश:-सम्पूर्ण प्राणी जगत हेतु वनस्पतियों का विशेष महत्व हैं। प्रकृति ने अनेक भाँति-भाँति प्रकार की वनस्पति, जड़ी-बूटियाँ, औषधि रूपी रत्न मानव को प्रदान किए। जिसके अभाव में मानव जीवन कल्पना मात्र हैं । मनुष्य के लिए रोटी, कपड़ा, मकान के साथ-साथ रोगों से रक्षा करने, चिकित्सा, श्रृंडगारिक प्रसाधनों हेतु औषधियां उपयोगी सिद्ध होती हैं। यह वनस्पतियाँ फल-फूल-काष्ठ रूप में अनेकों प्रकार से सुख प्रदान करती हैं। वेदों में वनस्पतियों की उपयोगिता को मन्त्रों की दृष्टि से समझाया गया हैं। ऋषियों के द्वारा प्रकृति को किसी भी रूप से हानि न पहुँचाने की कामना की गयी हैं। वैदिक संहिताए भारतीय संस्कृति व सभ्यता का ही स्रोत नहीं हैं अपितु वेद, चिकित्सा विज्ञान, पर्यावरण, भू गर्भ, गणित, ज्योतिष, आयुर्विज्ञान कृषि, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि का भी अक्षय कोश हैं। कल्याणकारी औषधियों के सम्यक् प्रयोग द्वारा हमें सौ वर्ष की आयु प्राप्त करने वाला माना हैं। वनस्पतियों की उत्पत्ति मानव से पूर्व हुई मानी हैं जो सम्पूर्ण मानव जीवधारीयों की पोषक व, प्रदूषण नष्ट करने वाली, रोग, शोक का शमन करने वाली हैं। वनस्पतियाँ मानव में उर्जा, उत्साह,शक्ति, व प्राणवायु का सञ्चालन करने वाली हैं।

मुख्य शब्द- वनस्पति, वेद, प्राणवायु, चिकित्सा, उपयोगिता।

वैदिक संहिताए भारतीय संस्कृति, सभ्यता व ज्ञान की अनुपम निधि होने के साथ-साथ विज्ञान का भी अक्षय स्रोत हैं। वेदों के अन्तर्गत वनस्पति प्रबन्धन हेतु प्रकृति को देवतुल्य मानकर स्तुति की हैं। वनस्पति प्रबन्धन पृथ्वी पर निवास करने वाले मानव-जीव-जंतुओं के जीवन हेतु अति महतवपूर्ण हैं। वैदिक काल में ईश्वर प्रदत्त प्रत्येक वस्तु में ईश्वर का अंश मानकर प्रकृति को पूज्यनीय मानकर स्तुति की गई हैं। तथा वनस्पतियों व ओषधियों के संरक्षण पर बल दिया गया हैं। ओषधियों द्वारा मानव शरीर हष्ट-पुष्ट व पराक्रम युक्त बनता हैं। यह मनुष्य को मृत्यु के मुख से बचाकर, रोगों से मुक्त कर निरोगी बनाती हैं। वेदों में औषधियों को समूल नष्ट न करने का उपदेश दिया हैं। उनका कहना हैं की यदि वनस्पतियों, औषधियों को उपयोग हेतु काटा जाता हैं तो उनका उपयोग करें व्यर्थ में उन्हें न उखाड़े। क्योंकि इससे भविष्य में उनका संवर्धन किया जाना दुर्लभ होगा। वनस्पतियों ओज का स्रोत हैं। वह अपने सम्यक् समय पर अन्नसम फल देती हैं। सुन्दर तेजयुक्त फलों के रूप मे ये वनस्पतियों शक्ति प्रदान करती हैं। वनस्पतियों का औषधि रूप में फल-कंद-मूल, छाल आदि का किसी भी रूप में प्रयोग किया जाता हैं।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद के अन्तर्गत वनस्पतियों की रक्षा हेतु कामना की गई हैं। वनस्पतियों में वायु को शुद्ध करने की सामर्थ्य है। जिससे यह वायुरक्षक हैं- "वायुगोपा वै वनस्पतयः"। यह समस्त जीवों के लिए महत्वपूर्ण ऑक्सीजन प्रदान करती हैं। यजुर्वेद के अन्तर्गत इन्हें विकसित होने की कामना की गई हैं। तथा मानव को पापों से रक्षा करने वाली दूषित विचारों को दर करने वाली व पर्यावरण प्रदूषण को दूर करने में ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वेदों में व्यर्थ में इन्हें किसी प्रकार का कष्ट न देने की कामना की हैं। वैदिक ऋषियों द्वारा मान्य हैं कि वनस्पतियों की उत्पत्ति सृष्टि से पूर्व परमेश्वर द्वारा कर दि गई थी जो मानव को त्रिदोषो (तीन दुःखों आध्यात्मिक, मानसिक, भौतिक) से मुक्ति प्रदान करते हैं।भूमि को खोदकर प्राप्त की गई मुञ्ज नमक औषधि जो मानव शरीर को विनाश की ओर ले जाने वाले देह को क्षीण करने वाले, रोग रूपी असुरों का विनाश करने वाली व बड़े-बड़े फोड़ों को नष्ट करने वाली, घावों को भरने वाली अति उत्तम औषधि हैं। यह औषधि मानव के रोगों को नष्ट करने में सहायक हैं।

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ (अथर्ववेद २।३।३।)

अथर्ववेद के द्वितीय कांड के तृतीय सूक्त के षष्ठं मंत्र में औषधियों से प्रार्थना की हैं कि ये जल, अग्नि, औषधि हमारे रोगों का शमन करते हुए हमें शांति प्रदान करें। इंद्र के द्वारा सन्धान किए गए वज्र के प्रहार से जैसे शत्रु का नाश किया जाता हैं उसी प्रकार ये औषधि भी हमारे रोग रूपी असुरो को औषधि रूपी वज्र के प्रहार से दर गिराने वाले हो-

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः। इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु
रक्षस आराद् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ।। (अथर्ववेद २।३।६)

अथर्ववेद के अंतर्गत जंगिड़ नामक औषधि की स्तुति करते हुए उसकी महिमा को कहा है। जंगिड को कौशिक सूत्र के अंतर्गत अर्जुन वृक्ष नाम से अभिहित किया गया है। जबकि सायणाचार्य ने जंगिड औषधि वृक्ष को वाराणसी में प्रसिद्ध बताया है। यह जंगिड नामक औषधि सहस्त्रों गुणों को धारण करने वाली हैं। हमारे शरीर का क्षय करने वाले रोगों से निवारण करने वाली मणिरुपी औषधि है। जो हमें हिंसा से, मृत्यु भय से, शारीरिक और मानसिक दुःखों से व अन्य शारीरिक व्याधियों से सुरक्षित करती है।

जङ्गिडो जम्भाद विशराद् विष्कन्धादीभशोचनात् ।
मणिः सहस्त्रवीर्यः परिणः पातु विश्वतः ॥ (अथर्ववेद २।४।२)

जंगिड वनस्पति की महिमा- सहस्त्रवीयर्:, विश्वभेषजः, मयोभुवा, अमितवीयर्: तथा सहस्त्रचक्षः द्वारा परिलक्षित होती है। प० देवदत्त शास्त्रीनुसार - जंगिड वनस्पति अर्जुन वृक्ष है। उनके अनुसार इसके शाखामूल को मणिरूप में अभिमंत्रित कर चाँदी, सोना, तांबा, रागा, जस्तापंच धातुओं में भरकर ताबीज रूप में धारण करने पर अनेक रोगों से निवृत्ति मिलती है। वेदों मे चार प्रकार की वनस्पतियाँ- पुष्पित, फलवती, अपुष्पित, अफलित हैं जिनका हम औषधि रूप में प्रयोग करते हैं. कुछ वनस्पतियों पर पुष्प न आने पर उनके सीधे फल को औषधि रूप में प्रयोग किया जाता हैं। और कुछ वनस्पतियों पर फल न लगकर सीधा पुष्प ही औषधि के रूप में प्राप्त होता हैं। हे ब्रहस्पति देव अपुष्पित अफलित पुष्पित व फलित ये सभी प्रकार की वनस्पतियाँ हमारी रोगों से रक्षा करें ।

याः फलिनीर्य अफलां अपुष्पा याश्चपुष्पिणीः ।
वृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१५॥ (ऋग्वेद १०। ९७। १५)

द्यौलोक से अवतरित होने वाली औषधियों का कहना है कि जो पुरुष उनसे आच्छादित हैं उस पुरुष का विनाश नहीं होता है। वह उसके सभी रोगों का शमन करती है। अर्थात् द्यौलोक से वर्षा होने पर ये वनस्पतियाँ, औषधियां उत्पन्न होती है। और जो जीव इनका संरक्षण करते हुए इनका उपभोग करते हैं। इनका समूल नाश नहीं करते हैं जड़ से उखाड़ कर नहीं फेंकते हैं। ये उसके दैहिक मानसिक सभी विघ्नों, पापों, रोगों का विनाश करती है। और उस पुरुष को संरक्षण प्रदान करती है-

अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि ।
यं जीवमश्रवामहै न स रिष्यति पुरुषः ॥ (ऋग्वेद १०.९७.१७)

हे औषधि, हे वनस्पति मेरे द्वारा हिंसित कार्य न किया जाए, जिस कार्य उदेश्य हेतु मेरे द्वारा आपका खनन किया जा रहा है। आप उन द्विपद व चतुष्पद (मनुष्य व पशु आदि) सभी जीवो को रोगमुक्त करें वह उन्हें आनंद प्रदान करें।

मा वो रिषत्खनिता यस्मै चाहं खनामि वः
द्विपदच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ।। (ऋग्वेद १०.९७.२०) ।।

हे औषधियों! जो भी निकटस्थ दूरवर्ती लताएं वनस्पति सुन रही हो आप सभी का जिस कार्यों हेतु उपयोग किया जाए आप उसी रोगी को स्वस्थ जीवन देकर बल व शक्ति प्रदान करें। अर्थात जिस रोगी के रोग को नष्ट करने हेतु वीरुध औषधियों को (चारों प्रकार की वनस्पति) हमारे द्वारा ले जाया जा रहा है। आप उन्हें रोकमुक्त करते हुए बल व शक्ति प्रदान करें। स्वस्थ्य जीवन व बल प्रदान करें-

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।
सवार्: संगत्य वीरुधोऽस्यै सं दत्त वीर्यम् ।। (यजुर्वेद १२।९४) ।।

शुक्ल आयुर्वेद के 12वें अध्याय में वनस्पतियों को न काटने की प्रार्थना करते हुए कहा है कि उनका व्यर्थ में हमारे द्वारा खनन न किया जाए हमारे द्वारा उनका उपयोग हमें दीर्घजीवी व रोग मुक्त बनाएँ।

दीर्घायुस्तऽ औषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ।। (शुक्लयजुर्वेद १२।१००)

अतः कामना की जा रही है कि हे! औषधि हे! वनस्पति, आपका खनन करने वाला मैं हिसां से रहित होकर आपके उपयोग द्वारा दीर्घ आयु को प्राप्त करने वाला बनूँ और जिस रोगी के रोग नष्ट करने हेतु आपको खनन कर रहा हूं वह भी दीर्घायु व रोगमुक्त स्वास्थ जीवन प्राप्त करें। और है! औषधि आप स्वयं भी दीर्घायु होकर सौ अंकुरों से युक्त होते हुए वृद्धि को प्राप्त करों। अर्थात फिर से ऊपर उठो। हे ओषधे! आप उत्तम गुणों से युक्त है। संपूर्ण वनस्पतियों के अंतर्गत विघातक तत्वों को नष्ट करने की शक्ति विद्यमान होती है। कहा भी है- हे ओषधे! आपमें सभी कष्टों को दूर करने की सामर्थ्य है। आप शारीरिक शक्ति को क्षीण करने वाले कफरोग, बवासीर, गंडमाला, खाँसी आदि अन्य असंख्य रोगों को मुक्त करने में सक्षम व रक्तविकार से उत्पन्न हुए फोड़े-फुंसियों को दूर करने वाली हो।

नाशयित्री बलासस्यर्शसऽ उपचितामासि ।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ।। (यजु० १२। ९७)

यजुर्वेद में औषोधियोंको माता कहा है। माता जिस प्रकार से शिशु की रक्षा करती है उसी प्रकार वनस्पतियां, वृक्ष, औषधियां भी इस संसार की रक्षा करती है। वह दुग्धरूपी प्राणवायु (ऑक्सीजन) के द्वारा संपूर्ण जगत को जीवन प्रदान करती हैं। यह दिव्य गुणों से संपन्न है। हम यज्ञपुरुष द्वारा आपसे गाय, घोड़े, वस्त्र व निरोगी काया का सुख प्राप्त कर आपका उपभोग करते रहें-

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरूप ब्रुवे ।
स्नेयमश्वं गां वासं आत्मानं तव पुरुष ।। (यजुर्वेद १२.७८)

यह वेदों में वर्णित कुछ औषधियों को वर्णित किया जाता हैं। जो मानव हितकारी सिद्ध हो।

असिकनी वनस्पति- श्वेतकुष्ठ शमनार्थ हेतु। यह औषधि श्याम वर्ण, नील वर्ण, काले वर्ण वाली होती है जो रात्रि में उत्पन्न होती है तथा श्वेत कुष्ठ रोग के कारण हुई विभिन्न वर्णों वाली त्वचा को समान रंग प्रदान करने वाली है। हे कृष्णा वर्ण वाली तथा असिक्नी औषधियों, आप रात्रि में पैदा हुई है। आप उत्तम रंग प्रदान करने वाली है। कुष्ठ रोग से ग्रसित रोगी के श्वेत वर्ण को त्वचा सम् उत्तम रंग प्रदान करने वाली हो।

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ।। (अथर्ववेद २।२३।१)

यहां धन्वन्तरि के अनुसार रामा से रामा तुलसी, घृतकुमारी, आरामशीलता आदि, कृष्णा से कृष्णा तुलसी, कृष्णामूली, पुनर्नवा, पिप्पली आदि, और असिक्नी से असिशिम्वी का बोध होता है।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत
आ त्वा स्वो विशतां वणर्: परा शुक्लानि पातय ।। (अथर्वेद १।२३।२)

हे औषधियों! आप, कुष्ठ रोग से त्वचा पर हुए श्वेत धब्बों आदि को विनष्ट करने में सहायक आप इस रोग से ग्रसित रोगी के शरीर में पुनः पूर्ववत् लालिमा वे उत्पन्न करें। हे औषधि! आप इन श्वेत धब्बों को दूर कर रोगी को अपना रंग प्रदान करें व उसे निरोगी बनाएँ। जिससे वह पूर्ववत् सुन्दर व मनोहर शरीर प्राप्त करे। शरीर में विद्यमान अस्थि और त्वचा के मध्य स्थित मांस तथा औषधि के प्रयोग से त्वचा पर उत्पन्न श्वेत कुष्ठ के धब्बों को ब्रह्मा मंत्र प्रयोग द्वारा विनष्ट किया जाता हैंअथर्ववेद के प्रथम कांड के २३ वे सूक्त में दो प्रकार के रोगों को कहा हैं। एक शरीर के भीतरी हड्डी से सम्बंधित ब्रह्मचर्य का खण्डन व गरिष्ठ भोजन के द्वारा उत्पन्न होने वाला रोग हैं। और दूसरा बाहरी शरीर से सम्बंधित व मलिन वायु, जल व घर से उत्पन्न रोग जो त्वचा से सम्बन्धित कुष्ठ आदि रोग हैं।

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।
दृष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ।। (९।२३।४)

कुष्ठ रोगों की नाशक औषधि का वर्ण बताते हुए उसके शमन की कामना की जा रही है। हे औषधे! आप काले रंग वाली हो, आप त्वचा पर उत्पन्न निशानों को समान रंग में बनाने वाली हो। दैवीय शक्ति द्वारा आपको पृथ्वी पर पैदा किया गया। आप इस कुष्ठरोग से भलीभांति रोगमुक्त करके पूर्ववत् रंग वाला बना दो।

श्यामा सरूपड्करणी पृथिव्या अध्युद्भता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ।।(अथर्ववेद १।२४।४)

अर्जुन वृक्ष की छाल- क्षेत्रीयरोगनाशन अर्थात् (वंशानुगत रोगों के निवारणार्थ) यहां अथर्ववेद के द्वितीय कांड के अष्टम सुक्त के अंतर्गत वंशानुगत रोग निवारण हेतु अर्जुन वनस्पति से कामना की गई है कि यह औषधि (अर्जुन की लकड़ी) हमें क्षेत्रियरोग से मुक्ति प्रदान करें। इस औषधि का प्रयोग करने का समय ब्रह्मामुहुर्त बताया है।

अपेयं रत्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः ।
विरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ।। (अथर्ववेद संहिता २।८।२।)

जिस प्रकार रात्रि चली गई उसी प्रकार वंशानुगत रोग के रोगाणु भी चले जाएं। रात्रि के समापन काल, ब्रह्म मुहूर्त में औषधि का प्रयोग करने का आभास होता है। तभी रोगी लाभान्वित होता है।

अर्थात् यह औषधि वंशानुगत रोग को विनष्ट करने में सहायक है जिस प्रकार नदी पार जाने का इच्छुक व्यक्ति एक कुशल नाविक के समीप जाता है और कुशलतापूर्वक अपने स्वदेश लौट जाता है। उसी प्रकार गुग्गुल, पिलु, नलदी, औक्षगंधी और प्रमोदिनी आदि नामक औषधियों के प्रयोग द्वारा हवन से उत्पन्न सुगंध से भयभीत होकर ये अप्सराए (जल, वायु में उत्पन्न कृमि) भी वापिस अपने निवास स्थान लौट जाती है। वह गति हीन होकर निष्प्राण से हो जाएँ एसी कामना की गई है।

अजश्रृंगी वनस्पति- कृमियों के शमन हेतु ।अजश्रृंगी औषधि का प्रयोग वायु व जल द्वारा फैलने वाले रोगाणुओं के उपचार हेतु अजश्रृंगी (जिसे काकडासिगी भी कहते हैं) नामक औषधि का प्रयोग करने की बात कही है। क्योंकि जल में ही मलेरिया जैसे रोग फैलते हैं उन्हें अपरस् भी कहते हैं।

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहे ।
अजशृड्गयज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ।। (अथर्ववेद ४ । ३७ । २)

यहाँ कामना की गयी है कि हे अजश्रृंगी औषधे, आपके द्वारा हम उपद्रव करने वाले (रोगों का उत्पन्न करने वाली कृमि) गन्धर्वों और अप्सराओं (वायवीय व जलीय उत्पन्न कृमि) वाले कृमियों को नष्ट करते हैं। आपके प्रयोग द्वारा उत्पन्न गंध से हम अपने आस-पास रोग उत्पन्न करने वाले राक्षसों को दूर भगाने में समर्थ होते हैं।कृमियों के वापिस इनके निवास स्थान लौटने की कामना की गयी है कि वह अपने निवास स्थान- पीपल, वट, षिलखन, हरे-भरे अर्जुन वृक्ष तथा श्यामल वृक्ष, कर्करी वृक्षों वाली जगह चले जाएँ, उनके द्वारा हमें न सताया जाएँजीवनदायिनी वनस्पति पीपल- वेदों में पीपल वृक्ष को देव तुल्य कहकर उसको पूज्यनीय कहा गया है उसे न काटने की कामना की गई है।

क्योंकि पीपल वृक्ष हमे जीवन देने वाला है. वह सर्वाधिक ऑक्सीजन छोड़ने वाला वृक्ष है या पर्यावरण शुद्धि में सहायक है तथा रोगाणुओं को नष्ट करता है। पीपल को शुचिद्रुम भी कहते हैं। पीपल वृक्ष के नीचे ही भगवान बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था। इन वृक्षों की लंबाई ६० से ८० फिट होती है। इसके अलावा नीम वृक्ष जो उनके औषधीय गुणों से पूर्ण हैं। जो पर्यावरण की शुद्धि में सहायक है। यह भी सर्वाधिक ऑक्सीजन देने वाला तथा प्रदूषित वायु- कार्बन डाई ऑक्साइड, सल्फर और नाइट्रोजन को ग्रहण करने वाला है. बरगद पेड़ जो हिंद धर्म के पवित्र माना जाता है। अर्जुन वृक्ष, अशोक वृक्ष आदि अनेक पर्यावरण शुद्धि में अपनी भूमिका निभाते हैं। वेदों में इसलिए बारम्बर वृक्षों को लगाने की कामना की गयी है।रोहिणी वनस्पति - यह टूटे अंगों को जोड़ने तथा जले- कटे घावों को भरने में प्रयोग। वैद्यक ग्रंथों में इसे रोहिणी वनस्पति को वीरवति, चर्मकषा, मांसरोही प्रदारवल्ली आदि नाम कहे हैं। यह औषधि अस्थि भंग, व घावों को ठीक करने में सहायक है। यहां इसके उपचारात्मक विशेषता को कहा है।पूर्व में युद्ध में घायल हुए सैनिकों, व्यक्तियों के घावों को ठीक करने के लिए इसका प्रयोग की बताया गुया हैं। इसको पीसकर पेस्ट बनाकर घाव पर प्रयोग किया जाता था।

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्टूं त आत्मनि।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥ (अथर्ववेद ४। ९२। २।)

यह रोहिणी वनस्पति लाल वर्ण की होती है। जो टूटी हड्डियों को पूर्णता प्रदान कर सुख प्रदान करने वाली है। अंग छिद्र, मज्जा, मांस, चर्म के घावों को मिलाकर उसे ठीक कर, रुधिर व हड्डी को सुदृढ़ अंग करने वाली है। हे! अरुन्धती, रक्त वर्णा औषधि! हमसे उपचार करने में कोई बाधा ना आए आप इस घांव को शीघ्र ही ठीक करने वाली सिद्ध हो।

"रोहण्यसि रोहण्यस्थनश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति ॥
(अथर्ववेद ४।१२। १)

मधुक औषधि- विष भेषज्य हेतु प्रयोग।मधुक ओषधि का प्रयोग बिच्छू, मच्छर, सर्प, वृच्छिक, आदि अन्य विषधारी व रेंगने वाले कीड़ों के द्वारा प्राणी को काटने पर उसके विष को शांत करने हेतु प्रयोग किया जाता है।

तिरच्छिराजेरसितात् प्रदाकोः परि संभ्रतम्।
तत् कड़क्पर्वणो विषमियं वीरूदनीनशत् ॥ (अथर्ववेद ७।५६।१)

अर्थात् तिरछी रेखा वाले, काले व फूंकार मारने वाले सर्प के विष तथा कंकपर्वा नमक प्राणी के विष को यह 'मधुक' नमक औषधि नष्ट करने में सहायक हैं। यह मधुक नामक औषधि मधु से उत्पन्न होने के कारण यह मानव शरीर में काटे जाने पर शरीर में मधुर रस को बढ़ाकर विष को शांत करने में समर्थ होती है।

इयं विरुन्ममधुजाता मधुच्क्ष्न्मधुला मधूः।
सा विद्युतस्य भेषज्यथो मशकजम्भानी ॥ (अथर्ववेद ७।५६।२)

काटे जेने के उपरांत विष के प्रभाव से रोगी के शरीर में उत्पन्न लक्षणों को बताया जा रहा है। विष के प्रभाव से रोगी के अंग सिकुड़ने लगते हैं, शिथिल संधियों वाला होकर वह मुंह टेढ़ा-मेढ़ा करने लगता हैं. तब रोगी को यह औषधि देकर स्वस्थ किया जाता है। यह रोगी के काटे जाने के उपरांत लक्षण टिटनेस जैसे कहे गए हैं ।तथा इनके शांति के उपचारों का संकेत भी यहाँ प्राप्त होता है-

अयं यो वक्रो विपरुव्यडग्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि।
तानि त्वं ब्राहाणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥ (अथर्ववेद ७।५६।४)

अथर्ववेद की चतुर्थ कांड ३७ सूक्त के में अनेक वनस्पतियों औषधियों का वर्णन किया गया है। इस अजश्रृंगी, गुग्गुल (गूगल), पीला पिलु, नलद- नलदी, जटामाँसी या मांसी, औक्षगंधी, प्रमोदिनी, धर्वड, गंधमांसी औषधियों का प्रयोग बताया गया है। इनका प्रयोग से जल, वायु, नदियों में फैलने वाले कृमियों को नष्ट किया जाता है. इनकी सुगंध वातावरण में मौजूद कृमियों को विनष्ट करने में सहायक है।

नेर्दी यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्। गुल्गुलूः पीला नलद्यौअक्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ (अथर्ववेद ४।३७।३)

ऋग्वेद में भी अनके वनस्पतियाँ वर्णित है जिनसे रोगों के शमन हेतु प्रार्थना की गई है। यज्ञ प्रयोजन हेतु इन्हें काटा जाता है उनके लिए सौभाग्य की बात कहा हैं। परंतु वह पुनः सैकड़ों शाखाओं, अंकुरों से युक्त होकर स्वयं का संवर्धन करे एसी कामना की है। हे वनस्पते! आप सैकड़ों शाखाओं से युक्त होकर अपनी वृद्धि करो। हमारे द्वारा आपको जिस प्रयोजन हेतु काटा गया है वह हमारे रत्न प्राप्ति हेतु कल्याणकारी सिद्ध हो। तथा आप भी पुनः अपना संवर्धन करने वाले हो।

वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्त्रवल्शा वि वयं रूहेम।
यं त्वामयं स्वाधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभगाय ॥ (ऋग्वेद ३।८।११)

ऋग्वेद के 10 वे मंडल के ९७ सूक्त के अंतर्गत वेदों से दिव्य औषधियों के गुणों को माता के समान पालन करने वाली कहा है।माता कहने से आशय है की जैसे माता द्वारा बच्चों का पालन-पोषण किया जाता है। वैसे ही औषधिया भी मातृस सृष्टि का पालन-पोषण करती है। माता जिस प्रकार से अपने दुग्ध से शिशु के शरीर को पोषित करती है उसी प्रकार वनस्पतियां, औषधियां मानव के शरीर के निर्माण में स्वयं की अहम भूमिका निभाती है। हमें इनका उपभोग स्वयं को समर्पित करते हुए करनी चाहिए। ये हमें, गौ, अश्व रत्न प्रदान करने वाली है. अतः वनस्पतियों की सेवा करना वेदों में धर्म कहा है।

औषधीरिति मातरस्तद्धों देवीरूप ब्रुवे।
सनेयमक्ष्वं वास आत्मानं तव पूरुष ॥ (ऋग्वेद १०।९७।४)

औषधियों के द्वारा ही रोगों से क्षीण हुआ व्यक्ति शतायु को प्राप्त करता है। औषधियों को हजारों नेत्रों वाली (सहस्त्रक्षेण शतायुषा) होकर हजारों पुरुषों का ध्यान रखने वाली कहा है। अतः औषधियों के द्वारा ही रोगों से क्षीण हुआ तथा मृत्यु शय्या के निकट पहुँचा व्यक्ति रोग मुक्त हो कर निरोगी शतायु बलयुक्त होता हैं।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरूपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥ (ऋग्वेद १०।१६१।२)

ऋग्वेद के 10 मंडल १६२ में सूक्त के अंतर्गत औषधीयों, वनस्पतियों से कामना की गयी है कि हे! ओषधे आप ही गर्भास्थ मांस को क्षीण करने वाले कृमियों को दूर करने में समर्थ है। आप ही स्त्री के गर्भास्थ रोगों को तथा भयवह अशुभ नाम वाला अर्शस् (बवासीर) जैसा रोगों को उत्पन्न करने वाले कृमियों का नाश कर निरोगी बनाने में सहायक है। आप कुशल वैद्य रूप में समस्त रोगों को उखाड़ फेंकने में समर्थ्य रखती हैं।

ब्रह्मणाअग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णागा योनिमाशये ॥ (ऋ० १०।१६२।१)

आयुर्वेद के १२ वे अध्याय के ७६ सूक्त के अंतर्गत औषधीय वनस्पतियों को मात्र तुल्य हितकारणी कहा है। वह माता के समान पालन करने वाली है। इनमें कुछ औषधि पर्वत मूल पर, कोई मध्य भाग, कोई पर्वतशिखर पर और कुछ समुद्रतट पर प्राप्य होती है। यह औषधि अत्यंत तेज व दिव्य शक्तियों को स्वयं में समेटे हुए हैं। जिससे यह उत्तमकर्मों को करने वाली होकर रोगी को रोगमुक्त करती है।

शतं वोऽअम्ब धामानि सहस्त्रमुत वो रूहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मेऽअगदं कृत ॥ (यजुर्वेद १२।७६)।

यह औषधियों को उत्पन्न करने वाली ऋतुओं का वर्णन है. क्योंकि भिन्न -भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न औषधियों को उत्पन्न किया जाता है। ऋतु तीन- बसंत ऋतु, ग्रीष्म वर्षा ऋतु, शरद ऋतु है। जिसके अंतर्गत बसंत ऋतु के आने से पूर्व में ही कफनाशक औषधि, वर्षा ऋतु में वातविकारों से संबंधित और शरद ऋतु आने से पूर्व पित्त विकार दोष से संबंधित औषधि पूर्ववत् लेने से हम सभी रोगों से दूर रहकर निरोगी व स्वस्थ रहते हैं। इन औषधि प्रयोग बालक, वृद्ध, युवक की आयु अनुसार व अंगों के अनुसार सम्यक् प्रकार से देना ही श्रेयकर व लाभकारी होता है।

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रुणामहम् शतं धामानि सप्त च ॥ (यजुर्वेद १२।७५)

आयुर्वेद के प्रस्तुत मंत्र के अंतर्गत औषधीय गुणों को बताया है कि वह अश्व के सामान संग्राम क्षेत्र में विजयी होने वाले अश्व की तरह है। औषधि पुष्पवती व अपुष्पा, फलवती व अफला चार प्रकार की होती है ।कहा जाता है कि इन प्रशस्त फुलोवाली व फलोवाली औषधियों का सम्यक प्रयोग रोगी को भी (हृष्ट-पुष्ट) कर देनी वाली है। उत्तम औषधियां विजयशीला अश्व कि भांति रोगों पर विजय प्राप्त करने वाली होती है।

औषधीः प्रतिगोदश्वं पुष्यवतीः प्रसूवरीः।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरूधः पारयिष्णतः ॥ (यजुर्वेद १२।७७) ॥

यजुर्वेद में औषधियों की शक्ति को बताते हुए कहा है कि यह वनस्पतिय औषधि मनुष्य के पैत्तिक विकारों को दूर कर उसे स्वस्थ्य बनाती है। यह रोगी के रोगों पर उसी प्रकार आक्रमण करती है जिस प्रकार कोई चोर गौओं के समूह से गौ को चुरा ले जाता है। यह जल विकार से उत्पन्न कफ, वायुविकार से खांसी, जुकाम गठिया अंग गृह क्षय रोग व पित्त विकार से उत्पन्न उच्च रक्तचाप आदि रोगों से यह चारों प्रकार की औषधि रोगों उखाड़ फेंकती है। अतः यह औषधीया शरीर में प्रवेश करने वाली रोगों ज्वार, अतिसार, रक्त चाप व अन्य पाप रूपी रोगों को गौ के मालिक द्वारा भनाए गए चोरों की भांति ही रोगों पर आक्रमण कर उन्हें दूर भगाकर निरोगी बनाती हैं।

अति विश्वाः परिष्ठा स्तेनऽइव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किं च तन्वो रपः॥ (यजुर्वेद१२।८४)

यजुर्वेद के षोडशोऽध्याय के अंतर्गत प्रकृति की उन सभी वस्तुओं को नतमस्तक हो नतमस्तक किया गया है जो राष्ट्रहित, प्रजाहित से अपनासर्वस्व देती है। वृक्षों को व्यर्थ में न काटने पर बल दिया है। हरित वर्णा पत्ते रूपी केशो वाली सूर्य की किरणों को धारण करने वाले वृक्षों वनस्पतियों, औषधियों आपको नमस्कार है। आप राष्ट्रहित, प्रजाहित में अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं हम भी आपका पूरा ध्यान रखने वाले हो। हम ध्यान रखेंगे कि आपकी राष्ट्र में वृक्षों, वनस्पतियों की कमी ना हो व्यर्थ में आपका दोहन ना हो। "पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः" क्योंकि आप ही मनुष्य को बल, वीर्य, शौर्य, शक्ति प्रदान कर रोगों से दूर रख स्वस्थ जीवन प्रदान करती है. हम नमस्कार करते हैं जो अन्न का रक्षक है. पशुओं का रक्षक है। जंगल व वनों की रक्ष करने वाले हैं हम आपको नमस्कार करते हैं "अन्नानां पतये नमो नमो"। जिस अन्न के उपभोग द्वारा मानव स्वस्थ रहता है बल प्राप्त करता है उस अन्न के रक्षक को मेरा नमस्कार है जो सभी कष्टों को सहकर इनकी रक्षा करता है।वेदों में अनेक प्रकार की वनस्पतियों औषधियों का वर्णन किया गया हैं। वेदों में इनके संरक्षण की कामना की गई हैं। जिससे हम इनके उपयोग द्वारा लाभान्वित होते रहे। अतः मनुष्य को वृक्षों, वनस्पतियों के प्रति रक्षित होना चाहिए। क्योंकि मानव कल्याण दान पूर्वक उपभोग करने में है ना कि वासनापूर्वक स्वार्थपूर्ण दोहन में है। अतः लोकत्रयी शांति की कामना वेदों में प्राप्त होती है।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वंम शान्तिः
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ (यजुर्वेद३६।१७)

****

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
संपादक पुस्तक प्रकाशन पृष्ठ स०
1)डॉ० आर खन्ना औषधीय पादप संरक्षण, दया पब्लिशिंग हाउस पृ० २२१
संवर्धन एवं उपयोगिता दिल्ली-२००७
2)डॉ० विजय एस० वैदिक संस्कृति और पैराडाईज पब्लिशर्स पृ० २०२,
सोजित्रा पर्यावरण संरक्षण २०४, २०६
3)डॉ० आभा कुलश्रेष्ठ संस्कृत साहित्य एवं ईस्टर्न बुक लिकर्स दिल्ली
पर्यावरण
4)अथर्ववेद संहिता
5)ऋग्वेद संहिता
6)यजुर्वेद संहिता

भारत में समावेशी शिक्षा और उसकी उपादेयता: एक शैक्षिक अध्ययन

डॉ.राजकुमारी गोला
सहायक आचार्य
शिक्षा विभाग आईएफटीएम विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

इतिहास मे हमे विभिन्न विशिष्टाओ वाले व्यक्ति देखने को मिलते है। जैसे-महान कवि सूरदास जन्मान्धे थे। अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट स्वय पोलियो के शिकार थे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमे देखने को मिलते है। इस प्रकार के लोगो को विशिष्टता की श्रेणी मे रखा गया हैं। ऐसे बालको को विशिष्ट प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता होती है। शिक्षा प्राप्त करना सबका जन्म सिद्ध अधिकार है। शिक्षा मनुष्य के समुचित विकास मे अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। इसके द्वारा बालक की अर्न्तनिहित शक्तियो को बहार निकाला जाता है। विशिष्टता शारीरिक, मानसिक किसी भी प्रकार की हो सकती है। विशिष्ट बालक अपने आपको सामान्य बालको से भिन्न रखते है। अतः इन बच्चो की देख भाल करना तथा इनकी शिक्षा का प्रवन्ध करना, शैक्षिक अवसरो की समानता, सामाजिक न्याय एवं राष्ट्रय विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके लिए विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता महसूस की गई, क्यो की विशिष्ट बालक सामान्य बालको से अलग होते है। लेकिन मनोवैज्ञानिको ने महसूस किया कि इससे बालको मे हीन भावना का विकास हो रहा है। इसलिए विशिष्ट व सामान्य बच्चो के लिए एक अलग शिक्षा अर्थात समावेशी शिक्षा को अपनाया गया। यह शिक्षा सामान्य व विशिष्ट बच्चो को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करती है। समावेशी शिक्षा तो विशिष्ट शिक्षा का पूरक है। कम शारीरिक रूप से बाधित बालको को समावेशी शिक्षा संस्थान मे प्रवेश कराया जा सकता है। देश पर बोझ माने जाने वाले विकलांग व्यक्तियो को आज समाज मे शारीरिक और मानसिक रूप से कमजोर न समझकर उपयोगी व्यक्ति समझा जाने लगा है। प्राचीन सभ्यता पर नजर डाले तो पाते है कि या तो शारीरिक रूप से बाधित बालको की हत्या कर दी जाती थी या उन्हे समाज कलंक की नजरो से या दयालुता की नजर से देखता था उन्हे बोझ समझा जाता था। आज कोई ऐसा कार्य नही जहॉ किसी न किसी विकलांग विभूति ने अपने असाधारण कृतित्व मे अमिट छाप न छोडी हो। अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट, पोलियोग्रस्त क्रिकेटर चन्द्रशेखर, श्रवणहीन वैज्ञानिक थॉमस एडीसन, अस्थि विकलांग स्टीफन हाकिन्स एवं नकली टॉगो के सहारे विमान चलाने वाले पायलट मैरेस्येव आदि इसके उदाहरण है। बीजिंग ओलाम्पिक के पैरालंपिक गेम्स मे (विकलागो से सम्बन्धित) दर्शको की बढती संख्या से जाहिर होता है कि विश्व समुदाय की विकलांग के बारे मे धारणा बदली है। विकलांग बालक आवश्यकता की पूर्ति चाहता है तथा इन आवश्यकताओ की पूर्ति न होने पर उसमे निराशा, कुण्ठा व असन्तोष की भावना उत्पन्न हो जाती है। अतः ऐसे बालको को समाज मे उचित स्थान दिलाने के लिए, समाज के अनुकूल बनाने के लिए विशेष प्रकार की सुविधाओ की आवश्यकता होती है। विकलांग बच्चे शिक्षा मे सबसे समूहो मे से एक है। जहॉ तक हो सके प्रत्येक बच्चे की व्यक्तिगत विशेषताओ की परवाह किये बिना प्रत्येक स्थानीय स्कूल में सिखाने की व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसे बच्चां को विकलांगता से 'अलग' एवं 'एकीकृत' दृष्टिकोण से बचाना चाहिए।

समावेशी शिक्षा का अर्थ:- समावेशी शिक्षा वह शिक्षा है, जिसके द्वारा विशिष्ट क्षमता वाले बालक जैसे मन्द बुद्धि, अन्धे, बहरे बालक एवं प्रतिभाशली बालकों को शिक्षा दी जाती है अर्थात सामवेशी शिक्षा वह होती है जिसके द्वारा सभी बच्चे चाहे वे किसी भी प्रकार के हो एक ही स्कूल में एक साथ सीखते है। यह सभी शिक्षार्थियां तक पहुचने वाली शिक्षा की बाधाओं को दर करने के लिए उपयोगी है, जो कि

सभी बच्चों की भगीदारी और उपलब्धि को सीमित करता है। यह सभी बच्चों और युवाओं की विभिन्न आवश्यकताओं, क्षमताओं और विशेषताआं का सम्मान करती है, यह सभी प्रकार के भेद भावों से मुक्त है। समावेशी शिक्षा व्यवस्था समाज को अधिक समावेशी बना सकती है। समावेशी शिक्षा सर्वप्रथम छात्रों के बौद्रिक एवं शैक्षिक स्तर की जॉच करती है, तत्पश्चात उन्हें दी जाने वाली शिक्षा का स्तर निर्धारित किया जाता है। अतः यह एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था है, जो कि विशिष्ट क्षमता वाले बालकां हेतु निर्धारित की जाती है। अर्थात ''समावेशी शिक्षा को एक आधुनिक सोच की तरह परिभाषित किया जा सकता है, जो कि शिक्षा को अपने में सिमटे हुए दृष्टिकोण से मुक्त करती है और उसे ऊपर उठने के लिए प्रोत्साहित करती है। ''समावेशी शिक्षा अधिगम के ही नही, बल्कि विशिष्ट अधिगम के नये आयाम खोलती है।'' यह भी पाया गया है कि कुछ शिक्षाविद् विशिष्ट शिक्षा के पक्षधर नही है। उनके अनुसार यह शिक्षा के अवसरों के समान नहीं तथा बालकों के विचारो में भिन्नता पैदा होती है। सामान्य कक्षाएॅ अपंग बालकों में हीन भावना उत्पन्न करती है। कुछ समय पहले, मनोवैज्ञानिको ने विचार दिया कि समावेशी शिक्षा हमारे सामान्य विद्यालयों में दी जाये, जिससे सभी बालकों को शिक्षा के समान अवसर मिलें। विकलांग बच्चे शिक्षा से सबसे बहिष्कृत समूहां मे से एक है। विश्व स्वास्थय संगठन के अनुसार विश्व भर में लगभग 150 मिलियन बच्चें विकलांग है। विकलांग बच्चों को उनकी राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था या प्रणाली में कैसे शामिल किया जाए। यह एक महत्वपूर्ण विचार है। उपयुक्त शिक्षण सामग्री की कमी के कारण स्कूल में उनकी पहुॅच और सीखने में मुश्किल हो जाती हैं। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा सभी बच्चों का एक मौलिक अधिकार हैं। विकलांग बच्चों कोई समस्या नही है वरन यह विश्व शांति का निर्माण करने और सतत् विकास को बढावा देने का आधार भी है। सतत् विकास, किसी को पीछे छांडने पर अपना ध्यान केन्द्रित करने के साथ, अपनी शिक्षा व्यवस्थाओं या प्रणालीयों को अधिक समावेशी और न्याय सगंत बनाने के लिए अवसर प्रदान करता है। समावेशी शिक्षा सभी विकलांग बच्चां को फलने-फूलने में मदद करती है। यह समाज में एक महत्वपूर्ण और सक्रिय भूमिका निभा सकती है। समावेशी शिक्षा विविधता एवं गुणवत्ता पर ध्यान केन्द्रित करने और बच्चां की विभिन्न आवश्यकताओं के प्रति इसकी जबाबदेही के साथ सभी शिक्षार्थियों के लिए लाभोपयोगी है।

समावेशन शब्द का अपने आप में कुछ खास अर्थ नहीं होता है। समावेशन के चारों ओर जो वैचारिक, दार्शनिक, सामाजिक और शैक्षिक ढांचा होता है वही समावेशन को परिभाषित करता है। समावेशन की प्रक्रिया में बच्चे को न केवल लोकतंत्र में भागीदारी के लिए सक्षम बनाया जा सकता है, बल्कि यह सीखने एवं विश्वास करने के लिए भी सक्षम बनाया जा सकता है कि लोकतंत्र को बनाए रखने के लिए दूसरों के साथ रिश्ते बनाना, अंतर्क्रिया करना भी समान रूप से महेत्वपूर्ण है। (एन.एफ.सी.2005, पृष्ठ 96) यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा कार्य बहुआयामीय, वैश्विक, राष्ट्रीय तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के चक्के का हाथ लगाना है। रिपोर्ट 2001 के पृष्ठ क्रमांक 2 में कहा गया है ''विश्व के विकास की कार्य सूची में सभी विषयों जैसे निर्धनता उन्मूलन, स्वास्थ्य संरक्षण, तकनीकी जानकारी का आदान प्रदान, पर्यावरण का रक्षण, लिंगभेद समापन, प्रजातान्त्रिक प्रणाली को सुदृढ़ करना तथा शासन प्रशासन में सुधार सबके लिए न्याय सुलभता, शिक्षा के माध्यम से इन सभी विषयों को एकात्मक भाव से देखा जाना चाहिए।

भारतीय संविधान में समता, स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय एवं व्यक्ति की गरिमा को प्राप्त मूल्यों के रूप में निरूपित किया गया है। हमारा संविधान जाति, वर्ग, धर्म, आय एवं लैंगिक आधार पर किसी भी प्रकार के विभेद का निषेध करता है। लोकतांत्रिक की स्थापना के लिए हमारे संवैधानिक मूल्य स्पष्ट रूप से दिशा निर्देशन प्रदान करते हैं और इस प्रकार एक समावेशी समाज की स्थापना का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में बच्चे को सामाजिक, जातिगत, आर्थिक, लैंगिक, शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से भिन्न देखें जाने के बजाय एक स्वतंत्र अधिगमकर्ता के रूप में देखे जाने की आवश्यकता है, जिससे लोकतांत्रिक समाज में बच्चें के समुचित समावेशन हेतु वातावरण का सृजन किया जा सके। समावेशन की ठोस प्रक्रिया प्रतीकात्मक लोकतंत्र में भागीदारी आधारित लोकतंत्र का मार्ग प्रशस्त करती है।

समावेशी शिक्षा की आवश्यकता:-समावेशी शिक्षा का आशय विकलांग विद्यार्थियों (जिन्हें आजकल विशेष आवश्यकताओं वाले विद्यार्थी कहा जाता है) को सामान्य बच्चों के साथ बिठाकर सामान्य रूप से पढ़ाना है, ताकि सामान्य बच्चों और विशिष्ट आवश्यकताओं वाले बच्चों में कोई भेदभाव न रहे तथा दोनों तरह के विद्यार्थीयों एक-दूसरे को ठीक ढंग से समझते हुए आपसी सहयोग से पठन-पाठन के कार्य को कर सकें। समावेशी शिक्षा का एक व्यापक लक्ष्य यह भी प्रतीत होता है कि एक साथ शिक्षित होने पर भविष्य में समाज के अन्दर विशिष्ट आवश्यकता वाले व्यक्तियों के सरोकारों को आम लोग बेहतर ढंग से समझ सकें तथा उनमें उनके प्रति अपेक्षित संवेदनशीलता का विकास हो सके। समावेशी शिक्षा को प्रोत्साहित करने का अपना एक राजनीतिक अर्थशास्त्र भी है जो भू-मण्डलीकरण या उदारीकरण की प्रक्रियाओं से प्रेरित है। यह राजनीतिक अर्थशास्त्र इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार को जनकल्याण, सामाजिक तथा गैर-उत्पादक कार्यों पर कम से कम खर्च करना चाहिए। विशिष्ट आवश्यकताओं वाले बच्चों के लिए विशेष विद्यालय चलाना महँगा सौदा है (वो भी विकलांगों की कम से कम पाँच श्रेणियों के लिए) इसलिए समावेशी शिक्षा की अवधारणा को प्रोत्साहित किया जा रहा है। समावेशी शिक्षा को जमीनी स्तर पर लागू करने के लिए देश के विभिन्न राज्यों के विकलांगों की मुख्य श्रेणियाँ-दृष्टिबाधित, अस्थिबाधित, मूक-बधिर, मन्दबुद्धि तथा स्वलीनता से ग्रसित लोगों को पढ़ाने के लिए अलग-अलग नामों से अंशकालीन शिक्षक एवं शिक्षिकाएँ रखे जाते हैं। इन्हें अधिकतर राज्यों में न्यूनतम मजदूरी से भी कम वेतन तथा अपर्याप्त प्रशिक्षण दिया जाता है। चूँकि समावेशी शिक्षा भू-मण्डलीकरण की देन है, इसलिए इसे अन्तर्राष्ट्रीय तथा बहुराष्ट्रीये कम्पनियों का भी व्यापक समर्थन हासिल है। इस समर्थन की भी अपनी राजनीति, गणित और विज्ञान है। विकलांगों के विषयों में कार्यरत विभिन्न जन-संगठनों तथा समाजसेवी संस्थाओं की भी अपनी राजनीति है। किसी भी योजना से सबसे अधिक लाभ प्राप्त करने वाले अस्थिबाधित लोगों तथा मूकबधिर लोगों से जुड़े अत्यधिक संगठन समावेशन के नाम पर समावेशी योजनाओं के लाभों से अपेक्षाकृत वंचित लोगों, खासतौर पर दृष्टिबाधित लोगों के अधिकतर संगठन इसका विरोध करते हैं। इस तरह समावेशी शिक्षा के समूचे माडल में शिक्षा की पहुँच तथा शिक्षा की गुणवत्ता दोनों ही गम्भीर प्रश्नों के घेरे में हैं। इसके लिए चलाऊ नीतियाँ तथा तत्कालिक मसलों की क्षणिक रूप से हल कर लेने की प्रवृतियां काफी हद तक जिम्मेदार हैं।विशेष बच्चों की शिक्षा के लिए भारत में पिछले तीन दशकों में विश्वव्यापी स्तर पर आमूलचूल सुधार पर प्रतिक्रिया दी है और विशेष बच्चों की आवश्यकता को समुचित और व्यावहारिक रूप से पूरा करने के लिए अनेक नीतियाँ, कार्यक्रमों और कानूनों को लागू किया गया है। हालांकि 0-6 वर्ष की 15 करोड़ 87 लाख की जनसंख्या के साथ यह कार्य किसी भी आकार और क्षमता की सरकार के लिए समुचित सेवाएँ प्रदान करने के लिए पिछले तीन दशकों से सतत प्रयास कर रहा है। हालांकि विविधता के संदर्भ में सरकार की प्रतिबद्धता के मूल को समेकित बाल विकास सेवा (आई0सी0डी0एस0) योजना में खोजा जा सकता है, जो देश के चयनित 33 सामुदायिक खंड़ों में 1975 में लागू की गई थी। इस शीर्ष कार्यक्रम की अब देश के सभी 36 राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों की 5,659 स्वीकृत परियोजनाओं और 7,48,059 आंगवाड़ी केन्द्रों तक विस्तारित कर दिया गया है। हालांकि यह परिवर्तन रातो-रात नहीं आया। इसमे नीति निर्माताओं, प्रशासकों, आंगनबाड़ी कार्यकर्ताओं, शिक्षकों

अभिभावकों और शोधकर्ताओं सहित सभी हितधारकों की कड़ी मेहनत, दृढ़-संकल्प और निष्ठा की आवश्यकता थी। भारत में नीति निर्माताओं को सभी छात्रों के लिए अधिक न्यायसंगत शैक्षिक अवसरों को प्रोत्साहन देने वाले कानूनों, नीतियों और कार्यक्रमों जैसे-विकलांगता अधिनियम 1995, एस0एस0ए0 2001 और संयुक्त राष्ट्र द्वारा किए गए कार्यक्रम (उदाहरण के लिए यूनेस्को, 2000) से चुनौती मिली। अभिभावक समूह बहुत ज्यादा मुखर हो गए और उन्होंने अपने बच्चों के लिए समान अवसरों की मांग करते हुए अपने अधिकारों पर जोर दिया। प्रशासकों, शिक्षकों और शोधकर्ताओं ने अन्य देशों में शिक्षण के बेहतर समावेशी माडल का अवलोकन किया और अपनी शैक्षिक संस्थाओं में इन माडलों को अपनाना प्रारम्भ कर दिया। पिछले तीन दशकों में इस दिशा में धीरे-धीरे बहुत प्रगति हुई है और इसने लाखों छात्र-छात्राओं को लाभान्वित किया है। हालांकि भारत में विकलांगता से ग्रस्त लगभग 3 करोड़ बच्चों की जरूरतों को पूरा करने के लिए अभी और भी कार्य किये जाने की आवश्यकता है।

समावेशी शिक्षा हेतु रणनीतियां:-

परिवार:- बच्चों के समाजीकरण में परिवार की अहम भूमिका होती है। परिवार में बच्चों के समाजीकरण की उचित प्रक्रिया समावेशन हेतु आधार भूमि तैयार करती है। इसलिए जरूरी है कि अक्षम बालक की स्वीकृति सबसे पहले अपने परिवार में हो यह अति महत्वपूर्ण बात है क्योंकि अक्षम बालक को अपना परिवार खुशीपूर्वक स्वीकार कर लिया है तो वह सारा संसार जीतने की क्षमता रखता है एक सामान्य बालक की तरह ही।

समाज:- अक्षम बालक की समाज भी सहर्ष स्वीकार करें जिससे की अक्षम बालक में हीन भावना उसके अंदर न प्रवेश कर जाए और वह जो समाज को अपने कार्य से बहुत कुछ दे सकता था वो अब हीन भावना के कारण नहीं दे पाया इसलिए समाज सभी अक्षम बालक को सहर्ष स्वीकार कर उसका मनोबल बढ़ाए एक सामान्य बालक की ही तरह जिससे की वो अपने जीवन में एक नई ऊँचाई प्राप्त कर समाज को भी गौरांवित करें।

विद्यालय:- अक्षम बालक के लिए विद्यालय भी सौहाद्रपूर्ण व्यवहार कर उसका नामकन करें अपने विद्यालय में जिससे की अक्षम बालक के अंदर सक्षम बालक के लिए ही भाव न पैदा हो इसलिए विद्यालय प्रबंधन की ये जिम्मेदारी है कि जिस प्रकार से आप सामान्य (सक्षम) बालक का अपने विद्यालय में नामांकन लेते हैं। ठीक उसी प्रकार से आप अक्षम बालक का अपने विद्यालय में नामांकन कर उसको अपने जीवन में आगे बढ़ने में मदद करें।

वातावरण:-विद्यालयी वातावरण सौहार्द्रपूर्ण हो जिससे की अक्षम बालक उस विद्यालय में नामांकन प्राप्त कर अपने आप को कुंठित न महसूस करें। अक्षम बालक विद्यालय का सौहाद्रपूर्ण वातावरण प्राप्त कर अपने आप को खुशी महसूस करें इसलिए की सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में सभी सक्षम बालकें तथा शिक्षक अक्षम बालक को अपनी ज्ञान प्राप्ति में मदद करें।

पाठ्यक्रम:- पाठ्यक्रम का निर्माण भी इस प्रकार का हो सक्षम बालक के साथ-साथ अक्षम बालक भी उसी पाठ्यक्रम को पढ़कर अपना ज्ञानार्जन कर सकें।

सहायक तकनीकी:-अक्षम बालक को उसके पाठ्यक्रम के अनुसार सहायक तकनीकी के माध्यम से शिक्षक पढ़ाए जिससे की अक्षम बालक उस विषय-वस्तु को आसानी पूर्वक समझ सके और अपना ज्ञानार्जन कर सकें।

विशेष प्रशिक्षित शिक्षक-: क्षम बालक के अध्यापन कराने के लिए विशेष प्रशिक्षित शिक्षक का होना अति आवश्यक है। इसलिए विशेष रूप प्रशिक्षित शिक्षक ही अक्षम बाल की कठिनाईयों को अच्छी तरह से जान एवं समझ सकते हैं। इसलिए अक्षम बालक के अध्यापन कराने के लिए विशेष प्रशिक्षित शिक्षक का होना अतिआवश्यक हो जाता है।**समावेशी शिक्षा का महत्व:-**समावेशी शिक्षा प्रत्येक बच्चे के लिए उच्च और उचित उम्मीदों के साथ उसकी व्यक्तिगत शक्तियों का विकास करती है।समावेशी शिक्षा अन्य छात्रों को अपनी उम्र के साथ कक्षा के जीवन में भाग लेने और व्यक्तिगत लक्ष्यों पर काम करने हेतु अभिप्रेरित करती है।समावेशी शिक्षा बच्चों को उनके शिक्षा के क्षेत्र में और उनके स्थानीय स्कूलों की गतिविधियों में उनके माता पिता को भी शामिल करने की वकालत करती हैं।समावेशी शिक्षा सम्मान और अपनेपन की संस्कृति के साथ-साथ व्यक्तिगत मतभेदों को स्वीकार करने के लिए भी अवसर प्रदान करती है। समावेशी शिक्षा अन्य बच्चे अपने स्वयं के व्यक्तिगत आवश्यकताओं और क्षमताओं के साथ प्रत्येक का एक व्यापक विविधता के साथ दोस्तों का विकास करने की क्षमता विकसित करती है।

इस प्रकार कुल मिलाकर यह समावेशी शिक्षा समाज के सभी बच्चों को शिक्षा की मुख्यधारा से जोड़ने की बात का समर्थन करती हैं यह सही मायने में सर्व शिक्षा जैसे शब्दों का ही रूपांतरित रूप है जिसके कई उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है विशेष आवश्यकताओं वाले बच्चों की शिक्षा, लेकिन दुर्भाग्यवश हम सब इसके विस्तृत अर्थ को पूर्ण तरीके से समझने की कोशिश न करते हुए इन समावेशी शिक्षा का अर्थ प्रमुखता से केवल विशेष आवश्यकता वाले बच्चों की शिक्षा से ही लेने लगते हैं जो की सर्वथा ही अनुचित जान पड़ता है क्योंकि समावेशी शिक्षा का एक उद्देश्य विशेष आवश्यकता वाले बच्चों की शिक्षा से ही हो सकता है। इसका सम्पूर्ण उद्देश्य सभी का विकास है।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक स्कूल व सभी शिक्षा व्यवस्था में समावेशन की नीति को व्यापकता प्रदान करने की जरूरत है जिससे बच्चे, जीवन के हर क्षेत्र में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सकें तथा इस कार्य हेतु भारतीय संविधान, शैक्षिक कार्यक्रम व योजनाएँ, सरकारी एवं गैर सरकारी संगठन इत्यादि प्रयासरत प्रतिबिम्बित होती है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने वर्ष 2020 तक देश के सभी स्कूलों को (अक्षम एवं विकलांग बालकों के लिए विस्तृत योजना के निर्माण की घोषणा करते हुए) अक्षम मित्र बनाने की बात कही है।

निष्कर्ष:-

उपरोक्त अध्ययनोपरांत प्रस्तुत प्रपत्र से यह सार निरूपण होता है कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था, शिक्षा तथा समाज में अन्योन्याश्रित संबंध को दर्शाता है जिसके फलस्वरूप शैक्षिक वर्तमान परिदृश्य उतरोत्तर वृद्धि की ओर अग्रसर है तथा इस वृद्धि को सुचारू रूप से व्यवस्थित करने में समावेशी शिक्षा, अध्यापक शिक्षा हेतु एक एक ज़रूरी पहल है। समावेशी शिक्षा, अध्यापक शिक्षा कार्यक्रम के अंतर्गत एक अध्यापक को कुछ अतिरिक्त कौशल सीखने के अवसर प्रदान करते हैं ताकि वह विशिष्ट विद्यार्थियों की विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको तैयार कर सकें। यहाँ केवल इतना कहना समुचीनी होगा कि प्रस्तुत प्रपत्र दोनों तरह की शिक्षा व्यवस्था के समावेशन पर बल देती है। यथा- सामान्य शिक्षा व विशिष्ट शिक्षा अर्थात् सभी के लिए उपयोगी हो। इसके लिए प्राचीन धर्म ग्रंथ की पंक्ति- ''सर्वे भवन्तु सुखीनः' में भी सबको साथ लेकर चलने का भाव निहित है। तथा इन्हीं पंक्तियों को चरितार्थ करते हुए वर्तमान अध्यापक शिक्षा क्षेत्र में समावेशी शिक्षा का प्रासंगिक होना अपरिहार्य है।

****

सन्दर्भ सूची-

1. दास, अजय, अन्नामारिया जेरोम तथा सुषमा शर्मा, (2015), भारत में विकलांगता से ग्रस्त छोटे बच्चे: आरंभिक बाल्यावस्था शिक्षाप्रदाताओं के लिए अनिवार्य दशताएँ, आरम्भिक वर्षों की शिक्षा में विविधता, विशेषक आवश्यकताऐं तथा समावेशन, सेज भाषा, नई दिल्ली-44, पृष्ठ संख्या 186
2. कांडपाल, केवलानंद, (2013), समावेशन: चुनौती एवं समाधान, खोजें और जानें, वर्ष -2 अंक 7, उदयपुर (राजस्थान), पृष्ठ संख्या 4
3. ठाकुर, यतेन्द्र (2017), समावेशी शिक्षा, प्रथम संस्करण, अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा 02
4. राम (2014), समावेशी शिक्षा के मायने, खोजें और जानें, वर्ष-2 अंक 8, उदयपुर (राजस्थान), पृष्ठ संख्या 12
5. नारंग, डा0 सुनीता (2005), विशिष्ट शिक्षा की संकल्पना और उसका विषय क्षेत्र, कल्याणी पब्लिशर्ज, लुधियाना 48
6. शर्मा, डा0 सुषमा (2004), एकीकृत एवं समावेशी शिक्षा के प्रसार के उपाय, शिक्षक-प्रशिक्षण लेखमाला, आल इण्डिया कंफेडरेशन आफ दि ब्लाइंड, नई दिल्ली- 85, पृष्ठ सं0 49
7. 2005, एन0सी0एफ0- पृष्ठ संख्या 96

लॉकडाउन के दौर में दो प्रमुख हिंदी अखबारों की रिपोर्टिंग का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ कुंजन आचार्य,
प्रभारी विभागाध्यक्ष
पत्रकारिता एंव जनसंचार विभाग, मोहन लाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

निखिल शर्मा
शोध छात्र
पत्रकारिता एंव जनसंचार विभाग, मोहन लाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

परिचय:-सदी की सबसे बड़ी महामारी कोरोना ने दुनियाभर को प्रभावित किया। पूरी दुनिया के लगभग हर हिस्से पर कोरोना ने असर डाला। भारत में कोरोना ने पहली और दूसरी लहर में सबसे ज्यादा प्रभावित किया। इन दोनों लहरों में कोरोना ने देश के हर वर्ग पर असर डाला। इस दौरान कोरोना का विपरीत असर मीडिया इंडस्ट्री पर भी देखने को मिला। मीडिया इंडस्ट्री प्रभावित हुई तो इसका असर पत्रकारिता पर भी देखने को मिला। कोरोना की दोनों लहरों में लॉकडाउन के दौरान पत्रकारों को बेहद चुनौतिपूर्ण हालातों में रिपोटिंग करनी पड़ी। इसका असर अखबारों के कंटेंट पर भी देखने को मिला।

मीडिया इंडस्ट्री की बात करें तो लॉकडाउन और कोरोना का सबसे गहरा असर प्रिंट मीडिया इंडस्ट्री पर देखने को मिला। हमने देखा कि कोरोना काल में अखबारों से कोरोना फैलने के भय के चलते पाठकों ने अखबार लेना बंद कर दिया। इससे अखबारों के सर्कुलेशन में काफी कमी आई। विज्ञापन बंद होने का भी विपरीत असर अखबारों की वर्किंग पर दिखा। ऐसे दौर में पाठकों तक तमाम जानकारियां पहुंचाना भी पत्रकारों के लिए एक चुनौतिपूर्ण टास्क बन गया। ऐसे हालातों में अखबारों का कंटेंट एक विचार का विषय था।

हमने 2020 और 2021 में कोरोना की पहली और दूसरी लहर में दो महीने की रिपोर्टिंग की समीक्षा की। ये वो दौर था जब राजस्थान में कोरोना अपने पीक पर था। 2020 और 2021 में अप्रैल-मई महीनों में कोरोना से जुड़ी हर अपडेट पाठकों के लिए महत्वपूर्ण हुआ करती थी। राजस्थान के दो प्रमुख अखबार दैनिक भास्कर और राजस्थान पत्रिका की इन दो महीनों की रिपोर्टस का जब हमने विष्लेषण किया तो रिपोर्टिंग से जुड़े कई पहलू सामने आए। पेश है इन रिपोर्टस से जुड़ा विश्लेषण।

कोविड-19 और रिपोर्टिंग

कोविड-19 में रिपोर्टिंग की चुनौतियां:-कंटेंट की कमी - कोरोना काल के दौरान एक सबसे बड़ी चुनौती जो पत्रकारों और अखबारों के सामने थी वो थी कंटेंट की कमी। कोरोना काल के दौरान कोविड-19 को छोड़कर मीडिया के पास ज्यादा कुछ कंटेंट नहीं था। खासतौर से पहली लहर में मीडिया का अप्रोच पूरी तरह कोविड-19 के इर्द-गिर्द ही था। इसके चलते अखबारों में 80 से 90 प्रतिशत तक खबरें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कोरोना से ही जुड़ी हुई थी।

लॉकडाउन और कोविड- कोरोना काल के दौरान पत्रकारों के लिए बड़ी चुनौती बीमारी खुद और लॉकडाउन भी था। इस दौर में पत्रकारों को महामारी के साथ रहकर उससे बचाव करते हुए रिपोर्टिंग करनी पड़ी। ऐसे में पत्रकारों के सामने चुनौती थी कि किस तरह वे ग्राउंड पर जाकर खबरें जुटाए और खुद को संक्रमित होने से बचाए। खुद के संक्रमित होने के चलते उनके परिवार को भी संक्रमण होने का खतरा भी था। कई पत्रकार पहली और दूसरी लहर में संक्रमित भी हुए। ऐसे में पत्रकारों के लिए कोरोना के खतरे के साथ-साथ रिपोर्टिंग करना बड़ी चुनौती थी।

सैम्पल और वर्किंग - इस विश्लेषण के लिए हमने राजस्थान के दो प्रमुख अखबारों को चुना। इन्हें इनके सर्कुलेशन और रीडरशिप के आधार पर चुना गया। ये दोनों अखबार राजस्थान में सर्कुलेशल और रीडरशिप में प्रदेश के टॉप-2 अखबारों में शुमार किए जाते हैं। इस आधार पर दैनिक भास्कर और राजस्थान पत्रिका को लिया गया। इन अखबारों के 1 अप्रैल 2020 से 31 मई 2020 और 1 अप्रैल 2021 से 31 मई 2021 तक की प्रकाशित खबरों को चुना गया। इस दौरान दोनों अखबारों में राज्य स्तर से प्रकाशित हुई खबरों को चुना गया। इनमें फ्रंट पेज, प्रदेश पेज और प्रमुख शहरों के फ्रंट पेज पर प्रकाशित खबरों की समीक्षा की। दोनों लहरों में दो-दो महीने जब कोरोना चरम पर और लाकडाउन काफी प्रभावी था उस कालखंड की रिपोर्टिंग को बारीकी से समझा गया।

वो मुद्दे जो इस दौर में प्रमुख रहे

कोरोना की पहली लहर-कोविड-19 की पहली लहर में कोरोना सभी के लिए एक बिलकुल नया विषय था। ऐसे में मीडिया का पूरा फोकस इसे समझने और समझाने पर रहा। सबसे ज्यादा खबरें कोरोना पर ही हुई। इसके बाद जब देश में लॉकडाउन लगा तो उसपर खबरें की गई। मीडिया ने इसके अलावा लॉकडाउन को लेकर जागरुकता, कोरोना के मामले और कोरोना से होने वाली त्रासदी का कवरेज किया। इसके अलावा प्रवासी मजदूरों के घर लौटने का भी कवरेज किया गया।

कोरोना काल का कवरेज

पहली लहर : राजस्थान पत्रिका:-कोरोना संक्रमण और आंकड़े- कोरोना से जुड़े कवरेज में बीमारी से सम्बंधित हर आंकड़ा, उससे जुड़ी हर गतिविधि बताने पर मीडिया का फोकस रहा। कोरोना के आंकड़े लगातार बताए गए। कोरोना संक्रमितों के आंकड़ों को अलग ढंग से बताया गया। स्वास्थ्य पर पड़ने वाले इसके असर के अनुसार कोरोना के आंकड़ों को विभाजित कर बताया गया। दिल के मरीजों पर किस तरह कोरोना असर कर रहा है यह भी बताया गया। फेंफड़ों में संक्रमण किन कारणों से हो रहा है। मृत कोशिकाओं का क्या रोल है। इन सभी पर खबरें की गई। कोरोना संक्रमण और स्कीनिंग से जुड़े आंकड़ों में कई जिलों और प्रशासन के स्तर पर गड़बड़ियां हुई। उसे मीडिया में उजागर किया गया। ज्यादातर अप्रोच डराने वाला रहा।

लॉकडाउन और उसका असर- कोरोना संक्रमण से लड़ने में पहली लहर में भीलवाड़ा मॉडल काफी प्रच्चलित रहा था। खबरों में उसके फायदे बताए गए। ताकी राजस्थान के बाकी जिले उससे सीखकर खुद को बेहतर कर सकें। लाॅकडाउन के नियमों की पालना को लेकर भी खबरें की गई। किस तरह लॉकडाउन की धज्जियां उड़ाई गई। इसपर भी काम हुआ। कोरोना और लॉकडाउन का विपरित असर किस तरह दूसरी चीजों पर पड़ा। अन्य जानवर इससे कैसे प्रभावित हुए उसपर भी खबरें की गई।

कोचिंग स्टूडेंट्स देशभर से कोचिंग के लिए कोटा आते हैं। उनके घर पहुंचने से सम्बंधित कई खबरें की गई। शराब की दुकानें खुली, इसे लेकर कतारें लगी। उसे लेकर खबरें की गई। जहां सोशल डिस्टेंसिंग की धज्जियां उड़ी। वो भी दिखाया गया। प्रवासी मजदूरों का पलायन- पहली लहर में प्रवासी मजदूरों का पलायन ऐसा मसला था जिसने सबका ध्यान अपनी ओर खींचा। प्रवासी मजदूरों के पलायन को अच्छी और लाइव फोटोज के माध्यम से दर्शाया गया। पहाड़ी रास्तों को पार कर कैसे प्रवासी मजदूर अपने गांवों को पहुंच रहे हैं, ये बताया गया। मजदूरों के पास राशन की कमी है। इसे लेकर रिपोर्टिंग की गई। मजदूरों को कई जगह खाना मिलने में भी दिक्कतें आई। पलायन में श्रमिकों की दिक्कतों पर भी खबरें हुई। कोरोना के दौर में मनरेगा में होने वाले काम में कमी आई। इससे मजदूरों के रोजगार पर भी विपरीत असर पड़ा। उसे लेकर भी खबरें की गई। हजारों मजदूर कोरोना के दौर फंस गए। एक ओर जहां स्टूडेंट्स को निकालने के

लिए कई राज्य सरकारों और प्रशासन ने त्वरित व्यवस्थाएं दिखाई। वहीं मजदूरों को अपने घर पहुंचाने में वो फुर्ती नहीं दिखी। इसे लेकर भी खबरें की गई। किस तरह बसों-जीपों में भरकर, कुछ बाइक पर तो कुछ पैदल चलकर अपने-अपने गांवों को पहुंचे। मजदूरों के हालातों पर खबरें हुई। प्रवासी मजदूरों ने सड़कों पर किस तरह रातें गुजारी उसे लेकर भी खबरें की गई। राज्यों के बॉर्डर पर किस तरह हजारों प्रवासी और मजदूर अटके रहे, उसकी रिपोर्टिंग की गई। श्रमिकों का दर्द बताया गया। प्रवासी मजदूरों को अपने घर पहुंचने के लिए किस तरह की संगठित लूट का सामना करना पड़ रहा है। इसपर भी खबरें की गई। मजदूरों को किन-किन मुश्किलों का सामना कर अपने घर या गांव पहुंचना पड़ा। उन हालातों को बताने वाली खबरें और फोटोज किए गए। रेलवे स्टेशन और बस स्टैंड के हालात बताकर स्थिति दर्शाई गई। जब मजदूरों को नरेगा में काम मिला तो तपती धूप में विकट हालातों में उन्होंने किस तरह काम किया। इसपर खबरें की गई। हालांकि मजदूरों के हाल पर साधारण रिपोर्टिंग हुई। आंकड़ों के आधार पर, कितने-कहां मजदूर गए। कुछ खबरें की गई। जिनमें मजदूरों को समय पर नहीं भेजने और जब उद्योग धंधे चलाने की आवश्यक्ता पड़ी तब मजदूरों के बारे में सोचा गया। इस तरह की खबरें की गई। मजदूरों के हालातों पर खबरें तो की गई। मगर उन्हे लेकर सरकार और प्रशासन की जो लचर व्यवस्थाएं थी। उनपर बेहद मजबूती से सवाल नहीं उठाए गए। उनके हालात तो बताए गए। मगर प्रशासन को कटघरे में खड़ा नहीं किया गया। ऐसी आक्रामक खबरों की कमी रही जो प्रशासन और सरकार पर दबाव बना सकती थी। श्रमिकों पर लाठीचार्ज हुआ उसकी खबरें की गई। सिर्फ मजदूरों के आने, उनके पहुंचने की खबरें की गई। मई के महीने में लगातार प्रवासी मजदूरों, बाहर काम कर रहे कर्मचारियों, अपने घर से दूर पड़ रहे छात्रों पर खबरें की गई। विशेषतौर पर से प्रवासी मजदूर जिन्होंने अपने घरों के लिए पैदल ही पलायन किया उनके हालातों को दर्शाया गया।

मरकज रिपोर्टिंग- पहली लहर में मरकज से आए लोगों से हुए संक्रमण को लेकर रिर्पोटिंग की गई। उनसे फैले संक्रमण के बारे में रिपोर्ट की गई। जमाती लोगों से जुड़ी रिपोर्टिंग भी की गई।

पॉजिटिव स्टोरीज- कोरोना काल में जिन लोगों ने अलग-अलग ढंग से जरुरतमंद या पीड़ित लोगों की मदद की, उनकी खबरें लाई गई। पुलिस का मददगार चेहरा भी दिखाया गया। प्रशासन ने लोगों का किस तरह सहयोग किया और लोगों की मदद की इसपर भी खबरें हुई। भावुक तस्वीरें और फोटोज, इमोशनल एंगल से की गई। जवानों की स्थिति पर चर्चा की गई। मरीजों की रिकवरी पर भी खबरें की गई।

पहली लहर : दैनिक भास्कर

कोरोना और उसका खतरा -दैनिक भास्कर ने कोरोना का खतरा उजागर करने सम्बंधी कई खबरें प्रकाशित की। इनमें आखों-देखी, रियल इंटरव्यूज के माध्यम से यह बताया गया कि कोरोना कितना खतरनाक है। यह मैसेज देने की कोशिश की गई कि अगर ध्यान नहीं दिया गया तो यह कितना नुकसानदायक हो सकता है। कर्फ्यू सहित तमाम तरह की सख्ती को लेकर ताकतवर खबरें की गई। सरकार और प्रशासन को मैसेज दिए गए कि जरूरी कदम उठाए जाएं। रात में भी ग्राउंड रिपोर्टस की गई। बताया गया कि रात में सख्ती नहीं है ,जिससे लोग एक से दूसरी जगह जा रहे हैं। लोगों की लापरवाही को लेकर मजबूती से खबरें की गई। बताया गया कि किस तरह कुछ लोगों की लापरवाही से पूरी सोसायटी को खतरा हो सकता है। लोगों को सतर्क करने के लिए मास्ट हैड लगाकर कोरोना से बचाव और मास्क के प्रयोग को लेकर अपील की गई। प्रोग्रेसिव माइंडसेट के साथ भीड़ ना जुटाने और घर में रहने को ही सबसे बड़ा धर्म बताया गया। अच्छे कैरिकेचर, ग्राफिक्स के माध्यम से कोरोना का खतरा और इसकी गंभीरता बताई गई। कई रस्मों-रिवाजों से भी ज्यादा जरूरी कोरोना से सुरक्षा है। इसे लेकर अलग-अलग एंगल से खबरें की गई।

हैल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर और कमियां- कोरोना काल में हैल्थकेयर से जुड़े संसाधनों की कमी रही। इसे लेकर भास्कर ने लगातार सवाल खड़े किए। आवश्यक संसाधन डॉक्टर्स को उपलब्ध कराने में किस तरह की कमियां रही। इसपर खबरें की गई। कोरोना की जांचों में लापरवाही और ढिलाई को लेकर खबर की गई। विदेशों और बेहतर काम करने वाली संस्थाओं से तुलना कर स्थानीय प्रशासन और सरकार पर दबाव बनाया गया। इसके लिए जिलों के कलेक्टर, एसपी, विधायक, मंत्री और यहां तक की मुख्यमंत्री के भी इंटरव्यू किए गए।

पॉजिटिव अप्रोच- पत्रिका की हीं तरह भास्कर ने भी सकारात्मक माहौल तैयार करने की कोशिश की। कोरोना को मात देने वालों की खबरें की गई। 2.5 साल की छोटी बच्ची कोरोना से रिकवर हुई तो उसे फ्रंट पेज पर जगह दी गई। लोग किस तरह भोजन से लेकर दवा तक के लिए एक-दूसरे की मदद कर रहे हैं इसे लेकर स्टोरी की गई। कोरोना काल के दौरान जब रिकवरी बेहतर होने लगी तो उसे भी प्रमुख पृष्ठों पर जगह दी गई। इसका मकसद लोगों तक सकरात्मकता पहुचाना था। कोरोना पीड़ित मां ने स्वस्थ्य बच्चा जन्मा। इसपर विशेष खबरें की गई। ताकि लोगों में पैनिक पैदा ना हो। 92 साल के बुजुर्ग ने कैसे कोरोना को मात दी उसकी स्टोरी कर एक पॉजिटिविटी क्रिएट की गई।

कोविड-19 का असर और आंकड़े- कोरोना के आंकड़ों को समझाने वाले और बेहद अच्छे तरीकों से बताया गया। दुनियाभर में कोरोना की स्थिति से तुलना की गई। कोरोना संक्रमण से जुड़े ट्रेंडस को अलग-अलग एंगल से एनालिसिस कर पेश किया गया। राजस्थान में कौनसा जिला किस कैटेगरी में है। रेड, ऑरेंज, ग्रीन कैटेगरी में किस तरह से स्टेट विभाजित होगा। यह बताया गया। कोरोना के आंकड़ों का अलग-अलग ढंग से बेहद शानदार एनालिसिस किया गया। बेहतरीन ढंग से उम्र के अनुसार कोरोना संक्रमण का विवरण दिया गया।

जिम्मेदारों से सवाल और कनेक्ट करने वाली स्टोरी- भास्कर पाठकों के सवाल, मुख्यमंत्री रोज देंगे जवाब। भास्कर ने यह एक सीरीज चलाई। जिसमें मुख्यमंत्री ने कोरोना से जुड़े आम लोगों के तमाम तरह के सवालों के जवाब दिए। यह कोरोना के दौर में एक बेहद मददगार सीरीज साबित हुई। लोगों को सरकार से एक किस्म का जुड़ाव महसूस हुआ। कोरोना की सैम्पलिंग में जो कमियां थी उन्हें लेकर सरकार और प्रशासन को अवगत कराया गया। कोरोना का आर्थिक असर क्या हो सकता है। इसपर भी खबरें हुई। कोरोना और लॉकडाउन कैसे अर्थव्यवस्था पर असर डालेगा। इसपर खबरें की गई। किस क्षेत्र से कितने मरीज हैं। इसे अलग-अलग जगहों के अनुसार बताया गया।

प्रवासी मजदूर और पलायन- पहली लहर के दौरान प्रवासी मजदूरों की स्थितियों को बेहतरीन ढंग से पेश किया गया। मजदूरों को अपने घरों तक ले जाने की सही व्यवस्थाएं नहीं की गई थी। इसपर सवाल उठाया गया। यह बताया गया कि जब कोचिंग के छात्रों को व्यवस्थित ढंग से ले जाया जा रहा है तो मजदूरों को क्यों नहीं। इसपर सवाल उठाए गए। "हमारे पास भी हैडलाइन के शब्द नहीं है" जैसी हैडलाइन देकर प्रवासियों के दर्द की हद को बताया गया। लोगों के बीच कनेक्टिंग अप्रोच बनाया गया। शहरी और ग्रामीण इलाकों की अलग से रिपोर्टिंग की गई। कोरोना को अलग-अलग ढंग से एनालिससिस किया गया।

आउट ऑव द बॉक्स कवरेज- सिर्फ कोरोना के आंकड़े और उनकी चिंताजनक खबरों के अलावा भी भास्कर ने रिपोर्टिंग की। कई ऐसे मसलों को लाकर भास्कर ने लोगों के सामने रखा जिनपर किसी का ध्यान नहीं जा रहा था। भास्कर ने बेहतरीन ढंग से कोरोना काल में

सेनेटरी पैड्स को लेकर खबर की। राशन तो पहुंच रहा मगर सैनेटरी पैड्स कहां से पहुंचाएं इस मुद्दे को लाया गया। ऐसे मसलों पर खबर कर ध्यान आकर्षित किया गया। सैनेटरी पैड्स स्कूल की बोरियों में बंद पड़े थे यह बताया गया। इसी तरह जो दृष्टिबाधित लोग हैं। उन्हें कैसे दिक्कतें आई। ऐसे मसलों पर लीक से हटकर खबरें की गई। ऐसे लोगों के लिए स्पर्श और सहारा ही सबसे बड़ी मजबूती होती है। मगर कोरोना काल में यह छिन गया। इसे लेकर शानदार स्टोरी की गई।

कोरोना : दूसरी लहर

दूसरी लहर : दैनिक भास्कर-दूसरी लहर के शुरुआती दिनों में कोरोना महामारी चौंकाने वाली नहीं थी। मामले बढ़ रहे थे मगर क्योंकि एक साल पहले कोरोना आ चुका था। तो कवरेज भी उसी तरह से हुई। मगर जैसे ही कोरोना की रफ्तार तेजी से बढ़ी और पहली लहर के मुकाबले संक्रमित तेजी से बढ़ने लगे। इसके बाद कवरेज की दिशा बदली। खास तौर से दूसरी लहर में मौतें तेजी से हुई। वहीं दूसरी लहर में ही हैल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर को लेकर सवाल खड़े हुए।

वैक्सीनेशन - अगर हम भास्कर की बात करें तो भास्कर ने इस दौर के हर पहलू पर रिपोर्टिंग की। दूसरी लहर के शुरुआती दिनों में लोगों को कोरोना वैक्सीन लगनी शुरू हो गई थी। ऐसे में कोरोना के साथ-साथ वैक्सीनेशन का कवरेज किया गया। तेजी से बढ़ रहे मरीजों के ग्राफ पर ध्यान दिलाने के लिए अलग ढंग से आंकड़े पेश किए गए। भास्कर ने कोरोना के आंकड़े और वैक्सीन के आंकड़ों को डेली बेसिस पर अनूठे ढंग से बताया गया। रोजाना की टेबल प्रस्तुत की गई।

उपचुनाव- दूसरी लहर के दौरान राजस्थान में 3 सीटों पर उपचुनाव भी थे। ऐसे में उसके कवरेज को भी प्रमुखता से जगह दी गई। उपचुनाव को लेकर जब नेताओं-मंत्रियों ने कोरोना गाइडलाइंस तोड़ी, नियम-कायदों की धज्जियां उड़ाई तो भास्कर ने उन्हें प्रमुखता से छापा। चुनावी रैलियों पर प्रतिबंध नहीं लगाने को लेकर सवाल उठाए गए। जिस भी मंत्री नेता ने नियम तोड़े उन्हें कठघरे में खड़ा किया गया। मंत्रियों ने किस तरह अपने जिलों के दौरे किए बिना ही अपने कामों में लापरवाही की। इसपर स्टोरीज की गई।

सतर्कता- कोरोना के दौर में मास्क कितना जरूरी है इसे अनूठे अंदाज से लोगों को बताया गया। पब्लिक प्लेस पर मास्क की विशाल तस्वीरें लगी। अखबार के मास्ट हैड मास्क के रूप में कन्वर्ट हो गए।

अप्रैल के दूसरे सप्ताह तक जब मामले बढ़ने लगे और लॉकडाउन जैसी कोई सख्ती नहीं हुई तो भास्कर ने आगे रहकर कोरोना के विकट हालातों को दर्शाते हुए सख्त फैसले लेने की बात कही। इसके लिए ताकत से जिम्मेदारों को उनकी जिम्मेदारी का अहसास कराया गया।

हैल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर- दूसरी लहर में केस तेजी से बढ़ने लगे तो अस्पतालों में बैड कम पड़ने लगे। प्रदेश के सबसे बड़े अस्पताल में बरामदों में बैड लगाने पढ़े। इसे लेकर ताकतवर कवरेज की गई। लोगों को कोरोना की गंभीरता का एहसास कराने के लिए लाइव केसेज सामने रखे गए। मैसेज दिया गया कि अब भी अगर सतर्कता नहीं बरती गई तो ऐसी स्थिति आपकी भी हो सकती है।

दूसरी लहर का पीक राजस्थान में मई के महीने में आया। इस दौर तक आते-आते राजस्थान का हैल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर भी जवाब दे गया। ऐसे में ऑक्सीजन की कमी, सिलेंडर्स की कमी, खराब वैंटीलेटर, आईसीयू बैड्स की कमी से लोगों को जूझना पड़ा। इन हालातों पर भास्कर ने ताकत से कवरेज किया। ऑक्सीजन नहीं मिलने से प्रदेश के अस्पतालों में जो मौतें हुई। उन्हें लेकर ताकतवर खबरें हुई। हैल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर की कमी किस तरह हुई उसे लेकर रिपोर्टिंग की गई। ऑक्सीजन सिलेंडर, इंजेक्शन की कालाबाजारी करने वालों पर आपराधिक मुकदमे दर्ज हों उसके लिए खबरें की गई। वैंटीलेटर पर भी मौतें हो रही हैं। उसपर सवाल उठाया गया। डॉक्टर्स और मेडिकल स्टाफ के लिए इक्वीपमेंट की कमी रही। उसके लेकर खबरें की गई। बताया गया कि डाक्टर्स और नर्सिंग स्टाफ के पास मास्क जैसे जरूरी उपकरण तक नहीं है।

ऑक्सीजन की कमी- दूसरी लहर में ऑक्सीजन की कमी सबसे महत्वपूर्ण मसला था। पूरे देश ने इस कमी को महसूस किया। हर प्रदेश, हर जिले और कस्बे में लोगों को इसकी समस्या से जूझना पड़ा। भास्कर ने इस मसले को प्रमुखता से छापा। ऑक्सीजन की उपलब्धता, उसके प्रोडक्शन सहित हर पहलू को गंभीरता से लोगों के सामने रखा गया। ऑक्सीजन सिलेंडर, वैंटिलेटर, आईसीयू बैड की कमी ने राजस्थान में लोगों के लिए मुश्किलें खड़ी की। इसे भी भास्कर ने बखूबी दिखाया। कोरोना की गंभीरता को उसकी रफ्तार से बताया गया। ऑक्सीजन की कमी से बिगड़े हालात सामने रखे गए। ऑक्सीजन की सप्लाई में केंद्र सरकार से राजस्थान के साथ भेदभाव किया गया। इसपर भास्कर ने प्रमुखता से खबर छापी। रेमडेसिविर के इंजेक्शन बेचते लोग पकड़े गए। इसे पब्लिश किया गया। रेमडेसिविर की कालाबाजारी, उसकी कमी के चलते आई दिक्कतें और लोगों की मजबूरी पर मजबूती से खबरें की गई।

पॉजिटिविटी- कोरोना के इस भयंकर तांडव में लोगों में विश्वास और हिम्मत दिलाने वाली खबरें भी की गई। इस भयानक दौर में जिन लोगों ने हिम्मत से लड़कर कोरोना से जंग जीती। उनकी कहानियों को प्रस्तुत किया गया। लोगों के सामने रिपोर्टस में उनके किस्से छापे गए। दूसरी लहर की तबाही के बाद पॉजिटिव खबरें भी की गई। बताया गया कि कोरोना धीरे-धीरे कम हो रहा है।

मौत के आंकड़ों पर सवाल- दूसरी लहर में मौतों की संख्या तेजी से बढ़ी। हर तरफ मौतों की चित्कार सुनाई दे रही थी। इस बीच जो आंकड़े सरकार और प्रशासन की ओर से जारी किए गए वो सच्चाई से अलग थे। ऐसे में मौतों के आंकड़ों को लेकर सवाल उठाने वाली खबरें हुई। सरकार, स्थानीय प्रशासन ने जो आंकड़े बताए उन्हें वास्तविक आंकड़ों से गलत साबित किया गया। शमशान स्थलों से आंकड़े जुटाकर खबरें की गई। गांवों में अर्थियां कितनी उठी उस आधार पर सरकारी आंकड़ों से तुलना कर उनका फर्जीवाड़ा उजागर किया गया। पूरे राज्य से भास्कर स्टेट की टीम ने अलग-अलग इलाकों से रिपोर्टिंग कर सच्चाई को सामने रखा।

वैक्सीन की बर्बादी और ब्लैक फंगस- कोरोना की भयावहता को अलग ढंग से कवर किया गया। आंकड़ों का प्रजेंटेशन कलैंडर के रूप में दिया गया। बताया गया कि कोरोना से मौतों ने हालात कैसे पैदा कर दिए हैं। गांवों के हालातों पर अलग से खबरें की गई। डायबिटिक रोगियों पर कोरोना कैसे असर डाल रहा इसकी अलग से खबर की गई। ब्लैक फंगस को लेकर भी खबरें की गई। बताया गया कि किस तरह ब्लैक फंगस लोगों की जिंदगियां छीन रहा है। कोरोना से मौत के बावजूद कर्मचारियों की मात को रूटीन से जोड़कर उन्हें मुआवजे से महरूम रखा गया। इस तरह के मसलों पर भी खबरें हुई। वैक्सीन की बर्बादी पर ताकतवर खबरें की गई। पूरे राज्य के कई वैक्सीन सेंटर पर जाकर वहां से वैक्सीन के वॉयल बरामद किए गए। बताया गया कि हजारों डोज बर्बाद हो रही हैं। सरकार को कटघरे में खड़ा किया गया। इसका काफी गहरा असर पड़ा।

दूसरी लहर : राजस्थान पत्रिका -दैनिक भास्कर की ही तरह राजस्थान पत्रिका ने भी दूसरी लहर में लगभग तमाम मसलों को छुआ। दूसरी लहर में पत्रिका ने भी कुछ खबरें अलग से की। कोरोना के दौरान स्टार्टअप्स को किस तरह से नुकसान हुआ इसपर खबरें की गई। विदेशों से पढ़ाई करने वाले छात्रों के संकट को लेकर भी सवाल उठाया गया।

उपचुनाव- दूसरी लहर के दौरान उपचुनाव में नेताओं के बिना मास्क

की तस्वीरें छापकर सवाल उठाया गया। कोरोना गाइंडलाइंस की पालना नहीं करने वाले नेताओं सहित अन्य लोगों पर स्टोरी की गई। उपचुनाव को लेकर जिस तरह का माहौल था। उसे कोरोना के खतरे से जोड़ते हुए खबरें की गई। चुनाव के दौरान वैक्सीन के डिस्ट्रिब्यूशन को लेकर सवाल उठे। उसपर मजबूत खबरें की गई।

हेल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर- वैक्सीन को लेकर केंद्र और राज्य सरकारों में जो आरोप-प्रत्यारोप हुए उन्हें कवर किया गया। खराब हैल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर, संसाधनों की कमी जैसी चीजों पर खबरें हुई। ऑक्सीजन सिलेंडर्स की कमी पर खबरें हुई। अस्पतालों में बैड की कमी और कोरोना की भयावहता पर खबरें की गई। ऑक्सीजन सप्लाई बंद होने से जानें गई। तस्वीरों से ऑक्सीन की कमी से जुड़े हालात बताए गए। पीएम केयर से मिले खराब वैंटिलेटर्स पर स्टोरी की गई। शमशानों के हालात बताकर कोरोना की गंभीरता बताने की कोशिश की। मगर यह डराने वाला ज्यादा था। कोरोना के दौर में जो भ्रष्टाचार हुआ। जो रिश्वतखोरी हुई। उसपर खबरें की गई। जैसे ही स्थितियां सुधरने लगी पॉजिटिव खबरें की गई।

पत्रिका ने खुद आईसोलेशन सेंटर शुरू किए-दूसरी लहर के दौरान जब पूरे देश में स्थितियां बेहद खराब थी। कोरोना अपने पीक पर था। तब पत्रिका ने खबरों से इतर सामाजिक सरोकार का एक बड़ा प्रयास किया। पत्रिका ने कुछ राज्यों में आईसोलेशन सेंटर शुरू किए। खबरों से इतर ये एक अलग प्रयास था। इनकी मदद से लोगों को आईसोलेट करने और उन्हें जरुरत की चीजें मुहैया कराने में मदद मिली।

हेल्थ सिस्टम की खामियों को उठाया- दूसरी लहर के पीक के दौरान पत्रिका ने आरटीपीसीआर टेस्ट में रिपोर्ट की विश्वसनीयता को लेकर भी खबरें की। उपचुनावों के परिणाम की खबरें की गई। कोरोना के दौर में निजी अस्पतालों में भारी लूट हुई, इसपर भी खबरें की गई। अस्पताल और निजी संस्थानों की गड़बड़ियों पर खबरें की गई। चिंरजीवी योजना के बावजूद लाखों रुपए की वसूली किस तरह निजी अस्पताल कर रहे हैं, इसे खबरों के माध्यम से बताया गया। कोरोना काल में हुई रिश्वतखोरी, दलाली पर खबरें हुई। इंजेक्शन घोटालों से जुड़ी खबरें हुई।

ग्रामीण क्षेत्रों में कोरोना की स्थिति का जायजा- प्रदेशभर में कोरोना से किस तरह के हालात थे, उनपर जिलेवार रिपोर्टिंग की गई। प्रदेशभर की सीएचसी से रिपोर्टिंग कर बताया गया कि छोटे इलाकों में किस तरह की स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध हैं।फ्री वैक्सीन के बाद भी वैक्सीन की उपलब्धता नहीं होने से लोगों को दिक्कतें आई। इससे सामने रखा गया। ग्रामीण इलाकों से खबरें हुई। डॉक्टर और नर्सिंगकर्मियों के नहीं होने से झोलाछाप के चक्करों में लोगों के फंसने पर खबरें की गई। कोरोना के झूठे आंकड़ों पर कुछ खबरें की गई। मगर इन्हें मजबूती से प्रस्तुत कर जिम्मेदारों से सवाल नहीं किए गए। तीसरी लहर के चलते बच्चों को होने वाले नुकसान की संभावनाओं को लेकर स्टोरी।

धर्मस्थलों को लेकर अजीबो गरीब रिपोर्टिंग- कोरोना बीमारी के खतरे के चलते मंदिरों सहित धार्मिक स्थल लॉकडाउन में बंद थे। उन्हें खोलने को लेकर खबर की गई। उन हालातों में ऐसी खबरों ने सोचने पर मजबूर किया। मंदिरों को खोलने को पॉजिटिविटी से जोड़ने की कोशिश की गई। मगर एक ओर जहां भास्कर ने प्रोग्रेसिव माइंटसेट के साथ तमाम तरह के धार्मिक स्थलों के बंद रखकर कोरोना से निपटने की बात कही। वहीं दूसरी ओर पत्रिका में मंदिरों को खोलने जैसी खबरों ने विपरीत चर्चाएं बटोरी।

निष्कर्ष-कोरोना काल की पहली और दूसरी दोनों ही लहरों में दैनिक भास्कर और राजस्थान पत्रिका दोनों प्रमुख अखबारों ने अच्छी रिपोर्टिंग की। दोनों अखबारों ने कोरोना शुरू होने से लेकर इसका असर कम होने तक लगातार इस मसले पर नजर बनाए रखी। लोकल से लेकर प्रदेश स्तर तक दोनों ही अखबारों ने इससे जुड़ी कम से कम हर बेसिक जानकारी अपने पाठकों तक पहुंचाई। इसमें संक्रमण के आंकड़े, मौत के आंकड़े, पॉजिटिविटी दर, वैक्सीन की उपलब्धता, संक्रमण का ट्रेंड, जिलों और प्रदेशों की स्थिति सहित तमाम जरूरी जानकारियां लगातार प्रकाशित की। दोनों ही अखबारों ने अपनी खबरों से पाठकों को अपडेट रखने का काम किया।

पॉजिटिव स्टोरीज -कोविड-19 और लॉकडाउन से जुड़ी जरूरी जानकारियों के अलावा दोनों ही अखबारों ने इस दौर में पॉजिटिव रिपोर्टिंग पर भी काफी ध्यान दिया। कोरोना के उस दौर में जब लगातार फैल रहे संक्रमण, तेजी से हो रही मौतें और हैल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर धरातल पर आ जाने के दौर में सकारात्मक खबरें की गई। दोनों अखबारों ने उन बुजुर्गो, बच्चों और महिलाओं के किस्से प्रकाशित किए जिन्होंने विपरीत परिस्थिति में कोरोना से जंग लड़कर जीती। उन कोरोना वॉरियर्स की कहानियां प्रकाशित की जो तमाम चुनौतियों के बावजूद लगातार कोरोना से लड़कर समाज को बचाने में योगदान दे रहे थे। भास्कर ने इन सकारात्मक खबरों को अनूठे अंदाज में प्रकाशित किया। वहीं पत्रिका ने अपने सामान्य अंदाज में इसे पाठकों को परोसा। मगर दोनों ही अखबारों ने लोगों में खौफ कम करने और हिम्मत और जज्बा पैदा करने के मकसद के साथ पॉजिटिव रिपोर्टिंग की।

कंटेंट-पहली और दूसरी लहर के कंटेंट की बात करें तो दोनों अखबारों का ट्रैंड एक जैसा दिखाई पड़ा। पहली लहर में जहां कोरोना एक नया सब्जैक्ट था और बहुत ही सख्त लॉकडाउन लगा था। इसके चलते अखबारों में कंटेंट के नाम पर सिर्फ कोरोना से जुडी जानकारियां और खबरें ही थी। पहली लहर के दौरान सिर्फ आवश्यक सुविधाओं को छोड़ तमाम गतिविधियां बंद हो गई थी। ऐसे में अखबारों में सिर्फ कोरोना से जुड़ा कंटेंट ही पड़ने को मिल रहा था। इसका असर अखबारों की पृष्ठ संख्या पर भी दिखा। सीमित कंटेंट हो जाने से अखबारों ने अपने पृष्ठ कम कर लिए थे। वहीं इसके विपरीत दूसरी लहर के ज्यादा मारक होने के बावजूद कंटेंट को लेकर वैरायटी अखबारों में देखने को मिली। चूंकी दूसरी लहर में पहली लहर जैसा लॉकडाउन नहीं था। ऐसे में कई दूसरी गतिविधियां भी चल रही थी। इसके चलते पहली लहर की तरह अखबारों में सिर्फ कोरोना की कवरेज नहीं थी। इसके अलावा राजस्थान में उपचुनाव, अपराध, विभागीय उठापटक और दूसरी हैपनिंग्स भी इस दौर में थी। इन घटनाओं को भी कोरोना से जुड़े कवरेज के साथ-साथ दोनों अखबारों ने जगह दी। इसी का असर रहा कि दूसरी लहर में अखबारों की ना तो पृष्ठ संख्या कम हुई ना ही एक ही तरह की खबरें पढ़ने को मिली। ऐसा दोनों अखबार दैनिक भास्कर और राजस्थान पत्रिका के साथ देखने को मिला।

सरकार पर दबाव -कोरोना की दोनों लहरों में स्वास्थ्य सुविधाओं से जुड़ी कई खामियां निकल कर आई। इन खामियों को दोनों अखबारों दैनिक भास्कर और राजस्थान पत्रिका ने प्रस्तुत किया। हैल्थ इंफ्रास्ट्रक्चर से जुड़ी कमियों को लगातार पाठकों के सामने रखा गया। मगर किसी भी मसले को लेकर जितनी मजबूती से भास्कर ने प्रशासन और सरकार पर दबाव बनाया। उतनी मजबूती से पत्रिका दबाव नहीं बना पाया। भास्कर ने ऑक्सीजन की कमी, अस्पतालों में बैड की कमी, मजदरों के पलायन, संक्रमण और मौतों के आंकड़ों की सच्चाई पर मजबूती से खबरें की। हर मसले पर प्रशासन और सरकार से सवाल किए। ताकतवर अभियान चलाकर सरकार को कटघरे में खड़ा किया। वहीं दूसरी ओर पत्रिका ने खबरें तो की मगर इतनी मजबूती से सरकार से सवाल नहीं खड़े किए।

1. **ग्रामीण इलाकों की रिपोर्टिंग -**कोरोना काल में लॉकडाउन और महामारी से जुड़े खबरें अलग-अलग क्षेत्रों से की गई। बड़े शहरों से रिपोर्टिंग हुई तो छोटे कस्बों और गांवों को भी कवर

संभाग और जिला स्तर के बड़े अस्पतालों के हालात बताए गए तो सीएचसी और पीएचसी की भी स्थितियां दर्शाई गई। मगर ग्रामीण इलाके की रिपोर्टस प्रस्तुत करने में राजस्थान पत्रिका बेहतर रहा। पत्रिका ने भास्कर के मुकाबले ज्यादा प्रभावी ढंग से ग्रामीण इलाकों से रिपोर्टिंग की। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सुविधाओं की उपलब्धता और वहां के हालातों को ठीक उसी तरह दर्शाया जिस तरह शहरी इलाकों से रिपोर्टिंग हो रही थी। ग्रामीण इलाकों में भी कोरोना के फैलाव और उसके ट्रेंड की विस्तारपूर्वक रिपोर्टिंग राजस्थान पत्रिका ने की।

निजी अस्पतालों पर रिपोर्टिंग-कोरोना काल के दौरान लोगों को निजी अस्पतालों में भारी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। निजी अस्पतालों में कभी बैड की अनुपलब्धता तो कभी ऑक्सीजन और रेमडेविसियर की कमी पड़ी। इसके अलावा निजी अस्पतालों से लोगों को लूटने की भी कई जानकारियां सामने आई। उस दौर में कई निजी अस्पतालों ने खुलकर पैसे बटोरे। लोगों को निजी अस्पतालों में काफी परेशानियां झेलनी पड़ी। मगर दोनों ही अखबार राजस्थान पत्रिका और दैनिक भास्कर में निजी अस्पतालों को लेकर रिर्पोटिंग नहीं हुई। कुछ एक खबरों को छोड़ दिया जाए तो दोनों अखबारों ने निजी अस्पतालों की कालाबजारी और मनमर्जी को एक्सपोज नहीं किया। इसके पीछे की वजहें और कारण कई हो सकते हैं। मगर दोनों लहरों की रिपोर्टिंग में निजी अस्पतालों पर सवाल खड़े करती रिपोर्टिंग दोनों ही प्रमुख संस्थानों से नजर नहीं आई।

प्रोग्रेसिव रिपोर्टिंग -कोविड-19 पिछले 100 साल में भारत में आई सबसे बड़ी महामारी थी। इस महामारी ने भारत सहित उपमहाद्वीप में मेडिकल साइंस और तकनीक की महत्ता को दर्शाया। ऐसे में इस दौर में मीडिया से प्रोग्रेसिव रिपोर्टिंग की आवश्यक्ता थी। मगर दोनों लहरों के दौरान दैनिक भास्कर और राजस्थान पत्रिका से कोई खास प्रोग्रेसिव माइंडसेट के साथ की गई रिपोर्टिंग देखने को नहीं मिली। भास्कर ने जरूर कुछ ऐसे मसलों को छुआ जो समाज में अब भी टैबू हैं। कुछ अच्छी खबरें भास्कर ने की। मगर राजस्थान पत्रिका इस तहर की पत्रकारिता से दूर रहा। इसके विपरीत पत्रिका में तो कुछ ऐसी खबरें भी हुई जिनमें कौरोनों के दौर में मंदिरों और धार्मिक स्थलों को पाजिटिव एनर्जी से जोड़कर उनके द्वार खोलने की मांग की गई। प्रोग्रेसिव माइंडसेट के विपरीत भी कई खबरें हुई। ओवरऑल बहुत ज्यादा प्रगतिशील रिपोर्टिंग इस दौर में दोनों सस्थानों से देखने को नहीं मिली।

****

संदर्भ

1. दैनिक भास्कर : 1 अप्रैल 2020 से 31 मई 2020 तक राजस्थान के प्रदेश संस्करण की तमाम खबरें।
2. राजस्थान पत्रिका : 1 अप्रैल 2020 से 31 मई 2020 तक राजस्थान के प्रदेश संस्करण की तमाम खबरें।
3. दैनिक भास्कर : 1 अप्रैल 2021 से 31 मई 2021 तक राजस्थान के प्रदेश संस्करण की तमाम खबरें।
4. राजस्थान पत्रिका : 1 अप्रैल 2021 से 31 मई 2021 तक राजस्थान के प्रदेश संस्करण की तमाम खबरें।

बाबा साहब डॉ.भीम राव अम्बेडकर जी के सामाजिक विचार

डॉ. भीमराव अम्बेडकर मूलतः एक समाज सुधारक अथवा समाजिक चिंतक थे। वह हिन्दु समाज द्वारा स्थापित समाजिक व्यवस्था से काफी असंतुष्ट थे और उन में सुधार की मांग करते थे ताकि सर्व धर्म सम्भाव पर आधारित समाज की स्थापना की जा सके। अम्बेडकर ने अस्पृश्यता के उन्मूलन और अस्पृश्यों की भौतिक प्रगति के लिए अथक प्रयास किय । वे 1924 से जीवन पर्यन्त अस्पृश्यों का आंदोलन चलाते रहे। उनका दृढ विश्वास था कि अस्पृश्यता के उन्मूलन के बिना देश की प्रगति नहीं हो सकती। अम्बेडकर का मानना था कि अस्पृश्यता का उन्मूलन जाति-व्यवस्था की समाप्ति के साथ जुड़ा हुआ है और जाति व्यवस्था धार्मिक अवधारणा से संबद्ध है। समाजिक सुधारों को प्रमुखता समाज सुधार हमेशा डॉ. अम्बेडकर की प्रथम वरीयता रही। उनका विश्वास था कि आर्थिक और राजनीतिक मामले समाजिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति के बाद निपटाये जाने चाहिए। अम्बेडकर का विचार था कि अर्थिक विकास सभी समाजिक समस्याओं का समाधान कर देगा। जातिवादी हिंदुओं की मानसिक दासता की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार जातिवाद के पिशाच/बुराई के निवारण के बिना कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। हमारे समाज में क्रांतिकारी बदलाव के लिए समाजिक सुधार पूर्व शर्त है समाजिक सुधारों में परिवार व्यवस्था में सुधार और धार्मिक सुधार भी शामिल हैं परिवार सुधारों में बाल विवाह जैसे कुप्रथाओं की समाप्ति भी शामिल है। अम्बेडकर ने भारतीय समाज में महिलाओं की गिरती स्थिति की कटु आलोचना की उनका मानना था कि महिलाओं को पुरूषों के समान अधिकार मिलने चाहिए और उन्हें भी शिक्षा का अधिकार मिलना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि हिंदू धर्म में महिलाओं को सम्मति के अधिकार से वचिंत रखा गया है। हिंदू कोड बिल जो उन्होंने ही तैयार करवाया था उन्होने यह ध्यान रखा कि महिलाओं को भी सम्पति में एक हिस्सा मिलना चाहिए। उन्होंने अस्पृश्यों को संगठित करते समय अस्पृश्य समुदाय की महिलाओं का आगे आने के लिए सदैव आहवान किया कि वे राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों में भाग ले।

डॉ. भीम राव अम्बेडकर जाति प्रथा के कट्टर विरोधी थे। जाति प्रथा का विरोधी होने का मुख्य कारण उनके स्वयं का भुक्त भोगी होना था वह जाति प्रथा को वर्ण व्यवस्था का आधुनिक और घृणित रूप मानते थे क्योंकि समयानुसार वर्ण व्यवस्था में जटिलता आ गई और उसने जाति प्रथा का रूप धारण कर लिया था। अब व्यक्ति को उसके कार्यों की अपेक्षा जाति से जाना जाने लगा था। जहां समान जाति की उपजातियों के लोगों में भोजन, सदाचार व्यवसाय की समानता होने से विवाह सम्बन्धों की स्थापना हुई और उसने जाति व्यवस्था को मजबूती एवं स्थायित्व प्रदान किया। डॉ। भीम राव अम्बेडकर ने जाति प्रथा के विरोध के निम्नलिखित कारण बताए--

1. यह प्रथा निम्न वर्गों के लोगों के गुणों एवं प्रतिमा की उपेक्षा करती है। 2. जति प्रथा अंतजातीय विवाह सम्बधों का बहिष्कार करती हैं।
3. यह समाज में विद्यमान विभिन्न जातियों में परस्पर द्वेष और तनाव को पैदा करती है।
4. यह व्यवस्था प्रजातन्त्र विरोधी है क्योंकि प्रजातन्त्र में समानता स्वतन्त्रता न्याय और बंधुत्व पर बल दिया जाता है।

डॉ. अम्बेडकर ने जाति प्रथा को मानवीय विरोधी माना क्योंकि यह निम्न वर्गों को घृणित और अमानवीय कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। इन्ही आधारों पर डॉ. भीम राव अम्बेडकर ने जाति प्रथा का विरोध किया।

****

The changing discourse of Subalterns: From subordination to dominance

Dr. Bidisha Ghosh Dastidar
PrincipalBanipur Mahila Maha-vidyalaya, Banipur Habra, North 24 Parganas, West Bengal

Bikram Ghosh
State Aided College Teacher, Department of Botany and Environmental Science, Banipur Mahila Mahavidyalaya, Banipur, Habra,

Jayini Bhaumik
Ph.D. Research Scholar
Department of English, Central University of South Bihar, Gaya, Bihar

Abstract: Subaltern means people of lower status or from the degraded and underdeveloped sections of society. The Sundarbans, a land of 18 river delta areas with brackish water, deep mangrove forests, and the ferocious wild beasts in the south of Bengal, have a vibrant lifestyle. The subalterns of Sunderbans earn their livelihood by catching crabs and fishes from the brackish water and collecting honey from the forest. The honey collectors are known as Moule. A recent Bengali novel expresses the tale of a unique story of a battlefield, which is a live documentation of the subalterns of Sunderbans. Sundarbans is a huge depository of different kinds of honey which provides livelihood to the extremely poor moules. Under the umbrella of a corrupt administration and political leaders, thousands of bee-keepers working for corporate companies gather in the court-yard of Sunderbans with their pet bee boxes, which creates a battle with the Moules. Churni a girl of a poor moule family fought against these powerful people and saved Sunderbans from overexploitation of its natural resources.

Keywords: Subaltern, Sunderbans, endemic bees, moule, honey collectors, battle.

The literal meaning of the word 'Subaltern' is -

1.People of lower status;

2.People from the degraded and underdeveloped sections of society.

History and ancient literature, and scriptures have either completely avoided the lower caste people or tried to contempt, oppress, and subjugate them. The source of power has always been concentrated in the hands of the "upper class" or the people who are high on the scale of economic, educational, and social status, and on the contrary, the lower-class people or socio-economically disadvantaged people are forced to submit to their hegemony. Indian society is a prime example of an economically stratified society, coupled with caste-related empowerment.Social history of India written from a colonial perspective, interprets the various activities, assessment of the character of indigenous people, and arguments for empowerment from their viewpoint, which is challenged by the construction of the social structure of Dalits. The exploited and oppressed people, their protest strategies and their contribution to the social formation, analysis of the impact of subjugation from their perspective, and re-reading and re-evaluation of history have given birth to new theories about the lower class.The term Subaltern is the name of a relationship. At every level of society beyond state power or political power or the layer upon layer of embedded power structures lie these relationships. Along with the theoretical discussions about Subalterns, the voices of the lower classes are expressed and spoken through literature and other creative media. The story of the people, who earn their living by catching crabs and fish, is depicted in their language, in various scripts. Among these scripts, a recent Bengali novel expresses the tale of a unique story of a battlefield, which is a live documentation of the subalterns of Sunderbans.

As urban civilization has spread its arms, the area of Sundarbans has narrowed down. The air, water and soil of Sundarbans have been contaminated with several poisons. The crisis of human existence got linked to the crisis of the existence of wildlife. This crisis is not only a by-product of urbanization but also the expansion of a class of self-interested business-minded profiteers. The struggle for land possession in the Sundarbans is not only a human-to-human struggle but also a duel between urbanization and virgin land.

Extinction or alteration of one link of the chain can lead to the extinction of all biological entities.Sundarbans is a huge storehouse of forest resources, along with a huge depository of different kinds of honey. The Sundarbans has its indigenous honeybee (*Apis dorsata*), which is locally known as Bagha or Dansh. They create large hives in dense forest habitats. The forest dwellers 'Moule' or honey collectors collect the honey on special occasions. They also collect the wax from the bee hives using different local techniques.

These honey collectors do not have a specific occupation for their livelihood. Sometimes they plough the land of the rich landlords, sometimes they pull nets in the river to catch fish, crabs and fishlings. Collecting honey is a profitable activity for them.Einstein said, 'If there were no bees, it would take only four years to destroy the whole world'. As this is true, so true is the fact that by removing native species, intrusions by other species can cause destruction. All over the world, beekeeping is a profitable business. Professional bee-keepers keep bees in specific boxes. Honeybees go out and collect pollen from flowers, return to the box, and make honey there. Honey is collected without any special effort.

Sundarbans is one of the best in the world in terms of flora. Commercial beekeepers know that if they can get their pet beehives into this forest, their honey boxes will be filled with pure honey from various flowers, which will fetch high prices in the market. So they came to the Sundarbans with their pet bees (Apis mellifera). This Apis mellifera will be defeating the indigenous honey bee of Sundarbns Apis dorsata, locally known as Bagha. This creates another war story.As the poison of urban civilization i.e. pet bees is entering the interior of Sundarbans, they are trying to remove the indigenous wildlife by exogenous species. This war of

encroachment is giving birth to a larger socio-economic struggle, or, conversely, a war of encroachment is born out of various socio-economic crises. The combatants of this arena are both humans and other organisms.They are so-called 'subalterns'. They are rural and illiterate, and their daily lives are dictated by the whims of ferocious tigers, crocodiles, snakes, and the ever-changing climate. Some of them are Hindus and some are Muslims by faith, but in the hope of saving their lives, and from the urge of providing food to the family, they devoutly worship Goddess Banbibi. They feel that their lives can be taken at any time by evil tiger God Dakshinray. Bonobibi protects her children from the wrath of God Dakshinray.

On the eve of the Bengali New Year both the Hindus and Muslims gather under a huge jackfruit tree. It is said that goddess Bonobibi herself planted this jackfruit tree long ago.No one knows the truth of the legend. The people of Sundarbans fear and worship Devithan or the jackfruit tree blindly. The Namo, Malo and Pods worship Harichand Thakur, Lord Shiva, Goddess Kali or Durga in their homes. Muslims do their Namaz at their home. But when these people come under the jackfruit tree, they bow down their heads praying for her blessings to save them from the crocodile in the water, and tigers and snakes in the forest.To end the deadly battle with poverty Churni desires to wring its neck. But this work is not easy for her. Society does not look favorably on the desire of an illiterate underprivileged girl to be independent. Political leaders, police administration and government officials of the Sunderbans hold the controlling power. In this forest background, there are occasional glimpses of urban babus who come with water – prostitutes for having fun. To rob them gangs of robbers also come from the city. They all display power in their way. Both babus and robbers want the hard-earned share of honey from the moules, and also want the taste of the moule girl's flesh.Under the umbrella of a corrupt administration and political leaders, thousands of beekeepers working for corporate companies gathers in the courtyard of Sunderbans with their pet bee boxes.A different kind of war begins. The pollen storage of Sundarban's wildflower is limited. Pet bees share in that storehouse and honey accumulates in their breeding boxes, but Bagha bee hives lay empty deep in the forest. This not only strikes like a thunderbolt on the poor Moules but it also destroys the ecosystem of Sundarbans. Churni enters the deep forest with her father and discovers that all the beehives are empty; all the honey has been stolen. A question popped into Churni's mind. Only stolen honey helps her find the faces behind multiple masks."Is a group of parasites growing in the Sundarbans? The chief of the village or Gram Pradhan is elected by the poor people of Sundarbans. But is he truly the representative? She wants to express her deep thoughts in front of the villagers.It is not just a fight for pollen or land. There are various diseases in the body of pet bees, diseases caused by pollution. Commercial beekeepers have masked the disease somewhat by using antibiotics, but they are infecting native Bagha bees. The epidemic has struck their flock and the extinction of Bagha bees means the extinction of Sundarbans. Churni learned about this from Aban Mistry, who is a talented student at university and her neighbor. But this protesting attitude of Churni can't be accepted by village people and outsiders.Theoretical discussions about the subalterns, however, highlight this harsh reality. Churni's protesting voice is insulted, because power is always created in the form of force, in our country's society, in the patriarchal structure, women is always victims of hegemony.Her voice against hegemony can be said to be a conflict between the two opposite relations of domination and exploitation and subordination and suffering, and the consequent change in the source of power. If Churni's protest was accepted and achieved some success, it would have established the theory of decentralized radiation and relative mobility of power.Churni does not know much about education, but in times of crisis in her native land, she takes on the role of protector of sunderban like Goddess Bonobibi. A destitute, poor girl with her power stands against police administration, political thugs, businessmen and self-interested beekeepers from outside.She anyhow manages to unite village people against outside beekeepers. When the beekeepers came with several trucks laden with bee boxes, no labour was available to unload the trucks and carry them up to the boats. There is no reverse blockade but beekeepers felt the pulse of non-cooperation. They carried the boxes themselves up to the ferry ghat. But they did not get any ferry.Traders now hire engine-driven boats. But those engine-driven boats can't move through the water. Surrounding those boats there are a huge gathering of small boats of Moules and fisherman. These boats are named dingi, poukha, and bhatbhati. The small boats are floating in Gomar, Durgadwani, Hemel, and Sarsa river tributaries

Namo, Pod, Jalia, Naiya, Tiyar, and Muslim sailors came down in the boat. Adivasi Moule of Munda Para and fishermen has arrived. It's like a festival in the Munda boats. The women of the house wore marigold garlands on their heads and came with their husbands to save the forest. The business party, which was heated by the power of the administration, was defeated by the collective resistance of the local people.Forgetting class, caste, religion, community and gender identity, in the urge to protect the motherland,these lower classes changed the relative position of male and female supremacy in their direction.Churni, therefore, did not remain limited to the name of a protesting girl; she became the language of protest of the forest-dependent subalterns of Sundarbans. She represents the transition from subordination to dominance.

****

References:

1. Amitav Ghosh: The Hungry Tide.
2. Ranajit Guha: Subaltern Studies.
3. Sasimkumar Baroi: Sundarbaner Mahal Koinya

STRUGGLES OF MODERN INDIAN WOMEN IN THE NOVELS OF SHOBHA DE AND SHASHI DESPANDE.

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1470

Birendra Kumar Pandey
Research Scholar,
Department of English, J.P.U. Chapra

Keywords: Feminism, Sexual pleasure, Marriages, Female Identity, Feminine love and compassion.

Shashi Deshpande and Shobha De are the most proficient modern Indian women writers in English. Their novels inquire into the condition of women who have been subjected to different types of oppression, and deal with the condition of the oppressed women. This paper therefore seeks to investigate upon how Shashi Deshpande and Shobha De use their respective narrative techniques in order to succinctly, yet vividly display the oppressions faced and struggles overcome by women. To this end, the paper will examine the struggles of modern women in select novels of Shobha De – *Sultry Days* (1994), and *Starry Nights* (1991). It also intends to investigate upon the novels of Shashi Deshpande on the same theme, in *The Dark Holds No Terrors* (1980).

Shobha De's women confront the conventional position of women in the modern Indian society. Her women are significantly more confident, authoritarian, and brave in comparison to men, as well as in comparison to women as portrayed in traditional literature, particularly prior to the dawn of the late twentieth century. They are neither submissive, nor suffer from undue guilt in expressing their feelings, emotions, and desires. *Sultry Days* is a story about Sujata – a sex-worker – who is independent in both thoughts and actions. Her independence is a source of her joy and positivity, feeding her life force and motivating her to further pursue her dreams without looking back. She is portrayed as the master of her own life, and one who defines her life on her own terms and conditions. A similar depiction of emancipated women can be discovered in T*he Starry Nights* (1991). Asha Rani – the protagonist of the novel – is a famous actress in Bollywood. She formulates a code of conduct for herself which is does not adhere to the andronormative gender rules and sexual constraints typical of a neo-traditional and andro-centric society. The novel does not attempt to display women as beacons of moral virtue and avoid the pitfalls of over preaching. In fact, the women in Shobha De's novels are shown to be of dubious nature and true to human nature, instead of idealistic icons of perfection with which readers may not be able to realistically relate. The idea of revolt always comes to their minds when their self-interest is at risk, showing their humane nature and sense of self-preservation. Struggling and overcoming the constraints of reality while abiding by the laws of human nature and limitations is an integral part of narration in Shobha De novels.These characters may face a series of hurdles throughout the duration of the novels, but they are intelligent enough to either ignore them or overcome these hurdles very skilfully and tactfully, and emerge out of it victorious. The most remarkable aspect of Shashi Deshpande's narrative technique is that she tries to depict a realistic picture of the middle class, sophisticated women who are economically autonomous – which represents a large part of the contemporary Indian society.

Shashi Deshpande's novels *The Dark Holds No Terrors* (1980), on the other hand, is a story of Sarita, who is desirous of marrying a man from a different caste. In her own words, "The love marriage between Sarita and Manu doesn't prove to be Constructive". The protagonist of the novel – Sarita, also refered to as Saru – is a cultivated woman who has been rebellious from her childhood against traditional norms.

The empowerment of women is a topic which is at the forefront of socio-political discourses in the modern world. In India specifically, women have been pushed to the corner for several generations. They have been deprived of their fundamental human rights and are event to this day being treated violently in specific rural, suburban, and conservative. Despite the numerous changes which have been repeatedly introduced in various forms and as in response to various situations in order to protect the rights of women by the Indian Constitution, they however remain victims of rape, suffering, domestic violence, cruelty, honour killings, female foeticide, and a long list of gender-based crimes. It is believed, however, that awareness, education, financial freedom, and a shift in the public mindset may possibly direct the society towards true empowerment and emancipation. Indian writers, particularly Indian women writers, have faced several challenges in the course of their lives and career due to the herculean task of establishing themselves in a male-dominated industry. Yet, finally in the twenty-first century they have arrived at the state of representing the condition of women in and through literature, as well as their own individual dreams and ambitions. Feminist literature plays a significant role in towards this progress by addressing oppression and suppression of women in both political and literary domains of discourse.

De is one of the most well-known Indian English writers. In a nutshell, her novels support a healthy man-woman relationship. Most of De's works portray the beginning and transformations of new Indian women who are motivated to fight back against gendered oppression. The female central character, Nisha in *Sultry Days*, is a

strong woman. She stands shoulder-to-shoulder her male counterparts for power and fame. She is keen to earn for herself a position of power and social status. The novel, *Sultry Days*, reveals how all characters are drawn to politics, and it also emphasizes on Indian women's active participation in socio-political activities. De has taken a stand against gender discrimination in the workplace with this novel. She attempts to demonstrate that men and women have equal economic power.

Sultry Days is a romantic tale set in Mumbai. It is a realistic presentation of youth during their college days. It looks into how careers change personal relationships in the current world. This book is the fifth novel by the author and the lifestyle of Mumbai's upper middle-class is explored thoroughly in its pages. Nisha gets introduced to God (who is actually named Deb) in the initial days of her college. God isn't the most polished guy she has ever met in terms of speech or behavior but Nisha regardless gets unusually caught-up in his thoughts. She feels that God's rustic personality, raw actions and rough selection of words is what makes him different and desiring. He starts calling her his intoxicant and that gradually makes Nisha a part of his life. When God takes her into his group, both starts becoming close to each other. But God slowly enters into the field of poetry and artistic imagination, while Nisha gets a job in advertising. Their different careers gets them introduced to people like party girls, dirty men, sex workers and other odd individuals. Sultry Days presents the secure days of one's youth in contrast to the exploitative but unavoidable, life outside. *Starry Nights*, the second novel of Shobha De, is based on Bollywood affairs. The book is also referred to as 'Bollywood Nights'. The novel has witnessed a great success in early 1990's. It paved Shobha De's position in the Indian literature as a bold novelist. She is considered as a bold novelist because she features female characters in her books and sex is something which recurringly occurs as a day to day element of human interpersonal interactions in her works, as opposed to the relatively reserved treatment which the topic receives from more traditional works of literature. This book, has damaged the status of certain Bollywood stars; Amitabh Bachan and Rekha among others. Aasha Rani and Akshay Arora are the main characters of the story. However, there are many other characters in the book, like Malini – the wife of Akshay, a lesbian journalist, a pimp mother, blood-sucking distributors, producers, and actors. Aasha Rani, once a porn star, is a dusky actress who has come from Madras to Bombay to work as an artist outside from the porn star. On the other hand, Akshay Arora is a famous Bollywood star, a heartthrob of millions. When she meets and enters a physical relationship with him, she soon becomes a hot aspiring actress in Bollywood. Her career is built on the foundation of male exploitation.

Whereas on the other hand, Shashi Deshpande's novels also explore and expose the condition of women in the present day and world. They are imprisoned within the four walls of domesticity and suffocating under the pressure of custom and modernity, which surrounds them on all sides. These women however reject an orthodox and tradition-bound life in order to identify their true self. Shashi Deshpande's protagonists are all interested in keeping hold of their independence in this modern world which threaten their identity – a concept which in *The Dark Holds No Terrors* is embodied and portrayed by the protagonist Sarita.

The Dark Holds No Terrors is the story of a marriage on the rock. Sarita is 'two-in-one woman' who in the daytime is a successful doctor and at night 'a terrified trapped animal' in the hands of her husband Manohor, an English teacher at a small college. The novel opens with Saru (Sarita) returning after fifteen years to her father's house – a place she had once affirmed never to return. Outwardly, the reason to come back to her home was to see and serve her ill father, but in reality she is unable to bear the sexual aggression of her husband. The rest of the novel is what Saru remembers and a brief confession to her father about her trauma. Her stay in her father's house gives Saru a chance to review her relationship with her father, husband and her dead mother. She acquires a better understanding of herself and the others and this gives her the courage to confront the reality.

This novel harshly questions the absolute dominance of a man in the male-dominating society, which – as a result – eventually pushes women towards an inevitable identity crises and she suffers at the hands of inequality. As Sarita narrates up her past life during her residence at her parents' house, reminiscing about her childhood, when her mother was alive, before her marriage, she realizes that behind the success of male dominance over women, women themselves too are responsible. In her case, her mother was spiteful towards her, and this clearly shows that the gender discrimination are often perpetrated by women towards other women, which finally sets the ground for the introduction of male dominance in future.

Saru's situation becomes even more alarming further along, when she could not save her younger brother from drowning. After this incident, she becomes resentful towards being a daughter, and hence she starts craving for a new role for herself – that of a wife – thinking that it will give her freedom and recognition as an individual and as a person in the form of a woman, who otherwise was being merely considered as a toy for pleasing carnal desires by her immediate society.

When she moves out of her maternal home, she not

only becomes financial independent but also marries a person of her choice. At her husband Manohar's home, she receives yet the larger shock of her life. When she accidentally outpaces her husband in both occupation and fame, she is treated like instead a minuscule creature and her husband practices brutal sexual practices on her only in order to keep her controlled and under his dominance. She felt that she was being trapped and the piling guilt in her heart flutters ferociously for freedom.

In conclusion, that both the writers discussed above have described the condition of women which is prevalent in modern day India. One must realize the fact that women still have to struggle harder in order to reach a significant position in this modern world. The investigation on the topic revolves around a collective consideration regarding where the society stands with respect to them. May the twinkling and shining stars comes down to greet such writers who are trying to discuss boldly about women emancipation.

****

References:

1. Barche, G. D. (2000). *The Fiction of Shobha De.* Jaydip Singh Dodiya, ed. New Delhi: Prestige.
2. De, Shobha (1991). *Starry Nights* - New Delhi: Penguin India.
3. De, Shobha (1995). *Snapshots*, New Delhi: Penguin India.
4. K. M Pandey, *'Tearing the Veil': The Dark Hold No Terror*, ed. R. S. Pathak, The fiction of Shashi Deshpande, New Delhi, creative 1998, p. 49.
5. "Hunter College Women's studies Collective: Women's realities". *Women's choices: An introduction to women's studies.* New York, Oxford University Press. 1983, p. 68.

Buddhist Prayers

As we all gather here today in friendship and community, taking a moment out of our busy lives,... to learn, share and reflect on the insights, experiences and wisdom of others, we are reminded of how blessed we all are. In the current world around us there are many who suffer and face grave challenges. We stand in solidarity with them in compassion and by practicing loving kindness to ourselves and all those around us.Taking a couple of stanzas from Metta or compassion meditation, let us engage in the power of prayer that connect us - irrespective of religion - with our beliefs and ideals more deeply helping us to hold them in our minds as we go about our daily business, and helping us to develop a stronger sense of conviction. Let us pray the following in the name of all that is good.May we all be well, happy and peaceful, May no harm come to us,May we all also have patience, courage, understanding, and determination to meet and overcome inevitable difficulties, problems, and failures in life.May our parents, our teachers and mentors, our friends and may all living beings across the world...be well, happy and peaceful. May no harm come to them,May they also have patience, courage, understanding, and determination to meet and overcome inevitable difficulties, problems, and failures in life.

Praise to Buddha Shakyamuni

O Blessed One, Shakyamuni Buddha
Precious treasury of compassion,
Bestower of supreme inner peace,
You, who love all beings without exception,
Are the source of happiness and goodness;
And you guide us to the liberating path.
Your body is a wishfulfilling jewel,
Your speech is supreme, purifying nectar,
And your mind is refuge for all living beings.
With folded hands I turn to you,
Supreme unchanging friend,
I request from the depths of my heart:
Please give me the light of your wisdom
To dispel the darkness of my mind
And to heal my mental continuum.
Please nourish me with your goodness,
That I in turn may nourish all beings
With an unceasing banquet of delight.
Through your compassionate intention,
Your blessings and virtuous deeds,
And my strong wish to rely upon you,
May all suffering quickly cease
And all happiness and joy be fulfilled;
And may holy Dharma flourish for evermore.

****

Unemployment problem among graduates -A study in the Dima Hasao district of Assam

Dr Mousumi Borah
Associate Professor Dept. of Economics
Arya Vidyapeeth College (Autonomous)
Guwahat 781016

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1469

Ms Tina Bardhan
M.A in Economics (IGNOU)

Abstract-The Dima Hasao district of Assam, which was earlier known as the North Cachar Hills district, is one of the two autonomous hill districts of the state, the other being the Karbi Anglong district. The Dima Hasao district, according to the 2011 Census, is the least populated district of the state. It has its headquarter in Haflong which is the only hill station in Assam. Dima Hasao occupies an area of 4,888 square kilometers with a majority of the tribal population. As per the 2011 Census, the tribal population in Dima Hasao accounts for about 73% of the total population of the district.

The problem of educated unemployment among the youths has become a global concern in the 21st century. As per 2011 Census, the total population of Assam is estimated to be 36 million (3.6 crores). Assam's unemployment rate has been increasing every year due to an increase in the growth of its population.

The present study aims at understanding the main causes of unemployment among the youths of the region and also seeks to find solutions to the problem.

Key words:-Unemployment problem, educated youths, Dima Hasao district, Assam

Introduction-The Dima Hasao district of Assam is one of the two autonomous hill districts of the state, the other being the Karbi Anglong district. Previously the district was known as the North Cachar Hills district. This district, as per the 2011 Census, is the least populated district of Assam. Dima Hasao district has its headquarter in Haflong which is the only Hill Station in Assam. Dima Hasao occupies an area of 4,888 square kilometers with a majority of the tribal population. According to the 2011 census, the tribal population in Dima Hasao accounts for about 73% of the total population of the district.

The problem of educated unemployment among the youth has become a global concern in the 21st century. As per 2011 census, the total population of Assam is estimated to be 36 million (3.6 crores). Assam's unemployment rate has been increasing every year due to an increase in the growth of its population.

The present study aims at understanding the main causes of unemployment among the youths of the region and also seeks to find solutions to the problem. The study has been conducted in the town of Haflong.

Unemployment problem among graduates has become one of the basic economic, social and political problems. These 'labor forces' are ever ready to put in their best services in any kind of job, but would not be called upon to do so because of the situation in the region. The basic problem of unemployment is the tremendous increase in the growth rate of population. As population increases the number of unemployed educated youths also increases. With the present growth rate of the district's economy, it has not been possible to generate employment of this magnitude. The present study intends to study in detail the efforts of the governments for the solution of the problem of educated unemployment

In the words of Blaug Mark, Layard, and M. Woodhall (1969), the slow movement of the labour market for the educated youth is because of the difficulties of changing jobs, preferences for older candidates, inadequate information about jobs, and so on. They have concluded that the presence of educated unemployment in India is due to the unavailability of jobs for educated people which on its part have led to the increasing growth of unemployment in the country.

According to Mathew E.T. (1997), the average people of Kerela have a preference for a salaried job as compared to self-employment. This has led to great importance being given to liberal arts and science education at the expense of vocational and technical training which could have had led to more employment.

Amongst the major sources of data in India, The National Sample Survey Organisation (NSSO) of the Department of Statistics, Government of India is the most comprehensive. Besides NSSO, the other major sources of data on unemployment in India are the Population Censuses and the Employment Exchanges.

The crucial phenomenon of the continued expansion of enrollments in higher education at a time when employment opportunities for university graduates are found to be decreasing has been well analyzed by Varghese N.V. (1996) in his article 'Higher Education and Employment of the Educated in India'. According to the author, this has been the result of 'the qualification escalation' process which has taken place in the labour market. As the situation demands a higher educational qualification for jobs it has led to an increase in the individual's demand for higher education.

Mark Blaug (1973) in his work entitled "Education and Employment Problems in Developing Countries" discusses the fundamentals of educational planning with special reference to the developing countries. According to him, a mismatch between aspirations and opportunities results in educated unemployment. It is through

Education, under-employment gets converted to open unemployment. Blaug further thinks that public subsidies to education are the cause of excess demand for education which leads to an excess supply of educated manpower.

Objectives of the study

The broad objective of the study is to assess the unemployment problem amongst graduates in the Dima Hasao district of Assam. Its specific objectives are:

- To undertake an in-depth analysis of reasons for unemployment amongst graduates of the region
- To find out the effects of unemployment on the unemployed graduates of the region
- To suggest measures to solve the unemployment problem among the graduates of the region

Methodology

The data and information that have been used in conducting this study include both primary and secondary data. Primary data have been collected through an intensive survey. For secondary data personal observation, books, journals, documents, internet downloads, etc. relevant for the study have been used.

The sample design adopted for the study is that of a random technique, fitted to the requirement of the study. With time and resource constraints, the research project is confined to the Haflong subdivision of the Dima Hasao district of Assam.

To collect the primary data, an intensive survey has been carried out. Unemployed graduates (sample units) have been selected randomly. Data have been collected with the help of pre-tested and well-structured interview schedules designed for the purpose. Data analysis, presentation and interpretation have been done with the help of appropriate statistical techniques.

Significance of the study-This study aims at showing how the various problems of unemployment among the graduates could be eradicated. This study seeks to throw light on the unemployment problem amongst graduates in the Dima Hasao district of Assam. It also aims to find solutions to the problem of educated unemployment. The findings of the study are expected to help the planners, policy-makers, and Government in devising and implementing strategies to solve the problem of educated unemployment.

Discussion and Analysis

Causes of Unemployment:

The following are the factors responsible for unemployment amongst the graduate youths of the region:

- **Increasing enrollment in educational institutions:** With the development of the district, there has been an extensive improvement in the education and health facilities which has resulted in significant changes in the lives of the people. As a consequence, the enrollment of students in educational institutions has been increasing annually. This annual increase in enrollment has resulted in an increased supply of jobseekers in the labour market which has outnumbered the available jobs
- **Mismatch of jobs and the skills required:** It is very often seen that there are job seekers with different levels of qualification, yet they do not possess the required related skills, which would equip them to be eligible for the jobs available in the job market. Again, there are young people who are on the lookout for jobs in the market, but the employers in the private sector give preference to the ones who have prior job experience. Employers normally do not prefer fresh employees without prior skills and experience. Thus, this mismatch of demand and supply is a significant matter of concern.
- **Rural-Urban migration:** The phenomenon of rural-urban migration also plays a significant role in the ever-increasing urban youth unemployment situation in the district. The migration also results in decreasing number of workers in the farms and agricultural activities in the rural areas. This has led to the reduction of workforce in the agriculture sector, underutilization of established infrastructure in rural areas, and housing shortage and unemployment in urban areas.
- **Less preference for the private sector:** Because of the lack of job security, perks, opportunities for further studies, and pension schemes the jobs in the private sectors are not readily opted for by the graduates. This results in an increasing number of unemployed youth. As the private sectors are still at an infant stage of development they cannot afford to provide such packages and the job seekers are reluctant to take jobs available in the private sector. Again the private sectors' preference for experienced jobseekers rather than fresh graduates has further aggravated the problem.
- **Inappropriate educational system:** The Indian education system has certain flaws. Many times it fails to provide appropriate training to the people required for the job in the present economic environment. As such, even the highly educated people in India may be unable to get an appropriate job.
- **Lack of human resources planning:** The employment planning of the government is not adequate compared to the high growth of the population. The increase in the employment opportunities is not proportional to the rate of growth of population.
- **Lack of awareness of opportunities:** In various fields like pharmacy, retail telecoms, service sectors, and hotel management, hospitality, etc. there are huge opportunities for jobs. But people are unaware of this and are not wisely choosing their course of study. People need to grow their network

•to know the various opportunities around them and also need to diversify their skills to be able to cope up with any kind of situation.

•**Lack of training centers:** Another reason for the rise of the problem of unemployment is the lack of training centers. Adequate facilities are essential for imparting training and up skilling the graduate youths.

•**Shortage of jobs:** Due to the dearth of jobs very often the job seekers find themselves without work. As such they may be forced to take up unskilled or casual work in the informal sector. Again youths who cannot afford higher education opt for self-employment with extremely low income.

•**Slow growth process:** As a country grows, its production expands and in turn employment also expands. In the case of India, her production has expanded and the economy has also grown. As a consequence, employment opportunities have expanded in the country. However, opportunities were not enough to solve the problem of unemployment in the study area as the growth process was comparatively lower in the district.

•**Lack of entrepreneurship development:** In India, most of the youth are sent to educational institutions with the aim to acquire a good job in the future. The pre-graduate level and graduate level do not focus on self-employment and entrepreneurship development.

•**Rapid growth of population:** The most fundamental cause of large scale unemployment is the rapid growth of population which adversely affects the employment scenario in two ways- first it increases the labour force, and second, it reduces the saving capacity of the people affecting capital formation.

•Effects of Unemployment

•**Labour Exploitation:** The labourers are exploited due to unemployment. They were forced to come to work under any condition.

•**Industrial disputes:** Due to the prevalence of the problem of unemployment the industrial disputes have become very apparent. This has led to a further rise in unemployment. It has a detrimental effect on the employer-employee relation.

•**Social problem:** Unemployment has also led to an increase in social evils like crime, vandalism, gambling, immortality, etc.

•**Increase in poverty:** Since the unemployed person does not have any source of income there is a rise in poverty. Due to unemployment and poverty, the burden of debt also emerges amongst the unemployed people.

•**Human Resource: As** the labour force is not being used constructively there is the wastage of the human resources. If the human resources would have been properly utilized there would have been economic growth and development.

- **Political problem:** The problem of unemployment may also be the reason behind political instability which makes economic development difficult. Unemployed persons are sometimes found to be engaged in destructive activities

This study was conducted to form an opinion about the extent of unemployment among the graduates in the Dima Hasao District of Assam. The study also aims to suggest measures to reduce the problem of unemployment in the region. The unemployed graduates were interviewed in order to assess the extent of unemployment among the young graduates, the initiatives that have been taken by the authority in the district to solve this problem of unemployment and the extent to which youths have been benefited from such initiatives. The population of the study consisted of 100 graduate youth (21 males and 79 females) ranging between the ages of 21-29 years. The jobseekers registered with the Employment Exchange Office were interviewed.

Table 1: Difficulties faced in finding a job

Reasons	Frequency	Percentage
No vacancies	71	55
Lack of experience	44	34
Having to work for free	4	3
Others	10	8
Total	**129**	**100**

Source: Field Survey, 2022

The data in Table 1 indicates the various difficulties faced by the youths while looking out for a job. From the table it is seen that for 55% of the sampled youths lack of vacancies was the prime difficulty in finding a job. Again according to 34% of the unemployed youths it was lack of experience that posed as a problem in finding job opportunities.

Table 2: Number of Jobs Applied for

Number of Jobs applied for	Frequency
0-10	21
11-20	18
21-30	28
31-40	33
Total	**100**

Source: Field Survey, 2022

Table 2 shows the range of the number of jobs the sampled youths applied for. The table indicates that 33 sampled youths applied for 31-40 jobs.

Table 3: **Problems faced by the unemployed youths in their day-to-day life**

Problems faced by the unemployed youths in their day-to-day life?	Frequencies	Percentage
Severe financial hardship and poverty	67	23
Debt	24	8
Homelessness and housing stress	11	4
Family tensions and breakdown	71	24
Shame and stigma	27	9
Increased social isolation	29	10
Violent crimes, kidnappings, etc	7	2
Lack of confidence and low self-esteem	56	19
Others	2	1
Total	**294**	**100**

Source: Field Survey, 2022

Table 3 shows the various problems faced by the unemployed sampled youths in their day-to-day life which have led to serious issues. The data shows that highest number of the unemployed youths (24%) have indicated that family tensions and breakdown is a major problem faced by them followed by severe financial hardship and poverty and lack of confidence and low self-esteem.

Table 4: Reasons for unemployment amongst the graduate youths in the Dima Hasao district of Assam

Reasons for unemployment amongst the graduate youths in the Dima Hasao district of Assam	**Frequency**	**Percentage**
Lack of sufficient jobs	47	41
Lack of experience	3	3
Lack of right skills or education	13	11
Poor quality of education	5	4
Increased population growth	4	4
Slow economic and industrial growth	14	12
Job opportunity and qualification mismatch	24	21
Others	4	4
Total	**114**	**100**

Source: Field Survey, 2022

Table 4 shows the various reasons responsible for the problem of unemployment amongst the graduate youths in the Dima Hasao District of Assam. According to 41% of them it is the lack of sufficient jobs which is the main reason for their unemployment, 21% believes that job opportunity and qualification mismatch is the cause responsible for their unemployment and 12% thinks that slow economic and industrial growth is the reason for their unemployed state. .

CONCLUSION AND RECOMMENDATION

The study has revealed that the incidence of unemployment amongst graduates in the Dima Hasao district of Assam is acute and needs to be addressed to. The study has elaborately analyzed the diverse reasons for unemployment amongst the graduates of the region. The study has also looked into the effects of unemployment. The problem of unemployment has affected the young population who are the future leaders of our country. Unemployment leads to underdevelopment. The problem of unemployment needs to be solved for development of the District and the state as a whole.

Recommendation:

- There should be a constant check on the rapid growth of the population. People living in both the rural and urban areas need to be made aware of the different family planning programs adopted by the Government. The government emphasizes controlling the population because an increase in population will directly contribute to the increase in the number of unemployed people.
- The prevailing education system is outdated and needs to be updated. As the world is entering a technical era, educational institutions should also provide more scope for technical and vocational education.
- The Government should introduce schemes to help the educated unemployed, schemes through which the cottage and small-scale industries could be developed. Banking institutions should be encouraged to provide loans to youths to set up small industries.
- Entrepreneurship is to be encouraged and the people opting for such should be provided with some guidance as to how they can properly sustain a particular start-up. Also, with an increase in the number of entrepreneurships, there will be more availability of jobs in the market.
- Skill development courses needs to be introduced by the government for the unemployed youth.
- Corporates and industries need to be advised to promote internships for fresh graduates to provide them with practical knowledge of the required skill sets in the market.

****

Bibliography

1. Blaug M., Layard and Woodhall, M.(1969), The causes of graduate unemployment in India, Allen Lane, The Penguin Press
2. Blaug M., (1973), Education and employment problems in developing countries, ILO, Geneva.
3. Friedman, F.G., (1971), Youth and Society, London: Macmillan,
4. Mathew E.T. (1997), Employment and unemployment in Kerela-some neglected aspects, Sage publications, New Delhi
5. Psacharopoulos, G., & Woodhall, M. (1985). Education for development, an analysis of invest and choices. Washington, DC: Oxford University Press
6. Thomas, Joseph. A (1990), Education and Economic Development, Anmol Publication Pvt. Ltd., New Delhi.

A Study of Impact of Modern Technologies on Society

Dr. Mohan Lal 'Arya'
Professor
Department of Education
IFTM University, Moradabad, UP, India

Abstract:-The present research paper deals with the impacts of technology in Indian Education system, improper use of modern technologies by the society and their effects on economic, religious and social aspects as well as their influence upon people's behaviour and the responsibility of the society in monitoring the children who are in need of attention by everyone through the proper guidance of educational ways. Moreover, this research paper deals with the need of adding all efforts collectively in order to protect the whole society from the imminent dangers of modern technologies and work together to take opportunities of its resources properly. This generally begins from the family and schools and closes with universities, mass media and the various institutions that guarantee the rights of children from all different areas. However this research paper emphasizes the fact that everyone should make efforts towards using this technology properly whether at home or outside.

Keywords:- Modern technologies, Negative effects, Impact of technology, Society.

Introduction:-Now days, the era of 21st century is often regarded as an era of technology. Technology plays a very important role in our daily life. It is seen as a basis of growth of an economy. An economy which is poor in technology can never grow in today's scenario. This is because technology makes our work much easier and less time consuming. The impact of technology can be felt in every possible field, one such field is education. At the same time, it also generates some problems for our society such as the decline in ordinary social behaviours. Yet, modern societies realized the significance of intellectual technology which is a form of new knowledge that achieves goals or solves many problems. Technology is a term that refers to a body of knowledge that is employed to generate tools creates skills and chooses materials for human use. Technology includes the use of materials, tools, techniques and sources of power to make life easier or more pleasant and work more productive. Technology has been derived from Greek word "techno-logia"—Techno means an art or skill and logia means science or study. Thus, technology means systematic treatment of, art or study. According to Oxford English Dictionary—"Technology is application of scientific knowledge for practical purposes". Technology is a tool or device or implement used for a particular task. Thus, the linguistic meaning of the word technology is the methods and tools that a society has developed in order to Facilitate the solution of its practical problems and to provide the necessary needs for the community. Consequently, the use of modern technology in all spheres of life increases risks, threats and crimes related with the use of this technique which reflects negatively on the possibility of its use in absolute terms in all walks of life. Since human beings are more dominated by the use of modern technologies such as social media this reduces the distances, despite of having negative effects on human relations in society and family. Now a days people reorganize that the use of modern technologies is a requirement for life and an indication of the cultural awareness of the community. They have positive prominent roles as one of the requirements of this era where they enter in all walks of life to provide services, improve the quality of life and increase communication and relationship since it is a developed culture reflects the culture of the community. This research presents the impact of technology on education, the negative impacts of modern technologies on society and this paper will also contribute to raise people's awareness towards the appropriate ways of using modern technologies. The author hopes that by presenting the negative effects of modern technologies on society, it will have positive influences on individuals and society in general since modern technologies play a major role in people's lives and future possibilities.

Statement of the Problem: Positive impact of technology on education technology, the most important negative impacts of the use of modern technologies on society and its impact on individual behaviour are: the formation of personal beliefs, social isolations, reduction in the family ties between the family and society members, inactivity, obesity, lack of desire to work different kinetic activities. The statement of the problem is: "**A Study of Impact of Modern Technologies on Society"**.

Objectives:-

1. To the present study the positive and negative impacts of the use of modern technology on society. These are the main objectives of this research paper:
2. To study the impact of technology on education.
3. To study the use of modern technological techniques by members of the society and their influences on the social aspects.
4. To study the reasons for gaining modern technological techniques.

5.To study the disadvantages of the use of modern

technological techniques in all spheres of life.
6.To study spreading awareness ideas among members of the society about positive and negative influences of modern technological techniques.
7.To identify the family's role in reducing the risk of modern technological techniques.

Discussion and Analysis: -The main purpose of this research is to identify the impact of technology on education, negative impacts of misusing modern technologies on society. Moreover, it provides detailed information regarding the impact of modern technological techniques on individuals and societies.

To study the Impact on Technology on Education: In this decade, technology has significant influence in many areas of society especially for improving education, language acquisition, support learning and it is a great way to access to information. In fact, now a day's students depend on their machine such as computers, laptops, mobile phone to study in the classroom or outside the class. In addition, they use the internet to communicate with teachers and to help them do research for information they need to do homework. Although, technology is a substantial part of teaching and language learning, in some aspect of languages learning may not have any favourable impact. The efficiency of any technology on learning technology relies on its uses quite than the technology itself. Expressively, numerous recent studies have focused on the effectiveness of the technology and to explore the recent potential to improve technology in language learning. Technology advancement has really provided new platforms for various disciplines leading to great improvements in the education process. Furthermore, education has been thoroughly being applied to education. Actually, technology can be thought of as the application the scientific knowledge and approaches for the different purposes.

b. Second Objectives of the Research

To study the use of modern technological techniques by members of the society and their influences on the social aspects: Technology influences society through its products and processes. Technology influences the quality of life and the ways people act and interact Technological changes are often accompanied by social, political and economic changes that can be beneficial or detrimental to individuals and to society. However, human societies experienced significant and rapid development of these techniques, making it more convenient in social communication. Because of adoption of these techniques, children do not have enough time to use their imagination or to read or think deeply about the material, they find the information but they may not remember it, they might have difficulty to develop social skills and emotional reactions. Technology leads to social isolation which is characterized by a lack of contact with other people in normal daily living such as the workplace, with friends and social activities. Furthermore, the occurrence of new and increasing patterns of behaviours and values influenced the social interaction process. Computers have had a tremendous impact on human interaction with other humans. According to David Bell, reader in cultural studies at Staffordshire University, "Technology and Society are kept separate, even held in opposition to one another. Technology causes social change". Computers have created social change due to the uses of them as well as acceptance into society by people. Media and communication, technologies or telematics as referred to earlier, further disconnect people from reality and push towards a virtual world. Relationships among people have drastically changed since the introduction of the personal computer. Interpersonal relationships are uniquely different than ever before. In most circumstances, due to geographic location convenience or comfortableness, human to human interaction is much different in the 21st century than the 20th and prior to. In particular the use of email has been shown to eliminate a lot of the usual visual and verbal cues we often use in communicating with one another. In addition to removing such cues, computer-mediated communications make attributes such as race, gender, age or physical disability, in addition perhaps to the person's social or management status within an organization with the use of the virtual world. However, many people especially younger generations, are losing the ability to properly communicate in face to face situation because of being accustom to conversing in what has became known as cyberspace. The modern technology reduced family interaction just as the television did prior to and this technology changes the boundaries between households and larger world.

To study the reasons for gaining modern technological techniques: One of the most important reasons for youth generations to use modern technologies is the desire not to associate with others directly and not to make social relationships. Therefore, these become strong medium of social visits and exchange of experiences and feelings. Media such as radio and television still have major impact on the orientation of young people towards these techniques where most of them have been brought up on information quoted from the media. It is cleared that most people who are addicted to the use of the internet are the ones who suffer from social isolation because they spend long times using these techniques and their communication is limited to the written conversations with no sensory feelings.

To study the disadvantages of the use of modern technological techniques in all spheres of life: First, the evolution of technology is beneficial to humans for several reasons. On the other hand, the evolution

of modern technology has disadvantages as for example dependence on new technology. Man no longer needs to think. Even if the calculator is a good invention, man no longer makes mental calculation and no longer works his memory. The decline of human capital implies an increase in unemployment. In some areas, devices can replace the human mind. One of the major disadvantages is social isolation where people are spending more time playing video games, learning how to use new modern technology, using social networks and they neglect their real life. Technology has replaced our old way of interacting. If a user can easily interact with 100 friends online, they will feel no need to go out to make new friends which at a later stage can lead to loneliness. Wasting time, the spread of incorrect and unauthenticated information and spreading lies through these techniques are among the most drawbacks that face our communities due to the use of these techniques. As a result, these means have significant impacts on individuals that take them away from reading books and getting information through printed paper. Modern technology has been the main aid in the increasing of endless wars. It aids the manufacturing of modern war weapons. So when these weapons get into hands of criminals, they will use them for their selfish reasons. To add, these weapons often severely damage the natural earth, making some areas uninhabitable.

To study spreading awareness ideas among members of the society about positive and negative influences of modern technological techniques: Awareness is the ability to directly know and perceive, to feel or to be cognizant of events. More precisely, it is the state of being conscious of something. Research investigations have shown that people's views and ideas conflict on the positive and negative use of these techniques. On one hand, some of people emphasized the need to stay up to date with modern life, as a result of the accelerated pace of life in all aspects as a method to reduce distances, save time and effort in terms of access to information and the completion of the transactions. On the other hand, some of them believe that modern technologies have formed a severe blow to social and family system and the cause of the high incidence of divorce and they recommend the need to impose sanctions on these technology techniques so as not to leave their children in a world of illusions and assumptions and lessens the social and family ties.

To identify the family's role in reducing the risk of modern technological techniques: It is the parents' role to make numerous decisions about their children's media environment; how many TVs, Computers and Video games they buy for the home; whether their kids have cell phones and i-pods; whether there are TVs and video players in their children's bedrooms; whether the TV is usually on during meals or as daily background; and whether they establish any rules about their children's media use. All of these decisions, put together, create a media environment for young people. Hence, it is essential to encourage family members to take advantage of their free time and access to training courses. For example, parents can guide their children to the best way to use these techniques without intolerance or rigidity by clarifying the pros and cons and try to hold them part of the responsibility and internal control.

Results and Conclusion:

With the development of new technologies thing will always be lost while at the same time new things are gained. In this research it was noticed that medium could often have two outcomes; to serve as a device for independent activities or as a mechanism for socializing and communication. The research tells us to take into consideration not only the use of a medium but also how it is being used and what is being used for. The role of parents following up their child's unsupervised media interaction by engaging in conversation with them was also revealed. It was noticed that the unintended effects could be damaging to the manner in which parents communicate with their children and possibly hinder the development of their family relationships. There are many researches investigating the negative impacts of misusing modern technologies on society in different countries in the world. Khulaifi (2002) sought to explore the advantages and disadvantages of the internet. The results showed that most of the participants have the desire to use the internet and focus on the most important uses of this network for the purposes of communication, exchanging information with others, searching for information and entertainment. Participants in this study revealed the negative aspects of the internet such as helping in the cultural invasion and causing social and health problems if it is used frequently. Lailah (2000) conducted a study aimed at clarifying the role of media in the information technology that badly affecting the family relationships and focused on the negative impact of the performance of the media and information technology in our society. As a result, this helps to erode the value systems which oriented to family interaction. The study recommended upbringing the young and adult according to a moral system supporting their identity. Bryant (2006) carried out a study intended to identify the relationship between the use of text messaging and the information of social networks for teenagers. The sample of study consisted of 40 participants ranged in age group (11-13). The study results confirmed that there is a limited overlap between friendships in the lives of individuals and friendships through interactive technology. So, there are a number of friends on the internet to communicate

with them on line and instant messaging has proven that it is not a substitute for a source of social support to people who suffer from isolation.

Life is a series of cycles that are continuously changing, the moon, the seasons and stages of life all have cycles. Likewise, media has cycles where things are perpetually being created, developed and then sometimes left behind, changing the fabric of society and the ways in which we live. It was apparent that media does not affect the way a family unit socializes and as a result, their relationships. Without boundaries of time and place, features of technological device allow individuals to foster familial bonds and relationships by creating the perpetual ability to connect with others. While this is one of the best aspects of media, it also has potential for negatively impacting in person family contact, hindering face to face interactions and social involvement. Research shows that the correct use of modern technologies require a comprehensive understanding to reality of change that happens to the community. Thus, this requires concerted efforts through full cooperation among all sectors of society, from family to government institutions, along with the presence of useful awareness programs supervised by these institutions pursued by the family to utilize the modern technologies accurately in order to ensure and protect the future generations. Finally, this research is simply a little effort towards doing justice to this subject and it could assist future researchers in examining this topic with other groups and in more depth and with more relationships to the present use of modern technologies and their impacts on societies.

****

References:

1. Hawsawi, A, Impediments to the use of educational technologies in teaching mentally retarded students as perceived by teachers of Education in Riyadh. The first scientific conference, Department of Mental Health, the College of Education, Benha University.
2. Beniger, J.R., Personalization of mass media and the growth of pseudo community. Communication Research, 14,352-371, (1987).
3. Lailah, A., The role of mass media and information technology in the family disruption: monitoring the movement of the reaction from the center to the margin. Cairo University, Faculty of Information, p.23, (2009).
4. Khulaifi, M., the impact of Internet in the community: A Field Study, Alam Al Koteb.p.469-502, (2002).
5. Al-Majali, F., The use of Internet and its impact on social relations among university students, An Empirical study, light house, (2007).
6. Bryant, A., Sanders, J. & Mal, W., Instant Image text and adolescents social networks, 4 Journal of computer and Communications Mediation, (2006).
7. Younes, Mohammad Bani, The Impact of Technologies on Society: A Review: Journal of Humanities and Social Science, Volume-20, ISSN: 2279-0845.
8. Proceedings of the New York State Communication Association, Vol.-2012, Art, 10, (2013).

DEPICTIONS OF CHILDHOOD AND INNOCENCE: A COMPARATIVE STUDY OF ROALD DHAL AND R.K NARAYAN

DOI-https://doi.org/10.56716/4/1471

Raghwendra Prasar
Research Scholar,
Department of English, J.P.U.Chapra

Keywords: Childhood, Friendship, Innocence Parental love

This paper studies the treatment of children in R.K Narayan's 'Swami and Friends' (1935) and Roald Dhal's, *Danny, the Champion of the World* (1975). Swami and Friends is the story of the turbulent friendship of Swaminathan, his four childhood friends, and a new boy named Rajam. It takes place in British-colonial India in the year 1930. The story begins by introducing Swaminathan and his friends Somu, Sankar, Mani, and Pea. Swami talks about how different all of his friends are from one another and how their differences actually make their friendships stronger. Soon, however, a new boy arrives, named Rajam whom Swami and Mani absolutely hate. It is not until the three boys confront each other that they realize they have a lot in common, and become fast friends. Their adventures, splits, combats, carefree roaming in the lap of nature encompass a child's ideology and philosophy.

In Dahl's fiction, children are often described unfavorably: they are "disgusting little blisters", "vipers", "spoiled brats", "greedy little thieves", "greedy brutes" and many more.

In *Danny, the Champion of the World*, Dahl concentrates on the shared otherness of a loving father and tender child. Upon reaching the crux of Danny, after a whirlwind of pheasant-poaching and small-English-village adventure, Dahl leaves his readers with a strong suggestion for when they have children of their own. He writes, "a stodgy parent is no fun at all / what a child wants / and deserves / is a parent who is out of context". The message might seem irresponsible and careless, but such a message fits the narrative superbly. More than anything, Danny is a story about the love between an eccentric, "sparky" father and his adoring son.

In the R.K. Narayan's story 'Swami and Friends' we observe that how this book throws light on the social issues of pre-independence era. The story highlights many problems of children which we witness today. The conflicts that arise throughout the book between Swaminathan and his friends are problems that many children face in this contemporary world. For instance, towards the commencement of the book, Swami and his four original friends do a great job of seeing the

in the book is the importance of using our words to express how we feel, rather than our actions. When Swami is upset about the politician who was arrested, he chooses to go out and join a mob rather than talk to his parents or a teacher to express his feelings. Even if he didn't start with the intention to damage school property, the power of the mob mentality and peer pressure are evident in Swami's actions and he is effectively punished for what he chose to do. Likewise, at Swami's new school, he gets very irritated at his headmaster and expresses this by throwing his cane out the window as a substitute of using his words to explain his disappointment. The outcome of this was the guilty feeling he got from his actions that caused him to run away and miss the cricket game. Simultaneously we can visualized that children can see that Swami could have avoided a lot of trouble if he had taken a deep breath and used his words to explain how he felt, instead of only using actions. Finally, the conclusion of this book is not what we assume. In the end, the reader is left wondering if Rajam would ever forgive Swami for the way he treated him. There can be different argumentation about the treatment of children in this story but I believe that that children who read this story will have a more precise description of the world they live in after they read it. I think it is important to show them that not every story has a happy ending.

Now, I would like to investigate on the next, novel entitled '*Danny the Champion of the World'*. It tells the reader about a life and the journey of nine years old boy Danny and his fabulous father. Poor Danny has to admit the fact that he cannot obtain the affection of a mother. When Danny was about four months, his mother died suddenly. He also has no brother or sister on his side, so he only lives alone with his father. Danny and his father are described living in an old gypsy caravan behind a filling station and a workshop owned by his father. Since Danny was a child, he used to be familiar with car engines and the stuffs in the workshop which he used as his play-room. As Danny grows up, he discovers the deepest darkest secret of his father. Danny was stunned and disbelieved that his fabulous father is a pheasant poacher (illegal hunter) in Hazell's wood. Nevertheless, at the same time, Danny also discovers a sparkling idea dealing with poaching. Danny's brilliant idea leads him and his father to the real adventure in poaching pheasants at Hazell's wood where there were so much keepers equipped with gun. Danny the Champion of the World written by Roald Dahl attracted the writer attention because it contains so many good moral value messages not only for children, but also for parents to be applied in the society. The book is full of so many morals values and lessons that children can be used as a brilliant resource for nation. The author, Roald Dahl engages the reader to be familiar with a nine-year old boy named Danny. He only lived alone with his father and had no brother or sister. When Danny was about four months, his mother died sud denly so Danny's father had to look after Danny all by himself. It was not easy for Danny's father after his wife left. He had no choice but to take over the things that his wife usually does for Danny while at the same time he had to earn money for living.Finally, my intention is to show how R.K. Narayan and Roald dhal use children and gave a brilliant message that children are the image of God and they have lots of talent infuse in them. In the *Swami and the friends* we observe the famous saying, "Meeting and parting is the rule of nature". Children do have the feelings and emotion. The instances makes us deeply concern about Swami's attitude when Swami come to know from Mani that Rajam is leaving Malgudi as his father has been transferred. He is upset because his friend is leaving him with anger. He sets out to meet Rajam at the railway station with a book to gift him. The station is full with men in uniform. He and Mani cannot get near Rajam. As the train starts moving Swami runs with hope and apologizes to Rajam. Before he could utter a word the train leaves but he succeeds in giving the gift to Rajam. However, he is never fully convinced. It leaves swami unsatisfied. R.K. Narayan covered all the children issues with a safer theme of friendship. On the other hand if we talk about Roald Dahl's *Danny, the champion of the world,* Danny is a very bright, loyal and cooperative boy. He helps his father, a mechanic; fix other people's cars in the filling station. Danny's father is described as "sparky" in the book, because he has amazingly and interesting ideas. Like his grandfather, his father is a master poacher of pheasants and has lots of creative ways to catch them. It has also has a deep, dark secret story, but this paper does not intend to show that except how Danny has been treated in this story, *Danny, the Champion of the World* should be suggested for everyone over the age of eight that will help the children to learn moral and ethics. Dahl never disappoints his readers with his colorful and amusing images of events. Moreover, his characters are fun, mischievous, and touching. The readers would find it easy to relate either Danny or his father. The loving bond between them makes *Danny, the Champion of the World* a memorable book that is also very heartwarming.

Lastly R.K. Narayan and Roald Dhal provides compensation for misery of children by portraying them as a 'deserving' child. Lastly this paper seeks to conclude that the story tries to show how childhood includes excitement, amusement, purity, and innocence, but self-centeredness, coldness, and mannerism are unavoidable. It can be seen with Swami, Danny, and other friends of Swami in general. Our history is replete with so many examples which depict that 'Human beings are basically evil by nature and being good is occasional mask. Swami and friends gives a realistic and simple view on children who breaks the myth that they are full of innocence and faith.

****

References:

1. 1. Narayan, R. K. *Swami and Friends*. Chennai: Indian Thought Publications. 91st Reprint, 2019.
2. 2. Iyengar, KRS. *Indian Writing in English*. New Delhi: Sterling Publications Private Limited, 2019.
3. 3. Walsh, William. *R. K. Narayan: A Critical Appreciation*. New Delhi: Allied Publishers Limited, 1982.
4. 4. Dahl, Roald. *Danny, the Champion of the World*. New York, Puffin Books, 1975.
5. 5. Matilda. New York, Puffin Books, 1988.

A Study on : Environmental Impact Assessment (EIA)

Nabamita Nath
Research Scholar
RKDF University, Ranchi

Abstract :-Environmental Impact Assessment (EIA) may provide a mechanism for implementing sustainable development and ensuring wise use of natural resources. By providing analytical procedures for studying relationships between organisms and their environment, ecological science has an obvious role in EIA, but this has been underexploited under the existing legislation. Ecological input to environmental statements (ESs) for proposed developments has been criticized for its lack of scientific rigour and its failure to predict and evaluate ecological impacts.

In recent years, there has been a remarkable growth of interest in environmental issues, sustainability and the better management of development in harmony with the environment. Associated with this growth of interest has been the introduction of new legislation, emanating from national and international agencies that seek to influence the relationship between development and environment. Environmental impact assessment (EIA) is an important example. EIA means identify, predict and evaluate the environmental effects of proposed actions.

EIA is a tool of decision-making development. The three core value of EIA study that has been identifying till date is integrity, utility and sustainability. EIA is a tool for measuring environmental impacts of a upcoming projects or activity covering physical and social factors and providing measure to minimize their impacts. In real sense it is a tool to evaluate the impact of business activity, profitable planning or action leading to biogeophysical environment and on the health and well being of human beings and interpreting and making public aware about the same. That is to say, EIA focuses on various complications, hardships faced by environment in terms of curtailment of natural resources or human health proned to the upcoming project. It also examines implications of a project that might harm people, their homeland or their livelihood or other nearby developments. After predicting the problems, an EIA identifies measures to minimize the problems and presents with the optimum guidelines to establish the project in the proposed environment synchronizing with the minimum impacts. In the last three decades, EIA has been recognized as the important tool to decide and minimum the feasibility of the project at the particular site. EIA has more wide scope in comparison of other technique. EIA has the potential to be a basis for negotiation among the developers, public interest groups and planning regulators.

Keywords :: Environmental issues, international agencies, environmental impact assessment, public aware, planning regulators etc.

Introduction:-Environmental Impact Assessment (EIA) is a planning and decision making tool first enshrined in the United States in the National Environmental Policy Act of 1969. The Government of India vide its policy and regulatory functions, ensures protection and improvement of the environment of India. Ministry of Environment, Forest and Climate Change, mandated to formulate policies, laws and rules related to environment, and issuing environmental clearance (EC) for any developmental project, as in the Schedule of the Environmental Impact Assessment (EIA) Notification, dated 14 September 2006, under the Environmental (Protection) Act, 1986. The EIA notification of 1994 was further improved upon with the more detailed notification of 2006. The EIA system, being multidimensional and interdisciplinary in nature, is concerned with identifying and evaluating direct and indirect impacts of a project on the environment. The EIA system supports project proponents in incorporating environmental considerations in project planning.

EIA by Central Regulatory Authority/ State Environmental Impact Assessment Agency (SEIAA) is guided by the following criteria:

Environmental considerations are integrated into overall project planning; and

The environmental impact assessment is sound, and the proposed environmental mitigation measures are effective.

Environmental impact assessment (EIA) is the evaluation of the effects likely to arise from a major project (or other action) significantly affecting the environment. It is a systematic process for considering possible impacts prior to a decision being taken on whether or not a proposal should be given approval to proceed. EIA requires, inter alia, the publication of an EIA report describing the likely significant impacts in detail. Consultation and public participation are integral to this evaluation. EIA is thus an anticipatory, participatory environmental management tool.

History of EIA in India ::

The Indian experience with Environmental Impact Assessment began over 20 years back. It started in 1976-77 when the Planning Commission asked the Department of Science and Technology to examine the river-valley projects from an environmental angle.

Till 1994, environmental clearance from the Central Government was an administrative decision and lacked

legislative support.

On 27 January 1994, the then Union Ministry of Environment and Forests, under the Environmental (Protection) Act 1986, promulgated an EIA notification making Environmental Clearance (EC) mandatory for expansion or modernisation of any activity or for setting up new projects listed in Schedule 1 of the notification.

The Ministry of Environment, Forests and Climate Change (MoEFCC) notified new EIA legislation in September 2006.

The notification makes it mandatory for various projects such as mining, thermal power plants, river valley, infrastructure (road, highway, ports, harbours and airports) and industries including very small electroplating or foundry units to get environment clearance.

However, unlike the EIA Notification of 1994, the new legislation has put the onus of clearing projects on the state government depending on the size/capacity of the project.

The EIA Process ::

EIA involves the steps mentioned below. However, the EIA process is cyclical with interaction between the various steps.

Screening : The project plan is screened for scale of investment, location and type of development and if the project needs statutory clearance.

Scoping : The project's potential impacts, zone of impacts, mitigation possibilities and need for monitoring.

Collection of baseline data : Baseline data is the environmental status of study area.

Impact prediction: Positive and negative, reversible and irreversible and temporary and permanent impacts need to be predicted which presupposes a good understanding of the project by the assessment agency.

Mitigation measures and EIA report : The EIA report should include the actions and steps for preventing, minimizing or by passing the impacts or else the level of compensation for probable environmental damage or loss.

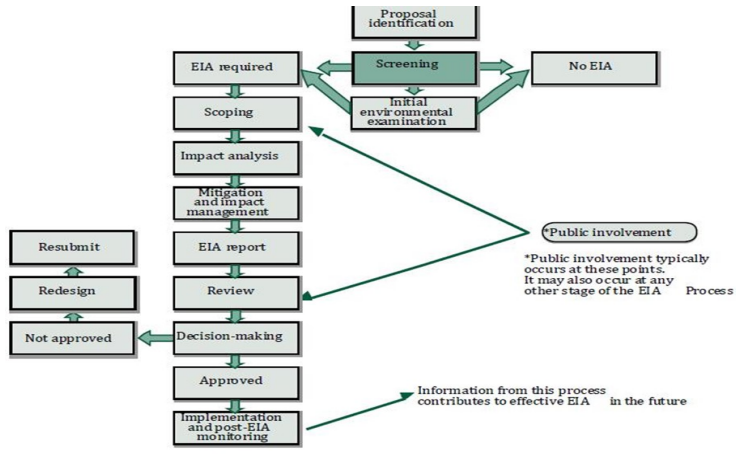
Public hearing: On completion of the EIA report, public and environmental groups living close to project site may be informed and consulted.

Decision making: Impact Assessment Authority along with the experts consult the project-in-charge along with consultant to take the final decision, keeping in mind EIA and EMP (Environment Management Plan).

Monitoring and implementation of environmental management plan: The various phases of implementation of the project are monitored.

Assessment of Alternatives, Delineation of Mitigation Measures and Environmental Impact Assessment Report: For every project, possible alternatives should be identified, and environmental attributes compared. Alternatives should cover both project location and process technologies.

Once alternatives have been reviewed, a mitigation plan should be drawn up for the selected option and is supplemented with an Environmental Management Plan (EMP) to guide the proponent towards environmental improvements



Inventory analysis and hazard probability and index also form part of EIA procedures.

Purpose of EIA ::

The most immediate purpose of EIA, arising directly from these functions, is to supply decision-makers with an indication of the likely environmental consequences of their actions. This is with the aim of ensuring that development only proceeds in an acceptable manner. (To this end, EIA provides the mechanisms for development proposals to be amended where necessary, and likely adverse impacts ameliorated. Although EIA may lead to the abandonment of certain proposals, its focus is more strongly on the mitigation of any harmful environmental impacts likely to arise.) In addition to these 'proximate aims' (Sadler, 1996), EIA is increasingly being positioned within a broader context of sustainability and its original, substantive aim of contributing to more sustainable forms of development is being rediscovered (Glasson et al., 2005). However, its precise role in this regard remains to be clearly defined (Cashmore et al., 2004).

Specialty of an Environmental impact assessment (EIA) ::

Identifies the sources of impacts from the project activities and recognizes the environmental components which are critical to the changes or the impacts;

Predicts the likely environmental impacts on the identified environmental component either using quantitative, qualitative, semi quantitative or hybrid methods.

Find ways to reduce unacceptable impacts and enhance the positive contributions of the project by recommending mitigation measures or by exploring a change in the capacity, technology or design or even by evaluating alternative sites.

Presents to decision makers and other concerned

agencies the results of impact identification, prediction & assessment with options of suggested measures of mitigation & monitoring.

Importance of EIA :: Environmental impact assessment links environment with development for environmentally safe and sustainable development.

Environmental impact assessment provides a cost effective method to eliminate or minimize the adverse impact of developmental projects.

Environmental impact assessment enables the decision makers to analyse the effect of developmental activities on the environment well before the developmental project is implemented.

Environmental impact assessment encourages the adaptation of mitigation strategies in the developmental plan.

Environmental impact assessment makes sure that the developmental plan is environmentally sound and within the limits of the capacity of assimilation and regeneration of the ecosystem.

Benefit of EIA :: EIA is an effort to anticipate measures and weigh the socioeconomic and biophysical changes that may result from a proposed building construction project. Best practice EIA identifies environmental risks, lessens conflicts by promoting community participation, minimizes adverse environmental effects, informs decision makers, and promotes environmentally sound projects. EIA of building construction projects focuses on the prediction of environmental impact of the different components of the construction activity, ways and means to reduce adverse impacts by shaping the project to suit local environmental conditions, and presents the predictions and options to the decision-makers.

The importance of Environmental Impact Assessment (EIA) in planning of human settlement ::

To facilitate decision-making : For the decision-maker, for example the local authority, it provides a systematic examination of the environmental implications of a proposed action, and sometimes alternatives, before a decision is taken. The decision-maker along with other documentation relating to the planned activity can consider the environment impact statement (EIS).

To aid in the formation of development : Many developers see EIA as another set of hurdles for them to cross in order to proceed with their various activities.

To be an instrument for sustainable development : The key characteristics of sustainable development include maintaining the overall quality of life, maintaining continuing access to natural resources and avoiding lasting environmental damage. Institutional responses to sustainable development are, therefore, required at several levels which can be facilitated by EIA.

SWOT Analysis of EIA :: strengths, weaknesses, threats and opportunities Having taken stock of the current state of EIA. Some broad points are made here in the context of the SWOT framework.

Strengths : EIA is well established around the world, as evidenced by its widespread use in statutory development control and other environmental law processes, and its presence in international law and lending institution standards. The use of EIA at different levels of decision-making is growing significantly, as is the range of decision-types for which it is now used. There is a well-developed support infrastructure, from professional groupings (such as the IAIA, and its national affiliates and branches), through to support units in international agencies (UNEP, World Bank, WHO etc.), and to national environmental agencies and tertiary institutions, providing capacity-building, guidance material and other resources. In addition, a vibrant community of researchers and practitioners is engaged in learning about this process, through case studies, and theory-based analyses. A feature of the literature over the last 15–20 years is the increasing maturity of EIA research, and in particular the growing influence of theoretical debates in related areas of knowledge, affecting how EIA is viewed, and potentially opening minds to alternative ways to look at the processes that make up the activity of EIA. For many, EIA will retain its inherent rationalist purpose and character, but that is not incompatible with recognizing how other actors in the process may value different aspects of the process, and that these views should be actively encouraged and protected. Similarly, concepts such as environmental justice and inclusivity ought to inform and add value to the design of EIA practice.

Weaknesses : There is concern in many countries over the poor quality of impact assessment information. Depending on circumstance, this might reflect problems with institutional arrangements, low levels of commitment by proponents, or issues with the nature, extent and quality of training and capacity building in the impact assessment, or elements of all of these. Achieving significant change in practice, to improve EIA quality, often means overcoming entrenched professional and bureaucratic perspectives, which can be very difficult without radical overhaul of the institutional procedures. Therefore, there is a significant gap between the best practice thinking represented in the research and practice literature and the application of EIA on the ground – the resulting practice inertia provides a real challenge to the EIA community as the consequences of poor practice (delays, poor decisions, increased costs to proponents etc.) tend to be blamed on the EIA process rather than on the practitioners themselves.

Threats : As governments look to stimulate economic growth and create employment in response to the

current financial crisis, many are promoting a major expansion of physical infrastructure, encouraging resource development projects, and generally seeking to speed decision-making about development projects. Both EIA and SEA should be even more important in such circumstances, yet the moves taken in some countries to speed up decision-making may weaken the provisions for environmental protection, including impact assessment. One example is the current proposal in England and Wales to change the National Planning Policy Framework to speed development decisions, a proposal that is causing concern in many quarters (Levett 2011). The proposals place significant pressure on local authorities to 'operate to encourage growth and not act as an impediment' and 'plan positively for new development, and approve all individual proposals wherever possible' (Department for Communities and Local Government 2011, paras 13 and 14). In a planning system where the development plan is already given priority over other material considerations (which includes, where relevant, EIA) when determining planning applications, the fear is that the increased weight that will be given to the financial viability of developments will further reduce the influence of EIA on development decisions.

Opportunities : Despite the weaknesses and threats outlined above, we should take comfort from the degree to which EIA as a concept has been accepted by governments, the international legal community, the funding agencies and other key players. The profile of EIA can only increase as concerns over issues such as climate change grow and communities and governments recognize the importance of true anticipatory mechanisms in their decision-making processes. The impact assessment community has the opportunity to build on these foundations, and in particular to shift EIA thinking away from the licensing stage and closer to the critical decisions within organizations. That is, EIA should be integral to project development and design processes, not left to the final legal step before project implementation. This would reduce the emphasis on compliance-oriented EIA, allowing impact assessors to work more constructively with proponents and stakeholders to develop processes that meet the needs of all parties, and in so doing result in projects that are consistent with the environmental and social aspirations of local communities.

Conclusion ::

Over the last 35 years or so, EIA has become an internationally accepted and established tool for environmental management. During this time, EIA procedures have been strengthened and EIA capacity has been improved in many different contexts, including developeddeveloping and transitional economies. There is no doubt that, especially in more mature EIA systems, EIA has made a difference to patterns of development through design modifications, institutional learning, and stakeholder.

****

References ::

1. *Ashby, E., 1976. Background to environmental impact assessment. In: T. O'Riordan and R. Hey, eds. Environmental Impact Assessment. Farnborough, UK: Saxon House, 3–15.*
2. *Bartlett, R.V., and Kurian, P.A., 1999. The theory of environmental impact assessment: implicit models of policy-making. Policy and Politics, 27 (4), 415–433.*
3. *Bond, A.J., and Morrison-Saunders, A., 2011. Re-evaluating sustainability assessment: aligning the vision and the practice. Environmental Impact Assessment Review, 31 (1), 1–7.*
4. *Bond, A., Palerm, J., and Haigh, P., 2004. Public participation in EIA of nuclear power plant decommissioning projects: a case study analysis. Environmental Impact Assessment Review, 24 (6), 617–641.*
5. *Bravante, M.A., and Holden, W.H., 2009. Going through the motions: the environmental impact assessment of nonferrous metals mining projects in the Philippines. The Pacific Review, 22 (4), 523–547.*
6. *Caldwell, L.J., 1978. The environmental impact statement: a misused tool. In: R.K. Jain and B.L. Hutchings, eds. EIA – emerging issues in planning. Urbana: University of Illinois Press, 11–25.*
7. *Caldwell, L.J., 1988. Environmental impact analysis (EIA): origins, evolution, and future directions. Review of Policy Research, 8 (1), 75 –83.*
8. *Cashmore, M., et al., 2004. The interminable issue of effectiveness: substantive purposes, outcomes and research challenges in the advancement of environmental impact assessment theory. Impact Assessment and Project Appraisal, 22 (4), 295–310.*
9. *Cashmore, M., et al., 2010. Evaluating the effectiveness of impact assessment instruments: theorising the nature and implications of their political constitution. Environmental Impact Assessment Review, 30 (6), 371–379.*
10. *Cloquell-Ballester, V.A., et al., 2007. Systematic comparative and sensitivity analyses of additive and outranking techniques for supporting impact significance assessments. Environmental Impact Assessment Review, 27 (1), 62–83.*

RELATIONSHIP BETWEEN FRUSTRATION TOLERENCE &MENTAL HEALTH OF SECONDARY SCHOOLGOING ADOLESCENTS

DR. Bimal Mandal
Associate Professor
Seram pore Girls College under Calcutta University
West Bengal, India

Abstract:-THE STUDY INTENDS TO EXAMINE RELATIONSHIP BETWEEN FRUSTRATION TOLERANCE & MENTAL HEALTH OF SECONDARY SCHOOL GOING ADOL ENSCENTS AS WELLAS SEX DIFFERENCE IN THESE TWO VARIABLES. TO A RANDOMLY SELECTED SAMPLE OF EIGHT GRADE BOYS(N=164) & GIRLS (N=170) REACTIONS TO FRUSTRATION TEST & F-INVENTORY WERE ADMINISTERED FOR THE ASSESSMENT OF FRUSTRATION TOLERANCE & BETTER MENTAL HEALTH THAN THOSE OF THE GIRLS? & HIGH FRUSTRATION. TOLERANT BOYS & GIRLS HAD BETTER MENTAL HEALTH THAN THEIR LOW FRUSTRATION TOLERANT COUNERPARTS.

It is not uncommon to notice that two different individuals elicit different.

Patterns of reactions to. Frustration & suffer from different extent of frustration when confronted with the desired with equal amount of valance.

Psychologists are of the constellation of several factors, such as, strength of drive, ego strength, cognitive appraisal of the situation, emotional security, self – involvement, physiological condition- both constitutional & temporal., (BISWAS -1988), acting either indecently or jointly with in the psychological field of an individual's mode of. In the context, Rosenzweig (1944) asserts, an individual's mode of reactions to frustration & of course, the extent of his frustration is determined mainly by individuals global capacity to with stand frustration which he terms (frustration tolerance) which acts as immunity system to tolerate frustration is an individual's capacity to mwith

Stand frustration without failure of psychological adjustment i.e., without restoring to inadequate modes of response". This term presumably bears similar connotation with the terms (ego strength). (Freud) "ego control" (Block & Martin, 1955) & "Hierarchical organizing process" (Breakers, etc 1939).

Essentially, "frustration tolerance" involves two aspects – motive tonal & intellectual. The (first) emphasizers delay gratification, which seems nearest in the meaning to reality principle of reaction- capacity of the organism to retain impressions after stimulus is removed (Hunter, 1913). Then, as pointed out by Nathan (1963), frustration tolerance situation & the adequacy of conceptual performance in general. Frustration tolerance of an individual, Rosenzweig (1944) asserts, develops through disciplinary measures taken by parents in the ongoing process of child rearing & he mentions, some adequate degree of frustration tolerance for successful adjustment & he con colds, individuals' frustration tolerance increases with age. finally, he concludes, individuals' frustration tolerance increases with age. Finally, he postulates' that (mental) patients generally have low frustration tolerance in com parison to normal subjects implying that frustration tolerance is related to integrative personality – **adjustment.**

Then, it is presumed that "frustration tolerance : is related to mental health , which implies a satisfactory relationship to one's self & ones environment (Rogers , 1957) & also a scientific perception of the world as a whole n(Anand 1984) .

But, systematic study corroborating relationship between the two constructs, seems inadequate.

Furthermore, this relationship may happen to be different for two sexes at the adolescence stage. Particularly in India. Because boys & girls are offered different child rearing practices by parent as well as by the authority of the society.Then in this modest venture the investigator envisages to study relationship between frustration tolerance & mental health pf adolescent boys & girls & it is hoped the out come of this study would reveal some information regarding adjustive mechanism of adolescents & also help parents, teachers & anybody concerned for guidance & counselling these cross section of population who suffer from many hazards of adjustment due to only their rapid development changes at this stage.

OBJECTIVES:

To study sex- differences in (a) "frustration tolerance" & (b) mental health of school – going adolescents.

To find out relationship between frustration tolerance & health of school – going adolescents.

HYPOTHESES:

The study proposes to test the following hypotheses-

(1) There are significant sex differences in frustration tolerance (FT)

(b) mental health (MH) among secondary school – going adolescents.

(2) There is significant relationship between secondary school going adolescents Frustration Tolerance & Mental Health.

High Frustration Tolerant (HFT) & Low Frustration

tolerant.(LFT) adolescents would differ in mental health (MH).

METHOD SAMPLE-

The sample comprised of 334eight grade boys (N=164) & girls (N=170), randomly selected from seven Bengali medium rural secondary schools situated in the District of Midnapore. West Bengal. The majority of subject belonged to families having main source of income on agriculture & the educational level of parents were marginally low. The selection majority of children (mean age 13+) pass through a transitional consequently suffer from high close of adjustment problem (Hurlock , 1987).

ASSESSMENT OF VARIABLES – (a)ASSESSMENT OF FRUSTRATION OF TOLERANCE-

Reactions to Frustration Test – develop mint by the investigator. On the principle of semi – projective picture Frustration Study Technique of Rosen zing (1978). & Standard dazed on secondary school going Bengali adolescents was used.However, for the present investigation only Group Conformity Rating (GCR) scores bin percentages were used as an index of frustration tolerance (Rosenzweig. 1950). GCR is 'An index of the degree to which the responses of the individual on the-F (Picture – Frustration) conform to those typically given by his normative group in similar situation (Rosenzweig. 1978) & these scores are assumed to reflect adequate response to frustration tolerance.)

(Nathan, 1963) Subject s belonging to the treated as the bottom 27 % of cross distribution of GCR were treated as HIGH FRUSTRATION _ Tolerant & Low Frustration Tolerance group respectively.

(b)ASSESSMENT OF MENTAL HEALTH -

F-Inventory prepared by G.S BOSE & revised by SEN (1969) was used to assess mental health .

This 70 – item inventory, each with their response alternatives, comprised twelve dimensions viz. Obsession , Anxiety , Hysteria , anxiety – Hysteria , Paranoia , Schizophrenia, Depression , Manic Depression , Mania , Neurasthenia , Depressions, Manic , Aggression & Psychiatric Anxiety . This test measures global mental health & high score on the inventory indicates greater degree of mental illness.

DATA ANALYSIS DESIGN

To test hypothesis t – test & produced – moment correlations were computed.

RESULT-The following Tables contain the results obtained from the analysis of data.

Table – 1

Mean S.D & t- values for Different Group S

VARIABLE	GROUP	BOYS (N=164)		GIRLS (N170)		S.E	T- VALUES
		M	S D	M	S. D		
FRUSTRATION							
TOLERANCE		47.78	9.40	43.52	9.87	1.09	3.91*
MENTAL HEALTH		93.68	29.23	113.87	28.20	3.15	6.41*

***SIG. AT . 01 LEVEL**

Thus boys & girls different significantly in both the measure considered in the study & in both the occasions frustration & had better mental health in comparison to that of girls.

Next, Product moment coefficient of correlation was computed between the variables – frustration tolerance & mental health separately for boys & girls as the two sexes 0.23 & 0.19 for boys & girls respectively.

Both the significant values of R, at. 01 level indicated positive association between frustration tolerance v& mental health

(as high score on F- Inventory means high mental illness).

Further test were performed to examine whether High Frustration – Tolerant (HFT) & Low Frustration Tolerant (LFT) group differed in mental health.

TABLE-2

Significance of Mean differences in Mental Health Between Two Condition Of Frustration Tolerance

SEX	H		F		T
LFT	M	S.D	M	S.D	SE T values
Boys (N=44)	86.32	27.39	103.94	6.06	291*
Girls (N=46)	104.45	24.01	121.88	25.25	515 3.12*

Sig. At. 01 level

Thus, from Table 2 it is apartment that the high Frustration tolerance boys & also such girls have better mental health than their Low Frustration Tolerance counterparts.

Therefore, both the hypothesis was retained.

Discussions

That the girls have low frustration tolerance is predictable by the fact that they have consistent preference for immediate gratification (Kaul, 1986) & therefore, they cannot defer gratification which is one criterion of frustration tolerance. Usually they have comparatively weak ego & are more anxious & less stress tolerance (Coleman, 1981) than males (boys here). Swayed by emotionally stable, more

susceptible to mental illness (Pledge 1984) & more neurotic, (KUMAR 1984)Moreover, girls low frustration tolerance may emerge from Moreover , girls , low frustration tolerance may emerge from their identification with mothers , who in the traditional agriculture rural culture , are subjected to gross neglect of their husbands & druggy of monotonous household activities & thus leading them to greater anxiety & lesser stress tolerant

CONCLUSIONS-From the present study following conclusions emerge-Secondary school – going adolescent girls are less frustration tolerant in comparison to such boys.

(2) Such girls are also relatively less mentally unsound than the boys.

(3) As frustration tolerance is found to be positively associated with mental health. The former variables may be included as one dimension in the future assessment of the latter variable.

(4) Indirectly, this study validates the Reactions to Frustration Test because in the P-F Study , GCR has been taken as one criterion of successful adjustment in frustrating situation.

****

REFERENCES

(1) Anand S.P Guidance for mental health in school J.Indian Edn . 9(5), 43-49.
Barker , R, Dembo R& Lewin, K (1930) , Frustration & regression an experiment with young children , Ivin low Stand . Child Welfare. 18, NO 1.
(3) Bernard , W.H (1961) . Mental Hygiene for classroom Teachers
New York, MC Graw Hill.
(4) Biswas P.C (1988). Reactions to frustration in school children
Children . Unplug. PHD Thesis , Unit of Kalyani .
(5) Block J. & Martin B.C .Predicting the behaviour of children under frustration.
J. Abnormal . Soc . Psyche 51, 127 – 134.
(6) Coleman , J.C Psychology & Effectively Behaviour , Bombay : D.B Trioval.
(7) Coleman , JC. (1981) . Abnormal psychology & Modern Lifer . Bombay D.B Treponemal.
(8) Falls , R.P & Blake R.R (1949) . a quantitative analysis of the Picture – Frustration Study , Japer's . 16, 320-325.
(9) Ghosh , P& Khurana , K . (1986) . A study of the effects of socio – economic status & sex on the levels not the self concept anxiety & adjustment , J. Edn. & psyche, $6 (2 & 3). 141-147.
(10)Hunter , WS. (1913) . The delayed reaction in animal & children .
Behaver . Monegro . 2 , NO. 1.
(11) Hurlock, ED. Development al psychology , Delhi Tata Mc Graw Hill . P . 198.
(12) Jindal, CR & Panda , SK. (1982).
Anxiety & achievement a Rorschach study of high & low achievers . Ind Edn. Rev 17 (4) , 118- 124.
(13) Kaul , V. (1986) Delayed gratification & the social economically dis advantaged IND . EDN REV 21 (3) , 96-106.
(14) Kumar , D> (1974) . An experimental study of problem solving behaviour as a function of personality , drive & practice , Unplug PHD THESIS PUNJAB UNIV.
(15) Nathan P.E (1963) .Conceptual ability & indicates of frustration tolerance on the Rosenzweig picture Frustration Study J, ProJet Tech , 27, 290 – 297.
(16) Pledge , D. J.Abnormal Psychology . New Delhi TATA MC- GRAW Hill.
(17) Rogers D. (1957) . Mental Hygiene in Elementary Education , NEW YORK HAUGHTON MIFFIN , p.5 .
(18) Rosenzweig. S. (1944) An out line of Frustration theory in JMCV Hunt (Ed) . Personality & the behaviour In J. MCV Hunt (Ed) Personality & the Behaviour Disorders VOI .I , NEWYORK : Ronal press 379- 398.
(19) Rosenzweig, S. (1950) . The Rosen weigh Picture Frustration Study, Psyches SERV, Psyche Serv , Cent K.2,108-115.
(20) Rosenzweig, S. (1978) . THE Rosenzweig Picture Frustration
(P-F) Study Basic Manual St. Louis : Pana House.
(21) Sen , A (1969) . Incidence of neurotic symptoms in a cross section of school population in West Bengal Unplug PHD THESIS CAL . U.
(22) Shanmugam . TE (1985). Abnormal Psychology , NEW DELHI TATA – McGraw Hill.

Re-reading Disability: A Study of Ishan Mushahari's Bodo Short Story "Abari"

Doi-https://doi.org/10.56716/4/1478

Dr. Chandrima Sen
Assistant Professor
Department of English
Bodoland University. Mo-8638771701

Abstract:-Ishan Mushahari is one of the most convincing Bodo short story writers. His writings mainly deal with individual dealings, societal implications, cultural encounters and traditional forum. His short story "Abari" is the first printed Bodo short story. The story represents Bodo society, culture and tradition. The Bodos are one of the most prominent tribes of the North Eastern region of India. They have their own distinct vocabulary and grammar. The story designates the underlying concepts of hope, religious beliefs, gender bias and social obligations. The main plot revolves around the female protagonist, namely Abari. Her disability casts her as an independent and self-sufficient woman. This paper intends to study the discourse of disability and its prospective consequences. Disability here appears as an instrument that enables one to move ahead in life and not as a burden. It further acts as a source of strength. This paper attempts to situate the elements of mental, physical and psychological growth of a character like Abari.

Keywords: individual, disability, society, pain

Ishan Mushahari is one of the most significant writers in the history of Bodo literature. His writings exemplify the correlation between man and nature, individual and society, discrimination and tolerance and marginalisation and liberation. His writings give us a glimpse of the Bodo society. The Bodos are a group of Mongoloid people. They are known for their customs, culture and tradition. They are the aboriginal tribes of the North eastern region of India. Bodo short stories occupy a very important place in the history of Bodo literature. The short story collection titled *Modern Bodo Short Stories* is a culmination of eleven short stories. The stories are translated from Bodo to English by Joykanta Sarma and published by Sahitya Akademi. The short story "Abari" by Ishan Mushahari actually deals with woman, disability and society. Mushahari is an evolving Bodo writer who generally talks about, Bodo customs and heritage. He intends to elucidate the aspect of gender biasness and social categorisation in a Bodo ethnic panorama. He further tries to uncover the different possibilities and expectations of leading the life of a disabled.Disability as a genre is an evolving area of study. It ushers on the aegis of physical

changes and mental empowerment. Linton in *Claiming Disability: Knowledge and Identity* writes about the social structure that claims disability and disabled people are the result of: "social and political circumstances that have forged us as a group" (2, 4). The trajectory of disability urges one to believe in oneself. The plot casts the character of Abari not as a born disabled but a result of unaware medical measure. The story begins with the character of Abari as a young and beautiful girl of eighteen years of age. She was attractive and conscious of herself. She had a pleasing personality. Mushahari casts her as a disabled character. Margarat Lloyd states: "the dilemma of identity for an individual experiencing multiple disadvantage and oppression" (82). Disability acts as not a burden for her rather a reality that she urges to face with confidence and valour. She seems to be preoccupied with thoughts and feelings. The story casts another set of characters namely her mother; her elder brother, Ule and her younger sister, Maifri. Mushahari's attempt of not providing a particular name to the mother inscribes the factor of discrimination, marginalisation and subalternity. It is her own mother who tries to subjugate her because of her being a disabled. But Abari never allows others to saturate her aspirations and desires. Susan Lonsdale writes: "For women the status of 'disabled' compounds their status of being female to create a unique kind of oppression" (82).David Michell and Sharon Synder writes in *Narrative Prosthesis* about the narrative structure of text dealing with disability. The present story offers the causes and the consequences of being a disabled in a Bodo society in particular and in an Indian society in general. They say: "The unknowability… consolidates the need to tell a story about it" (6). The concept of disability helps in framing a narrative structure. Berube puts disability as: "ubiquitous" (1). This again expands the scope for the textual understanding of the term in relation to its contextual execution. The story gets divided into three consecutive sections. Each of the sections conceptualises the very conviction of familial oppression, societal inequity and individual upbringing. The first section concentrates on Abari's conscious self and bold outlook. The story emphasises on administering Abari's marriage. The proposal that comes for her was from a lame and hunch backed fellow. She never intends to marry a boy with a 'defective profile' (31). Thus, she replies in negative. Thereby, her family and the villagers begin to counsel her. But the societal interference and familial countenance fail to create utter frustration and doubt in her mind. Her character symbolises solidity and fortitude. She never appears to become a victim of emotions and weakness. The village elders say, as Mushahari writes: "As the bride, so will be the groom. Moreover, where is the inferior among menfolk" (31). Inspite of the distrust and dereliction from the village elders her confidence and sagacity remain constant. In this instance, she realises the obstacles that one faces in leading a life of a disabled. But she takes her disability as a challenge to her womanhood. Her feminine proposition gets personified by her clarity in thoughts and development of mental wellbeing. The story caters to a set of interrogative sentences by Abari like: "How shall I be happy marrying a person whom I cannot accept with all my heart? Am I able to stand on my own feet? Will it be proper to marry such a person?" (31). All these monologues show the amount of rational thinking and intellectual endurance that she dwells with in living her life. Inspite of her disabled nature, she manages to win a weaving competition. She also seems to be an expert in performing household works. She thus proves herself to be self-sufficient and competent in each and every sphere of life. For her, disability was a physical phenomenality and not a mental one. As Seemanthini Niranjana focuses on a female body as a 'sign' or 'code' and how it is socially 'formed' and collectively 'represented' (106). Her physicality never appears to be a hindrance for her liability rather it provides her an assurance to go by her mind. The thinking of her mind suggests certitude and equanimity.

In 2005 Michael Berube considers disability narratives as: "grounded in the underrecognized and undertheorized facts of bodily difference" (570). The present narrative unpacks the theorising impact of feminine disability. The second part of the story brings a climax. Mushahari here manifests varied happenings in Abari's life. Her declination of her first ever marriage proposal arouses the element of anger and arrogance among her near and dear ones. The very decision of not tying the knot with a disabled boy reflects her confidence and optimism. Unlike other girls she also wishes to marry a handsome young man. But the society and her family make a critique of her and thus she becomes a victim of marginalisation and dominance. In such an instance, though she becomes a bit impassioned but emerges out instantly. The story reaches to a climax when Abari's mother and brother prepare for her younger sister's marriage. Mushahari writes: "An upswing of hope and despair ran through her" (32). As Abari seems to be the eldest girl in the family she feels subjugated when the preparation for her sister's marriage begins. She seems to be completely unaware of the fact that the bracelet was kept for Maifri and not for her. The reference to an underlying Bodo custom of accepting the bracelet which means assent to the marriage proposal contributes to the amount of discrimination and abuse done on Abari by her family. In this respect, Abari says to herself: "It has been quite an injustice to accept the bracelet for the younger sister while her elder sister is yet to be married" (33). She further considers this to be a 'sin', a transgression. Her mother actually plays an unscrupulous scheme on Abari. When Abari questions her mother she tries to wind up the whole issue by saying that 'you will know later' (33). Abari appears to be completely ignorant of the then recent developments within her family. But still then she seems to be completely confident about what she wants in her life. The part ends with: "A smile flickered on her lips as she paced about with measured steps, head bowed down" (33). This

particular line suggests the idea of disability as an existential discourse. Mushahari dwells not just with her disabled body but also with her inner psyche as well. The inner working of her mind accelerates her objective to live in a tranquil state. As Goodley writes: "Disability is both a signifier of inequity and the promise of something new and affirmative".

The concluding section of the story urges one to visualise the physical decay and psychological pacification of Abari. In 2007 Thomas writes disability actually relates to the ostracization of people for having cognitive lesion, corporal worry and internal impediment. She somewhat becomes despondent with the thought of her sister's wedding. Though she was aging yet her intellect to achieve satisfaction in life seems to be a constant desire. She never attends to the villagers allusion and comment about her. Her disability acts as a motivating and abiding force. All the misdoings in her life give her the strength to begin anew. The story reads: "In the mirror of her mind, an image of a face repeatedly reflected. She blushed. She felt moribund. Her heart sought out, but the lip was tight" (35). On the other hand, she faces insults and shame but never becomes a victim of social prejudice and familial intrigue. The ending of others hope becomes a beginning for her living. As in 2018 Slee remarks: the phenomenon of disability is an element of collective rhetoric. The concluding part of the story hints at the arousal of love in the mind of Abari. She comes to know that a handsome boy from a nearby village loves her and wants to get married to her. At first she thinks about her mother but later her mind answers in affirmative. She comes to know that the boy wants her to elope with him. She agrees and as the story reads: "One day, in an auspicious moment, Abari set out to go to the young man's house … Yet she was filled with joy and happiness" (36). This development in her character manifests the idea of satisfaction, fulfillment and contentment.The character of Abari appears to be not diseased but with 'individual differences' which is largely 'acceptable' of 'being human' (39). In Disability Theory, Tobin Siebers writes in the Introduction: "… disability studies relates to representation itself" (2). He says: "More specifically, disability names the states of social oppression unique to people with disabilities, while asserting at the same time the positive values that they may contribute to society" (4). Siebers quotes Charles Taylor who says: "My identity is defined by the commitments and identifications which provide the frame or horizon within which I can try to determine from case to case what is good, or valuable, or what ought to be done, or what I endorse or oppose" (15). Further, he also mentions Alcoff's saying that goes as: "identity is not merely that which is given to an individual or group, but is also a way of inhabiting, interpreting, an objective social location and group history" (15). He also refers to Mark O' Brien's poem "Walkers" where he defines disability as: "Disability's no big deal" (13).Disability here appears more as a social creation. The World Health Organization defines disability as: "…not an attribute of an individual, but rather a complex collection of conditions, many of which are created by the social environment" (2001, pp. 28). Kuppers also states that: "disability culture is the difference between being alone, isolated, and individuated with a physical, cognitive, emotional or sensory difference that in our society invites discrimination and reinforces that isolation…" (109).In the Introduction Lennard J Davis writes: "disability, always an actively repressed" aspect, now gains a new, nonmedicalized, and positive legitimacy…" (xv). Moreover, Tom Shakespeare writes: "Like gender, disability is a culturally and historically specific phenomenon, not a universal and unchanging essence" (3). Instead of feeling self-pity, Abari gets annoyed anf feels gratified for her physical impairment. Mushahary talks about the civil despotism and exclusion and not about individual deficits. She never suffers from a sense of personal inadequacy and defeat.The story outlines the binary between abled and disabled people that foregrounds the gendered implications in a Bodo society. Here, disability acts as a metaphor that commemorates bodily differences, thought provocation and psychological variations. The structural framework of the story intensifies the affirmative side of disability. It also at the same time suggests an open ended rhetoric. The story suggests how one's survival strategy depends merely on the psychic mental set up and not on the bodily manifestation. The present study attempts to create an awareness among the reading folk about a sustainable social and individual development. The paper aims to break the stereotypical malice of objectifying the existence of a feminine disabled character. Her position never appears to be scintillating howsoever tough the situation be. The present study urges for an inclusive and reformative society.

****

Works Cited:-

1. Berube, Michael. *Disability and Narrative*. PMLA 120 (2): 568-576, 2005
2. The Secret Life of Stories: From Don Quixoteto Harry Potter, How Understanding Intellectual Disability Transforms the Way We Read. New York: New York University Press, 2016.
3. Dan Goodley, Rebecca Lawthom, Kirsty Liddiard and Katherine Runswick-Cole. Provocations for Critical Disability Studies, Disability and Society, 34:6, 972-997. 2019
4. Davis,Lennard J.*The Disability Studies Reader*.New York: Routledge, 2006.
5. Gabel, Susan L. *Themes of Disability in Literature*. Michigan Reading Journal.Vol. 23. Issue 1. Article 11. 1990.
6. Kuppers, Petra. *Disability Culture and Community Performance: Find a Strange and Twisted Shape*. Houndmills and New York: Palgrave, 2011
7. Linton, Simi. *Claiming Disability*. New York and London: New York University Press, 1998
8. Lloyd, M. "Does She Boil Eggs? Towards a Feminist Model of Disability". *Disability, Handicap and Society*. 7 (3): 207-21. 1992.
9. Lonsdale, Susan. *Women and Disability*. London: Macmillan, 1990.
10. *Modern Bodo Short Stories*. Trans. Joykanta Sarma. Sahitya Akademi, 2003.
11. Niranjana, Seemanthini. Feminty, Space and the Female Body: An Anthropological Perspective. In Embodiment: Essays on Gender and Identity. Ed. M. Thapan. New Delhi: Oxford University Press, 1997.
12. Shakespeare, Tom. "The Social Model of Disability." The Disability Studies Reader. Ed. Lennard J. Davis. New York: Routledge, 2010
13. Siebers,Tobin.*DisabilityTheory*.Michigan: University of Michigan Press, 2008
14. Slee,R.*Inclusive Education isn't dead it just Smells Funny*.London: Routledge, 2018
15. Synder, Sharon L.and Mitchell, David.T.*Narrative Prosthesis*. United States: University of Chicago Press, 2006
16. Thomas, C. Sociologies of Disability, 'Impairment', and Chronic Illness: Ideas in Disability Studies and Medical Sociology. Palgrave, 2007

MENTAL HEALTH DISORDER IN ADOLESCENTS

Tuli Bhattacharya
State Aided College Teacher,Department of Education,
Serampore Girls' College

ABSTRACT: Adolescence is a unique and formative time. Physical, emotional and social changes, including exposure to poverty, abuse, or violence, can make adolescents vulnerable to mental health problems.Multiple factors affect mental health. The more risk factors adolescents are exposed to, the greater the potential impact on their mental health. Factors that can contribute to stress during adolescence include exposure to adversity, pressure to conform with peers and exploration of identity.Emotional disorders are common among adolescents. Anxiety and depressive disorders can profoundly affect school attendance and schoolwork.Mental health problems are the leading cause of health-related disability in children and adolescents worldwide and are a global health challenge of the twenty-first century.

KEYWORDS:-
Unique,Violence,Exposed,Exploration,Profoundly,Disability.

INTRODUCTION :Mental health problems are among the leading causes of a health related disability among children and adolescents worldwide.The prevalence of Mental Health disorders has been reported to increase in adolescence. Worldwide estimates indicate that up to 20% of children and adolescents have mental health disorders. (Kessler and others,2005,Patel,Flisher and others,2007). Mental health is largely determined by the social economic and physical environment in which people live (WHO,2014).Mental health is intrinsically positive and holistic in nature.

It is estimated that globally mental health conditions affect about one in seven children and adolescents ages 10 to 19. Depression is among the leading causes of disability among young people. Youth with mental health conditions face considerable stigma, which serves as a major barrier to help seeking. A recent study in one European country estimated that the proportion of people affected by mental illness who experienced some exam form of discrimination at the same point during their illness to be approximately 70%(Chambless,2010).

Discrimination was likely to be greater in developing countries where there was less recognition and awareness of Mental Health issues. Help seeking behavior was less likely among younpeople who are even more likely to be impacted by stigma, embarrassment and lack of basic knowledge about mental health(Saxena and others,2007). Gender differences in mental health problems have been reported with girls reporting more symptoms of mental health problems than boys(Derkikman-Eiron et all.2011,Schulte-Korne,2016)

OBJECTIVES :

The primary purpose of the present report is, by drawing on the available research, to raise awareness of youth mental health conditions and start a global conversation regarding strategies for addressing the challenges faced by young people. Specifically, the objectives of this report are to :-

1>Disseminate information on youth with mental health conditions :

Discrimination scientifically based information is critical to promoting successful development and socialization of adolescence and youth, as well as for challenging misconceptions and eliminating stigma. This information concerns the relevant stakeholders- including your families, youth Care,providers,educators, communities and mental health agencies for effecting change.

2> Raise awareness of the cultural and contextual dimensions of mental health conditions faced by youth:-

Cultural elements, including social attitudes,peer group norms, religious beliefs, family values and other sociocultural factors are strongly related to the behavior of the youth.Awareness and respect for these and other cultural factors as well as the underlying social circumstances of individuals, must be considered when addressing youth mental health concerns.

3> Identifying critical skills to be developed among youth with mental health conditions to overcome challenges to their self development and social integration:-

Building skills relates to the promotions of competencies to facilitate the transition process for youth with mental health conditions from development to independent living. Life skills, social emotional competence and social skills coupled with cognitive and occupational skills are instrumental for the successful transmission to adulthood and social integration.

4> increase understanding of support systems and raise awareness of access issues among youth with mental health conditions:-

Well coordinated comprehensive programmes and support services are necessary to prevent mental health conditions, as well as to aid youth who already have mental health conditions. A Central aim of the present report is to increase awareness of these issues, thereby engaging educators ,peers, parents and others in addressing these concerns to their daily interactions with youth and youth focused policies and programming.

5> Summarize Research and provide case studies of of effective programs and approaches for preventing and addressing youth mental health conditions:-

The report identifies programmes, policies, and strategies which have been successful in promoting the social integration of youth with mental health conditions. These are examples of various intervention approaches from each geographical region from both developing and developed countries.

SPECIFIC DISORDERS

Depression :- Depression is one of the most widely studied mental health condition because of its large burden on individuals, families and society and its links to suicide. It is the most widely reported this order, with over a quarter of adolescents affected by at least mild depression symptoms. It is more than twice as prevalent among females ages 15to 20, compared to males of the same ages, according to an analysis of data from the 1990 to 1992 National Comorbidity study.

Anxiety Disorder :- National prevalence data and specific anxiety disorders in adolescents are limited, although original studies suggested that the combined prevalence of anxiety disorder is among the highest in childhood and adolescence. National datawere located on post-traumatic stress disorderL(PTSD); according to the 1995 National survey of adolescents (NSA) 3.7 % of all mental meals and 6.3 % of all females ages 12 to 17 were reported to have PTSD in 1995. Among these youths, nearly half of the males (47.3%) also had the symptoms of major depressive disorder as did nearly 30% of the females.

Substance Abuse Disorder :- Although substance abuse incidence is widely reported from several national surveys using different samples,fewer sources assess the prevalenceof the more disabling psychiatric diagnosis of substance abuse dependence disorder, in which one's life is controlled by substance news.The 1995 in the NSA estimated that 8.2% of bill and 6.2%of female ages 12-17 have a substance abuse dependence disorder. In 2006 that NSDUH data showed that 8.2 % of 12 to 17 year olds depended on alcohol or illicit drugs for this behavior was slightly higher among female adolescents than male peers (8.4%-7.9%)Conduct disorder and oppositional defiant disorder :-Stealing, damaging property ,and threatening others which were associated with contact disorder diagnosis .Using 7-15 criteria in the DSM-IV diagnosis for conduct disorder,addhealth found that 3.4 % of adolescents ages 12 to 17 met the criteria for diagnosis of a contact disorder.Eating disorder:- In 2005 4.5 % of students Tu a or committed and 6.3 to diet pills powder or liquid without a doctor's advice to lose weight avoid gaining weight. Learning disability and attention deficit and hyperactivity disorder ADHD:- Learning disabilities and ADHD disorders are functional impairments that can challenge relationships and well-being.Youth learning disabilities are nearly twice as likely to report emotional disorders and suicide attemts.In 2005, 9.2% of 12-17 years olds were reported to have a learning disability, compared to 6.5 % of 5 to 11 years olds.ADHD was identified among 8.9 % of the adolescents and 6.1 % of the children of the children.

CONCLUSION

National data make clear that a sizeable proportion of Young people have symptoms of emotional distance, and analysis using add health data,For example shows that is sexual minorityyouth report higher level of depression substance use and suicide attempts. While they are clearly limitations in our understanding of adolescence mental health we know enough to act.

****

REFERENCE

1. Rice, M. S., Purcell, R., & McGorry, D. P. (2018). Adolescent and young adult male mental health: Transforming system failures into proactive models of engagement.
2. Journal of Adolescent Health, 62(3), S9–S17.
3. Mojtabai, R., Olfson, M., & Han, B. (2016). National trends in the prevalence and treatment of depression in adolescents and young adults. Pediatrics, 138(6), e20161878.
4. Jackson, M. (2009). Understanding links between adolescent health and educational attainment. Demography, 46(4), 671–694.
5. Boudon, R. (1974). Education, opportunity, and social inequality : Changing prospects in western society. Wiley
6. World Health Organization (2017) Mental health atlas 2018. World Health Organization, Geneva
7. Schaefer JD et al (2017) Enduring mental health: prevalence and prediction. J Abnorm Psychol 126(2):212–224
8. Dey M, Landolt MA, Mohler-Kuo M (2012) Health-related quality of life among children with mental disorders: a systematic review. Qual Life Res 21(10):1797–1814
9. Torsheim T et al (2006) Cross-national variation of gender differences in adolescent subjective health in Europe and North America. Soc Sci Med 62(4):815–827

Learning as a Bystander: Case of *Lakshami* in Shyam Benegal's *Ankur*

Vaishali Yadav
Research Scholar
Indira Gandhi University, Meerpur Ph.- 9896372170

Abstract: The world inhabited by humans is a complicated one, woven into the fabric are concepts of have's/ have not's, black/ white, master/servant and so on and so forth. The society has demarcated borders and fixed roles for each and every category of people with no scope for defiance. One such stereotyped category is that of the domestic help. It is these stereotypes that force people to live a life they despise with no light at the end of the tunnel. Their plight has provided the plot to many narratives which in turn inspired stage plays and film adaptations. Film or as widely known as cinema, an all -pervasive art form has taken multiple stances while realistically representing the predicament of the domestic servants. On one hand cinema vows to curb the evil that is devouring the society and on the other it tends to rejuvenate and re-establish the same by way of repeated representation.

Keywords: Class division, stereotypes, cinema, binary opposition.

Introduction

Since it's invention in 1895 cinema has come a long way to become the part and parcel of every human's life. There are a multitude of things that unite people across continents but nothing as does cinema. Irrespective of origin, language, caste, class people look at cinema and it's various forms with the same intent i.e. entertainment. But only a few can see beyond the façade that is cinema. Selection and representation of themes on the screen is not innocuous and a careful analysis will reveal that they are loaded with seductive snares and prejudicial stereotypes. It is rare to spot cinema without any designs thereby violating the very being of to keep the viewer in the company of stimulants, robbing her/him of his sense of body, mind and emotions. French anthropologist Claude Levi Strauss in 1900s propounded his theory of 'binary opposites' and focussed on their existence mainly in the narratives either written or made into films. Based on his theory it can be very well understood that the basic structuring of cinema is based on binaries. Hero /villain, comic/tragic, rich/poor are some of the most common binaries represented in cinema of all types. Absence of these binaries would render it not just formless but meaningless. Similarly, a widely acclaimed and enjoyed art form such as cinema can not possibly have a unidirectional impact on the audience. It can bring about multifarious transformation in the lives of the viewer depending on the representation of the themes on those big flashy screens. Although viewer's perception also plays an effective role in determining the meaning of the film or a particular shot but here, the focus will remain centred around the execution of themes on the screen and their impact in demolishing or re-establishing the age old stereotypes rampant in the name of customs/ traditions.

One such widely circulated stereotype in the society is about the particular way in which the servants or domestic help are expected to behave, while catering to the needs and desires of their masters. And especially in Indian societies servants are looked down upon as undesirable and yet believed to be indispensable parts of a well- functioning household. From sunrise to sunset, they drag themselves in making our lives easier running across the house performing almost all the errands but still remain oblivious to the eyes of the master. Possibly the master arrogantly chooses to ignore their presence, a presence so widely impactful and so little acknowledged. Always at the beck and call of the masters they are also exploited in ways known only to them. Common human characteristics such as courage, aggression, retaliation, self – esteem, integrity, freedom, are undesirable and unacceptable of servants in the house/community. It's almost like servants are a completely different variant of humanity devoid of all the human emotions that could possibly be a threat to the well established bourgeoise system. A good servant, or even better 'a bearable servant' as servants are always considered as a bad influence on society because of illiteracy, ill-mannerism, unhygienic living, and so on. Imagining a good servant conjures up the image of submissiveness, voicelessness, vulnerability and the state of being always at the mercy of the master. These demarcations are so rigid that any sort of deviation from them is not just unacceptable but a punishable offense. Hansen sums up the representation of servants in media, film and literature as "The literary writer's servant is there in an active variety: as a loyal tool, mercenary opportunist, active agent, disturber of the social order, representative of the rising bourgeois, forerunner of the revolution" (1989:22). The view that servants threaten the social order is reinforced in Dipesh Chakrabarty's comment on servants where he states that servants represent the dirt, disease and "rubbish" of a disorderly outside world (Dickey,2000). Servants are regarded as harbingers of disorderly and filthy outside which tends to pollute the order and cleanliness of the upper class inside. At the same time servants are also regarded as markers of having achieved upper or middle-class status. They are considered as agents of maintaining the class status. There is contradiction inherent

in the views about servants. On one extreme they are regarded as the 'disturbers of the social order' whereas on the other extreme they are an indispensable part of every household, and a necessary tool to maintain the social status. The social order they are blamed of disturbing is actually established and maintained by them. Voltaire once wrote "the comfort of the rich depends upon an abundant supply of the poor" and it's the comfort that compels the rich to let the poor in their so called safe and ordered inside. Sara Dickey talks
about the major class divisions based on two or three –part models of class structure. The two-part model consists of the rich and the poor and the three-part model consists of lower, middle and upper classes. For both the have's and have nots' there are different connotations of these class divisions. For poor there are rich and poor. For the rich there are upper class, middle class and then the lower class. The crux of this class division concept is that existence of one class is inevitable to the existence of another class. Imagine a classless and casteless world, where all are economically and socially equal. There would be no servants at all. And if there are no servants there are no masters. So, the social order outside and inside is maintained by both masters and servants alike.

Widely accepted notion of a servant is, one who is submissive, available 24x7 for their master's errands, apprehensive of mistakes, low class, ill-mannered and powerless with a need of uninterrupted monitoring. In the December 17, 2011 issue of *The Economist,* servants have been referred as "necessary evils". The unwillingness of masters to do the household chores gives rise to the necessity of servants. Even if they regard servants as low-bred, uneducated, unsophisticated, and above all dirty and unhygienic they are still in a dire need of servants, since having a servant is an indicator of high- class status and also a one stop solution for hassle free life. In the same issue of *The Economist,* one mistress voiced her dilemma as "bad with her; worse without her" and referred to maids as 'paid enemies'. Apart from the notion of order, purity and hygiene there is another reason for the master's dislike of the servants and that is security. Sara Dickey in her paper talks about the dangers posed to the households by 'servant's entrances and exits'. Servant's exit is a matter of concern for the masters, for with the servant goes all the details of their cultural and material wealth. Domestic help in the house is supposed to know the masters inside out and hence the fear of the exit. But it's not the exit that worries them much but the entrance in some other neighbourly house where supposedly the servant will spill all the secrets resulting in ruined reputation. And still there is an undying need and requirement of having a servant. Hiring servants in middle and upper-class houses does not only indicate the status one has achieved but also 'reinforce gender and class stereotypes' (Srinivas). Gender holds great importance while looking for servants as 'caring for the home, nurturing the family are women's responsibilities' says Sara Dickey. Household is mainly regarded as women's domain and hiring maids reinforces such notions of gender bias. Also, women are considered as more obligatory and submissive as compared to their counterpart and so the preference of maids over male servants. Gender, class, caste, religion and ethnicity play a great role in the lives of house helpers.

Indian cinema is flooded with themes of servitude depicting their helplessness and misery solely for the entertainment of the wealthy folks. Mrinal Sen's *kharij,* Chetan Anand's *Neecha Nagar,* Bimal Roy's *Do Bigha Zameen,* Shyam Benegal's *Ankur* and thousands of such other movies have been made, circulated, widely accepted and enjoyed in the name of realistic art. Their pain, suffering, helplessness, unrealised dreams, shattered hopes, broken and leaking homes, tattered clothes, unreciprocated cries for help all made into source of amusement for people sitting in their magnificent bunglows and motor cars. Shyam Benegal's *Ankur* released in 1974 gives heart wrenching representation of exploitation of a domestic worker Lakshami, played applaudingly by Shabana Azmi. After being abandoned by her husband Kishtayya, she faced multifarious exploitation on the hands of her young master Surya, who is shown to be an educated man although his actions speak otherwise. Married a child bride, and while waiting for her to come of age, driven by his bodily desires he indulges in sexual intimacies with Lakshami, the domestic help. Surya promised to take care of her until death do them apart, and Lakshami believed him. Promises like these abound in every corner of their lives and yet they fall for it hoping against the hopes that maybe this time the promise so made will be kept. But contrary to their expectations such promises are nothing but bait to lure them into satisfying the ego of their masters. Exactly what happened with Lakshami, when he found out that she was carrying his child he pressurised her to abort it failing which he would deny having any sort of relationship with her. As opposed to Lakshami, he actually enjoyed a position of superiority and no one would have had the courage to challenge or oppose him. On the other hand, Lakshami was forced to bear the oppression as per her master's whims and fancies solely for being poor, and a low caste female domestic help. Surya's father was well aware of his son's misdeed and Lakshami's status as a servant and yet he allowed his son to indulge with her who otherwise was regarded as untouchable and low-bred. If discovered and opposed by the village people, she will be sacrificed as the shameless slut who trapped an innocent boy by her

charms and Surya would walk out freely without even a hint of guilt. And as expected of her, as it is expected of the entire community of servants, she would stand there voiceless and vulnerable waiting for them to decide her fate. She would have been turned out of the village or may be incinerated for committing an unforgiveable crime of having sexual relationship with a man outside the wedlock, for she is a mere servant whereas the man would walk free as a predator waiting for his next prey after having devoured the last one, for he is the master. The film aptly depicts the plight of servants as desired and enjoyed by the bourgeoise and so did most of the films of the time. The climax of the film presents a clear contrast to the widely accepted notion of master-servant relationship. Kishtayya is back completely oblivious of Surya's acts, is willing to take up a job at his house for providing a better future to the kid who he believes to be his. Surya is scared at the sight of kishtayya walking towards him, imagining that he had come to take revenge and beats him mercilessly with a stick until Lakshami intervens to save her husband. It is in this scene for the first time that Lakshami, the servant is shown strong and determined while hurling abuses at Surya, the master in a very aggressive tone, becoming an eye opener for the audience who otherwise had imagined Lakshami to be incapable of such words and tone considering her status as a mere domestic help. But she rose above the stereotypes and went above and beyond the role prescribed to her by the society to save her mute and dumb husband from the tyranny of her master who had violated her in the name of love.

Owing to her husband's impotency a woman of the village deserted him and started living with a man of some other village. She was dragged from her hair by her husband's brothers to the panchayat. This is how the Sarpanch gave the verdict- -

" *aurat sirf mard ki hi ni gharwalon ki bhi hoti h, khandan or jaat paat walon ki bhi hoti h'*

Implying thereby that a woman can seek sexual gratification outside the wedlock but only from the men of her own caste lest she be defiled and be a disgrace to the entire community.

Lakshami, who was among the crowd learnt that the concepts of morality and immorality are relative of caste and class divisions. And that people choose to mould them to suit their needs and desires. Shyam Benegal shows Lakshami standing near the window around dusk and brooding over what she saw this morning. Then comes the representative of a hypocritical patriarchal society, Surya, who cajoles her and seduces her promising to be by her side forever, a hollow.promise that abounds the life of such people. Lakshami is well aware of the consequences and the horrible reality of the man but she gives in either for the want of love or a child, since her husband Kishtayya is unable to impregnate her.

The film is a satire on the hypocrisies of the male dominated society and the bitter reality of caste division, where the upper class is comfortable violating the women of the lower caste who are otherwise repulsed for being untouchable

****

Works Cited

1. Dickey, Sara. *Cinema and the Urban Poor in South India*. Cambridge University Press, 1993.
2. Kumar, Shanti. "4. Film/City: Cinema, Affect, and Immaterial Labor in Urban India".
3. *Precarious Creativity: Global Media, Local Labor*, edited by Michael Curtin and Kevin
4. Sanson, Berkeley: University of California Press, 2016, pp. 49-62.
5. https://doi.org/10.1525/9780520964808-006
6. Ahmed, Akbar S. "Bombay Films: The Cinema as Metaphor for Indian Society and
7. Politics." *Modern Asian Studies*, vol. 26, no. 2, 1992, pp. 289–320.,
8. doi:10.1017/S0026749X00009793.
9. Qayum, Seemin, and Raka Ray. "Grappling with Modernity: India's Respectable Classes
10. and the Culture of Domestic Servitude." Ethnography, vol. 4, no. 4, Dec. 2003, pp. 520–
11. 555, doi:10.1177/146613810344002.
12. Lévi-Strauss, Claude. "Structuralism and Myth." *The Kenyon Review*, vol. 3, no. 2, Kenyon
13. College, 1981, pp. 64–88, http://www.jstor.org/stable/4335186.
14. Dirks, Nicholas B. *Castes of Mind: Colonialism and the Making of Modern India.* Core
15. Textbook ed. Princeton University Press, 2011. *Project MUSE* muse.jhu.edu/book/36417.
16. Bharti, Swami Agehananda, 1977. "Anthropology of Hindi Films," Folklore 18,8: 288- 300
17. Das Gupta, Chidananda, 1981, *Talking About Films.* New Delhi: Orient Longman. 1991. *The*
18. *Painted Face* . New Delhi: Roli Books
19. Driver, Edwin D. and Aloo E. Driver. 1987.*Social Class in Urban India: Essays on*
20. *Cognitions and Structure.* Leiden: E. J. Brill.
21. Hansen, Karen Tranberg. *Distant Companions: Servants and Employers in Zambia, 1900–*
22. *1985*. Cornell University Press, 1989, http://www.jstor.org/stable/10.7591/j.ctt207g71p.
23. Dickey, Sara. "Permeable Homes: Domestic Service, Household Space, and the Vulnerability
24. of Class Boundaries in Urban India." *American Ethnologist*, vol. 27, no. 2, [Wiley,
25. American Anthropological Association], 2000, pp. 462–89,
26. http://www.jstor.org/stable/647180.
27. Srinivas, Lakshmi. "Master-Servant Relationship in a Cross-Cultural Perspective." *Economic*
28. *and Political Weekly*, vol. 30, no. 5, Economic and Political Weekly, 1995, pp. 269–78,
29. http://www.jstor.org/stable/4402351.

धर्मवीर भारती कृत उपन्यास 'गुनाहों का देवता' की लोकप्रियता के प्रमुख कारण

-भारती
पीएच. डी. शोधार्थी(हिंदी साहित्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय
जेआरएफ उत्तीर्ण (हिंदी)
फोन नंबर – 9354215858

शोध सार

धर्मवीर भारती द्वारा रचित उपन्यास गुनाहों का देवता हिंदी के अग्रणी उपन्यासों में से एक है। यह भारती जी का पहला उपन्यास है जो एक रोमांटिक प्रेमकथा है। इसमें मध्यवर्गीय जीवन में व्याप्त समस्याओं का विस्तृत एवं मनोरम ढंग से चित्रण किया गया है।

1949 मे प्रकाशित, इस उपन्यास की कहानी इलाहाबाद और स्वतंत्रता के बाद के समय में सेट की गई है। यह नायक चंदर के इर्द-गिर्द घूमती है जो गहराई से दोषपूर्ण, आदर्शवादी और बुद्धिमान है। और साथ ही प्यार, सेक्स और जीवन को लेकर बहुत उलझन में है। इसी उलझन की वजह से वह अपने तीन रिश्तों (हालांकि अलग-अलग रूपों में) – सुधा, पम्मी और बिनती – में असफल हो जाता है।

यह उपन्यास सुधा और चंदर के पवित्र प्रेम का चित्रण करता है। इसके कथा काल्पनिक न होकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक रिसर्च स्कॉलर की वास्तविक कहानी है । इसे हिंदी साहित्य के सबसे भावनात्मक उपन्यासों में से एक माना जाता है। युवाओं की नज़र में 'गुनाहों का देवता' हिंदुस्तान की सबसे दुखांत प्रेम कहानियों में से एक है । आखिर ऐसा क्या लिखा धर्मवीर भारती ने इस उपन्यास में....जो इसे इतना लोकप्रिय बनाता है । इसी का विश्लेषण इस आलेख में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

बीजशब्द – निश्छल प्रेम, मांसल, गुनाहों का देवता, मानसिक, अभिव्यंजना, आदर्शवादी, प्रार्थना, त्याग, बेमेल विवाह, अंतर्द्वंद्व

मूल आलेख

धर्मवीर भारती ने हिंदी साहित्य को जो दिया वह अद्भुत है। उनके कई प्रमुख उपन्यास है, जिनमें से उनकी कई कहानियों और उपन्यास पर फिल्म भी बन चुकी है। पर आज हम बात करेंगे 'गुनाहों का देवता' की, कि क्या उपन्यास था यह? और कैसी थी इसकी प्रेम कहानी? आज भी युवाओं के बीच इस कहानी की चर्चा इसके दुखांत अंत के चलते होती है।

इस उपन्यास के संदर्भ में राजेंद्र यादव लिखते हैं – " ***धर्मवीर भारती का उपन्यास गुनाहों का देवता बहुत सरल , स्निग्ध और मार्मिक है। इसमें गुलाब की सुकुमार पंखुड़ियों की भांति ही जीवन का विकास और विनाश हुआ दिखाई देता है। और हम सोच नहीं पाते कि इसे कैसे रोका जाए। बिनती और चन्दर की विवाह की शहनाइयां हम नहीं सुनते एवं वह प्रेम की पावन धारा में विलीन हो जाती है । भारती जी का कथानक साफ सुथरा व संतुलित है। यहां सबसे बड़ी सफलता भारती जी को इस बात में मिली है कि उन्होंने घटनाओं और अंतर्द्वंद्व का सामंजस्य बड़े सुंदर ढंग से किया।***" [1]

यह उपन्यास शिक्षित मध्यमवर्ग की युवा पीढ़ी के मानसिक अंतर्द्वंद्व के अनेक आयाम प्रस्तुत करता है , जिसके मूल में स्त्री पुरुष के बीच प्रेम संबंधों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। इसके परिपेक्ष्य में विवाह संस्था से जुड़ी खोखली मान्यताओं, जाति पाति, आर्थिक विषमताओं की पोल खोलना भी है। सामाजिक संस्कार और मर्यादा की जो दुनिया चंदर के मन में पैठी हुई है,जो उसे समाज के विरुद्ध आचरण करने नहीं देती। क्या सुधा के आपसी प्रेम और उससे उत्पन्न आंतरिक अंतर्द्वंद्व के लिए समाज अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार नहीं? भारती जी ने शिक्षित मध्यमवर्ग में निहित जाति – पाति , आदर्श नैतिक मूल्यों आदि को पात्रों के आंतरिक अंतर्द्वंद्व के माध्यम से उभारा है

धर्मवीर भारती सामाजिक और मानसिक दोनों यथार्थ को गहराई से समझने का प्रयास करते हैं। गुनाहों का देवता एक प्रेम कहानी होकर भी मानव मन की गहराइयों में उतर कर समाज की पोल खोलती है। साहित्य में व्यक्ति के महत्व को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं – "***साहित्य का आधार ही व्यक्ति है। जीवन और मौत , सुख और दुख , दिन और रात , अंधेरा और उजाला , अतीत और वर्तमान सभी की अभिव्यक्ति साहित्य में व्यक्ति के माध्यम से ही होती है।***" [2]

साहित्यकारों को व्यक्ति जीवन के सभी उच्चतम सौंदर्य नैतिकता , प्रेम व मूल्यों की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। गुनाहों का देवता को घोर व्यक्तिवादी

मानने वाले साहित्यकार राजेंद्र यादव भी मानते है कि – ***"व्यक्ति व्यक्ति मिलकर भीड़ बनते है। ईंट मकान की इकाई जरूर है लेकिन ईंट मिलकर ढेर बनता है मकान नही। असल में मकान बनाया है ईंट ईंट के संबंध से बनने वाले क्रम से । इसी आपसी क्रम ने उन्हें परस्पर संबंध दिया तभी तो ईंट मिलकर कभी दीवार बनाती है , कभी मीनार। व्यक्ति के बीच का संबंध समाज बनाता है । वह संबंधों की वह कड़ी है जो व्यक्ति और समाज के अस्तित्व को विकास और प्रगति को सार्थक बनाता है।"*** [3]

मध्यवर्गीय समाज में रूढ़ियां भीतर तक , अवचेतन में पैठी हुई हैं जिनसे तत्कालीन शिक्षित युवा वर्ग निकल नहीं पा रहा ।

" स्त्री पुरुष संबंध प्रेम और विवाह भारतीय मानस हिन्दू समाज विषयक रीति नीति के संबंध में महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाने वाली इस रचना में डॉ. शुक्ला की भांति पाठक को भी अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया है।" [4]

भारती जी ने इस उपन्यास में त्रिकोणीय प्रेम कथा के माध्यम से इस कहानी ने पाठकों के हृदय पर अमिट छाप छोड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। युवाओं की नज़र में 'गुनाहों का देवता' हिंदुस्तान की सबसे दुखांत प्रेम कहानियों में से एक है. आखिर ऐसा क्या है इस उपन्यास में जो पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करता है।

" 'गुनाहों का देवता' नाम की सार्थकता प्रतिपादित करने के लिए लेखक ने अपने पात्रों के मुख से 'देवता' शब्द का प्रयोग करवाया । " [5]

इस उपन्यास का केंद्र बिंदु बेमेल विवाह की समस्या को उजागर करना है। बेमेल विवाह इंसान को अंदर से खोखला कर देता है।

" संबंध विच्छेद अथवा पारिवारिक जीवन में जो एक प्रकार की खण्डनात्मक स्थिति पनप रही है उसके लिए काफी अर्थों में समाज को दोषी ठहराया गया है – पर्याप्त समय में प्रचलित मान्यताएँ जीर्ण-शीर्ण (समय-स्थिति विपरीत) होने पर उनका अंधानुकरण कहाँ तक न्यायसंगत है, विचारणीय समस्या है। डॉ. शुक्ला का भी इसी प्रकार का अभिमत है – " सुधा का विवाह कितनी अच्छी जगह किया गया, मगर सुधा पीली पड़ गई है। कितना दुख हुआ देखकर और बिनती के साथ भी यह हुआ।" [6]

इसकी ***भूमिका*** में भारती जी ने लिखा है – "***मेरे लिए इस उपन्यास का लिखना वैसा ही रहा है, जैसे पीड़ा के क्षणों में पूरी आस्था के साथ प्रार्थना करना । इस उपन्यास में भी पीड़ा और प्रार्थना जैसा ही कुछ है ।"***[7] अगर आप पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पल-बढ़ रहे हैं तो आसानी से ये उपन्यास दिल के काफी करीब प्रतीत होगा । "***पितृसत्ता मानव सभ्यता और खासकर स्त्री के शोषण का सबसे खतरनाक और मीठा हथियार है । यह वर्चस्व मुनाफे और सत्ता के अधिकार विस्तार का बुनियादी हथियार है । पितृसत्ता एक ऐसी भूलभुलैया है जिसमें एक बार फसने के बाद निकलने का रास्ता नहीं मिलता है।"*** [8]

वैचारिक स्वतन्त्रता में निहित उनका वैयक्तिक स्वातंत्र्य व्यक्ति की परिभाषा तक सीमित कर दिया गया , क्योंकि उन्होंने किसी बाद के दायरे में न बंधकर अपने भावों और विचारों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति दी।

" ***लोकप्रियता के शिखर को छूने वाली रचना को लांछित करने के उत्साह में कुछ वैयक्तिक राग द्वेष का अभाव था ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । आश्चर्य तो यह है कि छायावादी कविता की सभी विशेषताओं की उत्साह से प्रतिष्ठा करने वाले शीर्ष आलोचक भी गुनाहों का देवता के संबंध में किशोरवयिन भावुकता का आरोप लगाने लगे ।*** "[9]

चंदर एक और साहित्यिक चरित्र है जो ***पहचान के संकट*** का सामना करता है, सामाजिक पूर्वाग्रहों के बीच जन्मा और बड़ा हुआ है । प्यार, वासना, सेक्स और शादी के सवाल का जवाब खोज रहा है। यह उल्लेखनीय और आश्चर्यजनक है कि साठ साल से अधिक समय बीत जाने के बाद भी, ये सवाल आधुनिक भारत में अभी भी प्रासंगिक हैं। दरअसल भारती ने ***नारीत्व के जिन मॉडलों*** को चित्रित किया है, वे भी आज की **धर्मवीर** महिलाएं हैं। इसका सीधा सा मतलब है कि तब से ***महिलाओं की स्थिति और छवि में बहुत बदलाव नहीं आया है, बस पृष्ठभूमि अलग है।***

वास्तव में ये विचार हमारी समाज व्यवस्था की देन है । जिसमें नारी को चारित्रिक संस्कारों के नाम पर बंधनों में बांधा जाता है। इस उपन्यास में पात्र सुधा के अनुसार – ***" हिन्दू नारी इतनी असहाय होती है, उसे पति से, पुत्र से इतना लांछन,अपमान और तिरस्कार मिलता है की पूजा पाठ न हो तो वो पशु बन जाए।"*** [10]

हम देखते है किस तरह कभी परम्परा तो कभी चारित्रिक संस्कारों के नाम पर स्त्रियों की स्वतंत्रता का हनन किया जाता है । उपन्यास में पम्मी के माध्यम से समाज में स्त्री के प्रति विचार अभियुक्त करते हुए लिखा है कि – ***" शादी और तलाक के बाद इस नतीजे पर पहुंची की 14 बरस से 35 बरस तक लड़कियों को बहुत अनुशासन में रखना चाहिए। "***[11]

तीन अलग-अलग पृष्ठभूमियों से तीन प्रमुख महिला पात्र सुधा, पम्मी और बिनती को लेखक ने चालाकी से समाज में ही नहीं बल्कि अपने मन में भी प्रचलित रूढ़ियों को दर्शाने के लिए गढ़ा है, खासकर उसके अवचेतन में, जिसके बारे में वह खुद नहीं जानता क्योंकि वह इन लैंगिक रूढ़ियों की आलोचना करने का आभास नहीं देता, बल्कि वह उन्हें स्वीकार करते हुए आगे बढ़ाता है।

उपन्यास में बिनती नारी ***मुक्ति की आवाज*** को प्रखर करती हुई कहती है – ***" आखिर नारी का भी स्वाभिमान है । मेरी मां मुझे बचपन से कुचलती रही, मैने तुम्हे दीदी से भी बढ़कर माना । तुम भी ठोकरें लगाने से बाज नहीं आए फिर भी मैं सब सहती रही । अब मैं विरोध करना , विद्रोह करना सीख गई हूं । जीवन में स्नेह की जगह है लेकिन स्वाभिमान भी कोई चीज़ है ।"***[12]

धर्मवीर भारती ने अपने उपन्यास में पम्मी और चंदर के संबंधों को गहराई से बताते हुए थोड़ा सेक्सुअल टच तो दिया है, पर वल्गैरिटी कहीं नहीं रखी. उसमें सिहरन...", रोमांच व रोमांस है, पर उत्तेजना नहीं। एक जगह चंदर जब पम्मी को छूता है, तो उसके अनुभव के बहाने धर्मवीर भारती आदमियों को लेकर औरतों की समझ का बयान यों करते हैं – ***"औरत अपने प्रति आने वाले प्यार और आकर्षण को समझने में चाहे एक बार भूल कर जाये, लेकिन वह अपने प्रति आने वाली उदासी और उपेक्षा को पहचानने में कभी भूल नहीं करती। वह होठों पर होठों के स्पर्शों के गूढ़तम अर्थ समझ सकती है, वह आपके स्पर्श में आपकी नसों से चलती हुई भावना पहचान सकती है, वह आपके वक्ष से सिर टिकाकर आपके दिल की धड़कनों की भाषा समझ सकती है, यदि उसे थोड़ा-सा भी अनुभव है और आप उसके हाथ पर हाथ रखते हैं तो स्पर्श की अनुभूति से ही जान जाएगी कि आप उससे कोई प्रश्न कर रहे हैं, कोई याचना कर रहे हैं, सान्त्वना दे रहे हैं या सान्त्वना माँग रहे हैं। क्षमा माँग रहे हैं या क्षमा दे रहे हैं, प्यार का प्रारम्भ कर रहे हैं या समाप्त कर रहे हैं। स्वागत कर रहे हैं या विदा दे रहे हैं। यह पुलक का स्पर्श है या उदासी का चाव और नशे का स्पर्श है या खिन्नता और बेमानी का।"*** [13]

प्रेम के निष्छल रूप की अवधारणा

गुनाहों का देवता प्रेम का नया समाजशास्त्र प्रस्तुत करता है, जिसमें प्रेम का स्वरूप शांत है लेकिन उसका अप्रत्यक्ष रूप समाज पर करारी चोट करता है। यह परंपरागत विवाह संस्था पर प्रश्न चिह्न खड़ा करता है। मिस डिक्रीस के माध्यम से आरम्भ में ही मानो उपन्यास की वास्तविक समस्या को इंगित किया हो – ***" शादी अपने आप को दिया जाने वाला सबसे बड़ा धोखा है । इस धोखे की ओर कच्ची आयु के भोले भावुक मन , प्रेमी वासना रहित निर्मल प्रेम के लिए उल्लास के साथ बढ़ते तो है, परन्तु एक सीमा पर पहुंच कर जो चातुर्दिक विस्फोट होता है, वही यथार्थ का केंद्रीय मर्म है ।"***[14]

भारती जी ने पम्मी , सुधा , बिनती व गेसू के माध्यम से स्त्री के अनेक रूपों एवं ***प्रेम की अवधारणा*** को स्पष्ट किया है। सुधा को खोकर चंदर पम्मी की ओर बढ़ता है जो सुधा के स्वतः स्फूर्त और सहजता में विकसित प्रेम के विरुद्ध उसे प्रेम में गणित की उपस्थिति से परिचित कराती है।

" सुधा के रूप और आकर्षण को अंकित करने के लिए लेखक भरपूर रोमानी काव्य उपकरणों का उपयोग करते हैं । ' वह बांस की टहनियों की तरह लहराकर बोलती है , उसकी हंसी में दूधिया बचपन छलकता है , चन्दर सुधा के दो कबूतरों जैसे उजले मासूम पैरों को अपनी गोद में रखकर भर्राए गले से बोलता है।" [15]

वस्तुतः इन रोमानी उपकरणों के अतिशय उपयोग ने ही इसकी अंतर्वस्तु के गंभीर परायण में बाधा भी डाली। यही कारण है कि किशोरवय पाठकों के बीच जहां यह उपन्यास लोकप्रियता के शिखर पर दिखाई देता है वहीं गंभीर पाठकों के बीच विरोध का पात्र भी बना रहा है।

उपन्यास की ***अनुवादक पूनम सक्सेना*** लिखती हैं, "***युवा पीढ़ी इस प्रेम कहानी से शायद खुद को जोड़ न पाए जिसकी नींव बलिदान पर रखी गई है। आपको खुद को दूसरे समय में रखना होगा क्योंकि अगर आपको देखना है कि 2015 में वे कैसे व्यवहार कर रहे हैं, तो उनकी उथल-पुथल को समझना बहुत मुश्किल है।"***[16] समय के साथ बदलते पात्रों की भावनाओं के संदर्भ में यह काफी हद तक स्वीकार्य है लेकिन सभी पात्र समय के साथ नहीं बदलते हैं बल्कि उसके साथ आने वाली परिस्थितियाँ बदलती हैं जो बहुत ज़्यादा नहीं बदली हैं। कुछ पात्र आंतरिक मानवीय आधारों पर पीढ़ियों से बरकरार हैं।

लोकप्रियता को यदि आलोचनात्मक प्रतिमान की तरह इस्तेमाल किया जा सकता तो धर्मवीर भारती का गुनाहों का देवता (1949) इस दौर की उल्लेखनीय कृति है । " [17]

एक ना बन सकी फिल्म

इस उपन्यास की लोकप्रियता को भुनाने का एक फिल्मी प्रयास भी हुआ। अमिताभ बच्चन और रेखा को लेकर एक फिल्म का निर्माण शुरु हुआ था 'एक था चंदर एक थी सुधा' के नाम से। यह हिंदी सिनेमा का दुर्भाग्य ही है कि साहित्यिक कृतियों पर बनने वाली फिल्में प्रायः अधबीच में ही दम

तोड़ देती हैं। इस फिल्म के साथ भी यही हुआ, कुछ रीलें बनीं और फिर फिल्म डिब्बे में बंद हो गई। इसकी शूटिंग इलाहाबाद में हुई थी, जिसमें अमिताभ पर इलाहाबाद में साइकिल चलाने के दृश्य फिल्माए गए थे। एक पूरा गाना भी रफी की आवाज में रिकॉर्ड किया गया था, जिसे बाद में अधूरी फिल्मों के टुकड़े जोड़कर बनाई गई 'फिल्म ही फिल्म' शीर्षक फिल्म में इस्तेमाल किया गया।

निष्कर्ष

गुनाहों का देवता' का मुख्य उद्देश्य इसमें भारती जी के द्वारा मध्यमवर्गीय जनमानस के दर्शन होते हैं। घर परिवार में चारों तरफ विभिन्न घटनाओं का वर्णन मिलता है। लेखक ने अपनी भूमिका में स्वयं लिखा है – ***" मेरी निगाह में तो समाज की वर्तमान मान्यतायें और व्यवस्था एक बहुत बड़ा गुनाह है, क्योंकि वह आधुनिक तरुण के स्वस्थ विकास की हत्या अन्तर्विकारों और उलझनों से उबरकर एक स्वस्थ सामाजिक धरातल पर नहीं आ पाते ..... ऐसी नैतिकता के खिलाफ विद्रोह करता हूँ।"*** [18]

कुल मिलाकर, यह एक बेहद दिलचस्प और बेहतरीन उपन्यास है – एक ऐसा उपन्यास जो उस समय के इलाहाबाद समाज और प्रेम की अवधारणा – दोस्ती, पूजा और सेक्स में – स्वयं की खोज करता है। प्रेम के प्रति एक आदर्शवादी, बुद्धिमान युवक की उलझनों और विचारों को बहुत अच्छी तरह से सामने लाया गया है और पुरुष नायक के चरित्र विकास ने इस पुस्तक को एक दिलचस्प उपन्यास बनाया है।

आज का युवा लगभग चन्दर जैसी मनोस्थिति से गुजरता है, उन्हीं उलझनों में घिरा खुद को पाता है। प्रेम में जो बाधाएं चन्दर और सुधा के समक्ष थी लगभग उन्हीं उलझनों व समस्याओं से आज का युवा वर्ग भी दो चार होता है। आज भी वें ही परिस्थितियां विद्यमान है। इन्ही कारणों के चलते ये उपन्यास आज भी अपनी लोकप्रियता युवा वर्ग में बनाए हुए है।

विवेकिराय के अनुसार – " ***सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक उत्तरदायित्व और उसके परंपरागत अभिजात रूप के भीतर से भी उसकी समस्त मोहकता को तोड़कर उभरती नारकीयता और प्रेम के संदर्भ में नारी की सनातन पीड़ा के समानांतर पुरुष के नए प्रभाव से आक्रांत अंतरांदोलन तथा इस प्रकार के नाना अतः विरोधी आयामों में यौवन ज्वर की भांति विकसित प्रेम संघर्षों की अति सुगठित दास्तान पाठकों को आकर्षित करने वाले मूल्यवान स्थाई तर्कों से पूर्ण प्रतीत होती है।"*** [19]

इन्हीं सब कारणों से ये कृति कालजयी कृति बन सकी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. राजेंद्र यादव के अठारह उपन्यास, राधाकृष्णन प्रकाशन, प्रा. लि. दरियागंज, 2008, 78
2. प्रगतिवाद : एक समीक्षा , धर्मवीर भारती, साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग, प्रथम संस्करण 1849, पृष्ठ. सं. ११६
3. राजेंद्र यादव ,कहानी स्वरूप और संवेदना, वाणी प्रकाशन दिल्ली , 2020 , पृष्ठ. सं. १०८
4. धर्मवीर भारती व्यक्तित्व और कृतित्व, चंद्रकांत वाण्डिवडेकर साहित्य अकादमी , नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – २००१, पृष्ठ. सं. ८८
5. डॉ हुकुमचंद राजपाल, धर्मवीर भारती: साहित्य के विविध आयाम, वि. भु. प्रकाशन साहिबाबाद, प्रथम संस्करण – १९८३, पृष्ठ. सं. १३९
6. डॉ. राजपाल हुकुमचंद, धर्मवीर भारती, साहित्य के विविध आयाम, भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 1991, पृ. 141, पैरा. 2
7. गुनाहों को देवता, धर्मवीर भारती, भूमिका पृष्ठ. सं. 3, प्रकाशक इलाहाबाद भारतीय ज्ञानपीठ ,लोदी रोड नई दिल्ली, १२०००
8. लिंगभेद, पितृसत्ता और स्त्रीवाद , जगदीश्वर चतुर्वेदी , सुधा सिंह, एकेडमिक पब्लिकेशन दिल्ली , प्रथम संस्करण 2021, पृष्ठ. सं. 63
9. धर्मवीर भारती व्यक्तित्व और कृतित्व, चंद्रकांत वाण्डिवडेकर साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण – २००१, पृष्ठ. सं. ६९
10. धर्मवीर भारती , गुनाहों का देवता, ज्ञानपीठ प्रकाशन, क्लासिक एडिशन, 2013 पृष्ठ. सं. 229
11. धर्मवीर भारती , गुनाहों का देवता,ज्ञानपीठ प्रकाशन , क्लासिक एडिशन, 2013 पृष्ठ. सं. 63
12. धर्मवीर भारती, गुनाहों का देवता, ज्ञानपीठ प्रकाशन, क्लासिक एडिशन, 2013 पृष्ठ. सं. 188
13. गुनाहों को देवता , धर्मवीर भारती , प्रकाशक इलाहाबाद भारतीय ज्ञानपीठ ,लोदी रोड नई दिल्ली, १२०००३, पृष्ठ २०५
14. धर्मवीर भारती की साहित्य साधना , पुष्पा भारती, वाणी प्रकाशन , 2006, पृष्ठ सं. 198
15. उपन्यास का विकास , मधुरेश , लोकभारती प्रकाशन , प्रथम संस्करण – 1996, पृष्ठ सं. 91
16. गुनाहों का देवता, धर्मवीर भारती द्वारा (चंदर और सुधा, अनुवाद-पूनम सक्सेना) प्रकाशित 20 मार्च, 2015 Songsstoriesbooksandmore द्वारा
17. हिंदी उपन्यास का विकास , मधुरेश , लोकभार्ती प्रकाशन , प्रथम संस्करण – 1996, पृष्ठ सं. 96
18. त्यागी साधना, धर्मवीर भारती समग्र, वैभव प्रकाशन, रायपुर, 2008, पृ. 147, पैरा. 2
19. धर्मवीर भारती, प्रभाकर क्षोत्रिय (सं0), मोहनलाल के डया हिंदी साहित्य न्यास , नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ सं. 20.

*****

Lonely Gods and Urban Ghosts: An Exhibition of Existential Struggles in Selected Indian English Novels

-Dr. Dharmendra Kumar Singh
Assistant Professor ,
Department of English ,
MHPG College, Moradabad
dksinghdharmendra@gmail.com

Abstract

This research paper delves into the existential agonies that beset characters adrift in loneliness, urban alienation, and the ceaseless search for meaning within the swiftly shifting corridors of modern Indian society, as rendered in contemporary Indian English fiction. Employing the evocative metaphor of 'Lonely Gods' and 'Urban Ghosts,' the study investigates how Indian novelists in English etch portraits of individuals suspended between the gravitational pulls of tradition and modernity, struggling with fractured identities, profound disconnection, and an aching spiritual vacuity amidst the feverish sprawl of the metropolis. The selected novels unravel a tapestry of urban experiences wherein characters, though engulfed by the multitudes, languish in secluded solitude, ensnared by memories, smothered by regrets, and haunted by unfulfilled yearnings. The research brings to light the curious agency of the city itself—both stage and silent actor—magnifying the tremors of estrangement. Through a meticulous analysis of these narratives, the paper seeks to illuminate how Indian English literature interrogates enduring human concerns: the hunger for purpose, the longing for belonging, and the invisible freight of urban life. This analysis captures with aching precision the muted crises of the soul amid the deafening tumult of modernity.

Key Words

Lonely Gods, Urban Ghosts, Cultural Dislocation, Existential Struggles, Fragmented Identities

Exploring existential struggles within English novels has become a significant facet of contemporary literature. Throughout the world, where English exists as a form of literature, this trend is towering to date. India is no exception to it. When one delves deep into Indian English Literature (IEL), one finds that Indian English novels possess two distinct existential struggles: those of 'solitary gods' and 'urban ghosts.' These metaphors, used by Indian English novelists, are not just literary devices but powerful tools that vividly capture the depth and complexity of their characters' lives. They adeptly use them to view the characters' experiences, stimulating intellectual curiosity and engagement, correspond to their mundane lives and display their complex interaction of alienation, identity, and generalized cultural dislocation in Indian societies. This intellectual curiosity and engagement is what draws us into their world, as they reveal the annals of their deep and complex existential struggles that cause them a constant feeling of separation and disconnection from their world, indicating their personal experiences and reflecting on their relations with the society in which they dwell. What they feel and how they face their lives make them either 'solitary gods' or 'urban ghosts.'

The notion of 'lonely gods' refers to the idea that gods, though all-powerful, often feel a sense of isolation and separation because of their divine psychology and anthropomorphic tendencies. They constantly long to connect with the world, wanting companionship with its indwellers. The world's theologies are brimming with their illustrations, and literature is not aloof from them. Agatha Christie's short story "The Lonely God" (1926) brought this concept to prime through the character of Frank Oliver in literature. Whether short stories or fiction, it denotes characters that symbolize their disappointment with traditional values in their existential exploration in such a social landscape that is transforming rapidly. It conveys such individuals who feel powerful but isolated as divinities who look at the world on the world but cannot relate to it. Often, they seem to possess everything—a career, a wealth or a successful status, but they still fight with deep solitude.

On the other hand, the concept of the 'urban ghosts,' shifting from the traditional image of spectral figures—haunting old houses or desolate landscapes—to the modern urban environment, denotes the fragmented identities of the individuals who navigate the urban expansion, the achievements of the passages of the past, the lost connections, and the struggle to

belong to an increasingly isolated world. The urban environment, with its rapid changes, crowded streets, and social networks, serves as a backdrop that amplifies the characters' feelings of invisibility and disconnection. It illustrates the difficult situation of characters who feel invisible in the lively cities, embodying anxieties, alienation, and the fragmented nature of city life within. The invisibility of the characters is too stark and profound for the audience to feel it as they sail in crowded streets and social networks, remaining unprecedented and invisible, being fed up with a sense of displacement and modern haunting, symbolizing the weight of the past. This invisibility also serves as a lens through which to interpret a complex psychological phenomenon the characters experience.

The metaphors of 'lonely gods' and 'urban ghosts' are the two sides of a coin called Indian English fiction. The former grapples with fading power and relevance in swiftly changing cities of the country, and the latter with histories and anxieties. Though these metaphors conceptually differ, they are identical in exploring the themes of isolation and displacement. The interplay between the supernatural and human experiences they present represents the struggles of the characters to connect with themselves and others in an absurd world. They correspond to their profound search for meaning in a world that is coherent to its denizens. They explore their crises, which makes the audience feel the intensity of their struggles, show how they deal with their place in society and their identities, and highlight their disconnection in urban environments, making the audience feel the characters' loneliness. Moreover, they explore such stances in the characters' lives in which they ponder the questions about what it means to be human and how to find a purpose in a chaotic life. Emphasizing their introspection, they make the audience feel a sense of understanding and connection. However, both concepts offer unique lenses through which to examine the human condition and our relationships with the past and the unknown based on characters depicted in the fiction.

Minute mensuration in Indian English novels reveals that the novelists intertwine the experiences of the ‘lonely gods’ and ‘urban ghosts’ in their narrative fabric. Through their characters, they deepen essential issues of isolation, identity and research of meaning. They highlight the deep psychological and emotional landscapes that define the lives of individuals in contemporary India, landscapes that are as significant as the physical ones. The archetype of the lonely God appears in many literary works, representing figures with great power or intuition, but in the end, they are isolated from the world around them. These characters often sail in an existential state of anguish. They grapple with the complexities of identity and the search for meaning. In literature, the gods can be seen as creators or controllers, but their solitude highlights a disconnection from humanity because of “the shattering of” their “existence” (Heinemann 177). This theme resounds particularly in the Indian English novels, where the characters exemplify the struggle between divine attributes and intrinsic isolation.

Many Indian English novels, such as *The God of Small Things* by Arundhati Roy, *Midnight's Children* by Salman Rushdie, *The White Tiger* by Aravind Adiga, *The Inheritance of Loss* by Kiran Desai, and *A Life Apart* by Neel Mukherjee have themes closely tied to identity and insulation issues. The characters are often captured in the conflict between traditional values and modern influences. They feel divided between their roots and the expectations of urban life, leading to a complex sense of self. Their struggle with identity contributes to feelings of isolation since they may not fully belong to any of the two worlds. Consequently, their search for meaning becomes a central theme since they try to understand their place in society and their desires and dreams. In addition, narratives often explore as external factors, such as economic changes, social norms and family pressures, shape the insulation experiences of the characters. These factors make it more difficult for them to forge connections, adding to their existential dilemmas. Such a representation of the urban landscape further escalates these themes. The reason is that the cities are depicted as vibrant spaces and alter. The tumult and tempo of urban life drown personal voices that lead the individuals to feel ghosts, i.e., their past repeatedly haunts them.

In Arundhati Roy's *The God of Small Things*, the 'lonely gods' theme is archetypal. It is manifested in the experiences of the major characters like Ammu and Velutha. The former's character embodies a sense of divine potential, yet society's expectations and personal failures burden it. Her aspirations that abruptly contrast with the oppressive rules of her environment lead her to feel as if it were above social constraints

but unable to transcend them. This duality positions her as a "lonely God" figure who embodies the strength while simultaneously facing its vulnerability in a rigidly hierarchical society. The struggle of Ammu powerfully illustrates her existential isolation: "They had been warned that they would be punished, but it was the type of warning that came from the sharing of a sacred space" (Arundhati Roy 321). In these lines, the "sacred space" symbolizes a divine kingdom that offers freedom but remains out of reach due to social taboos and "punished" indicates external consequences and reflects his internal conflict with her desires and the social limits that bind them, underlining her isolation, revealing how her powerful emotions proclaim his desire for connection, yet her existence remains marked by solitude. Next comes Velutha, who represents this novel's archetype of the 'lonely god.' His crafts and skills, akin to those of the Creator, elevate him to a 'divine' figure, but his tragic life, full of caste-based discrimination and violence, makes him a 'lonely' figure. His essence, reflecting the height of divine attributes and the depths of human isolation caused by social structures, makes him a 'lonely god.'Whatever little was left in this context was completed by his tragic death, reminding the harsh realities limiting even the most divine figures, made him an urban ghost, persecuting the same spaces he once tried to transcend.

In Salman Rushdie's *The Midnight's Children*, the metaphors of 'lonely gods' and 'urban ghosts' explore the complex relationship between individual destiny and national history. It represents the weight of exceptionality and the enduring impact of the past on the present within India's dynamic but often chaotic urban environment after 15 August 1947, underscoring the themes of alienation, fragmentation, memory, and the search for identity in rapidly changing cities like Bombay. The protagonist and narrator—Saleem Sinai—embodies this isolation. His telepathic connection to the rest of Midnight's children offers a sense of community, but their dispersion wanes their power; consequently, he experiences a growing solitude that haunts him with a profound sense of being alone in his struggle. His unique burden of being 'handcuffed to history' (Kabir 119) further isolates him. The other midnight children scattered across the subcontinent are burdened by their extraordinary gifts. Each possesses a unique power, like fragmented deities, but cannot fully connect. Their powers, instead of elevating them, often become sources of personal struggle and further isolation. The lingering past makes them urban ghosts. Their memories, traumas, and unresolved histories of the past continually haunt their present under the relentless march of modernity that reshaped their identities, i.e., their physical and geographical space significantly make them 'lonely gods' and 'urban ghosts.' However, in the face of these challenges, the characters' resilience is truly inspiring.

In Indian English Fiction, the 'urban ghosts' metaphor symbolizes existential anxiety. They do not refer to literal spirits but rather to the feelings of isolation, disconnection and despair that often afflict characters living in modern cities. The term captures the essence of the characters who sail in urban landscapes, feeling trapped in their own experiences while disappearing simultaneously in the anonymity of urban life. Thus, urban ghosts reflect individuals' struggles in a rapidly evolving society. The urban framework plays an important role in forming the identity of the characters in Indian English novels. Cities represent a double nature; They are places of opportunity, but they also have obstacles that create a feeling of separation from their roots and the community. Literary examples help illustrate the haunting presence of isolation experienced by characters described as urban ghosts. In novels like Kiran Desai's *The Inheritance of Loss*, Biju, the protagonist, struggles with cultural dislocation in a globalized world. Located in Kalimpong, which is beautiful and insulating, the story captures the essence of the characters not synchronized with their environment. The city serves as a backdrop that improves the characters' feelings of despair and loss, emphasizing their internal battles in a vast and impersonal environment. To them, “solitude became a habit, the habit became the man, and it crushed him into a shadow (Desai 45).

One of the compelling pieces of evidence for this concept is Arvind Adiga's *The White Tiger*, whose protagonist, Balram Halwai, embodies the essence of an urban ghost. His sail through the complexities of his life in contemporary India symbolizes it well. His trip is marked by a struggle for identity and meaning from his modest beginnings in a rural village to his experiences in the lively city of Bangalore. Though surrounded by wealth and opportunity, he often feels like a ghost, thinking, "A white tiger keeps no friends" (Adiga 178). His feelings indicate urban

spaces where people struggle with their ambitions and desires. Their past haunts them, and their social position disturbs the calm of their mind and soul.

Another notable example of this concept is observed in Neel Mukherjee's *A Life Apart* (2010). In this novel, the lives of the characters are set in the context of the swiftly changing urban landscape of Kolkata. Ritwik Ghosh, the protagonist, faces family pressures and societal expectations and substantiates the conflict of being an urban ghost. Though rich in history and vitality, the city strongly contrasts with the emotional vacuum that the character experiences. Like Ritwik, other characters also possess a quest for meaning in the context of inflexible urban life. Their struggles highlight the theme of existential crises, a struggle so intense it is "hot with stigma, almost unspeakable" (Mukherjee 290), evoking a deep sense of empathy.

The metaphors of 'lonely gods' and 'urban ghosts' are visible in other novels too. Be it Vikram Seth's *An Equal Music*, Jhumpa Lahiri's *Interpreter of Maladies*, Shashi Despondence's *That Long Silence*, Arun Joshi's *The Foreigner* or Upamanyu Chatterjee's *English, August,* all reflect psychological alienation and existential inertia of modern Indian and diasporic individuals. In *An Equal Music*, Michael's solitude and longing mirror a godlike detachment from worldly ties, a feeling many of us can relate to. Lahiri's diasporic characters, navigating displacement and cultural loss, become spectral presences in foreign cities—*urban ghosts* suspended between worlds, a state of being that feels familiar to many. Deshpande's Jaya, silenced in patriarchal domesticity, resembles a *lonely goddess* entombed in her home, which resonates with many women. Joshi's Sindi Oberai, with his pithy statement: "I have no roots" (The Foreigner 143), reveals the identical catharsis of his life. Moreover, Chatterjee's Agastya, disenchanted in bureaucratic India, drifts like a spectral figure through postcolonial urban spaces, a feeling of disconnection many of us have experienced. Mostly, these characters are caught in emotional and cultural dissonance. They have become prototypes of divinities abandoned by meaning and ghosts neglected by the living. Collectively, they embody the fragmented self in a modern world of muted connections and unresolved identities.

The telescopic view of Indian English novels reveals that existential anxiety makes their characters urban ghosts. It isolates them and accentuates their quest for identity and belonging in the urban environment. Rather than being a place of refuge, the city becomes an endless recalling of their difficulties. Through these literary objectives, exploring urban landscapes reveals a complex interaction between oneself and society in a world that often seems indifferent to individual struggles. In Indian English novels, the characters depicted as urban ghosts often struggle with their identities. These characters are generally represented as marginalized or individuals lost in the crowd of urban life. They fight with questions like: Who am I? Where do I belong? These questions become fundamental for their existence as they sail on the complexity of modern society. The "urban ghost" concept reflects the people who feel disconnected from what surrounds them, leading to a sense of feeling invisible in a lively city.

This disconnection often derives from rapid changes in the urban landscape. The characters in novels by contemporary Indian authors often engage with the issue of dislocation. More than geographical, this dislocation is emotional and psychological. For example, in authors such as Aravind Adiga or Jhumpa Lahiri, one sees characters physically present in the city but emotionally removed. They are simple shadows of themselves. Their ideas reflect that they are ghosts in their life. Their attempts to connect with others highlight their intense feelings of solitude and desire for understanding.

The degeneration of traditional identities is another thematic aspect of these novels. Many characters lose cultural roots while migrating for better opportunities in modern metropolis. Their migration gives them a hybrid identity. The weight of the past that they bring with them and the tempo of the new urban environs in which they dwell gives birth to such duality that constantly creates in them a profound sense of isolation and confusion. To them, these cities, acting as characters and settings, are a land of promise and a prison cell in whose heart ghostly people wander, looking for their lost things. The characters' search for their lost things is a poignant reflection of their longing for their past lives; like Egdon Heath (though not a city), the tale of these cities affects its dwellers in person and personnel. Like Eliot's *The Wasteland*, the novels of the novelists depict their existential elimination in detail. To illustrate the turmoil of their minds and souls, all the novelists present touching moments of their characters' lives that gently encapsulate their existential explorations.

Moreover, stories found in these novels often explore the inner turmoil of these urban ghosts who dwell here and there in the travail of their lives, musings on the profundity of their life's purpose. Their monotonous struggle to express their longing for connection through fragmented memories and broken dreams is a poignant portrayal of their yearning to reclaim their haunting past. Though they live for a promising future, they pine for their lost home, love, and identities. In metropolitan cities, they walk on the razor's edge among the living yet feel profoundly alien to themselves. They feel trapped in such a labyrinth from where there is no escape. Haunted by the past and stung by the present, living amid the chaos of city life, they curse upon their life, thinking this to be destined.

To cut the story short, it can be said that the metaphors of 'solitary gods' and 'urban ghosts' have a powerful existence and essence in the Byzantine artifact of Indian English fiction writing. As archetypes, they traverse the intricacies of coeval Indian acculturation while capturing the existential difficulties of the chief characters, reflecting their identity-related turmoils, cultural displacement, and alienation entirely. These metaphors rooted in Indian fiction resonate with readers all around the globe, speaking to the universal human experience. The former stands in for those who, despite their might or insight, are alone because they deviate from societal norms. These analogies are present in almost all Indian novels without constricting one narrative. Their experiences, filled with emotional and psychological turmoils, provide mind-blowing perceptiveness into the terrains influenced by individual ambitions, aspirations, and societal norms. Indian English fictions explore the human condition through the deep prism of 'solitary gods' and 'urban ghosts,' representing the timeless and universal search for identity, connection, and purpose in a world known for its absurdity. Ammu best shows this in Arundhati Roy's *The God of Small Things*, whose disobedience of patriarchal norms causes her to be marginalized and ultimately die. Similarly, Velutha represents the sad loneliness of a 'lonely god' punished for crossing social bounds with his extraordinary abilities and forbidden love.

On the other hand, the idea of 'urban ghosts' represents those who feel lost and unconnected in the middle of the busy city. Saleem Sinai's disjointed identity and telepathic powers, symbolized by his name 'Saleem,' which means 'peace' in Arabic, highlight his disengagement from national and personal narratives in Salman Rushdie's Midnight's Children. His experiences show the lingering effects of the past and the difficulty of maintaining unity in a quickly changing society. Furthermore, this metaphor's essence is embodied by characters such as Ritwik Ghosh in Neel Mukherjee's A Life Apart and Balram Halwai in Aravind Adiga's The White Tiger, who traverse the tension between alienation and ambition. In short, the overview of Indian English novels reveals that the gods in them do not die—they linger as ghosts, burdened by memories and forebodings that unsettle the fragile peace of the present. In short, the overview of Indian English novels reveals that the gods in them do not die—they linger as ghosts, burdened by memories and forebodings that unsettle the fragile peace of the present.

Works Cited

- Adiga, Arvind. *The White Tiger: A Novel*. Atlantic Books, 2008.
- Desai, Kiran. *The Inheritance of Loss*. Groove Press, 2006.
- Heinemann, F.H. *Existential and the Modern Predicament*. Harper, 1953.
- Joshi, Arun. *The Foreigner*. Orient Paperbacks, 2010.
- Kabir, Ananya Jahanara. "'Handcuffed to History': Partition and the Indian Novel in English." *A History of the Indian Novel in English,* edited by Ulka Anjaria, Cambridge University Press, 2015.
- Mukherjee, Neel. *A Life Apart*. Corsair, 2011.
- Roy, Arundhati, *The God of Small Things*. Penguin Books, 1997.

About the Contributor

Dr. Dharmendra Kumar Singh, a D.Litt. candidate at SunRise University, Alwar, Rajasthan, serves as Assistant Professor in the Department of English at MHPG College, Moradabad. Formerly affiliated with MJPRU Bareilly, his academic association now extends to Guru Jambheshwar University, Moradabad, U.P., India. He can be reached at *dksinghdharmendra@gmail.com*

*****

यू.पी.बोर्ड कें माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की अभिवृत्ति का उनकी शैक्षिक उपलब्धि के परिपेक्ष्य मे अध्ययन

नवनीत कुमार
शोधकर्ता
स्कूल ऑफ सोशल साईंसिज
आईएफटीएम विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

डॉ.प्रदीप कुमार
शोध निर्देशक
सहायक प्राध्यापक
स्कूल ऑफ सोशल साईंसिज
आईएफटीएम विश्वविद्यालय,मुरादाबाद

सार :- शिक्षा के क्षेत्र में अब किसी को भूतकाल की तरह मात्र नौकरी के लिए शिक्षित करना ही उद्देश्य नहीं है। बल्कि व्यक्ति को शिक्षित करने के बाद इसे देश की सेवा तथा देखभाल में जाना है। देश की उन्नति के लिए भावी सुनागरिक तैयार करना हमारी शि क्षा का उद्देश्य है। अतः विद्यार्थी के जीवन में विभिन्न पहलुओं के प्रति उसकी अभिवृति को जानना महत्वपूर्ण है। इसलिए व्यक्तिवाद तथा जातिवाद आदि के प्रति बालक–बालिकाओं की अभिवृत्ति जानना नितान्त आवश्यक है।

कि वर्ड :- अभिवृत्ति, शैक्षिक उपलब्धि, अविक. सित

प्रस्तावना :- मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा प्रणाली में शि क्षा दो स्तरों में विभाजित थी– प्राथमिक और उच्च। प्राथमिक स्तर पर सभी विषय अनिवार्य रूप से पढ़ाए जाते थे और उच्च स्तर पर अरबी, फारसी के अतिरिक्त अन्य विषय वैकल्पिक रूप से पढ़ाए जाते थे। मुस्लिम कालीन शिक्षा प्रणाली इस देश में एक विदेशी पौधा था, वह इस देश के मूल निवासियों को उतनी उपयोगी नहीं हो सकी जितनी कि किसी भी समाज की शिक्षा प्रणाली को होना चाहिए। परन्तु इस प्रणाली में कुछ अच्छी बातें भी थी जो अब किसी भी देश की शिक्षा प्रणाली में आवश्यक समझी जाती है जैसे–शिक्षा सस्थानों को राज्य का संरक्षण और नियमित आर्थिक अनुदान, निःशुल्क शिक्षा और छात्रवृत्तियों की व्यवस्था और शिक्षा की व्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप आदि। हमने अपनी आधुनिक शिक्षा प्रणाली में इन सबको थोड़े व्यापक रूप में अपनाया है।

भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली का आरम्भ अंग्रेजी शासन काल से माना जाता है। इसकी शुरूआत बहुत पहले 1510 ई0 में पुर्तगाली ईसाई मिशनरियों ने कर दी थी। इसके बाद यहाँ 1613 में अंग्रेज, ईसाई मिशनरियों का प्रवेश हुआ। लार्ड मैकाले का उद्देश्य था कि अंग्रेजी भाषा भारतीय शिक्षा का माध्यम होना चाहिए। इस प्रकार भारत में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को प्राथ. मिकता दी गयी और भारतीय भाषाओं को अविकसित एवं गवांरू बतलाया गया।

मैकाले सोचता था कि भारतीयों को एकमात्र बाबू तक ही सीमित रखा जाए। वह भारत में अंग्रेजी के द्व ारा एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना चाहता था जो रक्त एवं वर्ण से भारतीय हो परन्तु विचार, आचरण एवं कार्य में अंग्रेज हो। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के उपासक वर्ग का निर्माण करके वह भारतवासियों में फूट डालना चाहते थे जिसके परिणाम स्वरूप अंग्रेज भारत का सदैव शोषण करते रहे। वर्तमान शिक्षा आज इस बात पर एकमत है कि इसका उद्देश्य बच्चों को एकमात्र सूचनायें देने से ही नहीं, बल्कि सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ–साथ व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक, भावनात्मक आदि सभी दृष्टियों से तैयार करना है डेविस ने कहा है–''मनोविज्ञान ने छात्रों की क्षमताओं, विभिन्नताओं का विश्लेषण करके शिक्षा को विशिष्ट योग दिया है।''

अध्ययन की आवश्यकता व महत्व :- इस प्रकार विद्यालयों में अंग्रेजी शिक्षा लागू कर भारतीयों पर अंग्रेजों द्वारा खेला गया खेल हित में रहा और विद्यालय ब्रिटिश शासन के कल पुर्जे बन गये। छात्रों में जातिवाद की भावना पैदा की गयी जिसके कारण मुस्लिम एवं हिन्दुओं में भारत बंट गया लेकिन 1947 में 15 अगस्त को देश को स्वतन्त्रता मिलने के बाद भारत में पुनः स्व. तंत्र अभिवृत्ति विकसित करने का प्रयास किया गया। अब पुनः आत्म निर्भरता के युग का रूपाकाल प्रारम्भ हुआ। हमारे महान देश का बुद्धिजीवी वर्ग सब स्वतन्त्रता रूप से प्रजातांत्रिक मूल्यों एवं देश के प्रति

समर्पण और भावना का विकास करने का प्रयत्न कर रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र में अब किसी को भूतकाल की तरह मात्र नौकरी के लिए शिक्षित करना ही उददेश्य नहीं बल्कि व्यक्ति को शिक्षित करने के बाद उसे देश की सेवा तथा देखभाल में लगाना है। देश की उन्नति के लिए भावी सुनागरिक तैयार कराना हमारी शिक्षा का उददेश्य है। अतः विद्यार्थी के जीवन के विभिन्न पहलुओं के प्रति उसकी अभिवृत्ति को जानना महत्वपूर्ण है। इसलिए व्यक्तिवाद धार्मिकता तथा जातिवाद, शैक्षिक उपलब्धि के प्रति बालक बालिकाओं की अभिवृत्ति जानना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत शोध विषय यू0पी0 बोर्ड के माध्यमिक स्तर के छात्रों के सन्दर्भ में ''यू0पी0 बोर्ड के माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की व्यक्तिवाद, धार्मिकता एवं अपने जातिवर्ग के प्रति अभिवृत्ति का उनकी शैक्षिक उपलब्धि के परिपेक्ष्य में अध्ययन'' से सम्बन्धित है।

अनेक शिक्षाशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि शिक्षा जीवन की आधारशिला है। इसकी आवश्यकता एवं महत्व का समाज में प्रमुख स्थान है। यही जिज्ञासा मन में उत्पन्न करके शोधकर्ता ने उपरोक्त विषय पर शोध कार्य करने का प्रयास कर निर्णय लिया।

समस्या कथन :- यू0 पी0 बोर्ड कें माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की अभिवृत्ति का उनकी शैक्षिक उपलब्धि के परिपेक्ष्य मे अध्ययन।

शोध अध्ययन के शब्दों का परिभाषीकरण :-

यू0पी0 बोर्ड :– माध्यमिक शिक्षा परिषद, उत्तर प्रदेश एक परीक्षा लेने वाली संस्था है। बोर्ड ने 10 + 2 शिक्षा प्रणाली अपनायी हुई है।

विद्यार्थियोंः– विद्यार्थियों से तात्पर्य उन बालक–बालिकाओ से है जो 10 तथा 12 कक्षाओं के विद्यार्थी है।

अभिवृत्तिः– अभिवृत्ति से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के इस दृष्टिकोण से है जो किसी वस्तु, व्यक्ति, संस्था या स्थिति के प्रति किसी भी विशेष प्रकार के व्यवहार को इंगित करता है।

शैक्षिक उपलब्धि :– शैक्षिक उपलब्धि का अर्थ है विद्यार्थियों ने अपने लद्युकालिक या दीर्ध कालिक शैक्षिक लक्ष्यो को किस हद तक हाषिल किया है।

अध्ययन के उद्देश्य :- साम्प्रदायिकता के प्रति शहरी छात्र एवं छात्राओं की अभिवृत्ति के प्रभाव का अध्ययन करना।

परिकल्पनायें :- साम्प्रदायिकता के प्रति शहरी छात्र एवं छात्राओं की अभिवृत्ति में कोई अन्तर नहीं है।

शोध अध्ययन विधिः– किसी भी शोध कार्य को वैज्ञानिक ढंग से पूर्ण करने के लिए अनुसंधान की विधि की आवश्यकता होती है। अनुसन्धान विधि का निर्धारण समस्या के स्वरूप व प्रकृति को ध्यान में रखकर किया जाता है। प्रस्तावित शोध अध्ययन की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए "वर्णनात्मक अनुसंधान" का एक प्रकार आदर्शमूलक सर्वेक्षण विधि का प्रयोग करना उचित लगेगा इसलिए शोधकर्त्ता ने सर्वेक्षण विधि का प्रयोग इस अध्ययन में किया गया है।

शोध अध्ययन की जनसंख्याः– जनसंख्या से तात्पर्य ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र के यू0पी0 बोर्ड के माध्यमिक स्तर पर 10वी और 12वी पाठयक्रमों में शिक्षा ग्रहण कर रहे विद्यार्थियों को जनसंख्या माना है।

शोध अध्ययन में प्रयुक्त उपकरणः– प्रस्तुत शोधकार्य में शोधकर्त्ता ने उद्देश्यों के अनुरूप उपकरणों की खोज की, अतः शोधकर्त्ता ने शोध पर्यवेक्षक एवं शोध क्षेत्र के अन्य अनुभवी विद्वानों से सम्पर्क किया तथा उनके परामर्श से मानकिकृत उपकरणों को शोध कार्य में प्रयोग किया गया।

तालिका संख्या 1.1
साम्प्रदायिकता के प्रति शहरी छात्र एवं

समूह	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	क्रान्तिक अनुपात	सार्थकता स्तर
छात्र	200	84.78	20.46	1.86	***
छात्राऐं	200	83.36	17.36		

छात्राओं की अभिवृत्ति में कोई अन्तर नहीं है।

0.01*सार्थक, 0.05*सार्थक, *** सार्थक नहीं

व्याख्या :–

तालिका संख्या में माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत् छात्र एवं छात्राओं की स्वास्थ्य को दर्शाया गया है। तालिका में माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत् छात्रों का मध्यमान एवं मानक विचलन क्रमशः84.78 एवं 20.46 प्राप्त हुआ है जबकि माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत् छात्राओं का मध्यमान एवं मानक विचलन क्रमशः 83.36 एवं 17.36 प्राप्त हुआ है। दोनो समूहों के मध्य क्रान्तिक अनुपात का मान 1.86 प्राप्त हुआ है। प्राप्त क्रान्तिक अनुपात सार्थकता के दोनों स्तर (0. 01एवं 0.05) से कम है। कम सार्थकता स्तर दोनों समूहों के मध्य सार्थक अन्तर को स्पष्ट नहीं करता है।

Abdelrazek, O. H. G. (2016). Level of aspiration, critical thinking and future anxiety as predictors for the motivation to learn among a sample of students of Najran university. International Journal of Education and Research, 4(2), 61-70.

Alexander, S. C. P. (2011). Family environment externalizing and internalizing behaviors among adolescents in St. Lucia. Loma Linda University. Electronic Theses & Dissertations, Paper 18.

Borah, S. (2013). Family environment and Academic achievement of adolescent students of Jorhat District, Assam. Indian Journal of Education, Research, Experimentation and Innovation, 3(3).

Bhandari, S. (2014). A study of the level of aspirations among the adolescents. GHG Journal of Sixth Thought, 1(1), 40-42.

Dhingra, R. (2001). A study of certain selected variables (Family Environment and social adjustment) Related to hearing impaired children. Journal of human ecology, 22(1), 83-87.

Prasad, M. (1994). A study of social alienation among secondary school students. Ph.d. in Education, University of Lucknow, Lucknow (U.P.)

Parveen, S. (2013). Self-identity, value preferences, level of aspiration and personality characteristics among professional and non-professional students. Ph. D. Thesis, department of psychology. Aligarh Muslim University.

Pathak, S. N. (2014). A study of level of aspiration and achievement motivation of college students. Shrinkhala, 2(4), 13-15.

Pfingst, P. (2015). Girls career aspiration: impact of parants economic and educational status on educational and career pathways. Master of Education (Research) Dissertation. Faculty of Education. Queensland University of Technology.

Ravneet (2005). Aggression and adjustment among adolescents belonging to one child and many children families in relation to socio–economic statas and home environment. Ph.D. in Education, Kurukshetra University, Kurukshetra.

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अग्रवाल, एम0 (2007) हिन्दू और मुस्लिम महिलाओं के सामाजिक व सांस्कृतिक आधुनिकीकरण पर षिक्षा के प्रभाव का अध्ययन अप्रकाशित पी–एच0डी0 थीसिस, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ, उत्तर प्रदेश.

अल्टेकर, वाई0 (2002). प्राइमरी स्कूलों में भाषा व गणित आदि वि'ायों के शिक्षण में रन्टत व परम्रागत अध्ययन–अध्यापन विधियों के प्रभाव का अध्ययन अप्रकाषित पी–एच0डी0 थीसिस, षिक्षा संकाय, राजीव गॉधी विश्वविद्यालय, इटानगर, अरूणांचल प्रदेश

नागराजू, एस0 (2002). कर्नाटक के अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों की आकांक्षा का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर प्रभाव का अध्ययन. अप्रकाशित पी–एच0डी0 थीसिस, शिक्षा संकाय, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, कर्नाटक

नायक,के0 (2005) ने मुम्बई के किशोरों की आधुनिक सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के प्रति अभिवृति का अध्ययन मुम्बई विश्वविद्यालय के विशेष सन्दर्भ में, पी–एच0डी0 थीसिस, मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई

*****

Indian Knowledge System (IKS): A Blueprint of the *Purushartha Scheme* for Human Flourishing

Abnish Singh Chauhan
Professor & Head, Department of English
Principal, BIU College of Humanities & Journalism
Bareilly International University, Bareilly-243006 (U.P.)
Email: abnishsinghchauhan@gmail.com
ORCID: 0000-0002-3358-6760

Abstract:

Indian Knowledge System (IKS) embodies a vast civilizational wisdom collected from texts, discourses, and experiential wisdom, and transferred through *guru-shishya parampara* (the teacher-disciple mentorship model). Much more than ritual or religious training, IKS provides a multi-dimensional framework of human development that includes social, cultural, ethical, spiritual, economic and intellectual dimensions. At the core of the system is the *purushartha* scheme, which includes *artha, kama, dharma* and *moksa*, a holistic plan for a well-rounded and fulfilling life. This worldview encourages responsibility and valu-based behavior in daily life. Contemporary Indian philosophers have reinterpreted and restated these foundational concepts, applying them to today's global issues— varied as they are from ecological emergencies and morality degeneration to disorientation and identity crisis. Hence, the present study explores how IKS could guide current practices in the everyday life through a blueprint of the *purushartha* scheme, providing a universal and time-transcending approach to human flourishing in the 21st century.

Key Words: Indian Knowledge System (IKS), *Purushartha* Scheme, Human Flourishing, Framework of Knowledge, Wisdom, Values-based Living, Everyday Life

Introduction:

India has long focused on wisdom— the ability to reason and act on the basis of experience, knowledge, and perception. This focus on wisdom is deeply rooted in Indian Knowledge System (IKS), which provides a comprehensive and lifelong path towards understanding the self and the universe. The *Rig Veda* (6.1.10) summarizes this ethos in the line: "भद्रायां सुमतौ यतेम" (*bhadrayam sumtau yatem*) — let us pursue wisdom that leads to the happiness of all.

In IKS, the quest for wisdom is not passive reflection but active interaction with the world through thought, feeling, reflection, and conduct. It entails ongoing self-reflection and subtle responsiveness to internal and external events. This dynamic process of learning, through texts, discourses, and experiential wisdom, constitutes the essence of the Indian philosophical tradition. The *Bhagavad Gita* (3.5) says: "न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्/ कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः" (*na hi kashchitkshanampi jatu tishatyakarmakrit/ karyate hyvasah karma sarvah prakritijairgunaih*) — no one can remain idle even for an instant; all are forced to act by the nature-bred qualities.

This verse shows the inevitability of *karma* (action) in human existence. It is a general misconception that *karma* has to do with occupational or professional responsibilities. But all human activities— mental, emotional, or physical— are *karma.* For instance, even after coming back from regular work, people keep performing household, social, and personal activities. Therefore, action cannot be separated from life, which is motivated by the interaction of the three *gunas* (qualities, uniqueness, attribute, and property) created by its nature— *sattva* (goodness, calmness, harmonious), *rajas* (passion, activity, movement), and *tamas* (ignorance, inertia, laziness). A similar sentiment is echoed in the *Srimad-Bhagavatam* (6.1.53): "न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्/ कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैबलात्" (*na hi kashchitkshanamapi jaatu tishthatyakarmakrit/ kaaryate hyavasah karma gunaih svaabhaavikaibalaat*) — no living being remains idle even for a moment; they are compelled to act through their inherent tendencies.

Knowing how to practice *karma* meaningfully leads us to the *purushartha* scheme— *artha*, *kama*, *dharma*, and *moksha*— on which IKS is based. These four life goals are guiding principles for human flourishing. Swami Vivekananda underscored the necessity of adapting these values to contemporary life. He perceived values as living forces and not merely remote ideals influencing human conduct and the progress of society. He was convinced that these values were indispensable "for blissful living" (Chauhan 28). Based on the *Vedas*, Vivekananda supported the necessity for an educational system and a social order based on the *purushartha* scheme with a value orientation.

The *Vedic* ethics, as exemplified by the IKS, promote right conduct, right intention, and right action as conditions for well-rounded development— of the body (*artha*), the mind (*kama*), the intellect (*dharma*), and the soul (*moksha*). This holistic system of values is essential for self-realization at the individual level and for communal harmony.

In modern times, *dharma* is commonly reduced to 'religion' while ignoring its wider philosophical and moral aspects. *Dharma* is what sets human beings apart from animals— it is the inner law of right living. Without *dharma*, humanity ceases to exist. Dragoș Dragoman writes, "Obeying dharma, fulfilling the inherent duty, means taking part to the greater plan set up besides individual petty interests and selfish actions. Whenever dharma is in danger, no longer praised by humans, the world is on the brink of chaos" (p. 104).

The *purushartha* model, therefore, provides a complete formula for individual growth and social change. Whereas recognizing the functionality of *artha* and *kama*, it seeks to give pre-eminence to the superior pursuits of *dharma* and *moksha.* Such a ranking of values not only fosters interior harmony but responds to the constant crisis in values in the global world. Shifting modern living to the *purushartha* scheme of IKS, avenues towards sustainable, ethical, and spiritually meaningful human living can be established in a harmonious manner.

Roots of Indian Knowledge System (IKS)

Indian Knowledge System is rooted in *Vedic* culture, which consists of four major *Vedas*: *Rig*, *Yajur*, *Sama*, and *Atharva*. The *Rig-Veda* is older than the others and was used mainly in worshipping the divine. The *Yajur-Veda* describes rituals for sacrifice, the *Sama-Veda* chants during sacrificial rites, and the *Atharva-Veda* describes different rituals. The *Dharma Shastra* gives directions for moral and ethical behavior in everyday life.

Besides, there are six *Vedangas— Shiksha, Kalpa, Vyakarna, Nirukta, Chhanda*, and *Jyotisha,* which are vital elements of Indian Knowledge System. The system also borrows from other writings such as the *Upanishads*, the *Mahabharata*, the *Ramayana*, the *Puranas*, the *Brahmanas*, and the *Aranyakas*. The *Upanishads* explore philosophical questions about the nature of the universe, soul, and absolute. Kautilya's *Arthashastra* has a major input in the governance knowledge, with practical insights in management, statecraft, and foreign policy.

Indian knowledge system combines intuition, experience, and revelation, personified by the *Rishis* and *Yogis* who developed this tradition of intellect. The six Indian philosophical systems of *Nyaya, Vaisheshika, Sankhya, Yoga, Mimamsa*, and *Vedanta* add further depth to this knowledge base, with profound insights into logic, metaphysics, and ethics. Together, this system continues to provide meaningful counsel for effectively managing organizational and societal activity.

Relevance of Indian Knowledge System

In the current fast-changing world, conventional education systems are put under great pressure to deliver persons who can sustain the needs of the economy, technology, and globalization. Nonetheless, contemporary education, particularly in the West, has tended to be mechanistic and fragmented. It focuses on specialization and technical skills, typically at the expense of overall development.

The outcome is an education system that can generate talented professionals, but not well-rounded individuals who can solve the sophisticated moral, ethical, and spiritual challenges of modern life. This fragmentation is reinforced by a failure to prioritize values-based education. In most modern education systems, the priority is on measurable knowledge, with little concern for the spiritual and ethical aspects of life. IKS, however, provides an antidote to such a utilitarian approach. It promotes learning that is anchored in character building, ethical grounding, and a holistic understanding of life. "Although, if we look at Indian

ancient *Puranas* and Scriptures like *Mahabharta, Ramayana, Vedas, Bhagawad Geeta*, and *Arthashastra* etc., we come across a unique outlook of leadership and its consequence on the organization" (Rajoura and Rajoura 79).

Not that IKS neglects intellectual seriousness or technical skill— quite the contrary, it fosters both, but always in a setting that keeps in mind the complete person: mind, body, and soul.

The Framework of Indian Knowledge

The Indian epistemological picture is distinct because it intricately interweaves knowledge, applied insight, and wisdom, formerly conceived as *jnana, vijnana* and *prajnana,* into one all-encompassing, integrated conceptual framework. Prof. M. K. Sridhar remarks—

> The words such as *jnana*, *vijnana* and *prajnana* have wide and multifarious meanings in the Hindu thoughts and especially in the Vedanta philosophy. They just does not mean any kind of knowledge but a systematic methodology and encompass a plethora of disciplines, be it in the realms of art, science or philosophy. (p. 5)

It is, therefore, substantially divergent from several other worldwide traditions, particularly recent Western systems of education, both in terms of purpose and pedagogy. While modern education systems tend to focus on utilitarian results, standardization, and quantifiable success, Indian Knowledge System (IKS), which is "encapsulation of traditional and cultural values of different generations of different time periods" (Rajoura and Rajoura 78) focuses on the individual's transformation. This is achieved through both introspection and external application, leading to integral development that encompasses socio-cultural, spiritual, ethical, economic and intellectual growth.

In IKS, *jnana* is knowledge that offers insight into the nature of reality. It is intellectual learning, conceptual knowledge, and the capacity to distinguish truth. *Vijnana*, by contrast, is applied, practical knowledge— scientific knowledge that is actionable and useful to society. Last but not least, *prajnana* is a more advanced level of wisdom that goes beyond intellectual comprehension, bordering on intuitive, experiential, and spiritual wisdom. These factors are not separate or discrete but are blended, producing a dynamic interaction among knowledge, wisdom, and application that is regarded as critical to the well-being of the individual and society as a whole.

The Flow of Indian Knowledge

Indian knowledge flows through a rich tapestry of sacred texts, discourses, and experiential wisdom, which have been passed down for millennia. This knowledge is primarily transferred through the *guru-shishya parampara (*the teacher-disciple mentorship model), where the guru imparts wisdom directly to the disciple, ensuring its preservation and transmission. Yogis and Rishis, revered for their spiritual insight and deep connection to the divine, played a crucial role in this process, embodying both the practice and philosophy of the Indian knowledge system. Their teachings, which often blend intuition, revelation, and experience, continue to shape the intellectual and spiritual framework of India.

The idea of the *guru-shishya parampara* (GSP) is a signature of IKS and an indication of its distinctive method of disseminating knowledge. In this framework, the "*guru* (mentor) gives his knowledge to *shishya* (disciple) by adopting the principle of GSP" (Ramteke 22). The educator (*guru*) is not just a dispenser of information but a facilitator of a process of transformation in which knowledge is not just acquired but embodied and lived. The learner (*shishya*) is an active participant, directed not just to intellectual understanding but to moral understanding and spiritual evolution. This stands in contrast to the passive system of contemporary education, in which learners tend to receive information without greater involvement or application.

In traditional Indian pedagogy, the relationship between the *guru* and the *shishya* is seen as a sacred one. It is not based on a mere exchange of facts but on a profound, personalized transmission of wisdom that engages the whole being— mind, body, and soul. The *guru* provides not just teachings, but also serves as a guide, mentor, and spiritual guide. By his own life and instruction, he guides the *shishya* to a greater insight into life.

The *guru-shishya parampara* (GSP) is best seen in the *Upanishadic* question-and-answer style, where the pupil asks, and the master answers not just with intellectual solutions but also with wisdom that leads to profound self-examination. For instance, in the re-

nowned dialogues of the *Annapurna Upanishad*, the question, "Who am I?", is not simply an intellectual question; it is an ontological and metaphysical quest. Therefore, it is an offer to self-realization, to an experiential knowledge of one's authentic nature beyond the limitations of body and mind.

This reflective, dialogic process of learning is transformative in the sense that it leads the learner to self -discovery— a journey of discovering one's inner truth and purpose. The ultimate destination of this learning process is *atmabodha* (self-awareness) and *atmanubhava* (self-experience)— knowing the oneness of the self with the universe, and understanding that the highest form of wisdom lies within.

The Purushartha Scheme: A Balanced Approach to Human Fulfillment

Three doctrines are commonly recognized as distinctive markers of Hindu civilization: "the doctrine of the *varnas* (or the doctrine of the four classes), the doctrine of *asramas* (or the doctrine of the four stages of life), and the doctrine of the *purusarthas* (or the doctrine of the four goals of life)" (Sharma 223). Accordingly, the four *purusharthas*— *artha*, *kama*, *dharma*, and *moksha*— are the principles that constitute the basis of IKS's vision of human flourishing. The four goals of life offer a balanced and holistic approach to individual and collective well-being. In contrast to Western models that tend to emphasize material success or individual happiness as end goals, the *purusharthas* bring together the material and spiritual aspects of life in a harmonious manner.

Artha means material prosperity, wealth, and happiness. In IKS, *artha* is never regarded as a pursuit of wealth for selfish ends. Instead, it insists that wealth must be earned and shared in terms of *dharma*. *Artha* allows a person to live with pride, maintain their family, and serve society. It is a basic necessity for human flourishing but is always secondary to the values of *dharma* and *moksha.*

Kama is the moral pursuit of desire, pleasures, and emotional satisfaction. It involves love, artistry, beauty, and aesthetic expression. In IKS, *kama* is not inherently bad or evil. Indeed, it is part of a good and balanced life. But *kama* has to be pursued responsibly and ethically— not at the cost of *dharma* or *moksha*. The search for *kama*, when in harmony with values higher than themselves, enriches human life and brings joy, creativity, and meaning to existence.

Dharma is the moral code that guides one's responsibilities, duties, and actions. It involves not just personal morality but also social duty, fairness, and justice. It is situation-based, i.e., it varies with one's stage of life, social position, and personal situation. Though *dharma* can appear differently for a student, parent, or civil servant, it remains in consonance with the universal values of truth, justice, and peace.

Moksha, the last *purushartha*, is liberation— liberty from the wheel of birth, death, and suffering. *Moksha* is realizing one's own true self, the identity of the individual self (*atman*) with the universal self (*Brahman*). It is the end or the supreme goal of human life and spiritual development, marking the overcoming of ego, attachment, and illusion.

This unified model of the *purusharthas* shuns artificial dualisms between material and spiritual, body and soul, or pleasure and duty. It offers a dynamic, graduated vision of life, in which fulfillment is conceived as a cumulative process. Each life stage— *Brahmacharya* (student stage), *Grihastha* (householder stage), *Vanaprastha* (retirement stage), and *Sannyasa* (renunciation stage), has its own duties and objectives, representing a distinct phase of personal, familial or spiritual growth. This adaptive and comprehensive model allows people to live well-rounded lives, balancing their interests with their changing needs and capabilities.

The Theory of *Karma*: A Holistic Ethical Framework

At the center of IKS is the theory of *karma*— misunderstood in contemporary debate as a deterministic or fatalistic impulse. But in its fullest sense, *karma* is an active moral system that stresses responsibility, agency, and moral accountability. *Karma* does not only mean the law of cause and effect, but a purposeful, ethical system that governs human conduct: "First of all he (the living entity) makes a determination to act in a certain way, and then he is entangled in the actions and reactions of his own *karma*" (Swami Prabhupada 9-10). The *Bhagavad Gita* introduces the idea of *nishkama karma*— doing one's duty without attachment to the outcome. This is perhaps one of the deepest Indian philosophical teachings, as it releases

the individual from the fear of results, and instead emphasizes the integrity of action itself.

Karma transcends the individual to influence collective consciousness. All action— physical or mental— leaves a mark, not only on the individual but on collective consciousness. This establishes an ethic of interconnectedness and responsibility, where individuals are motivated to take into account the broader consequences of their actions on others and the environment. This is a spiritual ecology, where all action adds to the tapestry of society and nature.

This ethic of interdependence is essential in an increasingly globalized world that is increasingly facing such problems as environmental degradation, social inequality, and moral crisis. IKS teaches us that the results of our actions far transcend immediate outcomes, tracing waves of consequences in the social, ecological, and moral environments. By instilling awareness of this interdependence, IKS provides us with a paradigm for ethical practice that is not only individualistic but also intensely socio-cultural and ecological.

Values-based Living through IKS

Values-based practice "maintains that values are pervasive and powerful parameters influencing decisions" (Petrova 703) about life and works. Subsequently, with the increasing pace of a globalizing world, numerous modern thinkers and reformers have attempted to re-contextualize and reinterpret the values-based living in order to address contemporary challenges. These reinterpretations retain the underlying paradigms of values of the Indian tradition and reinterpret them to suit the realities of modern times, including globalization, technological progress, and socio-political turmoil.

One of the greatest contributions of contemporary thinkers has been placing importance on values-based education— a system of education that combines intellectual capability with spiritual and moral literacy. It aims to generate not only professionals but also persons who are morally upright, self-aware, and capable of doing good for society.

In this re-modeled context, *Artha* is not seen as mere individual wealth accumulation but as the vehicle for gaining collective prosperity and social well-being. Contemporary thinking emphasizes that economic success must be shared and that wealth must benefit the common good— a central theme that resonates deeply with current issues of inequality and sustainable development. Similarly, *kama* is reinterpreted in the light of responsible, ethical indulgence. Rather than promoting unbridled hedonism, the contemporary reinterpretation of *kama* emphasizes balancing individual wants with social responsibility, care for the environment, and consideration for others. In this new interpretation, *dharma* is not only considered personal moral direction but also the basis for social justice and national progress. Lastly, *moksha* is considered a complete realization of human potential, not by renunciation and seclusion from the world, but by active participation in life and its challenges. The contemporary understanding of *moksha* urges people to realize their spiritual potential while still participating in the affairs of the world.

These reinterpretations of various values provide a timely and applicable paradigm for negotiating the challenges of contemporary life. Through the integration of ancient wisdom and modern sensibilities, IKS continues to be a powerful means of promoting human flourishing in a more fragmented and uncertain world. Therefore, by building on the key elements of IKS, the research paper presents a greater appreciation of how Indian Knowledge System provides a complete and holistic vision for individual growth and values-based living. By its focus on integration, assimilating knowledge, practical understanding, and useful awareness, IKS provides ageless principles that can lead one towards a harmonious, meaningful, and prosperous life.

Conclusion

Indian Knowledge System (IKS) provides an integrative, holistic approach to learning and living, combining social, cultural, ethical, spiritual, and intellectual aspects. The focus of IKS is the understanding of *jnana* (knowledge), *vijnana* (scientific knowledge), and *prajnana* (wisdom), which together provide a transformative experience, developing wisdom and moral perception. The ethical philosophy of the *Purusharthas*— *artha*, *kama*, *dharma*, and *moksha*, offers a holistic model for harmonious and responsible living. *Nishkama karma*, or selfless action without attachment to results, allows for an interdependent and accountable society. The ethical system binds worldly success and spiritual fulfillment, providing answers to

contemporary issues such as sustainability and social justice. Reframed for modern times, IKS offers an eternal template for human flourishing, with a focus on character building, moral conduct, and socio-cultural and spiritual insight as being necessary for individual development and social welfare.

Works Cited:

Chauhan, A.S. "Vivekananda (The Voice of India): A Study of Dialogues on Awakening." *Poetcrit*, vol. 35, no. 1, Jan-June 2022, pp. 28-33.

Dragoman, Dragoș. "The Archetype of the Pathetic Man, between Objectivation and Objectification." *SAECULUM*, vol. 51, no. 1, 2021, pp. 104-115, https://doi.org/10.2478/saec-2021-0010

Petrova, Mila et al. "Values-based practice in primary care: easing the tensions between individual values, ethical principles and best evidence." *The British Journal of General Practice,* vol. 56 (530), Sep 2006, pp. 703-709.

Prem, P.C.K. *Srimad Bhagavata Mahapurana (As I Understand): Part I & II*. Authorspress, 2023. (Chapter number, *Sukta* number and *Sloka* number are given with the text)

Rajoura, Chanchal, and Nisha Rajoura. "Corporate Lessons from Indian Knowledge System: Learning from the Glorious Past for Building a Strong India". *Sachetas*, vol. 1, no. 3, Aug 2022, pp. 78-83, https://doi.org/10.55955/130008.

Ramteke, Rd et al. "Ancient Teaching Learning Method - Guru Shishya Parampara." JETHS, vol. 2, no. 1, Jan-April 2015, pp. 22-24.

Sharma, Arvind. "The Purusārthas: An Axiological Exploration of Hinduism." *Journal of Religious Ethics*, vol. 27, no. 2, 2002, 223-256, https://doi.org/10.1111/0384-9694.00016

Sridhar, M. K. "The concept of *Jnana*, *Vijnana* and *Prajnana* according to Vedanta philosophy." *International Journal of Yoga - Philosophy, Psychology and Parapsychology*, vol. 3, no. 1, Jan–Jun 2015, pp. 5-8, https://doi.org/10.4103/2347-5633.161024

Swami Prabhupad, A.C. Bhaktivedanta. *Bhagavad-gita As It is*. 2nd ed. Bhaktivedanta Book Trust, 1986. (Chapter number and *Sloka* number are given with the text)

Wilson, H.H. *Rig-Veda-Sanhita* (A Collection of Ancient Hindu Hymns of the Rig-Veda). The Bangalore Printing and Publishing Co. Ltd., 1946. 4 vols. (*Khanda* number, *Sukta* number and *Sloka* number are given with the text)

*****

The Impact of the Menstrual Cycle on an Athlete's Performance

Guide
-Dr. Ayaz A. Khan,
Assistant Professor,
Department of Physical Education
MATS University, Raipur, C.G., India

Co-guide
Dr. Alok Kumar Singh,
Assistant Professor,
Department of Physical Education
MATS University, Raipur, C.G., India

Corresponding Author
Prerna Mishra
Ph.D. Scholar,
MATS School of Physical Education,
MATS University, Raipur,
C.G., India

Abstract - The study aimed to analyse and compare the psychological changes during the four different phases of the menstrual cycle; Menstrual, Follicular, Ovulatory, and Luteal. Fifteen athletes were selected ages ranging between 18 to 25, who were involved in sports chosen with experience of 5-8 years. Their average age was 21, 5± 2 years, and the selected athletes were (5 amateur tennis players, 5 amateur football players, and 5 amateur field hockey players). Reaction time and Determination time were measured in each phase and analysed with the help of the Vienna test system (VTS allows digital psychological tests to be administered while also providing automatic and comprehensive scoring). The data in the study were analysed by using Repeated Measure ANOVA and the level of significance was at $p<0.05$.

Keywords: *Menstrual cycle, Reaction time, Vienna test system, Repeated Measure ANOVA*

Introduction

Menstruation has become less of a barrier to achieving sports goals for women in recent times. Menstruation has historically been a taboo subject in sports science and in the coach-female athlete relationship, with embarrassment and lack of empathy from male coaches being. Despite abundant research addressing the effects of exercise on menstruation, including menstrual irregularities resulting from training, less is known about how menstruation affects women's athletic training and competition. These cyclic hormonal fluctuations may affect physiological, physical and psychological potential and ultimately impact on sports performance.

Physical fitness is considered as one of the most valuable and important health markers in childhood (Ortega et al., 2008). Accordingly, in the past decades numerous countries have been promoting physical fitness improvement among young people in diverse ways. It is known that planning long-term fitness programs is the best way to improve these components (Donnelly et al., 2009). It has been an issue of debate since long time about the effect of menstrual cycle upon sports performance.

Material and Methods

Selection of Subjects

The current study was performed on 10 young female athletes taken from LNIPE Gwalior. Their age was ranged from 18- 23 years old with a regular menstrual cycle of 28-30 days. Those female athletes with irregular menstrual cycle or those using any supplements or medications were not allowed to participate in the study.

Data Collection

Subjects were given instructions to visit the psychological laboratory during each phase of menstrual cycle i.e., 1 - 2nd day of Menstrual phase, 8th - 10th day of Follicular phase (PP), 14th-16 of Ovulation phase and 21th -24nd day of Luteal Phase. The subjects' Reaction time and Determination time was assessed by the Vienna Test System and analysed for various psychological parameters such as (Reaction time and Determination time

Statistical Analysis

Reaction time and determination time were analyzed and measured during the menstrual cycle phase. Repeated measure Anova was used with the help of SPSS.

Table 1 - Mean and Standard deviation of psychological variable in different phases of menstrual cycle

Variable	Menstrual	Follicular	Ovulation	Luteal
Reaction Time	4.32± 0.76	4.14 ± 0.79	4.28 ± 0.78	4.13 ± 0.76
Determination Time	8.42 ± 1.21	8.75 ± 1.51	8.22 ± 1.43	8.33 ± 1.38

Table 2 – Pairwise Comparison of Reaction time in Different Phases of Menstrual Cycle

Factor I	Factor J	Mean Difference (I-J)	Std Sig. Error	95% Confidence Interval for Difference Lower Bound	Upper Bound
2	-1.23	.12	.00	-1.65	-.81
1	-7.10	.50	.00	-10.00	-6.77
3					
4	-26.30	1.32	.00	-31.23	-23.27
2	-7.16	.33	.00	-8.47	-5.56
4	-25.96	1.32	.00	-30.00	-21.7
3	-18.80	1.34	1.00	-22.69	-14.50
4					

As per the results shown in Table - 2, there is significant difference in the Reaction time between Menstrual and Follicular Phases (p-value=0.000); likewise Significant difference was found in Menstrual phase and Luteal phase (p-value=0.000); While there is no significant difference in the Reaction Time performance of athletes between any othermenstrual phases

Table 3 – ***Pair-Wise Comparison of Marginal Means of Determination Time during all four phases of the menstrual cycle.***

Factor I	Factor J	Mean Difference (I-J)	Std Sig. Error	95% Confidence Interval for Difference Lower Bound	Upper Bound
2	-2.30	.48	.00	-4.38	-1.31
1 3	-8.70	.74	.00	-13.00	-7.19
4	-23.70	1.49	.00	-29.23	-21.27
2 3	-7.05	.48	.00	-8.65	-5.24
4	-21.96	1.58	.00	-26.44	-18.7
3 4	-15.80	1.67	.00	-18.69	-10.50

As per the results shown in Table - 3, there was a significant difference in the Determination Time performance of athletes between menstrual and follicular, menstrual and ovulation, and menstrual and luteal phases. While there is no significant difference inthe Determination Time performance of athletes between any other menstrual phases.

Discussion

This study aimed to investigate the changes in psychological parameters across different phases of the menstrual cycle in female athletes. The findings indicated that the mean values for reaction time and determination time varied significantly across the menstrual cycle phases. Specifically, the reaction time showed a significant difference between the menstrual phase and the follicular, ovulation, and luteal phases. During the menstrual phase, athletes exhibited slower mean reaction times compared to the other phases. However, when comparing the luteal and follicular phases, no significant difference in mean reaction time was ob-

served, suggesting similar performance in both phases. Similarly, no significant difference was found between the luteal and follicular phases in terms of reaction time. When examining determination time, significant differences were found between the menstrual phase and the follicular, ovulation, and luteal phases, with athletes performing differently during the menstrual phase. In contrast, no significant differences were observed between the other phases (follicular, ovulation, and luteal) in determination time performance

Conclusion

The study aimed to compare reaction times and determination times across different phases of the menstrual cycle: menstrual, follicular, ovulation, and luteal phases. It found significant differences in response times between these phases, with the follicular phase showing the fastest reaction times, followed by the ovulation, luteal, and menstrual phases. Reaction times were longest during the menstrual phase, possibly due to fluid and salt retention affecting neural conduction.

Additionally, auditory and visual reaction times (ART and VRT) were found to be longer in the menstrual phase and shorter in the luteal phase compared to the follicular phase. Previous studies suggest that cognitive function can be impaired during the para-menstrual phase (around menstruation), possibly due to hormonal fluctuations. For instance, research indicated elevated reaction times during the premenstrual phase, linked to fluid retention and reduced central nervous system processing capacity.

In terms of performance, female athletes tend to perform better during the follicular phase due to higher energy levels, reduced anxiety, and a more focused mood. Conversely, performance during the menstrual and luteal phases may be hindered by slower reaction times, attributed to hormonal and physiological changes, such as increased fluid and electrolyte levels.

Bibliography

1) Lebrun C. M. (1993). Effect of the different phases of the menstrual cycle and oral contraceptives on athletic performance. *Sports medicine (Auckland, N.Z.)*, *16*(6), 400– 430. https://doi.org/10.2165/00007256-199316060-00005
2) Arora, D., Sandhu, P., Mehta, K., Kaur, A., & Kaur, N. (2015). Expiratory Flow Rate Changes during Menstrual Cycle. Pakistan Journal of Physiology, 10(3-4), 3-5.
3) Retrieved from https://www.pjp.pps.org.pk/index.php/PJP/article/view/509
4) Lebrun, C. M., & Rumball, J. S. (2001). Relationship between athletic performance and menstrual cycle. Current women's health reports, 1(3), 232–240.
5) Jasrotia RB, Kanchan A, Harsoda JM. Effect of menstrual cycle on pulmonary Publishing.
6) Tsampoukos, A., Peckham, E. A., James, R., & Nevill, M. E. (2010). Effect of menstrual cycle phase on sprinting performance. European journal of applied physiology, 109(4), 659–667. https://doi.org/10.1007/s00421-010-1384-z
7) Ertaş, B., and Ersöz, G. (2002) Effects of Different Menstrual Periods on Selected Performance Criteria in Female Swimmers. 7th International Sports Sciences Congress, Antalya.

*****

हिंदी रंगमंच पर लोककला का प्रभाव

-उदय सिंह मीना
सहायक प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
विवेकानंद महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रस्तावना

हिंदी रंगमंच भारतीय कला और संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। इसका उद्भव और विकास विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक घटनाओं से प्रभावित हुआ है। भारतीय लोककला, जिसमें नृत्य, संगीत, कहानी-कथन और अन्य प्रदर्शनकारी कलाओं का समावेश है, ने हिंदी रंगमंच को गहराई और विविधता प्रदान की है। यह लेख हिंदी रंगमंच पर लोककला के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए इसके ऐतिहासिक और समकालीन संदर्भों पर चर्चा करेगा।

भारत का रंगमंच अपनी विविधता और गहराई के लिए विश्व भर में प्रसिद्ध है। इसकी जड़ें न केवल प्राचीन भारतीय परंपराओं में बल्कि क्षेत्रीय लोककलाओं में भी गहराई तक समाई हुई हैं। हिंदी रंगमंच, जो भारतीय रंगमंच की एक प्रमुख शाखा है, लोककला के प्रभाव से समृद्ध हुआ है। यह केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना का वाहक भी है।

लोककला, जिसे आम जनता की संस्कृति और जीवनशैली से प्रेरणा मिलती है, ने हिंदी रंगमंच को अपनी विशिष्टता प्रदान की है। लोकगीत, नृत्य, कथा-कथन और दृश्य कला जैसे तत्व हिंदी नाटकों में न केवल सौंदर्य की दृष्टि से जोड़े गए हैं, बल्कि उनकी भावनात्मक और सामाजिक गहराई को भी बढ़ाया है।

विशेष रूप से, भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित लोककला रूपों जैसे नौटंकी, रामलीला, भवाई, कठपुतली, और छत्तीसगढ़ी नाचा ने हिंदी रंगमंच की संरचना और उसकी अभिव्यक्ति को गहराई से प्रभावित किया। ये कला रूप न केवल रंगमंच की पारंपरिक शैली को नई ऊंचाइयों तक ले गए, बल्कि समाज के विभिन्न मुद्दों को समझाने और जागरूकता फैलाने का माध्यम भी बने।

हिंदी रंगमंच की प्राचीन परंपरा और आधुनिक प्रवृत्तियों का तालमेल लोककला के प्रभाव को और भी सजीव और प्रासंगिक बनाता है। एक समय था जब शहरी और ग्रामीण दर्शकों के लिए लोककला ही रंगमंच का आधार थी। आज के युग में, जब वैश्वीकरण और शहरीकरण ने परंपरागत लोककलाओं को चुनौती दी है, हिंदी रंगमंच ने इन कलाओं को संरक्षित और प्रासंगिक बनाए रखने की जिम्मेदारी उठाई है।

लोककला का प्रभाव केवल नाटकों की प्रस्तुतियों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उनके संवाद, चरित्र-निर्माण, संगीत, मंचसज्जा और प्रदर्शन की शैली में भी गहराई से देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, नौटंकी की संवाद शैली, कठपुतली की प्रतीकात्मकता, और रामलीला की कथा-कथन तकनीक ने हिंदी रंगमंच को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जोड़े रखने का कार्य किया है।

इस लेख में हिंदी रंगमंच और लोककला के इस अंतर्संबंध का गहन विश्लेषण किया जाएगा। यह न केवल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इन दोनों के योगदान को समझने का प्रयास है, बल्कि यह भी बताता है कि कैसे हिंदी रंगमंच ने लोककलाओं को अपनाकर सामाजिक और सांस्कृतिक जागरूकता के लिए एक सशक्त माध्यम तैयार किया है।

लोककला केवल एक परंपरा नहीं है, बल्कि यह समाज की आत्मा है। हिंदी रंगमंच ने इस आत्मा को अपनी प्रस्तुतियों में जीवंत बनाए रखने का सफल प्रयास किया है।[1]

अतः हिंदी रंगमंच पर लोककला का प्रभाव एक सजीव और जीवंत विषय है, जो न केवल अतीत की परंपराओं को जोड़ता है, बल्कि आधुनिक युग के रंगमंच को नई दिशा भी प्रदान करता है।

लोककला: परिभाषा और महत्व

लोककला उस सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को कहते हैं जो लोक समुदाय की सामूहिक चेतना से जुड़ी होती है। इसमें स्थानीय परंपराएं, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और संगीत शामिल होते हैं। उदाहरणस्वरूप, उत्तर भारत में नौटंकी, राजस्थान का कठपुतली, और बंगाल का जात्रा जैसे लोककला रूप हिंदी रंगमंच को शैली, विषयवस्तु और प्रस्तुति की दृष्टि से प्रभावित करते हैं।

लोककला: परिभाषा

लोककला का अर्थ उन कलात्मक अभिव्यक्तियों से है जो किसी समुदाय की परंपराओं, मान्यताओं, और सांस्कृतिक विरासत से उत्पन्न होती हैं। यह कला समाज के मूलभूत जीवनशैली, उनकी सोच और सामूहिक चेतना का प्रतिबिंब है। लोककला का स्वरूप प्राकृतिक, सहज और सरल होता है, जो

आमजनता की भावनाओं और अनुभवों को अभिव्यक्त करता है। यह विशिष्ट क्षेत्रों, समुदायों और परंपराओं से प्रभावित होती है, जिससे इसकी विविधता और विशिष्टता सुनिश्चित होती है।

लोककला एक ऐसी कला है, जिसमें समाज की मूलभूत सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ निहित होती हैं। यह न केवल मनोरंजन का माध्यम है, बल्कि लोगों के जीवन के हर पहलू को छूती है — चाहे वह धार्मिक अनुष्ठान हो, त्योहारों की सजावट हो, या सामाजिक उत्सवों की रचना। इसमें चित्रकला, संगीत, नृत्य, कथा-कथन, मूर्तिकला, और हस्तकला के रूप में विविधताएँ देखने को मिलती हैं।

लोककला का महत्व

लोककला का महत्व केवल उसकी सौंदर्यात्मकता में नहीं, बल्कि उसके समाज और संस्कृति के साथ गहरे संबंध में निहित है। यह समाज के सांस्कृतिक इतिहास, परंपराओं, और सामूहिक चेतना का प्रतीक है। इसके महत्व को निम्नलिखित बिंदुओं में समझा जा सकता है:

1. सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक

लोककला किसी भी समुदाय की सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक होती है। यह कलारूप न केवल उस समुदाय के रीति-रिवाजों और परंपराओं को संरक्षित करती है, बल्कि इसे भावी पीढ़ियों तक पहुँचाने का माध्यम भी बनती है। इस के माध्यम से समाज की विशिष्ट पहचान और गौरव को बनाए रखा जाता है।

2. लोकजीवन का दर्पण

लोककला समाज के जीवन और अनुभवों का दर्पण है। यह समाज के दैनिक जीवन, उनके संघर्षों, खुशियों और दुखों को सरल और प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करती है। यह एक ऐसा माध्यम है, जो आमजनता की भावनाओं और उनकी अभिव्यक्तियों को सीधे दर्शकों तक पहुँचाता है।

3. सामाजिक सामूहिकता का साधन

लोककला सामूहिकता और सामाजिक संबंधों को प्रोत्साहित करती है। यह कलारूप व्यक्ति और समुदाय के बीच गहरा संबंध स्थापित करता है। लोककला के माध्यम से सामूहिक अनुभव और परंपराओं को साझा करने का अवसर मिलता है, जिससे समाज में एकता और सामंजस्य की भावना बनी रहती है।

4. परंपराओं और विरासत का संरक्षण

लोककला परंपराओं और सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित रखने का सबसे प्रभावी माध्यम है। यह पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित होती है और इसके माध्यम से समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, मान्यताओं, और इतिहास को जीवित रखा जाता है।

5. सामाजिक संदेशों का प्रसार

लोककला केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि यह समाज को शिक्षित और जागरूक करने का भी एक प्रभावी माध्यम है। इसके माध्यम से सामाजिक, धार्मिक, और नैतिक संदेशों का प्रसार किया जाता है। लोककलाकार अपनी कला के माध्यम से समाज में फैली बुराइयों को उजागर करते हैं और सुधार का मार्ग दिखाते हैं।

6. आर्थिक योगदान

लोककला समाज के आर्थिक विकास में भी योगदान देती है। हस्तशिल्प, लोकनृत्य, और अन्य पारंपरिक कलारूप रोजगार के साधन प्रदान करते हैं। इसके माध्यम से न केवल कलाकारों की आजीविका चलती है, बल्कि स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर कला और संस्कृति का संवर्धन भी होता है।

7. आध्यात्मिक और धार्मिक महत्व

लोककला का गहरा संबंध समाज की धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओं से होता है। यह अनुष्ठानों, त्योहारों, और धार्मिक आयोजनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। लोकसंगीत, नृत्य, और अन्य कलारूप समाज की आध्यात्मिक चेतना को बढ़ावा देते हैं।

8. भाषा और साहित्य का संवर्धन

लोककला भाषा और साहित्य को संरक्षित और समृद्ध करने का कार्य भी करती है। लोकगीत, कहावतें, और कथाएँ समाज की भाषा को जीवित रखते हुए साहित्यिक धरोहर को बढ़ावा देती हैं। यह कलारूप क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों के संरक्षण का प्रभावी माध्यम है।

लोककला केवल कला का एक रूप नहीं, बल्कि यह समाज और संस्कृति की आत्मा है। यह एक ऐसी धरोहर है, जो अतीत, वर्तमान, और भविष्य के बीच सेतु का कार्य करती है। इसका संरक्षण और संवर्धन समाज की सांस्कृतिक पहचान और समृद्धि के लिए अत्यंत आवश्यक है।

हिंदी रंगमंच में लोककला का समावेश

हिंदी रंगमंच पर लोककला का प्रभाव कई रूपों में देखा गया है। प्रारंभिक समय में जब रंगमंच पूरी तरह विकसित नहीं हुआ था, तब लोककला ही मनोरंजन का प्रमुख साधन थी। नाटकों में इन कलाओं के तत्व जोड़ने से न केवल मनोरंजन की गुणवत्ता बढ़ी, बल्कि सामाजिक मुद्दों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने का माध्यम भी विकसित हुआ।

"भारतीय लोककला की शक्ति इसमें छुपी है कि यह व्यक्ति के भीतर गहरे भावों को जाग्रत करती है। हिंदी रंगमंच ने लोककला के इस गुण का उपयोग न केवल अपनी प्रस्तुति में बल्कि नाटकों की विषयवस्तु में भी किया है।"[2]

हिंदी रंगमंच में लोककला का समावेश एक सजीव और सतत प्रक्रिया रही है, जो इसे अपनी गहरी सांस्कृतिक जड़ों और समकालीन संदर्भों से जोड़े रखती है। लोककला ने न केवल हिंदी रंगमंच की भाषा और शैली को समृद्ध किया है, बल्कि इसके माध्यम से दर्शकों के साथ एक गहरे

भावनात्मक और सांस्कृतिक संवाद को भी स्थापित किया है।

लोककला का समावेश हिंदी रंगमंच में केवल बाहरी सज्जा या तकनीकी रूप में सीमित नहीं है, बल्कि यह नाटकों की आत्मा और संरचना का अभिन्न हिस्सा बन गया है। लोककला के गीत, नृत्य, संगीत, कथा-कथन और प्रतीकात्मकता ने रंगमंच की प्रस्तुति में जीवंतता और गहराई प्रदान की है। यह समावेश रंगमंच की भाषा, संवाद, पात्रों की अभिव्यक्ति, और प्रस्तुति की संपूर्णता को नया आयाम देता है।

1.संवादों और भाषा शैली में लोककला का प्रभाव

हिंदी रंगमंच में लोककला के समावेश का एक प्रमुख पहलू इसकी संवादशैली में देखा जा सकता है। लोककलाओं में प्रचलित सरल, रोचक और सजीव भाषा ने नाटकों को एक अलग पहचान दी है। इसने संवादों को ऐसे स्वरूप में प्रस्तुत किया जो न केवल आमजनता को समझ में आते हैं, बल्कि उनके हृदय को भी छूते हैं। लोकभाषाओं और बोलियों का उपयोग दर्शकों के साथ एक सांस्कृतिक जुड़ाव पैदा करता है, जो नाटक की प्रभावशीलता को कई गुना बढ़ा देता है।

2.रंगमंचीय संगीत और गायन में लोकतत्व

लोककला में गीत और संगीत की जो भूमिका है, वही हिंदी रंगमंच में भी देखी जा सकती है। संगीत और गायन, जो लोककलाओं का अनिवार्य हिस्सा हैं, हिंदी रंगमंच को एक अतिरिक्त प्रभाव प्रदान करते हैं। पारंपरिक लोकधुनें, राग और वाद्ययंत्र नाटकों के भावनात्मक पहलुओं को गहराई से व्यक्त करने में सहायक होते हैं। इसके माध्यम से न केवल दर्शकों को दृश्य-श्रव्य आनंद मिलताहै, बल्कि नाटक के संदेश को भी प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

3.नृत्य और गतियों का योगदान

लोककला के नृत्य और गतियों ने हिंदी रंगमंच की दृश्यात्मकता को अधिक सजीव और जीवंत बनाया है। नृत्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि यह भावनाओं और घटनाओं को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त करने का माध्यम भी है। हिंदी रंगमंच में लोकनृत्यों के तत्वों ने प्रस्तुति की ऊर्जा और दृश्यात्मक प्रभाव को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

4.कथा-कथन की तकनीकों का उपयोग

लोककलाओं में कथा-कथन की तकनीक, जिसमें कहानी को जीवंत तरीके से प्रस्तुत किया जाता है, ने हिंदी रंगमंच की संरचना और शैली को अद्भुत ढंग से प्रभावित किया है। पारंपरिक लोककथाओं और लोककथात्मक शैली का उपयोग नाटकों की कहानी को रोचक और प्रभावी बनाने के लिए किया गया है। यह तकनीक दर्शकों को न केवल मनोरंजन प्रदान करती है, बल्कि उन्हें समाज के विभिन्न पहलुओं और समस्याओं से जोड़ती भी है।

5.प्रतीकात्मकता और मंचसज्जा में योगदान

लोककला में प्रतीकात्मकता का एक महत्वपूर्ण स्थान है। हिंदी रंगमंच ने इस प्रतीकात्मकता को अपनी मंचसज्जा और प्रस्तुति में कुशलता से समाहित किया है। रंगमंचीय सेट, पोशाक, और रंग योजना में लोककला के रंग और प्रतीक दर्शकों को दृश्यात्मक आनंद प्रदान करने के साथ-साथ नाटक के संदेश को गहराई से समझने में सहायता करते हैं।

6.सामूहिकता का तत्व

लोककला सामूहिकता और सामाजिक सहभागिता पर आधारित है। हिंदी रंगमंच ने इस तत्व को अपनी प्रस्तुति में अपनाया है, जिससे यह केवल एक दर्शनीय माध्यम नहीं, बल्कि एक सामुदायिक अनुभव बन जाता है। इसने दर्शकों और कलाकारों के बीच की दूरी को कम करके रंगमंच को एक समावेशी और जीवंत माध्यम बनाया है।

7.पारंपरिक और समकालीन का संतुलन

हिंदी रंगमंच में लोककला का समावेश परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन बनाने में भी सहायक रहा है। यह परंपरागत लोककलाओं की गहराई को समकालीन संदर्भों में प्रस्तुत करता है, जिससे न केवल इसकी प्रासंगिकता बनी रहती है, बल्कि यह बदलते समय के साथ और भी समृद्ध होता है।

इस प्रकार, हिंदी रंगमंच में लोककला का समावेश केवल एक शैलीगत या सांस्कृतिक जोड़ नहीं है, बल्कि यह रंगमंच की आत्मा और उद्देश्य को सशक्त बनाने का एक अभूतपूर्व माध्यम है। यह समावेश हिंदी रंगमंच को सामाजिक और सांस्कृतिक संवेदनाओं का जीवंत दर्पण बनाता है।

लोककला और हिंदी रंगमंच के प्रमुख उदाहरण

1.नौटंकी का प्रभाव:

नौटंकी, उत्तर भारत का एक प्रमुख लोकनाट्य रूप है, जिसमें गीत, संवाद और नृत्य का अनूठा संगम होता है। हिंदी रंगमंच ने नौटंकी के संवादों की लय, कहानी-कथन की तकनीक और मंचसज्जा के कई तत्वों को अपनाया है।

उदाहरण :

"नौटंकी में दर्शकों की भागीदारी बहुत महत्वपूर्ण होती है। यह कलारूप समाज के हर वर्ग को एक साथ जोड़ता है।"[3]

2.कठपुतली का रंगमंच पर उपयोग:

राजस्थान की कठपुतली कला ने हिंदी रंगमंच को दृश्यात्मक प्रभाव और प्रतीकात्मकता का अद्भुत उपहार दिया है। कठपुतली की नाटकीयता और पात्रों की अभिव्यक्ति का उपयोग नाटकों में कई स्तरों पर किया गया।

उदाहरण :

"राजस्थानी कठपुतली ने न केवल मनोरंजन का कार्य किया बल्कि सामाजिक मुद्दों को सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया। हिंदी नाटककारों ने इस

माध्यम का कुशल उपयोग किया।"[4]

आधुनिक हिंदी रंगमंच पर लोककला का प्रभाव:

आधुनिक हिंदी रंगमंच में भी लोककला के तत्व प्रबल रूप से देखे जा सकते हैं। हबीब तनवीर जैसे नाटककारों ने छत्तीसगढ़ी नाचा और बस्तर के लोकनाटकों का प्रयोग अपनी प्रस्तुतियों में किया। उनकी नाट्यशैली में लोकगीत, लोकनृत्य और स्थानीय बोलियों का अद्भुत समावेश हुआ।

उदाहरण :

"हबीब तनवीर के नाटक इस बात का प्रमाण हैं कि लोककला और आधुनिक रंगमंच का मेल भारतीय थिएटर को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नई पहचान दिला सकता है।"[5]

हिंदी रंगमंच में लोककला की चुनौतियां:

हालांकि लोककला का हिंदी रंगमंच पर गहरा प्रभाव है, लेकिन समकालीन समय में यह प्रभाव कुछ चुनौतियों का सामना कर रहा है। बढ़ती शहरीकरण और ग्लोबलाइजेशन के कारण पारंपरिक लोककलाओं के अस्तित्व पर संकट उत्पन्न हुआ है।

लोककला और हिंदी रंगमंच के आपसी संबंध ने भारतीय नाट्य परंपरा को समृद्ध किया है, लेकिन आधुनिक समय में इस संबंध को कई गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। बदलते सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिवेश ने लोककला के स्वरूप और उसके रंगमंच में समावेश को प्रभावित किया है। इन चुनौतियों को समझना और उनसे निपटना न केवल लोककला को संरक्षित करने के लिए आवश्यक है, बल्कि हिंदी रंगमंच की निरंतरता और प्रासंगिकता बनाए रखने के लिए भी महत्वपूर्ण है।

1.वैश्वीकरण और आधुनिकता का प्रभाव:

वैश्वीकरण ने कला और संस्कृति को एक नई दिशा दी है, लेकिन इसके साथ ही पारंपरिक लोककलाओं के अस्तित्व पर संकट भी उत्पन्न हुआ है। आधुनिक समय में दर्शकों का झुकाव शहरी और अंतरराष्ट्रीय कलारूपों की ओर बढ़ रहा है, जिससे पारंपरिक लोककलाओं को उचित मंच और सम्मान नहीं मिल पा रहा है। वैश्वीकरण के कारण हिंदी रंगमंच पर भी शहरीकरण और आधुनिक तकनीकों का प्रभाव बढ़ा है, जिससे लोककला के पारंपरिक स्वरूपों को बनाए रखना कठिन होता जा रहा है।

2.प्रौद्योगिकी और डिजिटल मीडिया का प्रभाव:

आज के युग में प्रौद्योगिकी और डिजिटल मीडिया ने मनोरंजन के साधनों को व्यापक रूप दिया है। फिल्मों, वेबसीरीज, और डिजिटल मंचों की बढ़ती लोकप्रियता ने पारंपरिक रंगमंच और लोककला को पीछे धकेल दिया है। युवा पीढ़ी का ध्यान डिजिटल माध्यमों की ओर अधिक केंद्रित होने के कारण लोककला और हिंदी रंगमंच के प्रति उनकी रुचि में गिरावट आई है।

3.आर्थिक अस्थिरता और संसाधनों की कमी:

लोक कलाकारों और रंगमंच के समूहों को अक्सर आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता है। लोककला का प्रदर्शन मुख्य रूप से ग्रामीण और सामुदायिक स्तर पर होता था, लेकिन शहरीकरण और व्यावसायीकरण ने इसे सीमित कर दिया है। नतीजतन, न तो कलाकारों को उचित पारिश्रमिक मिलता है और न ही उनकी कला को प्रोत्साहन देने के लिए पर्याप्त संसाधन। हिंदी रंगमंच को भी इन्हीं आर्थिक दबावों का सामना करना पड़ता है, जिससे लोककलाओं का समावेश और उनकी प्रस्तुति कठिन हो जाती है।

4.परंपरागत ज्ञान का ह्रास:

लोककला पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परंपरा के माध्यम से संरक्षित होती आई है। लेकिन आधुनिक शिक्षा प्रणाली और पारंपरिक ज्ञान के प्रति घटती रुचि के कारण इस कला रूप का ज्ञान धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। आज के युवा कलाकार पारंपरिक कलाओं से अधिक आधुनिक प्रशिक्षण और शैलियों की ओर आकर्षित हो रहे हैं, जिससे लोककला के अनूठे तत्व खोने लगे हैं।

5.दर्शकों की घटती संख्या:

हिंदी रंगमंच और लोककला की एक बड़ी चुनौती यह है कि इनका दर्शक वर्ग धीरे-धीरे घट रहा है। लोककला और पारंपरिक नाटकों के प्रति रुचि केवल कुछ वर्गों तक सीमित रह गई है। शहरों में रहने वाले दर्शकों के लिए ये कलारूप अब प्रासंगिक नहीं रह गए हैं, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में दर्शकों के पास आर्थिक और सामाजिक बाधाओं के कारण इनका आनंद लेने का पर्याप्त अवसर नहीं है।

6.राजनीतिक और संस्थागत उपेक्षा :

लोककला और हिंदी रंगमंच को संरक्षित करने के लिए सरकारी नीतियों और योजनाओं की कमी भी एक बड़ी चुनौती है। अक्सर कला और संस्कृति के संरक्षण के लिए जो बजट निर्धारित किया जाता है, वह पूरी तरह से कार्यान्वित नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त, शहरी केंद्रों पर अधिक ध्यान केंद्रित करने के कारण ग्रामीण और स्थानीय स्तर की लोककलाएं उपेक्षित रह जाती हैं।

7.संस्कृतिकरण और व्यावसायीकरण:

लोककलाओं के व्यावसायीकरण ने इनके मूल स्वरूप को विकृत कर दिया है। अक्सर इन्हें मनोरंजन के साधन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिससे उनकी गहराई और सामाजिक संदेश कमजोर हो जाते हैं। हिंदी रंगमंच में भी लोककला को केवल एक आकर्षण के रूप में इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति बढ़ी है, जिससे उनके मूल स्वरूप को नुकसान पहुंचा है।

8.शहरीकरण और पारंपरिक लोककलाओं की दूरी :

शहरीकरण ने समाज में गहरे बदलाव लाए हैं, जिनका प्रभाव लोककलाओं और हिंदी रंगमंच पर पड़ा है। शहरी जीवनशैली के कारण लोककलाओं की

सामूहिकता और सामाजिक संबंध कमजोर हो गए हैं। इसके अलावा, शहरी दर्शक अक्सर लोककला के सांस्कृतिक संदर्भों को समझने में असमर्थ होते हैं, जिससे इनकी प्रस्तुति का प्रभाव सीमित हो जाता है।

9.समकालीन मुद्दों से तालमेल:

आज के समय में दर्शक समकालीन और वैश्विक मुद्दों पर आधारित प्रस्तुतियों को अधिक प्राथमिकता देते हैं। ऐसे में लोककला और हिंदी रंगमंच के लिए अपनी पारंपरिक शैली को बनाए रखते हुए इन मुद्दों को शामिल करना एक बड़ी चुनौती बन गई है।

10.संरक्षण और प्रचार का अभाव:

लोककला और हिंदी रंगमंच को संरक्षित और प्रचारित करने के लिए पर्याप्त संस्थागत प्रयास नहीं हो रहे हैं। न ही इन्हें मुख्यधारा के मीडिया में उचित स्थान मिलता है, जिससे इनकी पहचान सीमित दायरे में सिमट कर रह जाती है।

इन चुनौतियों के बावजूद, हिंदी रंगमंच और लोककला का आपसी संबंध भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का एक अनमोल हिस्सा है। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए सामूहिक प्रयास, सरकारी समर्थन, और सामाजिक जागरूकता की आवश्यकता है, ताकि इस समृद्ध धरोहर को भविष्य की पीढ़ियों के लिए संरक्षित किया जा सके।

"अगर हम लोककला के महत्व को संरक्षित नहीं करेंगे, तो भविष्य में हिंदी रंगमंच अपनी जड़ों से कट सकता है।"[6]

निष्कर्ष

हिंदी रंगमंच पर लोककला का प्रभाव गहन और व्यापक है। यह न केवल सांस्कृतिक धरोहर को जीवित रखता है, बल्कि सामाजिक जागरूकता और मनोरंजन का सशक्त माध्यम भी है। हिंदी रंगमंच और लोककला का यह पारस्परिक संबंध भारतीय समाज को एकता और विविधता के सूत्र में बांधने का कार्य करता है।

हिंदी रंगमंच पर लोककला का प्रभाव केवल एक सांस्कृतिक मेल नहीं है, बल्कि यह भारतीय समाज और उसके बहुआयामी स्वरूप का प्रतीक है। लोककला और हिंदी रंगमंच का यह अंतर्संबंध न केवल परंपरा और आधुनिकता के बीच का पुल बनता है, बल्कि यह समाज के हर वर्ग को एकसूत्र में बांधने का कार्य भी करता है। लोककला का प्राकृतिक और सरल स्वभाव हिंदी रंगमंच को मानवीय संवेदनाओं और समाज के जटिल पहलुओं को सजीव और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने में सहायक बना है।

हिंदी रंगमंच ने लोककला के माध्यम से अपनी भाषा और प्रस्तुति को उस धरातल पर स्थापित किया है, जहां वह श्रोता और दर्शक के दिल और दिमाग तक सीधा पहुंच सके। लोककला के गीत, नृत्य, कथा और प्रतीकों ने नाटकों को उस बौद्धिक और भावनात्मक ऊंचाई तक पहुंचाया है, जो अन्य माध्यमों से संभव नहीं हो पाती। हिंदी रंगमंच ने न केवल लोककलाओं को अपनाया, बल्कि उन्हें एक नए मंच और दिशा में विकसित भी किया है। यह प्रक्रिया इस बात का प्रमाण है कि परंपरा और नवाचार साथ-साथ चल सकते हैं।

इस संबंध ने हिंदी रंगमंच को केवल भारत तक सीमित नहीं रखा, बल्कि इसे वैश्विक मंच पर भी एक विशिष्ट पहचान दी। हिंदी रंगमंच की यह खूबी है कि यह शहरी और ग्रामीण, पारंपरिक और आधुनिक, और गंभीर व हल्के स्वरूपों के बीच संतुलन बनाकर चलता है। यह संतुलन ही इसकी सबसे बड़ी ताकत है, जिसे लोककला ने सशक्त बनाया है।

आज, जब वैश्वीकरण और तकनीकी प्रगति के कारण पारंपरिक कलाओं के अस्तित्व पर प्रश्न उठाए जा रहे हैं, हिंदी रंगमंच ने यह साबित किया है कि लोककला केवल अतीत की धरोहर नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए एक प्रेरणा और मार्गदर्शक भी है। हिंदी रंगमंच पर लोककला का प्रभाव न केवल इसे एक सांस्कृतिक धरोहर के रूप में संरक्षित करता है, बल्कि इसे समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए सशक्त भी बनाता है।

इस प्रकार, हिंदी रंगमंच और लोककला का यह अटूट संबंध न केवल भारतीय कला और संस्कृति की विशिष्टता को बनाए रखने में सहायक है, बल्कि यह समाज के विभिन्न पहलुओं को समझने और उन्हें अभिव्यक्त करने का एक अनूठा माध्यम भी है। यह संबंध हमें याद दिलाता है कि जड़ें जितनी गहरी और मजबूत होंगी, पेड़ उतना ही ऊंचा और समृद्ध होगा। हिंदी रंगमंच और लोककला का यह मेल न केवल सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित रखता है, बल्कि इसे भविष्य की पीढ़ियों के लिए प्रासंगिक भी बनाता है।

संदर्भसूची

1. संदर्भ: अग्रवाल, कन्हैयालाल. हिंदी नाट्यकला के इतिहास, पृष्ठ 25
2. वर्मा, डॉ. रामकुमार. *हिंदी नाट्य परंपरा*. नईदिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2005, पृष्ठ 72
3. गोयल, हरिशंकर. *भारतीय लोकनाट्य परंपरा*. जयपुर: साहित्य प्रकाशन, 2010, पृष्ठ 145
4. चौधरी, अनिल. *लोककला और समाज*. वाराणसी: भारत पुस्तकालय, 2007, पृष्ठ 98
5. शर्मा, सुरेश. *हबीब तनवीर और हिंदी रंगमंच*. भोपाल: मध्य प्रदेश साहित्य अकादमी, 2015, पृष्ठ 65
6. मिश्रा, रमेश. *आधुनिक रंगमंच और लोककला*. पटना: ज्ञान भारती प्रकाशन, 2012, पृष्ठ 112

*****

भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में नवजागरण की भूमिका

डॉ. अभिषेक कुमार पटेल
सहायक प्राध्यापक,
शासकीय शहीद कौशल यादव महाविद्यालय ,
गुण्डरदेही,जिला बालोद, छत्तीसगढ़
पिन कोड 491223
मोबाईल नंबर 7869668874
ईमेल patelabhishek84@gmail.com

1857 का स्वाधीनता संग्राम भारतीय इतिहास की एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना है, जिसने भारतीय इतिहास के विविध पक्षों यथा - राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक पहलुओं को प्रभावित किया। पहली बार हिन्दू व इस्लाम धर्म के अनुयायियों को प्रभावित किया और लम्बे समय से चले आ रहे अंग्रेजी शोषण नीति के विरूद्ध समग्र प्रतिरोध का उदाहरण प्रस्तुत किया। फिर, 1857 की लड़ाई का महत्व एक अन्य दृष्टि से काफी बढ़ जाता है। ज्ञातव्य है कि भारत में 1857 को नवजागरण से जोड़कर भी देखा जाता है । यही वह वर्ष है, जब भारत में विभिन्न क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं तथा घटनाओं को ध्यान में रखते हुए नवजागरण की शुरूआत होती है। इसी दौर में हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत नवजागरण के बीज हमें भारतेन्दु तथा उनके समकालीन अन्य साहित्यकारों की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है । प्रसिद्ध आलोचक डाॅ. रामविलास शर्मा ने इस पक्ष पर काफी विस्तार से विचार किया है।

हम जानते हैं कि हिन्दी में पुनर्जागरण, नवजागरण आदि अनेक संज्ञाओं का व्यवहार किया जाता है। जब हम इसके अर्थ की व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं, तो पुनर्जागरण का अर्थ होता है, पुनः जागना। अर्थात् पहले हम जगे थे, हमारे अंदर ज्ञान की चेतना व्याप्त थी, परन्तु बाद में हम सो गए अर्थात् ज्ञान से विमुख हो गए थे, अब एक बार फिर जागने का समय आया है। परन्तु यह नामकरण भारतीय संदर्भों में बहुत उचित नहीं प्रतीत होता है। इसका बड़ा कारण यह है कि भारत में ज्ञान के अंधकार जैसी स्थिति कभी रही ही नहीं। फिर, जहाँ तक नवजागरण शब्द का प्रश्न है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है नए ढंग से जागना। अर्थात् हम पहले भी जगे थे, अर्थात् पहले भी हमारे भीतर ज्ञात की चेतना व्याप्त थी, परन्तु अब जागने का दृष्टिकोण बदल चुका है । अर्थात् अब हम नए ढंग से सोचने लगे है।

ज्ञातव्य है कि नवजागरण की यह अवधारणा यूरोपीयन पुनर्जागरण या रेनेशा से जोड़कर देखी जाती है। यूरोप से यह भारत में बंगला व मराठा पुनर्जागरण के रूप में आभिव्यक्ति हुई और कालान्तर में वहाँ से हिन्दी क्षेत्र में व्याप्त होती चली जाती है। डा. रामविलास शर्मा ने आजादी के 30 साल बाद 1977 में एक पुस्तक लिखी - "महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण", इसमें उन्होंने हिन्दी नवजागरण पर बांग्ला नवजागरण का प्रभाव स्वीकार किया है। जहाँ तक बांग्ला, मराठी तथा दक्षिण भारत नवजागरण तथा हिन्दी नवजागरण के विभेद का प्रश्न है तो इसका असर हिन्दी नवजागरण पर पड़ा था, लेकिन बंगाल, महाराष्ट्र या दक्षिण में स्त्री शिक्षा, स्त्री मुक्ति आन्दोलन, दलित समस्या तथा शिक्षा को लेकर नवजागरण का जो तीव्र उभार दिखाई देता है, वह हिन्दी क्षेत्रों में नहीं था। फिर, ईसाई मिशनरियाँ उत्तर भारत के हिन्दी क्षेत्रों में कम थी, अतः शिक्षा का ज्यादा प्रसार भी नहीं हो पाया। बंगाल, महाराष्ट्र व दक्षिण भारत के नवजागरण का रूख ब्रिटिश साम्राज्यवाद अथवा अंग्रेजों के प्रति सकारात्मक और समर्पण का था, जबकि हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रति तीखा आक्रोश था।

ध्यातव्य है कि इस संबंध में डा. रामविलास शर्मा के यहाँ चार संज्ञाये देखने को मिलती हैं - लोकजागरण, जनजागरण, पुनर्जागरण और नवजागरण। इसमें सबसे अंतिम अर्थात् नवजागरण सब पर भारी रहा। प्रदीप सक्सेना के अनुसार - मैंने पूछा (रामविलास शर्मा जी से) आखिर आप नवजागरण का अंग्रेजी स्थानापन्न क्यों नहीं देते है ? उन्होंने कहा - "यह किसी शब्द के समकक्ष नहीं है।"[1]

डा. रामविलास जी के समूचे लेखन कर्म में हिन्दी नवजागरण की अवधारणा केन्द्रीय महत्व रखती है । इसका सबसे महत्वपूर्ण पहलू है - "भारतेन्दु युग की साहित्यिक गतिविधियों को हिन्दी क्षेत्र में सांस्कृतिक नवजागरण का मार्मिकता निरूपित करना, इस नवजागरण का संबंध बंगाल के प्रभाव से जोड़ने का खंडन करते हुए इसका संबंध 1857 के स्वाधीनता संग्राम से जोड़ा ।"[2] उनके अनुसार "भारतेन्दु युग हिन्दी नवजागरण का दूसरा चरण है, द्विवेदी युग तीसरा और छायावाद चैथा चरण है।"[3]

भारतेन्दु युग और नवजागरण की चर्चा करने से पहले थोड़ी चर्चा यूरोपीय पुर्नजागरण और उसके प्रभाव व अंतर पर भी करना आवश्यक है। ज्ञातव्य

है कि यूरोप में आधुनिकता के दो चरणों पुनर्जागरण (रेनेशा) और ज्ञानोदय या प्रबोधन (एनलाईटेंनमेंट) की बात की जाती है। नवजागरण जैसा कोई संदर्भ यूरोपीय संदर्भ में प्रयुक्त नहीं होता है । यूरोप में आधुनिकता के दो चरणों पुनर्जागरण और ज्ञानोदय या प्रबोधन (एनलाइटेनमेंट) की बात की जाती है । नवजागरण जैसा कोई शब्द यूरोपीय संदर्भ में प्रयुक्त नहीं होता जैसे रिनैसांस का देखने में मिलता है। "विल ड्यूराँ ने 'द रिनैसांस' में लिखा है कि 16वीं शताब्दी में इटली में नए पुत्र को - ला रिनास्विता (पुनर्जन्म) कहा गया। अंग्रेजी में 'रिनैंसां' शब्द फ्रेंच में रंनैसान्स से आया। फ्रांस में रेनैसान्स का प्रयोग अठारहवीं सदी में हुआ । सर्वप्रथम जैकब बर्कहार्ट ने 'दि सिविलाइजेशन ऑफ़ रेनिसांस इन इटली (1860) में 'रेनैसां' के इतिहास पर प्रकाश डाला। यूरोप में अन्धकार युग के बाद रेनैसां आया पर भारत में उन्नीसवीं सदी के नवजागरण के पूर्व कोई अंधकार काल नहीं था। यूरोप में रेनैसां ने प्राचीन रोम और यूनान से अपनी वैचारिक पे्रणा प्राप्त की थी। भारत के नवजागरण और यूरोप के नवजागरण में अंतर है। यहाँ नवजागरण तब आया जब भारत पराधीन हो चुका था। यूरोप में ऐसी स्थिति नहीं थी... उन्नीसवीं सदी के भारतीय नवजागरण में राष्ट्रीय भावना प्रमुख थी।"[4] यहाँ जिस यूरोपीय नवजागरण की बात की जा रही है, वस्तुतः वह ज्ञानोदयकालीन यूरोप की बात है और 'बेंगाल रेनैसां' का जो हिन्दी तर्जुमा 'बंगला नवजागरण' नाम से मिलता है। बंगला नवजागरण भी ज्ञानोदय काल वाले यूरोप को अपना मॉडल मानता है।

डा. रामविलास शर्मा के अनुसार 1857 ई० से आरंभ होने वाले हिन्दी नवजागरण का अगला चरण है भारतेन्दु काल। "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन लेखकों को 1857 से जोड़ने वाले दो मुख्य चीजें हैं:- (1) राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य और (2) अंग्रेजी राज के स्वरूप की पहचान।"[5] ऐसी स्थिति में देखना आवश्यक जान पड़ता है कि "1857 के स्वाधीनता संग्राम और हिन्दी नवजागरण के बीच क्या संबंध था ? क्या सचमुच भारतेन्दु युग 1857 के साम्राज्य-विरोधी जागरण से जुड़ा हुआ है ? क्या सचमुच हिन्दी नवजागरण 1857 के व्यक्त जागरण की ही अगली ऐतिहासिक अवस्था है ? क्या सचमुच हिन्दी नवजागरण 1857 की राजनीति और उसकी संवेदना से प्रेरणा लेता है ?"[6]

डा. रामविलास शर्मा का मानना है कि "1857 की स्वाधीनता संग्राम का चरित्र असांप्रदायिक और राष्ट्रीय था और राजसत्ता की मूल समस्या सामंतों के नही जनता के हित में हल की गई थी।"[7] जबकि भारतेन्दु-काल में यह असांप्रदायिक चरित्र बना नहीं रह सका। 1868 ई० में नागरी अक्षरों की सरकारी स्वीकृति के बाद सर सैय्यद अहमद को निश्चय हो गया कि 'अब हिन्दू और मुसलमान साथ नहीं रह सकते।' दूसरी ओर प्रतापनारायण मिश्र का यह कथन हिन्दी नवजागरण की भाषा संबंधी चिंता को बहुत सटीक ढंग से व्यक्त करता है। हिन्दी का पूर्ण प्रचार हुए बिना हिन्दुओं का उद्धार असंभव है।"[8]

यह मानसिक बदलाव भारतेन्दु काल में क्यों होता है ? 1857 के हिन्दू-मुस्लिम एकता को अपने साम्राज्य के लिए खतरा मानते हुए अंग्रेजी राज ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनाते हुए सांप्रदायिकता के बीज बोंये।

पूरे हिन्दू या मुस्लिम कौम की बातों और माँगों को सुनना, अंग्रेजों के लिए व्यवहारिक तौर पर संभव नहीं था। अतः इन कौमों से उन्होंने प्रतिनिधि चुन लिए। सर सैय्यद अहमद मुस्लिमों के प्रतिनिधि बने। "अंग्रेजों ने इस भेद को और गहरा किया। गिलक्रिस्ट ने हिन्दुओं और मुसलमानों की अलग भाषाओं के सिद्धांत की रचना की। रिज्ले ने धर्म के आधार पर दो कौमें गढ़ी और गियर्सन ने भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में फूट के उसूल को धार्मिक रूप दिया, सर सैय्यद ने लश्करों में नई भाषा की तजवीज पेश की। इकबाल ने मुस्लिम कौम और मुस्लिम संस्कृति का नारा लगाया। ये सब समाजवादी विषवृक्ष के फल थे।"[9]

1857 के स्वाधीनता संग्राम और भारतेन्दु-युग के मध्य अंतर इतना ही नही था।"1857 की राजनीति का मूलस्वर सचेत राजभक्ति का था।"[10]

"1857 के बाद की स्थिति बुनियादी रूप से भिन्न थी। बंगाल, महाराष्ट्र की तरह हिन्दी क्षेत्र में भी पारम्परिक बौद्धिक वर्ग की जगह नए बुद्धिजीवी ने ली। इस नए बुद्धिजीवी शिक्षित समुदाय के सभी प्रतिनिधियों के मन में अंग्रेजी राज का जो मूल्यांकन से सर्वथा भिन्न था... नवजागरण-कालीन बुद्धिजीवी ने स्वत्व को 1857 में व्यंजित दृष्टि से नहीं उससे पहले के वर्चस्व-संघर्षों के मुहावरे में परिभाषित किया। इस मुद्दे पर बंकिमचंद्र, भारतेन्दु सर सैय्यद अहमद और जोतिबा फूले के बीच कोई बुनियादी रूप से पद्धतिगत अंतर नहीं है।(जोतिबा फूले के लिए अंग्रेज शूद्रों के संरक्षक थे तो भारतेन्दु के लिए मुसलमानों के कठिन दंड से छुड़वाने वाले। उधर 1877-78 में रूस तुर्की युद्ध के संदर्भ में सर सैय्यद अहमद भारतीय मुसलमानों से आग्रह कर रहे थे कि वे खलीफा को नहीं बल्कि, अंग्रेजों को इस्लाम के संरक्षक के रूप में देखें।) अंग्रेजी राज इन सबके लिए न केवल वास्तविकता है बल्कि ऐसा सुअवसर भी जिसका उपयोग अपने-अपने स्वत्व के विकास के लिए किया जा सकता है। भारतेन्दु ही नहीं, उनके समकालीन सभी बुद्धिजीवी निस्संदेह अंग्रेजी राज की आलोचना भी करते

हैं, लेकिन वह आलोचना अंग्रेजों की न्याय-बुद्धि तथा अंग्रेजी राज की वैधता पर विश्वास रखते हुए की जा रही आलोचना है।"[11]

"पारंपरिक वर्गों से संबद्ध 1857 के विद्रोहियों के विपरित हिन्दी (या बंगला या मराठी) नवजागरण के नेताओं तथा उनके लक्ष्यीभूत श्रोता/पाठक (आडियंस) का संबंध नए मध्यवर्ग से था। इस मध्यवर्ग का उदय चुनौतियों का सामना करते हुए जोखिम उठाकर हुआ था जबकि भारतीय मध्यवर्ग का उदय सरकारी नौकरियों के द्वारा हुआ था।

इस मध्य वर्ग के पास आरंभ में आत्मबोध और देश-दशा की व्याख्या करने के लिए एक ओर औपनिवेशिक प्रतिमान थे, दूसरी ओर परंपरा की विरासत। इन्ही के मध्य से एक तीसरा मार्ग निकला, जिससे राष्ट्रवादी और राष्ट्रीयता संबंधी सोच भी विकसित हुई। "इसमें दोहरा निषेध या एक ओर तो वर्चस्ववादी औपनिवेशिक प्रतिमानों का निषेध था, दूसरी ओर विकास के राह में अटकाने वाले अस्मिता के प्राचीन चिह्नों को भी नकारा गया।"[12] भारेतन्दु काल में उपनिवेश विरोधी चेतना धीरे-धीरे आकार ग्रहण कर रही थी। रामविलास शर्मा इसका विकास द्विवेदी-काल से होता हुआ छायावाद तक देखते हैं।

- संदर्भ संकेत:-

1.प्रदीप सक्सेना-माक्र्सवादी आलोचना और रामविलास शर्मा के मूल्यांकन की समस्याऐं, आलोचना, सहस्राब्दी, अंक-5, अप्रैल-जून-2001, पृ.-100

2.पुरूषोत्तम अग्रवाल, भारतेन्दु और रामविलास शर्मा के भारतेन्दु, आलोचना, पृ.-102

3.मैनेजर पाण्डेय - साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ.-190

4.पुरूषोत्तम अग्रवाल भारतेन्दु और रामविलास शर्मा के भारतेन्दु, आलोचना, पृ.-10

5.मैनेजर पाण्डेय - साहित्य और इतिहास दृष्टि, अरूणोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1992, पृ. - 190

6.रामविलास शर्मा - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. - 13

7.पुरूषोत्तम अग्रवाल -विचार के अनंत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2000, पृ.-21

8.रामविलास शर्मा - महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल, 1989, पृ.-9

9.पुरूषोत्तम अग्रवाल -विचार के अनंत, वही, पृ - 28

10.रामविलास शर्मा - भारत की भाषा समस्या, राजकमल, 1989, पृ - 88

11.पुरूषोत्तम अग्रवाल - विचार का अनंत, वही, पृ - 26

12. पुरूषोत्तम अग्रवाल भारतेन्दु और रामविलास शर्मा के भारतेन्दु, वही, पृ - 106-07

*****

Buddhist Wisdom for Emotional Well-being: Overcoming Negativity Through Mindfulness

-Reeta Rani,
Research Scholar, Department of Philosophy,
University of Delhi, Delhi.
Phone no. - 8448075208.
E-mail id- riturakamsingh@gmail.com.

Dr Shiv Nandan Maurya
Research Scholar, Department of Philosophy, University of Delhi, Delhi.
Phone no. 85649 31551
Email : nshiv2025@gmail.com

Abstract:
This paper explores the relevance and application of Buddhist mindfulness (sati) in managing and overcoming negative emotions in the context of modern life. As the pressures of contemporary society increase, individuals face heightened levels of stress, anxiety, and emotional turbulence. This paper seeks to demonstrate how mindfulness, a core practice in Buddhism, can provide a valuable tool for emotional regulation, promoting mental well-being in today's world. The paper begins by examining human nature and its vulnerability to negative emotions, especially those rooted in craving (tanhā/ rāga). In today's context, this craving manifests through materialism, overconsumption, and constant digital distractions, which amplify emotional states such as greed, anger, and dissatisfaction. The section on Destructive Emotional States Generated by Craving highlights how unchecked desire, common in modern consumer-driven societies, can lead to personal and collective suffering.The next section, Overcoming Destructive Emotional States by Sati (Mindfulness), focuses on mindfulness as a practice that allows individuals to observe their emotions objectively, without becoming consumed by them. In today's fast-paced world, mindfulness offers a moment of pause, helping individuals manage stress, break habitual reactions, and respond with greater clarity and calm.The paper also explores the Four Foundations of Mindfulness (Satipatthāna), which offer a structured approach to practicing mindfulness in everyday life. By cultivating awareness of the body, feelings, mental states, and phenomena, individuals can gain insight into the impermanent nature of emotions, reducing their hold over the mind. In the section All Mindfulness (Sati) Should Be Universal, the study emphasizes the need for mindfulness to be adopted widely, beyond its Buddhist roots. In today's increasingly globalized world, mindfulness can serve as a universal practice for emotional regulation, applicable in schools, workplaces, and healthcare settings, where stress and emotional challenges are prevalent. The Conclusion reinforces the idea that mindfulness provides a practical and accessible means to overcome destructive emotional states in today's context, offering a path to mental clarity, emotional resilience, and overall well-being.

Keywords - *Sati, Emotions, Buddhism, craving, mindfulness*

Introduction

Human emotions are deeply intertwined with our sensory experiences—every moment of seeing, hearing, tasting, smelling, touching, and thinking shapes how we feel and react. These reactions can vary significantly: we may experience pleasure (Sukha-Vedana), discomfort (Dukkha-Vedana), or neutrality (Adukkha -m-asukha Vedana). Our responses to these sensations often manifest as joy, rejection, or indifference, depending on the nature of the experience. However, beneath these feelings lies a common driving force—craving or desire, known in Buddhism as Tanha or Raga. This craving compels us to seek pleasant experiences while avoiding unpleasant ones, leading to a constant state of emotional turbulence. These fluctuating emotional states often give rise to unwholesome mental conditions, creating distress and dissatisfaction in our lives. In today's world, where rapid sensory inputs and emotional reactions dominate our daily existence, managing these emotional states has become more important than ever. How can we prevent the rise of destructive emotions, and how should we deal with them when they inevitably arise? Buddhism offers a practical solution through the cultivation of mindfulness (Sati), particularly through the Four Foundations of Mindfulness (Satipatthāna). These

foundations provide a framework for observing and understanding the body, feelings, mind, and mental phenomena, allowing us to recognize the underlying causes of our emotional states. By developing this awareness, we can gradually weaken the hold that craving and desire have on our minds, leading to a more balanced and peaceful emotional life. In this paper, we explore how the practice of mindfulness, rooted in Buddhist teachings, can help us overcome negative emotional states caused by craving. Through a deeper understanding of the Four Foundations of Mindfulness, we aim to shed light on how individuals can cultivate emotional resilience and inner peace in a world driven by constant sensory stimulation.

2) Human's Nature

Human nature tends to gravitate toward seeking pleasure and avoiding pain. We constantly strive for the pleasant aspects of life while trying to escape the unpleasant ones. However, life cannot be filled with only positive experiences, as it is similar to a coin with both a smooth side and a rough side. Just as a coin has two sides, life consists of both pleasant and unpleasant experiences. These two aspects are inseparable, forming a natural pair that is a fundamental part of human existence. Where there is pleasure and desire, discomfort and aversion inevitably follow. This is the reality of the world, and one must learn to accept both the pleasant and unpleasant aspects of life when they arise.Despite this reality, most people do not behave accordingly. They crave only the pleasant things in life and do everything possible to avoid the unpleasant ones. This constant craving for what they want and rejection of what they do not want leads to lives filled with restlessness, fear, anxiety, frustration, jealousy, and disappointment. Why does this happen? It is because people are afraid of losing the things and people they hold dear. Their attachment to what they like and their aversion to what they dislike cause them to live in a state of suffering.

In the Dhammacakkappavattana Sutta (Setting the Wheel of Dhamma in Motion), the Buddha states: "Separation from what is loved is suffering" "piyehi vipayogo dukkho"[1].Similarly, he teaches, "Association with what is disliked is suffering" ("appiyehi sampayogo dukkho"[2]). These statements highlight that attachment to things and people, whether through liking or disliking, leads to ongoing emotional turmoil in daily life. In truth, all things that rise will fall, what gathers will eventually disperse, and what is born will eventually die, as all conditioned things are impermanent and unreliable.This condition is not limited to humans alone. According to the Sakkapañha Sutta, even devas (gods), asuras (titans), nagas (serpents), and gandhabbas (celestial musicians) experience similar feelings of stress, ill-will, jealousy, fear, and unease. Their emotional turmoil, like that of humans, arises from attachment to what they like and dislike. At its core, this emotional suffering stems from craving (Tanha/Raga), which is fueled by desire and, in turn, originates from thought. Thought, in turn, is driven by the mind's tendency to proliferate[3]. Whether it is the problems faced by humans or celestial beings, they all stem from the cycle of craving, desire, and attachment to what is liked and disliked.

3) destructive emotional states generated by Craving (Tanha/raga)

Till Now, we have understood that all destructive emotional states arise from our own craving (Tanhā/Rāga). In fact, Buddhist teachings identify three main types of craving: (1) craving for sensual pleasures (kāma-tanhā), (2) craving for existence (bhava-tanhā), and (3) craving for non-existence (vibhava-tanhā). This brings us to an important question: how can we prevent and suppress the arising of these destructive emotional states? And, when these emotional states do arise, how can we effectively deal with them in our daily lives? To prevent and suppress the emergence of destructive emotional states, as well as to overcome them once they have arisen, one must first focus on guarding the six internal sense faculties: seeing, hearing, smelling, tasting, touching, and thinking. Why is it important to guard these senses? Because they act as gateways that, when left unguarded, can fuel our defilements, cravings, and negative thoughts. The Buddha advises that if we do not train, guard, and discipline our six spheres of contact (eye, ear, nose, tongue, body, and mind), we will inevitably experience suffering. However, if we properly train and guard these senses, we can attain happiness.[4] The Buddha's teachings provide clear instructions on guarding the senses: When seeing a form with the eye, a noble disciple does not cling to its characteristics. If the eye is left unguarded, unwholesome thoughts of greed or sorrow may arise. Therefore, one

must practice restraint and guard the eye faculty. When hearing a sound with the ear, a noble disciple does not cling to its features. If the ear is left unguarded, negative emotions may emerge. Thus, one must guard the ear faculty with mindfulness. When smelling an odor with the nose, a noble disciple refrains from attachment. Left unchecked, the nose faculty can lead to unwholesome mental states, so it must be carefully guarded. When tasting with the tongue, a noble disciple does not get caught in the sensory experience. If left unguarded, the tongue can generate covetous thoughts, and therefore it needs to be restrained. When feeling a tangible object with the body, a noble disciple does not cling to it. Without restraint, physical sensations can invite unwholesome thoughts, so the body must be guarded. When cognizing an object with the mind, a noble disciple does not fixate on its qualities. If the mind is left unguarded, negative mental states may take hold, so the mind must be carefully watched and disciplined. In essence, guarding these six senses is a crucial step in preventing the rise of destructive emotional states. However, for a more profound and lasting approach to preventing the arising of negative emotions, thoughts, or moods and permanently overcoming cravings, the practice of mindfulness (Sati) becomes essential[5]. Specifically, applying the Four Foundations of Mindfulness—(1) mindfulness of the body, (2) mindfulness of feelings, (3) mindfulness of mind, and (4) mindfulness of dhammas—helps us tackle emotional disturbances and cravings at their roots. Through this focused and continuous practice, one can gradually reduce and ultimately eliminate destructive emotional states, leading to a more peaceful and balanced mind.

4) **Overcoming Destructive Emotional States by Sati (Mindfulness)**

One highly effective meditation technique prescribed by the Buddha for overcoming destructive emotional states is known as 'Sati,' which is a Pali term. This word encompasses several related concepts in English, including "mindfulness," "memory," "remembrance," "attention," "awareness,"[6] and "introversion of attention."[7] It is also associated with "self-mastery" in a broader sense. Sati is recognized as the seventh factor of the Noble Eightfold Path (ariya-atthāngika-magga) and serves as one of the primary elements in the process of awakening within Buddhism. The term 'Sati' is derived from 'Satipatthāna,' which refers to the foundations of mindfulness. The practice of Sati is essential and applicable in all aspects of life, as it acts as a guiding principle for managing daily activities and addressing various human challenges. By incorporating Sati into every movement and task, individuals can significantly reduce destructive emotional states and negative thoughts. The essence of Sati lies in cultivating a heightened awareness of one's mental state, moment by moment, prior to taking any action. This mindfulness allows for a more intentional approach to life, enabling individuals to recognize and address unwholesome thoughts and emotions before they escalate into destructive behaviors. By fostering this awareness, Sati becomes a powerful tool for emotional regulation and mental clarity, leading to a more balanced and harmonious existence.[8]

5) The four foundations of mindfulness (satipatthāna)

The Four Foundations of Mindfulness (Satipatthāna), as outlined in the Satipatthāna Sutta of the Majjhima Nikāya, provide a framework for developing mindfulness in various aspects of life. The first foundation is 'Mindfulness of Body' (Kāyānupassanā), which emphasizes being constantly aware of the body's movements and positions. This involves a heightened awareness of every action, whether it be walking, sitting, standing, or lying down. The practice entails reflecting on each movement with clear understanding. For example, when one is moving, they should consciously acknowledge, "I am moving." Similarly, when sitting, the individual should be mindful and think, "I am sitting." When standing, they observe, "I am standing," and when lying down, they recognize, "I am lying down." This practice of acknowledging one's physical postures is crucial for cultivating mindfulness of the body.

The second foundation, 'Mindfulness of Feelings' (Vedanānupassanā), involves being aware of the various feelings and sensations that arise. This foundation encourages individuals to observe and understand their emotional responses without attachment or aversion. The third foundation, 'Mindfulness of Mind' (Cittānupassanā), focuses on being aware of one’s thoughts and mental states. It encourages a reflective awareness of the nature of one’s thinking, whether it is positive, negative, or neutral.The final

foundation, 'Mindfulness of Truth' (Dhammānupassanā), invites individuals to be mindful of the truths or realities that arise within the mind. This includes recognizing the impermanent and often transient nature of thoughts. By practicing these four foundations of mindfulness, individuals can develop a deeper awareness of themselves and their experiences, leading to greater emotional regulation and overall well-being.

In practicing the second foundation of mindfulness, known as 'Mindfulness of Feelings' (Vedanānupassanā), an individual becomes reflectively and wisely aware of the feelings they experience. This involves acknowledging each type of feeling as it arises. For example, when a pleasant feeling is present, one should observe and recognize, "I have a pleasant feeling." Conversely, when encountering an unpleasant feeling, the recognition would be, "I have an unpleasant feeling." Similarly, if a neutral feeling arises, the individual should be aware and acknowledge, "I have a neutral feeling." This process fosters a deep understanding of one's emotional landscape.

The third foundation, 'Mindfulness of Mind' (Cittānupassanā), requires one to be consciously aware of the thoughts that come into the mind. When a thought arises, the individual observes, "I am thinking." This awareness helps in recognizing the nature of thoughts and their influence on emotions and actions. Finally, the fourth foundation, 'Mindfulness of Truth' (Dhammānupassanā), encourages reflection on the presence or absence of sensual desires. When a desire arises, one should be mindful and observe, "A sensual desire arises in my mind." Conversely, when there is no desire, the observation would be, "There is no sensual desire arising in my mind." By fully engaging in these practices—being mindful of body, feelings, thoughts, and truths—an individual strengthens their ability to guard against the emergence of harmful thoughts and destructive emotional states. The act of consistently observing the Four Foundations of Mindfulness (Satipatthāna) can lead to the diminishing of these negative states.[9] As highlighted in the Vedanāsamyutta of the Samyutta Nikāya, a person who contemplates the body, feelings, mind, and phenomena with ardent awareness will cultivate clarity and understanding, leading to the reduction of covetousness and dissatisfaction in relation to the world. [10] Ultimately, mindfulness encompasses all aspects of our existence—our bodily actions, feelings, mental states, and thoughts. With sharpened awareness, individuals can discern what they are doing, the feelings driving their actions, and the thoughts influencing their motivations. This mindful approach allows one to refrain from unwholesome actions (Akusala-Kamma) while fostering wholesome actions (Kusala-Kamma), contributing to a more balanced and fulfilling life.[11] The Four Foundations of Mindfulness (Satipatthāna) serve not only to address destructive emotional states and a wandering mind but also to eradicate life's insecurities (Dukkha) permanently. By integrating these practices into every moment—whether in movement, feeling, thinking, or recognizing thoughts—one can ultimately progress toward the noble path and achieve the ultimate goal of Buddhism: Nibbāna. The Buddha emphasized the significance of the Four Foundations of Mindfulness when he stated, Ekāyano ayam bhikkhave, maggo sattānam visuddhīyā, sokaparīdevānam samatīkkamāya dukkha domanassānam atthanga maya ñāyassa adhigamaya nibbānassa sacchikiriyāya, yadidam cattāro satīpathāna.[12] It means that,"This is the only one way, Bhikkhus, for the purification of beings, for the dispelling of grief and lamentation, for eliminating suffering and sorrow, achieving the right path, and attaining Nibbāna, namely, the Four Foundations of Mindfulness."This means that the practice of mindfulness is the sole avenue for preventing harm, enhancing goodness, and purifying the mind. From a Buddhist standpoint, there is no alternative method to conquer and eradicate feelings of agitation, frustration, disappointment, resistance, resentment, and other destructive emotions and thoughts except through the diligent practice of the Four Foundations of Mindfulness. These teachings provide the essential framework for cultivating awareness and understanding, ultimately leading to a more peaceful and liberated existence.

6) All Mindfulness (sati) should be the Universal One

The Four Foundations of Mindfulness (Satipatthāna) extend beyond mere solutions for personal issues and spiritual growth; they can be applied across various

aspects of life, including social, cultural, business, and political realms. In the context of Mindfulness of Body (Kāyānupassanā), awareness should not only encompass one's own well-being, group, culture, and community but should also include a mindfulness of others' well-being and cultural perspectives. Similarly, with Mindfulness of Feelings (Vedanānupassanā), the focus should not be solely on personal emotions; one must also consider the feelings of others. This fosters empathy and understanding rather than selfishness. When it comes to Mindfulness of Mind (Cittānupassanā), it is essential to cultivate a balanced perspective that avoids bias. This means appreciating one's own group while also recognizing and respecting other groups without devaluing them. Lastly, Mindfulness of Truth (Dhammānupassanā) emphasizes the importance of accepting the realities of life for oneself and others. Those who refuse to acknowledge these truths, like the story of Paṭācārā, may find themselves caught in destructive emotional states. Paṭācārā experienced immense loss: her husband died from a snake bite, her sons were taken by a hawk, and her entire family perished in a storm. In her grief, she wandered naked and distraught until she reached Jetavana Monastery, where the Buddha addressed her compassionately as "sister." This simple recognition brought her back to her senses. The Buddha then taught her about the nature of suffering and the impermanence of life. Through this teaching, Paṭācārā found clarity and peace, ultimately realizing Nibbāna and requesting to become a nun.[13] This example illustrates that mindfulness can be a powerful tool for restoring normalcy and balance, even for those who feel lost. Importantly, mindfulness should embody a universal quality, free from cultural, religious, economic, social, national, or political biases. Just as the Buddha taught without boundaries, mindfulness should be practiced as a universal principle that includes all beings, fostering inclusivity and compassion in every aspect of life. The Buddha is revered as the universal teacher because his actions and teachings were meant for the benefit of all humanity. He embodied mindfulness and awareness not only for himself but also for others. With his great compassion (Mahākarunā), the Buddha dedicated his life to helping people from all walks of life, day and night. He guided everyone who approached him, providing teachings on the deathless path without regard for their race, caste, beliefs, religion, community, nationality, culture, or political affiliation. His unwavering support aimed to help individuals escape the cycles of birth and death (samsara) and attain the lasting peace of Nibbāna. Using his deep awareness, the Buddha employed his divine insight to identify those who could benefit from his guidance. He would offer spiritual assistance without waiting for an invitation. After lunch each day, he would hold brief talks for lay followers, helping them take refuge in the Buddha, the Dhamma, and the Sangha while also teaching the Five Ethical Precepts (Pañca-Sīla). For those seeking ordination, he would facilitate their entry into the monastic community before retreating to his chamber. In the afternoons, he instructed the resident monks on meditation suited to their temperaments. In the evenings, he again addressed the lay community, sharing the Dhamma. His schedule included periods dedicated to answering monks' questions from 6 to 10 p.m. (the first watch) and engaging with celestial beings such as Devas and Brahmas from 10 p.m. to 2 a.m. (the middle watch). From 2 to 6 a.m. (the last watch), the Buddha practiced walking meditation (Cankama), radiating thoughts of loving-kindness toward all beings and nurturing their hearts. He continually surveyed the world with his Buddha-eye to find those who might need his assistance. Remarkably, the Buddha only slept for one hour each night, dedicating the rest of his time to the welfare and happiness of all until his final moments. [14] The Buddha maintained a vigilant mindfulness for both himself and his fellow beings. A life lived without awareness or care resembles being dead, even if one is physically alive. As expressed in the Dhammapada, "ye pamattā yathāmatā,"[15] negligence is akin to a state of death.

Therefore, it is essential for individuals to live with Sati (mindfulness). This mindfulness should embody an impartial quality, similar to the sun and moon, which shine upon everyone, regardless of their backgrounds. The Dhammapada reflects this sentiment: Divā tapati adicco, rattimābhāti candimā, Sannaddho khattiyo tapati, jhāyī tapati brāhmano, Atha sabbamahorattim (sabbamahorattam (?)), buddho tapati tejasā.[16] "The sun shines by day, the moon shines by night. The warrior shines in armor, the holy man shines in meditation. But the Buddha shines resplendent all day and all night." In this way, the Bud-

dha's teachings and presence remain a guiding light for all beings.

Conclusion

To completely eradicate destructive emotional states and prevent their recurrence, the practice of Sati (mindfulness) is essential. By cultivating mindfulness in every action, feeling, thought, and mental process, individuals can significantly diminish the likelihood of such negative emotions arising. Cravings (Tanha/Raga) that fuel these destructive states can also be effectively addressed and eliminated through consistent mindfulness practice. By diligently developing and reflecting on Sati, one can gain a deeper understanding of reality and ultimately achieve the true purpose of life: Nibbāna. Importantly, Sati must be approached as a universal awareness that encompasses both oneself and others, promoting compassion and understanding across all aspects of existence.

References

1) Dhammacakkappavattana Sutta, Mahavagga, Samyuttanikāya, CST, 1958.
2) Dhammapada (21), Appamādavagga, Dhammapadapalī, Khuddakanikaya, CST, 1958.
3) Dhammapada(387), Dhammapadapāḷi, Khuddakanikāya, CST, 1958.
4) Mahāsatipathānasutta, Mahāvaggapāḷi, Dīghanikāya,CST, 1958.
5) Patācārātherīvatthu, Dhammapada-atthakathā, Khuddakanikāye, CST, 1958.
6) Sakkapañhasutta, Mahāvaggapāḷi, Dīghanikāya, CST, 1958
7) Bodhi Bhikkhu, The Numerical Discourses of the Buddha, A Translation of the Anguttara Nikāya, Boston: Wisdom Publications, 2012.
8) The Connected Discourse of the Buddha, A Translation of the Samyutta Nikāya, Boston Wisdom Publications, 2000.
9) Bodhi Bhikkhu, Going for Refuge Taking the Precepts, Buddhist Publication Society.
Kandy, 1981.
10) Dr Madawela Punnajı, Ariyamagga Bhavană (The Sublime Eightfold Way) Level II- Tranquility of Mind, The Sasana Abhiwurdhi Wardhana Society Publisher, 2011
11) Kanae Kawamoto, Buddhism and Suicide: Right Attitude towards Death, no publisher place, no year.
12) Maurice Walshe, The Long Discourses of the Buddha, A Translation of the Digha Nikāya, Boston Wisdom Publication, 1995
13) Nāṇamoli Bhikkhū and Bodhi Bhikkhüũ, The Middle Length Discourses of the Buddha. A Translation of the Majjhima Nikāya, Boston Wisdom Publications, 1995.
14) Nyanaponika Thera, The Heart of Buddhist Meditation, Buddhist Publication Society, Kandy, 2005.
15) Närada Maha Thera, The Buddha and His Teachings, Buddhist Publication Society, 2010
16) Phra Maha Kangwan Thiradhammo, A Study Guide for Right Practice of the Three Trainings, The National Coordination Centre of Provincial Meditation Institutes of Thailand, 2010.
17) Robert Bluck, British Buddhism: Teachings, practice and development, Routledge Publications, 2006.

*****

अमरकान्त की कहानियों में स्त्री अंतर्मन

-डॉ. राजवंती
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग
मानवीकी विद्यापीठ इग्नू,नई दिल्ली

आधुनिक समाज में भारतीय नारी की जो स्थिति दिखाई देती है उसके पीछे एक बहुत गहरी अवधारणा छुपी हुई है। स्त्री का स्त्री होना उसकी पहचान है या एक चैतन्य मन होना यह एक बहुत गंभीर सवाल आज हमारे सामने खड़ा है। अगर बहुत गहरे से स्त्री संकल्पना को देखते हैं तो एक चीज निकल कर सामने आती है की स्त्री पहले स्त्री है या मानव। अगर वह मानव है तो उसकी चेतना का प्रकाश सबसे महत्वपूर्ण हुआ। अगर आत्मा का कोई लिंग नहीं है तो फिर स्त्री का जीवन क्या लिंग पर आधारित होने के कारण सदैव से शोषित रहा है? यह एक महत्वपूर्ण विषय है। जो तथ्य दिखाएं या बताए जाते हैं उनमें कितनी सत्यता है। स्त्री -पुरुष की पहचान से अलग क्या बोध,ज्ञान और विवेक के रूप में भी एक स्त्री की पहचान रही है। इस संप्रत्यय पर विचार करना अत्यंत महत्वपूर्ण है।स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति किस प्रकार की रही है।प्रेमचंद के बाद या उनके समकालीन कौन-कौन से कहानीकार हुए जिन्होंने स्त्री के यथार्थवादी जीवन को चित्रित किया जिसमें स्त्री के जीवन से संबंधित स्वर प्रस्फुटित हुए हैं ।1940 से लेकर 2014 तक के स्त्री चैतन्य को कहानीकार अमरकांत ने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज के सामने रखा है। उन्होंने अपनी कहानियों में स्त्री की इच्छाओं, हौसलों, अधिकारों, प्रेम की अभिव्यक्ति, औरत होने की गरिमा के साथ - साथ परित्यक्त स्त्री की समस्याओं का विस्तृत अंकन किया है। आधुनिक समय में भारतीय स्त्री की जो स्थिति दिखाई जाती है वह काफी महत्वपूर्ण है। उनकी कहानियों में स्त्रियों की भावनाएं कहीं ओझल नहीं रहीं हैं। वे स्त्री को परमात्मा की उत्कृष्टतम कृति मानते हैं। जब स्त्री शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसका आशय लिंग से न होकर धारणा से होता है। समाज ने परंपराओं ने स्त्री को स्त्री होने की जो परिभाषा दी है वह मात्र एक छवि है ।अमरकांत की कहानियां उस छवि को तोड़ती हुई नजर आती हैं। उनकी कहानी 'लड़का - लड़की' स्त्री चेतना के भाव अपने आप में समेटे हुए है। स्त्री का जीवन बिना पुरुष के भी ठीक वही अस्तित्व रखता है जो एक पुरुष का बिना स्त्री के ।उन्होंने इस कहानी में प्रेम के भाव का वर्णन नायिका 'तारा' के माध्यम से किया है। प्रेम का अर्थ आर्थिक संसाधन और देह पर आधारित न होकर एक आत्मिक भाव के रूप में अमरकांत जी ने इस कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया है।'तारा' डरी सहमी लड़की नहीं है, वह अपनी भावनाएं खुलकर रखने में सक्षम स्त्री है। इस कहानी के माध्यम से उन्होंने एक संघर्षशील स्त्री के जीवन का चित्रण किया है। स्त्री के प्रेम और पुरुष के प्रेम में गहरा अंतर है।तारा कहती है, - "लेकिन आज आपको सब कुछ सुनना पड़ेगा। मैं आपको कितना प्यार करती हूं यह नहीं बता सकती लेकिन आज आपकी भी गलत बातों को मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती। आपका भी ऐसा ही कहना है। आपके लिए तो मैं बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार थी लेकिन इधर मैंने यह महसूस करना शुरु किया है कि आप केवल अपनी ही बातों को महत्व देते हैं दूसरों की भावनाओं की आपको कतई परवाह नहीं"1एक लड़की जो शिक्षक रूपी पुरुष से प्रभावित होकर अपने जीवन को बदलने को प्रयासरत है एक समय के बाद वह शिद्दत से महसूस करती है कि जिसे वह अपने अपना प्रेरणा स्रोत मान रही है वह भी कहीं ना पितृसत्तात्मक ढांचे का ही एक पहलू है । क्यों आज भी भारतीय स्त्री का जीवन एक पुरुष के प्रेम के बिना अधूरा माना जाता है।स्त्री होना किसी भी स्त्री की मौलिक पहचान नहीं हो सकती है।जिसे हम लिंग कहते हैं क्या उसका संबंध आत्मिकता से होता है ? स्त्री का जन्म परंपराओं और जिम्मेवारियों के निर्वहन के लिए ना होकर अपने जीवन के उच्चतम शिखरो को प्राप्त करने के लिए ही हुआ है। स्त्री का अंतर्मन कितना आहत होता है जब वह किसी पुरूष को अपना सर्वस्व मान लेती है और वह उसे मात्र अपनी महानता दर्शाने का एक उपकरण। यह कौन सी परंपरा है जिसमें एक स्त्री एक पुरुष को अपनी ऊर्जा का केंद्र मानकर उसी के इर्द-गिर्द अपने जीवन का ताना-बाना बुन लेने में अपने आप को सौभाग्यवती समझती है। अमरकांत ने इस कहानी के माध्यम से स्त्री और पुरुष को समान मानते हुए दोनों के विचारों को समाज के सामने रखा है।

अंतर्मन के द्वंद्वों और हृदय के बहुत गहरे कोने में झांकने के इस प्रयास से एक कदम आगे बढ़ते हुए अमरकांत ने स्त्री की आत्म निर्भरता को सबसे अधिक महत्व दिया है। स्त्री का आत्मनिर्भर होना, स्वयं का वजूद गढ़ना सबसे महत्वपूर्ण है। वह स्त्री होने से पहले मानव है। वह देह मात्र नहीं है वह एक चैतन्य मानव है जिसे अवश्य ही आत्मनिर्भर होना चाहिए। 'शुभ चिंता' कहानी में उन्होंने स्त्री की आत्म निर्भरता पर ज़ोर देते हुए लिखा है "और हाँ भाई, मुझे गंदी औरतों से सख़्त नफरत है। मैं उन सभी औरतों को गंदी मानता हूं जिनकी आदतें भद्दी होती हैं। आखिर सलीके से रहने में क्या जाता है? साफ और अच्छा पहनिए, अच्छा ओढ़िये, कायदे से रहिए, सबसे शिष्टाचार पूर्वक बात कीजिए, अपने से बाज़ार हाट कर लीजिए। उन स्त्रियों से मुझे बहुत चिढ़ है जो सुस्त पड़ी रहती हैं, हमेशा व्यर्थ हँसती रहती हैं और बैठकर दूसरों की शिकायत करती है...और, सीता, मैं उस औरत को पसंद करता हूं जो थोड़े ही पैसों में अपने बच्चे को ढंग से रखे, घर का खर्चा ठीक से चला ले, बेकार समय में कुछ सीखने की फिराक में रहे, दूसरों से बेकार शर्म और संकोच ना करें और स्वाभिमान के साथ रहे। फिर शिक्षा को मैं बहुत ज़रूरी समझता हूं। स्त्री इतना ज़रूर पढ़े कि मौका आने पर अपने पैरों पर खड़ी हो सके।" 2 एक

स्त्री का विकास संपूर्ण परिवार का विकास है। संपूर्ण मानव जाति के लिए प्रेरणा स्रोत हैं जो मजबूती से अपने कर्तव्यों का निर्वाह करती हैं।

जब एक स्त्री आत्मनिर्भर होती है तो संपूर्ण परिवार का उत्कर्ष होता है। आर्थिक स्वतंत्रता, स्त्री स्वायत्तता के साथ-साथ एक सकारात्मक माहौल परिवार को प्रदान करती है । परिवार से ही समाज और समाज से ही देश का विकास होता है। "अनादि काल से हम नारी को सर्वोच्च स्थान पर स्थापित करते आ रहे हैं क्योंकि वह तेजोम है,धीरोदात्त है,सृष्टि क्रम की नायिका है, जिसने विपरीत परिस्थितियों में भी अपना विवेक नहीं खोया।"3 स्त्री मन के विभिन्न भावों को कहानीकार ने अपनी लेखनी के माध्यम से व्यक्ति किया है त्याग, धैर्य, विवेक बोध, इनकी अपेक्षा स्त्री से ही क्यों की जाती है। स्त्री ही क्यों पुरुषों को अपना सर्वस्व मानकर अपने अनमोल भावों को एक पुरुष पर न्यौछावर कर के सदैव अपनी कामनाओं का त्याग कर पुरुष को स्वयं से ज़्यादा महत्व देकर उसे श्रेष्ठ बनाने को तत्पर रहे? इस प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति अमरकांत की कहानियों को विशिष्ट बनाते हैं।

अंतर्मन से स्त्री पुरुष से अधिक कोमल होती है। उसमें करुणा और दया पुरुष से अधिक पाई जाती है । अपनी संवेदनाओ के माध्यम से वह बहुत सी समस्याओं को बड़ी ही संजीदगी से सुलझा देती है, उसकी काल्पनिकता का दायरा बहुत विस्तृत होता है जो उसे विशाल फलक देता है। "रसिकता की पराकाष्ठा इन्द्रियों की मूर्त अनुकूलताओं में रूकी नहीं रहीं। गोचर को छोड़कर अगोचर को ढूंढने की इच्छा मनुष्य में है और बिना मूर्त और स्थूल साधना के भी वह रसिकता की तृप्ति कर सकता है। इसी आवश्यकता ने काव्य और साहित्य को जन्म दिया। मानसिक कल्पना और वाणी की सहायता से मनुष्य अपने अन्तर्जगत के सपनों में ही तमाम मूर्त अनुकूलताओं को भोगने का सामर्थ्य पैदा कर सका।"4 जिन सामाजिक, सांस्कृतिक ,धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों में भारतीय नारी अपना जीवन यापन करती है । उन्हीं का चित्रण अपने सृजन में करती है।कल्पनाशीलता व्यक्ति को जीवंत बनाती है। अमरकान्त की कहानियों में यही स्त्रीगत जीवंतता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। मां के रुप में भारतीय स्त्री की गरिमा सदैव से ज्यादा रहने का मूल कारण यही है कि वह ममता के आलावा मातृभाव भी जानती है। इस का बहुत ही गहरा उदाहरण उनकी कहानी 'मित्र मिलन' में मिलता है।कहानी के नायक उमाशंकर बाबू की पत्नी रुक्मिणी के माध्यम से कहानीकार यह भाव स्पष्ट रूप से प्रकट किया है। उमाशंकर बाबू अपने बचपन के दोस्त शिवनाथ की पचास वर्ष पहले आई चिट्ठी को पढ़कर आनंदित हो रहे थे वही उनकी पत्नी रुक्मिणी सिर्फ एक ही बात कहती है "रुक्मिणी ने उमाशंकर बाबू की गोद में पड़े पत्र को झपट्टा मारते हुए उठा लिया और जल्दी-जल्दी पढ़ने लगी फिर शिकायत -भरे स्वर में बोली लल्लू को बुखार आ गया इसके बारे में लिखा ही नहीं।"5 एक स्त्रीमन ही इस तरीके से सोच सकता है। पुरुष और स्त्री की संवेदना में गहरा अन्तर होता है। रुक्मिणी के कथन से स्पष्ट है कि उसे कहीं ना कहीं बच्चे की बिमारी की समस्या ज़्यादा महत्वपूर्ण लगती है। एक मां का सबसे ज्यादा ध्यान सबसे पहले बच्चे पर ही होता है।

अपने भावों को व्यक्त करने की शक्ति स्त्री में एक अनूठेपन को लिए होती है। सहज भाव से वह अपने विचारो को प्रकट करने की क्षमता रखती है। अपने आप को पुरुष के विचारों के अनुसार ढालने के प्रयास में वह अपने जीवन का बहुत सा समय व्यतीत कर देती है। स्वयं की चेतना के विकास पर ध्यान न देकर वह अपने आदर्श पुरुष वचनों का पालन वेदों के मन्त्रों की तरह करती है जो उसे अन्दर तक तोड़ कर रख देते हैं। 'शुभचिंता' कहानी की नायिका सीता अपने आदर्श पुरुष से चेतना पाकर स्वयं को परिवर्तन की राह पर ढकेल देती है। "और जानती हो, मंजु ,मैं जल्दी ही एक अजीब आशा और उमंग में बहने लगी, यह सब कैसे हो गया ? मैं ऊंचा उठ सकती हूँ, इस कल्पना से मुझको लगा कि मैं दूसरों को प्रभावित कर सकती हूँ। इस ख्याल ने मुझको पागल बना दिया। तुम हँसोगी लेकिन मुझे अपना शरीर,अपनी शक्ल ,अपनी चाल-ढाल, सब कुछ बहुत अच्छा लगने लगा। फिर मैं बहुत डर गई और तब मेरे दिल में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं जीवन भर शादी नहीं करूँगी। मेरे अन्दर गंभीर उथल-पुथल मची थी। मैं अपने से लड़ती रही। जितना मैं सोचती, मुझको लगता , मुझको अपने आदर्श और उत्साह के अलावा कुछ नहीं चाहिए"6 उत्साह व्यक्ति के जीवन में नव चेतना का संचार करता है। पति पत्नी का रिश्ता सामान्यत देह और आर्थिक संसाधनों पर आधारित होने के कारण स्त्रियों को बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। बहुत से ऐसे कारण है जिनके कारण स्त्री अपने ही विचारों की उच्चता से वह अपने वजूद को अकेले ही गढ़ती रहती है।स्त्री का स्वभाव सबके साथ कोमल, अच्छा व्यवहार उसके आवरण का हिस्सा होता है। छोटे छोटे मुद्दों में वह अपना जीवन समर्पित कर देती है। दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं यहां तक की अपने घर पर काम करनें वाले नौकर भी उसका जीवन का हिस्सा होते हैं। घर के नौकर चाकरों के साथ स्त्री के व्यवहार का वर्णन करते हुए अमरकान्त जी कहते हैं "निर्मला आँगन में खड़ी होकर पड़ोसियों को सुनाते हुए कहती थी, बहादुर, आकर नाश्ता क्यों नहीं कर लेते ? मैं दूसरी औरतों की तरह नहीं हूँ जो नौकर-चाकर की तलती-भूनती हैं। मैं तो नौकर चाकर को अपने बच्चों की तरह रखती हूँ।"7 नौकरों को भी परिवारों में एक सदस्य के रूप में सदैव से माना जाता रहा है। भारतीय संस्कृति की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है। बहुत सी महिलाओं के ग्रहणी होने के कारण उनके जीवन के मुद्दे भी घर के आसपास ही घूमते हैं।उनके लिए कपड़े, रोटी, बर्तन, बच्चो की परवरिश, सास, ससुर व परिवार से जुड़े हर मुद्दे की अपनी एक गहरी विचारधारा होती है ।"अब स्त्री सिर्फ स्त्री के रूप में सामने आती है यह स्त्री भी किसी बड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करती अधिकतर वह मध्यवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय स्त्री की भाषा बोलती है।" 8 स्त्रियों को नहीं लड़नी होती हैं बड़ी लड़ाइयाँ, वे तो आह्लादित हो जाती हैं छोटी-छोटे उपहारों से, खिल उठती हैं अपने प्रिय के ठीक से मुस्कुराने पर भी। परिवार के प्रति अपनी संवेदनाओं से रिश्तों को मोतियों की तरह से पिरो कर रखती हैं। इन्हीं छोटी-छोटी संवेदनाओं का वर्णन अमरकांत ने अपनी कहानियों में किया है। अपनी कहानी में स्त्री के अंतर्मन का बहुत ही सटीक चित्र उन्होंने खींचा है।'बीमारी' कहानी में इस भाव को व्यक्त कर करते हुए लिखा है "लगभग एक महीने बाद मेरे घर में खुशी का माहौल देखने में आया। पत्नी के उत्साह का अंत नहीं था और वह पड़ोस में सबको बता आई कि योग्य डॉक्टर पैसा

अधिक लेते हैं तो खलता नहीं, अब देखिए न, डॉ. वाजपेयी की दवा की एक खुराक खाकर ही बच्चे का बुखार छूमंतर हो गया।"9 हर छोटी बड़ी खुशियां वे सब के साथ साझा करते हुए अपने जीवन के हर पल को बड़ी ही खुशी से जीती है। पारिवारिक संरचना भारतीय स्त्री के जीवन को अनेक रूप प्रदान करती है। घर के केंद्र में स्त्री ही होती है। जिस पर पारिवारिक ढांचे की बुनियाद टिकी होती है। पारिवारिक मामलों में किसी तीसरे व्यक्ति का हस्तक्षेप परिवार मे क्लेश का माहोल तैयार कर देता है। स्त्रियों के आपसी संबंधों की बड़ी गहरी समझ हमें अमरकान्त की कहानियों में दिखाई पड़ती है। अपनी कहानी 'शुभविवाह' में तीन बहनों और उनके पतियों की कहानी के माध्यम से सामाजिक यथार्थ की विवेचना अमरकान्त जी ने की है। वे लिखते हैं "रमेश ने किसी को भी स्टेशन नहीं जाने दिया। उनके जाने के बाद रमेश और अमिता की खूब आलोचना हुई, रमेश भी बीवी का गुलाम निकला। इस पर जोर का ठहाका लगा। बहुत दिनों बाद तीने बहनों और उनके पतियों के बीच स्नेह और मतैक्य का ऐसा दुर्लभ दृश्य दिखाई दे रहा था।"10 भले ही किसी तीसरे व्यक्ति के कारण घर में कलह का माहौल हो जाता है, लेकिन अपनत्व का भाव कहीं ना कहीं इससे बड़ा है। आपसी स्नेह, प्रेम ,इज्जत वह मर्यादाओं पर ही परिवार की बुनियाद होती है। अगर इसमें कहीं पर भी कमी आती है तो परिवार टूट कर बिखर जाता है। पिता, पुरुष या पति जब संरक्षक के रूप में स्त्री के साथ आते हैं तो वह कहीं ना कहीं उसके साथ संपत्ति की तरह से व्यवहार करने लगते हैं। यह पितृसत्तात्मक मानसिकता कहीं ना कहीं स्त्री को विद्रोही बना देती है। इसी भाव उसका उल्लेख करते हुए अमरकांत जी कहते है "कल किसी लड़के ने इसे रास्ते एकू चिट्ठी दे दी थी … क्या ? अचल बेहद उत्तेजित हो उठा। हाँ, उसने मेरी राय माँगी। मैंने इतना ही कहा कि संभलकर चलो बेटी - रास्ते में खूब गंभीर रहो, अधिक सजकर और फैशन से न निकलो। बस इतना ही कहना काल हो गया।"11 एक विद्रोह यहाँ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जिस समय अमरकान्त जी ने लिखा कि चिट्ठी से ही प्रेमी अपने भावों को व्यक्त करते थे। किसी ने लड़की को प्रेम प्रस्ताव दिया तो यह लड़की की ही गलती है। उसने जरूर कोई ऐसी हरकत की होगी जो इसे ही प्रपोज क्यों किया गया। आज तो चैटिंग का युग है जिसने स्त्रियों के लिए अनेक समस्याओं के द्वार खोल दिए हैं। अमरकान्त जी ने अपनी कहानियों के माध्यम से स्त्रीगत समस्याओं को समाज के सामने रखा है साथ ही समस्याओं के समाधान पर भी अपनी गहरी दृष्टि प्रस्तुत की है। अपनी कहानी 'चक्र' में वे लिखते है "अचानक मेरे दिल का बोझ एकदम हलका हो गया। इच्छा हुई, मैं आकाश में उड़ने लगूं। एक वास्तविक खुशी का स्रोत मेरे दिल के अंदर फूट रहा था। ऐसी ही खुशी से हिम्मत आती है बुद्धि आती है, खुशी स्वयं ही अपने अंदर पैदा करनी होती है"12जब स्त्री अपने अंतर्मन भाव को स्पष्ट कर देती है तो वह उसके लिए एकदम खुली हवा में सांस लेने जैसा होता है। अपने विचारों के ताने -बाने को जब वह जिसके प्रति उसका प्रेम है उसके समक्ष रख देती है तब वह निर्लेप हो जाती है। उसके जीवन में रंग भरने प्रारंभ हो जाते हैं। वह अपने आप पर गर्वित होती है। क्योंकि स्त्री का अंतर्मन होता है सागर से भी गहरा। उन गहराइयों में छुपी होती है उसके जीवन की बहुत सी कहानियां जो वह कभी किसी से कह नहीं पाती। क्योंकि सामाजिक संरचना और उसकी परवरिश उसे बहुत से बातों की इजाजत नहीं देती। जब वह पाती है सानिध्य सत्य का तो वह खिल उठती है नए उजास की तरह से। क्योंकि सत्यता के प्रकाश की रोशनी से बड़ा कोई प्रकाश नहीं होता।

अमरकांत की कहानियों के नारी पात्र के ममत्व, आत्मनिर्भरता, धार्मिक रूढ़ियों से मुक्ति के साथ-साथ मानवतावादी व्यवहार की मांग करते नजर आते हैं। सीता, निम्मों, दीम्ति, कीर्ति, लक्ष्मी, रुक्मिणी, मंजु, निर्मला भारतीय आत्मा को प्रदर्शित करने वाली नारी पात्र हैं जो अपनी चेतना के बल पर नये आयाम पाने की जद्दोजहद करती, आज भी नज़र आ जाती हैं।

आज स्त्री को सबसे ज्यादा आवश्यकता है आत्मनिर्भरता के साथ-साथ अपने आत्म बल को मजबूत करने की। अपनी चेतना के उत्कर्ष के लिए निरंतर ज्ञान से अपने हाथ मजबूत करने की। मात्र देह के रूप में कुछ समय के लिए वह सुविधा तो प्राप्त कर सकती है लेकिन नैतिक मूल्यों के निर्वाह के बिना वह समाज को एक नई दिशा कभी नहीं दे सकती है। अमरकांत की कहानियों में इसी विचार की दृढ़ता का फलक स्पष्ट दिखाई देता है।

संदर्भ ग्रंथ:-

1)10 प्रतिनिधि कहानियां (अमरकांत),किताब घर ,अंसारी रोड दरियागंज,नई दिल्ली110002, प्रथम संस्करण 1997, पृष्ठ 48

2)महान भारतीय महिलाएं (प्रेरक जीवन चरित्र), विजय कुमार गुप्ता गोतम सपरा, सुरुचि प्रकाशन,केशव कुंज झंडेवाला, नई दिल्ली- 110055, पृष्ठ 4

3)10 प्रतिनिधि कहानियां (अमरकांत),किताब घर,अंसारी रोड दरियागंज,नई दिल्ली110002, प्रथम संस्करण 1997, पृष्ठ 3

4)संक्रान्ति और सनातनता डॉ० छगन मोहता, वाग्देव प्रकाशन, बीकानेर ,सुगन निवास, चन्दन सागर पृष्ठ-100-101

5)दस प्रतिनिधि कहानियाँ अमरकांत, किताबघर प्रकाशन २५,अंसारी रोड , दरियागंज नई दिल्ली 110002, पृष्ठ 54

6)दस प्रतिनिधि कहानियाँ (अमरकान्त) प्रकाशन किताबघर असारी रोड 24, नयी दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण, पृष्ठ 40

वहीं, पृष्ठ 60, बहादुर कहानी

7)धनी व्यक्ति का बयान, अमर कान्त, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - प्रथम सस्करण, 1997

कहानी संग्रह- एक धनी व्यक्ति का बयान, कहानी

शुभविवाह, पृष्ठ 50

8)हिंदी साहित्य का आधा इतिहास- डॉ सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया लोधी रोड नई दिल्ली 11003 प्रथम संस्करण 2011 पृष्ठ 316

9)धनी व्यक्ति का बयान, अमर कान्त, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - प्रथम सस्करण, 1997

10) कहानी संग्रह- एक धनी व्यक्ति का बयान, कहानी शुभविवाह, पृष्ठ 50

11) एक धनी व्यक्ति के बयान - अमरकांत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 110002, पृष्ठ53

12) वही, पृष्ठ 60

दोहरा अभिशाप : आत्मकथा में स्त्री जीवन संघर्ष

-भारती,
पीएच. डी. शोधार्थी(हिंदी साहित्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय
जेआरएफ उत्तीर्ण (हिंदी)
फोन नंबर – 9354215858
Bhartimourya158b@gmail.com

सारांश

एक दलित स्त्री की आत्मकथा के माध्यम से वर्ण-जाति एवं पुरुषसत्ता के क्रूर एवं घृणित चेहरे को समझ सकेंगे।

एक दलित स्त्री की व्यथा एवं उसके संघर्ष से रू-ब-रू हो सकेंगे। दलित आत्मकथाओं के माध्यम से मानवीय संवेदनाओं से रू-ब-रू हो सकेंगे।

दलित स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्ति संदर्भ, परिवेश, समस्या और संघर्ष का स्वरूप मुख्य रूप से उजागर हुआ है। दलित स्त्री का जीवन में शिक्षित होने के लिए संघर्ष, जातिगत पहचान की वजह से प्रगति के हर कदम पर आनेवाली कठिनाईयों से जूझना, आर्थिक सबलता के लिए कठिन प्रयास, भूख से लड़ाई, स्त्री होने के कारण घर और बाहर होने वाली अवहेलना, अपमान और शोषण की तिहरी मार को झेलना पड़ता है, लेखिका ने अपनी आत्मकथा में इन प्रसंगों, घटनाओं, संघर्षों का चित्रण बखूबी किया है।

बीजशब्द – दोहरा शोषण, अभिशाप, कुंठा, पुरुषसत्ता, तनावपूर्ण दाम्पत्य, अवहेलना, जातिगत शोषण, पीड़ा, संत्रास,

प्रस्तावना

"किसी भी समाज की प्रगति का सही अंदाजा उसमें हुई स्त्रियों की प्रगति से ही लगाया जा सकता है। आप घरों से निकलकर यहां तक आई हैं निश्चय ही आप प्रगति पथ पर है । आप अपने पतियों के सामाजिक कार्यों में सहयोग करे, पति की दासी नहीं मित्र बने । बच्चे कम पैदा करे, और उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने पर ही,उनकी राय के अनुकूल ही उनकी शादी करे। बेटी बेटा दोनों को उच्च शिक्षा दें। पति शराब पीकर घर में घुसे तो उसके लिए घर के दरवाजे बंद कर दें। अधिक नहीं तो इन थोड़ी सी बातों पर अमल करे तो निश्चय ही आपकी प्रगति होगी।"1

(दलित साहित्य 2003,जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ स. 77)

कौसल्या बैसंत्री जी की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' 1999 ई. में प्रकाशित 'किसी स्त्री द्वारा लिखी गई हिन्दी की पहली दलित आत्मकथा है जो दलित समाज में एक महिला जीवन के तमाम संघर्षों का चिट्ठा खोलती है। इनकी आत्मकथा, अन्य आत्मकथाओं की तरह अत्यधिक पीड़ा, घृणा और जुगुप्सा के भावों का संचालन नहीं करती बल्कि लेखिका के संघर्षों को व उनके मां-बाप के संघर्षों से भरे जीवन का चित्रण करती है।

कौशल्या बैसंत्री ने 68 वर्ष की आयु में अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' लिखी। आत्मकथा का बुनियादी उद्देश्य है कि उसमें आत्म उद्घाटन का तत्व हो। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह दोहरे सामाजिक अभिशाप की कथा है।

इनका आत्मवृत ' दोहरा अभिशाप' दलित साहित्य की अनुपम और अद्वितीय कृति है। दलित साहित्य विमर्श में इस कृति का कई मायनों में विशेष महत्व है। पहला तो यह कि यह हिन्दी का पहला ऐसा आत्मवृत है जिसे एक दलित लेखिका द्वारा लिखा गया है, दूसरा यह है कि लेखिका ने स्वयं दलित होने के कारण जिस ईमानदारी और प्रतिबद्धता के साथ दलित महिलाओं के उत्पीड़न और संघर्ष को दिखाया वह अपने आप में अद्वितीय है। तीसरा यह कि यह तीन पीढी की कथा है जिसमें लेखिका की माँ भागेरथी, नानी आजी और स्वयं लेखिका के जीवन का मार्मिक एवम विशद चित्रण हुआ है। दोहरा अभिशाप जब छप कर आया था, तब लेखिका की स्त्री मुक्ति की धारणा को लेकर कई दलित साहित्यकार उन पर व्यक्तिगत आरोप लगाने तक से नही चूके। उस समय इन रुढिवादी दलित लेखकों द्वारा उनके लेखन और निजी जीवन पर कई प्रश्न चिन्ह खड़े किए गए थे, उनमें से ***डॉ. धर्मवीर*** लेखिका कौशल्या बैसंत्री पर आरोप लगाते हुए लिखते हैं- ***"यदि वे अच्छे हाथ-पांव लेकर भी द्विज नारी की तरह भरण-पोषण पर पलने वाली डायनासोर की नस्ल की औरत न होती तो दलित कानून का सहारा ले कर अपने जीवन की धारा को पूर्णतया बदल सकती थीं। पति के अत्याचार सहने में जो लाचार है वह द्विज नारी है क्योंकि उसके पास ब्राह्मण विवाह की वजह से तलाक लेने का विकल्प नहीं है। लेकिन नारी निठल्ला होकर ही शिकायत कर सकती है कि उसका पति क्रूर है।" 2 (हंस पत्रिका, दलित विशेषांक, अंक-1, अगस्त-2004, संपादक- राजेंद्र यादव, दिल्ली, पृ.70)***

स्पष्ट है कि जिस प्रकार दलित स्त्री सवर्ण पुरूषों के द्वारा प्रताड़ित हुई। उसी प्रकार उसे दलित पुरूषों के द्वारा भी विभिन्न प्रकार के आरोपों का सामना करना पड़ा.। परन्तु प्रश्नचिन्ह कितने भी खड़े हो आत्मवृत में उठाए गए दलित स्त्री के संघर्ष और त्याग को झुठला नहीं सकते।

कौशल्या बैसंत्री का आत्मवृत दोहरा अभिशाप भारतीय समाज में दलित स्त्रियों की आजादी का बिगुल बन कर उभरा है। लेखिका ***पुस्तक की भूमिका*** में घोषणा करती हैं - ***"पुत्र भाई पति सब मुझ पर नाराज हो सकते है , परन्तु मुझे भी तो स्वतन्त्रता चाहिए कि मैं अपनी बात***

समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव औऱ भी महिलाओं के सामने आए होगें परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती औऱ जीवन भर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।"3 *पुस्तक की भूमिका में ही लेखिका अपने अनुभव बांटते हुए कहती है* ***"मैं लेखिका नहीं हूँ, ना साहित्यिक लेकिन अस्पृश्य समाज में पैदा होने से ही जातीयता के नाम पर जो मानसिक यातनाएं सहनी पड़ी इसका मेरे संवेदनशील मन पर असर पड़ा। मैंने अपने अनुभव खुले मन से लिखे है। पुरूषप्रधान समाज स्त्रियों का खुलापन बर्दाश्त नही करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे"4*** भूमिका में ही लेखिका की दलित नारीवादी सोच के सूत्र प्रकट होने लगते है।

लेखिका ने दलित समाज की अच्छाई बुराई सभी का विवरण अपनी आत्मकथा में दिया है। जहां सवर्णों में विधवा विवाह को मान्यता नहीं दी जाती है। वहीं दलित समाज में विधवा अगर दुबारा शादी करना चाहे तो कोई रोक टोक नहीं है। लेकिन इस दूसरी शादी की विधि अलग है और इसे विवाह न कहकर 'पाट' कहा जाता है। लेखिका की आजी (नानी) का भी पाट हुआ था। समाज में स्त्रियों की क्या दशा है, यह किसी से भी नहीं छुपी है और उस पर भी दलित महिलाओं की स्थिति का दुखद यथार्थ स्पष्टतः यहां देखने को मिलता है।

पुरुषवादी शोषण और वर्चस्व से संघर्ष

दलित स्त्री का हमेशा से दोहरा शोषण होता रहा है। एक पुरुष सत्ता द्वारा और दूसरा वर्णव्यवस्था के तहत दलित स्त्रियाँ शोषित होती रही हैं। ***रजत रानी मीनू*** लिखती हैं, - "***दलित स्त्री मात्र दलित होने की त्रासदी नहीं सहती, बल्कि दलित जाति से होने के कारण वह लिंग-भेद और जाति-भेद सहते हुए दोहरे तिहरे आक्रमण झेलती हैं। एक पुरुष प्रधान समाज होने के कारण वह अपने ही समाज के पुरुषों की दृष्टि से भी दूसरे दर्जे की प्राणी मात्र है, जो उनके अनुसार कम बुद्धि की है। इसको आधार बनाकर तमाम उलाहने, अवहेलनाएँ, तिरस्कार उसे झेलने पड़े हैं। इस कारण उसे अपनों से ही उपेक्षा तथा प्रताड़ना मिलती है। दूसरी ओर गैर-दलित समाज उसे दो तरह से कमजोर पाता है, एक तो वह स्त्री है,दूसरे वह दलित जाति से होती है।" 5 (रजत रानी मीनू, हिन्दी दलित कथा साहित्य : अवधारणाएँ और विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्युटर्स (प्रा.)लि., नई दिल्ली,2010,पृ. 167)*** भारतीय समाज में कुछेक आदिवासी समुदायों को छोड़ हर जगह पितृसत्तात्मक सामन्ती समाज व्यवस्था रही है, जहाँ परिवारों में केवल पुरुषों के हुक्म चलते रहे हैं। ऊँच-नीच में विभक्त इस समाज में पूरा दलित समाज हमेशा से हाशिये पर रहा है और दलित स्त्रियाँ ऊँची जातियों के लिए राह चलते मन बहलाने की चीज। मजबूर दलित पुरुष चाहकर भी इनकी रक्षा करने में असमर्थ रहे हैं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के तहत दलित समाज भी धर्म से हिन्दू और परिवार व्यवस्था में पुरुषवादी हो गए। इसके बाद दलित पुरुष खुद एक तरह से स्त्री विरोधी हो गया।

कौशल्या बैसंत्री जी लिखती हैं कि ***"आजी ने थोड़े ही दिनों के अंदर भतीजे से लिए हुए पैसे पूरे चुका दिए। आजी बहुत स्वाभिमानी थीं। अपने मायके वालों को भी कहला भेजा कि वह अपनी लड़ाई खुद ही लड़ेंगी और वे उनके लिए परेशान न हों। आजोबा (मोडकुजी) ने सोचा कि आजी अपने भाइयों के घर गयीं होगीं। थोड़े दिनों के बाद अपने-आप वापस आ जाएँगी। अपनी गलती छिपाने के लिए कहते फिरते थे कि ऐसी कितनी औरतों को मैं अपने घर रख सकता हूँ। परन्तु आजी वापस नहीं आयीं। अपने पाँव पर खड़ी रहकर अपने बच्चों को पाल रही थीं। आजी ने कभी अपने हाथ किसी के आगे नहीं फैलाए।" 6***

यही स्त्री चेतना का अंकुरण हैं। कौशल्या जी के जैसी स्वाभिमानी और संघर्षरत स्त्रियाँ दलित समाज में बहुत कम ही देखने को मिलती हैं। इसीलिए पुरुष अपने मन के नियम-क़ानून बनाते-बिगाड़ते रहें मगर चेतना के विस्तार के साथ ही स्त्री समाज में जागरूकता ने वक़्त की करवट बदली है।

दांपत्य जीवन का तनाव

यह आत्मकथा एक उच्च शिक्षित दलित पति-पत्नी के दाम्पत्य जीवन की कहानी भी है। कौशल्या बैसन्त्री को उनके माँ-बाबा अपने जीवन के सभी फैसले खुद लेने की छूट देते हैं। शान्त और उदार स्वभाव के बाबा और बाबा साहेब के भाषण सुनने वाली जुझारू माँ मानते हैं कि उनकी बेटियाँ उनसे अधिक समझदार हो गई हैं। लेखिका 'शेड्यूल कास्ट स्टूडेण्ट फेडरेशन' की जॉइण्ट सेक्रेटरी होती हैं और इसी संगठन की ओर से सन् 1945 में उन्नाव में हुए उत्तर प्रदेश के 'शेड्यूल कास्ट स्टूडेंट फेडरेशन' के अधिवेशन में जाती हैं। वहाँ उनकी पहचान बी.एच.यू. से आए देवेन्द्र कुमार से होती है,

"यह विद्यार्थी उस वक्त एम.ए., एल.एल.बी. करके डी.लिट्. कर रहा था। यह कानपुर से निकलने वाले हिन्दी अखबार सावधान और मद्रास से निकलने वाले एक अंग्रेजी अखबार में लेख लिखता था।"7 (वही, पृ. 94)

उसकी शादी हो चुकी थी,मगर बाद में उसकी पत्नी व बच्चों की मृत्यु हो गई। लेखिका उससे शादी कर लेती हैं। बाद में पता चलता है कि वह 'बहुत शैतान आदमी' था, वह पहली पत्नी को भी पीटता था। उसे

"पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी।"8 (वही, पृ. 104)

यह रिश्ता सालों तक इसी तरह तनाव भरा चलता रहा,

"पैसे देवेन्द्र कुमार अपनी आलमारी में ताले में बन्द रखता और रोज दूध और सब्जी के पैसे देता था।")9 वही, पृ.(104

पति उसकी हर तरह से उपेक्षा करता रहा और लेखिका दशकों तक पीड़िता बनी रही। वे अपने पति के खूबियों की प्रशंसा करती हैं, ***"देवेन्द्र कुमार को स्वतन्त्रता सेनानी का ताम्रपत्र मिला और पेन्शन भी मिलती है। सरकार ने उसके कार्य की प्रशंसा की थी। किन्तु यही व्यक्ति अपने घर में लड़ाई करता था अपनी पत्नी से।"10 (वही, पृ. 105)***

देवेन्द्र के इस रवैये के चलते दाम्पत्य जीवन की दूरियाँ बढ़ती गईं।

"बहुत अत्याचार होने पर मैंने कोर्ट में देवेन्द्र कुमार पर केस दायर किया। आज दस वर्ष से कोर्ट में केस अटका पड़ा है। मुझे हर माह 500 रुपये मेण्टेनेन्स के मिलते हैं।" 11(वही, पृ. 106)

लेखिका चालीस वर्ष तक उस घर में रहकर सब कुछ 'झेलती' रहीं और जब बच्चे बड़े हो गए, पति पर केस दायर कर दिया।

लेखिका ने स्वयं अपने जीवन में भी एक स्त्री होने के कारण सारी पीड़ा को सहा है जो एक स्त्री सदियों से सहती आ रही है। उसका पति एक बड़ा लेखक व स्वतंत्रता सेनानी था लेकिन अपनी पत्नी को मुक्ति नहीं दे सका। उसके लिए उसकी पत्नी मात्र भोग्य वस्तु थी। लेखिका अपने पति के बारे में लिखती है- ***"देवेन्द्र कुमार (मेरे पति) को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी। दफ्तर के काम और लिखना यही उसकी चिंता थी। मुझे किसी चीज की जरुरत है, इसका उसने कभी ध्यान नहीं दिया। " 12 पृष्ठ 17***

परिवारों में अक्सर स्त्रियों से सलाह नहीं लेने की परम्परा है क्योंकि उन्हें पूर्वाग्रह के तहत कम आँक लिया गया है। जिन परिवारों में स्त्री का पक्ष सशक्त हो जाता था वहाँ पुरुष अपनी ज़मीन हिलती हुई अनुभव करने लगते हैं।

निष्कर्ष :

इस प्रकार इस आत्मकथा में पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री का निरंतर शोषण, उसके अस्तित्व और अस्मिता को कुचला जाना और इनके विरोध में स्त्री का संघर्ष आदि महत्वपूर्ण पहलू उभरे हैं। दलित स्त्री मध्यवर्गीय हो अथवा निम्नवर्गीय, मज़दूर हो अथवा सामाजिक कार्यकर्ता या कॉलेज में अध्यापिका, उसे दलित और स्त्री होने की पीड़ा साथ-साथ झेलनी पड़ती है। यह बात लगभग सभी दलित स्त्री लेखिकाओं के यहां देखने को मिलती है। 'कौसल्या बैसंत्री' की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' समाज में व्याप्त सभी रूढ़िवादियों का, अंधविश्वासों का तथा दलित समाज पर किए जा रहे शोषण का तथा विशेषकर स्त्रियों पर हो रहे अत्याचारों पर प्रश्न खड़ा करती हुई आलोचनात्मक तेवरों के साथ हमारे सामने आती है। इस आत्मकथा में लेखिका ने परिवार तथा अपने जीवन के संघर्षों का बखान किया है। ऐसे संघर्ष दलित और सवर्ण, दोनों जातियों की महिलाओं को झेलने पड़ते हैं। 'कौसल्या' जी ने न सिर्फ सवर्ण पुरूष बल्कि दलित स्त्री-पुरूष का दोहरा चरित्र भी इस आत्मकथा के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

कौशल्या बैसन्त्री की दोहरा अभिशाप और सुशीला टाकभौरे की शिकंजे का दर्द आत्मकथा कई मायने में एक ही धरातल पर खड़ी नजर आती है। दोनों का बेमेल विवाह हुआ, शिक्षा के लिए संघर्ष किया, छुआछूत और जाति-पाँति की शिकार हुई। सुशीला टाकभौरे की शादी अपने बड़ी उम्र वाले से हुई तो कौसल्या बैसन्त्री की शादी दुआजू से हुई। शिकंजे का दर्द में पति माँ, बहन से इतना प्रेम करता है कि पत्नी को नजर अन्दाज करता है। दोनों दलित महिला शिक्षित होते हुए भी पति प्रताड़ना की शिकार हैं। एक अलग होकर (कौशल्या) पति से खाने पीने का हर्जाना माँगती हैं। दूसरी (सुशीला) सब कुछ सहते हुए भी साथ बनी रहती हैं। कौसल्या का प्रतिरोध पति से भी है, पर सुशीला पति से कभी खुल कर प्रतिरोध नहीं कर पाती।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1.**दलित साहित्य 2003,जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ स. 77**

2.हंस पत्रिका, दलित विशेषांक, अंक-1, अगस्त-2दी 4, संपादक-राजेंद्र यादव, दिल्ली, पृ.70

3.दोहरा अभिशाप, कौशल्या बैसंत्री , पुस्तक की भूमिका

4.दोहरा अभिशाप, कौशल्या बैसंत्री ,पुस्तक की भूमिका

5. रजत रानी मीनू, हिन्दी दलित कथा साहित्य :अवधारणाएँ और विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्युटर्स (प्रा.)लि. , नई दिल्ली,,2010पृ.167

6. कौसल्या बैसन्त्री, दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली-110092, प्रथम संस्करण,1999,पृ.22

7. दोहरा अभिशाप, पृष्ठ स. 94

8. वही, पृ.104

9. वही, पृ.104

10. वही, पृ.105

11)वही, पृ.106

12. वही पृष्ठ

*****

डॉ. एस. राधाकृष्णन के अनुसार सार्वभौमिक धर्म: भारतीय धार्मिक चिंतन का एक आधुनिक रूपरेखा

Ghaneshyam Mandal
Research Scholar
Department of Philosophy
B.B.M.K. University, Dhanbad
Email: mandalghaneshyam@gmail.com
Mobile number : 9635429416

Dr. Reeta Kumari Sharma
Associate Professor
Department of Philosophy
B.B.M.K. University, Dhanbad
Email: reetasharma287@gmail.com
Mobile number : 9431514100

यह शोधपत्र डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के धार्मिक चिंतन की उस अवधारणा पर केंद्रित है जिसे वे "सार्वभौमिक धर्म" (Universal Religion) कहते हैं। राधाकृष्णन भारतीय वेदांत परंपरा के एक प्रमुख प्रतिनिधि थे, जिन्होंने धर्म को केवल संप्रदाय, कर्मकांड या मत-मतांतर से परे एक आंतरिक अनुभव और नैतिक उत्तरदायित्व के रूप में परिभाषित किया। उन्होंने वेदांत, उपनिषद्, भगवद्गीता तथा अन्य भारतीय धार्मिक ग्रंथों की शिक्षाओं को आधुनिक दार्शनिक भाषा में प्रस्तुत करते हुए धर्म को मानवता की साझा आध्यात्मिक चेतना का स्वरूप बताया। उनके अनुसार, सभी धर्मों का मूल लक्ष्य आत्मा की शुद्धता, सत्य की अनुभूति और समस्त जीवन के प्रति करुणा की भावना है। यह शोधपत्र राधाकृष्णन के सार्वभौमिक धर्म की अवधारणा को भारतीय धार्मिक चिंतन की एक आधुनिक और समन्वयवादी रूपरेखा के रूप में विश्लेषित करता है।

Keywords (मुख्य शब्द) :
सार्वभौमिक धर्म , भारतीय वेदांत, आध्यात्मिक अनुभव , मानवतावाद , धार्मिक समरसता।

भारत एक बहुधार्मिक, बहुसांस्कृतिक और बहुभाषी राष्ट्र है, जिसकी आत्मा उसकी आध्यात्मिक परंपराओं में समाई हुई है। भारतीय दर्शन और धर्म ने विश्व को आध्यात्मिकता, सहिष्णुता और सार्वभौमिकता की गूढ़तम अवधारणाएँ दी हैं। इस परंपरा के आधुनिक प्रवक्ता के रूप में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने भारतीय धार्मिक विचारधारा को न केवल वैश्विक पटल पर प्रस्तुत किया, बल्कि उसे आधुनिक संदर्भ में व्याख्यायित करते हुए "सार्वभौमिक धर्म" की संकल्पना को उजागर किया। उनके अनुसार, धर्म न तो संकीर्ण आस्था का विषय है और न ही किसी एक समुदाय तक सीमित, बल्कि यह एक सार्वभौमिक मानव मूल्य है — एक ऐसी चेतना जो आत्मा को आत्मा से जोड़ती है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (1888–1975) भारतीय दर्शन और संस्कृति के ऐसे महान प्रवक्ता थे जिन्होंने भारतीय आध्यात्मिक परंपराओं को न केवल वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठा दिलाई, बल्कि उन्हें आधुनिक बौद्धिक विमर्श के अनुकूल भी बनाया। वे एक दार्शनिक, शिक्षाविद्, लेखक, विचारक, राजनयिक और स्वतंत्र भारत के द्वितीय राष्ट्रपति थे। उनके जीवन का प्रत्येक चरण — विद्यार्थी, शिक्षक, लेखक, कुलपति, उपराष्ट्रपति से लेकर राष्ट्रपति तक — भारत के सांस्कृतिक आत्मबोध और बौद्धिक पुनर्जागरण की यात्रा का प्रतीक है। उन्होंने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किए, विशेषतः भारतीय वेदांत परंपरा की व्याख्या आधुनिक दार्शनिक भाषा में की। वे अद्वैत वेदांत के समर्थक थे, परंतु उन्होंने उसका पुनर्पाठ करते हुए इसे एक ऐसे सार्वभौमिक आध्यात्मिक दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जो आधुनिक मानवता की समस्याओं को संबोधित कर सके। उन्होंने धर्म को किसी संप्रदाय, मत या कर्मकांड की सीमित परिभाषा में नहीं बाँधा, बल्कि उसे एक "जीवन दृष्टि" (way of life) के रूप में देखा। उनके अनुसार धर्म का सार आत्मा की दिव्यता, मानव की एकता और जीवन की नैतिक गरिमा में निहित है।

डॉ. राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन की जटिल अवधारणाओं — जैसे ब्रह्म, आत्मा, माया, कर्म, मोक्ष — को सरल, प्रांजल और तार्किक भाषा में व्याख्यायित किया, जिससे वे पश्चिमी विचारकों और शिक्षाविदों के बीच भी लोकप्रिय हुए। उन्होंने यह सुस्पष्ट किया कि भारतीय दर्शन

केवल सांख्यिक या सैद्धांतिक ज्ञान नहीं है, बल्कि यह एक अनुभवधर्मी और व्यवहारधर्मी दर्शन है, जिसका उद्देश्य आत्मज्ञान और लोककल्याण दोनों है। उनके प्रमुख ग्रंथों में *The Hindu View of Life*, *An Idealist View of Life*, *Eastern Religions and Western Thought*, *Indian Philosophy* (दो खंडों में), *Religion and Society*, आदि अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। *The Hindu View of Life* में उन्होंने हिंदू धर्म की उदार, समावेशी और बहुलतावादी प्रकृति का पक्ष रखा है। वे बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि भारतीय परंपरा किसी एक मान्यता में बंधी हुई नहीं है, बल्कि वह 'सर्व धर्म समभाव' की भावना से प्रेरित है। उनके लेखन में यह भावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है कि धर्म केवल आध्यात्मिक मोक्ष की ओर ले जाने वाला मार्ग नहीं, बल्कि सामाजिक समरसता, सहिष्णुता और नैतिक उत्तरदायित्व का आधार भी है।

उन्होंने भारतीय धार्मिकता और पाश्चात्य तर्कशीलता के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। वे एक ऐसे दार्शनिक थे जो न तो अंध परंपरावाद के पक्षधर थे और न ही नास्तिकतावादी वैज्ञानिक चिंतन के अंध समर्थक। उन्होंने विश्वास और तर्क, आध्यात्मिकता और मानवतावाद, आस्था और विवेक के बीच संवाद और संतुलन का मार्ग चुना। उनका मानना था कि आधुनिक युग में धर्म का स्थान तभी सुरक्षित रह सकता है जब वह आंतरिक अनुभूति, नैतिक चेतना और सार्वभौमिक सह-अस्तित्व के मूल्यों से जुड़ा हो। डॉ. राधाकृष्णन का जीवनदर्शन भारतीयता की उस गहराई को दर्शाता है जिसमें आत्मा, प्रकृति और समाज के बीच सौहार्द स्थापित होता है। वे एक ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने धर्म और दर्शन को पुस्तकीय नहीं, बल्कि जीवंत जीवन मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने शिक्षा को केवल बौद्धिक विकास का माध्यम नहीं माना, बल्कि चरित्र निर्माण और आत्मबोध का साधन बताया। उनके अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान देना नहीं, बल्कि आत्मा को जागृत करना है।

इस प्रकार डॉ. राधाकृष्णन का जीवन और चिंतन हमें यह सिखाता है कि भारतीय धार्मिक और दार्शनिक परंपरा न तो पुरातनता में जड़ है, न ही आधुनिकता में खोई हुई है। यह परंपरा सतत प्रवाहित जीवन-सरणि है, जिसे वेदांत और गीता की शिक्षा से लेकर आज के मानवीय संकटों तक, हर युग में पुनः व्याख्यायित किया जा सकता है। डॉ. राधाकृष्णन का दार्शनिक योगदान इस दिशा में एक प्रकाशस्तंभ के समान है।

धर्म की परिभाषा और उसकी सार्वभौमिकता

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, धर्म केवल संप्रदाय, परंपरा, मत या कर्मकांड का नाम नहीं है, बल्कि यह एक आंतरिक आध्यात्मिक अनुभव है, जो मानव को उसकी आत्मिक सत्ता से जोड़ता है। वे धर्म को बाह्य रीति-रिवाज़ों की सीमित परिधि से ऊपर उठाकर एक ऐसी नैतिक और आध्यात्मिक चेतना के रूप में परिभाषित करते हैं जो व्यक्ति को सत्य, करुणा, न्याय और प्रेम जैसे सार्वभौमिक मूल्यों की ओर प्रेरित करती है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं: *"Religion is not a matter of dogma or rituals, but of spiritual experience and moral commitment."* उनके अनुसार, सच्चा धर्म वह है जो व्यक्ति को आत्मानुशासन, सहिष्णुता और मानवीय एकता की भावना के साथ जीवन जीने की प्रेरणा देता है। डॉ. राधाकृष्णन का विश्वास था कि सभी धर्मों की अंतरात्मा एक ही है — आत्मा की शुद्धता, मानवमात्र के प्रति करुणा, सत्य का आग्रह, और सभी में निहित दिव्यता का बोध। उन्होंने धार्मिक अनुभव को एक सार्वभौमिक तत्व माना, जो मानवता की साझी विरासत है। उनके विचारों में धर्म का उद्देश्य केवल मुक्ति प्राप्त करना नहीं, बल्कि इस जीवन में नैतिक उत्कृष्टता और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करना भी है। इस प्रकार, डॉ. राधाकृष्णन धर्म को मानव जीवन की आत्मा मानते हैं, जो विविधता में एकता, मतभेदों में समरसता और बाह्य विविधताओं के भीतर अंतर्निहित एकता को पहचानने का मार्ग प्रशस्त करता है।

भारतीय धार्मिक चिंतन की विशेषताएँ

भारतीय धार्मिक चिंतन सदैव से आत्मा की शाश्वतता, कर्म और पुनर्जन्म, सार्वभौमिक कल्याण की भावना, तथा सत्य, अहिंसा और तपस्या

जैसे मूल्यों पर आधारित रहा है। इस चिंतन की सबसे प्रमुख विशेषता इसकी धार्मिक सहिष्णुता और बहुलता रही है, जहाँ विभिन्न मतों और परंपराओं को समान रूप से मान्यता दी गई है। "सर्वे भवन्तु सुखिनः" की भावना भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण को केवल आध्यात्मिक नहीं, बल्कि सामाजिक और नैतिक रूप से भी समावेशी बनाती है।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने इन मूलभूत सिद्धांतों को आधुनिक वैश्विक संदर्भ में पुनः व्याख्यायित किया। उन्होंने भारतीय धार्मिक मूल्यों को सार्वभौमिक मानवता के आदर्शों से जोड़ते हुए यह स्पष्ट किया कि ये विचार न केवल भारत के लिए, बल्कि सम्पूर्ण मानव सभ्यता के लिए प्रासंगिक हैं। उन्होंने दिखाया कि भारतीय धार्मिक परंपरा केवल एक सांस्कृतिक विरासत नहीं, बल्कि एक जीवंत नैतिक और दार्शनिक परंपरा है जो आधुनिक युग की जटिलताओं का उत्तर देने में सक्षम है।

सार्वभौमिक धर्म की अवधारणा

डॉ. एस. राधाकृष्णन की *"सार्वभौमिक धर्म"* की अवधारणा एक ऐसी धार्मिक दृष्टि को प्रस्तुत करती है, जो किसी विशेष जाति, भाषा, संस्कृति, राष्ट्र, मत या पंथ से परे जाकर सभी मानवों के बीच एकता, सह-अस्तित्व और आध्यात्मिक समानता की स्थापना पर बल देती है। उनके अनुसार, धर्म का वास्तविक उद्देश्य केवल पूजा-पद्धतियाँ या धार्मिक आस्थाएँ नहीं हैं, बल्कि यह मानवता को एक सार्वभौमिक बंधुत्व में बांधने का एक माध्यम है। वे मानते थे कि सभी धर्मों का मूल उद्देश्य एक ही है: ईश्वर या परमसत्य की खोज, नैतिक जीवन का पालन और आत्मिक विकास। चाहे वह हिंदू धर्म हो, ईसाई धर्म, इस्लाम, बौद्ध धर्म या सिख धर्म, सभी धर्म मानवता के आध्यात्मिक उत्थान के समान उद्देश्य की ओर अग्रसर हैं। राधाकृष्णन का यह दृष्टिकोण धर्म को केवल एक सांस्कृतिक या भौतिक पहचान के रूप में नहीं, बल्कि एक सार्वभौमिक जीवन मूल्य के रूप में प्रस्तुत करता है, जो पूरी मानवता को जोड़ने का कार्य करता है। उन्होंने इसे एक ऐसा दर्शन बताया जो विभाजन और भेदभाव को समाप्त करके, सभी लोगों को एक सामान्य आध्यात्मिक और नैतिक आधार पर एकत्र करता है।

आधुनिक संदर्भ में सार्वभौमिक धर्म की आवश्यकता

आज का वैश्विक परिदृश्य धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता, सांप्रदायिक संघर्ष और नैतिक अवमूल्यन जैसी समस्याओं से घिरा हुआ है। ऐसे समय में डॉ. एस. राधाकृष्णन की *सार्वभौमिक धर्म* की अवधारणा अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होती है। उनका मानना था कि धर्म यदि अपने वास्तविक स्वरूप में समझा जाए, तो वह मानवता को जोड़ने वाली शक्ति बन सकता है, न कि उसे विभाजित करने वाली। वे धर्म को केवल बाह्य कर्मकांडों या संस्थागत व्यवस्थाओं का समूह नहीं मानते, बल्कि उसे एक आंतरिक आत्मिक अनुभव और नैतिक प्रतिबद्धता का नाम देते हैं। उनके शब्दों में, *"True religion is a uniting force, not a dividing one. The essence of religion is in realization, not in ritual."*

राधाकृष्णन ने यह स्पष्ट किया कि जब धर्म को आत्मबोध, करुणा, सत्य और न्याय जैसे मूल्यों के संदर्भ में समझा जाएगा, तभी वह विविधताओं के बीच सामंजस्य और सह-अस्तित्व की भावना उत्पन्न कर सकेगा। उनकी दृष्टि में सार्वभौमिक धर्म कोई नया पंथ नहीं, बल्कि एक ऐसा दृष्टिकोण है जो सभी मतों की आत्मा को समझते हुए एक वैश्विक नैतिक चेतना को जन्म देता है। आधुनिक विश्व की चुनौतियों से निपटने के लिए ऐसी समावेशी और मानवतावादी धार्मिक दृष्टि की नितांत आवश्यकता है।

तुलनात्मक दृष्टिकोण: पश्चिम और पूर्व

डॉ. एस. राधाकृष्णन ने पूर्व और पश्चिम के धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों का गहराई से तुलनात्मक अध्ययन किया। उन्होंने विशेष रूप से यह रेखांकित किया कि पश्चिमी धर्म, विशेषतः ईसाई धर्म, अक्सर बाह्य आचरण, नियमों और संस्थागत अनुशासन पर अधिक बल देते हैं। इन धर्मों में धार्मिकता को प्रायः एक संगठित संरचना और अनुशासन के माध्यम से परिभाषित किया जाता है। इसके विपरीत, भारतीय धार्मिक परंपरा आत्मा की स्वतः अनुभूति, अंतःकरण की शुद्धि और व्यक्तिगत साधना पर आधारित है, जहाँ सत्य की प्राप्ति के अनेक मार्गों को स्वीकार किया गया है। राधाकृष्णन का मत था कि भारतीय दृष्टिकोण अपनी समावेशिता, सहिष्णुता और आध्यात्मिक गहराई के कारण कहीं

अधिक लचीला और सार्वभौमिक है। भारतीय धर्म-दर्शन व्यक्ति के अनुभव को केंद्र में रखता है, न कि किसी एकमात्र धार्मिक प्रामाणिकता को। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यह लचीलापन ही भारत को धार्मिक विविधता में एकता बनाए रखने में सक्षम बनाता है और यही तत्व उनके सार्वभौमिक धर्म के सिद्धांत की आधारशिला है।

शिक्षा और सार्वभौमिक धर्म

डॉ. एस. राधाकृष्णन के अनुसार, शिक्षा केवल बौद्धिक विकास का माध्यम नहीं, बल्कि धर्म का व्यावहारिक रूप है। उनका मानना था कि सच्ची शिक्षा वही है जो मानव के भीतर नैतिक मूल्यों, आत्मनिरीक्षण और करुणा जैसे गुणों का विकास करे। जब शिक्षा व्यक्ति को अपने आत्मिक स्वरूप की पहचान कराती है और उसे समाज के प्रति उत्तरदायी बनाती है, तभी वह धर्म के सार को साकार करती है। उनके लिए शिक्षा और धर्म एक-दूसरे के पूरक थे — शिक्षा के बिना धर्म केवल एक सैद्धांतिक विचार बनकर रह जाता है, और धर्म के बिना शिक्षा केवल तकनीकी दक्षता का माध्यम। राधाकृष्णन यह स्पष्ट रूप से मानते थे कि यदि सार्वभौमिक धर्म की भावना को शिक्षा प्रणाली में समाहित किया जाए, तो समाज में शांति, सह-अस्तित्व और समरसता की स्थापना संभव है। उन्होंने धर्म को किसी मत या पंथ तक सीमित न रखकर उसे मानवीय संवेदनाओं और सार्वभौमिक मूल्यों की शिक्षा के रूप में प्रस्तुत किया। ऐसी शिक्षा, जो न केवल जानकारी दे बल्कि व्यक्तित्व का निर्माण करे, समाज को अधिक न्यायपूर्ण, सहिष्णु और आध्यात्मिक रूप से समृद्ध बना सकती है।

निष्कर्ष

डॉ. एस. राधाकृष्णन के सार्वभौमिक धर्म का विचार भारतीय धार्मिक चिंतन की गहराई और समावेशिता का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने धर्म को किसी विशेष संप्रदाय, मत या कर्मकांड से परे एक ऐसी आध्यात्मिक चेतना के रूप में परिभाषित किया, जो मानवमात्र के नैतिक, आत्मिक और सामाजिक विकास को दिशा देती है। उनके अनुसार, धर्म का वास्तविक उद्देश्य आत्मा की शुद्धि, परस्पर करुणा और विश्वबंधुत्व की स्थापना है। यह चिंतन केवल भारत तक सीमित नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव सभ्यता के लिए प्रासंगिक और आवश्यक है। राधाकृष्णन की दृष्टि में धर्म कोई सीमित संस्था नहीं, बल्कि एक ऐसा "आत्मिक अनुष्ठान" है जो व्यक्ति को स्वयं से, समाज से और परम सत्ता से जोड़ता है। उन्होंने धर्म को न तो विभाजन का औजार माना और न ही प्रभुत्व स्थापित करने का माध्यम, बल्कि उन्होंने उसे एक सार्वभौमिक जीवन-दृष्टि के रूप में प्रस्तुत किया। उनका यह विचार आज के संकटग्रस्त, खंडित और तनावपूर्ण विश्व को सह-अस्तित्व, सहिष्णुता और आध्यात्मिक एकता का मार्ग दिखाता है — और यही उनके सार्वभौमिक धर्म की सबसे बड़ी प्रासंगिकता है।

संदर्भ:

1. Radhakrishnan, S. *The Hindu View of Life*
2. Radhakrishnan, S. *An Idealist View of Life*
3. Radhakrishnan, S. *Religion and Society*
4. Chatterjee, Margaret. *The Philosophy of S. Radhakrishnan* Sharma, Arvind. *Modern Hindu Thought*

*****

हिन्दी के संस्मरण में भाषा-शैली का महत्व क्यों जरूरी है

-निशांत शेखर
PHD Scholar,
Dakshina Bharat Hindi Prachar Sabha Chennai, Tamil Nadu
Shriram property liberty Square ,Anant nagar
Electronic City phase 2
Bengaluru 560 100
M: 8940187377

हिन्दी के संस्मरण में भाषा-शैली का महत्व कई कारणों से आवश्यक है:
भावनाओं का संप्रेषण: संस्मरण व्यक्तिगत अनुभवों को साझा करते हैं, और भाषा-शैली का सही उपयोग लेखक की भावनाओं को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने में मदद करता है।
पाठक की रुचि: एक आकर्षक और विशेष भाषा-शैली पाठक की रुचि बनाए रखने में सहायक होती है। यदि लेखन शैली रोचक और सजीव है, तो पाठक कहानी में गहराई से जुड़ता है।
विषय की स्पष्टता: सही भाषा-शैली से विचारों और घटनाओं को स्पष्टता से व्यक्त किया जा सकता है। इससे पाठक को लेखक की दृष्टि और अनुभव को समझने में आसानी होती है।
सांस्कृतिक संदर्भ: संस्मरण अक्सर सांस्कृतिक और सामाजिक संदर्भों में होते हैं। भाषा-शैली का चयन इन संदर्भों को सटीकता से व्यक्त करने में मदद करता है, जिससे पाठक को उस समय और स्थान की संस्कृति का अनुभव होता है।
नवीनता और प्रयोग: विभिन्न भाषाई शैलियों के प्रयोग से संस्मरण को नवीनता मिलती है। लेखक नई तकनीकियों और शैलियों का प्रयोग करके अपने लेखन को अद्वितीय बना सकता है।
व्यक्तिगत पहचान: लेखक की भाषा-शैली उसकी व्यक्तिगत पहचान को भी दर्शाती है। एक खास शैली के माध्यम से पाठक लेखक के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को पहचान सकता है।
इस प्रकार, संस्मरण में भाषा-शैली का सही उपयोग न केवल पाठक के अनुभव को समृद्ध बनाता है, बल्कि लेखक की अभिव्यक्ति और विचारों को भी मजबूती से प्रस्तुत करता है।
हिंदी के संस्मरण साहित्य में भाषा और शैली का विशेष महत्व होता है। यह न केवल लेखक की विचारधारा और अनुभवों को व्यक्त करने का माध्यम होती है, बल्कि पाठकों के साथ भावनात्मक जुड़ाव भी बनाती है। आइए, इस विषय पर विस्तार से चर्चा करते हैं।
व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति:
- संस्मरण लेखन में लेखक की भाषा उनकी व्यक्तिगतता को दर्शाती है। उनकी शैली, शब्दावली, और व्याकरणिक संरचना से पाठक लेखक के व्यक्तित्व और उनकी सोच को समझ सकता है। उदाहरण के लिए, यदि लेखक की भाषा में सरलता और स्पष्टता है, तो यह उनके जीवन के अनुभवों को सीधे-सादे तरीके से प्रस्तुत करने की कोशिश हो सकती है।
भावनात्मक जुड़ाव:
- भाषा की चुस्तता और शैली की अनुगूंज पाठकों के दिल को छूने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जब लेखक अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को प्रभावी ढंग से व्यक्त करता है, तो पाठक भी उनके अनुभवों से जुड़ाव महसूस करता है।
संदेश की प्रभावशीलता:
- हिंदी के संस्मरण में प्रयुक्त भाषा अक्सर लेखक की सांस्कृतिक पहचान को भी दर्शाती है। क्षेत्रीय शब्द, मुहावरे, और शैलीगत विशेषताएँ उस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को उजागर करती हैं, जिसमें लेखक ने अपने अनुभवों को जीया है।
उदाहरण:
1. महादेवी वर्मा का संस्मरण: उनकी भाषा की नाजुकता और काव्यात्मकता उनके संवेदनशील अनुभवों को प्रकट करती है।
2. रवींद्रनाथ ठाकुर के संस्मरण में संतुलित और गहन भाषा पाठकों को गहरे विचारों की ओर ले जाती है।

हिन्दी के संस्मरण में भाषिक संरचना -- भाषा-शैली भाषाओं का प्रयोग

हिन्दी के संस्मरणों में भाषिक संरचना एक महत्वपूर्ण पहलू है, जो लेखक की भाषा, शैली और विभिन्न भाषाओं के प्रयोग को स्पष्ट करता है। यहाँ हम इन तत्वों की चर्चा करेंगे:
1. भाषा और शैली:
- भाषा:
- हिन्दी के संस्मरणों में भाषा का चुनाव और उसकी सरलता, जटिलता या सादगी लेखक की व्यक्तिगत शैली और अनुभवों पर निर्भर करती है। सामान्यतः, संस्मरण लेखन में लेखक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो पाठकों को आसानी से समझ में आए और जो उनके भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक अनुभवों को व्यक्त कर सके।
- उदाहरण: "मेरे बचपन के दिनों में, जब हम गाँव में रहते थे, गर्मी की छुट्टियों में हर साल मैं दादी के पास जाती थी। वहाँ की धूल भरी गलियाँ और पुराने घर की यादें आज भी ताजा हैं।"
- शैली:
- वर्णात्मक शैली: संस्मरणों में अक्सर वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया जाता है, जिसमें घटनाओं, स्थानों और पात्रों का विस्तृत चित्रण होता है। यह पाठक को उस समय और स्थान में ले जाने का प्रयास करता है।
- उदाहरण: "वह शाम, जब सूर्य ढलने को था, और आकाश लाल और

सुनहरे रंगों में रंगा हुआ था, तो मैंने सोचा कि यह एक सपना सा लगता है।"

- आत्मकथात्मक शैली: लेखक अपनी व्यक्तिगत कहानी और अनुभवों को साझा करता है, जिससे पाठकों को उसके जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझने में मदद मिलती है।

- उदाहरण: "मैंने अपने करियर की शुरुआत एक छोटे से ऑफिस से की थी, जहाँ हर दिन नई चुनौतियाँ और अवसर मिलते थे।"

- भावनात्मक शैली: संस्मरण में भावनात्मक जुड़ाव को प्रकट करने के लिए लेखक भावनात्मक भाषा का प्रयोग करता है, जिससे पाठक लेखक के अनुभवों को महसूस कर सके।

- उदाहरण: "जब मैंने अपने प्रिय शिक्षक को आखिरी बार देखा, तो उनके चेहरे पर जो मुस्कान थी, वह मेरे दिल को छू गई।"

2. भाषाओं का प्रयोग:

- उर्दू शब्दावली का प्रयोग:

- कई हिन्दी संस्मरणों में उर्दू शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग भी होता है, खासकर जब लेखक का अनुभव उर्दू भाषी क्षेत्र से जुड़ा होता है। इससे संस्मरण को एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भ मिलता है।

- उदाहरण: "हमारे मोहल्ले में अक्सर 'चाय का प्याला' पर गपशप होती थी, जिसमें सभी लोग 'गर्मियों की छुट्टियों' के किस्से साझा करते थे।"

- स्थानीय भाषाओं और बोलियों का प्रयोग:

- हिन्दी के संस्मरणों में स्थानीय भाषाओं और बोलियों का प्रयोग भी किया जा सकता है, विशेष रूप से जब लेखक अपने क्षेत्रीय अनुभवों को साझा करता है। यह भाषा की विविधता को प्रदर्शित करता है और पाठकों को विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भों का अनुभव कराता है।

- उदाहरण: "गाँव में, जब भी कोई बड़ी घटना होती थी, तो 'गंगा जी की मेला' का आयोजन होता था, जिसमें सभी लोग उत्साह से भाग लेते थे।"

- सामान्य हिन्दी और साहित्यिक हिन्दी:

- संस्मरण में सामान्य हिन्दी का प्रयोग आम बातचीत और अनुभवों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, जबकि साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग विशेष विचारों और भावनाओं को प्रकट करने के लिए होता है।

- उदाहरण: सामान्य हिन्दी: "मैंने अपने दोस्तों के साथ खूब मस्ती की।"

- साहित्यिक हिन्दी: "मुझे उन दिनों की याद आती है जब मित्रों के साथ बिताए गए पल अत्यंत सुखद और अनमोल थे।"

भाषिक संरचना का महत्व:

- पाठक के साथ जुड़ाव:

- लेखक की भाषा और शैली पाठक के साथ भावनात्मक जुड़ाव बनाने में मदद करती है। सरल और स्पष्ट भाषा पाठकों को लेखक की दुनिया में आसानी से प्रवेश कराती है।

- अनुभवों की स्पष्टता:

- सही भाषा और शैली का चयन लेखक के अनुभवों और घटनाओं को स्पष्ट और जीवंत रूप में प्रस्तुत करता है, जिससे पाठक उन अनुभवों को बेहतर तरीके से समझ सकता है।

- सांस्कृतिक संदर्भ:

- विभिन्न भाषाओं और बोलियों का प्रयोग स्थानीय और सांस्कृतिक संदर्भ को प्रस्तुत करता है, जिससे पाठक विभिन्न सांस्कृतिक अनुभवों और विविधताओं को समझ सकता है।

हिन्दी के संस्मरणों में भाषा और शैली का चुनाव लेखक की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह भाषा और शैली पाठकों को लेखक के जीवन के अनुभवों, भावनाओं, और सांस्कृतिक संदर्भों से परिचित कराती है। इसके अलावा, भाषाओं का प्रयोग भी संस्मरण की गहराई और विविधता को बढ़ाता है। इस प्रकार, संस्मरण लेखन में भाषिक संरचना पाठक के साथ गहरे जुड़ाव और समझ को सुनिश्चित करती है। अच्छी शैली पाठकों को लेखक के विचार और भावनाओं को स्पष्ट रूप से समझने में मदद करती है। यह संदेश को प्रभावी ढंग से संप्रेषित करती है और पाठक को लेखन के विषय में गहराई से समझने का अवसर प्रदान करती है।

- उदाहरण: साधारण भाषा और सरल शैली का प्रयोग लेख को अधिक सुलभ और समझने में आसान बनाता है।

- पाठक के साथ जुड़ाव:

- लेखक की शैली पाठक के साथ भावनात्मक और मानसिक जुड़ाव बनाने में सहायक होती है। एक दिलचस्प और प्रभावशाली शैली पाठक को लेखक के दृष्टिकोण और अनुभवों से जोड़ती है।

- उदाहरण: जीवंत वर्णन और भावनात्मक भाषा पाठक को लेखक की दुनिया में ले जाती है।

लेखक की पहचान और व्यक्तिगत शैली:

- स्वतंत्रता और विशिष्टता:

- लेखक की शैली उसकी व्यक्तिगत पहचान को प्रकट करती है। यह लेखक के विशेष दृष्टिकोण, विचारधारा, और लेखन की तकनीक को दर्शाती है।

- उदाहरण: मार्क ट्वेन की हास्यपूर्ण और व्यंग्यात्मक शैली या प्रवीण कुमार की ठेठ ग्रामीण भाषा उनकी विशिष्ट पहचान बनाते हैं।

- सृजनात्मकता और इनोवेशन:

- शैली लेखक की सृजनात्मकता और इनोवेशन को प्रकट करती है। लेखक की विशिष्ट शैली और तकनीक उसकी लेखन कला में नयापन और मौलिकता लाती है।

- उदाहरण: जेम्स जॉयस की "उलिसिस" में प्रयोगात्मक शैली और जटिलता उसकी सृजनात्मकता को दर्शाती है।

. साहित्यिक विधा और उद्देश्यों के अनुसार शैली का चयन:

- विधा के अनुसार उपयुक्तता:

- विभिन्न साहित्यिक विधाओं में शैली की विशेषताएँ और उपयोगिता भिन्न हो सकती हैं। उदाहरण के लिए, उपन्यास में वर्णनात्मक शैली अधिक प्रचलित होती है, जबकि कविताओं में सूक्ष्म और प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग होता है।

- उदाहरण: उपन्यास में विस्तृत वर्णन और चरित्र चित्रण, जबकि कविता में संक्षिप्तता और प्रतीकात्मकता।

- उद्देश्य और विषय:
  - लेखक के उद्देश्यों और विषय के आधार पर शैली का चयन होता है। यदि उद्देश्य सूचनात्मक है, तो शैली तथ्यात्मक और सीधी हो सकती है। अगर उद्देश्य प्रेरणादायक है, तो शैली भावनात्मक और प्रेरक हो सकती है।
  - उदाहरण: एक अकादमिक लेख में औपचारिक और विश्लेषणात्मक शैली, जबकि प्रेरणादायक लेखन में प्रेरक और उत्साहजनक शैली।

सांस्कृतिक और सामाजिक संदर्भ:

- सांस्कृतिक प्रभाव:
  - शैली सांस्कृतिक संदर्भों को प्रकट करती है और पाठक को उस समय और स्थान की झलक देती है। यह लेखक की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और सामाजिक संदर्भ को भी उजागर करती है।
  - उदाहरण: भारतीय उपन्यासों में भारतीय सांस्कृतिक तत्वों और लोककथाओं की शैली का प्रयोग।
- सामाजिक मुद्दे:
  - शैली सामाजिक मुद्दों और प्रश्नों को दर्शाने का एक माध्यम हो सकती है। इसके माध्यम से लेखक सामाजिक न्याय, असमानता, और अन्य सामाजिक मुद्दों पर ध्यान आकर्षित कर सकता है।
  - उदाहरण: सामाजिक व्यंग्य और आलोचनात्मक शैली सामाजिक समस्याओं की ओर इशारा करती है।

पढ़ने की अनुभवता और आनंद:

- पढ़ने का आनंद:
  - एक आकर्षक और प्रभावी शैली पढ़ने के अनुभव को सुखद और आनंददायक बनाती है। यह लेखन को न केवल सूचना देने वाला, बल्कि एक रोमांचक और प्रेरणादायक अनुभव भी बनाती है।
  - उदाहरण: एक काव्यात्मक और चित्रात्मक शैली पाठकों को गहराई से प्रभावित करती है।
- ध्यान बनाए रखना:
  - एक प्रभावशाली शैली पाठकों का ध्यान बनाए रखती है और उन्हें अंत तक पढ़ने के लिए प्रेरित करती है। यह लिखित सामग्री को अधिक रोचक और आकर्षक बनाती है।

सजीव और व्यक्तिगत भाषा:

- संस्मरण में भाषा सजीव और व्यक्तिगत होती है, जिससे लेखक के निजी अनुभव और भावनाएँ पाठकों के सामने सीधे आती हैं। यह भाषा आमतौर पर सरल, संवादात्मक और स्वाभाविक होती है।
- लेखक अपनी ज़िंदगी के महत्वपूर्ण पलों का वर्णन इस तरह करता है कि पाठक खुद को उस परिस्थिति में महसूस कर सके।

वर्णनात्मक भाषा:

- संस्मरण में घटनाओं और स्थितियों का वर्णन विस्तार से किया जाता है। लेखक अपने अनुभवों को वर्णनात्मक शैली में लिखता है ताकि पाठक उन पलों की गहराई को महसूस कर सकें।
- इसमें दृश्य, ध्वनियाँ, गंध, और भावनाओं का सजीव चित्रण होता है।

भावनात्मक भाषा:

संस्मरण की सरल भाषा का अर्थ है वह भाषा जो सहज, स्पष्ट, और स्वाभाविक हो। इसमें जटिल शब्दों या भारी साहित्यिक शैली का उपयोग नहीं किया जाता, ताकि पाठक आसानी से लेखक के विचारों, भावनाओं, और अनुभवों को समझ सकें। सरल भाषा का उपयोग संस्मरण को अधिक व्यक्तिगत और वास्तविक बनाता है, जिससे पाठक लेखक के जीवन के साथ भावनात्मक रूप से जुड़ पाते हैं।

इस प्रकार, हिंदी के संस्मरण में भाषा-शैली लेखक की व्यक्तिगत यात्रा को संप्रेषित करने और पाठक से भावनात्मक संबंध स्थापित करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है।

*****

झारखंड की जनजातीय महिलाओं में सशक्तिकरण एवं स्वावलंबन में शिक्षा का महत्व

डॉ. जुई बनार्जी
शोधार्थी डि.लिट
दर्शनशास्त्र विभाग
बि.बि.म.को.वि.धनबाद

डॉ.रीता कुमारी शर्मा
सहप्राध्यापक
दर्शनशास्त्र विभाग,
बि.बि.म.को.वि.धनबाद

शोध–सार :

यह शोध पत्र झारखंड की जनजातीय महिलाओं के सशक्तिकरण और स्वावलंबन में शिक्षा की भूमिका का बहुआयामी विश्लेषण करता है। पारंपरिक रूप से समाज के हाशिए पर रही जनजातीय महिलाएं आज शिक्षा के माध्यम से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से सशक्त हो रही हैं। झारखंड की प्रमुख जनजातियाँकृ संथाल, मुंडा, उरांव, हो, और कुड़मिकृअपने सांस्कृतिक ढाँचे के भीतर रहते हुए भी शिक्षा के माध्यम से आधुनिक जीवन से जुड़ने का प्रयास कर रही हैं।

शोध में यह पाया गया कि यद्यपि प्राथमिक स्तर पर बालिकाओं का नामांकन संतोषजनक है, परंतु माध्यमिक और उच्च शिक्षा स्तर पर ड्रॉपआउट की दर अधिक है। सामाजिक बाधाएँ जैसेकृबाल विवाह, घरेलू जिम्मेदारियाँ और भाषाई दूरीकृअभी भी शिक्षा प्राप्ति में अवरोधक हैं। भौगोलिक विषमता और विद्यालयों की अपर्याप्तता भी समस्या को गहरा बनाती है।

शोध में यह भी उल्लेखनीय है कि कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय जैसी योजनाओं और स्वयं सहायता समूहों ने जनजातीय महिलाओं को शिक्षा और आजीविका से जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सफल उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा उन्हें आत्मनिर्भरता, निर्णय क्षमता और नेतृत्व के योग्य बना रही है।

यह शोध निष्कर्ष देता है कि जनजातीय महिलाओं के लिए शिक्षा न केवल ज्ञान का माध्यम है, बल्कि वह एक परिवर्तनकारी शक्ति है जो उन्हें सशक्त, जागरूक और भागीदारी युक्त नागरिक बनाती है। इस प्रक्रिया में मातृभाषा आधारित शिक्षा, महिला शिक्षकों की नियुक्ति और सांस्कृतिक अनुकूलता विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

बीज शब्द :

जनजातीय महिला, झारखंड, सशक्तिकरण, शिक्षा, स्वावलंबन, मातृभाषा, सामाजिक बाधा, सरकारी योजनाएँ।

प्रस्तावना :

भारत जैसे बहुजातीय और बहुसांस्कृतिक देश में जनजातियाँ एक महत्वपूर्ण सामाजिक इकाई के रूप में मानी जाती हैं। इनकी विशेष पहचान, रहन–सहन, परंपराएँ, और जीवनशैली उन्हें सामाजिक–सांस्कृतिक विविधता का अहम हिस्सा बनाती हैं। भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 8.6% जनजातीय समुदाय है, जबकि झारखंड में यह अनुपात लगभग 26.2% है'।[1] झारखंड की जनजातीय महिलाएँ पारंपरिक रूप से कृषि, वन–उत्पाद संग्रहण, शिल्पकला, और सामाजिक आयोजनों में सक्रिय भूमिका निभाती रही हैं।

वर्तमान में जनजातीय महिलाओं के जीवन में शिक्षा का प्रभाव गहराई से परिलक्षित हो रहा है। शिक्षा ने उन्हें अपने अधिकारों, कर्तव्यों, स्वास्थ्य, आजीविका और राजनीतिक भागीदारी के प्रति जागरूक बनाया है। यह आलेख झारखंड की जनजातीय महिलाओं के सशक्तिकरण और स्वावलंबन में शिक्षा की भूमिका को विस्तृत रूप से विश्लेषित करता है।

शोध की पृष्ठभूमि और उद्देश्य :

झारखंड के जनजातीय क्षेत्रों में लंबे समय तक शिक्षा की उपेक्षा होती रही है। विशेष रूप से महिलाओं की साक्षरता दर राज्य की औसत साक्षरता दर से भी काफी कम रही है। इसके पीछे कई सामाजिक, भौगोलिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारण रहे हैं।

इस शोध का उद्देश्य है –

1.झारखंड की जनजातीय महिलाओं की शिक्षा की वर्तमान

स्थिति का विश्लेषण करना।

2.शिक्षा से उनके जीवन में आए सशक्तिकरण के रूपों को उजागर करना।

3.क्षेत्रीय उदाहरणों के माध्यम से स्वावलंबन के सफल मॉडल को प्रस्तुत करना।

4.चुनौतियों की पहचान कर समाधान प्रस्तुत करना।

5.झारखंड में जनजातीय समाज एवं महिला की स्थिति।

झारखंड में प्रमुख जनजातियाँ हैं – संथाल, मुंडा, हो, उरांव, बिरहोर, खड़िया, माल पहाड़िया, असुर आदि। इन जनजातियों में महिलाओं की सामाजिक भागीदारी महत्वपूर्ण रही है। वे न केवल परिवार की आर्थिक रीढ़ होती हैं बल्कि सामुदायिक निर्णयों में भी भूमिका निभाती हैं। परंतु इनकी सामाजिक स्थिति में कई प्रकार की विषमताएँ हैं–

- बाल–विवाह की प्रवृत्ति
- स्वास्थ्य सेवाओं की कमी
- निर्णय निर्माण में सीमित भूमिका
- शिक्षा का अभाव

शिक्षा ही वह माध्यम है जिससे इन विषमताओं को पाटने का कार्य किया जा सकता है।

झारखंड की जनजातीय महिलाओं की शिक्षा : एक सांख्यिकीय विश्लेषण :

जनगणना 2011 के अनुसार झारखंड में कुल साक्षरता दर 66.41% है, जिसमें पुरुष साक्षरता 76.84% और महिला साक्षरता 55.42% है। वहीं अनुसूचित जनजाति वर्ग की महिला साक्षरता दर मात्र 47.40% है।[2]

राष्ट्रीय शिक्षा सर्वेक्षण रिपोर्ट (2020–21) के अनुसार :

झारखंड में माध्यमिक शिक्षा तक पहुँचने वाली जनजातीय छात्राओं की संख्या केवल 19% है। विद्यालय छोड़ने की दर (dropout rate) उच्च प्राथमिक स्तर पर 30% है।

जिला स्तर पर महिला साक्षरता दर (ST वर्ग)–

जिला	महिला साक्षरता
सिमडेगा	62.4
पूर्वी सिंहभूम	60.8
गुमला	47.9
पाकुड़	39.4

यह असमानता दर्शाती है कि जनजातीय महिलाओं की शिक्षा नीतिगत प्राथमिकता होने के बावजूद अभी भी पीछे है।

शिक्षा से सशक्तिकरण : परिप्रेक्ष्य एवं परिमाण

शिक्षा से जनजातीय महिलाओं को जो प्रमुख लाभ प्राप्त हुए हैं, उन्हें निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

1.सामाजिक सशक्तिकरण–

- महिला शिक्षा से घरेलू हिंसा में कमी
- परिवार नियोजन, टीकाकरण, पोषण, और स्वास्थ्य पर जागरूकता
- सामाजिक कुरीतियों से प्रतिरोध की शक्ति

2. आर्थिक स्वावलंबन–

- स्वरोजगार में वृद्धि (सिलाई, मशरूम उत्पादन, बकरी पालन)
- महिला स्वयं सहायता समूहों की वृद्धि
- बैंकिंग और वित्तीय सेवाओं तक पहुँच

3.राजनीतिक भागीदारी–

- पंचायत चुनावों में महिलाओं की भागीदारी में वृद्धि
- स्थानीय विकास योजनाओं में नेतृत्व
- नीति–निर्माण प्रक्रिया में योगदान

शिक्षा से जुड़े क्षेत्रीय उदाहरण

(क) 'लता कंडुलना', सिमडेगा– BA तक शिक्षा प्राप्त कर पंचायत चुनाव जीता। गाँव में स्कूल भवन निर्माण, शौचालय निर्माण और पोषण आहार योजना को प्रभावी रूप से लागू किया।[3]

(ख) 'एलिजा टोप्पो', खूंटी – M.Ed. शिक्षत एलिजा ने ग्रामीण क्षेत्र की 150 से अधिक बालिकाओं को शिक्षा प्रदान की और उन्हें कंप्यूटर, सिलाई, नर्सिंग में प्रशिक्षण दिलवाया।[4]

(ग) 'महिला विकेंद्रीकृत समूह', चाईबासा– 10वीं

पास जनजातीय महिलाओं ने मिलकर जैविक सब्जी उत्पादन शुरू किया। इससे मासिक आमदनी 8000 से 12000 रुपये तक पहुँच गई।[5]

(घ) 'संगीता मुंडा', लोहरदगा– एक प्रशिक्षित 'सहिया' के रूप में संगीता जनजातीय महिलाओं को गर्भावस्था, नवजात देखभाल और टीकाकरण की जानकारी दे रही हैं।[6]

5.शिक्षा के माध्यम से स्वावलंबन के आयाम

(क) 'कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय' का योगदान – राज्य में 203 केजीबीवी संच. ालित हैं।[7] इनमें पढ़ने वाली लड़कियों का 65% ST वर्ग से है।

- लड़कियाँ 10वीं तक शिक्षा प्राप्त कर रही हैं।
- सिलाई, कढ़ाई, ब्यूटीशियन, बागवानी जैसे व्यवसायिक प्रशिक्षण भी दिए जा रहे हैं।

(ख) आजीविका मिशन के तहत महिला भागीदारी – 2023 में झारखंड में 6.5 लाख महिलाएँ स्वयं सहायता समूह से जुड़ीं।

- ST महिलाओं की भागीदारी 42% रही।
- आर्थिक साक्षरता और बैंक ऋण की पहुँच में वृद्धि हुई।[8]

6.मुख्य चुनौतियाँ और बाधाएँ

- भौगोलिक दुर्गमता
- दूर–दराज के गाँवों में विद्यालयों की कमी।
- सामाजिक एवं पारिवारिक दबाव
- बेटियों को घर के कामों में लगा देना, बाल विवाह।
- मातृभाषा में शिक्षा की कमी
- बच्चियाँ हिंदी या अंग्रेजी माध्यम में पढ़ने से हिचकती हैं, जिससे पढ़ाई अधूरी रह जाती है।
- महिला शिक्षकों की कमी – विशेष रूप से आदिवासी क्षेत्रों में महिला शिक्षक प्रेरणा का स्रोत हो सकती हैं।

7.समाधान और नीतिगत सुझाव :

- प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा (कुडुख, संथाली, मुंडारी) में हो।
- विद्यालयों की दूरी 1 किमी से अधिक न हो।
- अवधारणात्मक शिक्षकों की नियुक्ति, विशेष रूप से महिला आदिवासी शिक्षक।
- शिक्षा के साथ व्यवसायिक प्रशिक्षण को जोड़ना।
- साइकिल योजना, छात्रवृत्ति, पोषण आहार जैसे कार्यक्रमों को सुदृढ़ बनाना।

निष्कर्ष :

झारखंड की जनजातीय महिलाओं का सशक्तिकरण एवं स्वावलंबन शिक्षा के बिना अधूरा है। शिक्षा ने न केवल उनकी सोच को बदला है, बल्कि उनके जीवन की दिशा भी तय की है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हर क्षेत्र में शिक्षित महिलाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि शिक्षा सुलभ हो तो कोई भी वंचित नहीं रह सकता।

नीतियों में यदि मातृभाषा आधारित शिक्षा, व्यवसायिक प्रशिक्षण, महिला नेतृत्व को बढ़ावा, और समुदाय की भागीदारी को सुनिश्चित किया जाए, तो झारखंड की जनजातीय महिलाएँ न केवल आत्मनिर्भर होंगी बल्कि राज्य और देश के विकास की मजबूत कड़ी बनेंगी।

संदर्भ सूची :–

1.भारत सरकार, जनगणना रिपोर्ट, 2011

2.झारखंड सरकार, आदिवासी कल्याण विभाग रिपोर्ट, 2021

3.उरांव, मनीषा, आदिवासी महिला और शिक्षा, आदिवासी अध्ययन प्रकाशन, रांची, 2019, पृ. 91

4.कुमार, अजय, झारखंड की ग्रामीण महिलाएं और विकास, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2, 2021, पृ. 114

5.जोजो, एलिजाबेथ। सामुदायिक विकास और महिला सशक्तिकरण, विमर्श प्रकाशन, रांची, 2022, पृ. 98

6.दास, रेखा, (सहिया) झारखंड की जनस्वास्थ्य वाहिनी, प्रेरणा पब्लिकेशन, 2023, पृ. 49

7.झारखंड शिक्षा परियोजना परिषद, केजीबीवी रिपोर्ट, 2022

8.भारत सरकार, ग्रामीण विकास मंत्रालय, राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन रिपोर्ट, 2023

*****

योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' सतसई और बिहारी सतसई में चित्रित नीति तत्व

-श्रुति मनकीकर,
शोधार्थी
उच्च शिक्षा और शोध संस्तान
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा चेन्नई
Mob no. 9483164258
E Mail id – shruthimankikar@gmail.com

-डॉ.मंजूनाथ एन अंबिग
शोधनिर्देशक
उच्च शिक्षा और शोध संस्तान
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा चेन्नई

नीतिकाव्य का उद्भव विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद से माना जाता है| भारतीय नीति तत्व धर्म एवं दर्शन के अंतर्गत समाहित हैं इसलिए नीति काव्य का उद्भव सभी स्मृति ग्रंथों में मिलता है| भगवत गीता तो भारतीय संस्कृति का अनमोल रतन है जिसके माध्यम से व्यक्ति को जीवन की सरसता, आत्मा की अमरता, निष्काम भावना कर्म आदि की शिक्षा मिलती है तथा व्यक्ति अपने जीवन का व्यवहारिक ज्ञान भी प्राप्त करता है। नीति मानवीय चिंता से उपजा ऐसा काव्य तत्व है जो मनुष्य को अपने ढंग से जगाता है तथा सावधान भी करता है यही कारण है कि जीवन के पथ प्रदर्शक की भूमिका में भारतीय नीति तत्व की चर्चा सदैव होती रही है। नीति ग्रंथकारों की परंपरा में भर्तृहरि को प्राचीन भारतीय नीति काव्य का सम्राट माना जाता है।इसी परम्परा में मध्ययुगीन भक्तिकालीन काव्य भी नीति तत्वों का गढ़ रहा है इनमें कबीर, नानक,तथा दादू दयाल आदि संत कवियों ने अपनी उपदेशात्मक रचनाएं नीति तत्व को लेकर की है तथा बिहारी सतसई के दोहे तो नीति के पक्ष में विशेष रूप से महत्व रखते ही है तथा इसी सतसई परंपरा में योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' जी की अरुण सतसई में भी नीति तत्वों पर अनेक दोहे रचे गए हैं।

योगेंद्र नाथ शर्मा 'अरुण' का योगदान हिंदी काव्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उनकी कृति अरुण सतसई में नीति तत्व पर भी विशेष बल दिया गया है। इसमें व्यक्ति के जीवन में निहित नीति तत्वों की महत्वत्ता को कवि ने जीवन के विभिन्न पहलुओं और दर्शन के माध्यम से सरल और प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। कवि ने समाज को शिक्षाप्रद, प्रेरणादायक और नैतिक सन्देश देने का भरसक प्रयास किया है। यह कृति नीति शास्त्र के मूल तत्वों को सहजता से प्रस्तुत करती है, जिससे हर वर्ग के व्यक्ति को प्रेरणा प्राप्त होती हैं। अरुण सतसई के नीति तत्व जीवन में सदाचार, मानवता, परोपकार, सत्य, प्रेम, और कर्तव्यनिष्ठा पर आधारित हैं।कवि का मानना है कि मनुष्य को अपने जीवन में सदाचार और नैतिकता का पालन करना चाहिए। सतसई के दोहों में नैतिकता की महत्ता को सरल शब्दों में व्यक्त किया गया है, जिससे व्यक्ति को अपने जीवन में नैतिक और सदाचारी बनने की प्रेरणा सहज ही प्राप्त हो जाती है। दोहों के माध्यम से समझाया गया है कि मनुष्य को अपने विवेक से काम लेना चाहिए। जीवन में मुश्किलों का आना-जाना तोसदैव लगा ही रहता है तो व्यक्ति को उनसे डरकर भागना नहीं चाहिए बल्कि उनका डटकर सामना करना चाहिए यदि मनुष्य अपने विवेक से आगे बढेगा तो मुश्किलों को दूर कर सकता है और ऐसा करने पर उसे कायरता की जगह पर सफलता, यश और प्रसिद्धि प्राप्त होगी।

" जब विवेक जगता सखे,
मुश्किल होती दूर।
बाधाएं टलती स्वयं,
यश मिलने भरपूर।।"

इस दोहे की नैतिकता व्यक्ति को सिखाती है कि उसे किस प्रकार अपने जीवन में आने वाली प्रत्येक प्रकार की बधाओं से लड़ते रहना चाहिए और उनका डटकर सामना करना चाहिए।अरुण के नीति तत्वों में परोपकार का महत्व अत्यधिक रूप से वर्णित है। उन्होंने व्यक्ति को समाज में एक-दूसरे की सहायता करने और जरूरतमंदों के प्रति सहानुभूति रखने पर बल देते हुए बताया है कि परोपकार करना मनुष्य का सर्वोत्तम कर्तव्य है। जिस प्रकार वृक्ष, पवन, नदियां तथा प्रकृति का प्रत्येक तत्व एक दूसरे की सहायता में खड़ा रहता है उसी प्रकार मनुष्य को भी एक दूसरे केप्रति परोपकारी होने की अत्यधिक आवश्यकता है । इसका महत्त्व प्रस्तुत करते हुए योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' लिखते है|

" नदियाँ, वृक्ष, पवन, सखे,
जग को देते त्राण
मनुज बना पागल सखे,
ले औरों के प्राण।।"

मनुष्य को नीति के प्रति सजग करते हुए बताते हैं कि उन्हें भी प्रकृति के समान एक दूसरे का सहयोगी बनने की आवश्यकता है न की एक दूसरे के विरोध में खड़े होकर अपने अस्तित्व को समाप्त करने की। परोपकारी होना ही मानव का सर्वश्रेष्ठ गुण है।सत्य के प्रति आस्था और ईमानदारी का पालन किसी भी समाज का आधार होता है। अरुण जी ने अपने दोहों के माध्यम से सत्यनिष्ठा के महत्व को समझाया और बताया है कि झूठ और कपट से अर्जित की गई सफलता अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती। व्यक्ति को सत्यवादी बनने के साथ सोच को भी सकारात्मक रखना चाहिए।

" सोच सकारात्मक रहे,
जीवन रहता शांत
जहां मनुज सोचे गलत,
जीवन होता भ्रांत।।"

सत्य और सकारात्मक सोच के साथ अगर व्यक्ति आगे बढ़ेगा तभी वह जीवन में शांति प्राप्त कर सकता है यदि वह गलत तरीकों से आगे बढ़ने का प्रयास करता है तो स्पष्ट है कि उसका जीवन नरक के समान हो जाएगा और

उसके जीवन में समस्याएं बनी रहेंगी।प्रेम और सहिष्णुता से ही समाज में सौहार्द बना रहता है। इनके दोहे प्रेम, सहिष्णुता और सामंजस्य का संदेश देते हैं। उन्होंने इन गुणों को मानवीय संबंधों के आधारभूत तत्वों के रूप में प्रस्तुत किया है। बिहारी जी की सतसई में बिहारी जी अपने दोहों में मनुष्य को अपने मन की निर्मलता और पवित्रता बनाए रखने की बात समझाते हुए कहते हैं कि यदि मनुष्य को अपने चरित्र की चटकन उसकी चमक और उसकी उज्जवलता को बनाए रखना है तो उसे अपने मन को साफ और स्वच्छ रखने की आवश्यकता है जिस प्रकार धूल तेल लगी हुई वस्तु पर जमकर उसे मैला कर देती है उसी प्रकार हमारे अवगुण हमारे मन के ऊपर प्रभाव डालते हैं और हमारे मन को मलिन कर देते हैं।

" जौ चाहत, चटक न घटै, मैलों होई न मित्त
रज राजसु न छुवाइ तौ नेह - चिकनौं चित्त।।"

जिससे व्यक्ति को अपना रक्षा करने की आवश्यकता है। बिहारी सतसई हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है, जिसमें सात सौ दोहे होते हैं। इनके माध्यम से बिहारी जी ने नीति, प्रेम, भक्ति और जीवन के विविध पहलुओं का चित्रण किया है। बिहारी सतसई को नीति और प्रेम काव्य का अद्भुत मिश्रण माना जाता है। इसमें बिहारी ने जीवन की व्यवहारिकताओं, मानव स्वभाव और समाज की वास्तविकताओं को सरल एवं प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। नीति तत्व के अंतर्गत व्यक्ति के कर्तव्यों, समाज में उसका स्थान, और उसके आचरण के महत्व को विशेष स्थान दिया गया है।बिहारी सतसई के नीति संबंधी दोहे साधारण जीवन को गहन दार्शनिक दृष्टि से देखते हैं।

" करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न, दीनदयाल।
दुखी हो होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल।।"

दोहे में बिहारी ने जीवन की अनिश्चितताओं और संभावनाओं को दर्शाया है। और परमात्मा के साथ मनुष्य के गूढ़ रहस्य और उनकी लीलाओ के विषय में बताया है बिहारी सतसई में उन्होंने जीवन के आदर्श और नैतिक मूल्यों को उच्च स्थान दिया है। बिहारी सतसई के नीति तत्वों में व्यक्ति के स्वधर्म, सत्य, और नैतिकता की शिक्षा मिलती है। बिहारी ने अपने दोहों में समाज के प्रति व्यक्ति के उत्तरदायित्व को भी प्रमुखता से उठाया है।

बिहारी सतसई और अरुण सतसई दोनों ही नीति, प्रेम और जीवन के अनुभवों पर आधारित हैं, लेकिन दोनों के प्रस्तुतीकरण में थोड़ा अंतर है। बिहारी का ध्यान मानव स्वभाव की बारीकियों पर अधिक है, जबकि अरुण ने समाज के व्यापक अनुभवों और नैतिक आचरण पर अधिक जोर दिया है। दोनों की सतसइयों में नीति का स्वरूप जीवन के वास्तविक अनुभवों से उपजा है, जो व्यक्ति जीवन के कठिन समय में सही मार्गदर्शन प्रदान करता है।अरुण सतसई और बिहारी सतसई दोनों ही नीति, प्रेम और जीवन की सच्चाइयों का सजीव चित्रण करती हैं। इनके नीति तत्व व्यक्ति को न केवल नैतिकता का पालन करने की प्रेरणा देते हैं, बल्कि समाज और जीवन के प्रति उसकी जिम्मेदारियों को भी उजागर करते हैं। सिद्धांतों और आदर्शों का समावेश है। नीति तत्व मानव के जीवन में नैतिकता, अनुशासन, परोपकार और ईमानदारी जैसे गुणों को स्थापित करता है और उसे सत्य, प्रेम, सहनशीलता, संयम, और विनम्रता के आदर्शों का पालन करने के लिए प्रेरित करता है। नीति तत्व का आधार समाज, संस्कृति और जीवन के अनुभवों से जुड़ा हुआ है। यह तत्व मनुष्य को न केवल स्वयं के उत्थान के लिए बल्कि समाज, राष्ट्र और विश्व के कल्याण के लिए भी प्रेरित करता है।

नीति का मूल उद्देश्य व्यक्ति को अपने आचरण और जीवन के प्रति उत्तरदायित्व का बोध कराना है जिससे वह अपने कर्तव्यों का पालन सही और संतुलित तरीके से करने में सक्षम बनता है। नीति तत्व जीवन के उच्च आदर्शों पर बल देता है। यह सत्य, प्रेम, और धर्म के आदर्शों पर आधारित होता है और व्यक्ति को एक आदर्श जीवन की प्रेरणा भी देता है।यह व्यक्ति को सच्चाई, ईमानदारी और सही आचरण का पालन करने के लिए प्रेरित करता है। नैतिकता व्यक्ति को आत्मनियंत्रण और संयम का पालक बनाती है।इसमें परोपकार और समाज के प्रति सेवा का भाव भी शामिल होता है। यह दूसरों के प्रति दयाभाव, करुणा और सहानुभूति को प्रोत्साहित करता है। नीति तत्व मनुष्य को अपने समाज और पर्यावरण के प्रति दायित्व का एहसास कराता है।यह आत्म-सुधार और आत्म-अनुशासन का महत्व होता है। यह व्यक्ति को अपने अंदर सकारात्मक परिवर्तन लाने और बुरी आदतों से दूर रहने के लिए प्रेरित करता है। नीति तत्व के माध्यम से व्यक्ति में अपने दोषों को पहचानने और उनसे मुक्ति पाने का भाव उत्पन्न होता है। और प्रेम और सद्भाव के महत्व को उजागर करता है। यह व्यक्ति को यह सिखाता है कि प्रेम ही जीवन का सार है और इसी के द्वारा समाज में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।नीति तत्व व्यक्ति और समाज दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। यह समाज में शांति, अनुशासन और सद्भाव की स्थापना करता है। व्यक्ति में सद्गुणों का विकास और उसके भीतर एक उच्च चरित्र का निर्माण करने के लिए नीति तत्व आवश्यक है। यह व्यक्ति को जीवन के सही मार्ग पर चलने और समाज को एक आदर्श स्थिति की ओर ले जाने में सहायक है।नीति तत्व का स्वरूप व्यक्ति और समाज के समग्र विकास के लिए आवश्यक आदर्शों, नैतिक सिद्धांतों, और अनुशासनों का एक संगठित रूप है।

नीति तत्व व्यक्ति को जीवन के आदर्शों का पालन करने के लिए प्रेरित करता है, जिससे वह समाज में एक सकारात्मक योगदान दे सके और स्वयं को नैतिक रूप से श्रेष्ठ बना सके।अरुण सतसई का नीति तत्व मुख्यत व्यक्ति और समाज के सुधार पर केंद्रित है। योगेंद्र नाथ शर्मा 'अरुण' ने दोहों के माध्यम से आधुनिक समाज के नैतिक पतन, व्यक्तिगत स्वार्थ, और भौतिकवादी प्रवृत्तियों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इनके दोहे न केवल व्यक्ति को नैतिकता का पालन करने की प्रेरणा देते हैं, बल्कि साथ ही समाज में नैतिकता और ईमानदारी की स्थापना के लिए भी प्रेरित करते हैं| अरुण का मानना है कि व्यक्ति यदि सत्य, परोपकार और ईमानदारी को अपनाता है, तो समाज में सुधार संभव है। इनके नीति-दोहों का उद्देश्य समाज को सही दिशा की ओर अग्रसर करना तथा व्यक्ति को आत्मनियंत्रण, सहनशीलता और परोपकार की सीख देना है।बिहारी सतसई में नीति का उद्देश्य व्यक्ति को आदर्श और प्रेममूलक व्यवहार की ओर प्रेरित करना है। बिहारीलाल ने नीति को श्रृंगार और प्रेम के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जहाँ प्रेम, सौंदर्य, और नीति आत्म-नियंत्रण के आदर्शों से

जुड़ी हुई है। उन्होंने अपने नीति-दोहों में शारीरिक और मानसिक प्रेम की पराकाष्ठा को भी दर्शाया है, जिससे मनुष्य को जीवन के गहरे अर्थ का बोध होता है।बिहारी की नीति प्रेम और विनम्रता पर आधारित है। उनका मानना था कि प्रेम में त्याग, धैर्य, और संयम होना चाहिए। उनके नीति-दोहे व्यक्ति को संबंधों में संतुलन और मर्यादा का पाठ पढ़ाते हैं, जो कि उनके युग के समाज में एक आदर्श स्थिति भी थी।अरुण सतसई में नीति तत्व यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है।

अरुण का दृष्टिकोण आधुनिक जीवन के मुद्दों को उजागर करने का है। उनके दोहों में व्यंग्य और सच्चाई का मिश्रण मिलता है, जिससे वे पाठकों को जीवन के आदर्शों और मूल्यों को समझने के लिए प्रेरित करते हैं। उनकी नीति-रचना का उद्देश्य समाज की विसंगतियों पर प्रहार करना है।"दोष दूसरों में देखना, खुद पर ध्यान नहीं।अपने दोष मिटाओ, यही नीति का बंधन सही।" बिहारी सतसई में नीति का स्वरूप और अभिव्यक्ति एकदम अलग है। बिहारी का नीति-दर्शन आदर्शवाद और रीतिकालीन जीवन शैली का पोषक है। उनके दोहों में नीति का शाब्दिक अर्थ प्रेम, शील और सौंदर्य को संजोए हुए हैं। बिहारी का दृष्टिकोण आदर्शवादी और कलात्मक है, जो मनुष्य को मानवता, प्रेम और सौंदर्य की ओर प्रेरित करता है।"नेह का ये बंधन, जोड़े जब सच्चा मन।प्रेम से नीति सध जाए, यही सच्चा जीवन| अरुण की रचना में सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति प्रमुख है। उनके दोहे भ्रष्टाचार, सामाजिक असमानता और पारिवारिक विघटन पर गहरा प्रहार करते हैं। वे नीति का उपयोग समाज में सुधार के लिए एक साधन के रूप में करते हैं। अरुण सतसई का उद्देश्य समाज के हर व्यक्ति को जागरूक करना और उसे नैतिकता की राह पर ले जाना है।बिहारी की रचनाओं में समाज के आदर्श और मर्यादाएँ शामिल हैं, लेकिन उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। उन्होंने नीति को प्रेम, शिष्टाचार, और मधुर व्यवहार के रूप में प्रस्तुत किया है। बिहारी ने समाज को प्रेम के माध्यम से जोड़ने की आवश्यकता पर बल दिया है। उनके लिए प्रेम ही सबसे बड़ी नीति है और यही समाज को जोड़ने का माध्यम भी है।अत; हम कह सकते है की अरुण सतसई और बिहारी सतसई दोनों सतसइयों में नीति का स्थान महत्वपूर्ण है। दोनों की नीति, अभिव्यक्ति, समाज, युग और दृष्टिकोण में भिन्न है।

दोनों ने अपने समय और समाज की आवश्यकताओं के अनुसार नीति का प्रयोग किया है। अरुण जहाँ समाज सुधार पर जोर देते हैं, वहीं बिहारीलाल प्रेम को सर्वोच्च नीति मानते हैं। इन दोनों के नीति-दोहों में भले ही दृष्टिकोण भिन्न हो, लेकिन उद्देश्य एक ही है – समाज और मनुष्य को नैतिकता, प्रेम, और सच्चाई की ओर प्रेरित करना।योगेंद्र नाथ अरुण की 'अरुण सतसई' और बिहारी की 'बिहारी सतसई' दो प्रमुख कृतियाँ हैं, दोनों ही नीति और जीवन के गूढ़ तत्वों का वर्णन करती हैं।योगेंद्र नाथ अरुण की 'अरुण सतसई' भी बिहारी की तरह नीति और जीवन के तत्वों पर आधारित है। अरुण सतसई में नीति के साथ-साथ सामाजिक जीवन के अनुभवों, जीवन की वास्तविकताओं और आचरण की नीतियों को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया गया है। अरुण के दोहों में जीवन की कठिनाइयों से लड़ने और नैतिकता के साथ जीने की प्रेरणा मिलती है दोनों रचनाएँ हिंदी साहित्य में अपने नीति तत्वों के कारण अद्वितीय स्थान रखती हैं और आज भी जीवन मार्गदर्शन का स्रोत बनी हुई हैं।

योगंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', अरुण सतसई, पृ. सं 27
योगंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', अरुण सतसई, पृ. सं 34
योगंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', अरुण सतसई, पृ. सं 189
बिहारी, बिहारी सतसई, पृ. सं. 105
बिहारी, बिहारी सतसई, पृ. सं. 112
बिहारी, बिहारी सतसई, पृ. सं. 114
योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', अरुण सतसई, आशा कभी न छोड़िए, पृ. सं 14
योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', अरुण सतसई, आशा कभी न छोड़िए, पृ. सं 15
उषारानी, बिहारी सतसई :ध्वनि एवं वक्रोक्ति परक विश्लेषण, पृ.सं 78
बच्चन सिंह, बिहारी का नया मूल्यांकन, पृ सं 11
बच्चन सिंह, बिहारी का नया मूल्यांकन, पृ सं 36
बच्चन सिंह, बिहारी का नया मूल्यांकन, पृ सं 115
योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', अरुण सतसई, आशा जीवन सार है, पृ. सं 8
योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', अरुण सतसई, आशा जीवन सार है, पृ. सं 11

*****

The Role of Criminal Liability in Contemporary Society and Its Impact on Modern Criminal Law

-Dr. Inderpreet Kaur Narang
Assistant Professor,
Department of Laws,
Guru Nanak Dev University,
Regional Campus, Jalandhar

Abstract

In this paper author is trying to explore the evolving role of criminal liability in contemporary society and its profound implications on modern criminal law. As societies progress, the concept of criminal liability adapts, influencing legal frameworks, societal values, and criminal justice practices. By analysing theories, historical developments, and current trends, this research investigates how criminal liability serves as both a deterrent and a mechanism for justice. It evaluates the tension between punitive approaches and rehabilitative practices, discussing the shift towards restorative justice and the challenges of balancing societal protection with individual rights. Anyone engaged in or employed within the criminal justice system must first understand criminal liability and the basic elements that define a crime. From law enforcement and attorneys to correctional officials and forensic scientists, a strong awareness of these ideas helps one to negotiate the complexity of the law. The paper considers developing trends in the necessity of balancing deterrence, rehabilitation, and legal fairness to maintain a fair society in the face of new legal challenges.

Key-words: Criminal Law, Criminal -Liability, Society Protection, Criminal Law Theories etc.

1. Introduction

Criminal law, in its essence, defines what constitutes a crime and outlines how it should be investigated and prosecuted. It sets the parameters within which courts and law enforcement operate, while also reflecting societal values and acting as a mirror to them. This paper explores the complexities surrounding these ideas. Our modern criminal justice system is a sophisticated framework inherited from generations past, designed to address the actions of individuals who cause harm to others. It embodies core societal values and has the power to uphold these values, sometimes even guiding society through the very offenses it defines. The criminal law system is justified primarily by its role in serving the needs of the society it protects. Most of us, as we go about our daily lives, rarely consider the workings of criminal law or the roles of the police and legislature. However, it remains essential in maintaining the minimal boundaries necessary to prevent actions that would diminish the quality of life or infringe upon the rights of others. Society, in general, thrives on cooperation, and this cooperation is underpinned by the enforcement of laws that ensure only a small minority act against societal norms. Criminal law is about protecting the collective well-being, whereas civil law addresses disputes between individuals or groups.

Criminal liability refers to an individual's legal responsibility for committing a criminal act. It is a fundamental element of any legal system, ensuring that those who break the law are held accountable. This paper will examine the evolving role of criminal liability in today's society, focusing on how modern criminal law adapts to social shifts, legal advancements, and human rights considerations. The paper argues that while criminal liability remains central to the legal system, its application is evolving, influenced by factors like globalization, technological progress, increased awareness of human rights, and a growing focus on rehabilitation over punitive measures. Furthermore, criminal liability ensures that legal professionals can properly prosecute offenders and defend the accused, ensuring fair and just legal proceedings.[1]

2.Theoretical Foundations of Criminal Liability

The theoretical foundations of criminal liability refer to the principles and concepts that underpin the imposition of criminal responsibility. Criminal liability is based on the idea that individuals who commit certain actions or omissions should be held accountable and punished. The theories of criminal liability provide the legal and moral justification for the state to intervene and penalize individuals who violate the law.

2.1 **Classical Theory of Criminal Liability:** The classical school of criminology, which originated in the 18th century, asserts that criminal liability is based on the free will of individuals. It suggests that people commit crimes because they choose to do so, with full awareness of the consequences. According to this theory, the primary aim of criminal law is deterrence, both general deterrence (preventing others from committing crimes) and specific deterrence (preventing the individual offender from committing future crimes).

2.1.1 Retribution theory: The classical theory emphasizes that punishment is deserved and is a moral response to a criminal act. This retributive view is embodied in Indian criminal law, where punishment serves as a way to balance justice, ensuring that the harm caused by the criminal act is met with a commensurate penalty. In India, Section 302 of the Indian Penal Code, 1860 provides the punishment for murder (death or life imprisonment), reflecting the principle of retribution. The Supreme Court in *Bachan Singh v. State of Punjab*[2], underscored the importance of retribution in deciding death penalty cases but also balanced it with other considerations to ensure it is applied justly.

2.1.2 Deterrence theory: Classical theory also views punishment as a deterrent against crime. By inflicting penalties, the law aims to deter others from committing similar offenses. The IPC, including provisions such as Section 376 (rape) and Section 307 (attempt to murder), provides stringent punishments to deter serious crimes. The severity of punishment is expected to discourage offenders and potential offenders from engaging in criminal activity.

2.2Modern Theories of Criminal Liability: Modern theories of criminal liability have shifted from purely punitive approaches to a focus on rehabilitation, restoration, and the protection of society. These theories aim to address the root causes of criminal behaviour and reintegrate offenders into society.

2.2.1 Restorative Justice: Restorative justice focuses on repairing the harm caused to victims and society by offenders. It emphasizes the involvement of the victim, the offender, and the community in finding a way to address the consequences of the crime and reintegrate the offender. In India, restorative justice is still in its nascent stages, but efforts have been made through the Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015. This Act focuses on rehabilitation and social reintegration of juvenile offenders, rather than subjecting them to traditional punitive measures.

2.2.2 Rehabilitation: Rehabilitation views criminal liability as a means to reform offenders. It aims to reintegrate offenders into society by addressing the factors that led to their criminal behaviour (e.g., poverty, mental illness, addiction). Section 360 of the Criminal Procedure Code, 1973 allows for the probation of first-time offenders, suggesting a rehabilitative approach. The courts in India have also increasingly recognized the importance of rehabilitation, as seen in cases such as *State of Maharashtra v. Jayant Bachu Kumbhar*[3], where the Supreme Court emphasized the need to focus on the rehabilitative aspect of the punishment rather than purely retributive measures. In this case, the court observed that when sentencing an offender, especially a first-time offender, the courts should consider the possibility of rehabilitation, aiming to reintegrate them into society rather than simply punish them. Additionally, in *Ratan Lal v. State of Delhi*[4], the Delhi High Court highlighted the concept of rehabilitation in sentencing decisions and urged that consideration be given to the social background of the offender, such as their potential for reform, educational opportunities, and chances for rehabilitation, particularly for those who have committed less

serious offenses.

2.2.3 Social Protection: The theory of social protection focuses on the role of criminal law in protecting society. Criminal liability is used to prevent offenders from causing harm by isolating them (e.g., through imprisonment) or managing their actions through supervision or probation. The concept of social protection can be seen in the provisions of Section 397 of IPC, which deals with the punishment for dacoity with murder, ensuring public safety by imposing stringent penalties.

3.Functions of Criminal Liability in India

The functions of criminal liability are designed to ensure that criminal law not only punishes offenders but also serves broader societal goals such as maintaining order, protecting rights, and promoting rehabilitation.

3.1Punitive Function (Deterrence and Retribution): The punitive function of criminal law aims to deter future offenses and maintain societal order by imposing penalties on offenders. Deterrence works on the principle that if punishments are severe, potential offenders will refrain from committing crimes. Punishment serves as a tool to restore the balance disrupted by the crime.

3.2 Rehabilitative Function (Reforming Offenders): This function focuses on reforming offenders, offering them opportunities to change their behaviour and reintegrate into society. Rehabilitation aims to address the underlying causes of criminal behaviour (e.g., addiction, mental illness, poverty) and offers offenders a chance to become productive members of society. Courts like the *Supreme Court in Delhi Judicial Service Association v. Union of India*[5] have emphasized improving prison conditions to promote rehabilitation, rather than simply punishing individuals.

3.3 Restorative Function (Repairing Harm to Victims and Communities): The restorative function aims to repair the harm caused by the crime, not just by punishing the offender, but by involving the victim and the community in a process that facilitates reconciliation and healing. Section 360 of CrPC also supports this function by offering probation to first-time offenders, which can include a process of community service, enabling the offender to atone for the harm done. Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015, encourages restorative practices for juveniles, where offenders may be required to make restitution to victims through mediation or community service.

4. Legal Principles in Indian Criminal Liability

Various statutes especially the Indian Penal Code, 1860, and the Criminal Procedure Code, 1973 derive the legal doctrines in Indian criminal liability. These ideas help to decide whether someone can be held criminally liable for their actions. Rooted in common law, the Indian legal system stresses the need of justice, fairness, and the protection of rights; criminal liability is based on both actus reus (guilty act) and mens rea (guilty mind). The following are India's main legal doctrines on criminal responsibility:

4.1 Mens Rea: Mens rea refers to the mental state of the offender at the time of committing the crime. For most crimes, it is necessary to prove that the individual had the intent, knowledge, or recklessness to commit the offense. Along with other requirements, the mental component is crucial to define an act as an offense. Criminal responsibility cannot apply for an act devoid of a guilty mind. Under the maxim "actus non facit rium nisi mens sit rea," this principle was given underlined: an act does not make a person guilty unless a guilty mind accompanies it. Therefore, along with a wrongful behaviour, there should also be guilty intention. Also, this essential requires that the act done with guilty intention is done voluntarily, without any coercion or duress, and it is embodied under the maxim "actus me invito factus". This means an act carried out by me. Still, against my will, I will not be accounta-

ble for such an act. Section 299 of IPC defines culpable homicide and outlines the concept of mens rea, requiring proof that the accused acted with the intent or knowledge that their actions would cause death. In the case of *R v. Cunningham*[6], the court held that the defendant's intent to cause harm (mens rea) was critical to determining criminal liability, a principle reflected in the Indian law on culpable homicide.

4.2 Actus Reus: Actus reus refers to the physical act of committing the crime. For criminal liability to be established, the act must be voluntary and linked to the harm caused. Section 376 of IPC clearly establishes the actus reus of rape as the act of sexual intercourse without consent. To declare some act as a criminal act or to include it in the ambit of criminal liability, it must be done to further the criminal's intent. This act should be forbidden by law, and the individual who committed it must have a legal duty towards the state if he fails to fulfil it, i.e., he committed an act violating that legal duty.

4.3 Strict Liability: Strict liability refers to situations where a defendant may be held liable for a crime even without proving mens rea. In some cases, the law imposes liability irrespective of the defendant's intent or knowledge, focusing on the nature of the act and its consequences. Section 277 of IPC (pollution of water) is an example where strict liability can apply, as it holds individuals accountable for acts that harm the environment, regardless of intent.[7]

The theoretical foundations of criminal liability in India reflect a blend of classical and modern approaches. While traditional theories like deterrence and retribution emphasize punishment, modern theories focus on rehabilitation, social protection, and restorative justice. The legal principles of mens rea and actus reus are central to establishing criminal liability, but India also incorporates the concept of strict liability in certain cases. The evolving nature of criminal law in India increasingly supports rehabilitative and restorative approaches, aiming for a more balanced and humane criminal justice system. Top of FormBottom of Form

5.Historical Evolution and Societal Impact

Changes in society values, cultural standards, and legal theory progress show in the evolution of criminal responsibility. This change can be observed in India in the movement from conventional punitive methods to a more modern system including rehabilitative and restoring justice. This part also looks at how social developments have affected the application of criminal responsibility and how different legal systems have framed it.

Foundation of the justice system is criminal liability. It offers the legal foundation for arresting, charging, prosecuting, punishing criminal offenders. Often, the degree of liability determines the severity of the punishment given. Knowing these ideas helps those in criminal justice to follow the law and administer justice. Understanding the need of complete knowledge in this field, many people want to progress their education. Aspiring professionals can choose online criminal justice degrees to reach more depth of knowledge in order to fit the demands of modern life and flexibility in learning. A more complete knowledge of criminal law and the legal system is obtained by means of an online criminal justice bachelor's degree.

5.1 From Traditional Punitive Approaches to Modern Trends in Criminal Law:

Historically, criminal liability in India, as in many other parts of the world, focused primarily on punishment. Under colonial rule, the Indian Penal Code, 1860, introduced by the British, was largely shaped by a punitive approach to criminal justice. The idea was to impose harsh penalties to deter criminal behaviour, with a focus on retribution.[8]

5.1.1 Traditional Punitive Approaches (Pre-Independence and Early Post-Independence): During colonial rule, criminal liability was primarily designed to maintain order, suppress dissent, and protect the interests of the British Empire. The IPC, while codifying criminal offenses, imposed severe penalties to maintain control and deter revolts or resistance.

For example, Section 121 of the IPC criminalized waging war against the government, with harsh penalties like death or life imprisonment. The death penalty was widely used for a variety of offenses, reflecting the colonial emphasis on deterrence and retribution.

5.1.2 Modern Trends (Post-Independence): After independence, the criminal justice system in India gradually began to shift its focus towards rehabilitation, social protection, and the protection of human rights. This shift was influenced by the need to reconcile the penal system with the principles of justice and fairness, as enshrined in the Constitution of India. The shift from a purely punitive model to a more rehabilitative approach became evident in the second half of the 20th century, particularly through reforms aimed at juvenile justice and offenders with mental illnesses. Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2000 (amended in 2015), focuses on the rehabilitation and social reintegration of juvenile offenders, rather than treating them as criminals. This is a clear shift from the earlier punitive stance.

6.The Shift from Retributive Justice to a More Rehabilitative and Restorative Model: In the latter half of the 20th century, the focus of criminal liability in India and across the world started to move away from pure retribution toward more rehabilitative and restorative models of justice.

6.1 Retributive Justice (Pre-1980s): In the early years after independence, the Indian criminal justice system largely focused on punishment as a form of retribution. The theory was that punishment should be proportional to the crime and serve as a moral response to wrongdoings. Section 302 of the IPC (murder) remains an example of retributive justice, where those found guilty of murder face either the death penalty or life imprisonment, intended to inflict harm as a just consequence of taking a life.

6.2Rehabilitative Justice (1980s – Present): In the 1980s and 1990s, Indian courts and lawmakers began to emphasize the need for rehabilitation, particularly for first-time offenders, juveniles, and those suffering from mental illness. The focus shifted to rehabilitating offenders so they could reintegrate into society as law-abiding citizens. Section 360 of the CrPC allows first-time offenders to be granted probation instead of being sent to prison, reflecting the belief that some offenders can be reformed through education and guidance. Section 84 of the IPC provides that people of unsound mind may not be held criminally liable, highlighting the importance of considering mental health in criminal liability.

6.3Restorative Justice (Late 20th Century – Present): Restorative justice emerged as a movement in India as well. Rather than focusing solely on punishing the offender, restorative justice emphasizes repairing the harm caused to victims and the community, encouraging offenders to make amends. In 1999, the National Human Rights Commission recommended the adoption of restorative justice principles for certain non-violent offenders, particularly in cases involving juveniles and minor offenses. Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015 incorporates restorative justice practices like counselling and family mediation for juveniles.

7.Criminal Liability in Different Legal Systems

Criminal liability is framed differently across legal systems. India follows the common law system, which is based on judicial precedents and case law. Understanding how criminal liability operates in different legal systems can offer a comparative view of how these systems approach justice.

7.1 Common Law Systems (India, UK, US): Common law systems, such as India's, rely heavily on judicial decisions and precedents. Courts are bound by decisions in previous cases unless there is a compelling reason to deviate. Indian criminal law, embodied by the IPC, is largely influenced by English common law principles, with modifications suited to Indian society. Judicial interpretations, like those in *Bachan Singh v. State of Punjab*[9], play a critical role in shaping how

laws are applied and interpreted in practice. Criminal liability in India is determined based on judicial precedents, statutory law, and the evolving interpretation of the law by higher courts.

7.2 Civil Law Systems (France, Germany): Civil law systems are based on codified laws and statutes rather than judicial precedents. Criminal liability is outlined comprehensively in written codes, and judges apply these laws directly without reliance on previous case decisions. While Indian law is a blend of both common law and civil law, it does not completely embrace the civil law model. However, certain aspects, like the Code of Criminal Procedure, resemble civil law systems in terms of their codified structure.

7.3 Mixed Legal Systems (South Africa, Japan): Mixed legal systems incorporate elements of both common law and civil law. In South Africa, for example, criminal liability is governed by statutes, but the common law influence is still significant. India's legal system is a blend of common law (from the British colonial legacy) and civil law influences. Criminal liability is shaped by both statutory codes and judicial decisions.

8.Impact of Cultures and Legal Systems In Framing Criminal Liability

The cultural context plays an essential role in shaping criminal liability. In countries with strong communal or restorative justice traditions, criminal liability may focus more on restoring social harmony rather than punishing the offender.

8.1 India: India's criminal justice system is influenced by both traditional community-based practices (such as the Panchayat system in rural areas) and modern statutory law. The criminal liability framework is based on deterrence, punishment, rehabilitation, and, to some extent, restorative justice.

8.2 United States: The U.S. system, with its emphasis on punitive justice and "tough on crime" policies, contrasts with India's approach, which has increasingly integrated rehabilitative measures, especially for juveniles and first-time offenders.

8.3 Restorative Justice in New Zealand and Norway: In countries like New Zealand and Norway, criminal liability increasingly revolves around community-based resolution mechanisms. The focus is on victim-offender dialogue and community involvement in justice processes, which have been slower to develop in India.[10]

9.The Role of Social-Media, Globalization, and Technological Advances in Criminal Liability

Social-media has transformed the way crimes are committed, investigated, and prosecuted. Cybercrimes such as defamation, harassment, and identity theft are now prevalent, with social media platforms playing a significant role in the commission of these crimes. Section 66A of the Information Technology Act, 2000 (now struck down by the Supreme Court in *Shreya Singhal v. Union of India*[11], dealt with sending offensive messages through social media. The rise of social media has led to increasing concerns about regulating online speech and ensuring that digital platforms do not become spaces for criminal activity.

With globalization, crimes that cross national borders, such as human trafficking, terrorism, and cybercrime, have created new challenges for criminal liability. The Indian government has taken steps to harmonize its laws with international standards, particularly in relation to cybercrimes and international terrorism. India has signed several international treaties on combating terrorism, money laundering, and trafficking, such as the United Nations Convention Against Transnational Organized Crime. These treaties necessitate the creation of specific legal frameworks to address crimes with an international scope. Advances in technology have introduced new forms of crime, such as hacking, online fraud, and cyberterrorism. India's legal system is constantly evolving to address these new challenges. The Information Technology Act, 2000 (IT Act) was introduced to specifically address technology-related crimes like hacking, cyberstalking, and online fraud.

10.Influence of Societal Concerns (Mental Health, Addiction, Race, and Gender) In the Application of Criminal Law

The criminal justice system has become more attuned to the impact of mental health issues and addiction on criminal liability. The Indian legal system provides certain defenses for those suffering from mental illness or addiction, recognizing that such individuals may not be fully responsible for their actions. Section 84 of IPC (Mental illness) provides that an individual who commits a crime while being of unsound mind is not criminally liable. Section 327 of IPC deals with drug addiction and how it can influence the prosecution of crimes.

Racial and gender biases also affect the way criminal law is applied. Historically, marginalized communities, particularly those from lower socio-economic backgrounds, have been disproportionately affected by the criminal justice system. The Dalit and Adivasi communities often face discrimination within the criminal justice system. Laws such as the Scheduled Castes and Scheduled Tribes (Prevention of Atrocities) Act, 1989 aim to provide protection to these marginalized communities.

India has increasingly recognized the need for gender-sensitive legal reforms, particularly in addressing crimes like rape and domestic violence. The Criminal Law (Amendment) Act, 2013[12] broadened the scope of the definition of rape and introduced harsher punishments for sexual offenses, influenced by the Nirbhaya case. The historical evolution of criminal liability in India reflects a transition from a punitive system to one that increasingly incorporates rehabilitative and restorative justice principles. Social changes, including advancements in technology, globalization, and shifting societal concerns regarding mental health, gender, and race, continue to shape how criminal liability is applied in India. As India continues to modernize, its criminal justice system will need to adapt to new challenges while ensuring that justice remains fair, equitable, and effective for all its citizens.

The future of criminal liability is shaped by societal changes, technological advancements, and evolving legal theories. Increasing emphasis on restorative justice, the emergence of artificial intelligence, and the rising concerns about new forms of crimes such as those related to climate change and biotechnology are all influencing the trajectory of criminal law. This section explores these developments, along with the proposals for reforming criminal liability to better address emerging concerns like mental illness, racial disparities, and disproportionate sentencing.

11.Restorative Justice and It's Role

Restorative justice is a growing focus in modern criminal law as it seeks to move beyond traditional punitive measures. This approach emphasizes the repair of harm done to victims, rehabilitation of offenders, and the involvement of communities in the justice process. Restorative justice contrasts with retributive justice, which focuses primarily on punishment and deterrence.[13]

11.1 Principles of Restorative Justice: Restorative justice focuses on restoring the relationship between the offender, the victim, and the community. Rather than viewing the crime purely as a violation of law, restorative justice sees it as a violation of people and relationships. This shift allows for dialogue and reconciliation between the parties involved. The restorative process typically involves mediation or conferences where offenders take responsibility for their actions, apologize, and make reparations to the victim or community.

11.2 Impact on Criminal Liability: Restorative justice practices are expected to have a transformative impact on criminal liability. They represent a move away from strict punishment towards an approach that prioritizes healing, responsibility, and reintegration. Offenders are less likely to reoffend when they are given the opportunity to understand the harm they caused and actively participate in repairing that harm. Victims are more likely to feel heard and satisfied with the outcome, which may lead to better emotional closure and recovery. Restorative justice also helps to reduce the costs associated with incarceration, which can be substantial in terms of both public funds and social disruption.

12.Cases where Restorative Justice has been successfully integrated

Restorative justice is a legal approach that focuses on repairing the harm caused by criminal behavior through processes that involve the victim, the offender, and the community. It emphasizes reconciliation, rehabilitation, and the restoration of relationships, as opposed to punitive measures.

New Zealand is widely regarded as a leader in implementing restorative justice in criminal law. The country's Youth Court emphasizes restorative practices for young offenders. The court's family group conferences allow offenders, victims, and their families to discuss the offense, its consequences, and the ways the offender can make amends.

12.1 Impact on Criminal Liability: The success of restorative justice in New Zealand has led to a lower recidivism rate among juvenile offenders, demonstrating the effectiveness of rehabilitation and restorative processes over traditional punitive methods.[14]

12.2 India's Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015: India's approach to restorative justice is evident in the Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015, which allows for restorative practices in juvenile cases. The Act encourages mediation, counselling, and community service as alternatives to detention for minor offenders.

12.3 Impact on Criminal Liability: By focusing on the social reintegration of juveniles, India has seen positive results in reducing the likelihood of reoffending among young offenders, indicating the potential for restorative justice practices to reshape criminal liability.

13. Emerging Trends in Criminal Liability

As society evolves and new challenges arise, the legal system must adapt to address these emerging issues. Two prominent trends influencing the future of criminal liability are the integration of artificial intelligence (AI) and the emergence of new forms of crime, such as those related to climate change and biotechnology.

13.1 AI in Crime Prevention and Prediction: AI has already begun to play a role in analysing criminal behaviour and predicting future crimes. Predictive policing uses AI algorithms to analyze patterns in crime data and forecast where crimes are likely to occur, which can help law enforcement allocate resources more efficiently.

13.2 Impact on Criminal Liability: AI's role in predicting criminal behaviour raises concerns about the fairness and accuracy of the predictions. The use of AI could inadvertently lead to bias in criminal liability if the algorithms rely on flawed or biased data.

13.3 Ethical Concerns: There is a risk that AI could reinforce racial and socio-economic disparities in policing. For instance, predictive policing systems may disproportionately target certain communities based on historical crime data, exacerbating existing biases.

13.4 AI in Legal Analysis: AI is also being employed in legal research and case analysis, where it helps to identify relevant legal precedents, assess the likely outcomes of legal arguments, and assist in sentencing recommendations.

13.5 Impact on Criminal Liability: While AI could enhance the efficiency of legal decision-making, it also raises questions about the need for human judgment in interpreting the nuances of law and ensuring fairness in criminal liability.

14. New Forms of Criminal Liability: Climate Change and Biotechnology

14.1 Climate Change-Related Crimes: As the effects of climate change become more pronounced, there is increasing pressure to recognize environmental harm as a criminal offense. This includes crimes related to pollution, deforestation, and environmental degradation. Legal frameworks are starting to hold corporations and individuals accountable for actions that contribute to climate change. The Indian Environmental Protection Act, 1986, and other environmental laws already impose liability for polluting the environment. As climate change intensifies, new categories of criminal liability may emerge for individuals and organizations that fail to take

adequate action to mitigate their carbon footprint or who contribute significantly to environmental harm.[15]

14.2 Biotechnology Crimes: The rapid advancements in biotechnology, particularly in genetic engineering, synthetic biology, and biohacking, pose new challenges for criminal liability. Crimes such as genetic modification without consent or the use of biotechnology for malicious purposes (e.g., bio-terrorism) may require new legal frameworks. Future legal systems may need to define liability for biotechnology crimes, particularly in cases where new technologies present unforeseen risks to health, safety, or the environment.

15. Reforming Criminal Liability

The future of criminal liability also involves addressing longstanding issues in the criminal justice system. Legal reforms are necessary to address emerging concerns related to mental illness, racial disparities, and disproportionate sentencing. These concerns highlight the need for a more compassionate, equitable, and effective criminal justice system.

15.1 Mental Illness and Criminal Liability: One of the most pressing issues in criminal law is how to treat individuals with mental illness who commit crimes. In India, Section 84 of the Indian Penal Code provides a defense for individuals who commit crimes while of unsound mind. However, the application of this defense is not always clear, and there are concerns about whether individuals with mental health issues are being adequately treated in the justice system.

15.2 Reform Proposal: Expanding mental health screenings and improving treatment options for mentally ill offenders could lead to more effective and humane responses to criminal liability.

15.3 Racial Disparities: Racial disparities in the criminal justice system are a significant concern worldwide. In India, marginalized communities, including Dalits, Adivasis, and other minorities, often face discrimination in the application of criminal law.

15.4 Reform Proposal: Legal reforms are needed to ensure that all individuals, regardless of their background, are treated fairly and equitably. This includes addressing biases in policing, arrest practices, and sentencing.

15.5 Disproportionate Sentencing: In India, there is growing concern over the use of the death penalty and long prison sentences, especially in cases where offenders may have a chance for rehabilitation.

15.6 Reform Proposal: The abolition of the death penalty, or its use only in "the rarest of rare" cases, could be one reform to make the justice system more humane and focused on rehabilitation. Additionally, reforming sentencing guidelines to consider the circumstances of the offense and the offender's potential for rehabilitation is necessary.

16.Conclusion

The future of criminal liability in modern law is marked by significant shifts toward restorative justice, emerging trends such as AI and new forms of crime, and proposals for much-needed reforms. As societal values evolve, the legal system must adapt to ensure that criminal liability is applied in a fair, just, and equitable manner. The increasing emphasis on rehabilitation, the integration of new technologies, and the need for legal reform in areas like mental illness and racial disparities point to a future where criminal justice systems aim to balance punishment with restoration and the promotion of societal well-being.

The role of criminal liability in modern criminal law has evolved to reflect societal changes, with increasing emphasis on rehabilitative and restorative practices alongside traditional punitive approaches. Contemporary criminal law is being shaped by human rights, technological advancements, and growing calls for more equitable systems of justice. Future research should explore how globalized legal frameworks and new technologies will continue to influence criminal liability and its application. Additionally, further inquiry into the effectiveness of restorative justice practices is needed to evaluate their long-term impact on both offenders and victims.

References:

1. K.D. Gaur, *Criminal Law: Cases and Materials* p. 61(1st edn, Universal Law Publishing 2019).
2. AIR 1980 SC 898
3. (2008) 11 SCC 675
4. (2005) 4 SCC 51
5. JT 2000 (6) SC 405
6. [1957] 2 QB 396
7. Anwar Ali Sarkar v. State of West Bengal, 1952 SCR 284; Lachamandass v. State of Bombay, 1952 SCR 224 protesting and striking down laws with special 'pick and choose' procedures, but contrast more indulgent Court in Kathi Ranning Rawat v. State of Saurashtra, 1952 SCR 435.
8. K.D.Gaur, *Criminal Law, Criminology and Administrative of Criminal Justice* 230 (Central Law Publications, Allahabad, 4th Edn.,2019)
9. Supra Note, 2
10. https://narf.org/nill/documents/2013-ak_jrnl_dispute_resolution_pp101-120.pdf accessed on 19 April, 2021
11. AIR 2015 SC 1523
12. Criminal Law (Amendment) Act, 2013, No. 13 of 2013, Acts of Parliament, 2013.
13. https://moj.gov.jm/sites/default/files/2020-10/UNDERSTANDING%20RESTORATIVE%20JUSTICE.pdf accessed on 20 April, 2021
14. Pfander, S. M. (2019). Evaluating New Zealand's restorative promise: the impact of legislative design on the practice of restorative justice. *Kōtuitui: New Zealand Journal of Social Sciences Online*, *15*(1), 170–185. https://doi.org/10.1080/1177083X.2019.1678492D accessed on 3 May, 2021
15. https://www.ecosystemmarketplace.com/articles/its-tim/ accessed on 18 April, 2021

Books:

- Ashworth, A., *Principles of Criminal Law* (8th edn, Oxford University Press 2013).
- Ashworth, A. and Zedner, L., *Criminal Law and Justice* (Oxford University Press 2014).
- Gardbaum, S. A., *Criminal Law: A Comparative Approach* (Oxford University Press 2014).
- Hart, H. L. A., *Punishment and Responsibility: Essays in the Philosophy of Law* (2nd edn, Oxford University Press 2008).
- Ormerod, D., *Modern Criminal Law of England and Wales* (4th edn, Oxford University Press 2015).
- Van Rhee, C. H. R. and van der Walt, A. J. M., *Criminal Liability* (Hart Publishing 2014).

Journal Articles:

- Alldridge, P. A., 'The Concept of Criminal Liability: Theory and Application' (2019) 83(3) *Journal of Criminal Law* 235-257.
- Berryman, J. F., 'The Role of Criminal Liability in the Digital Age: Technology and the Future of Crime' (2021) 5(2) *Journal of Cybercrime* 106-130.
- Dolinko, D., 'Reconceptualizing Criminal Liability in the 21st Century (2002) 111(2) *Yale Law Journal* 263-315.
- Garland, D., 'The Impact of Criminal Liability on Social Policy and Public Opinion' (2001) 35(4) *Law & Society Review* 879-902.
- Weigend, T., 'Criminal Liability and the Role of Mens Rea in Modern Criminal Law' (2020) 31(4) *Criminal Law Forum* 459-485.
- **Legislation & International Instruments:**
- American Law Institute, *Model Penal Code* (American Law Institute 1962).
- Council of Europe, *European Convention on Human Rights* (Council of Europe 1950).
- Indian Penal Code, 1860.
- International Criminal Court, *Rome Statute of the International Criminal Court* (United Nations 1998).
- Juvenile Justice (Care and Protection of Children) Act, 2015.
- The Criminal Procedure Code, 1973.
- The Information Technology Act, 2000.
- United Nations, *International Covenant on Civil and Political Rights* (United Nations 1966).
- United Nations, *United Nations Convention against Transnational Organized Crime* (United Nations 2000).

*****

सतत पारिस्थितिकीय पर्यटन

-डॉ. मनोरमा मिश्रा
हिंदी, विभाग प्रभारी
सत्यवती कॉलेज (सांध्य)

सारांश

प्राकृतिक और सांस्कृतिक विरासत स्थलों के भीतर पर्यावरण संरक्षण, सामुदायिक सहभागिता और आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए सतत पारिस्थितिकी पर्यटन एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण के रूप में उभरा है। यह शोधपत्र सतत पारिस्थितिकी पर्यटन के सिद्धांतों, प्रथाओं और चुनौतियों का पता लगाता है, तथा पारंपरिक पर्यटन के नकारात्मक प्रभावों को कम करने में इसकी भूमिका पर जोर देता है। स्थानीय समुदाय की भागीदारी के साथ संरक्षण प्रयासों को एकीकृत करके, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन का उद्देश्य पारिस्थितिक अखंडता और आर्थिक व्यवहार्यता के बीच संतुलन बनाना है।

प्रस्तुत शोधपत्र सतत पारिस्थितिकी पर्यटन और इसके प्रमुख घटकों को परिभाषित करेगा जिसमें यात्रा अभ्यास, स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं के लिए समर्थन और जैव विविधता का संरक्षण शामिल है। विविध भौगोलिक संदर्भों से केस स्टडीज की समीक्षा के माध्यम से, हम पारिस्थितिकी पर्यटन के सफल मॉडलों को चित्रित करेंगे, जो स्थिरता को प्राथमिकता देते हैं। इसके अलावा, शोधपत्र सतत पारिस्थितिकी पर्यटन को लागू करने में आने वाली चुनौतियों, जैसे अति-पर्यटन, सांस्कृतिक वस्तुकरण और प्रभावी नियामक ढांचे की आवश्यकता को संबोधित करता है। हम पर्यटकों और स्थानीय समुदायों दोनों के बीच शिक्षा और जागरूकता बढ़ाने के महत्व पर जोर देंगे ताकि पारिस्थितिकी प्रभावों और संरक्षण प्रयासों की गहरी समझ को बढ़ावा दिया जा सके।

इस पत्र का उद्देश्य व्यापक स्थिरता लक्ष्यों को प्राप्त करने के मार्ग के रूप में सतत पारिस्थितिकी पर्यटन पर चल रहे शोध में योगदान देना है, एवं यह सुनिश्चित करना है कि प्राकृतिक और सांस्कृतिक खजाने भविष्य की पीढ़ियों के लिए संरक्षित हैं। सहयोगी प्रयासों के माध्यम से, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन सकारात्मक बदलाव के लिए उत्प्रेरक के रूप में काम कर सकता है, जिससे पर्यावरण और स्थानीय समुदाय दोनों को लाभ होगा।

मुख्य शब्द: सतत पारिस्थितिकी पर्यटन, पर्यावरण संरक्षण, सामुदायिक सहभागिता, आर्थिक विकास, ज़िम्मेदार यात्रा।

प्रस्तावना

हाल के दशकों में, पर्यटन एक प्रमुख वैश्विक उद्योग के रूप में उभरा है, जिसने दुनिया भर की अर्थव्यवस्थाओं, संस्कृतियों और पर्यावरण को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। जैसे-जैसे यह क्षेत्र बढ़ता जा रहा है, पारंपरिक पर्यटन प्रथाओं की स्थिरता के बारे में चिंताएँ तेज़ी से प्रमुख होती जा रही हैं। सतत पारिस्थितिकी पर्यटन ने एक व्यवहार्य विकल्प के रूप में गति प्राप्त की है जिसका उद्देश्य स्थानीय समुदायों के लिए लाभ को अधिकतम करते हुए पर्यावरणीय प्रभावों को कम करना और प्राकृतिक संसाधनों को संरक्षित करना है। यह शोधपत्र सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की अवधारणा, इसके अंतर्निहित सिद्धांतों और पारंपरिक पर्यटन प्रथाओं द्वारा उत्पन्न चुनौतियों का समाधान करने में इसके महत्व का पता लगाता है।

सतत पारिस्थितिकी पर्यटन

सतत पारिस्थितिकी पर्यटन को प्राकृतिक क्षेत्रों की ज़िम्मेदार यात्रा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो पर्यावरण को संरक्षित करता है, स्थानीय संस्कृतियों का सम्मान करता है और स्थानीय समुदायों की भलाई को बढ़ावा देता है (हनी, 2008)। यह स्थिरता के सिद्धांतों को पारिस्थितिकी पर्यटन के उद्देश्यों के साथ एकीकृत करता है, न केवल जैव विविधता और पारिस्थितिकी तंत्र के संरक्षण पर बल्कि मेजबान समुदायों के लिए सामाजिक-आर्थिक लाभों पर भी जोर देता है। वीवर (2001) के अनुसार, पारिस्थितिकी पर्यटन प्राकृतिक क्षेत्रों, वन्यजीवों और सांस्कृतिक विरासत पर केंद्रित है, जबकि सतत पारिस्थितिकी पर्यटन इस अवधारणा को आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय स्थिरता को शामिल करने के लिए विस्तारित करता है। सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की नींव संधारणीय विकास और पर्यावरण संरक्षण के व्यापक ढांचे में निहित है। ब्रुंडलैंड आयोग (1987) द्वारा परिभाषित संधारणीय विकास वह विकास है जो भविष्य की पीढ़ियों की अपनी जरूरतों को पूरा करने की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान की जरूरतों को पूरा करता है। यह अवधारणा पर्यटन के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक है, जहां आर्थिक विकास और पर्यावरण संरक्षण के बीच संतुलन दीर्घकालिक व्यवहार्यता के लिए महत्वपूर्ण है।

संरक्षण में सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की भूमिका

पारिस्थितिकी पर्यटन को संरक्षण के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में सराहा गया है, विशेष रूप से जैव विविधता और प्राकृतिक संसाधनों से समृद्ध क्षेत्रों में। पर्यटन के माध्यम से आय उत्पन्न करके, स्थानीय समुदायों को अपने प्राकृतिक वातावरण को संरक्षित करने के लिए आर्थिक प्रोत्साहन प्रदान किए जाते हैं (बू, 1990)। उदाहरण के लिए, सफल इकोटूरिज्म उपक्रमों में अक्सर लुप्तप्राय प्रजातियों और आवासों की सुरक्षा शामिल होती है, क्योंकि स्थानीय समुदायों को एहसास होता है कि इन संसाधनों के सतत प्रबंधन से दीर्घकालिक आर्थिक लाभ हो सकते हैं।

सतत पारिस्थितिकी पर्यटन को प्राकृतिक क्षेत्रों की यात्रा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो पर्यावरण का संरक्षण करता है, स्थानीय संस्कृतियों का सम्मान करता है और स्थानीय समुदायों की भलाई को

बढ़ावा देता है (हनी, 2008)। यह पर्यावरण संरक्षण के साथ आर्थिक विकास को संतुलित करके स्थिरता के सिद्धांतों पर जोर देता है। सतत पारिस्थितिकी पर्यटन के प्रमुख घटकों में पारिस्थितिक पदचिह्नों को कम करना, पर्यटकों को शिक्षा और जागरूकता प्रदान करना और संरक्षण प्रयासों में सामुदायिक भागीदारी को बढ़ावा देना शामिल है (वीवर, 2001)। इन तंत्रों के माध्यम से, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन संरक्षण और सामुदायिक विकास दोनों के लिए एक वाहन के रूप में कार्य करता है। संधारणीय पारिस्थितिकी पर्यटन का एक प्राथमिक लक्ष्य संरक्षण के लिए वित्तीय प्रोत्साहन प्रदान करना है। पर्यटन गतिविधियों के माध्यम से आय उत्पन्न करके, स्थानीय समुदायों को अपने प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। बकले (2009) के अनुसार, जब समुदाय अपने पारिस्थितिकी तंत्र के आर्थिक मूल्य को पहचानते हैं।

कई केस स्टडीज़ संरक्षण प्रयासों पर पारिस्थितिकी पर्यटन के सकारात्मक प्रभाव को उजागर करती हैं। इक्वाडोर में गैलापागोस द्वीप एक प्रमुख उदाहरण के रूप में कार्य करते हैं, जहाँ पर्यटन राजस्व का उपयोग संरक्षण कार्यक्रमों और बुनियादी ढाँचे में सुधार के लिए किया गया है (फ्राइडलैंडर एट अल., 2014)। इसी तरह, केन्या में मासाई मारा नेशनल रिजर्व दर्शाता है कि कैसे पारिस्थितिकी पर्यटन वन्यजीव संरक्षण का समर्थन कर सकता है और सामुदायिक विकास पहलों के लिए धन जुटा सकता है (किस, 2004)। ये उदाहरण आर्थिक प्रोत्साहनों को संरक्षण लक्ष्यों के साथ संरेखित करने के लिए सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की क्षमता को रेखांकित करते हैं।

सतत पारिस्थितिकी पर्यटन के संरक्षण लाभ

सतत पारिस्थितिकी पर्यटन विभिन्न तरीकों से संरक्षण में योगदान देता है। सबसे पहले, यह राजस्व उत्पन्न करता है जिसे संरक्षण पहलों में फिर से निवेश किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कोस्टा रिका में, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन देश की अर्थव्यवस्था की आधारशिला बन गया है, जिसकी लगभग 25ः भूमि को संरक्षित क्षेत्रों के रूप में नामित किया गया है (फेनेल, 2008)। सतत पारिस्थितिकी पर्यटन गतिविधियों, जैसे कि निर्देशित पर्यटन और वन्यजीवों को देखने से प्राप्त आय, संरक्षण परियोजनाओं को निधि देती है और राष्ट्रीय उद्यानों को बनाए रखने में मदद करती है। यह मॉडल दर्शाता है कि कैसे सतत पारिस्थितिकी पर्यटन संरक्षण प्रयासों की वित्तीय व्यवहार्यता का सीधे समर्थन कर सकता है।

दूसरा, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन पर्यटकों के बीच पर्यावरण शिक्षा और जागरूकता को बढ़ावा देता है। आगंतुकों को प्राकृतिक सेटिंग्स में डुबोकर और शैक्षिक अनुभव प्रदान करके, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन पारिस्थितिक मुद्दों और संरक्षण चुनौतियों की गहरी समझ को बढ़ावा देता है। टूर ऑपरेटर अक्सर अपने कार्यक्रमों में शैक्षिक घटक शामिल करते हैं, जो जैव विविधता और पारिस्थितिकी तंत्र के संरक्षण के महत्व पर प्रकाश डालते हैं (फेनेल, 2008)। यह जागरूकता पर्यटकों को संरक्षण के पक्षधर बनने के लिए प्रेरित कर सकती है, जिससे सतत पारिस्थितिकी पर्यटन का प्रभाव उनके तात्कालिक अनुभवों से आगे तक फैल सकता है।

केस स्टडी: गैलापागोस द्वीप समूह

गैलापागोस द्वीप समूह संरक्षण में सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की भूमिका का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अपनी अनूठी जैव विविधता के लिए प्रसिद्ध और चार्ल्स डार्विन के विकास के सिद्धांत के लिए प्रेरणा के रूप में, गैलापागोस एक प्रमुख पारिस्थितिकी पर्यटन स्थल बन गया है। 1959 में स्थापित गैलापागोस नेशनल पार्क में कई स्थानिक प्रजातियाँ पाई जाती हैं, जो इसे संरक्षण के लिए एक महत्वपूर्ण क्षेत्र बनाती हैं (फ्रीडलैंडर एट अल., 2014)। सतत पारिस्थितिकी पर्यटन गतिविधियों से उत्पन्न राजस्व अनुसंधान, आवास बहाली और आक्रामक प्रजातियों की निगरानी सहित संरक्षण प्रयासों के वित्तपोषण के लिए आवश्यक है।

पारिस्थितिकी पर्यटन ने स्थानीय समुदायों को संरक्षण प्रयासों में शामिल करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गैलापागोस कंजर्वेशन ट्रस्ट पारिस्थितिकी पर्यटन के माध्यम से संधारणीय आजीविका को बढ़ावा देने के लिए स्थानीय निवासियों के साथ मिलकर काम करता है। स्थानीय व्यवसायों को प्रशिक्षण और सहायता प्रदान करके, संगठन यह सुनिश्चित करने में मदद करता है कि पर्यटन के लाभ समान रूप से वितरित किए जाएं, जिससे संरक्षण पहलों के सामुदायिक स्वामित्व को बढ़ावा मिले (फ्रीडलैंडर एट अल., 2014)। यह सहयोगात्मक दृष्टिकोण आर्थिक प्रोत्साहनों को संरक्षण लक्ष्यों के साथ संरेखित करने के लिए सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की क्षमता को प्रदर्शित करता है।

अपनी क्षमता के बावजूद, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन चुनौतियों से रहित नहीं है। एक महत्वपूर्ण चिंता अति-पर्यटन की संभावना है, जहां अत्यधिक आगंतुक संख्या पर्यावरणीय गिरावट और स्थानीय संसाधनों पर दबाव का कारण बन सकती है (गुडविन, 2017)। उदाहरण के लिए, गैलापागोस में, पर्यटकों की आमद ने नाजुक पारिस्थितिकी प्रणालियों पर प्रभाव के बारे में चिंताएँ बढ़ा दी हैं। इन प्रभावों को कम करने और यह सुनिश्चित करने के लिए कि पर्यटन गतिविधियाँ संधारणीय बनी रहें, प्रभावी प्रबंधन रणनीतियाँ, जैसे आगंतुक कोटा और निर्देशित पर्यटन, आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन के व्यावसायीकरण से कभी-कभी इसके मूल सिद्धांतों का कमजोर पड़ना हो सकता है। सरकारों और स्थानीय समुदायों सहित हितधारकों के लिए स्पष्ट दिशानिर्देश और प्रमाणन कार्यक्रम स्थापित करना महत्वपूर्ण है जो प्रामाणिक संधारणीय प्रथाओं को बढ़ावा देते हैं।

केस स्टडी: केन्या का मासाई मारा

संरक्षण में सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की भूमिका का एक और उदाहरण केन्या के मासाई मारा राष्ट्रीय अभ्यारण्य में मिलता है। यह अभ्यारण्य अपने विविध वन्यजीवों के लिए प्रसिद्ध है, जिसमें बिग फाइव (शेर, तेंदुआ, हाथी, भैंस और गैंडा) शामिल हैं, और यह कई लुप्तप्राय प्रजातियों के लिए एक महत्वपूर्ण निवास स्थान है। मासाई समुदाय, जो पारंपरिक रूप से चरवाहे हैं, ने अपनी भूमि और वन्यजीवों को संरक्षित करने और आय अर्जित करने के साधन के रूप में सतत पारिस्थितिकी पर्यटन में भाग लिया है (किस, 2004)।

मासाई मारा में समुदाय-आधारित पारिस्थितिकी पर्यटन पहलों ने स्थानीय समुदायों को महत्वपूर्ण वित्तीय लाभ प्रदान किए हैं। इको-लॉज और टूर

ऑपरेटरों के साथ साझेदारी करके, मासाई ने पर्यटन उपक्रम विकसित किए हैं जो उन्हें अपनी संस्कृति और प्राकृतिक विरासत को प्रदर्शित करने की अनुमति देते हैं। इन गतिविधियों से उत्पन्न राजस्व को सामुदायिक विकास परियोजनाओं, जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा में पुनर्निवेशित किया जाता है, जिससे स्थानीय निवासियों के जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि होती है (किस, 2004)।

इसके अलावा, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन में मासाई की भागीदारी ने उनकी भूमि और वन्यजीवों के प्रति संरक्षण की भावना को बढ़ावा दिया है। संरक्षण से जुड़े वित्तीय प्रोत्साहनों के साथ, समुदाय अपने प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा में सक्रिय रूप से शामिल हो गया है, जिसमें अवैध शिकार विरोधी प्रयास और आवास बहाली पहल शामिल हैं। यह मामला इस बात का उदाहरण है कि कैसे सतत पारिस्थितिकी पर्यटन स्थानीय समुदायों को सशक्त बना सकता है और आर्थिक हितों को संरक्षण उद्देश्यों के साथ जोड़ सकता है।

केस स्टडी: कोस्टा रिका

कोस्टा रिका को अक्सर सतत पारिस्थितिकी पर्यटन और संरक्षण में इसकी भूमिका के लिए एक मॉडल के रूप में सराहा जाता है। अपनी जैव विविधता की रक्षा के लिए देश की प्रतिबद्धता ने राष्ट्रीय उद्यानों और संरक्षित क्षेत्रों के एक विशाल नेटवर्क की स्थापना की है, जो इसकी लगभग 25 प्रतिशत भूमि को कवर करता है (फ़ेनेल, 2008)। पारिस्थितिकी पर्यटन कोस्टा रिका की अर्थव्यवस्था का आधार बन गया है, जिसमें प्रकृति-आधारित पर्यटन महत्वपूर्ण राजस्व उत्पन्न करता है और हज़ारों नौकरियाँ पैदा करता है।

कोस्टा रिकन सरकार ने ऐसी नीतियाँ लागू की हैं जो सतत पारिस्थितिकी पर्यटन प्रथाओं को प्रोत्साहित करती हैं, जैसे कि सतत पारिस्थितिकी पर्यटन के लिए प्रमाणन (ब्ैज्) कार्यक्रम। यह पहल पर्यटन संचालकों के बीच पर्यावरण प्रबंधन, सामाजिक जिम्मेदारी और सांस्कृतिक सम्मान को बढ़ावा देती है (हनी, 2008)। सतत पारिस्थितिकी पर्यटन के लिए एक रूपरेखा प्रदान करके, ब्ैज् कार्यक्रम व्यवसायों को संरक्षण लक्ष्यों के साथ संरेखित प्रथाओं को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करता है।

कोस्टा रिका में सतत पारिस्थितिकी पर्यटन के आर्थिक लाभ काफी हैं। राष्ट्रीय उद्यानों और संरक्षित क्षेत्रों से उत्पन्न राजस्व ने पुनर्वनीकरण परियोजनाओं और आवास बहाली प्रयासों सहित संरक्षण पहलों को वित्तपोषित किया है। इसके अतिरिक्त, स्थानीय समुदायों को रोजगार के अवसरों और आय सृजन के माध्यम से सतत पारिस्थितिकी पर्यटन से लाभ हुआ है। कोस्टा रिका के सतत पारिस्थितिकी पर्यटन मॉडल की सफलता दर्शाती है कि कैसे टिकाऊ प्रथाएँ आर्थिक विकास को बढ़ावा देते हुए संरक्षण को बढ़ावा दे सकती हैं।

केस स्टडी: नीलगिरि बायोस्फीयर रिजर्व में इकोटूरिज्म मॉडल

दक्षिणी भारत में नीलगिरि बायोस्फीयर रिजर्व (छठत्) इस बात का एक आदर्श उदाहरण है कि कैसे सतत पारिस्थितिकी पर्यटन स्थानीय समुदायों को लाभ पहुँचाते हुए संरक्षण में योगदान दे सकता है। यूनेस्को द्वारा नामित यह बायोस्फीयर रिजर्व उष्णकटिबंधीय वनों, घास के मैदानों और आर्द्रभूमि सहित विविध पारिस्थितिकी तंत्रों को समाहित करता है, और नीलगिरि ताहर और शेर-पूंछ वाले मैकाक जैसी कई स्थानिक और लुप्तप्राय प्रजातियों का घर है।

संरक्षण और आर्थिक लाभ

नीलगिरि क्षेत्र में इकोटूरिज्म को इस तरह से विकसित किया गया है कि संरक्षण और सामुदायिक भागीदारी पर जोर दिया जाता है। स्थानीय समुदाय, विशेष रूप से स्वदेशी जनजातियाँ और अन्य हाशिए के समूह, इकोटूरिज्म गतिविधियों की योजना और प्रबंधन में लगे हुए हैं। समुदाय द्वारा संचालित होमस्टे और निर्देशित प्रकृति की सैर जैसी पहल आय का एक वैकल्पिक स्रोत प्रदान करती हैं जो अवैध शिकार और असंधारणीय खेती जैसी पारंपरिक प्रथाओं पर निर्भरता को कम करती हैं (चौधरी, 2016)। इकोटूरिज्म गतिविधियों से प्राप्त राजस्व को स्थानीय विकास परियोजनाओं और संरक्षण प्रयासों में पुनः निवेशित किया जाता है। रंजन (2015) के एक अध्ययन के अनुसार, इकोटूरिज्म उपक्रमों से होने वाले मुनाफे का एक महत्वपूर्ण हिस्सा सामुदायिक कल्याण कार्यक्रमों, जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा के लिए आवंटित किया जाता है। यह वित्तीय सहायता स्थानीय आबादी के बीच स्वामित्व और प्रबंधन की भावना को बढ़ावा देती है, जिससे उन्हें अपने प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा करने के लिए प्रेरित किया जाता है।

सतत पारिस्थितिकी पर्यटन का भविष्य

जैसे-जैसे पर्यावरण संबंधी मुद्दों के बारे में वैश्विक जागरूकता बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे संधारणीय यात्रा विकल्पों की मांग में भी वृद्धि होने की संभावना है। पर्यावरण के प्रति जागरूक उपभोक्ताओं की वृद्धि, साथ ही जिम्मेदार पर्यटन प्रथाओं की आवश्यकता, पारिस्थितिकी पर्यटन क्षेत्र के लिए विकसित होने और अनुकूलन का अवसर प्रस्तुत करती है। संधारणीय यात्रा विकल्पों को बढ़ावा देने के लिए डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म जैसी प्रौद्योगिकी का एकीकरण, संधारणीय पारिस्थितिकी पर्यटन अनुभवों की दृश्यता और पहुँच को और बढ़ा सकता है (बेकर और राल्स्टन, 2008)।

समुदाय-आधारित पारिस्थितिकी पर्यटन और पुनर्याेजी पर्यटन जैसे अभिनव दृष्टिकोण भी पारंपरिक पारिस्थितिकी पर्यटन मॉडल के विकल्प के रूप में उभर रहे हैं। ये दृष्टिकोण स्थानीय स्वामित्व, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और पुनर्स्थापनात्मक प्रथाओं को प्राथमिकता देते हैं, यह सुनिश्चित करते हुए कि पर्यटन पर्यावरण और इसमें शामिल समुदायों दोनों के लिए सकारात्मक रूप से योगदान देता है (हिगिंस-डेसबियोल्स, 2018)। हितधारकों के बीच सहयोग को बढ़ावा देकर, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन एक अधिक समावेशी और न्यायसंगत क्षेत्र के रूप में विकसित हो सकता है।

सतत पारिस्थितिकी पर्यटन में प्रौद्योगिकी की भूमिका

प्रौद्योगिकी में प्रगति ने संरक्षण प्रयासों में योगदान देने के लिए सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की क्षमता को भी बढ़ाया है। पर्यावरण के अनुकूल पर्यटन के विपणन और बुकिंग के लिए डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म संधारणीय यात्रा विकल्पों के लिए अधिक दृश्यता सक्षम करते हैं, जो पर्यावरण के प्रति जागरूक यात्रियों के व्यापक दर्शकों तक पहुँचते हैं (बेकर और राल्स्टन, 2008)। इसके अतिरिक्त, स्थानीय पारिस्थितिकी तंत्र, वन्यजीव और

संरक्षण मुद्दों के बारे में वास्तविक समय की जानकारी प्रदान करने वाले मोबाइल एप्लिकेशन पर्यटकों के लिए शैक्षिक अनुभव को बढ़ा सकते हैं। इसके अलावा, प्रौद्योगिकी डेटा संग्रह और पारिस्थितिकी पर्यटन के पर्यावरणीय प्रभावों की निगरानी की सुविधा प्रदान कर सकती है। रिमोट सेंसिंग, भौगोलिक सूचना प्रणाली (जीआईएस) और अन्य डेटा एनालिटिक्स टूल का उपयोग करके, हितधारक पर्यटन गतिविधियों के पारिस्थितिक पदचिह्न का आकलन कर सकते हैं और अनुकूली प्रबंधन रणनीतियों को लागू कर सकते हैं। यह डेटा-संचालित दृष्टिकोण अधिक सूचित निर्णय लेने की अनुमति देता है, यह सुनिश्चित करता है कि बदलती पर्यावरणीय परिस्थितियों के सामने संरक्षण प्रयास प्रभावी बने रहें।

उपसंहार

सतत पारिस्थितिकी पर्यटन, पर्यटन उद्योग में एक आदर्श बदलाव का प्रतिनिधित्व करता है, जो संरक्षण, सामुदायिक कल्याण और आर्थिक व्यवहार्यता के बीच सामंजस्यपूर्ण संबंधों पर ध्यान केंद्रित करता है। स्थिरता और जिम्मेदार यात्रा के सिद्धांतों का पालन करके, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन में स्थानीय समुदायों और पर्यावरण दोनों के लिए महत्वपूर्ण लाभ प्रदान करने की क्षमता है। हालाँकि, इस क्षेत्र से जुड़ी चुनौतियों और आलोचनाओं को संबोधित करना इसकी पूरी क्षमता को साकार करने के लिए महत्वपूर्ण है। जैसे-जैसे संधारणीय यात्रा विकल्पों की मांग बढ़ती जा रही है, पारिस्थितिकी पर्यटन उद्योग को यह सुनिश्चित करने के लिए नवाचार और सहयोग को अपनाना चाहिए कि यह भविष्य की पीढ़ियों के लिए एक व्यवहार्य और जिम्मेदार विकल्प बना रहे। ऐसा करके, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन एक अधिक न्यायसंगत, लचीला और पर्यावरण के प्रति जागरूक दुनिया में योगदान दे सकता है।

प्रौद्योगिकी और डेटा-संचालित दृष्टिकोणों का एकीकरण संरक्षण प्रयासों में सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की प्रभावशीलता को और बढ़ाता है। स्थानीय समुदायों, सरकारों और संरक्षण संगठनों सहित हितधारकों के बीच सहयोग को बढ़ावा देकर, सतत पारिस्थितिकी पर्यटन जैव विविधता की रक्षा और संधारणीय विकास को बढ़ावा देने के लिए एक शक्तिशाली उपकरण बना रह सकता है। जैसे-जैसे पर्यावरणीय मुद्दों के बारे में वैश्विक जागरूकता बढ़ती है, संरक्षण और सामुदायिक कल्याण में योगदान देने के लिए सतत पारिस्थितिकी पर्यटन की क्षमता बढ़ती जाएगी, जिससे यह हमारे ग्रह के भविष्य के लिए एक महत्वपूर्ण रणनीति बन जाएगी।

संदर्भ सूची

1. बकले, आर. (2009). इकोटूरिज्मः सिद्धांत और अभ्यास. पर्यावरण प्रबंधन, 43(4), 663-672.
2. बर्न्स, जे. (2015). मेडागास्कर में जैव विविधता संरक्षण में इकोटूरिज्म की भूमिका. मेडागास्कर जैव विविधता भागीदारी।
3. चौधरी, जे. (2016). नीलगिरि बायोस्फीयर रिजर्व में इकोटूरिज्मः चुनौतियां और अवसर. इंडियन जर्नल ऑफ लैंडस्केप सिस्टम्स एंड इकोलॉजिकल स्टडीज, 39(2), 85-90।
4. फेनेल, डी. ए. (2008). इकोटूरिज्मः एक परिचय (दूसरा संस्करण). रूटलेज।
5. फ्राइडलैंडर, ए. एम., बेल, टी. डब्ल्यू., और टिसोट, बी. एन. (2014). इकोटूरिज्म और गैलापागोस द्वीपः समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र पर पर्यटन के प्रभाव. जैविक संरक्षण, 170, 161-169।
6. गुडविन, एच. (2017). ओवरटूरिज्मः कार्रवाई की आवश्यकता. जिम्मेदार पर्यटन भागीदारी।
7. हनी, एम. (2008). इकोटूरिज्म और सतत विकासः स्वर्ग का मालिक कौन है? आइलैंड प्रेस।
8. किस, ए. (2004). क्या समुदाय-आधारित इकोटूरिज्म जैव विविधता संरक्षण निधि का अच्छा उपयोग है? ट्रॉपिकल कंजर्वेशन साइंस, 1 (2), 137-149।
9. रंजन, ए. (2015). सतत विकास में समुदाय आधारित इकोटूरिज्म की भूमिकाः नीलगिरि बायोस्फीयर रिजर्व का एक अध्ययन. जर्नल ऑफ एनवायर्नमेंटल मैनेजमेंट, 161, 180-188।
10. स्वर्ब्रुक, जे. (1999). सतत पर्यटन प्रबंधन. ब्।ठप् प्रकाशन।
11. वीवर, डी. बी. (2001). इकोटूरिज्मः एक भौगोलिक परिप्रेक्ष्य. टूरिज्म जियोग्राफीज, 3(2), 203-226।

*****

भारतीय संघवाद का अवलोकन: अवसर और चुनौतियाँ

-डॉ. सीमा शर्मा
सहायक प्रोफेसर
राजनीति विज्ञान विभाग
गार्गी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय संघीय प्रणाली एक जटिल और गतिशील ढांचा है I समय के बदलते परिवेश में " संघवाद " शब्द का प्रयोग अलग – अलग संदर्भो में किया गया है I वस्तुतः शाब्दिक और वैचारिक प्रयोग ने उसके अर्थ को विकृत कर दिया है l

सिद्धान्तः संघवाद राज्य का वह सन्गठनात्मक ढांचा है जिसमे किसी समाज में राष्ट्रीय एकता तथा क्षेत्रीय स्वायतता के मध्य एक संतुलन स्थापित किया जाता है l इसके अंतर्गत केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों और उत्तरदायित्वों का वितरण शामिल है l

भारत के संविधान के अंग्रेजी संस्करण में फेडरेशन शब्द का नहीं बल्कि यूनियन शब्द का प्रयोग किया गया है l हालाँकि हिंदी भाषा में 'फेडरेशन और यूनियन' दोनों के लिए संघ का प्रयोग किया जाता है l ' फेडरेशन ' शब्द लैटिन शब्द " फीडस " से लिया गया है किसका अर्थ है संधि या समझौता l अतः एक राज्य जो किसी संधि या समझौता का परिणाम है, वह संघ है l हमारे भारतीय संविधान के अनुच्छेद – 1 के अनुसार " भारत राज्यों का संघ (Union of State) होगा l संविधान की प्रस्तावना में भारत को औपचारिक तरीके से संघीय राज्य नहीं कहा गया है l डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने स्पष्ट करते हुए बताया कि राज्यों का संघ शब्द का जानबूझकर किया गया है , हालाँकि भारत को संघीय बनाया गया है किन्तु यह संघीय स्वरूप राज्यों में परस्पर समझौते का परिणाम नहीं है और क्योंकि यह समझौते का परिणाम नही है इसलिए भी राज्य को इससे अलग होने का अधिकार नहीं है l वस्तुतः भारत की स्वाभाविक प्रवृति बहुलवाद और संघवाद की तरफ संकेत करती है l अगर सभ्यता के शुरुआत पर नजर डाली जाये तो भारत भिन्नता और एकता का अनूठा उदहारण रहा है l विश्व में भारत जैसा बहुत कम ही देश है जहाँ इतनी जातीय, धार्मिक और सांस्कृतिक विविधताएं देखने को मिलती हो l

भारतीय संघ का स्वरूप :- संविधान विशेषज्ञों में यह एक गंभीर विवाद का विषय है कि भारतीय शासन संघात्मक शासन स्थापित करता है अथवा एकात्मक शासन देश की एकता को बनाए रखने के लिए संविधान निर्माता यह चाहते थे कि सामाजिक व आर्थिक समस्यायों का समाधान एक शक्तिशाली केंद्रीय सरकार करें और ऐसा करने में उसे राज्यों का भी सहयोग प्राप्त हो l गरीबी निरक्षरता और आर्थिक असमानता आदि गंभीर समस्याओं से मुक्ति पाने हेतु नियोजन और समन्यवय बहुत जरुरी था l इस प्रकार राष्ट्रीय एकता और विकास की चिंताओं ने संविधान निर्माताओं को एक सशक्त केन्द्रीय सरकार बनाने की प्रेरणा दी l 1916 के लखनऊ समझौते में भावी भारतीय राज्य के संघीय स्वरूप को सिद्धांततः स्वीकार कर लिया गया था l संविधान सभा द्वारा 22 जनवरी 1947 को अपनाये गये उद्देश्य प्रस्ताव में स्पष्टतः दृढ़ संकल्प किया गया कि भारत को स्वतंत्र प्रभुत्व संपन्न गणराज्य बनाया जायेगा, जिसमे सभी राज्यों का स्वायत अस्तित्व होगा l संविधान निर्माताओं ने भारत सरकार अधिनियम 1935 को ही प्रतिमान मान गया l इसने संघात्मक संरचना की रुपरेखा निर्धारित की थी l राजनितिक विश्लेषकों में के. सी. व्हीयर के अनुसार "भारत मुख्यतः एकात्मक राज्य है, जिसमें संघीय व्यवस्थाएं नाम मात्र की हैं l डी. डी. बसु का मानना है कि भारत का संविधान ना तो पूर्णतः एकात्मक और ना ही पूर्णतः संघात्मक बल्कि दोनों का समिश्रण है l मॉरिस जॉन्स ने इसे सौदेबाजी शक्ति युक्त संघवाद के रूप में परिभाषित किया है l ग्रैन विल ऑस्टिन ने इसे सहकारी संघवाद कहा l नॉर्मन डी. पामर के अनुसार भारतीय गणतंत्र एक संघ है तथा उसकी अपनी विशेषताएं हैं, जिन्होंने संघीय स्वरूप को अपने ढंग से ढाला है l

राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट का निष्कर्ष था कि भारतीय संघ ही हमारा राष्ट्रीयता का आधार है, राज्य तो केवल संघ के अंग है और जहां हम यह मानते हैं कि अंगों को स्वस्थ और सशक्त होना ही चाहिए l वहां संघ की

सशक्तता तथा स्थिरता तथा विकास एवं संवर्धन की उसकी क्षमता ही वह तत्व है, जिसे देश के सभी परिवर्तनों का नियामक आधार माना जाए l

भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान है, जो निम्नलिखित हैं l

1. संविधान की सर्वोच्चता
2. लिखित संविधान
3. शक्तियों का विभाजन
4. स्वतंत्र और एकीकृत न्यायपालिका
5. दोहरी सरकार
6. कठोर संविधान
7. उच्च सदन का राज्य सदन होना
8. संशोधन प्रणाली

इसी क्रम में भारतीय संविधान के अंतर्गत भारतीय संघ की एकात्मक विशेषताएं इस प्रकार है:-

1. मजबूत केंद्र
2. एकल नागरिकता
3. आपातकालीन प्रावधान
4. अखिल भारतीय नागरिक सेवाएं
5. केंद्र द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति
6. आर्थिक दृष्टि से राज्यों की दुर्बल स्थिति
7. राज्य विधान मंडल द्वारा पारित विधायकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति
8. राज्यों का राज्यसभा में समान प्रतिनिधित्व नहीं

संवैधानिक प्रावधान

7 वीं अनुसूची :- यह संघ और राज्यों के बीच शक्तियों को तीन सूचियों संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में विभाजित करता है l संविधान में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिसके अंतर्गत संघ संसद राज्य सूची में प्रदत्त विषयों पर कानून बनाने के लिए प्राधिकृत है l

ये निम्नलिखित है:-

अनुच्छेद 249 :- राज्यसभा उपस्थित एवं मतदान करते हुए सदस्यों के 2/3 बहुमत से यह घोषित कर दे कि राज्य सूची में वर्णित विषय पर राष्ट्रीय हित में कानून बनाना आवश्यक है, तत्पश्चात संसद को राज्य सूची में प्रमाणित ऐसे विषय पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है l

अनुच्छेद 250 :- देश में आपातकाल के दौरान संसद को राज्य सूची में वर्णित विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है l

अनुच्छेद 252 :- यदि दो से अधिक राज्यों की विधायिकाएं प्रस्ताव पारित करती हैं कि राज्य सूची के किसी विषय पर संसद को कानून बनना चाहिए तो संसद को कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त हो जाती है l

अनुच्छेद 253 :- विदेशी राष्ट्रों के साथ किसी संधि या समझौता को लागू करने या ऐसे किसी निर्णय को लागू करने के लिए संसद को कानून बनाने का अधिकार है l

अनुच्छेद 304 :- राज्य विधायिका द्वारा पारित कोई कानून राष्ट्रपति की सहमति से उस राज्य के राज्यपाल द्वारा रोका भी जा सकता है l राष्ट्रपति ऐसे कानून को बिना कारण बताएं वीटो कर सकता है l **इसी संदर्भ में कुछ संवैधानिक प्रावधान इस प्रकार भी वर्णित हैं :-**

अनुच्छेद 245:- संघ और राज्य विधान मंडल को अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में कानून निर्माण की शक्ति प्रदान करता है l

अनुच्छेद 246:- उन विषयों को सूचीबद्ध करता है, जिस पर संसद और राज्य विधान मंडल कानून बना सकता है l

अनुच्छेद 263 :- सहकारी संघवाद को बढ़ावा देने के लिए एक अंतर - राज्य परिषद की स्थापना का प्रावधान है l

अनुच्छेद 279 (अ) :- राष्ट्रपति को जी. एस. टी. परिषद गठित करने का अधिकार देता है l

भारत के संविधान का मसौदा तैयार करते समय प्राथमिक ध्यान भारत की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने पर था l भारतीय संविधान ने राज्यों की स्वायत्तता के साथ एक मजबूत केंद्रीय सरकार का निर्माण किया l एकता के इस केंद्रीकृत दृष्टिकोण के बावजूद एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने संघवाद को एक बुनियादी ढांचे के रूप में मान्यता दी l अतः संविधान की प्रकृति संघीय है जो विधायी, कार्यकारी और वित्तीय शक्तियों को संघ और राज्य के

बीच विभाजित करता है l हालांकि न्यायिक शक्तियों का प्रयोग एकीकृत न्यायिक प्रणाली द्वारा किया जाता है, जो संघ और राज्य दोनों के कानूनों को लागू करती है l

केंद्र राज्य संबंधों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है l :-

1. विधायी संबंध अनुच्छेद 245 से 255 तक l
2. प्रशासनिक संबंध अनुच्छेद 256 से 263 तक l
3. वित्तीय संबंध अनुच्छेद 268 से 293 तक l

संविधान में विधायी विषयों को तीन सूची में विभाजित किया गया है, जो 7 वीं अनुसूची के अंतर्गत संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में विभाजित है l सभी राष्ट्रीय महत्व के विषय जैसे रक्षा, संचार व विदेशी मामले संघ सूची के अधीन है, जिन पर केंद्र सरकार कानून बनाती है l राज्य सूची के अंतर्गत वर्णित विषय जैसे पुलिस, कृषि तथा सिंचाई पर राज्य द्वारा कानून बनाये जाते हैं l समवर्ती सूची में वर्णित विषय जैसे वनों, शिक्षा तथा आर्थिक सामाजिक नियोजन पर केंद्र और राज्य दोनों कानून बना सकते हैं किंतु वरीयता केंद्र के द्वारा बनाए गए कानून की होगी l संविधान का **अनुच्छेद 248** संघ को अवशिष्ट शक्तियां प्रदान करता है, यानी जिन विषयों का उल्लेख 7 वीं अनुसूची के किसी भी सूची में वर्णित नहीं है, उन विषयों पर विशेष रूप से संघ सरकार का अधिकार होगा l

भारत में संघवाद का विकास (1930 - 1967)

आंतरिक दल संघवाद :- संघवाद के प्रथम चरण के अंतर्गत संघीय सरकार और राज्यों के सरकार के बीच प्रमुख विवादों का समाधान कांग्रेस पार्टी के मंचों पर किया जाता था जिसे प्रमुख राजनीतिक विद्वान रजनी कोठारी ने कांग्रेस प्रणाली कहा l अधिकांश राज्यों और संघ में एक दलीय शासन के कारण संघवाद सुचारू रूप से सफल रहा l

अभिव्यंजक संघवाद :- (1967 – 1989) इस समय कांग्रेस पार्टी अभी भी केंद्र में सत्ता में थी लेकिन कई राज्यों में सत्ता खोनी पड़ी l जहां विभिन्न क्षेत्रीय दलों के नेतृत्व वाली और कांग्रेस विरोधी संगठन की सरकार बनी थी l इस दौरान डी.एम.के. और रा.ज.द. जैसे क्षेत्रीय दोनों ने अपने हितों पर ध्यान देना प्रारंभ किया तथा केंद्रीयकरण का विरोध किया l

सहकारी संघवाद (1990 – 2014) :- 1990 के दशक में गठबंधन का दौर देखा गया जब राष्ट्रीय दल संसद में बहुमत प्राप्त करने में सक्षम नहीं थें l राष्ट्रीय गठबंधनों ने क्षेत्रीय शक्तियों की मदद से संघ में अपना प्रभाव बनाए रखा l इस अवधि में केंद्र व राज्य के बीच टकराव में कमी आई l इस काल में राष्ट्रीय विकास के लिए मिलकर कार्य करने पर अधिक बल दिया गया l 1994 में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ मामले में दिया गया निर्णय भी काफी महत्वपूर्ण रहा l

प्रतिस्पर्द्धी एवं सहकारी संघवाद :- 2014 और 2019 के लोकसभा चुनाव में एकल बहुमत के साथ एक बार फिर प्रभुत्वशाली दल के प्रभाव वाले संघवाद का उभार हुआ l यह प्रतिस्पर्द्धा और सहयोग के तत्वों का मिश्रण है, जहां राज्यों को विकास जैसे क्षेत्रों में प्रतिस्पर्द्धा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, वहीं राज्य और संघ के बीच सहयोग को बढ़ावा दिया जाता है l केंद्र और अधिकांश राज्यों में एक ही दल की सरकार ने एक निर्णायक भूमिका का निर्वाह हुआ है l सहकारी संघवाद सहयोग और साझा दोनो के उत्तरदायित्वों को प्रोत्साहित करता है l उदाहरणतः नीति आयोग, 73 वाँ और 74 वाँ संविधान संशोधन l वही प्रतिस्पर्द्धी संघवाद बेहतर प्रशासन के लिए राज्यों के बीच प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ाता है l यह राज्यों के बीच आर्थिक स्पर्द्धा पर ध्यान केंद्रित करता है l उदाहरणतः बाइब्रेंट गुजरात l भारत में संघवाद को मजबूत करने की आवश्यकता संघवाद का उद्देश्य देश की एकता को सुरक्षित करना और उसे मजबूती प्रदान करना तथा इसके साथ-साथ क्षेत्रीय विविधता का पूरा सम्मान देना है l भारत में अनेक भाषाएं और बोलियां बोली जाती हैं l संघवाद को सुदृढ़ करने से सुनिश्चित होगा कि विभिन्न क्षेत्रों की भाषाई और सांस्कृतिक पहचान को संरक्षित एवं सम्मानित किया जाएगा l

संविधान के अनुच्छेद 263 के अंतर्गत अंतर्राज्यीय परिषद का गठन किया गया है, यह राज्यों के बीच समन्वय स्थापित करने में सहायता करता है l

वस्तु एवं सेवा कर परिषद तथा केंद्रीय सर्वोच्चता के मुद्दे:- जी.एस.टी. एक गंतव्य आधारित अप्रत्यक्ष कर सुधार है, इसका

उद्देश्य देश भर में एक समान कर दरों को लागू करके एक राष्ट्र - एक कर प्रणाली की स्थापना करती है।

वित्त आयोग :- 15वें वित्त आयोग को कर हस्तांतरण के लिए अपने संदर्भ की शर्तों में 2011 की जनसंख्या के आंकड़ों का उपयोग करने के लिए कुछ राज्यों की आलोचना का सामना करना पड़ा। यह विवाद वित्त आयोग के संदर्भ की शर्तों के निर्माण में राज्यों की भागीदारी के महत्व को प्रकट करता है।

केंद्रीय अतिक्रमण से बचाव हेतु:- केंद्रीयकरण और केंद्र के बढ़ते हस्तक्षेप को ध्यान में रखते हुए राज्यों की स्वायत्तता और अधिकारों की सुरक्षा एवं समृद्धि के लिए संघवाद आवश्यक है। एक सुदृढ़ संघीय प्रणाली में विभिन्न क्षेत्रीय आकांक्षाओं को समायोजित करना समय की मांग है। इससे अलगाववादी प्रवृत्ति कम होगी और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलेगा।

स्थानीय निकायों को सशक्त करना:- संघवाद को मजबूती प्रदान करने में पंचायती राज्य संस्थाओं के माध्यम से स्थानीय स्वशासन को सशक्त बनाकर लोकतंत्र की जड़ को और सशक्त बनाया जा सकता है। इसमें विशेषकर महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित की जा सकती है।

राजकोषीय संघवाद:- केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय संसाधनों का अधिक समतामूलक वितरण सुनिश्चित होता है। व्यय के मामले में राज्य की स्वायत्तता यानी राज्यों को वित्तीय मामले में अपने वित्त पर अधिक नियंत्रण हो जिससे केंद्र और राज्य सहयोगात्मक वातावरण में कार्य करें।

भारत में संघवादी व्यवस्था के समक्ष निम्नलिखित प्रमुख चुनौतियां हैं :-

1. केंद्रीयकरण और क्षेत्रवाद में संतुलन रखना
2. राज्यपाल की भूमिका
3. अनुच्छेद 356
4. राज्यों में कानून और व्यवस्था बनाएं केंद्रीय ब्लॉक द्वारा हस्तक्षेप
5. केंद्र द्वारा सूची पर अतिक्रमण
6. वित्तीय मामले
7. क्षेत्रीय असंतोष (बोडोलैंड, गोरखालैंड)
8. राज्यकोषीय असंतुलन
9. आर्थिक और क्षेत्रीय और असमानतायें
10. अन्तर्राज्यीय विवाद
11. संघवादी सामंजस्य पर केंद्रीय जांच एजेंसियों का प्रभाव
12. 7 वीं अनुसूची पर पुनर्विचार की जरूरत

इस प्रकार इन चुनौतियों का इत्यादि। संवैधानिक ढांचे के अंतर्गत लोकतांत्रिक भारतीय लोकतांत्रिक पृष्ठभूमि में समाधान करने की जरूरत है, जिससे भारत अपने संघीय ढांचे को मजबूत कर आगे का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इससे सहकारी एवं प्रतिस्पर्द्धी संघवाद की संवैधानिक भावना को संरक्षित करते हुए राष्ट्रीय एकता और राज्य स्वायत्तता के बीच संतुलन कायम किया जा सकता है।

भारत में संघवाद के लिए दूरदर्शी दृष्टिकोंण होगा जो इसकी विविधता के लिए उपयोगी और सार्थक हो, सहयोग को बढ़ावा दे तथा सभी नागरिकों के लिए एक सामंजस्यपूर्ण एवं समृद्ध भविष्य का निर्माण करे। वास्तव में यह केवल राजनीतिक आवश्यकता नहीं है बल्कि इससे भारतीय गणराज्य को परिभाषित करने वाली प्रत्यास्थता एवं एकता को सम्बल मिलेगा। संघवाद एक बड़ी राजनीतिक इकाई के भीतर विविधता और क्षेत्रीय स्वायत्तता के समायोजन की अनुमति देता है। यह अपने संदर्भ में अद्वितीय है। भारतीय समाज, संस्कृति, भाषा और धर्म की विविधता, बहुलता एवं संरक्षण के लिए संघवाद आवश्यक है।

इन उपरोक्त तत्वों के साथ-साथ कुछ निम्नलिखित बातें भी जो भारतीय संघवाद की पुरजोर मांग करती है :-

1. शासन की दक्षता और गुणवत्ता में सुधार हेतु
2. संतुलित और समावेशी विकास को बढ़ावा
3. सद्भाव और सहयोग को बढ़ावा देना
4. अनुच्छेद 263 अंतर्राज्यीय परिषद का गठन जिससे केंद्र और राज्य के बीच समन्वय और सहयोग बढ़ाया जा सके।
5. अनुच्छेद 280 के अंतर्गत वित्त आयोग जैसे संवैधानिक निकाय का गठन जो केंद्र और राज्य के बीच राजस्व के वितरण की अनुशंसा कर सके।
6. **नीति आयोग का गठन :-** आर्थिक और सामाजिक विकास के मामलों में केंद्र और राज्यों के बीच एक थिंक टैंक और सलाहकार निकाय के रूप में कार्य करता है। नीति निर्माण और कार्यान्वयन में

राज्यों को शामिल करके सहकारी संघवाद की भावना बल प्रदान करता है।

7. शक्तियों और संसाधनों का हस्तांतरण बढ़ाना।
8. बेहतर प्रतिनिधित्व एवं भागीदारी सुनिश्चित करना।
9. क्षेत्रीय असंतुलन और असमानताओं को संबोधित करना।

अंतत देश की अखंडता को कायम रखने के लिए सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के तथा सुनिश्चित प्रशासन चलाने के लिए राजनीतिक इच्छा के साथ – साथ केंद्र और राज्यों के बीच सहयोगी वातावरण बना रहे जिससे लोकतांत्रिक ताने-बाने के भीतर संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में संघवाद निर्विवाद तरीके से मजबूत हो सके। यह समय की मांग और जरूरत दोनों है।

सन्दर्भ सूचि:-

1. सुभाष सी. कश्यप (2016) , हमारा संविधान, नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट
2. के. सी. व्हीयर (1951), फैडरल गवर्नमेन्ट, लन्दन : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
3. वी. एम. पायली (1953), भारतीय संविधान एक परिचय, नई दिल्ली : विकास प्रकाशन
4. राजेन्द्र कुमार पांडे (2013), "पोलिटिकल डायनामिक्स ऑफ़ फेडरलिज्म इन इंडिया", इंडियन जनरल ऑफ़ फेडरल स्टडीज
5. मेरिस जोन्स (1971), गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ़ इंडिया, लन्दन : हचिसन
6. डी. डी. बासु (2005), भारत का संविधान : एक परिचय, नई दिल्ली : वाधवा एण्ड कम्पनी
7. तपन विस्वाल (2017), भारतीय राज्यव्यवस्था और शासन हैदराबाद , ओरिएंट ब्लैकस्वॉन, प्राइवेट लिमिटेड
8. ए. एस. नारंग (2017), भारतीय शासन एवं राजनीति, नई दिल्ली गीतांजलि पब्लिशिंग हाउस
9. महेंद्र प्रसाद सिंह & सुभेंदु राजन राज (2012), दी इंडियन पोलिटिकल सिस्टम, नई दिल्ली
10. दुर्गा दास बसु (2015), इंट्रोडक्शन टू दी कंस्टीटूशन ऑफ़ इंडिया, लेक्सिस नेक्सिस, गुरुग्राम हरियाणा
11. एन. सुकुमार कमलाकांत रॉल (2012), इंडियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, बुक ऐज पब्लिकेशनस, लक्ष्मी नगर, दिल्ली
12. के. मैथ्यू पी. एन. वर्गीस (1980), केंद्र राज्य संबंध, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड
13. महेंद्र प्रसाद सिंह & हिमांशु राय, भारतीय राजनीतिक प्रणाली संरचना , नीति और विकास , हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
14. बिद्युत चक्रबर्ती & राजेंद्र कुमार पांडेय (2004), इंडियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, शिवानी आर्ट प्रेस
15. रूचि त्यागी (2005), इंडियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, शिवानी आर्ट प्रेस
16. वि. ग्रोवर(1988), एसेज ऑन इंडियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, दीप & दीप पब्लिकेशनस , नई दिल्ली
17. राजेंद्र दयाल (2015), इंट्रोडक्शन टू पोलिटिकल प्रोसेसेज इन इंडिया, बुक ऐज पब्लिकेशनस, लक्ष्मी नगर, दिल्ली

*****

महात्मा गांधी और सत्याग्रह

प्रो. आशुतोष कुमार
राजनीति विज्ञान विभाग
सत्यवती महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय

गांधी को एक विचारक, आन्दोलनकर्ता और कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में सत्य तथा अहिंसा का पुजारी माना गया है l वास्तव में हर राजनीतिक चिंतक के चिंतन पर उसके समय या युग का प्रभाव देखने को मिलता है और प्रत्येक राजनीतिक चिंतक अपने ज्ञान व अनुभव के आधार पर किसी न किसी राजनीतिक सिद्धांत का प्रतिपादन करता है l गांधी जी ने तो ऐसे अनेक विलक्षण सिद्धांतों व नीतियों का प्रतिपादन किया, जो उनके नाम से जुड़ गये, जिन्हें राजनीतिक चिंतन में उनकी अनूठी देन माना जाता है l उसी क्रम में सत्याग्रह का सिद्धांत एक अनोखा सिद्धांत है l उनका सत्याग्रह का सिद्धांत अहिंसक विरोध की राजनीति का एक ऐसा सरल रास्ता है, जिसे हर कोई अपना सकता है और जिस पर चलकर छोटी सी छोटी और बड़ी से बड़ी समस्या का ऐसा समाधान हो सकता है, जो न केवल सत्याग्रही को बल्कि उसके विरोधी को भी स्वेच्छा से स्वीकार्य हो l

सत्याग्रह शब्द का शाब्दिक विवेचन किया जाए तो इसका अर्थ होता है सत्य के प्रति आग्रह यानी सत्य को पकड़े रहना और इसके साथ अहिंसा को मानना l अन्याय का सर्वथा विरोध करते हुए अन्यायी के प्रति कोई वैरभाव न रखना, सत्याग्रह का मूल लक्षण है l हमें सत्य का पालन करते हुए निर्भयतापूर्वक मृत्यु का वरण करना चाहिए और मरते - मरते भी जिसके विरुद्ध सत्याग्रह कर रहे हैं उसके प्रति कोई क्रोध नहीं करना चाहिए l यानी सत्याग्रह में अपने विरोधी के प्रति हिंसा का कोई स्थान नहीं है l

गांधी को "शांतिपूर्ण विरोध की राजनीति" का दार्शनिक माना जाता है l गांधी सभी समस्याओं व विवादों का निदान के लिए ऐसे साधनों की खोज में थे जो न केवल अहिंसक हो, बल्कि कारगर भी हो l गांधी विश्व के इतिहास से भली भांति परिचित थे l उनकी मान्यता थी कि दुनिया में कहीं भी कभी भी हिंसा अथवा युद्ध से किसी भी समस्या का या विवाद का स्थाई समाधान नहीं हुआ, अहिंसा ही हिंसा का अंत कर सकती है l

(1869-1948) सत्याग्रह शब्द महात्मा गांधी द्वारा 1919 में गढ़ा और विकसित किया गया l गांधी जी ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के हिस्से के रूप में और दक्षिण अफ्रीका में भारतीय अधिकारों की वकालत करने वाले पहले के संघर्षों में इस सिद्धांत को लागू किया l गांधी जी का सत्याग्रह का यह विश्व के अनेक देशों के सामाजिक न्याय के आन्दोलनों को भी प्रभावित किया l इसी क्रम में यह सिद्धांत संयुक्त राज्य अमेरिका में नागरिक अधिकार आंदोलन के दौरान मार्टिन लूथर किंग जूनियर और जेम्स बेवल के नेतृत्व वाले अभियानों पर गहरा प्रभाव पड़ा l इसने दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मंडेला के रंगभेद विरोधी संघर्ष में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया l गांधी के आन्दोलनों और विचारों का प्रभाव खान अब्दुल गफ्फार खां, स्टीव बिको, आंग सान सूची और बेनिग्नो अकिनो जैसे कई प्रमुख नेताओं और राजनीतिक आन्दोलनों को प्रभावित किया l बराक ओबामा ने 2010 में भारतीय संसद के संयुक्त अधिवेशन में कहा कि "मुझे इस बात का एहसास हुआ है कि अगर गांधी और अमेरिका सहित पूरी दुनिया के लिए दिए गये उनके संदेश नहीं होते तो मैं आज अमेरिका के राष्ट्रपति के रूप में न खड़ा होता l"

सत्याग्रह शब्द संस्कृत से लिया गया है, जो सत्य और आग्रह का एक तत्पुरुष यौगिक है l यह संस्कृत भाषा के दो शब्दों, सत् तथा आग्रह की संधि से बना है l जिसका शाब्दिक अर्थ है, सत्य के लिए आग्रह करना, सत्य पर अड़े रहना l गांधी जी को सत्याग्रह के इस सिद्धांत में गहरी आस्था थी, जिसके कारण उन्होंने "शक्तिहीन" लोगों के हाथ में "सर्वोच्च इलाज" के रूप में वर्णित किया, जिससे वह सबसे "शक्तिशाली" लोगों से मुकाबला कर सके l उनके अनुसार सत्याग्रह एक "अवधारणा" के रूप में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की "शक्ति" के विरुद्ध खड़े होने की ताकत थी l गांधी जी के अनुसार सत्याग्रह एक ऐसा आंदोलन है जो पूरी तरह सत्य पर कायम है l अहिंसा सत्याग्रह दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है l उन्होंने सत्याग्रह सिखाने के लिए साबरमती आश्रम की स्थापना की l सत्याग्रह एक विशिष्ट जीवन पद्धति है, जिसके मूल में अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, निर्भयता, ब्रह्मचर्य, स्वदेशी सर्वधर्मसमभाव, चोरी न करना तथा एकादश व्रत शामिल

है l

इसके साथ-साथ गांधी जी की यह भी मान्यता थी कि सत्याग्रही में निम्नलिखित यह गुण भी होना चाहिए :-

1. ईश्वर में जीवंत आस्था l
2. पवित्र जीवन और मरने या अपनी सारी संपत्ति खोने के लिए तैयार होना चाहिए l
3. खादी बुनने और काटने का अभ्यस्त होना चाहिए l
4. शराब और नशीले पदार्थों से दूर रहना चाहिए l

इसी क्रम में गांधी जी ने सत्याग्रहियों के लिए कई नियमों का प्रस्ताव रखा, जो इस प्रकार वर्णित है :-

1. क्रोध न करें l
2. प्रतिद्वंदी के क्रोध का सहन l
3. स्वेच्छा से गिरफ्तारी या अपनी संपत्ति की जब्ती के लिए प्रस्तुत हो l
4. गाली या कम ना खाएं l
5. प्रतिद्वंदी का अपमान ना करें l
6. अपने प्रतिद्वंदी या उसके नेताओं के झुंड को न तो सलामी दे और न ही उसका अपमान करें l
7. एक कैदी के रूप में, विशेष अनुकूल व्यवहार की मांग ना करें l
8. एक कैदी के रूप में, विनम्रता से व्यवहार करें और जेल के नियमों का पालन करें (सिवाय उन नियमों के जो आत्म सम्मान के विपरीत हो) l

गांधी जी के लिए सत्याग्रह लियो टॉलस्टॉय के "निष्क्रिय प्रतिरोध" से कहीं आगे था, जो अहिंसक तरीकों का अभ्यास करने की ताकत बन गया l इसलिए वे भारतीय आंदोलन को सत्याग्रह करना शुरू कर दिया l अहिंसा और सत्याग्रह के बीच अटूट संबंध है l अहिंसा के बिना सत्य की खोज और उसे पाना संभव नहीं है l यानी अहिंसा और सत्य एक सिक्के के दो पहलू हैं l अहिंसा साधन है और सत्य साध्य है l सत्य ही एकमात्र ऐसी चीज है जो वास्तव में मौजूद है l सत्याग्रह से अभिप्राय है सत्य की मांग l यह दृढ़ संकल्प साधक को अद्वितीय शक्ति प्रदान करता है l सत्याग्रह की विषय वस्तु और व्यवहार सकारात्मक है जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध एक नकारात्मक रणनीति है l निष्क्रिय प्रतिरोध में हिंसा की संभावना बनी रहती है l सत्याग्रह निष्क्रिय नहीं है बल्कि अहिंसक, शुद्ध और वास्तविक कार्य पद्धति है l इसलिए वे नैतिक बल और आत्मशुद्धि पर जोर देकर, इस जागृति को लाने का प्रयास किया l उनके मंतव्य यह हृदय परिवर्तन को प्रभावित कर सकता है l

गांधी साध्य और साधन की एकरूपता में भी विश्वास करते थे, उनके अनुसार साध्य को साधनों से अलग नहीं किया जा सकता l उनके सत्याग्रह का जन्म दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद की असाधारण तथा अमानविक परिस्थितियों में हुआ जो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से गुजरता हुआ देश की आजादी दिलाने तक प्रभावित तरीके से कायम रहा l इस प्रकार सत्याग्रह सत्य और न्याय के रास्ते पर चलने तथा असत्य व अन्य के विरुद्ध संघर्ष से है l गांधी का सत्याग्रह संपूर्ण और सर्वव्यापी है l वास्तव में देखें तो गांधी ने 55 वर्ष के सार्वजनिक जीवन में सत्याग्रह का प्रयोग जातिवाद, साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद जैसी अन्याय तथा अनैतिकता पर आधारित परिस्थितियों के प्रतिवाद में किया l उन्होंने अपने सत्याग्रह आंदोलन में सत्याग्रह साधनों के प्रयोग से पहले निम्नलिखित बातों पर बल दिया :-

1. प्रतिष्ठा तथा सावधानी
2. सार्वजनिक जांच द्वारा तत्वों का संकलन
3. पदयात्रा
4. पत्रव्यवहार तथा भेंटवार्ता
5. पंचनिर्णय
6. सांप्रदायिक सौहार्द तथा एकता
7. राजनीतिक संगठनों का गठन एवं पोषण
8. विरोध सभाएं, प्रदर्शन तथा जुलूस
9. सत्याग्रह प्रशिक्षण और प्रतिज्ञा
10. ईश्वर की पूजा अर्चना तथा
11. प्रतिपक्षी को सत्याग्रही द्वारा अंतिम चेतावनी l

सत्याग्रह के साधन:- इस प्रकार सत्याग्रह की अवधारणा गांधी की राजनीति विज्ञान को अनूठी देन है l जिन साधनों का प्रयोग गांधी ने सत्याग्रह आंदोलन में किया उन्हें रचनात्मक साधन, आक्रामक साधन तथा अति आक्रामक साधन में वर्गीकृत किया जा सकता है l

क) रचनात्मक साधन:-

1. प्रतिबंधित विरोध सभाओं, प्रदर्शनी और जुलूस का आयोजन करना l
2. सांकेतिक यात्रा तथा रचनात्मक कार्यक्रम l
3. राष्ट्रीय दिवसों और सप्ताहों का आयोजन l
4. विचार पत्रों एवं पत्रिकाओं का प्रकाशन करना l

(ख)आक्रामक साधन:-

हड़ताल, स्ट्राइक, बहिष्कार, रास्ता रोको आंदोलन तथा विरोध स्वरूप पद त्याग करना

(ग)अति आक्रामक साधन:-

सविनय अवज्ञा, अहिंसक असहयोग, कर अदा ना करना, जेल भरो आंदोलन, उपवास करना, सामाजिक बहिष्कार तथा हिजरत शामिल है l हिजरत का तात्पर्य है दमन तथा अत्याचार की जगह को विरोधस्वरूप छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाना l जो अत्यंत दुःख का अनुभव करें वे इसको अंगीकार करें l

इसप्रकार गांधी ने अनेक राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं और विवादों का निदान खोजने के लिए हमेशा प्रयास किया l गांधी के नेतृत्व में 25 सत्याग्रह आंदोलन चले, जिसमें 14 राष्ट्रीय और 11 स्थानीय प्रश्नों से जुड़े थे l उन्होंने 10 सामूहिक सत्याग्रह आंदोलनों का आयोजन किया, जिनमें कुछ महत्वपूर्ण है:-

1.दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद विरोध सत्याग्रह (1893 – 1914)

2.रौलेट अधिनियम सत्याग्रह (1919)

3.अहिंसक असहयोग आंदोलन (1919 – 1922)

4.सविनय अवज्ञा आंदोलन (1931)

5.भारत छोड़ो आंदोलन (1942)

कुछ स्थानीय प्रश्नों से सामूहिक सत्याग्रह थे :-

1.चंपारण सत्याग्रह (1917)

2.खेडा सत्याग्रह (1918)

3.अहमदाबाद सत्याग्रह (1918)

4.राजकोट सत्याग्रह (1939)

गांधी ने अपने सत्याग्रह के अंतर्गत 17 उपवसों में 04 महीने 18 दिन का उपवास किया l

इस प्रकार भारतीय राजनीति में गांधी की इस अनूठी शैली ने भारतीय जनमानस में एक नई चेतना का संचार किया l राष्ट्रीय आंदोलन जो पूर्व में समाज के कुछ वर्गों तक सीमित था, उसे जनआंदोलन में तब्दील कर दिया l गांधीवादी युग हर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन क्रांति की आधारशिला सत्याग्रह थी l गांधी का विश्व जनमत को दिया गया यह महत्वपूर्ण उपहार है l उनके सत्याग्रह आंदोलनों से जन शिक्षण तथा जन जागरण हुआ l रिचर्ड ग्रेग के अनुसार यह एक त्रिमुखी दर्पण है l यह एक ऐसा अस्त्र है जिससे प्रतिपक्षा सत्य,न्याय एवं औचित्य के रास्ते पर लौट आता है l सत्याग्रह आंदोलन राजनीतिक विरोध का एक अभिनव रूप था l उनके अनुसार यही एकमात्र कानूनी साधन है क्योंकि यह सत्य और अहिंसा पर आधारित है l यदि अणुयुग की विभीषिका से मानव संस्कृति की रक्षा के लिए हिंसा की शक्ति को अपदस्थ करके अहिंसा के शक्ति को प्रतिष्ठित होना है तो सत्याग्रह ही एकमात्र कारगर उपाय है l वर्तमान संदर्भ में विश्व की बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भी गांधीवाद के मूलभूत सिद्धांतो को अंगीकार करने का समय आ गया है l यही कारण है कि गांधी और उनकी यह विचारधारा आज भी जीवंत हो विश्व समुदाय के समक्ष प्रेरणा स्रोत के रूप में कायम है l

संदर्भ सूची:-

1. गांधी जी : हिंदस्वराज, अहमदाबाद, नवजीवन ट्रस्ट, 2015
2. डॉ. सुनीता मंगला : भारतीय राजनीतिक चिंतन, कावेरी बुक्स, नई दिल्ली, 2014
3. बिपिन चंद्र : आधुनिक भारत, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2014
4. रामचंद्र प्रधान : राज से स्वराज, हिंदी मध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2015 दिल्ली
5. गांधी जी : दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, 2011
6. रामरतन तथा शोभिका शारदा : महात्मा गांधी की राजनीतिक अवधारणाएं, कलिंग प्रकाशन,दिल्ली , 1992
7. रोमा रोला : महात्मा गांधी विश्व के अद्वितीय पुरुष, इलाहाबाद सेंट्रल बुक डिपो,1947
8. दिवाकर आर. आर. : सत्याग्रह और विश्व शांति, नई दिल्ली प्रगति प्रकाशन, 1969
9. वर्मा वी. पी. : आधुनिक भारतीय राजनीतिक दर्शन, आगरा कॉलेज बुक डिपो, 1982
10. जूडिथ एम. ब्राउन : गांधी प्रिजनर ऑफ़ होप दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990
11. महात्मा गाँधी : मेरे सपनो का भारत, राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली , 2008
12. मिश्र अनिल दत्त : गाँधी एक अध्ययन, पीयरसन, दिल्ली , 2012

*****

महात्मा ज्योतिबाफुले की बाल्यकालीन परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

-सोनिया पटेल
शोधार्थी
डी. एस. एन. पी. जी. कालेज, उन्नाव

-डा. विपिन कुमार सिंह
सह-प्राचार्य
शिक्षण प्रशिक्षण विभाग, डी. एस. एन. पी. जी. कालेज, उन्नाव

शोध सारांश

प्रस्तुत शोध पत्र महात्मा ज्योतिबाफुले के बाल्यकालीन परिस्थितियों के संदर्भ में प्रस्तुत किया जा रहा है।ज्योतिबाफुले की बाल्यकालीन परिस्थितियाँ अत्यन्त संघर्षों से भरी हुई थीं। उस समय समाज में व्याप्त जातिप्रथा का उनके विकास पर प्रभाव देखा जा सकता था। उनके पिता के जाति प्रथा की जंजीरों से बंधे होने के कारण से उन्होने ज्योतिबा को कभी विद्यालय भेजने का मन नहीं बनाया, उनके कुछ मित्रों के समझाने पर उनके पिता ने आगे विद्यालय भेजने पर विचार किया, क्योंकि उस समय ऐसा माना जाता था कि विद्यालय शिक्षा पर केवल और केवल सामन्तों का ही अधिकार है।

ज्योतिबाफुले का सामान्य परिचय:

ज्योतिराव गोविन्दराव फुले, जिन्हें आम जनमानस आदर से ''महात्माफुले'' या ज्योतिबा फुले कहकर पुकारते हैं। इनके दर्शन, कार्य औरविचार धारा का स्वतन्त्रता पूर्व और स्वतन्त्रता प्राप्ति के दशकों में जितना सफल अध्ययन और मूल्यांकन होना चाहिए था, उतना नहीं होस का है।महात्मा ज्योतिबाफुले के जीवन दर्शन और कार्य पर कई भारतीय भाषाओं में लिखा गया हैऔर आज भी लिखा जा रहा है, और उनके विचारों को लोग आज भी पढ़ रहे हैं। वामपंथी और गैर-वामपंथी दोनों प्रकार के लोग आज अपने-अपने तरीके से उनपर सोचकर अपने विचार प्रकट कर रहे हैं।

ज्योतिबाफुले आधुनिक भारत में क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन के मूल प्रवर्तक हैं, यह बात सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। उनके साहित्य को पढ़ने से ही इस बात का पता चल जाता है, कि उन्होंने किस तरह हिन्दू समाज के दलित और पिछड़े वर्ग के लोगों की समस्या को उजागर करने की कोशिश की है।अपने साहित्य के माध्यम से उन्होने नारी शक्ति की गुलामी के सवालों को समाज के सम्मुख लाकर उजागर किया, जिससे समाज में नारी शक्ति के लिए एक नई सोच एवं क्रांतिकारी परिवर्तन की सोच ने अपना स्थान लिया।

19वीं शताब्दी में भारत में अंग्रेजों की नई शिक्षा-प्रणाली की वजह से जो नया शिक्षित वर्ग पैदा हुआ, उनमें से कुछ लोगों का ध्यान भारतीय समाज की कुरीतियों की ओर गया, उन्होने उन कुरीतियों को समाज से दूर करने के लिए समाज-सुधार, धार्मिक सुधार का काम हाथ में लिया।उन्होने अपने समाज की अमानवीय कुप्रथाओं के विरुद्ध, धार्मिक उत्पीड़न के विरुद्ध जागृति लाने की कोशिश की। इसलिए इस काल को भारतीय नवजागरण का प्रारम्भिक काल माना जाता रहा है। ज्योतिबाफुले की प्रथम रचना ''तृतीय नाटक'' है, जो वर्ष 1855 में लिखा गया।उसके बाद वर्ष 1891 तक वे लगातार लिखते रहे। इनके कृतियों में सत्य शोधक समाज के लिए मंगल गाथा और पूजा विधि, सार्वजनिक सत्य धर्म, गुलामगीरी, किसान का कोड़ा इत्यादि काव्य रचनाएं उस समय समकालीन भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, शैक्षिक स्थिति को भली भांति समझने के लिए पर्याप्त हैं। यहीं नहीं, उन्होने अपने विचारों को समाज के आम आदमी तक पहुंचाने के लिए सत्य शोधक समाज की स्थापना की औरसब से महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होने जो भी लिखा, उसको स्वयं प्रकाशित भी किया। महात्मा ज्योतिबाफुले ने किस प्रकार एक निम्न परिवार में जन्म लेकर तत्कालीन समाज में हो रही सामाजिक बुराइयों का विरोध किया तथा किस प्रकार उनको उसमें सफलता मिली, यह एक गहन शोध का विषय है।

ज्योतिबाफुले का प्रारम्भिक जीवन:

महात्मा ज्योतिबाफुले जब मात्र एक वर्ष के थे तभी उनकी माता चिमाणा बाई का निधन हो गया। उनके पिता गोविन्दराव को पत्नी का स्वर्गवास होने के कारण बड़ा आघात लगा। उन्होने दूसरा विवाह न करने का प्रण लेकर अपने अबोध पुत्र ज्योतिबा के लिए एक धाय रख ली, जिसने बड़े ही प्यार से ज्योतिबा का लालन-पालन किया और कभी भी ज्योतिबा को मां की कमी महसूस नहीं होने दी। ज्योतिबा जब 6 वर्ष के हुए तब वे बहुत की सुन्दर व मजबूत शरीर वाले दिखाई देने लगे। गोविन्दराव को उन्हें देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय निम्न जाति के लोगों को शिक्षा नहीं दी जाती थी।स्वयं गोविन्दराव भी पढ़े-लिखे नहीं थे।लेकिन उन्होने अपने इस पुत्र को

शिक्षित करने का मानस बना लिया था।

उस युग में पाठशाला व्यक्तिगत होती थी और उनमें उच्च जातियों के लोग बड़ी संख्या में पठन-पाठन किया करते थे। इन विद्यालयों में संस्कृत, व्याकरण, न्यायशास्त्र, वैधक, वेदान्त ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि विषय ही पढ़ाये जाते थे। तब ऐसी शिक्षा का अधिकार निम्न जाति वर्ग वालों को नहीं था। अतः निम्न वर्ग के बालकों को कोई शिक्षा नहीं दी जाती थी। ऐसी परिस्थितियों में ज्योतिबा को पाठशाला भेजना एक बड़ी समस्या बन गई। उस समय कुछ कट्टरपंथियों ने सरकारी शिक्षा विभाग से यह संकल्प तक पारित करवा लिया कि शिक्षा परिषद की पाठशालाओं में यदि निम्न जाति वर्ग के बच्चे पढ़ते भी हैं तो उन्हें पाठशालाओं से निकाल दिया जाये। जैसे-जैसे ज्योतिबा पल रहे थे वैसे-वैसे पेशवाओं की पेशवाई अंग्रेजों द्वारा समाप्त ही कर दी गई थी और सत्ता अंग्रेजों के हाथों में आ चुकी थी। उस समय अशिक्षा ही दलित किसान की सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक दुर्दशा का मूल कारण थी।अविद्या ही किसान के दुःख एवं दीनता का मूल कारण थी। सत्ता परिवर्तन में राज्य के सर्वोच्च पेशवा पद पर अंग्रेज अधिकारी स्थापित हो चुके थे, जबकि उनके अधीन बहुत सारे पदों पर अभी भी देशी अधिकारी ही नियुक्त थे। इस प्रकार इस व्यवस्था में भी सामान्य स्तर पर तो कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था किन्तु व्यवस्थापक का पद अवश्य बदल गया था।

अब अंग्रेजी व्यवस्था के अनुसार समाज के सभी वर्गों को शिक्षा पाने का पूर्ण अधिकार मिल गया था। समाज में पहले शिक्षा के केन्द्र ब्राहमण और पुरोहित वर्ग के लोगों के अधिकार में ही होते थे। इन शिक्षालयों में इसी वर्ग के लोगों का वर्चस्व स्थापित था तथा ये लोग अपने-अपने तरीके से पठन-पाठन का कार्य किया करते थे। जैसा कि पहले ही वर्णित किया जा चुका है कि, इस शिक्षा व्यवस्था में दलित वर्ग के विद्यार्थियों का प्रवेश वर्जित था परन्तु अंग्रेजों की नई व्यवस्था में इस वर्ग के बालकों के लिए भी शिक्षा प्राप्त करने का मार्ग खोल दिया था तथा इसके साथ ही अंग्रेजों ने कुछ सार्वजनिक विद्यालय भी प्रारम्भ करवा दिये थे।

इस समय तक महात्मा ज्योतिबा की आयु महज सात वर्ष हो चुकी थी। जब भी वे उच्च वर्ग के बालकों को विद्यालय जाते हुए देखते थे तो उनका मन भी विद्यालय की सीमाओं को देखने के लिए लालायित हो उठता था और वे अपने पिता से विद्यालय जाने की अनुमति लेने की जिद करने लग जाते थे। इस प्रकार उन्होने अपने पिता से अनेक बार विद्यालय जाने का आग्रह किया, परन्तु वे प्रत्येक बार इस आग्रह को सुनकर भी अनसुना कर देते थे। उनके पिता अपने इस पुत्र के विद्यालय जाने की जिद को महज एक पागलपन ही मानते थे, वे अपनी पुरानी सोच से उठकर नहीं सोच पा रहे थे क्योंकि उनके परिवार से आज तक कोई भी विद्यालय नहीं गया था तो ऐसी स्थिति में भला ज्योतिबा कैसे विद्यालय की ओर उन्मुख हो सकते थे। इस प्रकार ज्योतिबा की बार-बार पढ़ने की और विद्यालय जाने की जिद ने गोविन्दराव जी को सोचने पर विवश कर दिया और एक दिन उन्होने ज्योतिबा को सरकारी विद्यालय में प्रवेश दिलवा दिया।

उस समय की सोच प्रथा के चलते कुछ लोगों ने गोविन्दराव जी को तरह-तरह से समझाना और धमकाना प्रारम्भ कर दिया कि यह कार्य ठीक नहीं है, जो ज्योतिबा शिक्षार्जन कर के उच्च कुल के कर्म को दूषित कर रहा है ।इन अनर्गल प्रलापों का परिणाम यह निकला कि ज्योतिबा को कुछ ही समय के बाद उनके पिता ने विद्यालय से बाहर निकाल लिया, और बालक ज्योतिबा के पास और कोई रास्ता नहीं बचा था।वे पिता की सहमति के बिना कुछ नहीं कर सकते थे और उनके पिता कुछ अनर्गल प्रलापियों के बहकावे में आ गए थे। पढ़ाई को बीच में छोंड़ने का दर्द उनके सीने में नासूर की तरह से हो रहा था।

ज्योतिबा की प्रारम्भिक पढ़ाई छोड़ने का कारण:

ज्योतिबा पढ़ाई छोंड़कर अपने पिता गोविन्दराव के साथ खेतों में काम करने लगे, उनके इस कार्य से उनके पिता सन्तुष्ट तो हो गये थे, लेकिन ज्योतिबा दिन भर खेतों में काम करने के बावजूद भी रात को घर में आकर पढ़ाई करते थे। वे रात में दीपक की रोशनी में पुस्तके पढ़ते रहते थे। यह देखकर ज्योतिबा के दो पड़ोसी विद्वानों ने गोविन्दराव जी को समझाया कि ज्योतिबा एक मेधावी तथा प्रखर बुद्धि का बालक है और उसकी तर्क-बुद्धि भी लोगों को प्रभावित करने वाली है, इसलिए आप उसको पढ़ाइये तथा उसको विद्यालय भेजिए। विद्यालय जाने से कोई भी धर्म विरोधी नहीं होता है और ना ही अपने धर्म का परिवर्तन करता है। उन विद्वानों द्वारा नाना प्रकार से समझाने पर गोविन्दराव जी ने उनकी बातों पर मनन किया और यह महसूस किया कि उन्होंने अपने पुत्र की पढ़ाई रोक कर उसके तीन वर्ष व्यर्थ में बर्बाद कर दिये । उसके बाद गोविन्दराव जी ने वर्ष 1841 में ज्योतिबा कोस्कॉटिश मिशन अंग्रेजी विद्यालय में भर्ती करवा दिया।अपने विद्यालय में ज्योतिबा अपने सहपाठियों से अधिक आयु के थे लेकिन वे उन सभी से पढ़ाई में कुशाग्र बुद्धि के थे | पढ़ाई में होशियार और तेज होने के कारण वे प्रत्येक परीक्षा में प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त कर अपने अध्यापकों के प्रिय छात्र बन गये थे, जिसकी वजह से उनके सहपाठी भी

उनका उचित आदर और सम्मान करने लगे। इसी दौरान उनकी मित्रता सदाशिव गोवंडे से हुई। वे दोनों ही मित्र बड़े उत्साही व महत्वाकांक्षी थे, उन्होंने भारत के महान सपूतों की कहानियां बड़े उत्साह व ध्यान से पढ़ीं और उनसे देश प्रेम के सन्दर्भ में बहुत सी प्रेरणा प्राप्त की।

वर्ष 1844 में गोवंडे पूना संस्कृत कॉलेज में अध्यापक नियुक्त हो गये, लेकिन ज्योतिबा ने अपना अध्ययन बनाए रखा और उन्होंने विद्यालय की अन्तिम परीक्षा वर्ष 1847 में उत्तीर्ण कर ली। तब अंग्रेजी विद्यालय में सातवीं कक्षा तक की ही पढ़ाई होती थी, इसके आगे उच्च शिक्षा के लिए कोई संस्थान नहीं हुआ करता था। तब तक उन्हें यह पूर्णतया विश्वास हो गया था कि गुलामी का मुख्य कारण मानसिक है। विदेशी सत्ता से संघर्ष तो मात्र एक दिखावा है और बाहरी है। वास्तविक संघर्ष तो अन्दर की इस निर्दय व्यवस्था से करना है, जो सदियों से यहां डेरा जमाए हुए है। इसी व्यवस्था ने समाज के एक वर्ग को स्थायी रूप से कमजोर बनाकर अपमान, दरिद्रता और अभावों की अंधेरी खाइयों में फेंक दिया है।

प्रथम बार ज्योतिबा का अपमान से सामना होना:

वर्ष 1848 के प्रारम्भिक दौर की घटना है कि ज्योतिबा अपने एक घनिष्ठ उच्च वर्ग के मित्र के विवाह में सम्मिलित होने के लिए जार हे थे। ज्योतिबा अपने मित्र की बारात के साथ-साथ चल रहे थे, उसी समय कुछ कट्टरपंथियों ने उन्हें पहचान लिया और सोचने लगे कि एक निम्न माली जाति का लड़का भूदेवों की बारात में साथ-साथ चल रहा है , इस दृश्य से कट्टरपंथी ब्राह्मण अत्यधिक क्रोधित होकर बोले कि हे निम्न कुलीन बालक तुम्हारी ओर से हमारी बारात में आने का क्या कारण है तथा तुमने इस बारात में सम्मिलित होकर हमारे सभी नियमों को तोड़ा है , तुम अपने आप को हमारे समकक्ष समझने लगे हो जो कि न तुम अभी हो और न ही हो सकते हो।तुमको हमारी बारात में सम्मिलित होने से पूर्व कई बार इस बात का स्मरण होना चाहिए था कि तुम अभी इस योग्य नहीं हुए हो कि हमारी बारात में हमारे साथ चल रहे हो। इतनी डांट सुनकर ज्योतिबा हत प्रभ रह गये और एक टक उसको निहारते रह गये।

उस समय ज्योतिबा को यह जानकर अत्यन्त दुःख हुआ कि दलित वर्ग को उच्च वर्ग के साथ एक रास्ते पर चलने तक का अधिकार नहीं है, तथैव कुत्ते, बिल्ली तथा अन्य जानवर उनके साथ चल सकते हैं, परन्तु अभी हम नहीं चल सकते हैं। इन्होने सभी बातों का मनन किया और इस निष्कर्ष पर पहंुचे कि इन सभी अनर्थों की जड़ में केवल और केवल जाति प्रथा ही विद्यमान है। जाति प्रथा एकता, संगठन और सांस्कृतिक जीवन की शत्रु है, हमें इसे समाप्त कर नष्ट करना होगा। ऐसी विषय सामाजिक परिस्थिति का आंकलन एवं अनुभव ज्योतिबा ने किया और उन्होने अनुभव किया कि सामाजिक गुलामी, राजनैतिक गुलामी से अधिक बदतर है। ऐसी स्थिति में महात्माफुले ने दृढ़ संकल्प किया कि कट्टरतावादी समाज व्यवस्था को ध्वस्त कर समता, स्वतंत्रता, भाईचारा और सामाजिक न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना होगा।

निष्कर्ष:

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ज्योतिबाफुले का जीवन बाल्यकाल से ही संघर्षों से परिपूर्ण था , कभी विद्यालय जाने के लिए संघर्ष तो कभी मित्रों के साथ बैठने के लिए संघर्ष। संघर्ष पग पग पर उनके साथ सदैव विद्यमान रहता था तभी उन्होने जाति प्रथा को समाप्त करने का विचार अपने मन में बनाया और उन्होने यह भी सोचा कि यदि अभी अंग्रेज भारत को छोंड़कर चले जाएंगे तो भारत आजाद तो हो जायेगा, परन्तु भारत जाति प्रथा से कभी मुक्त नहीं हो पायेगा। इस प्रकार से ज्योतिबा ने अपनी प्रारम्भिक पढ़ाई पूर्ण करके जाति प्रथा से लड़ने एवं उसे समाप्त करने के लिए उद्यत हो उठे।

सन्दर्भ सूची

1.ज्योतिराव फुले सत्य शोधक समाज पूना का निबन्ध और भाषण प्रतियोगिता सभारम्भ।

2.ज्योतिरावफुले- सत्य शोधक समाज के लिये उपयुक्त मंगल गाथा में तथा सभी पूजा: विधि जून 1837

3.जिया लाल आर्य- ज्योतिपूंज महात्मा फुले, नई दिल्ली, 1992

4.डा.बृजलाल शर्मा- महात्मा ज्योतिराव फुले इलाहाबाद , 1980

5.डी.के.खापरेड़ – महात्मा ज्योतिराव फुले, दिल्ली, 1990

6.कन्हैया लाल चंचरिक – महात्मा ज्योतिबा फुले, दिल्ली, 1998

7.लक्ष्मण शास्त्री जोशी तर्क तीर्थ- ज्योतिराव फुले, दिल्ली 1982

8.डी.आर.जाटव - भारतीय समाज एवं विचार धाराएँ, जयपुर, 1997

9. अभिलाष दास – फुले और पैरियार- कबीर पाख, इलाहाबाद, 1998

*****

Nature, Biodiversity and Indian knowledge system: Philosophical inquiry

-Dr. Abhishek Upadhyay
Assistant Professor,
Department of Philosophy,
University of Delhi,
New Delhi-110007
E-mail-aupadhyay@philosophy.du.ac.in

-Swati Kumari
Department of Philosophy,
University of Delhi,
New Delhi-110007
Email- swatiphilo98@gmail.com

Abstract
Indigenous Knowledge (IK), also known as Traditional Ecological Knowledge (TEK), represents a rich, dynamic, and context-specific system of understanding that Indigenous communities have developed and sustained over generations. This knowledge encompasses not only empirical observations of ecological systems but also cultural values, spiritual beliefs, and sustainable practices that together form a holistic approach to managing natural resources. This paper explores the vital role of Indigenous Knowledge in biodiversity conservation, emphasizing its relevance in addressing contemporary environmental challenges.

Drawing on both historical texts and ethnographic examples, the paper illustrates how Indigenous communities worldwide have maintained ecological balance through methods that are environmentally sustainable and socially cohesive. These practices are not isolated; they are embedded in a broader philosophical and religious framework derived from ancient Indian texts such as the Vedas and Upaniṣads. Concepts like *Ṛta* (cosmic order), *Dharma* (moral duty), and Vasudhaiva Kuṭumbakam (the world as one family) reflect a spiritual ecology that venerates nature and advocates harmonious coexistence with all forms of life. The paper also highlights Indigenous communities that possess sophisticated ecological knowledge that promotes biodiversity through controlled use of natural resources, intercropping systems, water management techniques, and cultural taboos that act as conservation tools.

Furthermore, the paper argues that the integration of Indigenous Knowledge into modern environmental policy and biodiversity conservation strategies is not only necessary but urgent. The undervaluation and marginalization of Indigenous voices in environmental discourse overlook powerful models of sustainability. Indigenous Knowledge offers not just practical tools for conservation but also a worldview that challenges exploitative paradigms of nature and re-orients environmental ethics toward reciprocity, respect, and responsibility. Through this examination, the paper concludes that Indigenous Knowledge should be recognized as an essential component of global biodiversity frameworks. Bridging scientific and Indigenous approaches can lead to more resilient, culturally appropriate, and ethically grounded conservation efforts.

Keywords: Biodiversity, ecology, indigenous, conservation, epistemology, environmental ethics

INTRODUCTION

Indigenous knowledge (IK), also known as traditional ecological knowledge (TEK), refers to the accumulated knowledge, practices, and beliefs of indigenous communities regarding their environment, passed down through generations. It encompasses sustainable resource management, biodiversity conservation, and ecological relationships. Berkes defines indigenous knowledge as "a cumulative body of knowledge, practice, and belief, evolving by adaptive processes and handed down through generations by cultural transmission, about the relationship of living beings (including humans) with one another and with their environment." [1]For example, the Bishnoi community in Rajasthan follows a conservation ethic deeply rooted in their religious and cultural traditions. They protect trees and wildlife, even at personal cost, as seen in the 1730 Khejarli Massacre, where 363 Bishnoi people sacrificed their lives to prevent the cutting of Khejri trees (Prosopis cineraria). Their conservation efforts continue today, contributing to biodiversity preservation in arid regions. Moreover, Posey describes indigenous knowledge as "a dynamic system

of understanding that includes observations, interpretations, and adaptations to the local ecosystem, which helps in sustainable management of natural resources."[2] For example, In Ladakh, traditional water conservation systems such as 'Zing' (small water reservoirs) and 'Ice Stupas' (artificial glaciers) have been used for centuries to store and distribute water efficiently.

Further, Indigenous knowledge systems resonate deeply with ancient Indian philosophical thought, including the *Upaniṣads*, which emphasize the interconnectedness of all beings and the Dharma (moral duty) to live harmoniously with nature. The principle of *Vasudhaiva Kuṭumbakam* "the world is one family" from the *Mahā Upaniṣad* reflects an ecological worldview in which humans are not dominators of nature but integral parts of a living, sacred system[3]. The *Atharva Veda* contains hymns extolling the Earth as a mother (*Bhūmī Sūkta*), highlighting the reciprocal relationship between human well-being and the health of the environment: "Mātā bhūmiḥ putro'haṃ pṛthivyāḥ"- "Earth is my mother, I am her son"[4]. This sacred bond reinforces the *Dharma* (duty) to protect forests, rivers, animals, and other elements of nature. The *Ṛgveda* acknowledges various elements like the sun, wind, water, and fire as divine beings deserving reverence and care. Additionally, the Manusmṛti and Yājñavalkya Smṛti established ethical guidelines for interactions with plants and animals, incorporating penalties for damaging trees or slaughtering creatures in safeguarded woodlands. The idea of Ṛta (universal order) present in the Ṛgveda, emphasizes that sustainability is not merely a practical issue but also a spiritual necessity. Any disturbance to this arrangement due to the exploitation or disregard for nature was viewed as an ethical issue violation. The veneration of trees like the Aśvattha (Peepal), rivers such as the Gaṅgā, and Creatures such as the cow (Gau), snake (Nāga), and elephant (Gaja) exemplify the profound connection of respect for biodiversity in religious practices. Farming practices in ancient India, like combined cropping and seasonal water collection methods, synchronized with ecological patterns and guaranteed sustainable longevity. Works such as Kṛṣi-Parāśara highlight the importance of soil preservation, crop rotation, and the benefits of organic fertilizers. Methods for conserving water, like step-wells (bāvarī), tanks and canals exemplify sophisticated environmental engineering grounded in dharmic principles.

Now, Indigenous knowledge (IK) plays a crucial role in biodiversity conservation by offering sustainable and holistic approaches to ecosystem management. Rooted in centuries-old traditions and cultural practices, Indigenous communities have developed effective methods for preserving biodiversity through sustainable resource use, habitat protection, and ecological balance. Indigenous communities practice resource management techniques that prevent over exploitation and ensure long-term sustainability. For example, the 'Apatani tribe' of Arunachal Pradesh follows an integrated rice-fish farming system, where fish are raised in flooded rice fields. This enhances soil fertility, reduces pests naturally, and ensures sustainable food production without chemical inputs. The Maasai people of East Africa manage grazing lands using rotational grazing, preventing overgrazing and ensuring the regeneration of plant species. Many Indigenous cultures consider certain forests, rivers, or mountains sacred, leading to their protection from exploitation. The Sacred Groves of the Khasi and Garo tribes in Meghalaya are untouched forest areas protected by spiritual and cultural beliefs. These groves act as biodiversity hotspots, preserving rare plant and animal species. The 'Kayapo people' of Brazil actively protect their Amazonian lands from deforestation, preserving crucial habitats for numerous species. Moreover, indigenous farming techniques promote biodiversity by cultivating multiple species together and avoiding monoculture. For example, in the 'Ziro Valley', the Apatani people cultivate diverse crop varieties in a single field, enhancing soil fertility and preventing the spread of crop diseases. The 'Three Sisters farming system' of Native American tribes interplants maize, beans, and squash, fostering soil health and reducing pest attacks. Further, many Indigenous groups use controlled burns to manage forests and prevent destructive wildfires. For example, the 'Kurumba tribe' of the Nilgiris traditionally practices controlled burning to clear dry vegetation, reducing the risk of large-scale wildfires while promoting the growth of new plants. Indigenous Australians use 'fire-stick farming' to rejuvenate grasslands and maintain animal habitats. Further, Indigenous knowledge systems often enforce taboos against hunting or harming certain species, aiding conservation efforts. For example, the 'Bishnoi community' of Rajasthan follows strict conservation ethics, protecting animals like the blackbuck (Antilope cervicapra) and preventing deforestation. In Madagascar, the 'Malagasy people' revere certain lemur species, pro-

tecting them from hunting and habitat destruction. Moreover, Indigenous water conservation systems help maintain ecosystems and prevent water scarcity. For example, In Ladakh, traditional 'Zing' (small reservoirs) and 'Ice Stupas' (artificial glaciers) store and gradually release water during dry months, supporting agriculture and local biodiversity. The 'Inca civilization' built advanced terrace irrigation systems in the Andes, preserving soil moisture and preventing erosion.

INDIGENOUS KNOWLEDGE AND SCIENTIFIC PARADIGM

The dominant scientific paradigm, rooted in empirical observation, experimentation, and reductionist methodologies, has historically shaped conservation policies and environmental management strategies. However, Indigenous Knowledge (IK) presents an alternative epistemological framework that is holistic, relational, and deeply embedded in cultural and spiritual worldviews. This fundamental difference challenges the dominant scientific paradigm in several key ways.

First, Indigenous Knowledge emphasizes interconnectivity, viewing ecosystems not as discrete, mechanistic systems but as complex, interdependent relationships between humans, animals, plants, and natural forces. Unlike Western science, which often isolates variables to study them in controlled environments, Indigenous epistemology recognizes the emergent properties of ecosystems that cannot be fully understood through reductionist approaches. For example, the Indigenous concept of "kincentric ecology"[5] acknowledges that humans are part of nature, rather than separate from it. This directly parallels the concept of *Ṛta* found in the *Ṛgveda*, which signifies the cosmic order and harmony binding all forms of existence into a balanced whole. Any disruption to this order, such as through environmental degradation, is seen as a moral and cosmic imbalance, not just an ecological issue.

Second, Indigenous Knowledge values experiential and place-based knowledge, often acquired through centuries of direct interaction with local ecosystems. While scientific knowledge tends to prioritize universal laws and reproducibility, Indigenous Knowledge is highly context-specific, adapting to environmental changes through oral traditions, cultural practices, and embodied experiences. Ancient Indian texts reflect this localized understanding through treatises like the *Kṛṣi-Parāśara*, which provides agricultural guidance based on climatic zones, soil types, and seasonal rhythms. Practices such as rotational farming, composting, and water harvesting, detailed in these texts, highlight adaptive ecological management rooted in generational experience rather than abstract generalization. For instance, the shifting agricultural practices of the 'Apatani tribe' in Arunachal Pradesh, which involve alternating wet and dry rice cultivation to maintain soil fertility, reflect a form of adaptive ecological management that scientific models may struggle to quantify in a standardized manner.

Third, Indigenous epistemologies often integrate spiritual and ethical dimensions into ecological understanding, something largely absent from Western scientific discourse. Many Indigenous communities consider nature sacred, and conservation is not merely a practical endeavor but a moral responsibility. Such worldviews, embodied by communities like the Bishnois of Rajasthan, challenge the Western scientific assumption that conservation decisions should be guided solely by data, rather than ethical or spiritual imperatives. The 'Bishnoi community' of Rajasthan, for instance, follows a centuries-old ethical code that prohibits harming trees and animals, a worldview that goes beyond empirical observation to incorporate normative principles of environmental stewardship. This challenges the assumption in Western science that conservation should be guided solely by data-driven decision-making, rather than ethical imperatives. Moreover, the *Atharva Veda*'s *Bhūmī Sūkta* declares: "Mātā bhūmiḥ putro'haṃ pṛthivyāḥ"-"Earth is my mother, I am her son". This deep spiritual connection to the Earth implies a duty of care and non-violence. Similarly, the *Manusmṛti* prescribes penalties for harming trees and animals, emphasizing dharma as inclusive of environmental ethics. The *Mahā Upaniṣads* notion of *Vasudhaiva Kuṭumbakam* (the world is one family) extends moral consideration to all living beings.

Despite these challenges to the dominant scientific paradigm, Indigenous Knowledge and scientific approaches need not be in conflict. Scholars such as Berkes advocate for "bridging epistemologies", arguing that integrating Indigenous and scientific perspectives can lead to more comprehensive conservation strategies.[6] For example, collaborative projects in the Arctic have successfully combined Inuit observations of ice conditions with satellite data to improve climate models. Ancient Indian traditions similarly offer

models for such integration. Temple-based water management systems in South India, combining ritual and hydraulic engineering, illustrate how spiritual and empirical knowledge coexisted in traditional Indian societies. Such approaches highlight the potential for epistemic pluralism, where multiple ways of knowing contribute to a more holistic understanding of biodiversity conservation. Thus, Indigenous Knowledge including that found in ancient Indian texts challenges the dominant scientific paradigm by offering a relational, experiential, and ethical framework that contrasts with Western science's empirical, universal, and often mechanistic approach. Identifying and incorporating these epistemologies not only improves ecological results but also promotes a more equitable and inclusive environment Dialogue. Recognizing and integrating such epistemologies not only enhances ecological outcomes but also fosters a more inclusive and just environmental discourse.

Now, ontologically, does Indigenous Knowledge represent a fundamentally different way of relating to nature compared to Western scientific approaches, and if so, what are the implications for conservation?

The relationship between humans and nature differs fundamentally in Indigenous Knowledge (IK) systems and Western scientific approaches. While Western science typically adopts a mechanistic and reductionist view, focusing on measurable and universal principles governing ecosystems, Indigenous Knowledge including ancient Indian thought is holistic, relational, and context-dependent. This ontological divergence has significant implications for biodiversity conservation, influencing how conservation policies are designed, implemented, and sustained**.**

Indigenous Knowledge is based on 'holism', which recognizes the interconnectedness of all living and non-living entities. It often incorporates 'cultural, ethical, and spiritual dimensions' in understanding nature, seeing humans as an inseparable part of the ecological system. This worldview mirrors ancient Indian ontologies articulated in the *Wgveda* and *Upaniṣads*, where nature is not an object of management but a sacred reality. The *Wgveda* invokes *Ṛta*, the cosmic order that governs the balance and integrity of the universe, including ecological systems. Human beings are expected to uphold this order through *dharma* (righteous action) and harmonious coexistence with all beings. The *Atharva Veda*'s *Bhūmī Sūkta* states: "Mātā bhūmiḥ putro'haṃ pṛthivyāḥ". This not only affirms kinship with the Earth but also implies moral accountability toward it. Such perspectives resonate with the conservation ethic of the Bishnoi community, who sacrificed their lives in the 1730 Khejarli Massacre to prevent deforestation. Their actions reflect *dharma* (duty), rather than a utilitarian calculus. In contrast, Western scientific approaches to conservation are often 'reductionist', focusing on quantifiable aspects such as species population, genetic diversity, and ecosystem functions. While this methodology allows for precision and predictive modeling, it sometimes overlooks the broader ecological relationships that Indigenous Knowledge systems have understood for centuries. Gadgil et al. note that "while Western science isolates variables for study, Indigenous Knowledge perceives ecosystems as living wholes, where changes in one component affect the entire system."[7] For instance, the Green Revolution in India exemplifies a reductionist paradigm like monoculture, synthetic inputs, and mechanical irrigation leading to ecological degradation. Conversely, Indigenous agricultural practices like *Zabo* farming in Nagaland or *multi-cropping* in the Northeast exemplify what the *Kṛṣi-Parāśara*, describes that is, context-sensitive, cyclical, and ecologically adaptive farming. These approaches conserve biodiversity while ensuring food and water security.

Western conservation strategies often emphasize control and exclusion, based on the premise that human presence disturbs ecological balance. Adams & Mulligan argue that "the fortress conservation model, dominant in Western approaches, disregards Indigenous land rights and ecological stewardship."[8] For Example, In 'Kaziranga National Park, Assam', conservation policies have resulted in the forced displacement of Indigenous communities, despite their long history of coexistence with local wildlife. This stands in stark contrast to the *smwti* texts such as the *Manusmṛti* and *Yājñavalkya Smwti*, which outline environmental duties within a broader ethical framework, assigning spiritual merit to the protection of forests and wildlife. Ancient Indian sacred groves (*devārāṇya*), still preserved by communities like the Khasi and Garo of Meghalaya, are governed not by external enforcement but by spiritual taboos and communal ethics. These groves align with the *Purāṇic*

conception of sacred geography, where forests, rivers, and mountains are abodes of divine presence, and harming them incurs spiritual consequences[9]. Another key difference between Indigenous and Western approaches is how conservation strategies are adapted to local ecological conditions. Indigenous conservation strategies often come from a place of hands-on experience with the environment, while Western methods tend to lean on broad, "one-size-fits-all" scientific ideas. Indigenous knowledge grows out of everyday living through storytelling, long-term observation, and intuition built up over generations. As Agrawal puts it, "Indigenous Knowledge is context-specific and dynamic, adapting to environmental fluctuations over centuries."[10] For example, the Apatanis of Arunachal Pradesh, practice a distinctive wet-rice and fish cultivation system that not only saves water but also gives a boost to soil fertility. This method stands in contrast to modern irrigation projects, which because of their large-scale, fixed nature can drain water resources and speed up soil erosion. On the other hand, Western conservation efforts usually enforce universal policies derived from standardized scientific principles. While these policies can work in many cases, they often miss the subtleties of local ecological wisdom and adaptive practices found among Indigenous communities. For instance, when genetically modified crops were introduced in India to boost productivity, the approach largely ignored the rich diversity of traditional seed varieties. In contrast, Indigenous farmers have maintained seed diversity through community seed banks and informal seed-sharing networks, thereby enhancing resilience to climate variations. All in all, rather than sticking to just one kind of knowledge, blending Indigenous insights with scientific methods might be the key to crafting conservation strategies that are inclusive, sustainable, and truly effective. Whyte proposed that "epistemic justice in conservation means that Indigenous Knowledge be accommodated not as supplementary, but as an equally valid way of knowing the environment. "[11] Ancient Indian traditions support this pluralism. For instance, *Sāmkhya* and *Yoga* philosophies explain *prakwti* (nature) as a dynamic interplay of elements, encouraging harmony rather than domination. This cosmology fosters not only ecological ethics but ontological humility. In India, initiatives like Joint Forest Management (JFM) attempt to blend traditional ecological knowledge with state mechanisms. Yet, unless rooted in mutual respect for ontological frameworks, such initiatives risk instrumentalizing Indigenous Knowledge rather than honoring it as a worldview. Therefore, Indigenous Knowledge that is embedded in ancient Indian texts presents a fundamentally different way of relating to nature. It is ontologically relational, spiritually grounded, and ethically robust. Embracing this worldview in biodiversity conservation can transform our approach from management to kinship, from exploitation to reverence, and from control to coexistence.

Now, from an ethical standpoint, should modern conservation policies be morally required to incorporate Indigenous Knowledge, or is this simply a practical consideration?

While some argue that inclusion of Indigenous Knowledge improves conservation outcomes practically, others assert that it is an ethical imperative rooted in historical injustices and the recognition of Indigenous sovereignty. Ancient Indian traditions, embedded in the *Vedas*, *Smṛtis*, *Upanishads*, and *Purāṇas*, further support this moral obligation through a dharmic vision of environmental justice and reciprocity.

1. thical Basis: Indigenous Rights and Environmental Justice

Indigenous Knowledge systems have sustained biodiversity for millennia, yet modern conservation policies have often marginalized Indigenous voices. Ethical considerations stem from colonial histories, land dispossession, and exclusionary conservation practices, which have displaced Indigenous communities under the guise of protection. Schlosberg & Carruthers argue that "environmental justice requires not only equitable access to resources but also recognition of Indigenous worldviews and governance systems in conservation efforts."[12] The *Atharva Veda* declares the Earth as a mother and calls for respectful coexistence: "Mātā bhūmiḥ putro'haṃ pṛthivyāḥ". The *Wgveda* invokes *Wta* (the moral and cosmic order) to which humans are duty-bound to uphold. Disrupting this equilibrium is regarded as not only an ecological issue but also a moral and sacred wrongdoing. In contemporary India, initiatives like the relocation of Mising and Karbi Communities surrounding

Kaziranga National Park show a significant departure from this conventional ethic. The United Nations Declaration on the Rights of Indigenous Peoples (UNDRIP, 2007) further echoes this principle, affirming Indigenous peoples' rights to maintain and develop their knowledge systems. Ancient Indian law texts like the *Manusmṛti* similarly prescribe punishments for harming forests, animals, and water bodies, recognizing these elements as entities with intrinsic worth, not mere resources.

2. Pragmatic Perspective: Indigenous Knowledge as a Conservation Tool

From a pragmatic standpoint, integrating Indigenous Knowledge enhances conservation outcomes. Practices like *Zabo farming* in Nagaland or the sacred groves of the Western Ghats demonstrate locally adapted, sustainable systems that predate modern ecological science. These practices align with guidance found in ancient Indian texts such as *Kṷi-Parāśara*, which advocates for seasonally adjusted cropping, soil conservation, and community stewardship of land. Similarly, fire management practices by Aboriginal Australians mirror ancient Indian traditions of controlled ritual burning, documented in *Purāṇic* rituals for forest rejuvenation. The effectiveness of such practices underscores that Indigenous Knowledge is not anecdotal but deeply empirical, albeit within a different epistemological framework.

3. Epistemic Justice: Valuing Diverse Ways of Knowing

The failure to integrate Indigenous Knowledge is not just an omission but it represents an *epistemic injustice*. Historically, Western science has dismissed Indigenous knowledge as non-rational or unscientific. However, ancient Indian epistemology particularly in the *Nyāya* and *Vedānta* schools recognizes multiple *pramāṷas* (means of knowledge), including perception (*pratyakʲa*), inference (*anumāna*), and verbal testimony (*śabda*). This pluralism validates oral transmission and community wisdom as legitimate forms of knowledge. For instance, the Sacred Groves in India are protected based on *śruti* (hearing) and *smṷti* (memory) traditions, with ecological principles encoded in rituals and taboos. Yet modern conservation often ignores these systems, privileging satellite imagery and biodiversity indices over millennia of human-nature interaction. Nepstad et al. (2006) show that Indigenous-managed lands in the Amazon have lower deforestation rates than state-controlled reserves. Likewise, research shows that sacred groves in India preserve some of the richest biodiversity but receive little formal recognition underscoring the structural epistemic bias against non-Western knowledge systems.

4. Moving Beyond Tokenism: Ethical Implementation of Indigenous Knowledge

A challenge in integrating Indigenous Knowledge into conservation is the risk of 'tokenism' where Indigenous perspectives are acknowledged but not meaningfully incorporated into policy decisions. The ethical obligation extends beyond inclusion; it requires co-management, legal recognition, and Indigenous leadership in conservation governance. Kimmerer advocates for "a reciprocal approach where Indigenous Knowledge is not merely extracted but respected as part of a collaborative governance model." For example, in Canada, the establishment of Indigenous Protected and Conserved Areas (IPCAs), such as the Thaidene Nëné National Park Reserve, ensures that Indigenous groups are not just consulted but are the primary decision-makers in conservation planning.

The Forest Rights Act (2006) recognizes the traditional rights of Indigenous communities over forests, but its implementation has been inconsistent. Many Indigenous groups, such as the 'Dongria Kondh in Odisha', continue to struggle for recognition despite their long history of sustainable forest management.Therefore, while the pragmatic benefits of Indigenous Knowledge in conservation are well-documented, the ethical imperative is equally compelling. Ancient Indian thought reinforces that knowledge, governance, and ethics must be inclusive, relational, and grounded in justice. Recognizing Indigenous Knowledge is about more than conserving biodiversity. It is about honoring rights, restoring justice, and decolonizing our environmental worldview. Fulfilling this obligation requires 1) 'Legal recognition' of Indigenous land rights 2) 'Co-management frameworks' that center Indigenous leadership 3) 'Epistemic justice' by valuing Indigenous Knowledge as equal to Western scientific approaches. Only by embracing these ethical dimensions can conservation

efforts become truly sustainable, just, and transformative.

Conclusion

To conclude, the integration of Indigenous Knowledge into biodiversity conservation is both a pragmatic necessity and an ethical obligation. Rooted in a rich history of holistic environmental stewardship, India's Indigenous communities have long demonstrated sustainable practices that embody the interconnectedness of humans and nature. The Bishnoi's conservation ethics, the sacred groves of Meghalaya, the Apatani agricultural systems of Arunachal Pradesh, and the Zabo farming practices in Nagaland are testaments to the depth of Traditional Ecological Knowledge (TEK) in India. These practices maintain biodiversity while also supporting cultural, spiritual, and philosophical values that are grounded in ancient Indian traditions. Ideas from the Upaniṣads, like Vasudhaiva Kuṭumbakam ("the world is one family") and Ṛta (universal order), together with respect for the Earth in the Bhūmī Sūkta, strengthen the sacred connection linking humanity and nature. This perspective regards biodiversity conservation not only as a technical endeavor but as a dharmic duty rooted in respect, reciprocity, and sustainability.

Nevertheless, the prevalence of Western conservation frameworks in India, including the fortress conservation model and broad, reductionist methods, has frequently sidelined Indigenous perspectives and uprooted communities, as evidenced by the removal of the Mising and Karbi populations in Kaziranga National Park. This knowledge and moral neglect has resulted in environmental mismanagement, social inequities, and the deterioration of age-old knowledge systems. However, by valuing Indigenous Knowledge not as supplementary but as central to conservation efforts, India can lead the way in creating a just and equitable model of environmental stewardship i.e one that bridges the gap between traditional wisdom and modern science to safeguard biodiversity for future generations.

Bibliography

1. Adams, William M., and Martin Mulligan. *Decolonizing Nature: Strategies for Conservation in a Post-Colonial Era*. London: Earthscan, 2003.

2. Agrawal, Arun, and Kent Redford. "Conservation and Displacement: An Overview." *Conservation and Society* 7, no. 1 (2009): 1–10.

3. Atharva-Veda Samhita. Translated by William Dwight Whitney. Vol. 2. Cambridge, MA: Harvard University Press, 1905.

4. Berkes, Fikret, Johan Colding, and Carl Folke. "Rediscovery of Traditional Ecological Knowledge as Adaptive Management." *Ecological Applications* 10, no. 5 (2000): 1251–1262.

5. Escobar, Arturo. "Whose Knowledge, Whose Nature? Biodiversity, Conservation, and the Political Ecology of Social Movements." *Journal of Political Ecology* 5, no. 1 (1998): 53–82.

6. Gadgil, Madhav, Fikret Berkes, and Carl Folke. "Indigenous Knowledge for Biodiversity Conservation." *Ambio* 22, no. 2–3 (1993): 151–156.

7. Kimmerer, Robin Wall. *Braiding Sweetgrass: Indigenous Wisdom, Scientific Knowledge, and the Teachings of Plants*. Minneapolis: Milkweed Editions, 2013.

8. Kothari, Ashish, Phil Camill, and Jessica Brown. "Conservation as if People Also Mattered: Policy and Practice of Community-Based Conservation." *Conservation and Society* 10, no. 1 (2012): 1–15.

9. Nepstad, Daniel, Stephan Schwartzman, Benjamin Bamberger, Marcio Santilli, David Ray, Peter Schlesinger, and Alencar Rolla. "Inhibition of Amazon Deforestation and Fire by Parks and Indigenous Lands." *Conservation Biology* 20, no. 1 (2006): 65–73.

10. Posey, Darrell A. *Cultural and Spiritual Values of Biodiversity*. London: Intermediate Technology Publications, 1999.

11. Salmon, Eduardo. "Kincentric Ecology: Indigenous Perceptions of the Human–Nature Relationship." *Ecological Applications* 10, no. 5 (2000): 1327–1332.

12. Schlosberg, David, and David Carruthers. "Indigenous Struggles, Environmental Justice, and Community Capabilities." *Global Environmental Politics* 10, no. 4 (2010): 12–35.

13. Warrier, A. G. Krishna, trans. *Mahā Upanishad*. Chennai: The Theosophical Publishing House, 1981.

14. Whyte, Kyle. "Settler Colonialism, Ecology, and Environmental Injustice." *Environment and Society* 9, no. 1 (2018): 125–144.

सपर्क भाषा के रूप में हिन्दी: संप्रधायिक सद्भावना का प्रतिक

-टोकपेट पेर्टिन
सहायक आचार्य
जवाहरलाल नेहरू कॉलेज, पासीघाट
अरुणाचल प्रदेश

भारत विभिन्न जातियों का निवास स्थान हैं। विभिन्न जातियाँ होने से अनेक बोलियाँ एवं भाषाएँ बोली जाती हैं। विविधता भारत की विशेषता हैं। विद्वानों के अनुसार आर्यों के आगमन से पूर्व भी यहाँ नेग्रिटों, आस्ट्रिक, किरात, द्रविड़ आदि जातियाँ भारत में बस गयी थी। इन जातियों की भाषाओं को ही भारतीय भाषाओं की संज्ञा प्राप्त हुई है। प्राचीनकाल से ही भारत में विभिन्न भाषा-भाषी के होते हुए भी विविधता में एकता की भावना होती आयी है। भाषाई एवं सांस्कृतिक एकता ने ही विविध बहुभाषी भारत को एक सूत्र में बांधा है। भारत में बहुभाषिक इतिहास को देखा जाय तो प्राचीनकाल में संस्कृत भाषा प्रचलित थी, जिससे अधिकांश आधुनिक भारतीय भाषाएँ उत्पन्न हुई है। मुसलमान सत्ता के भारत में आने से अरबी-फारसी भाषाएँ भी भारत में उर्दू भाषा के रूप में आई। अंग्रेजों के आने के पश्चात अँग्रेजी भाषा भी भारत में प्रचलित होने लगी। भारत के विभिन्न प्रदेशों में भी उनकी अपनी प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित थी। स्वतन्त्रता संग्राम के समय हिन्दी को आंशिक रूप से संपर्क भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। स्वतन्त्रता सेनानियों ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में क्रांति का संदेश देने के लिए हिन्दी को दो भिन्न भाषाओं के मध्य संपर्क करने के लिए हिन्दी का प्रयोग किया है। संपर्क भाषा से तात्पर्य देश के भिन्न-भिन्न भाषाओं और बोलियों के बीच भाषाई आदान-प्रदान करना। आज़ादी के बाद हिन्दी को भारतीय संविधान में राजभाषा के रूप में स्वीकार किया गया।

हिन्दी के अतिरिक्त संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल 22 भाषाएँ देश की शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक उन्नति के लिए आवश्यक है। राष्ट्र एवं प्रदेश की विकास के लिए इन भाषाओं का विकास होना आवश्यक है। हिन्दी इन्हीं आठवीं अनुसूची में शामिल अनेक भारतीय भाषाओं के मध्य संपर्क भाषा के रूप में व्यवहृत हुआ। भारतीय भाषाओं के मध्य हिन्दी का संपर्क भाषा बनने की अपनी सांस्कृतिक कारण है। क्योंकि हिन्दी राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना से जुड़ी हुई है। भाषा की संपन्नता उसकी इतिहास, सभ्यता, संस्कृति आदि से देखा जा सकता है। किसी राष्ट्र की अस्मिता उस राष्ट्र के लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा और उनके परिवेश से जुड़ी रहती है। भारत की अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी की जननी भाषा भी संस्कृत है। हिन्दी भाषा में संस्कृत के शब्दों का समावेश है जिससे अन्य भाषाओं को समझने में आसान प्रतीत होता है।

संपर्क भाषा ही अन्य भाषा-भाषियों, बोलियों, संस्कृतियों, राज्यों एवं देश को जोड़ते है। दो भिन्न बोलियाँ बोलने वाले संपर्क भाषा के अभाव में आपस में विचार विनिमय नहीं कर सकता है। अत: दो भिन्न भाषाओं के मध्य एक संपर्क भाषा की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है। संपर्क भाषा भिन्न-भिन्न भाषाओं के बीच सेतु का कार्य करता है। भारत जैसे बहू-भाषी विशाल देश में हिन्दी ने अपना अस्तित्व संपर्क भाषा के रूप में स्थापित किया है। इसीलिए डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने हिन्दी को ही भारत की भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली बताया है।

अत: हिन्दी आज पूरे भारत में संपर्क भाषा के रूप में सर्वमान्य भाषा है। हिन्दी ही विभिन्न भारतीय भाषाओं को एक सूत्र में बांधते है। संपर्क भाषा से ही विभिन्न भाषाओं के मध्य समरसता एवं संप्रधायिक भावना उत्पन्न हुई हैं। यह बहुभाषिक संप्रधायिकता भारतीय के भीतर एकता की शक्ति संचार करता है।

सहायक ग्रंथ सूची

1) भाषा: जुलाई-अगस्त अंक, 2006
2) भाषा: जनवरी- फ़रवरी अंक, 2007
3) अरुण प्रभा: सन्युक्तांक , जनवरी-दिसम्बर 2016
4) अनुसंधान: अक्टूबर 2012- मार्च 2013
5) हिन्दी और पूर्वोत्तर: संपादक- कृपाशंकर चौबे, 2018

शङ्कराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध : एक भ्रान्ति

डॉ० शारदा गौतम
सहायक आचार्या
दौलतराम महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली
9711242244

शङ्कराचार्य भारतीय दर्शन जगत् के सूर्य हैं, उन्होंने अपने आलोक से भारतीय दर्शन के भ्रान्त दार्शनिकों को एक उपयुक्त दिशा प्रदान की। आचार्य शङ्कर को दो वर्ष की अवस्था में ही पुराणादि की कथाएं कण्ठस्थ थी। तीन वर्ष की आयु में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया पाँच वर्ष में जब उन्हें विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल भेजा गया तो दो वर्ष के भीतर ही शङ्कर वेद, वेदान्त और वेदाङ्गों का अध्ययन पूर्ण कर घर वापस आ गये। और आठ वर्ष की अल्प अवस्था में ही शङ्कराचार्य ने गृह त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लिया था।

शङ्कराचार्य के माता-पिता केरल के पन्नियूर ग्राम के निवासी थे। कुछ दिनों के पश्चात् ये 'कालटी' नामक ग्राम में आकर बस गये थे, यही कालटी शङ्कराचार्य का जन्म स्थान है जो कालटी, कालड़ी, कालादि आदि नामों से उच्चरित किया जाता है।[1] शङ्कराचार्य के जन्म समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है किन्तु सभी विद्वानों द्वारा दिये गये तकों के आधार पर इनका स्थिति काल 788-820 ई० मानना उचित पतीत होता है। [2] इस प्रकार आचार्य की आयु 32 वर्ष निश्चित होती है। आचार्य शङ्कर के ग्रन्थ चार स्वरूपों में विभक्त है.

1.भाष्यग्रन्थ 2. स्तोत्र ग्रन्थ 3. प्रकरण ग्रन्थ और 4. तन्त्र ग्रन्थ।

1 Indian Antiquary VII-Page-282

2 Dharmkirit and Shankaracharya B.B.R.A.S. XVIII-PP-88-96

1. ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीता भाष्य, उपनिषद्भाष्य (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतश्य, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वेतर उपनिषद् पर आचार्य शङ्कर के भाष्य हैं।

इसके अतिरिक्त विष्णु सहस्रनाम भाष्य, सनत्सुजातीय भाष्य, ललितात्रिशती भाष्य, माण्डूक्यकारिका भाष्य आदि भी इनके भाष्य ग्रन्थ है।

2.गणेश, शिव, देवी, विष्णु, युगल देवता, नदी तीर्थ सम्बन्धी स्तोत्र, साधारण स्तोत्र आदि इनके स्तोत्र ग्रन्थ हैं।

3.अद्वैत पंचरत्न, अद्वैतानुभूति, आत्मबोध आदि 38 प्रकरण ग्रन्थों की रचना आचार्य शङ्कर ने की है।

4. प्रपञ्चसार, सौन्दर्य लहरो आदि शङ्कराचार्य के तन्त्र ग्रन्थ हैं।

प्रच्छन्न शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक छद् धातु से क्त प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है- वस्त्राच्छादित, वस्त्र पहने हुए, लपेटा हुआ, लिफाफे में बन्द किया हुआ, निजी, गोपनीय, छिपा हुआ, गुप्त आदि।

भारतीय दर्शन के अनेक विद्वान् जिनमें सुरेन्द्र नाथ दास, श्रीभाष्यकार रामानुज, भेदाभेदवादी भास्कराचार्य, डॉ० एस० एन० दासगुप्ता, डॉ० वी० एम० वरुआ और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वान् शङ्कराचार्य को "प्रच्छन्न बौद्ध" मानते हैं। HIS BRAHAMAN WAS VERY MUCH LIKE THE SOONYA OF NAAGAARJUNA.[3]

शङ्कर के दर्शन को सरसरी नजर से देखने पर मालूम होता है कि वह ब्रह्मवाद को मानते हैं और उपनिषद् के अध्यात्म ज्ञान को सबसे अधिक प्रधानता देते हैं, किन्तु जब उसके भीतर घुसते हैं, तो वह नागार्जुन के शून्यवाद का मायावाद के नाम से नामान्तर मात्र है।[4] इसके अतिरिक्त

3 Indian Philosophy. Vol. 1, P-493.

4 राहुल सांकृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, पृ०-820

पद्मपुराण और योग वशिष्ठ के कुद स्थल भी शङ्कर 'प्रच्छन्न बौद्ध' हैं की दृष्टि से विचार योग्य हैं- पद्मपुराण के अन्तर्गत मायावाद को प्रच्छन्न बौद्ध घोषित करते हुए असत्-शास्त्र कहा गया है-

माया वा दमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैवकथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा।।[5]

योगवशिष्ठकार ने शून्यवादी के शून्य, ब्रह्मवेत्ता क ब्रह्म और विज्ञानवादी की विज्ञान मात्रता को एक ही कोटि में रखने का प्रयास किया है-

यच्छून्यवादिनां शून्य ब्रह्म ब्रह्मविदां वरम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदद्यलं पदम् ।।[6]

श्री भाष्यकार रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के ज्ञानवाद पर कटाक्ष करते हुए उनके वेदवाद को कपट एवं उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध माना है।[7] भेदाभेदी भास्कराचार्य महायानिक बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत मायावाद के दर्शन किये हैं।[8] डॉ० वी.एस. वरूआ है कि बाद्ध दर्शन, विशेषकर माध्यमिक दर्शन के अभाव में शाङ्कर दर्शन की सत्ता असम्भव सी प्रतीत होती है।[9]

उक्त उद्धरणों के आधार पर उपर्युक्त आलोचकों ने शाङ्कर मायावाद को असद् दर्शन एवं शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है विज्ञानवाद, शून्यवाद और मायावाद की विषमताओं के आलोचनात्मक विवेचन से उपर्युक्त विद्वानों की धारणा का निर्णय स्वतः हो जायेगा।

शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद का खण्डन किया है। विज्ञानवादियों के मत का खण्डन करते हुए शंकराचार्य का कथन हैं कि ब्राह्म

5 पद्मपुराण 1.141

6 योग वशिष्ठ 5.87.18 1

7 श्रीभाष्य 2.2.27 1

8 भास्करभाष्य 1.4.45 1

9 A.K. RAY. Chawdhari-The Doctrine of Maya.

जगत् के विषयों के प्रभाव का निश्चय करना अशक्य है, क्योंकि उनकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है।[10]

स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में साधम्यं स्थापित करते हुए विज्ञानवादी का कथन है कि जिस प्रकार स्वप्नादि के ज्ञान बाह्य अर्थ के बिना ही गाह्य और ग्राहक के आकार में परिणत होते हैं उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में होने वाले स्तम्भ आदि ज्ञान भी हो सकते हैं क्योंकि दोनों में समानरूपता है।[11]

शङ्कराचार्य ने इस मत के खण्डन में लिखा है कि स्वप्न और जाग्रत अवस्था के प्रत्ययों में साधर्म्य ने होकर वैधर्म्य है। इनका मत है कि यह वैधर्म्य बाध और अबाध का है। स्वप्न मं उपलब्ध हुई वस्तु का तो जाग्रत् में भी बाध नहीं होता। स्वप्न दृष्ट वस्तु स्मृतिमात्र है परन्तु जाग्रत अवस्था में अनुभूत वस्तु साक्षात् उपलब्धि है।[12] अतः स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं का अन्तर स्पष्ट है। इससे यह स्पष्ट है कि विज्ञानवाद एवं मायावाद में पर्याप्त अन्तर है।

शून्यवाद अभाववादी दर्शन है जबकि शांकर दर्शन में ब्रह्म सरूप है।13 शङ्कराचार्य का कहना है कि दिक्, देश, गुण, गति और फल के भेद से शून्य परमार्थ सत् अद्वय ब्रह्म मन्दबुद्धियों को असत् के समान प्रतीत होता है दिग्देश गुण गति फलभेद शून्य हि परमार्थ सत् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनाम् असद् इव प्रतिभाति।14

इस प्रकार ब्रह्म और शून्य का भेद स्पष्ट है। शून्यवाद के अभाववादी दृष्टिकोण की ओर सङ्केत करते हुए आचार्य ने कहा है कि बौद्ध लोग सत् के अभावमात्र की कल्पना करते हैं न कि

10 ब्रह्मसूत्रसूत्र शाङ्करभाष्य 2.2.28 1

11 ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य 2.2.28 के अन्तर्गत विज्ञानवादी का मत।

12 ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य

13 ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य 3.2.22 ।

14 छान्दोग्य उपनिषद्भाष्य 8.1.1 ।

सत् के प्रतिद्वन्द्वी किसी अन्य पदार्थ की।15 आचार्य शङ्कर रूपप्रंपचमात्र का निषेध करते हैं, न कि ब्रह्म का। शून्यवादी जगत् के समस्त पदार्थों का अन्तर्भाव शून्य के ही अन्तर्गत करता हैं इस प्रकार शून्यवादी के मत में जगत् को व्यावहारिक सत्ता के अनुरूप सत् माना है। माया और शून्य में यही भेद है। जो मायवादी शङ्कराचार्य के मत में सर्व प्रमाण सिद्ध है।[16] वह शून्य वादी की दृष्टि से असत् है।

विज्ञानवादी बौद्ध असंग ने अपने महायान सूत्रलंकार में जिस परमतत्व को सत् एवं असत् से भिन्न कहा है।[17] उसे शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में न सत्तन्नासदुच्यते कहकर सत् असत् से विलक्षण कहा है।[18]

डॉ० दास गुप्ता का कहना है कि शङ्कर और उसके अनुयायियों ने आलोचना के भाषागत रूप को ज्यादातर बौद्धों से ऋण रूप में प्राप्त किया था।[19] शायद दासगुप्ता का कथन सत्य है। शङ्कराचार्य का उद्देश्य बौद्ध दर्शन का खण्डन कर वैदिक धर्म की स्थापना था, अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शास्त्रार्थ करते समय शङ्कराचार्य द्वारा किया गया बौद्धों के पारिभाषिक शब्दों और भाषा का प्रयोग स्वाभाविक है।

विज्ञानवाद, शून्यवाद और मायावाद में उपयुक्त भेद होने के कारण शाङ्करदर्शन को विज्ञानवाद और शून्यवाद का मिश्रण कहना अयुक्त है। अतः दासगुप्ता का कथन असंगत कहा जायेगा। उपर्युक्त भेद के कारण भास्कर का महायानिक बौद्ध दर्शन में मायावाद का रूप देखना भी अनुचित है। शून्यवाद और शाङ्कर दर्शन में परस्पर भेद होते हुए भी सांकृत्यायन का शून्य और ब्रह्म

15 छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य 62.1 ।

16 ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य। 22.31 ।

17 महायान सूत्रालंकार 6.1 ।

18 गीता शाङ्कर भाष्य । 3.12 1

19 S.N. DASGUPTA, INDIAN PHILOSOPHY, Vol. 1, P. 493 1

में नाममात्र का अन्तर मानना भी अनुचित ही है। उक्त तों के आधार पर पद्मपुराण और योगवसिष्ठ को शङ्कराचार्य के मायावाद को असत्शास्त्र सिद्ध करने का प्रयास निष्फल हो जाता है।

वैदिक और उपनिषद् दर्शन में अप्राप्त बौद्ध तथ्यों की साम्यताओं के आधार पर ही शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जा सकता है लेकिन वैदिक दर्शन के विरोधी बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों और शाङ्कर दर्शन के सिद्धान्तों में समानता के आधार पर शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन के विद्वान सर जॉन वुडरफ20 और राधाकृष्णन्21 भी शङ्कराचार्य पर प्रच्छन्न बौद्ध के आरोप को अनुचित मानते है।

इसलिए शाङ्कर दर्शन और बौद्ध दर्शन की कुछ समानताओं के आधार पर शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहना युक्तियुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रो० चौधरी का कथन उपयुक्त है- शङ्कर और बौद्ध दर्शन दोनों एक ही उपनिषद्रूपिणी माता का स्तन्यपान करते है।[22]

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि आचार्य शङ्कर वैदिक धर्म के स्थापक और भारतीय दर्शन के अन्यतम दार्शनिक और विद्वान हैं, उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहना एक भ्रान्ति है।

20 SIR JOHN WOODROFFE, THE WORLD AS POWER P.72

21 DR. RADHAKRISHNAN, INDIAN PHILOSOPY, VOL 2, P. 472

22A.K. Ray. Chawdhari, The Doctrine of Maya p. 186

*****

Uniformity of Sentence Structure in Translation: A Case of English Translation of Japanese Sentences

Kumar Surya Prakash,
Assistant Professor in Japanese
Department of Foreign Languages,
Faculty of Arts,
Banaras Hindu University, Varanasi – 221005
e-mail : ksprakash.fl@bhu.ac.in

Abstract

When translating, the uniformity of sentence structure and sequence is a critical aspect of study. However, the source language and target language have their own respective grammatical structures, which may present challenges. Further, uniformity of terms and expressions in a translation done by group of translators is also an important issue. This paper attempts to understand the parameters due to which the uniformity is compromised in a translation at the sentence structure level and come up with a mechanism to ensure uniformity. For this, two experiments with sentences of the domains of 'Standard' and 'Specification' have been undertaken and observations and analyses have been recoded. The source language is Japanese and target language is English.

Introduction

When we talk about translation in the context of languages and communication, it is generally taken to mean the transfer of meaning and message expressed from one language into another language. In an attempt to do this, the translator tries to remain as truthful to the source as possible, while ensuring that the target audience can understand what is being translated in an original yet unhindered way. The translator therefore not only looks at the process from a mere syntactic or a semantic view, but also from a cultural and pragmatic lens. Many scholars have looked at the various aspects and challenges of translation and works of Munday[1], Steiner[2], and Venuti[3], etc. (names arranged alphabetically) must be mentioned here. A lot of work has been done regarding the various issues that one faces in the process of translation and various experiments and models have developed. Particularly, on the aspect of equivalence multiple models have been developed that refers to how bilinguals cognize words.

This work however attempts to examine how trained translators can bring more efficiency while translating 'non-literary' texts and focuses on the aspect of syntactic and semantic uniformity. This aspect of maintaining syntactical and semantical uniformity while translating from one language into other, and in particular, a deeper understanding of the degree to which it can be maintained, can lead to a better understanding of the process of translation between a language pair.

Moreover, the uniformity of set terminologies also enhances readability of the target text. This work also attempts to look at how emerging translators and freelancers can ensure uniformity by referring to existing or self-created glossary of terms. Also, a large text may require the combined effort of a team of freelance translators, and in absence of a systemic support, it becomes critical to follow a few good practices to ensure, uniformity, so that the target text reads natural and crisp. With automations and AI developing at a fast pace, it is becoming ever more critical that an independent emerging translator is able to produce work of a good quality.

There are multiple works that look at process of translation from the angles of cryptography, and algorithm[4] however as human translator use multiple translation tools including algorithmic ones at their disposal, this paper believes, that human translators will continue to exist alongside algorithms and AI, and it is hence critical to keep working on practices of translation. This is also significant as this translation

industry is huge when it comes to the financial numbers. And although scholars have tried to work up a value, as the sector and stakeholders are dynamic, the figure in the early 2010s was somewhere in the tens[5] of billions of dollars. Contemporary figures in early 2020s is around the tune of 30-40 billion dollars or more depending on the source. The process of translation on the other hand of course cannot be looked at only from the lens of these numbers or as Pym argues as a cost benefit analysis[6]. Pym may also be referred to look at various other economic aspects of translation, whereas Robinson[7] may be referred to for socio-economic critique.

It is also worth mentioning here that the transition from cryptography to a rule-based machine translation, - which more or less looked at language as a 'code' and attempted to break it in order to translate it - to a rule-based statistical machine translation, and ultimately with the dissemination and popular use of internet to a web based translation algorithm and the present day models that also incorporate AI, with each method learning from it's predecessors, is nevertheless an essential part of the history of translation [Somers[8] (2011) and Mitchel[9] (2010)].

Methodology

First of all, two experiments were carried out to observe uniformity at clause and sub clause level, when translating Japanese sentences into English. 'Experiment No. 1' listed Japanese example sentences taken from published 'Standard' related documents (available in public domain) and, 'Experiment No. 2' listed Japanese example sentences taken from published 'Specification' related documents (available in public domain). The sentences were therefore not of a 'literary' nature. As literary sentences can bring in the added parameter that they can be independently 'interpreted' by readers, sentences of a 'scientific' nature were chosen. An analysis with 'literary' sentences may be conducted in future, however the experiment design may have to be calibrated for the same with added parameters.

Within the 'scientific' domain, sentences from both 'Standard' and 'Specification' were taken, to ensure diversity and observe if there is any relation of uniformity vis-à-vis genre. Also, both these domains are generally known to have a set style of writing, and are also known to avoid ambiguities.

Now, in Experiment No. 1&2, both source and target text were listed sentence by sentence, and the published translation and translation done by two other translators (Translator 1 & Translator 2) were listed. The reason to include a set of published translations was to ensure the availability of at least one set of good quality translation to which the translation done by other translators could be compared.

With this raw data in hand the further analysis of data was done in the following manner.

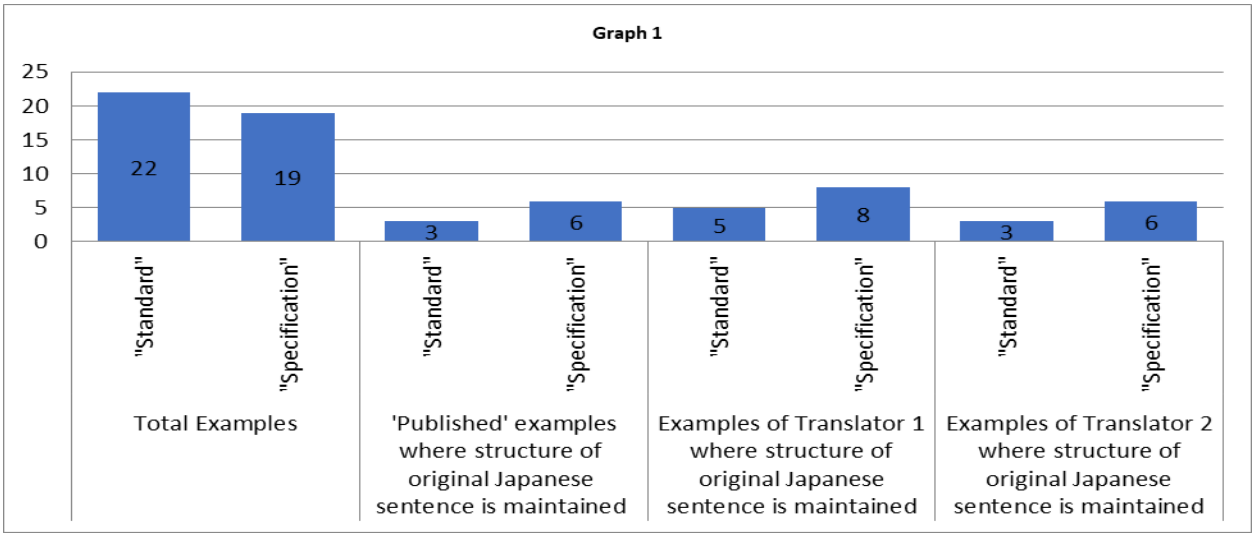
First it was observed if sentence structure of the original Japanese sentence was maintained in various translations. Further, it was seen if there was any reversal at clause or sub-clause level. Next, it was seen if any parts were merged or removed or added, and the relevant data was captured. Moreover, data was collated to see if there was a relation between length of sentence and clauses and sub clauses with respect to uniformity. Deviation in terminology usage was also observed.

Observations and Results

There were 22 sentences (hereafter referred to as 'examples') related to 'Standard' and 19 sentences (hereafter referred to as 'examples') related to 'Specifications'. The following observations were made based on the data collected.

First, the number of examples where structure of original Japanese sentence was maintained in various translations is quite low, as can be seen from the Graph No. 1 below.

Graph No. 1

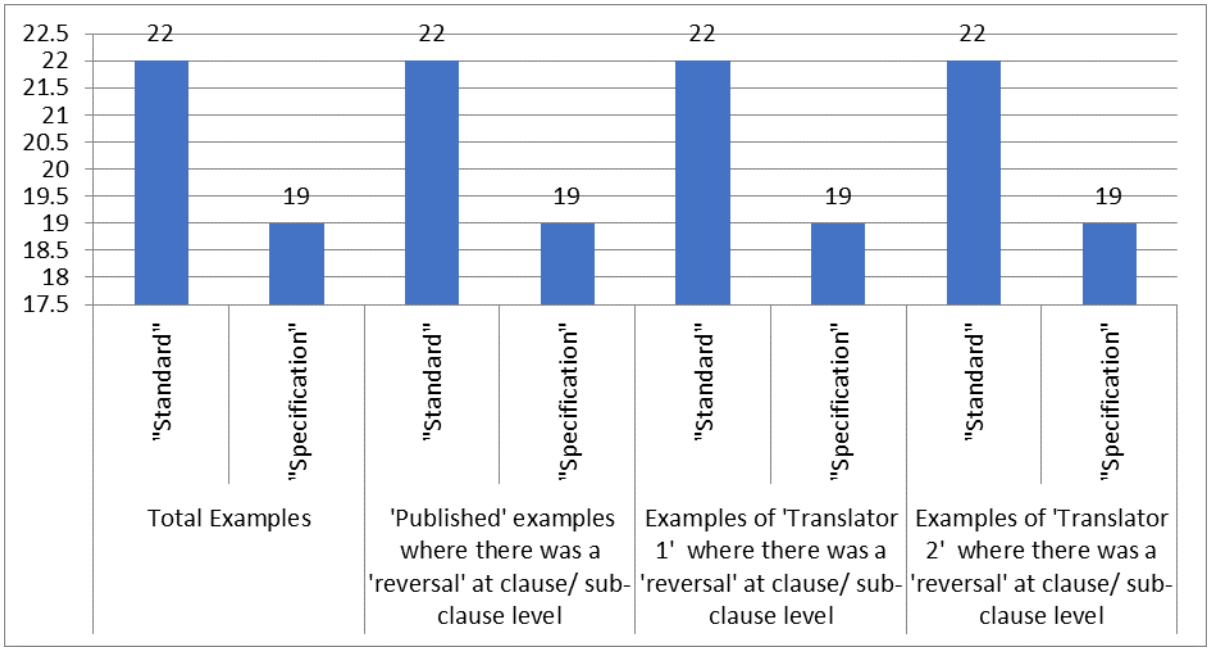


The trend captured in this graph confirms the nature of Japanese language, wherein when it is translated into English, generally the structure of the original Japanese sentence is altered in the target text. Accordingly, translators should exercise flexibility and shouldn't forcibly try to match the structure of Japanese sentence while translating.

It can also be seen from the graph, that the number of examples where structure of original Japanese sentence is maintained is higher in the case of 'Specifications', as compared to 'Standards'. Here, one may be inclined to infer that it is relatively easier to maintain the structure in 'Specifications'. However, when a closer look at the examples is taken, it is observed that, out of the 6 examples of published translation of 'Specifications', where unit sequence was maintained, 4 sentences were very short. Hence, it would be more apt to infer that it can be easier to maintain the structure in shorter sentences.

Second, the number of examples where there was a 'reversal' at clause and sub clause level was very high as can be seen from the Graph No. 2 below.

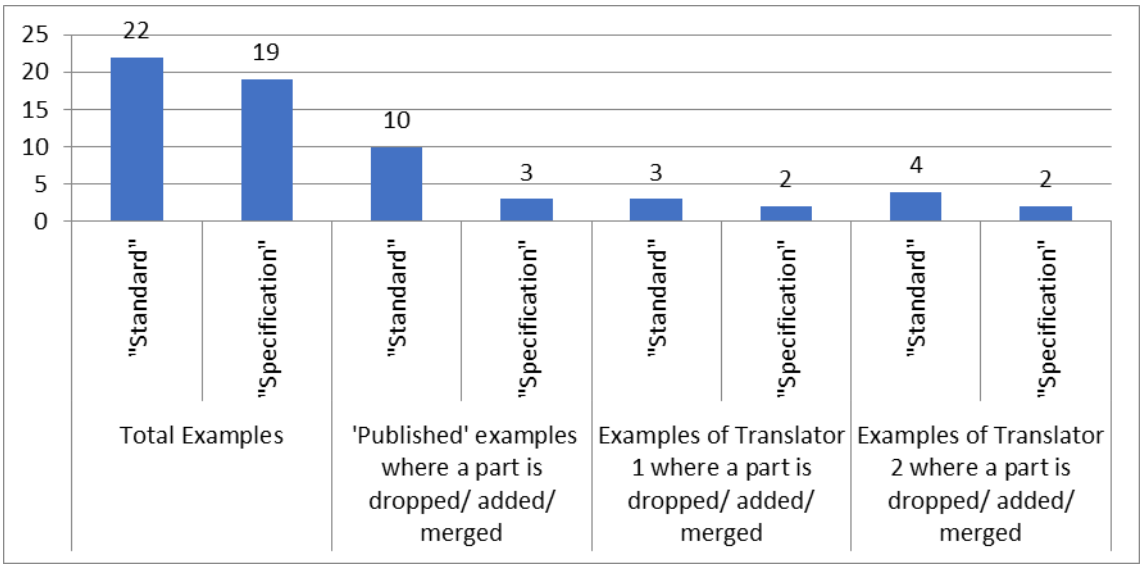
Graph No. 2



Graph No. 2 further builds on the observations of Graph No. 1, and shows the nature of Japanese language wherein, it has a SOV structure, and when it is translated into English which has a SVO structure, this reversal is only natural. This graph also further clarifies that even in cases where sentence structure may be maintained, reversal at sub-clause level can be expected.

Third, there are a few instances where a part has been removed, added, or merged as seen in the Graph No. 3 below.

Graph No. 3



As it can be seen in Graph No. 3, out of the 22 'Standard' related examples analyzed, there were 10 examples in the published translation where a part was removed/ added/ merged with another part. Whereas, in case of the Translator 1 and Translator 2; the number is 3 and 4 respectively, and is significantly less. When the examples were approached with a finer lens, it was clear that, this was because out of the aforementioned 10 examples, there were 4 examples where the published translation had dropped words viz., '*Mata* (further), *Shitagatte* (therefore), *Sara ni* (moreover), *Nao* (now)'[10] when they came at the beginning of the sentence. This wasn't done by the translators, as they may have thought of accuracy and fidelity. Hence, there is a learning here, that these words may be dropped on case-to-case basis, if it doesn't change the overall meaning of the sentence. This again underlines the need of flexibility in a translator.

Fourth, no significant deviations were observed in the usage of terms and expressions across the examples. This observation however may be attributed to the fact that the translators had significant training, and referred to a common set of existing terminologies. It is therefore a significant learning here, that when translating a large text in a group, translators may either refer to a set of existing terminologies for common and recurring terms, or create one in case of an absence of an existing set of terminologies. Else, the final target text will not read in a uniform manner.

Conclusion

This paper has come up with the following findings based on the analyses done above.

First, the number of examples where structure of original Japanese sentence was maintained in English translation was quite low in the two domains analyzed. The number although was marginally higher in case of 'Specifications', in light of finer analyses, it was inferred that shorter sentences were more likely to follow the original structure of Japanese sentence. Further, even if the structure of original Japanese sentence was maintained, examples of 'reversal' at clause/ sub-clause level were very high irrespective of the domain. It can therefore be concluded that a translator may tread with flexibility in this regard.

Second, in the domains discussed, when a sentence starts with words viz., [*Mata* (further), *Shitagatte* (therefore), *Sara ni* (moreover), *Nao* (now)][11], the translator may show some flexibility and drop these words in the equivalent English translation case by case, if there is no change in the overall meaning. This may render the sentence crisper. Also, existing sets of terminologies or glossaries may be referred to, and if not available then may be created, for the sake of enhancing uniformity particularly in group translations.

Limitations

This paper has assumed that the 'Published translation' by the virtue of being published and being in the public domain, was of good quality and all comparisons have been made having taken it as the base. Further the number of examples were limited, and although the translators were trained, the levels of training and actual proficiencies can be subjective. Also, the domain of this work was restricted and in future a new experiment may be designed with more parameters to study these aspects in literary examples or any other examples.

Selected Bibliography

Baker, Mona (2018). In Other Words: A Coursebook on Translation. London & New York: Routeledge.

Boase-Beier, Jean (2011). A Critical Introduction to Translation Studies. A&C Black.

Munday, Jeremy (2001). Introducing Translation Studies: Theories and Applications. London & New York: Routeledge.

Nida, Eugene &Taber, Charles (2003). The Theory and Practice of Translation. BRILL.

Pym A (2004) The Moving Text: Localization, Translation, and Distribution. Amsterdam: John

Benjamins.

Pym A (2006) Globalization and the politics of translation studies. Meta 51: 744–757.

Steiner, George (1975). After Babel: Aspects of Language and Translation. Oxford University Press.

Toury, Gideon (1995). Descriptive Translation Studies and Beyond. John Benjamins Publishing Company.

Venuti, Lawrence (1995; rev. 2008). The Translator's Invisibility: A History of Translation. London & New York: Routeledge.

Venuti, Lawrence (2013). Translation Changes Everything: Theory and Practice. London & New York: Routeledge.

*****

Effect of Menstrual Cycle on Physical Fitness of Football Players

Corresponding Author
Prerna Mishra
Ph.D. Scholar, MATS School of
Physical Education, Raipur, C.G., India

Guide
Dr. Ayaz A. Khan, Assistant Professor, Department of Physical Education
MATS School of Physical Education, Raipur, C.G., India

Co-guide
Dr. Alok Kumar Singh, Assistant Professor, Department of Physical Education
MATS School of Physical Education, Raipur, C.G., India

Abstract

For the past ten years there has been an increase in female sport participation and accompanying female professional national leagues across multiple sports. Though there are known difference between female and male physiology, training protocols in female sport are predominantly supported and developed by research studies regarding male athletes. Recently, there has been more interest in the potential effects of fluctuations in the female sex hormones, progesterone and oestrogen, on sport performance across different phases of the menstrual cycle. The scores collected during the menstruation cycle and have been statistically evaluated using an Independent's' test after the subjects' menstruation time. For this analysis, the 0.05 level has been set in every case. Findings: The research findings showed that the selected physical health variables were substantially changed during the menstruation period to after the menstruation period.

Keywords: ***Menstrual cycle, Physiology, progesterone, oestrogen***

Introduction

Physical fitness is considered as one of the most valuable and important health markers in childhood (Ortega et al., 2008). Accordingly, in the past decades numerous countries have been promoting physical fitness improvement among young people in diverse ways. It is known that planning long-term fitness programs is the best way to improve these components (Donnelly et al., 2009). It has been an issue of debate since long time about the effect of menstrual cycle upon sports performance.

Menstrual cycle

Menstruation, also called menses, is a natural process that occurs once in a month in a sexually mature female (Muktananda, 2003). A menstrual cycle (MC) starts from first day of one period (the first day of bleeding) to the first day of the next period.

The menstrual cycle is made of 4 main phases:

- **Phase 1** – Menstruation: Bleeding.
- **Phase 2** – Follicular phase: This is the first half of the cycle in which an egg starts getting

prepared to be released from the ovary.

- **Phase 3** – Ovulation: The release of the egg from the ovary, mid-cycle. Oestrogen peaks just beforehand, and then drops shortly afterward.

Phase 4 – Luteal Phase: The body prepares for a possible pregnancy or to break down and shed the uterine lining. Progesterone is produced, peaks, and then drops.

Menstrual cycle and sports performance

The effect of the menstrual cycle on physical finess performance is being increasingly recognised as a key consideration for women's sport and a critical field for further research. Studies examining objective performance (using anaerobic, aerobic or strength-related tests) do not report clear, consistent effects of the impact of menstrual cycle phase on physical performance. Lately, there has been a great interest in the influence of the menstrual cycle on women's athletic performance.

Methodology

Selection of Subjects

The subjects for the study will be selected from different colleges and sports academies of Chhattisgarh state. 10 football female players with normal and regular menstruation will be selected as subjects. The age of the subjects will be ranged from 17 to 25 years.

Selection of Variables

On the basis of available scientific literature from journals, periodicals, magazines and research articles, to assess the physical fitness and psychology of the subjects, the research scholar will select the following variables listed below

Physical fitness variables

Speed – 50 m dash

Cardio vascular endurance – beep test

Agility – T- test

Results of the study

Table 1

Table 1 showing descriptive Statistics and obtained during and after menstruation period on speed

Test	Mean	SD	't'
During	60.05	0.87	4.69*
After	62.00		

*Significant at 0.05 level

The findings reported in Table I showed that the average pre-test value of women's physical fitness during menstrual cycle (M: 60.05) increased to 62.00 after menstrual period. The 4.79't' value obtained was greater than the 0.76 required' value. It was also proven that there was a substantial increase in speed following women's menstrual cycle.

Table 2

Table 2 showing descriptive statistics and obtained during and after menstruation period on endurance

Test	Mean	SD	't'
During	10.00	1.82	2.69*
After	12.00		

*Significant at 0.05 level

The findings reported in Table 2 showed that the average pre-test value of women's physical fitness during menstrual cycle (M: 10.00) increased to 12.00 after menstrual period. The 2.69't' value obtained was greater than the 1.80 required value. Hence, it was proved that there was a significant improvement in endurance after the menstruation period of the women.

Table 3

Table 3 showing descriptive statistics and obtained during and after menstruation period on endurance

Test	Mean	SD	't'
During	20.05	0.47	2.49*
After	22.00		

*Significant at 0.05 level

The results presented in Table III showed that the pre-test mean value of flexibility of women during the menstruation period (M: 20.05) was improved to 22.00 after the menstruation period. The obtained' value of 2.49 was greater than the obtained t value. This means there was an improvement in agility after the menstruation period. Greater than the required't' value of 1.76. Hence, it was proved that there was a significant improvement in flexibility after the menstruation period of women

Conclusion

The research study was conducted to establish women's cardio-respiratory capacity, speed and agility before and after the time of menstruation. Survey findings have shown that women athletes have increased their physical health, cardiovascular from the time to the menstrual period.

Bibliography

Julian R., Skorski S., Hecksteden A., Pfeifer C., Bradley P.S., Schulze E., Meyer T. Menstrual cycle phase and elite female soccer match-play: Influence on various physical performance outputs. *Sci. Med. Footb.* 2020; 10:1–8

Lebrun C.M. Effect of the Different Phases of the Menstrual Cycle and Oral Contraceptives on Athletic Performance. *Sports Med.* 1993; 16:400–430.

Eston, R.G., The regular menstrual cycle and athletic performance. Sports Medicine, 1984. 1: p. 431-445.

Volk, E., Planet Estrogen Part 3: The Menstrual Cycle and Athletic Performance. Mesomorphosis, 2000. 3: p. 2.

Daly, J. and W. Ey, Hormones and Female Athletic Performance. 1996, Adelaide: Women's Sports Foundation WA Inc.

Elliott-Sale, K.; Ross, E.; Burden, R.; Hicks, K. The BASES Expert Statement on Conducting and Implementing Female Athlete-Based Research. Sport & Exercise Scientist 2020, 6-7.

Janse De Jonge, X.; Thompson, B.; Han, A. Methodological Recommendations for Menstrual Cycle Research in Sports and Exercise. Medicine and science in sports and exercise 2019, 51, 2610-2617,

*****

खाद्य सुरक्षा योजनाएँ और उनका कार्यान्वय (धनबाद जिला के संदर्भ में)

-डॉ.ममता कुमारी
सहायक प्राध्यापक
अर्थशास्त्र विभाग,
बी.एस.सिटी कॉलेज,बोकारो

सारांश (Summary) :

यह शोध आलेख धनबाद जिले में लागू विभिन्न खाद्य सुरक्षा योजनाओंकृजैसे सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS), अंत्योदय अन्न योजना (AAY), प्रधानमंत्री गरीब कल्याण अन्न योजना(PMGKAY), एकीकृत बाल विकास योजना (ICDS), और मध्याह्न भोजन योजना (MDM) का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करता है। लेख में इन योजनाओं के क्रियान्वयन, लाभार्थियों की प्रतिक्रिया, ग्रामवार कार्यप्रणाली तथा व्यावहारिक समस्याओं का विवेचन किया गया है। साथ ही, जिला प्रशासन, पंचायत प्रतिनिधियों और नागरिक सहभागिता की भूमिका को भी रेखांकित किया गया है। ग्राम तोपचांची, बाघमारा, टुंडी, निरसा इत्यादि में योजनाओं की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। अंत में, वितरण प्रणाली में पारदर्शिता, निगरानी, तकनीकी सुधार और सामाजिक सहभागिता को प्रभ. ावी समाधान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

उद्देश्य :

- धनबाद जिले में खाद्य सुरक्षा योजनाओं की वर्तमान स्थिति का मूल्यांकन करना।
- राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय योजनाओं की कार्यप्रणाली को ग्राम स्तर पर समझना।
- लाभार्थियों के अनुभव और सामाजिक प्रभाव का अध्ययन करना।
- खाद्य वितरण प्रणाली में व्याप्त चुनौतियों की पहचान करन. ा।
- योजनाओं के क्रियान्वयन में आ रही व्यावहारिक बाधाओं का समाधान सुझाना।
- ग्रामीण स्तर पर योजना की प्रभावशीलता का विश्लेषण करना।
- ग्रामवार विश्लेषण द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं को उजागर करना।
- सामाजिक उत्तरदायित्व एवं समुदाय आधारित निगरानी की भूमिका स्पष्ट करना।
- खाद्य एवं पोषण सुरक्षा के क्षेत्र में नीति निर्माताओं के लिए सुझाव देना।
- महिला और बालक पोषण योजनाओं के प्रभाव को चिह्नित करना।
- झारखंड राज्य की विशिष्ट सामाजिक संरचना के आलोक में योजनाओं की उपयुक्तता पर विमर्श करना।
- एक समावेशी, टिकाऊ और पारदर्शी खाद्य प्रणाली की परिकल्पना प्रस्तुत करना।

बीज शब्द : खाद्य सुरक्षा, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, अंत्योदय अन्न योजना, प्रधानमंत्री गरीब कल्याण अन्न योजना, धनबाद जिला, झारखंड, आंगनबाड़ी केंद्र, मध्याह्न भोजन योजना, ग्रामवार विश्लेषण, सामाजिक अंकेक्षण, कुपोषण और पोषण नीति, खाद्य नीति और पारदर्शिता।

प्रस्तावना :

भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश में खाद्य सुर क्षा एक महत्वपूर्ण सामाजिक–आर्थिक मुद्दा है। विशेषकर झारखंड राज्य के धनबाद जिले जैसे क्षेत्रों में जहाँ एक ओर प्राकृतिक संसाधनों की भरमार है, वहीं दूसरी ओर गरीबी, अशिक्षा, बेरो. जगारी तथा कुपोषण की समस्याएँ भी व्याप्त हैं। ऐसी परिस्थिति में खाद्य सुरक्षा योजनाओं की आवश्यकता और प्रभावशीलता का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। यह शोध आलेख धनबाद जिले में संचालित विभिन्न खाद्य सुरक्षा योजनाओं, उनके क्रियान्वयन की स्थिति, लाभार्थियों पर पड़ने वाले प्रभाव एवं योजनाओं से जुड़ी

चुनौतियों का व्यापक विश्लेषण करता है।

1. खाद्य सुरक्षा का सिद्धांत और नीति का विकास :

भारत में खाद्य सुरक्षा की अवधारणा संविधान के अनुच्छेद 47 के अंतर्गत राज्य के नीति निदेशक तत्वों में निहित है, जो यह निर्देश देता है कि राज्य नागरिकों को पर्याप्त पोषण और जीवन–स्तर उपलब्ध कराएगा। समय के साथ–साथ इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनेक योजनाओं की शुरुआत हुई, जिनमें से प्रमुख हैं–

- सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS)
- अंत्योदय अन्न योजना (AAY)
- मध्याह्न भोजन योजना (MDM)
- एकीकृत बाल विकास सेवा (ICDS)
- प्रधानमंत्री गरीब कल्याण अन्न योजना (PMGKAY)

इन योजनाओं का उद्देश्य न केवल भूखमरी से राहत देना है, बल्कि कुपोषण को दूर करना और सामाजिक समानता को बढ़ावा देना भी है।[1]

2. झारखंड राज्य में खाद्य सुरक्षा की स्थिति :

झारखंड एक आदिवासी बहुल राज्य है जहाँ कृषि आधारित जीवनशैली और सीमित औद्योगिक विकास है। राज्य सरकार ने राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 को पूर्णतः लागू किया है, जिसके तहत अंत्योदय परिवारों को प्रतिमाह 35 किलो खाद्यान्न तथा प्राथमिकता प्राप्त परिवारों को 5 किलो प्रति व्यक्ति की दर से खाद्यान्न दिया जाता है।

राज्य सरकार द्वारा निम्नलिखित योजनाएँ चलाई जा रही हैं[2] –

- मुख्यमंत्री दाल–भात केंद्र योजना
- मुख्यमंत्री सुखाड़ राहत योजना
- पोषण आहार कार्यक्रम

3. धनबाद जिलाः एक परिचय – धनबाद जिला झारखंड का एक प्रमुख औद्योगिक जिला है, जिसे 'कोयला नगरी' भी कहा जाता है। यहाँ जनसंख्या का एक बड़ा भाग खनन क्षेत्र में कार्यरत है। इसके बावजूद सामाजिक–आर्थिक विषमता अधिक है। ग्रामीण क्षेत्र में गरीबी एवं शहरी क्षेत्र में प्रवासी श्रमिकों की संख्या अधिक है, जिससे खाद्य असुरक्षा की स्थिति बनी रहती है।

धनबाद जिले की जनसंख्या लगभग 29 लाख (जनगणना 2011) है, जिसमें से लगभग 65% आबादी खाद्य सुरक्षा योजनाओं के तहत आती है।[3]

4. खाद्य सुरक्षा योजनाओं का कार्यान्वयनः धनबाद के उदाहरण :

4.1 सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS)– धनबाद जिले में 11 ब्लॉक हैं, जहाँ लगभग 1500 से अधिक राशन दुकानों के माध्यम से च्वै संचालित हो रही है। योजना के तहत BPL, AAY एवं प्राथमिकता प्राप्त परिवारों को चावल और गेहूँ निर्धारित दर पर वितरित किया जाता है।

4.2 अंत्योदय अन्न योजना (AAY)– इस योजना के अंतर्गत जिले में लगभग 1.25 लाख अत्यंत गरीब परिवारों को 35 किलो अनाज प्रति माह वितरित किया जाता है। योजना की सबसे बड़ी चुनौती वितरण में पारदर्शिता की है।

4.3 प्रधानमंत्री गरीब कल्याण अन्न योजना (PMGKAY)– कोविड–19 के दौरान इस योजना ने लाखों जरूरतमंदों को राहत पहुँचाई। धनबाद में लगभग 16 लाख लाभार्थियों को अतिरिक्त अनाज उपलब्ध कराया गया।[4]

5. बालकों और महिलाओं हेतु पोषण योजनाएँ :

5.1 एकीकृत बाल विकास सेवा (ICDS)– धनबाद जिले के 1700 से अधिक आंगनबाड़ी केंद्रों के माध्यम से बच्चों, गर्भवती महिलाओं एवं धात्री माताओं को पोषण आहार, टीकाकरण एवं स्वास्थ्य शिक्षा प्रदान की जाती है।

5.2 मध्याह्न भोजन योजना (MDM)– जिले के प्राथमिक और मध्य विद्यालयों में लगभग 3 लाख छात्रों को निःशुल्क भोजन उपलब्ध कराया जा रहा है। यह योजना बच्चों में स्कूल उपस्थिति और पोषण स्तर को सुधारने में सहायक रही है।[5]

6. ग्रामवार विश्लेषण : खाद्य सुरक्षा योजनाओं की स्थिति :

धनबाद जिले के प्रमुख ग्राम पंचायतों में खाद्य सुरक्षा योजनाओं की स्थिति निम्नलिखित है–

6.1 तोपचांची प्रखंड – यहाँ 75 पंचायतें हैं। सार्वजनिक

वितरण प्रणाली में लगभग 80% लाभार्थी समय पर खाद्यान्न प्राप्त कर रहे हैं। फिर भी कुछ पंचायतों (जैसे काशीटांड़, बलिया) में वितरण में अनियमितता पाई गई है।

6.2 बाघमारा प्रखंड – कोल माइंस क्षेत्र होने के कारण प्रवासी श्रमिकों की संख्या अधिक है। AAY के अंतर्गत 28,000 परिवारों को लाभ मिल रहा है। आंगनबाड़ी केंद्रों की निगरानी आवश्यक है।

6.3 गोविंदपुर प्रखंड – यह क्षेत्र कृषि आधारित है। यहाँ खाद्यान्न वितरण अच्छा है परन्तु पोषण योजना (ICDS) के अंतर्गत गर्भवती महिलाओं को निर्धारित मात्रा में पोषण आहार नहीं मिल पा रहा।

6.4 टुंडी प्रखंड – जनजातीय बहुल क्षेत्र है। यहाँ प्रधानमंत्री गरीब कल्याण अन्न योजना के तहत राहत मिली। राशन दुकानों में POS मशीनों के खराब होने की शिकायतें आम हैं।

6.5 निरसा प्रखंड – यहाँ स्कूलों में MDM योजना प्रभ. ावी रूप से लागू है। खाद्यान्न भंडारण में सुधार की आवश्यकता है।[6]

7. सामाजिक प्रभाव और लाभार्थियों की प्रतिक्रिया :

- योजनाओं ने ग्रामीण क्षेत्रों में भूखमरी की दर में कमी लाई है।
- महिलाओं की पोषण स्थिति में सुधार हुआ है।
- बच्चों में कुपोषण की दर में धीरे–धीरे गिरावट देखी गई है।
- अधिकांश लाभार्थी योजनाओं से संतुष्ट हैं पर वितरण प्रणाली में भ्रष्टाचार की शिकायतें हैं।[7]

8. चुनौतियाँ एवं समस्याएँ :

- वितरण में पारदर्शिता की कमी
- राशन दुकानदारों द्वारा खाद्यान्न की कालाबाजारी
- आधार सीडिंग और बायोमेट्रिक प्रमाणीकरण में तकनीकी दिक्कतें
- ग्रामीण क्षेत्रों में पोषण सामग्री की आपूर्ति में अनियमितता

9. समाधान और सुझाव :

- सामाजिक अंकेक्षण की प्रणाली को मजबूत करना चाहिए।
- टेक्नोलॉजी का अधिकतम प्रयोग
- लाभार्थियों को जागरूक करने हेतु ग्राम सभाओं का आयोजन
- स्कूलों और आंगनबाड़ी केंद्रों की निगरानी समितियों को सक्रिय करना[8]

10. निष्कर्ष :

धनबाद जिले में खाद्य सुरक्षा योजनाएँ गरीबों के लिए जीवनरेखा सिद्ध हो रही हैं। हालाँकि कार्यान्वयन में कई प्रकार की समस्याएँ भी हैं, जिन्हें यदि समय रहते सुलझा लिया जाए तो इन योजनाओं का लाभ और व्यापक रूप में जन–जन तक पहुँच सकता है। समाज, शासन और नागरिकों की सहभागिता से ही एक समावेशी और खाद्य–सुरक्षित समाज की कल्पना साकार की जा सकती है।

संदर्भ सूची :

1.सिंह, नीरजा, खाद्य सुरक्षा और पोषण : अवधारणा एवं व्यवहार, रांची पब्लिकेशन, रांची, 2019, पृ. 42,

2.झारखंड विकास संवाद, झारखंड में खाद्य अधिकार, प्रकाशन विभाग, रांची, 2020, पृ. 87

3.जिला सांख्यिकी पुस्तिका, धनबाद, 2020, पृ. 19

4. खाद्य विभाग की वार्षिक रिपोर्ट, झारखंड सरकार, 2022, पृ. 66

5.प्रसाद, प्रो. आर, स्कूली पोषण और स्वास्थ्य, 2018, पृ. 113

6.प्रखंड स्तरीय खाद्य सर्वेक्षण रिपोर्ट, धनबाद जिला प्रशासन, 2023, पृ. 54,

7. ठाकुर, दीप्ति. झारखंड में पोषणः एक अध्ययन, जनशक्ति प्रेस, धनबाद, 2021, पृ. 57

8.शरण, मीनाक्षी. खाद्य न्याय और सामाजिक उत्तरदायित्व, प्रभात पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 133,

*****

हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श

-एकता
शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो 9654296190
Email : ekta070290@gmail.com

हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श का प्रारम्भ बीसवीं सदी के प्रारम्भ में देखने को मिलता है। सदियों से आदिवासियों का शोषण एवं अपमान किया गया है। इतिहास को देखने पर ज्ञात होता है कि कैसे बड़े ही छलपूर्वक तरीके से गुरु द्रोणाचार्य ने गुरु दक्षिणा में एकलव्य का अंगूठा कटवाकर उस समय आदिवासी समाज को दबाने का प्रयास किया था। आदिवासियों का सदियों से इसी तरह शोषण एवं अपमान किया गया है। पहले आर्यों ने उनके साथ छलपूर्वक व्यवहार किया जिसके कारण उनको मैदानी क्षेत्रों का त्याग कर जंगलों एवं वनों में आश्रय ग्रहण किया तथा अपनी संस्कृति को सुरक्षित करके अपना जीवन व्यतीत किया।

आदिवासी दो शब्दों आदि और वासी से मिलकर बना है जहाँ पर आदि से तात्पर्य प्राचीन तथा पुराना है तथा वासी से तात्पर्य निवास करने वाला है अर्थात् किसी स्थान विशेष पर प्राचीन समय से निवास करने वाला व्यक्ति।

गंगा सहाय मीणा के अनुसार **''आदिवासी देश के मूल निवासी माने जाने वाले तमाम आदिक समुदायों का सामूहिक नाम है।''**[1]

माया बोरसे के अनुसार **''आदिवासी समाज एक ऐसा समाज है जिसके नाम से ही उसकी पहचान छिपी हुई है आदिवासी शब्द के लिए मूलवासी शब्द का प्रयोग किया जाता है अर्थात् आदिवासी समाज इस भूमि का मूलवासी है और वही इस भूमि का उत्तराधिकारी भी है।''**[2]

आदिवासी समाज का प्रकृति के साथ बहुत ही गहरा एवं आत्मीय रिश्ता देखने को मिलता है इनका जीवन पूर्णत प्रकृति पर ही निर्भर करता है। प्रकृति में ही इनके देवी–देवता निवास करते है, जंगल, पहाड, नदियाँ, पेड़–पौधे एवं जीव–जन्तुओं के साथ बहुत ही गहरा रिश्ता है। किंतु बदलते समय के कारण यह कह सकते है कि लगातार बाहरी हस्तक्षेप के कारण आदिवासी समाज में काफी बदलाव देखने को मिलता है। आदिवासी क्षेत्रों में हस्तक्षेप तो आजादी से पूर्व ही प्रारम्भ हो गए थे। अंग्रेजों ने अपने सामाज्य के विस्तार हेतु आदिवासी क्षेत्रों पर अपना अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया। तथा वहाँ से प्राप्त कच्चे माल से अपने व्यापार में वृद्धि की। तो दूसरी तरफ उनके जंगलों एवं प्रकृति का दोहन करके रेलवे लाइनें बिछाई गई। ताकि ये लोग सुगमता से अपने व्यापार में वृद्धि कर सके। इस तरह से अंग्रेजों ने आदिवासियों का शोषण किया। किंतु आजादी के पश्चात् भी भारत में आदिवासी समाज की स्थिति ज्यों की त्यों ही बनी हुई है। आजादी के पश्चात् भी सरकारें अपने उद्योगों को बढ़ावा देने हेतु आदिवासी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करती है। जिससे उनको अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। रमणिका गुप्ता के शब्दों में **''झारखण्ड में ढेर सारी औद्योगिक विकास की योजनाएँ प्रारम्भ की गई। खनिज सम्पदा के दोहन से लेकर सैकड़ों बडे–बड़े कल–कारखाने लगाने का काम हाथों में लिया गया। इसके लिए बिजली और पानी की आवश्यकता पूरी करने के लिए हजारों मध्यम और बड़े बाँध बनाए गए। ये योजनाएँ आरम्भ तो विकास के नाम पर की गई थी, लेकिन बाँध की**

परियोजनाओं से किसानों को तो पानी नहीं मिला, हाँ उनकी जमीनें पानी में अवश्य डूब गई। इन तमाम योजनाओं से देश की प्रगति तो हुई परन्तु जिनकी गरीबी दूर करने के नाम पर ये योजनाएँ बनीं, उन्हें भूमि से बेदखल कर दर–दर की ठोकरें खाने को मजबूर कर दिया गया।''[3] इस तरह से बाह्य समाज ने सदियों से आदिवासी समाज के साथ छलपूर्वक व्यवहार किया। बाह्य समाज के लगातार हस्तक्षेप से आदिवासी समाज को दिन–प्रतिदिन अनेकानेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

हिन्दी में रमणिका गुप्ता, महाश्वेता देवी, संजीव, मैत्रेयी पुष्पा, रणेन्द्र, हरिराम मीणा, तेजिन्दर, केदार प्रसाद मीणा, वीरेन्द्र जैन, निर्मला पुतुल, मनमोहन पाठक, रोज केरकट्टा, मेहरून्निजा परवेज, आदि अनेक साहित्यकार है जिन्होंने अपनी लेखनी से आदिवासी समाज पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

तेजिन्दर का काला पादरी (2002) उपन्यास उराँव आदिवासी समाज पर आधारित है जिसमें लेखक मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले के धर्मान्तरित होने वाले आदिवासी समाज का वर्णन करता है। त्रासदी झेलते उराँव आदिवासी समाज का जीवन अंधकारमय बना हुआ है जहाँ पर ये लोग अपने जीवन की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति करने में भी असक्षम दिखलाई देते है। अपनी भूख को शांत करने के लिए उराँव आदिवासी धर्म परिवर्तन के लिए विवश है जहाँ ये लोग ईसाई धर्म को अपनाकर अपनी भू ख तो शांत करते है किंतु इनके बदले में इनको अपनी प्रकृति से पूर्णतः विमुख होना पड़ता है जिससे इनको जीवन में अनेकानेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

मनमोहन पाठक का गगन घटा घहरानी (1999) उपन्यास उराँव आादिवासी की यथास्थिति का वर्णन करता है। जहाँ पर जमींदारी व्यवस्था के समाप्त होने के पश्चात् आज भी आदिवासी बंधुआ मजदूर के रूप में कार्य करने को विवश है। आज भी वहाँ पर सामंती व्यवस्था फल–फूल रही है जिसके कारण आदिवासियों का शोषण किया जाता है। इस उपन्यास में लेखक उराँव आदिवासी समाज का नग्न यथार्थ प्रस्तुत करते है जिसमें उनकी कराहे है। इस संबंध में वीरेन्द्र यादव लिखते है **''झारखण्ड के पलामू क्षेत्र का आदिवासी जीवन व संघर्ष इस उपन्यास में अपनी सम्पूर्णता के साथ उपस्थित है। ओराँव जनजाति की इस संघर्ष गाथा में आदिवासी जीवन का सौंदर्य, शौर्य, विवशता, सरलता, कुरुपता, अभाव व बदलाव की चेतना एक साथ उपस्थित है। यह समूचे प्रांतर तथा आदिवासी समाज के व्यक्तित्वान्तरण की औपन्यासिक गाथा है।''**[4]

रणेन्द्र की ग्लोबल गाँव के देवता (2009) उपन्यास में असुर आदिवासियों के संघर्षों एवं उनकी समस्याओं पर प्रकाश डालते है । बढ़ते बाहरी प्रभाव से असुरों को दिन–प्रतिदिन अनेकानेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। बड़े–बड़े उद्योगपति बाक्साइट प्राप्त करने के लिए आदिवासी क्षेत्रों में हस्तक्षेप करते है तो दूसरी तरफ बाक्साइट प्राप्त करने के पश्चात् उन गड्ढों को जस का तस छोड़ देते है जिसमें बरसात के दिनों में पानी भरने से वहाँ पर तरह–तरह की बिमारियाँ फैलती है। बाक्साइट लेने के पश्चात् छोड़े गए गड्ढों को देखकर आक्रोश के ज्वर में रामकुमार कहता है **''पिछले पच्चीस–तीस सालों में खान मालिकों ने जो बड़े–बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते है। सैलेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी। मुड़ीकटवा से तो साल में दोबार भेंट होती है, किंतु इस जानमारू से तो हर रोज़ भेंट होती है।''**[5]

रणेन्द्र का गायब होता देश (2014) उपन्यास मुंडा आदिवासी समाज पर आधारित है। जिसमे लेखक बाहरी प्रवेश से समाप्त होते झारखण्ड आदिवासी समाज का यथार्थ वर्णन करते है। भूमण्डलीकरण के दौर में बड़े–बड़े पूँजीपति तथा उद्योगपति अपने औद्योगिक तथा रियल स्टेट को बढ़ावा देने के लिए आदिवासी क्षेत्रों में सरकारी सहायता से हस्तक्षेप करते है। और वहाँ के आदिवासी समाज को विश्वास दिलाया जाता है कि इससे इनके औद्योगिक

विकास के साथ–साथ आदिवासी क्षेत्रों का भी विकास होगा किंतु इससे आदिवासी समाज पतन की खाई में गिरता हुआ चला जाता है। यदि कोई इनका विरोध करे तो उसे नक्सली घोषित कर या तो उसकी हत्या कर दी जाती है या उसे नक्सली सगठनों के साथ मिला हुआ घोषित करके नौकरी से बाहर कर दिया जाता है। उपन्यास में जब वीर चक्र प्राप्त परमेश्वर पाहन दुमली बाँध परियोजना का विरोध करता है तो उसे नक्सली संगठनों के साथ मिला हुआ घोषित करके उसकी हत्या कर दी जाती है।

संजीव का पाव तले की दूब (1995) उपन्यास में ले खक सुदीत की आत्मकथा में लेखक पंचपहाड़ी में डोकरी ताप विद्युत संस्था तथा बाघमुड़ी गाँव के आदिवासियों का ज्वलंत यथार्थ प्रस्तुत करते है जहाँ पर लोगों के जीवन में अथक परिश्रम के पश्चात् भी उनकी जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पाती। तो दूसरी तरफ विकास के नाम पर वहाँ अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होती है। बढ़ते कारखानों से वहाँ के वायु प्रदूषण होने से अनेकानेक बिमारियाँ फैलती है जिससे वहाँ के लड़के–लड़कियाँ लकवा से ग्रस्त हो जाते है जिससे उन्हें अनेक तरह की समस्याओं का सामना करना पडता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लगातार बढ़ते बाह्य लोगों के प्रवेश ने आदिवासी जीवन को तहस–नहस कर दिया है। प्रकृति पर निर्भर रहने वाले आदिवासी जो प्रकृति से ही अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे आज उनके जंगलों में प्रवेश से रोक लगने के कारण उनको अपनी भूख को शांत करने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ता है। गरीबी के कारण लड़कियाँ बाहर काम करने के लिए मजबूर होती है जिसके कारण बाह्य समाज उनका शोषण करता है। अतः आज आदिवासी लोगों का जीवन पूर्णतः संघर्षमय है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आदिवासी : अवधारणा और अर्थ : गंगा सहाय मीणा, आदिवासी साहित्य विमर्श (सं) : गंगा सहाय मीणा, पृ. 19.
2. डॉ. अम्बेडकर के आंदोलन में आदिवासियों का स्थ. ान : माया बोरसे, आदिवासी कौन : (सं) रमणिका गुप्ता पृ. 86.
3. विकाश के नाम पर विनाश एवं विकास के सुझाव : प्रभाकर तिर्की, आदिवासी कौन : (सं) रमणिका गुप्ता, पृ. 43
4. आलोचना – जुलाई–सितम्बर 2001, पृ. 87.
5. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, पृ. 13.

*****

असम के नाट्य साहित्य का विकास

डॉ. अजय कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
सत्यवती कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिंदी साहित्य के विभिन्न काल की ही तरह असमिया साहित्य को भी पाँच कालों में विभाजित किया गया है। आदि काल (900-1300 ई.), पूर्व वैष्णव काल (1300-1490 ई.), वैष्णव काल (1490-1700 ई.), अहोम काल (1700 - 1830 ई.) तथा आधुनिक काल (1830 से अब तक) । असमिया साहित्य का आरंभिक रूप सहजयानियों के चर्यापद एवं दोहों में उपलब्ध है। असम में हिंदी साहित्य का सृजन हिंदी प्रांतों के साहित्य सृजन के समय ही हो रहा था। अंतर इतना है कि हिंदी भाषी प्रांतों में इसका विकास निरंतर होता रहा, असम में यह कार्य निरंतर नहीं हुआ। परिस्थिति और परिवेश की भिन्नता इसका मूल कारण है। इस शोध-पत्र में मोटे तौर पर असमिया नाट्य साहित्य के विकास का एक संक्षिप्त परिचय मात्र देने का प्रयास किया जा रहा है।

भारत के पूर्वी अंचल स्थित असम की भाषा असमिया है। उड़िया और बांग्ला के समान असमिया भाषा मागधी अपभ्रंश के उत्तर-पूर्वी रूप से उद्भूत भारतीय आर्य भाषा है। इसकी परंपरा नाटक और रंगमंच दोनों क्षेत्रों में समृद्ध रही है। "प्रारंभिक स्थिति में असम में नाट्याभिव्यक्ति को 'भ्योना' और अभिनेताओं को 'भावरिया' कहते थे। भावरिया मूलतः कवि होते थे, जो विभिन्न सामाजिक आयोजनों पर गीतों की रचना करने एवं उनकी श्रृंखला जोड़ने का कार्य संपादित करते थे।"[1] असम के अतिप्राचीन एवं अतिप्रसिद्ध लोकनृत्य-नाट्य 'ओझापाली' में पूर्णतः नृत्य के साथ संगीत का संयोजन रहता था। कलांतर में जब लोकगीतों की इस शैली में धार्मिक कथानकों को लेकर नाट्य रचना होने लगी, तब अंकिया नाट्य का प्रारंभ हुआ। "असमिया नाटकों का प्रारंभ श्री शंकरदेव के नाम से संबद्ध 'अंकिया नाट' (जो मध्ययुगीन नाट्य रचना थी) प्रकार के नाटकों से होता है।" [2] 15वीं शती के अंत और 16वीं शताब्दी के आरंभ में शंकरदेव ने अपनी नई वैष्णव विचारधारा के प्रचारार्थ साधनरूप में गीतों, पदों और घोषा की रचना के साथ – साथ विविध अंकिया नाटकों का सृजन किया। इनका प्रथम 'अंकिया नाट' 'चिह्न यात्रा' माना गया है"।[3] शंकरदेव की सभी रचनाएँ प्रायः पुराणों पर आधारित हैं और ये वैष्णव धर्म के प्रचार का साधन मात्र थीं। अतः "इनके प्रधान विषय थे - राम और कृष्ण की जीवन की घटनाओं द्वारा उनके महात्म्य की स्थापना करना, एकशरणीय भागवत धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना तथा भक्त और भगवान संबंधी विविध रहस्यों का उद्घाटन करना आदि। संक्षेप में अंकिया नाट्य एक प्रकार के एंकाकी नाटक थे।"[4] वैष्णव धर्म के विविध पहलुओं पर विचार करना ही इन रचनाओं का एक मात्र उद्देश्य था। "शास्त्रीय साहित्य के ज्ञाता शंकरदेव ने इन रचनाओं के आरंभ के आरंभ में आवश्यकतानुसार संस्कृत एवं जननाट्य शैली का प्रयोग किया है।"[5] यथा इन रचनाओं के आरंभ में सूत्रधार की योजना की गई है, किंतु वह संस्कृत नाटकों के समान केवल नांदी पाठ और प्रस्तावना नहीं कराता, अपितु लोकनाट्य शैली के समान आदि से अंत तक रंगमंच पर रहकर घटना क्रम तथा पात्रों का परिचय, स्वरूप वर्णन एवं प्रवेश प्रस्थान का परिचय भी देता रहता है। इनकी समाप्ति प्रायः सुखांत रहती थी। "धार्मिकता की प्रधानता होने के कारण इनमें चरित्र चित्रण को विशेष स्थान नहीं मिला। इनमें अतिप्राकृत तत्वों एवं अलौकिक शक्ति की बहुलता है। इन 'नाटों' की भाषा में मैथिली और असमिया भाषा के शब्दों का मिश्रण है। इनमें अंक व दृश्यपरिवर्तन की पद्धति नहीं है। इनके एक ही दृश्य में कथा में कथा के प्रारंभ, विकास, परिणति एवं फलप्राप्ति के दर्शन होते हैं। विद्वानों ने इन्हें अभिनेयता के गुणों से संपन्न माना है।"[6] इनमें लचीलापन, ध्वन्यात्मक – माधुर्य तथा अपभ्रंश की ओजस्विता आदि गुण निहित है।

श्री शंकरदेव के अनुकरण पर इनके शिष्यों द्वारा कई अंकिया नाट लिखे गए। इनमें उल्लेखनीय श्री माधवदेव ही थे। इन्होंने अर्जुनभंजन, भोजन-व्यवहार, भूमि लेटोवा, भूषण हेरोवा, राम झूमर, कटोरा-खेला आदि कृष्णलीला से संबंधित नाटक लिखे। गोपियों और यशोदा के दधिमंथन, कृष्ण के स्तनपान, मथानी को पकड़ना, दही के पात्र तोड़ना, माखन खाना आदि घटनाओं का मार्मिक चित्रण इनके नाटकों में मिलता है। इस प्रकार इनके नाटकों में श्रीकृष्ण के बाल चरित्र का वर्णन बहुत ही सजीव हुआ है किंतु गुरु और शिष्य की भक्तिनिरूपण पद्धति में अंतर है, यथा- श्री शंकरदेव की रचनाओं में दास्य भाव की भक्ति पर बल दिया गया है तो माधवदेव की रचनाओं में वात्सल्य भाव पर। इन रचनाओं की विशिष्टता सुबोधता एवं गीत प्रधानता है। कथा के प्रारंभ, विकास और अंत में एकसूत्रता बनी रहती है। कथोपकथन वक्रोक्तियुक्त हैं। सभी नाटक सुखांत एवं सोद्देश्य हैं।

आधुनिक अर्थों में जिसे नाटक कहा जाता है, उसकी नींव रखने का श्रेय नाटककार गुणाभिराम बरुआ (1836-1894), हेमचन्द्र बरुआ (1836-1896) और रुद्रराम बरदलै को है। इनकी उल्लेखनीय रचनाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं - 'रामनवमी', 'कानीया कीर्तन' तथा 'बंगाल-बंगालिनी'। इन तीनों रचनाओं का विषय सामाजिक है, यथा - 'रामनवमी' नाटक विधवा विवाह पर आधारित है तो 'कानीया कीर्तन' अफीम के व्यसन से नैतिक अवनति के गर्त में पड़े तत्कालीन शिष्ट, किंतु पथभ्रष्ट लोगों का चित्रण

प्रस्तुत करता है। उपर्युक्त नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ हैं -यथार्थवादी दृष्टिकोण, देशकाल चित्रण और हास्यपूर्ण सुंदर व्यंग्य चित्र। "रामनवमी और बंगाल-बंगालिनी सुखांत प्रहसन हैं जबकि कानीया कीर्तन दुखांत है। "इनमें कानीया कीर्तन नाट्यसिद्धांत की दृष्टि से उत्तम रचना है। आरंभ की प्रस्तावना और नांदी का आभाव है। चार अंकों वाली इस रचना के प्रत्येक अंक में चार दृश्य हैं। नाटककार के चरित्रचित्रण और गद्यशैली में स्वाभाविकता एवं यथार्थता है।"[8]

नाट्यकला का सुविकसित उदाहरण हमें प्रतिभाशाली लेखक लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (1867-1938) और पद्मनाथ गोहाई बरुआ में मिलता है। बेजबरुआ के प्रसिद्ध नाटक -चक्रध्वजसिंह, बेलिमार, जयमती आदि। उपर्युक्त रचनाएँ ऐतिहासिक हैं, यथा चक्रध्वजसिंह में राजा चक्रध्वजसिंह के राज्यकाल में मुस्लिम आक्रमकों को मार भगाने की घटनाओं का चित्रण है। 'बेलिमार' में अहोम राजाओं की विलासिता के कारणों एवं बर्मा के आक्रमण के फलस्वरूप असम की स्वतंत्रता के सूर्यास्त होने का वृत्त संजोया गया है। 'जयमती' नाटक सत्रहवीं शताब्दी की एक राजकुमारी की अहिंसात्मक दृष्टि, सहिष्णुता तथा धीरता आदि गुणों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जयमती देशहित की दृष्टि से तत्कालीन नरेश को अपने फरार पति के संबंध में सूचना नहीं देती, फलस्वरूप उसे कठोर यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। "नाटककार द्वारा इस नाटक में ऐतिहासिक तथ्यों, मुख्यपात्री के चरित्र-संपादन के साथ-साथ एक नाग कन्या डालिमी के चरित्र के आसपास रोमांटिक विस्मय का भाव बुना गया है।"[9]

पद्मनाथ गोहाई बरुआ की गणना असमिया के उत्कृष्ट नाटक लेखकों में होती है। इन्होंने ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों प्रकार के ही विषयों पर नाट्य रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उनके नाटक 'जगमती' (1900), 'गदाधर' (1907), 'साधना' (1911) तथा अहोम आदि इतिहास पर आधारित नाटक हैं। डॉ. प्रफुल्ल गोस्वामी के अनुसार "उपर्युक्त सभी नाटक ऐतिहासिक संभाव्यता के अनुरोध की रक्षा करते हैं।"[10] सभी नाटक संघर्षप्रधान हैं, असमी मुगल संघर्ष की तीव्रता की दृष्टि से 'तंचित वरफुकन' उत्तम रचना मानी गई है।[11] कई समीक्षक इन कृतियों को नाटकीय कलागत वैशिष्ट्य व परिष्कृति से रहित मानते हैं। इस संबंध में विरिंचकुमार बरुआ का मत हैं, "कथानक के विकास की दृष्टि से उनके नाटकों में संयम का सर्वथा आभाव दृष्टिगत होता ही है, साथ ही इनमें कोई नई दिशा या प्रकाश भी नहीं दिखाया। अति भावुकतापूर्ण, भूतप्रेत, परलोक-विषयक वस्तुओं के अनावश्यक वर्णन, प्रकृति प्रेम, प्रयोजनहीन संवाद और हास्यभरे अनुचित दृश्यों के कारण इन ऐतिहासिक नाटकों में कथानक के सहन संगठित विकास में बाधा पड़ी है।"[12]

इन ऐतिहासिक रचनाओं के अतिरिक्त गोहाई बरुआ ने अन्य रचनाएँ भी लिखीं, जिनमें विशेष प्रसिद्धि प्राप्त सुखांत कृति 'गाँव बुढा' है। इसमें सामन्य जनता की कठिनाइयों के चित्रण में लेखक ने बड़ी सजगता और कुशलता से काम लिया है। नाटक का आरंभ ग्रामीण वातावरण से होता है। ब्रिटिश शासन के अधिकारियों द्वारा पीड़ित निम्नवर्ग के कष्टों की कहानी भी यही से आरंभ होती है। प्रस्तुत नाटक में गाँव की सरपंची के अवैतनिक पद से परेशान एक बूढ़े की जिम्मेदारियों, उसके कष्टमय जीवन एवं उससे संबंधित सामाजिक पहलुओं का बड़ी सहानुभूति के साथ यथार्थ चित्र खिंचा है। इस नाटक की विशिष्टता इसके कथोपकथन हैं - जो अत्यंत स्वाभाविक बन पड़े हैं।

पद्मनाथ गोहाई के पूर्ववर्ती नाटककारों में दुर्गाप्रसाद दत्त मजूमदार बरुआ हैं। इनका प्रहसन 'महरि' रोचक एवं तत्कालीन परिस्थितियों का परिचायक है। इसमें दो अंक और तेरह दृश्य हैं। इसमें चाय बगान में कार्यरत एक युवक का संघर्ष, खिन्नता तथा मेजर की सनक की अभिव्यक्ति हुई है। इसके संवाद स्वाभाविकता की कसौटी पर खरे उतरते हैं। इस समय के दूसरे नाटककार बेनुधर राजखोआ के हास्यपूर्ण नाटक, यथा - 'कुरिशतिकार', 'सभ्यता' तथा 'तिनि धैनी' आदि नाटकों की परंपरा को आगे बढाते हैं। इसी शती के महत्वपूर्ण नाटककार चन्द्रधर बरुआ है। इनके मेघनाद वध और तिलोत्तमासंभव नाटक पौराणिक नाटक है, जो कि अतुकांत छंद में है। "इनकी रचनाओं में रचनातंत्र विशेषकर वस्तुविन्यास और चरित्र चित्रण पर माइकेल मधुसूदन का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।"[13] चन्द्रधर की एक अन्य कृति ' भाग्य परीक्षा' गद्य - पद्यमय सुखांत नाटक है। इसमें ग्राम का बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है। कथोपकथन जन भाषा में है। पात्रों के परिहासपूर्ण वार्तालाप हास्य की शिष्टता और स्वाभाविकता की कसौटी पर खरे उतरते हैं।

भारत भर में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव असमिया समाज और नाटककारों पर भी पड़ा। यही कारण है कि इस काल में राष्ट्रीयता की भावना एवं वीर रस से ओत-प्रोत नाटक बड़ी संख्या में निर्मित हुए। 20वीं शती के प्रारंभिक चरण के प्रमुख नाटकों में राधाकांत संदिकाई के 'मुला-गाभारु' (1924), नकुबचंद्र भुइयाँ के 'चंद्रकांत सिंह' और 'वदन-वरफूकन', देवाचंद्र तालुकदार का 'भास्कर वर्मन', शैलधर राजखोवा का 'स्वर्गदेव', प्रताप सिंह और गणेशलाल चौधरी के 'नीलंबर' आदि। इनमें 'भास्कर वर्मन' श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटक माना जाता है।

यद्यपि स्वंतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी देशभक्ति की भावनाओं से परिपूर्ण नाटकों का ही बोलबाला रहा तथापि दूसरे प्रकार की सामाजिक-यथार्थवादी नाटकों की रचनाएँ भी काफी संख्या में हुई। चंद्रकांत फूकन के 'पियली फूकन' और प्रवीण फूकन के 'मणिराम दीवान' में १९वीं सदी के उन दो देशभक्तों का जीवन व्यक्त हुआ है, जिन्होंने इस देश में अंग्रेजों को खदेड़ बाहर करने का प्रयत्न किया था। ये रचनाएँ ऐतिहासिक परंपरा को आगे बढ़ाती है। इसी समय ज्योति प्रसाद अग्रवाल ने 'शोनित कुंवरी ' नामक पौराणिक नाटक तथा 'कारेगार लिगरी' (महल की दासी) नामक रोमानी नाटक लिखकर विशेष ख्याति प्राप्त की। ये नाटक रचनागत विशिष्टता रखते हैं। इनमें रंगमंच संबंधी विस्तृत निर्देश दिए गए हैं। "'कारेगार लिगरी' नामक रोमानी नाटक में नाटककार की प्रतिभा एवं अभिव्यंजना शक्ति के सहज दर्शन हो जाते हैं। यह रचना तार्किकता एवं यथार्थता आदि तत्वों से भी संपन्न है। इसके गीत भी सर्वोत्तम बन पड़े हैं।"[14] इस नाटककार की एक अन्य रचना 'लमिता' भी उल्लेखनीय है। यह नाटक काव्य गुण संपन्न है। इसमें असम की पृष्ठभूमि एवं राजनीतिक घटनाक्रम के साथ -साथ एक सामान्य ग्राम बालिका लतिका की आत्म शक्ति का प्रदर्शन भी भली भांति हुआ है। प्रस्तुत कृति रोचक एवं नाटकीय ढाँचे में प्रायः स्वच्छ एवं निर्दोष है। इसी प्रकार की अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं - लक्ष्मीकांत दत्त का 'मुक्ति-अभिज्ञान' तथा सुरेन सैकिया का' कुशल कुँवर' आदि। ज्योतिप्रसाद अग्रवाल की रोमानी ढंग की रचनाओं के समान कमलानन्द भट्टाचार्य ने भी कई रचनाएँ लिखी हैं।

समकालीन नाटक सामाजिक प्राधान्य है। प्रवीण फूकन के नाटक 'काल परिणय' (दुखद विवाह) और 'सतीकार बान' (शती की बाढ) आदि इस परंपरा को पुनर्जीवित करते हैं। सामाजिक ढोंग और वर्ग भेद जैसी रूढ़ियों से उत्पन्न विकृतियों

का इस समय के नाटकों में मार्मिक चित्रण हुआ है। लेखक हास्य और व्यंग्य की चोट से अपने अभीष्ट की सिद्धि में सफल होता है। इसी परंपरा में सत्यप्रकाश बरुआ, कुमुदचंद्र बरुआ, पार्वतीप्रसाद बरुआ, कीर्तिनाथ बारदोलाई तथा साखा बारदोलाई आदि के नाटक मिलते हैं जो समस्या प्रदर्शन और पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से सुंदर एवं सफल कहे जा सकते है। इन नाटकों का आरंभ समस्या के उद्घाटन के बीच होता है। विपरीत वृत्तियों का संघर्ष निरंतर चलता है। जिससे से नाटकीय स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं एवं पात्रों के आंतरिक पक्ष का स्वाभाविक विश्लेषण होता चलता है। इनके नाटकों के आरंभ एवं शीर्षक कहानी की संवेदना से तादात्म्यता रखते हैं। इनका उद्देश्य समस्यापूर्ण एवं यथार्थ है।

एकांकी के क्षेत्र में भी असमिया नाटक का खूब विकास हुआ है। आधुनिक समय में रेडियो नाटकों के माध्यम से असम की नाट्य परंपरा और समृद्ध हो रही है। इस क्षेत्र में अपना उल्लेखनीय योगदान देने वाले नाटककार - लक्ष्मीधर शर्मा, सत्यप्रसाद बरुआ, उग्र कतकी, नवकांत बरुआ आदि पूर्ववर्ती रचनाकारों में अधिक व्यापक एवं बौद्धिक दृष्टिकोण लिए हुए अपने नाटकों की रचना करते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि असमिया नाटकों की प्रगति तथा विकास प्रक्रिया बड़ी उत्साहवर्धक है। असमिया नाटककार ऐतिहासिक, पौराणिक एवं समस्या प्रधान नाटकों के सृजन में तल्लीन रहकर इसे विकास और चरमोत्कर्ष की सीमा तक ले जाना चाहता है। आरंभ से लेकर अब तक नाटक के क्षेत्र में विभिन्न विषयगत शैलियाँ - पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं यथार्थवादी आदि प्रवाहित होती रही हैं। यह बात भिन्न है कि बीसवीं सदी की नाटकीय रचना कौशल पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक है। इनमें सोद्देश्यता उभरी हुई है तथा ये रंगपीठ के नाटकीय व्यापार से समृद्ध हैं। यही नहीं ये नाटक मनोविज्ञान एवं आत्मविश्लेषण के तत्त्वों से पुष्ट हैं। पात्रों में निजत्व है, मानवीय पूर्णता है। भाषा में स्वाभाविकता एवं प्रवाह के तत्त्व हैं। इनमें देशकाल परिस्थिति का चित्रण भी सशक्त है। इनका उद्देश्य समस्यापूर्ण एवं यथार्थ है, किंतु ये रचनाएँ लक्ष्यात्मक होती हुई भी अनुभूतियों से संपूर्ण हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि असमिया नाटककारों ने अपने नाटकों के रूपगठन को रंगमंच के तत्त्वों द्वारा निर्मित किया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-

1. . डॉ. दशरथ ओझा - नाट्य समीक्षा , नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ - 104
2. . श्रीकृष्ण दास - हमारी नाट्य परंपरा, पृष्ठ - 222, 244
3. . साहित्य संदेश - जुलाई - अगस्त 1955, पृष्ठ - 75
4. . डॉ. श्याम परमार - लोकधर्मी नाट्य परंपरा, पृष्ठ - 60
5. . डॉ. दशरथ ओझा - नाट्य समीक्षा ,पृष्ठ -63
6. . Indian Drama, page-35
7. . श्रीकृष्ण दास - हमारी नाट्य परंपरा, पृष्ठ - 242
8. . सेठ गोविंददास अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ - 483
9. . आज का भारतीय साहित्य - साहित्य अकादमी, पृष्ठ - 11
10. . सेठ गोविंददास अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ - 488-489
11. . सेठ गोविंददास अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ - 488-489
12. . आज का भारतीय साहित्य - साहित्य अकादमी, पृष्ठ - 11-12
13. . आज का भारतीय साहित्य - साहित्य अकादमी, पृष्ठ - 12
14. . Indian Drama, page-35

*****

आधुनिक शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन के शैक्षिक विचारों की प्रासंगिकता

डॉ.हेम चन्द्र
असिस्टेंट प्रोफेसर
शिक्षा संकाय (बी०एड० विभाग)
लाल बहादुर शास्त्री राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
हल्दूचौड़, (कुमाउँ विश्वविद्यालय नैनीताल उत्तराखण्ड)
hem2312pandey@gmail.com

डॉ.गीता तिवारी पाण्डे
असिस्टेंट प्रोफेसर
(राजनीति विज्ञान विभाग)
लाल बहादुर शास्त्री राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
हल्दूचौड़, (कुमाउँ विश्वविद्यालय नैनीताल उत्तराखण्ड)
tiwarigeeta987@gmail.com

सारांशः-

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन और विकास का एक महत्वपूर्ण माध्यम है तथा यह किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा देश की प्रगति को निर्णायक दिशा देती है। गुणवत्तापरक शिक्षा के प्रचार-प्रसार द्व ारा ही देश के विकास को वांछित गति एवं दिषा दी जा सकती है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा व्यवस्था ऐसी हो, जो सतत परिवर्तनशील समाज की वैविध्यपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। डॉ० राधाकृष्णनन ने छात्र संकल्पना, शिक्षक संकल्पना, छात्र-शिक्षक संबंध, सामान्य शिक्षा, उदार शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, अध्यापकों की शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, स्त्री शिक्षा, विश्वविद्यालयी शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने विश्वविद्यालय शिक्षा के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया। डॉ० राध ाकृष्णनन ने न केवल शैक्षिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया बल्कि उसे वास्तविक शैक्षिक परिस्थितियों में भी व्यवहृत किया। उन्होंने व्यावहारिक परिस्थितियों में शिक्षण करके अपने शैक्षिक विचारों का निर्माण किया। डॉ. राधाकृष्णन के स्वतन्त्रता संबंधी विचारों में व्यक्तिवाद तथा आदर्श दोनों का सम्मिश्रण मिलता है। उन्होंने कहा कि किसी देश की शैक्षिक, राजनैतिक, सामाजिक चेतना उस देश के विश्वविद्यालय की श्रेष्ठता के अभिन्न होते है।

मुख्य शब्द- दर्शनशास्त्र, शिक्षा, संप्रत्य, आत्म-ज्ञान, धर्म, शैक्षिक विचार, चरित्र निर्माण्इं

१.प्रस्तावना :

शिक्षा की परम्परागत अवधारणा में शिक्षक एवं पाठ्यसामग्री का ही पूर्ण वर्चस्व है। एक विशिष्ट चरण में पूरी की जाने वाली पाठ्यसामग्री को निश्चित करते समय बच्चे की क्षमता की अपेक्षा जो ज्ञान उपलब्ध है, उस पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यह ज्ञान विभिन्न पाठ्यक्रमों में फैला होता है और फिर उसे विद्यालयीय वर्षों में विभाजित किया जाता है। सबसे बड़ी चिंता की बात तो यह है कि ज्ञान का यह वितरण पाठ्यक्रम एवं अधिगम संबंधी शोधों की अपेक्षा कामचलाऊ, समयोजित विशेषज्ञ माने जाने वाली राय द्वारा नियंत्रित होता है। पाठ्यक्रम का बढ़ता हुआ बोझ, मोटी होती पाठ्य पुस्तकें और बड़े होते विद्यालयीय बस्ते, उसके सहज परिणाम है। यदि विद्यालयीय बस्ते इसी गति से बढ़ते रहे तो वह दिन दूर नहीं जब बच्चे की चाल-ढाल (च्वेजनतम) की क्षति आनुवंशिक हो जाएगी। ऐसी व्यवस्था में शिक्षा पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक पर केन्द्रित हो जाती है तथा इसकी कीमत बच्चे को चुकानी पड़ती है।[1]

अतः शिक्षक को ध्यान देना होगा कि शिक्षण को न केवल आनंददायी अनुभव वरन् उसे ज्ञानार्जन एवं सफलता के पर्याप्त स्तर को सुनिश्चित करने वाला भी होना चाहिए और यह शिक्षण आनंददायी तभी माना जायेगा, जब किसी कक्षा में सभी बच्चे सफलता का अनुभव करने लगें। किसी भी कार्य को वांछित दिशा देने के लिए उसके उद्देश्यों को निर्धारित करना अत्यन्त आवश्यक है। उद्देश्य के निर्धारण के बिना कार्य की पूर्णता असम्भव है। अतः व्यक्ति के विकास में शिक्षा के उद्देश्यों का भी अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। अतः शिक्षा के महत्वपूर्ण उद्देश्यों के विषय में सर्वपल्ली डॉ. राध ाकृष्णन के विचार क्या हैं? यह जानना प्रासंगिक है।

२.सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि :

आधुनिक काल के शिक्षाविदों और दार्शनिकों में डॉ. सर्वपल्ली राध ाकृष्णन का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने शिक्षा के महत्व, उसकी दार्षनिकता तथा पुराने शिक्षा सिद्धांतों से लेकर आधुनिक काल की शैक्षिक विचारधारा के बीच एक तादातम्य स्थापित किया है।

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन ने राजनीतिक और दर्शन, शिक्षा में ऊँचे से ऊँचा स्थान प्राप्त किया है। वे एक शिक्षक से लेकर विश्वविद्यालय के कुलपति, विदेशी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं देश के सर्वोच्च पद राष्ट्रपति पर आसीन हुए हैं, वे देश के सर्वोच्च अलंकरण ''भारत

रत्न" से भी अलंकृत हुये।

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन बीसवीं शताब्दी के अद्वितीय एवं महान पुरूष थे। उनकी महानता को न केवल राष्ट्रपति के समकक्ष रखते हैं बल्कि उनका बौद्धिक धरातल इस पद की तुलना में बहुत समुन्नत था। वे लोकदेव तो थे ही केवल राष्ट्रवाद एवं शिक्षा ही उनका चिन्तन विषय नहीं था बल्कि वे अन्तर्राष्ट्रीय बंधुत्व के प्रशंसक थे। समाजवादी और गैर समाजवादी राज्यों के कर्णधारों ने उन्हें सम्मानित ही नहीं किया बल्कि उनकी बौद्धिक सजगता वैचारिक परिपक्वता उच्चादर्श के महान साधन के रूप में उनके विचारों को सराहा, वे राष्ट्रपति से कुछ अधिक थे।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार स्वतंत्रता शिक्षा का लक्ष्य है। उन्होंने दुःख पूर्वक कहा कि वर्तमान शिक्षा पद्धति विद्यार्थियों में स्वतंत्र चिंतन का विकास नहीं करती है। विद्यार्थियों को ये नहीं पता है कि उच्च चिंतन क्या है। उसमें रचनात्मकता का विकास नहीं होता है। हमारी संस्थायें मानव मशीन तैयार कर रही हैं, विकसित मानव नहीं। सच्ची शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को विकसित करना होना चाहिए। उसमें स्वतंत्र मस्तिष्क, रचनात्मक प्रवृत्ति और आत्मिक मूल्यांकन का विकास करना चाहिए। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार जीवन का उद्देष्य मस्तिष्क को प्रशिक्षित करना है जैसा कि उन्होंने कहा है-

> "The real aim of education is to help man to know the inner essence." [2]

शारीरिक तथा भौतिक उन्नति ही शिक्षा का उद्देष्य नहीं है, सच्ची शिक्षा कोई डिप्लोमा या डिग्री प्राप्त कर लेना नहीं है, यह आत्म-विकास है। डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में-

> "The real aim of education is this that the character of man may become rhythmic and his soul creative." [3]

३.<u>सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य</u> :

प्रारम्भ से अंत तक शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना है यह ज्ञान केवल पुस्तकों से ही नहीं प्राप्त किया जा सकता है। पुस्तकें मानव व्यक्तित्व को परिवर्तित नहीं कर सकती हैं। यह परिवर्तन शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है। परिवर्तन केवल ज्ञान का अभ्यास करके प्राप्त किया जा सकता है। मानव स्वतंत्रता को वास्तविक रूप देने के लिए परिवर्तन आवश्यक है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार-

> "The freedom of human soul is the most valuable." [4]

अतः शिक्षा का उद्देश्य इस स्वतंत्रता को वास्तविक रूप प्रदान करना है। यह स्वतंत्रता चरित्र निर्माण का आधार है।

अधिकतर समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिकों के अनुसार, शिक्षा मनुष्य निर्माण की एक प्रक्रिया है। मनुष्य निर्माण का तात्पर्य है चरित्र निर्माण, जैसे कि डॉ. राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है-

> "The fate of a nation depends upon character. A country whose people have low character can never become great. When we want to build a great nation, we should educate more and more young men and women in such a way that they may have strength of character."[5]

नैतिक चरित्र ने विश्व बन्धुता को सर्वोच्च गुण माना है। डॉ. राधाकृष्णन ने शिक्षा का उद्देश्य मानववादिता तथा अन्तराष्ट्रीयवादिता माना है।

शिक्षण में शिक्षा का उद्देश्य आत्म-अभिव्यक्ति है। यह भाषा पर अधिकार से संभव है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार अर्न्तज्ञान के विकास के अभाव में कोई शिक्षा पूर्ण नहीं है। प्राचीन भारतीय उपनिषद अर्न्तज्ञान को बुद्धि और शिक्षा से पहचानते हैं। अर्न्तज्ञान केवल पुस्तकों के अध्ययन से नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए योग्य परीक्षण के द्वारा पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता होती है।

आधुनिक शिक्षा प्रायः मानसिक या बौद्धिक विकास की ओर अधिक बल देती है इसका सम्बन्ध भौतिक विकास से अधिक हो गया है और आध्यात्मिक विकास से कम। आज हम भूल गये हैं कि आध्यात्मिक विकास से ही मौलिकता की प्राप्ति होती है। इस सम्बन्ध में तत्वज्ञानी सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन का मत है कि-"शिक्षा का उद्देश्य न तो राष्ट्रीय दक्षता है और न विश्व एकता, अपितु इसका उद्देश्य व्यक्ति को यह अनुभव कराना है कि उसके अन्दर प्रज्ञा से बढ़कर कुछ और है जिसे आत्मा की संज्ञा दी जाती है।"[6]

डॉ. राधाकृष्णन की शिक्षा का वास्तविक उद्देष्य आन्तरिक शक्तियों को विकसित, प्रशिक्षित तथा अनुशासित करने के साथ ही बालक को परम्परागत विचारों तथा अन्धविश्वास के बन्धन से मुक्त कराना था।

उनकी शिक्षा का लक्ष्य वास्तविक वातावरण से हटकर सब प्रकार की स्वतंत्रता की ओर ले जाना था। वे, शिक्षा द्वारा छात्रों में आध्यात्मिक विकास कर उनमें बहुजय हिताय की भावना का विकास करना चाहते थे, क्योंकि निःस्वार्थ सेवाभाव तथा परमात्मा में आस्था रखने वाला व्यक्ति ही समाज एवं राष्ट्र का उत्थान कर सकता है। इस प्रकार उनकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है- बालक व्यक्तित्व का बहिर्मुखी विकास तथा शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का समन्वित उन्नयन।

अतः डॉ. राधाकृष्णन ने शिक्षा के अग्रलिखित उद्देश्य निर्धारित किये-

३.१अंतर्निहित योग्यताओं की अभिव्यक्ति :

यह शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्य है। डॉ. राधाकृष्णन का अभिमत है कि शिक्षा को बालक के भीतर छिपी हुई योग्यताओं को पहचानकर उन्हें पूर्ण विकसित करने का प्रयास करना चाहिए।[७]

३.२चरित्र-निर्माण :

डॉ. राधाकृष्णन ने बालक के चरित्र निर्माण को भी शिक्षा का अत्यंत महत्वपूर्ण उद्देश्य माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट लि खा है- ''चरित्र के द्वारा राष्ट्र के भाग्य का निर्माण होता है। जिस देश के निवासियों का चरित्र नीचा है वह देश कभी भी महान नहीं बन सकता यदि हम एक महान राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें युवक और युवतियों को इस प्रकार शिक्षित करना होगा कि उनमें चरित्र बल हो।''[८]

३.३संकल्प शक्ति का विकास :

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य संकल्प शक्ति का विकास होना चाहिए। क्योंकि संकल्प शक्ति ही मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति को क्रियाशील बनाती है। जिस व्यक्ति की संकल्प-शक्ति जितनी दृढ़ होगी वह उतना ही क्रियाशील होगा एवं अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होगा। संक्षेप में व्यक्ति अपनी संकल्प शक्ति के बल पर अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है।[९]

३.४धर्म भावना का विकास :

आज संसार में सभी जगह असंतोष, रोष, हिंसा और अशांति का बोलबाला है। डॉ. राधाकृष्णन के मत में इस संकट का सबसे बड़ा कारण धार्मिकता या धर्म भावना का विनाश है। इसी ने हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में असंतोष, अशांति, अव्यवस्था और विघटन के बीज बोये हैं। डॉ. राधाकृष्णन का अभि. ामत है कि हिन्दू धर्म में एक 'सार्वभौमिक विश्वधर्म' की क्षमता है। उनके मत में हिन्दू धर्म किसी संप्रदाय विशेष का धर्म नहीं वह तो सत्य की खोज करने वाले व्यक्तियों का भ्रातृ मंडल है।[१०]

३.५लोकतंत्र का संरक्षण एवं पोषण :

डॉ. राधाकृष्णन विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के अध्यक्ष रहे हैं। जिसमें प्रजातंत्र के पोषक तत्वों के रूप में न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा का उल्लेख किया गया है। इसमें स्पष्ट कहा गया है कि हम न्याय स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की खोज में व्यस्त हैं। अतः हमारे विश्वविद्यालयों को अनिवार्य रूप से इन आदर्शों का संरक्षक एवं पोषक होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि डॉ. राधाकृष्णन प्रजातंत्र के पोषक और संरक्षण को भी शिक्षा का एक प्रमुख लक्ष्य मानते हैं।[११]

३.६नेतृत्व की क्षमता का विकास :

प्रजातंत्र की सफलता अच्छे नेतृत्व पर निर्भर करती है। इसीलिए विश्वविद्यालय आयोग के माध्यम से डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि हमारे विश्वविद्यालयों को विभिन्न क्षेत्रों- राजनैतिक, सामाजिक, व्यावसायिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में नेतृत्व कर सकने वाले नागरिकों का निर्माण करना चाहिए।[१२]

३.७भाईचारे या विश्वबंधुत्व की भावना का विकास :

डॉ. राधाकृष्णन ने भारतीय संस्कृति की वसुधैव कुटुम्बकम की भावना पर बल देते हुए कहा कि शिक्षा द्वारा विश्वबंधुत्व की भावना का विकास किया जाना चाहिए। क्योंकि यही भावना विश्व में सुख-शान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।[१३]

३.८सादा जीवन उच्च विचार के भारतीय आदर्श को स्वीकृति :

डॉ. राधाकृष्णन सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने शिक्षा के माध्यम से छात्रों को शान-शौकत के जीवन की अपे क्षा सादा जीवन उच्च विचार का भारतीय आदर्श अपनाने की सलाह दी। वे चाहते थे कि हमारी शिक्षा सादा जीवन उच्च विचार के आदर्श की वाहक बने।[१४]

३.९अन्तः प्रज्ञात्मक ज्ञान की प्राप्ति :

डॉ. राधाकृष्णन ज्ञान के तीन सोपान मानते हैं। प्रथम प्रत्यक्षात्मक ज्ञान, द्वितीय प्रत्ययात्मक या अवधारणा ज्ञान और तृतीय अंतः प्रज्ञात्मक ज्ञान। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार इनकी प्राप्ति के माध्यम इन्द्रियां, बुद्धि एवं आत्मा हैं। वर्तमान शिक्षा ज्यादा से ज्यादा प्रत्ययात्मक या अवधारणात्मक सोपान तक ज्ञान प्रदान करती हैं। जबकि शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को अंतः प्रज्ञात्मक ज्ञान के स्तर तक पहुँचाने का होना चाहिए। क्योंकि तभी बालक पूर्ण विकसित हो सकेगा एवं वास्तविक शांति भी पा सकेगा।[१५]

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार भारत में उच्च शिक्षा के लिए सिफारिशें (सुझाव)-

(१)यह बताना कि जीवन अर्थपूर्ण है।

(२)ज्ञान का विकास करके स्वाभाविक योग्यताओं को जगाना।

(३) सामाजिक दर्शन से परिचित कराना जिससे हमारी सभी संस्थायें शासित होती हैं - शैक्षिक, आर्थिक तथा राजनीतिक।

(४) लोकतंत्र के लिए प्रशिक्षण देना।

(५) आत्म-विकास के लिए प्रशिक्षण देना।

(६) मस्तिष्क (मन) की निर्भयता, विवेक की शक्ति तथा उद्देश्यों की एकता जैसे निश्चित मूल्यों का विकास करन. ा।

(७) सांस्कृतिक परंपरा से उसके नव-विकास के लिए परिचित कराना।

(८) यह जानने के योग्य बनाना कि शिक्षा एक जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है।

(९) वर्तमान और भूत को समझने की योग्यता विकसित करना।

(१०) व्यावसायिक प्रशिक्षण में हिस्सा देना।

संदर्भ-

१.एन. के. जांगीरा (२००४). *संवेदनशील शिक्षण: नयी पद्धति के प्रयोग.* नोएडाः मयूर पेपरबैक्स, पृ. १

२.डॉ. राधाकृष्णन, द कॉन्सेप्ट ऑफ मैन. लंदनः जार्ज एल्लेन एण्ड अनविन, १९६०, पृ. २४६.

३.डब्ल्यू.के फ्रेंकेना(१९६५),फिलॉसफी ऑफ एजूकेशन. न्यू यार्कः दि मैक मिलन कम्पनी, पृ. ५४.

४.डॉ.राधाकृष्णन, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स.प्दक, पृ. २६७.

५.वही, पृ. २५९.

६.डॉ. पाल एव के.एल.अग्रवाल(१९८९),शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त,गोरखपुरःवसुन्धरा प्रकाशन,पृ.९९.

७. गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री. पृ. १८५.

८. गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री., पृ. १८५.

९. गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री., पृ. १८५.

१०.गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री. पृ. १८५.

११.गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री. पृ. १८५.

१२.गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री., पृ. १८५.

१३.गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री., पृ. १८६.

१४.गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शि क्षा-शास्त्री., पृ. १८६.

१५.गार्गी शरण मिश्र 'मराल', विश्व के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री., पृ. १८७

*****

योग शिक्षा के प्रति उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की अभिवृत्ति का अध्ययन

–मंजरी तिवारी
शोधार्थी
शिक्षा विभाग, एस एस जे.
विश्वविद्यालय परिसर, अल्मोड़ा

–संगीता पवार
सहायक प्राध्यापक
शिक्षा–विभाग, एस एस जे
विश्वविद्यालय परिसर, अल्मोड़ा

शोध सारांश

योग शिक्षा समग्र–उपागम के रूप में व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक कल्याण कर अनुशासित जीवन जीने के लिए प्रेरित करती है, अतः वर्तमान समय के तनावपूर्ण जीवन में संतुलन स्थापित करने हेतु योग शि क्षा एक महत्वपूर्ण आयाम है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य योग शिक्षा के प्रति उच्चतर माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की अभिवृत्ति का अध्ययन करना था। न्यादर्श के रूप में उत्तराखण्ड राज्य के अल्मोड़ा जिले के हवालबाग ब्लाक के अंतर्गत दो विद्यालयों के उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में अध्ययनरत 100 विद्यार्थियों को सम्मिलित किया गया, जहां योग शिक्षा नियमित पाठ्यक्रम में शामिल है। आंकड़ों का संग्रहण करने हेतु शोधार्थियों ने मुच्छल, 2018 द्वारा निर्मित योग अभिवृत्ति मापनी का उपयोग किया तथा सांि ख्यकीय विश्लेषण हेतु मध्यमान, मानक– विचलन तथा टी–परीक्षण का प्रयोग किया गया। अध्ययन के परिणामस्वरूप लिंग के आधार पर विद्यार्थियों में योग शि क्षा के प्रति अभिवृत्ति में सार्थक अंतर पाया गया जबकि शैक्षिक वर्ग के आधार पर योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया।

मुख्य पद– योग शिक्षा, उच्चतर माध्यमिक स्तर

प्रस्तावना

आज के इस प्रतिस्पर्धा व विलासिता पूर्ण युग में अनेक रोगों का जन्म हुआ है, जैसे– उच्च तथा निम्न रक्तचाप, हृदय रोग, मधुमेह आदि, जिन पर योगाभ्यास के सकारात्मक प्रभाव के कारण ही योग को पुनः प्रचार–प्रसार मिल रहा है (मेहता, 2011)। "योग" शब्द का उद्भव संस्कृत भाषा से हुआ है, जिसका अर्थ है, "एकीकरण या समन्वय"। अपने मूल अर्थ में, "योग" शब्द का अर्थ है "एक सर्वव्यापी, शाश्वत रूप से जागृत चेतना जो पूरे ब्रह्मांड का संतुलन बनाए रखती है" (परमहंस, 2006)। व्यापक अर्थ में, योग एक जीवन शैली है जिसमें जागरूकता का अभ्यास करना और विभिन्न विधियों का उपयोग करके सद्भाव प्राप्त करना शामिल है। योग का लक्ष्य स्वयं तथा दूसरों के साथ एकता तथा सद्भाव से रहने के साथ ही उन विधाओं को भी समझना है जिनसे यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सके (स्वीटकोविक, 2021)। योग के संबंध में कुछ विद्वानों का मत है कि लिखित रूप से योग लगभग 3000 ईसा पूर्व प्रकाश में आया किंतु शास्त्रों के अनुसार यह माना गया कि मौखिक रूप से योग का ज्ञान अत्यंत प्राचीन है (कुमार, 2008)।

योग के दर्शन के मौलिक कार्यों में से एक "पतंज. लि का योग सूत्र" है। पतंजलि ने योग की आठ अवस्थाओं को आकार दियाः यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध ारणा, ध्यान तथा समाधि (कुमार, एवं रितु, 2011)। यम और नियम आत्म–नियंत्रण और अनुशासन सीखने से संबंधित हैं, प्राणायाम श्वास व्यायाम है, प्रत्याहार एक संवेदी–निकासी व्यायाम है, धारणा एकाग्रता अभ्यास है, ध्यान मनन है, और समाधि चेतना की एकता से संबंधित स्थिति है। पतंजलि के "योग सूत्र" के अनुसार, यह मौलिक अवस्थाएं पूरी दुनिया में

प्रचलित है। योग के अंतर्गत आसन सम्मिलित हैं जिनका अर्थ है "स्थिति"। यह ऐसी स्थितियाँ हैं जो कम से कम थकाने वाली होती हैं और मनो–शारीरिक स्थिति के लिए लाभदायक होती हैं (परमहंस, 2012)। योग का अभ्यास करते समय, शारीरिक गतिविधियों को सतर्कता से किया जाता है। योग मस्तिष्क के केंद्रीय भाग को सक्रिय करता है तथा आंतरिक अंगों के मध्य समन्वय में सुधार करता है। अनुसंधान पुष्टि करते हैं कि योग, शारीरिक जागरूकता को विकसित करता है (सीगल, बैरोस, 2007)।

योग शारीरिक जागरूकता, एकाग्रता तथा मानसिक शांति में वृद्धि करने के साथ ही तनाव में कमी करने में भी सहायता करती है (पैक एवं अन्य, 2005)। योग अनुकंपी तंत्रिका तंत्र (*सिंपैथेटिक नर्वस सिस्टम*) को निष्क्रिय कर परानुकंपी तंत्रिका तंत्र (*पैरासिंपैथेटिक नर्वस सिस्टम*) को उत्तेजित करता है, परिणामस्वरूप शांति, भावनात्मक संतुलन, एकाग्रता तथा मानसिक स्थिरता में वृद्धि होती है (पैक एवं अन्य, 2005)। रोगों की चिकित्सा में योग हानि रहित पद्धति है। अनेकों स्वास्थ्य से सम्बन्धित संस्थाएं योग चिकित्सा पर तरह–तरह के शोध कार्य कर रही है (आनन्द, 2008)।

राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1964) द्वारा कहा गया कि, "भारत का भाग्य उसकी कक्षाओं में आकार ले रहा है" तथा अरस्तू के विचारानुसार, "एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है।" अतः भारत का भाग्योदय करने के लिए विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों का मानसिक व शारीरिक रूप से स्वस्थ रहना नितांत आवश्यक है। विद्यालयी शिक्षा विभिन्न स्तरों से मिलकर पूर्ण होती है तथा प्रत्येक स्तर पर विद्यार्थी अनेक प्रकार की चुनौतियों का सामना करते हैं, परिणामस्वरूप वे तनाव, एकाग्रता की कमी, संबंधों में अलगाव, अवसाद, एकाकीपन आदि समस्याओं से घिरे रहते हैं तथा अनेक विद्यार्थी कुसंगती में पड़कर नशीले पदार्थों का सेवन भी करने लगते हैं (सुधामयी, 2012)। विद्यार्थियों को इन चुनौतियों से उबारने, संतुलित व संयमशील जीवन जीने के लिए आंतरिक रूप से प्रेरित करने, एकाग्रता बढाने, मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य को दृढ़ता प्रदान करने की दृष्टि से योग शिक्षा अत्यंत लाभदायक सिद्ध हो रही है (इथलिंगर, 2010)। अतः विद्यार्थियों हेतु योग शिक्षा की प्रासंगिकता को दृष्टिगोचर रखते हुए शोधार्थियों द्वारा प्रस्तुत अध्ययन में उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ती को समझने का प्रयास किया गया है।

समस्या कथन

प्रस्तुत शोध–अध्ययन में अग्रलिखित समस्या का चयन किया गया, **"योग शिक्षा के प्रति उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की अभिवृत्ति का अध्ययन।"**

उद्देश्य

शोध कार्य हेतु उद्देश्यों का निर्धारण निम्नवत किया गया–

1.0 लिंग के आधार पर उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत छात्र–छात्राओं की योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति का अध्ययन करना।

2.0 शैक्षिक वर्ग के आधार पर उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति का अध्ययन करना।

परिकल्पना

शोध की प्रकृति एवं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए निम्नवत शून्य परिकल्पनाएँ निर्मित की गयीं–

1.0 लिंग के आधार पर उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

2.0 शैक्षिक वर्ग के आधार पर उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों की योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

3.0 अंतः विद्यालयी स्तर पर कला एवं विज्ञान वर्ग के उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत छात्राओं के मध्य योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

4.0 अंतः विद्यालयी स्तर पर कला एवं विज्ञान वर्ग के उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों के मध्य

योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में कोई सार्थक अंतर नहीं है।

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक सर्वेक्षण प्रविधि का उपयोग किया गया। अध्ययन में उत्तराखण्ड राज्य के अल्मोड़ा जिले के हवालबाग ब्लाक के अंतर्गत उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में अध्ययनरत विद्यार्थियों को जनसंख्या के रूप में सम्मिलित किया गया। न्यादर्श के रूप में दो विद्यालयों के उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में अध्ययनरत 100 (50 छात्र, 50 छात्राओं) विद्यार्थियों का चयन यादृच्छिक विधि द्वारा किया गया, जहां योग शिक्षा नियमित पाठ्यक्रम में शामिल है। आंकड़ों का संग्रहण करने हेतु शोधार्थियों ने मुच्छल (2018) द्वारा निर्मित योग अभिवृत्ति मापनी का उपयोग किया तथा सांख्यिकीय विश्लेषण हेतु मध्यमान, मानक–विचलन तथा टी–परीक्षण का प्रयोग किया गया।

आंकड़ों का विश्लेषण

आंकड़ों का विश्लेषण तथा व्याख्या निम्नानुसार है–

तालिका 1.1

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों में लिंग तथा शैक्षिक वर्ग के आधार पर योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति का विवरण

आयाम	समूह	न्यादर्श N	मध्यमान M	मानक–विचलन (SD)	स्वातंत्र्य कोटि df	टी–परीक्षण (t)	सार्थकता स्तर
लिंग	छात्र	50	34.36	9.51	98	2.40	0.05
	छात्रा	50	30.08	8.25			
शैक्षिक वर्ग	कला	50	32.76	9.83	98	0.60	सार्थक अंतर नहीं
	विज्ञान	50	31.68	7.31			
बालिकाओं में अंतः विद्यालयी शैक्षिक वर्ग	कला	25	30.76	10.88	48	0.50	सार्थक अंतर नहीं
	विज्ञान	25	29.40	8.14			
बालकों में अंतः विद्यालयी शैक्षिक वर्ग	कला	25	34.76	8.78	48	0.34	सार्थक अंतर नहीं
	विज्ञान	25	33.96	7.12			

तालिका संख्या 1.1 में उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों के लैंगिक एवं शैक्षिक वर्ग आयामों पर आधारित समूहों के मध्य योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति की तुलना को प्रस्तुत किया गया है। जिसका अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि लिंग के आधार पर छात्रों के समूह का मध्यमान (34.36) छात्राओं के समूह के मध्यमान (30.08) से अधिक है। दो समूहों के मध्य टी परीक्षण का मान (2.40) प्राप्त हुआ, जो 0.05 स्तर पर दोनों समूह के मध्य योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में सार्थक अंतर को प्रदर्शित करता है। जिसका कारण छात्राओं का छात्रों के समान योग शिक्षा के प्रति

जागरूकता, अभ्यास, तत्परता तथा प्रशिक्षण में रुचि ना लेना हो सकता है। साथ ही महावारी के दौरान योग आसनों को ना कर पाने से आए अंतराल के कारण भी छात्राओं में योग शिक्षा के प्रति अरुचि उत्पन्न हो सकती है।

शैक्षिक वर्ग के आधार पर तुलना करने पर विद्यार्थियों के समूह के मध्य टी परीक्षण का मान सार्थक अंतर को प्रस्तुत नहीं करता है। तालिका संख्या 1.1 का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि कला वर्ग के विद्यार्थियों का मध्यमान (32.76); अंतः विद्यालयी समूहों में कला वर्ग की छात्राओं के समूह का मध्यमान (30.76) तथा कला वर्ग के छात्रों का मध्यमान (34.76); विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों के मध्यमान (31.68); अंतः विद्यालयी समूहों में विज्ञान वर्ग की छात्राओं के मध्यमान (29.40) तथा विज्ञान वर्ग के छात्रों के मध्यमान (33.96) से अधिक है। जिससे स्पष्ट होता है कि कला वर्ग के विद्यार्थियों की योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति अधिक है वहीं दूसरी ओर विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों द्वारा योग शिक्षा के प्रति अधिक ध्यान नहीं दिया जा रहा है जिसका संभावित कारण सैद्धांतिक विषयों के अध्ययन को अधिक महत्व दिया जाना हो सकता है।

शोध परिणाम

प्राप्त परिणामों को निम्नलिखित रूप में सारांशित किया जा सकता है–

1.0 लिंग के आधार पर छात्राओं की अपेक्षा छात्रों में योग शिक्षा के प्रति उच्च अभिवृत्ति पायी गयी।

2.0 शैक्षिक वर्ग के आधार पर विद्यार्थियों में योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में सार्थक अंतर नहीं पाया गया।

3.0 उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत छात्राओं में शैक्षिक वर्ग के आधार योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में सार्थक अंतर नहीं पाया गया।

4.0 उच्चतर माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत छात्रों के मध्य शैक्षिक वर्ग के आधार पर योग शिक्षा के प्रति अभिवृत्ति में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया।

5.0 शैक्षिक वर्ग के आधार पर कला वर्ग के विद्यार्थियों में विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों की अपेक्षा योग शिक्षा के प्रति अधिक अभिवृत्ति पायी गयी।

शैक्षिक निहितार्थ

योग शिक्षा विद्यार्थियों में विभिन्न कारणों से बढ़ रहे तनाव, चिंता, रोग, एकाग्रता में कमी आदि को न्यूनतम कर अनुशासित व संतुलित जीवन जीने के साथ ही उत्तम मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देने में सहायता प्रदान करती है। योग शिक्षा का प्रचार एक सामूहिक प्रयास है, जिसमें सरकार, विद्यालय, परिवार तथा गैर सरकारी संगठन आदि शामिल हैं।

सरकार विद्यालय के प्रत्येक स्तर पर योग शिक्षा को एक अनिवार्य विषय के रूप में लागू कर सकती है तथा विद्यार्थियों को योग सिखाने के लिए योग कार्यक्रमों और शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए अनुदान भी प्रदान कर सकती है। इसके अतिरिक्त, सरकार योग शिक्षा के लाभ के विषय में जागरूकता बढ़ाने हेतु सार्वजनिक रूप से योग शिविर और कार्यशालाओं का आयोजन कर सकती है, जिससे योग शिक्षा के व्यापक प्रचार–प्रसार में मदद मिलेगी।

विद्यालय योग कक्षाओं को दैनिक कार्यक्रम या पाठ्येतर गतिविधि के रूप में सम्मिलित कर सकते हैं। योग से संबंधित गतिविधियों जैसे– योग आधारित प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता, अभिभावकों, शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए योग विशेषज्ञों, संबंधित गैर सरकारी संगठनों की कार्यशालाओं का आयोजन तथा योग प्रशिक्षकों व विद्यार्थियों द्वारा विभिन्न आसनों का प्रस्तुतिकरण करा सकते हैं।

अभिभावक अपने बच्चों को नियमित रूप से घर पर योग करने के लिए प्रोत्साहित करने के साथ ही विद्यालय से

पृथक भी योग संस्थानों में योग कक्षाओं में दाखिला दिला सकते हैं। इसके अतिरिक्त, अभिभावक स्वयं योग कक्षाओं में भाग ले सकते हैं और अपने बच्चों के अनुसरण के लिए एक उदाहरण स्थापित कर सकते हैं।

गैर सरकारी संगठन भी योग शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए समुदाय के बीच तथा विद्यालयों में योग संबंधी गतिविधियों का आयोजन करके योग के लाभ के विषय में जागरूक कर सकते हैं।

संक्षेप में, योग शिक्षा से संबंधित सहायक और संसाधनपूर्ण वातावरण प्रदान कर, सरकार, विद्यालय, अभिभावक, शिक्षक व गैर सरकारी संगठन विद्यार्थियों के शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य का पोषण तथा विकास करने में सहयोगात्मक रूप से प्रभावशाली भूमिका निभा सकते हैं।

संदर्भ

आनन्द अरूणा, (2008), प्रायोगिक योग ि"ाक्षा, आनन्द प्रका"ान, नई दिल्ली।

इथलिंगर, जे० (2010), योगा फॉर चिल्ड्रन ऑन द ऑटिज्म स्पेक्ट्रम, इंटरनेशलन जनरल ऑफ योगाथेरेपी 1, 131–139।

कुमार, बी. एम. (2008), फॉरेस्ट्री इन एनसीएंट इंडियाः सम लिटरेचर एविडेंसेस ऑन प्रोडक्टिव एंड प्रोटेक्टिव आस्पेक्ट्स, एशियन–एग्री हिस्ट्री, 12 (4), 299–306।

कुमार, अरूण एवं रितु, (2011), विद्यालयी शिक्षकों में मूल्यों के विकास में योग की भूमिका का अध्ययन, जनरल शैक्षिक शोध और विस्तार, परिसर अल्मोड़ा, कु०वि०वि०, नैनीताल।

परमहंस स्वामी महेश्वरानंद (2006), पतंजली योग सूत्र, समाधि पद।

परमहंस स्वामी महेश्वरानंद (2012), पतंजली योग सूत्र, समाधि पद।

पैक, एच. एल., केहले, टी. जे., ब्रे, एम. ए., थियोडोर, एल. ए. (2005), योगा ऐज़ ऐन इंटरवेंशन फॉर चिल्ड्रन विद अटेंशन प्रॉब्लम्स, स्कूल साइकोलॉजी रिव्यू, 34 (3), 415–424।

मेहता. एस० (2011), मल्टीमॉडल बिहेवियर प्रोगाम फॉर इन्कारपोरेटिंग योगा एण्ड इम्प्लिमेन्टेड बाई हाईस्कूल वोलै. न्टिअर्स ऑफ पायलट स्टडी, आइ०एस०आर०एम० पैडाट्रिक्स वॉल्यूम, 2011 आर्टिकल आई०डी० 7807451।

राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1964), भारत सरकार।

सीगल, पी., बैरोस, एन. एफ. (2007), योगा एंड हेल्थ असिस्ट मैटिक लिटरेचर रिव्यू, न्यू अप्रोचेस टू मेडिसिन एंड हेल्थ,14(4), 40–50।

सुधामयी, पी० (2012), मानसिक स्वास्थ्य पर योग के प्रभाव का अध्ययन, जनरल शैक्षिक शोध और विस्तार वाल्यूम 49 (2) अप्रैल–जून 2012, पृ० 1–5।

स्वीटकोविक, डी. (2021), दी रोल ऑफ योगा इन एजुकेशन, मेथोडोलोजिकल हराइजन। https://www.researchgate.net/publication/356147572_THE_ROLE_OF_YOGA_IN_EDUCATION

*****

गुप्तकालीन अभिलेखों में धार्मिक समरसता

डॉ0 सुरेन्द्र कुमार यादव
सहायक प्राध्यापक
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, म0प्र0
मो0 नं0– 8989713473
ई– मेल आईडी: surendraihc@gmail.com

भरत यादव
शोध छात्र
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, म0प्र0
मो0 नं0– 8382082802
ई– मेल आईडी: aihcbharat24@gmail.com

सहिष्णुता की भावना सदैव से भारतीय जीवन की विशेषता रही है।भारतीय संस्कृति के इतिहास में गुप्तकाल एक नक्षत्र की भांति रहा है। इस युग में भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंच गई थी। गुप्तकालीन अभिलेखों से समाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्य एवं कला साक्ष्यों के साथ–साथ विविध धर्मों के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। प्रस्तुत शोध पत्र गुप्तकाल में अभिलेखों के आधार पर विविध धर्मों का स्वरुप, स्थिति, राजाश्रय, धार्मिक सहिष्णुता, समरसता एवं सद्भावना पर आधारित है। गुप्त वंश का प्रथम स्वतंत्र संस्थापक चंद्रगुप्त प्रथम था। उसके उपरांत उसके पुत्र समुद्रगुप्त अपनी गौरवपूर्ण विजयों द्वारा साम्राज्य की सीमाओं को चारों दिशाओं तक बढ़ाया। समुद्रगुप्त के बाद इस युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण शासक चंद्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' सिंहारूढ हुआ, जिसने अतुलनीय पराक्रम और नेतृत्व शक्ति के द्वारा साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया। साथ ही अपनी कुशल प्रशासनिक और धार्मिक सहिष्णुता के द्वारा जनता में लोकप्रियता भी प्राप्त किया। चंद्रगुप्त द्वितीय का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम ने अपने पिता की यश–कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखा। तदुपरान्त स्कंदगुप्त इस स्वर्णयुग का अंतिम प्रतापी नरेश था, जिसके प्रताप का सूर्य समस्त उत्तरी भारत में चमकता रहा। इसके बाद पुरुगुप्त, बुद्धगुप्त, कुमारगुप्त तृतीय, वैन्यगुप्त एवं नरसिंहगुप्त बालादित्य ने अपने नेतृत्व क्षमता एवं धार्मिक नीति से गुप्तकालीन पुरावैभव को ढ़हने से बचाने के लिये अथक प्रयास किया।

गुप्तयुगीन प्रजा को अपनी इच्छा अनुसार धर्म आचरण की स्वतंत्रता प्राप्त थी तथापि उत्तर भारत में वैष्णव धर्म अधिक लोकप्रिय था। गुप्तकाल की बहुसंख्यक अभिलेखों में भगवान विष्णु के मंदिरों का उल्लेख मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि अधिकतर गुप्त सम्राट वैष्णव थे। विष्णु की अतिरिक्त शिव, सूर्य, कार्तिकेय, नाग, यक्ष,लक्ष्मी, दुर्गा, गंगा–यमुना, जैन एवं बौद्ध आदि देवी देवताओं की उपासना होती थी। इस समय के मंदिर उपासना के प्रमुख केंद्र थे। गुप्तकाल के अनेक मंदिर एवं उनके अवशेष आज भी प्राप्त होते हैं। हिंदू देवी देवताओं के अतिरिक्त जैन एवं बौद्ध मतानुयायी देश में बड़ी संख्या में विद्यमान थे। इस प्रकार गुप्तयुग के विभिन्न धर्मों एवं संप्रदायों में सामंजस्य एवं मेल–मिलाप का वातावरण व्याप्त था।

प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य गुप्तकालीन अभिलेखों में धार्मिक समरसता के विविध पक्षों पर प्रकाश डालना है। साथ ही वैष्णव धर्मावलम्बी होने के बाद भी उनका अन्य धर्मों के प्रति धार्मिक उदारता, स्वतन्त्रता एवं सहिष्णुता की भावना ने किस प्रकार उनके साम्राज्य की समृद्धि में योगदान दिया आदि पहलुओं पर विचार–विमर्श किया गया है।

वैष्णव धर्म:– गुप्त नरेशों का व्यक्तिगत धर्म वैष्णव मत था। उनकी उपाधि 'परमभागवत' थी। प्रयागप्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त एक ब्राह्मण धर्मानुयायी था। उस प्रशस्ति में उसे धर्म से बंधी हुई (धर्मप्राचीनबंध) वेद विहित मार्ग को स्वीकार करने वाला (सूक्तिमार्ग) तथा शास्त्रीय मान्यताओं का आचरण करने वाला कहा गया है।[1] प्रयागप्रशस्ति में ही उसे अंचित्यपुरूषसम (भगवान् कृष्ण) कहा गया है। उसने विष्णु के वाहन गरूड़ को अपने वंश का राजचिन्ह तथा राजकीय मुहर पर स्थान दिया।[2]एरण प्रस्तर अभिलेख[3] में स्तम्भ की स्थापना का विवरण है, जो संभवतः गरुड़ स्तम्भ रहा होगा। उसके सिक्कों तथा अभिलेखों में कहा गया है कि वह अपने सुकर्मों से स्वर्ग को जीतने वाला था। उसका धार्मिक दृष्टिकोण संकीर्ण न होकर उदार था। सिंघल नरेश को बोधगया में एक बिहार बनवाने की अनुमति देना एवं

वसुबंधु नामक बौद्ध विद्वान को शरण देना उसके धार्मिक सहिष्णुता का द्योतक है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के मेहरौली लौह स्तम्भ लेख में विष्णुध्वज स्थापित किये जाने का उल्लेख है।[४]इसी शासक के उदयगिरि गुहा–लेख में धर्मदान वर्णित है, जो संभवतः उक्त गुहा पर उत्कीर्ण दो विष्णु मूर्तियों से संबंधित था।[५]उदयगिरि गुहा में ही गुप्तकालीन विशाल नृ-वराह का अंकन है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा पाषाण लेख में उसकी उपाधि परम भागवत है।[६] कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेखों में भी उसके वैष्णव मताव. लम्बी होने तथा परमभागवत उपाधि धारण करने का उल्लेख मिलता है। कुमारगुप्त प्रथम के गढ़वा प्रस्तरलेख[७],जगदीशपुर ताम्रलेख, विलसढ़लेख[८] तथा भितरीमुहर अभिलेख[९]पर परमभाग. वत उपाधि का अंकन है। गढ़वा पाषाणलेख[१०] में चित्रकूट स्वामिन नामक देवता का उल्लेख है, जो संभवतः राम के लिए है। इससे ज्ञात है कि रामावतार का प्रचलन जनसामान्य में हो चुका था। इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त–प्रथम के ही शासन काल के बैग्राम ताम्रपत्र अभिलेख[११]में गोविन्दस्वामिन के मन्दिर के लिए भूमिदान का उल्लेख मिलता है। कुमारगुप्त-प्रथम केधनैदह ताम्रपत्र[१२] में वैष्णव प्रभावित अनेक ग्रामवृद्धों के नामों का उल्लेख मिलता है, जिनमें विष्णुदेव, विष्णुभद्र, रामक, गोपाल, रामाधक, विष्णु आदि प्रमुख हैं। कुमारगुप्त–प्रथम के ही दामोदर ताम्रपत्रलेख में वराह पूजा व प्रतिमा निर्माण का उल्लेख है।[१३]

कुमारगुप्त–प्रथम का पुत्र एवं उत्तराधिकारी स्कंदगुप्त के वैष्णव धर्मावलम्बी होनें का प्रमाण उसके भितरी स्तंभलेख से होता है, जिसमें अपने पिता के पुण्यवृद्धि के लिये भगवान शार्ङ्गि (धनुषधारी विष्णु) के प्रतिमा का निर्माण एवं ग्रामदान का उल्लेख है।[१४]इसी अभिलेख में वर्णित है कि वह विजयी होकर अपनी आँखों में आँसू भरे, माँ के पास परितोष के निमित्त उसी प्रकार गया जिस प्रकार कृष्ण देवकी के पास गए थे।[१५]स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख का प्रारम्भ विष्णु की स्तुति से आरम्भ हुआ है तथा चक्रपालित द्वारा ऊर्जयत पर्वत पर विष्णु मन्दिर के निर्माण का वर्णन है।[१६]

स्कंदगुप्त के पश्चात गुप्तवंशीय शासकों में पुरूगुप्त का बिहार स्तम्भलेख,[१७]नरसिंहगुप्त का नालन्दा मुद्राभिलेख[१८], कुमारगुप्त तृतीय का नालन्दा तथा भितरी मुद्रालेख[१९], बुधगुप्त का नालन्दा मुद्रालेख[२०],विष्णुगुप्त का मुद्राभिलेख[२१],वैन्यगुप्त का नालन्दा मुद्रालेख[२२] आदि में परमभागवत उपाधि का उल्लेख करते हैं। इसके अतिरिक्त बुधगुप्त का एरण स्तम्भलेख में मातृविष्णु एवं धन्यविष्णु द्वारा जनार्दन (विष्णु) के सम्मान में गरुड़ध्वज स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख है।[२३] बुधगुप्त के दामोदरपुर अभिलेख में श्वेतवराहस्वामी और कोकामुखस्वामी नाम के देवताओं का उल्लेख है, जो विष्णु के वराह अवतार से संबंधित हैं। तोरमाण कालीन वराहाभिलेख में वराह रूपधारी विश्व के रक्षक भगवान नारायण के एक प्रस्तर मन्दिर की स्थापना का उल्लेख है।[२४] जो प्रत्यक्षतः एरण के उसी वर्तमान मन्दिर परिसर के विषय में ही है, जिसमे अभी तक वराहमूर्ति खड़ी है। मन्दसौर से ही प्राप्त बन्धुवर्मन के अभिलेख में शार्ङ्गि (विष्णु)के वक्ष को कौस्तुभमणि से अलंकृत कहा गया है।अभिलेख की समाप्ति इस प्रार्थना से होती है कि इसमें उल्लिखित सूर्य मन्दिर तब तक विद्यमान रहे जब तक भगवान शार्ङ्गि अपने कंधों पर पूर्ण प्रस्फुटित पद्ममाला धारण करते रहें।[२५]

शैव धर्म :-यद्यपि अधिकतर गुप्त सम्राट वैष्णव धर्म के पोषक थे, किंतु उनके अभिलेखों में उनके शैव होने एवं उसके प्रति आस्थावान होने के भी पर्याप्त साक्ष्य मिलते हैं। गुप्तकाल में शिव का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में मिलता है, जिसमें गरुणध्वज धारण करने वाले वैष्णव सम्राट समुद्रगुप्त भी पशुपति की जटारूपी गुहा से निकलने वाले धूसर गंगा जल की त्रिभुवन पावनी शक्ति में विश्वास करता है।[२६] इस आधार पर राखल दास बनर्जी ने हरिषेण के शैव हाने का अनुमान व्यक्त किया है।[२७]चंद्रगुप्त द्वितीय का मथुरा स्तंभलेख (गुप्त संवत् 61) में हमे पाशुपत संप्रदाय के इतिहास पर बड़ा ज्ञानवर्धक प्रमाण मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति वीरसेन एक शैव

अनुयायी था। उसने उदयगिरि में शिव मन्दिर के रुप में एक गुहा बनवाया था।[२८] शिव की भक्ति के कारण इस गुहा का निर्माण उसकी धार्मिक सहिष्णुता का बोधक है। इसी क्रम में कुमारगुप्त–प्रथम का करमदण्ड़ा शिवलिंग अभिलेख का प्रारंभ 'नमो महादेवाय' के नमस्कार से होता है, जिसमें पृथिवीश्वर महादेव' का उल्लेख है, जो उसके स्थापक शिवभक्त पृथिवीशेष ने अपने नाम पर किया।[२९] कुमारगुप्त प्रथम के वैष्णव धर्मानुयायी होने पर भी शैव मंत्री की नियुक्ति इसके धार्मिक समन्वयता का परिचायक है। इसी क्रम में वैन्यगुप्त के नालंदा मुहरलेख[३०]में उसको परम. भागवत कहा गया है जबकि गुणैधर ताम्रपट्ट लेख में उसे महादेव पादानुध्यात बताता है।[३१] इससे स्पष्ट है कि वह व्यक्तिगत रूप से शैव था परंतु गुप्तों का पारिवारिक धर्म वैष्णव धर्म होने के कारण इस नालंदा मुहर में उसे परम. भागवत कहा गया है, जो तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता का बोधक है।

सौर धर्म :– गुप्त शासकों की धार्मिक नीति बहुत ही व्यवहारिक एवं समरसता पूर्ण थी। तत्कालीन समाज में सभी धर्म पनपते थे। कुमारगुप्त– प्रथम तथा बंधुवर्मा कालीन मंदसौर प्रस्तर अभिलेख कुमारगुप्त–प्रथम के गोप्ता बंधुवर्मा के दशपुर श्रेणी द्वारा सूर्य मंदिर का निर्माण का उल्लेख मिलता है। उसके अभिलेख में वर्णित ''देवकुल सभाबिहार रमणियात" से स्पष्ट होता है कि विभिन्न देवताओं की पूजा प्रचलित थी। उसकी उपाधि परमभागवत है। यह लेख महादेव घाट पर मिलता है जो शैव उपासना की ओर इंगित करता है, वह स्वयं कार्तिकेय का उपासक था। क्योंकि उसके सिक्कों के ऊपर मयूर की आकृतियां बहुतायत मिलती है।इसी प्रकार स्कंदगुप्त के इंदौर ताम्रपत्र अभिलेख (गुप्तसंवत् 146) में भी देवविष्णु नामक ब्राह्मण द्वारा इंद्रपुर के सूर्य मंदिर को दान दिए जाने का उल्लेख है। वैशाली से प्राप्त मुहरों पर 'भगवतो आदित्यस्य' के अंकन से प्रतीत होता है कि ये मुहरें सूर्य मन्दिर से जुड़ी किसी संगठन की होंगी।[३२]

शाक्त धर्म :– स्कन्दगुप्त कालीन बिहार शिलालेख में सप्तमातृका का उल्लेख मिलता है, जिनमें, ब्राह्मी, माहेश्वरी, कुमारी, वैष्णवी, माहेन्द्री, वाराही, चण्डी तथा चामुण्ड थी।[३३]यह कार्तिकेय की सात माताओं के रूप में थी जो कालान्तर में आठ या नौ हो गयी। इसी लेख में देवियों के अनेक मन्दिरों 'देवीनिकेतमंडलम' का भी उल्लेख है। यह तत्कालीन गुप्त शासकों के शाक्त धर्म के प्रति उदारता का उल्लेख करता है। जिसकी पुष्टि हम चंद्रगुप्त प्रथम के राजा रानी प्रकार के सिक्कों पर देवी दुर्गा के अंकन से भी कर सकते हैं। गुप्तका- लीन मुद्राओं के पृष्ठभाग पर देवी लक्ष्मी के विविध स्वरुपों का अंकन मिलता है, जिनमें पद्मास्थिता आसनस्थ, पद्मास्थिता स्थानक, सिंहासनासीन एवं मोढ़े पर आसनस्थ प्रमुख है। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम, कुमारगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, बुद्धगुप्त, वैन्यगुप्त एवं नरसिंहगुप्त आदि की मुद्राओं पर लक्ष्मी का अंकन प्राप्त होता है। इनमें देवी लक्ष्मी के हाथों में कॉर्नकोपिया, कमलनाल, कमलपुष्प एवं पाश धारण किये हुये दिखलाया गया है। गुप्तकालीन स्वर्णमुद्राओं पर सिंहवाहिनीदुर्गा का अंकन भी प्राप्त होता है। समुद्रगुप्त के व्याघ्रनिहन्ता प्रकार की मुद्राओं के पृष्ठभाग पर मकरवाहिनी गंगा का उत्कीर्ण है, जिनके बायें हाथ में कमल है।[३४]

जैन धर्म :– गुप्त शासकों की जैन धर्म के प्रति धार्मिक नीति बहुत ही सहिष्णु थी। रामगुप्त के दुर्जनपुर जैन प्रतिमालेख में उसका जैन धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा ज्ञात होती है। उसने जैन आचार्य चेलुक्षमण के उपदेश के प्रभावित होकर जैन मूर्तियों का निर्माण करवाया था। इसी क्रम में उदयगिरी जैन गुहालेख (गुप्त संवत 106) तथा मथुरा जैन प्रतिमालेख (गुप्त संवत 107) में जैन धर्म के विषय में प्रमाण प्राप्त होता है। स्कंदगुप्त के कहौम अभिलेख जैन संप्रदाय से संबंधित है, जिसमें भद्र नाम के व्यक्ति ने पांच श्रेष्ठ जैन तीर्थंकरों (आदिनाथ, शान्तिनाथ नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर) की मूर्तियाँ पाषाणस्तम्भ पर उत्कीर्ण किया।[३५] इसके अतिरिक्त इस अभिलेख के समीप जैन मन्दिरों और चैत्यों का वर्णन हैं। बुधगुप्त के पहाड़पुर ताम्रपत्रलेख में अर्हतों की पूजा के लिए धर्मदान का उल्लेख है।[३६] अहिछत्र के गुप्तस्तम्भ लेख में आचार्य इन्द्रनन्दिन और पार्श्व के मन्दिर का उल्लेख है।[३७] गुप्तकाल में जैन धर्म की द्वितीय सभा वलभी में बुलाई गयी थी, जिसकी अध्यक्षता देवर्धिगणि क्षमाश्रवण ने किया, जिसमें अंगो एवं उपांगों के संकलन के साथ 84 आगमों की भी संख्या निश्चित हुई। निश्चित ही गुप्त शासकों की जैन धर्म के प्रति धार्मिक नीति बहुत ही सहिष्णु रही। जिसकी पुष्टि उनके

तत्कालीन अभिलेखों, मूर्तियों एवं अन्य स्रोतों से होती है।

बौद्ध धर्म : गुप्तकालीन शासकों एवं उनके पदाधिकारियों द्वारा बौद्ध धर्म के प्रति आस्था एवं किये गये कार्यों का विवरण अनेक अभिलेखों में मिलता है। चंद्रगुप्त द्वितीय के सांची स्तम्भलेख (गुप्तसंवत 93) में उसके उदार धार्मिक सद्भावना की पुष्टि होती है। परमभागवत की उपाधि धारण करते हुए भी बौद्ध धर्मानुयायी आम्रकार्दव को अपना सेनापति बनाया। आम्रकार्दव ने काकनादबोट के बौद्ध संघ को ईश्वरवासक नामक गांव तथा 25 दिनार का दान, भिक्षुओं के भोजन और प्रकाश की व्यवस्था किया।[३८] कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल से मानकुँवर से प्राप्त बुद्ध प्रतिमा के पादपीठ पर नमोबुद्धान् से लेख प्रारम्भ होता है। इसी शासक की मथुरा से बुद्ध लेख प्राप्त हुआ है। कुमारगुप्त प्रथम बौद्ध–धर्म के प्रति सहिष्णु था, जिसकी पुष्टि ह्वेनसांग के इस विवरण से होता है कि शक्रादित्य प्रथम (कुमारगुप्त प्रथम) ने नालन्दा बौद्ध महाविहार की स्थापना की थी। कुमारगुप्त प्रथम के जगदीशपुर ताम्रलेख में ब्राह्मण एवं बौद्धधर्म में परस्पर समन्वय एवं सद्भावना की जानकारी प्राप्त होती है। इसमें क्षेमाक, भोयिल और महीदास नामक तीन व्यक्तियों ने मिलकर मेचिकाग्र स्थित बौद्ध विहार में भगवान अर्हत के निमित्त बने विहार, गुल्मगन्धिका स्थित अर्हत की उपासना के निमित्त बनी विहारिका और गुल्मगन्धिका स्थित सहस्ररश्मि के मन्दिर (सूर्य मन्दिर) की व्यवस्था का प्रबन्ध अक्षयनीवि स्वरूप दान का उल्लेख है।[३९]इस प्रकार गुप्तकाल में बौद्ध धर्म का विकास भी स्वाभाविक रूप से विकसित हो रहा था।

स्कन्द–कार्तिकेय :– स्कंद –कार्तिकेय शिव परिवार के एक आराध्य देव है। जिन्हे देवताओं का सेनापति और युद्ध का देवता कहा जाता है। गुप्तकाल में कार्तिकेय की उपासना पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। कुमारगुप्त प्रथम के विलसड़ अभिलेख (गुप्त संवत 93) में ध्रुववशर्मा नामक व्यक्ति द्वारा स्वामीमहासेन (कार्तिकेय) के मंदिर में प्रवेशद्वार एवं अग्रप्रासाद के निर्माण कार्यों का उल्लेख है। स्मरणीय है कि कुमारगुप्त प्रथम परमभागवत होने के बावजूद भी कार्तिकेय की उपासना में रुचि रखता था। उसने अपने पुत्र का नाम स्कंद रखा जो कार्तिकेय का दूसरा नाम था। यह उसके धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक था। कुमारगुप्त प्रथम की स्वर्णमुद्रा के पृष्ठभाग पर मयूर पृष्ठांकित शक्तिधारी कार्तिकेय का मनोहर अंकन हुआ है।[४०]कार्तिकेय के इस रुप का अंकन बृहत्संहिता के अनुरुप है।[४१] महादण्ड नायक शक श्रीधरवर्मन के कानखेरा [४२] तथा शर्वनाथ के सोहावल ताम्रपत्र[४३] में जो निश्चय ही गुप्तकालीन अभिलेख है, कार्तिकेय के साथ–साथ गणपति का भी उल्लेख मिलना महत्वपूर्ण है।

निष्कर्ष : गुप्तकालीन अभिलेखों का गहनता से अध्ययन करने के बाद हमे उनके धार्मिक समरसता के बारे में बृहद एवं महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। अभिलेखों में अधिकांश गुप्त शासक वैष्णव मतानुयायी थे। किन्तु साथ ही उन्ही अभिलेखों से उनके शैव, सौर, शाक्त, जैन तथा बौद्ध के प्रति सहिष्णु होने की भी पुष्टि होती है। संभवतः गुप्तकालीन संस्कृति के स्वर्ण युग को स्थापित करने में धार्मिक सद्भावना का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस युग में विभिन्न मतावलम्बियों में अपनी धार्मिक सामंजस्य का अनूठा संगम दिग्दर्शित होता है। इसकी पुष्टि तत्कालीन साहित्यक साक्ष्यों एवं कला–स्थापत्य से भी होता है। इस काल के शासकों ने अपनी धार्मिक निष्ठा को प्रजा पर थोपने का प्रयास नहीं किया, अपितु अन्य धार्मिक सम्प्रदायों को भी साथ–साथ प्रोत्साहन दिया। जिसका प्रमाण अभिलेखिय साक्ष्यों के अतिरिक्त उनकी मुद्राओं, मुहरों, मूर्तियों, स्तूपों, मठों एवं मन्दिरों से परिलक्षित होता है। वस्तुतः हम कह सकते है कि गुप्तकाल की धार्मिक सहिष्णुता इस संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशिष्ठता रही है। इस युग में ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन इन सभी धर्मों का साथ–साथ उन्नयन हुआ। गुप्तकाल में बौद्ध धर्म के प्रसार का आभास सारनाथ का धर्मराजिका स्तूप एवं बुद्ध की प्रतिमाओं से होता है। समुद्रगुप्त वैष्णवमतानुयायी होते हुये भी अपने पुत्र की शिक्षा का भार बौद्ध आचार्य बसुबन्धु को सौपा था। चीनी यात्रियों के अनुसार सिंहल नरेश मेघवर्ण के अनुरोध पर समुद्रगुप्त ने बोधगया में बौद्ध –विहार बनाने की अनुमति प्रदान की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शैवानुयायी वीरसेन तथा बौद्धानुयायी आम्रकार्दव को क्रमशः प्रधान सेनापति एवं प्रधानमन्त्री बनाया था। जहाँ समुद्रगुप्त एवं कुमार गुप्त प्रथम ने वैदिक यज्ञ किये, वहीं चन्द्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त ने विष्णु के मन्दिरों का निर्माण करवाया। रामगुप्त ने जैन मूर्तियों की स्थापना की तो कुमारगुप्त ने नालन्दा में बौद्ध विहारों के निर्माण में योगदान दिया। गुप्त नरेश नरसिंहगुप्त बौद्ध मतानुयायी था। गुप्तकालीन लेखों एवं पुरातात्विक साक्ष्यों

से मथुरा, सांची, देवगढ़, बोधगया एवं कुशीनगर आदि केन्द्रों का विकास ब्राह्मणेत्तर केन्द्रों के रूप में हुआ। इस प्रकार गुप्तकाल में कोई साम्प्रदायिक रूढ़िवादिता नहीं झलकती। गुप्तकालीन शासक वैष्णवमतानुयायी होते हुये भी सभी धर्मों के प्रति उदार एवं सहिष्णु थे।

संदर्भ :

1.गुप्त,पी0एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013 (षष्ठ संस्करण) भाग–2, पृ0 10, पं0 15–16

2.गुप्त,पी0एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग–2, पृ0 9, पं0 24

'गुरूत्मंदक स्वविषय भुक्ति शासन–याचन'।

3.गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, कुसुमांजलि प्रकाशन, जोधपुर, 1993, पृ0 54

4.सरकार डी.सी., सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स वियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एंण्ड सिविलिजेशन कलकत्ता, 1942, पृ. 283

5.जे0एफ0, फ्लीट,, कार्पस इन्सक्रिप्सन्स इण्डिकेरम III, पृ0 27–35

6.अग्रवाल, पी0के0, इम्पीरियल गुप्ता एपिग्राफ्स, वाराणसी 1983, पृ0 17

7.वही, पृ0 50–51

8.वही, पृ0 54–57

9.सरकार, डी0सी0, पूर्वोक्त, पृ0 329

10.गुप्त, पी0एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग–2, पृ0 152, पं0–3

11.वही, पृ0 126

12.सरकार, डी0सी0, पूर्वोक्त, पृ0 287

13. एपिग्राफिया इण्डिका, 15, पृ0 129

14. फ्लीट, पूर्वोक्त, पृ0 66–70

15. फ्लीट, वही, पृ0 66–70

16. फ्लीट, वही, पृ0 71

17-गुप्त, पी0एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग–2, पृ0 166

18. वही, पृ0 65

19. वही, पृ0 65–66, 90

20. वही, पृ0 62

.21. वहीं, पृ0 92

22. वही, पृ0 67

23 गोयल, श्रीराम, पूर्वोक्त, पृ0 288

24सरकार, से0 इन्स0 पंक्ति 7.

25 गोयल, श्रीराम, पूर्वोक्त, पृ0 352, 467

26 गोयल, श्रीराम, पूर्वोक्त, पृ0 26.

''यस्यप्रदान–भुजविक्क्रम–प्रशम–शाश्त्रवाक्योदयैः रूपर्य्युपरि–सञ्च्योच्छितमनेकमार्ग्ग यशः।

पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्ज्जटन्तर्गुहा निरोध–परिमोक्ष–शीघ्रमिव पाण्डु गांग्ड.पयः।।''

बनर्जी, द एज ऑफ दि इम्पीरियल गुप्ताज,पृ.102.

28 कार्पस इंसक्रिप्शन्स इंडिकेरम 3, पृ. 34

29 एपिग्राफिया इण्डिका, भाग–10, पृ 71

30 गुप्त,पी.एल., प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग–2, पृ0 201

31 गुप्त, पी0एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग–2, पृ0 196

32 आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्टस, 1911–12, पृ0 58

33 फ्लीट, पूर्वोद्धृत, पृ0 1:48, नोट नं0 1

34 अल्तेकर, गुप्तकालीन मुद्राएं, पटना, 1954.पृ. 48, फलक 3(14)

35 गुप्त, पी0एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग–2, पृ0 33

36 एपिग्राफिया इण्डिका, भाग–20, पृ0 59–61.

37 आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, भाग–1, पृ0 263.

38 गुप्त, पी0एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग–2, पृ0 41

39 गुप्त, पी0एल0, प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, भाग–2, पृ0 130

40 एलन, मुद्रासूची, गुप्त साम्राज्य, पृ0 82–84, अल्तेकर, दि गुप्त गोल्ड क्वायनेज इन दि बयाना होर्ड, पृ. 262–65, फलक 261

41 बृहत्संहिता, 56/49

42 फ्लीट, कार्पस इंसक्रिप्शन्स इंडिकेरम, भाग 4, पृ0 15, पंक्ति 1,

43 एपिग्राफिया इण्डिका, भाग 19, पृ0 131, पंक्ति 1

****

निम्न मध्यवर्गीय स्त्री जीवन का संघर्ष (लौटना नही हैं उपन्यास के विशेष संदर्भ में)

.शहनाज ,
शोधार्थी,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया,
नई दिल्ली, 110025

भूमिका : इस शोध पत्र में निम्न मध्यवर्गीय स्त्री जीवन का संघर्ष को 'लौटना नहीं है' उपन्यास के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है। निम्न मध्यवर्गीय स्त्री को अपने जीवन में जिन सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ता है उसका वर्णन उपन्यास में मिलता है। निम्न मध्यवर्गीय स्त्री अपने पिता के घर में ही नहीं अपने पति के घर में भी आर्थिक चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय स्त्री को अपने जीवन की तमाम परिस्थितियों का सामना करते हुए आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर होने तक का वर्णन मिलता है।

बीजशब्द : निम्नमध्यवर्ग, स्त्री, संघर्ष, आत्मनिर्भरता आि द।

निम्न मध्यवर्ग (LOWER MIDDLE CLASS) एक सामाजिक वर्ग है जो मध्यवर्ग के नीचे आता है। यह वर्ग आर्थिक रूप से मध्यवर्ग से कम स्थिति में होता है। इस वर्ग की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती जिससे यह वर्ग निम्नवर्ग के निकट दिखाई देता है। आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण ही यह वर्ग बहुत ही मुश्किल से जीवनयापन करता है। यह वर्ग परम्पराओं, रूढ़ियों, मर्यादाओं आदि के बोझ से भी दबा होता है। कभी–कभी इस वर्ग की स्थिति बिल्कुल निम्न वर्ग के समान हो जाती है। इस वर्ग में शिक्षित, बुद्धिजीवी, प्राथमिक पाठशाला के अध्यापक, सफेदपोश, वेतनभोगी, कर्मचारी, छोटे–छोटे उद्योग धंधे वाले, सामान्य व्यापारी, क्लर्क आदि आते हैं। यह वर्ग आर्थिक संकट के कारण केवल जीवन की रोजमर्राह की जरूरतों को ही पूरा कर पाता है। यह प्रदर्शन प्रियता की भावना से ग्रस्त होता है। "मशीनी उद्योग धंधों के फैलाव के कारण मजदूरों, उद्योगपतियों और पूंजीपतियों की बीच व्यवस्था करने वालों का एक नया वर्ग उभरता है। न केवल औद्योगिक क्षेत्रों में वरन् सभी क्षेत्रों में इस प्रकार मध्यवर्ती व्यवस्था– निकायों का विकास होता है। यह सभी लोग छोटे–मोटे नौकरीपेशा लोग होते हैं जिनकी गिनती निम्न मध्यवर्ग में ही की जा सकती है।"[1]

समाज में निम्न मध्यवर्ग अन्य वर्गों की तुलना में निम्नतम जीवन जीता है। इसे मनोरंजन तथा ऐशोआराम भी नहीं मिलता। अत्यधिक मेहनत के बावजूद भी यह वर्ग रोटी ही जुटा पाता है। यह वर्ग समाज में अपनी मान–मर्यादा बनाए रखता है। अन्य वर्गों द्वारा इस वर्ग का शोषण भी होता है तथा पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध आवाज भी यही वर्ग उठाता हैं क्योंकि इसे कुछ खोने का भय नहीं होता। इसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं होता यह अपना श्रम तथा बुद्धि के बल पर ही समाज में अपना स्थान बनाता है। पवन कुमार वर्मा भारतीय निम्न मध्यवर्ग के संदर्भ में लिखते हैं, "ऐसा कोई भी व्यक्ति जिसके पास रहने के लिए घर हो और जो अपने परिवार के लिए तीन वक्त का खाना जुटा सकता हो, जिसकी बुनियादी स्वास्थ्य सुविधाओं, जन परिवहन और स्कूली शिक्षा तक पहुंच और उसके पास इन सभी जरूरतों को पूरा करने लेने के बाद इतने पैसे बच जाते हों कि वह पंखा या घड़ी साइकिल जैसी बुनियादी जरूरत की चीजों को खरीद सकता हो तो वह मध्यवर्ग के निचले दर्जे में जगह बना चुका है।"[2]

निम्न मध्यवर्ग की स्त्रियों को अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इनके परिवार में ध न की कमी होती है इनके जीवन में जो भी खर्चे होते हैं उनकी पारिवारिक आय में ही पूरे होते हैं। इनके जीवन में धन की कमी होने के कारण अक्सर यह अपनी जरूरतों को, मन को मारकर समझौता कर लेती हैं। यदि परिवार में अतिरिक्त कार्य आ जाता है जिससे इनका खर्च बढ़ जाता है तो इनके पूरे महीने का बजट बिगड़ जाता है। निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियों को अपने घर के खर्च को पूरा करने के

लिए कर्ज का भी सहारा लेना पड़ जाता है। आर्थिक तंगी झेलते हुए भी यह अपने बच्चों को शिक्षित करने की को. शिश जरूर करती हैं। आर्थिक तंगी के कारण निम्न मध्यवर्ग की स्त्रियों की पढ़ाई कम ही हो पाती है। निम्न मध्यवर्गीय परिवारों में व्याप्त आर्थिक तंगी ही उनके जीवन की तमाम विसंगतियों की जड़ है।

'लौटना नहीं है' उपन्यास कैलाश बनवासी का सन् 2014 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय स्त्री जीवन के संघर्षों का बखुबी चित्रण मिलता है। उपन्यास की कथा मुख्य स्त्री पात्र गौरी के इर्द–गिर्द घुमती है। जिसमें गौरी के साथ–साथ अन्य स्त्री पात्रों के आर्थिक रूप से जुझ रहे संघर्षों का वर्णन भी मिलता है। उपन्यास छत्तीसगढ़ के निम्न मध्यवर्गीय स्त्री जीवन के सामाजिक आर्थिक यथार्थ का ऐसा अनुभवात्मक आत्मवृत्तांत है जिसमें गौरी का परिवार, माँ, पिता, काकी, काका, बड़ी बहन, स्वयं गौरी, छोटी बहन और छोटा भाई राजेश हैं। गौरी की शादी उसके परिवार वालों की मर्जी से राजकुमार नामक व्यक्ति से होती है। गौरी को शादी के बाद अनेक मुश्किलों के साथ पति की प्रताड़नाओं का भी सामना करना पड़ता है। गौरी एक समझदार लड़की है जो अपना घर बसाए रखने के लिये अपने ससुराल वालों और पति की उचित–अनुचित बातों का विरोध न करते हुए उनके सब अत्याचारों को सहन करती रहती है।

निम्न मध्यवर्गीय स्त्री को अपने परिवार से ही संघ र्ष झेलना पड़ता है। शादी से पहले अपने पिता के घर में और शादी के बाद पति के घर में। शादी के बाद गौरी अपने पति के अत्याचारों को सहती रहती है लेकिन जब उसके सहने की क्षमता खत्म हो जाती है तो वह अपने पिता के घर आ जाती है। गौरी दिल्ली में इंटरव्यू देने के लिए जाना चाहती है लेकिन उसके पिता उसका विरोध करते हैं वह कहते हैं, "अभी यहां एक स्कूल में पढ़ा तो रही है, फिर क्या जरूरत है दिल्ली जाने की।' लेकिन बाबू भूल रहे थे कि एक छोटे–से प्राइवेट स्कूल की अस्थायी और बहुत कम वेतन वाली नौकरी के भरोसे जीवन नहीं काटा जा सकता। गौरी और मैं समझ रहे थे कि अच्छा अवसर है नियुक्ति शायद आगे चलकर स्थायी हो जाएगी और अवसर मैं पा रहा था, यह काम गौरी के स्वभाव और योग्यता के हिसाब से भी ठीक है।"[3] शादी के बाद गौरी अपने पति के प्यार एवं घर खर्च के लिए पैसों को तरसती है। गौरी का पति राजकुमार अपनी पत्नी के प्रति कर्त्तव्यहीन है। वह रात में शराब के नशे में धुत रहता है और गौरी के साथ मारपीट भी करता है। विवाह एवं वैवाहिक जीवन का कोई सुख गौरी को नहीं मिलता। मिलती है तो बस यातनाएं। अपने घर परिवार की स्थिति ने गौरी को निराश एवं उदासीन बना दिया है, न तो पति का प्रेम है, न उसकी जरूरतों और अपेक्षाओं की पूर्ति होती है। पति राजकुमार के नशेड़ी होने मारपीट करने और आर्थिक अभाव से ग्रस्त होने के कारण गौरी की आकांक्षाओं और इच्छाओं को रोंद दिया है। गौरी का जीवन अभाव और यातनाओं के कारण अपमानजनक एवं कष्टदायक हो गया है। अपने पति के साथ गौरी का जीवन दुभर हो जाता है।

निम्न मध्यवर्ग की स्त्रियाँ कम शिक्षित होती हैं। आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वह उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाती हैं। उपन्यास में गौरी आठवीं कक्षा तक पड़ी है। सिलाई–कढ़ाई की क्लास लेती है जब उसकी शादी राजकुमार से कर दी जाती है। विधवा होने के बाद गौरी अपने माता–पिता के घर रहती है। वह एक आत्मनिभ.र लड़की है। गौरी अपने भाई के साथ दिल्ली में एक संस्था में अनाथ बच्चों की देख–रेख के लिए इंटरव्यू देने आती है। गौरी का भाई सोचता है, "अगर दीदी का यहां चयन हो जाए तो कितना बढ़िया हो। घर में उसे कहां ये सब मिल पाता है? घर में अपने होने की ऐसी स्वतंत्रता भी कहां? वहां दिन–रात घर में घुसे रहना। नहीं चाहते हुए भी विधवा होने का अभिषाप हर क्षण सिर पर बना रहना, इससे मुक्ति नहीं मिल पाती। यहां रहेगी तो घूमना–फिरना हो सकेगा। अरे, घूमने–फिरने को गोली मारो, उस कलंक से मुक्त होकर आजादी से रह तो सकेगी।"[4]

निम्न मध्यवर्गीय स्त्री को अपने जीवन में आर्थिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है। यह स्त्रियाँ अपने घरों में बहुत ही सलीके से रहती है। जब कोई मेहमान या रिश्तेदार उनके घर में आते हैं तो यह अच्छे से अच्छे ढंग से, सामान से, बर्तनों से एवं अच्छी वस्तुओं का प्रयोग कर उनका सम्मान करती हैं क्योंकि उनके पास पैसों की कमी होती है और यह बार–बार नई वस्तुएं खरीदने में असमर्थ होती हैं। गौरी के घर जब सगा आते तो माँ को बहुत खुशी होती। वह स्वयं भी काम में लग जाती और अपने बच्चों को भी साथ में मदद के लिए कहतीं। निम्न मध्यवर्गीय स्त्री को अपने वैवाहिक जीवन में तब अधिक आर्थिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है जब घर का मुखिया तनख्वाह लाता है और शराब जुए में लगा देता है। गौरी के पिता को हर महीने की एक तारीख को तनख्वाह मिल जाती है। तन ख्वाह मिलते ही घर में खुशीयाँ आ जाती हैं। घर में मिठाई, नमकीन आ जाती है। गौरी की माँ पैसों को अलमारी में र

ख देती लेकिन असली परेशानी तब होती है जब गौरी के पिता महीना पूरा होने से पहले ही तनख्वाह के पैसे शराब, जुए में लगा देते हैं और परिवार को आर्थिक संघर्ष का सामना करना पड़ता है, "बाबू के लिए इन पैसों का महत्त्व पीने के लिए सबसे अधिक था। तनख्वाह का एक तिहाई घर के राशन पानी के लिए होता, बाकी पीने के लिए। वह खुद पीते, पड़ोसियों को पिलाते, रिश्तेदारों को पिलाते। घर में रोज कोई न कोई पीने वाला पहुंचता ही था। यह संख्या दो तीन भी हो जाती तो भी बाबू को कोई अंतर नहीं पड़ता था, बल्कि उन्हें खुशी ही होती कि देखो मुझे इतने चाहने वाले हैं। घर कुढ़ता रहता है ऐसी हरकतों पर, पर बाबू को कोई फर्क पड़ा हो, ऐसा नहीं हुआ। वे मस्त मलंग रहते।"[5] उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियों की आर्थिक स्थितियों से उत्पन्न विपन्नता का वर्णन मिलता है। आर्थिक विपन्नता से जीवन अभ. ावग्रस्त, घुटनशील और विवश हो जाता है। स्त्री अपने जीवन में आर्थिक संघर्ष का सामना करती है। घर की आर्थिक जिम्मेदारी पति की आय पर निर्भर करती है। निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियाँ अपने परिवार के लिए एवं खुद के लिए स्वयं घरों में मजदूरी करती हैं और अपने परिवार की आर्थिक विपन्नता को दूर करने की कोशिश करती हैं। गौरी की माँ और काकी घर पर बीड़ी बनाने का काम करती हैं। काकी फरमाइश 345 छाप कम्पनी की बीड़ी बनाती और माँ गाय छाप बीड़ी कम्पनी के लिए बनाती थी। पूरा घर उनके काम में सहयोग देता है। लेकिन बीड़ी बनाने से भी घर की आर्थिक स्थिति नहीं सुधरती। "बीड़ी बनाना घर को अतिरिक्त आय देता पर बहुत अधिक नहीं। घर का खर्च सिर्फ इसी से चल जाए, यह मुश्किल था, खासकर हमारे अपने घर का, क्योंकि घर के खर्चे बाबू के कारण बढ़े हुए थे। पर काकी के घरू खर्च का तो यही प्रमुख आधार था। काका की कमाई अनिश्चित थी। अगर होती भी तो काका उसे हुए में उड़ाने में देर नहीं करते थे। बाबू और काका दोनों 'घर–फूंक्कन' थे बबा की नजर में, जो घर–परिवार की कोई जिम्मेदारी ठीक से नहीं निभाते थे। पैसे फूंकने में अव्वल।"[6] दैनिक जीवन की जरूरत को पूरा करने के लिए पैसों की जरूरत होती है। निम्न मध्यवर्गीय स्त्री एक बंधी हुई सीमित आमदनी में अपने घर के खर्चों को पूरा करने में असमर्थ रहती है। अपनी जरूरत को पूरा करने के लिए छोटे–मोटे काम करती है लेकिन उस काम में भी ठगी जाती है।

निम्न मध्यवर्गीय स्त्रियों को अपने परिवार की हर बात माननी पड़ती है चाहे वह उसके लिए ठीक हो या नहीं, उसको पसंद है या नहीं। इन स्त्रियों के परिवारों में स्त्री के विवाह संबंधी फैसले परिवार के लोग ही करते हैं। यह स्त्रियाँ अपनी परम्पराओं और संस्कृति से जुड़ी रहती हैं। जिस लड़के से इनकी शादी परिवार वाले तय कर देते हैं। वह उन्हीं से शादी करती हैं। अब लड़के में कितनी ही कमी हो लड़की को निभाना ही पड़ता है। यही स्थिति उपन्यास में गौरी की भी रहती है उसकी शादी एक ऐसे लड़के से हो जाती है जो शराबी है जिसको सुधारने के लिए उसके घर वालों को शादी का ही रास्ता ठीक लगता है कि सब लड़के ऐसे ही होते हैं शादी के बाद सब ठीक हो जाते हैं। लड़की की जिन्दगी के बारे में कोई नहीं सोचता। गौरी के घर–परिवार वाले भी यही सोचते हैं। गौरी की मां सोचती है, "लड़के की कमियों को नजरअंदाज करती कि थोड़ा–बहुत ऐब तो हर आदमी में होता है। समय के साथ सब सुधर जाता हैं। हमको यह भी पता चल गया था कि लड़का पीता–खाता है। और माँ या उस जैसी पियक्कड़ पतियों की ज्यादतियों की शिकार औरतों की नजर में पीना–खाना कोई बड़ा दोष नहीं है। ये तो आम बात है! और आज की तारीख में कौन ऐसा दूध का धुला है! सब पीते हैं। कोई कमती तो कोई ज्यादा। घर–परिवार वाला होने की जिम्मेदारी आने पर सब सुधर जाते हैं।"[7] गौरी का पति राजकुमार फोरेस्ट विभाग में फोरेस्ट गार्ड है। उसकी सरकारी नौकरी है इसलिए गौरी के परिवार वाले उसके रिश्ते को मना नहीं करते। निम्न मध्यवर्गीय परिवारों में रिश्ता जुड़ने के बाद तोड़ना गलत समझा जाता है। उन्हें समाज में बदनामी का डर बना रहता है और दुबारा रिश्ता न होने की चिन्ता रहती है इसलिए गौरी के होने वाले पति का शराबी होने का पता चलने के बाद भी गौरी के परिवार वाले गौरी का रिश्ता खत्म नहीं करते। "समाज में इससे हमारी बड़ी बदनामी हो जाएगी और आगे गौरी के लिए रिश्ता लेकर कोई नहीं आएगा। और हमारे समाज में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं थी कि एक बार रिश्ता टूटा तो फिर उस लड़की के लिए दूसरा कोई रिश्ता नहीं आया, और वे रिश्ते के इन्तजार में बूढ़ा रही हैं।"[8] निम्न मध्यवर्ग के परिवारों में सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत मायने रखती है। निम्न मध्यमवर्ग समाज में अपनी स्थिति और सम्मान के लिए अधिक सोचता है। राजकुमार शराबी और मारपीट करने वाला पति निकलता है। वह गौरी पर अत्याचार करता है। गौरी अपने पति के सब अत्याचारों को सहती है लेकिन सहने की भी एक सीमा होती है। गौरी अपने पिता के घर आ जाती है और फिर से अपने पति के घर जाने से साफ

इनकार कर देती है। वह अपनी माँ से कहती है, "मैं वहां नहीं जाऊंगी। किसी हालत में नहीं जाऊंगी।"

आवाज में निर्णय था। साफ। ठोस, कोई रिरियाहट, हकलाहट नहीं। सोच समझकर लिया गया फैसला।"[9] पति की यातनाओं, शोषण को झेलते हुए गौरी दोबारा अपने पति के घर नहीं जाना चाहती है। गौरी अपने घर वालों को समझाती है कि वह कोई भी काम करके अपने जीवन को जी लेगी। आज की स्त्री अपने प्रति हो रहे अत्याचारों का विरोध करने में सक्षम हुई तथा आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर अपना जीवन जीने की इच्छा करती है, "गौरी ने अपना फैसला कर लिया था। सत्रह साल की गौरी। पता नहीं वह कभी अपने जीवन को कितना आगे तक देख पा रही थी। आगे, जीवन की कठिनाइयां चाहे जो हों, इस समय वह उस व्यक्ति से मुक्त होना चाहती थी जिससे उसे पति के नाम पर जोड़ दिया गया था।"[10] गौरी को जब राजकुमार लेने आता है तो वह हिम्मत करके उससे कह देती है अब वह उसके साथ नहीं जाएगी। गौरी के इस फैसले में उसका परिवार उसका साथ देता है। गौरी का पति चला जाता है। कुछ समय बाद गौरी के पति राजकुमार की एक्सीडेंट में मृत्यु हो जाती है। गौरी के ससुराल वाले, समाज के लोग, गौरी को उसके पति के क्रियाकर्म में शामिल होने और विधवा होने की सारी प्रक्रियाओं और रीति–रिवाजों का पालन करने के लिए मजबूर करते हैं। गौरी के पिता और भाई इन सब सामाजिक नियमों और समाज का विरोध करते हैं लेकिन उन्हें भी समाज एवं सामाजिक व्यवस्था के आगे झुकना पड़ता है और गौरी को एक विधवा स्त्री होने के सारे रीति–रिवाजों का पालन करना पड़ता है। निम्न मध्यवर्ग की स्त्री को सामाजिक प्रतिष्ठा की लड़ाई से जूझना पड़ता है जिससे वह समाज में अपनी स्थिति को मजबूत कर सके और अपने सम्मान के लिए लड़ सके।

गौरी अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए एवं अपने परिवार पर बोझ न बने इसके लिए वह सिलाई मशीन खरीद लेती है और बच्चों की फ्रॉक और औरतों के लहंगे, ब्लाउज सीने का काम करने लगती है। लेकिन इस काम में गौरी को बहुत संघर्षों का सामना करना पड़ता है, कभी किसी का ब्लाउज छोटा हो जाता है, कभी बड़ा, जिसके कारण उसकी मजदूरी के पैसे रोक लिए जाते हैं, पैसे मांगने पर भी नहीं मिलते। लेकिन फिर भी गौरी का आत्मविश्वास कम नहीं होता। जब उसके भाई की नौकरी लगती है तो गौरी को विश्वास हो जाता है कि उसकी भी नौकरी लग जाएगी। "घर के काम–काज में लगे रहने के बावजूद अब उसकी चिन्ता एक नौकरी को लेकर रहती थी। दूसरे उसने कहीं न कहीं इस बात को महसूस कर लिया था कि बगैर आर्थिक–सुदृढ़ता के जीवन में कोई स्थायित्व और महत्त्व नहीं। वह घर में मुझसे या आस–पास की सहेलियों या लड़कियों से इधर निकल रही अपने लायक वेकेंसियों की जानकारी लेती थी।"[11] निम्न मध्यवर्ग की स्त्री बेहतर जीवन की आकांक्षा रखती है जिसमें आर्थिक स्थिरता, सामाजिक प्रतिष्ठा और घर–परिवार में सुख–शांति बनी रहे चाहती है। गौरी अपनी पहचान और आत्मसम्मान को बनाए रखने के लिए और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर रहने के लिए अपने लिए नौकरी की कोशिश करती रहती है। गौरी अपने जीवन के अनेक स्तरों पर जूझती हुई दि खाई देती है लेकिन कोशिश करना और मेहनत करना नहीं छोड़ती है।

निष्कर्ष : इस प्रकार निम्न मध्यवर्ग की स्त्री अपने जीवन में अनेक संघर्षों से जूझती रहती है। जिन्दगी में उम्र की सीढ़ियां ही पार नहीं लगातीं बल्कि संघर्ष और मेहनत ही व्यक्ति में आत्मविश्वास पैदा करता है। निम्न मध्यवर्ग की स्त्री के जीवन का संघर्ष, उसके परिवेश की कठिन चुनौतियों के भीतर मानवीय मूल्यों और आर्थिक–सुदृढ़ता को बनाए रखने का संघर्ष है। यह संघर्ष एक वर्ग संघर्ष न होकर जीवन में स्त्री का कठिन परिस्थितियों से सामना करते हुए आर्थिक, सामाजिक, मानसिक आदि धरातल पर दिखाई देता है।

संदर्भ ग्रंथ

1.डॉ. श्याम सुंदर घोष, भारतीय मध्यवर्ग, बिहारी हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्रेमचंद मार्ग, राजेंद्रनगर, पटना–800016, तृतीय संस्करण–दिसम्बर–2013, पृष्ठ–60

2.पवन कुमार वर्मा, (अनुवादक–प्रभात रंजन), भारत का नया मध्यवर्ग, हार्परकॉलिंस पब्लि''र्स इंडिया, ए–75, सेक्टर–57, नौएडा–201301, उत्तर प्रदेश, भारत, संस्करण–2014, पृष्ठ–13

3.कैलाश वनवासी, लौटना नहीं है, सामयिक प्रका''न, नई दिल्ली, संस्करण–2014, पृष्ठ–16

4.वही पृष्ठ–230

5.वही पृष्ठ–26

6.वही पृष्ठ–66

7.वही पृष्ठ–85

8.वही पृष्ठ–98

9.वही पृष्ठ–131

10.वही पृष्ठ–150

'संस्कार' उपन्यास में परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्व

- डॉ. श्वेता

भारतीय साहित्य के इतिहास में कन्नड साहित्य उन साहित्यों में है जिनकी धारा अतिप्राचीन और वैविध्यपूर्ण होने के साथ-ही-साथ अविच्छिन्न बहती रही है। तमिल, तेलुगु तथा मलयालम के समान कन्नड भी द्राविड - परिवार की भाषा है। स्थूलताः ग्रान्थिक कन्नड भाषा में प्राचीन कन्नड और नवीन कन्नड ये दो अवस्थाएँ दिखाई देती है। ईसा की नवीं शताब्दी से लगभग बारहवीं शताब्दी तक प्राचीन कन्नड ही प्रचलित थी। उसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी में कुछ-कुछ प्रकट होकर बारहवीं शताब्दी में बड़ा प्रवाह बनकर नवीन कन्नड आगे आई।

"कन्नड साहित्य में कन्नड संस्कृति का एक विशिष्ट मनोधर्म विकसित हुआ दिखाई देता है। आर्य - द्राविड, संस्कृत - कन्नड और पूर्व - पश्चिम शक्तियों के परस्पर सम्पर्क में कन्नड साहित्य का दिखलाया हुआ विशिष्ट समन्वय - उसके प्रमुख लक्षणों में एक है। जैन, वीरशैव, शांकर, माध्व और रामानुज, इन सब मततत्त्वों और पुराणों की पुण्यकथाओं के लिए प्राचीन कन्नड साहित्य उच्च - कण्ठ की वाणी हो गया है। उसमें जैसे उनके बीच के संघर्ष का चिन्ह अंकित है वैसे ही परस्पर सम्पर्क से उत्पन्न नवीन आदान-प्रदान और सामरस्य का चिन्ह भी अंकित है। कन्नड साहित्य में जैसे दार्शनिक वैविध्य है वैसे ही ग्रन्थों के विषयों, साहित्य स्वरूपों, छन्दों और शैली आदि में भी विविध और विशिष्टता है।"

बीसवीं शताब्दी का छठा दशक 'नव- लेखन' की टेक पर देश भर की लगभग सभी भाषाओं में एक नए तेवर के साथ आता है। हिन्दी में भी 'नयी कविता', 'नयी कहानी', 'नव–लेखन' का यही दौर है। कन्नड में भी यह 'नव्य आन्दोलन' के नाम से जाना जाता है। उसी 'नव्य- आन्दोलन' की वैचारिकी से निकले रचनाकार थे यू.आर. अनंतमूर्ति। कन्नड में इस नव्य आन्दोलन के अगुआ थे विनायक कृष्ण गोकाक और गोपाल कृष्ण अडिग।

यू. आर. अनन्तमूर्ति, पी लंकेश, शांतिनाथ देसाई, ए. के. रामानुज, गिरीश कर्नाड आदि 'नव्य–आन्दोलन' का हिस्सा बने। अपनी जिस एक रचना 'संस्कार' के चलते अनंतमूर्ति कन्नड के अलावा भारत और भारत से बाहर चर्चित और प्रसिद्ध हुए वह इसी 'नव्य आन्दोलन' की देन है।

संस्कार उपन्यास (1965) अपने प्रकाशन के समय से ही चर्चित रहा है। सन् 1970 में पट्टाभि रामारेड्डी ने इस उपन्यास पर कन्नड़ में ही फिल्म बनाई।

यह फिल्म सिर्फ़ विवादास्पद और चर्चित ही नहीं हुई, बल्कि उसने भारत में नई धारा के सिनेमा आंदोलन का सूत्रपात भी किया। इसके बाद डॉ. अनन्तमूर्ति के उपन्यास 'अवस्था' और कहानी 'घटश्राद्ध' को भी रूपहले पर्दे पर उतारा गया। फिल्म 'संस्कार' और 'घटश्राद्ध' दोनों के लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ कथा का पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

सन् 1976 में ए.के. रामानुजम् ने इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया जो सर्वप्रथम अंग्रेजी पत्रिका इलस्ट्रेटेड वीकली' में धारावाहिक रूप में और बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। आज यह उपन्यास हिन्दी के साथ ही अन्य प्रमुख भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनूदित हो चुका है और एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास के रूप में प्रशंसित है।

'संस्कार' विश्व का एक ऐसा आधुनिक क्लासिक है जो धर्म, धर्माचरण, वर्णव्यवस्था, जाति, समाज, परंपरा, नैतिकता, मूल्य सबमें अन्तर्निहित पाखण्ड को उजागर करता है। कृत्रिम, बनावटी, अवास्तविक आवरणों को तार-तार करता यह उपन्यास सही अर्थों में 'ब्राह्मणवादी - संरचना' और व्यवस्था का जबरदस्त क्रिटिक रचता है।

अनन्तमूर्ति अपने हाईस्कूल के दिनों की याद करते हुए बताते हैं कि 'संस्कार' उपन्यास के बीज कहाँ और कैसे पड़े। अनन्तमूर्ति सनातनी ब्राह्मण परिवार से थे। वे लिखते हुए बताते हैं कि - "एक बार कस्बे में प्लेग फैल गया और टीका लगाने वाला जो डॉक्टर आया था वह गाँव के बाहर बसने वाले अछूतों की बस्तियों में गया ही नहीं। प्लेग से हरिजन मरने लगे और

इधर अग्रहार के कुछ दकियानूसी अंधविश्वासी लोग उन हरिजनों की मृत्यु के लिए उनके मंदिर प्रवेश के पाप को कारण बताने लगे।... अग्रहार में एक नौजवान था जो सेना में था। हरिजन युवती के साथ उसके अवैध सम्बन्ध थे। इसमें मुझे लगा कि मत्स्यगंधा जैसी दिखने वाली वह काली खूबसूरत औरत अपने बस्ती के दूसरे लोगों की तरह हाथ पर हाथ धरे मरने के लिए कत्तई तैयार नहीं थी, क्योंकि उसे अछूत को छुआ जा चुका था और इस स्पर्श ने उसे जगा दिया था। बाद में हाईस्कूल के दिनों की लिखी इस कहानी को पुनः लिखने की प्रक्रिया में मेरा उपन्यास 'संस्कार' बना।''

'संस्कार' में उपन्यासकार ने तत्कालीन दक्षिण भारतीय ब्राह्मण समुदाय में व्याप्त जड़ता, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों को बड़ी सूक्ष्मता एवं साहस के साथ उजागर करने का काम किया है। इसके चलते अनन्तमूर्ति पर ब्राह्मणत्व पर हमला करने का आरोप भी लगाया गया। किन्तु, आगे चलकर लोगों ने इसे एक सामाजिक समस्या को उठाने वाले यथार्थवादी उपन्यास के रूप में स्वीकार किया।

उपन्यास का प्रारम्भ दुर्वासापुर के ब्राह्मणों के जीवन की जड़ता की ओर संकेत करता है। जहाँ कोई गति नहीं है। जीवन स्थिर है। उर्वरता का भी अभाव है। प्रथम पृष्ठ पर ही प्राणेशाचार्य की दिनचर्या का चित्रण इस ठहराव की ओर इशारा करता है- "हमेशा की दिनचर्या की तरह पूजा, नैवेद्यादि सम्पन्न करके देवता के प्रसाद का फूल उसके बालों में लगाया, चरणामृत पिलाया।" (संस्कार उपन्यास, पृ. 11)

आगे बढ़ने पर भागीरथी का कथन भी सुख एवं संतति का अभाव तथा एक प्रकार की रिक्तता से भरे जीवन का संकेत देता है। वह कहती है- " मुझसे बँधकर आपको क्या सुख मिला है? घर में सन्तान तो होनी ही चाहिए न।" (संस्कार-अनुवादक चंद्रकान्त कुसनूर, पृ. 11)

उपन्यास में सर्वत्र एक प्रकार की गतिहीनता और ठहराव ही दिखता है। साथ ही इसमें न तो किसी विवाह की घटना है और न ही जन्म की। सब कुछ मौत के साये में चलता है। यदि कहीं विवाह के उल्लेख हैं भी तो वह प्रकारान्तर से है और उसमें न तो आनंद है, न ही सन्तान।

उपन्यास का दूसरा अध्याय दुर्वासापुर के अग्रहार ब्राह्मणों के जीवन का पूरा बिम्ब उपस्थित कर देता है। सभी ब्राह्मणों की जीवन-शैली एवं उनके घरों की स्थिति लगभग एक जैसी है।

अग्रहार के इस ब्राह्मण समुदाय के सारे निर्णय सदियों पुरानी संहिताओं एवं शास्त्रों के आधार पर लिए जाते हैं। यहाँ कोई यदि अपनी पत्नी की उपेक्षा करता है तो कोई परेशानी नहीं, लेकिन यदि उसने पितरों के श्राद्ध में उदासीनता कर दी तो उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। किसी ब्राह्मण का निचली जाति की स्त्री के साथ सहवास करना माफ किया जा सकता है, किन्तु यदि उसने उसके द्वारा बनाया खाना खा लिया तो अक्षम्य है।

लक्ष्मणाचार्य नारणप्पा के संदर्भ में कहता भी है, "जैसा कि आप जानते ही हैं, वह उसके हाथ की बनायी हुई रसोई तक खाता था।" (संस्कार उपन्यास, पृ. 16)

प्राणेशाचार्य को इसी पतनशील अग्रहार ब्राह्मणों के आध्यात्मिक प्रमुख रूप में प्रस्तुत किया गया है। हालाँकि अन्य ब्राह्मणों की तरह वे भ्रष्ट, लालची व पाखण्डी नहीं है।

नारणप्पा एक ऐन्द्रिक जीवन के सम्पूर्ण रस को प्राप्त करते हुए आनंद के साथ जीना चाहता है, संलिप्त होकर। वही दूसरी और प्राणेशाचार्य उसे नकारता है, निर्लिप्त रहता है। "अनंतमूर्ति के पूरे रचनात्मक व्यवहार में मनुष्यता की बेहतरी के लिए धर्म, राजनीति, समाज, संस्कृति को लेकर जो निरंतर एक आलोच्य भाव है व किसी प्रतिक्रिया में नहीं है न ही वह "यूरो केन्द्रित" आधुनिकता की दृष्टि का प्राच्य भाव ही है।"

संस्कार में प्राणेशाचार्य के मूल्यों की टकराहट नारणप्पा के मूल्यों से होती है नारणप्पा प्राणेशाचार्य के साथ बातचीत एवं बहस में शास्त्रों एवं पुराणों के अनेक उद्धरण प्रस्तुत करता है जिसे प्राणेशाचार्य स्वीकार नहीं करते किंतु उसका खण्डन भी नहीं कर पाते। अचानक प्लेग से नारणप्पा की मृत्यु हो जाती है। उसकी मृत्यु से प्राणेशाचार्य के सम्मुख एक भीषण संकट उपस्थित हो जाता है। समस्या है उसके दाह संस्कार की। मरने के बाद नारणप्पा प्राणेशाचार्य के ज्ञान को चुनौती नहीं दी। उसका मकसद तो ब्राह्मणत्व को चुनौती देना था।

प्राणेशाचार्य नारणप्पा की मृत्यु के बाद उसके बढ़ते महत्त्व की तुलना विष्णु के वामन अवतार से करते हैं। वे कहते हैं- "बिना ठीक से समझे मैं नारणप्पा में महाबल को देखता रहा हूँ। वहाँ जो मेरी पराजय हुई थी उसे नारणप्पा के मामले में मैंने विजय में परिवर्तित करना चाहा।..." (संस्कार उपन्यास, पृ. 122)

अपने मूल्यों का अतिक्रमण किये जाने के साथ ही प्राणेशाचार्य के भीतर एक आत्मनिरीक्षण एवं वैयक्तिक सोच विकसित होती है। वे नारणप्पा और महाबल का स्मरण करते हैं तथा उनके जीवन मूल्यों को सराहने लगते हैं। प्राणेशाचार्य कहते हैं- "जिस दुविधा का मैं सामना कर रहा हूँ, अग्रहार उसी का स्थूल प्रतिरूप बनकर अब मेरे सामने खड़ा है।" (संस्कार उपन्यास, पृ. 122)

चन्द्री के साथ प्राणेशाचार्य का शारीरिक संबंध अकस्मात हुआ लेकिन अकारण नहीं। इसमें प्राणेशाचार्य के अवचेतन में पड़ी कुण्ठा एक महत्त्वपूर्ण कारण है। प्राणेशाचार्य स्वयं महसूस करते हैं- चन्द्री की छातियों के लिए कैसे मैं स्वयं अंततः कामातुर हो गया...। यह घड़ी वह रही होगी जबकि मेरे मन में छिपी हुई हर भावना अभिव्यक्त होने के लिए उत्सुक हो चुकी थी - भंडार गृह से कूदकर बाहर आने वाले चूहों की तरह।" (संस्कार उपन्यास, पृ. 122)

प्राणेशाचार्य के भीतर पलने वाली इस कुण्ठा का मूल कारण उनकी नितान्त निवृत्तिमूलक जीवनदृष्टि ही थी।

चन्द्री के साथ संभोग के बाद प्राणेशाचार्य के मन में भयंकर उथल-पुथल प्रारम्भ हो जाती है उनकी सोच बिल्कुल बदल जाती है। वे कहते हैं, "मेरे व्यक्तित्व ने मेरे पिछले रूप को गवा दिया है, किसी नये रूप को स्वीकार नहीं किया और इसीलिए गर्भाशय से समय से पूर्व निकाले गये राक्षसी पिंड की तरह वह बन गया है।" (संस्कार उपन्यास, पृ. 188)

अच्छी बात यह है कि प्राणेशाचार्य ने अपनी इस स्थिति के लिए चन्द्री को कोई दोषारोपण न करके स्वयं को ही उत्तरदायी महसूस करते हैं।" (संस्कार उपन्यास, पृ. 188)

रात के अंधेरे में अहमदवारी की मदद से चन्द्री द्वारा नारणप्पा का दाह संस्कार सम्पन्न किये जाने के बाद भी यह उपन्यास समाप्त नहीं होता बल्कि प्राणेशाचार्य के मानसिक अंतर्द्वन्द्वों के बीच एक ब्याज से इसकी कहानी आगे बढ़ती जाती है। इससे स्पष्ट है कि उपन्यासकार का उद्देश्य सिर्फ नारणप्पा की मौत से पैदा हुई विषम सामाजिक स्थितियों का उद्घाटन मात्र न होकर इससे अधिक कुछ और भी है।

चन्द्री भी जीवन को सम्पूर्णता में स्वीकार करती है। संभोग उसके लिए पाप नहीं। प्राणेशाचार्य को वह अपनी देह स्वतः स्फूर्त सद्भाव के साथ सौंपती है। खुद पहल करती है। किन्तु ध्यान देने की चीज यह है कि नारणप्पा का शव संस्कार हेतु पड़ा है और उस समस्या के समाधान के लिए प्राणेशाचार्य और चन्द्री दोनों परेशान है। फिर भी दाह संस्कार से पूर्व दोनों संभोगरत रहते हैं। हालाँकि रचनाकार ने एक दूसरे को पाने की इच्छा उनके अवचेतन में दिखलाने का प्रयास किया है फिर भी भारतीय परिवेश में यह असहज प्रतीत होता है।

"सेक्स के प्रति इस तरह की अभिव्यक्तियाँ डी. एच. लारेन्स के उपन्यासों में प्राय: मिलती है। कहीं न कहीं अंग्रेजी साहित्य के अध्येता एवं आचार्य यू. आर. अनन्तमूर्ति पर इसका प्रभाव लक्षित होता है। साथ ही जो चन्द्री प्राणेशाचार्य से प्रथम बार मिलते समय सिर पर आँचल रख लेती है वही दूसरे क्षण दूसरी जगह इतनी निर्लज्ज दिखायी जाती है जो संभोग के लिए स्वयं पहल करने लगती है। यहाँ पर चन्द्री किसी भारतीय नारी के व्यवहार से भिन्न दिखाई देने लगती है। जहाँ मस्तिष्क के निर्णय से ज्यादा असरदार एवं व्यावहारिक धमनियों में बहते हुए रक्त की भाषा दिखती है।"

रूपक के स्तर पर हम देखते हैं कि उपन्यास में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ प्रायः समाज के स्वीकृत ढाँचे के बाहर घटती है। प्राणेशाचार्य का चन्द्री से समागम भी खुले मैदान में जंगल में होता है जिससे उनके भीतर स्वाभाविकता एवं सम्पूर्णता की एक नई दुनिया का बोध होता है। वे एक बार पुनः उसी खुली प्रकृति में पुनः जाते हैं, जहाँ से उनके जीवन में एक नया बोध एवं बदलाव आता है।

अग्रहार के मौत की सड़ांध और जंगल की गीली मिट्टी तथा घास की खुशबू दोनों को एक रूपक के रूप में आमने-सामने रखा गया है साथ ही प्राणेशाचार्य की लकवाग्रस्त रूगण पत्नी भागीरथी अग्रहार के स्त्रियों में व्याप्त एक प्रकार के बंजरपन का संकेत देती है जबकि इस घेरे से बाहर की दुनिया में यौवन एवं काम एक उत्सव जैसा है।"

यू. आर. अनन्तमूर्ति की समूची रचनात्मक - प्रक्रिया में धर्म, जाति, लिंग, भाषा आदि के आधार पर बनायी गयी सामाजिक रूढ़ियों और असमानताओं के विरुद्ध एक विद्रोहात्मक मानवतावादी लेखन का ढंग दिखायी देता है।

'संस्कार' में लक्ष्मीदेवम्मा पात्र जो बाल विधवा थी। उसके पति की बालपन में ही मृत्यु हो गई थी। यह भारतीय समाज के संबंधों की ऐसी कटु सच्चाई है कि पति की मृत्यु हो जाने पर उसे कुलक्षणी या अपशगुनी के रूप में जाना जाता है।

नारणप्पा और चन्द्री के सम्बन्धों में समाज को, धर्म को और संस्कारों को तोड़ती हुई विचारधारा है। नारणप्पा का संबंध चन्द्री से है, वो सम्बन्ध सामाजिक रूप में नहीं हैं क्योंकि वो एक शूद्र वैश्या है, जबकि चन्द्री नारणप्पा के विधि - पूर्वक देह संस्कार के लिए अपने आभूषण तक देने के लिए तैयार हो जाती है।

'संस्कार' में प्राणेशाचार्य और चन्द्री के संभोग की जो कथा है, उसमें प्राणेशाचार्य के दोहरेपन का शिकार होने की भी मानसिकता दृष्टव्य होती है। शुरु के प्रसंग में प्राणेशाचार्य चन्द्री की आवाज सुनकर ही चिंतित हो उठते है कि उससे बात करने पर फिर से स्नान करना पड़ेगा और फिर भोजन हो सकेगा, किंतु अंत तक आते-आते उपन्यास में उनकी मनोदशा परिवर्तित होती है।"

प्राणेशाचार्य का चन्द्री से सम्बन्ध एक ऐसी जड़ता का परिचायक है कि कामुकता समाप्त नहीं होती, उसे दबाया जा सकता है, किंतु समाप्त नहीं किया जा सकता।

"कुछ विद्वानों ने संस्कार की विवेचना सतही स्तर पर करने की कोशिश की है। राबर्ट जाइडेनबास ने संस्कार पर चर्चा करते हुए इसी संकीर्ण दृष्टि का परिचय दिया है। उनके अनुसार संस्कार का मूल विषय रूढ़िवादिता का संकट है और इस संकट को वह हिन्दू धर्म के आलोक में देखते हैं। यहाँ एक वाजिब सवाल उठता है कि क्या यह संकट सिर्फ और सिर्फ हिन्दू धर्म या समाज का है? क्या झूठ - फरेब, कंजूसी - लालच, ईर्ष्याद्वेष और नैतिक, दोगलापन सिर्फ हिन्दू धर्म में ही है? फिर संस्कार में इन मानवीय दोषों के चित्रण के आधार पर इसे हिन्दू धर्म पर कुठाराघात मान लेना कहाँ तक उचित है? नोबल पुरस्कार विजेता साहित्यकार वी.एस. नैपाल ने भी इसे इसी आलोक में देखा है।"

हालाँकि हिन्दू धर्म में संस्कार कहीं अधिक व्यापक अर्थ रखता है। यह भौतिक के साथ-साथ अभौतिक परिवर्तनों को भी समाहित करता है।

"यदि समूची वर्ण व्यवस्था को त्याग दे और उसकी मृत्यु के बाद उसके संस्कार की चिंता खड़ी हो जाए तो इसमें चिंतित होने की जरूरत नहीं है क्योंकि तब हम लाश को नदी में फैंक दे सकते हैं।" हालाँकि अनन्तमूर्ति इस समाधान को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार मनु का समाधान पूर्वाभास पर आधारित है कि संबद्ध व्यक्ति बहिष्कार के जरिये पहले अपनी जाति के बाहर फेंक दिया जाए यानि कि पहले बहिष्कार होगा और फिर बहिष्कृत।"

"आलोचक नामवर सिंह ने प्राणेशाचार्य को रविन्द्रनाथ टैगोर के गोरा के साथ रखकर दोनों स्थितियों की आलोक में उनकी तुलना करते हैं। उनका मानना है कि 'गोरा' का नायक हिन्दू बना रहने के लिए अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ हरसंभव प्रयास करता है किन्तु आखिरकार उसे भारतीय बनने के लिए बाध्य होना पड़ता है यही उसकी नियति होती है।'संस्कार' में प्राणेशाचार्य एक खास तरह के ब्राह्मण को जीने एवं अपने को उसी रूप में प्रस्तुत करने की अनेक कोशिश करते हैं पर अन्ततः अपने स्थिति से च्युत होकर वे साधारण मनुष्य रह जाते हैं।

चंद्री के साथ संभोग से पहले प्राणेशाचार्य को व्यक्तित्व अग्रहार के अन्य ब्राह्मणों से भिन्न एवं शास्त्र ज्ञान से सम्पन्न के रूप में दिखाया गया है, जो सभी की तुलना में ऊँचा है। चंद्री से संभोग के बाद में वे अनवरत अतीत से मुक्त होकर यथार्थ का सामना करने की युक्ति तलाशते हुए पाये जाते हैं इसी क्रम में वे अपने पर नियंत्रण करते हुए पद्मावती से दूर हटते हैं और दुर्वासापुर लौटकर किसी तरह के पाप या अपराध बोध से मुक्त होकर नारणप्पा का दाह संस्कार करने हेतु चल पड़ते हैं। यहाँ वे निश्चित रूप से एक क्लासिकी त्रासद नायक के रूप में उभरते हैं।"

निष्कर्ष अतः कहा जा सकता है संस्कार में ब्राह्मणवाद, अंधविश्वासों और रूढ़िगत संस्कारों पर पैनी चोट है। दरअसल ब्राह्मण कुल में पले बढ़े और इंग्लैंड में पढ़े होने की वजह से ही डॉ. मूर्ति में एक तरफ रूढ़िवादी ढकोसलों की भरपूर समझ है तो दूसरी ओर उसे उकेरने की तीखी दृष्टि भी। अंग्रेजी का अध्यापक और कन्नड़ का लेखक होने की वजह से ही उनकी रचनाओं के ग्रामीण परिवेश को वैज्ञानिक आधार मिल सका है और वे संवृद्ध हुई है।

"हालाँकि संस्कार का अभिप्राय महज ब्राह्मणवाद की रूढ़ियों से विद्रोह करने वाले नारणप्पा के दाह संस्कार से नहीं है, बल्कि समसामयिक भारतीय जीवन के दहशत पैदा करने वाले अनुभवों का जीवन्त दस्तावेज है।"

'संस्कार' में ईश्वर, पूँजी, अंधविश्वास तथा पाखंड की मिली-जुली और उसकी कुत्सित सत्ता के असली चेहरे को बेनकाब करने की सबसे बड़ी शक्ति उसका सामाजिक संदर्भ है।

संदर्भ ग्रंथ

1. कन्नड साहित्य का इतिहास - रं. श्री. मुगाले, अनुवादक : सिद्धगोपाल
2. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा- सं. डॉ. अमित कुमार पाण्डेय, संस्कार : एक मूल्यांकन रंगनाथ, पाठक
3. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय, संस्कार एक मूल्यांकन
4. संस्कार की सामाजिक चेतना
5. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय - अनन्तमूर्ति का लेखकीय परिवेश
6. संस्कार एक समीक्षा - रघुवीर चौधरी
7. संस्कार - मीनाक्षी मुखर्जी
8. जो सलीब अपनी कीलों से लिखती है- संपादकीय, पक्षधर - विनोद तिवारी

*****

आर्ष महाकाव्यों में पर्यावरणीय नीतिशास्त्र : एक अध्ययन

डॉ. धनञ्जय मणि त्रिपाठी
संस्कृत-विभाग,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली 110 025
मो. 9799202177; ई-मेल: dtripathi@jmi.ac.in

भारतीय सभ्यता का विकास प्रकृति की गोद से माना गया है। प्राचीन ऋषियों ने पर्वतों, कन्दराओं एवं नदियों के तट को अपना आश्रय स्थल बनाया –

उपह्वरे गिरिणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत। [१]

प्रकृति की गोद में बसे इन स्थलों पर ध्वनिप्रदूषण जैसी कोई समस्या नहीं थी। परन्तु वर्तमान में स्थिति इसके विपरीत है। पृथिवी , वायु , जल के समान ही अन्तरिक्ष भी दूषित हो गया है। वेदों में अन्तरिक्ष हिंसा का भी निषेध किया गया है- अन्तरिक्षो मा हिंसी। वेदों में आकाशीय शक्तियों की शान्ति और पुष्टि की कामनायें प्रचुरमात्रा में की गयी है। अथर्ववेद के 19वें मण्डल का नवम और दशम सूक्त द्रष्टव्य हैं। यहाँ समस्त पार्थिव और द्युलोकीय शक्तियों की शान्ति के लिए प्रार्थना की गयी है-

शं नो ग्रहास्चन्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः।।
शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्यर्मा।। [२]

इन सभी तत्त्वों से शम्, शान्ति एवं कल्याण तभी सम्भव है जब आकाश प्रदूषण रहित हो। आधुनिक समय में विविध उपग्रहों के प्रक्षेपण, विविध उद्योगों और यन्त्रालयों से निःसृत हानिप्रद धूम से अन्तरिक्ष प्रदूषित हो गया है। अतः आवश्यक है कि मनुष्य अन्तरिक्ष हिंसा के प्रति जागरूक हो तथा वेद वर्णित इन उपायों से आकाश को प्रदुषणमुक्त बनाये। प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि पर्यावरण संरक्षण के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। इसीलिए उन्होंने प्रत्येक स्थल पर पर्यावरण के इन सभी तत्त्वों के हिंसा का निषेध करते हुए सर्वत्र शान्ति की कामना की है।

वैदिक वाङ्मय के समान पौराणिक साहित्य में भी पर्यावरणीय नीति का चित्रण प्रसङ्गानुसार परिलक्षित होता है। वायुमण्डल की पवित्रता एवं रक्षा के लिए यज्ञ एवं होम का सम्पादन तात्कालिक ऋषियों की दिनचर्या का महत्वपूर्ण कृत्य था।[३] आसुरी शक्तियाँ वायुमण्डल के प्रदूषण का प्रतीक थीं, जो राजाओं एवं ऋषियों का यज्ञ विध्वंस करने के लिए मांस, हड्डी, मज्जा, सुरा आदि प्रदूषित द्रव्यों को डालकर बाधा उपस्थित करते थे। विधि-पूर्वक अग्नि में समर्पित सामग्री से सुवृष्टि होती है। यज्ञ से धूम, धूम से वृष्टि, वृष्टि से अन्न , अन्न से जीव औए जीव से पुनः यज्ञ की इस शृंखला में पूर्ण पर्यावरण-चक्र विद्यमान है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने सर्वप्रथम जल का निर्माण किया।[४] पौराणिक ग्रंथों में नदियों को अत्यन्त पवित्र माना गया है। भारतवर्ष के प्रमुख तीर्थों का नदियों एवं समुद्रों के तटवर्ती भूभागों पर अवस्थिति मानने का यही उद्देश्य है कि जीवन के आधारभूत जल का संरक्षण हो सकें। वराहपुराण में तीर्थों को सर्वदेव मय मानकर पूजनीय भाव प्रदर्शित किया गया है।[५] मत्स्यपुराण में नर्मदा नदी को सरिताओं में श्रेष्ठ कहते हुए सभी के पापों नष्ट करने वाली कहा गया है।[६]

समस्त जैविक अजैविक तत्वों को आधार प्रदान करने वाली पृथिवी की महत्ता से पौराणिक ऋषि भली भाँति परिचित थे। विष्णुपुराण में पृथिवी को धात्री, विधात्री, धारिणी एवं मातृ इत्यादि विशेषणों से अभिमण्डित किया गया है-

सैषा धात्री विधात्री च धारिणी पोषिणी तथा।
सर्वस्य तु ततः पृथ्वी विष्णुपादतलोद्भवा।।[७]

वृक्ष जल एवं मृदा के अस्तित्व का रक्षण करते हुए पृथिवी पर वृष्टि के द्वारा सृष्टि करते है। पर्यावरणीय तत्वों में सन्तुलन स्थापित करने वाले वृक्षों के महात्म्य का वर्णन पौराणिक साहित्य में स्थान-स्थान पर अवलोकित होता है। मत्स्यपुराण में वृक्षों के कर्तन पर दण्ड का विधान किया गया है- तत्कालीन समाज में वृक्ष काटने वाले व्यक्ति को सुवर्णदण्ड देना होता था तथा यदि वह वृक्ष किसी नदी, जलाशय एवं रास्ते की सीमा पर स्थित हो दण्ड दो गुना देने का प्रावधान था।[८] वृक्षों संरक्षण की भावना से पद्मपुराण में तरु को पुत्र की संज्ञा से विभूषित किया गया है[९]। पौराणिक ग्रंथों में तुलसी, पीपल, वट, गूलर, पाकड़, पलाश, जामुन[१०] इन सभी वृक्षों को विशेष महत्ता प्रदान की गयी है। प्रकृति में देवत्व का दर्शन मानव को उसके अति दोहन एवं विनाश की मानसकिता से दूर रखने में सक्षम है। मत्स्यपुराण में वृक्षारोपण की महिमा को वर्णित करते हुए उसे समस्त कामनाओं का पूरक एवं स्वर्ग का फल देने वाला कहा गया है।[११]

भागवतपुराण में सभी प्रकार के पशु-पक्षी, सरीसृप, कीट, मृग, उष्ट्र इत्यादि को स्वयं के पुत्र के समान संरक्षित करने को कहा गया है[१२]। भूत, वर्तमान एवं भविष्य में होने वाले नर , मृग, सुर-असुर, सर्प, पशु, वृक्ष, जलचर, नभचर, थलचर, नक्षत्र, धुमकेतू इत्यादि सभी परमपुरुष नारायण के स्वरूप है।[१३] मत्स्यपुराण में मत्स्य, कूर्म , वराह, नृसिंह, वामन[१४] इत्यादि रूप में भगवान नारायण का अवतरण सभी जीवों में व्याप्त परमात्मा के अंश

को द्योतित करता है तथा मानव के विकासवाद की क्रमबद्धता को प्रदर्शित करता है। एक ही मूल से उत्पन्न होने के कारण सभी एक-दुसरे के पूरक है अतः सभी का रक्षण कारण चाहिए। वामनपुराण की निम्नलिखित उक्ति पर्यावरण में सदा सन्तुलन बनाये रखने के लिए प्रकृति की नैसर्गिक सुषमा की रक्षा में ही जन-कल्याण मानती है-

पृथ्वी सगन्धा सरसस्तथापः स्पर्शश्च वायुर्ज्वलनः सतेजा।
नभः सशब्दं महता सहैव यच्छन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्।।[१५]

पौराणिक ग्रंथों में वर्णित पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, धर्म- अधर्म की अवधारणा का एकमात्र उद्देश्य से मानव-समाज में पर्यावरण संरक्षण का पुनीत कार्य को करना था। तत्कालीन समाज में मानव तप, पूजन, त्याग, यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों से पर्यावरण की रक्षा करते हुए उसके साथ पूर्ण समांजस्य स्थापित किया था। पर्यावरण के तत्त्वों के संरक्षण एवं सम्बर्धन के प्रति मनुष्य को संचेत करने के साथ ही प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन संस्कृत साहित्य में सम्यक् रूपेण निरुपित है।

वैदिक साहित्य एवं लौकिक साहित्य के सन्धिकाल में रचे गये रामायण एवं महाभारत संस्कृत साहित्य के ऐसे महाप्रबन्ध काव्य है। जिनको आधार बनाकर लौकिक संस्कृत साहित्य की परम्परा अविरल रूप से निःसृत हुयी। संस्कृत साहित्य के अनेक कवियों ने इन दोनों महाकाव्यों को अपने काव्य रचना का आधार बनाया, इसीलिए इन्हे उपजीव्य काव्य के नाम से अभिहित किया गया है। दोनों आर्ष काव्यों में कथ्य के साथ प्रसंगानुसार प्राकृतिक तत्त्वों का समावेश करते हुए काव्य सृजन की परम्परा का सूत्रपात्र किया गया है जो कालान्तर में परवर्ती कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत्र बन गया। वेदों में प्राप्त पर्यावरण संरक्षण की समृद्ध परम्परा की सुन्दर झाँकी इन प्रबन्धकाव्यों में स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। इन महाकाव्यों में सभी अवययों का वर्णन करते हुए मानव एवं प्रकृति के परस्पर अन्तःसम्बन्धों का सम्यक् रूप से निरूपण किया गया है तथा मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष का पर्यावरणीय तत्त्वों से अकाट्य सम्बन्ध स्थापित किया गया है-

महर्षि वाल्मीकि के वन्यजीव संरक्षण की चेतना (रामायण) के सृजन का आधार है। निषाद के बाण से बिधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करती क्रौञ्ची की करुण वेदना से विगलित होने वाले आदिकवि वाल्मीकि की काव्यकृति में पर्यावरणीय सञ्चेतना की भावना का अभिव्यञ्जित होना स्वाभाविक है।[१६]

कथानक की अधिकांश घटना अरण्य के मध्य घटित हुयी, अयोध्या से लेकर लंका तक के वन, विटप, नदी,सरोवर, सागर, गिरि, पशु, पक्षी वृक्ष, वनस्पति इत्यादि पर्यावरणीय तत्त्वों के प्रत्यक्ष स्वरूप को समावेशित किया गया है। आदिकवि ने प्राकृतिक तत्त्वों के चेतनत्व स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए मानव जीवन के सहचर्य के रूप में निरुपित किया है। चित्रकूट पर्वत के रमणीय परिस्थितिकी तन्त्र एवं पर्यावरण के अन्य संघटकों का अनुपम दृश्य द्रष्टव्य है।[१७] वाल्मीकि रामायण को आधार बनाकर कवि भवभूति द्वारा रचित उत्तररामचरितम् में वन्यजीव के प्रति स्वजन तुल्य स्नेह एवं पर्वतीय पारिस्थितिकी तन्त्र का मनोहर दृश्य दर्शनीय है- चित्रकूट के मृग, और वृक्ष मेरे बन्धु है अनेक कन्दराओं एवं झरनों से युक्त यह गोदावरी नदी के समीप स्थान है जहाँ मैंने अपने वनवास के दिन बिताये थे।[१८] यहाँ श्री राम के माध्यम से कवि भवभूति की पर्यावरणीय संचेतना का भाव प्रकटित होता है।

महर्षि वाल्मीकि ने अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड और सुन्दरकाण्ड में प्राकृतिक सुषमा का विशेष रूप से निरूपण किया है। रामायण में पर्यावरणीय सञ्चेतना का स्पष्ट स्वरूप 'अरण्यकाण्ड' में सीता हरण के समय दृष्टिगत होता है- अपहरण के दारुण दुःख में विदेहनन्दिनी का वनवास के साथी वृक्षों , हंसों, सरसों एवं गोदावरी नदी से सहायता की अपेक्षा करना।[१९] अपहृत सीता को देखकर कम्पित होते हुए वृक्षों एवं कलरव करते पक्षी का भय न करने का सन्देश दे रहे थे, शिखररूपी भुजाओं को उठाकर पर्वत ध्वनि करते हुए झरनों के माध्यम से चीत्कार कर रहे थे।[२०] मृग समूह का राम को दक्षिण दिशा की ओर देखते हुए सन्देशित करना[२१] कवि के सञ्चेनत्व भाव को प्रदर्शित करता है। आदिकवि ने प्रकृति का मानवीयकरण करते हुए इसके स्वाभाविक क्रियाओं में मानवीय संवेदनाओं को अभिव्यक्त करके प्रकृति एवं मानव के सहअस्तित्त्व के भाव की निर्देशित किया है। भगवान् श्री राम की कार्यसिद्धि में गरुड़, जटायु, वानर, ऋक्ष आदि का सहायक होना जीवों की परस्पराश्रयित्व की भावना का द्योतक है। रघुनन्दन द्वारा जीवों आश्रयरूप में संरक्षण प्रदान करने की यह भावना जनमानस को पर्यावरण के सूक्ष्म जीव से लेकर वृहद् जीव के संरक्षण का संदेश देती है।

आदिकवि वाल्मीकि चतुर्दिक आवरण रूप में विद्यमान पञ्चमहाभूतों के प्रति भी अत्यन्त सजग थे। जल को सर्वप्रथम जीवनीय तत्त्व मानते हुए आदिकवि ने उसे प्रदूषित स्वरूप को विषदायक बतलाया है।[२२] विदेहनन्दिनी सीता के द्वारा अनेक स्थलों पर गङ्गा को नमस्कार करते हुए 'त्रिपथगे देवि, त्वां देवि नमस्यामि'[२३]तथा 'कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः'[२४] से ऋषिवर्य के जलतत्त्व के संरक्षण की भावना प्रस्फुटित होती है। पम्पासरोवर का जल स्फाटिक मणि के समान स्वच्छ पीने योग्य था।[२५] अशोक वाटिका निर्मल जल से युक्त विभिन्न आकार की बावड़ियाँ से सुशोभित था।[२६] इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने जलसंरक्षण के लिए जलाशय, सरोवर, बावड़ियों, इत्यादि का निर्माण कर जल संचयन का सन्देश दिया है। जिससे सृष्टि के समस्त जीव को सदैव अबाध गति से जल प्राप्त हो।

वातावरण को शुद्ध एवं प्रदूषणमुक्त रखने के लिए रामायण काल में यज्ञ-याग इत्यादि धार्मिक कार्य का विधान था। प्रत्येक मनुष्य के लिए नित्य

अग्निहोत्र, हवन आदि अनिवार्य थे।[२७] रामायण में वायु को प्राणों का ईश्वर कहा गया है।[२८] महर्षि वाल्मीकि वायुतत्व के प्रतिनिधि के रूप हनुमान जी को प्रतिष्ठित किया है। जीवलोक में जीवन की अवस्थिति मानने के कारण पवनपुत्र का अस्तित्व अन्नतकाल तक माना गया है। हनुमत् वृतान्त के द्वारा आदिकवि की गूढ़ पर्यावरणीय संचेतना प्रतिबिम्बित होती है।

रामायण में पृथिवी महततत्व विषयक पर्यावरणीय चेतना इतनी सजीव है कि जनकनन्दिनी सीता की उत्पत्ति पृथिवी के गर्भ से मानी गयी है। अन्ततः सीता का पार्थिव शरीर पृथिवी में विलीन होता है। सीता के ऐसे स्वरूप के व्याज से महर्षि वाल्मीकि ने पृथिवी संरक्षण का सन्देश दिया है। महर्षि वाल्मीकि ने भूमि को अशुद्ध करने वाले राजा सगर के साठ हजार पुत्रों की दयनीय दशा[30] के माध्यम से जन-जन को यह सन्देश दिया कि यदि हम पृथिवी को प्रदूषित करेगें तो स्वयं के विनाश को आमन्त्रित करेगें।

रामायण में वर्णित वसुन्धरा दिव्य रस एवं दिव्य गन्ध से परिपूर्ण थी।[31] पृथिवी के विविध भूभाग पर पर्वत नदियों, लताओं, वृक्षों इत्यादि के सूक्ष्म स्वरूप के वर्णन में आदिकवि की पृथिवी विषयक सञ्चेतना का भाव अभिव्यक्त होता है।

रामायण काल में आकाश तत्व सुन्दर शान्त शुभवचनों वाले मन्त्रों से परिमार्जित था। यहाँ के अरण्य वेद मन्त्रों की ध्वनियों से निनादित थे। महर्षि वाल्मीकि ने रामायण के गान को आयु तथा पुष्टि प्रदान करने वाला कहा है।

पञ्चमहाभूतों में पर्यावरणीय चेतना के अतिरिक्त महर्षि वाल्मीकि ने अनेक स्थलों पर वनस्पतियों, लताओं, ओषधियों एवं प्रदूषण रोधी (अश्वत्थ, विल्व, खदिरवृक्ष, पलाश, इत्यादि) वृक्षों के प्रति संचेतना का भाव प्रकटित किया है। रामराज्य में वृक्ष सदा पुष्पों एवं फलों से समृद्ध रहते थे। मेघ प्रजा की इच्छा और आवश्यकता के अनुसार वर्षा करते है। वायु सुखद प्रवाहित होती है।[32] किष्किन्धाकाण्ड में पम्पासरोवर के समीपवर्ती विद्यमान कानन, पर्वत, द्रुम, सरोवर का शुभ (कल्याणकारी) दर्शन वनस्पतिजन्य पर्यावरणीय समृद्धता को द्योतित करता है।[33]

रामायण महाकाव्य के आद्योपान्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मानव एवं प्रकृति के मध्य सहअस्तित्व की भावना दृढ होनी चाहिए जिसका सन्देश आदिकवि ने स्थान-स्थान पर दिया है।

महाभारत में प्राकृतिक तत्त्वों का वर्णन मुख्यतः पाण्डवों का वनवास (वन पर्व) दिग्विजय यात्रा (सभा पर्व) भीष्म पर्व, आदिपर्व में समाहित है। इन सभी पर्वों में प्रसंगानुकूल पृथिवी पर स्थित द्वीप[34], विद्यमान पर्वत,35 नदियाँ, वन्यजीवन (वनस्पतियों, जीव जन्तुओं)[36] इत्यादि विस्तार के साथ भारत के प्रमुख भौगोलिक स्थिति[37] एवं तीर्थों स्थलों के महात्म्य का ज्ञान प्राप्त होता हैं।

महाभारत के 'मत्स्योपख्यान' में प्रलय के पश्चात् जलचर जीव (मत्स्य) के द्वारा जैविक सृष्टि का आरम्भ माना गया है[38]। आधुनिक वैज्ञानिक भी लगभग साढ़े तीन लाख विलियन वर्ष पूर्व समुद्र की निचली सतह पर उत्पन्न एककोशकीय (अमीबा) जीवों की जटिल रासायनिक क्रियाओं से जीवन की चर्चा करते है।[39] इससे स्पष्ट होता है कि महर्षि वेदव्यास की दृष्टि सृष्टि संरचना के प्रति अत्यन्त सूक्ष्म थी। वनपर्व के शिवि उपाख्यान में शरणागत कपोत की बाज से रक्षा करने के लिए उशीनर- राज शिवि का देहदान [40]प्राणी संरक्षण का अद्वितीय उदाहरण है।

महाभारत के आदिपर्व में जीव हिंसा का निषेध करते हुए सर्वजीव पर दयाभाव करने का सन्देश दिया गया है। महाभारत में वर्णित अहिंसा का यह भाव पर्यावरण की सुरक्षा की दृष्टि से अनुकरणीय है-

अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतांवर
तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् न हिंस्याद् ब्राह्मणः क्वचित् ।।[41]

भीष्मपर्व के चौथे पाँचवे अध्याय में भूमि एवं अन्य पञ्चमहाभूतों की महत्ता का वर्णन किया गया है। भूमि ही समस्त जैविक-अजैविक अवयवों का आश्रयस्थल हैं – भूमि से ही सभी (जैविक- अजैविक) की उत्पत्ति होती हैं तथा भूमि में ये सभी तत्व नष्ट होकर विलीन होते है। भूमि ही सभी प्राणियों का आधार है।[42] आदिपर्व में अग्नि को सूर्य तुल्य शुद्ध करने वाला लोक का उपकारक कहा गया है।[43] अनुशासन पर्व में युद्धजन्य विनाश की क्षतिपूर्ति को वृक्षारोपण, जलाशय निर्माण जैसे पर्यावरणीय सुधार के कार्यों को उत्तम फल देने वाला पवित्र (कल्याणकारी) कर्म कहा गया है।[44] महाभारत के उद्योगपर्व में वन एवं जीव के अन्योन्याश्रित स्पष्टत उल्लेख हैं – वनोच्छेद से प्राणियों का उच्छेद होता है और प्राणियों के उच्छेद से वनों का नाश होता है।[45] महाभारत में धर्मनिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा के माध्यम से पर्यावरण का अति सुन्दर चित्रण प्राप्त है जो प्राचीनकालीन मानव एवं पर्यावरण के परस्पर स्वस्थ, सुन्दर एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण को दर्शाता हैं। महाभारत जैसे वृहद् ग्रन्थ में पर्यावरण एवं उसके संरक्षण से सम्बन्धित सिद्धान्त पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। प्राकृतिक शुद्धता पर ही पर्यावरण की शुद्धता निर्भर होती है । प्रकृति के प्रदूषित होने पर पर्यावरण संरक्षण मानव जीवन का परम कर्तव्य है। संस्कृत साहित्य में प्राकृतिक तत्त्वों में देवत्व की भावना का आरोपण करके परम्परा और संस्कृति के आधार पर इनके संरक्षण एवं संवर्धन का सन्देश दिया गया है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में कवि पर्यावरण के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। परन्तु वर्तमान समय में आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों और यान्त्रिकयुग में पर्यावरण अत्यन्त प्रदूषित हो जा रहा है। प्राकृतिक सम्पदा के निरन्तर दोहन के परिणाम-स्वरूप आज हमारा परिवेश प्रदूषण से परिव्याप्त हो गया है। जिससे मानव तथा अन्य प्राणियों का जीवन सङ्कटग्रस्त हो गया है। अत्यधिक भौतिकता एवं अध्यात्मशून्य जीवन का परिणाम यह है कि

मनुष्य स्वयं अपने विनाश के मार्ग की ओर उन्मुख हो रहा है। वेद, उपनिषद्, पुराण तथा संस्कृत साहित्य के अन्य ग्रन्थों में प्राकृतिक तत्वों को पूजनीय मानते हुए मानव कल्याणार्थ इनके शान्ति की कामना की गयी है। प्राकृतिक तत्त्वों के पूजन की परम्परा में निहित पर्यावरण चेतना की भावना वर्तमान मानव को सुपथ पर लाने में सहायक हो सकती है। संस्कृत वाङ्मय में प्राकृतिक पर्यावरण के साथ-साथ मानसिक पर्यावरण की शुद्धता पर भी विशेष बल दिया गया है। वैदिक साहित्य में जहाँ पञ्चमहाभूतों की शान्ति की कामना करते हुए इन्हे पूजनीय रूप में प्रतिष्ठित किया गया है वहीं 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इन श्रुतिवाक्यों के द्वारा मानसिक पर्यावरण की शुद्धि पर भी बल दिया गया है। पौराणिक साहित्य में दशावतार की लीलाओं के माध्यम से प्रकृति के शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप को प्रदर्शित किया गया है।

1.यजुर्वेद 26.15

2. अथर्ववेद 19. 9.10-6

3. ब्रह्मपुराण 134. 2 / 140 .2-4

5. मत्स्यपुराण 2. 28

6. तीर्थानां गुणामहात्म्यं महापातकनाशनम्। सर्वदेवमयो योऽसौ सर्ववेदमयस्तथा। वाराहपुराण 176. 73

7. मत्स्यपुराण

8. विष्णुपुराण 1.13.92

9. वृक्षं तु सफलं हित्वा सुवर्णं दण्डमर्हति।
द्विगुणं दण्डयेच्चैनं पथि सीम्नि जलाशये।।मत्स्यपुराण 227. 91

10. पुत्रस्य च पुत्रत्वं पादपा इह कुर्वन्ति
यच्छान्ते रोपकेभ्यस्ते तीर्थे च तर्पणादिकर्म।
तीर्थे पुत्र सहस्राणामेकमेव करिष्यति।।पद्मपुराण (विधान पारि.खण्ड-4/ अध्याय 206)

10. अश्वत्थं च वट चैवोदुम्बरं प्लक्षमेव च।
पलाशं जम्बूवृक्षं च विदुः षष्ठं महर्षयः ।।मत्स्यपुराण 56.7

11. मत्स्यपुराण 59.16-17

12. मृगोष्ट्रखरमर्काखु-सरीसृप्खगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ।। भागवतपुराण 7.14.9

13. भागवतपुराण 2. 6. 12-15

14 मत्स्यपुराण 285. 67

15. वामनपुराण 14. 26

16.मा निषाद प्रतिष्ठां त्वागमः शाश्वतीः समाः।
यात्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड 2.15

17. अयं गिरिश्चितकूटस्तथा मन्दाकिनी नदी, एतत् प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिमं वनम् ।
गिरेः सानूनी रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति, वारणैरवमृद्यन्ते मामकैः पर्वतोपमैः।। वा.रा. बालकाण्ड 93. 8-9

18. यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे, यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवत्सम्।
एतानि तानि बहुकन्दरनिर्झराणि, गोदावरीपरिसरस्य गिरेस्तटानि।। उत्तररामचरितम् 3.8

19. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड 49. 30-33

20. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड 52. 34-37

21. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड 64. 17-22

22. पानीय दुषके पापं तथैव विषदायके। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 75.56

23. वाल्मीकि रामायण , अयोध्याकाण्ड 52.86-87

24. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 55. 21

25. वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड 73.18-20

26. वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड 14. 22-23

27. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड 6.12 / 2.32.2

28. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड 35. 61

29. तमासन गतां दृष्टवा प्रविशन्ति रसातलम्।
पुष्प वृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत्।। वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड 97.20

30. शुलैरशनिकल्पैश्च हलैश्चापि सुदारुणैः।
भिद्यमाना वसुमती ननाद रघुनन्दन।। वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड 39.19

31. दिव्य गन्धरसोपेतां । किष्किन्धाकाण्ड 15. 2

32.नित्यपुष्पा नित्यफलास्तरवः स्कन्धविस्तृताः।
काले वर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः।। वाल्मीकि रामायण, 6.131.100

33. सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभ दर्शनम्।
यत्र राजन्ति शैला वा द्रुमा सशिखरा एव ।। वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धाकाण्ड 1.4

34. महाभारत . भीष्मपर्व, (जम्बूद्वीप विनिर्माण खण्ड 11. 5-7, शाक द्वीप 11. 8-40, कुश द्वीप 12. 24-37)

35. महाभारत . भीष्मपर्व (जम्बूद्वीप विनिर्माण खण्ड 6.3-5)

36. महाभारत . वनपर्व 145-158-38

37. महाभारत . सभापर्व (दिग्विजय यात्रा पर्व अ. 25-32)

38. महाभारत . वनपर्व (मत्स्योपाख्यान-187)

39. पर्यावरण और हम पृ. सं. 11

40. महाभारत . वनपर्व (शिवि उपाख्यान –197)

41. महाभारत . आदिपर्व 11.13

42. भूमौ च जायते सर्वं भूमौ सर्वंविनश्यति।
भूमिः प्रतिष्ठा भूतानां भूमिरेव परायणम् ।। महाभारत, भीष्मपर्व 4.20

43. यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते।
तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति ।। महाभारत ,आदिपर्व 7.23

44. महाभारत, अनुशासन पर्व 58. 4-7, 19-20, 27-28, 30-31

45. न स्याद्वनमृते व्याघ्रान्व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम्।
वन ही रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान् रक्षति काननम्।। महाभारत, उद्योगपर्व 37.42

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में शक्ति(देवी)का विकास एवं मिथिला :एक समीक्षात्मक अवलोकन

डॉ अजय कुमार झा
शोध निर्देशक
इतिहास विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा

नीतू कुमारी
शोधार्थी.
इतिहास विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,दरभंगा

संक्षिप्त सार -देवताओं के विषय का दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है .यह भक्तिप्रधान दृश्टिकोण कहा जा सकता है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति पर व्यापक हुआ वैदिक युग से आज तक भक्ति भाव विद्यमान है। भक्ति एवं विश्वास का फल पूजा और आराधना से प्राप्त किया जा सकता है ऐसी अवधारणा है। इस अवधाना के फलस्वरूप लोक धर्म में सैकड़ों प्रकार के लोक देवी-देवता का सृजन हुआ . फलतः शास्त्रीय देवी देवताओं में रूद्र, विष्णु ,हरी,कृष्ण आदि के अतिरिक्त प्रकृति स्वरुप यक्ष ,नाग, -पिसाच ,गृह,देवी देवता ,वृक्ष ,नदी,पहर किन्नर,आदि का विकास देवी देवता के रूप में हुआ वैदिक धर्म ज्ञान ,भक्ति और कर्म की त्रिवेणी है । महाभारत में लोक धर्म को सर्वमान्य माना गया और लोक में कथा के माध्यम से प्रचारित किया गया वेद ,पुराण से लेकर युग तक देवी की देवी पूजा समाज में प्रचलित है । मिथिला वैदिक संस्कृति के साथ-साथ लोक संस्कृति, तंत्र-मंत्र आदि का केंद्र रहा है। मेरा विषय भारतीय संस्कृति में देवी उपासना जिसे हम शक्ति परंपरा भी कहते हैं मिथिला में शक्ति परम्परा का विकास पर आधारित है ।

बीज शब्द- वैष्णव, भगवान विष्णु की उपासना शैव, भगवान शिव की पूजा तथा शाक्त, देवी के शक्ति रूप की उपासना। सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का योगदान उमा, विद्यादेवी , पार्वती, उमा, हेमवती, काली, चमुण्डा, देवी, शिवानी, रुद्राणी, भवानी आदि विभिन्न नाम भी उनको प्रदान किये गए आदि देवी-शक्ति के प्रभाव को भी अभिव्यंजित करते हैं।

विस्तृत व्याख्या-

भारतीय समाज में सदियों से अनेक सांस्कृतिक परम्परा विद्यमान रहे हैं उनके अनुरूप धार्मिक निष्ठा एवं विश्वास भी विविधि रही है। प्राचीनकाल से ही एक ओर बौद्धधर्म एवं जैन धर्म तथा दूसरी ओर सनातन धर्म या भागवत धर्म का विकास हुआ है। । धर्म का मूल बीज वेद मे पाया जाता है और वैदिक दर्शन के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ उपनिशदों से उसका समर्थन होता है। शाक्त अर्थात भगवती शक्ति की उपासना। शाक्त धर्म- शक्ति की साधना का विज्ञान है। इसके मतावलंबी शाक्त धर्म को भी प्राचीन वैदिक धर्म के बराबर ही पुराना मानते हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि इस धर्म का विकास वैदिक धर्म के साथ ही साथ या सनातन धर्म में इसे समावेशित करने के साथ ही हुआ। यह हिन्दू धर्म में पूजा का एक प्रमुख स्वरूप है, जिसे अब हिन्दू धर्म कहा जाता है, उसे तीन अंतःप्रवाहित, परस्परव्यापी धाराओं में विभाजित किया जा सकता है। वैष्णव, भगवान विष्णु की उपासना शैव, भगवान शिव की पूजा तथा शाक्त, देवी के शक्ति रूप की उपासना। इस प्रकार शाक्तवाद दक्षिण एशिया में विभिन्न देवी परम्पराओं को नामित करने वाला आम शब्द है, जिसका सामान्य केन्द्र बिन्दु देवियों की पूजा है।शक्ति की पूजा शक्ति के अनुयायियों को अक्सर शाक्त कहा जाता है। शाक्त न केवल शक्ति की पूजा करते हैं, बल्कि उसके शक्ति आविर्भाव को मानव शरीर एवं जीवित ब्रह्माण्ड की शक्ति या ऊर्जा में संवर्धित, नियंत्रित एवं रूपान्तरित करने का प्रयास भी करते हैं।

ऋग्देव के दशम मण्डल में एक पूरा सूक्त ही शक्ति के रुप में विवृत है जिसे तान्त्रिक देवसूक्त कहते हैं।ऋग्वेद में भगवती कहती है-अहं रूद्रेभिवंसुभिश्चराम्यहमादित्यैरूपविश्वदेवैः। अर्थात मैं वाग्देवी रूद्रगण और वसुगण के साथ विचरण करती हूँ। मैं आदित्यगण तथा अन्य देवताओं के साथ निवास करती हूँ। कालान्तर में उस वाक् शक्ति का कथन है, मैं ही आकाश और पृथ्वी का सर्वत्र व्याप्त हूँ। (अहं जनाय समदंकृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश।) यह कथन निश्चय ही शक्ति की महत्ता और तेजस्विता को व्यक्त करता है। वह अन्यत्र कहती है, मैं सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहनेवाले देवता जहॉ कहीं जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिए करते हैं। स्पष्ट है कि देवी अद्वैत रुप में व्याप्त है। जगत् के उद्भव, पालन और संहार की जो कथा देवी से सम्बद्ध की गई, उसका सूत्र ऋग्वेद में ही है। शक्ति का तत्व अन्यन्त विस्तृत है। वह पृथ्वी और आकाश दोनों से परे है (परो द्वि पर एना पृथ्व्या)। अम्बिका के रुप में देवी का उल्लेख वाजसनेयी संहिता में हुआ है। उमा शब्द का उल्लेख केन उपनिषद में हुआ है, जहॉ उन्हें विद्यादेवी का रुप मानते हुए हेमवती;हिमालय की पुत्रीद्ध कहा गया है। पार्वती, उमा, हेमवती आदि शब्द पर्वतीय प्रदेश को इंगित करते तथा उस प्रदेश में देवी-शक्ति के प्रभाव को भी अभिव्यंजित करते हैं।

वैष्णव और शैव धर्म की तरह समाज में शक्ति का भी प्रभाव रहा है । शक्ति की पूजा और उपासना करने के कारण इसके धर्मावलम्बी शाक्त कहे गए। कालान्तर में यही शक्ति सम्प्रदाय हिन्दु धर्म का प्रभावकारी और चमत्कारी सम्प्रदाय बन गया। धीरे-धीरे शक्ति के साथ अनेक नाम जुट गए । काली, चमुण्डा, देवी, शिवानी, रुद्राणी, भवानी आदि विभिन्न नाम भी उनको प्रदान किये गए । सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का योगदान स्पष्टतः अभूतपूर्व है। शक्ति का प्रारंभिक रुप शिव की पत्नी उमा अथवा पार्वती है जो जगजननी कही जाती हैं। वस्तुतः उनका तांत्रिक और दार्शनिक विकास शक्ति के रुप

में हुआ है। अतः शक्ति और शिव की अभिन्नता स्वाभाविक है। शक्ति के रुप में विकसित होकर पार्वती कपिलावरण ,काली और सिंहवाहिनी दुर्गा बन गई, कालान्तर में जिन्होंने असीमित शक्ति से सम्पन्न महाकाली का रुप ग्रहण किया है। यहॉ यह स्मरणीय है कि शिव भी महाकाल कहे जाते हैं। इसलिए शक्ति और शिव की एकात्मकता स्वयं सिद्ध है। श्रीलक्ष्मी की उत्पति के सम्बन्ध में अनेक कथाएं हैं जो अपने आप में उनकी लोकप्रियता के प्रमाण है। श्रीलक्ष्मी की उत्पति का सर्वाधिक प्रसिद्ध वृतांत महाभारत के आदि पर्व में वर्णित है जिस कथा में देवता और दानवों द्वारा समुद्र मंथन के प्रतिफल श्री शुभ परिधन में सोम सूरा ,श्वेत अश्व कौश्तुभ मणि ,अमृत का पात्र लिए धन्वन्तरि के साथ नया रूप श्री लक्ष्मी का धारण कर बाहर आयी।

शाक्त तन्त्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद के सौभाग्य काण्ड से भी स्थापित किया जाता है, किन्तु वेदों से सम्बन्धित उपनिषेद में भी शाक्त तन्त्रों के संदर्भ दर्शित होते हैं। शाक्त उपनिषदों में कौल, त्रिपुरा, महोपनिषद, भावना उपनिषद, बहच, अरुणोपनिषद, अद्धैतभावना, कालिका और तारोपनिषद् प्रधान हैं। कुछ उपनिषदों पर भाष्य भी लिखे गए। बाद में शक्तितन्त्र-साहित्य का विकास हुआ। शारदातिलकतंत्र, प्रपंचसारतंत्र , भावचूड़ामणितन्त्र ऐसे तन्त्र के दर्शन तत्व पर प्रकाश पड़ता है। महाभारत की विराट पर्व में यूधिष्ठिर ने भी स्त्री की स्तुति की है जिसमें उन्होंने देवी को महिषासुरमर्दिनी, यशोदा के गर्भ से जन्म लेने वाली, विध्यांचल-वासिनी, नारायण की परमप्रिया और वासुदेव की भगिनी कहा है। देवी के उत्पन्न होने तथा उनके विविध रुपों की कथा पुराणों में भी दी गई है।मार्कण्डेयपुराण में ही देवी दुर्गा से सम्बन्धित दुर्गासप्तशती नामक अंश है जो अत्यन्त महनीय है प्राख्यात है। नवरात्र काल में देवी की आराधना में दुर्गा-सप्तशति का ही पाठ किया जाता है और मनोवांछित फल की कामना की जाती है। महिषासुर को मारने के लिए विष्णु, शिव, ब्रह्म, इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि विभिन्न देवताओं के मुख से निकले हुए तेज से शक्ति का उद्भव हुआ, जो महिषासुरमर्दिनी के रुप में ख्यात हुई। देवी की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक और कथा मार्कण्डेयपुराण में विवृत है, जिसके अनुसार शुंभ-निशुंभ जैसे असुरों के आतंक से त्रस्त होकर देव-गण हिमालय पर जाकर देवी की स्तुति कर रहे थे। उसी समय भगवती पार्वती गंगा-स्नान करने के लिए जा रही थीं। अतः उन्होंने दवेगणों से स्तुति के विषय में पूछा। तभी उनके शरीर के कोश से देवी शिवा अम्बिका का उदय हुआ, जिन्होंने अपने को वही देवी बतलाया।उनके लिए देवतागण स्तुति कर रहे थे। काश से उत्पन्न होने के कारण शरीर कृष्ण वर्ण का हो गया जिसके कारण उन्हें काली की भी संज्ञा दी गयी। जब वे असुरों का संहार करने के लिए गई थी तो उनका ललाट क्रोध से कृष्ण वर्ण का हो गया था और चण्ड-मुण्ड को मारने के लिए उनके शरीर से करालमुखी काली निकली थीं। इसलिए अम्बिका ने नाम चामुण्डा रखा। इसके साथ ही ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐन्द्री ये सात शक्तियॉ भी अम्बिका से ही व्युपन्न हुई थीं। नन्दसुता, शाकाम्भरी, सीमा, भ्रामरी, आदि भी देवी के कई स्वरुप थे, जिनका उन्होंने स्वयं उल्लेख किया था। वायुपुराण में उल्लिखित के कार्य सम्पन्न करने के निमित्त उमा के शरीर से देवी की उत्पत्ति हुई थी। हिन्दु धर्म में अन्य देवताओं की तुलना में देवी-शक्ति की सत्ता प्रभावशाली आधार पर स्थापित है तथा उनका वैभव और ऐश्वर्य धीरे-धीरे अत्यन्त शक्तिशाली होने लगा। फलतः मधुकैटवभ, महिषासुर, कुंभ, निशुभ, चंड-मुंड, रक्तबीज जैसे भयंकर असुरों का विनाश करके वे देव परिवारों में सर्वश्रेष्ठ हो गईं, क्योंकि उन अत्याचारी असुरों का वध कर डालने का बल ब्रह्म , विष्णु , महेश , इन्द्र आदि बलशाली देवताओं के पास भी नहीं था। जिसमें इच्छा, क्रिया, सृजन, मोह, विनाश आदि सभी सम्मिलित हैं। अतः शक्ति के तीन प्रधान रुप माने गए-1. सौम्य रुप 2. प्रचण्ड रुप और 3. काम-प्रधान रुप। अतः देवी-शक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व सम्मुख आया जो अत्यन्त व्यापक और अपार ऐश्वर्यमुक्त था। अपने पति शिव से पृथक करके काली अथवा दुर्गा के रुप में उनकी स्वतंत्र उपासना प्रारम्भ हो गई। इसके साथ ही अर्धनारीश्वर के रुप में शक्ति और शिव दोनों की स्थितियॉ संयुक्त हुईं तथा शिव और शक्ति दोनों सम्प्रदायों का पारम्परिक एकीकरण भी हुआ। किन्तु, शक्ति का विस्तार बड़ा था, मान व्यापक था इसलिए उनकी प्रधानता स्वाभाविक थी। अतः स्पष्ट है कि शक्ति देवी शिव की पत्नी थीं तथा शिव और शक्ति में अभिन्नता थी। शिव उमापति थे और शक्ति महेश्वरी, महाकाली आदि। गौरी जो शिव की प्रिया बन गई और शिव गौरीश हो गए। वस्तुतः शक्ति में सभी देवताओं की दिव्यता समाहित थी तथा सभी देवताओं की शक्ति का परिवार शिव के परिवार में समाहित हो गया तथा शिव का परिवार उन्नत होकर व्यापक हो गया था।

गुप्तोत्तर काल में ब्राह्मण और बौद्ध धर्म का नई दिशा में विस्तार हुआ। इनमें नवीन सिद्धान्तों एवं धार्मिक क्रियाओं का समावेश हुआ। इन धर्मों के नये रूप समाज के सामने आये। इस समय धार्मिक विचारों के विकास का एक प्रबल कारण तांत्रिक पूजा और उपासना का वेग था जिसने बौद्ध धर्म के मूल रूप को बदल दिया। इन तांत्रिक विचारों ने ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों एक-दूसरे को प्रभावित किया। बौद्ध एवं जैन धर्मों में वैष्णव एवं शैव की तरह ईश्वरवादी प्रवृत्तियाँ दिखाई देने लगी। बुद्ध और जिन देवता माने जाने लगे और उनके मूर्तियों की पूजा मंदीरों में भक्तिमय गीतों के साथ होने लगी। बुद्ध और जिन को विष्णु का अवतार माने जाने लगा। इस तरह का समन्वय प्रवृत्ति का उदाहरण हरिहर और बुद्ध एवं शिव की मूर्तियाँ है। छठी शताब्दी में धार्मिक भावना सपत्निक अनुग्रहशील देवताओं की ओर प्रवृत्त हुई। जिसमें पुरुष देवता के साथ सृजन शक्ति के रूप में नारी शक्ति - देवी को एकात्मक किया गया। छठी शताब्दी से शक्ति उपासना स्पष्ट एवं निश्चित रूप में दिखाई देती है और नवीं शताब्दी से तो इस मत का प्रबल प्रभाव दिखाई देता है।मध्यकाल तक आकर शक्ति की उपासना बहुत अधिक बढ़ गई तथा उन्हें सृष्टि, पालन और संहारकर्त्री का रुप प्रदान करके उनकी उपासना और अराधना की जाने लगी। जिस प्रकार प्रारम्भ में शिव की प्रधानता दस्यु, किरात, निषाद जैसी आदिम जातियों में अधिक हुई, उसी प्रकार शक्ति की प्रधानता भी आदिम जातियों और पर्वतीय निवासियों में तीव्रतापूर्वक हुई। इस प्रकार प्रकृति की शक्ति को महत्व प्रदान करके माया के रुप में नित शक्ति की अभिव्यंजना की गई। शक्ति, ज्ञान और मोह

को उद्भूत करने वाली क्रिया-शक्ति सर्जन अथवा सृष्टि-शक्ति से सम्बन्धित हुई। इस प्रकार देवी की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई और उसका प्रभाव व्यापक होता गया।

पुराण-युग शक्ति की धारणा के बहुमुखी विकास का युग है। देवी भागवत -पुराण में देवी के दो रूपों का आख्यान दिया गया है। ऋशि 'देवी' के निर्गुण और सगुण रूपों की चर्चा करते है। सगुण के भी दो भेद है - (1) निराकार और (2) साकार। देवी के सगुण साकार रूवरूप की भक्ति करनी चाहिए और अनासक्त लोगो को उनके निर्गुण-निराकार रूप की उपासना करनी चाहिए।

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य भिन्ना चतुर्था व्यवहारकाले।
पुरूषेषु विष्णुभोगे भवानी समरे च दुर्गा प्रलये च काली।।

श्वेताश्वरोपनिषद में पुरुष, प्रकृति, माया, ब्रह्मस्वरूप, मायामयी आदि का वर्णन है। ब्रह्मावर्त पुराण के प्रतिखण्ड के अनुसार परमात्मा ने सृष्टि के लिए योग का आलम्बन लेकर अपने के दो भागों में विभक्त किया। दक्षिण भाग से पुरुष और वाम भाग से प्रकृति का आविर्भाव हुआ प्रकृति के "प्र"का अर्थ प्रकष्ट और कृति का अर्थ सृजन या सृष्टि। इन पुराणों के अनुसार सृष्टि की अधिष्ठात्री प्रकृति देवी स्वयं पांच भागों में विभक्त करती है - दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावत्री। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार-"स्त्रीयः समस्ताः सकला जगत्सु। इन्ही प्रकृति देवी के अंशकला, कालांश भेद से अनेक रूप है, जो विश्व के स्त्री स्वरूप में दिखाई देती है। मातेश्वरी शक्ति परमेश्वर की उन प्रधान शक्तियों में से है, जिसका रूप आवश्यकतानुसार समय-समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट होता रहा है। वही पुरूषों में पुरूषोत्तम विष्णु है, भोग में भवानी, युद्ध में दुर्गा और प्रलय में काली। देवी-शक्ति के व्यापक विस्तार में अनेक रुप समाविष्ट हो गए तथा सभी देवियॉ एक देवी के साथ अभिन्न हो गईं। उमा के रुप में वे शिव की पत्नी तथा सबकी रक्षा करने वाली देवी मॉ हैं। तत्पश्चात् उमा का नाम पार्वती और हेमवती के साथ जुट गया, जिससे देवी का और विस्तार हुआ। हिमालय की पुत्री और पर्वतप्रदेश से सम्बद्ध होने के कारण देवी की पूजा पर्वतीय प्रदेशों में तीव्रता से फैली। इसके साथ ही पुलिन्द , शबर , बर्बर जैसी जंगली जाकतयों की भी वे आराध्य देवी बनीं। रुद्र-शिव भी आदिम जातियों के देवता थे तथा जंगली जातियों और दस्युओं द्वारा पूजित थे।

सप्तमातृका के रुप में शक्ति का विकास हुआ जिनमें ब्रह्मणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, बैराही, इण्द्राणी और यमी या चामुण्डा, उनके सात स्वरुप माने गए। पूर्व मध्यकाल में जब तांत्रिक शक्ति का विकास हुआ तो माना गया कि सृष्टि संदर्भ में काम करने वाला धर्म शक्ति एक तांत्रिक शक्ति है जो गुह्य होते हुए भी लोक जीवन के आचार, विचार, उपचार, में प्रत्यक्ष है तथा ये अर्थ और काम, भोग से सम्बद्ध या असम्बद्ध होकर लोक को मुक्ति की ओर प्रेरित कराती है। इस धर्म के अधिष्ठाता के रूप में धर्मराज ब्रह्म की भी परिकल्पना की गयी है। शास्त्रीय संदर्भ में ब्रह्म विद्या की देवी गायत्री के भी कालानुसार तीन रूपों का उल्लेख प्राप्त होता हैं - राजकुमारी, युवती एवं वृद्ध। इसमें रोग मुक्तिदायनी लोक मातृका शीतला के वृद्धा रूप की पूजा होती है। मिथिलांचल की प्रसिद्ध शक्तिपीठ मंगरौनी - मधुबनी, हरौली -वैशाली, में वृद्ध माता की पूजा होती है आदि शक्ति के रूप में दस महाविद्या प्रमुख हैं। शाक्तदर्शन में दस महाविद्या इस प्रकार है - काली, तारा, षोडसी, भुवनेश्वी, भैरवी, छिन्नमस्ता, सुन्दरी, कमला, वगलामुखी, घुमावती, मातंगी ।

समाज में प्रायः देवी के सौम्य रुप की ही पूजा-आराधना प्रचलित है। जन-साधारण देवी के सौम्य रुप की ही उपासना करता है। देवी के प्रचंड रुप की पूजा कापालिक और कालामुख जैसे घोरपंथी सम्प्रदाय के लोग करते हैं। कामरुपिणी देवी की उपासना शाक्त लोग करते हैं, जो देवी के मोह और माया को समस्त जगत से ऊपर मानते हैं। वे देवी को आनन्दभैरवी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता आदि कहते हैं तथा शिव को आनन्दभैरव या महाभारव। शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में देवी के इसी अलौकिक सौन्दर्य का चित्रण किया है। महाभैरव को देवी की आत्मा माना गया, जिनके नौ व्यूह हैं- काल व्यूह, कुल व्यूह, नाम व्यूह, ज्ञान व्यूह, चित्त व्यूह, अहंकार, चित्त, बुद्धि, महत् और मन। अतः देवी भी नौ व्यूहों की आत्मा मानी गई। उनके सम्मिलन से सृष्टि होती है। सृष्टि में महाभैरवी और संहार में महाभैरव की प्रधानता होती है, यद्यपि सृष्टि के पहले शिव और शक्ति की ही सत्ता रही हैं।

शक्ति के लिए देवीभागवत में कहा गया है उनके अखिल प्रभाव को न तो ब्रह्म, न हरि, न शिव और न अनन्त शेषनाग जानते हैं। ये सब भी उसके अंशा हैं। फिर अन्य देवी के विषय विश्व का सृजन करते हैं, विष्णु सर्वदा पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं। उनकी कृपा के बिना ये देवता भी असमर्थ है। उन जगदम्बिका के लिए हमारा नमस्कार है। (अंशांशका अपि च ते किमृतान्य देवास् तस्यै नमा स्तु सततं जगदम्बिकायै।।) देवी को वेदान्त-प्रतिबाद्य ब्रह्म से अभिन्न अथवा निर्दिष्ट किया गया है वे ब्रह्म, विष्णु और महेश उस परा शक्ति का, जिसको ब्रह्म कहते हैं, जो परमात्मा रुप है उसकी नित्य और सनातन मानकर सदा मन से ध्यान करते हैं। (तै वै शक्ति परां देवीं ब्रह्माख्यां परमात्मिकाम्।ध्यायन्ति मनसा नित्यं नित्यायत्वां सनातनीम्।।) आगे कहा गया, जो दैवी शक्ति है, वही परमात्मा है, जो परमात्मा है, वही देवी है। इन दोनों में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं। या शक्तिः परमात्मासौ यो सौ सा परमा मता।अन्तरं नैतयोः को पि सूक्ष्मं वेद च नारद। इस प्रकार देवी की ब्रह्मरुपिणी, परमात्मा और शक्ति-सम्पन्न मानी गई।

शक्ति-पूजा के प्रधानतः तीन केन्द्र हैं -आसाम, कश्मीर और कांची श्रीविद्या के प्रधान पीठ हैं तथा कामाख्या कौल मत का प्रधान केन्द्र है। जम्मू के निकट कश्मीर स्थित शारदा देवी का मंदिर शक्ति के सौम्य रुप का प्रतीक है जो आज वैष्णो देवी के रुप में प्रख्यात है। इस मंदिर के विषय में ग्यारहवीं सदी का लेखक अलबीरुनी लिखता है, कश्मीर के भीतर राजधानी से लगभग दो या तीन दिनों की यात्रा के बाद लकड़ी की शारदा नामक मूर्ति है जो यात्रियों द्वारा अत्यधिक आदृत और सम्मानित है। कल्हण, बिल्हण और हेमचन्द्र जैसे अनेक पूर्वमध्ययुगीन साहित्यकारों ने भी शारदा देवी के मंदिर का वर्णन किया है। कल्हण ने लिखा है कि गौड़-नरेश के अनुयायिओं ने शारदा देवी के दर्शन करने कश्मीर में प्रवेश किया था। राजतरंगिणी में शारदा देवी के मंदिर की स्थिति और ख्याति का

उल्लेख किया है। अबुलफजल ने आईने अकबरी में शारदा देवी के प्रस्तर- मंदिर का वर्णन किया है। शक्ति-पूजा का ज्ञान-तत्व शैव सिद्धान्तों से तो अवश्य प्रभावित है किन्तु शक्ति की दार्शनिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता स्वतंत्र और उन्मुक्त सत्ता है जो उन्हें सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। प्रज्ञा और स्वप्न दोनों स्थितियॉ महामाया की ही रुप हैं। शक्ति में ब्रह्म, विष्णु और शिव के अंश होने के कारण सृजन पालन और संहार तीनों का समन्वय है। अतः भक्त उन्हें जगन्माता के रुप में मानते हैं। दार्शनिक सत्ता में शिव और शक्ति आद्य तत्व हैं जो देश, काल और तर्क से परे हैं। शक्ति ही अर्न्तमुख होने पर शिव हैं और शिव ही बर्हिमुख होने पर शक्ति। किन्तु दोनों में अपनी ही प्रधानता होती हैं। जब दोनों की स्थिति समान अर्थात् सम-भाव युक्त होती है जिसे शैव परम शिव कहते हैं और शाक्य परा शक्ति। भेद केवल शब्दों का है।

शाक्त मत में तीन भाव और सात आचार निर्दिष्ट किये गए हैं। तीन भावों के अन्तर्गत पशु-भाव, वीर-भाव और दिव्य-भाव है तथा सात आचारों के अन्तर्गत वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। भाव का सम्बन्ध अन्तस और मानस से है तथा आचार का बाह्य क्रियाकलाप से। देवी की आराधना प्रायः तीन प्रकार से की जाती है-1. पहले प्रकार की आराधना में देवी की इस प्रकार साधना की जाती है कि वे महापद्मवन में शिव के अंक में बैठी हुई हैं। 2. दूसरे प्रकार की आराधना में चक्र की पूजा की जाती है, जो सम्पूर्ण चक्र में श्रीचक्र के नाम से ख्यात है। 3. तीसरे प्रकार की आराधना में दार्शनिक धरातल पर ज्ञान के आधार पर देवी की उपासना की जाती है।

उपासना के लिए ईश्वर को एक निश्चित रूप और भाव से देखना आवश्यक है, परन्तु इतने से ही उपासना पूरी नहीं हो जाती, वरन् भाव स्थिर करने पर ही उपासना का आरंभ होता है। परन्तु संसार में एक ऐसा भी संबधं है, जो किसी प्रकार का जोड़ना-तोड़ना, जानना-मानना नहीं जानता। वह स्वतः प्रमाण है। वह है माता और संतान का संबधं। मातृ संबधं के आगे संसार के सभी संबधं गौण है। मातृभाव से बढ़कर सहज, सुलभ एवं मौलिक दूसरा भाव मानव-हृदय में असंभव है। माता के रूप में उपासना करनेवाले उपासक का जगज्जननी माता की तरह सब प्रकार से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं का नित्य योग-क्षेम करती रहती है। (न मन्त्रं नो यत्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो। न चाहवानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकया।न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनम।परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेशुहरणम्।)

शक्तिमान देव भी स्व-स्व शक्ति से संचालित तथा सामर्थ्य-युक्त होते है। अंकुर में बीज, अग्नि में ज्वाला, तरलत्व में जल, आकाश के अवकाश, धृति, कीर्ति, बुद्धि, श्री, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, क्षमा, कान्ति, ह्री, वाक्- सभी नारियांॅ हैं तथा प्रकारान्तर से चराचर में सर्वत्र शक्ति व्याप्त है। उस शक्ति को जानकर उसकी उपसना से उसे सर्वत्र प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात आदिशक्ति आज एक है। आदिशक्ति महामाया के जितने रूप शास्त्रों में प्रसिद्ध है, वे दो कोटियों में रखे जा सकते है। यहांॅ उन्हे अभी मधुर और उग्र में नाम से कहा जाएगा। मधुर रूप में जैसे लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती, सीता एवं राधा आदि अथा उग्र रूप में प्रायः काली, तारा, भैरवी, भुवनेश्वरी, दुर्गा आदि प्रसिद्ध है। त्रिपुरसुन्दरी और षोडशी का रूप दिव्य सौंदर्य की परिसीमा होने पर भी, उग्रतायुक्त है।

शक्ति-उपासना में (1) काली, (2) तारा, (3) त्रिपुर या षोड़शी, (4) भुवनेश्वरीः (5) भैरवी, (6) छिन्नमस्ता, (7) धूमावती, (8) मातंगी (9) कमला या कमलात्मिका और (10) बगलामुखी-इन दस महाविद्याओं का अत्यन्त महत्व है। वैष्णव धर्म के दशावतारों की भॉति इनमें से प्रत्येक के उपासक पृथक-पृथक है। इनकी भी पूजा गोपनीय मानी गई है। कहा है-

काली तारा महाविद्या षोड़शी भुवनेश्वरी।भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या घुमावती तथा।।

मतंगी सिद्धविद्या च कथिता बगलामुखी।ऐता दश महाविद्याः सर्वतन्त्रेशु गोपिताः।।

इनमें कुछ के नाम भिन्न है, किन्तु संख्या सर्वत्र दस ही है।

शाक्तमत के तीन भाव- पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव- तथा सात आचार बनाए गए है। शाक्तमत में मान्य ग्रन्थ 'कुलार्णव, मंॅ सात आचारों के नाम श्रेणीके साथ दिए गए हैं। ये हैं- (1) वेदाचार, (2) वैष्णवाचार, (3) शैवाचार (4) दक्षिणाचार, (5) वामाचार, (6) सिद्धांताचार और (7) कौलाचार। इनके अतिरिक्त अघौराचार तथा योगाचार भी है। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्याचरण। वामाचार तथा सिद्धांताचार केवल वीरभाव के साधक के लिए है। परन्तु साधक को देवता की पूजा करने का तभी अधिकार प्राप्त होता है, जब वह पंचशुद्धियॉ- (1) भूत-शुद्धि, (2) आत्म-शुद्धि, (3) स्थान-शुद्धि, (4) मंत्र-शुद्धि और (5) देवता-शुद्धि-करता है। स्नान भूत-शुद्धि है। प्राणायाम करना आत्म-शुद्धि है। पूजागृह को स्वच्छ रखना और उसे फूल मालाओं से अलंकृत रखना तथा सुवासित करना -स्थान शुद्धि है।

मिथिला में भी इसका प्रभाव पड़ा। फलतः पंचदेवोपासना में शक्ति का उच्च स्थान है। इसी समय तंत्र-मंत्र का विकास हुआ। जिसके कारण लोगों के मन में यह विचार आया कि देवी शक्ति मंत्र की जननी एवं शब्द ज्ञान की भंडार हैं। यह ज्ञान से आगे चेतना और शून्य में भी शून्य की साक्षी है। मध्यकाल में शक्ति के दो रूपों का विकास हुआ - सौम्य और उग्र। सौम्य रूप में शिव के शक्ति का रूप में उमा गौरी, पार्वती, अर्द्धनारिश्वर, है तथा उग्र रूप में काली, भैरवी, रक्तदंतिका, चंडिका, तारा, छिन्नमस्तिका आदि है। मिथिला में तारा की पूजा और मूर्ति बहुत संख्या में हैं जिन्हें तारा के विभिन्न नामों से पूजा जाता है। यह नाम विशेष रूप से 'मूर्ति प्रतिष्ठान जगह' के नाम पर भी है। जैसे दरभंगा के मलेच्छमर्दिनी तारा माधवेश्वर स्थान, नाहरभगवतीपुर - मधुवनी, तथा मंगरौनी ;मवनी में हैं। तारा अपने भक्त को दुख से त्राण निवारण करती है। शक्तिसंगम तंत्र के अनुसार काली, तारा, त्रिपुरसुन्दरी एवं छिन्नमस्ता एक ही भगवती की विभिन्न रूप है। मिथिला में इस प्रकार की देवी की पूजा कौमारी और वैष्णवी देवी के रूप में होती है। इस प्रकार की मूर्ति मिथिला के मीठभागवानपुर में देखा जा सकता है। नीलतंत्र के अनुसार तारा बुद्धि देने वाली वाक् देवी, रक्षा करने वाली हैं, संसार के इस अथाह भवसागर से नैयारूपी बनकर पार लगाती है, दूख दूर करनेवाली है, शांति प्रदान करती है।

मिथिला में शक्ति रूप के रूप में पूजित देवीयों की दो धाराएँ हैं एक आदिशक्ति ब्रह्मस्वरूपणी सनातन धर्म से सम्बन्धित। दूसरा मिथिलांचल की लोक परम्परा अनुसार। मिथिलांचल की लोक परम्परा के अनुसार शक्ति के रूप में काली सात बहनों के रूप में प्रतिष्ठित हैं - काली, बन्नी, वाक्देवी, काली, लुकेस्सरी -लोकेश्वरी, बौद्ध जगत की बधेस्सरी - वागेश्वरी, नदी मातृकाएं -जलेस्सरी -जलेश्वरी, तथा धन से धनेस्सरी - धनेश्वरी- लक्ष्मी। देश काल एवं परम्परा से शक्ति के विभिन्न रूप हैं। इनमें सात माताओं सप्तमातृका, सात बहने सप्त भगिनी, अष्टमातृका एवं दसमहाविद्या, षोडस मातृका, चौबीस मातृका, इक्यावन शक्तिपीठ, चौंसठ योगिनी आदि रूपों में विस्तारित किया गया। मिथिलांचल वासी गंगा कमला जीवछ और कोशी में स्नान करके अपने कुल देवता का पूजन करते हैं वे बताते हैं कि ऐसा इसलिए किया जाता है कि कुलदेवी हर एक कुल में शांति और मनवांछित फल प्रदान करें ऐसा करके मिथिलांचल वासी अपने कुल देवता को मनाते हैं। जबकि सभी का मूल किसी न किसी रूप में आदि शक्ति में ही निहित है।

मूल्याङ्कन

हमारी परम्पराओं की जडें बहुत गहरी है। अतः जितनी भी भारतीय परम्पराएं प्रचलित है, प्रायः उन सभी का मूल्य स्रोत कहीं न कहीं पौराणिक कथाओं में विभिन्न आख्यानों के रूप में संकलित या उल्लेखित है। मातेश्वरी शक्ति परमेश्वर की उन प्रधान शक्तियों में से है, जिसका रूप आवश्यकतानुसार समय-समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट होता रहा है। वही पुरूषों में पुरूषोत्तम विष्णु है, भोग में भवानी, युद्ध में दुर्गा और प्रलय में काली। देवी-शक्ति के व्यापक विस्तार में अनेक रुप समाविष्ट हो गए तथा सभी देवियॉ एक देवी के साथ अभिन्न हो गईं। या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ,नमस्तस्वे नमस्तस्वे नमस्तस्वे नमो नमः -हे देवी, जो सभी प्राणियों में विद्यमान, हैं या जो देवी सभी प्राणियों में मौजूद हैं। यह मंत्र दुर्गा स्तोत्र का एक भाग है, जो देवी दुर्गा को समर्पित है, और इसका अर्थ है कि देवी दुर्गा सभी जीवित प्राणियों में शक्ति, ज्ञान, बुद्धि, दया, अन्य गुणों के विभिन्न रूपों में सभी प्राणियों में मौजूद हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ

1.ऋग्वेद,10,125/1)

2. ऋग्वेद,10,125/1)

3. वाजसनेयी संहिता,3/57

4. महाभारत, 3,14,8

5. महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय 30/ 23.4, कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिंगले।

6. मार्कण्डेयपुराण,81,93

7.मार्कण्डेयपुराण,74.1.19

8.मत्स्य पुराण, 157.15-16 तामब्रवीत्ततो ब्रह्मा देवी नीलांबुजत्विपम्। निशे भूधरजादेहसम्पर्कात्वं समाज्ञया। सम्प्राप्ता कृतकृत्यत्वमेका नंशा पुराहासि।

9. देवीभागवत,5.98,

10. वर्मा सवालिया बिहारी लाल , भारत में प्रतीक पूजा का आरम्भ और विकास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ,107

11. देवीभागवत, 1.8.47,

12. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 193 ; देवीभागवत, 3.7.15,

13. राजतरंगिणी, 4.325,शारदादर्शनमिषान्कश्मीरान्संप्रविष्यते।

14. आईने अकबरी, 2.365

15. झा, उमारमण, शाक्तदर्शन एवं दस महाविद्या, डॉ. भाषा भारती प्रकाशन सरस्वती भवन उजान, लोहनारोड, 1997, पृ. 260

16. वर्मा सवालिया बिहारी लाल , भारत में प्रतीक पूजा का आरम्भ और विकास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ-115

17. वर्मा सवालिया बिहारी लाल , भारत में प्रतीक पूजा का आरम्भ और विकास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृ-116

18.झा, उमारमण, शाक्तदर्शन एवं दस महाविद्या, डॉ. भाषा भारती प्रकाशन सरस्वती भवन उजान, लोहनारोड, 1997, पृ. पृ. 260.

19. सत्यार्थी, सत्यनारायण झा दर्शनीय मिथिला, विस्मृतप्रकाशन, हाउसिंग कालोनी लहेरिया सराय, दरभंगा 2001, पृ. 187-188.

20. वही, पृ. 2.

21.मौन ,प्रफुल्ल कुमार सिंह हमारे लोक देवी-देवता, समीक्षा प्रकाशन- मुजफरपुर, 1999, पृ. 2.

*****

Negotiating Language and Power in Medieval North India

-Sumit Bhardwaj
Centre for Historical Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi

During the first fifty years of the Turkish conquest, a large number of Persian-speaking people from Iran and central Asia settled in Lahore and Delhi. The Delhi sultans extended patronage to Persian-speaking scribes, poets and writers, which could be the reason behind their migration to northern India- a feature persistent throughout the medieval centuries of Indian history.[i] By 1311, the boundaries of Sultanate had expanded as far as those of Madurai under the regime of Alauddin Khalji (1296-1311).[ii] Alauddin and his successors administered a large imperial territory with multiple languages and scripts peculiar to regions. The diversity must have posed challenges and provided opportunities to find a via media. Was there any mechanism which the state devised to handle the multilingual, multiscriptual and multicultural environment of the Indian subcontinent? Amir Khusrau delineated Persian's geographical expansion as far as Bengal but interestingly he showed, like his predecessors and contemporaries, no interest in telling how far down the language reached in the administration and in the Indian social fabric. Persian, no doubt, became the language of office and high culture but Indian languages too remained alive in local government offices. This paper is an attempt to understand how the medieval state managed to negotiate language and power in the localities.

In India, similar to other premodern civilizations, the literary languages tended to differ from what the ordinary people spoke.[iii] In the eleventh century Alberuni recorded in his *Al- Hind*:

> Furthermore, the language [Sanskrit] is divided into a neglected vernacular one, only in use among the common people, and a classical one, only in use among the upper and educated classes, which is must cultivated, and subject to the rules of grammatical inflection and etymology, and to all niceties of grammar and rhetoric.[iv]

Alberuni was unable to detect the variations in the regional languages and we do not know in what shape these variations existed in the eleventh century. By the early fourteenth century, however, the vernacular languages had evolved and we found frequent references about them in the Persian writings of Amir Khusrau (fourteenth century), Abul Fazl (sixteenth century) and Sirajuddin Ali Khan Arzu (eighteenth century). These vernaculars are simply referred to as Hindwi in Persian writings. Hindwi was a generic term- and not a standard language. Amir Khusrau recorded twelve types of Hindwi languages and dialects in 1318:

> As I was born in India (Hind), I may be allowed to say a word respecting its languages. There is at this time in every province a language peculiar (*khās*) to itself, and not borrowed from any other. These are Sindhi, Lahori, Kashmiri, Gibar?, Dhaur Samundari, Tilang, Gujarat, Mabar, Gaur, Bengal, Awadh, Dehli and its environs [Khari Boli]. These languages of Hind have been applied in every way to the common purposes of life from ancient times.[v]

In the *Ain-I Akbari*, at the end of the sixteenth century, Abu'l Fazl mentioned the following Indian languages:

> Throughout the wide extant of Hindustan, many are the dialects that are spoken, and the diversity of those that do not exclude a common inter- intelligibility are innumerable. Those forms of speech that are not understood one of another, are the dialects of Delhi, Bengal, Multan, Marwar, Gujarat, Telinganah, Marahatta, Karnatik, Sind, Afghan of Shal (between Sind, Kabul and Qandhar) Baluchistan, and Kashmir.[vi]

As late as the eighteenth century, Hindwi had not evolved as a uniform language even in northern India. Sirajuddin Ali Khan Arzu (d. 1756), a noted eighteenth century poet, writer and lexicographer mentioned Gawaliyari, Braj, Rajputi, Kashmiri, Haryanvi, Hindi and Punjabi as diverse authentic forms of Hindwi in addition to the dialects of Shahjahanbad (Delhi) and Akbarabad (Agra).[vii] Interestingly,

Amir Khusrau did not mention Braj, and both the Braj and Awadhi dialects were absent in Abul Fazl's description. Khusrau and Abul Fazl described all regional languages; however, Arzu seems more conscious about different dialects of Hindwi spoken in northern India. In the seventeenth century, however, another regional variant of Hindwi found the literary expression as Madhyadesi in Banarasi Das's autobiography *Ardhakathanaka*. Mukund Lath suggested that Banarasidas's language is an amalgam of Khari Boli, Braj Bhasha and Awadhi- other popular literary languages of North India. Although we hardly find any precedent for Banarasidas's language, it would be difficult to discard its distinct identity. As a poet, philosopher and familiar with the three major linguistic zones of northern India, Banarasi could distinguish between his own language and other North Indian dialects. Therefore, the possibility of the existence of another dialect which Banarasi called Madhyadesi is very strong.

These regional variations in Hindwi were mostly written in Devanagari script, unlike Persian which was written in a different script.[viii] By the early fourteenth century a new language came out of the contact between Persian and Hindwi. Although the new language too was called Hindwi but the script it used was Persian. The language was much like Hindwi in grammar and syntax but it had numerous Persian lexical items. One could see in the development of new Hindwi an impulse to learn the Indian languages. At the same time, those who were unfamiliar with Persian could learn the language either straight away or with the help of new Hindwi. The new Hindwi did not evolve merely as a bridge language but also as the language of vernacular literature. It also, as we will discuss later, went through various cycles of change, evolved as the language of power in the periphery and retained its position for a long time. By the sixteenth century, with four hundred years of persistent evolution, the language began to produce manuals using mnemonic techniques to instruct and train fresh aspirants of imperial services to become writers, clerks and accountants. Therefore, the use of regional variations in Hindwi was not limited to ordinary people but also extended to the local bureaucratic circles handling district headquarters and village administration. For a long time in India, it seems, that regional languages were preferred over the classical languages for administering local units. Therefore, when Persian began to supplement and substitute the Sanskrit and Sanskrit-based Indic languages used in administration after the political conquest of North India, the substitution itself remained limited to the central and provincial administration. The village (*deh*) and subdistrict headquarters (*pargana*) were left to be administered by the local bureaucracy in regional languages and script. A policy of coordination rather than direct assimilation in the mainstream administration was preferred by the state under Delhi Sultanate. As the contact between the state bureaucracy and local bureaucracy increased to run revenue administration, linguistic exchange began between Persian and Hindwi. The contact with Indian vernaculars jostled Persian in a process of change and geographical expression, local characters began to penetrate Persian vocabulary, which is duly visible in lexicons such as *Farhang-i Qawwas,* and *Miftahu'l Fuzula*.[ix] Simultaneously, Persian also had a deeper penetration in the Indian vernaculars. Although Persian like Sanskrit never became the language of masses and remained limited to the educated, the exchange of lexical items from Persian to vernaculars was so deep that even today there are words of Persian origin in use in all vernaculars across the subcontinent to the extent that people could hardly make a distinction between the two. For example, there is an expression in Haryanavi *didde phoot re hain?* that can be rendered in English as "are you blind?''. The word *deedde* is a vernacularized form of the Persian verbal noun *didan* (to see). The word is dissolved in the Haryanvi language and the consciousness of Haryanvi people to the extent that the speakers would hardly believe that the word was of Persian origin. Such examples are countless. An episode recorded in the sixteenth century autobiography of a Jain merchant Banarasidas, also suggested that although there was a high degree of lexical exchange between Persian and Indian vernaculars, Persian never became the language of the commoners and remained limited to the government officials, nobles, and educated middle class professionals at large. On the way from Jaunpur to Agra, in Samvat 1673 [A.D. 1616] Banarasidas met a merchant of the Maheshwari clan and two Brahmans during a halt at a village called Ghaisua. After a long journey across many towns and villages, they all arrived at a *qasba* called Korra near Ghatampur. They halted in a *sarai* for meals and for rest. One Brahman went to the market and exchanged a rupee coin at a moneychanger's shop. The money-changer accused the Brahman of circulating counterfeit coins. The quarrel ensued unexpectedly and the merchant neatly replaced Brahman's original coins with counterfeits and went to the *kotwal* to accuse the Brahman of cheating (*ʃhugī*). The provincial official (*hākīm*) sent the *dīwān* with *kotwāl* to resolve the matter. As Banarasi and his fellow travellers were part of a group of nineteen people travelling together along with the accused Brahman, they were all held accused of

ṭhugī. After listening to Banarasidas and Maheswari, the *dīwān* was convinced that they were not robbers but the *kotwāl* was not ready to believe and took the charges against them gravely. Banarasidas recorded the following conversation:

After listening to my words, the two officers began discussing the matter with each other in Persian. One of them was convinced we were thugs, but the other one was ready to believe us and willing to grant that we could be telling the truth. Finally, the *kotwal* declared that he saw no point in arguing further and said that, in his opinion, we should be tied up and taken away as prisoners. However, the *hakim's dīwān* took our side. ''The *kotwal* is an idiot and a fool,'' he [the *dīwān*] said ''we do not know who these people truly are. In any case, nothing can be done till the morning then we shall be able to investigate the truth and find out which class these people truly belong to.'' ''Have your own way'' the kotwal grudgingly conceded. ''wait until morning if you like, and then look for something to convince yourself if you please. I have questioned people from three towns, Korra, Gatampur and Bari. They are the town over which I have jurisdiction (*sariyat*) and I will not put any faith in any person from another town. Keep this fact in mind and see if you can discover someone who knows these people. I am off.'' After this conversation, both went away. They posted guards around us and said they would return in the morning. [x]

The entire inquiry was probably done in Hindwi which Banarasi understood very well. However, to keep the conversation private from the townsmen and the accused, the two Mughal officials switched from Hindwi to Persian. The way Banarasi followed the conversation of the two officials suggested that he knew Persian. Several stray references from his autobiography also support this statement. For example, his grandfather Muldas knew both Hindwi and Persian, his father Kharagsen was a government official in the Bengal government, and Jaunpur which was Banarasi's hometown was a centre of Persian learning. It seems improbable that Banarasi did not learn Persian. However, there is another possibility that he could understand the language enough to follow the conversation between two government officials but could not speak with felicity. This episode also suggested that, as a language of upper and middle administration for five centuries Persian had still not penetrated enough to become the language of the masses. How it was possible that vernaculars took lexical items from Persian beyond conviction but as the 'dominant' or power language Persian never dissolved enough in the Indian social fabric to become a lingua franca? The answer perhaps lies in the social structure of medieval Indian society and its reservations regarding educating people from all caste backgrounds. This reservation is even reflected in the general state attitude towards local recruitment in the sixteenth and subsequent centuries.

Two major breakthroughs regarding administration and local bureaucracy in the Delhi Sultanate came from Barani and Afif's *Tārīkh-i Firozshāhī* which shed new light on the ways in which the state under Delhi Sultanate negotiated language and power at the lower rungs of revenue administration. One, we hear for the first time about the *patwari's* ledger known as *bahi*.[xi]The *bahi* was kept by the village *patwari* in the Hindwi language using the Indian method of accounting.[xii] Second, we also found references to *pargana.* The *pargana* was a collection of villages ranging from twenty to two hundred.[xiii] It was an administrative unit above the village but below the *shiq* of Sultanate and Sarkar of Mughal times. It was *pargana* that remained a centre of experiments in the sixteenth century in terms of language. We also hear for the first time about members of rural aristocracy which had elements of both politico- military elite and bureaucracy. These were the village *patwari* who kept records on the behalf of the village community, the *chaudharī*, *khuts* and *muqaddams*. We do not hear much about the *khut* in Mughal times and another important official *qānūngo* was an enigma until the sixteenth century. Since the *chaudharī* in Mughal times was usually also conferred with the office of *qānūngo*, it might be possible that the *chaudharī* kept the *pargana* records under Delhi Sultans. The *parganas* were the strongholds of rural aristocracy and not less than miniature kingdoms. These *parganas* were building blocks of political and fiscal control in the rural society-not individual villages. [xiv]Sometimes a *pargana* could have been divided if it was found to be too large to administer. The *pargana* Shamsabad is one such example. When it was divided during the reign of Akbar, one continued to be called Shamsabad and the other became Nurpur. The Ganges became the boundary between the two. Both were allotted to Raja Rai Singh Rathore as *jāgīr*. [xv]Other government officers in *pargana* about whom we hear for the first time were the *āmil* (revenue collector), *navisindgān* (accountant), *kārkun* (clerk) and *mutasarrif*. [xvi]The existence of two record offices became evident in the sixteenth century when Sher Shah (d. 1545) appointed two sets of clerks in the *pargana* one to keep records in Persian and one in Hindwi. This suggests that earlier in Delhi Sultanate records in villages and *parganas* were kept in Hindwi by Indian clerks and accountants and that the *pargana amils*, *kārkun* and *navis-*

indgān which Barni mentioned in his *Tārīkh-i Firozshāhī* were probably members of the Indian bureaucratic class. It seems that except for some important *parganas* such as Amroha and Qannauj, the Indian bureaucratic class largely handled the revenue administration of *parganas*. There was a dual system in operation, with offices in the centre and province often staffed with Muslim bureaucracy trained in the Persian language and Iranian system of record-keeping, and Hindwi language offices in the subdistrict headquarters and village staffed with an Indian bureaucratic class trained in Indian arithmetic and whose records were kept according to the Indian system. For many centuries, both the *pargana* and village were autonomous administrative units and revenue assessments and collections, and records were left in the hands of the rural aristocracy. Segmentation of language accompanied this separation of authority. This is how the medieval state negotiated languages and power with the Indian bureaucratic class at the local level.

i. Muzaffar Alam, *The Languages of Political Islam in India, c. 1200- 1800*, Permanent Black, New Delhi, 2004, p. 118.
ii. Alauddin Khalji launched an ambitious and successful campaign against Gujarat (1297), northern Rajasthan (1299-1301), Malwa (1305), Maharasthra (1307), Andhra (1309) and Madurai (1311).
iii. Seyyed Hossein Nasr, 'Iran', *History of Humanity*, vol. IV, eds. M. A. Ali-Bakhit, L. Bazin, and S.M. Cissoko, UNESCO, 2000, p. 406.
iv. Alberuni's India, ed. and tr. Edward C. Sachau, Low Price Publications, New Delhi, 2011, first published in 1910, p. 18.
v. Amir Khusrau, *Nuh Sipihr*, ed. Mohammad Wahid Mirza, Oxford University Press, London, 1949, pp. 179-80. However, all local variations of Hindwi fell victim to standardization which began under Bhartendu Harishchandra from the second half of the nineteenth century, and hampered the individual identities of Khari Boli, Braj Bhasha and Awadhi.
vi. Abu'l Fazl. *Ain-i Akbari*, tr. H. Blochmann, vol. III, Low Price Publication, Reprint, New Delhi, 2008, p. 133.
vii. Sirajuddin Ali Khan Arzu, *Nawadiru'l Alfaz*, preface cited in Syed Muhammad Abdullah, Mabahis, Delhi, 1968, pt. I, p. 75, quoted in Muzaffar Alam, *Languages of Political Islam in India*, 2004, p. 135.
viii. The Arabic language took root in Persia among the elite after the Arabic conquest of the region. Under Hajjaj Ibn Yusuf, the governor of Iran and Iraq (661- 714), Arabic script replaced the Pahlavi alphabets in the government offices, paving the way for the adoption of the Arabic system of writing for Persian. Iranians were proud of their Persian identity and it was after a long drawn out movement, *Shuubiya* that the supremacy of Arabic was challenged. The Arabic script stayed. See Alam, *Languages*, 2004, p. 7; Yarshater, 'Iranian Renaissance', *History of Humanity*, ed. Bazin and Cissok, 2000, p. 281
ix. Irfan Habib, *Medieval India: The study of a civilization*, National Book Trust, New Delhi, 2007, p. 93.
x. Banarasi Das, *Ardhakathanaka*, ed. and tr. Mukund Lath, Rupa, reprint, 2005, pp. 236- 37.
xi. The original papers or *kagaz-i kham* of *patwari* were called *khasra* in Bengal.
xii. Irfan Habib, The Agrarian system of Mughal India, 1556-1707, Oxford University Press, New Delhi, 1999, p. 167.
xiii. However, Ibn Battuta and Barani never used the term *pargana*. Battuta used the term *sadi* which he said was the collection of hundred villages and each *sādī* had a *chaudharī* and a *mutasarrif* (official) who were responsible for the collection of revenue. In the middle of the fourteenth century the basic collection of villages came to be termed pargana derived from the Sanskrit word *pratiganaka.* See Irfan Habib 'Agrarian Economy', Irfan Habib and Tapan Raychaudhuri, eds. *The Cambridge Economic History of India*, vol. I, c.1200- c. 1750, Delhi, 1983, pp. 57-58.
xiv. J.F Richards, *The Mughal Empire*, Cambridge University Press, Cambridge, 1993, p. 79
xv. S.A.I Tirmizi, *Mughal Documents*, vol. I, document no. 121, Manohar, Delhi, 1989.
xvi. F. Steingass explained *mutasarrif* as honoured and high-minded. The nature of this post is not clear. Although it seems that he was attached with revenue collection and worked closely with the *amil*. See F. Steingass, *A Comprehensive Persian- English Dictionary*, Manohar, New Delhi, 2007, p. 1160.
xvii. Largely Brahmans, Kayasths and Jains in Delhi Sultanate and Khatris joined later in sixteenth century.
xviii. Sumit Guha, 'Serving the Barbarian to preserve the Dharma: The Ideology and Training of Clerical Elite in Peninsular India c. 1300- 1800', *IESHR*, 47, 4 (2010), p. 499.

*****

वेदः प्रमाणम्

डा "आर् शिवकुमारस्वामि
साहित्यसहायकः
श्रीराजराजेश्वरीवेदसंस्कृत- स्नातकस्नातकोत्तराध्ययनकेन्द्रम्,
स्वर्णवल्ली, शिरसि, उत्तरकन्नडमण्डलम्
कर्नाटकराज्यम् - 581336
सम्पर्कसंख्या 735309617
तडित्पन्नम् - radhashivuswamy@gmail.com

सर्वेषामपि वेदानां भाष्यं आचार्यसायणः रचयामास इति तु सर्वेषां विदितमेव। तत्र सर्वप्राथम्येन यजुर्वेदस्य भाष्यं रचयित्वा ऋग्वेदस्य भाष्यरचनं सायणाचार्यैः कृतम्। अत्र कैश्चिदाक्षिप्यते। यत्र यत्र श्रुतिस्मृत्यादिषु सर्वेषां वेदानामुल्लेखो विद्यते तत्र सर्वत्रापि ऋग्वेद एव आदावाम्नातो वर्तते। तद्यथा पुरुषसूक्ते एवं श्रूयते – "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः। ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दा सि जज्ञिरे तस्मात्। यजुस्तस्मादजायत" इति। मुण्डकोपनिषद्यपि एवं आम्नायते –"ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो थर्ववेदः" इति। तापनीयोपनिषद्यपि मन्त्रराजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवमामनन्ति – "ऋग्यजुस्सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति" इति। इदानीं 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति न्यायेन ऋवेदस्य बह्वृत्र प्रथमाम्नातत्वात्, तस्यैव अभ्यर्हितत्वमिति स्पष्टमवगम्यते।

किञ्च न केवलमृचां पाठप्राथम्येन अभ्यर्हितत्वम्, अपि तु यज्ञाङ्गदार्ढ्यहेतुत्वादपि। तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति – "यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्यदृचा तदृढम्" इति । इत्युक्तौ यज्ञसम्बन्धि यदङ्गं यजुस्सामभ्यां क्रियते तद्धि शिथिलमिव। तदेव यद्यृचा क्रियते तदृढमित्यर्थः। अत एव सर्ववेदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहिते र्थे विश्वासदार्ढ्याय "तदेतदृचाभ्युक्तम्" इत्यृचमेवोदाहरन्ति।

अपि च यजुर्वेदगतेषु मन्त्रकाण्डेष्वपि तत्र तत्र अध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचः बहवः आम्नाताः। साम्नां तु सर्वेषामृगाश्रितत्वं प्रसिद्धमेव वर्तते। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायां ऋच एव बाहुल्येन अधीयन्ते। एवं च पाठप्राथम्यात्, यज्ञाङ्गदार्ढ्यहेतुत्वात्, अन्यै सर्वैः वेदैरादृतत्वाच्च अभ्यर्हितस्य ऋग्वेदस्यैव आदौ व्याख्यानमुचितमिति पूर्वः पक्षः।
सर्वेषां वेदानामध्ययने वा अथवा ब्रह्मयज्ञादौ वा ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यमस्तु नाम। किन्तु वेदार्थः यज्ञानुष्ठानार्थं ज्ञातव्यः वर्तते। यज्ञानुष्ठाने तावत् यजुर्वेदस्यैव प्राधान्यं वर्तते। अत एव ग्रन्थारम्भे "आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद्व्याकृतः पुरा। यजुर्वेदोथ हौत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते" इति भाष्यकारैरप्युक्तत्वात् यजुर्वेदव्याख्यानमेव आदौ युक्तमिति वक्तव्यम्। तर्हि यज्ञेषु यजुर्वेदप्राधान्यं कथमिति चेत्, तत्र बह्वृचाः एवं वर्णयन्ति –

"ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः।।"

एतस्याः एव ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो आचार्ययास्कः पादशः एवं स्पष्टीकरोति। तत्र प्रथमपादं विवृणोति – ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी इति।अस्यायमर्थः। 'अर्च्यते प्रशस्यतेनया देवविशेषः क्रियाविशेषः, तत्साधनविशेषो वा इति ऋक्शब्दव्युत्पत्तिः।होतृनामकः एकः ऋत्विक् स्वकीयवेदशाखायां भिन्नप्रदेशेषु आम्नातानामृचां समूहमेकत्र सम्पाद्य एतावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति।' इतीदं होतुः कार्यम्।
इदानीं द्वितीयपादं विवृणोति – 'गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्गाता'। अस्यायमर्थः। उद्गातृनामकः एकः ऋत्विक् गायत्रशब्दाद्यभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाद्यभिधेयेषु स्तोत्रेषु ऋक्षु गायतीतीदं उद्गातुः कार्यम्।
तृतीयपादः विव्रीयते – 'ब्रह्मनामकः एक ऋत्विक् तदा तदोत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादि कर्मणि अनुज्ञां वदति, "ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि" इत्येवं सम्बोधितः सन् "ओँ प्रणय इत्यनुजानाति"। स च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्वकर्माभिज्ञः भवति। तस्माद्योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं, प्रमादे सति समाधातुं च समर्थः भवेत्। कृत्स्नः यज्ञः प्रमादराहित्याय मनसा सम्यगनुसन्धेयः, वाचा च वेदत्रयोक्ताः मन्त्राः पठनीयाः। तत्र होत्रध्वर्यूद्गात्रादयः त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति। ब्रह्मा तु एक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं संस्करोति। अतश्छान्दोग्ये प्युक्तम् – "एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होत्राध्वर्यूद्गातान्यतराम्" इति।
इदानीमन्तिमं पादं विवृणोति – 'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एको ध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेता' इति। अस्यैषः अर्थः। अध्वर्युनामकः एकः ऋत्विक् यज्ञस्य स्वरूपं निष्पादयति। यज्ञनिष्पादकत्वं तु अध्यवर्योर्नामनिर्वचनादवगम्यते। अध्वर्युः इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तमकारं पुनः प्रक्षिप्य 'अध्वरयुः' इति नाम सम्पादनीयम्। अध्वरं युनक्तीत्यवयवार्थः। अध्वरं नेता इति तात्पर्यार्थः। अत एव श्रुतावप्युक्तम् "अध्वर्युर्वा ऋत्विजां प्रथमो युज्यते" इति।

एतदेवाभिप्रेत्य यास्कः अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं दर्शयति – यजुर्यजतेः। एवं सति अध्वर्युसम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपावयवौ इतराभ्यां ऋग्वेदसामवेदाभ्यां पूर्येते इत्यतः अस्त्यनयोर्मध्ये उपजीव्योपजीवकभावः सम्बन्धः। अतस्तत्सिद्धं उपजीव्यस्य यजुर्वेदस्यैव प्रथमं युक्तं व्याख्यानमिति।
वेदस्तावत् मन्त्रब्राह्मणभेदेन द्विविधः वर्तते। तत्र क्रमशः तयोः प्रामाण्यविचारं कूर्मः। मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति वेदलक्षणाभिधानपुरस्सरं वेदाख्यः कश्चित्पदार्थः अस्तीति तु स्पष्टं ज्ञायते।

तावता अयं व्याख्यातुं योग्यो न भवति। यतः वेदैकदेशः मन्त्रः अप्रमाणं वर्तते। तर्हि किं नाम प्रमाणमिति चेत् – 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाण'मिति प्रमाणलक्षणमभिहितम्। एतादृशसम्यगनुभवसाधनत्वं च मन्त्राणां न सम्भवति। यतः 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतु', 'आपान्तमन्युस्त्रृपलप्रभर्मा' इत्यादिमन्त्रेषु कस्यचिदर्थस्य अनुभवो पि नास्तीत्यतः सम्यक्त्वं वा तदीयसाधनत्वं वा दूरादेव अपास्तं भवति। 'अधः स्विदासी(3) दुपरिस्विदासी(3)त्' इत्यादिमन्त्रस्य बोधकत्वे पि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिवाक्यवत् सन्दिग्धार्थबोधकत्वात् प्रमाणत्वं भवितुं नार्हति।

पुनश्च 'ओषधे त्रायस्वैनम्' 'स्वधिते मैन हि सीः' 'शृणोत ग्रावाणः' इत्येतेषु मन्त्रेषु दर्भक्षुरपाषाणानामचेतनानां चेतनवत् सम्बोधनं श्रूयते। ततः 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवत् विपरीतार्थबोधकत्वात् अप्रमाणत्वं गम्यते। किं च यो वेदः 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' इति बोधयति, स एव वेदः 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम्' इत्यपि बोधयति। तथा सति 'यावज्जीवमहं मौनी' इति वदतः जीवनावधिकं मौनित्वं अनेनैव स्वोक्तेन वाक्येन व्याहतं भवति यथा, तथैव रुद्रैकत्वं-रुद्रसाहस्र्यमिति परस्परविरुद्धार्थबोधकत्वात् भवेदेव मन्त्रः अप्रमाणम्।

अथवा यदि अनधिगतार्थगन्तृत्वम् इति प्रमाणलक्षणं स्वीक्रियते; तदापि 'आप उन्दन्तु' ' शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' इत्यादिषु समन्वयः न स्यात्। आप उन्दन्त्विति मन्त्रः यजमानस्य क्षौरकाले जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते। शुभिके इति मन्त्रस्तु विवाहकाले मङ्गलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः शुभिकायाः वरवध्वोः शिरस्यवस्थानं ब्रूते। तथा च जलेन शिरसो मार्जनस्य पुष्पमालायाः शिरस्यवस्थानस्य च सर्वजनविदितत्वात् अनुवादकरूपयोर्मन्त्रयोरनयोः अज्ञातार्थज्ञापकत्वं नास्तीति सिध्यति। तस्मात् सम्यगनुभवसाधनत्वरूपं प्रमाणत्वं वा अनधिगतार्थगन्तृत्वरूपं प्रमाणत्वं वा मन्त्राणां सर्वथा न भवतीत्यतः मन्त्रः अप्रमाणमेवेति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्तस्तु विद्यमान एव अर्थः प्रमादालस्यादिभिः न विज्ञायते। तेषां निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतः अर्थः कल्पयितव्यः। तद्यथा 'सृण्येव' इत्यादिमन्त्राणामर्थस्तु यास्केन निरुक्तग्रन्थे वबोधितः। 'जर्भरी तुर्फरीतु' इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानि। तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते। आश्विनमिदं सूक्तम् – 'अश्विनोः काममप्राः' इति दर्शनात्। एतदेवाभिप्रेत्य निरुक्तकृद्व्याचष्टे – 'जर्भरी भर्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारावित्यर्थः' इति। निरुक्तज्ञानशून्यानां अनवबोधः न मन्त्राणां दोषमावहति। अत एव तैः लोकन्यायोयमुदाहृतः – 'नैष स्थाणोरपराधो यद्येनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' इति। 'अधः स्विदासीत्' इति मन्त्रः न सन्देहबोधनाय प्रवृत्तः। एकस्यैव कर्मणः एकरुद्रदेवताकत्वं शतरुद्रदेवताकत्वं च यद्युच्येत, तदैव पूर्वपक्ष्युक्तः विरोधः आयाति। भिन्नप्रकरणस्थ-वाक्येषु नास्ति विरोधः। 'अधः स्विदासीत्' इति नासदीयसूक्ते पठितो मन्त्रः, सन्देहप्रबोधनाय न प्रवृत्तः। सूर्यरश्मिसमानः कश्चित्स्वयम्प्रकाशः चैतन्यपदार्थः आसीत्। सो यं प्रकाशः परमात्मा सर्वेषां वस्तूनां मध्ये पर्यालोच्यमानः दीर्घतन्तुवत् तिर्यग्भूतः व्याप्य अवभासते। अधः पर्यालोच्यमाने तत्राप्यवभासते। ऊर्ध्वं पर्यालोच्यमानः तत्राप्यवभासते। तस्मात् अधः, ऊर्ध्वं, मध्ये च भासमानत्वात् एकत्रैव अवस्थितः इति वक्तुमशक्यः। यथा घटस्य उपादानभूतो मृत्पिण्डः घटस्य अधऊर्ध्वमध्यभागेषु सर्वेष्वनुवर्तते, एवं तत्तत्पदार्थोपादानानि तत्तत्कार्येषु व्याप्यैव वर्तन्ते। एवमयं परमात्मापि स्वकार्येषु व्याप्य वर्तमानः सन् अधः आसीदित्येव वा उपरि आसीदित्येव वा इति जगत्कारणस्य परवस्तुनः अतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव गुरुशास्त्रसम्प्रदायरहितैः दुर्बोधत्वम् 'अधः स्वित्' इति वचोभङ्ग्या उपन्यस्यते। ओषध्यादि मन्त्रेषु अपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवताः तेन तेन नाम्ना सम्बोध्यन्ते। ताश्च देवताः भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' इति सूत्रे सूत्रिताः। परं शिरःक्लेदनादेः लोकप्रसिद्धत्वे पि जलादिद्रव्याणामभिमानिन्यः अधिष्ठात्र्यो या देवताः, तासामनुग्रहस्य दीर्घायुष्ट्वादिवितरणरूपस्य अप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेन अज्ञातार्थज्ञापकत्वमस्तु। एवं च प्रमाणलक्षणलक्ष्यो भवति मन्त्रः इत्यतः सिद्धं मन्त्रप्रामाण्यम्।।

इदानीं ब्राह्मणप्रामाण्यं चिन्तयामः। ब्राह्मणं च विधिरर्थवादश्चेति द्विविधो वर्तते इत्यतः विधिप्रामाण्यं संसाध्य अर्थवादप्रामाण्यविचारः भाष्यकारैः प्रस्तुतः। तत्र आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् इति पूर्वपक्षस्य सूत्रम्। स्वाध्यायो ध्येतव्य इति वाक्येन अध्ययनविधिना अर्थवादवाक्यसाधारण्येन वेदस्य स्वरूपः स्वीकृतः। एवं च आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्, आनर्थक्यमतदर्थानामिति स्वीकाराच्च अक्रियाप्रतिपादकानां भूतार्थपराणां काव्यालापसमानां अर्थवादानां वेदवाक्यत्वेन स्वीकारे पि; न वायं क्रत्वर्थः – न वा पुरुषार्थः इति कृत्वा तादृशक्रत्वर्थत्वादिरूपप्रयोजनाभावात् प्रामाण्यं नास्तीति अनेन सूत्रेण गम्यते। किञ्च क्वचिदर्थवादेषु स्तेनं मनो नृवादिनी वाक् इत्यादिषु उच्यमानः अर्थः 'नानृतं वदेत्', 'न स्तेयं कुर्यात्' इत्यादिभिः शास्त्रैः सह विरुध्यते। 'तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः; तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' इत्यत्र धूमः एव अह्नि प्रत्यक्षगम्यः, न तु अग्निः। रात्रौ तु अग्निरेव प्रत्यक्षगम्यः, न तु धूमः इति बोध्यमानः अर्थः प्रत्यक्षविरोधं जनयति । 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' इत्याद्यनेकैरर्थवादैः अविद्यमानं यत्किञ्चित् फलत्वेन उच्यते। बबरः प्रावाहणिरकामयत इति वाक्ये बबरादिरूपेण अनित्यार्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य बबरात्पूर्वमभावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत। अपि च सम्यगनुभवसाधनमेव प्रमाणमिति पूर्वमुक्तम्। तथा सति स्वर्गकामो यजेत इत्यनेन विधिना यागः स्वर्गसाधकः इति बोधिते र्थे को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेस्ति वा न वेति इति संशयमुत्पादयन्नयमर्थवादः कथं वा सम्यगनुभवसाधनरूपं प्रमाणं स्यात्? अथवा अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति स्वीकारे पि 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादयः नैके र्थवादाः प्रमाणान्तरेण प्राप्तमेव अर्थं बोधयन्ति। अतः सर्वथा अर्थवादः अप्रमाणमिति पूर्वःपक्षः।

सिद्धान्तस्तु विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः, तुल्यं च साम्प्रदायिकम्, गुणवादस्तु, रूपात्प्रायात्, दूरभूयस्त्वात्, आकालिकेप्सा, सर्वत्वमाधिकारिकम् इत्यादिभिः सूत्रैः निरूप्यते। अध्ययनधर्माणां स्वाध्यायाध्यायनपरिपालनादीनां यथा प्रमाणभूतविध्यध्ययने क्रियमाणे अनुष्ठानं वैदिकानाम्, तथा अर्थवादाध्ययनेपि तुल्यो नियमः। अर्थवादानां विधिवाक्यैकवाक्यत्वेन प्रामाण्यं स्वीकर्तव्यम्। यथा एकत्र गन्तुकामः पङ्गुरन्धश्च दैवात् सम्मिलितौ

पङ्गुर्नेत्रवत्त्वात् अन्धस्कन्धमधिरोहन्, अन्धश्च चरणवत्वात् तं वहन् परस्परं साहाय्यमाप्नुतः, तथा विधिवाक्यानां अर्थवादवाक्यैः समं एकवाक्यत्वं भवत्येव। तथा हि विधिवाक्यं तावत्स्वप्रितिपाद्ये अर्थे पुरुषं प्रवर्तयितुं स्वार्थस्य केनापि प्रशंसामपेक्षते। किञ्च अवयवानामानर्थक्ये समुदायोप्यनर्थक एव स्यात्, यथा एकस्याः अपि सिकतायाः तैलदानासामर्थ्ये तत्समुदायरिशिरप्यसमर्थः, एवमर्थवादस्यापि आनर्थक्ये तत्सन्निधानेन विधायमाने अर्थे सादरं प्रवृत्तिः न स्यात्। लोकेपि 'इयं गौः क्रेतव्या' इत्येतावदुच्यमाने न तथा क्रेतारः प्रवर्तन्ते अपि तु 'एषा बहुस्निग्धक्षीरा, सुशीला, स्त्यपत्यानघप्रजा च' इति प्रशंसापरवाक्यश्रवणोत्तरं पुरुषप्रवृत्तिः सुलभा भवति तद्वद्वेदेपि स्यादेव। एवं च स्वतः पुरुषार्थत्वाभावात् पुरुषार्थपर्यवसन्नविधिवाक्यापेक्षितं पुरुषप्रवर्तकं प्राशस्त्यं लक्षणया विदधत् अर्थवादवाक्यं विधिना साकं 'यतः क्षिप्रगामितया शीघ्रफलप्रदो वायुरस्य पशोर्देवता तस्मात्प्रशस्ततरं इमं वायव्यं श्वेतं पशुमालभेत' इत्यादिरीत्या एकवाक्यतामवलम्बते। विधिनिषेधवाक्यापेक्षित-प्राशस्त्याप्राशस्त्यरूपप्रयोजनवदर्थे अर्थवादानां लक्षणामाश्रित्य सन्निहितविधिनिषेधवाक्याभ्यां एकवाक्यता स्वीक्रियते; तथा च अर्थवादसत्वे अर्थवादप्ररोचितमेव कर्म अभ्युदयकारी इत्यध्ययनविधिवशेन कल्पनात्, अन्यत् प्ररोचनं न कर्माङ्गमिति नियमः सिध्यति। तेषां धर्माधर्मयोः प्रामाण्यमुपपद्यते। इदमेव अभिप्रेत्य जैमिनिन्यायमालाविस्तरेप्युक्तम् –

(वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता। न विधेयेस्ति धर्मे किं किं वासौ तत्र विद्यते।।

विध्यर्थवादशब्दानां मिथोपेक्षापरिक्षयात्। नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं सम्भवेत्कुतः।।

विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः। तेनैकवाक्यता तस्माद्वादानां धर्ममानता।।)

तत्र ब्राह्मणे द्वैविध्यं वर्तते – विधिः अर्थवादश्च इति प्रदर्श्य अधुना विधिप्रमाणत्वमपपाद्यते। विधिरपि द्विविधो वर्तते। अज्ञातार्थज्ञापको अप्रवर्तप्रवर्तकश्च इति। 'पौष्णं श्याममालभेतान्नकामः' इत्याद्याः कर्मकाण्डगतविधयः अप्रवृत्तप्रवर्तकाः। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्याद्याः ब्रह्मकाण्डगताः अज्ञातार्थज्ञापकाः। तत्र कर्मकाण्डगतानां 'जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद्गवीधुकयवाग्वा वा' इत्यादिविधीनां प्रवृत्ययोग्यद्रव्यविधायकत्वात् सम्यगनुभवरूपत्वं प्रामाण्यं भवितुन्नार्हति। यतः 'अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च' इति वाक्यशेषात् अरण्यतिलानां, अरण्यगोधूमानां च आहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम्। तस्मादनेन निषेधेन बाधितः जर्तिलादिविधिरप्रमाणम्। किञ्च ऐतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु 'तत्तन्नादृत्यम्' 'तत्तथा न कार्यम्' इति वाक्याभ्यां बहवो विधयो निषिद्धाः सन्ति। प्रातरग्निहोमविषये 'यदनुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात्। उभयमेवाग्नेयं स्यात्। उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति' इत्येवं तैत्तिरीया आम्नाय अनुदितहोमं निन्दित्वा उदितहोमं प्रशंसन्ति। पुनस्ते एव तैत्तिरीयाः – 'यदुदिते सूर्ये प्रातर्जुहुयात्। यथा'तिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्यं हरन्ति। तादृगेव तत्।' इति उदितहोमं निन्दित्वा अनुदितहोमं समर्थयन्ति। इत्येवं परस्परविरुद्धार्थबोधकत्वात् एतेषां नास्ति प्रामाण्यम्। अपि च यथा लोके पूर्वं रज्जुत्ववति उत्पन्नं 'अयं सर्पः' इति ज्ञानं परं उत्पद्यमानेन 'नायं भुजङ्गः, रज्जुरेषा' इति ज्ञानेन बाध्यते तद्वत् 'अतिरात्रे षोडषिनं गृह्णाति' इति षोडशिग्रहणविधिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधेन बाध्यते। अथ च भोजनोत्तरं यथा तृप्तिरूपफलस्य उपलम्भः वर्तते, तथा ज्योतिष्टोमादियागेषु अनुष्ठानानन्तरमेव विधिबोधितस्वर्गफलं नोपलभ्यते इत्यतः कर्मविधिषु प्रामाण्यं दुस्सम्पादम्। एवमेव अज्ञातज्ञापकासु उपनिषत्स्वपि 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति जगत्सृष्टेः प्राक् आत्मवस्तुमात्रमासीदिति ऐतरेयिणः समामनन्ति। तैत्तिरीयास्तु 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति जगत्सृष्टेः पूर्वं किञ्चिदपि सद्वस्तु नासीदिति वदन्ति। अतश्च अनयोर्मध्ये भवत्येव विरोधः। तस्माद्वेदे विधिभागानां एतादृशविरुद्धार्थबोधकत्वादेव नास्ति प्रामाण्यमिति पूर्वः पक्षः।

जर्तिलादिविधेः अप्रामाण्यं अस्तु नाम। यतः जर्तिलादिविध्यर्थः नैव अनुष्ठीयते। अनुष्ठेयस्तु अर्थः अजाक्षीरेण जुहोति इति वाक्येनैव विधीयते। अजाक्षीरप्रशंसार्थं तत्र जर्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते। आरण्यानां वा ग्राम्याणां पशूनां पयसा यदि होमः क्रियते, तर्हि तेषां पशूनां हिंसा भवति। अतः तादृशपयोपेक्षया ग्राम्यारण्यपशुहिंसाराहित्येन जर्तिलाः गवीधुकाश्च प्रशस्ताः इति जातम्। किन्तु अग्रे अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च इति वाक्येन अरण्यतिलगोधूमानां होमद्रव्यत्वं निषिध्यते। अतः इदानीं पश्वपेक्षया प्रशस्ततरयोरपि अनयोः अरण्यतिलगोधूमयोः पयोपेक्षया निन्द्यत्वमेव, तस्मात्पय एव प्रशस्ततरमिति स्तुतिः सम्पद्यते।किञ्च अत्र विद्यमानः वाशब्दः विधिशक्तिं प्रतिबध्नाति।एकार्थास्तु विकल्पेरन् इति न्यायेनैव विकल्पः अत्र सिध्यतीत्यतः वाशब्द एव विकल्पविधायकोस्तु इति न चिन्तनीयम्। अपि तु विषमपि वा भक्षयेत्, न तु परान्नं भुञ्जीथाः इतिवत् अन्यविधानतात्पर्यक एव। अतः सर्वोयं स्तुतिलक्षणया पयोविध्येकवाक्यातपन्नः स्तुत्यर्थः। एवं च जर्तिलयवाग्वा इत्यारभ्य पयसाग्निहोत्रं जुहुयात् इतिपर्यन्तं एकवाक्यतापि लभ्यते। षोडशिग्रहणादिदूषणं तु अश्रुतपूर्वमीमांसावृत्तान्तस्य पूर्वपक्षिणः एव शोभते। पूर्वत्र मीमांसायां दशमस्य अध्यायस्य अष्टमे पादे षोडशिनः ग्रहणाग्रहणविकल्पः निर्णीतः। तद्वदुत्तरत्र मीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिविप्रतिपत्तिं निराकृत्य द्वितीयाध्याये आरम्भाधिकरणे 'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य न शून्यपरत्वम्, अपि तु ब्रह्मणः अव्यक्तावस्थापरत्वं इति निर्णीतम्। तथा जैमिनिः चोदनासूत्रे 'चोदना (विधायकवाक्यम्) लक्षणं (प्रमाणम्) यस्य सः चोदनालक्षणः अर्थः पुरुषैरर्थ्यमानः यः सः धर्मः' इत्येवमर्थं प्रदर्श्य विधिवाक्यं धर्मे प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः इत्यत्र औत्पत्तिकसूत्रे विधिप्रामाण्यं समर्थयामास। बादरायणोपि 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रे समेषां वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मण्येव तात्पर्यमिति प्रतिज्ञां कृत्वा 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादिना तस्य समर्थनं चकार। अतः पूर्वपक्षिणस्तु स्थाण्वन्धन्यायः दुष्परिहरः। तस्मात्सुस्थितं विधिभागस्य प्रामाण्यम्।।

मन्त्रब्राह्मणशब्दराशिरेव वेदः इत्यतः मन्त्रब्राह्मणयोः प्रामाण्ये साधिते वेदप्रामाण्यं साधितं भवतीति कृत्वा मन्त्रब्राह्मणयोः प्रामाण्यं

साधितम्। किन्तु तदुपरि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवत् अप्रामाण्यं स्यादिति शङ्कन्ते पूर्वपक्षिणः। पौरुषेयत्वं च 'वेदाँश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' 'अनित्यदर्शनाच्च' इति सूत्रद्वयेन जैमिनिना प्रथमपादे पूर्वपक्षः रचितः। सूत्रद्वयस्य तु अयमर्थः – केचन वेदान् प्रति सन्निकर्षं मन्यन्ते। यथा रघुवंशादयः इदानीन्तनाः, तथा वेदा अपि। न तु वेदाः अनादयः इति। अत एव वेदकर्तृत्वेन पुरुषाः आख्यायन्ते। वैय्यासिकं, भारतं, वाल्मिकीयम् इत्यत्र यथा भारतादि कर्तृत्वेन व्यासादयो व्याख्यायन्ते तथा काठकं, कौथुमं, तैत्तिरीयं, इत्येवं वेदशाखाकर्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वात् वेदाः पौरुषेयाः। किञ्च अनित्याः जननमरणवन्तः बबरादयो वेदे श्रूयन्ते – 'बबरः प्रावाहणिरकामयत', 'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत' इति। तथा सति बबरादिभ्यः पूर्वं वेदानामभावात् अनित्याः वेदाः इति ज्ञायते। अथ च 'वनस्पतयः सत्रमासत', 'सर्पाः सत्रमासत' इति श्रूयते। तत्र वनस्पतीनामचेतनत्वात्, सर्पाणां चेतनत्वेपि विद्यारहितत्वात् सत्रानुष्ठानं नैव सम्भवति। अतः 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि' इति उन्मत्तवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेदः इति स्पष्टी भविष्यति। अतः इदमनुमातुं शक्यम् – 'विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं. वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवत्' इति पूर्वः पक्षः।

राद्धान्तस्तु – 'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्', 'आख्या प्रवचनात्', 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्', 'कृते चाविनियोगः स्यात्कर्मणः समत्वात्' इति चतुर्भिः सूत्रैः निरूप्यते। शब्दस्य वेदरूपस्य कठादिपुरुषेभ्यः पूर्वत्वमनादित्वं च प्राचीनैः सूत्रैरुक्तम्। नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् सम्प्रदायप्रवर्तकत्वेन काठकादिसमाख्या उपपद्यते। यत् परं बबरादिकं तत्तु शब्दसामान्यमेव। न तु बबरनामकः अत्र विवक्षितः। बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोः स्तुतिः क्रियते। अपि च यदि ज्योतिष्टोमादिवाक्यं केनचित् पुरुषेण रचितं स्यात्, तदानीं यागस्वर्गयोः साध्यसाधनभावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात् कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वेन ज्योतिष्टोमस्य विनियोग एव न स्यात्। श्रूयते तु विनियोगः – 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति। अत्र भाव्यकरणेतिकर्तव्यतारूपैः त्रिभिरंशैः उपेतायाः भावनायाः अवगमात् लौकिकविधिवाक्यवत् उन्मत्तसदृशवाक्यं न भवति। लोकेपि 'ब्राह्मणान् भोजयेत्' इति विधौ किम्? केन? कथम्? इत्याकाङ्क्षायां तृप्तिमुद्दिश्य-ओदनेन द्रव्येण-शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेण इति यथा उच्यते, तथा ज्योतिष्टोमादिविधावपि स्वर्गमुद्दिश्य-सोमेन द्रव्येण-दीक्षणीयाद्यङ्गप्रकारेण इत्युक्ते कथञ्चिदपि उन्मत्तवाक्यसदृशं न भवति। ज्योतिष्टोमादिवाक्यस्य विधायकत्वात् अनुष्ठाने तात्पर्यम्। वनस्पत्यादि सत्रवाक्यस्य तु अर्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्यम्। स्तुतिः अविद्यमानेनापि कर्तुं शक्यते। अचलाः वनस्पतयः, अविद्वांसः सर्पाः अपि सत्रमन्वतिष्ठन्; किं पुनः चेतनाः, विद्वांसः ब्राह्मणाः इति सत्रस्तुतिः सम्पद्यते। तस्मान्नास्ति पौरुषेयत्वम्। इदमेवाभिप्रेत्य जैमिनिन्यायमालाविस्तरे उक्तम् –

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता। काठकादि
समाख्यानाद्वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्।।

समाख्यानं प्रवचनाद्वाक्यत्वं तु पराहतम्। तत्कर्त्रनुपलम्भेन
स्यात्ततोपौरुषेयता।।

ननु शास्त्रयोनित्वात् इत्यस्मिन् सूत्रे प्रथमवर्णके शास्त्रस्य योनि 'शास्त्रयोनि' इति षष्ठीतत्पुरुषः स्वीकृतः। अत्र शास्त्रं नाम अनेकविद्यास्थानोपबृंहितः, प्रदीपवत्सर्वार्थद्योती, सर्वज्ञकल्पः महांश्च ऋग्वेदादिः। ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वात् ब्रह्म सर्वज्ञमिति सूत्रार्थः। तथा च श्रुतिर्वक्ति 'यस्य निश्वसितमेवैतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इति।। तथा च ब्रह्मणा निर्मितो वेदः इत्यवगम्यते। तस्मात् कथं वा वेदस्य अपौरुषेयत्वमिति चेत् – उच्यते। यद्यपि परमात्मा वेदं सृष्ट्वा अन्येभ्यः पाठयति, ते अग्रे वेदपरम्परायाः अनुवर्तनं कुर्वन्ति। यदा तु प्रलयो जायते तदा किञ्चित्कालं यावत् वेदाध्ययनपरम्परायाः विच्छेदो जायते। परमेश्वरस्तु सर्वज्ञः इत्यतः अग्रिमे कल्पे सृष्ट्यादौ पञ्चभूतादिकं यथा उत्पादयति, तद्वद्वेदमुत्पादयति चेदपि आनुपूर्वी विरचने तस्य स्वातन्त्रं नास्ति। यतः यया आनुपूर्व्या येन च स्वरेण ये वर्णाः येन रूपेण पूर्वस्मिन् कल्पे अर्थं बोधितवन्तः, अस्मिन्नपि कल्पे तयैव आनुपूर्व्या, तेन च स्वरेण ते एव वर्णाः अर्थं बोधयन्ति। पूर्वस्मिन् सर्गे या आनुपूर्वी आसीत्, तामेव स्मृत्वा सः अन्यानुपदिशति। अतः सर्वज्ञस्य सतोपि वेदानुपूर्वीविरचने स्वातन्त्र्यं नास्ति। ननु आकाशादिवत् वेदस्य उत्पत्तिः वर्तते चेत् यो यः सोत्पत्तिकः स सः अनित्यः इति व्याप्तिरस्ति। तस्मात् उत्पत्तिमतः वेदस्यापि अनित्यत्वं स्यादिति चेत् – यद्यपि वैय्यासिकमते अनित्य एव वेदः। यतः शब्दोपि नित्यः, ब्रह्मापि नित्यमित्यङ्गीक्रियमाणे अद्वैतभङ्गप्रसङ्गः। तस्मात् व्यवहारदशायां एतेषां नित्यत्वमुच्यते। यथा आकाशः नित्यो वा अनित्यो वा इति चेत् – उत्पत्तिमत्वादनित्यः। किन्तु घटपटादिवत् अनित्यो न; यावत्पर्यन्तं प्रलयो न भवति, तावत्पर्यन्तं आकाशस्य सापेक्षिकनित्यत्वमुच्यते, तद्वत् वेदोपि प्रलयपर्यन्तं तिष्ठत्येव। अतः व्यवहारदशायां वेदो नित्य इति व्यवहारः। श्रुतिस्मृती चात्र भवतः 'वाचा विरूप नित्यया' 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' इति।

तर्हि किं नाम पौरुषेयत्वम् इत्युक्तौ 'सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वम्'। तथा च यस्य वाक्यस्य समानानुपूर्वीक-वाक्यान्तरोच्चारण-निरपेक्षोच्चारणम्, तद्विषयत्वम् पौरुषेयत्वम्। यथा महाभारतादिवाक्यम्। यत्पुनर्वाक्यं नियमेन समानानुपूर्वीक-वाक्यान्तरोच्चारण-सापेक्षमुच्चार्यते, तदपौरुषेयम्। यथा वेदवाक्यम्। तस्मात्सुस्थितं वेदस्य अपौरुषेयत्वम् ''

तर्हि प्रमाणभूतस्य वेदस्य अध्यनेन किं प्रयोजनमिति जिज्ञासा सामान्यत उदेति। अतः अध्ययनफलमिति विषयः अधुना उपस्थाप्यते। लोके यत्र यत्र दृष्टफलकं तत्र तत्र अविहितत्वं इति व्याप्तिः वर्तते। यथा भोजनादिकम्। अतः अत्रापि अध्ययनं विहितमिति कृत्वा इदं अदृष्टार्थमिति ज्ञायते। ननु अध्ययनविधायकवाक्ये अदृष्टविशेषः न श्रुतः इति चेत् – वस्तुतः ब्रह्मयज्ञस्य यत्फलमस्ति घृतकुल्यादिकं, तत्फलं नित्याध्ययने अतिदिश्य तादृशघृतकुल्यादिफलमेव रात्रिसत्रन्यायेन नित्याध्ययनस्य फलत्वेन कल्पनीयम्। अथवा ये तावत् अर्थवादातिदेशं नेच्छन्ति तन्मतानुसारेण विश्वजिन्न्यायेन नित्याध्ययनस्य स्वर्गो वा फलत्वेन कल्पयितुं शक्यते। ननु अत्र अध्ययनजन्यः स्वाध्यायगतः कश्चन दृष्टसंस्कारः विद्यते, अथ च अध्ययनेन स्वकीयशाखागताक्षराणां प्राप्तिरूपदृष्टमेव प्रयोजनमस्तीत्यतः

दृष्टफलं परित्यज्य किमर्थं अदृष्टं कल्प्यते इति चेत् – 'अध्ययनेन स्वाध्याये संस्कारमाधाय तेन संस्कृतेन स्वाध्यायेन यज्ञो'नुष्ठेयः' इत्येवं क्वचिदपि क्रतौ विनियोगः न दृश्यते। किं च अक्षरग्रहणं तावत् न किञ्चित् पुरुषार्थं साधयति। अत अध्ययनस्य फलमदृष्टमिति वक्तव्यम्। अत्र कर्मत्वं नाम फलाश्रयत्वम्, स्वाध्यायस्य तावत् फलाश्रयत्वं निराकृतम्। तर्हि अध्येतव्यः इत्यत्र धातोः सकर्मकत्वात् कर्मणि तव्यप्रत्ययः कार्यः, किन्त्वत्र कर्मणः अभावात् कर्मवाची तव्यप्रत्ययः विरुध्येत इति न चिन्तनीयम्। यथा सक्तून्जुहोति इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तूनुद्दिश्य होमसंस्कारविधाने प्रतीयमानेपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र उपयोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा सक्तुभिर्जुहोति इति करणपरिणामः कृतः, तद्वदत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योः असम्भवात् स्वाध्यायेन अधीयीत इति वाक्यपरिणामः कर्तव्यः। एवं च स्वाध्यायेन अध्ययनं भावयेदिति वाक्यार्थः सिध्यति। अदृष्टफलकमेव अध्ययनमिति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्तस्तु अध्ययनेन अक्षरप्राप्तिरूपदृष्टमेव फलं लभ्यते इति। तेन च अर्थावबोधः, तद्वारा यागानुष्ठानम्, यागेन च स्वर्गोत्पत्तिः इति परम्परया अक्षरप्राप्तेः पुरुषार्थत्वं विद्यते। ननु अध्ययनसत्वे अक्षरग्रहणम्, अक्षरग्रहणाभावे अध्ययनस्याप्यभावः इत्येवं अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव अयमर्थः सिध्यति पुनरत्र किमर्थं विधातव्यमिति न शङ्कनीयम्। यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणे व्रीहीनवहन्ति इत्यत्र क्रयक्रयण-नखविदलनादिनापि तण्डुलनिष्पत्तिसम्भवे व्रीहीनवहन्ति इति वाक्यं व्यर्थं सत् – 'अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैरवान्तरापूर्वद्वारा दर्शपूर्णमासौ परमापूर्वं जनयतो नान्यथा' इति ज्ञापयति; तथा इहापि स्वाध्यायोध्येतव्यः इति वाक्येन सामर्थ्यात् 'अध्ययनसंस्कृतेनैव स्वाध्यायेन सम्पादिताः क्रतवः अवान्तरापूर्वद्वारा स्वर्गादिपरमापूर्वं जनयन्ति नान्यथा' इति गम्यते। उक्तं च मीमांसकैः –

लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना। विधेस्तु
नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति।। इति।।

अथ च क्रतूपकरणद्रव्यदेवतामन्त्रादिज्ञानं विना अनुष्ठानं न शक्यते। अतः क्रत्वनुष्ठापकवाक्यानि द्रव्यदेवतादीन् अपेक्षमाणानि अनुष्ठानोपयोगिद्रव्यादिज्ञानहेतुभूतं संस्कतस्वाध्यायाध्ययनं अपेक्षन्ते। स्वाध्याये संस्कारश्च 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इत्यनेन सम्पाद्यते इत्यतः क्रतुविधीनां परम्परया संस्कृतस्वाध्यायापेक्षा अस्त्येव।

ननु तव्यप्रत्ययेन अध्ययनजन्यः संस्कारो बोध्यते इत्युक्तम्; विभिन्नपदबोध्य-स्वाध्यायरूप कर्मापेक्षयापि अध्ययनस्य अध्येतव्य इत्येकपदबोध्यतया तव्यप्रत्ययस्य सन्निहितः धात्वर्थः, अध्ययनजन्यत्वं च स्वाध्याये वर्तते । तस्मात् संस्कारः एकपदश्रुत्या अध्ययनगत एव स्वीकर्तुमुचितः इति चेत् – उच्यते। अत्र तव्यप्रत्ययः वर्तते इत्यतः कर्मैव विशेषेण प्रतिपादयति, अतः स्वाध्याये जायमानमपूर्वं ज्ञापयिष्यति। यद्यपि अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमो वर्तते। तथापि लोके यथा पितृजन्यापि कन्या तमपहाय अन्यामेव उपरञ्जयति, तद्वत्प्रकृतेपि धात्वर्थेन जन्यः संस्कारः स्वाध्यायेन सम्बध्यते इत्यत्र न कापि क्षतिः। तस्माद्दृष्टफलकमेव अध्ययनमिति सिद्धान्तः।।

पादटिप्पण्य:

- जैमिनिन्यायमालाविस्तरः ● जैमिनिसूत्रम् ● ऋग्वेदसंहिता
- यजुर्वेदसंहिता ● मनुस्मुतिः ● ऋग्वेदः
- शुक्लयजुर्वेदः ● अथर्ववेदः ● याज्ञवल्क्यस्मृतिः
- पञ्चतन्त्रम् अपरीक्षितकारकम् ● महाभाष्ये पश्पशाह्निके उद्धृतम्
- चाणक्यनीतिदर्पणम् ● सामवेदः

*****

Integrating Geographic Analysis to Assess Agricultural Viability in Rural Development in Bilhaur Tahsil Kanpur Nagar U.P.

-Durgesh Singh
Department of Geography, School of Basic Sciences, CSJMU, Kanpur, U.P

-Mohit Singh
Department of Geography, School of Basic Sciences, CSJMU, Kanpur, U.P.

-Vijay Jayswal
Department of Geography, School of Basic Sciences, CSJMU, Kanpur, U.P.
vijayjs517@gmail.com

1.Abstract

Agriculture is essential for rural development, impacting opportunities for employment and economic growth. This research investigates the influence of agricultural productivity on employment and economic growth in Bilhaur Tehsil, Kanpur Nagar, Uttar Pradesh. "A quantitative research methodology was employed to gather data" from 100 farmers via a standardized Likert scale questionnaire. Statistical analysis, encompassing linear regression, was conducted with SPSS 22.0 to assess the correlation between agricultural productivity and rural development indices. The findings demonstrate a substantial beneficial effect of agricultural production on employment and economic growth. Augmented agricultural production facilitates employment generation and elevates income levels, therefore promoting comprehensive rural affluence. The report identifies significant problems including restricted access to contemporary farming methods, insufficient irrigation, and financial limitations that impede agricultural development. The results highlight the necessity for governmental interventions, infrastructure enhancement, and technical progress to improve agricultural production, hence assuring sustainable rural development and economic stability.

Keywords: Agricultural productivity, Rural, Farmer, Bilhaur, employment, economic

2.Introduction

Sustainable agriculture and rural development are cornerstones of economic growth and social welfare. In rural regions, agriculture is vital for food security and also a big economic driver, supporting millions of people's livelihoods. Attaining social and economic success relies heavily on agriculture's role in rural development **(Uke, 2024).**

The agricultural and allied sectors play a critical role in the economic development of a "country like India, where a large portion of the population" is employed in the agricultural sector. Roughly 68.8% of the "total population and 72.4% of the working-age population" call rural areas home, according to the most current census data. More over 50% of the population makes their livelihood in agriculture or closely related fields. Foreign exchange gains, employment creation, and gross value addition are all significantly influenced by India's agriculture industry. Given the importance of agriculture to India's economy, any shift in this sector for better or worse could have far-reaching effects on the country's social, economic, and political stability. Indeed, other sectors of the economy, such as retail, manufacturing, and service providing, are extremely dependent on agriculture. The agriculture and allied industries provide the raw materials used by the country's major manufacturers. Sugar, tea, jute, paper, textiles (cotton, wool, silk), food processing, and countless more are all part of these businesses. Agriculture also makes use of a number of industrial inputs, such as chemical fertilisers, pesticides, power, agricultural machinery (such as combines, tractors, harvesters, and pump sets), and tools and implements. The interconnectedness between agriculture and industry is further reinforced by the many production and demand ties that are pro-

duced and appropriated in both sectors. Consequently, agriculture, industry, and trade are all interconnected and contribute to each other **(Sharma, 2022).**

Rural development is a key factor in India's economic success. In order to alleviate severe poverty, rural development aims to boost the productivity of rural economies. A rural development is an effort by rural residents to raise their standard of living and economic standing. The 2011 Census found that 68.84% of the population resides in rural regions. The overall economy will suffer if the rural sector does not expand quickly enough. Investing in rural regions is a great way to build a robust economy, and it will pay off in the end. Ethical labor practices are the bedrock of rural development's economy and have a significant influence on an organization's growth potential. Many people mistakenly believe that the main reason for economic progress is the quickening of industrialization. Agricultural efforts, however, were essential to the development of modern industry. The agriculture industry is vital to India's economy as it provides jobs for over two-thirds of the population. It is deeply concerning that agriculture's contribution to GDP has been declining over the years. Agriculture contributes to economic growth in two ways: via products it produces and through sales it facilitates. Agricultural output is a good indicator of economic health in the long term. Because it is so dependent on monsoons and weather patterns, the agricultural economy is infamously unstable and unpredictable. Even if city inhabitants have become more contemporary and depend on meat for survival, this economic growth sector is crucial for the nation's and the entire country's nutrition. The pervasive poverty and exploitation that Indian farmers endure prevent them from reaching their full potential in terms of productivity **(Ekka, 2022).**

3.Problem statement

Rural economy of Bilhaur Tehsil in Kanpur Nagar, Uttar Pradesh, is mostly dependent on agriculture. Notwithstanding its importance, the area struggles with issues like fragmented landholdings, poor irrigation infrastructure, and restricted access to modern farming technologies, therefore resulting in less-than-ideal agricultural output. This inertia reduces general community economic growth and influences job possibilities. Studies have especially demonstrated that a 1% improvement in land production may lower poverty rates by 0.43%. However, there is a lack of research focusing specifically on Bilhaur Tehsil to understand the unique challenges faced by its agricultural sector. Dealing with this disparity calls for thorough research to assess agricultural output now and how directly it affects employment and economic growth in Bilhaur Tehsil. With an eye toward improving agricultural productivity, generating job possibilities, and so promoting sustainable economic growth in the area, such an inquiry would offer insightful information to guide focused initiatives.

4. Objectives

To assess the impact of agricultural productivity on employment in rural area in Bilhaur tehsil Kanpur Nagar, UP."

"To assess the impact of agricultural productivity on economic development in rural area."

5.Hypothesis

H_0: "There is no significant impact of agricultural productivity on employment in rural area."
H_1: "There is significant impact of agricultural productivity on employment in rural area."
H_0: "There is no significant impact of agricultural productivity on economic development in rural area."
H_2: "There is significant impact of agricultural productivity on economic development in rural area."

6.Literature Review

(Indwar, 2024) Agriculture is an essential aspect of rural Indian life as most people still reside there. Half of India's employees are involved in agriculture or a related field. So, the growth of India's rural areas can't be achieved without a rise in agriculture. Therefore, if we want to improve the lot of those living in rural areas, we

must give agriculture our full attention. Due to their mutual dependence, agricultural and rural development should be government priorities. This research looked at all of India's rural development projects. A number of government databases and annual reports provided the secondary data used in the study. Researchers found that three programs—DDU-GKY, Pradhan Mantri Awas Yojana Gramin, and Mission Antyodaya MAN-REGA—had significant impacts on rural development in India. Of the 2,94,08,487 people who were eligible for pucca homes with basic amenities, 2,85,08,487 have actually gotten them thanks to the PMAY-G program. In order to better manage and maximize the resources allotted to rural development programs by the different ministries and departments of the Indian government, a convergence and accountability framework is currently being developed. The MANREGA program has expanded employment opportunities for 14.95 crore rural inhabitants. Upon completion of their training, 8,10,154 out of 13,29,885 program participants were able to get employment.

(Singh et al., 2024) Agriculture is crucial for rural development and poverty reduction, especially in emerging countries like India and Asia. This article delves into the several ways agriculture helps achieve these objectives, such as providing income, employment, food security, and social empowerment for rural communities. Issues such a lack of capital, technology, and markets are addressed in the essay, along with other challenges encountered by smallholder farmers. The research also explores potential solutions to rural poverty and inclusive growth through sustainable agricultural practices, value chain development, and government initiatives. Case studies from many countries demonstrate the efficacy of various techniques and the lessons that have been learned from them. The study stresses the need of using a holistic, context-dependent strategy that leverages the interconnections between agricultural, poverty reduction, and rural development. Countries can achieve the SDGs and create a more just society by investing in agriculture and empowering people in rural and urban regions.

(Reshu et al., 2022)The purpose of rural development is to help individuals who live in rural regions better their living circumstances and economic stability. "The rural sector's savagery would be a big roadblock to the economy's eventual growth." Because agriculture is the backbone of the Indian economy, the vast majority of Indians work in the field. As wealthier farmers started to invest in more sophisticated farming equipment, the disparity between them and poorer farmers became wider. Given the inseparable nature of agriculture and rural development up to the 1970s, the former largely sought to boost agricultural output. The social component offers social safety nets for vulnerable groups, facilitates the social mobility of low-income and underprivileged individuals, and promotes gender equality and women's empowerment. The political dimension improves rural residents' access to equitable and effective political activities at the village level, which helps alleviate poverty and low income. It is the common aim of both agriculturists and economists to enhance the agricultural economy and village life in rural areas. "The majority of the population still lives in poverty in rural regions," making this the most pressing issue confronting the nation at the moment. Based on her findings from studying how agriculture affects rural development, the author concludes that the expansion and size of India's agricultural sector, as well as the number of people working in it, dictate the country's economic growth rate.

(Asrey, 2022) India is home to a diverse array of ecosystems, landscapes, and peoples since so many people in the nation make their living in agriculture and allied fields. An enormous economic windfall and a rock-solid basis for the country's future industrial expansion, the production, preservation, and distribution of agricultural items employs about 60% of the population. India is a developing country that is proud of its agricultural sector despite the government's emphasis on developing the country's industrial and service industries. A higher standard of life and a large number of new employments have resulted from the expansion of this sector of the economy. Over "a quarter of the nation's gross domestic product (GDP) comes from the agriculture"

sector and allied businesses, making it the most significant economic driver. This sector has made substantial strides in reducing poverty, increasing capital, creating jobs, and boosting GDP throughout the last 34 years. The four primary roles that an activity may play in terms of its ability to contribute to economic development are the creation of jobs, the formation of economic activity (such as industrial expansion), the avoidance of population movement, and the sustainability of the environment and culture.

(Hindurao, 2022) Agriculture is still the main source of income for many individuals living in rural areas. The majority of the world's poor rely on farming for their livelihood, and the "majority of those people live in rural areas." Aside from helping out most rural populations, investment in rural development is essential for the overall growth of the nation's economy. Rural development is an approach to enhancing rural areas' social and economic conditions. The Ministry of Agriculture, Government of India, has established agricultural policies and programs that have been extremely advantageous to farmers and rural development generally.

(Dube et al., 2021) Uttar Pradesh is a well-known agricultural state in India. Economically, Uttar Pradesh is very agrarian, as over 65% of the population lives off the land. Improving the agriculture sector in UP is essential for the progress and prosperity of the state's economy. Although comparable efforts have been made throughout the years, the rate of growth in the agricultural sector varies substantially across the state. For this reason, we embarked on a mission to determine how agricultural development in Uttar Pradesh differed among regions and over time. Using a composite index of development, the UP districts are ranked according to their agricultural development across three separate time periods. Additionally, we have identified model districts and potential objectives for every district in the state that is considered the least developed.

(Nedumaran & M, 2020) According to some estimates, around 70% of India's population still lives in rural areas. Investing in rural regions is crucial for modern economic progress. It is possible to establish a provincial economy by enhancing provincial marketplaces. The Indian government has acknowledged the importance of IT to the development of rural areas. In addition to the numerous adventures shown in the country domain, the government is expected to unveil a multitude of forthcoming exercises in the restricted capacity to focus time. Through the utilization of state-of-the-art information technology solutions, agribusiness is vital in promoting sustainable and expanded farming on a global scale. Given these challenges, agriculture plays a vital role in bettering the situation of farmers in India. This research examines the potential benefits of e-agriculture for farmers and rural communities. Also included as supplementary technology for the Indian agricultural community's remote crop monitoring is a state-of-the-art wireless sensor system with an extensive framework.

(Lone, 2014) Agriculture is vital to the economies of all countries, but especially those in development and those like India's. India is mostly an agricultural nation due to its 143 million hectares of arable land, which is the biggest share of any country in the world. There are 17% of the world's inhabitants in this country, making it the second most populated. About 69% of the population lives in rural or semi-urban areas, and most of those individuals work in agriculture or closely related fields to make a living. A large body of research indicates that diversifying agricultural output towards high-value commodities has the potential to boost future agricultural growth and offer farmers substantial financial rewards. There have been a lot of problems with cereal and ground crop productivity. A great deal of employment opportunities and a consistent flow of funds have been created by horticulture and other businesses, which have numerous backward and forward linkages. As a result, rural India has been enriched by this influx of capital. This study will emphasize the "role of agriculture in rural development and the relevance" of diversification in growing the agriculture sector by utilizing secondary data sources like NSSO and census data.

7.Research Methodology

This study delves into the study's measurements and techniques, including topics such as ethical issues, data collection, and analysis. Research is a way for academics to learn and grow. Research consists of the following

steps, as stated by researchers: formulating and refining questions, coming up with hypotheses on potential answers, gathering data, drawing conclusions, and finally, verifying that the results are consistent with the original ideas.

Research design

Study designs are useful tools for determining which methods are most suited to answering research issues in a certain context. An organized plan for data collection and analysis may be built around the research questions provided at the beginning of the project. Finding out role of agriculture in rural developmentis the goal of this descriptive study. A quantitative approach was applied in the investigation. A research project cannot proceed without first defining the study's objectives and then gathering and evaluating data from participants. We aim to findrole of agriculture in rural development in Bilhaur tehsil,Kanpur Nagar U.P. in this study.

"Variable:"

"Independent variable: Agricultural productivity

"Dependent variable:employment and economic development

"Methods and Tools used""

"Data was collected by way of survey." In corporate settings, surveys are a typical way to get information from employees. A comprehensive evaluation was carried out using a checklist to ascertain on "role of agriculture in rural development. We have selected 100 farmers from Bilhaur tehsil,Kanpur Nagar U.P.

Self-constructed questionnaires were utilized for data collection from farmers. A five-point Likert scale questionnaire was developed for each variable in the study.

Statistical analysis

In order to examine the data in this research, the statistical program SPSS 22.0 was used. Using methods like Linear regression and percentage-based processes, we examined the crucial data. The major topics of the research could be better comprehended with the use of percentage analysis. One easy way to compare and evaluate statistics is using percentages. This is a foolproof method of getting your message out to a certain population. Gathering data allows for a more accurate depiction of the current state of affairs. One way to make percentage studies more visually appealing is to use graphs.

8.Results

The results section summarizes the primary findings of the investigation, which investigates the relationship between economic development, employment, and agricultural productivity in Bilhaur Tehsil, Kanpur Nagar, Uttar Pradesh. The study assesses the degree to which agricultural productivity impacts employment opportunities and overall economic development in the region through the use of statistical methods, such as regression analysis.

Table 1: Age wise distribution of respondents"

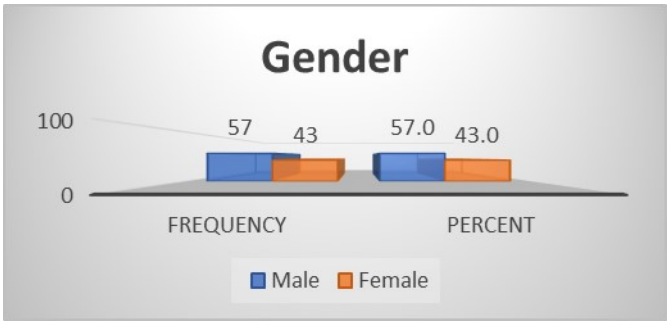
Age		
	Frequency	Percent
20 to 25 years	48	48.0
26 to 30 years	14	14.0
31 to 35 years	21	21.0
36 to 40 years	13	13.0
Above 40 years	4	4.0
Total	100	100.0

The age distribution of the respondents is discussed in the above table. The frequency is 48 and the percentage is 48% in 20 to 25 years. In 26 to 30 years, the percentage is 14% and the frequency is 14. Frequency is 21 and percentage is 21 percent in the age range of 31 to 35. Between the ages of 36 and 40, the frequency is 13 and the percentage is 13. Frequency is 4 and percentage is 4% in those over 40.

"Table 2: Gender wise distribution of respondents"

Gender		
	Frequency	Percent
Male	57	57.0
Female	43	43.0
Total	100	100.0

Gender wise distribution is discussed in the table above. There are 57 males and 43 females are participated in this study, whose percentage is 57% and 43% respectively



Graph2: Gender wise distribution on respondents"

Table 3: Occupation of respondents

Occupation		
	Frequency	Percent
Farmer	62	62.0
Agricultural laborer	38	38.0
Total	100	100.0

The above table discusses occupation of respondents. There are 62 farmers and 38 agricultural laborers are participated in this study, whose percentage are 62% and 38% respectively.

"Hypothesis testing"

"Hypothesis 1: There is no significant impact of agricultural productivity on employment in rural area."

Model Summary				
Model	R	R Square	Adjusted R Square	Std. Error of the Estimate
1	.713[a]	.508	.503	3.23107
a. Predictors: (Constant), Agricultural productivity				

ANOVA[a]						
Model		Sum of Squares	df	Mean Square	F	Sig.
1	Regression	1057.888	1	1057.888	101.332	.000[b]
	Residual	1023.102	98	10.440		
	Total	2080.990	99			
a. Dependent Variable: Economic Development						
b. Predictors: (Constant), Agricultural productivity						

Coefficients[a]						
Model		Unstandardized Coefficients		Standardized Coefficients	t	Sig.
		B	Std. Error	Beta		
1	(Constant)	4.654	.935		4.976	.000
	Agricultural productivity	.620	.062	.713	10.066	.000
a. Dependent Variable: Economic Development						

The relationship between rural area employment and agricultural productivity is investigated by the regression analysis. With $R^2 = 0.272$, the model summary shows that agricultural production suggests a modest correlation between employment variance and explains 27.2% of the variation in this regard. The changed R^2 value of 0.264 validates the dependability of the model in employment result prediction. The ANOVA findings reveal a statistically significant F-statistic (F=36.528, p=0.001), therefore suggesting the statistical relevance of the regression model. This implies that employment levels are substantially influenced by agricultural output. The coefficient table shows that employment is statistically significantly and favorably correlated with agricultural production (β=0.521,p 0.001). With an unstandardized coefficient of 0.507, employment rises by 0.507 units for every unit increase in agricultural productivity.Since the significance value (p<0.001p < 0.001p<0.001) is below 0.05, we reject the null hypothesis and conclude that agricultural productivity significantly impacts rural employment.

Hypothesis 2: There is no significant impact of agricultural productivity on economic development in rural area.

Model Summary				
Model	R	R Square	Adjusted R Square	Std. Error of the Estimate
1	.713[a]	.508	.503	3.23107
a. Predictors: (Constant), Agricultural productivity				

ANOVA[a]						
Model		Sum of Squares	df	Mean Square	F	Sig.
1	Regression	1057.888	1	1057.888	101.332	.000[b]
	Residual	1023.102	98	10.440		
	Total	2080.990	99			
a. Dependent Variable: Economic Development						
b. Predictors: (Constant), Agricultural productivity						

Coefficients[a]						
		Unstandardized Coefficients		Standardized Coefficients		
Model		B	Std. Error	Beta	t	Sig.
1	(Constant)	4.654	.935		4.976	.000
	Agricultural productivity	.620	.062	.713	10.066	.000
a. Dependent Variable: Economic Development						

The influence of agricultural productivity on rural area economic development is assessed by the regression study. Strong correlation with agricultural production indicates that it explains 50.8% of the variance in economic development ($R^2=0.508$). The revised R^2 value of 0.502 supports even more the dependability of the model in forecasting economic development. The extremely significant F-statistic ($F=101.332$, $p=0.001$) revealed by the ANOVA findings shows the statistical significance of the regression model. This suggests that determining economic progress is greatly influenced by agricultural productivity. With a $\beta=0.713$, $p=0.001$ the coefficient table shows that agricultural production has a substantial positive and statistically significant influence on economic development. The unstandardized coefficient ($B=0.620$) implies that economic development increases by 0.620 units for every unit rise in agricultural productivity.Since the significance value ($p<0.001p < 0.001p<0.001$) is well below 0.05, we reject the null hypothesis and conclude that agricultural productivity significantly impacts rural economic development.

9.Conclusion

Agriculture continues to be a fundamental component of rural development, as it is essential for the maintenance of subsistence and the stimulation of economic growth. This investigation emphasizes the interdependence of economic development, employment, and agricultural productivity in Bilhaur Tehsil, Kanpur Nagar, Uttar Pradesh. The results confirm that enhancements in agricultural output contribute to the overall prosperity of rural areas, impacting not only individual income levels but also the overall well-being of the community. However, the full potential of agriculture to contribute to rural development is still being impeded by obstacles such as fragmented landholdings, inadequate infrastructure, and limited access to modern technology. It is imperative to overcome these obstacles in order to cultivate a more sustainable and resilient agricultural sector. Rural progress is contingent upon a comprehensive strategy that incorporates contemporary agricultural methods, improved financial access, and robust policy support. Empowering rural communities, assuring food security, and promoting long-term sustainable development are all achievable through the enhancement of agricultural productivity, which is not merely a means of economic progress.

10.Suggestions

- Promote the utilization of contemporary agricultural methods, such as precision farming, high-yield cultivars, and mechanization to improve production.
- Enhance irrigation infrastructure and advocate for water conservation methods, like drip irrigation and rainwater collecting, to decrease reliance on monsoons.
- Facilitate financial assistance via low-interest loans, subsidies, and access to credit resources, especially for small and marginal farmers.
- Enhance rural infrastructure through the improvement of roads, storage facilities, and market linkages to mitigate

post-harvest losses and augment market access.
- Establish agro-processing facilities and enhance value addition to agricultural goods to provide rural jobs and augment farmers' earnings.
- Facilitate training programs and skill enhancement seminars on contemporary agricultural methods, agribusiness management, and sustainable farming.
- Enhance digital literacy among farmers to improve access to market pricing, weather predictions, and government programs.

References

- Asrey, R. (2022). Agriculture and its role in Economic Development of Rural India. *IJA RIIE*, *8*(1).
- Dube, M., Singh, V., & Yadav, S. K. (2021). Agricultural development in uttar pradesh: A statistical evaluation. *International Journal of Agricultural and Statistical Sciences*.
- Ekka, V. R. (2022). A STUDY ON RURAL DEVELOPMENT IN INDIA AN OVERVIEW. *International Journal of Creative Research Thoughts (IJCRT)*, *8*(9). https://www.ijcrt.org/papers/IJCRT2009568.pdf
- Hindurao, S. V. (2022). ROLE OF AGRICULTURE IN DEVELOPING RURAL INDIA. *International Research Journal of Marketing & Economics*, *9*(3).
- Indwar, T. (2024). Empowering Rural India: The Role of Agriculture and Government Programs. *Journal of Social Science and Humanities*, *2*(1).
- Lone, R. A. (2014). Agriculture and Rural Development in India; The Linkages. *Imed, 7 (2)*.
- Nedumaran, G., & M, M. (2020). E-Agriculture and Rural Development in India. *SSRN Electronic Journal*. https://doi.org/10.2139/ssrn.3551994
- Reshu, G., , Kumar Goyal Ravi, Feher Andrea Ana, V. V., & Tekwani Kritika Et Al. (2022). Role Of Agriculture In Rural Development In The Indian Context: A Theoretical Analysis. *Lucrări Ştiinţifice*, *24*(2).
- S. K. Uke, M. J. (2021). The Role Of Agriculture In Rural Development (With Special Reference To The State Of Chhattisgarh). *GNA Journal of Management & Technology*, *14*(1).
- Sharma, H. . (2022). Agriculture Sector Contributing in Rural Development. *Kurukshetra*, *70*(3).
- Singh, A. K., Pathak, M., Joshi, M. D., Kumar, S., Kashyap, S., & Hasan, W. (2024). The Role of Agriculture in Poverty Alleviation and Rural Development. *Journal of Scientific Research and Reports*, *30*(8), 529–549. https://doi.org/10.9734/jsrr/2024/v30i82276

*****

मधुसूदन सरस्वती सम्मत भक्ति साधन रूप चित्तद्रुति

डॉ. संदीप कुमार
(सत्यवती महाविद्यालय)
मो. 9868793223

डॉ. महीप कुमार मीना
(pdf fellow)
मो.9015308369

बीज शब्द

उपासना, द्रवितचित्त, अवच्छिन्नवृत्ति, ब्रह्ममय, लाक्षा, तापक, द्रव, आत्मवस्तु, विरतिशय,

धुसूदन सरस्वती अद्वैत वेदान्त के मान्य आचार्य हैं। अद्वैत वेदान्त में भले ही भक्ति और उपासना को चित्त-शुद्धि प्राप्त कराने वाले साधन के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु इनकी उपादेयता वे अवश्य स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रंथ 'भक्ति रसयान' में भक्ति पर विशेष बल दिया है अर्थात् पूर्ण ग्रंथ भक्ति की महत्ता को बतलाता है।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भागवत धर्मों का पालन करने से द्रवित हुए चित्त की चराचर जगत् के स्वामी (सर्वेश) के प्रति (तेलधारावदविच्छिन्न) अविच्छिन्न वृत्ति ही भक्ति है। चित्त रूपी द्रव्य लाख के सदृश्य कठिन है। परन्तु (भगवद्नुरागजन्य) तापक विषयों के संयोग से द्रवता को प्राप्त करता है। भक्ति की पूर्णता में भक्त जगत् को परमात्मामय देखने लगता है। यही स्थिति ज्ञान की पूर्णता में है जहाँ ज्ञानी सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्ममय देखने लगता है।

मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के लक्षण में स्पष्ट किया है कि भक्ति के लिए जो अत्यन्त आवश्यक है वो चित्त का द्रवित होना है। उन्होंने चित्त की तुलना लाक्षा से की है जिस प्रकार स्वभाव से ही ठोस लाक्षा की कठोरता बिना तीव्र अग्नि के दूर नहीं हो सकती, गर्मी या साधारण ताप के द्वारा लाक्षा केवल ढीला पड़ सकता है वह द्रव्य में परिणत नहीं होता है। यहाँ तापकों के लिए तीव्र तापकों का प्रयोग किया गया है। क्योंकि चित्त और लाक्षा दोनों ही तीव्र तापकों के संयोग से द्रव में परिणत होते हैं। साधारण तापकों के संयोग से नहीं। सामान्य विषयों के संयाग मात्र से तो केवल चित्त में शिथिलता ही आती है द्रवीभाव नहीं होता है। जैसे स्त्री-पुत्रादि सांसारिक विषयों में आसक्ति होती है ऐसे ही भगवद्विषयक आसक्ति भी हुई. क्योंकि दोनों में ही चित्तद्रति होती है दोनों में अन्तर इतना है कि भगवद्विषयक आसक्ति से चित्त पूर्णरूप से द्रवित हो जाता है किन्तु सांसारिक विषयों से सामान्य रूप से उसमें शिथिलता मात्र आती है द्रवता नहीं।

जिस विषय में चित्त का उद्रेक अधिक रहता है उस विषय
में चित्त द्रवीभूत होता है। किन्तु उस उद्रेक के और कामादि के शान्त हो जाते समाप्त हो जाने पर फिर वह पुनः ठोस हो बत है वह चिर स्थाई नहीं होता क्योंकि विषय के समाप्त होते है फिर से वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है किन भगवदाकारता को प्राप्त हुआ चित्त सदा द्रवित रहता है। क्योंकि भगवदाकारता चिरस्थाई है।

चित्त को द्रवित करने वाले तापक हैं- काम, क्रोध, मर, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि। चित्त में जिस वस्तु के प्रति कार, क्रोध आदि का उद्रेक अत्यधिक हो जाता है। उसके प्रति चित्त द्रवित हो जाता है तथा तवस्तु के ग्रहण हो जाने पर का तदाकार हो जाता है। परन्तु काम क्रोधादि में उद्रेक के शान्त होते ही चित्त पुनः ठोस अवस्था में परिणत हो जाता है। परन्तु भगवद् विषय में उससे भिन्न चित्त की द्रवता स्थाई होती है।

चित्त के द्रवित होने से क्या लाभ इसे मधुसूदन सरस्वती स्पष्ट रूप से बताते हैं। 'नैयायिक' आदि ने नाशवान् ज्ञान में उत्पन्न जो आत्मा का गुण है, उसे ही संस्कार आदि शब्दों में कहा गया है. वस्तुतः वह नहीं है। नैयायिकों के मत में संस्कार आत्मा का गुण है और ज्ञान से उत्पन्न होता है। दूसरे क्षण में रहता है तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। ऐसे नाशवान् ज्ञान से उत्पन्न संस्कार भी नाशवान् ही होगा। इसलिए नैयायिकों द्वारा लक्षण उचित नहीं है। भक्ति दर्शन में भगवद् गुण श्रवण से चित्तद्रतिजन्य संस्कार चिरस्थाई होता है। उसका कभी नाश नहीं होता है। मीमांसा में कर्म प्रवर्तक विधि वाक्यों को ही भावना कहा है और उसे क्रिया रूप माना है। क्रिया अनित्य होती है किन्तु भक्ति शास्त्र में भगवद्विषयक भाव नित्य होता है।

भगवद् भक्ति में चित्त का पूर्णता से द्रवीभाव उसी प्रकार हो जाता है. जिस प्रकार गली हुई लाक्षा को जैसे सांचे में ढाला जाएगा, वैसे ही आकृति बन जाएगी। ऐसा चित्त इत्यादि अनेक भावों में भले ही परिणत हो जाए किन्तु उस द्रवीभाव का नाश नहीं होगा। इसलिए भगवद्भाव को भक्तिशास्त्र में परिणामी और नित्य माना है।

पूर्ण चित्तद्रुति होने पर वासना होती है और सामान्य हुति होने पर **वासानाभास** (वासना जैसा प्रतीत होना वस्तुतः वासना न होना) होता है। इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए से मधुसूदन सरस्वती बताते हैं, कि जिस प्रकार द्रवित **लाक्षा** में कोई राग का मिश्रण कर देने पर और बाद में लकड़ी आदि पर चूड़ी आदि आभूषण बनाए जाने पर ठोस हो जाने के बाद भी उस लाक्षा में से उस रंग को अलग नहीं किया जा सकता। यह पूर्ण रूप से द्रवित हुए चित्त की स्थिति है किन्तु सामान्य रूप से डोली हुई लाक्षा में मिलाया हुआ रंग वैसा पक्का नहीं होता है शीघ्र ही निकल जाता है।

इसी प्रकार जब चित्त पूर्णरूप से द्रवित हो जाता है, तब भगवद् स्वरूप पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो जाता है वह फिर द्रवीभाव न रहने पर भी वैसा ही बना रहता है जैसे द्रवित अवस्था में लाक्षा में प्रविष्ट हुआ रंग कठिन होने पर भी वैसा ही दिखाई पड़ता है उसी प्रकार चित्त की द्रवावस्था में प्रविष्ट **भगवदाकारता** सब प्राणियों का देखते या ग्रहण करते समय भी वैसी रहती है। तात्पर्य यह है कि भगवद् भाव को वह संस्कार (जो चित्त में

प्रविष्ठ हो गया) फिर कभी उसका नाश नहीं होता।

काम, क्रोध, भय, स्नेह, शोक, हर्ष, दया और **शम** इन भावों के अतिरिक्त नौवाँ ऐसा कोई भाव नहीं है। जिसमें चित्त की हुति हो मधुसूदन सरस्वती ऐसा मानते हैं। उनके अनुसार जो चित्त को द्रवित कर सके वो ये ही आठ स्थाई भाव हैं। काम क्रोधादि से ही चित्तहुति होती है। इस अवस्था में जो वस्तु चित्त में स्थापित हो जाती है। अतः वस्तु का वह आकार चित्त में स्थाई रहने से स्थाई भाव कहलाता है।

योग तीन प्रकार के बताये गये हैं- **कर्मयोग**, **ज्ञान योग** और **भक्ति योग** (अष्टांग योग) को ज्ञान योग के हो अन्तर्गत माना है।

कर्म तभी तक करने चाहिए जब तक संसार से विरक्ति न हो जाएं, कर्मयोग अन्तःकरण की शुद्धि का साधन होता है। इसलिए जिसकों चित्तदुर्ति नहीं होती, उसे कर्मयोग से संसार से विरक्ति होकर तत्वज्ञान हो जाता है और जिसको चित्तद्रुति हो जाती है उसको भगवान् के कथा श्रवण आदि भगवद् धर्म श्रद्धा होकर भक्ति होती है। यही दो (संसार से विरक्ति और भक्ति) कर्मयोग की अवधि रूप माने गए हैं।

ज्ञान के द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तु का ज्ञान हो उस अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थरूप में परमात्मा को सर्वत्र देखना यह सब ज्ञान है और जो इसके विपरीत है वो अज्ञान है।

योग पथ से यमनियामादि (अष्टांग), अन्वीक्षिकी (कर्ममार्ग)

विद्या (ज्ञान का मार्ग) से, और मेरा मन, पूजा जैसे भक्ति मार्ग के योग्य हो गया है, मुझे, यानी भगवान कृष्ण को याद करता है।

इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान की उपयोगिता तभी तक है जब तक भक्ति न हो जाए क्योंकि भक्ति योग के बिना मन प्रसन्न नहीं होता। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं- मुझ में मन एकाग्र करके निरन्तर प्रयत्न करते हुए जो भक्त जन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मेरी उपासना करते हैं उनको मैं सर्वोत्तम सबसे श्रेष्ठ योगवेत्ता मानता हूँ। [10] मुझ भगवान् वासुदेव परमेश्वर सगुण **ब्रह्म** में ही मन लगाकर एकनिष्ठता और निरतिशयप्रियता अतिशय प्रीति से मन का प्रवेश कर अर्थात् लाक्षा और उसमें मिश्रित रंग के समान मन को तन्मय कर जो नित्ययुक्त-निरन्तर प्रयत्नशील होकर मेरी उपासना करते हैं उनको ही मैं युक्ततम मानता हूँ क्योंकि वो सदा मुझमें ही आसक्तचित्त रहने के कारण अन्य विषयों से विमुख होकर मेरा चिन्तन करते हुए दिन-रात बिताते हैं इसलिए मैं उनको ही युक्ततम मानता हूँ। इस प्रकार भक्ति योग ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया अन्य योगों की तुलना में भक्तियोग के द्वारा भगवान कृष्ण को बहुत ही सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। मधुसूदन सरस्वती ने योग के अनुसार भक्ति के चार विभाग किये हैं: राजसिक, तामसिक, शुद्ध सात्विक और मिश्रित। आदि मिश्रित भक्ति है।

मधुसूदन सरस्वती ने पुनः भक्ति के दो भेद किये हैं, **शुद्ध** और **मिश्रित। शुद्ध** भक्ति उपाधि रहित होती है और **उपाधि** मिश्रित भक्ति होती है। [12] यहां सोपाधि का अर्थ है भगवान का सगुण रूप और निरुपाधि का अर्थ है भ्रम रहित निर्गुण रूप। अत्यधिक आनंद के रूप में भगवान की महिमा से उत्पन्न होने वाली भक्ति अनाम भक्ति है।

मधुसूदन सरस्वती अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त महत्वपूर्ण आचार्य हैं। अद्वैतवाद और भक्ति दोनों का अद्भुत सामञ्जस्य इस महान आचार्य ने अपने ग्रंथों में किया है। उन्होंने अद्वैत की परम्परा से हटकर भक्ति को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. द्रुतस्य भगवद्धर्याद्वारावाहिकतां गता। सर्वेश मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।। भक्तिरसायन, पृ. 30.
2. तापवैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते। भ.र... पू. 32.
3. कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः।
4. तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनन्तु तत्।। भ.र., पृ. 33. 'भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः' अर्थसंग्रह. ५. 18.
5. हुते चित्ते विनिक्षप्तस्वाकारो यस्तु वस्तुना। संस्कार-वासना-भाव-भावनाशब्दभागसौ। भ.र.. पू. 34.
6 शिथिलीभावमात्रन्तु मनो गच्छत्यतापर्कः न तत्र वस्तु विशती वासनात्वेन किञ्वन।। वहीं, पृ. 35.
7. द्रवतायां प्रविष्टं सद्यत् काठिन्यदशां गतम्। चंतः पुनर्हतौ सत्यामपि तन्नैव मुञ्वति।। ५.८, पृ. 35.
8 यावत्यो द्रुतश्चिन्ते भावास्तावन्त एव हि।। ५.८. पू. 145
9.यमादिभियोगपथैरान्वक्षिक्या च विद्यया। 9. ममाचर्योपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्य स्मरेन्मन: ।। भाग. 11/20/24
10. मध्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते में युक्ततमा मताः।। गीता. गूढार्थीतिका 12/2.
11. राजसी तामसी शुद्ध सात्विकी मिश्रिता च सा। ईष्र्याज द्वेषजाऽऽद्यास्याद् भयद्वेषजापरा।। प.र.टी. पृ. १%
12. शुद्धा व्यामिश्रिता चेति पुनरेषा द्विधा। भवेत्। तत्रानुपाधिः शुद्धा स्यात्सोपाधिर्मिश्रितोदिताः।। ५.८, ५. 165.

*****

प्रगतिशील साहित्य (कविता) का यथार्थवादी आग्रह

डॉ. बालेन्द्र सिंह यादव
सहायक प्रोफेसर–हिन्दी
डॉ अंबेडकर राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय ऊंचाहार–
रायबरेली।

शोध सार: हिन्दी साहित्य में प्रगतिशीलता भक्तिकालीन संत कवियों के साहित्य से ही दिखने लगती है। संत कवियों ने अपने विचार, भाव और भाषा सभी दृष्टियों से प्राचीन रूढ़ियों एवं उच्च वर्ग की ज्यादतियों का विरोध कर अपने समय में प्रगतिशीलता से ओतप्रोत हुए। पर यर्थाथवादी दृष्टिकोण के साथ सच्ची प्रगतिशीलता का विकास आधुनिक काल में तब होता है जब सन् सन् 1936 ई0 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना होती है। कार्ल मार्क्स के साम्यवादी दर्शन से प्रभावित 'प्रगतिवाद' में जब किसानों, मजदूरों, दलितों की दीनदशा के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनके शोषण का मुखर विरोध किया गया तो यह काव्यधारा प्रगतिशील साहित्य का पर्याय बन गयी। पंत, निराला, दिनकर, नवीन, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन, बच्चन, धर्मवीर भारती, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, भारतभूषण अग्रवाल, मुक्तिबोध, अज्ञेय, धूमिल, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र आदि यथार्थवाद के आग्रही प्रगतिशील रचनाकार हैं जिनकी संवदेना के केन्द्र में आम आदमी की पीड़ा और तड़प की अभिव्यक्ति है।

बीज शब्द: प्रगतिशील, प्रगतिवाद, मार्क्सवाद, साम्यवाद, यथार्थवाद, आग्रह, लघुमानव, जीवनमूल्य, श्रमशील।

मूल शोधालेख

'प्रगतिशील' और 'प्रगतिवाद' शब्द एक दूसरे के पर्याय नहीं है। भाव, विचार एवं भाषा सभी दृष्टियों से जब कोई रचनाकार प्राचीन रूढ़ियों एवं उच्च वर्ग की ज्यादतियों का विरोध करता है तो वह अपने आप में प्रगतिशील होता है। हिन्दी साहित्य में सन्त कवियों का साहित्य इन्हीं अर्थों में प्रगतिशीलता से ओतप्रोत है। पर सच्ची प्रगतिशीलता का पूर्ण विकास तब होता है जब सन् 1936 ई0 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ यर्थाथवादी दृष्टिकोण से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना आदि सभी क्षेत्रों में साहित्य रचना होती है। यह यथार्थवादी दृष्टिकोण (आग्रह) समस्त छायावादोत्तर काव्य– प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता आदि– में दिखता है।

सन् 1936 में 'प्रगतिवाद' कार्ल मार्क्स के साम्यवादी दर्शन से प्रभावित होकर आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रकट हुआ। इसमें सृष्टि के कर्ता के रूप में ईश्वर को नहीं वरन् मानव की महत्ता को सर्वोपरि माना गया। किसानों, मजदूरों, दलितों की दीनदशा के प्रति सहानुभूति रखते हुए उनके शोषण का मुखर विरोध किया। अपने इसी यथार्थवादी आग्रह से यह काव्यधारा प्रगतिशील साहित्य का पर्याय बन गयी। जिन रचनाकारों ने आँख मूंदकर केवल साम्यवादी मार्ग को ही अपनाया वे 'प्रगतिवाद' के वाद में ही बँधे रह गये और जिन्होंने इन बन्धनों से आगे बढ़ने में विश्वास किया वे सामाजिक जीवन और सामयिक समस्याओं का यथार्थ वर्णन करके भी प्रगतिशील हुए।

मार्क्सवादी चिन्तन तीन बिन्दुओं पर आधारित है–

द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद
मूल्य वृद्धि का सिद्धान्त तथा
अर्थव्यवस्था के अनुसार मानव सभ्यता के विकास की व्याख्या।

मार्क्स मानते है कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण ईश्वर न होकर स्वयं यह भौतिक जगत् है जिसमें दो शक्तियों के पारस्परिक द्वन्द्व से तीसरी शक्ति (वस्तु) का विकास होता है। मानवता और सामाजिक आवश्यकता के अनुसार श्रमिक वर्ग अपने अधिकाधिक परिश्रम से अधिकाधिक मात्रा में जो उत्पादन करता है उस पर मूल्यवृद्धि के सिद्धान्त कि श्रमिक के श्रम और स्वास्थ्य के अनुसार उसका भी अधिकार होना चाहिए। मानव सभ्यता का समस्त इतिहास शोषक वर्ग और शोषित वर्ग के संघर्ष की कहानी है जिसमें पहला युग दास प्रथा, दूसरा युग सामन्ती प्रथा, तीसरा युग पूंजीवादी व्यवस्था और चौथा युग साम्यवादी व्यवस्था है। यह चौथी व्यवस्था तभी सम्भव है जब उत्पादन के साधनों पर मजदूरों का पूरा अधिकार हो क्योंकि तभी वे उत्पादन का पूरा लाभ प्राप्त कर सकते हैं। मार्क्स के अनुसार, "साम्यवाद की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन के साधनों (जैसे भूमि, कारखाने, मशीनरी) पर मजदूरों का नियंत्रण हो। जब मजदूर उत्पादन के साधनों के मालिक होंगे, तो वे अपने श्रम का पूरा लाभ प्राप्त कर सकेंगे और शोषण से मुक्त हो जाएंगे।"1

चौथे युग की मार्क्स की इस साम्यवादी व्यवस्था का उद्देश्य समाज में आर्थिक स्तर पर समता की प्रतिष्ठा करना है। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु मार्क्स ने हिंसात्मक क्रान्ति का भी समर्थन किया है और यह हिंसात्मक क्रान्ति धर्म, ईश्वर और परलोक की सत्ता का विरोध करके ही संभव थी क्योंकि इन पर विश्वास रखने वाला मजदूर भाग्यवादी होगा और हिंसात्मक क्रान्ति के लिए तैयार नहीं होगा। जब छायावादी काव्य की स्वप्न जटिल आत्मा को जीवन की कठोर आवश्यकता (युग की वास्तविकता) ने झकझोर दिया तो पंत, निराला, दिनकर, नवीन आदि ने प्रगतिशील लेखन में अपना सक्रिय योगदान दिया। निराला अपनी कविताओं में वर्तमान के प्रति आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टि अपनातें हैं। वे शोषित-पीड़ितों की दीन दशा का कारूणिक चित्रण करते हैं। मजदूरों की दयनीय दशा को देखकर विचलित होते हुए उन्होंने कहा–

"ओ मजदूर ! ओ मजदूर !!

तू सब चीजों का कर्ता, तू ही सब चीजों से दूर।
तू चाहे तो पल में कर दे, इस दुनिया को चकनाचूर ।।"2

प्रगति के उपासक कवि निराला ने अपने समय की बंगाल का अकाल जैसी तात्कालिक समस्याओं की ओर आंखें खोलकर और उनका यथार्थ रूप उपस्थित कर समाज को जागृत करना चाहा है। उन्होंने अपनी एक कविता में बंगाल के अकाल का दुःखद स्थिति और एक दूसरी कविता में एक भिक्षुक की अभावग्रस्त स्थिति का यथार्थता चित्रण कर दिया है–

"बाप बेटा बेचता है, भूख से बेहाल होकर। धर्म धीरज प्राण खोकर,
हो रही अनरीति बर्बर।।

- - - - - -

वह आता, दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता"3

प्रगतिशील रचनाकार सामाजिक जीवन की विषमता को देखकर विचलित होता है और इसके लिए उत्तदायी शोषकों के विरूद्ध क्रान्ति की भावना भरता है। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन, बच्चन, धर्मवीर भारती, शमशेर बहादुर सिंह, रघुवीर सहाय, भारतभूषण अग्रवाल, मुक्तिबोध, अज्ञेय, धूमिल, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र आदि यथार्थवाद के आग्रही प्रगतिशील रचनाकार हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने तो अपनी अधिकांश कविताओं में पूंजीवाद एवं अधिनायक वाद से पीड़ित समाज का यथार्थ चित्रण किया है। 'युग की गंगा', 'खुली आँखे', 'पंख और पतवार', 'कहे केदार खरी खरी' नामक काव्य संग्रह की कविताओं में प्रगतिवादी स्वर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

केदारनाथ अग्रवाल ने ग्रामीण जीवन को उसके दुःखों व विपदाओं को निकट से देखा है इसीलिए उसका यथार्थपरक चित्रण किया है। केदार मानते है कि समाज में रहते हुए समाज के लिए जीने में ही जीवन का महत्व है। उनके कविता संग्रह 'हम जियें न जियें दोस्त' की एक कविता 'गांव की औरतें' में ग्रामीण परिवार की दीनता का मार्मिक चित्रण है। –

"गांवों की औरतें / गंदी कोठरियों में हांफती–
खांसती, खसोटती रूखे बाल
घिसती हैं जांता जटिलतर;
गांवों की औरतें / सूखा पिसान फांक फांककर
पीठ–पेट एक कर–हाड़ तोड़
मरती हैं पत्थर रगड़कर!!"4

नागार्जुन एक सच्चे यथार्थवादी एवं जनवादी रचनाकार हैं। उनको सही लगा, उसकी उन्होंने खुलकर वंदना की और जो घृणित लगा, उसकी उन्होंने भरपेट निंदा की। इनकी कविता का व्यंग्य कबीर की कविता के व्यंग्य की प्रतिस्पर्धा करता है। उनकी कविता का आधार श्रमिक वर्ग ही है। वे श्रमिक वर्ग के लिए युग का विष तक पीने को तैयार रहते हैं। शोषण व अत्याचार के अभिशाप को स्वयं झेलने वाले नागार्जुन ने दलितों और शोषितों के शोषण के ऐसे शब्दचित्र खीचें हैं कि उनका वह रूप चित्रण उनकी पूरी तकलीफ को जाहिर कर देता है। नागार्जुन अंधविश्वास को भी शोषण का एक कारण मानते हैं। 'प्यासी पथराई आँखें' काव्य संकलन की 'काली माई' कविता में उस पर प्रहार करते हैं–

"कितना खून पिया है, जाती नहीं खुमारी।
सुर्ख और लम्बी है, मइया जीभ तुम्हारी।।"5

त्रिलोचन शास्त्री की कविताओं में यथार्थ प्रेम, यथार्थ जीवन और यथार्थ प्रकृति की ओर मुड़कर व्यक्तिवादी रूझानों से मुक्त होने का प्रयत्न है। ग्रामीण जीवन की अभिव्यक्ति करना ही कवि त्रिलोचन का स्वच्छ सरल अनुभव है। 'धरती' संग्रह की कविताएं 'चम्पा काले अक्षर नहीं चीन्हती', 'एक पहल दिन आया होगा' आदि कविताएं जीवन में संघर्ष की प्रेरणा देने से कहीं ज्यादा हमें जीवन के सौन्दर्य का बोध कराती हैं। यह सौन्दर्य केवल प्रेम तक सीमित नहीं है वरन् उन सामान्य प्रयत्नों और अनुभूतियों के आलेख में भी है जो हमारे जीवन के यथार्थ परिवेश की उपज है। इनकी कवितायें व्यंग्य है पर इस व्यंग्य में कटुता के साथ साथ विकासशील जीवन की आवश्यताओं का समर्थन है–

"आप देखेंगें, सिर धुनेंगे अब।
सोचकर कोई पथ चुनेंगें अब।।
वे समाजवाद के नशे में हैं,
आपकी बात क्या सुनेंगे अब।।"6

त्रिलोचन अपनी कविताओं के द्वारा शहरी और देहाती गरीबों के बेहद करीब है। त्रिलोचन की कविता में दर्द बार-बार आता है पर यह दर्द पीड़ा देने की बजाय जिंदगी में हमें दूसरों से जोड़ता है, हमारी आत्मा को प्रसार देता है। इसी तरह अपने परिचितों को अपने यहाँ जगह न दे पाने की पीड़ा उनकी कविता 'रैन-बसैरा' में देखने को मिलती है–

"कमरा एक और रहने वाले तीन / पत्नी बच्चा और मैं /
चौथे की गुंजाइश यहां नहीं / मेरी अनकही चिन्ता
मेरी विभा बना दी।"7

संघर्षशील चेतना पूंजीपतियों और जमींदारों की नहीं बल्कि किसानों, मजदूरों और मध्य वर्ग के प्रबुद्ध अंश की चेतना है। वह समझौते अथवा हृदय परिवर्तन की नीति पर विश्वास नहीं करती वरन मोरचा लेने के लिए सदैव तैयार रहती है। मतलब है कि मनुष्य को अपने कर्मों से, अपने बलिदान से, अपने संघर्षों से अपनी पहचान बनानी चाहिए। हरिवंश राय बच्चन ने अपनी कविता "उठ समय से मोर्चा ले" में बताते हैं कि मनुष्य को आलस्य और कमजोरी छोड़कर, समय के साथ संघर्ष करना चाहिए। धूल से सने वस्त्र अच्छे नहीं लगते, बल्कि शरीर के रक्त से रंगे वस्त्र ही शोभा देते हैं–

"उठ समय से मोरचा ले।
धूल धूसर वस्त्र मानव देह पर फबते नही है,
देह के ही रक्त से तू देह के कपड़े रंगा ले।।"8

प्रगतिवादी रचनाकार अपनी मातृभूमि और उसके वासियों के साथ-साथ समस्त मानवता का उद्धार चाहता है। उसे दीन-दुखियों और पीड़ितों से प्यार है तो अत्याचारियों के प्रति रोष भी है। कवि नरेन्द्र शर्मा ने अपनी कविता "युग और मैं" में वर्तमान समय की दुनिया के विनाशकारी रुझानों पर चिंता व्यक्त की है। उनका मानना है कि चारों ओर विध्वंस हो रहा है और यह स्पष्ट नहीं है कि मानवता कब तक इस संकट से उबर पाएगी और कब तक सभी के सपने पूरे होंगे। निम्न पंक्तियों से यही भावना व्यक्त होती है–

"जाने कब तक घाव भरेंगें इस घायल मानवता के।
जाने कब तक सच्चे होंगे, सपने सबकी क्षमता के ।।"9

प्रगतिशील साहित्य की संवदेना के केन्द्र में आम आदमी की पीड़ा और तड़प की अभिव्यक्ति है। वास्तव में लघु मानव अपने जिंदगी को अर्थ देने के चक्कर में लगातार श्रम करता है। स्वतंत्र व्यक्तित्व का हिमायती यह लघु मानव जहाँ एक ओर अपने को समाज की रूढ़ियों में घिरा पाता है तो दूसरी ओर स्वयं को दीन-हीन, अकेला, पीड़ित और उपेक्षित समझता है। उपेक्षित और असहाय मानव की पीड़ा की अभिव्यक्ति सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही और मुक्तिबोध की कविताओं में नये-नये उपमानों, बिम्बों और भावों के साथ हुई। परिस्थिति और परिवेश ने श्रमशील मानव के श्रम की उपेक्षा करते हुए उसे कुचल कर छोड़ दिया है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता के केंद्र में विशिष्ट व्यक्ति न होकर आम आदमी रहा है। मामूली आदमी की पीड़ा के चित्र उनकी कविता में बहुत मिलते हैं–

"जिन्दगी को अर्थ देने के चक्कर में वह व्यर्थ हो गया है।
मंदिरों में झाड़ू लगाते और कीर्तन सभाओं की दरियां बिछाते-बिछाते
किसी भी काम के लिए वह असमर्थ हो गया है।"10

औद्योगिक विकास के साथ पारम्परिक जीवन मूल्यों और परिवारिक ढाँचे में आमूल चूल परिवर्तन हुए और उस परिवर्तन ने मानव को भावनात्मक स्तर पर लोभी बनाया। आदमी ने अपनी सुविधाओं के लिए जो यंत्र चालित हथियार बनाये हैं उनसे अब स्वयं घबराया हुआ है। कुँवर नारायण के शब्दों में 'पहियों और पंखों वाली इस बेसिर पैर की सभ्यता में' यह पता लगाना मुश्किल है कि आदमी मशीन को चला रहा है या मशीन आदमी को। मनुष्य की अपनी बनाई हुई आधुनिकता और तकनीकी प्रगति से उत्पन्न समस्याओं और चिंताओं ने उसको अपने ही हथियारों से घबराया मानव बना दिया है। एक रूपक है जो प्राचीन और आधुनिक, पारंपरिक और तकनीकी, धार्मिक और भौतिकवादी द्वंद्वों के बीच पत्थर का देव और लोहे का दानव बनकर संघर्ष कर रहा है। उनकी कविता कुछ यही बयान कर रही है–

"अपने ही हथियारों से घबराया मानव,
पत्थर का देव और लोहे का दानव।
यह युग,
अपनी ही ताकत से हारा मनुष्य,
अपने अतीत को दुहराता अंधा भविष्य।
यह सभ्यता,
लगी नाखूनों पर पालिश जैसे,
हम ठाठ फकीरी, बिकता जो पैसे-पैसे।"11

जनवादी चेतना के कवि धूमिल यह कहकर कि 'यूँ मैं कवि हूँ, आधुनिक हूँ, नया हूँ। काव्य तत्व की खोज में, कहाँ नहीं गया हूँ।' अपने आपको आधुनिक और प्रगतिशील होने की घोषणा करते हैं। धूमिल ने अपनी कविताओं में मोहभंग, व्यवस्था के प्रति आक्रोश, और सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों का यथार्थ चित्रण कर अपने प्रगतिशील और आधुनिक होने का परिचय दिया है। उनकी कविताएं व्यवस्था और सत्ता के चरित्र को बेनकाब करती हैं और आम आदमी की पीड़ा को आवाज देती हैं। वे इस समाज में सबको समान मानते हैं और बिना किसी संकोच व झिझक के स्पष्ट कहने में विश्वास रखते हैं–

"न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है,
मेरे लिए हर एक आदमी, एक जोड़ी जूता है।
जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है।"12

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आधुनिक हिन्दी काव्य में सन् 1936 के प्रगतिशील आन्दोलन के बाद यानी छायावादोत्तर हिन्दी कविता के समस्त वादों में सर्जना या यथार्थवादी आग्रह स्पष्टता परिलक्षित होता है जिसकी पृष्ठभूमि निराला ने तैयार कर दी थी। मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित प्रगतिशील कविता का यथार्थवादी आग्रह सामाजिक-आर्थिक विषमताओं, शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाने और एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना के लिए संघर्ष करने पर केंद्रित है। इसका उद्देश्य जनता को उनकी वास्तविक परिस्थितियों से अवगत कराना और उन्हें बेहतर भविष्य के लिए प्रेरित करना है। किसानों, मजदूरों, दलितों के रूप में लघु मानव की प्रतिष्ठा को आधुनिक साहित्य के इसी प्रगतिशील साहित्य में प्रतिष्ठापित किया गया है।

संदर्भ:–

1. रामविलास शर्मा– 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। पृ. सं. 29
2. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी– 'निराला और राग विराग', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। पृ. सं. 45
3. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी– 'निराला और राग विराग', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। पृ. सं. 45
4. सं. विश्वनाथ त्रिपाठी– 'केदारनाथ अग्रवाल' (संकलित रचनाएं), नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया नई दिल्ली। पृ. सं. 05
5. सं. नंदकिशोर नवल– 'नागार्जुन और उनकी कविता' भाग-2, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली। पृ. सं. 163
6. सं. विजय बहादुर सिंह– 'जन-कवि', राधा कृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली। पृ. सं. 165
7. सं. विजय बहादुर सिंह– 'जन-कवि', राधा कृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली। पृ. सं. 169
8. सं. गूगल बुक– ''हरिवंश राय बच्चन की कविताएं', भारतीय साहित्य संग्रह 2014.
9. नरेन्द्र शर्मा– 'युग और मैं(कविता संग्रह)' परितोष प्रकाशन, मुम्बई। पृ. सं. 36
10. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना– 'गर्म हवाएं'(कविता संग्रह) पृ. सं. 46
11. कुंवर नारायण – 'परिवेश: हम–तुम'(कविता संग्रह) राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली। पृ. सं. 57
12. डॉ. हुकुमचंद्र– 'समकालीन बोध और धूमिल का काव्य', राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली। पृ. सं. 49

*****

दलित समाज और उनकी आर्थिक स्थिति

- अतुल कुमार
हिन्दी विभाग
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर
मो.8683989791
ईमेल atul24alld@gmail.com

सारांश:

भारतीय समाज के गठन के फलस्वरूप अस्पृश्य व निम्न जातियों को न सिर्फ मानवीय गरिमा के साथ जीवन जीने के साधनों से वंचित कर दिया गया, बल्कि किसी भी तरह की चल या अचल सम्पत्ति रखना एक प्रकार से अपराध घोषित कर दिया गया। भारत के ग्रामीण क्षेत्र में दलितों के लिए ऐसी स्थिति बना दी गई कि वे अपनी आजीविका के लिए उच्च जातियों पर ही निर्भर रहने लगी। दलितों को सम्पत्ति एवं जमीन से पूरी तरह वंचित कर दिया गया। इस सम्बन्ध में ध्यान से देखा जाए तो अछूतों की सामाजिक तथा धार्मिक रूप से उपेक्षित और उत्पीड़ित किये जाने के पीछे मूल उद्देश्य उन्हें सत्ता व सम्पत्ति से बेदखल करना और उस पर कब्जा कर लेना ही रहा है। आज भूमण्डलीकृत विश्व व्यवस्था में कृषि एवं किसान स्वयं में अछूत हो गये हैं। इन अछूतों के बीच सामाजिक तौर पर अछूत जातियाँ किस स्थिति में होती, इसकी कल्पनामात्र ही की जा सकती है।

बीज शब्द: अस्पृश्य, कुटुम्बी, जमींदार, सामंत, मालगुजारी, भूमिहीन, अर्थव्यवस्था, प्रजातंत्र, बेगारी।

प्रस्तावना:

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलित समाज ने सदियों से शोषण और उत्पीड़न को भोगा है। उन्हें गुलाम बना लिया जाता था तथा कुछ को तो दास बनने पर मजबूर किया जाता था। भारत की सामाजिक संरचना के अनुसार दलितों का जन्म उच्च जाति के लोगों की सेवा करने के लिए हुआ है, "गाँव का सारा कारोबार व संस्कृति खेती-आधारित है, जिन वर्ग के पास जमीन का मालिकाना हक़ है वही वहाँ मुख्य शक्ति है बाकि सब उन पर निर्भर हैं। दलितों को साल भर अपने जानवरों का पेट भरने के लिए चारा लेने तथा अपना पेट भरने के लिए भू-स्वामियों पर निर्भर रहना पड़ता है जिस कारण भू-स्वामी वर्ग की समस्त शर्ते भी माननी पड़ती हैं।"[1] भारतीय ग्रामीण समाज की व्यवस्था आज भी कृषि आधारित है। दलितों के पास कृषि योग्य भूमि न होने के कारण उच्च जातियों के यहाँ मजदूरी या उधार न चुका पाने के कारण दास या गुलाम का जीवन जीने पर मजबूर है। भूमि का सामान वितरण हो जाता तो दलितों के पास भी आजीविका चलाने के कृषि योग्य भूमि भी मिल जाती, लेकिन उन्हें किसी भी प्रकार की सम्पत्ति (चल एवं अचल) में कोई भी हिस्सेदारी नहीं दी गई और सम्पत्ति पर कोई अधिकार भी नहीं दिया गया। अगर वह सम्पत्ति रखते भी हैं तो उच्च जातियों को यह पूरा अधिकार था कि उन्हें भूमि रखने के अधिकार से वंचित कर दें, वे सवर्णों की जमीन पर खेती करते रहे और कृषि के बाद अनाज पैदा होता, तो उसमें से उन्हें आजीविका चलाने के लिए सवर्णों द्वारा कुछ अनाज दे दिया जाता था। दलित समाज के पास इतना अनाज नहीं होता था कि वह अपने पूरा परिवार का पेटभर सके।

जिस समाज के सामने भोजन की दिक्कत हो वह समाज में सामाजिक और राजनैतिक स्थिति के विषय में सोच भी नहीं सकता है। भारतीय ग्रामीण व्यवस्था को देखे तो ज्यादा से ज्यादा शोषण जब दलित महिलाएँ या पुरुष खेत में मजदूरी करने जाती है तो उनका आर्थिक एवं शारीरिक शोषण होता है। "आर्थिक दृष्टि से इस युग की महत्वपूर्ण विशेषता है कृषि कार्य का आमतौर पर शूद्रों का व्यवसाय होना। ह्वेनसांग तथा इब्नखुर्दादब ने कृषि, शूद्रों का सामान्य व्यवसाय बताया है, वे कृषि का सम्बन्ध वैश्यों से नहीं बताते। व्यास, पाराशर और वेजयन्ती में एक

कृषक वर्ग का उल्लेख है जिन्हें कुटुम्बी कहा गया है। इन्हें शूद्रों के अन्तर्गत रखा गया है। एक और वर्ग 'कीनाश' का उल्लेख आता है। प्राचीन ग्रन्थों में कीनाश वैश्य है किन्तु 8वीं शताब्दी के नारद स्मृति के टीकाकार असहाय ने कीनाशों को शूद्र बतलाया है। इन किसानों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है - (1) स्वतन्त्र किसान (सम्भवतः कुटुम्बी इसी श्रेणीके थे) जो भूमि के स्वामी थे और राज्य को अनेक प्रकार के कर देते थे, (2) वे किसान जो बटाई पर खेती करते थे। इन्हें 'त्रयधसीरिन' या 'सीरिन' कहा गया है। इन्हें उपज का 1/3 या 1/4 भाग मिलता था। किसान मजदूरों को उपज का 1/10 से 1/4 भाग मिलता था। अधिकतर शूद्र कृषक इसी श्रेणी के थे आदिवासी कृषक वर्ग को हिन्दू समाज में समाविष्ट होने पर शूद्र वर्ण में रखा गया।"[2]

प्राचीन काल में दो प्रकार के किसान होते थे जिनका भूमि पर अधिकार होता था तथा दूसरे वो जो भूमि को बड़े किसानों से लेकर उस पर खेती करते थे। उनका उस पर कोई अधिकार नहीं होता था। उनसे लगान के रूप में उपज का अत्याधिक भाग लिया जाता था और लगान न देने की स्थिति में उनसे भूमि ले ली जाती थी। इस प्रकार देखते हैं कि शूद्रों को भूमि रखने का कोई अधिकार नहीं था जबकि वैश्य के पास भूमि रखने का अधिकार था। शूद्रों की आर्थिक स्थिति पर इसका प्रभाव पड़ता था। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भूमि जिस व्यक्ति के पास है वह अधिक समृद्ध माना जाता है लेकिन जिनके पास नहीं है उन्हें सामाजिक तौर पर निम्न माना जाता है और वह दूसरों के खेतों में मजदूरी करने के लिए विवश है।

मध्य कालीन समय में भी किसानों एवं दलितों की स्थिति में कोई सुधार नहीं देखने को मिलता है। "हमें उपलब्ध सूचनाओं से पता चलता है कि गाँवो में असमानता बहुत अधिक थी। जिस किसान के पास अपने हल-बैल नहीं होते थे, वह प्रायः जमींदारों या ऊँची जातियों की जमीन जोतता-बोता था और मुश्किल से निर्वाह कर पाता था। भूमिहीन किसान और मजदूर अकसर उस श्रेणी के होते थे, जिसे 'अछूत' या 'कमीन' कहा जाता था। कभी अकाल पड़ता और अकाल आम थे तो सबसे अधिक कष्ट किसानों की इसी श्रेणी को और ग्रामीण दस्तकारों को उठाना पड़ता था।"[3] दलित समाज के लोग कभी भी अनाजों का संग्रह नहीं कर पाते है जितना भी मजदूरी मिलाती थी उतने में परिवार की मूलभूत जरुरत पूरा करने में ही ख़त्म हो जाता था अगर अकाल या महामारी आती है तो सबसे ज्यादा यही जातियाँ प्रभावित होती हैं। बरसात के मौसम में भी दलित के लिए भोजन इकठ्ठा करना बहुत मुश्किल कार्य होता है। वर्तमान समय में कोरोना नामक महामारी जिस तरह से लोगों की नौकरी गई और आजीविका चलाने के लिए दूसरे साधन नहीं थे यह किसी से छिपा नहीं है। हमने देखा की शहर के लोग गाँव की तरफ रुख कर रहे और कह रहे कि गाँव में चलकर खेती करेगे, जिससे खाना तो मिलेगा। लेकिन जिस समाज के पास खेत ही नहीं है वह क्या करें?

मध्यकाल में भी शूद्रों को भूमिहीन रखा जाता है। जमींदारी व्यवस्था दिखने लगी थी। वह किसान से मालगुजारी लेते थे। जब तक किसान मालगुजारी देता तो खेती करने का अधिकार होता था अगर वह मालगुजारी नहीं देता है तो उसे भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। जमीन पर वंशानुगत अधिकार जमींदारों के पास होते थे। जमींदारों के ऊपर राजा होते थे जो इन पर नियन्त्रण रखते थे। इस काल में दास प्रथा भी देखने को मिलती थी। युद्ध में हारे या कर्ज न चुकाने की स्थिति में उन्हें दास के रूप में बेच दिया जाता था। अछूतों की अपेक्षा इनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था।

भारत में कम्पनीराज आ जाने के बाद उसने भूमि व्यवस्था में परिवर्तन किया और विदेश का कानून किसानों पर थोप दिया गया, "शुरू -शुरू में मालगुजारी तो बढ़ाई ही गई, उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण भूमि व्यवस्था में परिवर्तन किया गया। सबसे पहले अंग्रेजों ने बन्दोबस्त का नया तरीका निकाला और जो जमीन का मालिक था, उसकी रजिस्ट्री कराई। हिन्दुस्तान की अर्थव्यवस्था की चाल ढाल बिलकुल दूसरी थी। उसके ऊपर जबरदस्ती विलायत का कानूनी और आर्थिक ढांचा लादा गया। पहले राजा का अंश साल की पैदावार से लिया जाता था और पैदावार के अनुसार वह घटाया बढ़ाया जाता था। किसान पंचायती ढंग से खेती करते थे और वे मिलकर राजा को यह अंश देते थे। इसके बदले अब यह तय कर दिया गया कि नकदी रूपयों में इतनी मालगुजारी दी

जाएगी। साल में पैदावार चाहे जितनी हो, फसल अच्छी हो चाहे बुरी, खेती के लिए जमीन ज्यादा हो चाहे कम, खेती चाहे खुद किसान करे, चाहे जमींदार खेत उठा दे, साल में बँधी हुई मालगुजारी तो वसूल कर ही ली जाती थी।"[4]

अंग्रेजों ने कुछ परिवर्तनों के साथ विदेश की जमींदारी प्रथा को भारत में लागू कर दिया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के बाद यह पूरे उत्तर भारत में लागू कर दिया गया। पक्के बन्दोबस्त के बाद रैयतवारी प्रथा की शुरूआत मद्रास से हुई। इसकी शुरूआत 'सर टामस मुनरों' ने की। इसमें किसान के साथ सरकार सीधे ही बन्दोबस्त कर लेती थी जिसमें बिचौलिये की आवश्यकता नहीं होती थी। और सरकार को सीधे लगान प्राप्त हो जाता था। इस व्यवस्था की यह कमी थी कि इसमें उपज के अनुसार लगान न होकर भूमि पर लगान लगाया जाता था। जिससे अकाल एवं सूखा पड़ने पर किसान को लगान देनी होती थी जिस कारण यह व्यवस्था भी सफल नहीं हो सकी।

सन 1950 के बाद से भारत सरकार अंग्रेजों के समय के जमींदारी प्रथा को समाप्त करना और कृषकों को समान भूमि वितरण करना था। इसके लिए भारत सरकार ने कई कानूनी बनाये लेकिन दलितों के पास भूमि नहीं है। आदिवासी अपने जल, जंगल और जमीन के लिए आज भी संघर्षरत हैं। भूमि अधिग्रहण कानून 1894 ई0 में बनाया गया था जिसमें किसानों की जमीन ले ली जाती थी और उन्हें मुआवजा दिया जाता था। सर्वप्रथम 2013ई0 में इसको बदला गया और उसके साल भर बाद 2014ई0 में सरकार उसमें संशोधन चाह रही है। विकास के नाम पर सड़कों, सुरक्षा एवं अस्पताल के नाम पर जमीन अधिग्रहण किया जाता है। अगर दलितों, आदिवासियों की जमीन लेकर हम उन्हें झुग्गी, झोपड़ियों में भेजकर विकास कर रहे हैं तब तो विकास किसी एक वर्ग विशेष के लिए किया जा रहा है। भारत सरकार सभी को रोजगार नहीं दे सकती है तो जो किसानों के पास स्वरोजगार भी है उसे भी ले लेना चाहती है। नेतागण सत्ता में आने के बाद पूँजीपति के लिए कार्य करते हैं और अगर ये आन्दोलन करते हैं तो उन्हे कहा जाता है कि ये विकास विरोधी हैं जब भी जमीन अधिग्रहण किया जाता है तो किसान उसका मूल्य तय नहीं करता है। सरकार उनका मूल्य तय करती है। इसमें सरकार के बिचौलिये की भूमिका होती है गरीब, दलितों एवं आदिवासियों से जमीन लेकर यह पूँजीपतियों को जमीन दे देती है।

मार्क्सवादी विचारधारा वर्गविहीन आधारित समाज की बात करता है। लेकिन भारतीय समाज वर्ग के साथ-साथ जातियों में भी विभक्त है। इसकी मूल संरचना में जातीय है। "प्रश्न यह है कि कैसे वर्ग-संघर्ष के साथ जाति को भी खत्म किया जाए? जहां भारत में मजदूर वर्ग प्रमुखत: दलित और शूद्र जाति से आते हैं, यह जरूरी है कि यह दोनों मिलकर एक वर्ग बने। इसी प्रकार जाति का विनाश तभी संभव है जब दलित और निचले स्तर की शूद्र जातियां मिलकर सत्ता के सभी क्षेत्रों में कुछ जातियों के प्रभुत्व को चुनौती दें। वर्ग की धारणा आर्थिक शोषण पर आधारित है, जिसे भारतीय गांवों की अर्धसामंती व्यवस्था में सामाजिक श्रेणियाँ में अलग नहीं किया जा सकता। अतः यह जाति की अवधारणा से गुथी हुई है। लेकिन वर्ग-संघर्ष के पक्षकारों ने वर्ग को सीमित नजरों से देखा और जाति को पकड़ नहीं पाए जो भारतीय सर्वहारा की जिंदा हकीकत है।"[5] भारतीय सामाजिक संरचना जाति आधारित है, और जाति आधारित होने से आर्थिक शोषण की जो धारणा है उसको प्रबलता मिलती है। भारतीय समाज में वर्ग संघर्ष देखे तो सर्वहारा वर्ग ही दलित और शूद्र ही हैं, इसलिए भारतीय समाज के मूल केंद्र में जातीय है। इसलिए ज्योतिबा फुले और अंबेडकर ने वर्ग संघर्ष को न चुनकर जाति उन्मूलन को प्रमुखता दी। "लोकतंत्र के नाम पर सबसे ज्यादा दलित ही छला गया है। गांव की खेतिहर मजदूर दलित ही होते हैं। बेगारी प्रथा ने दलितों को और विपन्नता दी है। बेकार यानी बिना मूल्य का श्रम। दिन-भर मेहनत-मजदूरी करके भी शाम को भूखा रहे, यह अभिशाप नहीं तो और क्या है! यह आर्थिक शोषण भारती ग्राम-व्यवस्था का हिस्सा था। आज प्रजातंत्र के युग में भी सामंती व्यवस्था का खुला नृत्य गांव-कस्बों में होता है। इन सबसे भागकर दलित नगरों में आते रहे हैं जहां उन्हें सुरक्षा और रोजी-रोटी की गुंजाइश ज्यादा दिखाई पड़ती थी। कल कारखानों में मजदूर बनकर दलितों ने एक

नया जीवन शुरू किया।"[6] भारतीय ग्राम-व्यवस्था को देखें तो दलितों को खेतिहर मजदूर बनने पर मजबूर किया गया और उनका शारीरिक और आर्थिक शोषण भी किया गया। इन शोषणों के बावजूद भी उन्हें अपनी आजीविका चलाने भर के साधन उपलब्ध नहीं हो पाता है तो उन्होंने शहरों की ओर रुख किया और कल कारखानों में मजदूरी शुरू कर दी।

भारत देश को आर्थिक संपन्न देश गिना जाता है। भारत में संपदा की कोई कमी नहीं है लेकिन उसके असमान वितरण ने अमीर और गरीबी की ऐसी खाई है कि दो तिहाई आबादी गरीबी एवं लाचारी भरे जीवन जीने के लिए अभिशप्त हो गया है। "भारत गरीब लोगों का धनी देश था यानी भारत एक अमीर देश है, किंतु यहां के रहने वाले गरीब हैं। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। देश की संपत्ति (जल जंगल और जमीन) का समान वितरण भी नहीं हुआ। ये प्राकृतिक सम्पत्तियाँ कुछ लोगों की निजी संपत्ति बनी रही। आज भी असलियत यह है कि गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले कुल 48 प्रतिशत जनता के मुकाबले दलितों की आबादी का 70 प्रतिशत हिस्सा अति दरिद्रता की हालत में रहता है देश की आबादी का 16 फ़ीसदी रहने के बाद भी दलितों के पास कुल खेती योग्य जमीन का 1 प्रतिशत हिस्सा ही है। शूद्रों तथा अतिशूद्रों को एक षड्यंत्र के तहत कानून बनाकर गरीब एवं दरिद्र बनाया गया, जिसका परिणाम हुआ कि हजारों-हजार साल से यह वर्ग गरीबी बदहाली एवं गुलामी का जीवन जीने को मजबूर हुआ।"[7] भारतीय समाज को गरीब रहने के लिए भाग्य से जोड़ दिया गया जिससे यह समाज पूरी व्यवस्था को नहीं समझ सका और अपनी गरीबी का पूरा ठीकरा अपने भाग्य और किस्मत से जोड़ कर देखने लगा दूसरा कारण शिक्षा का है इस समाज को शिक्षा से भी वंचित किया गया। जिससे वह अपने हक और अधिकार की जानकारी न प्राप्त कर सके और उसके लिए संघर्ष न कर सके। "शूद्रों एवं अन्त्यजों के संपत्ति का स्वामित्व अधिकार छीन लेने पर उन्हें मजबूर होकर उपरोक्त तीन वर्णों की सेवा एवं बेगारी करने पर विवश होना पड़ा। हजारों- हजार साल से गाय, कुत्ते, बिल्ली, कौवे से भी हीन जीवन जीने को विवश होना पड़ा। शिक्षा एवं संपत्ति हीनता मनुष्य होने के सारे गुण एवं अधिकार छीन लेती है। शिक्षा एवं संपत्ति के बिना भी मनुष्य गुलाम बन जाता है। अपने मालिकों के लिए जीना उसकी मजबूरी होती है। गुलाम की कोई अपनी जिंदगी नहीं होती है।"[8]

निष्कर्ष:

दलित समाज को सर्वप्रथम शिक्षा और संपत्ति के अधिकार से वंचित कर दिया गया इससे उनके अंदर का जो मनुष्य बोध है उसको भी खत्म करने की पूरी की पूरी साजिश रची गई। इसी साजिश के तहत उन्हें गुलाम बनाया गया और अपने खेत-खलियान अपने घरों पर मजदूरी करने के लिए विवश किया गया। व्यक्ति के पास शिक्षा एवं संपत्ति नहीं है तो वह सामाजिक रुप से पिछड़ा हुआ दिखाई देता है। वर्तमान समय में भी दलितों, आदिवासियों एवं कृषकों का शोषण किया जा रहा है। उनके मना करने पर भूमि अधिग्रहण कर लिया जाता हैं जो कृषि योग्य भूमि होती है। वह भूमि अधिग्रहण के बाद उनके पास कुछ नहीं बचाता है तो ये समाज उनको मज़बूरी में मजदूर बना देता हैं। फिर पूँजीपतियों द्वारा इन्हीं की जमीन में कारखानें एवं फैक्ट्री लगाकर उन्हीं को मजदूर बनाकर इनका शोषण किया जाता है।

सन्दर्भ सूची:

1.चन्द्र, सुभाष. दलित आत्मकथाएं अनुभव से चिंतन. साहित्य उपक्रम. दिल्ली सं.2012. पृष्ठ-33.
2. झा, द्विजेन्द्र नारायण. श्रीमाली.कृष्णमोहन. प्राचीन भारत का इतिहास. हिंदी माध्यम कार्यान्वय
निदेशालय. दिल्ली विश्वविद्यालय. सं. द्वितीय. पृष्ठ-376.
3.चन्द्र, सतीश. मध्य कालीन भारत. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्. नई दिल्ली. सं.
प्रथम. पृष्ठ-291
4.दत्त, रजनी पाम. आज का भारत. (अनुवादक-रामविलास शर्मा). ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट
लिमिटेड. लक्ष्मीनगर. दिल्ली. सं. 2012. पृष्ठ-221.
5.तेलतुम्बडे, आनंद. जनवादी समाज और जाति का उन्मूलन. आधार प्रकाशन. पंचकूला. हरियाणा. सं.
2016. पृष्ठ-31.
6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. राधाकृष्ण प्रकाशन. दिल्ली. सं. 2014. पृष्ठ-
76-77
7.यादव, रामअवतार. दलित आत्मकथा दलित महाकाव्य. अमन प्रकाशन. कानपुर. सं. 2016. पृष्ठ-137
8. वही, पृष्ठ-138

संजीव की कहानियों में मध्यवर्गीय मानवीय संवेदना का यथार्थ

-प्रो. इंदु वीरेंद्रा
प्रोफेसर
हिंदी विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025
संपर्क-ivirendera@jmi.ac.in

संजीव 90 के दशक के महत्वपूर्ण साहित्यकारों में से एक हैं। उन्होंने अपने कथा साहित्य के माध्यम से आम जन की समस्याओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। वास्तव में वे एक संवेदनशील कथाकार हैं। उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों, अन्धविश्वासों, भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था, पूंजीपतियों के भ्रष्ट स्वरूप तथा आदिवासी जीवन की संस्कृति को अपनी कहानियों के माध्यम से उभारा है। संजीव राजेंद्र गौतम जी द्वारा लिए गए एक साक्षात्कार में बताते हैं कि वे अपनी कहानियों के माध्यम से किस प्रकार का समाज गढ़ना चाहते हैं? वे कहते हैं -

"मैं अपनी कहानियों के माध्यम से एक उचित समाज, एक सम्भावित समाज गढ़ना चाहता हूँ"[1]

समाज वास्तव में व्यक्तियों का एक समूह है। समाज किसी एक व्यक्ति से नहीं बनता अपितु व्यक्तियों के समूह से बनता है। समाज में रहकर ही व्यक्ति अपने जीवन का निर्वाह करता है तथा वह समाज के द्वारा ही मानवीय स्वरूप की उच्चता को प्राप्त कर अपनी एक विशिष्ट पहचान बना पाने में समर्थ होता है। व्यक्ति सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, विश्वासों आदि को समाज के द्वारा ही समझ पाता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य एवं समाज के बीच एक अटूट सम्बन्ध है तथा समाज के बिना व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। समाज में रहकर ही मनुष्य परिवार, शिक्षा एवं विवाह जैसी इकाइयों से जुड़ पाता है। जहाँ शिक्षा व्यक्ति में नवीनता उत्पन्न करती है वहीं परिवार व्यक्ति में उत्कृष्ट संस्कारों का बीजारोपण करता है। ये संस्कार ही व्यक्ति को एक मनुष्य बनाते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा ही व्यक्ति में संवेदना का जन्म होता है। एक संस्कारशील व्यक्ति में संवेदनाएं अधिक प्रखर रूप में विद्यमान रहती हैं। समाज में घटने वाली घटनाओं एवं दुःख का उस पर अधिक प्रभाव पड़ता है। वह किसी को दुःख में देख कर स्वयं दुखी हो जाता है। व्यक्ति समाज से किसी न किसी रूप में अपने को जुड़ा हुआ महसूस करता है, विशेष रूप से एक रचनाकार समाज से अधिक प्रभावित होता है।

धर्मवीर भारती सामाजिक संवेदना पर विचार करते हुए लिखते हैं, "व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों से जुड़ा होता है। सम्बन्धों की इस कड़ी को जोड़ने एवं मधुर बनाने का कार्य साहित्य करता है। साहित्य केवल कल्पना की उपज नहीं है। मनुष्य का महत्त्व एवं सामाजिक उपयोगिता इसी में है कि वह हमारी चेतना में बहुत गहरे उतर कर हमारी वृत्तियों का संस्कार करता है।"[2] भारती जी के इस कथन से स्पष्ट है कि साहित्य समाज का निर्माण करता है और खुद भी उसके प्रभाव से निर्मित होता है। उद्योग धन्धों का प्रतिनिधित्व करने वाले पूंजीपति लोग अपने कारखानों तथा कम्पनियों में निम्न वर्ग का आर्थिक शोषण करते हैं। आज पूंजीपतियों द्वारा नैतिक मूल्यों का पतन हो रहा है। 'हलफनामा' कहानी में सेठ मजदूरों के साथ अन्याय एवं शोषण करता है। सेठ कम्पनी में काम करने वाले मजदूरों पर अपना वर्चस्व जमाता है। वह उन्हें काम करते समय आपस में बात भी नहीं करने देता। वह उन पर कैमरे से निगरानी करता है। वह उनके मनोरंजन हेतु फिल्म दिखाता है लेकिन वे फिल्म देखते समय भी उसके डर से एक-दूसरे से बात नहीं करते थे। सेठ का विरोध करने का साहस किसी में नहीं था। वह कठपुतली की भाँति मजदूरों को अपने इशारों पर नचाता रहता था। हनीफ सेठ का विरोध करने का साहस करता है। वह कहता है-

"हमारा उधड़ापन तो आप देख लेंगे लेकिन आपका तो कहीं-कहीं उधड़ा है।इसे हम कैसे जान पायेंगे। क्या ये अच्छा नहीं होता कि हमारे साथ-साथ आप अपनी मोनिट्रिंग का अधिकार भी हमें ही दे देते।"

हनीफ के विरोध को सेठ बर्दाश्त नहीं कर पाता है। वह गुस्से से चिल्लाते हुए कहता है- "अबे अपनी ओकात तो पहचान तूने जुर्रत कैसे की मुझ से ऐसा सवाल करने की।"[4]

वहीं, 'गो-लोक' कहानी में सेठ घिन्न दास अपनी दानवीरता एवं विनम्रता का प्रदर्शन करता है परन्तु वास्तव में वह एक संवेदनहीन व्यक्ति है। वह जरूरतमन्दों की सहायता करने की जगह उनके साथ अत्याचार करता है। वह कारखाने में काम करने वाले मजदूरों से सामर्थ्य से अधिक काम करवा कर उनका उत्पीड़न करता है और वह उन्हें कभी भी स्थाई नहीं करता ताकि वह उन्हें अपने इशारों पर नचा सके। सेठ के शोषण से परेशान हो कर मजदूर सेठ के विरोध में स्थाई किए जाने के सम्बन्ध में आंदोलन कर देते हैं। शफीक सेठ से प्रश्न पूछते हुए कहता है- "हमको टेम्प्रेरी रखने का मतलब इसलिए न कि नौकरी जाने के डर से कभी चूँ तक न करें।"[5] मजदूरों के विरोध को दबाने के लिए सेठ चालाकी से छटनीकर 100 मजदूरों को स्थाईकर देता है जिसके कारण मजदूर आपस में लड़ने लगते हैं। सेठ के खिलाफ आवाज उठाने पर सेठ शफीक को बहुत पिटवाता है, जिसे संजीव इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "सेठ के आदमियों ने शफीक को इतना मारा कि वह लुन्ज हो गया।"[6]

भारत की आजादी के कई दशकों बाद भी ग्रामीण क्षेत्रों में किसान महाजनों के शोषण से मुक्त नहीं हो पाए हैं। वे परिस्थितियों से विवश होकर महाजनों से अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु ऋण लेते हैं, जैसे: तीज त्योहार, प्राकृतिक

आपदा, बीमारी आदि। ये ज्यादातर अज्ञानी एवं अशिक्षित होने के कारण कर्ज के दल-दल में फँस जाते हैं। समय पर कर्ज न देने पर महाजन किसानों का शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक शोषण करते हैं। किसान महाजनों के ऋण तले इतना दबा होता है कि उनके अनाज का पैसा महाजन हड़प लेते हैं और किसान अपनी विवशता के कारण दो वक्त का भोजन भी नहीं खा पाता। विमल महाजन किसानों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं- "कर्ज एक ऐसा मेहमान है जो एक बार आने पर जाने का नाम नहीं लेता।"[7]

संजीव अपनी कहानियों के माध्यम से महाजनों की अमानवीयता को अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं जिसे तीस साल का सफरनामा, सागर सीमान्त, दुश्मन आदि में देखा जा सकता है।

'तीस साल का सफरनामा' कहानी में संजीव महाजन नम्बरदार के भ्रष्ट स्वरूप को उभारते हैं जो पहले मजदूर होता है परन्तु बाद में महाजन बन जाता है। वह धोखे से किसानों की भूमि हड़प लेता है। चकबन्दी में सूरजा के साथ-साथ वह अन्य लोगों की जमीन भी हथिया लेता है और विरोध करने पर उनकी अन्य बची जमीनें भी वह अपने कब्जे में ले लेता है। किसान उससे कर्ज लेते हैं। कर्ज न चुका पाने के कारण वह उनकी जमीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। वह सूरजा जैसे किसानों के साथ दुर्व्यवहार कर उनका शारीरिक शोषण भी करता है। वह सूरजा को अपने बच्चे के लिए खीर ले जाने पर चाभुक से मारता है और उसे जेल में बन्द करवा देता है।

वहीं, 'सागर सीमान्त' कहानी में भी महाजन के क्रूर व्यवहार को देख सकते हैं। मछुआरे महाजन चटर्जी बाबू के अधीन रहकर कार्य करते हैं। वे प्रतिदिन मछलियाँ पकड़ कर लाते हैं परन्तु महाजन सारी मछलियाँ स्वयं रख लेता है और उन्हें एक भी नहीं देता। चटर्जी बाबू बहुत ही स्वार्थी हैं। वे मछुवारों को तूफान की चेतावनी मिलने के बावजूद भी समुद्र में जाने से नहीं रोकते जिससे कुछ लोग लापता भी हो जाते हैं परन्तु इसका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। संजीव महाजन चटर्जी बाबू की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं-

"समुद्र का मिजाज तो थोड़ा समझ भी लें मगर महाजन का मिजाज कभी समझ नहीं आता। यहाँ नावें चटर्जी बाबू की, जाल चटर्जी बाबू के। हम लोग क्या हैं? सिर्फ भाड़े के टट्टू। नाव भर-भर कर चाँदी- सी चमकती मछलियों की ढेर लदी आती और हमारे हिस्से क्या आता है छाई। गहरे पानी की मछली है महाजन। मछली के तेल से मछली तलने वाला।"[8]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि महाजन एक संवेदनहीन एवं लालची प्रवृत्ति का व्यक्ति है जो सिर्फ अपना हित सोचता है।

'दुश्मन' कहानी में भी महाजन की अमानवीयता परिलक्षित होती है। इस कहानी में सूदखोर भूलन सिंह गाँव के गरीब किसानों को सूद पर पैसा देकर उनका उत्पीड़न करते हैं। भूलन सिंह के पिता बहावल सिंह के सूद के दलदल से न तो दुर्गी के माता-पिता निकल पाए और न स्वयं दुर्गी ही। दुर्गी एक कारखाने में नौकरी करती है। अपने पिता के तीज-त्यौहार एवं शराब का कर्जा किश्तों में देती है। ढाई हजार में से सिर्फ 200 रुपये ही उसके हाथ में आते हैं। बाकी सभी महाजन छीन लेता है। सूद से राहत पाने के उद्देश्य से वह भूलन सिंह से यौन सम्बन्ध स्थापित करती है तथा उसे अपने पति के रूप में स्वीकार कर लेती है, परन्तु भूलन सिंह दुर्गी का शारीरिक शोषण कर उसे दारू में जहर देकर मार देता है और उसका प्राईवेट फंड तथा सर्विस आदि का सारा पैसा हड़प लेता है। संजीव इसे इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं- "ओकर प्रावेट फनड सर्विस का पैसा ऊ गो होना के ऊकन जगह पे नौकरी"[9]

'प्रेत मुक्ति' कहानी में मुखिया सभी गाँव वालों के साथ अन्याय करता है। वह चलित्तर मेहतो तथा अन्य लोगों से बहुत काम करवाता है परन्तु उन्हें उनके परिश्रम के अनुसार पैसे नहीं देता। हदबन्दी के समय भूमिहीनों को जो भूमि मिलती है मुखिया उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। वह नदी पर बाँध बना कर सारा पानी रोक लेता है और खेती करता है। पानी के अभाव में सभी गाँव वाले तड़फते रहते हैं। चलित्तर मेहतो उसके बाँध को काट देता है ताकि गाँव के लोग तथा मवेशी पानी पी सकें, परन्तु मुखिया का बेटा चलित्तर मेहतो को बाँध काटने के जुल्म में बाघ से मरवा देता है। इस तरह के शोषण के संदर्भ में विचार करते हुए संजीव लिखते हैं- "कोई भी समस्या एकाकी नहीं इस इलाके की। सूखी फसलें, सूखे इन्सान, मरियल मवेशी और इनका दयनीय परिवेश सिर्फ इस वजह से है कि जिनके पास पैसा और ताकत है उन्होंने इसे व्यक्तिगत सम्पत्ति बना रखा हुआ है।"[10]

'कदर' कहानी में भी संजीव जमींदार के दुर्व्यवहार को अभिव्यक्त करते हैं। कहानी में राय बली का अपना कोई खेत-खलियान नहीं है फिर भी उसका घर अनाज से भरा रहता था। वह बोधा को धान की वसूली के लिए भेजता था। सारा इलाका राय बली से डरता था। किसी की भी उसके समक्ष बोलने की हिम्मत नहीं होती थी। वह किसानों का इतना शोषण करता था कि अपनी पैदा की हुई फसल के बावजूद अभावों में जीवन व्यतीत करते थे। वह सारा अनाज उनसे वसूल कर लेता था और स्वयं सुखमय जीवन व्यतीत करता था, जिसे संजीव इस प्रकार अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं- "किसकी चीज किसके पेट में जाती है? एक तकदीर तुम्हारी है एक राम बली राय की उनके नाम पर एक दूर भी खेत नहीं लेकिन खलियान भरा पड़ा है धान के बोझ से। जिनके नाम खेत हैं उनके खेत में सियारिन रो रही है। वाह शंकर भगवान तुम्हारा भी न्याय गजब है।"[11]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामीण इलाकों में जमींदारों द्वारा शोषण आज भी हो रहा है। कृषक परिश्रम करके भी अपने परिवार का भरण-पोषण करने में असमर्थ हैं।

'पिशाच' कहानी में संजीव जमींदार के सामन्ती शोषण को उभारने का प्रयास करते हैं। कहानी में महातम बाबा तथा रामेश्वर नाम के दो पात्रों के माध्यम से उच्च वर्ग के अत्याचार को दर्शाया गया है। महातम बाबा गाँव वालों की भूमि को अपने कब्जे में ले लेते हैं और गाँव वालों से ही खेती करवाते हैं। वह स्त्रियों को भी अपनी हवस का शिकार बनाते हैं। गाँव में सभी लोग उनके विरोध में कुछ भी नहीं बोल पाते। गाँव का ही एक अन्य जमीदार रामेश्वर महातम बाबा की बीमारी का फायदा उठाकर उनकी तथा गाँव के अन्य लोगों की जमीन को चालाकी से हड़प लेता है। सभी लोग उससे परेशान हो जाते हैं। वह किसी को भी नहीं छोड़ता था। वह महातम बाबा के बेटे को अपना कार्य करवाने के लिए रख लेता है और बाबा के उपजाऊ खेत पर भी अपना आधिपत्य जमा लेता है जिसके कारण महातम बाबा तंग आकर हमेशा के लिए जनेऊ उतार देते हैं और किसी से

कुछ नहीं कहते, जिसे लेखक इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

"आज रामेश्वर ने जिस कल छल बल से बहुतेरे गरीब किसानों, मुसमातों और ग्राम समाजों की जमीन हड़पी है उसी विधि से बाबा की जमीन भी।"[12]

यह वर्ग समाज के बीच का हिस्सा होता है। जो समाज को अनुप्रस्थ रूप से विभाजित करता है। जिसमें कमोबेश एक ही रुतबे या ओहदे के लोग सम्मिलित होते हैं। जिनकी विशेष आर्थिक और सामाजिक स्थिति एवं प्रवृत्ति होती है। जो बहुधा उनकी आय, व्यवसाय, शिक्षा एवं वंश परम्परा से निर्धारित होती है। यह वर्ग स्थान, सामाजिक स्थिति आदि के आधार पर निर्धारित होता है।"[13]

इस कथन से स्पष्ट है कि मध्यवर्ग उच्च एवं निम्न वर्ग के बीच का वर्ग है। जिसका निर्धारण उसकी आय के आधार पर किया जा सकता है। वास्तव में इस वर्ग को समाज के बुद्धिजीवी वर्ग की संज्ञा दी जाती है।

मध्यवर्ग की स्थिति में स्वतंत्रता के पश्चात् से लेकर अब तक काफी परिवर्तन आया है। यह वर्ग प्रतिस्पर्धा की दौड़ में आगे निकलना चाहता है। यह दिखावे एवं अंधविश्वास को महत्व देता है। आगे बढ़ने की लालसा ने इसे स्वार्थी बना दिया है। जिसके कारण यह अपने तक ही सीमित रह गया है। इस वर्ग की प्रवृत्तियों का चित्रण हमें संजीव की कहानियों में देखने को मिलता है। उन्होंने मध्यवर्ग के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं जिन से मध्यवर्ग की स्थिति एवं संवेदनाओं को अभिव्यक्त किया जा सकता है। मध्यवर्ग से सम्बन्धित कहानियों में ब्लैक हॉल, नस्ल, निष्क्रमण, लोड शैडिंग, मरोड़ आदि प्रमुख हैं।

'ब्लैक हॉल' कहानी में लेखक मध्यवर्ग के दिखावे, महत्वाकांक्षाओं एवं प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति को उभारने का प्रयास करते हैं। इस कहानी की अलका एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की स्त्री है जो अपने पड़ोसी मिसेज अग्रवाल की भौतिक सुख-सुविधाओं को देख कर अपने घर में भी उसी तरह की सुख - सुविधाओं की मांग अपने पति से करती है अलका के माध्यम से संजीव आज के मध्यवर्ग की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं- "सुनो टीवी में एक से एक उम्दा चीजों का विज्ञापन रहता है। कितनी सुविधा हो जाती है उनसे। तुम जरा ट्राई करो न प्लीज।"[14]

मध्यवर्ग बहुत ही महत्वाकांक्षी होता है। वह उच्च वर्ग के समान उच्च बनना चाहता है। आज मध्यवर्गीय माता-पिता अपने बच्चों को अपने सपनों के आधार पर ढालना चाहते हैं। वे बच्चों की मर्जी जाने बिना ही उन पर अपने सपने थोप देते हैं, भले उसमें उनकी रुचि हो या न हो। हम इस तरह की स्थिति को ब्लैक हॉल कहानी में देख सकते हैं। इस कहानी में अलका मिसेज अग्रवाल के बेटे प्रताप के इंजीनियरिंग की परीक्षा में सफल होते देख अपने बेटे अंकुर को भी इंजीनियरिंग की पढ़ाई करवाना चाहती है। वह इंजीनियरिंग के ऐडमिशन टेस्ट के लिए अंकुर पर बहुत दबाव बनाती है। वह बार-बार उससे प्रश्न करती है। वह रात-रातजग कर पढ़ता है। फिर भी वह सब भूल जाता है क्योंकि उसके ऊपर अपनी बीएससी की परीक्षा तथा इंजीनियरिंग की परीक्षा के दबाव के साथ-साथ अपनी माँ के द्वारा परीक्षा में 100 अंक लाने का दबाव रहता है। माँ अलका की महत्वाकांक्षा को संजीव इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

"कितने स्लो चल रहे हो अंकुर ! जब तब तराशने बैठ जाती। कितना टफ कोमपिटिशन है मालूम डीयर आफ माई सन।"[15]

आज के दौर में महंगाई काफी बढ़ चुकी है। आज अच्छी शिक्षा प्राप्त करना भी मुश्किल होता जा रहा है क्योंकि शिक्षा भी बहुत महंगी हो गई है। जिसके पास पैसा है वह ही अपने बच्चों को अच्छे विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में पढ़ा सकता है। जिसके पास पैसा नहीं है उसके लिए यह आज एक बड़ी समस्या बन चुकी है। फिर भी निम्न मध्यवर्गीय परिवार के लोग अपने बच्चों को अच्छी से अच्छी शिक्षा देकर उन्हें उनके पैरों पर खड़ा करना चाहते हैं ताकि वे जीवन में खुश रह सकें। परन्तु माता-पिता के इतना शिक्षित करने के बावजूद बच्चों में भारतीय आदर्श एवं संस्कार धूमिल पड़ने लगे हैं। वे केवल अपने हित को ही महत्व देते हैं। यहाँ तक कि वह अपने परिवार को कुछ नहीं समझते। इस स्थिति को संजीव अपनी कहानी 'नस्ल' के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। कहानी में संजू को उसके पिता जमुना लाल बहुत संघर्षों से पढ़ाते हैं और वह सफल भी हो जाता है परन्तु नौकरी करने पर वह अपने परिवार को महत्व नहीं देता। वह घर में भी सीमित रूप में ही आता है। सभी रिश्तेदार उसकी सफलता के कारण उससे आशा रखते हैं। सबकी अभिलाषाएं उससे जुड़ी हुई होती हैं। वास्तव में वह बाजारीकरण के कारण एक ऐसी अन्धी दौड़ में शामिल हो गया है जहाँ भौतिक सुख-सुविधाएं तो हैं पर अपनापन नहीं है। कहानी में जमुनालाल संजू के परिवर्तित व्यवहार से बहुत दुखी होते हैं। वह उसे समझाते हुए कहते हैं- "तुमने किसी से कायदे से बात तक न की संजू। मुझे पता है तुम्हें इनके चेहरे तक देखना पसन्द नहीं पर हम क्या करें हमारी तो जड़ें इन्हीं में हैं।"[16]

बच्चे उनकी उम्मीदों पर खरे नहीं उतर रहे हैं। जिसके कारण परिवार में तनाव एवं घुटन का माहौल व्याप्त होता जा रहा है।

वहीं, 'धक्का' कहानी में भी सहाय दम्पत्ति अपने बेटे अजीत को अच्छी शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से बाहर पढ़ने भेजती है परन्तु अजीत उन्हीं माँ -बाप को विदेशी लड़की से विवाह करने के पश्चात् नहीं पूछता। वह तीज-त्यौहारों पर भी अपने घर नहीं आता जिसके कारण सहाय दम्पत्ति बहुत दुखी होते हैं बेटे का दुर्व्यवहार उन्हें अन्दर-ही-अन्दर तोड़ देता है, जिसे कहानी में इस प्रकार देख सकते हैं-

"उसके प्रेम विवाह से हमें कोई ऐतराज नहीं है। प्रेम विवाह के बाद उन्होंने घर ही आना छोड़ दिया है। होली, दिवाली तक नहीं आते। घर कैसे-कैसे तो बिखरता ही जा रहा है। उस लड़की को देखो जो 65वीं मंजिल से गिर रही है अपने बेटे से मुक्की खाकर"[17]

वास्तव में बदलते समय के साथ रिश्तों में आत्मीयता समाप्त होती जा रही है। पुत्र अपने माता- पिता की संवेदनाओं को नहीं समझ पाते। वे उन्हें अकेला छोड़कर स्वयं जीवन को खुशहाल बनाने में लगे रहते हैं। परिवार इसी तरह टूटते जा रहे हैं।

बाजारीकरण के कारण आज की युवा पीढ़ी केवल अपने तक ही सीमित होती जा रही है जिसका लाभ कुछ लोगों को ही मिल रहा है।' नस्ल' कहानी का संजू ग्लोबल कम्पनी के एक बहुत बड़े एक्जिक्युटिव के रूप में कार्य करता है पर ग्लोबल के शेयर अन्य कम्पनी खरीद लेती है ग्लोबल की असफलता का श्रेय संजू के ऊपर आ जाता है जिसके कारण संजू तनाव से ग्रस्त हो जाता है। जिससे उसके माता-पिता बहुत दुखी होते हैं।

जमुनालाल जी कहते हैं-

"जो प्रतिभा देश, जाति या दुनिया को अंधेरों से निजाद दिलाने या बेहतर बनाने में धन्य होती वह एक दो बनियों का व्यापार फैलाने में जुट गई।"[18]

मध्य वर्ग में आदर्श की भावना एवं आत्म सम्मान की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। जिसे संजीव की कहानी निष्क्रमण में देख सकते हैं। निष्क्रमण कहानी में सत्येंद्र बहुत आदर्शवादी है। वह बिना किसी छल-कपट के जिंदगी में आगे बढ़ना चाहता है। वह अपने पिता का मान रखते हुए बिना नौकरी के विवाह कर लेता है लेकिन नौकरी न होने की वजह से उसकी पत्नी उसे कोई महत्व नहीं देती। सत्येंद्र अपनी मेहनत से ही सब प्राप्त कर लेना चाहता है न कि किसी और के बल पर। वह जी तोड़ मेहनत करता है फिर भी उसे जो सफलता मिलनी चाहिए वह नहीं मिलती। जबकि उसका भाई प्रत्यूष उससे कम शिक्षित होने पर भी क्रिकेट के माध्यम से बहुत पैसा कमाता है पर वह अपने भाई की मदद के बिना ही अपने मुकाम को प्राप्त करना चाहता है। वह अपने आत्म सम्मान की रक्षा हेतु अपने भाई के बनाए हुए घर में नहीं रहना चाहता। उसके आत्म सम्मान की भावना हम इस प्रकार देख सकते हैं।

"हाँ बापूजी मैं प्रत्यूष का कारोबार नहीं देख पाऊंगा। मैंने उसे लिख दिया है। मैं अपनी आत्मा पर और पत्थर नहीं रख सकता। मैंने रातें जाग-जाग कर खून जला-जला कर सेहत की ऐसी की तैसी कर खुद को आपके आदर्श के मानदंड पर उतारने की कोशिश इसलिए नहीं की थी कि आप उस चरित्रहीन पराधीन बेटे के विजय रथ का सारथी बना दें।"[19]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मध्यवर्ग अपने आदर्श एवं आत्म सम्मान को विशेष महत्व देता है, जिसके आहत होने पर वह बहुत पश्चाताप करता है और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में अपना सब कुछ न्योछावर कर देता है।

'धावक' कहानी में भी भम्बल दा एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं जो बहुत ही आदर्शवादी एवं आत्म सम्मानी व्यक्ति हैं। वह अपने परिश्रम से सब कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, किसी अन्य के एहसान के आधार पर नहीं। इसे इस प्रकार देख सकते हैं-

"मुझे केवल अपनी योग्यता का रिटर्न चाहिए कोई अवार्ड नहीं। इतने सारे सहकर्मियों को लांघते हुए शीर्ष पर गलत ढंग से पहुँचने की महत्वाकांक्षा नहीं है मेरी।"[20]

'लोड शैडिंग' कहानी में आर्थिक संघर्ष के कारण पारिवारिक सम्बन्धों में तनाव, घुटन एवं ऊब की स्थिति को दिखाया गया है। कहानी में बड़े भाई पर अपने पूरे परिवार की जिम्मेदारी है। परिवार में कुल 6 सदस्य हैं। भैया पारिवारिक जरूरतों को पूरा करने के लिए ओवरटाईम ड्यूटी भी करते हैं फिर भी समस्या कम नहीं होती। इस कारण परिवार में तनाव बना रहता है। घर के सदस्य एक-दूसरे से अच्छे से बात तक नहीं करते। कथानायक आर्थिक स्थिति के कारण रिश्तों में आए बदलावों को इस प्रकार व्यक्त करता है- "दरअसल हम सम्बन्धों को जी नहीं रहे हैं, महज निभाए जा रहे हैं।"[21]

कहानी में भाभी आर्थिक परेशानी के कारण काफी तनाव में रहती हैं। बड़े भैया चिन्ता के कारण समय से पूर्व बूढ़े होते जा रहे हैं। यहाँ तक कि पति-पत्नी के सम्बन्धों में भी तनाव एवं घुटन व्याप्त होती जा रही है। वे दोनों किसी न किसी बात पर झगड़ते रहते हैं। भाभी पूरा दिन अकेले घर का काम करती हैं। अन्य कोई उनके काम में हाथ नहीं बँटवाता जिसके कारण भाभी और अधिक चिड़चिड़ी होती जा रही हैं। भाभी की झुंझलाहट को इस प्रकार देख सकते हैं- "तुम लोगों में से कोई क्यों सम्भालने लगा। सबका ही जरूरी काम है। मैं ही फालतू हूँ। "[22]

इससे स्पष्ट है कि भाभी की झुंझलाहट का मुख्य कारण शीला तथा उसके भाई की जिम्मेदारियों का वहन न करना था, जिनके कारण वह काफी तनाव में रहती थीं।

'मरोड़' कहानी में भी इसी तरह की परेशानियों को देख सकते हैं। कहानी में दीनानाथ एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं जो अपने परिवार का भरण-पोषण करने हेतु प्राथमिक विद्यालय में पढ़ाने के साथ- साथ ट्यूशन भी पढ़ाते हैं। परन्तु इसके बावजूद भी वह अपने परिवार को सुख-सुविधाएं उपलब्ध नहीं करवा पाते। आर्थिक परेशानियों के कारण पति-पत्नी दोनों में तनाव बना रहता है, जिसे संजीव इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं-

"तुम मास्टर होंगे सेठों के बच्चों के मेरे बच्चों के लिए तुम जल्लाद हो जल्लाद। मैं तो कहती हूँ छोड़ दो यह मास्टरी, जिसका इतना जागंर पेर कर भी पेट नहीं भरता। जब गुलामी ही करनी है तो रहीसों की चोंचलाबाजी काहे की और पेट तो हवा से भरेगा न।"[23]

मास्टर दीनानाथ के द्वारा ट्यूशन पढ़ाए हुए अन्य बच्चे मैट्रिक में प्रथम श्रेणी में पास हो जाते हैं परन्तु उनके स्वयं के बच्चे तृतीय श्रेणी में पास होते हैं जिसके कारण उन्हें बहुत दुःख होता है। वे अन्दर ही अन्दर टूट जाते हैं, जिसे इस प्रकार देख सकते हैं- "मैं कौन-सी विरासत छोड़े जा रहा हूँ अपनी।"[24]

संजीव 'कचरा' कहानी में पैसों के कारण बदलते पारिवारिक सम्बन्धों में आने वाले परिवर्तन को अभिव्यक्त करते हैं। कहानी में कथानायक के दोस्त के पुत्र प्रेम एवं प्राण दोनों ही रिश्तों से अधिक पैसे को महत्व देते हैं। वे अपने पिता को भी धन के आगे कुछ नहीं समझते। वे नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकते हैं। वे कथानायक से पैसे के सम्बन्ध में कहते हैं-

"बाप के पास तो बहुत हैं पर वह नहीं देगा, बिना पैसे के न कोई नौकरी मिल सकती है और न कोई बिजनेस किया जा सकता है। आप एक बार चल कर उनको समझाइए न, आखिर पैसे पर कुंडली मारकर क्यों बैठे हुए हैं।"[25]

अंततः इससे स्पष्ट हो जाता है कि आज सम्बन्धों में प्रेम समाप्त होता जा रहा है। प्रेम की जगह पैसे ने ले ली है। प्रेम और प्राण पैसे के लालच में इतने संवेदनशून्य हो जाते हैं कि वे अपने पिता को गला दबा कर मार देते हैं। वास्तव में संजीव हमें मध्यवर्गीय परिवारों के यथार्थ के सत्य से अवगत करवाते हैं

संदर्भ-ग्रंथ

1. कथाकार संजीव, गिरीश काशिद, पृष्ठ 77
2. सेवाराम यात्री के उपन्यासों में संवेदना और शिल्प, पृष्ठ 82
3. संजीव की कथा-यात्रा : तीसरा पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 55
4. यथोपरि, पृष्ठ 55
5. संजीव की कथा-यात्रा : पहला पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 375

6. यथोपरि, पृष्ठ 376
7. संजीव व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉक्टर रामचंद्र मारुती लोंढे, पृष्ठ 148
8. संजीव की कथा-यात्रा : दूसरा पड़ाव, संजीव की कथा-यात्रा : तीसरा पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 191
9. यथोपरि, पृष्ठ 337
10. संजीव की कथा-यात्रा : पहला पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 324
11. संजीव की कथा-यात्रा : दूसरा पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 169
12. संजीव की कथा-यात्रा : पहला पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 312
13. भारतीय मध्यवर्ग, डॉक्टर श्याम सुन्दर घोष, पृष्ठ 2
14. संजीव की कथा-यात्रा : दूसरा पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 256
15. यथोपरि, पृष्ठ 259
16. यथोपरि, पृष्ठ 342
17. संजीव की कथा-यात्रा : तीसरा पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 331
18. संजीव की कथा-यात्रा : दूसरा पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 354
19. यथोपरि, पृष्ठ 217
20. यथोपरि, पृष्ठ 195
21. संजीव की कथा-यात्रा : पहला पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 186
22. यथोपरि, पृष्ठ 190
23. यथोपरि, पृष्ठ 45
24. यथोपरि, पृष्ठ 46
25. संजीव की कथा-यात्रा : तीसरा पड़ाव, संजीव, पृष्ठ 218

शिवमंगल सिंह सुमन की कविताओं में राष्ट्रीयता के स्वर

-आरती कुमारी मिश्र
शोधार्थी
बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद

बीज शब्द : स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता, राष्ट्रप्रेमी, क्रांति, राष्ट्रवादी, विद्रोह, मुक्ति, विप्लव।

''हम पंछी उन्मुक्त गगन के,

पिंजर बद्ध न गा पाएँगे।

कनक तीलियों से टकराकर,

पुलकित पंख टूट जाएँगे।।''[1]

उन्मुक्त गगन के आजाद पंछी शिवमंगल सिंह सुमन ना तो स्वयं बंधन में रहना चाहते हैं और ना ही उनकी भावनाएँ किसी बंधन या वाद से बंधी हुई है। उनका मन जिस भाव में बह चला, वे उधर ही मुड़ गए फिर चाहे वह व्यक्तिगत प्रेम की सुखद भावना हो या देश की परिस्थिति के अनुरूप उदित होने वाला देश प्रेम का भाव। सुमन जी यदि स्वच्छंदतावादी थे तो वे राष्ट्रवादी भी कम नहीं थे। उनके काव्य में एक ओर प्रेम करुणा और रागमयता का भाव है तो दूसरी ओर अदम्य साहस, ओज, तेजस्विता एवं राष्ट्रीयता का स्वर भी मुखर है। उनके हृदय में व्याप्त राष्ट्रीयता की भावना उनकी कविताओं में स्पष्ट मुखरित होती हैं।

राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जो किसी व्यक्ति की उसके राष्ट्र के प्रति संवेदनशीलता को व्यक्त करती है। राष्ट्र के प्रति संवेदनशील व्यक्ति ही राष्ट्र की उन्नति और उसके सम्मान की रक्षा के लिए हर संभव प्रयास करता है। देश की सीमा पर प्राण न्यौछावर करने वाला सैनिक तो राष्ट्रीयता की भावना से. ओत–प्रोत होता ही है इसके अतिरिक्त भी यदि कोई व्यक्ति पूरी ईमानदारी और निष्ठा से अपने कार्य के द्व ारा देश के विकास और उसके सम्मान को बढ़ावा देता है तो वह राष्ट्र प्रेमी है। इस दृष्टि से तो प्रत्येक सजग कवि या रचनाकार तब राष्ट्रप्रेमी सिद्ध होता है जब उसकी रचना पाठकों के हृदय को राष्ट्रीयता की भावना से भर दे।

शिवमंगल सिंह सुमन की कविताओं में देश, काल और वातावरण के प्रति सजग मुखरता साफ झलकती है। सुमन जी के रचनाकाल में जब राष्ट्र के जन–जन के मन और रोम–रोम में तथा भारतीय मिट्टी के कण–कण में राष्ट्रीयता, स्वतंत्रता और अस्मिता की रक्षा के लिए सशक्त क्रांति की अदम्य आकांक्षा सर्वत्र अभिव्यक्त हो रही थी तो सुमन जी का हृदय इससे अछूता कैसे रह सकता था? सुमन ने अपनी कविता में भारतीयों को स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए प्रेरित किया–

''पैतीस कोटि, लड़के बच्चे, जिसके बल पर ललकार रहे।
वह पराधीन बन निज गृह में परदेशी की दुत्कार सहे।
कह दो मुझको अब सह्य नहीं मेरी माँ कहलाए चेरी।
लो, आज बज उठी रणभेरी।[2]

अंग्रेजों के विरुद्ध रणभेरी फूंकने की प्रेरणा देने वाले सुमन जी ने सक्रिय रूप से भी स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदारी देने वाले थे। सन 1930–31 में महात्मा गांधी के राष्ट्रव्यापी आह्वान पर उन्होंने आंदोलन में भाग लेना शुरू कर दिया था। नमक सत्याग्रह, दांडी मार्च आदि में भी सुमन जी ने सक्रिय भूमिका निभाई। सुमन जी खादी, तकली, करघा आदि से जुड़े आंदोलन में भी शामिल हुए। डॉ० सुमन मैट्रिक तक आते–आते सन 1932 में सशक्त क्रांतिकारियों की विचारधारा से भी प्रभावित हुए। कविता के

माध्यम से स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता का शंखनाद करने वाले कोमलवय कवि सुमन के मन में पर्याप्त राष्ट्रीय भावनाओं का उद्वेलन होना स्वाभाविक ही था। सुमन जी की कविताओं में व्यक्त उत्साह और वीरता का स्वर जन–जन के हृदय को उद्वेलित और प्रेरित करने की क्षमता से परिपूर्ण है–

''मेरे साथ प्रलय चलती है,
मैं हूँ लपटों का अधिकारी।
उर में ज्वालामुखी छिपाए,
उगल रहा हूँ मैं चिनगारी।''[3]

डॉ० सुमन की राष्ट्रीयतामूलक कविताएँ मात्र सहित्य सर्जना या शब्दजाल नहीं, भावावेश की मनोदशा की विस्फोटक अभिव्यक्ति नहीं अपितु उनकी सक्रिय सशरीर योगदान और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास का अभिन्न पक्ष, सशस्त्र क्रांति अथवा गरम दल के अभियान को परवान चढ़ाने का साक्षात सांकेतिक अभिलेख भी है। जब हमारा देश विदेशी आक्रमण से विवश होकर आत्मरक्षा और विश्व शांति के लिए युद्धरत था, तब डॉ० सुमन ने अपनी ओजस्वी वाणी में कई कविताओं का सृजन किया, 'फौलाद. दले, विजयदशमी, नया संवत्सर, नई तिथि, सिपाही का पत्र जैसी कविताएँ तत्कालीन समाज को देश सेवा और रक्षा की प्रेरणा देती है–

''अकर्मण्य भुजदंड हमारे,
क्या ढीले ही पड़े रहेंगे
और विवशता पर अपनी
हम मुँह बाए ही खड़े रहेंगे
सदियों से दासत्व और
अपमान सदा हमने झेला है,
;ह तो विप्लव की बेला है।''[4]

डॉ०सुमन की राष्ट्रवादी काव्य–चेतना का विस्तार स्वतंत्रतापूर्व एवं स्वतंत्रोत्तर युग तक फैला हुआ है। वास्तव में राष्ट्र केवल जनसाधारण का समूह भर नहीं है, राष्ट्र की भूमि और राष्ट्र की संस्कृति का समवेत रूप ही राष्ट्र की अवधारणा को पूर्णता प्रदान करता है। राष्ट्र के महापुरुषों और योद्धाओं के प्रति भी देश–प्रेम और श्रद्धा की भावना र खना भी राष्ट्र–प्रेम ही कहलाता है। डॉ० सुमन की प्रथम कृति 'हिल्लोल में संकलित राष्ट्रकवि गुप्त एवं भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति के अन्यतम पुरोधा जयशंकर प्रसाद के निध ान पर निकले शोकोद्वार वस्तुतः राष्ट्र की राष्ट्रीय पुरोधाओं की वंदना हीं है–

''कवि! तब प्रयाण की बेला में,
रोए जड़–चेतन साथ–साथ
से पड़ा विश्व–साहित्य आज,
रो पड़ी बाल–हिन्दी अनाथ,
मंजुल मुखरित कवि–वीणा के
सब अस्तव्यस्त हो गए तार,
असमय यह कैसा दुख भार ?[5]

उपर्युक्त पंक्तियों में यह स्पष्ट झलकता है कि जिसके हृदय में भारतीय साहित्य, भाषा और महान कवि के प्रति ऐसी गहन अनुभूति हो उसकी कविता राष्ट्रीय भावना से अछूती कैसे रह सकती है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीयता की भावना का अभ्युदय आधुनिक युग में ही माना जाता है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि भारतीय मनीषा की राष्ट्रीय भावना दो स्तरों पर पल्लवित पुष्पित हुई। पहला तो यह कि स्वतंत्रता–पूर्व वर्तमान भारत राष्ट्र की तरह नहीं था। यह तो देशी रियासतों में सीमाबद्ध था और इसलिए तत्कालीन राष्ट्रीयता विखंडित सी थी। यह बात अलग है कि अंग्रेजी शासन से मुक्ति की मांग अखिल भारतीय स्तर पर उठती थी। अंग्रेजी शासन देशी रियासतों के आपसी विद्वेष को भुनाकर कमी–कभी राष्ट्रीय स्तर पर पराकाष्ठा पर पहुँचे आंदोलन को भीतर से क्षत–विक्षत कर देता था। फलस्वरूप वैसे आंदोलन पूर्णतः आंदोलित होकर भी ठोस परिणाम दे पाने में चूक जाया करते थे। हिन्दी की राष्ट्रीय भावधारा के कवियों को इसका बोध था। अतः ये

विदेशी शासन के विरुद्ध कविता की चिंगारियाँ जलाया करते थे। वहीं, राष्ट्रीयता का दूसरा पक्ष समशीतोष्ण वातावरण में भारतमाता के अतीत की गौरव गाथा गाने में ही अपनी इति कर्तव्यता समझ लेता था। कभी हिमालय का गुणगान, तो कभी प्राकृतिक सुषमा का वर्णन तो कभी महापुरुषों की महानता का बखान आदि भी राष्ट्रीय मूलक कविताओं की श्रेणी में ही आता था। राष्ट्रीयता का तीसरा पक्ष आजादी के बाद के भारत का विकसित एवं सुखद पक्ष प्रस्तुत करना था, जिसका स्वप्न जनमानस ने देखा था जो आजादी के संघर्ष से जुड़ा था, परंतु स्थिति संतोषजनक नहीं थी, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद त्तो स्थितियाँ अत्यंत विकृत एवं विपरीत हो गई। कवियों ने अनुभव करना शुरू कर दिया कि आजादी के अगर यही मायने है, तो गुलामी के दिन तो इससे बेहतर थे। मोहभंग की इन मानसिकता से आक्रांत कवि ठगा सा महसूस करने लगा। मानसिक संत्रास ने उनमें अजीब सी उबाल पैदा कर दी और उसने राष्ट्रीयता के ताने–बाने को ही नकारना शुरू कर दिया और आंतरिक विप्लव की बात करने लगा।

डॉ०शिवमंगल सिंह की कविता में उपर्युक्त सभी स्थितियों की झलक मिलती है। उनकी लेखनी युग–धर्म के अनुरूप राष्ट्रीयता की बदलती हुई अवधारणा को अभिव्यक्ति देती रही। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि परिस्थितियाँ चाहे जो रही हो, डॉ० सुमन की राष्ट्रीयतामूलक अवधारणा अक्षुण्ण और अम्लान रही।

डॉ० सुमन की प्रायः सभी रचनाओं में देश प्रेम की छवि किसी–न–किसी रूप में उभर कर सामने आती है। 'हिल्लोल' डॉ० सुमन की प्रथम कृति है। स्वाभाविक है कि जिस वय में इन्होंने काव्य–सर्जना की उसमें राष्ट्रीयता संबंधी गूढ़ दर्शन के प्रौढ़ विवेचन की उम्मीद नहीं की जा सकती, किंतु फिर भी 'हिल्लोल' की कुछ कविताओं में देश की रक्षा के लिए आगे बढ़ने की प्रबल प्रेरणा का आभास होता है–

'' गति प्रबल पैरों में भरी

फिर क्यों रहूँ दर–दर खड़ा

जब आज मेरे सामने

है रास्ता इतना पड़ा

जब तक ना मंजिल पा सकूँ

तब तक मुझे ना विराम है

चलना हमारा काम है''[6]

वास्तव में जब तक सांसों में सांस है तथा पैरों में गति है तब तक आगे बढ़ते रहना चाहिए तथा राष्ट्र की प्रगति में योगदान देना चाहिए। डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन द्वारा रचित 'जीवन के गान में उपलब्ध राष्ट्रीयतामूलक कविताओं का विश्लेषण डॉ० पी० के० सुब्रमण्यन् ने तीन स्तरों पर करने की वकालत की है। उनके अनुसार कवि की तीन प्रवृत्तियों राष्ट्रीय मानी जाएँ। पहली प्रवृत्ति में वैसी कविताएँ स्थान पाती है, जिनमें लोगों से स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने को उद्‌बुद्ध किया गया है–

''आज संदेश स्वतंत्रता का

पहुँच गया सबके घर–घर है

किसमें कितना दम खम देखें

आज परीक्षा का अवसर है.

माँ का पूत वही जो अपने प्राणों से हंस–हंस खेला है

यह तो विप्लव की बेला है।''[7]

'जीवन के गान' संग्रह में उपर्युक्त कविता के अतिरिक्त विद्रोह करो, लो आज बज उठी रणभेरी, मजदूर किसानों बढ़े चलों, शीर्षक कविताएँ भी उल्लेखनीय हैं। 'पथ भूल न जाना पथिक कहीं शीर्षक कविता में कवि की राष्ट्रीय भावना द्रष्टव्य है–

''कुछ मस्तक कम पड़ते होंगे,

जब महाकाल की माला में।

माँ माँग रही होगी आहुति

जब स्वतंत्रता की ज्वाला में''[8]

प्रथम प्रवृत्ति के उदाहरणों से सुमन जी के समस्त

काव्य संकलन भरे पड़े हैं। कवि की राष्ट्रीयमूलक दूसरी प्रवृत्ति है– क्रांति की, निर्माण की। डॉ० सुमन ने जब देश और समाज की विषम स्थिति देखी तो उनका हृदय शांत ना रहा सका, क्रांति की ज्वाला धड़कने लगी और उन्होंने शोषितों और पीड़ितों को अन्याय के विरुद्ध क्रांति का बिगुल फूँकने के लिए प्रेरित किया। कवि की उत्कृष्ट आकांक्षा इन पंक्तियों में मुखर हैं–

''रक्तहीन विवर्ण रुखा
गाल पिचके अधर सूखा
;गों युगों का आज भूखा
देख लेना उलट देगा वह
समस्त समाज सुन रहे हो
क्रांति की आवाज ?''[9]

डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन जैसा सजग कवि देश में घटित होने वालीं घटनाओं से विमुख नहीं रह सकता था। सन् बयालीस में ''करो या मरो'' आंदोलन हो या फिर नाविक विद्रोह की घटना हो सब पर कवि की निगाहें हैं। नाविक विद्रोह के दौरान कवि ने स्पष्ट घोषणा की कि तोप और टैंको के बूते पर जनता को दबाया नहीं जा सकता। कवि ने स्पष्ट कहा कि हम वसुधा की ऐसी संताने हैं, जिन्होंने वामन की तरह तीन डगों में पूरी दुनिया रौंद देने की ठान ली है। कवि सुमन की राष्ट्रभावना की तीसरी प्रवृत्ति शोषितों, दलित, पीड़ितों के उद्धार की आवाज बुलंद करने की है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात लोकतंत्र की स्थापना के साथ स्वतंत्रता के मायने बदलते से दिखने लगे। स्वतंत्रता का अर्थ का मात्र भारतीय भूखंड की स्पष्ट सीमा रेखा निध ारिण करना और विदेशी सत्ता का विनिष्क्रमण ही नहीं है आपितु जनता की व्यक्तिक और सामाजिक स्वतंत्रता भी है। व्यक्ति की सोच और सामाजिक वातारण परिवेश ही स्वतंत्र न हो तो ऐसी स्वतंत्रता किस काम की ? स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जो निश्चित होकर निष्क्रिय रूप में बैठ गया था, उस जनसमूह को ललकारते और जागृत करते हुए सुमन का कवि मन कह उठता है–

''जितनी भी साँसें हर पथ के रोड़े बिनतीं,
हर साँस साँस की देनी होगी गिनती।
तुम इनको जोडो बैठ कहीं एकाकी
बेकार गई जो उनको कर दो बाकी।
जो शेष बचें उनका भी जान लगा लो,
जीवित रहने का सब अभिमान जगा लो।''[10]

डॉ० सुमन का देश प्रेमी मन, देश की जीर्ण और दयनीय दशा को देखकर शांत कैसे रह सकता था? देश को अंग्रेजों से तो आजादी मिल गई, लेकिन शोषण, पीड़ा, भूख, असमानता आदि की जंजीरों से मुक्ति नहीं मिल सकी। इस मुक्ति के लिए क्रांति की आवश्यकता थी और क्रांति के लिए सशक्त आह्वान की–

''चिर वेदना अभिभूत मैं
नव क्रांति का नवदूत मैं
होगा बदलना जीर्ण जग
यह एक आस ना खो सका''[11]

डॉ० सुमन जैसा सजग और युगद्रष्टा कवि ना तो कभी निराशा हो सकता था और ना ही समाज में निराशा और हताशा के बादल छाने दे सकता था। सच में निराशा और हताश होने से कभी भी मंजिल नहीं मिलती। मुक्ति के लिए संघर्ष और संघर्ष के लिए आशा और दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है। यदि देशवासी हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहते तो आजादी स्वप्न मात्र रह जाती। आजादी के पश्चात देश की दशा में सुधार नहीं होता यदि क्रांति की आवाज बुलंद न होती। डॉ० सुमन की विद्रोह करो, विद्रोह करो कविता मानव को क्रांति और विरोध के लिए जागृत करने में पूर्णतः सक्षम है–

''आओ विरोचित कर्म करो
मानव हो कुछ तो शर्म करो
यो कब तक संहते जाओगे
इस परवशता के जीवन से

विद्रोह करो, विद्रोह करो''[12]

डॉ० शिवमंगल सिंह सुमन की कविताएँ मात्र कहने को राष्ट्रीय चेतना से ओत–प्रोत नहीं थी अपितु उनमें राष्ट्र की वेदना और पीड़ा को दूर करने की भी क्षमता थी। कवि की भावना यदि राष्ट्र की भावना बन जाए तो उससे बड़ा राष्ट्रीय कवि कौन हो सकता है? जो राष्ट्र के उत्थान में सहायक राष्ट्र की समस्याओं का समाधान करें, परिस्थितियों को परिवर्तित करने के लिए क्रांति का संदेश दे, वह राष्ट्र प्रेमी है। डॉ० सुमन की 'जागरण' शीर्षक कविता उपर्युक्त कही गई बातों का साक्ष्य है–

;ह क्रांति क्रांति प्रतिध्वनि से,
क्यों गूंज उठी जगती सारी?
क्या सचमुच घर–घर सुलग गई,
नवनिर्माण की चिनगारी ?''[13]

निष्कर्षतः सुमन से सुकुमार मन के स्वामी डॉ० सुमन के हृदय में शोषक वर्ग के अत्याचार अन्याय और अमानवीयता और असमानता के विरुद्ध ऐसी ज्वाला धधक रही थी कि वह इन सभी को जलाकर भस्म कर देना चाहते थे। वह चाहते थे कि समाज और देश से सभी प्रकार की अराजकता को अन्याय को सर्वथा के लिए उन्मूलन हो जाए। तथा ऐसे समाज और देश का निर्माण हो, जहाँ की मुक्त हवा सभी के लिए हर्ष और उल्लास का संदेश लाए। डॉ० सुमन तत्कालीन देश की परिस्थितियों में तो सुधार करना ही चाहते थे, उनकी यह शुभेच्छा भी झलकती है कि भविष्य में भी देश की दशा कभी खराब ना हो। वर्तमान और भविष्य दोनों पर दृष्टि रखने वाले सुमन का मन और उनकी कविताएँ राष्ट्रीयता की भावना से ओत–प्रोत है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

१. सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'पर आँखे नही भरी, आत्मारात एण्ड संस,दिल्ली–1984,पृ०– 17

२.सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'सुमन संग्रह, भाग–1,वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–1984, पृ०– 9

३.सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'जीवन के गात', प्रदीप प्रेस, मुरादाबाद 1941, पृ०– 22

४.वहीं, पृ०– 45 4

५.सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'हिल्लोल, सरस्वती प्रेस, बनारस 1946, पृ०– 111

६.वहीं, पृ०– 37

७.सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'जीवन के गान', प्रदीप प्रेस, मुरादाबाद 1941, पृ०– 44, 45

८.वहीं, पृ०– 54

९.वहीं, पृ०– 117

१०.सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'पर आँखे नहीं भरी', आत्मारात एण्ड संस,दिल्ली–1984, पृ० 77

११.सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'सुमन संग्रह', भाग–1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1984,पृ०–90

१२.सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'जीवन के गान', प्रदीप प्रेस, मुरादाबाद 1941, पृ०– 110

१३.सुमन, डॉ० शिवमंगल सिंह, 'सुमन संग्रह, भाग–1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1984, पृ० 76

*****

Biological Basis in the Emergence and Development of Learning Disabilities: Understanding the Past and Shaping the Future

-Vidyasagar Maurya
Research Scholar,
IASE, Jamia Milia Islamia, New Delhi

Abstract

Learning disabilities (LD) are neurodevelopmental disorders that affect academic and social skills, stemming from biological, genetic, and neurological factors. This paper explores the biological basis of LD, analyzing genetic predispositions, neuroanatomy, and hormonal influences, and how these factors contribute to disabilities like dyslexia, dysgraphia, and dyscalculia. Environmental factors also interact with biological predispositions, creating a complex landscape for LD development. Through examining developmental challenges across childhood, adolescence, and adulthood, the study highlights the importance of early identification, supportive interventions, and a holistic approach to accommodate LD in educational settings. Models such as the medical, neurodevelopmental, and biopsychosocial approaches are reviewed, emphasizing the need for integrated methods in LD assessment and intervention. Furthermore, the paper reviews various theoretical models, including neurodevelopmental and biopsychosocial frameworks, to explore their effectiveness in identifying, assessing, and intervening in cases of LD. Emphasizing early identification and personalized educational support, this research underscores the need for a comprehensive, multidisciplinary approach to improve the academic and social outcomes of children with learning disabilities, enhancing their long-term educational journeys.

Keywords: Learning Disabilities, Neurodevelopmental Disorders, Genetic Influences, Educational Interventions

Introduction

Learning disabilities are neurodevelopmental disorders that hinder an individual's ability to learn, remember, or communicate information within an academic environment. These disabilities can affect skills like reading, writing, mathematics, and understanding. LD is a heterogeneous group of disorders of presumed neurological origin, developmental in nature, and manifesting differently across an individual's lifespan, with early signs including delays in speech, language, motor coordination, perception, reasoning, social interaction, and academic prerequisites(Debi Gartland, n.d.). According to Joseph and Devu (2022), the prevalence of learning disabilities among Indian children ranges from 2.16% to 30.77%, with a pooled prevalence of 10.70%. They found that specific learning disorders such as dyslexia, dysgraphia, and dyscalculia have prevalence rates of 6.20%, 6.30%, and 4.90%, respectively. These findings highlight the significant impact of learning disabilities on Indian children and underscore the need for targeted public health interventions.

Biological factors, including genetic influences, can significantly influence these disabilities. Genetic factors can impact cognitive processes and brain development, which in turn affect an individual's ability to learn and perform certain tasks. (Kovas et al., 2007). Thus, understanding learning disabilities involves considering both their neurodevelopmental impact and their biological and genetic foundations. Kovas et al (2007) found in their study that, despite modest

phenotypic stability in learning abilities between ages 7 and 10, genetic mediation accounted for a substantial portion of this stability, with 83% attributed to genetic factors. This suggests that genetic influences play a crucial role in maintaining stability in learning abilities over time. Similarly, the jill platko et al (2008) study suggests that specific genetic regions are associated with reading disabilities, reinforcing the idea that genetics play a critical role in learning challenges. This concept has been widely accepted in the literature since the earliest reports of reading difficulties, suggesting that both acquired reading disabilities (resulting from loss of function) and congenital reading disabilities (stemming from challenges in function acquisition) are linked to brain-related factors.(Grigorenko et al., 2020). Specifically, children who demonstrate learning disabilities during their elementary school years exhibit early biological vulnerabilities, such as a genetic liability for mild cognitive delays or low birth weight. (Lange et al., 2006). As these biologically vulnerable children begin to lag behind their peers, their interactions with the social world and modes of instruction systematically differ from those of their peers. This split underscores the complexity of factors contributing to the educational journey and the need for a multifaceted approach to educational policies and practices.

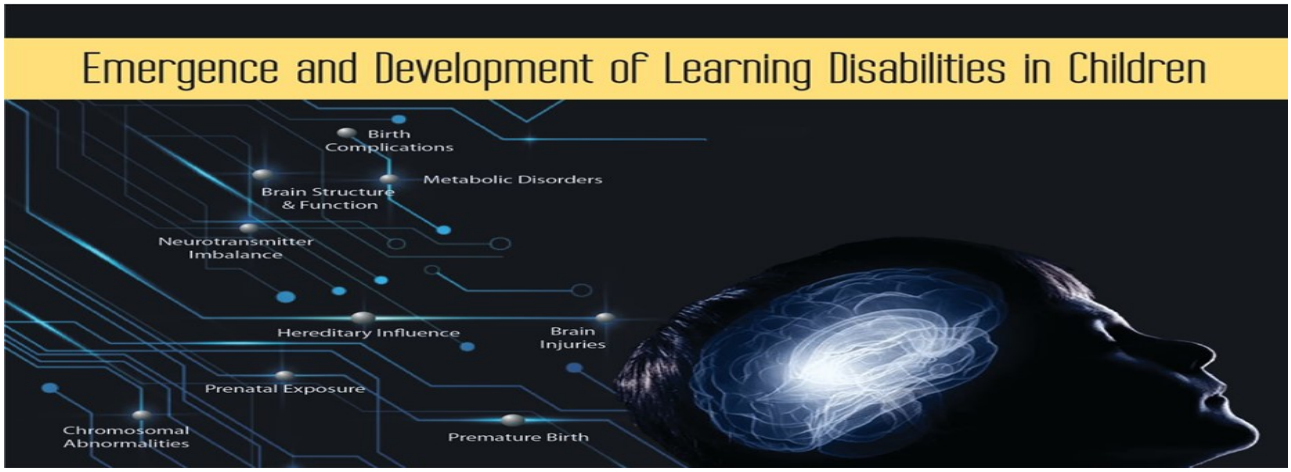
This conceptual article investigates the biological variables that contribute to children's learning disorders (LDs) and their impact on education. It aims to uncover genetic, neurological, and physiological implications of learning disabilities, assess their consequences on learning processes and success in school, and provide intervention and support options. The article explores how LD manifests at different stages of childhood, from early identification to challenges faced in education. It delves into environmental factors that might interact with biological variables in the emergence of LD. Additionally, it examines how brain development and neuroanatomy can be linked to LD, including areas like working memory, processing speed, and language centres. The article also discusses the influences of neurological conditions such as dyslexia, dysgraphia, and dyscalculia, which have biological underpinnings.

Biological Basis: Emergence and Development of Learning Disabilities

Here, we examine the interdependence of six factors contributing to the biological basis of cognitive difficulties, emphasising their intricate relationships. The biological basis of learning disabilities involves intricate relationships among genetic, neurobiological, prenatal and perinatal influences, biochemical, hormonal, and metabolic factors. These elements all contribute to the development and appearance of learning difficulties, emphasising the diverse nature of their causes and consequences. Understanding these relationships is critical for developing comprehensive ways to diagnose, treat, and support individuals with learning difficulties. According to Pennington et al., (1982), their study revealed that children with sex chromosome anomalies (SCA) are at an increased risk for learning problems and often require special education interventions in school. The study concludes that learning disabilities can have a genetic basis, although the exact biological mechanisms affecting cognitive development in these children remain unclear. Kulkarni et al., (2001) found that Perinatal issues and genetic predispositions have been identified as possible causes of LDs, with genetics being the most likely impact. According to the National Centre for Learning Disabilities (2014), factors such as alcohol or drug use during pregnancy can increase the risk of learning problems or disabilities in children. Environmental factors in infancy, such as poor nutrition or exposure to lead from water or paint, can also play a role. Furthermore, young

children who do not receive sufficient support for their intellectual development may exhibit signs of learning disabilities once they start school. Learning disabilities result from neurological damage that happens during fetal development. The resulting malformations are unique to each individual and differ from those caused by acquired neurological damage (Chase et al.,1996). In certain instances, individuals may acquire a learning disability later in life as a result of injury. Potential causes in such scenarios encompass conditions like dementia or traumatic brain injury. In children with developmental reading disorders, there's a consistent pattern of temporal lobe symmetry and left-sided anomalies in the frontosylvian cortex (Dune & D, 1989), suggesting embryonic origins unrelated to genetics or perinatal stress. These alterations may also impact attention, arithmetic, and nonverbal learning. Huang et al., (2016) identified numerous risk factors linked to learning disability. These include advanced maternal age, maternal black race, low maternal education, high parity, maternal alcohol and tobacco use, maternal diabetes, hypertension, epilepsy, and asthma, along with preterm birth, male sex, and low birth weight. Additionally, their meta-analysis highlighted ten prenatal, one perinatal, and two neonatal factors significantly associated with learning disability. It is demonstrated that the genetic and epigenetic networks play a significant role in intellectual disabilities (Parsamanesh et al.,2018). Learning disabilities are also associated with biochemical factors, particularly involving the metabolism of catecholamines such as noradrenaline and dopamine. These neurotransmitters play a crucial role in brain functions related to mood, emotional response, and arousal (Leary,1982). The identification of intellectual disability as a common feature among the inborn errors of metabolism underscores the direct connection between metabolic abnormalities and cognitive impairments. This correlation suggests potential avenues for understanding and addressing learning disabilities associated with these disorders (Karnebeek et al., 2012). Additionally, as highlighted by Huang et al. (2016), the disruption of thyroid hormone metabolism by PCBs and dioxins during crucial developmental stages further emphasizes the link between biochemical factors and learning disabilities. This interference is particularly significant during developmental stages crucial for brain development. Imbalances in thyroid hormone levels caused by these chemicals impede neuronal growth, synaptogenesis, and neurotransmitter function, potentially leading to learning and memory disorders later in life and affecting the educational journey.

Learning disabilities appear in diverse forms throughout childhood, affecting academic, social, and emotional growth. As children develop and encounter new challenges, the ways these disabilities present themselves evolve.



Source: Author, Figure No-1 Emergence and Development of Learning Disabilities in Children

In early childhood, learning disabilities may be challenging to identify, but they can encompass delays in speech and language development, difficulties with fine motor skills (Shapiro et al., 1984), trouble with basic concepts such as colours, shapes, or numbers, and problems following simple instructions. Most dyslexic children exhibited a phonological deficit, with 92.1% showing deficits in response accuracy, 84.8% in speed, and 79.3% in both (Saksida et al., 2016). Phonological awareness was a strong predictor of growth in early mathematics, regardless of the child's risk status for math difficulties or comorbid math and reading difficulties. This suggests that phonological awareness skills are important for early math development in pre-kindergarten children (Barnes et al., 2020) Pre-kindergarten children at high risk for math and reading difficulties exhibit lower cognitive abilities and early literacy skills (Barnes et al.,2020). These cognitive deficits are most severe in children at risk for both math and reading difficulties. Additionally, early math knowledge discrepancies exist but do not differentiate between risk groups, posing challenges for early identification. The stability of comorbidity as a predictor of future learning difficulties remains uncertain, emphasizing the need for targeted interventions. Along with these challenges, children with learning disabilities or at risk of developing them report more loneliness and less coherence, indicating possible social and emotional difficulties (Margalit, 1998). Furthermore, they may experience diminished acceptance from their nondisabled classmates, emphasising the significance of inclusive workplaces.

In elementary school, learning disabilities often become more apparent as academic demands intensify. Typical indicators include struggles with reading (dyslexia), writing (dysgraphia), and math (dyscalculia). Children with reading disorders face significant challenges. Struggling to develop reading fluency, they miss out on opportunities to practice reading connected discourse, spending more time on foundational skills like phonetic decoding, which puts them at a continuous disadvantage. Additionally, children may experience attention issues (ADHD), impacting their focus, task completion, and adherence to classroom routines. Socially, these children might find it challenging to make friends and understand social cues, and they may exhibit increased frustration or anxiety related to schoolwork. The development of learning disabilities in elementary school-aged children is influenced by a combination of genetic predispositions environmental factors (Kovas et al.,2007) and neurobiological changes. Genetic factors contribute significantly to the risk and stability of learning disabilities, (Pennington et al.,1982) while environmental factors and early biological vulnerabilities play crucial roles in their progression and variability. Understanding these interactions can inform more effective early identification and intervention strategies (Lange,2006).

As these students transition to middle school, the challenges associated with learning disabilities continue to evolve, making it essential to focus on their academic development in increasingly complex subjects like science. Understanding the challenges faced by middle school students with learning disabilities (LD) is crucial for promoting their academic success. Many students with LD struggle with articulating scientific concepts in writing due to neurological factors. It is essential to assess how their written explanations improve when provided with targeted instructional support. Additionally, comparing their progress to that of their peers without LD will help identify specific areas where further intervention may be necessary. Moreover, examining the relationship between enhanced writing skills and overall

comprehension of scientific content can inform the development of more effective educational strategies, ultimately ensuring that all students receive the support they need to thrive academically. This holistic approach underscores the importance of continued attention to the biological, environmental, and instructional factors that shape the academic trajectories of students with learning disabilities.

In middle school, the academic and social expectations rise. Students with learning disabilities may continue to struggle with reading, comprehension, written expression, and math. Kang & Kim (2019) revealed that 24.8% of students at a middle school had learning disabilities (LD). Of these, 8.5% had ongoing difficulties since elementary school, while 9.5% developed LD in middle school. Among late-onset cases, writing disabilities showed the highest overlap (25.5%), followed by math (13.6%) and reading (3.6%). In students with long-standing LD, 39.6% had overlapping difficulties in reading, writing, and math, with writing (24.1%) and math (21.4%) being the most common individual overlaps.

These findings underscore the necessity for middle school curricula to address the multifaceted needs of students with LD, particularly as they undergo significant cognitive, social, and emotional development. During adolescence, brain growth slows significantly around ages 12 to 14, a phase that coincides with key developmental milestones in Piaget's stages of cognitive development (Epstein and Toepfer,1978). This period of emerging adolescence is not just a time of physical and social change, but also one where emotional self-clarification becomes crucial. Educational strategies that focus solely on cognitive growth often fall short, as they neglect the intertwined nature of emotional and intellectual development during these years.

To truly support middle school students, especially those with LD, it is essential to create learning environments that integrate social and emotional development with cognitive learning. Experiences that enhance affective growth—such as building self-concept and emotional resilience—are proven to positively impact cognitive achievements. By acknowledging and addressing the holistic needs of adolescents, educators can help maximize cognitive growth and ensure that all students, particularly those with LD, are equipped to succeed academically and personally during these formative years.

In high school, students with learning disabilities often face significant academic pressures as they prepare for college and vocational training. During adolescence, the brain undergoes substantial neurodevelopmental changes that significantly affect cognitive functions, including memory, attention, and processing speed—key determinants of academic achievement. Genetic predispositions are central to the onset of learning disabilities (LD), influencing the maturation and efficiency of these cognitive abilities. Furthermore, neurobiological factors, such as variations in brain structure and function, contribute to specific challenges in areas like reading, writing, and mathematics. Environmental factors such as early childhood experiences and educational treatments combine with biological components to determine the developmental trajectory of individuals with learning disabilities (LD) as they go through high school. These environmental factors are important predictors of Specific Learning Disabilities (SLD) and occur at several levels of a child's ecosystem (Overvelde & Hulstijn, 2011; Grigorenko et al.,2020). They include cultural contexts, which are reflected in the global diversity of literacy and numeracy rates; socioeconomic strata, which highlight the disparities in economic conditions across cultures; and educational characteristics, such as pedagogical approaches and instructional practices.

Existing Models and Theory-Related Learning Disabilities

Over the past several decades, research on learning disabilities has evolved significantly. Early theoretical frameworks, particularly those developed in the 1960s, were subject to considerable critique for their limited conceptual scope and methodological flaws, which constrained their ability to elucidate the underlying causes of learning disabilities (Wong, 1979). In contrast, more contemporary research has identified a robust neurobiological foundation for learning disabilities, especially developmental dyslexia, as evidenced by genetic, neuroanatomical, electrophysiological, and neuropsychological investigations (Fiedorowicz et al., 2001). Neuropsychological models have since emerged as effective problem-solving frameworks for understanding specific reading disabilities in children (Leong, 1989). Nevertheless, despite these advancements, there remains a pressing need to revisit and critically examine existing theories, particularly in contexts such as India, where the empirical data on specific learning disabilities is limited. Ongoing research seeks to refine and enhance current models of assessment and intervention within the domain of specific learning disabilities.

The body of literature offers several models aimed at comprehending learning disabilities (LD) and their implications for both education and rehabilitation. Traditional medical frameworks often attribute the challenges to the individual, whereas more contemporary, post-modern perspectives incorporate wider social contexts into their understanding (Scruton & McNamara, 2015). The difference model introduces an affect-based framework, which shifts the focus away from assigning blame, and offers a novel approach to vocational rehabilitation (Breen & Forwell, 2020).

Medical Model of Learning Disabilities

The medical model of learning disabilities posits that learning difficulties are primarily the result of organic disorders, neurological dysfunctions, or genetic factors, with environmental influences acting upon biological systems. It suggests that medical consultation should precede educational interventions, focusing on the individual's impairments and proposing medical treatments to address these issues. (Massoumeh & Leila, 2012; Purdie, 2005). However, the model has faced criticism for overemphasizing biological causes, underestimating environmental and social factors, and failing to consistently provide effective educational outcomes. Critics argue that labelling students as "handicapped" diminishes their status and that constant medical intervention is unnecessary for most students with learning difficulties. Despite these criticisms, the model continues to hold influence, particularly in advocating for process training methods that emphasize sensory stimulation and neurological assessment. The Medical Model has been critiqued for its narrow focus on the individual's impairment, neglecting the societal and environmental factors that contribute to disability.

Neurodevelopmental Model of Disabilities

Neurodevelopmental model learning disabilities primarily result from the functioning of the brain and nervous system. It emphasizes that learning disabilities are linked to deviations in brain structure and function that impact cognitive processes essential for learning. These include conditions such as attention-deficit/hyperactivity disorder (ADHD), autism spectrum disorder, learning disabilities, intellectual disability, conduct disorders, cerebral palsy, and sensory impairments like vision and hearing loss. Children with neurodevelopmental disorders often face challenges in areas such as language, motor skills, behaviour, memory, and learning. While symptoms and behaviours may change as the child matures, some of these disabilities remain lifelong. Diagnosing and treating these disorders is complex, typically requir-

ing a combination of therapies, medication, and support programs in both home and school settings (Reijnders, 2019). However, the model has been criticized for its overemphasis on biological factors, often overlooking important social, emotional, and environmental influences. It can imply a deterministic view, suggesting that learning disabilities are fixed, thereby downplaying the potential for improvement through interventions. Additionally, it offers limited practical strategies for educators, focusing more on neurological explanations than on actionable classroom solutions. The model also risks stigmatizing students by framing them as inherently "different" and complicates diagnosis and treatment due to the complexity of genetic and neurological factors. Furthermore, it underestimates the role of cognitive strategies and emotional resilience in helping individuals manage learning difficulties.

Biopsychosocial Model of learning disabilities

The Biopsychosocial Model of learning disabilities integrates biological, psychological, and social factors to explain these conditions. It posits that learning disabilities arise from a combination of genetic predispositions, neurological anomalies, cognitive processes, emotional states, and environmental influences. This model emphasizes the interaction between these factors and their collective impact on learning, advocating for a comprehensive approach to diagnosis and intervention that considers the whole person rather than focusing on a single aspect. However, the Biopsychosocial Model faces several criticisms. Its complexity can make it challenging to identify specific causal factors due to its broad scope. This integrative approach may result in difficulties in developing targeted interventions, as it requires balancing multiple domains of influence. Additionally, the model's emphasis on the interaction between various factors can sometimes dilute focus from critical individual components, complicating addressing specific issues effectively. Critics also argue that the model may lack practical guidance for educators and practitioners, who often need more concrete strategies for addressing learning disabilities in the classroom.

Cognitive Processing Models of Learning Disabilities

The Cognitive Processing Model emphasizes the unique information processing methods of individuals with learning disabilities (LDs) compared to their typically developing peers. It highlights deficits in cognitive functions, including memory, attention, and auditory/visual processing. Notably, the phonological deficit theory links dyslexia to challenges in processing phonemes, significantly affecting reading and decoding skills. Additionally, working memory theory identifies impairments in holding and manipulating information, which impacts learning and problem-solving tasks. Processing speed is another aspect, as individuals with LDs often experience slower information processing, complicating tasks requiring quick responses. Research indicates that cognitive processing deficits are crucial for identifying and understanding LDs, with studies showing significant differences between students with LDs and their typically achieving counterparts (Johnson et al., 2010). These differences support the use of cognitive processing assessments in evaluating learning disabilities (Johnson, 2014). The PASS (Planning, Attention, Simultaneous, Successive) cognitive processing model effectively predicts reading difficulties, particularly emphasizing successive processing as a key predictor of reading performance among students with LDs (Naglieri & Reardon, 1993). Furthermore, working memory and general cognitive processes (g) are essential predictors of reading comprehension and the ability to decode pseudowords in students with LDs (Swanson & Al-

exander, 1997).

However, the model has faced several criticisms. The Cognitive Processing Model (CPM) for identifying LDs has faced scrutiny despite its longstanding inclusion in LD definitions. Proponents argue that CPM reflects the neurological basis of LDs and distinguishes them from other learning difficulties (Johnson, 2014), yet critics highlight several issues. The model lacks consistent implementation and fails to differentiate LD students from low achievers (Dean & Burns, 2002). Additionally, there is insufficient research supporting its instructional validity (Dean & Burns, 2002). The patterns of strengths and weaknesses (PSW) approach, a variant of CPM, also lacks psychometric and conceptual integrity (McGill et al., 2016). Critics argue that the model may overemphasize cognitive deficits while neglecting emotional, social, and environmental factors that influence learning. Furthermore, it tends to overlook emotional and behavioral dimensions, such as anxiety and motivation, which significantly impact academic performance. Methodological limitations in supporting studies, the static portrayal of cognitive processes, and the need for integration with other theoretical frameworks are additional concerns. Earlier criticisms of process-based models, which assumed that learning depended on underlying psychological processes, echo these challenges (Jacobs, 1984). Despite these issues, some researchers advocate for combined models that incorporate both responses to intervention and comprehensive cognitive evaluations as best practices for LD identification (Johnson, 2014).

Behavioural Model of Learning Disabilities

The behavioural model sees learning deficits as learnt behaviours caused by an individual's interaction with their surroundings. According to this approach, learning difficulties are caused by insufficient reinforcement or learning chances. These behaviours are generally excessive, persistent, and socially inappropriate (for example, unwelcome sexual advances or damage to school property). Furthermore, they have a negative impact on school performance and cannot be explained by other evident variables like health issues or transitory family upheavals. The behavioural model method has been used to improve understanding and treatment of learning difficulties. Schiller and Deignan (1969) modified Osgood's Generalised Behavioural Model to diagnose and treat learning impairments. Treiber and Lahey (1983) emphasised the importance of behavioural technology in direct instruction for children with learning difficulties, emphasising the necessity for additional study into its long-term usefulness. Carroll (1963) provided a conceptual model of school learning variables that incorporated many behavioural principles into a coherent framework. Furthermore, Shaywitz et al. (1995) considered reading problems to be on a continuum of ability rather than different categories, but attention-deficit/hyperactivity disorder (ADHD) is seen as a discrete behavioural disease that may coexist with learning disabilities. The behavioural model provides a useful foundation for designing interventions and understanding the complex factors influencing academic success in children with learning disabilities.

Despite its achievements, the behavioural model has been criticised for focussing solely on visible behaviours, perhaps ignoring underlying cognitive or neurological processes that contribute to learning impairments. By focusing solely on exterior behaviours, the model may fail to address internal factors, such as brain function or cognitive processing deficiencies, which play an important role in the development and presentation of learning difficulties. This critique emphasises the importance of a more com-

plete approach to understanding and treating learning disorders, one that considers both behavioural and neurocognitive issues. Poplin (1988) criticizes behavioral models for their reductionistic approach, arguing that by focusing narrowly on observable behaviors, they overlook the complex cognitive and emotional aspects of learning disabilities, which limits their effectiveness in addressing these challenges.

Response to Intervention (RTI) Model for Learning Disabilities

Response to Intervention (RTI) is a tiered instructional framework designed for the early identification and support of students with learning disabilities. It provides interventions at increasing levels of intensity based on the student's needs, offering an alternative to traditional IQ-discrepancy models (Çakıroğlu, 2015; Hughes & Dexter, 2011). Rather than waiting for a significant academic discrepancy, the RTI model emphasizes early identification and provides interventions as soon as learning difficulties are detected. The RTI model involves multiple tiers of intervention, with students' responses to these interventions measured to determine further steps (Marston, 2005). This framework emphasizes early intervention in general education settings and can be implemented through Standard Protocol or Problem-Solving approaches.

While RTI focuses on early support, critics argue that it can be resource-intensive, and there's ongoing debate about how well it distinguishes between learning disabilities and other factors affecting learning (Kavale, 2005; Kavale, Holdnack, & Mostert, 2005). Additionally, some critics contend that the RTI model lacks a firm evidence base and that many fundamental issues remain unresolved, making it premature to adopt it as a primary method for identifying learning disabilities (Fletcher & Vaughn, 2009; Reynolds & Shaywitz, 2009). Collaboration between general and special education is essential for effective implementation (Murawski & Hughes, 2009).

Multifactorial Theory of Learning Disabilities

The Multifactorial Theory of Learning Disabilities posits that these conditions result from complex interactions between genetic, neurological, cognitive, environmental, and social factors (O'Brien & Yeatman, 2019, 2021; Surushkina et al., 2021). Genetic factors acknowledge the hereditary nature of disabilities (Rabindran & Madanagopal, 2020). such as dyslexia or ADHD, while neurological factors focus on brain structure and neurodevelopmental differences. Cognitive impairments in processes like memory, attention, and language further contribute, and environmental influences, such as socio-economic status, parental involvement, and educational resources, can exacerbate these challenges. The interaction of these factors, rather than any single factor, results in learning disabilities, with external conditions potentially amplifying the effects of genetic predispositions. Additionally, learning disabilities are associated with an increased risk of delinquency due to the interplay between specific learning disability elements and psychosocial correlates of delinquency (Brier, 1989). The impact of these disabilities on a child's development depends on how well their unique abilities and learning styles match the educational environment (Smith, 1985). Research has identified five primary factors contributing to learning disabilities, with multiple direct and indirect influences on student performance (Kavale & Nye, 1991). The heterogeneous nature of learning disabilities suggests parallels to other multifactorial conditions, such as mental retardation and hypertension, and genetic and epidemiological approaches may help distinguish between constitutional and environmental contributors (Childs & Finucci, 1979).

The theory is criticized for its lack of specificity, offering a broad framework without clear guidance for diagnosing or treating learning disabilities. The inclusion of multiple variables complicates diagnosis, making it harder to pinpoint the primary cause. Critics argue that learning disabilities result from a combination of visual, auditory, and phonological processing issues, not a single core deficit (O'Brien & Yeatman, 2021). Methodological concerns include the poor validation of diagnostic tests and the unproven reliance on neurological dysfunctions (Coles, 1989). Additionally, the theory may overemphasize external factors while overlooking cognitive and cultural contexts (Revuelta & Hernández, 2021). While the Multifactorial Theory of Learning Disabilities attempts to give a complete framework, its criticisms highlight important gaps in understanding the interaction of cognitive, social, and environmental components in learning difficulties. This emphasises the importance of a more integrative strategy that takes into account a variety of factors in learning.

Phonological Deficit Theory (PDT)

The Phonological Deficit Theory (PDT) of learning disabilities, particularly dyslexia, posits that difficulties in phonological processing are central to reading challenges (Share, 2021). This theory emphasizes that phonological deficits manifest early in language development (Adel & Saleh, 2021) and significantly impact reading acquisition, affecting both lexical and sublexical processing stages. In essence, the PDT asserts that impairments in phonological processing are the core cause of reading difficulties, suggesting that these deficits hinder an individual's ability to decode written language effectively. By focusing on the phonological aspects of reading, the theory provides a framework for understanding the specific challenges faced by individuals with dyslexia and underscores the importance of early intervention strategies that target these foundational skills. Understanding phonological deficits allows for early diagnosis and targeted interventions, potentially preventing reading failure (Torgesen,2018).

While widely accepted, the theory faces criticism for potential circularity and oversimplification (Zoccolotti, 2022). Critics argue that by attributing reading difficulties solely to phonological processing deficits, the PDT may overlook the complexity of dyslexia and its interaction with other cognitive processes. Proponents of an expanded understanding argue that phonological deficits extend beyond phonemic awareness, manifesting in deeper spoken-language impairments that can be detectable even at birth (Share, 2021). Furthermore, evidence suggests that these deficits may reflect higher-level language weaknesses rather than merely low-level auditory impairments (Snowling, 2001). This critique highlights the need for a more nuanced approach to understanding learning disabilities, acknowledging the interplay of various cognitive, linguistic, and environmental factors in the reading process. Some researchers propose a more comprehensive view, considering phonological awareness, short-term memory, and rapid naming as part of a broader information processing problem (Caylak, 2010). Despite ongoing debates, the PDT remains influential in dyslexia research and intervention strategies.

Dual Coding Theory (DCT)

The Dual Coding Theory (DCT) suggests that learning disabilities, especially in reading, can be analyzed through the interaction of verbal and nonverbal cognitive processes (Sadoski, 2005). Integrating visual and verbal information improves retention, especially for learners with high spatial ability (Mayer & Sims, 1994). Visual aids can improve their understanding and retention of vocabulary (Clark & Paiv-

io, 1991). In computer-based assisted learning, different presentation formats (such as text alone, text with diagrams, or diagrams with voice-over) can greatly influence information recall and retention (Alty, 2002) and improve learning attitudes and effectiveness among students, including those with learning disabilities (Liu et al., 2020). According to this theory, optimal learning happens when both verbal and nonverbal codes are employed, which can be especially advantageous for students facing learning disabilities.

Dual Coding Theory (DCT) has been subject to critique and reassessment in several studies (Paivio, 2013). Criticism of DCT centres on its limited explanation of cognitive processes, particularly in handling abstract concepts and emotional language. Key criticisms include the oversimplification of cognitive processes, limited applicability across diverse learners and information types, alignment with discredited learning styles, neglect of other sensory modalities, and concerns regarding cognitive overload when excessive visual and verbal information is presented simultaneously.

Multiple Brain Network Theory

The Multiple Brain Network Theory of Learning Disabilities asserts that reading difficulties, like dyslexia, are dependent on strong connections between functionally specialized regions within a larger reading network supporting orthographic and phonological processing (Gullick and Booth 2014; Younger et al.,2017; Koyama et al.2013; Yeatman et al. 2011; Finn et al. 2006; Edwards et al.2018) result from a typical brain network configurations rather than isolated regional deficits, emphasizing the interconnectedness of brain areas in the reading process, including abnormal functioning in hub regions that integrate information across multiple networks, which impacts reading skills (Bailey et al., 2018). The Multiple Brain Network Theory posits that learning processes involve several interconnected brain networks, including the Default Mode Network (DMN), Salience Network (SN), and Central Executive Network (CEN) (Ryali et al., 2016). These networks play vital roles in memory retrieval, attention, and higher-level cognitive functions, respectively complex interactions involved in human learning (Mattar & Bassett, 2019). Learning difficulties can arise from dysfunctions within these networks, where impairments in one network may disrupt the functioning of others. Additionally, individuals with learning disabilities may exhibit unique patterns of neural dysfunction, affecting their learning strategies. The developmental perspective highlights the importance of network maturation, suggesting that atypical development during critical periods can impact cognitive functions.

Discussion

It has been theorized that the biological and cognitive factors underlying learning disabilities (LD) may also contribute to challenges in social cognition, leading to difficulties in peer interactions and social problem-solving. Children with LD often struggle to process and understand information in academic contexts, and these challenges extend to social situations, where learning is rarely explicit and requires a nuanced interpretation of social cues and perspectives. This difficulty in comprehending social information may explain why children with LD often struggle with understanding other viewpoints and resolving conflicts in ways that align with social norms.

Another critical area impacted in children with LD is language, which is foundational for social perspective-taking and communication. Language functions as a tool to exchange meaning, interpret social cues,

and communicate intentions. Without well-developed language skills, children with LD may find it challenging to attribute meaning to social situations, form accurate mental representations, and express their perspectives to others effectively. For example, the inability to accurately convey intentions in a socially acceptable manner can lead to misunderstandings and conflicts, as a child with LD may inadvertently act in ways that reflect an incomplete or erroneous interpretation of a social situation. Children with LD may exhibit behavioral responses to the social conflict based on their interpretation of events, which, due to language deficits, may be incomplete or inaccurate. These responses often reflect an immature approach to social problem-solving, as they lack the skill to integrate multiple perspectives in a developmentally appropriate way. This difficulty in coordinating social viewpoints often hinders peer relationships, leading to isolation or rejection from peers.

Implications for Practice

In addition to theoretical insights, this article provides practical recommendations for supporting children with learning disabilities (LD) in educational settings. Recognizing that LDs are shaped by complex biological, genetic, and neurodevelopmental factors, assessments should not be limited to observable academic deficiencies alone but should also encompass neurocognitive, social, and emotional dimensions. Such a comprehensive approach is crucial, as LDs, including dyslexia, dysgraphia, and dyscalculia, often involve cognitive processing challenges rooted in brain structure and function. Early identification and intervention are essential, especially when these learning difficulties intersect with social and emotional challenges that can exacerbate academic struggles and impact overall development. For practical applications, a biopsychosocial model can be beneficial, as it emphasizes the role of holistic interventions tailored to each child's unique biological and psychological needs. Intervention strategies should thus combine cognitive skill-building with social-emotional support, fostering resilience and peer relationships to help mitigate the impact of LD on self-worth and social development. Evidence suggests that inclusive classroom environments that promote social skills and emotional well-being may offer a protective factor for children with LD, enhancing their academic engagement and overall well-being. Furthermore, considering the neurodevelopmental basis of LDs, educational professionals should integrate strategies that address working memory, processing speed, and phonological skills, particularly for early intervention in reading and mathematics. Given the heterogeneity of LDs, instructional frameworks like the Response to Intervention (RTI) model can be adapted to monitor students' responses to tiered support, allowing for timely adjustments that match the child's evolving needs.

Conclusion

The findings highlight the importance of a multidisciplinary approach that incorporates biological, psychological, and social factors to support children with learning disabilities. By addressing these dimensions, educational systems can create more inclusive and supportive learning environments, helping children with LD achieve better academic, social, and emotional outcomes. The exploration of learning disabilities (LD) through theoretical and model-based perspectives underscores the multifaceted nature of these neurodevelopmental disorders. Models such as the neurodevelopmental, biopsychosocial, and cognitive processing frameworks provide unique insights into how biological, genetic, cognitive, and environmental factors interact to shape LD. The neurodevelopmental model emphasizes the role of neurological and genetic influences, highlighting the im-

pact of brain structure and function in cognitive challenges associated with LD. The biopsychosocial model broadens this view by incorporating social and emotional factors, stressing the importance of a holistic approach to support the varied needs of individuals with LD. The findings affirm that learning disabilities are multifactorial and deeply rooted in biological, genetic, and environmental factors. Understanding LD requires a holistic approach that considers genetic predispositions, neuroanatomical differences, and early environmental conditions. Addressing LD necessitates a comprehensive framework that includes early identification, tailored interventions, and continuous support, integrating insights from the neurodevelopmental, cognitive, and behavioral models. Educators, policymakers, and healthcare providers must collaborate to foster inclusive educational practices that accommodate individual needs, ensuring that students with LD are equipped to thrive in academic and social settings. This integrative approach has the potential to enhance outcomes and promote resilience among individuals with learning disabilities, ultimately supporting their lifelong learning journey.

References

R., & Madanagopal, D. (2020). Etiology, Pathophysiology and Diagnosis of Learning Disability. *Scholars Journal of Applied Medical Sciences*, *8*(9), 2106–2112. https://doi.org/10.36347/sjams.2020.v08i09.025

Abdulaziz Al-Mahrezi, Al-Mahrezi, A., Amna Al-Futaisi, Al-Futaisi, A., Watfa Al-Mamari, & Al-Mamari, W. (2016). Learning Disabilities: Opportunities and challenges in Oman. *Sultan Qaboos University Medical Journal*, *16*(2), 129–131. https://doi.org/10.18295/squmj.2016.16.02.001

Adel, A., & Mahmoud Saleh, M. (2022). Phonological Deficit Traits in Verbal Language of Dyslexics. In S. Misciagna (Ed.), *Learning Disabilities—Neurobiology, Assessment, Clinical Features and Treatments*. IntechOpen. https://doi.org/10.5772/intechopen.99871

Amanda Saksida, Amanda Saksida, Saksida, A., Stéphanie Iannuzzi, Iannuzzi, S., Caroline Bogliotti, Bogliotti, C., Yves Chaix, Chaix, Y., Jean-François Démonet, Démonet, J.-F., Laure Bricout, Bricout, L., C. Billard, Billard, C., Marie-Ange Nguyen-Morel, Nguyen-Morel, M.-A., Marie-France Le Heuzey, Le Heuzey, M.-F., … Ramus, F. (2016). Phonological skills, visual attention span, and visual stress in developmental dyslexia. *Developmental Psychology*, *52*(10), 1503–1516. https://doi.org/10.1037/dev0000184

Barnes, M. A., Clemens, N. H., Fall, A.-M., Roberts, G., Klein, A., Starkey, P., McCandliss, B., Zucker, T., & Flynn, K. (2020). Cognitive predictors of difficulties in math and reading in pre-kindergarten children at high risk for learning disabilities. *Journal of Educational Psychology*, *112*(4), 685–700. https://doi.org/10.1037/edu0000404

Brier, N. (1989). The Relationship Between Learning Disability and Delinquency: A Review and Reappraisal. *Journal of Learning Disabilities*, *22*(9), 546–553. https://doi.org/10.1177/002221948902200906

Bruce F. Pennington, Pennington, B. F., Bruce G. Bender, Bender, B. G., Mary Puck, Puck, M., James A. Salbenblatt, Salbenblatt, J. A., Arthur Robinson, & Robinson, A. (1982). Learning disabilities in children with sex chromosome anomalies. *Child Development*, *53*(5), 1182–1192. https://doi.org/10.1111/j.1467-8624.1982.tb04155.x

Bruce K. Shapiro, Shapiro, B. K., Frederick B. Palmer, Frederick B. Palmer, Palmer, F. B., Renee C. Wachtel, Wachtel, R. C., Wachtel, R. C., Arnold J. Capute, & Capute, A. J. (1984). Issues in the early identification of specific learning disability. *Journal of Developmental and Behavioral Pediatrics*, *5*(1), 15–20. https://doi.org/10.1097/00004703-198402000-00004

Carroll, J. B. (1963). A Model of School Learning. *Teachers College Record*, *64*(8), 1–9. https://

doi.org/10.1177/016146816306400801

Caylak, D. E. (2010). The Studies about Phonological Deficit Theory in Children with Developmental Dyslexia: Review. *Neuroscience International*, *1*(1), 1–12. https://doi.org/10.3844/amjnsp.2010.1.12

Childs, B., & Finucci, J. M. (1979). The genetics of learning disabilities. *Ciba Foundation Symposium*, *66*, 359–376. https://doi.org/10.1002/9780470720486.ch15

Christopher Chase, Chase, C. H., & Christopher Chase. (1996). Neurobiology of learning disabilities. *Seminars in Speech and Language*, *17*(3), 173–181. https://doi.org/10.1055/s-2008-1064097

Clara van Karnebeek, van Karnebeek, C. D. M., Sylvia Stöckler, & Stockler, S. (2012). Treatable inborn errors of metabolism causing intellectual disability: A systematic literature review. *Molecular Genetics and Metabolism*, *105*(3), 368–381. https://doi.org/10.1016/j.ymgme.2011.11.191

Coles. (1989). Excerpts From The Learning Mystique A Critical Look at "Learning Disabilities." *Journal of Learning Disabilities*, *22*(5), 267–273. https://doi.org/10.1177/002221948902200502

Cuevas, J., & Dawson, B. L. (2018). A test of two alternative cognitive processing models: Learning styles and dual coding. *Theory and Research in Education*, *16*(1), 40–64. https://doi.org/10.1177/1477878517731450

Daniel P. Hallahan, & Hallahan, D. P. (1992). Some Thoughts on Why the Prevalence of Learning Disabilities Has Increased. *Journal of Learning Disabilities*, *25*(8), 523–528. https://doi.org/10.1177/002221949202500806

Debi Gartland. (n.d.). Learning Disabilities and Young Children: Identification and Intervention. *Learning Disability Quarterly*. https://doi.org/10.2307/30035516

Drake D. Duane, & Duane, D. D. (1989). Neurobiological correlates of learning disorders. *Journal of the American Academy of Child and Adolescent Psychiatry*, *28*(3), 314–318. https://doi.org/10.1097/00004583-198905000-00002

Edwards, E. S., Burke, K., Booth, J. R., & McNorgan, C. (2018). Dyslexia on a continuum: A complex network approach. *PLOS ONE*, *13*(12), e0208923. https://doi.org/10.1371/journal.pone.0208923

Elena L. Grigorenko, Grigorenko, E. L., Donald L. Compton, Compton, D. L., Lynn S. Fuchs, Fuchs, L. S., Richard K. Wagner, Wagner, R. K., Erik G. Willcutt, Willcutt, E. G., Jack M. Fletcher, Fletcher, J. M., & Fletcher, J. M. (2020). Understanding, Educating, and Supporting Children With Specific Learning Disabilities: 50 Years of Science and Practice. *American Psychologist*, *75*(1), 37–51. https://doi.org/10.1037/amp0000452

Epstein, H. T., & Toepfer, C. F. (n.d.). A Neuroscience Basis for Reorganizing Middle Grades Education. *Educational Leadership*.

Erbeli, F., Hart, S. A., & Taylor, J. (2019). Genetic and Environmental Influences on Achievement Outcomes Based on Family History of Learning Disabilities Status. *Journal of Learning Disabilities*, *52*(2), 135–145. https://doi.org/10.1177/0022219418775116

Grigorenko, E. L., Compton, D. L., Fuchs, L. S., Wagner, R. K., Willcutt, E. G., & Fletcher, J. M. (2020). Understanding, educating, and supporting children with specific learning disabilities: 50 years of science and practice. *American Psychologist*, *75*(1), 37–51. https://doi.org/10.1037/amp0000452

Gullick, M. M., & Booth, J. R. (2014a). Individual Differences in Crossmodal Brain Activity Predict Arcuate Fasciculus Connectivity in Developing Readers. *Journal of Cognitive Neuroscience*, *26*(7), 1331–1346. https://doi.org/10.1162/jocn_a_00581

Gullick, M. M., & Booth, J. R. (2014b). Individual Differences in Crossmodal Brain Activity Predict Arcuate Fasciculus Connectivity in Developing Readers. *Journal of Cognitive Neuroscience*, *26*(7), 1331–1346. https://doi.org/10.1162/jocn_a_00581

Huang, J., Zhu, T., Qu, Y., & Mu, D. (2016). Prenatal, Perinatal and Neonatal Risk Factors for Intellectual Disability: A Systemic Review and Meta-

Analysis. *PLOS ONE*, *11*(4), e0153655. https://doi.org/10.1371/journal.pone.0153655

Introduction. (2007). *Monographs of the Society for Research in Child Development*, *72*(3), 1–13. https://doi.org/10.1111/j.1540-5834.2007.00439.x

Jean-Philippe Joseph & BabithaK Devu. (2022). Prevalence and pattern of learning disability in India: A systematic review and meta-analysis. *Indian Journal of Psychiatric Nursing*, *19*(2), 152–152. https://doi.org/10.4103/iopn.iopn_7_22

Jerry Heindel, & Heindel, J. (2000). Learning disabilities association-sponsored symposium on chemical hormone impostors and child development. *Environmental Health Perspectives*, *108*(8), 785–786. https://doi.org/10.1289/ehp.00108785

Jill Platko, Platko, J., Frank Wood, Wood, F. B., Izelda Pelser, Pelser, I., Marianne Meyer, Meyer, M. S., Gerda J. Gericke, Gericke, G. S., Julia O'Rourke, O'Rourke, J. A., Julie Birns, Birns, J., Shaun Purcell, Purcell, S., David L. Pauls, & Pauls, D. L. (2008). Association of reading disability on chromosome 6p22 in the Afrikaner population. *American Journal of Medical Genetics*, *147*(7), 1278–1287. https://doi.org/10.1002/ajmg.b.30774

Johnson, E. S. (2014). Understanding Why a Child Is Struggling to Learn: The Role of Cognitive Processing Evaluation in Learning Disability Identification. *Topics in Language Disorders*, *34*(1), 59. https://doi.org/10.1097/TLD.0000000000000007

Johnson, E. S., Humphrey, M., Mellard, D. F., Woods, K., & Swanson, H. L. (2010). Cognitive Processing Deficits and Students with Specific Learning Disabilities: A Selective Meta-Analysis of the Literature. *Learning Disability Quarterly*, *33*(1), 3–18. https://doi.org/10.1177/073194871003300101

Kavale, K. A. (2005). Identifying Specific Learning Disability: Is Responsiveness to Intervention the Answer? *Journal of Learning Disabilities*, *38*(6), 553–562. https://doi.org/10.1177/00222194050380061201

Kavale, K. A., Holdnack, J. A., & Mostert, M. P. (2005). Responsiveness to Intervention and the Identification of Specific Learning Disability: A Critique and Alternative Proposal. *Learning Disability Quarterly*, *28*(1), 2–16. https://doi.org/10.2307/4126970

Kavale, K. A., & Nye, C. (1991). The structure of learning disabilities. *Exceptionality*, *2*(3), 141–156. https://doi.org/10.1080/09362839109524776

Kinsbourne, M. (1975). Models of learning disability: Their relevance to remediation. *Canadian Medical Association Journal*, *113*(11–12), 1066–1069.

Kovas, Y., Haworth, C. M. A., Dale, P. S., & Plomin, R. (2007). The genetic and environmental origins of learning abilities and disabilities in the early school years: V. Genetic stability, environmental change. *Monographs of The Society for Research in Child Development*. https://doi.org/10.1111/j.1540-5834.2007.00443.x

Kovas, Y., Haworth, C. M. A., Haworth, C. M. A., Dale, P. S., Plomin, R., Thomson, J. M., & Fischer, K. W. (2008). *Comprar The Genetic and Environmental Origins of Learning Abilities and Disabilities in the Early School Years | Yulia Kovas | 9781405184359 | Wiley*.

Koyama, M. S., Di Martino, A., Kelly, C., Jutagir, D. R., Sunshine, J., Schwartz, S. J., Castellanos, F. X., & Milham, M. P. (2013). Cortical Signatures of Dyslexia and Remediation: An Intrinsic Functional Connectivity Approach. *PLoS ONE*, *8*(2), e55454. https://doi.org/10.1371/journal.pone.0055454

Koyama, M. S., Martino, A. D., Zuo, X.-N., Kelly, C., Mennes, M., Jutagir, D. R., Castellanos, F. X., & Milham, M. P. (2011). Resting-State Functional Connectivity Indexes Reading Competence in Children and Adults. *Journal of Neuroscience*, *31*(23), 8617–8624. https://doi.org/10.1523/JNEUROSCI.4865-10.2011

Lange, S. M. (2006). Early Identification And Interventions For Children At Risk For Learning Disabilities. *International Journal Of Special Education*, *21*.

Leary, P. (1982). DOes the child with a learning disability have a biochemical defect. *South African Medical Journal*, *61*(1), 14–16.

Liu, X., Hui Liu, C., & Li, Y. (2020). The Effects of Computer-Assisted Learning Based on Dual Coding Theory. *Symmetry*, *12*(5), 701. https://doi.org/10.3390/SYM12050701

Madhuri Kulkarni, Kulkarni, M., Sarika Kalantre, Kalantre, S., Shubhangi Upadhye, Upadhye, S., Sunil Karande, Karande, S., Sanjeev R. Ahuja, & Ahuja, S. R. (2001). Approach To Learning Disability. *Indian Journal of Pediatrics*, *68*(6), 539–546. https://doi.org/10.1007/bf02723250

Malka Margalit, & Margalit, M. (1998). Loneliness and Coherence Among Preschool Children with Learning Disabilities. *Journal of Learning Disabilities*, *31*(2), 173–180. https://doi.org/10.1177/002221949803100207

Massoumeh, Z., & Leila, J. (2012). An Investigation of Medical Model and Special Education Methods. *Procedia - Social and Behavioral Sciences*, *46*, 5802–5804. https://doi.org/10.1016/j.sbspro.2012.06.518

Mattar, M. G., & Bassett, D. S. (2016). *Brain Network Architecture: Implications for Human Learning* (arXiv:1609.01790). arXiv. http://arxiv.org/abs/1609.01790

Mayer, R. E., & Sims, V. K. (1994). For whom is a picture worth a thousand words? Extensions of a dual-coding theory of multimedia learning. *Journal of Educational Psychology*, *86*(3), 389–401. https://doi.org/10.1037/0022-0663.86.3.389

Naglieri, J. A., & Reardon, S. M. (1993). Traditional IQ Is Irrelevant to Learning Disabilities—Intelligence Is Not. *Journal of Learning Disabilities*, *26*(2), 127–133. https://doi.org/10.1177/002221949302600205

Nathlie A. Badian, Badian, N. A., & Badian, N. A. (1999). Persistent arithmetic, reading, or arithmetic and reading disability. *Annals of Dyslexia*, *49*(1), 43–70. https://doi.org/10.1007/s11881-999-0019-8

National Research Council (U.S.), Allen, L., & Kelly, B. B. (Eds.). (2015). *Transforming the workforce for children birth through age 8: A unifying foundation*. The National Academies Press.

Nawaf. M. Aldhafeeri. (2013). *Learning Disabilities Relationship With Some Biological Factors*.

Negin Parsamanesh, Parsamanesh, N., Ebrahim Miri-Moghaddam, & Miri-Moghaddam, E. (2018). Novel Insight Into Intellectual Disability; A Review Article. *Gene Cell and Tissue*, *5*(4). https://doi.org/10.5812/gct.84401

Norzah Md Yunus, Yunus, N. M., Suziyani Mohamed, & Mohamed, S. (2019). Private Preschool Teachers' Competencies in Early Identification of Children at Risk of Learning Disabilities. *Journal of Research in Psychology*, *1*(3), 18–25. https://doi.org/10.31580/jrp.v1i3.976

O,Brien, G., & Yeatman, Jason. D. (2021). Bridging sensory and language theories of dyslexia: Toward a multifactorial model. *Developmental Science*, *24*(3). https://doi.org/10.1111/DESC.13039

Overvelde, A., & Hulstijn, W. (2011). Handwriting development in grade 2 and grade 3 primary school children with normal, at risk, or dysgraphic characteristics. *Research in Developmental Disabilities*, *32*(2), 540–548. https://doi.org/10.1016/j.ridd.2010.12.027

Paivio, A. (2013). Dual coding theory, word abstractness, and emotion: A critical review of Kousta et al. (2011). *Journal of Experimental Psychology: General*, *142*(1), 282–287. https://doi.org/10.1037/A0027004

Poplin, M. S. (1988). The Reductionistic Fallacy in Learning Disabilities: Replicating the Past by Reducing the Present. *Journal of Learning Disabilities*, *21*(7), 389–400. https://doi.org/10.1177/002221948802100702

Revuelta, B., & Hernández, R. (2021). Estudios críticos en discapacidad: Aportes epistemológicos de un campo plural. *Cinta de moebio*, *70*, 17–33. https://doi.org/10.4067/s0717-554x2021000100017

Reynolds, C. R., & Shaywitz, S. E. (2009). Response to Intervention: Prevention and Remediation, Perhaps. Diagnosis, No. *Child Development Perspectives*, *3*(1), 44. https://doi.org/10.1111/j.1750-8606.2008.00075.x

Sadoski, M. (2005). A Dual Coding View of Vocabulary Learning. *Reading & Writing Quarterly*, *21*(3), 221–238. https://doi.org/10.1080/10573560590949359

Share, D. L. (2021). Common Misconceptions about the Phonological Deficit Theory of Dyslexia. *Brain Sciences*, *11*(11), 1510. https://doi.org/10.3390/brainsci11111510

Shaywitz, B. A., Fletcher, J. M., & Shaywitz, S. E. (1995). Defining and Classifying Learning Disabilities and Attention-Deficit/Hyperactivity Disorder. *Journal of Child Neurology*, *10*(1_suppl), S50–S57. https://doi.org/10.1177/088307389501 00S111

Smith, C. R. (1985). Learning Disabilities: Past and Present. *Journal of Learning Disabilities*, *18*(9), 513–517. https://doi.org/10.1177/002221948501800902

Snowling, M. J. (2001). From language to reading and dyslexia. *Dyslexia*, *7*(1), 37–46. https://doi.org/10.1002/dys.185

Stephen M. Lange, Lange, S. M., Brent Thompson, & Thompson, B. (2006). Early Identification and Interventions for Children at Risk for Learning Disabilities. *International Journal of Special Education*, *21*(3), 108–119.

Sternberg, R. J., Spear-Swerling, L., Keith E. Stanovich, & Stanovich, K. E. (1998). *Perspectives On Learning Disabilities: Biological, Cognitive, Contextual*. https://doi.org/10.5860/choice.36-4622

Surushkina, S. Yu., Yakovenko, E. A., Chutko, L. S., & Didur, M. D. (2021). Dyslexia as a Multifactorial Disorder. *Neuroscience and Behavioral Physiology*, *51*(3), 303–308. https://doi.org/10.1007/s11055-021-01072-8

Swanson, H. L., & Alexander, J. E. (1997). Cognitive processes as predictors of word recognition and reading comprehension in learning-disabled and skilled readers: Revisiting the specificity hypothesis. *Journal of Educational Psychology*, *89*(1), 128–158. https://doi.org/10.1037/0022-0663.89.1.128

Torgesen, J. K. (2018, February 12). *Phonologically Based Reading Disabilities: Toward a Coherent Theory of One Kind of Learning Disability*. SciSpace - Paper; Routledge. https://doi.org/10.4324/9780429498381-5

Wise Younger, J., Tucker-Drob, E., & Booth, J. R. (2017). Longitudinal changes in reading network connectivity related to skill improvement. *NeuroImage*, *158*, 90–98. https://doi.org/10.1016/j.neuroimage.2017.06.044

Yeatman, J. D., Dougherty, R. F., Rykhlevskaia, E., Sherbondy, A. J., Deutsch, G. K., Wandell, B. A., & Ben-Shachar, M. (2011). Anatomical Properties of the Arcuate Fasciculus Predict Phonological and Reading Skills in Children. *Journal of Cognitive Neuroscience*, *23*(11), 3304–3317. https://doi.org/10.1162/jocn_a_00061

Zahra Asefy, Asefy, Z., Ameer Khusro, Khusro, A., Shakar Mammadova, Mammadova, S., Sirus Hoseinnejhad, Hoseinnejhad, S., Aziz Eftekhari, Eftekhari, A., Saad Alghamdi, Alghamdi, S., Anas S. Dablool, Dablool, A. S., Almehmadi, M., Mazen Almehmadi, Almehmadi, M., Elham Kazemi, Kazemi, E., … Sahibzada, M. U. K. (2021). Melatonin hormone as a therapeutic weapon against neurodegenerative diseases. *Cellular and Molecular Biology*, *67*(3), 99–106. https://doi.org/10.14715/cmb/2021.67.3.13

Zoccolotti, P. (2022). Success Is Not the Entire Story for a Scientific Theory: The Case of the Phonological Deficit Theory of Dyslexia. *Brain Sciences*, *12*(4), 425. https://doi.org/10.3390/brainsci12040425

*****

अनामिका की कविताओं में समसामयिक स्त्री चिंतन

-विश्वजीत सिंह
शोधार्थी,
हिन्दी विभाग,
अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद 500007
मो.नं :8808287869
Vishwajeetsingh00444@gmail.com

सार - कवयित्री अनामिका की कविताएं अपने गहन अंतर्दृष्टि और सूक्ष्म संवेदनशीलता में ओत-प्रोत होकर समसामयिक स्त्री चिंतन के जटिल और बहुआयामी सार को अत्यंत प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करती हैं। उनकी दृष्टि केवल स्त्री जीवन के बाह्य स्वरूप तक सीमित न होकर उसके आंतरिक मनोलोक, अस्तित्वगत द्वंद्वों और सामाजिक विडंबनाओं की गहराई में पैठती हैं। अनामिका स्त्री की पहचान के संकट, देह-विमर्श तथा परंपरा-आधुनिकता के द्वंद्वों को बारीकी के साथ प्रस्तुत करती हैं।

बीज शब्द – स्त्री, पितृससत्ता, मुक्ति, मानवीयता, लोकतंत्र, शोषण, अस्तित्व, परंपरा, वेश्यावृति, दहेज, पराधीनता

यह एक स्थापित तथ्य है कि कविता अपने समय के इतिहास का सृजन करती हैं। अनामिका ने अपनी काव्य साधना से इस कथन को विशेष रूप से स्त्री विमर्श के क्षेत्र में प्रमाणित किया हैं। जहां वे स्त्री संसार के जटिल ताने बाने को अत्यंत सहजता और शालीनता से उकेरती हैं। उनकी कविता स्त्री की जागृति और मुक्तिकामी चेतना का अभियान है। जिसमें आक्रोश से अधिक तर्क, विश्लेषण और समाधान देखने को मिलता हैं। "स्त्री स्वभाव को समझना स्त्री-विमर्श की सबसे बड़ी चीज है। स्त्री-विमर्श स्पेस को बल देता है। पुरुष की उदारता पर बल देता हैं। ढेर सारी चीजे उससे बंधी हुई हैं। यह बहस का विषय उतना नहीं है जितना जागृति का।"[1] ऐतिहासिक रूप से स्त्री की देह उसके शोषण की प्राथमिक और प्रमुख स्थली रही हैं। इसके बावजूद अनामिका इसका सीधा जिम्मेदार पुरुषों को न मानते हुए पितृसत्तात्मक समाज और व्यवस्था को मानती हैं। उनकी नजर में इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने पुरुषों के मनोभावों का भी खूब सत्यानाश किया हैं। जिसमें दया, ममता, करुणा, सहानुभूति जैसे गुणों को स्त्रियोचित बनाकर पुरुषों को मनुष्यता की चौहद्दी से दूर रखने का भरसक प्रयास किया गया हैं। जिसके बारे में अनामिका खुद कहती हैं "जरूरत तो दोनों तरह के मूल्य की होती है। एक गुण विकसित करने का अर्थ यह नहीं कि दूसरे को धत्ता ही बता दिया जाये।"[2] समसामयिक संदर्भों में स्त्रियों को प्रभावित करने वाली घटनाओं में मुख्य रूप से उसके साथ होते मार-पीट, गाली-गलौज, पोर्नोग्राफी, यौन-शोषण, वेश्यावृत्ति तथा दहेज उल्लेखनीय हैं। जिसकी बनावट और बुनावट को अनामिका परत-दर-परत उधेड़ती हैं। स्त्रियों के साथ होते दोहरे बर्ताव का केंद्रीय कारण वह शिक्षा को मानती हैं। जिसके अभाव में सदियों से लड़कों को 'विरासत का वाहक' और लड़कियों को 'पराया धन' समझ के बड़ा किया जाता रहा हैं। लैंगिक असमानता और भेदभावपूर्ण चेतना निर्माण की प्रक्रिया किताबों के पाठ से भी पुष्पित-पल्लवित हुई हैं। जिसका अंकन उनकी कविता 'बेजगह' में दिखायी पड़ता है।

"राम पाठशाला जा
राधा खाना पका
राम आ बताशा खा
राधा झाड़ू लगा
भैया अब सोएगा
जाकर बिस्तर बिछा
अहा नया घर है
राम देख यह तेरा कमरा है
और मेरा
ओ पगली
लड़कियाँ हवा धूप मिट्टी होती हैं
उनका कोई घर नहीं होता"[3]

अनामिका स्त्री चेतना की दारुण व्यथा और मुक्ति की आस का एक सूक्ष्म धरातल रचती हैं। जो अर्थ के स्तर पर हमारे सामने सैकड़ो प्रश्नचिन्ह खड़ा करते हैं। स्त्रियां अपनी मुक्तिकामी चेतना के प्रस्फुटन हेतु दीर्घकाल से अविराम संघर्षरत हैं। जिसका दारुण प्रतिरूप न केवल तुलसीदास की रत्ना में परिलक्षित होता है अपितु अपनी परंपरा में उससे आज की स्त्री भी किंचित मात्र भी अछूती नहीं है। स्त्री का पुरुषों से उपेक्षित होने का इतिहास काफी पुराना हैं जो तथाकथित आधुनिकता के आवरण के बावजूद स्त्री को आज भी अदृश्य दीवारों, सूक्ष्म पूर्वाग्रहो और संरचनात्मक बाधाओं में जकड़े हुये हैं।

"सदियों तक मैंने किया इंतजार
आएगा कोई तोड़ेगा टांके गूदड़ के
ले जाएगा मुझको आके"[4]

अनामिका की पद्य संरचना नारी मुक्ति के शाश्वत अभिलाषा का एक प्रगाढ़ प्रतीक है। जो चिरकाल से स्त्री-पराधीनता की बेड़ियों को विखंडित करने का उपक्रम रचती हैं। अपने समय, समाज की बर्बरता,

असमानता और स्वर्णचेतस मानसिकता से दो-चार होते हुये अनामिका पारिवारिक स्तरों पर स्त्रियों के साथ घटित हो रही घटनाओं को प्रमुखता से उठाती हैं। जिसमें वह स्त्री का निजत्व, उसकी अस्मिता और उसके स्वातंत्र्य पिपासा को सहज एवं सरल मगर तार्किकता पूर्ण दृष्टिकोण के साथ रखती हैं। समकालीन परिदृश्य में दहेज भी एक ऐसी विकट समस्या के रूप में उभरा हैं। जिसे रोकने के लिए दहेज निषेध अधिनियम तो बनाया गया है मगर परिणाम अभी भी चिंतित करने वाले हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़ों के हिसाब से स्थिति संतोषजनक नहीं दिखायी देती हैं। किसी भी कवि के करघे पर कैसी कविता बुनी जायेगी इसका चयन कवि को स्वयं करना पड़ता हैं। जिसका सही चयन करते हुये अनामिका ने अपने काव्य करघे पर स्त्री मन की सूक्ष्म अनुभूतियों के साथ उसके व्यथित मन के चीत्कार को जगह दी हैं।

"मैट्रिक के इम्तिहान के बाद
सीखी थी दुल्हन ने फुलकारी !
दहेज की चादरों पर
माँ ने कढ़वाये थे
तरह-तरह के बेल-बूटे
तकिए के खोलों पर गुडलक कढ़वाया था !
कौन माँ नहीं जानती जी ज़रूरत
दुनिया में गुडलक की !
और उसके बाद
एक था राजा एक थी रानी
और एक ख़तम कहानी !
दुल्हन की कटी-फटी पेशानी
और ओढ़नी ख़ूनम-ख़ून"[5]

ग्रामीण कस्बों में पितृसत्तात्मक जड़ता का विकराल विन्यास अब भी अपनी परिणति में नारी अस्तित्व को संत्रस्थ किये हुये हैं। ग्रामीण कस्बों का उल्लेख कर देने से यह तय नहीं हो जाता कि शहरों में अब ऐसी घटनाएं नहीं होती। घटनाएं तो दोनों जगहों पर देखने को मिलती है मगर उसका विस्तार रूप सीमांत अंचलों में ज्यादा दिखायी पड़ता है। स्त्रियों के साथ होती ऐसी हिंसक वारदातें न केवल उनके देह पर क्षत-विक्षत चिन्ह छोड़ती हैं बल्कि आत्मा के अव्यक्त घावों को भी गहरा करती हैं। बिना आतंकित किये अनामिका इन घावों को कुरेदने के बजाय उस पर मलहम का नया फाहा रखती हैं। बिना किसी हड़बड़ाहट के स्त्री पीड़ा की भयावता का सरल, सहज दृष्टांत प्रस्तुत करती हैं। जो अर्थ के स्तर पर पाठकों के हृदय में अनायास ही एक मार्मिक सहानुभूति का संचरण करता हैं।

"पीठ नीली
चेहरा पीला
लाल आंखे और जख्म हरे
कुदरत के सब रंगों की बोतल
उलट पलट जाती है मुझ पर
उनके आते ही"[6]

अनामिका की कविता केवल साहित्यिक कृतियाँ न होकर संवेदना का एक ऐसा पुल निर्माण करती हैं जो नारी की पीड़ा से जोड़कर उसे गहन चिंतन और आत्म मूल्यांकन के लिए प्रवृत्त करता है। यह बेहद विडंबना पूर्ण है कि एक तरफ उत्तर आधुनिक युग चल रहा हो और दूसरी तरफ स्त्री अपने घर में ऑनर किलिंग का शिकार हो रही हों। बदलते परिवेश में बहुत हद तक स्त्रियों ने पितृसत्ता की मजबूत देहरी को लाघने का प्रयास किया हैं। जिसके चलते उन्हें बहुत बार पितृसत्ता का चाबुक अपनी पीठ पर सहना पड़ा हैं। अनामिका जिस पर न सिर्फ मलहम लगा रही है बल्कि स्त्रियों को इसके विरुद्ध सजग भी कर रही हैं।

"मीरा रानी तुम तो फिर भी खुशकिस्मत थी
तुम्हें जहर का प्याला जिसने भी भेजा
वह भाई तुम्हारा नहीं था
भाई भी भेज रहे हैं इन दिनों
जहर के प्याले"[7]

हिंदी कविता के वृहद कैनवास पर अनामिका ने स्त्री कविता के विविध रंग और रूपों को बेहद जिम्मेदारी और मजबूती से उकेरा हैं। घर परिवार की सामान्य चीजों को आधार बनाकर सरलता से अपनी बात कह देना अनामिका को आता हैं। अपनी 'चौका' नामक कविता में उन्होंने पितृसत्ता के कपड़े को ठीक-ठाक फाड़ा है। जहां ज्यादातर लोगों का ध्यान नहीं जाता यद्यपि चौका जो पारंपरिक रूप से स्त्री के कार्यक्षेत्र और दक्षता का परिचायक माना जाता हैं। दरअसल उनकी कविता में वह स्त्री के बेबसी, बंधन और व्यथा का प्रतीक हैं।

"सारा शहर चुप है
धुल चुके हैं सारे चौकों के बर्तन।
बुझ चुकी है आख़िरी चूल्हे की राख भी
और मैं
अपने ही वजूद की आँच के आगे
औचक हड़बड़ी में
खुद को ही सानती
खुद को ही गूँधती हुई बार-बार
ख़ुश हूँ कि रोटी बेलती हूँ जैसे पृथ्वी"[8]

दरअसल उनका इशारा इसके बहाने उस पारंपरिक सोच के खिलाफ है जो स्त्री को किसी दूसरे खांचे मे देख नहीं पाता। अनामिका का चौका कोई एक निष्क्रिय दृश्य नहीं है बल्कि स्त्री के हर रोज के संघर्ष और उसके मौन विद्रोह का एक सूक्ष्म रंगमंच भी हैं। जो सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध एक शक्तिशाली और संवेदनात्मक वक्तव्य हैं। "अनामिका की वास्तविक चिंता जेंडर स्टीरियोटाइप्स को लेकर है जो लज्जा, प्रेम, सहिष्णुता, धैर्य, सहकारिता जैसे गुणों को सिर्फ स्त्री खाते में डालकर पुरुष को रोबिला, बलवान और आक्रामक होने पर मजबूर कर देते हैं। ऐसी इकाइयों से निर्मित सामाजिक ढाँचे में सहभागिता की भावना के बजाय अधिकार-भावना प्रमुख हो जाती है। बराबर का यह साथ तभी हो सकेगा जब पुरुष अतिपुरुष न रहे और ना ही स्त्रियाँ अतिस्त्री।"[9] ऐसी तमाम विसंगतियों को आवाज देती अनामिका की अकुलाहट ही उन्हें एक समृद्ध, संवेदनशील कवयित्री के रूप में कविता के कैनवास पर स्थापित करती हैं। यह जो बेचैनी उनके यहां दिखाई पड़ती है वहीं उनकी कविता का प्राण तत्व हैं। अपने गहन अंतर्दृष्टि और सूक्ष्म विश्लेषण से स्त्री की

दारुण व्यथा को पुष्ट करती है जो अब तक अपने अस्तित्व का कोना तलाश रही हैं। पितृसत्ता की बेड़ियों में जकड़ी स्त्री अपने अस्तित्व विस्थापन की अनवरत यात्रा को रोकने के लिए प्रयासरत हैं। वहीं दूसरी और पारंपरिक व्यवस्था उनके साथ दो-दो हाथ कर रही हैं। ऐसे में अनामिका बड़ी सुघड़ता से पितृसत्ता के बारीक रेशे को खोलती हैं।

"भोगा गया हमको
बहुत दूर के रिश्तेदारों के दुख की तरह
एक दिन हमने कहा–
हम भी इंसान हैं
हमें क़ायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
जैसे पढ़ा होगा बी.ए. के बाद
नौकरी का पहला विज्ञापन"[10]

तथाकथित मुख्य धारा के स्त्रियों के अतिरिक्त अनामिका उन सेक्स वर्कर्स के प्रति भी ध्यान आकृष्ट करती हैं जो सोशल जस्टिस की मांग कर रही हैं। "ये सेक्स वर्कर्स यौन दासियाँ चेहरे पर हँसी का घूँघट ओढ़े अपनी देह से बाज़ार, मीडिया के आभासी पर्दे पर पुरुष को लुभाती हुई भी अपने मन से विदेह हैं। अपने मन को अपनी देह से अलग कर लेने का गुण ही स्त्रियों को जीवित रखता हैं।"[11] व्यवस्था चाहे राजशाही रही हो या लोकशाही उनकी स्थिति यथावत बनी हुई हैं। अनामिका ऐसी विभीषिकाओं को भी इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि पाठक का अंतर्मन गहरी कसक से भर उठता हैं। छोटी बच्चियों से लेकर बड़ी उम्र तक की बच्चियों का शारीरिक शोषण उनके स्वरूप तक की सीमित नहीं है बल्कि उसकी अतल गहराइयों में छिपी त्रासदी को भी व्यक्त करता हैं। यह एक अखंड आत्मिक मृत्यु का प्रतीक है जहां उनके सपने और पहचान को व्यवस्थित रूप से कुचला जाता हैं।

"अंकल तुम भारी बहुत हो
अच्छा एक चॉकलेट खिला दो
अंकल तुम्हारी भी बेटी है
अच्छा बोलो उसका क्या नाम?
वह भी मेरे जैसी मजेदार है क्या बोलों तो"[12]

जिस मासूमियत से अनामिका इतनी बड़ी बात को बच्चियों के माध्यम से रखती हैं उसकी गूंज बहुत दूर तक सुनाई देती हैं।

निष्कर्ष अनामिका ने अपनी कविता से स्त्री कविता के क्षितिज को बड़ा किया हैं। जहां उन्होंने विचार भिन्नता और प्रस्तुतिकरण के विभिन्न प्रयोगों से उसे विशिष्ट बना दिया हैं। उनकी काव्य चेतना मात्र शब्दों का संकलन न होकर मानवीय अस्तित्व के गूढ़ रहस्यों, सामाजिक विसंगतियों और स्त्री विमर्श के जटिल आयामों का एक सघन अन्वेषण हैं। अनामिका की लेखनी उन अनदेखी और अनसुनी वेदनाओं को स्वर देती है जो स्त्री जीवन से अनादि काल से सम्बद्ध रही हैं। निश्चित रूप से अनामिका की कविताएं मानवीयता की डिमांड करती हैं जो मनुष्य होने की पहली शर्त हैं।

संदर्भ –

1. समकालीन हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-विमर्श– डॉ स्नेहलता, राजपाल प्रकाशन, पृ.149
2. स्त्रीत्व का मानचित्र- अनामिका, सारांश प्रकाशन, 1999, पृ.14
3. खुरदरी हथेलियाँ- अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.15-16
4. तुलसी का झोला- अनामिका, कविताकोश
5. ओढ़नी- अनामिका, कविताकोश
6. खुरदरी हथेलियाँ- अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.46
7. प्रेम के लिए फांसी- अनामिका, कविताकोश
8. चौका- अनामिका, कविताकोश
9. स्त्री कविता:पक्ष और परिप्रेक्ष्य–रेखा सेठी, भाग1, राजकमल प्रकाशन, पृ.99
10. स्त्रिया- अनामिका, कविताकोश
11. स्त्री कविता:पक्ष और परिप्रेक्ष्य–रेखा सेठी, भाग1, राजकमल प्रकाशन, पृ.104
12. दूब-धान – अनामिका, वाणी प्रकाशन, पृ.56

*****

आधुनिक संदर्भों में संस्कृत का उपयोग-विज्ञान योग और दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

-श्रीमती सुषमा
असि.प्रोफेसर संस्कृत ,
डॉ.अम्बेडकर राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय ,ऊँचाहार, रायबरेली, उत्तर प्रदेश

संस्कृत का इतिहास बहुत ही समृद्ध और प्राचीन है। और यह न केवल भारतीय संस्कृति और ज्ञान के स्रोत के रूप में बल्कि आधुनिक संदर्भों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। संस्कृत केवल भाषा ही नहीं साहित्य, दर्शन, इतिहास, शास्त्र, योग विज्ञान आदि सब कुछ है। विज्ञ. ान योग और दर्शन के क्षेत्र में विशेष रूप से संस्कृत का उपयोग अत्यधिक बढ़ा है।

विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत का उपयोग

संस्कृत में विज्ञान और गणित से संबंधित प्राचीन ग्रंथो की उपस्थिति यह दर्शाती है कि भारतीय मनुष्यों ने प्राचीन काल से ही विज्ञान के विभिन्न पहलुओं को समझने की कोशिश की थी। जैसे आयुर्वेद, ज्योतिष, भौतिक विज्ञ. ान, रसायन विज्ञान, भूगर्भविज्ञान, पर्यावरण विज्ञान आदि। वर्तमान युग को वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास की चरम उपलब्धियां का योग कहे तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। मानव की वर्तमान सुखोपभोग की लालसा से प्रार्दुभूत विज्ञ. ान एवं तकनीकी ज्ञान में प्राचीन ज्ञान विज्ञान के सारे मानदण्डों में क्रांतिकारी परिवर्तन कर संपूर्ण विश्व पर एक अपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया है। जहां वर्ष 2004 में क्लोंडबेबी का जन्म तथा उसकी सेवा में मानवीय क्रियाशीलता से आपूर्ण रोबोट विकसित कर एक और हम आनंदित होते हैं वहीं दूसरी तरफ मानव जीवन की सहजता और स्वाभाविक गतिशीलता की पर उपस्थित होने वाले प्रश्न चिन्ह को लेकर शंकित भी होते हैं। दूरसंचार एवं कंप्यूटर के क्षेत्र में होने वाली क्रांति ने संपूर्ण विश्व को एक ग्राम में बादल कर रख दिया है। मात्र एक बार प्रयोग से संपूर्ण सृष्टि को कवलित कर जाने में समर्थ परमाणु एवं हाइड्रोजन बम, मिसाइलें, सी. एन. जी ईधन, सोलर इंजन विकसित कर जो विज्ञान अपनी गौरव गाथा का गान करने से नहीं थकता उसके मूल में जाकर देखें तो यह पता चलता है कि इन आधुनिक तकनीकी यंत्रों के विकास में विज्ञान ने जिन मूलभूत सूत्रों एवं सिद्धांतों को अपनाया है, वह बीज के रूप में भारतीय ऋषियों एवं मनुष्यों के दिव्य चिंतन में विद्यमान है। डार्विन का विक. ासवाद, न्यूटन के गति सिद्धांत, आइंस्टीन की सापेक्षता सिद्धांत की जड़े सूक्ष्म रूप से ज्ञान की अक्षयनिधि वैदिक वांड्मय के मंत्रों, पतंजलि, कपिल आदि के दार्शनिक चिन्तनो में साक्षात् दृश्यमान है।

भारतीय दार्शनिक जगत के आदिम चिंतन सांख्य में प्रकृति को नित्य अज और अनश्वर माना है जो अपने सत्त्वरजस्तमोरुपात्मक स्वरूप से सृष्टि की रचना करती है। महान वैज्ञानिक न्यूटन ने भी तीनों सिद्धांतों का तलस्पर्शी अध्ययन यह दर्शाता है कि उन्होंने सांख्य प्रदत्त त्रिगुण सिद्धांत को अतिशय समीप से देखा है और इन्हें भौतिक जगत के लिए यथार्थ माना है।

वैदिकवाड्मय के अनुसार संपूर्ण विश्व का प्रथम वैज्ञानिक होने का श्रेय अथर्वा ऋषि के प्राप्त है क्योंकि अथर्वा ऋषि ने ऊर्जा के प्रतिनिधि स्वरूप अग्नि से संबंधित तीन आविष्कार किया, जिसमें यजुर्वेद के अनुसार सर्वप्रथम अरणि नामक वृक्ष की लडकियों के घर्षण से अथर्वा ऋषि ने

अग्नि का आविष्कार किया था तथा यज्ञ से इस अग्नि का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्वा ऋषि के पुत्र दाधीचि ऋषि ने किया था। अथर्वा ऋषि के द्वितीय आविष्कार जलघर्षणजन्य जलीय विद्युत् का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा तैत्तिरीयसंहिता में प्राप्त होता है। जिसके अनुसार अथर्वा ऋषि ने सरोवर के जल मंथन से जलीय विद्युत का आविष्कार किया था। अथर्वा ऋषि के तृतीय आविष्कार भूगर्भीय अग्नि की खोज करना तथा उसे उत्खनन द्वारा निकाले जाने का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त होता है। भूगर्भीय अग्नि के लिए **पूरीष्यासो अग्नयः** शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। यह पूरीष्य अग्नि शब्द के द्वारा भूगर्भीय प्रज्वलनशील सभी पदार्थों जैसे पेट्रोल, गैस, केरोसिन तेल आदि की भी गणना होती है।

भौतिक विज्ञान के ऊर्जा संरक्षण के नियम के अनुसार वस्तु की संपूर्ण ऊर्जा नियत रहती है। ऊर्जा का मात्र रूपांतरण होता है। ऊर्जा संरक्षण संबंधी भौतिक विज्ञान का यह सिद्धांत यजुर्वेद से प्राप्त होता है। यजुर्वेद के अनुसार नश्वरजगत् में अग्नि अर्थात ऊर्जा अक्षय है अमर है। भौतिक विज्ञान के अनुसार ताप या ऊष्मा एक ऐसी ऊर्जा है जो किसी द्रव्य में उसके अणुओं की गति के कारण उत्पन्न होती है। यह एक वस्तु से निकलकर दूसरी वस्तु में प्रवेश करती है और अणुओं में गति उत्पन्न करती है। यजुर्वेद में ताप की इस संप्रेषण शक्ति के लिए द्रुतगामिता सूचक दुद्रवत् शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है जिसका अर्थ है दौड़कर जाता है। वेदों में वर्णित ऊर्जा की इसी संप्रेषण शक्ति के सिद्धांत के आधार पर ही मार्कोनी ने रेडियो तथा जे.एल. ब्लेयर्ड ने टेलीविजन का निर्माण किया था। भौतिक विज्ञान के अनुसार विद्युत में श्रवणशक्ति होने के कारण विद्युत के द्वारा ध्वनि तरंगों का संप्रेषण भी होता है। जिससे दूरस्थ व्यक्ति परस्पर वार्तालाप कर सकते हैं। ऋग्वेद में श्रुत्कर्ण शब्द से तथा यजुर्वेद में श्रवो वयः शब्द के प्रयोग से विद्युत तरंगों में संवादप्रेषणीयता की क्षमता को व्यक्त किया गया है। वेदों में वर्णित विद्युत द्वारा ध्वनिसंप्रेषण के सिद्धांत के आधार पर ही ग्राहमवेल ने टेलीफोन और मारकोनी ने वायरलेस का निर्माण किया था।

भौतिक विज्ञान के अनुसार सूर्य की किरणों से विद्युत प्रभाव उत्पन्न होता है। ऋग्वेद में मित्र शब्द धनात्मक आवेश और वरुण शब्द ऋणात्मक आवेश के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह दोनों मिलकर विद्युत चुंबकीय प्रभाव उत्पन्न करते हैं तथा इनसे ही विद्युत चुंबकीय तरंगे प्रवाहित होती है। ऋग्वेद में विद्युत तरंगों द्वारा प्रवाहित शक्ति के लिए, द्रुत, शब्द का तथा ऊर्जा में चुंबकत्व के लिए अयः शीर्षा शब्द का प्रयोग होता है। आचार्य वराहमिहिर के बृहत्संहिता के अनुसार भी सूर्य की सप्तरंगी किरणें इंद्रधनुष का निर्माण करती हैं। सूर्य की विविध रंगों की किरणें जब मेघयुक्त आकाश में वायु से टकराकर बि खरती है तो धनुष का आकार धारण करती है जिसे इंद्रधनुष कहते हैं। यह सिद्धांत प्रकाश के परावर्तन और अपवर्तन तथा पूर्ण आंतरिक परावर्तन के सिद्धांत को सिद्ध करता है। भौतिक विज्ञान के न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत को वृहत्जाबालोपनिषद् में आधार शक्ति के नाम से वर्णित किया गया है। 150 ईसा पूर्व महर्षि पतंजलि ने व्याकरण महाभाष्य में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का उल्लेख करते हुए बताया था कि यदि मिट्टी का टुकड़ा ऊपर फेंका जाता है तो वह बाहूवेग को पूरा करने पर न वक्र होता है न ऊपर चढ़ता है बल्कि पृथ्वी के विकार होने से पृथ्वी पर ही वापस आ जाता है।

इसी प्रकार 746 ई वराहमिहिर ने अपने पंचसिद्ध ंतिका में और 1039 ई0 में श्रीपति ने अपने ग्रंथ सिद्धांतशे खर में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। लगभग 4000 ईसा पूर्व पिप्पलाद ऋषि ने प्रश्नोपनिषद् में तथा 700 से 800 ईस्वी में आचार्य शंकराचार्य ने प्रश्नोप. निषद् के भाष्य में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का उल्लेख किया है। इस प्रकार इन साक्ष्यों के आधार पर यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत भारतीय ऋषियों

को 2000 वर्ष पूर्व ज्ञात था।

भारत में रसायन विज्ञान का भी बहुत पुराना इतिहास है। प्राचीन तथा मध्यकाल में संस्कृत भाषा में लिखत रसायन विज्ञान के 44 ग्रंथ उपलब्ध हैं। नागार्जुन नें दसवीं शताब्दी में रसायन विज्ञान पर रसरत्नाकर नामक ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ में पारे के यौगिक बनाने के प्रयोग दिए गए हैं। ऋग्वेद में स्वर्ण के एक विशेष प्रकार का उल्लेख है जो की स्वर्ण चूर्ण के रूप में सिंधु नदी जैसी नदियों में पाया जाता था। ऋग्वेद के अनुसार f०००–४०० ईसा पूर्व में चर्म संस्करण और कपास को रंगने का कार्य होता था। उत्तर भारत में काली पॉलिश वाले मिट्टी के बर्तनों की सुनहरी चमक को दोहराया नहीं जा सका और यह अब भी एक रासायनिक रहस्य है। चरक संहिता में प्राचीन काल के उन भारतीयों का उल्लेख है जिन्हें सल्फ्यूरिक अम्ल, नाइट्रिक अम्ल और तांबे टिन और जस्ते के ऑक्साइड तांबे तथा लोहे के कार्बोनेट बनाना आता था। रसोपनिषद में बारूद बनाने का विवरण है। अथर्ववेद जैसे कई प्रतिष्ठित ग्रंथों में रंजकों का वर्णन है जिसमें हल्दी, सूरजमुखी, हरताल, करमीज और लाख शामिल है। वराहमिहिर की बृहत् संहिता में इत्र तथा कान्तिवर्धकों का भी उल्लेख है।

चरक संहिता में भी तांबे टिन और जस्ते के ऑक्साइड जस्ते और लोहे के सल्फेट तथा सीसे से तथा लोहे के कार्बोनेट बनाना आता था। रसोपनिषद में बारूद बनाने का विवरण है। ब्रह्मास्त्र एक विशेष प्रकार का अस्त्र होता है जो भगवान ब्रह्मा द्वारा बनाया गया है जिसे भी खुश होकर किसी पराक्रमी योद्धा को वरदान में देते हैं। अनेकों हिंदू शास्त्रों में इसका वर्णन मिलता है। यह इतनी घातक अस्त्र होते हैं कि जिसके चलने मात्र से ही पृथ्वी पर भूकंप आने लगते हैं, ज्वालामुखी फूटने लगते हैं और आकाश में अंधेरा छा जाया करता था। रामायण में भी मेघनाथ से युद्ध करते हेतु लक्ष्मण ने जब ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना चाहा तो श्री राम ने यह कह कर रोक दिया कि अभी इसका प्रयोग उचित नहीं है, क्योंकि इससे पूरी लंका साफ हो जाएगी।

हमारे संस्कृत साहित्य में मंदाकिनियों का भी वर्णन है। प्राचीन ऋषियों ने आकाश में खगोलीय पिंडों के कई समूह देखे हैं जिसमें स्वर्गगंगा, विद्यागंगा, स्वर्नदी, सुरदीर्घिका आदि आकाशगंगा के पर्याय दिए गए हैं। हमारे मनीषियों एवं ज्योतिषों को वैदिक काल से ही नक्षत्रों का ज्ञान रहा है। अभिजित को मिलाकर कुल 28 नक्षत्र जाने जाते हैं। नक्षत्र को राजनिघण्टु में इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

नक्षति शोभां गच्छति, स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति वा।

यज्ञ वैदिक विचारधारा का प्रायोगिक स्वरूप है। यज्ञ भारतीय सभ्यता संस्कृति का प्राणभूत तत्व रहा है। यह एक प्रकार की वैज्ञानिक प्रक्रिया है क्योंकि इसके प्रतिफलस्वरूप वातावरण सुगंधित एवं कीटाणु– विकार से मुक्त हो जाता है। यज्ञ प्रक्रिया में जल को पवित्र माना गया है, जल से ही शुद्धि का विचार प्रकट किया गया है। प्राय याज्ञिक क्रियाओं में व्रत या उपवास का विशेष महत्व है। उपवास भी एक प्रकार का वैज्ञानिक सत्य है, क्योंकि उपवास की स्थिति में मनुष्य के शरीर में संतुलन की व्यवस्था विकसित होती है जिससे उसके मानसिक स्वास्थ्य का विकास होता है। शतपथ ब्राह्मण में भी उपवास या व्रत के संबंध में ऐसा विचार है– **अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषम्**। ऋग्वेद में भी यज्ञ की वैज्ञानिकता के विषय में साक्ष्य प्राप्त होता है–

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत्।
वसंतोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।

अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के रोग, जो शरीर में रुग्णता उत्पन्न करते हैं, उन्हें मंत्रशक्ति एवं यज्ञ क्रिया से शमन करने का विचार यज्ञ की वैज्ञानिकता को प्रदर्शित करता है।

प्राचीन काल से ही संपूर्ण संसार में वनस्पतियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वनस्पति विज्ञान के अंतर्गत वृक्ष

वनस्पतियों एवं औषधियों की विवेचना की जाती है। वेदों से ही वनस्पति विज्ञान से संबंधी विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वन, वृक्ष, औषधीयों और पर्वतों को मानव के र क्षक के रूप में वर्णित किया गया है। यजुर्वेद के 16वें अध्याय रूद्राध्याय में शिव को वृक्ष, वनस्पति, वन, औषधियों लता गुल्म का स्वामी बताया गया है–

वनानां पतये नमः। वृक्षानां पतये नमः। औषधीनां पतये नमः। कक्षाणां पतये नमः।

रामायण के बालकांड से ही प्रारंभ हुई वृक्ष वनस्पतियों की छटा समग्र रामायण में दर्शनीय है। अयोध्या नगरी में चारों ओर उद्यान एवं आम के बगीचे थे। उस नगरी को साखू के वन सब और से घेरे हुए थे। अयोध्याकांड में श्रीराम, सीता, लक्ष्मण के वत्स प्रदेश में पहुंचकर एक वृक्ष के नीचे ठहरने का उल्लेख प्राप्त होता है। अयोध्याकांड में ही भारद्वाज आश्रम पर जाते समय श्रीराम आदि को फूलों से सुशोभित विविध वृक्षों का दर्शन हुआ। अरण्यकाण्ड में रावण का समुद्र तटवर्ती प्रांत की शोभा देखते हुए मारीच के पास जाते समय आने का अनेक वृक्षों का वर्णन प्राप्त होता है। किष्किंधा कांड के प्रथम सर्ग में ही वृक्षों के फूल और फल से युक्त होने तथा सुगंध के छा जाने का वर्णन है। युद्ध कांड में औषधीयों का भी वर्णन प्राप्त होता है। हनुमान द्वारा हिमालय से दिव्य औषधियों का पर्वत लाने पर औषधीय के गंध से श्रीराम, लक्ष्मण एवं समस्त वानर स्वस्थ हुए।

दर्शन के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत का उपयोग

दर्शन शब्द दृश् धातु से बना है, जिसका अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाय। भारत में दर्शन उस विद्या को कहा जाता है जिसके द्वारा तत्व का साक्षात्कार हो सके। भारत का दार्शनिक केवल तत्व की बौद्धिक व्याख्या से ही संतुष्ट नहीं होता बल्कि तत्व की अनुभूति प्राप्त करना चाहता है। भारतीय विचारकों के मतानुसार तत्व का साक्षात्कार आध्यात्मिक अनुभूति से ही संभव है। बौद्धिक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच द्वैत बना रहता है, और परंतु आध्यात्मिक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है। चूकि भारतीय दर्शन तत्व का साक्षात्कार में आस्था रखता है इसलिए तत्व दर्शन कहा जाता है। संस्कृत को भारतीय दर्शन की मूल भाषा माना जाता है। यह दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दे रही है यह न केवल भारतीय दर्शन ग्रंथों की रचना में योगदान दे रही है बल्कि विभिन्न दार्शनिक विचारों के प्रसार एवं प्रसार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

संस्कृत वेदों, उपनिषदों, गीता जैसे महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रंथो का माध्यम रही है जो भारतीय दर्शन का आधार है। इसके अतिरिक्त सांख्य योग्य, न्याय वैशेषिक मीमांसा वेदांत जैसे विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषताएं व्यवहारिकता है। भारत में जीवन की समस्याओं को हल करने के लिए दर्शन का सृजन हुआ है। जब मानव ने अपने दुखों के आवरण से घिरा हुआ पाया तब उसने पीड़ा और क्लेश से छुटकारा पाने की कामना की। इस प्रकार दुखों के निवृत्ति के लिए उसने दर्शन को अपनाया। इसलिए प्रोफेसर हिरियाना ने कहा है– **''पाश्चात्य दर्शन की भांति भारतीय दर्शन का आरंभ आश्चर्य एवं उत्सुकता से न होकर जीवन की नै. तिक एवं भौतिक बुराइयों के शमन के निमित्त हुआ है।''** भारत में ज्ञान की चर्चा ज्ञान के लिए न होकर मोक्ष अनुभूति के लिए हुई है। अतः भारत में दर्शन का अनुशीलन मोक्ष के लिए ही किया गया है। मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के द्वारा मानी गई है, यही कारण है कि चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शन में आत्मा का अनुशीलन हुआ है। आत्मा के स्वरूप की व्याख्या भारतीय दर्शन के आध्यात्मवाद का सबूत है।

भारत के दार्शनिक संप्रदायों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है। वे दो वर्ग हैं आस्तिक और नास्तिक। जो वेद की प्रमाणिकता में विश्वास करता है, उसे आस्तिक और जो वेद के प्रमाण को नहीं मानता है

उसे नास्तिक दर्शन कहते हैं। इस प्रकार आस्तिक का अर्थ हुआ वेद का अनुयाई और नास्तिक का अर्थ है वेद का विरो. धी। इस दृष्टिकोण से भारतीय दर्शन में 6 दर्शनों को आस्तिक कहा जाता है वह है न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग्य, मीमांसा और वेदांत। इन दर्शनों को षड्दर्शन कहा जाता है। यह दर्शन किसी न किसी रूप में वेद पर आधारित है। यहां के दार्शनिकों में संसार को दुखःमय माना है। दर्शन का विकास ही भारत में आध्यात्मिक असंतोष के कारण हुआ है। रोग, मृत्यु, बुढ़ापा, ऋण, आदि दुखों के फलस्वरुप मानव मन में सदा अशांति का निवास रहता है। परंतु वे विश्व के दुखों को देखकर ही मौन नहीं रह जाते, बल्कि वह दुखों का कारण जानने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक दर्शन यह आश्वासन देता है कि मानव अपने दुखों का निरोध कर सकता है। दुखःनिरोध को भारत में मोक्ष कहा जाता है। वर्तमान समय में मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक दुखों से परेशान है। और और स्वस्थ होने के लिए काफी धन बर्बाद कर देता है। संस्कृत में कम खर्च में अपने आप को कैसे स्वस्थ रखें इसका ज्ञान भारतीय दर्शन के माध्यम से मिलता है।

भारतीय दर्शन आत्मा की सत्ता में विश्वास करता है। उपनिषद से लेकर वेदांत तक आत्मा की खोज पर जोर दिया है। यह कर्म सिद्धांत में भी विश्वास करता है। कर्म के नियम को मान्यता प्रदान करता है। इस प्रकार कर्म सिद्धांत को छह आस्तिक दर्शनों ने एवं दो नास्तिक दर्शनों ने स्वीकार किया है। कुछ लोगों का मत है कि कर्म सिद्धांत में विश्वास करना भारतीय विचारधारा के आध्यात्मवाद का सबूत है। कर्म सिद्धांत का अर्थ है– जैसा हम होते हैं वैसा ही हम काटते हैं। इस नियम के अनुकूल शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। इस प्रकार दर्शन से हमें यह ज्ञात होता है कि हमें अच्छे कर्म करना चाहिए अगर हम बुरे कर्म करेंगे तो उसका परिणाम भी बुरा होगा आज के समाज में जो मनुष्य बुरे कर्मों को करने से घबराते नहीं दर्शन इस बात को बताता है कि हमें किस तरह के कर्म को करना चाहिए।

भारतीय दर्शन में व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया गया है। भारत में दर्शन का जीवन से गहरा संबंध रहता है। दर्शन का उद्देश्य सिर्फ मानसिक कौतूहल की निवृत्ति नहीं बल्कि जीवन की समस्याओं को सुलझाना है। इस प्रकार भारत में दर्शन को जीवन का अभिन्न अंग कहा गया है। जीवन से अलग दर्शन की कल्पना भी संभव नहीं है। भारत के सभी दार्शनिक अज्ञान को बंधन का मूल कारण मानते हैं। अज्ञान के वशीभूत होकर ही मनुष्य सांसारिक दु खों को झेलता है। अज्ञान के प्रभाव में आकर ही मानव एक जन्म से दूसरे जन्म में विचरण करता है। अज्ञान का नाश ज्ञान से ही संभव होता है । इसलिए प्रत्येक मनुष्य को शिक्षित होना आवश्यक है। शिक्षा ही उसके संपूर्ण दुखो को नष्ट करने का कारण है। चार्वाक को छोड़कर के सभी दर्शनों में आत्म संयम प्रबल दिया है। सत्य की प्राप्ति के लिए आत्म संयम का नितांत आवश्यक माना गया है। हमारे कर्म वासना तथा नीच प्रवृत्ति से संच. ालित होते हैं। हमारी ज्ञानेंद्रियां और कर्मेन्द्रियां राग, द्व ेष एवं वासना के वशीभूत होकर ही काम करती है, जिसके फलस्वरुप यह निरंतर तीव्र हो जाती हैं, जिसके कारण मानव में विश्व के प्रति मिथ्याज्ञान का जन्म होता है। अतः इन पाशविक प्रवृत्तियों का नियंत्रण परम आवश्यक है। यह विचारधारा वर्तमान में भटके हुए मनुष्यों या कुसंगति के कारण गलत कार्य करने वाले लोगों को रोकने के लिए प्रेरित करती है।

ईश्वर का भारतीय दर्शन में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शन पर धर्म की अमिट छाप है। ईश्वर में विश्वास को ही साधारणतया धर्म कहा जाता है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अनेक युक्तियों का भारतीय दर्शन में समावेश हुआ है। भारतीय दर्शन का प्रारंभ बिंदु वेद है। वेद दर्शन में अनेक देवताओं के विचार निहित है। वैदिक काल के ऋषियों ने

अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, उषा, पृथ्वी, मारुत, वायु, वरुण, इंद्र, सोम आदि देवताओं को आराधना का विषय माना। वेद के पश्चात उपनिषद दर्शन में ईश्वर का स्थान गौण होता है। उपनिषद में ब्रह्म को परम तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। देवतागण अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर निर्भर करते हैं। गीता में ईश्वर को पुरुषोत्तम कहा गया है। वह परम ब्रह्म है। ईश्वर को प्रकृति और पुरुष से परे माना गया है। परम ब्रह्म के दो स्वरूपों व्यक्त और अव्यक्त का गीता में वर्णन किया गया है। परमात्मा के व्यक्त स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रकृति मेरा स्वरूप है जीवात्मा मेरा ही सनातन अंग है। (*ƒ*७/७) गीता के पश्चात भारतीय दर्शन की रूपरेखा में परिवर्तन होता है। दर्शन संप्रदाय आस्तिक तथा नास्तिक दो वर्गों में बट जाता है। नास्तिक तीन दर्शनों में चार्वाक दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन में सैद्धांतिक रूप से अनीश्वरवाद को अपनाया गया है। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को ईश्वर के संबंध में जानने से अनुत्साहित किया है। ईश्वर से प्रेम करना एक ऐसी रमणी से प्रेम करने के तुल्य है, जिसका अस्तित्व ही नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर को विश्व का स्रष्टा मानना भ्रांति मूलक है। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से बौद्ध दर्शन में ईश्वर का खंडन हुआ है फिर भी व्यावहारिक रूप से ईश्वर पर विचार किया गया है। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात उन्हें ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित पाते हैं। इसी तरह जैन दर्शन में भी परोक्ष रूप से ईश्वर पर विचार किया गया है।

न्याय दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व पर बल दिया गया है। ईश्वरवाद न्याय दर्शन की अनुपम देन है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कई नैयायिको ने अनेक प्रमाणों का आश्रय लिया है। उनके अनुसार ईश्वर विश्व का स्रष्टा है। वह शून्य से संसार की सृष्टि नहीं करता, वह विश्व की सृष्टि नित्य परमाणु, दिक्, काल, आत्मा, मन के द्व ारा करता है। ईश्वर संसार का पोषक है। संसार उसकी इच्छानुसार कायम है। वह संसार का संहारक भी है। जब–जब ईश्वर विश्व में नैतिक और धार्मिक पतन पाता है, तब तब वह विध्वंसक शक्तियों के द्वारा विश्व का विनाश करता है। मानव के शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर सुख और दुख प्रदान करता है। कर्मों का फल प्रदान कर ईश्वर जीवात्माओं को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। न्याय की तरह वैशेषिक भी ईश्वरवाद का समर्थन करता है। वह ईश्वर को एक आत्मा मानता है, जो चौतन्य से युक्त है। वैशेषिक के अनुसार आत्मा दो प्रकार की होती है– जीवात्मा और परमात्मा परमात्मा को ईश्वर कहा जाता है। वह विश्व का स्रष्टा, पालक एवं संहारक है। साख्य के समर्थकों में ईश्वर को लेकर कुछ वाद विवाद है। सांख्य ने केवल इतना ही कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए कोई प्रमाण नहीं है। विज्ञान भिक्षु का कहना है कि यद्यपि प्रकृति से समस्त वस्तुएं विकसित होती हैं, तथापि अचेतन प्रकृति को गतिशील करने के लिए ईश्वर की सानिध्य की आवश्यकता होती है। सांख्य के अनुसार ईश्वर एक विशेष प्रकार का पुरुष है जो स्वभावतः पूर्ण तथा अनंत है, वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है । योग दर्शन में ईश्वर का व्यावहारिक महत्व है। चित्तवृत्तियों का निरोध योग दर्शन का मुख्य लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति ईश्वर प्रणिधान से संभव है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर की भक्ति। मीमांसा दर्शन में ईश्वर को अत्यंत ही तुच्छ स्थान दिया गया है। अतः मीमांसा निरीश्व. रवादी है। शंकर के अद्वैत वेदांत में ईश्वर को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य माना गया है, परंतु परमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं है। शंकर एकमात्र ब्रह्म को ही परमार्थिक दृष्टि से सत्य मानता है। शंकर ने ईश्वर को जगत की तरह व्यावहारिक सत्ता के अंदर रखा है। विभिन्न दर्शनों में ईश्वर की सत्ता का वर्णन से यह बात सिद्ध होती है कि संसार में कोई न कोई ईश्वरीय शक्ति है जिसके कारण मनुष्य बुरे कर्म करने से कतराता है और अच्छे कर्म करने में विश्वास रखता है साथ ही उसे यह भी विश्वास होता है कि यदि

हम किसी कठिन परिस्थिति या मुसीबत में घिरे हैं तो उस समय हमारा एकमात्र सहारा ईश्वर ही? बनता है। इस आस्था एवं विश्वास के भरोसे ही वह संसार में रहते हुए अपने कर्म करता है और कर्म करते हुए ही मोक्ष प्राप्त करता है।

वेद का अध्ययन आज के वैज्ञानिक युग में भी वांछनीय है। वेद ज्ञान के भंडार है इसके अध्ययन से हमें लौकिक और अलौकिक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद को ठीक से समझे बिना भारत के बाद के धार्मिक और दार्शनिक इतिहास को ठीक से नहीं समझा जा सकता। वेद में हिंदू धर्म की अनेक विशेषताएं निहित है। हिंदू धर्म के विशेष ज्ञान के लिए वेद का अध्ययन आवश्यक है। हमें यदि आदिम मनुष्य के संबंध में जानना है तो वेद पढ़ना पड़ेगा। आदिम मनुष्य की मानसिक स्थिति समझने का वेद से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है। वेद में जीवन के लक्षण के संबंध में भी चिंतन पाते हैं ज्ञान और सुख की प्राप्ति ही वेद का परम ध्येय है। वेद दर्शन में जगत को सत्य मान गया है विश्व पूर्णतः व्यवस्थित है, यद्यपि देवताओं को अनेक माना गया है फिर भी विश्व जिस पर वे शासन करते हैं एक है। वेद दो खण्डों में विभाजित किया गया है वे हैं ज्ञानकांड और कर्मकांड। ज्ञान कांड में आध्यात्मिक चिंतन निहित है जबकि कर्मकांड में उपासनाओं का विचार है। कर्मकांड में अधिकार भेद की चर्चा करते हैं। सभी कर्मों को सभी को करने का अधिकार है। अधिकार के बिना कर्म करने से विघ्न उत्पन्न होता है और प्रयत्न विफल होते हैं। वेद में ऋत् के विचार का बड़ा महत्व है। ऋत् के सिद्धांत में कर्म सिद्धांत का बीज अंतर्भूत है। कर्म सिद्धांत के अनुसार जैसा हम बोते हैं, वैसा ही हम काटते हैं। स्वर्ग और नरक के संबंध में वेद में अस्पष्ट विचार मिलते है। वेद दर्शन में पुनर्जन्म का विचार स्पष्ट नहीं है।

उपनिषद के अनुसार ब्रह्म ही परम सत्य है, वही एकमात्र सत्ता है और वह जगत का सार है। उपनिषद दर्शन में जगत को सत्य माना गया है क्योंकि जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति का कारण है। जगत ब्रह्मा से उत्पन्न होता है उसी से पलता है और अंत में उसी में समा जाता है। उपनिषद में कई स्थानों पर जगत को ब्रह्म का विकास माना गया है। ब्रह्म से जगत के विकास का क्रम भी उपनिषदों में निहित है। सर्वप्रथम ब्रह्म से आकाश का विकास होता है आकाश से वायु, वायु से अग्नि का विकास होता है। जगत के विकास के अतिरिक्त उपनिषद में जगत के पांच स्तरों का उल्लेख हुआ है, जिसे पञ्चकोश कहा जाता है। वे हैं अन्यमय, प्राणमय, मानोंमय, विज्ञानमय और आनंदमय। अन्य भारतीय दर्शनों की तरह उपनिषद में बंधन और मोक्ष का विचार निहित थे। मोक्ष को जीवन कर परम लक्ष्य माना गया है अज्ञान बंधन का कारण है अज्ञान के कारण अहंकार उत्पन्न होता है या अहंकार ही जीवो को बंधन ग्रस्त कर देता है इस प्रकार उपनिषद दर्शन भी ज्ञान और विद्या को महत्व देता है इससे वर्तमान मनुष्यों को यह उपदेश मिलता है कि हमें मानव जीवन को सार्थक करने के लिए ज्ञान एवं विद्या के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

भगवद्गीता जिसे साधारणता गीता कहा जाता है हिंदुओं की अत्यंत ही पवित्र और लोकप्रिय रचना है। गीता में केवल धार्मिक विचार ही नहीं बल्कि दार्शनिक विचार भी भरे हैं। गीता को उपनिषदों का सार भी कहा जाता है। गीता का विचार सरल स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है। यद्यपि गीता में उपनिषदों के विचारों की पुनरावृत्ति हुई है परंतु उपनिषद इतना गहन और विस्तृत है कि साधारण मनुष्य के लिए समझना कठिन है। परंतु गीता इतनी सरल और विश्लेषण आत्मक है कि इसे साधारण मनुष्य को समझने में कठिनाई नहीं होती। वर्तमान युग में गीता का अत्यधिक महत्व है। आज के मानव के सामने अनेक समस्याएं हैं, इन समस्याओं का निराकरण गीता के अध्ययन से प्राप्त हो सकता है। अतः आधुनिक युग के मानवों को गीता से प्रेरणा लेनी चाहिए। श्री अरविंद ने गीता के उपदेश को

आधुनिक युग के लिए अनुकरणीय कहा गया है। उन्होंने कहा है मानवीय श्रम, जीवन और कर्म की महिमा का उपदेश अपनी अधिकारवाणी से देकर सच्चे अध्यात्म का सनातन संदेश गीता दे रही है, जो की आधुनिक काल के लिए ध्येयवाद के लिए आवश्यक है। गीता का मुख्य उपदेश लोक कल्याण है । आज के युग में जब मानव स्वार्थ की भावना से प्रभावित रहकर निजी लाभ के संबंध में सोचता है, गीता मानव को परार्थ भावना का विकास करने में सफल हो सकती है। महात्मा गांधी ने गीता की सराहना करते हुए कहां है जिस प्रकार हमारी पत्नी विश्व में सबसे सुंदर स्त्री हमारे लिए है उसी प्रकार गीता के उपदेश सभी उपदेशों में श्रेष्ठ है। गीता का मुख्य उपदेश कर्मयोग है। अतः गीता मानव को संसार का मार्गदर्शन कर सकती है। आज का मानव भी अर्जुन की तरह एकांकी है उसे विभिन्न विचारों में संतुलन लाने के लिए गीता का अध्ययन परमावश्यक है। गीता के स्वधर्म पालन की शिक्षा भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। स्वधर्म की अवधारणा सभी कर्मों की समानता पर बोल देती है । इससे सामाजिक व्यवस्था की रक्षा होती है। स्वधर्म के द्वारा ही व्यक्ति एवं समाज के बीच घनिष्ठ संबंध संभव होता है । यदि प्रत्येक व्यक्ति मनमाने ढंग से काम करना प्रारंभ कर दे तो वैसी स्थिति समाज में अराजकता का विकास होगा जो शांति एवं सुरक्षा के लिए चुनौती होगी। स्वधर्म से आध्यात्मिकता का विकास होता है। किसी भी कर्म को कर्तव्य समझ कर संपादित करने से अहं का विनाश होता है अहं की तुष्टि के लिए कर्म करने से काम, क्रोध, लोभ आदि को प्रवृत्तियों का बढावा मिलता है। अहं का त्याग स्वधर्म पालन से ही संभव है।

श्रेयान्स्व धर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुश्ठितात्

वर्तमान युग में प्रासंगिक एवं अंधविश्वास एवं रुढ विश्वास का विरोध करने की प्रेरणा हमें चार्वाक दर्शन से प्राप्त होती है। चार्वाक शब्द की उत्पत्ति चर्व धातु से हुई है। चर्व का अर्थ चबाना अथवा खाना होता है। इस दर्शन का मूल मंत्र खाओ, पियो और मौज करो। खाने पीने पर अत्यधिक जोर देने के फलस्वरुप इस दर्शन को चार्वाक नाम से पुकारा जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि चार्वाक शब्द दो शब्दों के सहयोग से बना है, वह दो शब्द हैं चारु ओर वाक्य। चारु का अर्थ है मीठा तथा वाक्य का अर्थ है वचन। चार्वाक का अर्थ हुआ मीठे वचन बोलने वाला। चार्वाक दर्शन का भारतीय दार्शनिकों ने जोरदार खंडन किया, जिससे वह घृणा का विषय हो गया है। परंतु चार्वाक का योगदान किसी भी दर्शन से काम नहीं है। वह भारतीय दर्शन के विकास में सहायता ही प्रदान करता है। चार्वाक का विकास एक ऐसे युग में हुआ था जब अंध. विश्वास एवं रुढ़ – विश्वास की प्रधानता थी। बहुत सी बातों को इसलिए सही माना जाता था कि वह परंपरागत थी। ब्राह्मण अत्यधिक प्रशंसा के विषय थे। उनके विचार ईश्वरीय विचार के तुल्य समझ जाते थे। लोगों में स्वतंत्र विचार का अभाव था। वह वाणी के रहते हुए भी मूक थे। चार्वाक दर्शन ने उस युग के प्रचलित अंधविश्वासों के विरुद्ध आवाज उठाई है। किसी भी बात को आंख मूंद कर मानने वाले की जो मनोवृति चल पड़ी थी उसके विरुद्ध उसने विद्रोह किया। ब्राह्मण वर्ग जो पूज्य माने जाते थे उसके विरुद्ध उसने निर्मम शब्दों का व्यवहार किया तथा उनकी कमजोरी को जनता के बीच रखने में कोई कसर नहीं बाकी रखी। उन्होंने उन्हीं बातों को सही मानने का आदेश दिया जो विवेक से संगति रखते हैं। इस प्रकार चार्वाक में स्वतंत्र विचार की लहर पाते हैं। जिसके फलस्वरुप उन्होंने उसे युग के मानव को बहुत से दबाव से मुक्त करने में सफलता प्राप्त की। उसकी यह देन अनमोल कहीं जा सकती है। इस सिलसिले में डॉक्टर राधाकृष्णन का कथन उल्लेखनीय है– **चार्वाक दर्शन में, अतीत काल के विचारों से जो उस युग को दबा रहे थे मुक्त करने का भीषण प्रयास पाते हैं।** सुख को जीवन का लक्ष्य करने के कारण ही वह घृणा का विषय रहा है,

परंतु सुख को जीवन का उद्देश्य मानना अमान्य नहीं प्रतीत होता। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में सुख की कामना करता है। एक देशभक्त मातृभूमि पर अपने को न्योछावर करता है क्योंकि उसे उसे काम से सुख की प्राप्ति होती है। एक संन्यासी सुख की चाह के निमित्त संसार का त्याग करता है। इसके अतिरिक्त मिल और बेन्थम ने भी सुख को जीवन का उद्देश्य माना है।

नैतिक समस्याओं के प्रति जागरुक करने की प्रेरणा हमें बौद्ध दर्शन से मिलती है। बौद्ध दर्शन का उदय उस समय हुआ जब धर्म के प्रति लोगों में असंतोष था। उस समय भारत में ब्राम्हण धर्म का बोल बाला था। जिसमें बलि प्रथा की प्रधानता थी। पशु यहां तक कि मनुष्यों की भी बलि देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। हिंसा के इस भयानक वातावरण में विकसित होने के कारण बौद्ध धर्म जो अहिंसा पर आधारित था, भारत में लोकप्रिय हो गया था। कुछ भी समय बाद यह धर्म भारत ही नहीं सीमित रहा अपितु नृपों और भिक्षुओं की सहायता से दूसरे देश में भी फैला। इस प्रकार यह धर्म विश्वधर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुअ. ा। प्रत्येक दार्शनिक कवि की तरह समय की प्रविधियां से प्रभावित होता है। जिस समय बुद्ध का जन्म हुआ था उस समय मानव शास्त्र की समस्याओं में मग्न था। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा जगत और ईश्वर जैसे विषयों के चिंतन में डूबा हुआ था जितने विचारक थे उतने मत हो गए थे। इस दार्शनिक प्रवृत्ति का फल यह हुआ कि लोगों का नैतिक जीवन निष्प्राण हो गया था। लोग जीवन के कर्तव्य को भूल रहे थे। वह संसार में रहकर भी संसार से कोसों दूर थे। नीतिशास्त्र के नियमों के प्रति लोगों की आस्था उठने लगे थी जिस प्रकार विचार क्षेत्र में पूरी अराजकता थी उसी प्रकार नैतिक क्षेत्र में भी अराजकता थी। उस समय ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो लोगों को नैतिक जीवन की समस्याओं के प्रति जागरुक बनाने में सहायक हो। बौद्ध इस समय की मांग पूर्ति करने में पूर्ण रुप से सफल हुए। बुद्ध एक समाज सुधारक थे।

जिस समय भारतवर्ष में बौद्ध दर्शन का विकास हो रहा था उसी समय वहां जैन दर्शन भी विकसित हो रहा था। दोनों दर्शन छठी शताब्दी में विकसित होने के कारण समकालीन दर्शन कहे जा सकते हैं। जैनों ने तीर्थकरों को आदरणीय पुरुष कहा है। उनके बताएं मार्ग पर चलकर मानव बंधन से मुक्त हो सकता है। तीर्थंकरों को कभी–कभी जिन नाम से भी संबोधित किया जाता है। जिन शब्द जि से बना है। जि का अर्थ विजय होता है। इसलिए जिन का अर्थ होगा– विजय प्राप्त करने वाला। सभी तीर्थंकरों को जिन की संज्ञा से विभूषित किया जाता है क्योंकि उन्होंने राग द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है । यद्यपि जैन मत के प्रवर्तक 24 तीर्थंकर थे फिर भी जैन मत का विकास और प्रचार का श्रेय अंतिम तीर्थंकर महावीर को कहा जाता है। इनके अभाव में संभवतः जैन मत की रूपरेखा अविकसित रहती। जैन मत मुख्यतः महावीर के उपदेशों पर ही आधारित है। जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को त्रीरत्न के नाम से संबोधित किया जाता है । यही मोक्ष के मार्ग हैं।

जैन का स्याद्वाद समाज के लिए लाभप्रद है। इससे उदार मनोवृति का विकास होता है तथा दूसरों के विचारों एवं दृष्टिकोण के प्रति श्रद्धा रखने की सीख मिलती है। जैनों का स्याद्वाद सर्वधर्म समन्वय के लिए लाभदायक हो सकता है क्योंकि प्रत्येक धर्म किसी न किसी रूप में सत्य की खोज करता है। हर धर्म अपने दृष्टिकोण से सही है। मानव स्वभाव होता है कि वहअपने धर्म को ऊंचा तथा अन्य धर्म को न्यून समझता है, जिसके फलस्वरुप धर्म के नाम पर युद्ध होते जा रहे हैं। जैन का स्याद्वाद अन्य धर्म को समान दृष्टि से देखने का आदेश देता है तथा इसकी सत्यता को स्वीकारता है। जैन दर्शन का यह संदेश उत्स. ाहवर्धक है।

सांख्य दर्शन प्राचीन होने के साथ ही साथ मुख्य

दर्शन भी है। वेदांत दर्शन के बाद यदि कोई महत्वपूर्ण दर्शन हुआ है तो वह सांख्य ही है। प्रोफेसर मैक्समूलर ने भी वे. दांत के बाद सांख्य को ही महत्वपूर्ण माना है। सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल माने जाते हैं। यह एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनकी विशिष्टता का जीता जागता उदाहरण हमें वहां देखने को मिलता है, जहां कृष्ण ने भागवद् गीता में कपिल को अपनी विभूतियां में गिनाया है। **सिद्धानां कपिलो मुनिः** अर्थात मै सिद्धों में कपिल मुनि हूं। डॉ राधाकृष्णन ने कपिल को बुद्ध से एक शताब्दी पूर्व माना है'। सांख्य शब्द सं और ख्या के संयोग से बना है। सं–सम्यक् और ख्या ज्ञान होता है। इसलिए सांख्य का वास्तविक अर्थ हुआ सम्यक् ज्ञान। सम्यक ज्ञान का अर्थ है– पुरुष और प्रकृति के बीच की भिन्नता का ज्ञान। कुछ विद्व ानों का मत है कि सांख्य नाम संख्या शब्द से प्राप्त हुआ है। सांख्य दर्शन का संबंध संख्या से होने के कारण ही इसे सां ख्य कहा जाता है। सांख्य दर्शन में तत्वों की संख्या बताई गई है। तत्वों की संख्या को सांख्य ने 25 माना है। सांख्य का सारा दर्शन उसके कार्य कारण सिद्धांत पर आधारित है। सांख्य के कार्य कारण सिद्धांत को सत्कार्यवाद के नाम से विभूषित किया गया है। उनके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व उपादान कारण में अव्यक्त :प से मौजूद रहता है। कार्य और कारण में सिर्फ आकार का भेद है। कारण अव्यक्त कार्य और कार्य अभिव्यक्त कारण है। वस्तु के निर्माण का अर्थ है – अव्यक्त कार्य का जो कारण में निहित है और कार्य में पूर्णतः अभिव्यक्त होना। उत्पत्ति का अर्थ अव्यक्त का व्यक्त होना है और इसके विपरीत विनाश का अर्थ व्यक्त का अव्यक्त हो जाना है। इस सिद्धांत को भारतीय दर्शन में सांख्य के अतिरिक्त योग, शंकर, रामानुज ने पूर्णतः अपनाया है। भग. वद्गीता के **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** का भी यही तात्पर्य है इस प्रकार भागवद्गीता से भी सांख्य के सत्कार्यवाद की पुष्टि हो जाती है। सांख्य दर्शन में संसार के दुखों की अत्यधिक महत्व दी गई है विश्व तीन प्रकार के दु खों से व्याप्त है आदिदैविक आदिभौतिक और आध्यात्मिक। बुद्ध की तरह सांख्य सिर्फ संसार को दुख में बात कर ही मौन नहीं होता है बल्कि दुखों के निवारण का उपाय ढूंढने का प्रयास भी करता है। इस प्रकार वर्तमान युग में मनुष्य की सबसे बड़ी पीड़ा या कष्ट का जो कारण है, उस कारण को जानने और उसे दूर करने में सांख्य दर्शन अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकता है।

योग के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत का उपयोग

वर्तमान आर्थिक उदारीकरण और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मनुष्य जीवन में उत्पन्न अतिरिक्त स्पर्धा और गति के कारण उसके जीवन की समस्याएं ज्यादा उग्र हो गई हैं। रोजगार और बेकारी की समस्या बहुत बढ़ गई है। महानगरों में अन्न, वस्त्र और आवास जैसी मूलभूत जरूरत को पूरा करना भी कठिन हो गया है। दूसरी ओर मनुष्य के जीवन में न्यूनतम जरूरत की सीमाएं फैलती जा रही हैं। लालसाएँ बड़ी रही है। अतृप्ति की कोई सीमा नहीं रह गई है। महिलाओं की भावनात्मक समस्याएं और जटिल हो गई हैं। गृहिणी को घर का काम और अर्थार्जन इन दोहरी जिम्मेदारियां को निभाना पड़ रहा है ।इस कारण नई–नई पारिवारिक समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं। वृद्धो की समस्याएं भी सामने आ रही हैं। स्पर्धा परीक्षाओं के कारण छात्र वर्ग परेशान हैं। आधुनिक सुख सुविधाओं ने मनुष्य के जीवन को सुलभ और आसान तो बना दिया पर उनका जीना बहुत कठिन कर दिया है। मनुष्य के मन में चिंता हताशा और उद्योग बढ़ गया है और इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य हृदयरोग, मधुमेह, उच्च रक्तचाप जैसी बीमारियों का शिकार हो रहा है। काम के स्थान पर लगे लगातार खड़े रहना अथवा कुर्सी पर बैठे रहने के कारण शरीर के सामान्य मुक्त कार्यकलापों में बाधा उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण रीढ़ की बीमारी, गठिया रोग, कंपवात और शरीर पीड़ा आदि बढ़ जाते हैं। साथ ही निरंतर बौद्धिक कार्य में लगे रहने वाले को सिर दर्द या मानसिक विकार

उपहार स्वरूप मिल जाते हैं। मानव जीवन की अड़चनों और दुखों पर विजय प्राप्त करने के लिए बहुत उपयुक्त और नई जीवन शैली का विचार करता रहा और इस प्रयास में जो एक महत्वपूर्ण विचार से उसका साक्षात्कार हुआ वह है–योग साक्षात्कार। भारतीय योग दर्शन जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करने वाला एकमात्र शास्त्र है।

संस्कृत और योग का रिश्ता बहुत गहरा है। योग के संपूर्ण दर्शन पद्धति और शास्त्र मूल :प से संस्कृत में ही लि खे गए हैं। पतंजलि का योग सूत्र भागवत गीता और उप. निषद् आदि शब्द संस्कृत में ही लिखे गए हैं। आज योग को वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दृष्टि से समझाने के लिए इन्हीं ग्रंथों के संस्कृत सूत्रों का सहारा लेना पड़ेगा।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

अर्थात योग का अर्थ है मन की वृत्तियों का निरोध करना। योग शब्द युज् धातु से घञ् प्रत्यय लगने पर बनता है जिसका अर्थ है– समाधि। योग में मनुष्य में शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक परिवर्तन करने की शक्ति तो है साथ ही उसके अपने व्यक्तिगत सांस्कृतिक स्तर और पूरे समाज के सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा उठाने की क्षमता भी है। इसलिए यह मानव जाति के लिए वरदान है। ज्ञान प्राप्ति के लिए मन को संतुलित एवं सुसंस्कृत बनाने और बुद्धि को ग्रहण न लगने देने के उद्देश्य से ही योग शास्त्र का सृजन हुआ है। पतंजलि ने चित्र वृत्तियों के निरोध और ईश्वर प्राप्ति के लिए किए जाने वाले प्रयासों का उल्लेख भी किया है। जिसके आठ अंग है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यही अष्टांग योग कहलाता है। यह सभी नाम संस्कृत में ही मिलते हैं।

यम के अंतर्गत सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह सार्वभौम नैतिक आचार– सिद्धांत आते हैं। नियम के अंतर्गत स्वच्छता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति का महत्व शरीर मन और आत्म शुद्धि के लिए बताया गया है। यह और नियम के कारण योगी अपनी भावना व वासनाएँ नियंत्रण में रख सकता है तथा दूसरों के साथ अपनेपन से जुड़ सकता है। यह आज के समय के लिए जहां लोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरे को अहित पहुंचने में भी संकोच नहीं करते आवश्यक मूल मंत्र है यह हमें हमारी संस्कृत भाषा ने प्रदान किया है। अष्टांग योग का तीसरा अंग है– आसान। आसन के कारण शरीर स्वस्थ और बलवान बनता है। इन आसनों में शवासन त्रिकोणासन, पद्ममासन, परिपूर्ण नावासन, शीर्षासन, वक. ासन, कुर्मासन, शलभासन जितने भी नाम है ये सब संस्कृत शब्द ही हैं। प्राणायाम चौथा अंग है। इसमें मुख्यतः श्वास और प्रश्वास का लयबद्ध नियंत्रण करना होता है। पांचवें अंग प्रत्याहार में इंद्रिय नियमन अर्थात इंद्रियों पर विजय पाना बताया गया है। ये दोनों अंग अंतरंग साधना है। शरीर इन्द्रिय और चित्त को एक लक्ष्य अर्थात् परमात्मा पर कैसे केंद्रित किया जाए, धारणा अंग में इस बात का विचार किया गया है। सातवां अंग है–ध्यान । इसमें लक्ष्य का चिंतन करते समय उसमें कैसे ध्यानस्थ हो इस बात का विवेचन है। अंतिम अंग समाधि में लक्ष्य से तादात्म्य पाकर अद्वैत साधना अपेक्षित है। साधक इस बात को जानता है कि ईश्वर हृदय में आत्मा के रूप में वास करता है। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन अंगों के द्वारा साधक अपने हृदय में स्थित आत्मा के केंद्र तक ईश्वर तक पहुंच सकता है। इसके बाद साधक और ईश्वर एक रूप हो जाते हैं।

पतंजलि योग सूत्र के द्वितीय पद साधन के 16वें सूत्र में कहां गया है– **हेयं दुःखं अनागतम्।** अर्थात भविष्य में आने वाले दुख को भी योग के कारण टाला जा सकता है। ऋग्वेद के अनुसार–

युञ्जते मन उत्तमं नाभि पृष्ठं न सध्वरे।

यहां युञ्जते (योग करना) शब्द यह दर्शाता है कि वेद काल से ही ध्यान और साधना को योग कहा गया। श्रीमद्भागवद्गीता के छठे अध्याय के तीसरे श्लोक में श्री

कृष्ण ने कहा है कि–

स दुःखसंपर्कवियोग योगसंज्ञितम्।

दुख से मुक्ति ही योग है। आधुनिक संदर्भ में भी यह परिभाषा अत्यंत प्रासंगिक है। चरक संहिता का वचन है–

स्वास्थ्यस्य स्वास्थ्य रक्षणं आतुरस्य विकार प्रशमनं च।

योग व्यायाम नहीं बल्कि आत्मा और परमात्मा के मिलन की साधना है। श्रीमद् भागवत गीता के अनुसार–

सर्व भूतस्थमात्मनं सर्वभूतानि चात्मानि
पश्यति योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः

सच्चा योग केवल व्यक्तिगत साधना नहीं अपितु सबको एक समान देखना है।

कठोपनिषद में भी कहां गया है

तं योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणम्।

इंद्रिय का संयम और स्थिरता ही योग है। मांडूक्योपनिषद् भी कहती है– ओंकार एवेदं सर्वम्। आधुनिक शोध भी बताते हैं कि ओऽम् मंत्र के जाप से मस्तिक में सकारात्मक तरंगे उत्पन्न होती है। इस प्रकार ओंकार के जाप से मानसिक तनाव, मानसिक दुर्बलता आदि दुख दूर होते हैं। और आसन तथा प्राणायाम से शारीरिक जैसे उक्त रक्तचाप आदि बीम. ारियां भी दूर होती हैं। आधुनिक युग में योग भारत की धरोहर ही नहीं बल्कि समस्त मानवता का मार्गदर्शन बन चुका है। परंतु योग के वास्तविक स्वरूप संस्कृत भाषा के माध्यम से ही संभव है संस्कृत श्लोक, मंत्र, सूत्र योगाभ्यास को आध्यात्मिकता एवं गहराई प्रदान करते हैं। वास्तव में योग और संस्कृत का यह सहअस्तित्व ही विश्वशांति और मानवता के कल्याण का सशक्त आधार है। योग और संस्कृत मिलकर वसुधैव कुटुंबकम् की भावना को आधुनिक विश्व में साकार कर रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. संस्कृत में विज्ञान तथा वैज्ञानिक तत्व –प्रो हरिदत्त शर्मा
2.ऋग्वेद–3/22/04, यजुर्वेद–12/50
तैत्तिरीयसंहिता–04/2/4/03
3. यजुर्वेद –15/33/34
4. वृहत्जाबालोपनिषद्–2/8
5. सद्धांतशेखर –15/21/22
6. ऋग्वेद 10/77/5
7. यजुर्वेद–16,17 से19
8. संस्कृत वाङ्गमये विज्ञानं– डॉ0 रहस बिहारी द्विवेदी
9. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास– आचार्य बलदेव उपाध्याय
10. भारतीय दर्शन –प्रो हरेंद्र प्रसाद सिन्हा
11. श्रीमद्भागवतगीता–18/47
12. सभी के लिए योग– –बी.के.एस. आयंगार
13. पतंजलि योगसूत्र–1/2
14. ऋग्वेद 10/144/9
15. श्रीमद्भागवतगीता–6/29
16. पतंजलि योगसूत्र–2/16
17. कठोपनिषद्–2/6/11
18. चरक संहिता–30/26

*****

हिंदी साहित्य में बनारस नगरी और क्षेत्र के रचनाकारों का योगदान

-डॉ. सन्मुख नागनाथ मुच्छटे,
सहयोगी प्राध्यापक,
हिंदी विभाग,
श्री छत्रपती शिवाजी महाविद्यालय,
उमरगा, जिला धाराशिव।
मो. नंबर:९६८९०६३७१५
Email-sunmukhm@gmail.com

प्रास्ताविक: प्राचीन भारतीय संस्कृति, परंपरा, आस्था और अध्यात्म के क्षेत्र में 'वाराणसी' का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसके उल्लेख हमें इतिहास में भी प्राप्त होते हैं। यह स्थान भारत के उत्तर प्रदेश में स्थित है। हिंदी साहित्य के साहित्यिक चिंतन-मंथन की प्रक्रिया में वाराणसी क्षेत्र की अद्भुत भूमिका रही है। जब कभी भी हिंदी साहित्य के विकासात्मक गति पर चर्चा होगी, तब वाराणसी के बिना बात पूर्ण नहीं हो पाती। वाराणसी में हिंदी साहित्य और संस्कृति की जीवंतता का दर्शन पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। इस भूमि में अनेक हिंदी रचनाकारों ने जन्म लिया और हिंदी साहित्य की सेवा में समर्पित हो गए। इन समस्त रचनाकारों ने हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं को नई ऊर्जा, दिशा और विविध आन्दोलनों के लिए प्रेरणा दी। इसीलिए हिंदी साहित्य वाराणसी के बिना अधूरा रह जाता है। संपूर्ण हिंदी साहित्य पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि हिंदी साहित्य की सृजन प्रक्रिया में वाराणसी क्षेत्र और वहां के रचनाकारों ने विशेष भूमिका निभाई है। इसलिए यह नगरी या क्षेत्र केवल आध्यात्मिक न होकर साहित्यिक भूमि भी बन गई है। हिंदी साहित्य के सभी कालों में इस नगरी ने साहित्यिक दृष्टि से अपना महत्त्व प्रतिपादित किया है। हिंदी साहित्य के पूर्ववर्ती काल में रैदास और कबीर से लेकर वर्तमान समय में डॉ. नीरजा माधव, उमेश प्रसाद सिंह और डॉ. मुक्ता जैसे अनेक लेखक इस नगरी की साहित्य परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं।

हिंदी साहित्य में बनारस नगरी और क्षेत्र के रचनाकारों का योगदान: शोध-पत्र की सीमा को ध्यान में रखते हुए मैंने औचित्य के अनुकूल प्रस्तुत शोध-पत्र में वाराणसी क्षेत्र के उन कथाकारों का अध्ययन किया गया है, जिनका जन्म सन् १९५० के बाद हुआ है।इन रचनाकारों की सूची में त्रिलोकनाथ पाण्डेय, रामजी प्रमाद 'भैरव', रामकेवल शर्मा 'मुनि जी', सुनील बिक्रम सिंह, अवधेश प्रीत, देवेंद्र, वीरेन्द्र सारंग, ओम धीरज, रेणुका अस्थाना, श्याम बिहारी 'श्यामल', धीरेन्द्र कुमार पटेल, अमित श्रीवास्तव, पद्मा मिश्रा, वर्तुल सिंह, कुन्दन यादव, संगीता बलवन्त, डॉ. सुरेश यादव, अवैद्य आलोक पाण्डेय, गजाधर शर्मा 'गंगेश', आनन्द कुशवाहा, रमाकान्त राय, विजयानंद तिवारी, सैयद जैगम इमाम, रामवदन राय, डॉ. अशोक द्विवेदी, अरुण कुमार 'मित्र' आदि प्रमुख हैं। इन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में विशेष रूप से आधुनिक काल और वर्तमान मनुष्य जीवन की समस्याओं, समाज की परिवर्तित स्थितियों और मानव जीवन के विविध पहलुओं को चित्रित किया है। इस नगरी की प्राचीनता के संदर्भ में अमेरिकी लेखक मार्क ट्वेन ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने कहा कि-"बनारस का इतिहास अमेरिकी से भी पुरातन है, परम्पराओं से भी पुराना है, किवदंतियों (लीजेंड्स) से भी प्राचीन है और जब इन सबको एकत्र कर दें तो उस संग्रह से भी दोगुना प्राचीन है।"[१] इस नगरी के संदर्भ में भारतीय संस्कृति में माना गया है कि यंहाँ जन्म लेना और मृत्यु पाना दोनों ही शुभ और कल्याणकारी हैं। इस नगरी के संदर्भ में बी.सी.लाहा लिखते हैं कि -"काशी जनपद के जिन ग्रामों इत्यादि का वर्णन आता है, उनमें से अधिकतर आधुनिक बनारस तहसील के अथवा जौनपुर के थे, जो प्राचीन काशी जनपद का ही अंग था। प्राचीन मृगदाव और इसिपत्तन जिसका वर्तमान नाम सारनाथ है, बनारस तहसील में है तथा मच्छिकाखंड (वर्तमान मछली शहर) और कीटगिरी(केराकत) जौनपुर में है।"[२] किसी भी क्षेत्र का परिचय या उसकी महत्ता उस क्षेत्र की शिक्षा, साहित्य, परंपरा, संस्कृति और कला के धरातल पर होती है। बनारस नगरी और क्षेत्र इस दृष्टि से संपन्न है। इसीलिए अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इसका महत्त्व अधिक है। बनारस नगरी की यह विशेषता इस क्षेत्र में सृजित साहित्य कृतियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। हिंदी साहित्य को सुनिश्चित आकार देने में बनारस नगरी और क्षेत्र के कवि, लेखक तथा आलोचकों का असाधारण महत्त्व है। यदि इनको हिंदी साहित्य से अलग कर दिया तो हिंदी साहित्य पंगु बन जाएगा और उसमें एक प्रकार की गतिहीनता परिलक्षित होगी। क्योंकि इस क्षेत्र के कबीर, तुलसीदास, रैदास जैसे संत कवियों से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द और आधुनिक काल के अनेक साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्य को नई दृष्टि, ऊर्जा और पहचान दी है। इन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से केवल साहित्यिक चिंतन-मंथन को ही प्रस्तुत नहीं किया बल्कि समकालीन परिवेश, सामाजिक जीवन में व्याप्त समस्याओं और सर्व-सामान्य लोगों की पीड़ा को भी अपनी रचनाओं का मूल स्वर बनाया है। इस पर प्रकाश डालते हुए हेमंत शर्मा जी लिखते हैं कि-"साहित्य अतीत से प्रेरणा लेता है। वर्तमान को चित्रित करता है और भविष्य का मार्गदर्शन करता है। काशी के साहित्यकारों ने हर युग का नेतृत्व किया। भक्तिकाल, आधुनिक हिंदी,

द्विवेदी युग, छायावाद, आधुनिक कहानी, आलोचना, पर्शियन थिएटर के हर युग का केंद्र यही शहर रहा। कविता में कबीर (भक्तिकाल) से लेकर धूमिल (जनवादी कविता) तक काशी का मजबूत गढ़ रहा है।"[३] इन रचनाकारों की अपने परिवेश के प्रति प्रतिबद्धता होने के कारण उनकी रचनाओं में समकालीन स्थिति का जस का तस चित्रण हुआ है। इसीलिए इस क्षेत्र के साहित्य में तत्कालीन समाज के विविध चित्र स्पष्ट रूप से अंकित हुए हैं।

जब संपूर्ण विश्व कोरोना महामारी के संकट से जूझ रहा था, उस समय बनारस क्षेत्र के रचनाकारों ने तत्कालीन समाज की परिस्थिति के विविध दृश्यों को अपनी रचनाओं में वर्णित करने का कार्य किया है और समय के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रकट की है। इस दृष्टि से डॉ. नीरजा माधव द्वारा लिखित 'कोरोना' (सन् २०२०) और अरुण कुमार 'मित्र' द्वारा सृजित 'अथ कोरोना कथा' (सन् २०२५) उपन्यासों का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। इन उपन्यासों में कोरोना महामारी के समय की स्थिति का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत हुआ है। इसमें महामारी से प्रभावित लोगों की भयग्रस्तता, संवेदनहीनता, असहाय वेदना और मृत्यु के प्रति दृष्टि आदि का यथार्थ चित्रण हुआ है। डॉ.नीरजा माधव जी का उपन्यास "कोरोना" की नायिका मधुविद्या है, जो पेशे से टीवी एंकर है। उसका पति ज्योतिर्मय प्रोफेसर है और उनके दो छोटे-छोटे बच्चे हैं। प्रस्तुत उपन्यास में दिखाया गया है कि कैसे चीन के वुहान से शुरू हुआ कोरोना वायरस धीरे-धीरे पूरी दुनिया में फैल गया और भारत भी उसकी चपेट में आ गया। महामारी के समय उपन्यास की नायिका मधुविद्या बाहरी दुनिया के डर और असहाय पीड़ा से कटकर अपने अंतर मन में शांति खोजने की कोशिश करती है। इस समय वह अपनी पसंद को विशेष महत्त्व देती है और इसके माध्यम से वैश्विक संकट से व्याप्त परेशानियों से मुक्ति चाहती है। लेखिका ने इस महामारी में मृत लोगों के शवों की अवहेलना का भी चित्रण किया है। महामारी का भय लोगों के अंदर इतना बैठ गया था कि वे अपने परिजनों के शवों को भी कंधा देने के लिए कतरा रहे थे। अर्थात मृत शरीर को अंतिम संस्कार के लिए चार कंधे तक नहीं मिल पाते थे। लोग अपने घरों में कैद हो गए थे और दूसरों की मदद करने से डरते थे। इस प्रकार यह उपन्यास कोरोना महामारी में सिर्फ एक परिवार की कहानी नहीं कहता, बल्कि उसके माध्यम से तत्कालीन समय में व्याप्त पूरे समाज की त्रासदी और डर के चित्र को जीवंतता के साथ प्रस्तुत करता है।

अरुण कुमार 'मित्र' द्वारा लिखित 'अथ कोरोना कथा' उपन्यास में भी कोरोना महामारी से ग्रस्त सामाजिक परिवेश का यथार्थ चित्रण हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास में चित्रित इस वर्णन को देखिए-"पूरे देश में लॉकडाउन, चिलचिलाती धूप-धरती पर चलती-फिरती मानव की आकृतियां, पसीने से तर-बतर जनसैलाब, कहीं पुलिसिया डंडा तो कहीं भूख-प्यास से बेहाल घिसटती-सिसकती आम जनता, सड़कों पर अंतिम सांसें गिनती लाशें, तो कहीं पत्नी से छुपाकर अपने मरे हुए बेटे को कंधे पर चिपकाया मजबूर मजदूर, तो कहीं साईकिल की फ्रेम में अपनी पत्नी की लाश को घसीटता बेबस बेचारा वृद्ध, तो कहीं गंगा की रेत में लाशों को छुपाता बाबा का बुलडोजर, कितना भयावह दृश्य! आदमी तो आदमी, रेल-रोड-रास्ते का भी अपने गंतव्य की ओर जाने से इनकार।"[४] इसके साथ ही लेखक ने उपन्यास में शासन और प्रशासन की कमजोरियों और लापरवाहियों को भी उजागर किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने बुद्धकालीन विचारधारा का समर्थन किया है और उसका संबंध वर्तमान से जोड़ने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में लेखक ने मूर्तिपूजा का विरोध करते हुए लिखा है कि -"लोगों को ठगने के लिए हमने कुछ देव पिंड बनाए और कुछ भूत पिंड। फिर क्या, सामने वाला डर के मारे थर-थर कांपता है। वह इस कदर डरा होता है कि दिन-रात काम करने के बाद भयंकर गर्मी में भी निर्जला व्रत रखता है। अपनी गोदी वाले छोटे से बच्चे को भूखा छोड़कर, उसी पिंड पर चढ़ावा चढ़ाने आ जाता है और हम लोगों से खुद ही कहता है कि चलिए देवता, भोग लगा लीजिए। यह सब हम सदियों से करते आ रहे हैं और हजारों साल करते रहेंगे। ये मूल निवासी सदियों से हमारे गुलाम हैं और आगे भी गुलाम रहेंगे।"[५] यह उपन्यास सामान्य लोगों की कठिनाइयों और उनकी पीड़ा को ऐसे चित्रित करता है कि जिसे पढ़कर पाठक गहराई से जुड़ जाते हैं। यह उपन्यास पाठकों को सोचने के लिए मजबूर करता है कि संकट के समय मनुष्य और व्यवस्था दोनों भी मूल स्थिति में आ जाते हैं।

बनारस क्षेत्र के साहित्यकारों के रचनाओं की और एक विशेषता यह है कि उनके साहित्य में निहित जातिवाद जैसी कुरीति पर प्रहार करने वाला चित्रण। इस चित्रण के द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया है कि जातिवाद मनुष्य और समाज के विकास के लिए घातक है। इसके माध्यम से मानव जीवन कभी भी उचित दिशा की ओर अग्रसर नहीं हो पाता। अर्थात इसके माध्यम से इन रचनाकारों ने मनुष्य और समाज को जागृत करने का ही प्रयास किया है। उमेश प्रसाद सिंह जी द्वारा लिखित 'यह उपन्यास नहीं है' में विविध जातियों की एकता को सुंदर रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा गया है कि-"ठकुरहन के साथ चमरौटी, कहरान, लोहरान, कोहरान, तेलियान, अहिरान सब-के-सब तीन दिन-तीन रात जमे रहे नहर पर चौकसी करते। कोई नहीं रुका गाँव में। रुकते भी कैसे?..... उनके जीवन की संघर्ष गाथा के उल्लास पर्व के पन्ने पानी के पेट में गल रहे थे। सबको अपनी ड्योढ़ी पर जल रहे दीपों को बचाने की बेचैनी एक जैसी थी। जातियाँ अलग-अलग हो सकती हैं। मगर मुसीबत की, विपत्ति की जाति कहाँ होती है? पीड़ा में, दु:ख में छूत-अछूत का कोई भेद कहाँ होता है?"[६] जातिगत समस्या पर टिप्पणी करते हुए रामकेवल शर्मा अपने उपन्यास 'डफाली' में लिखते हैं कि-"भारत जातियों का देश है। यहाँ किसी भी व्यक्ति को अपनी कोई न कोई जाति निश्चित करके ही रहना पड़ेगा।... हजारों साल की जड़िमाग्रस्त व्यवस्था कभी नहीं छूट सकती। सामाजिक सम्मान भी जातियों के आधार पर है।"[७] समाज के विकास में साहित्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। साहित्य, समाज का दर्पण होने के कारण वह समाज में स्थित विविध समस्याओं को यथार्थ धरातल पर प्रस्तुत कर लोगों को जागृत करता है। इसलिए समाज की सोच को उचित दिशा प्राप्त होती है और समाज नए पथ पर चलने के लिए तैयार हो जाता है। लेकिन जातिवाद समाज की गंभीर बीमारी है। समाज में यह भावना धीरे-धीरे वृद्धिगत होते हुए धार्मिकता का रूप धारण करती है। ऐसी स्थिति में समाज में विघटन की स्थिति निर्माण होती है। फलस्वरूप धर्म के कारण सब टुकड़ों में बट जाते हैं। साहित्य इस सामाजिक कुरीति पर निष्पक्ष ढंग से

लेखन कर समाज को सचेत कर देता है। इस संदर्भ में आनंद कुशवाहा अपने कथा संग्रह 'पांच बेटों वाली मां' में लिखते हैं कि-"आपका धर्म भेदभाव, जाति-पाति एवं छुआ-छूत का जनक है। आपका धर्म समाज में असमानता, अराजकता, विषमता और नफरत पैदा करता है। इस धर्म ने समाज को हिंदू, मुसलमान, सिख, इसाई मतों में बाँट दिया है। इसे धर्म नहीं, संप्रदाय कहते हैं।"[८]

समय के अनुसार हिंदी साहित्य में कहानी के साथ-साथ लघुकथा भी एक प्रसिद्ध विधा के रूप में पाठकों में प्रतिष्ठित हुई है। लघुकथा की विशेषता यह होती है कि इनमें घटनाएं बहुत छोटी-छोटी होती हैं और कथाकार उन घटनाओं को कम से कम शब्दों में पाठकों के सम्मुख अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। अर्थात यहां पर वह 'गागर में सागर भरने' की उक्ति को चरितार्थ करता है। इस विधा के विकास में बनारस क्षेत्र के कथाकार भी पीछे नहीं रहे हैं। इस दृष्टि से 'लघुकथा' विधा के कथाकार के रूप में आनंद कुशवाहा का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने अपनी लघु कथाओं में परिवर्तित समाज और मनुष्य के बदलते जीवन- मूल्यों को मूलाधार बनाया है इस संदर्भ में उनका कथन है कि-"आज परिवर्तन का युग है। प्रकृति में बदलाव नजर आ रहा है। समाज की संस्कृति और मान्यताएँ बदल रही हैं। देश की राजनीति में उलट-फेर हो रहा है, तब वक़्त के मुताबिक आपको भी बदलना पड़ेगा क्योंकि जो समय, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार अपने को नहीं बदलते, वे विकास की दौड़ में पीछे छूट जाते हैं। पिछल्लू बनकर रह जाते हैं और जो सही वक़्त पर उचित निर्णय लेते हैं, वो ही सफलता के शीर्ष को स्पर्श करते हैं।"[९] इस दृष्टि से उनके प्रमुख लघुकथा संग्रहों में 'अंगूर खट्टे हैं', 'बेटियाँ बड़ी हो रही हैं', 'पाँच बेटों वाली माँ', 'पत्थर के भगवान', 'फौजी काका', और 'कर्म ही पूजा है' आदि हैं। सामाजिक यथार्थ को मूल केंद्र में रखकर लिखने वाले कथाकारों में रामकेवल शर्मा 'मुनि' सुप्रसिद्ध हैं। उनके साहित्य में प्रेमचंद युगीन परंपरा के लक्षण दिखाई देते हैं। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'कापर करूं श्रृंगार', 'चितवन की छाँव' 'लोहे की स्त्री', 'गाँव की ओर', 'चंद्रेश्वर दास', 'कड़ाह की ताई', 'गजाला', 'त्रिकोण', 'डफाली' आदि आते हैं। उन्होंने 'निरबंसिया' कहानी में जाति की समस्या पर मौलिक लेखन किया है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं कि-"मानव की कोई जाति नहीं, वह केवल मानव है। अपनी जिद और अज्ञानता के कारण मनुष्य अपने ऊपर कुछ अनुबंधित व्यवहार थोपकर, एक विशेष जाति या धर्म की घोषणा करता है। यह सरासर वैचारिक उद्वेग है, जो उसे वैश्विक संबंधों से अलग करके, एक खास पक्ष में सीमित रहकर जीने-मरने के लिए विवश कर देता है।"[१०] इस क्षेत्र के रचनाकारों की और एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्य की विशेषताओं का अंगीकार कर उनसे प्रेरणा ली है और उस पृष्ठभूमि पर अपना सृजन कार्य भी किया है। ग्रामीण परिवेश को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास 'बौराहा' में अवेद्य आलोक जी ने गांवों में व्याप्त विविध समस्याओं पर यथार्थ प्रकाश डाला है। इसमें ग्रामीण जीवन की सभी पहलुओं का उद्घाटन हुआ है। इस दृष्टि से यह उपन्यास विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। इसी श्रृंखला में डॉ. उमेश प्रसाद सिंह जी के उपन्यास आते हैं। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'यह उपन्यास नहीं है', 'हस्तिनापुर एक्सटेंशन' आदि का विशेष उल्लेख किया जाता है।

इनके अलावा बनारस की हिंदी साहित्य परंपरा को निरंतर आगे बढ़ाने में डॉ.ओमप्रकाश सिंह (चिंतामणि (भाग-4) और यमुना पर्यटनम्), डॉ. अशोक कुमार सिंह (फकीर का लकीर), विपिन कुमार (अंतिम विकल्प और कहत कबीर सुनहु रे तुलसी), डॉ. राघवेंद्र नारायण सिंह (दहशत, हस्तक्षेप) और रामदेव सिंह (टिकट प्लीज, काले कोट का सफेद दिन),अमिताभ शंकर राय का(दर्जन भर,),श्री प्रकाश श्रीवास्तव (परफेक्ट सर्जिकल स्ट्राइक और चाँद पर रजिस्ट्री), संजय गौतम (आखिरी टुकड़ा), कृष्णदेव नारायण राय (बंटवारा, रघुवा, बलिराम भगत),अंबिका प्रसाद गौड़ (जयतु जय लंकेश), श्याम बिहारी (श्यामल, धपेल और अग्निपुरुष), प्रसन्नवदन चतुर्वेदी, सूर्यनाथ सिंह, राजेंद्र आहुति, राजेश राजी, अशोक द्विवेदी, पवन कुमार वर्मा, डॉ. मुक्ता, श्रीमती भगवंती सिंह, उषा शर्मा और विद्या सिंह आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

सार रूप में कहा जा सकता है कि बनारस केवल धर्म और अध्यात्म का केंद्र ही नहीं है, बल्कि इस नगरी और क्षेत्र ने हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हिंदी साहित्य को नई दिशा, ऊर्जा और संवेदनशील दृष्टि देने में इस नगरी के रचनाकारों का प्रमुख स्थान रहा है।भक्तिकाल के कबीर और रैदास से लेकर आधुनिक काल के भारतेन्दु, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, धूमिल तथा समकालीन रचनाकारों तक, इस भूमि ने प्रत्येक युग में अपनी विशिष्ट छाप समकालीन हिंदी साहित्य पर छोड दी है। इस क्षेत्र के रचनाकारों ने अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए समकालीन समाज की परिस्थितियां, जातिगत विडम्बनाएं , महामारी की त्रासदी, राजनीतिक विसंगतियां, ग्रामीण जीवन की समस्याएं और बदलते जीवन मूल्यों के यथार्थ को पूरी सजीवता के साथ अपने साहित्य में चित्रित किया है। इन समस्त रचनाकारों का साहित्य जीवन की गहराई, सामाजिक चेतना और मानवीय संवेदनाओं से संपन्न है। इस नगरी और क्षेत्र के रचनाकारों ने हिंदी साहित्य को निरंतर गति और जीवंतता प्रदान करने में मौलिक भूमिका निभाई है। इसलिए हिंदी साहित्य का इतिहास बनारस के बगैर पूरा नहीं हो पाता।

संदर्भ ग्रंथ सूची:

१) मार्क ट्वेन,-फॉलोइंग द इक्वेटर,पृष्ठ-४८०

२)बी.सी.लाहा,-इंडिया एज डिस्क्राइब्ड इज अर्ली टेक्स्ट ऑफ़ बुद्धिज्म एंड जैनिज्म,भाग-६,पृष्ठ-४२

३)डॉ. हेमंत शर्मा- सोच विचार पत्रिका, अंक- जुलाई,२०२४,पृष्ठ- ०६

४)अरुण कुमार 'मित्र'- अथ कोरोना कथा,पृष्ठ-०८

५)वही,पृष्ठ-१०६

६)उमेश प्रसाद सिंह- यह उपन्यास नहीं है,पृष्ठ-२०

७)रामकेवल शर्मा- डफाली,पृष्ठ-६३

८)आनंद कुशवाहा -पांच बेटों वाली मां,पृष्ठ-९५

९) आनंद कुशवाहा- बेटियां बड़ी हो रही है, पृष्ठ-७१

१०) रामकेवल शर्मा -लोहे की स्त्री, पृष्ठ-९८

राष्ट्रबोध की कविता: पं. सोहनलाल द्विवेदी के काव्य में युगध्वनि

-डॉ. मनोज कुमार स्वामी
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी
रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, होजाई, असम

[शोध सारांश: यह शोध आलेख पं. सोहनलाल द्विवेदी के काव्य-संग्रहों में निहित राष्ट्रबोध की विविध छवियों का विश्लेषण करता है। द्विवेदी जी की कविताएँ स्वतंत्रता संग्राम की चेतना, सांस्कृतिक गौरव और जनजागरण की पुकार को समाहित करती हैं। आलेख में भैरवी, विषपान, युगाधार, प्रभाती, सेवाग्राम, पूजागीत और मुक्तिगंधा जैसे संग्रहों के माध्यम से राष्ट्रधर्म, आत्मोत्सर्ग, ऐतिहासिक प्रेरणा और स्वतंत्रता के बाद की नवचेतना को रेखांकित किया गया है। कवि की वाणी में ओज, करुणा और संकल्प की त्रयी राष्ट्रबोध को युगध्वनि में रूपांतरित करती है। यह अध्ययन द्विवेदी जी की कविता को केवल साहित्यिक सृजन नहीं, बल्कि एक युग की आत्मा के रूप में प्रस्तुत करता है।]

बीज शब्द: राष्ट्रबोध, स्वतंत्रता संग्राम, युगध्वनि, जनजागरण, आत्मोत्सर्ग, राष्ट्रधर्म, नवचेतना

प्रस्तावना

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम केवल राजनीतिक मुक्ति का संघर्ष नहीं था, बल्कि यह सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रक्रिया भी थी। इस आंदोलन में साहित्य ने जनचेतना को जाग्रत करने का कार्य किया और कविता ने राष्ट्र की आत्मा को स्वर दिया। ऐसे ही कवियों में पं. सोहनलाल द्विवेदी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिन्होंने राष्ट्रबोध को अपनी कविता का मूल स्वर बनाया। राष्ट्रबोध केवल देशभक्ति नहीं, बल्कि वह गहन चेतना है जो व्यक्ति को अपने देश, उसकी संस्कृति, भाषा और स्वतंत्रता के प्रति समर्पित करती है। यह भावना व्यक्ति को समष्टि के हित में सोचने, संघर्ष करने और आत्मोत्सर्ग करने की प्रेरणा देती है। पं. द्विवेदी की कविताएँ इसी राष्ट्रबोध की सशक्त अभिव्यक्ति हैं, जो न केवल स्वतंत्रता आंदोलन के समय जनजागरण का माध्यम बनीं, बल्कि स्वतंत्रता के बाद भी राष्ट्र निर्माण की प्रेरणा देती रहीं। उनकी रचनाओं में राष्ट्रधर्म, सांस्कृतिक गौरव, ऐतिहासिक स्मृति और जन-जीवन की आकांक्षाएँ एक साथ गूँजती हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था: **"ये समस्त रचनाएँ तो उस कवि का आह्वान मन्त्र है, जो अपने मूक गीत से, अपने एक स्वर से वह प्राण फूँकेगा, जिससे कोटि-कोटि भारतीयों के हृदय में स्वतंत्रता के लिए मर-मिटने की आग धधक उठेगी।"**[1] यह शोध आलेख पं. सोहनलाल द्विवेदी के काव्य-संग्रहों के माध्यम से राष्ट्रबोध की विविध छवियों का विश्लेषण करता है — जिसमें उनके ओजस्वी स्वर, सांस्कृतिक दृष्टि और युगबोध को समग्रता से समझने का प्रयास किया गया है।

राष्ट्रबोध की अवधारणा और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

राष्ट्रबोध एक बहुआयामी चेतना है — जिसमें केवल भौगोलिक सीमाओं का बोध नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भाषिक और आध्यात्मिक एकता की अनुभूति समाहित होती है। यह वह भाव है जो व्यक्ति को अपने देश के प्रति निष्ठा, समर्पण और उत्तरदायित्व की भावना से जोड़ता है। भारतीय संदर्भ में राष्ट्रबोध की अवधारणा वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक निरंतर विकसित होती रही है — जहाँ 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' जैसे श्लोकों से लेकर स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिक नारों तक इसकी गूंज सुनाई देती है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में भारत राजनीतिक परतंत्रता के साथ-साथ सांस्कृतिक विघटन और सामाजिक विषमता से भी जूझ रहा था। सन् 1920 के आसपास जब स्वतंत्रता आंदोलन जन-जन तक पहुँचने लगा, तब भी जातीय भेद, भाषायी विविधता और साम्प्रदायिक तनाव राष्ट्रीय एकता में बाधक बने हुए थे। ऐसे समय में साहित्य ने एक सेतु का कार्य किया — जिसने विविधताओं को समेटते हुए एक समवेत राष्ट्रध्वनि का निर्माण किया। पं. सोहनलाल द्विवेदी की कविताएँ इसी राष्ट्रबोध की सशक्त अभिव्यक्ति हैं। उन्होंने अपने काव्य में उस चेतना को स्वर दिया, जो पराधीन भारत को स्वतंत्रता की ओर ले जाने वाली शक्ति बन सकी। उनकी रचना पूजागीत में राष्ट्र की दुर्दशा पर कवि का क्षोभ स्पष्ट रूप से प्रकट होता है:

"जननी आज अर्ध-क्षत-वसना !
खुलती नहीं तुम्हारी रसना !
यह जीवन ही जीवन है यदि,
तो तुम अब न जियो !"[2]

यह स्वर केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि क्रांतिकारी है — जो राष्ट्र की वर्तमान स्थिति को बदलने की पुकार करता है। यह उद्धरण उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को उद्घाटित करता है, जहाँ राष्ट्रबोध केवल विचार नहीं, बल्कि क्रिया का आह्वान बन जाता है।

इस प्रकार राष्ट्रबोध की अवधारणा पं. द्विवेदी के काव्य में एक जीवंत यथार्थ के रूप में प्रकट होती है — जो जन-मन को जाग्रत करती है, संगठित करती है और स्वतंत्रता के लिए प्रेरित करती है।

पं. सोहनलाल द्विवेदी का जीवन और काव्य-परिपाटी

पं. सोहनलाल द्विवेदी हिंदी साहित्य के उन ओजस्वी कवियों में अग्रणी हैं, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के दौर में कविता को जनजागरण का माध्यम बनाया। उनका जन्म 1906 में हुआ और जीवन भर वे साहित्य, समाज और राष्ट्र के लिए समर्पित रहे। वे केवल कवि नहीं, बल्कि एक सक्रिय स्वतंत्रता सेनानी, शिक्षक और विचारक भी थे। उनकी रचनाएँ भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र नहीं, बल्कि युग की पुकार थीं — जो जन-मन को जाग्रत करने का कार्य करती थीं। द्विवेदी जी की काव्य-दृष्टि में राष्ट्रधर्म सर्वोपरि था। उन्होंने कविता को केवल सौंदर्यबोध या भावुकता का माध्यम नहीं माना, बल्कि उसे जनचेतना का शंखनाद बनाया। उनकी भाषा सरल, ओजस्वी और जन-मन से जुड़ी हुई थी। वे मानते थे कि कविता को जनता की भाषा में बोलना चाहिए — ताकि वह जन-आकांक्षाओं की सच्ची प्रतिनिधि बन सके। उनके प्रमुख काव्य-संग्रहों में भैरवी, विषपान, वासवदत्ता, कुणाल, झरना, युगाधार, सेवाग्राम, प्रभाती, पूजागीत और मुक्तिगंधा उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में उन्होंने भारत के गौरवशाली अतीत, सांस्कृतिक विरासत और स्वतंत्रता संग्राम की चेतना को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया।

उनकी कविता में राष्ट्र के प्रति श्रद्धा, जननी के प्रति समर्पण और स्वतंत्रता के लिए उत्सर्ग की भावना बार-बार प्रकट होती है। भैरवी संग्रह की एक पंक्ति में उन्होंने राष्ट्र के लिए जीवन समर्पण की भावना को अत्यंत मार्मिक रूप में व्यक्त किया:

"जिसके सिर पर निज धरा हाथ,
उसको जीवन देना होगा।"[3]

यह पंक्ति केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि कर्तव्यबोध की गहन चेतना है — जो राष्ट्रकवि की वाणी को युगध्वनि में रूपांतरित करती है।

इस प्रकार पं. सोहनलाल द्विवेदी का जीवन और काव्य-परिपाटी राष्ट्रबोध की सशक्त अभिव्यक्ति है। उन्होंने साहित्य को जन-जीवन की दिशा में सक्रिय किया और कविता को राष्ट्रनिर्माण का माध्यम बनाया।

प्रमुख काव्य-संग्रहों में राष्ट्रबोध की अभिव्यक्ति

पं. सोहनलाल द्विवेदी के काव्य-संग्रह भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की चेतना के संवाहक हैं। उनकी कविताएँ केवल भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि राष्ट्र के लिए समर्पण, संघर्ष और निर्माण का घोष हैं। प्रत्येक संग्रह में राष्ट्रबोध की कोई न कोई विशिष्ट छवि उभरती है — कहीं क्रांति का आह्वान, कहीं मातृभूमि के प्रति श्रद्धा, कहीं जनजागरण की पुकार।

'भैरवी' में कवि ने मातृभूमि की वंदना को जनचेतना से जोड़ते हुए राष्ट्रप्रेम को स्वर दिया। स्वतंत्रता आंदोलन के ओजस्वी स्वर को मुखर करते हुए उन्होंने जननी के प्रति समर्पण को कविता का मूल बनाया। कवि की पुकार है:

"वन्दना के इन स्वरों में, एक स्वर मेरा मिला दो।
वंदिनी माँ को न भूलो, राग में जब मत झूलो।"[4]

यह भाव केवल निजी नहीं, बल्कि समष्टि की चेतना है — जो जन-जन को राष्ट्र की आराधना में सम्मिलित होने की प्रेरणा देता है।

'विषपान' शीर्षक कविता संग्रह में समुद्र-मंथन के पौराणिक प्रसंग को प्रतीक बनाकर राष्ट्रधर्म के लिए आत्मबलिदान की प्रेरणा दी गई है। देवताओं की व्यथा और दानवों की चुनौती के बीच कवि ने उस युगबोध को स्वर दिया, जहाँ राष्ट्रहित में विषपान करना ही सच्चा तप है:

"व्यथित त्रसित देवता आज,
मन म्लान कान्तिहत मुखमंडल,
कोइ नहीं उपाय, दानवों पर,
जय पायें बनें सफल।"[5]

यह कविता आत्मोत्सर्ग की उस भावना को उजागर करती है, जो स्वतंत्रता संग्राम की आत्मा थी।

'युगाधार' में कवि ने स्वतंत्रता के लिए प्राणोत्सर्ग को गौरवपूर्ण बताया है। 'अभियान-गीत' में वह राष्ट्र के लिए अडिग संकल्प और बलिदान की पुकार करता है:

"प्राण जायँ, छोड़ें न प्रण कभी, ऐसी टेक निभाता हो।
स्वतन्त्रता की रटन अधर में, जिनका भाग्य विधाता हो।"[6]

यह संग्रह उन तरुणों को समर्पित है, जिन्होंने स्वतंत्रता को अपना भाग्य माना और बलिवेदी पर हँसते हुए अपने प्राण अर्पित किए।

पं. सोहनलाल द्विवेदी की कविता में राष्ट्रधर्म केवल विचार नहीं, बल्कि जीवन का संकल्प है। उनकी रचनाएँ जन-जन को जाग्रत करने, संगठित करने और राष्ट्र के लिए समर्पित करने का कार्य करती हैं। उन्होंने कविता को जनचेतना का शंखनाद बनाया — जो निद्रित भारत को जाग्रत करने

की पुकार है।

प्रभाती संग्रह की एक प्रमुख कविता में उन्होंने भारत की निद्रा को तोड़ने का आह्वान किया:

"जागो जागो निद्रित भारत !
त्यागो समाधी हे योगिराज !
श्रृंगी फूँको, हो शंखनाद,
डमरू का डिमडिम नव-निनाद !"[7]

यह स्वर केवल काव्यात्मक नहीं, बल्कि क्रांतिकारी है — जो जन-मन में नवचेतना भरता है।

इसी चेतना को सेवाग्राम संग्रह में उन्होंने आत्मोत्सर्ग की भावना से जोड़ा। स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों को श्रद्धांजलि देते हुए उन्होंने लिखा:

"हम मातृभूमि के सैनिक हैं, आजादी के मतवाले हैं।
बलिवेदी पर हँस-हँस करके, निज शीश चढाने वाले हैं।"[8]

यह पंक्ति राष्ट्र के लिए जीवन समर्पण की उत्कट प्रेरणा देती है — जहाँ सैनिक केवल योद्धा नहीं, बल्कि राष्ट्र के पुजारी हैं।

इतिहास से प्रेरणा लेते हुए भैरवी संग्रह में उन्होंने हल्दीघाटी की भूमि को स्वतंत्रता की फुलझड़ी कहा —

"तुमने अपने को लुटा दिया आजादी की फुलझड़ियों पर।"[9]

यह पंक्ति केवल वीरता का स्मरण नहीं, बल्कि वर्तमान पीढ़ी को आत्मबलिदान की चेतना से जोड़ने का प्रयास है।

इन उद्धरणों में राष्ट्रधर्म, जनजागरण और ऐतिहासिक प्रेरणा समाहित है — जो पं. सोहनलाल द्विवेदी की कविता को युगध्वनि में रूपांतरित करती है।

इन सभी काव्य संग्रहों में राष्ट्रबोध केवल विचार नहीं, बल्कि जीवन का संकल्प है। पं. सोहनलाल द्विवेदी ने कविता को जनचेतना का माध्यम बनाया — जहाँ हर स्वर राष्ट्र के लिए समर्पित है, और हर शब्द स्वतंत्रता की पुकार है।

सांस्कृतिक चेतना और प्रेरक आख्यान

पं. सोहनलाल द्विवेदी की कविताओं में राष्ट्रबोध केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं है, बल्कि उसमें भारतीय संस्कृति की आत्मा भी समाहित है। उनकी रचनाओं में सनातन धर्म, लोकजीवन, ऐतिहासिक स्मृति और सांस्कृतिक मूल्यों की ऐसी गहन उपस्थिति है, जो राष्ट्र की आत्मचेतना को जाग्रत करती है। वे मानते थे कि सशक्त राष्ट्र निर्माण के लिए सांस्कृतिक स्वाभिमान आवश्यक है — और यही चेतना उनकी कविताओं का प्राण है। द्विवेदी जी ने भारतीय आख्यानों, पौराणिक प्रसंगों और ऐतिहासिक चरित्रों को प्रतीक बनाकर जनमानस को प्रेरित किया। भैरवी में महाराणा प्रताप के चरित्र को कवि ने स्वतंत्रता की चेतना का प्रतीक बनाया। प्रताप की पुकार कवि के अंतर्मन से निकलती है:

"मेरे प्रताप तुम फूट पड़ो, मेरे आंसू की धारों से।
मेरे प्रताप तुम गूंज उठो, मेरी संतप्त पुकारों से।"[10]

यह पंक्ति केवल वीरगाथा नहीं, बल्कि वर्तमान उत्पीड़न के विरुद्ध ऐतिहासिक प्रेरणा का आह्वान है। प्रताप का चरित्र यहाँ जन-मन में स्वाधीनता की ज्वाला प्रज्वलित करता है।

इसी प्रकार चेतना संग्रह में कवि ने भारत की सांस्कृतिक व्याकुलता को स्वर देते हुए कहा:

"वधु व्याकुल, देश व्याकुल, जाति व्याकुल,
व्याकुलता की व्यथा कौन कहे?"[11]

यह पंक्ति उस सांस्कृतिक असंतुलन की ओर संकेत करती है, जहाँ राष्ट्र की आत्मा पीड़ित है। द्विवेदी जी की दृष्टि में यह व्याकुलता केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना की पुकार है — जो नवजागरण की मांग करती है।

उनकी कविताओं में सनातन भारतीय चिंतन — जैसे त्याग, तपस्या, मातृभूमि की वंदना, जननी के प्रति श्रद्धा, और धर्म के प्रति आस्था — को आधुनिक राष्ट्रबोध से जोड़ा गया है। वे मानते थे कि सांस्कृतिक परतंत्रता से मुक्ति ही सच्चे राष्ट्र की नींव है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में संगठन, एकता, आस्था और विश्वास जैसे मूल्य बार-बार उभरते हैं। इस प्रकार पं. सोहनलाल द्विवेदी की कविताएँ सांस्कृतिक चेतना के माध्यम से राष्ट्रबोध को गहराई देती हैं। वे इतिहास से प्रेरणा लेकर वर्तमान को दिशा देते हैं, और भविष्य के लिए एक सशक्त सांस्कृतिक आधार निर्मित करते हैं।

स्वतंत्रता के बाद की राष्ट्रीय चेतना

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही राष्ट्र के समक्ष एक नया युग आरंभ हुआ — जिसमें संघर्ष का स्थान निर्माण ने लिया, और स्वप्नों को साकार करने की चुनौती सामने आई। यह वह काल था जब जन-मन में उत्सव की भावना थी, पर साथ ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पुनर्गठन की आवश्यकता भी थी। ऐसे समय में पं. सोहनलाल द्विवेदी की कविताएँ केवल विजय का उत्सव नहीं मनातीं, बल्कि नवचेतना का आह्वान करती हैं। उनकी रचना मुक्तिगंधा इस नवयुग की चेतना को स्वर देती है। इसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि स्वतंत्रता केवल लक्ष्य नहीं, बल्कि एक सतत प्रक्रिया है — जिसमें राष्ट्र को जाग्रत, सजग और उत्तरदायी बनाना आवश्यक है। 'शुभारंभ-गीत' में उन्होंने कहा:

"शुभारंभ जो किया देश में,
उसको सफल बनाना होगा।
हर पग पर दीप जलाकर,
पथ को प्रकाशित करना होगा।"[12]

यह स्वर उस समय की आवश्यकता को रेखांकित करता है — जब स्वतंत्रता के बाद भी जन-चेतना को दिशा देने की जरूरत थी। द्विवेदी जी ने केवल स्वतंत्रता संग्राम को नहीं, बल्कि स्वतंत्र भारत के निर्माण को भी अपनी कविता का विषय बनाया। 'जागरण-गीत' में उन्होंने जन-मन को सजग रहने की प्रेरणा दी:

"अब न गहरी नींद में तुम सो सकोगे,
गीत गाकर, मैं जगाने आ रहा हूँ।
विपथ होकर मैं तुम्हें मुड़ने न दूँगा,
प्रगति के पथ पर बढ़ाने आ रहा हूँ।"[13]

यह स्वर नवयुग की चेतना को पुष्ट करता है। द्विवेदी जी की दृष्टि में स्वतंत्रता का अर्थ केवल राजनीतिक मुक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक जागरण, सांस्कृतिक पुनरुत्थान और आर्थिक स्वावलंबन भी है।

उनकी कविताओं में स्वतंत्रता के बाद की चुनौतियों — जैसे जन-आकांक्षाओं, प्रशासनिक जटिलताओं और नैतिक पतन — को भी स्वर मिला है। उन्होंने साहित्य को जनता की मानसिक स्थिति का दर्पण माना और उसे दिशा देने का कार्य सौंपा। इस प्रकार पं. सोहनलाल द्विवेदी की रचनाएँ स्वतंत्रता के बाद भी राष्ट्रबोध को जीवित रखती हैं। वे जन-मन को जाग्रत करती हैं, नवयुग की दिशा दिखाती हैं और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में साहित्य की भूमिका को सशक्त करती हैं।

निष्कर्ष: राष्ट्रकवि की वाणी में युगध्वनि

पं. सोहनलाल द्विवेदी का काव्य केवल साहित्यिक सृजन नहीं, बल्कि एक युग की चेतना है — जिसमें राष्ट्रप्रेम, सांस्कृतिक गौरव और जनजागरण की त्रयी समाहित है। उनकी कविताएँ स्वतंत्रता संग्राम की ललकार हैं, जन-मन की पुकार हैं, और नवभारत के निर्माण का संकल्प हैं। उन्होंने कविता को जन-जीवन से जोड़ा, और उसे केवल भावनाओं की नहीं, बल्कि क्रिया की भाषा बनाया। उनकी वाणी में वह ओज है जो निद्रित भारत को जाग्रत करता है, वह करुणा है जो जननी की पीड़ा को स्वर देती है, और वह संकल्प है जो राष्ट्रधर्म को जीवन का लक्ष्य बनाता है। उन्होंने इतिहास से प्रेरणा ली, वर्तमान को दिशा दी और भविष्य के लिए एक सांस्कृतिक आधार निर्मित किया।

द्विवेदी जी की कविता में राष्ट्रबोध केवल विचार नहीं, बल्कि जीवन का संकल्प है। उनकी रचनाएँ हमें यह स्मरण कराती हैं कि स्वतंत्रता केवल प्राप्त करने की वस्तु नहीं, बल्कि उसे जीवित रखने की प्रक्रिया है — जिसमें साहित्य, संस्कृति और जनचेतना की भूमिका अनिवार्य है।

इस प्रकार पं. सोहनलाल द्विवेदी की वाणी में युगध्वनि है — जो समय की सीमाओं को पार कर आज भी जन-मन को प्रेरित करती है, और राष्ट्र के प्रति श्रद्धा, समर्पण और उत्तरदायित्व की भावना को पुष्ट करती है।

संदर्भ सूची:

1. द्विवेदी, सोहनलाल। *प्रभाती*. साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, 1944। वक्तव्य।
2. द्विवेदी, सोहनलाल। *पूजागीत*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1944। पृ. 42।
3. द्विवेदी, सोहनलाल। *भैरवी*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1942। पृ. 2।
4. द्विवेदी, सोहनलाल। *भैरवी*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1942। पृ. 1।
5. द्विवेदी, सोहनलाल। *विषपान*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1943। पृ. 1।
6. द्विवेदी, सोहनलाल। *युगाधार*. साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1946। पृ. 56।
7. द्विवेदी, सोहनलाल। *प्रभाती*. साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, 1944। पृ. 6।
8. द्विवेदी, सोहनलाल। *सेवाग्राम*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1946। पृ. 128।
9. द्विवेदी, सोहनलाल। *सेवाग्राम*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1946। पृ. 28।
10. द्विवेदी, सोहनलाल। *भैरवी*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1942। पृ. 36।
11. द्विवेदी, सोहनलाल। *सेवाग्राम*. इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, 1946। पृ. 115।
12. द्विवेदी, सोहनलाल। *मुक्तिगंधा*. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1971। पृ. 19।
13. द्विवेदी, सोहनलाल। *मुक्तिगंधा*. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1971। पृ. 46–47।

*****

बाजार आबाद और किसान बर्बाद की दास्तान 'ढलती साँझ का सूरज'

-डॉ. मनोहर भंडारे
हिंदी विभाग
श्री हावगीस्वामी महाविद्यालय,
उदगीर जिला लातूर (महाराष्ट्र)-413517
ईमेल-dr.bhandaremanohar@gmail.com

किसान सृजनकार और पालनहार है। किसानी उसकी जीवन शैली है। खेती प्राण से प्रिय है। लेकिन वह कभी अकाल से पीड़ित तो कभी बाढ़ से। कभी उत्पादन न होने दुखी है तो कभी अधिक उत्पादन होने पर अना कवडीमोल बिकने से परेशान है। ऐसे समय सरकार आँखमिचोली का अभिनय करती है और लाभ बिचलायी और कंपनियों का। बीज, खाद और कीटकनाशक बेचनेवाली कंपनियों की चाँदी है। अब बाजार आवाद और किसान बर्बाद है। कोई कंपनी सुई भी बनाती है तो उसकी कीमत वह निश्चित करती है लेकिन एडी चोटी पसीने की कमाई की कीमत बाजार निश्चित करता है क्यों? किसानों को नहीं चाहिए छुट और पैकेज चाहिए श्रम प्रतिष्ठा "हम तो साफ कहते हैं सरकार को कि हमें आपका दान, आपके पैकेज नहीं, मूल्य चाहिए।"[1] 1997 के बाद दो लाख किसानों ने की है आत्महत्या। यह आत्महत्याएँ है या व्यवस्था द्वारा की हत्याएँ।

पालनहार ही हार कर आत्महत्या करता है, जिसने कृषि संस्कृति निर्माण की। मानव सभ्यता का दूसरा नाम कृषि संस्कृति है। हजारों सालों की किसानी सभ्यता की हत्या यानी मानवता की हत्या सभ्यता का आपातकाल है। ऐसे समय सजग साहित्यकार अस्वस्थ होता है। बेचौन होता है। अवलोकन करता है। बार-बार समझता है। तर्क के आधार पर विवेचन करता है और निष्कर्ष को सूजन के स्तर पर अभिव्यक्ति देता है। उसी अभिव्यक्ति का नाम यानी 'ढलती साँझ का सूरज' उपन्यास है। मधु कांकरिया मराठवाडा के किसान जीवन को समझने के लिए बार-बार यात्रा करती है। वह उपन्यास की भूमिका में लिखती हैं 'पाँव में जैसा चक्का लगा, यात्राएँ होती रहीं, बल्कि ये यात्राएँ, ये अन्तः यात्राएँ मेरी चेतना यात्राएँ बन जीवन प्राप्य बन गई। इसके साथ ही जुड़ती गई मेरी अनूभूतियाँ, संवेदनाएँ, कल्पनाएँ, विचार, दर्शन, जीवन दृष्टि और सभ्यता का अमानवीय इतिहास जिस अन्तिम परिणति इस उपन्यास के रूप में हुई।"[2]

वैसे पहले बीज और खाद खुद का होता था लेकिन किसान आज परजीवी हो गया है। किसान मर रहा है और बीज कपनियों फल-फूल रही है। रासायनिक खादों से उर्वर भूमि बंजर बनी है। कंपनियों के कीटकनाशक से कीटक कम और किसान अधिक मर रहे हैं। लागत बढ़ गई. आमदनी घट गई। गोविंद कहता है- "कुल लागत आई-तेईस हजार रुपये, जबकि इस बार उत्पादन हुआ प्रति एकड अठारह या उन्नीस। ऐसे में इन्द्रदेव ने साथ न दिया तो जी तोड मेहनत और हिम्मत पर गोबर पुत जाता है। फिर मौत के अलावा कोई रास्ता नहीं बचता।"[3] होरी का शोषण जमींदार, साहूकार और पुरोहिशाही ने किया और आज देशी-विदेशी कंपनियों और सहकारी बैंक कर रही है। सहकार स्वाहाकार बना है। किसान वहीं, शोषण वही मात्र बदले हैं तो रूप। इसलिए प्रस्तुत उपन्यास मराठवाडा संभाग तक सीमित नहीं है बल्कि भारतीय किसान की दास्तान और दस्तावेज है। बलखेड़े गाँव का दिलीप उद्द्राव अत्यंत मेहनती और ईमानदार है। वह पाँच एकड़ खेती पर सोयाबीन और कपासी की खेती के सहारे जिंदगी का पहाड़ चढ़ता है। वह ट्रैक्टर के लिए मेधा बैंक प्राइवेट लिमिटेड से साडेचार लाख का कर्ज लेता है, तेरह प्रतिशत ब्याज से। लेकिन खेती में हर साल नुकसान ही होता है, जिससे बाप-बेटे में कई बार विवाद होता है। दिलीप हमेशा चिंता में रहता है। वह जिसके साथ भी बात करता है तो मात्र खेती, पानी और कर्ज की ही न कभी खुलकर हँसता है। पत्नी कहती है उन्हें कभी हँसते हुआ देखा ही नहीं लेकिन जिस दिन बैंक की नोटिस घर पर आई "नोटिस क्या मौत का फरमान है वह उस नोटिस ने बहुत डरा दिया था उन्हें। लगा रही-सही इज्जत भी अब गई, बची-खुची जमीन भी गई, क्योंकि जमीन बैंक के पास गिरवी रखी थी। दूसरे दिन खेत में ही चूहे मारने की पी ली थी...कापुस (कपास) ही मौत का फंदा बन गया।"[4] पत्नी शोभा की आँखें छलछला गई थीं। मानसी मॉडरे द्वारा दी हुई दो बकरी और सिलाई मशीन से वह अपनी जिंदगी गुजारती है। गौतम बुद्ध, सावित्री बाई फुले और स्वामी विवेकानंद के विचारों से प्रभावित मानसी माँढरे शोभा को अपनी बेटी मानती है।

मराठवाडा संभाग में कपास की फसल से अधिक आत्महत्याएँ हुई है। कपास का लागत खर्च बढ़ा पर उत्पादन घटा और कपास के दाम भी घटे। किसानों के लिए काम करने वाली किसान आधारवड नामक संस्था है। उसके सदस्य बालासाहब ने गंभीर चिंतन-मंथन किया है। उन्हें वर्तमान

किसानी स्थिति का गहरा ज्ञान है। वे कहते हैं "बिना कपास की इकोनॉमिक्स और कपास की पॉलिटिक्स समझे आप नहीं समझ पाएँगे कि दाम अच्छे क्यों नहीं मिलते। सरकार को किसान की बू असहय हो गई है इसीलिए उसने नीति बना ली है- बाजार आबाद और किसान बर्बाद।"[5] इस उपन्यास में खेती की निलामी होते ही बाबुलतारा गाँव गोविंदगिरी, पासगाँव का काशी विश्वेश्वर, बलसोडे का अरुणागिरी, कामथडी का कदंब सावंत, अनंतपुर की सुधा मति अपनी जीवनयात्रा समाप्त कर देते हैं। कर्ज बढ़ गया, खेती निलाम हुई इज्जत चली गई। इज्जत के लिए प्राण छोडने वाले किसान एक ओर तो दूसरी ओर कई अमीर लोग बैंक डूबाँकर विदेश में ऐश आराम कर रहे हैं। मराठी कहावत है- "चोराला सोडून संन्याशाला फासी"।

इस उपन्यास में मानसी मांढेर और पुत्र अविनाश की कथा मुख्य कथा के साथ चलती है। वैसे मानसी मांढेर मूलतः किसान की बेटी है लेकिन ब्याह के बाद मुंबई में रहती है। पति जाने के बेटे अविनाश को उच्च शिक्षित बनाती है उसे लगता है कि बेटे ने भारत को समझना चाहिए। लेकिन बेटा अपना करियर बनाने के लिए स्विट्जरलैंड जाता है तब मानसी मांढेर का अकेलापन बहुत खलता है। पुत्र की मोह में वह रात-रात सोती नहीं। बेटे के जन्मदिन पर अनाथ बच्चों को मिठाई खिलाती है। इस दौरान पाताचापनी गाँव में वर्ली आदिवासी के बाप-बेटी को रात के अंधेरे में सौंप ने काटने से मृत्यु होती है। तब मांढेर को लगता है कि जहाँ एक और बस्ती में अंधेरा ही अंधेरा है तो दूसरी ओर झिलमिलाते प्रकाश से बंबई लखलखीत है। इस घटना के बाद मांडेर किसानों को समझने के लिए जालना जिले पारतुल जाती है। अपना दुःख छोडकर आत्महत्याग्रस्त परिवारों को समझती महिलाओं को दो-दो बकरियों तथा सिलाई मशीन देती है। वहीं से वह बलखेडे गाँव की शोभा को मिलने जाती है और शोभा के साथ इतनी गहरी आत्मीयता से जुड़ जाती है कि उसे जीवनभर अपनी बेटी मान लेती हैं। कामथडी, बलखेडे जैसे कई गाँवों में जाती हैं। उन परिवारों की स्थिति से रूबरू होती हैं। उसे लगता है कि परिवार के बाहर भी कई परिवार होते हैं। यही तो सामुहिकता है और यही असली जीवन है। उसे लगता है बुद्ध ने अपना परिवार छोड था। अनासक्त होकर दुनिया को समझा था। इसलिए वह बोधगया जाती है और वहाँ से कन्याकुमारी जाती है क्योंकि उन्हें विवेकानंद के प्रति भी खूब आस्था है। स्वस्थ्य ठीक न होने से फिर मुंबई लौटकर आती है और अंतिम साँस छोडती है। माँ को मिलने जाना है। जाना है। इसमें बीस वर्ष चले जाते हैं बेटे अविनाश के। जब आता है तब अविनाश के माँ की मृत्यु हुई थी। वह माँ को ढूँढ़ने वहाँ-वहाँ जाता है जहाँ-जहाँ माँ गई। लेकिन लौटकर मुंबई घर आता है ज्ञात होता है कि माँ की मृत्यु हुई। इस घटना का उसके मानस पर गहरा सदमा पहुँचता। वह कहता है "उफ किसान परिवार में जन्मी अम्मा भी किसानी हो गई थी। अपने मिजाज से तो यूँ भी किसानी ही थी। अम्मा ने जीवन लगा दिया मुझे बनाने में और मैं मौसम की तरह बदल गया।"[6] अविनाश भी आगे का जीवन किसान जीवन के लिए समर्पित कर गाँवों में बुनियादी बदलाव हेतु कार्य करता है। वह कहता है कि मी द्वारा पकाई हुई पहली रोटी गाय के लिए और अंतिम रोटी कुत्ते के बनाती थी। मों ने पहले रोटी का कभी हकदार नहीं बनने दिया। मों के नस-नस में बसा था गाँव और गाँव की संस्कृति। वह कहता है "सच दुनिया सुंदर है सिर्फ मौओं से और मातृत्व से. जो देना जानती, लेना नहीं। इसी कारण वह अकेली होकर अकेली नहीं होती। उसकी अपनी एक बडी दुनिया होती है। वह कहता है "यह भी कितना विचित्र कि जब अम्मा जीवित थीं तुम तो शायद मैंने अपनी जिंदगी में तुम्हें इंच भी जगह नहीं दी और आज मरकर तुमने मेरी जिंदगी की सारी जगह घेर ली है।"[7]

इस उपन्यास में गाँव छोडे युवाओं दशा भी दर्दनाक है। सबको खुले बाजार ने अपने आगोश में लिया है। 1990 के बाद खुला बाजार आया है। गाँव का ढाँचा चरमरा गया है। गाँव की संस्कृति चौपट हो गई है। मानसी मांढेर का बेटा अविनाश देखता है कि रेल स्टेशन के नजदीक रिलायन्स सब्जियों के बडे बड़े मॉल हैं। अलग-अलग काउंटर पर प्राइज टैग लटकाई सजी-धजी सुंदर पद्धति से रखी सब्जियों है। किसान एडी चोटी मेहनत कर अनाज उगाता है और लाभ बिचलौयी को मिलता है। पुस्खे खेती को उत्कृष्ट और चाकरी निकृष्ट कहते थे। वैसे बीज बोना सृष्टि का सुंदर कर्म है "बीज चाहे अन्न का हो, चाहे सृष्टि का हो, चाहे विचारों का, चाहे जीवनमूल्यों का आज सृजनकर्ता ही उपेक्षित। वह खेत छोड़कर शहर में छोटी-मोठी नौकरी करना चाहता है। खेती की भयावह स्थिति देखकर कामथड़ी के सुरेंद्र का बेटा चीकू खेती छोडकर मुंबई में सिक्योरिटीगार्ड बनता है और बाद अधिक पैसे लालच में टॉवरों की दीवारों पर पेंटिंग करता है। एक दिन वह टॉवर से गिर कर मर गया। पिता सुरेंद्र बिल्डर से झगडा करता है और दोषी चीकू ही साबित होता है। अर्थात गाँव छोड़नेवाले अल्पशिक्षित युवाओं की त्रासद कथा भी उपन्यास में अंकित है।

निष्कर्ष: कहना होगा कि प्रस्तुत उपन्यास अपने समय की दास्तान है जिसमें किसान जीवन की समस्याओं को शोधपरक रूप से समझकर सृजनात्मक अभिव्यक्ति दी है, वह अप्रतिम, अनुपम और विशिष्ठ है।

संदर्भ-

1.मधु कांकरिया-ढलती साँझ का सूरज,राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली,पृष्ठ-70
2.वही,पृष्ठ-भूमिका से
3. वही,पृष्ठ-66-67
4. वही,पृष्ठ-51-52
5. वही,पृष्ठ-70
6. वही,पृष्ठ-117
7. वही,पृष्ठ-120

*****

नाट्य प्रक्रिया के विविध सोपान

-प्रतीक कुमार यादव
शोधार्थी, पीएच.डी (हिंदी)
डॉ.बी.आर.अम्बेडकर विश्वविद्यालय
कश्मीरी गेट, लोथियन मार्ग, दिल्ली-110006.
संपर्क सूत्र- 9650740828
ईमेल- Prateeksurya.kumar6@gmail.com

शोध सारांश

अनेक कलाओं के योग से विकसित होने वाली कला 'नाट्यकला' है। समाज का ऐसा कोई भी वर्ग नहीं है, जो इस कला से छूट पाता हो। वहीं आप देखेंगे कि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अंक में गणदास से कहलाया भी है कि 'भिन्न रूचि वाले लोगों के लिए नाटक ही ऐसा रंजन है जिसमें सभी को आनंद मिलता है। नाटक तथा रंगमंच को जब तक हम जीवन की तरह उसमें उतरकर जीते नहीं है, तब तक उसमें अपनात्व नहीं हो पाता है और रंगमंच तो सांस्कृतिक प्रक्रिया का एक अहम् अंग है। अपनी धरती की गंध को पाने का सर्वाधिक सशक्त और जीवंत कला माध्यम है। जैसा कि आप जानते हैं कि नाटक को 'दृश्य-काव्य' कहा जाता है जिसका मतलब है कि काव्य और नाटक अलग नहीं। काव्य की विशेषता है, उसका दृश्य होना। दृश्य अर्थात मंच-प्रस्तुति। दृश्य सम्भावना जितनी ज्यादा होगी 'नाट्य कृति' को उतना श्रेष्ट समझा जायेगा। रंगमंच एक दोहरी प्रक्रिया के तहत पूरा होता है अर्थात पहले नाटक एक आलेख के रूप में लिखा जाता है और फिर उसका मंच पर प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रक्रिया से यह साफ़ जाहिर होता है कि नाटक के आलेख और उसकी प्रस्तुति के बीच लंबी तैयारी और अन्तराल रहता है जिसमें रंगमंच के सभी सहयोगी तत्व निर्देशक, अभिनेता मंडली और नेपथ्य से सहयोगी कलाकार मिलकर पूरा करते हैं। यहाँ पर मैं तीन बिंदु 'नाटककार का आलेख', 'निर्देशक एवं अभिनेता मंडली का आलेख' और अंततः 'दर्शक का आलेख' को मुख्य रूप से केंद्र में रखकर रंग प्रस्तुति-प्रक्रिया को समझने का प्रयास करूँगा। वहीं आप देखेंगे कि नाटक के तीन आलेखों की चर्चा बार-बार पहले भी होती रही है।

बीज शब्द- साहित्य, रंगमंच, नाटक, संस्कृति आदि

भूमिका

नाटककार अपनी रचना को पढ़े जाने के लिए नहीं बल्कि मंचन के प्रयोजन से लिखता है। शब्दों में बांधना रचना को नाटक बनाता है अर्थात कियात्मक होने में ही नाटक की सार्थकता है। नाटककार अभिनेता, दर्शक और वातावरण को दृष्टि में रखकर नाटक का सृजन करता है। इसे ही 'नाटककार की रंगदृष्टि' कहा जाता है। इस रंगदृष्टि के पीछे रंग-चिंतन की निरंतरता, सृजन की इच्छा और अभिव्यक्ति सभी घुले-मिले हैं।

विषयवस्तु

नाटककार शब्दों में जीवन भरता है और उसे अनेक संभावनाओं से पूर्ण बनाता है। 'आलेख'- रंगप्रस्तुति का बीज है। सबसे पहले 'अभिनेता', 'निर्देशक', 'रंगकर्मी' पाठक बनकर उसमें निहित संकेतों और संभावनाओं को तलाशना शुरू करते हैं। सब अपने लिए 'स्पेश' की तलाश करते हैं। शब्दों में जो कहा गया, अभिनेता या निर्देशक आदि समझकर उपपाठ में जो ध्वनित है, उसकी खोज करते हैं अर्थात तब मौन भी बोल पड़ता है। निर्जीव और जड़ प्रतीत होने वाले शब्द जीवंत होने लगता है। इससे जाहिर होता है कि नाट्यकृति में अपार संभावनाएं है और एक व्यापक सम्प्रेषण और रस का निर्वाह करने के लिए इसमें गीत, संगीत, नृत्य, चित्रकला और स्थापत्य कला आदि का योग लिया जाता है।

नाटककार के शब्द रंग-सम्प्रेषण की नींव है। उसी को आधार बनाकर अभिनेता एक संसार की रचना करता है। नाटक प्रयोग के लिए लिखा जाता है और रंग-प्रस्तुति प्रक्रिया का परिणाम मंच-प्रस्तुति है। एक निर्देशक नाटककार की रंगदृष्टि को खोजकर एक नयी सृष्टि करता है और अभिनेता नाटककार के शब्दों को धारण करके निर्देशकीय कल्पना को मूर्त करने का माध्यम बनता है।

दर्शक के बिना न तो नाटक लिखने और न ही प्रस्तुति की सार्थकता है। दर्शक इस पूरी प्रक्रिया का अभिन्न अंग है।

आधुनिक नाटककार मोहन राकेश 'नाटककार' के संदर्भ में लिखते हैं कि *"नाटककार और परिचालक की बीच जिस संबंध-सूत्र के उत्तरोत्तर दृढ़ होने पर ही हमारी निजी रंगमंच की खोज निर्भर है, उसी को झटक देने की दृष्टि लक्षित है।"*[1]

अब हम रंग-प्रस्तुति-प्रक्रिया के दूसरे चरण अर्थात 'निर्देशक' को निम्न

सवालों के जरिये समझने का प्रयास करेंगे।

निर्देशक प्रक्रिया की मूल प्रकृति क्या है ? निर्देशक को किस रूप में परिभाषित किया जाए। क्या वह प्रस्तुति का व्यवस्थापक है ? क्या वह आलेख का व्याख्याकार है ? एक लिखे हुए और प्रस्तुति हो रहे नाटक में क्या अंतर है ? क्या निर्देशक आलेख की व्याख्या के बहाने से एक नये आलेख की रचना करता है ?

मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त सवालों के जवाब नाटक के आलेख से लेकर उसकी प्रस्तुति तक की पूरी प्रक्रिया में ढूंढें जा सकते हैं। जिस आलेख को नाटककार ने शब्दों से रचा है, वह प्रस्तुति में अभिनेता के माध्यम से उजागर होता है।

अगर आप देखेंगे तो पायेंगे कि निर्देशक प्रक्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यही है, जिसकी ओर दर्शक का ध्यान नहीं जाता है। वह बाह्य उपकरण जैसे मंच-सज्जा, वेशभूषा, प्रकाश, संगीत आदि में उलझकर रह जाता है। एक निर्देशक की रचनात्मक यात्रा सबसे पहले स्वयं निर्देशक की भीतर फिर उसके बाद प्रस्तुति की भीतर अमूर्त और सूक्ष्म रूप में घटित होती है। श्री नेमिचंद्र जैन 'निर्देशक' के संबंध में कहते हैं कि *"निर्देशक ही वह केन्द्रीय सूत्र है जो नाट्य प्रदर्शन के विभिन्न तत्वों को पिरोता है और समग्रता को एक अन्विति सर्वथा स्वतंत्र कला-रूप का दर्जा देता है। सार्थक प्रदर्शन में नाटक जिस रूप में दर्शक तक पहुँचता है, वह बहुत कुछ निर्देशक के कलाबोध और जीवनबोध को ही सूचित करता है।"*[2]

वास्तव में नाट्य कला का यही सबसे बड़ा मर्म और रहस्य भी है कि जो निर्देशक शुरू से लेकर अंत तक हर चीज का निमायक भी है। वह निर्देशक प्रक्रिया के लिए कोई भी रास्ता क्यों न अपनाएं- नाटक के मौन, शब्दों को गति देना, जीवन देना और अंततः शब्द से परे अर्थ की तरफ संकेत करना निर्देशक प्रक्रिया का अहम् पहलू है।

डॉ. माधुरी सुबोध कहती हैं कि *"कुम्हार की तरह मिट्टी को हल्की-हल्की थपकियों से नर्म करते जाना और उसी से नाटक के चरित्रों को मनचाहा आकार और जीवन देना उसकी कला है। अभिनेता अथवा रंगकर्मी की ही कला मंच पर दिखाई देती है- निर्देशक की नहीं। उसकी कला 'कुछ नहीं' है पर क्या हो सकता है, यह दिखाना उसका सामर्थ्य है।"*[3] प्रस्तुति का पहला पाठक, दर्शक और यहाँ तक कि समीक्षक भी निर्देशक होता है। एक नाटक का मात्र एक ही कथ्य नहीं हुआ करता है, उसमें न जाने कितने कथ्य एक साथ समाए होते हैं और निर्देशक एवं अभिनेताओं की मंडली उनमें से किसी एक मुख्य कथ्य का अपनी प्रस्तुति के लिए चुनाव कर लेती है। वास्तव में अगर आप देखेंगे कि कला एवं साहित्य की विधाओं का रहस्य यही है।

डॉ. नेमीचंद्र जैन कहते हैं कि *"सार्थक कथ्य को लोकप्रिय स्तर तक लाने के लिए प्रदर्शन की शैली में अनेक प्रकार के प्रयोग निर्देशकों के कारण हुए है। आज का रंगमंच सही अर्थों में निर्देशक का रंगमंच है। दर्शक भी नाट्य प्रदर्शन नाटककार अथवा अभिनेता के कारण नहीं निर्देशक के नाम से ही देखने जाते हैं। उसकी कुशलता, कल्पनाशील, सृजनात्मकता अथवा अधिनिरूपण (इंटरप्रटेशन) के कारण देखने जाते हैं।"*[4] वहीं आप देखेंगे कि नाटक के आलेख से प्रस्तुति तक की यात्रा उतनी सीधी और सपाट नहीं होती है, जैसा कि वह दर्शकों को दिखाई पड़ती है। इसी संदर्भ में 'देवेन्द्र राज अंकुर' कहते हैं कि *"हमारे यहाँ और पश्चिम में भी इस संबंध में दो शब्दों का प्रचलन होता रहा है- नाटक का पाठ्यालेख और नाटक की प्रस्तुति आलेख। पाठ्यलेख से नाटक के उस आलेख से अभिप्राय है, जो लिखित रूप से हमें नाटककार से प्राप्त होता है और प्रस्तुति आलेख नाटक के उस आलेख से ताल्लुक रखता है, जो नाटक की प्रस्तुति प्रक्रिया के दौरान और अंततः नाटक की प्रस्तुति के बाद अपना अंतिम स्वरूप ग्रहण करता है। अंग्रेजी में इन दोनों आलेखों को 'ड्रामाटिक टेक्स्ट' और परफॉर्मेंस टेक्स्ट' के नाम से जाना जाता है।"*[5] नाट्य लेखक तथा निर्देशक दोनों ही सृजनात्मक गौरव के अधिकारी है। एक शब्दों को गढ़ता है, दूसरा अभिनय को माध्यम बनाकर कृति का रंगमंच पर पुनः सृजन करता है। डॉ. नगेन्द्र अपने एक वक्तव्य में कहते हैं कि *"..नाट्यकला की सिद्धी केवल प्रस्तुति की कल्पना पर नहीं, वरन् उत्तम साहित्य नाटक की सफल प्रस्तुति पर ही निर्भर करता है। जो निर्देशक किसी कालजयी नाटक का अभिनय-सौंदर्य के लिए इतना अंगभंग कर दे कि उसका मूल सौंदर्य ही खंडित हो जाये उसके प्रशिक्षण को अपूर्ण ही मानना चाहिए।"*[6] अब हम तीसरे चरण अर्थात 'अभिनय' को समझने का प्रयास करेंगे। अभिनय से हमारा अभिप्राय है कि नाट्य प्रयोग के द्वारा मौखिक, आंगिक, आहार्य, सात्विक रूप से व्यक्ति को ह्दय रसास्वाद कराना।

नाटककार की सीमा जहाँ समाप्त होती है, वहाँ अभिनेता की सीमा का आरंभ होता है। वहीं आप स्पष्ट तौर पर देखेंगे कि एक अभिनेता सृजनशील कलाकार की अपेक्षा 'नाट्यस्थिति के व्याख्याकार' के रूप में अधिक दिखाई देता है।

डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के शब्दों में कहे तो *"एक्टिंग कार्य-प्रधान है- अभिनय संकेत और अभिनटन प्रधान है। इसमें तमाम मुद्राओं, संकेतों के पूर्ण अभिव्यक्तियां है।"*[7] साहित्यकार धर्मवीर भारती इस संदर्भ में कहते हैं कि *"इस अभिनेता की सफलता इस बात में न थी कि वह केवल वह, दिखाई पड़े, बल्कि इस बात में थी कि वह न केवल अपने निजी व्यक्तित्व को विलीन कर दे, बल्कि दर्शकों को भी और मूर्तिमान कर दे उस नाट्य-*

स्थिति को जो नाटककार की कल्पना में साक्षात्कृत हुई होगी।"[8] अभिनेता आलेख पाठ की प्रक्रिया में वह उस चरित्र की आयु, वेशभूषा, स्वभाव उसके आर्थिक-सामाजिक परिवेश तथा चरित्र पर पड़ने वाले प्रभाव, प्रतिक्रियाएं आदि की खोज करता है। डॉ. माधुरी सुबोध के शब्दों में कहे तो *"शब्दों के खेल के भीतर जाकर अथवा संवादों की सतह के नीचे जाकर लेखक के निहित व्यंग्यार्थ को अधिक गहराई और जीवंतता के साथ उपस्थित कर सकता है। कभी-कभी उसकी एक सूक्ष्म भंगिमा उसके पात्र के चरित्र तथा दूसरों के साथ उसके संबंधो के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को बदल देते हैं।"*[9] एक अच्छे और अनुभवी को पता है कि दर्शक नाटक देखने आया है। वह अपनी वाणी और व्यवहार के माध्यम से शब्दों से परे जो अर्थ है, उसको संप्रेषित करता है।

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी अपनी पुस्तक 'नाट्यशास्त्र विश्वकोश' में अभिनेता के व्यवहार के सन्दर्भ में कहते हैं कि *"रेस्टोरेशन बिहेवियार का अर्थ है- एक व्यक्ति की तरह व्यवहार। यह व्यवहार उस समय दूसरे के साथ तादात्म्य या अभेद अनुभव करते हुए भी हो सकता है या अपने-आप का तथा उस दूसरे व्यक्ति का अनुभव एक साथ बनाये रखते हुए भी। शेख्नर दोनों स्थितियों से अलग अभिनेता के कर्म की व्याख्या- 'दोहरी नकारात्मक स्थिति' के रूप से करते हैं, जहाँ वह अपने होने को भी नकारता है और पात्र को भी।"*[10] पश्चिमी नाट्याचर्यों ने पांच अंगो की चर्चा अभिनय के लिए की है जिसमें से मुखमुद्रा, शरीर-भंगी, गति, वेग, वाणी है।

उन्नीसवीं सदी की प्रख्यात अभिनेत्री 'फैनी कैम्बल' की अभिव्यक्ति को 'राधावल्लभ त्रिपाठी' अपनी पुस्तक में कहते हैं कि *"अभिनय का एक रोचक पक्ष यह है कि अभिनय के दौरान हमारा मस्तिष्क एक साथ दो प्रक्रियाओं से गुजरता है। ये दो प्रक्रियाएं एक दूसरे के विरुद्ध है, फिर भी यहाँ एक साथ चलती है। उदाहरण के लिए मिसेज बेवरली के आखिरी दृश्य में जब मैं दुःख से अधमरी होकर जोर-जोर रो रही थी.. तो मैं देख रही थी कि मेरे आंसू गिर रहे हैं और उससे मेरा रेशमी परिधान ख़राब हो रहा है।"*[11] अभिनेता रंग-प्रक्रिया का केंद्र बिंदु है और मंच पर उपस्थित सभी क्रियाएं का वह केंद्र भी वही है अर्थात कहे तो सभी उसके अभिनय को निखारने में लगे होते हैं। सीताराम चतुर्वेदी कहते हैं कि *"शब्द के अनुकूल अभिनय और अभिनय के अनुकूल शब्द सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। आदर्श स्थिति यही है कि 'अभिनेता अपने पाठ में तन्मय होकर स्वयं पाठ हो जाए और पाठ ही स्वयं अभिनेता हो जाए।"*[12] अभिनेता अपनी अभिनय प्रक्रिया में बनाने और बिगाड़ने के कर्म से जूझता है। उसके लिए अभिनय का पल महत्त्वपूर्ण है। जो कि 'एकांत से समूह' की ओर बढ़ता है। दर्शक की तालियां ही उसके लिए पुरस्कार है, वह खुद को हमेशा साधने में लीन रहता है– नाट्यकर्म के दौरान। अब हम यहाँ चौथे चरण 'रंग-सज्जा' को रंग प्रस्तुति प्रक्रिया में समझने का प्रयास करेंगे। रंग-सज्जा पात्रों के लिए पृष्ठभूमि का काम करता है। पात्रों के मंच पर आने से पहले ही दर्शकों को अनेक बातों से अवगत करा देता है। वह देशकाल की सृष्टि में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नाटक में वर्णित होने वाली ऋतुओं तथा पात्रों की मनःस्थिति को प्रकट करने में रंग-सज्जा का बहुत योगदान है। डॉ. रीतारानी पालीवाल अपनी पुस्तक 'रंगमंच : नया परिदृश्य' में 'शेल्डान चेनी' के कथन को दोहराती है कि *"किन्तु उपलब्ध माध्यम के प्रसाधनों (जैसे काव्य में शब्द अथवा चित्रकला में रंग आदि) की भी अभिव्यक्ति के सौष्ठव की दृष्टि से, अपनी महत्ता होती है, क्योंकि उन्हीं के सहयोग से चित्रकला में रंगों और काव्य में वर्णों का सुन्दरतम प्रयोग और रंगमंच अथवा नाट्यकला में कथोपकथन, अभिनय अथवा प्रकाश आदि में प्रभावोत्पदकता संभव है।"*[13]

भरतमुनि अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में 'रंग-सज्जा' के लिए अनेक विधियों की चर्चा की है। 'शुद्धादर्शतल' के समान बने रंगशीर्ष, स्त्री-पुरुष, पुष्प-लताएँ तथा मानव-जीवन के अनेक चित्रों का वर्णन देख सकते हैं। डॉ. रघुवंश 'रंग-सज्जा' के संदर्भ में कहते हैं कि *"भारतीय रंगमंच के दृश्य-विधान की योजना चित्रात्मक अथवा यथार्थवादी कभी नहीं रहीं। पात्र काव्यात्मक श्रेष्ठ शैली में देशकाल का वर्णन प्रस्तुत कर नाटकीय घटना की सम्पूर्ण स्थिति की कल्पना दर्शकों में जाग्रत कर देता है।"*[14] वहीं डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित इस मत का खण्डन करते हैं और स्थापित करते हुए कहते हैं कि *"भरत द्वारा निरूपित रंगमंडप, कक्ष्याविभाग तथा आहार्य अभिनय पद्धति के निरूपण को देखते हुए भारतीय रंगमंच तथा रंगविधान को नितांत कल्पनात्मक मानना उचित नहीं है।"*[15] रंगमंच की दृष्टि से 'रंग-सज्जा' सरल और सुगम होनी चाहिए। अधिक तड़क-भड़क से आलेख और अभिनय कमजोर होने की सम्भावना बनी रहती है। अब पांचवें चरण की बढ़ चुके है अर्थात 'रंगदीपन' को समझने का प्रयास करेंगे। अभिनय कला को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त 'प्रकाश' की आवश्यकता होती है। आचार्य भरतमुनि अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य-प्रयोग के लिए समय निर्धारित करते हैं और कहते हैं कि प्रातः, दिन के तीसरे पहर तथा रात्रि में प्रथम और अंतिम प्रहर में नट्याभिनय किया जाना चाहिए। 'रंग-दीपन' को लेकर कहते हैं कि जलता हुआ दीपक से सम्पूर्ण रंगमंच को प्रकाशित किया जाना चाहिए वहीं आप देखेंगे कि रंग-दीपन का प्रयोग एक विकास यात्रा के तहत गुजरता हुआ यहाँ तक पहुंचा है। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सबसे पहली बार उल्काओं तथा मोमबत्तियों का प्रयोग 'इटली के पलेडियो थियेटर' तथा 'इंग्लैंड के ब्लैक फायर्स थियेटर' में प्रयोग होता

हुआ दिखता है। फिर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में गैस के प्रकाश की व्यवस्था हुई जिसके जरिये पूरे रंगमंच को प्रकाशमय बनाया जाने लगा।

रंगदीपकीय उपकरणों को चार भागों में भी बाँट कर देख सकते हैं-

संघात उपकरण (मैगेजीन इक्वीपमेंट)- पाद प्रकाश

तीव्र प्रकाश (फ्लड लाइट)

बिंदु प्रकाश (स्पाट लाइट)

लैंसयुक्त लालटेनें तथा आलोक चित्रप्रक्षेपक (इफैक्ट्स प्रोजेक्टर)।

ब्रेख्त 'रंगदीपन' के संदर्भ में एक बात बार-बार कहते हैं जो प्रचलित है, रंग-जगत में, उनकी अपनी कविता 'मंचप्रकाश' में- *"ऊंघती हुई रोशनी में मेरे दर्शक ऊंघने लगेंगे। मिस्त्री जी। चुंधियाने वाली तेज रोशनी दो ताकि दर्शक जागते रहें। अगर उन्हें सपने देखने हैं तो चमकती हुई रोशनी में देखें। रात के अंधेरे को हमारे जगमगाते हुए लैम्प और चाँद और भी गहरा कर सकते हैं। हम अपने अभिनय के द्वारा डूबते हुए दिन और आती हुई रात को व्यक्त करेंगे। .....रोशनी तेज करो ताकि दर्शक हमारे नाटक देखें जो हमने उनके लिए तैयार किया है।"*[16] अंततः हम छठे चरण अर्थात 'संगीत योजना' को रंग-प्रस्तुति प्रक्रिया में उनके महत्त्व को जानने का प्रयास करेंगे। आचार्य भरत मुनि अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में छः-सात अध्याय में नाट्य-प्रयोग को सफल बनाने के लिए गीत-वाद्य का विवरण प्रस्तुत किया है।

गीतों के प्रयोग से व्यक्तियों में रस को उत्पन्न करने की कोशिश होती है लेकिन अति के प्रयोग से 'रस-जनक' न होकर वह 'खेद-जनक' हो जाता है।

आचार्य भरत मुनि चार प्रकार के वाद्यों को बताया है।

तत (धीराग)
अबनध्य (मृदंग, पटह)
सुशिर (वेणु)
घन (झ्काल)

आप देखेंगे कि आज के हिंदी रंगमंच में चार-पांच गीतों का प्रयोग दिखता है जैसे नाटक- आगरा बाज़ार, रुस्तम सोहराब, मुद्राराक्षस, उत्तररामचरित आदि। दिन-ब-दिन लगभग सभी प्रदर्शनों में गीतों की महत्त्वता को आप देख सकते हैं।

निष्कर्ष-

हम कह सकते हैं कि रंगमंच एक प्रयोगशाला है। जिसमें रंगकर्मी के माध्यम से उस क्षण को जीया जाता है, जो कभी समाप्त नहीं होता। जो साधन की तरह है। रंगमंच की मूल स्थापना दर्शक और अभिनेता के अंतरंग रिश्ते पर आधारित है अर्थात यह रंगमंच दर्शक के लिए नाट्य की प्रस्तुति के माध्यम से यथार्थ की भ्रान्ति पैदा करता है। एक नाट्य कृति अनेक तत्वों से होता प्रस्तुति अर्थात मंच तक पहुंचता है। उसमें ही उस आलेख की सार्थकता है।

सन्दर्भ सूची

1) रंगमंच नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, लिपि प्रकाशन, पृष्ठ सं. 38.
2) रंगदर्शन, श्री नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ सं. 45.
3) लेख- प्रस्तुति-प्रक्रिया के विभिन्न घटक, डॉ. माधुरी सुबोध, पृष्ठ सं.15.
4) दृश्य अदृश्य, श्री नेमिचन्द्र जैन, पृष्ठ सं.-117.
5) कृति मूल्यांकन, संपादक आशीष त्रिपाठी (अनेक लेखों का संकलन), पृष्ठ सं.31.
6) रंगमंच नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, लिपि प्रकाशन, पृष्ठ सं. 38.
7) रंगभूमि: भारतीय नाट्य सौन्दर्य, डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल, पृष्ठ सं.111.
8) रंगमंच नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, लिपि प्रकाशन, पृष्ठ सं.40.
9) लेख- प्रस्तुति-प्रक्रिया के विभिन्न घटक, डॉ. माधुरी सुबोध, पृष्ठ सं.-10.
10) नाट्यशास्त्र विश्वकोश, राधावल्लभ त्रिपाठी, पृष्ठ-130.
11) नाट्यशास्त्र विश्वकोश, राधावल्लभ त्रिपाठी, पृष्ठ-29 (भाग-1)
12) भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच, सीताराम चतुर्वेदी, पृष्ठ सं. 241.
13) रंगमंच नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, लिपि प्रकाशन, पृष्ठ सं. 48.
14) रंगमंच नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, लिपि प्रकाशन, पृष्ठ सं. 49
15) रंगमंच नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, लिपि प्रकाशन, पृष्ठ सं. 49
16) रंगमंच नया परिदृश्य, डॉ. रीतारानी पालीवाल, लिपि प्रकाशन, पृष्ठ सं. 64

*****

नारदपुराण में दार्शनिक तत्व

- हलधर भारद्वाज
शोधच्छात्र
जामिया मिल्लिया इस्लामिया
संस्कृत विभाग, नई दिल्ली

प्रस्तावना

नारदपुराण भारतीय धर्म-दर्शन का एक महत्वपूर्ण वैष्णव ग्रन्थ है। इसमें न केवल भगवान् विष्णु की महिमा और भक्तियोग का विस्तृत विवेचन है, बल्कि कर्म, ज्ञान, योग तथा नैतिक आचार-विचार के समन्वित तत्त्वों का भी सुस्पष्ट निरूपण मिलता है। यह पुराण साधक को सरल, व्यवहार्य और लोककल्याणकारी उपदेश देकर मोक्षमार्ग को सुलभ बनाता है। भक्ति को केंद्र में रखते हुए कर्मयोग और ज्ञानयोग का समर्थन भी करता है। नीचे नारदपुराण के प्रमुख दार्शनिक तत्त्वों का संगठित विवेचन प्रस्तुत है।

भक्तियोग

नारदपुराण का केन्द्रबिन्दु भगवान् विष्णु की भक्तिसे है। पुराण स्पष्ट करता है कि विष्णु ही धर्म, तप, ज्ञान, गति और समस्त जगत का आधार हैं। भक्ति चाहे वह न्यूनतम मात्रा की क्यों न हो — अक्षय परिणाम देती है; श्रद्धा से सभी पाप नष्ट होते हैं और विष्णु-स्मरण से मनुष्य 'पदमव्ययम्' अर्थात् अविनाशी स्थिति को प्राप्त कर सकता है।
गीता में श्रीकृष्ण भी स्पष्ट करते हैं —

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥"[1]

भक्ति के द्वारा ही भगवान् का तत्त्वज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है। नारदपुराण में मोक्ष के आधारभूत भक्तियोग को विशेष महत्त्व दिया गया है। भगवान् विष्णु की भक्ति से मनुष्य लौकिक मनोवञ्छित फलों को प्राप्त कर दुर्लभ मोक्ष 'पद को प्राप्त कर सकता है-

सदाचारपराणं च वक्तव्यं मोक्षसाधनम् ।
सर्वदेवमयो विष्णुः स्मरतामार्तिनाशनः ।।[2]

कर्मयोग-

नारदपुराण कर्म को नासक नहीं, बल्कि मोक्ष प्राप्ति हेतु साधन बताता है; विशेषकर निष्काम कर्म, यथाविधि समर्पण और देवताधर्म के लिए कर्म का महत्व है। भगवद्गीता में भी कहा गया है-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥"[3]

कर्म के त्याग नहीं, बल्कि समत्व से कर्म करना ही सच्चा योग है कर्मफल की आस छोड़ देने पर 'पदमव्ययम्' की प्राप्ति संभव है। कर्म करने का शुद्ध मार्ग फलाग्रह त्याग कर ईश्वरतुष्टि के लिये कर्म है। कर्म ही न केवल कार्य है बल्कि कर्मकर्ता और फलभोगता भी विष्णु ही हैं।

निष्कामो वा सकामो वा कुर्यात्कर्म यथाविधि ।
स्वाश्रमाचारशून्यश्च पतितः प्रोच्यते बुधैः ।।
सदाचारपरो विप्रो वर्द्धते ब्रह्मतेजसा ।
तस्य विष्णुश्च तुष्टः स्याद्भक्ति युक्तस्य नारद ।।[4]

ज्ञान (ज्ञानयोग) —

पुराण में कहा गया है कि परमो ज्ञान — आत्मा और परब्रह्म के अभेद का ज्ञान — अंतिम मोक्षप्रदायक है। तत्त्वमसि, सोऽहं इत्यादि महावाक्यों पर चिंतन से जीवात्मा-परब्रह्म का अभेद बोध होता है। भक्ति और कर्म की परिणति से उत्पन्न निर्मल बुद्धि ही सच्चा ज्ञानप्राप्ति का आधार है। नारद पुराण के अनुसार यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वासुदेव स्वरूप है। समस्त धर्म तप, ज्ञान, गति, भगवान् विष्णु से अभिव्याप्त हैं-

वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरं तपः ।
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरा गतिः ।।[5]

इस पुराण में मोक्षप्राप्ति का सहज उपाय बतलाया गया है। ज्ञान के लिए विशेष प्रयत्न करने के लिए कहा गया है। संसार रूपी दावानल के ताप से सन्तप्त मनुष्य सदैव परम ज्ञान का अभ्यास करे। ज्ञान के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ज्ञानशून्य मनुष्य पशु तुल्य है | अतः संसार के बन्धन से मुक्त होने के लिए परम ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए-

तस्मात्संसारदावाग्नितापार्तो द्विजसत्तम ।
अभ्यसेत्परमं ज्ञानं ज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात् ।।
ज्ञानशून्या नरा ये तु पशवः परिकीर्तिताः ।
तस्मात्संसारमोक्षाय परं ज्ञानं समभ्यसेत् ।।[6]

अंहिसा, सत्य, क्रोध का अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ईर्ष्या का त्याग तथा दया- ये सद्गुण ज्ञान योग और कर्मयोग- दोनों में समान रूप से आवश्यक हैं।

अहिंसा सत्यमक्रोधो ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
अनीर्ष्या च दया चैव योगयोरुभयोः समाः ।।[7]

माया का विवेचन:

माया को अज्ञान का कारण बताया गया है; माया के पराजय से अज्ञानविच्छेद संभव। ईशोपनिषद् मे भी कहा गया है-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥"[8]

अर्थात् जो व्यक्ति विद्या (आत्मज्ञान) और अविद्या (कर्म या सांसारिक ज्ञान) — दोनों को एक साथ समझता है, वह पहले अविद्या (सद्कर्म, उपासना, धर्माचरण आदि) के द्वारा संसार–मृत्यु रूप बन्धन को पार करता है, और फिर विद्या (आत्म–ब्रह्म–साक्षात्कार) के द्वारा अमृत अर्थात् मोक्ष

को प्राप्त करता है। नारद पुराण मे कहा गया है कि-

एक एव परानन्दो निर्गुणः परतः परः ।
भाति विज्ञानभेदेन बहुरूपधरोऽव्ययः ।।
मायिनो मायया भेदं पश्यन्ति परमात्मनि ।
तस्मान्मायां त्यजेद्योगान्मुमुक्षुर्द्विजसत्तम ।।
वासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका ।
अनिर्वाच्या ततो ज्ञेया भेदबुद्धिप्रदायिनी ।।
मायेवाज्ञानशब्देन बुद्ध्यते मुनिसत्तम ।
तस्मादज्ञानविच्छेदो भवेद्वै जितमायिनाम् ।।[9]

योगदर्शन — अष्टांग एवं साधन-विवरण

नारदपुराण योग के पारंपरिक अङ्गों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) का संवेदनशील और अभ्यासोपयोगी वर्णन करता है। महाभारत मे कहा गया है-

"यमादिभिरयोगाङ्गैर्योगः साध्यः प्रयत्नतः।
धारणाध्यानसमाधिभिः प्राप्यते परमा गतिः॥"[10]

यम-नियमों पर जोर देकर समाजसुख तथा आचार-संयम का निर्देश दिया गया है।

यमाश्च नियमाश्चैव आसनानि च सत्तम् ।
प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमेव च ।।
समाधिश्च मुनिश्रेष्ठ योगाङ्गानि यथाक्रमम् ।
एषां संक्षेपतो वक्ष्ये लक्षणानि मुनीश्वर ।।[11]

जन्म-मृत्यु, पुनर्जन्म और कर्मसिद्धांत

पुराण कर्मसिद्धांत का दृढ़ पक्षधर है — किए हुए कर्मों का अपरिहार्य फल। कोई कर्म अभोगी न रहता; न भुक्तं क्षीयते। अतः कर्मों का परिशोधन और निष्कामता आवश्यक है। कर्मों का फल अनिवार्य; पुण्य-अपुण्य फल का अनुभव होने परही आत्मशुद्धि सम्भव। ज्ञान एवं भक्ति से पूर्वपुण्य का नाश व मोक्ष की प्राप्ति।

कोटिजन्मसहस्रेषु स्थावरादिषु सत्तम ।
संभ्रांतस्य तु मानुष्यं कथंचित्परिलभ्यते ।।
तत्रापि देवताबुद्धिर्दानबुद्धिश्च सत्तम ।
भोगबुद्धिस्तथा नृणां जन्मान्तरतपः फलम्
मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य यो हरिं नार्चयेत्सकृत् ।
मूर्खः कोऽस्ति परस्तस्माज्जडबुद्धिरचेतनः ।
दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं नार्चयन्ति च ये हरिम् ।
तेषामतीव मूर्खाणां विवेकः कुत्र तिष्ठति ।।[12]

नारद पुराण में भव बन्धन से मुक्ति के लिए भगवान् विष्णु के भजन का विधिवत् उपदेश दिया गया है। कहा गया है कि मनुष्य शरीर बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। इस दुर्लभ शरीर को प्राप्त कर भगवान् श्री हरि का भजन नहीं करता है वह महामूर्ख है। लोगों को सावधान करते हुए कहा गया है कि ये महान् दुःख की बात है कि शरीर को विनश्वर जानकर भी मनुष्य धर्म का आचरण नहीं करता है-

अहो कष्टमहो कष्टमहो कष्टमिदं वपुः ।
विनश्वरं समाज्ञाय धर्मं नैवाचरत्ययम् ।।
अहो धैर्यमहो धैर्यमहो धैर्यमहो नृणाम् ।
विष्णौ स्थिते जगन्नाथे न भजंति मदोद्धताः ।।[13]

यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है। इसलिए मनुष्य को अपने मन को परमात्मा में लगाना चाहिए। यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि मनुष्य हृदय में स्थित परमात्मा को नहीं देख पा रहा है-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
तस्मात्तदभिसंयोज्य परात्मनि सुखी भवेत् ।।
अहो मौर्ण्यमहो मौर्य्यमहो मौख्यं दुरात्मनाम् ।
हृत्पद्मसंस्थितं विष्णुं न विजानन्ति नारद ।।[14]

यहाँ यह भी आश्चर्य प्रकट किया गया कि भगवान् विष्णु के स्थित होने पर भी लोग इस संसार में आसक्त हैं-

अहो चित्रमहो चित्रमिदं द्विज ।
हरिनाम्नि स्थिते लोकः संसारे परिवर्तते ।।[15]

मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए, काम, क्रोधादि विकारों से दूर रहने के लिए कहा गया है कि क्रोध मानसिक सन्ताप का कारण है, क्रोध सांसारिक बन्धनों में डालने वाला है और क्रोध समस्त धर्मों का नाश करने वाला है। अतः क्रोध को छोड़ देना चाहिए। इस कर्म का मूल कारण काम है और काम पाप कराने में हेतु है। यह यश को विनष्ट कर देता है अतः काम का त्याग कर देना चाहिए। मात्सर्य समस्त दुःख समुदाय का कारण है यह नरकों का कारण है अतः उसका परित्याग कर देना चाहिए। मनुष्य का मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। अतः मन को परमात्मा में लगाना चाहिए -

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्तं परिवर्जयेत् ।।
काममूलमिदं जन्म कामः पापस्य कारणम् ।
यशः क्षयकरः कामस्तस्मात्तं परिवर्जयेत् ।।
समस्तदुःखजालानां मात्सर्यं कारणं स्मृतम् ।।
नरकाणां साधनं च तस्मात्तदपि संत्यजेत् ।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
तस्मात्तदभिसंयोज्य परात्मनि सुखी भवेत् ।।[16]

इस पुराण में सत्संग को विशेष महत्त्व दिया गया है। सत्संग के द्वारा व्यक्ति किसी कारण से भगवान् विष्णु की उपासना करता है, वह अक्षय सुख को प्राप्त कर लेता है। मुंडकोपनिषद मे कहा गया है- **"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"**[17]आत्मानुभूति के लिए सात्त्विक पुरुषार्थ, संयम और साधु-संग आवश्यक है।

यहाँ उत्तक ऋषि का यह वक्तव्य विशेष महत्त्व रखता है जो मनुष्य अनेक बार सताये जाने पर भी क्षमा करता है, उसे उत्तम कहा गया है। वह भगवान् विष्णु को सदा ही अत्यन्त प्रिय है। जिनकी बुद्धि सदा दूसरों के हित में लगी हुई है, वे साधु पुरूष मृत्युकाल आने पर भी किसी से वैर नहीं करते। चन्दन का वृक्ष काटे जाने पर भी कुठार की धार को सुगन्धित ही करता है। मृग, तृण से, मछलियाँ जल से तथा सज्जन पुरुष संतोष से जीवन निर्वाह करते हैं, परंतु संसार में क्रमशः तीन प्रकार के व्यक्ति इनके साथ भी अकारण वैर रखने वाले होते हैं- व्याध, धीवर और चुगलखोर-

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ।[18]

माया बड़ी प्रबल है। वह समस्त जगत् को मोह में डाल देती है। तभी तो लोग पुत्र मित्र और स्त्री के लिये सबको दुःखी करते रहते हैं। तुमने दूसरों का धन लूटकर अपनी स्त्री का पालन-पोषण किया है, परन्तु अन्तकाल में मनुष्य सबको छोड़कर अकेला ही परलोक की यात्रा करता है। मेरी माता, मेरे पिता, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र और मेरी यह वस्तु इस प्रकार की ममता प्राणियों को व्यर्थ पीड़ा देती रहती है। पुरूष जब तक धन कमाता है, तभी तक भाई बन्धु उससे सम्बन्ध रखते हैं, परंतु इहलोक और परलोक में केवल धर्म और अधर्म ही सदा उसके साथ रहते हैं। वहाँ दूसरा कोई साथी नहीं है-

यावदर्जयति द्रव्यं बान्धवास्तावदेव हि ।
धर्माधर्मौ सहैवास्तामिहामुत्र न चापरः ।।[19]

धर्म और अधर्म से कमाये हुए धन के द्वारा जिसने जिन लोगों का पालन-पोषण किया है, वह ही मरने पर उसे आग के मुख में झोंककर स्वयं ही मिलाया हुआ अन्न खाते हैं। पापी मनुष्यों की कामना रोज बढ़ती है और पुण्यात्मा पुरुषों की कामना प्रतिदिन क्षीण होती है। लोग सदा धन आदि के उपार्जन में व्यर्थ ही व्याकुल रहते हैं। जो होने वाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होने वाला है, वह कभी नहीं होता, जिनकी बुद्धि में ऐसा निश्चय होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती ।

यद्भावि तद्भवत्येवयदभाव्यं न तद्भवेत् ।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित् ।।[20]

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् दैव के अधीन है, अतः दैव ही जन्म और मृत्यु को जानता है, दूसरा नहीं। अहो! ममता से व्याकुल चित्तवाले मनुष्यों का दुःख महान् है, क्योंकि वे बड़े-बड़े पाप करके भी दूसरों का यत्नपूर्वक पालन करते हैं। मनुष्य के कमाये हुए सम्पूर्ण धन को सदा सब भाई-बन्धु भोगते हैं, किंतु वह मूर्ख अपने पापों का फल स्वयं अकेला ही भोगता है-

अर्जितं च धनं सर्वं भुञ्जते बान्धवाः सदा ।
स्वयमेकतमो मूढस्तत्पापफलमश्नुते ।।[21]

नारद पुराण में यह कहते हुए सावधान कर दिया गया कि सभी भाई बन्धु अनित्य हैं। धन, वैभव भी सदा रहने वाला नहीं है। मृत्यु सदैव समीप खड़ी रहती है। यह विचार कर धर्म का संचय करना चाहिए ।

नारद पुराण में कहा गया है कि जो मनुष्य आसक्ति रहित तथा पर- अवर (उत्तम - मध्यम) (शुभ-अशुभ) के ज्ञाता हैं और निरन्तर देवगुरू भगवान् नारायण का चिन्तन करते रहते हैं, उस ध्यान से उनके अन्तः करण की सारी पापराशि नष्ट हो जाती है और वे फिर कभी माता के स्तनों का दूध नहीं पीते जो मानव भगवान् की कथा श्रवण करके अपने समस्त दोष-दुर्गुण दूर कर चुके हैं और जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दो की आराधना में अनुरक्त है, वे अपने शरीर के सङ्ग अथवा सम्भाषण से भी संसार को पवित्र करते हैं, अतः सदा श्रीहरि की ही पूजा करनी चाहिए। जैसे नीची भूमि में इधर-उधर का सारा जल (सिमट - सिमटकर) एकत्र हो जाता है. उसी प्रकार जहाँ भगवत्पूजापरायण शुद्धचित्त महापुरूष रहते हैं, वहीं सम्पूर्ण कल्याण का वास होता है-

ते वै पुनन्ति च जगन्ति शरीरसङ्गात्
सम्भाषणादपि ततो हरिरेव पूज्यः ।।
हरिपूजापरा यत्र महान्तः शुद्धबुद्धयः ।
तत्रैव सकलं भद्रं यथा निम्ने जलं द्विज ।।[22]

नारद पुराण मे कहा गया है कि मनुष्य को सब प्रकार के उपायों से लोभ और क्रोध को काबू में करना चाहिये। सब ज्ञानों में यही पवित्र ज्ञान है और यही आत्मसंयम। लोभ और क्रोध सदा मनुष्य के श्रेय का विनाश करने को उद्यत रहते हैं। अतः सर्वथा उनका त्याग करना चाहिये । क्रोध सदा लक्ष्मी को बचाने और मात्सर्य से तप की रक्षा करे। मान और अपमान से विद्या को बचाने तथा प्रमाद से आत्मा की रक्षा करे। जिसके सभी कार्य कामनाओं के बन्धन से रहित होते हैं तथा त्याग के लिये जिसने अपने सर्वस्व की आहुति दे दी है, वही त्यागी और बुद्धिमान् है। किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, सबसे मैत्रीभाव निभाता रहे और संग्रह का त्याग करके बुद्धि के द्वारा अपनी इन्द्रियों को जीते। ऐसा कार्य करे जिसमें शोक के लिये स्थान न हो तथा जो इहलोक और परलोक में भी भयदायक न हो। सदा तपस्या में लगे रहकर इन्द्रियों का दमन तथा मन का विग्रह करते हुए मुनिवृत्ति से रहे। आसक्ति के जितने विषय हैं, उन सब में अनासक्त रहे और जो किसी से पराजित नहीं हुआ, उस परमेश्वर को जीतने के विषय हैं, उन सब में अनासक्त रहे और जो किसी से पराजित नहीं हुआ, उस परमेश्वर को जीतने (जानने या प्राप्त करने) की इच्छा रखे। इन्द्रियों से जिन-जिन वस्तुओं का ग्रहण होता है, वह सब व्यक्त **हैं**। यही व्यक्त की परिभाषा है। जो अनुमान के द्वारा कुछ-कुछ जानी जाय उस इन्द्रियातीत वस्तु को अव्यक्त जानना चाहिए। जब तक (ज्ञान की कमी के कारण) पूरा विश्वास न हो जाय तब तक ज्ञेय स्वरूप परमात्मा का मनन करते रहना चाहिये और पूर्ण विश्वास हो जाने पर मन को उसमें लगाना चाहिये अर्थात् ध्यान करना चाहिये । प्राणायाम के द्वारा मन को वश में करे और संसार की किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे। यहाँ सत्य की अतिशय प्रशंसा की गयी। कहाँ गया है कि सत्य ही व्रत, तपस्या और पवित्रता है सत्य ही प्रजा की सृस्टि करता है। सत्य से ही यह लोक धारण किया जाता है और सत्य से ही मनुष्य स्वर्गलोक मे जाते हैं-

सत्येन धार्यते लोकः स्वः सत्येनैव गच्छति ।
अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः ।।
तमोग्रस्ता न पश्यंति प्रकाशं तमसावृताः ।
सुदुष्प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च ।।[23]

उपसंहार

नारदपुराण न केवल पुरातन धार्मिक ग्रन्थ है, बल्कि आज के युग में भी यह व्यवहारिक, नैतिक और आध्यात्मिक मार्गदर्शन प्रदान करता है। उसका मूल संदेश सरल है: भगवद्भक्ति को जीवन का केन्द्र रखो; निष्ठा-पूर्ण कर्म करो पर फल की आस छोड़ दो; ज्ञान से आत्मसाक्षात्कार करो;योगाभ्यास, नैतिकता तथा साधु-संग के द्वारा आन्तरिक शुद्धि प्राप्त करो। इन सामान्य पर फिर भी गहन सिद्धियों में पिरोए हुए उपदेशों का अनुपालन करने से साधक न केवल वैयक्तिक मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, बल्कि समाज में स्थायी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति भी संभव है। यही नारदपुराण का सर्वाधिक उपयोगी और समयोनुकूल दार्शनिक योगदान है।

सन्दर्भ

1. गीता 18.55
2. नारद पुराणम् 1.50
3. गीता 2.48
4. नारद पुराणम् 3.78
5. नारद पुराणम् 3.80
6. नारद पुराणम् 32.39-40
7. नारद पुराणम् 33.35
8. ईशोपनिषद् ११
9. नारद पुराणम् 33.67-70
10. महाभारत, शान्तिपर्व ३२०.२१
11. नारद पुराणम् 33.73
12. नारद पुराणम् 34.36-39
13. नारद पुराणम् 34.52,59
14. नारद पुराणम् 34.58,64
15. नारद पुराणम् 34.48
16. नारद पुराणम् 34.55-58
17. मुण्डक उपनिषद् ३.२.४
18. नारद पुराणम् 37.38
19. नारद पुराणम् 37.42
20. नारद पुराणम् 37.47
21. नारद पुराणम् 37.51
22. नारद पुराणम् 40.53-54
23. नारद पुराणम् 43.83-84

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची:-

1. श्रीमद्भगवद्गीता (संस्कृत-हिन्दी) — सम्पा. पं. जयदेव शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2023।
2. नारदपुराणम् (संस्कृत-हिन्दी टीका सहित) — सम्पा. पं. रामनारायणदास, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2019।
3. महाभारतम् – शान्तिपर्व (संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहित) — सम्पा. पं. जयदेव शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2021।
4. ईशोपनिषद् (शंकरभाष्यसहित) — सम्पा. पं. दामोदर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी, 2018।
5. मुण्डकोपनिषद् (संस्कृत-हिन्दी टीका सहित) — सम्पा. पं. विष्णुप्रसाद शर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रकाशन, वाराणसी, 2019।
6. The Nārada Purāṇa (Part I–II) — G. V. Tagare, Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 2012।
7. The Bhagavad Gītā (English Translation with Sanskrit Text) — S. Radhakrishnan, Oxford University Press, New Delhi, 2000।
8. Mahābhārata (Śānti Parva – Critical Edition) — सम्पा. V. S. Sukthankar et al., Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, 1942।
9. Upaniṣad-Saṃgrahaḥ (with Śaṅkarabhāṣya) — सम्पा. डा. रामशंकर शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2020।
10. Purāṇic Literature and Indian Education — Dr. Premshankar Mishra, Chaukhambha Bharati Academy, वाराणसी, 2018।

*****

समान नागरिक संहिता: अनुच्छेद 44 का विश्लेषण

-राजू
शोधार्थी,
राजनीति विज्ञान विभाग
मुमताज पी.जी कॉलेज
लखनऊ विश्वविद्यालय
ईमेल: rajudixit220@gmail.com
मो: 9354175053

अमूर्त : समान नागरिक संहिता भारतीय समाज में एक 1950 के दशक से एक विवाद का मुद्दा रहा है क्योंकि इसका वर्णन भारतीय संविधान के एक नीति निर्देशक सिद्धांत अनुच्छेद 44 में वर्णन किया गया है (यूनिफॉर्म सिविल कोर्ट) में देश में सभी धर्म, समुदायों के लिए एक समान, एक बराबर कानून बनाने की वकालत की गई है। इस कानून का मतलब है कि देश में सभी, समुदायों के लिए कानून एक समान होगा। यह संहिता संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 44 के तहत आती है। इसमें कहा गया है कि राज्य पूरे भारत में नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता सुनिश्चित करने का प्रयास करेंगे। समान नागरिक संहिता (यूसीसी) भारत के लिए एक कानून बनाने का आह्वान करती है, जो विवाह, तलाक, विरासत, गोद लेने जैसे मामलों में सभी धार्मिक समुदाय पर लागू होगा। एक आदर्श राज्य के लिए यूसीसी नागरिकों के अधिकारों को एक आदर्श सुरक्षा होगी इसे अपनाना एक प्रगतिशील कानून होगा। और बदलते समय के साथ सभी नागरिकों के लिए, चाहे वे किसी भी धर्म के हो, एक समान नागरिक संहिता की आवश्यकता पैदा हो गई यहां तक की यूसीसी लागू करके धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय अखंडता को भी मजबूत किया जा सकता है। तीन तलाक जैसी घातक प्रथा के उन्मूलन के बाद समय आ गया है। कि पूरे देश में समान नागरिक संहिता लागू करने पर ध्यान केंद्रित किया जाए। भारत में प्रचलित धार्मिक बहुलवाद का धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में समान नागरिक संहिता के मुद्दे पर अक्सर वह होती है लेकिन क्या इन तीनों के बीच कोई तार्किक संबंध है सभी धर्म के प्रति सम्मान के अर्थ में धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक बहुलवाद का एक तार्किक परिणाम है। अनुच्छेद 25 धर्म की स्वतंत्रता की गारंटी देता है। समान नागरिक संहिता (यूसीसी) की मांगों और धार्मिक स्वतंत्रता के संवैधानिक अधिकारों के बीच समन्वय बैठाने के प्रयासों में यह विरोधाभास कानूनी समान आचार संहिता पैदा करता है ।

कूटशब्द : नागरिकता, लैंगिक समानता, संवैधानिकता, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता

प्रस्तावना: समान नागरिक संहिता" शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है। यह है" समानता "नागरिकता" और सहिंता"।

इन तीनों शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। "समानता" का तात्पर्य सभी के लिए एक ही चीज के समान रूप से हैं। आमतौर पर "सामान्य" और "समानता" को एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया जाता है, लेकिन जब उनके वास्तविक अंतर को देखा जाता है तो वह कई पहलुओं पर भिन्न सिद्ध होते हैं लेकिन वर्तमान विषय के संदर्भ में "समानता" का अर्थ सभी परिस्थितियों में एक ही है, जबकि "सामान्य" का अर्थ सामान परिस्थितियों में एक ही है हालांकि संविधान के अनुच्छेद 44 के संदर्भ में इन दोनों शब्दों पर विचार किया जाता है तो इन्हें आमतौर पर एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया जाता है।

"नागरिकता" शब्द की अभिव्यक्ति बहुत लचीली है और इसका प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है" नागरिकता शब्द लैटिन शब्द" सिविल" से लिया गया है जिसका अर्थ नागरिक होता है" सिविल शब्द, जब "कानून" के विशेषण के रूप में प्रयोग किया जाता है।

शब्दकोश के अनुसार "सिविल" शब्द का अर्थ" नागरिकों से एक व्यक्ति के रूप में से संबंधित नागरिक अधिकार"।

लैंगिक समानता: लैंगिक समानता का अर्थ यह है कि पुरुष और महिलाओं के समान अधिकार और दायित्व और रोजगार के अवसर के सिद्धांत हैं। जिस प्रकार के पैमाने में दोनों तरफ सामान भरा बनाए रखने पर वह स्थिति होती है ठीक उसी तरह किसी समाज और रास्ते में संतुलन बनाने के लिए आवश्यक है कि वहां के पुरुषों और महिलाओं के मध्य लैंगिक समानता की स्थापना की जानी चाहिए। आज आधुनिकता की जीवन शैली का विरोध के बावजूद भारतीय समाज भाषाई समानता के मामले में इतनी गिरावट आ गई है भारतीय समाज में महिलाओं को सामान्य प्रदान करने के लिए संवैधानिक अधिकार प्रदान किए हैं। अनुच्छेद 14 कानून के समक्ष समानता और कानून का समान संरक्षण, अनुच्छेद 15: धर्म मूल वंश जाति लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध, अनुच्छेद 15(3) राज्य की महिलाओं और बच्चों के पक्ष में विशेष प्रावधान करने का अधिकार देता है(इसे सकारात्मक भेदभाव) अनुच्छेद 16 सार्वजनिक रोजगार के मामलों में अफसर की समानता, अनुच्छेद 21 जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अधिकार, जिसमें गरिमा के साथ जीने का अधिकार शामिल है। अनुच्छेद 39 (ए) और 42 वे राज्य के नीति निर्देशक तत्व समान काम के लिए समान वेतन, तथा काम की न्याय संगत और मानवीय स्थितियां और प्रसूति सहायता का प्रावधान। अनुच्छेद 51(ए) महिलाओं के गरिमा के विरुद्ध प्रथाओं का त्याग करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है इसी प्रकार से महिला समानता के आधार पर पंचायती राज संस्थाएं लोकसभा विधानसभा आदि में महिलाओं के लिए सीटों का आरक्षण किया गया है जैसे ग्रामीण स्तर पर1/3 महिलाओं को आरक्षण लोकसभा राज्य विधानसभा में आदि में महिलाओ के लिए लगभग 33% प्रतिशत आरक्षित सीटे करना यह भी देख 27 वर्षों से बहस चल रही थी, जिसमें राजनीतिक दलों के बीच आम

सहमति की कमी के कारण महिला आरक्षण 2010 भी शामिल है। यह पहले विवेक था जिस पर नए संसद भवन में विचार किया गया था भारतीय संसद ने महिला आरक्षण विधेयक जिसे नारी शक्ति वंदना अधिनियम के नाम से भी जाना जाता है, को 2023 में पारित कर दिया है। यह विवेक लोकसभा, राज्य विधानसभाओं में महिलाओं के लिए कुल सीटों का एक तिहाई 33% करता है। यह आरक्षण संविधान 106 वा संशोधन अधिनियम के रूप में लागू होगा और जनगणना के बाद परिसीमन प्रक्रिया पूरे होने के बाद प्रभावित होगा।

संवैधानिकता: संवैधानिक प्रावधान (अनुच्छेद 44) भारतीय संविधान के भाग चार में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों (डायरेक्टिव प्रिंसिपल्स ऑफ़ स्टेट पॉलिसी) के तहत अनुच्छेद 44 राज्य की पूरे भारत में नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता सुनिश्चित करने का प्रयास करने का निर्देश देता है। शोध पत्र इस बात पर जोर देते हैं अदालतों द्वारा अनिवार्य रूप से लागू नहीं किया जा सकता है, लेकिन राज्य का दायित्व है। भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों में टकराव देखने को मिलता है यूसीसी की संवैधानिकता पर बहस का प्रमुख बिंदु यह है कि यह धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार और (अनुच्छेद 25 से 28) और सांस्कृतिक अधिकारों को कैसे तालमेल बैठता है।

धर्मनिरपेक्षता: भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है अर्थात राज्य का अपना कोई विशेष धर्म नहीं है साथ ही साथ सभी धर्म की सुरक्षा राज्य की जिम्मेदारी है, राज्य के लिए सभी धर्म समान है एक जैसा व्यवहार किया जाता है, भारतीय संविधान के राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत के रूप में भारतीय संविधान का अनुच्छेद 44 यह प्रावधान करता है कि राज्य भारत के लिए एक समान नागरिक संहिता सुनिश्चित करेगा। कई नागरिक कानून है जैसे सीपीसी 1909, अनुबंधों का कानून संपत्ति अधिनियम आदि का हस्तांतरण, लेकिन यह व्यक्तिगत मामलों जैसे विवाह, तलाक, विरासत, रखरखाव आदि के लिए है समुदाय अपने स्वयं के व्यक्तिगत कानून द्वारा शासित होते हैं। लेकिन आजादी के 70 साल बाद भी समान नागरिक संहिता उच्च का कार्य नियन एक दूर का सपना है लेकिन वर्तमान सरकार समान नागरिक संहिता पर बहुत अधिक महत्वपूर्ण मानता है और गोवा के बाद उत्तराखंड में क्रियान्वयन किया गया है सरकार का चुनाव घोषणा पत्र का मुद्दा भी था समान नागरिक संहिता लागू करवाना 42 वें संविधान संशोधन 1976 में भारतीय संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्ष शब्द को जोड़ा गया।

राष्ट्रीय एकता: राष्ट्रीय एकता और समान नागरिक संहिता भारत में व्यक्तिगत कानून जो धार्मिक समानता के अनुसार भिन्न होते हैं अक्सर अलग-अलग पहचाने कि मजबूत करके और नागरिक की खंडित भावना को बढ़ावा देकर सांप्रदायिक विभाजन की बढ़ावा देते हैं। यह कानूनी बहुलवाद संविधान में निहित सामान्य धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांतों को कमजोर कर सकता है और इसके विपरीत समान नागरिक संहिता (यूसीसी) सभी नागरिकों के लिए चाय उनका धर्म कुछ भी हो विवाह तलाक उत्तराधिकार और गोद लेने से संबंधित कानून का एक समान समूह स्थापित करने का प्रयास करती है, कानूनी एकरूपता को बढ़ावा देकर यूसीसी का समान अधिकारों जिम्मेदारियां पर आधारित एक साझा नागरिक पहचान विकसित करने में मदद कर सकती है।

निष्कर्ष: समान नागरिक संहिता एक प्रासंगिक मुद्दा भारतीय समाज का इसलिए भी रहा है। क्योंकि भारत एक विभिन्न धर्म जाति समुदाय वर्गों में विभाजित हुआ है और राजनेता स्वतंत्रता के दौरान से ही चुनावी मुद्दा बनाते रहे हैं लगातार विवाद का मुद्दा रहा है गोवा में पहले ही समान नागरिक संहिता का लागू हो गया है लेकिन भारत के विभिन्न हिस्सों में क्रियान्वयन के लिए संसद में विकास होती रही है वर्तमान सरकार ने इसको उत्तराखंड में भी लागू कर दिया है राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत महत्वपूर्ण तथा संवैधानिक पहलुओं में समान नागरिक संहिता अनुच्छेद 44 नीति निर्देशक सिद्धांत में वर्णन है राज्य का विषय था संवैधानिक रूप से राज्य ही कर सकता है क्योंकि नीति निर्देशक सिद्धांत है,

संदर्भग्रंथ सूची :

भारत का संविधान, भाग 3(मौलिक अधिकार, अनुच्छेद 25-28

WWW.dw.com समान नागरिक संहिता क्यों है मुस्लिम औरते समर्थन में,- 137 (पहुंचा गया 11.08.2023

इंडिया टुडे साप्ताहिक,16 अगस्त 2023

फ्रंटलाइन,25 नम्बर 2015

बी. के मनीष- संविधान – संविधान सबके लिए प्र. सं.204।

सुभाष कश्यप- हमारा संविधान भारत का संविधान और संवैधानिक विधि प्र. सं. 128

प्रज्ञा शर्मा- महिलाएं लैंगिक असमानता अपराध संस्करण 2004 प्र.सं. 79-81

जैन, एम.पी. (2006). भारतीय विधिक एवं संवैधानिक इतिहास की रूपरेखा (छठा संस्करण

संविधान सभा बहस- 23 नवंबर 1948.

https://www.constitutionofindia.net/constitution_assembly_debates/volume/7/1948-11-23

भारत का संविधान: डीपीएसपी पर अनुच्छेद।

*****

दिनेश चमोला "शैलेश" के काव्य में मूल्य-बोध

-डा.मंजुनाथ एन अंबिग
शोध निर्देशक
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा
तनिकाचलम रोड, टी नगर
चेन्नई, तमिलनाडु-६०००००१७

-रश्मि पी हेगडे
शोधार्थी,
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा
तनिकाचलम रोड, टी नगर
चेन्नई, तमिलनाडु-६०००००१७

मानव को मानवीय होने का ओहदा प्रदान करने वाले कुछ विशिष्ट गुण होते हैं। ये गुण बेशक़ मनुष्य की गुणवत्ता की कसौटी होते हैं जिस पर खरा उतर पाना या नहीं उतर पाना मनुष्य की योग्यता को दर्शाता है । हम इन गुणों को मूल्य का नाम देते हैं ।ये गुण ऐसे तत्व हैं जिनको आत्मसात करने से जीवन सार्थक और उपयोगी बनता है। दूसरे शब्दों में जीवन किस तरह व्यतीत किया जाए, किन सिद्धांतों का पालन किया जाए, हमारे आचरण और विचारों के आधार क्या हों - इन सभी प्रश्नों का उत्तर सिर्फ़ एक ही है और वह है मूल्य। मूल्य वे दीपस्तंभ है जो मुसाफ़िर को भटकने से रोकते हैं और उसकी यात्रा को सुगम, सरल और आरामदेह बनाते हैं । मनुष्य अलक्ष्य होकर किसी भी तरह जी सकता है - अर्थहीन, लक्ष्यहीन। परंतु इस बेपरवाह मनोवृति से उसका जीवन खोखला और चित्त दिशाहीन रहता है ।जब हर कर्म में एक संयम, ढंग और व्यवस्था का पालन होता है तब उस जीवन की योग्यता बढ़ती है।

अतः यह कहना बिलकुल उचित होगा कि मूल्य मनुष्य की जीवन यात्रा को अर्थपूर्ण और सुखद बनाते हैं साथ ही मनुष्य जीवन की गुणवत्ता को कई गुना बढ़ा देते हैं।

हमारे पूर्वज कहते हैं कि सतयुग एक ऐसा समय था जब लोग सारे मूल्यों का पालन अत्यंत स्वाभाविक व सहज रीति से करते थे और किसी को भी यह बोलने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी कि *"तुम सच बोलो", "तुम बड़ों का आदर करो"* इत्यादि। लोगों की आत्माएँ शुद्ध थीं और वे भगवान की तरह पवित्र थीं।इसके अलावा यह भी कहा जाता है कि लोग क्रोध, ईर्ष्या, वासना और अन्य दुर्गुणों से मुक्त थे ।हर तरफ़ स्वच्छता रहती और प्रदूषण का नाम तक नहीं था। जन अनुशासित थे और कदापि एक दूसरे को हानि नहीं पहुँचाते थे। कहा जाता है कि सतयुग के समाज में स्थिति, जाति, रंग, रूप और पैसे के भेदभाव भी देखने को नहीं मिलते थे। हालांकि जीवन सरल था लेकिन दिव्य और सात्विक था। नियमों की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि सभी लोग अनुशासित ढंग से जीवन यापन करते थे। इसके बाद आए त्रेता, द्वापर और कलियुग। तदुपरान्त समाज इस दुर्दशा में जा पहुँचा कि लोगों को मूल्य और नैतिकता का पाठ बोल-बोलकर सिखाना पड़ा। आज कलयुग में मूल्य का जिस ढंग से पतन हुआ है वह अभूतपूर्व है।

कालांतर में विद्वानों ने साहित्यिक विधाओं के माध्यम से मूल्य की पुनर्प्रतिष्ठा करने का प्रयास चलाया। श्री नारायण पंडित ने हितोपदेश और श्री विष्णु शर्मा ने पंचतंत्र लिखा। इन दोनों में पशु पक्षियों और मनुष्यों की कहानियाँ थीं और प्रत्येक कहानी किसी मूल्य को संदेश के रूप में रेखांकित करती थी। आम जनता और विशेषतः बच्चों को सन्मार्ग और अच्छाई का महत्व सिखाने में यह दोनों कथा संग्रह बहुत काम आए।

भारतीय वाङ्मय ने मूल्यों के प्रतिष्ठापन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यदि हिंदी साहित्य की बात करें तो आदिकाल से आधुनिक काल तक कई लेखकों और कवियों ने नीति परक रचनाओं के माध्यम से समाज के लिए नीति का मार्ग प्रशस्त किया। इस दिशा में बाल साहित्य का अत्यधिक योगदान रहा। जब हम बाल साहित्य के प्रयोजन की बात करते हैं तो उसका संदेशात्मक और नीतिपरक होना अनिवार्य है। बच्चों को केवल मनोरंजन प्रदान करने का साधन मात्र न रहकर एक उन्नत जीवन जीने की सीख देना सानहित्य के ध्येयों में सर्वोपरि है। बाल साहित्यकारों पर एक उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने नन्हें पाठकों को अपनी कृतियों की ओर आकर्षित करें ताकि बच्चे उन्हें चाव से पढ़ें और खेल ही खेल में उनमें छिपे मूल्यों को आत्मसात करें।

श्री दिनेश चमोला शैलेश उन गिने-चुने साहित्यकारों में से हैं जिन्होंने बाल साहित्य की परिधि को विस्तार दिया और अपनी कुशल लेखनी से उसे सार्थक और प्रयोजनमूलक बनाया। सामान्यतः उनके साहित्य में चाहे वह बाल साहित्य हो या अन्य साहित्य, देखा जा सकता है कि उनका एक अनवरत प्रयास रहा है कि मूल्यों का उत्थान हो और समाज को किसी तरह दुर्दशा से उठाया जाए।

पारिवारिक मूल्य :

परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई है। संयुक्त परिवारों का समय अब नहीं रहा परंतु एकल परिवार भी कुछ संस्कारों और मूल्यों का पालन करने के लिए बाधक हैं ।बच्चों में अच्छे संस्कार डालना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। श्री दिनेश चमोला के कुछ दोहों व कविताओं में पारिवारिक मूल्यों के उदाहरण ज्वलंत रूप से दिखते हैं। मिसाल के तौर पर उनकी रचना "कान्हा की बांसुरी" की शुरुआत वे "माँ" नामक दोहावली से करते हैं। इसमें अपनी माँ द्वारा कही गईं कुछ वात्सल्यपूर्ण बातों का उल्लेख करते हैं जिन्हें पढ़ कर भावविह्वल हुए बिना नहीं रहा जाता।वे याद करते हैं उनकी पूज्य माताजी की अस्वस्थता कुछ इतनी बढ़ी कि उन्होंने बिस्तर पकड़ लिया ।अपनी बीमारी की चरम सीमा के बावजूद उनके ममत्व और वात्सल्य की उत्तुंगता किसी भी रूप में कम न हुई। चिकित्सक किसी बड़े परीक्षण का संकेत देते तो माँ वात्सल्यपूर्ण अभिव्यक्ति से आत्मीयता की पराकाष्ठा छू लेती - यह कहकर कि मुझ पर क्यों यह बेकार खर्च कर रहे हो, बच्चों की फीस व पढ़ाई के काम आएँगे ,परिवार के काम आएँगे।

अपने दोहा संग्रह मन में उन्होंने अपनी माँ की यादों को पिरोया है और माँ का गुणगान करते हुए वह कहते हैं :

रात रात जो जाग कर देती जीवन छाँव
माँ वह बरगद नेहा का आंचल जिसके गाँव

माँ किसी भी परिवार का केंद्र होती है जिसके इर्द-गिर्द परिवार की सारी गतिविधियाँ चलती हैं और परिवार जनों के विचारों का आदान प्रदान चलता रहता है। परिवार की कुशलता और क्षेम के लिए माता का अस्तित्व अत्यंत महत्वपूर्ण होता है और उसी की वजह से परिवार में संतुलन बना रहता है। माँ बच्चों के पालन पोषण में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ती। अपना चैन आराम सब त्याग कर दिन रात परिवार की सेवा में तत्पर रहती है। उसकी निस्वार्थ सेवा की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता। उसके त्यागमय जीवन को रेखांकित करते हुए दिनेश चमोला कहते हैं :

"त्याग तपस्या की रही माँ जीवंत प्रमाण
जिससे नित पाती रही सृष्टि सकल थी प्राण"

एक माँ हर कदम पर अपने बच्चों की भलाई के बारे में सोचती है और उसी चिंता में अपनी संपूर्ण आयु बिता देता है। परंतु क्या उसकी संतान इस तन्मय भाव से उसकी सेवा करती है? अधिकांश माताओं के साथ यह देखा जाता है कि वृद्धावस्था में वह जब असहाय होती है तब उसके अपने बच्चे भी उसका हाथ छोड़ देते हैं। चमोला इसी संदर्भ में बच्चों को मूल्य की शिक्षा देना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि बच्चे माँ अनन्य प्रेम को मात्र पहचाने ही नहीं बल्कि सम्मान मान दें। उसके त्याग के प्रति जागरूक हों। पारिवारिक संबंधों को कायम रखने में माँ की भूमिका के बारे में वे कहते हैं :

संबंधों के नाम की माही माझी मात्रा
युगों युगों की साधना, मां बनने की पात्र

माँ एक मांझी की तरह परिवार की नौका को चलाती हैं और संबंधों को डूबने से बचाती हैं। इसके अनवरत सेवा को न कोई मान्यता मिलती है और न ही कोई सम्मान। और तो और उसे अमानवीयता और शोषण का शिकार भी बनना पड़ता है ।स्पष्ट है आज समाज में मूल्य का ह्रास हुआ है। पारिवारिक संबंध शिथिल हो गए हैं। मनुष्य मूल्यों की कोई कदर नहीं करता। इस बात का खुलासा करते हुए दिनेश चमोला कहते हैं:

मानव मन पत्थर हुआ तब गोला बारूद
ऐसे में कैसे झरे खुशियों के अमरुद

सचमुच आज मानव का मन पाषाण बन चुका है, उसमें कोमल भावनाओं और संवेदनाओं के लिए स्थान नहीं है। मनुष्य के हृदय में अपनों के लिए स्नेह और सहानुभूति की कोई गुंजाइश नहीं रह गई है। यहाँ तक की अपनी माँ के लिए भी उसके हृदय में कोई संवेदना बाक़ी नहीं है। ऋषियों -मुनियों की भविष्यवाणी कि कलियुग में ऐसा होगा, सत्य होती प्रतीत होती है।

स्पष्ट है कि उनकी आँखों के सामने हो रहे इस मूल्य विघटन से दिनेश चमोला शैलेश का हृदय तिलमिला उठता है।

हमारी पावन भूमि पर घटित रामायण और महाभारत में मूल्यों की भरमार है। पारिवारिक मूल्यों को यदि सीखना हो तो इन दो महाकाव्यों को अच्छी तरह से पढ़ लेना ही काफ़ी है ।रामायण और महाभारत हमारी भूमि पर घटित सत्य कथाएँ हैं , मनगढ़ंत कहानियाँ नहीं। ये इतिहास हैं और मूल्यों के भंडार हैं । इनसे मूल्य ग्रहण करके एक उन्नत जीवन जीने के बजाय हम किसी भटकी हुई मानसिकता को लिए जी रहे हैं ।

इन दो ऐतिहासिक कथाओं में हम कुछ विशिष्ट नारी पात्रों को देखते हैं जो उत्कृष्ट माताओं की भूमिकाएँ निभाती हैं और अपनी संतानों को योग्य संस्कार व नैतिकता का ज्ञान देती हैं । वे हमेशा स्त्री वर्ग के लिए प्रेरणा का स्रोत रहेंगी ।

दिनेश चमोला माँ की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं :

माँ ईश्वर का रूप है मन है बाती तेल
मांठ के कारण ही फली नेह भक्ति की बेल

हमारी संस्कृति में माँ को भगवान का रूप माना गया है। "मातृ

देवो भव" खूब बच्चे सर्वप्रथम सीखते हैं। यदि हम श्री राम को देखें तो पाएंगे कि उनकी मातृभक्ति अन्य थी उनके भक्ति केवल उनकी सगी माँ पर ही नहीं अपितु सौतेली मांँ कैकेयी पर भी वह उतना ही प्रेम करते हैं इसके बावजूद कि वह उनके वनवास का कारण बनती है माता-पिता की आज्ञा के को शिरोधार्य करके सप्रसन्न वन गमन करते हैं। श्री राम अपने पिता से एक प्रश्न तक नहीं पूछते कि उनके किस अपराध के लिए उन्हें यह सजा दी जा रही है। सभी तो आदरपूर्वक नमन कर वन को प्रस्थान करते हैं।

श्री राम जगत को दिखाना चाहते हैं की माता-पिता वंदना योग्य होते हैं ।अतः उनको सदा आदर भक्ति और प्रेम ही देना चाहिए। श्री राम के इस मूल्य को सुदृढ़ करते हुए दिनेश चमोला कहते हैं :

माँ इस चेतन जगत की ज्ञान भक्ति विश्वास
ऐसी दया समुद्र है मिटे ना जिससे प्यास

इस जीवन काल में माता का ऋण चुकाना प्रायः असंभव है क्योंकि उसकी उदारता असीम है। वह ममता से हमारा सिंचन करती है, भरण पोषण करती है और हमें बड़ा होता देख वह अत्यंत संतुष्टि और प्रसन्नता का अनुभव करती है ।

परिवार का स्तंभ जो अपने ऊपर अत्यधिक भार लेता है, वह है पिता जो चुपचाप मेहनत से अपना काम किए जाता है। आर्थिक संबल, मनोबल, सहारा, परिवार जनों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना इत्यादि पिता बिना शिकायत के करता जाता है।

समय के साथ रिश्तों में आए बदलाव को भी दिनेश चमोला ने अपने काव्य में प्रतिबिंबित किया है। आज कई पुत्र अपने पिताजी से हैवानियत का बर्ताव करते हैं और इस भयावह परिदृश्य को चित्रित करते हुए दिनेश चमोला कहते हैं :

"पिता काँपता पुत्र से बना क्योंकि हैवान।
धमकी दे वह हड़पता संपत्ति का सामान।।"

आज समाज की ऐसी दुर्दशा हुई है कि जब माँ -बाप बूढ़े हो जाते हैं उनके अपने बच्चे उन्हें डरा धमका कर उनके सारे पैसे हड़प लेते हैं और उन्हें वृद्धाश्रम में धकेल देते हैं। ऐसे कृतघ्न संतानों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है।

पारिवारिक मूल्यों का जो पतन आज के समाज में देखा जा सकता है यह विघटन आज हर प्रकार के संबंध में विद्यमान है भाई -भाई, बेटा- पिता, बेटी-माँ इत्यादि। भाइयों के रिश्ते में आई दरार को चित्रित करते हुए दिनेश चमोला कहते हैं :

भाई भाई न रहा, टूट गया संबंध।
पद, धन, मद में डूबते रिश्तों के पैबंध।।

पैसों के लालच में एक भाई दूसरे भाई को धोखा देता है, झगड़ा करता है, मारकाट करने भी उतर जाता है। परिवार में इस प्रकार की फूट आजकल आम बात हो गई है। घरों में क्लेश ,झगड़ा, अनबन इन सब का बोलबाला अत्यधिक हो गया है। माता-पिता झगड़कर अलग होते हैं और बच्चों को मानसिक तनाव का शिकार बनाते हैं। संयुक्त परिवार को तो छोड़िए एकल परिवार में एक साथ रहना भी मनुष्यों को आज दुष्कर लगने लगा है।

निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि अपने काव्य के माध्यम से दिनेश चमोला 'शैलेश' ने मूल्यहीनता से ग्रस्त समाज और उसके बदलते परिदृश्य को साहित्य के आईने से पाठकों के सामने सशक्त रूप से प्रस्तुत किया है । कवि होने के नाते वे इसे अपना नैतिक उत्तरदायित्व भी मानते हैं। उनकी सभी रचनाओं में समाज को विसंगतियों से मोड़कर सन्मार्ग पर लाने का एक प्रामाणिक प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है । इसी प्रकार अपनी कविताओं के माध्यम से दिनेश चमोला ने समाज में मूल्यों की पुनर्स्थापना करने का उत्तम प्रयास किया है। समस्त मानव समाज के कल्याण के लिए मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा अनिवार्य है तथा दिनेश चमोला के इस बृहद् उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाठक गण का पूर्ण समर्थन और सहयोग उनके साथ हमेशा रहेगा ।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. दिनेश चमोला "शैलेश" – यादों के खंडहर, अलका प्रकाशन, पटियाला, 1989
2. दिनेश चमोला "शैलेश" – कान्हा की बाँसुरी, चिमादि प्रकाशन, देहरादून, 2008
3. दिनेश चमोला "शैलेश" – १०१ बालगीत, अदिश प्रकाशन, देहरादून, 2005

*****

'ग्लोबल गाँव के देवता' में अभिव्यक्ति आदिवासी समुदाय का सामाजिक चिंतन

-पवन कुमार
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007
इमेल आईडी:- pawanbhu54@gmail.com

शोध सार:- आदिवासी समाज भारत का मूलनिवासी हैं। लेकिन वे मुख्य धारा से हटकर अपनी अलग-थलग जीवन जीना चाहते हैं। आजादी के पचहत्तर वर्ष होने के बाद भी भारतीय आदिवासी आज भी शोषित पीड़ित और उपेक्षित नजर आते हैं। आदिवासियों का विकास भारतीय संविधान में अधिकार, राजनैतिक पार्टियों में भागीदारी और आदिवासियों के हित से सम्बन्धित अनेक प्रावधानों को लागू करने के बावजूद भी सीमित स्तर पर ही है। वर्ष 2009 में प्रकाशित कथाकार रणेंद्र का रचित बहुचर्चित उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' आदिवासियों के इन्हीं समस्याओं का लेखा-जोखा है। इस पुस्तक के भूमिका में यह स्पष्ट लिखा गया है कि- "कथाकार रणेंद्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' वस्तुतः आदिवासियों-वनवासियों के जीवन का संतप्त सारांश है। शताब्दियों से संस्कृत और सभ्यता की पता नहीं किस छन्नी से छनकर अवशिष्ट के रूप में जीवित रहने वाले असुर समुदाय की गाथा पूरी प्रामाणिकता व संवेदनशीलता के साथ रणेंद्र ने लिखी है।"[1] पुरे उपन्यास का कथा असुर समुदाय से जुड़ा हुआ है। असुर समुदाय जो कि आदिवासियों की ही एक प्रजाति मानी जाती है, उनके के अस्तित्व के संकट और संघर्ष के इर्द-गिर्द घूमता हुआ दिखाई पड़ता है।

बीज शब्द:- आदिवासी समाज, समुदाय, मुख्यधारा, ग्लोबलाइजेशन, जल, जंगल और जमीन, विकासवाद, पूँजीवाद, कॉरपरेट सेक्टर, बीमारियाँ, भूखमरी, ग़रीबी आदि।

मूल आलेख:- कथाकार रणेंद्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' आदिवासियों की समकालीन परिस्थितियों को उजागर करने के लिए पर्याप्त है। उपन्यास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उपन्यास के केंद्र में असुर समुदाय है, जिसके संबंध में रणेंद्र लिखते हैं- "सुना तो था कि यह इलाका असुरों का है, किन्तु असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लम्बे-चौड़े, काले कलूटे, भयानक, दांत-वांत निकले हुए, माथे पर सिंह-वींग लगे हुए होंगे। लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था। बचपन की सारी कहानियाँ उलटी घूम रही थीं।"[2] यहाँ पर उपन्यासकार आदिवासी समाज से संबंधित मिथक को तोड़ते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। खगेंद्र ठाकुर के शब्दों में देखा जाए- "वह जो लालचन नाम का आदमी उसके कमरे में अचानक घुसा और उससे लिपट गया, उसका ढाँचा इस तरह वर्णित है-'अट्ठाइस-तीस की उम्र का खूब गोरा-चिट्टा आदमी। सफेद धोती और क्रीम कलर पोलिसटर कुर्ता।' यह ढाँचा यह जानकारी देता है कि आदिवासियों के असुर समुदाय का यह आदमी सभ्य समाज का सदस्य है। पहनावा ओढ़ना आदिवासी जैसा नहीं रह गया है, उसमें काफी बदलाव आ गया है। ... ध्यान देने की बात यह है कि कथा के जो शिक्षक महोदय हैं, उनके सामने लालचन असुर जब यथार्थ बनकर आ जाता है तो हम साफ-साफ देखते हैं कि असुरों के बारे में प्रचारित मिथ तुरंत ध्वस्त हो जाता है।"[3] 'ग्लोबल गाँव के देवता' में रणेंद्र अपनी कथ्य के माध्यम से न केवल असुर समुदाय का प्रचलित मिथ तोड़ते हैं बल्कि उनके जीवन के यथार्थ को भी खोलते हैं। इसमें यह भी दिखाई पड़ता है कि वे कैसे विभिन्न विपदाओं से लड़ते हैं साथ ही साथ ग्लोबलाइजेशन का हमला भिन्न-भिन्न रूपों में उनको कैसे प्रताड़ित कर रहे हैं उसे भी इंगित किया गया है। इन हमलों के कारण असुर समुदाय की संस्कृति दिन प्रतिदिन विकृत होती जा रही है। असुर समुदाय के जरिये रणेंद्र यह दिखाने में सफल हुए हैं कि वर्तमान समय में आदिवासी समुदायों में बड़े पैमाने पर पूंजीपति ताकतों की गठजोड़ घुसपैठ कर रही है जिसके कारण वे अपनी प्राकृतिक संपदाओं से महरूम होते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त मुख्यधारा की जो सामाजिक संरचना है उसने भी आदिवासियों को काफी छला और सताया है। विकासवाद के नाम पर हो रहे अमानवीय मॉडल ने आदिवासियों को न केवल विस्थापित कर बेरोजगार किया है अपितु उनको बुनियादी अधिकारों से भी वंचित रखा है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' कॉपरेटिव जगत के विकास के नाम पर हो रही इसी लूट का भयावह चित्रण है। रोहिणी अग्रवाल कहती हैं- "रणेंद्र की विशेषता यह है कि वे मुख्यधारा से ओझल झारखंड के कोयलबीघा प्रखंड

को दृश्यमान बनाकर प्राकृतिक संपदा से धनी क्षेत्र के बरक्स इसके मूल आदिवासियों की दुर्दशा के प्रामाणिकं चित्र प्रस्तुत करते है वास्तव में हजारों एकड़ जोत जमीन आदिवासी किसानों को कम मुआवजा देकर तथा बहला-फुसला कर राज्य सरकार बड़े-बड़े कंपनियों को कम दामों में बेच देती हैं।"[4] उदाहरण के तौर पर उपन्यास का यह संवाद द्रष्टव्य है- "मोटा मोटी बात यह थी कि सोमा के बाबा ने एक एकड़ खेत मात्र पाँच हजार रूपए में एक खादान के दलाल को दे दिया था। बिना घर में बात-विचार किये, जवान-जहान बेटे के भविष्य का ख्याल किये, सादे कागज पर ठप्पा लगाया, क्यों? सवाल सोमा के बाबा का ही नहीं था। जिसे देखो, वही फुसलावन-लस्सा लगावन के चक्कर में पड़ रहा था। छोटे-बड़े सभी खादान-मालिकों का एक ही रवैया। लीज की भूमि पर कम, वन विभाग, गैर मजरूआ जमीन, असुर रैयत की जमीन से ज्यादा खनन किया करते। अवैध खनन खुलेआम और वर्षों से जारी था... सो लालचन दा और रूमझुम जैसे लोगों ने सामाजिक दबाव बनाना शुरू किया रैयती जमीन कंपनियों को नहीं देनी है। नहीं तो धीरे -धीरे पाट पर खेती तो छोड़िये, रहने और पैर धरने की जमीन नहीं बचेगी। अबकी बार असुर भागकर कहाँ जायेगा?"[5] यहाँ गौरतलब है, अंसारी ठेकेदार, वेदांत कंपनी, किशन कन्हैया पाण्डे और गोनू सिंह जैसे लोग आदिवासी समुदाय को मिटाने की कोशिश में हैं। किंतु असुर समुदाय यहाँ प्रतिरोधी तेवर लिये खड़े हैं। वे अपने अस्तित्व को बचाने के लिये, अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये तथा परिवार वालों की भविष्य की रक्षा करने के लिये संघर्ष की आग में कूद पड़ते हैं। परिणाम स्वरूप लालचन को गोली लगती है और उसके सात आठ साथी घायल हो जाते हैं। रणेंद्र यहाँ आदिवासी और पूंजीपतियों के बीच सदियों से चले आ रहे संघर्ष की ओर इशारा करते हुए नजर आते हैं। रमेशचंद मीणा के शब्दों में कहें तो- "रचनाकार की मूल थीम यही है कि आदिवासियों की लड़ाई अब ऐसे दुश्मनों से है जिनकी शक्ति बहुत बड़ी है। जिनकी पहुँच वैश्विक है। जिनके साथ राष्ट्रीय सरकार कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी है।"[6] वे पुनः कहते हैं- "उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' की यही मूल थीम है कि यह नया देवता इतना ताकतवर है कि हर कोई उसके सामने नतमस्तक है। हर संस्था उसके साथ खड़ी है। उसके विरोध में कोई है तो सिर्फ आम जनता है और वह भी भूखी-नंगी आदिवासी जनता कब तक उनकी ताकत के सामने ठहर सकेगी? जबकि सरकार व मीडिया उसके सुर में सुर मिलाकर एक ही राग अलाप रहे हैं-जै-जै ग्लोबल देवा/ तेरी शक्ति अपरंपार'। वे असुर जो पौराणिक देवों के सामने हार कर भी अपना अस्तित्व बनाए रहने में सफल रहे थे। आज उन्हें अपने आपको ग्लोबल देवों के सामने बचा पाना नामुमकिन हो गया है। ये ग्लोबल देवता असीम ताकत के धनी हैं। हर देश की हर संस्था इनके अनुसार चलने लगी है। जनता के साथ खड़ा होने वाला मीडिया इनके पायथाने में घुटनों के बल बैठा नजर आ रहा है। ऐसे में कौन होते हैं ये असुर जो पहाड़ों और जंगलों पर अपना दावा करके जीवित रह सकते हैं?"[7] अर्थात् रणेंद्र यहाँ संकेत दे रहे हैं कि हमारा आने वाला भविष्य खतरे में हैं। ग्लोबलाइजेशन का खतरा उस प्रत्येक व्यक्ति के सिर पर मंडरा रहा है जो श्रम और जमीन से जुड़ा हुआ है। ग्लोबलाइजेशन के प्रत्येक तत्व हमें गुलाम बनाने के लिए तत्पर है। अल्ट्रा टेक्नोलॉजी, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, आधुनिकीकरण, संचार क्रांति आदि ग्लोबलाइजेशन के अविच्छीन्न अंग हैं। यह सब भारत में तेजी से विस्तार कर रहे हैं। इन परिवर्तन का आदिवासियों पर कितना गहरा असर हो रहा है उपन्यास में वह स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। रणेंद्र हमारे समक्ष कुछ ऐसे ही वैचारिक प्रश्न करते हैं। ग्लोबलाइजेशन का दौर भी अजीब खेल, खेल रहा है, जिसने पहली बार आदिवासी समस्याओं के बारे में सोचा, उनके अधिकारों तथा उनकी समस्याओं की पड़ताल की साथ ही उनकी संस्कृति को साहित्य में जगह भी दी किन्तु वही उनके विनाश के समय मूक दर्शक बने हुए हैं। विमर्श के रूप में ही सही हाशिये की आवाज बनकर उभरा आदिवासी विमर्श आज अगर अपने हक की लड़ाई लड़ रहा है तो इसके पीछे ग्लोबलाइजेशन दौर का बहुत बड़ा हाथ है। लेकिन यह कैसी बिडम्बना है, जिस ग्लोबलाइजेशन समय ने आदिवासीयों की हक की बात कही आज वही उनकी दुर्गतियों का कारण बन बैठा है। एक तरफ ग्लोबलाइजेशन दौर आदिवासियों के लिए आरक्षण की नीति अपना रही है, उनके समाज के विकास की बात कह रही है एवं उनको घर लौटने का सन्देश दे रही है वहीं दूसरी तरफ औद्योगिक परियोजनाओं की पूर्ति के लिए उन्हें विस्थापित भी कर रही हैं। उनके हाथों से जंगल निकालकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों में दे दिये जा रहे हैं। आरक्षण के नाम पर केवल राजनीति हो रही है। मजबूरन बेरोजगारी, घोर गरीबी, भूमिहीनता और भूखमरी के शिकार होते आदिवासी, नक्सलवादी का रास्ता अपनाने पर विवश हो जाते हैं। इस तरह ग्लोबलाइजेशन समय के चलते आदिवासी समाज के संकट में इजाफा होता चला जा रहा है। अत्याधुनिक होते देश ने विकास के नाम पर अगर कुछ न कुछ पाया है तो वहीं आदिवासियों ने सिर्फ खोया है। अपनी पहचान, जल, जंगल, जमीन सब कुछ तो आदिवासियों का ही लूटा है। यूँ तो ग्लोबलाइजेशन के दौर पूरे

विश्व को एक गाँव के सूत्र में बाँधने की बात करता है लेकिन पूरे विश्व को गाँव बनाने की आपा-धापी में जो असल गाँव हैं वे विलुप्त होते जा रहे हैं। कहीं न कहीं विकास के नाम पर हम विनाश की ओर अग्रसर हैं। शहर, उद्योग, कल कारखाने, रास्ते, बाँध जैसी विकास योजनाएँ आदिवासियों की जमीन के रास्ते से ही गुजरते हैं। ऐसी परिस्थिति में उनके हिस्से में केवल विस्थापन, कुपोषण, अशिक्षा, भूखमरी आती है। विकसित कहलाने वाले देशों में जहाँ एक तरफ मल्टीकॉम्प्लेक्स, मल्टीकम्पनी, ई-एजुकेशन, मोबाइल आदि हैं वहीं पर आदिवासियों के पास साधारण रोजमर्रा की सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। आज भी आदिवासी समुदाय का बहुत बड़ा हिस्सा इन तमाम सुख-सुविधाओं से वंचित हैं। वे असभ्य, अशिक्षित, अविकसित तथा अधनंगे हैं। भारत जैसे सुसंस्कृत देश में आदिवासी आज भी असुर दैत्य के साथ तुलनीय हैं। आदिवासी इलाकों के विकास की सच्चाई बड़ी-बड़ी कॉपरेटिव कम्पनियाँ, राष्ट्रीय, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ मुनाफा कमाने की होड़ में आदिवासी इलाके में खनन कार्य तेजी से कर रहे हैं। ऐसे इलाके की व्यथा को रणेंद्र कुछ इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "पिछले पच्चीस तीस सालों में खान मालिकों ने जो बड़े-बड़े गड्ढू छोड़े है, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी। मुड़ीकटवा से साल-दो साल पर भेंट होती है किन्तु इस जानमारू से तो हर रोज भेंट होगी।"[8] यानी आदिवासी जिस इलाके में रहते हैं वहाँ पर स्वच्छता का वातावरण न के समान होता है। सड़क का विशेष उपयोग सरकार और पूंजीपति लोग बखूबी करते हैं पर मरम्मत के नाम पर कोई आगे नहीं आता, इससे उत्पन्न परेशानी वहाँ के आदिवासी और स्थानीय निवासियों को झेलनी पड़ती है। केवल सड़क का ही नहीं आदिवासी इलाकों में मौजूद बड़े-बड़े सरकारी और गैर-सरकारी स्कूलों का भी यही हाल है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के नाम पर अशिक्षित आदिवासियों को भरमा कर, उन्हें विस्थापित कर, उन्हीं के नाम पर स्कूल बनाये जाते हैं जिसका ज्यादा तर फायदा स्थानीय लोगों से अधिक बाहरी लोग उठाते हैं। उपन्यास का यह संवाद उसी अन्याय और छल-कपट को दर्शाता है। जैसे- "असुरों के सौ से ज्यादा घरों को उजाडकर बना था यह स्कूल। अभी भी आस पास असुर आबादी है। ज्यादा दूर नहीं, बीस-बाईस किलोमीटर के दायरे में लगभग सारी की सारी असुर, बिरिजिया, कोरबा आबादी बसती है। पिछले तीस वर्षों का रजिस्टर उठाकर देख लीजिए जो एक भी आदिम जाति परिवार के बच्चे ने इस स्कूल में पढ़ाई की हो ! मैंने खुद कितनी कोशिश की थी। पिछले दो-तीन वर्षों से कैजुवल शिक्षक के रूप काम करने की इच्छा है। लेकिन वहाँ भी दाल नहीं गलती आखिर हमारी छाया से भी क्यों चिढ़ते हैं. ये लोग? माड़-भात खिलाकर, अनपढ़ अधपढ़ शिक्षकों के भरोसे, फुसलावन स्कूल के हमारे बच्चे ज्यादा से ज्यादा स्किल्ड लेबर, पिऊन, क्लर्क बनेंगे, और क्या? यही हमारी औकात है। हमारी ही छाती पर ताजमहल जैसा स्कूल खड़ाकर हमारी हैसियत समझाना चाहते है लोग।"[9] रणेंद्र आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन से जुड़ी उनकी आजीविका के संबंद्ध से भी पाठकों को अवगत कराने में पीछे नहीं हटते हैं। वे लिखते हैं- "अधिकांश परिवार के पास इतनी जमीन होती ही नहीं कि साल भर खाने के लिए मक्का भी मिल सके। जिस घर में मजूरी खटने वाले हाथ रहते वे तो खान-खदान में खटकर पेट पाल लेते, किन्तु जिन घरों में खटने लायक समाँग नहीं होता उस घर का पेट तो जंगल ही पालता। महुआ, कटहल, कई तरह के कंद और साग, सब पेट भरने के काम आते। एक कस्सा कंदा तो खाने के पहले बहुत ही मेहनत करवाता। पहले उसे लकड़ी के राख के साथ उबाला जाता। फिर रात भर दोन खेत में उसे छोटे नाले के नीचे रखा जाता, जिससे छोटी-पतली धार गिरती हो। रात भर धार के नीचे रहने के बाद भी उन कंदों में कस्सापन बचा तो रहता, किन्तु खाने लायक हो जाता।"[10] अतः भारत भूमंडलीकरण के ऐसे दौर में जी रहा है जहाँ एक तरफ पूंजीपति विदेशी खान पान का लुफ्त उठाते हैं वहीं दूसरी तरफ हमारे मूल आदिवासी कंदमूल खा कर अपना जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। यह हमारे समाज की कैसी व्यवस्था है जहाँ पर आदिवासियों को मौलिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। सरकार से लेकर विदेशी कंपनियों तक सब उनके अधिकारों को हड़पने पर उतारू हैं। ऐसा प्रतीत होता है हमारी 'सो कॉल्ड्' मुख्यधारा आदिवासी समुदाय को पूरा निगल जाने पर विश्वास रखती है।

रणेंद्र ने असुर समुदाय के नेतृत्व में पूरे आदिवासी समाज की बदहाली को पूर्ण प्रमाण और संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। इससे सम्बन्धित उपन्यास का एक संवाद द्रष्टव्य है- "सामान्य तौर पर इन आकाशचारी देवताओं को जब अपने आकाश मार्ग से या सेटेलाइट की आँखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड आदि राज्यों की खनिज संपदा, जंगल और अन्य संसाधन दिखते है तो उन्हें लगता है कि अरे, इन पर तो हमारा हक है। उन्हें मालूम है कि राष्ट्र-राज्य तो वे ही हैं, तो हक तो उनका ही हुआ। सो इन खनिजों पर जंगलों में, घूमते हुए लँगोट पहने असुर-बिरिजिया, उराँव-मुंडा आदिवासी, दलित-सदान दिखते हैं तो इन्हें बहुत कोफ्त होती है। वे इन कीड़ों-मकोड़ों से जल्द निजात पाना चाहते हैं।"[11]

मुख्यधारा लोगों के अमानवीय स्वरूप को भी रणेंद्र ने सजीवता के साथ दर्शाया है। वे लिखते हैं "जब तक पाट में बाक्साइट था, उन्हें गाँव में आबादी चाहिए थी ताकि सस्ते लेबर मिल सकें। लेकिन लड़ाई-फडाई नहीं चाहिए थी।"[12] कितनी अजीब स्थिति है, आदिवसियों के विकास योजना के तले अपनी खुशियों को तलाशते मुख्यधारा के लोग शहर में कॉलनी बनवाते हैं, कॉलनी में भी फ्लैट की यूटोपिया रचते हैं, वहीं आदिवासी शहर से कोसों दूर जंगल में अपना जीवन निर्वाह करते हैं। झारखंड के असुर जाति इसके प्रमाण हैं- "आज तक पाट के असुरों ने विकास के नाम पर यही कम्बल, मच्छरदानी, बकरी छगरी देखी थी। ज्यादा से ज्यादा इंदिरा आवास। तालाब कुआँ की बात कीजिये तो हँसने लगते। पहाड़ के ऊपर पोखरा-तालाब। पगलाये हैं का! कितना भी बताते कि दो पाटों के बीच में बड़े-बड़े दोहर हैं जिनमें हमारी धान की खेती है, वहाँ अच्छे तालाब बन सकते हैं। कोई मानता ही नहीं था। इतना दूर आवे, घूमे फिरें तब तो जाने। छोटे स्टाफ तो आते, किन्तु हाकिम लोग उनकी बात क्यों मानने लगे?"[13] रणेंद्र आगे लिखते हैं-"पाथरपाट में राजधानी के बड़े-बड़े हाकिमों ने नाशपाती के बड़े-बड़े बगान लगा रखे थे। बीस-बीस एकड़ के बगान। सीजन में नाशपाती से लद जाते तो नीलामी होती। राजधानी तक के फलों के व्यापारी आकर बोली लगाते। एक झटके में लाखों की आमदनी। किन्तु असुरों के गाँव में नाशपाती के बगान की योजना कभी नहीं बनती। कौन खर्च करे? कल वहीं से बाक्साइट निकालना पड़ गया तो? सारा पैसा पानी में। आडिट जाँच में कौन फँसेगा?"[14] पूंजीपति, सरकार या बड़े-बड़े कॉरपरेट कंपनियाँ आदिवासियों के साथ विकास के नाम पर अमानुषिक व्यवहार से भी उन्हें चैन नहीं मिलता तो वो उन्हें रास्ते से हटाने से भी बाज नहीं आते। भेद-भाव और विकास के नाम पर न जाने कितने आदिवासियों की बली चढ़ी है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' का अंत भी इसी अमानवीय बर्बरता को इंगित करता है-"पता चला कि लैंड माइंस बिछाई गयी थी। बातचीत के लिए जाते ललिता, बुधनी दी, गन्दूर, एतवारी, लालचन दा के बाबा और पंद्रह लोग की धज्जियाँ उड़ गयी थीं। लेकिन बिखरी हुए देह की जगह पिघला हुआ गर्म लोहा वहाँ बहने लगा। लालपानी-सा लोहा धीरे-धीरे पाट की धरती में समा रहा। ठीक पाथरपाट के गोली काण्ड के बाद की घटना फिर घटी।... ग्लोबल गाँव के देवता खुश थे। जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी, हजार हजार इंद्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया था।"[15]

निष्कर्ष:- ग्लोबल गाँव का देवता उपन्यास असुर समाज के अनवरत जीवन संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान करता है और हाशिये के मनुष्यों का सुख-दुःख व्यक्त करता झारखण्ड की भूमि से उपजी एक महत्वपूर्ण रचना है। तथा इसके साथ ही असुरों की अपराजेय जिजीविषा और लोलूप-लुटेरी टोली के दुर्भिसंधियों की हृदयग्राही अभिव्यक्ति भी है। इस उपन्यास के माध्यम से देवराज इंद्र से लेकर आज के ग्लोबलाइजेशन के दौर के व्यापारियों तक फैली शोषण की महामारी का भी उजागर करते हैं। दूसरे तरफ पूंजीवादी व्यवस्था में प्रक्रति से छेड़छाड़ करने वाले ग्लोबल गाँव के देवताओं को मिटटी में मिलाने का काम कर दिया जाये तभी धरती का भविष्य सुरक्षित रह सकता है। यही यह उपन्यास जल, जंगल और जमीन को संरक्षण करने का एक नया दृष्टि भी देता है।

सन्दर्भ:-

1.ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,भूमिका/फ्लेप

2. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र,भारतीय ज्ञानपीठ वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.11

3. उपन्यास की महान परम्परा, खगेन्द्र ठाकुर,स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.253

4.वेब सामग्री (www.hindisamay.com)

5. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. 26-27

6. आदिवासी दस्तक विचार, परम्परा और साहित्य, रमेशचंद मीणा, पृ.सं. 101

7. वही, पृ.सं.108

8. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.13

9.वही,पृ.सं.19

10. वही, पृ.सं.24

11. वही, पृ.सं.93

12. वही, पृ.सं.94

13. वही,पृ.सं.95

14. वही, पृ.सं.95-96

15. वही, पृ.सं.100

*****

'धरती धन न अपना' में दलित जीवन संदर्भ

-सुरेन्द्र,
पीएच.डी. शोधार्थी,
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दूरभाष सं. 8920840861
E-Mail : Surenderchauhan8647@gmail.com
पता : मकान नंबर-15, मेन रोड, मदनपुर डबास, डाक घर- रानी खेड़ा, दिल्ली- 81

देश को आज़ादी मिलने के साथ ही दलित व पिछड़े वर्गों के भविष्य पर भी सवाल उठने शुरू हो गए थे। चूँकि सत्ता उच्चवर्गीय हिंदुओं के हाथों में आ गई थी तब न्याय और समानता के प्रश्नों पर विचार करना भी जरूरी हो गया था। ज़मीन एक महत्वपूर्ण कारक था। जिन तथाकथित उच्च वर्गों को शासन सत्ता (मुग़लों तथा अंग्रेज़ों) में जुड़कर बड़ी ज़मीनें मिल गई थीं वे अपना जातिगत चरित्र कैसे छोड़ पाएँगे ? यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न था। 1990 ई. में वैश्वीकरण के बाद स्थितियाँ और भी विकराल हो गई थी। अब तक जिन वर्गों के पास ज़मीनें थीं अब उस ज़मीन का मूल्य भी आ गया था। जमींदार वर्ग के पास अकूत धन आया। इससे उन्होंने और ज़मीनें और कारोबार बना लिए। वहीं दूसरी तरफ़ भूमिहीन दलित-पिछड़ा वर्ग और भी दीन-हीन हो गया। नतीज़तन उनका दमन और शोषण बढ़ गया। इस समस्या को लेकर दलित साहित्य में कई महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुई जैसे 'धरती धन न अपना' (1972) व 'अंधे घोड़े का दान' (1976) आदि।

'धरती धन न अपना' स्वर्गीय जगदीश चन्द्र का लेखन में पहला लेकिन प्रकाशन में दूसरा उपन्यास है। इसकी रचना जिस समय हुई उस समय हिंदी तो क्या मराठी भाषा में भी कहीं दलित साहित्य की चर्चा तक न थी। इसका लेखन तो उपन्यासकार ने अपनी एम.ए. (अर्थशास्त्र) की परीक्षाएँ समाप्त होते ही 6 मई, 1955 ई. को आरंभ कर दिया था लेकिन आठ अध्याय लिखकर इसे अधूरा छोड़ दिया। शुरू करने के लिए जिन घटनाओं ने लेखक को प्रेरित किया था, उन्हीं के पश्च-प्रभावों ने इसे बीच में ही अधूरा छोड़ देने के लिए विवश कर दिया। कथाकार के अनुसार, "मैं यह सब देखकर बहुत ही उद्विगन होता था कि आर्थिक अभावों की चक्की में युग-युगांतरों से पिस रहे हरिजन अभी भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं। जिस भूमि पर वे रहते हैं, जिस ज़मीन को वे जोतते हैं; यहाँ तक कि जिन घरों में वे रहते हैं, कुछ भी उनका नहीं है। इन्हीं बातों को देखकर मेरे किशोर मन की वेदना सहसा अपने सभी बाँध तोड़कर फूट निकली और मैंने उपेक्षित हरिजनों के जीवन का चित्रण करने का संकल्प कर लिया। प्रस्तुत उपन्यास लिखने का मूल प्रेरणा-बिन्दु यही है।"[1]

सन् 1964 ई. में लेखक ने एक लघु उपन्यास 'यादों के पहाड़' लिखकर साहित्य जगत् में प्रवेश करने की कोशिश की। यह उपन्यास 1966 ई. में नेशनल पब्लिशिंग हाउस (नई दिल्ली) से प्रकाशित हुआ। उन दिनों जगदीश चन्द्र नौकरी के सिलसिले में नई दिल्ली के राजौरी गार्डन में रहते थे। एक दिन बरसात की सीलन से बचाने के लिए इन्होंने अपना सामान व 'धरती धन न अपना' की अधूरी पाण्डुलिपि बाहर धूप में सूखा रखी थी कि अचानक मित्र सोम आनंद आए। वे उपन्यास के आठ चैप्टर पढ़ने के लिए अपने साथ ले गए। एक सप्ताह बाद वापस आए और उन्होंने जगदीश चन्द्र से उक्त उपन्यास को पूरा करने का आग्रह किया। सोम आनंद बहुत बड़े उर्दू प्रेमी थे। 'धरती धन न अपना' के बारे में उनका मत था कि, "इस उपन्यास में हर चीज़ अच्छी है। सिर्फ़ एक ही ख़राबी है कि यह हिंदी में लिखा गया है।"[2] आख़िरकार जगदीश चन्द्र को अपने दोस्त के अनुरोध पर झुकना पड़ा और उसकी ख़ुशी की ख़ातिर उपन्यास को दोबारा उर्दू में लिखना आरंभ कर दिया क्योंकि सोम आनंद को हिंदी का ज्ञान अधिक नहीं था। इस दौरान उन्हें कई तरह की मानसिक समस्याओं से ज़ूझना पड़ा। लाइलाज़ वहम में फँस गए। हर समय इन्हें मौत का डर सताता हालाँकि कोई बीमारी नहीं थी- सिवाय वहम के।

इन हालात में यह उपन्यास पूरा करना इनकी आवश्यकता बन गया। इन्होंने निश्चय कर लिया था कि जब तक यह उपन्यास पूरा नहीं हो जाता मैं मरूँगा नहीं। इनका मनोबल बनाए रखने के लिए मित्र सोम आनंद के अतिरिक्त एक सहपाठी मित्र कुलदीप सहगल भी उन दिनों इनके पड़ोस में रहने आ गए। हर रोज़ ये शाम को उनसे मिलते। दिन में जो कुछ लिखा जाता शाम के समय उन्हें पढ़कर सुनाते। वह एक ही बात कहता कि, "पुत्तरा इसे जल्दी पूरा कर दे। तेरा यह बच्चा मास्टरपीस होगा।"[3] हालाँकि उपन्यास के पूरा होने से पहले ही जगदीश चन्द्र का दिल्ली से जालंधर

तबादला हो गया था। कुलदीप सहगल का यह कहना कि जब तक उपन्यास पूरा नहीं हो जाता तब तक आपको दिल्ली छोड़ने कि अनुमति नहीं दी जाएगी। इस तरह उपन्यासकार ने अंतिम अध्याय की आख़िरी 20 पंक्तियाँ, "8 सितंबर, 1968 को शक्ति नगर (गाँव-सिंधारा कलाँ) के नांगिया पार्क में बैठकर लिखी।"[4]

जगदीश चन्द्र के मित्र द्वारा कही गई उपरोक्त भविष्यवाणी सही सिद्ध हुई और उपन्यास के प्रकाशित होते ही इसकी गणना हिंदी के प्रमुख उपन्यासों में होने के अतिरिक्त विदेशी भाषाओं जैसे रशियन में नतालिया तालस्ताय व फ्रेंच में डॉ. मारगोट गुतस्लेफ़ ने इसका अनुवाद किया। यद्यपि शुरुआती दौर में किसी भी आलोचक ने इसकी चर्चा दलित दृष्टिकोण से नहीं की थी। सन् 1990 ई. के बाद हिंदी में जब दलित साहित्य की चर्चा होने लगी तब इस उपन्यास का पुनर्मूल्यांकन हुआ और इसे दलित जीवन पर एक सशक्त उपन्यास के रूप में देखा जाने लगा। रमेश कुंतल मेघ ने इसे, "धरती के दुखियारों का समाजार्थिक दस्तावेज़ कहा।"[5] तो वहीं दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो- वी.सी व हिंदी विभाग में अध्यक्ष रह चुके प्रोफ़ेसर सुधीश पचौरी ने इसे, "भारत की सामंती कृषि व्यवस्था पर टिप्पणी के रूप में अंकित किया।"[6]

'धरती धन न अपना' की कहानी को लेखक ने एक बार 1988 के बाद फ़िर छुआ और इसकी अगली कड़ी के रूप में 'नरककुंड में वास' का प्रकाशन 1993 ई. में लगभग 21 वर्ष बाद हुआ। उपन्यास का अंतिम खंड 'ज़मीन अपनी तो थी' शीर्षक से लिखा तो गया लेकिन इसका प्रकाशन लेखक की मृत्यु (1 अप्रैल, 1996) के उपरांत 2001 में हुआ। इस तरह यह हिंदी उपन्यास साहित्य की पहली विशिष्ट उपन्यास त्रयी है।

पंजाब के होशियारपुर ज़िले की दसूहा तहसील में एक छोटा सा गाँव है- रलहन, लेखक के नाना-नानी का गाँव। इसी से साढ़े चार मील दूर पूर्व-उत्तर में एक ओर गाँव है- घोड़ेवाहा। इनके दधियाल अर्थात् दादा-दादी का पैतृक गाँव। 'धरती धन न अपना' इन्हीं दो गाँवों की कहानी है। इसमें लेखक ने पंजाब के दोआबा क्षेत्र के होशियारपुर ज़िले के घोड़ेवाहा गाँव को केंद्र में रखा है।

उपन्यास की कथा का आरंभ कुछ इस प्रकार होता है- छ: साल पहले दो दिन का भूखा प्यासा, काली फटे हाल गाँव छोड़कर पहले जालंधर और वहाँ से एक साथी के साथ कानपुर भाग गया था। वहाँ कई पापड़ बेलने के बाद उसे एक कपड़े के कारखाने में मज़दूरी का काम मिल गया था। गाँव से उसका पहला ग़मन पेट की ख़ातिर था क्योंकि ज़मीन व अन्य संसाधनों पर उच्च जाति का अधिकार था। अब वह कानपुर शहर से लगभग 300 रूपए कमाकर लाया है। गाँव वापस आने का एकमात्र कारण उसकी चाची प्रतापी है- जिसने उसे पाल-पोसकर बड़ा किया था। उसे इस बात की भी चिंता है कि चाची अभी ज़िंदा है- या नहीं।

काली जब सुबह के अँधेरे में गाँव आया तो गली के कुत्तों ने भौंककर उसका स्वागत किया। वह अपने दाएँ-बाएँ मकानों को देखता हुआ तेज़-तेज़ कदम उठाता रहा। गाँव की अभिन्न गंध उसे कदम-कदम पर अपने से परिचित करा रही थी। चौधरियों के मोहल्ले के बाद स्कूल आ गया। चार कक्षाओं के इस स्कूल में काली ने भी कुछ समय तक मुंशी के पाँव दबाए थे और डंडे खाए थे। वह मुंशी शिवराम के बारे में सोचने लगा जिसके लिए जाटों के लड़के साग, गन्ने, गाजरें, मूलियाँ इत्यादि लाया करते थे और कम्मियों के लड़के अपने सिर पर उठाकर उसके घर पहुँचाते थे। वह पंडित संतराम के बारे में सोचने लगा, "जो हरिजनों को देखकर दूर से ही दूर-दूर करना शुरू कर देता था।" थोड़ा और आगे जाने पर उसे ज़ोर की ठोकर लगी और वह गिरते-गिरते बचा। एक बानगी देखिए, "गोबर की तेज़ बदबू ने उसे चमादड़ी (हरिजनो की बस्ती) के निकट ही होने का संकेत दिया। इस स्थान पर बड़ा रास्ता काफ़ी गहरा हो गया था क्योंकि गाँव में बरसात का सारा पानी इसी रास्ते से चो में जाता था। दरअसल मनुवादी परंपरा के अनुसार आमतौर पर दक्षिण दिशा को अशुभ माना जाता है और इसी दिशा में दलितों को बसाया जाता है। ताकि गाँव का सारा मल-मूत्र, बरसात व बाढ़ का पानी वहीं से होकर निकले। चमारों के मोहल्ले में एक ही लंबी और तंग गली थी जो सारे मुहल्ले में कहीं सीधी और कहीं बल खाकर घूम जाती थी। काली चमारों के कोठों को देखने लगा। पूरे मोहल्ले में एक भी घर या कोठा ऐसा नहीं था जिसमें पक्की ईंट लगी हो। पिछली बरसात के बाद से लेकर अब तक इनकी पोताई भी नहीं की गई थी।

उसके वापस आने की ख़ुशी में चाची सारे मुहल्ले में शक्कर बाँटती है। उसका लाल या एकमात्र सहारा वापस जो आ गया है। काली के पैदा होने के कुछ समय बाद ही उसके पिता माखे पहलवान को मौत ने आ घेरा था। माँ को प्लेग की बीमारी खा गई। चाचा सिद्धू चप्पे गिन-गिनकर पाल पोस रहा था (क्योंकि उनके पाँच बच्चो की असमय मृत्यु हो गई थी) लेकिन उसे भी हैज़े ने खा लिया। अब सारे ख़ानदान की एकमात्र निशानी काली ही है। उसके वापस आने की ख़ुशी में मुहल्ले की सारी महिलाएँ अपने-अपने दुपट्टे में अनाज बाँधकर उसके सिर पर वारकर बलाएँ लेती हैं।

गाँव में ज़मीनों के मालिक जाट हैं; एक दो बनिए दुकानदार है। जाटों के घरों व खेतों में बंधुआ मज़दूरी करने वाले चमार है। गाँव के चौधरी,

चमारों से बात-बेबात गाली-गलौच व मारपीट करते रहते हैं। उपन्यास के आरंभ में ही चौधरी हरनामसिंह का आतंक देखने को मिलता है। एक बानगी देखिए, "चमादड़ी (चमारों के मुहल्ले) में ऐसी घटना कोई नई बात नहीं थी। अक्सर ऐसा होता रहता था। जब किसी चौधरी की फ़सल चोरी हो जाती, बर्बाद कर दी जाती, चमार चौधरी के काम पर न जाता या फ़िर किसी चौधरी के अंदर ज़मीन की मलकीयत का अहसास ज़ोर पकड़ लेता तो वह अपनी साख बनाने और चौधर मनवाने के लिए इस मोहल्ले में चला आता।"[8] चौधरी द्वारा शक़ के आधार पर पहले संतू की तत्पश्चात् जीतू की बुरी तरह पिटाई करना और पूरे मोहल्ले को यह कहना कि चमार सिर पर चढ़ते जा रहे है। इन्हें सीधा करना ही पड़ेगा। यह कथन सिद्ध करता है कि इस वर्णमूलक समाज व्यवस्था में दलितों की स्थिति न के बराबर है। आज भी गाँवों में निम्न जातियों के इस तरह का व्यवहार बदस्तूर जारी है। बिहार का 27 मई, 1977 का बेलछी कांड व हरियाणा में 2005 का गोहाना कांड व 19 अप्रैल, 2010 का मिर्चपुर कांड (हिसार) इसके सशक्त उदाहरण हैं। गाँवों में इज़्ज़त उसी की होती है जिसके पास ज़मींदारा होता है।

काली जब भी अपनी कोठरी में लेटता तो उसे हर समय यही डर लगा रहता की कहीं छत उसके ऊपर न आ गिरे। शहतीरों को दीमक ने खोखला कर दिया था और सरकंडों के ऊपर मिट्टी खोदकर चूहों ने अपने बिल बना लिए थे। दीवारें कुबड़ी हो गई थीं और किसी भी समय छत समेत धड़ाम से नीचे गिर सकती थीं। काली अपने इसी कोठे को गिराकर नया बनाना चाहता है। योजना सिर्फ़ इतनी है कि घर की ड्योढ़ी (बैठक खाना) पक्की बन जाए। बीच में आँगन व रसोई और पीछे एक खुली हवादार कोठरी। इसी को मूर्त रूप देने के लिए वह गाँव के महाजन/ बनिया छज्जूशाह के पास सलाह लेने के लिए जाता है। काली के पास रुपया आया देखकर वह उससे उसके चाचा सिद्धू का लिया हुआ 25 रुपए उधार व 16 रुपए ब्याज़ के भी झटक लेता है। काली जब उसके पास अपना मकान गिरवी रखकर कुछ रुपया उधार लेना चाहता है तब छज्जूशाह उसे कहता है कि, "कालिदास, जिस ज़मीन की तुम बात कर रहे हो, वह ज़मीन भी तुम्हारी नहीं है। वह शामलात (गाँव के ज़मींदारों की सांझी ज़मीन) ज़मीन है। जब तक तू या तेरे वारिस (उत्तराधिकारी) इस गाँव में रहेंगे, ज़मीन का वह टुकड़ा रिहायश के लिए तुम्हारा है। बाद में उसका मालिक गाँव होगा। वह तेरी मलकीयती ज़मीन नहीं है, मौरूसी ज़मीन है।"[9] इसी तथ्य को साकार करते हुए लेखक के मित्र मूर्ति चड्ढा ने इस उपन्यास को 'धरती धन न अपना' शीर्षक देकर तीव्रता प्रदान की। मनुवादी व्यवस्था ने सदियों से दलितों को ज़मीन के अधिकार से वंचित रखा हैं। स्वाधीनता के 27 साल बाद दिल्ली जैसे महानगर में यही स्थिति देखने को मिलती है। तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. इंदिरा गांधी ने सन् 1974 ई. में बीस सूत्रीय कार्यक्रम के तहत भूमिहीन दलितों (हरिजनों) को कृषि भूमि का आवंटन तो कर दिया लेकिन मालिकाना हक़ नहीं दिया- सिर्फ़ बुआई जुताई के अधिकार तक ही सीमित रखा। क्योंकि कोई भी सरकार ये नहीं चाहती कि दलितों का जीवन स्तर ऊपर उठ सके।

काली का पक्का मकान बनाने के बारे में सोचना ही वास्तव में दलितों के शोषण पर टिकी सामंती व्यवस्था के विरुद्ध कार्रवाई है। शोषण सिर्फ़ सवर्ण जातियाँ ही नहीं करती बल्कि दलितों में आपस में भी यह भावना पर्याप्त रूप से विद्यमान है। काली जब अपना मकान बनाने के लिए घर की नींव खोदता है तो उसका पड़ोसी निक्कू व मंगू हर तरह से उसका विरोध व काम रुकवाने की हर संभव कोशिश करते हैं। जब वह ईंटें लेने के लिए दिनू कुम्हार के साथ भट्ठे पर जाता है तो भट्ठे का मुंशी पहले तो उसकी वेश-भूषा से उसकी जाति का पता लगाने में असफ़ल रहता है। लेकिन जैसे ही उसे पता चला तो उसका यह कहना कि, "शक्ल से चमार दिखाई देता है, लेकिन पहनावा कुछ और ही कहता है।"[10] यह कथन सिद्ध करता है कि सवर्णों को दलित व्यक्ति फूटीं आँख तक नहीं सुहाते। उन्हें तो इनके साफ़-सुथरे कपड़े पहनने तक में दिक़्क़त है। भला वे मकान बनाने को कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं ?

गाँव का नंदसिंह चमार छुआछूत से तंग आकार पहले तो सिख धर्म ग्रहण कर लेता है लेकिन कोई भी ऊँची जाति का सिख उसे मुँह नही लगाता। समानता व भाई चारे पर टिका सिख धर्म भी उसे सम्मान नहीं दे सका। जब इससे भी बात नहीं बनी तो वह परिवार सहित ईसाई धर्म ग्रहण कर लेता है। लेकिन अंतत: सभी उसे चमार कहकर ही संबोधित करते हैं। उपन्यास में लेखक ने दलित स्त्री के शोषण को भी चरित्रार्थ किया है। शोषण के इस क्रम में कई दलित महिलाओं के घरों में जाटों की नाजायज़ संताने भी पैदा हुई हैं। यह प्रसंग चमारों के बग्गे व बूटासिंह जाट के लड़के पालो के लड़ाई-झगड़े में खुलकर सामने आता है। चौधरी मुंशी की हवेली में पंचायत होती है। चमारों के प्रतिनिधि बाबा फत्तू का यह कहना कि, "हम सब इसी गाँव में रहते आए हैं, पहले गाँव में चमार हो या चौधरी- सबकी इज़्ज़त सांझी होती थी। लड़ाई-झगड़ा तो दूर, कोई चमार चौधरियों के सामने आँख उठाकर भी नहीं देखता था। जब आप लोगों ने हमारी इज़्ज़त को अपनी इज़्ज़त समझना छोड़ दिया, जब जाट और चमार का

ख़ून मिलने लगा तो यह गड़बड़ होने लगी। अगर आज आपके ही ख़ून ने आपके बच्चे को मारा है तो आपको दु:ख क्यों हुआ ?"[11] यह सुनते ही पंचायत जितनी जल्दी इकट्ठा हुई थी उतनी ही जल्दी बर्खास्त भी हो गई। फत्तू द्वारा कही गई उपरोक्त बातें सामाजिक व्यवस्था के मुँह पर तमाचा है; क्योंकि जो दलित महिला ज़मींदारों के घरों व खेतों में मज़दूरी का काम करती है- वह सुरक्षित नहीं है। शायद ही कोई ऐसा घर हो जहाँ इनका यौन शोषण न होता हो। निक्कू व प्रीतो की लड़की लच्छो चौधरी हरनामसिंह की हवेली में काम करती है। चौधरी का भतीजा हरदेव मौका मिलते ही लच्छो का यौन शोषण करने से नहीं चूकता।

कोठे पर गारे का लेप करने के दौरान अचानक काली की चाची की तबीयत ख़राब हो जाती है। वह दलित समाज में व्याप्त अंधविश्वास यानि झाड़-फूँक के द्वारा चाची का इलाज़ करवाता है। लेकिन कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाती है। तेरहवीं तक घर में आने वाली महिलाओं में से संभवत: उसकी पड़ोसन प्रीतो उसके रुपए व गहने चोरी कर लेती है। रुपए चोरी हो जाने के बाद काली की मकान बनाने की योजना अधूरी रह जाती है और उसे अन्य दलितों की तरह लालू पहलवान का बंधुआ मज़दूर बनने पर विवश होना पड़ता है।

गाँव में आई बाढ़ कथा का अगला मोड़ है। सारा गाँव व चमादड़ी मोहल्ला पानी में डूब जाता है। गाँव वाले इस आपदा से बचने के लिए स्थानीय देवता ख़्वाज़ा पीर के नाम पर बकरे की बलि देते हैं। लेकिन बाढ़ का प्रकोप कम होने की बजाए और बढ़ जाता है। इस मुसीबत से बचने के लिए गाँव के दूसरी तरफ़ चौ (बरसाती नदी या नाला) का बंध काट दिया जाता है। तीन दिन तक चौधरियों के खेतों में काम करने के बाद भी जब चमारों को दिहाड़ी के रुपए नहीं मिलते तो चौधरियों व चमारों में आपसी संघर्ष की नौबत आ जाती है। चौधरी मुंशी यह सोचकर परेशान हो रहा था कि चमारों को इतना साहस कैसे हुआ वे उनके सामने मुँह खोले। वह दांत पीसता हुआ बोला कि-

"इन सबको गाँव से निकाल दो।
इनका खेतों में आना-जाना बंद कर दो।
इनकी औरतें खेतों में आए तो उन्हें वहीं घेर लो।
चमार खेत में आए तो सालों को जान से मार दो।
कुत्ते चमारों, तुम एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरोगे, हम तुम्हें भूखा मार देंगे।"[12]

इस तरह चौधरियों द्वारा चमारों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है। तीन दिन के संघर्ष के बाद भूख से पीड़ित चमारों का हौसला ज़वाब देना शुरू कर देता है। गाँव का पादरी अंचितराम चमारों की मदद करने की एवज़ में उनसे धर्मांतरण करवाना चाहता है। वहीं दूसरी तरफ़ डॉ. बिशनदास व कामरेड टहलसिंह उनकी आर्थिक मदद करने की बजाए सिर्फ़ भाषण पिलाने व उनके हक़ में ज़लसे करने की घोषणा करते है। सात दिनों तक चले इस वर्ग-संघर्ष के बाद चमारों व चौधरियों में आधे दिन की दिहाड़ी के नाम पर समझौता हो जाता है।

उपन्यास का अंतिम पक्ष काली व रिश्ते में उसकी बहन लगने वाली ज्ञानो की मार्मिक प्रेमकथा को चित्रित करता है। दोनों एक दूसरे से बेहद प्रेम करते हैं। ज्ञानो गर्भवती हो जाती है। समाज को काली के साथ उसका विवाह स्वीकार नहीं है। काली की बिरादरी व अन्य लोग उसके ख़िलाफ़ हो जाते हैं। ज्ञानो को उसका भाई मंगू व माँ जस्सो ज़हर देकर मार डालते है और काली को एक बार फ़िर से गाँव छोड़कर भागना पड़ता है।

समग्रत: कहा जा सकता है कि 'धरती धन न अपना' दलित जीवन के विविध पक्षों को चित्रित करने वाला एक सशक्त उपन्यास है। इसका अंत 'गोदान' की तरह त्रासद होता है। गोदान के होरी की सारी उम्र एक ही इच्छा रही- गाय पालने की और इसे पूरा करने की लालसा में ही उसकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। ठीक यही स्थिति काली की है- वह अपनी सारी जद्दोजहद के बावज़ूद अपना मकान बनाने में असफ़ल रहा और अंतत: उसे गाँव छोड़कर भागना पड़ता है। गाँव से पहला ग़मन अर्थात् प्रवास पेट की ख़ातिर था तो वहीं अब दूसरा सामाजिक व जातीय उत्पीड़न के परिणामस्वरूप क्योंकि दलित व्यक्ति अगर स्वाभिमान के साथ गाँव में रहना चाहे भी तो नहीं रह सकता...

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. चन्द्र, जगदीश, (2013), धरती धन न अपना, पंचकुला : आधार प्रकाशन, पृ. 5
2. चमनलाल (सं.), (2010), जगदीश चन्द्र दलित जीवन के उपन्यासकार, पंचकुला : आधार प्रकाशन, पृ. 170
3. वही, पृ. 171
4. वही, पृ. 171
5. वही, पृ. 8
6. वही, पृ. 8
7. चन्द्र, जगदीश, (2013), धरती धन न अपना, पंचकुला : आधार प्रकाशन, पृ. 8
8. वही, पृ. 17
9. वही, पृ. 49
10. वही, पृ. 54
11. वही, पृ. 159
12. वही, पृ. 219

*****

"शिकंजे का दर्द" आत्मकथा में चित्रित दलित जीवन

-डॉ सीमा
पता फ्लैट नंबर 354 रोज़वुड
अपार्टमेंट सेक्टर 13 पॉकेट A
द्वारका न्यू दिल्ली 110078
फोन: 9899395707

शोध-सार

दलित आत्मकथा में दलित जीवनानुभवों को परत-दर-रत आत्मकथाकार खोलते हैं जिसे पढ़कर रोंगटे खडे हो जाते है। दलित आत्मकथा में जीवन के उस स्याह एवं अदृश्य भाग के दर्शन होते हैं जहाँ खास समाज की नजर नहीं पहँचती है जाति एक सच्चाई है। इसे मिटाया तो जा सकता है। किंतु छिपाया नहीं जा सकता "जहाँ आप का तबादला होता है। वहाँ आपके पहुँचने से पहले अपनी जाति पहुँच जाती है हमारे बहुत सारे लोगों को मालूम नहीं है कि दुश्मन की नाक कुत्ते की नाक जैसी होती है"[1] दलित आत्मकथा में गरीबी और बेबसी का दृढ़ दृष्टांत सचमुख आँख नम कर देती है। सुशीला टाकभौरे हिंदी दलित साहित्य की प्रमुख लेखिकाओं में एक है। उनकी आत्मकथा "शिकंजे का दर्द" दलित स्त्री के जीवन-अनुभवों का ऐसा दस्तावेज है जिसमें जाति-आधारित सामाजिक संरचना के विविध आयाम उजागर होते हैं।

बीज शब्द- दलित जीवन, दर्द, सहानुभूति, वर्गीय, दृष्टिकोण, आक्रोश, यथार्थवाद, अस्पृश्यता, शोषित, अन्याय।

मूल आलेख

दलित आत्मकथा में भारतीय साहित्य में एक विविष्ट विधा के रूप में अपना स्थान बनाया है। आत्मकथा लेखन स्त्री के लिए चुनौतीपुर्ण रहा है शहरी, साहसी और सबल स्त्री की अपेक्षा उस स्त्री के लिए अधिक कठिन है, जो ग्रामीण परिवेश में पली बढ़ी हो। आज का दलित लेखन अम्बेडकरवादी चिंतन से ऊर्जा पाता है। सृजनात्मक दलित आत्मकथा लेखन में जिन दलित लेखकों ने प्रयास किया उनमें मोहनदास नैमिशराय, ओमप्राकाश वाल्मीकी, कैशल्या बेसंत्री और सुशीला टाकभौरे आदि प्रमुख है इसी श्रृंखला में सुशीला जी द्वारा लिखित 'शिकंजे का दर्द'बहु चर्चित आत्मकथा है। "शिकंजे का दर्द" में संताप है दलित होने का, स्त्री होने का। इसमें शोषित, पीड़ित, अपमानिल अभावग्रस्त दलित जीवन की व्यथा है।

भारतीय समाज में अस्पृश्यता एक शाप के समान समाज में चिपकी हुई है। इसका उदय कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इसके पीछे युगों से चली आ रही सामाजिक परंपपरा है? अस्पृश्यता समाज का कुष्ठ रोग है। अस्पृश्यता का वर्ताव करने वाला वर्ण गौरव का भाव रखता है। समाज की सर्वाधिक सेवा करने वाला वर्ग अछूत या अस्पृश्य कह कर तिरस्कृत किया गया है। उसे पशु से भी हीन समता है, "शिकंजे का दर्द" में कई स्थलों पर लेखिका ने अस्पृश्यता की समस्या को उठाया है। गाँव के सवर्ण सफाई कर्मचारियों पर अत्याचार करते हुए भय दिखाकर गंदगी समेटने का गन्दा-घिनौना काम जबरन करवाते थे। "गाँव में रहना है या नहीं? जिन्दगी प्यारी है या नहीं।"[2] देश को अजाद हुए कई वर्ष बीत गए फिर भी हमारे मानसिक रूप से गुलाम थे। दलितों के लिए आज भी ज्यादा कुछ बदला नहीं है वैज्ञानिक प्रगति होने के बाद भी विश्व के प्रगतिशील देशों में सम्बंध जुड़ने के बाद भी हमारे लोग अन्धविश्वास में भटक रहे हैं।

समाज में बेटियों की अपेक्षा बेटों को अधिक सम्मान और महत्व दिया जाता है, जिन लड़कियों के भाई नहीं रहते परिवार के लोग और रिश्तेदार उन्हें बुरा कहते थे 'शिकंजे का दर्द' में स्त्री की विवशता है। मार्मिक चित्रण दिया गया है। दलितों में सवर्ण जाति के लोगां के साथ-साथ अपने जाति के लोग भी भेदभाव करते हैं।

स्त्री की स्थिति पुरुषों के मुकाबले अधिक दयनीय है। अधिक बेटियाँ होने पर स्त्री बोझ जैसी लगती है। बेटियों की स्वतंत्रता पर हमेशा बंधन लगाये जाते। परिवार में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी बेटे को महत्व देकर पुरुष सत्ता को महत्व देती हैं। दलित समाज में सभी औरतें कुटुम्ब परिवार जाति-समाज और गाँव में सभी में घूंघट करती थी, "ये तो गाँव के कुत्ता, बिल्ली से भी घूंघट लेती है, ढोर-डंगर से भी घूंघट करती है।"[3] यह उनका घूंघट प्रथा पर व्यंग्य था जहाँ बेटियों को भी उनके भावी जीवन के लिए शिक्षा दी जाती थी। सुशीला जी अपने आत्मकथा स्त्रियों के यथार्थ जीवन का सजीव चित्रण करती है।

दलितों का प्रश्न केवल सामाजिक नहीं आर्थिक भी है उनके आर्थिक पक्ष को नकारा नहीं जा सकता। दलितों पर अत्याचार होने का एक सबसे बड़ा कारण उनकी आर्थिक दुर्बलता है। लेखिका ने आत्मकथा द्वारा यह दर्शाया है कि जब तक दलित खुद अपने पैरों पर खड़ा नहीं होगा। तब तक उनके साथ अन्याय होता ही रहेगा। दलित केवल अछूत है। ऐसा नहीं है। वह बहुत गरीब भी है। केवल छुआछूत समाप्त होने से दलितों की गुलामी नष्ट नहीं होती इनके लिए उसको वर्ग संघर्ष भी करना होगा। सादियों से दलित पूंजीपतियों का शिकार होते आए हैं। आजादी के बाद भी आर्थिक अभावों की चक्की में में पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातना के

शिकर हैं। सवर्णों और जमींदारों के खेतों और घरों में काम करते हैं। दलितों के बिना जमींदारों का काम भी नहीं चलता फिर भी जमींदार दलितों को पूरी मजदूरी नहीं देते हैं।

सुशीला जी ने 'शिकंजे का दर्द' में दलितों के यातनामय जीवन से संबंधित कई घटनाओं का चित्रण आत्मकथा के माध्यम से किया है। हमारे लोगों का छुआ खाते-पीते नहीं थे। काम करते समय भी दूरी बनाये रखते थे। नजदीक आने पर चिड कर झिड़ककर कहते "वैसा काम कर रहे हो या? तु तो छाती पर चढ़े आ रहे हो"[4] बेकसी और बेबसी के चलते ये दलित श्रमिकों के साथ पशुओं सा व्यवहार करते हैं ये जमींदार दलितों का आर्थिक शोषण करते हैं। खेतों में काम करवाते हैं और पैसा माँगने पर पीठ पर लात मार देते हैं। इनकी नजरों में दलित भूखें मरे चाहे प्यासे इन्हें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता। आर्थिक तंगी के कारण जीवन भर साहूकार की जूठन और दया पर निर्भर रहना आदि विवशतायें होती हैं। जातिभेद का अन्यय सदियों से चल रहा है। गरीब अछूतों का भविष्य इतनी आसानी से नहीं संवरता। यदि कोशिश भी करें तो ऊँचे लोग इसे सफल नहीं होने देते। अपनी कूटनीति के चलते भोले-भाले दलित लोगों को बहाकर उन्हें गर्व में ढकेलते रहते हैं।

दलित कई पीढ़ियों से शोषित-पीड़ित रहते हुए अपना जीवन जी रहे थे, फिर भी उनमें स्वाभिमान था। अपने लोगों के बीच अपनी बात के लिए वे मर मिटने को भी तैयार रहते थे। आपस में लड़ाई होने के बावजूद वह आपस में मिलजुल कर रहते थे। "लकड़ी से पानी मारों तो पानी अलग नहीं होता"[5], वैसे ही जाति समाज के लोग लड़ झगड़कर भी आपस में मिलकर रहते थे। वे एक-दूसरे के सुख दुख में साथ देते थे। किसी एक बात पर आफत आने पर सब दौड़ पड़ते थे। खूद भूखे रहकर दूसरों को खिलाते थे। दलित लोग आपस में लड़ते भी थे फिर कुछ समय के बाद एक हो जाते थे। मौसम का कहर भी दलित जाति पर दिखाई देता था। ठंड से बचने के लिए उनके पास पर्याप्त साधन नहीं होते। हमारे जाति के लोग अगर काम पर नहीं जाते या देरी से काम पर पहुँचते तो उन्हें खूब डाँटा जाता है। लेखिका का कहना "नानी डरती सहमती तुरंत उनके पीछे चल देती। पूरा गाँव जैसे सुबह से ही उसी की राह देखता हो, पर उसके दुख-दर्द को कोई नहीं समझता"[6] इसी तरह गरमी के मौस अप्रैल-मई में जब सूरज आसमान पर चढ़ गया तो हवा साय-साय करने लगती नदी और कुओं पर जाकर पानी लेना भी दलित वर्ग के लिए कष्टदायी होता था।

अपनी आत्मकथा में सुशीला जी ने "शिकंजे का दर्द" में अन्य कई स्थलों पर अस्पृश्य की समस्या को भी उठाया है। गाँव में तो भेदभाव की भावना बहुत थी स्कूलों का भी यही हाल था। प्राइमरी स्कूल में कक्षा में ताट-पट्टी की लंगी पट्टी बिछाकर दलितों को सवर्ण के बच्चों से अलग बिठाया जाता है। सवर्ण घरों में स्कूल से लौटे बच्चों पर घर के बाहर ही पानी छिड़क दिया जाता था वे कहते "न जाने कौन-कौन सी जात के बच्चों के साथ बैठकर प ढ़कर आते हैं। सबकी छुआछूत घर में लाते हैं।"[7] देश बदला समाज बदला, संविधान बदलता रहा। किंतु सवर्णों की दलितों के प्रति मानसिकता नहीं बदली। स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुसार अछूत-पिछड़े वर्ग और स्त्रियों के कल्याण के लिये अनेक कल्याणकारी योजनाएँ और कानून बनाए गए थे। देश में चाहे कितनी ही प्रगति हो पर दलितों के जीवन में हमेशा पिछड़ापन रही रहा है।

साहित्यकार ने अपनी रचना "शिकंजे का दर्द" में अछूतजनों की पीड़ा को व्यक्त किया है। दलितों की विभिन्न समस्याओं भीतरी कमजोरियों के साथ -साथ अन्याय अत्याचार के खिलाफ दलितों के मन में उठ रहे विद्रोह का भी बखूबी चित्रण किया है। आजादी के उनके रहन-सहन, आचार-विचार, शिक्षा-व्यवसाय आदि को लेकर आ रहे परिवर्तन का भी चित्रण किया है। दलितों ने अपनी परिस्थितियों से लड़ने के लिए शिक्षा को महत्वपूर्ण माना। वर्तमान समाज में दलितों की स्थिति में सुधार संभव हो पाया। सुशीला जी शिक्षा को दलित मुक्ति का महत्वपूर्ण उपकरण मानती हैं। शिक्षा ने ही उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूत किया उनके अन्दर हिम्मत डाली ताकि वह अपने लिए कुछ कर सके। अपने स्वयं की पहचान बनाने में शिक्षा ही थी जो रचनाकार को उसके जीवन में आगे बढ़ने की हिम्मत देता रहा।

निष्कर्ष

भारतीय समाज की वर्ण व्यवस्था तले हजारों वर्षों से उपेक्षित जीवन जी रहे समाज का चित्रण आत्मदथाओं का मुख्य विषय है। आत्मकथाओं में सुशीला टाकभौरे जी का "शिकंजे का दर्द" अपना महत्वपूर्ण एक अलग स्थान रखता है। यदि हिंदी दलित आत्मकथाओं में महिला द्वारा लिखी गयी पहली आत्मकथा कौशल्या बैसत्री की 'दोहरा अभिशाप' है जो सुशीला टाकभौरे जी का "शिकंजे का दर्द" दलित महिला आत्मकथाओं का आगाज़ है। "शिकंजे का दर्द" दलित स्त्री जीवन की जीवंत दस्तावेज है। जिसमें दलित स्त्री जीवन की पीड़ा के साथ-साथ दलित अस्मिता और संघर्षों को लेकर साहित्य की सभी विधाओं में इन्होंने अपनी प्रतिमा दिखाई है, "शिकंजे का दर्द" में सुशीला जी ने दलितों की विभिन्न समस्याओं, भीतरी कमजोरियों के साथ-साथ अन्याय- अत्याचार के खिलाफ दलितों के मन में उठ रहे विद्रोह का भी बखूबी चित्रण किया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1.बामन मेंश्राम, आत्मकथा : दलित महाकाव्य, पृ. 15
2.डॉ. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 85
3.डॉ. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 39
4.डॉ. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 72
5.डॉ. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 87
6.डॉ. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 25
7.डॉ. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ. 19

हिंदी उपन्यासों की दृष्टि से आदिवासी जीवन का कथात्मक पुनर्पाठन

-डॉ.वी.गोविन्द
सहायक आचार्य,
कर्नाटक केन्द्रीयक विश्वविद्यालय ,
कलबुरगी 9494250061

प्रस्तावना

हिंदी साहित्य में उपन्यास एक ऐसा माध्यम रहा है जिसने समाज के विविध वर्गों, समुदायों और जीवन स्थितियों का यथार्थपूर्ण चित्रण किया है। अब तक हिंदी उपन्यासों की मुख्य धारा प्रायः शहरी मध्यमवर्ग, किसान जीवन या औपनिवेशिक परिस्थितियों से प्रभावित रही। किंतु इक्कीसवीं सदी में आदिवासी समाज और उनका जीवन साहित्यिक विमर्श के केंद्र में आने लगा। आदिवासी जीवन सदियों से उपेक्षित और हाशिए पर रहा है। उनके संघर्ष, उनकी संस्कृति और उनके जीवन-मूल्यों को मुख्यधारा के साहित्य में बहुत कम स्थान मिला। आधुनिक उपन्यासकारों ने इस शून्य को भरने का प्रयास किया है और आदिवासी अस्मिता, विस्थापन, शोषण तथा उनके प्रतिरोध की कथाओं को सामने रखा है।

यथार्थ यह है कि आदिवासी जीवन केवल पिछड़ेपन की कहानी नहीं है, बल्कि वह मानवता के सबसे प्राचीन और सशक्त जीवन-दर्शन को भी व्यक्त करता है। आदिवासी संस्कृति में प्रकृति-पूजा, सामूहिकता और लोक-संस्कार की ऐसी धारा है, जो आधुनिक सभ्यता की आत्मकेंद्रित प्रवृत्तियों पर प्रश्नचिह्न लगाती है। हिंदी उपन्यासों में जब आदिवासी जीवन का कथात्मक पुनर्पाठ होता है तो यह केवल साहित्यिक प्रक्रिया नहीं रह जाती, बल्कि सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक पुनर्संरचना का विमर्श बन जाती है।

बीज शब्द

आदिवासी जीवन, कथात्मक पुनर्पाठ, हिंदी उपन्यास, विस्थापन, शोषण, अस्मिता, संस्कृति, प्रतिरोध, न्याय।

मूल आलेख

१. आदिवासी जीवन और हिंदी उपन्यास

आदिवासी समाज की वास्तविकताओं को साहित्य में स्थान देने की कोशिशें पहले भी हुईं, परंतु हाल के दशकों में यह विमर्श ज्यादा मुखर होकर सामने आया। **महुआ माजि** के उपन्यास *"मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ"* में झारखंड के आदिवासी समाज का जीवंत चित्रण है। यह उपन्यास दर्शाता है कि कैसे आदिवासी केवल शोषण और गरीबी की कहानियों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि उनके पास गहन सांस्कृतिक चेतना और प्रकृति से गहरे रिश्ते की समझ है।

रामधारी सिंह दिवाकर का उपन्यास *"अग्नि-रेखा"* आदिवासी जीवन में व्याप्त विस्थापन और जमीन की लड़ाई को सामने लाता है। यहाँ आदिवासी व्यक्ति केवल शिकार या लोक-नृत्य करने वाला चरित्र नहीं है, बल्कि वह अपने अस्तित्व और अधिकारों के लिए संघर्षरत मनुष्य के रूप में उपस्थित होता है।

शिवप्रसाद सिंह लिखित 'शैलूष' यह आदिवासी नटो के जीवन पर आधारित उपन्यास है इसमें जीवन के अंर्तविरोध, संघर्ष, शोषण आदि का चित्रण हुआ है। संजीव लिखीत 'जंजल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास आदिवासी थारू जन-जाति और डाकू समस्या जो केंद्र बनाजर कथानक को प्रस्तुत किया है। इसमें आदिवासी के जीवन संघर्ष और शोषण को उजागर किया है। यह उपन्यास सफेद पेशा मंत्रियों की पोल खोलता है। इसके साथ सामाजिक एवं आर्थिक विषमता, सामाजिक मूल्यहिनता, अवसरवादिता को प्रस्तुत भी करता है।

२. विस्थापन और संघर्ष की कथा

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन का चित्रण केवल सांस्कृतिक नहीं, बल्कि राजनीतिक भी है। *"धरती आबा"* (महाश्वेता देवी का प्रभाव हिंदी लेखन पर पड़ा) जैसे संदर्भ आदिवासी प्रतिरोध की कथा को मजबूती देते हैं। हिंदी में *"अद्रक के फूल"* (चित्राभानु गुहा) जैसे उपन्यासों में खनन-नीतियों और पूँजीवादी विकास के नाम पर आदिवासियों के विस्थापन की त्रासदी उजागर होती है।

महुआ माजि – *"धरती पर सबसे प्राचीन सभ्यता के वंशज आज अपनी ही जमीन पर पराए बना दिए गए हैं।"* यह उद्धरण बताता है कि आदिवासी जीवन की पीड़ा केवल भूख और गरीबी की नहीं है, बल्कि अपनी भूमि और संस्कृति से बेदखली की है।

३. संस्कृति और लोक-जीवन का पुनर्पाठ

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी लोक-जीवन का वर्णन विशेष महत्व रखता है। *"मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ"* में आदिवासी गीत, नृत्य, त्यौहार और विश्वास प्रणाली का गहन चित्रण मिलता है। इसी प्रकार *"जंगल जहाँ शुरू होता है"* (कभी-कभी हिंदी आलोचना में चर्चित) उपन्यास में जंगल और आदिवासी जीवन को आधुनिक सभ्यता की तुलना में अधिक मानवीय और पर्यावरण-संवेदनशील रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यह पुनर्पाठ हमें यह समझने के लिए बाध्य करता है कि आदिवासी समाज की संस्कृति पिछड़ेपन का प्रतीक नहीं है, बल्कि उसमें आधुनिक सभ्यता से अधिक समन्वय और प्रकृति-मैत्री भाव निहित है।

हिमांशू जोशी लिखित 'अरण्य' कुमाँचल पहाडी आदिवासियों के जीवन पर लिखा एक सशक्त उपन्यास है। जिसमें आदिवासियों की गरीबी तथा त्रासदी का चित्रण मिलता है। रांघेय राधव लिखित 'कब तक पुकारू' उपन्यास में जामींदार और करनटों का संघर्ष है। इसमें आदिवासी लोग जमीदार रावसाहब का विरोध करते है पुलिस की मनमानी, जबरदस्ती के कारण उन्हें आंदोलन करना पडता है।

४. आदिवासी अस्मिता और प्रतिरोध

आदिवासी जीवन का सबसे महत्वपूर्ण आयाम है उनकी अस्मिता और उसका संरक्षण। हिंदी उपन्यासों ने आदिवासियों के प्रतिरोध को भी कथाओं का हिस्सा बनाया है। भूमि अधिग्रहण, खनन परियोजनाओं और कारपोरेट पूंजीवाद के विरुद्ध आदिवासियों का संघर्ष एक नई चेतना पैदा करता है।

उपन्यासकार **महुआ माजि** के शब्दों में—

"वह जंगल उनका घर है, उनकी आत्मा है, उसे उजाड़ना उनके जीवन को उजाड़ना है।"

यह कथन स्पष्ट करता है कि आदिवासी प्रतिरोध केवल आर्थिक संघर्ष नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और अस्तित्व का संघर्ष है।

संजीव कृत उपन्यास जंगल जहाँ शुरू होता है आदिवासी समुदाय पर आधारित एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में भारत-नेपाल सीमा पर स्थित घने वनों में रहने वाले 'थारू आदिवासियों का वर्णन किया गया है। अंग्रेजों की गुलामी को न स्वीकार करने के कारण अंग्रजों ने इन्हें चोर, डाकू आदि की संज्ञा दे दिया था। इस उपन्यास में एक ईमानदार पुलिस अधिकारी, 'कुमार' का सामना इन थारू आदिवासियों से होता है तो उन्हें इनके अनैतिक कामों का पता चलता है।

ईमानदारी के साथ कुमार डाकुओं को पकड़ना चाहता है, किन्तु भ्रष्ट शासन प्रणाली में उसे अपमान का सामना करना पड़ता है। मजबूरी के चलते आम इन्सान भी डाकू बन जाते है जिसे हम इस उपन्यास के पात्र 'काली' य 'परशुराम के माध्यम से देख सकते हैं। ये महिलाओं को बेचने का काम करते-करते हथियार तक बेचने लगते हैं। लेकिन इन सभी के पीछे जो प्रमुख कारण उभर कर आता है वह है शिक्षा। यदि इन्हें शिक्षा का औजार मिल जाए तो ये वर्ग भी अपने आप को एक उच्च पद पर आसीन कर सकते है तथा सम्मानपूर्वक जीवनयापन कर सकते हैं।

इस उपन्यास में पुलिस प्रशासन के व्यवस्था पर भी करारा प्रहार किया गया है। किस प्रकार पुलिस प्रशासन थारू आदिवासियों को मार-मारकर उन्हें डाकू बना देता है। तथा विद्रोही बताकर उनका एनकाउण्टर करवा देता है। पुलिस प्रशासन के प्रति जो 'काली' के मन में गुस्सा भरा है वो कुमार से इस प्रकार व्यक्त करता है-

"अव्वल तो मुकदमा चलेगा ही नहीं, एनकाउण्टर के नाम पर मारकर फोटो खींचवाने का शौक हो तो अलग बात है। दूजे मुकदमा और सजा के बाद मेरी जाति नहीं बदली जाएगी, हालात नहीं बदल जायेंगे। मैं फिर उसी दल-दल में सहूँगा।"

निष्कर्ष

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन का कथात्मक पुनर्पाठ केवल साहित्यिक उपक्रम नहीं है, बल्कि यह हाशिए पर पड़े समाज की आवाज़ को केंद्र में लाने की प्रक्रिया है। आदिवासी जीवन का यथार्थ जब साहित्य में उतरता है तो वह सत्ता, विकास और आधुनिकता के दावों पर गहन प्रश्नचिह्न लगाता है। आज आवश्यकता है कि हिंदी उपन्यास आदिवासी जीवन को केवल लोक-संस्कृति या जिज्ञासा के विषय के रूप में न देखें, बल्कि उसे समानता, न्याय और अस्तित्व के विमर्श से जोड़कर प्रस्तुत करें। यही साहित्य का उत्तरदायित्व है और यही आदिवासी विमर्श की वास्तविक उपलब्धि।

संदर्भ सूची

1. माजि, महुआ। *मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ*। राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. दिवाकर, रामधारी सिंह। *अग्नि-रेखा*। राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. गुहा, चित्राभानु। *अद्रक के फूल*। वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
4. देवी, महाश्वेता। *धरती आबा* (हिंदी अनुवाद)।
5. मिश्र, नामवर सिंह। *कहानी नई कहानी नई*। राजकमल प्रकाशन।
6. चौधरी, रामनारायण। *हिंदी उपन्यास का इतिहास*। लोकभारती प्रकाशन।
7. ठाकुर, गगन। *हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श*। साहित्य अकादमी।
8. संजीव ,जंगल जहाँ शुरू होता है, , राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 139

*****

पर्यावरण की कीमत पर विकास

-शुभम यादव
पीएच.डी., हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो.: 9473930135
ई-मेल: shubhamyadavbhu2@gmail.com

मानव सभ्यता विकास के कई चक्रों से गुजर चुकी है। विकास के ही क्रम में उसने आदिम व्यवस्था से आज तक का सफर तय किया है। औद्योगिक क्रांति से पूर्व विकास की प्रक्रिया में प्रकृति एक नियंता थी, किन्तु औद्योगिकीकरण और वैज्ञानिक आविष्कारों ने इन परिस्थितियों को बदल दिया है। आज मानव की भूमिका प्रमुख हो गई है। वह मशीनों के बदौलत प्रकृति में परिवर्तन की क्षमता रखता है और समय- समय पर हस्तक्षेप भी करता है। इसके बहुत ही गंभीर दुष्परिणाम निकलकर हमारे समाने आए हैं। ग्लोबल वार्मिंग, पृथ्वी का तापमान बढ़ जाना, ग्लेशियरों का पिघलना और भूकंप के लागातर झटके आना महज संयोग नहीं है, बल्कि औद्योगिक क्रांति के बाद आए बदलावों की एक फेहरिस्त है जिसकी सूची बहुत लम्बी है। औद्योगिक क्रांति ने मानव सभ्यता के इतिहास में बड़े उलटफेर किए हैं। औद्योगीकरण से पूर्व ऊर्जा की खपत व्यापक स्तर पर नहीं थी, किन्तु औद्योगिक क्रांति ने इसे बदल दिया है। औद्योगिक क्रांति के बाद से ही गैर नवीकरणीय स्रोतों का तेजी से दोहन शुरू हुआ है। आज तेजी के साथ परमाणु ऊर्जा के कार्यक्रम भी शुरू किए जा रहे हैं।

मध्यकाल तक जंगलों का प्रयोग व्यवसाय के लिए नहीं किया जाता था। राजा-रजवाड़ों का व्यापक हस्तक्षेप नहीं था, किन्तु अँग्रेजों के आने के बाद स्थिति में व्यापक परिवर्तन आए। भारत में सन् 1853 में रेलवे लाइनों के बनने की शुरुआत के साथ ही व्यापक पैमाने पर जंगलों की कटाई की गयी। रेलवे के विस्तार के साथ जंगल और वनोपज माल के रूप में तब्दील हो गए। लकड़ी और वनोपज को ले आना-जाना आसान हो गया। अँग्रेजों ने वन कानूनों के माध्यम से वनों पर कब्जा किया। जमींदारों ने वनों को मुनाफे के रूप में देखा। वे अपने कर्ज आदि से मुक्ति पाने के लिए जंगलों को ठेकेदारों को नीलाम कर देते थे। विनोद कुमार ने लिखा है "सन् 1883 में ही एक अँग्रेज कमिश्नर मि. व्हीट ने चेतावनी देते हुए कहा था कि जिस बेतरतीब ढंग से वृक्षों की कटाई हो रही है, उससे यह खतरा मंडरा रहा है कि न सिर्फ दक्षिण बिहार से इस पठारी क्षेत्र के, बल्कि छोटा नागपुर के निचले हिस्से से सटे बंगाल के भी जंगल जल्द ही साफ हो जाएँगे और पठार नंगे। एक अन्य अँग्रेज डॉ. सेचलिच ने तीन वर्ष बाद 1885 में आग्रह किया कि रांची और हजारीबाग जिलों के मूल्यवान जंगल तेजी से घट रहे हैं।"[1] इसका यह मतलब कतई नहीं समझा जाना चाहिए कि अँग्रेज जंगलों की कटाई को लेकर बहुत चिंतित थे, बल्कि अपनी नीतियों में वह जंगल कटाई पर बहुत जोर दे रहे थे। अत्यधिक लगान प्राप्त करने के लिए उन्होंने जंगलों की कटाई को प्रोत्साहित किया था।

औद्योगिक क्रांति के शुरुआती दिनों में लोहा गलाने के लिए वनों का दोहन किया गया लेकिन जल्द खनन के माध्यम से कोयला का उपयोग शुरू हो गया था। खनन की यह प्रक्रिया आज भी जारी है और वनों का दोहन किया जा रहा है। औद्योगिक क्रांति के अगुवा इंग्लैंड ने औद्योगीकरण को जारी रखने के लिए दुनिया भर में फैले अपने उपनिवेशों का अपार दोहन किया था। रामचंद्र गुहा और माधव गाडगिल ने लिखा है, "1860 तक ब्रिटेन वनों की कटाई के मामले में विश्व नेता के रूप में उभर चुका था। इसने बड़ी नौकाओं को बनाने, लोहे को गलाने और खेती के लिए बड़े पैमाने पर वनों की कटाई की। इसने सिर्फ अपने वनों का ही सफाया नहीं किया, बल्कि आयरलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और संयुक्त राज्य अमेरीका के वनों को भी तबाह किया।"[2]

भारत में भी वन संपदा का अँग्रेजों ने अपार दोहन किया। सन् 1853 में रेलवे पटरियों के निर्माण में स्लीपर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए वनों की कटाई की गयी। रेलवे का विस्तार भारत में बहुत तेजी से हुआ। सन् 1860 में रेलवे का कुल विस्तार 1349 किलोमीटर का था जो सन् 1910 तक आते आते 51658 किलोमीटर हो गया। रेलवे के स्लीपर की आपूर्ति के लिए तेजी के साथ जंगलों को काटा गया। सखुआ और सागौन के वनों की भारी कटाई की गयी। रेलवे के ईंधन के लिए भी जंगलों का प्रयोग किया गया। माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा ने लिखा है "सखुआ और सागौन प्रायद्वीपीय भारत में रेलवे पटरियों के नजदीकी क्षेत्रों में उपलब्ध थे। रेलवे निर्माण के आरंभिक वर्षों में इनका अत्यधिक दोहन किया गया, जिसके चलते इस काम के लिए उत्तरी-पश्चिमी हिमालय के देवदार वनों का इस्तेमाल करना आवश्यक हो गया। वन विभाग के स्थापित होने के बाद के वर्षों में सतलुज और यमुना नदी घाटियों से देवदार काफी तेजी से खत्म हो गए। 1869 से 1885 के बीच सिर्फ यमुना नदी घाटियों के वनों से 6,500,000 देवदार स्लीपरों की आपूर्ति की गई।"[3]

औद्योगिकीकरण और विकास के नाम पर वनों का दोहन आज भी जारी है। व्यापक मात्रा में खनन कार्य किए जा रहे हैं। गैर नवीकरणीय स्रोत्रों में कोयला और तेल की खपत बढ़ी है, जिसका विकल्प यूरेनियम के रूप में खोजा गया है। वह भी स्थायी नहीं है। यूरेनियम के खनन से आसपास के इलाकों में रेडिएशन की मात्रा बढ़ जाती है। ऐसे में कई-कई गाँवों को विस्थापित करना पड़ता है। यूरेनियम ऊर्जा का शक्तिशाली स्रोत तो है लेकिन उसके साथ रेडियोएक्टिव किरणें मुफ्त प्राप्त होती हैं। यूरेनियम के क्षरण से अल्फा, बीटा, गामा जैसी शक्तिशाली किरणें उत्सर्जित होती हैं

जिसके चलते मानव शरीर प्रभावित होता है। अक्सर काम करने वाले मजदूरों की लापरवाही और खनन ठेकेदारों के द्वारा पर्याप्त सहूलियते नहीं उपलब्ध कराने के कारण लोग रेडियेशन का शिकार हो जाते हैं। जो लोगो रेडिएशन के जितने नजदीक होते हैं वे सबसे ज्यादा प्रभावित होते हैं। रेडियोएक्टिव पदार्थों से निकलने वाली विकरण मनुष्य के सेल में लाखों म्यूटेशन पैदा कर सकती है। यह मानव ही नहीं अपितु जीव जन्तुओं के जीन को भी प्रभावित करती है। जिससे उनमें आनुवांशिक अस्थिरता पैदा हो जाती है। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास का पात्र सगेन यूरेनियम के इस भयावह परिदृश्य की व्याख्या इस तरह करता है "गर्भधारण के पहले यदि माता-पिता के अंडा तथा वीर्य का एक जीन भी प्रभावित हो जाए तो भावी बच्चे पर इसका असर यानी जेनेटिक इफेक्ट होता है। बच्चों का मंदबुद्धि होना या उनमें पाई जाने वाली कई तरह की जन्मजात विकृतियां इसी वजह से होती हैं। इतना ही नहीं, गर्भ में पलने के दौरान या जन्म लेने के बाद भी अगर विकिरण का प्रभाव पड़े तो विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। बड़ों की तुलना में बच्चे विकिरण से ज्यादा प्रभावित होते हैं।"[4]

रेडियो विकिरण के चलते महिलाएँ बाँझ हो जाती है। उनमें यौन इच्छा खत्म हो जाती है। उनकी प्रजनन क्षमता प्रभावित होती है। ऐसे में उन महिलाओं से कोई शादी करने के लिये तैयार नहीं होता है। उन्हें परित्यक्ता का जीवन जीना पड़ता है, जिसके चलते उनका जीवन नर्क हो जाता है। विकिरण प्रभावित क्षेत्रों में महिलाएँ जिन बच्चों को जन्म दे रही हैं उनमें अपंगता देखी गयी है। यूरेनियम के संपर्क में आने के कारण गर्भस्त शिशु मानसिक रूप से अपंग पैदा हो रहे हैं। उनके शरीर का समुचित विकास नहीं हो पा रहा है। महुआ माजी ने 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में लिखा है "पड़ोसी जनमजय के बेटे का सिर अस्वाभाविक रूप से बड़ा दिखा तो पूछने पर वह कुछ भी नहीं बता पाया। तेतरी की बेटी की भी लगभग वही हालत थी। फर्क सिर्फ इतना था कि उसका सिर धड़ की तुलना में बहुत छोटा था। बुधनी का तो दाहिना हाथ और पांव निरंतर लंबे होते जा रहे थे जबकि बायें हाथ और पैर का विकास अत्यंत मंद गति से हो रहा था। उंकुरा के आठ साल के बेटे के सूखे हाथ पांव वाली देह हर वक्त बिस्तर से लगी रहती। अपने चेहरे पर बैठे मच्छर मक्खी तक को उड़ा पाने की क्षमता खो चुका था वह। एतवारी की माँ उसी बीमारी से मर गई, जिससे ततंग मरे थे। उसके चेहरे, कंधे, पैर आदि पर पहले तो काले काले धब्बे नजर आए, फिर उनमें घाव हो गए।"[5]

विकिरण गर्भस्थ शिशु को भी प्रभावित करता है। पुरुषों में नपुंसकता देखी गयी है। और तरह-तरह के असाध्य बीमारियाँ विकिरण से प्रभावित इलाकों में देखी गयी हैं। सेल में म्यूटेशन के कारण कैंसर जैसे रोग सामान्यतः इन इलाकों में देखे जा सकते हैं। इन तमाम समस्याओं के बावजूद यूरेनियम का खनन जारी है और विकास के नए प्रतिमान रचने के लिए दुनिया उतावली है। भले ही मानव जीवन विनाश के कगार पर न पहुँच जाए। महुआ माजी ने 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में यूरेनियम के दुष्प्रभावों का वर्णन इस तरह किया है, "आदित्यश्री के साथी पत्रकारों ने विकिरण से प्रभावित लोगों की तस्वीरें लीं। तस्वीरों में उस युवक की तस्वीर भी शामिल थी जिसके पेट में गर्भाशय विकसित हो गया था। एक ऐसे बच्चे की भी, जिसकी एक आँख के स्थान पर सिर्फ मांस का लोथड़ा था, नाक ऊपर से गायब थी। लोथड़े के नीचे सांस लेने के लिए दो छेद जरूर थे। एक पाँच साल की बच्ची न चल सकती थी न बोल सकती थी और न ही अपने मुँह कान में बैठी मक्खियों को भगा सकती थी।"[6]

यूरेनियम का शिकार सिर्फ मानव ही नहीं होता है बल्कि पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं पर इसके प्रभाव देखे जाते हैं। बरसात में खदानों का काम बंद रहता है। बाढ़ आने पर या अधिक बरसात होने पर खदानों के इर्द -गिर्द का पानी नदीं-नालों में जाता है। पानी को पीने वाले जीव-जन्तु यूरेनियम के चपेट में आ जाते हैं। नदी नालों में रहने वाली मछलियाँ प्रभावित होती हैं। उन्हें खाने से लोगों में बीमारी फैलती है। महुआ माजी ने 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास में लिखा है "जहरीली हो गई है यहाँ की मछलियाँ। खाने से पेट में ऐंठन होती है। जी मिचलाता है। वैसे मछलियों की मात्रा काफी घट गयी है आजकल। जो गिनी-चुनी मछलियाँ हैं, उनमें से ज्यादातर बड़ी अजीब सी दिखती हैं। उनकी मुंडी बहुत मोटी होती है और देह पतली। ऐसी मछलियाँ आपको मरंग गोड़ा के अलावा और कहीं नहीं दिखेंगी साहब! कहीं नहीं। नाले के आसपास पाए जाने वाले सांपों का भी यही हाल है। पतली देह और बड़ा सा सिर। कितने ही सांप, मेंढक, बिच्छू मरते रहते हैं जब तब। मगर हम जिंदा हैं साहब।"[7]

आज दुनिया का हर देश सस्ती बिजली के लिए यूरेनियम प्राप्त करना चाह रहा है, जबकि शुद्ध यूरेनियम प्राप्त करने की प्रक्रिया काफी जटिल और महंगी है। इसमें जल का भयानक दोहन होता है। यूरेनियम की धुलाई के चलते भूमिगत जल भी प्रदूषित हो रहे हैं। धुलाई की प्रक्रिया जिन इलाकों में सम्पन्न की जाती है वहाँ का जलस्तर भी नीचे चला जाता है। जिससे वहाँ की जमीनें बंजर और आसपास का इलाका मरुस्थल में बदल जाता है। यूरेनियम के खनन से पर्यावरण बहुत प्रभावित होता है लेकिन दुनिया उसकी दौड़ में अंधी हुयी जा रही है। हर देश को विकास के लिए ज्यादा से ज्यादा यूरेनियम चाहिए। यूरेनियम की विनाश लीला जापान जैसे देश देख चुके हैं। जहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अमेरिका ने हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराये थे। जिनके बनाने में यूरेनिएम का प्रयोग किया गया था। यूरेनियम के विघटन से निकलने वाली किरणों से लाखों लोग तुरंत मारे गए और आज तक विकिरण के प्रभाव के चलते कई इलाकों में अंपग बच्चे पैदा होते हैं। किन्तु आज हर छोटा देश परमाणु बम हासिल करने की जुगत में है। ऐसा आविष्कार जो क्षण भर में दुनिया को तबाह कर दे। यही विकास का पैमाना है।

सोवियत यूनाइटेड के राज्य यूक्रेन में हुयी चेरनोबिल रिएक्टर की घटना जिसके चलते यूरोप तक के देश प्रभावित हुए थे। लाखों लोगों को विस्थापित करना पड़ा था और बहुत से लोग मारे गए थे। आज भी वहाँ को लोग इसका दंश झेल रहे हैं। महुआ माजी अपने उपन्यास में लिखती हैं, "चेरनोबिल हादसे में संयंत्र में मौजूद 190 टन यूरेनियम डाइऑक्साइड के चार प्रतिशत से भी कम विघटित तत्व ही रिएक्टर से बाहर निकले थे। इसके बावजूद दुनिया भर में उसका असर देखा गया। संयंत्र में उपस्थित 32 लोगों की तो मौके पर ही विकिरण से मौत हो गयी थी। कुछ ही दिनों के अंदर रेडियोधर्मी बीमारियों के कारण अन्य 39 लोगों की जान चली गयी। इस हादसे में निकले रेडियोधर्मी पदार्थों का अधिकांश मलबा यूक्रेन, रूस और बेलारूस तक फैल गया था जिस कारण वहाँ के

लगभग साढ़े तीन लाख लोगों को ले जाकर दूसरे इलाकों में बसाना पड़ा। जीवित शहर वीरान हो गए। इसके अलावा उत्तरी ध्रुव के लगभग सभी देशों में रेडियोधर्मी पदार्थों के कण पाए गये।"[8]

यूरेनियम के शोधन के दौरान ढेर सारे कचड़े निकलते हैं। कचड़ों में भी यूरेनियम का अंश शामिल होता है। इस तरह के कचड़ों को शहरों से दूर उन इलाकों में स्थानांतरित किया जाता है जहाँ शिक्षा का प्रसार कम होता है, लोग जागरूक नहीं होते हैं। यूरेनियम तुरंत समाप्त होने वाली चीज नहीं है। इसके विघटन में लाखों वर्ष लगते हैं। ऐसे में जहाँ पर यह कचड़ा इकट्ठा किया जाता है वहाँ के लोग इससे प्रभावित होते हैं। टेलिंग डैम के आसपास के कुओं और तालाबों के जल बेकार हो जाते हैं। आसपास के इलाकों की हवाएं भी प्रभावित होती हैं। उनमें विकिरण के कण मौजूद होते हैं, जो मनुष्य और जीव जंतुओं के जीवन के लिए काफी हानिकारक हैं। अक्सर देखा गया है कि यूरेनियम खनन के दौरान निकले बेकार पत्थरों का उपयोग गाँव के लोग घरों की छतों, चहारदीवारियों आदि के निर्माण में कर लेते हैं। इन पत्थरों में भी विकिरण की मात्रा पाई जाती है। इस कारण भी खनन क्षेत्रों में बीमारी से ग्रस्त लोगों की संख्या अधिक पाई जाती है।

आज विकास के नाम पर नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बनाए जा रहे हैं ताकि अधिकाधिक बिजली उत्पादन किया जा सके। जिससे औद्योगीकरण का पहिया तेजी से चलता रहे। हिमालय क्षेत्रों में भी बिजली उत्पादन का कार्य जारी है। बड़े बाँधों के सरोवर में एकत्रित जल के कारण भूकंप के झटके भी आते हैं। बाँध तो भूकंपरोधी होते हैं लेकिन आस पास की बस्तियाँ इसमें सबसे ज्यादा प्रभावित होती हैं। अनुपम कुमार ने लिखा है, ''कुछ लोगों ने पिछले दिनों कोयना बाँध के भूकंप को उसके जलाशय के दाब से जोड़ा है। ज्यों-ज्यों सरोवर में जलस्तर बढ़ता जाता है भूकंप की परिस्थितियां बनने लगती थीं। उसका पानी छोड़ते जाने से ये संभावनाएँ भी कम होने लगती हैं। नर्मदा घाटी में खरगोन के पास सेंधवा में पिछले 137 वर्ष में पाँच बार भूकंप आया है।"[9]

बड़े-बड़े बाँधों के बनने के कारण व्यापक पैमाने पर लोगों का विस्थापन होता है। खेतिहर जमीनें डूब जाती हैं। आसपास की वन संपदा प्रभावित होती है। वहाँ के जीव-जन्तु या तो पलायित हो जाते हैं अथवा मारे जाते हैं। जिससे वनों का पारिस्थितिकीय संतुलन बिगड़ जाता है। नदी से छेड़छाड़ के चलते बाढ़ आने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। 'रेड जोन' उपन्यास में विनोद कुमार ने मयूराक्षी परियोजना के अंतर्गत बने मसानजोर डैम के बारे में लिखा है कि, ''113 फीट ऊँचा और 2150 फीट लंबा बाँध। 16 करोड़ की लागत से बना। दावा था कि 8 लाख हेक्टेयर जमीन की सिंचाई होगी इस डैम से। सिंचाई तो धूर भर जमीन की नहीं हुई, 19000 एकड़ जमीन का वनक्षेत्र नष्ट हो गया। उस वनक्षेत्र में थे वर्षों पुराने महुआ, केंदु, पियार के फलदायक पेड़ और साल, मुर्गा, गम्हार जैसी कीमती लकड़ियों के हजारों पेड़। संथाल परगना के 25 हजार लोग उजड़ गये उस बाँध की वजह से।"[10]

आज तेजी के साथ शहरों का विस्तार जारी है। रोजगार सृजन के नाम पर कारखाने लगाए जा रहे हैं। विकास के नाम पर औद्योगीकरण को प्राथमिकता दी जा रही है ताकि जल्द से जल्द समृद्धि के ऊँचे स्तरों को प्राप्त किया जा सके। लेकिन इस विकास के प्रतिमान को हासिल करने की होड़ में खनिज संसाधनों का दोहन और बढ़ गया है। औद्योगिक कारखानों से निकलने वाले कचरों के चलते नदियाँ मलबे के ढेर में बदल जा रही हैं। 'रेड़ जोन' उपन्यास में लेवाटांड़ गाँव में लौह कारखाना लगने से पूर्व जो दामोदर नदी स्वच्छ हुआ करती थी, आज भारत की प्रदूषित नदियों में से एक है। उपन्यासकार विनोद कुमार ने लिखा है "गाँव के बगल से ही खुला नाला गुजरता है जिससे होकर आवासीय कॉलनियों का मलजल आक्सीडेशन पौंड में जाता है। और आक्सीडेशन पौंड का निथरा पानी सीधे दामोदर में गिरता है। गाँव का नैसर्गिक सौंदर्य नष्ट हो गया। उसके बगल से गुजरती पावन नदी भ्रष्ट हो गयी। इसकी मर्मांतक पीड़ा से दग्ध रहता है पूरा गाँव, लेकिन उसकी इस पीड़ा का एहसास शहर को नहीं है।"[11]

शहर लगातार विकसित हो रहे हैं, उनकी जरूरतें बढ़ रही हैं। ऐसे में निर्माण कार्य जारी रहते हैं। किन्तु शहरों से निकले हुए कचड़ों को किसी ठिकाने न किया जाये तो वह व्यापक जनसमुदाय के लिए बहुत घातक है। 'रेड़ जोन' का पात्र कालीचरण कारखाना प्रबंधन के हास्पिटल से निकलने वाले कचरे के बारे में कहता है "बड़ा अस्पताल का बेकार दवा-दारु, ऑपरेशन के बाद का सब कचरा बह कर उस तालाब में पहुँचता है। वह सब खाकर मछलियाँ बीमार पड़ रही हैं। कारखाना प्रबंधन अन्य तालाबों के साथ उसे भी नीलाम कर देता है। ठेकेदार बाजार भाव से कम कीमत रखता है और झोपड़पट्टी के लोग सस्ता समझ कर खाते हैं।"[12]

विकसित देश जो तकनीकी रूप से समृद्ध हैं, विकासशील देशों से कम कीमतों पर कच्चा माल हासिल कर उसके परिवर्धित रूपों को उच्च कीमतों पर निर्यात करते हैं। अल्पविकसित देश विकसित देशों के कर्ज की मकड़जाल में फँसे हुए हैं। औद्योगीकरण के चलते विकसित देशों में भारी कचड़ा जमा हो रहा है। जिन्हें वे धरती में दबा दे रहे हैं या फिर उसे अल्पविकसित देशों में जमा किया जा रहा है। विकसित देश अपनी पुरानी पड़ चुकी तकनीकों को विकासशील देशों को बेच रहे हैं। यही खेल राज्यों के भीतर भी जारी है। दिल्ली जैसी राजधानियों में प्रयुक्त न होने वाले संसाधनों को गाँवों की तरफ भेजा जा रहा है। गाँवों में पर्यावरण के मानकों पर न खड़ी होने वाली गाड़ियों की संख्या बढ़ी है। ऐसी फैक्ट्रियों को शहरों व राजधानियों से दूर खोला जा रहा है और वे धड़ल्ले से जारी हैं। जिससे वायु, जल सभी प्रदूषित हो रहे हैं। विनोद कुमार ने 'रेड जोन' उपन्यास में इसका चित्रण इस तरह किया है, ''वे विकास के नाम पर हमसे हमारा जल -जंगल जमीन छीनने आये हैं। वे खेतिहर जमीन छीनने आये हैं जिसको आपके पूर्वजों ने जंगल-झाड़ साफ कर अपना खून-पसीना एक कर तैयार किया था। यहाँ चलने वाले अधिकतर स्पंज आयरन कारखाने अवैध रूप से चल रहे हैं। वे खुल्लम-खुल्ला वन कानूनों का उल्लंघन कर वनक्षेत्र में चल रहे हैं। प्रदूषण बोर्ड द्वारा निर्धारित मानदंडों का उल्लंघन कर रहे हैं। दिल्ली जैसे महानगरों से उन्हें सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशों पर हटाया जा चुका है। अब वे आदिवासी क्षेत्रों में चले आये हैं क्योंकि व्यवस्था की नजर में आदिवासियों की कीमत कीड़े-मकोड़ों से अधिक नहीं समझते वे...।"[13]

आदिवासी इलाकों में खनन की गंभीर समस्याएँ बनी हुयी हैं। खनिज संसाधनों के लिए जगह-जगह माइनिंग की जा रही हैं। कंपनियाँ खनन करती हैं लेकिन उनकी दिलचस्पी खनन भूमि को समतल करने में

नहीं है। खदाने ठीक से बंद नहीं करने पर बरसात में खदानों से निकले कण आसपास की जमीनों को बंजर कर देते हैं। कुओं के पानी गंदे हो जाते हैं। ऐसे में इन क्षेत्रों में खेती करना दूभर हो जाता है। खनन क्षेत्रों में बरसात के पानी जमने से अनके बीमारियाँ फैलने का खतरा बना रहता है। विकास के नाम पर वनों की कटाई जोरों पर है। बड़े-बड़े बाँधों और कम्पनियों के निर्माण में उनकी आहूति दी जा रही है। वन क्षेत्रों के विस्तार लगातार घट रहे हैं। ऐसे में जंगलों में रहने वाले जानवर बस्तियों की तरफ आ जाते हैं। जिससे आदिवासियों को काफी नुकसान उठा पड़ रहा है। "62 हाथियों में से 32 हाथियों का झुंड भटक कर इधर आ गया। है। उनके हमले में पिछले दो-तीन वर्षों में 26 आदिवासी औरत-मर्दों की मौत हो चुकी है। ...हाथियों से प्रभावित प्रखंड हैं काठीकुंड, गोपी कांदर, शिकारीपाड़ा और अमड़ापाड़ा प्रखंड के कुछ गाँव। ...संथाल परगना में हाथियों का प्रकोप पहले नहीं था। पिछले कुछ वर्षों में हुआ है और उनका उत्पात वहा है। जंगल, बाँस और पोखरे का पानी उन्हें आकर्षित करता है। कई गाँव हाथियों के हमले से उजड़ गये। स्थायी रूप से मिट गये।"[14]

आज सार्वजनिक क्षेत्रों की सेवाओं में कटौती की जा रही है। राज्य अपनी जिम्मेदारियों से पीछे भाग रहा है। विकास के नाम पर निजीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। नदियों को भी निजी हाथों में सौपा जा रहा है। छोटानागुपर के पठार से निकलकर झारखंड से बंगाल में बहने वाली दामोदर नदी विकास के नाम पर जैविक मरुस्थल तब्दील हो गयी है। भारत की पवित्र नदी गंगा कचड़े में तब्दील होती जा रही है। विकास के नाम पर खनिज संसाधनों का दोहन बढ़ा है। औद्योगिक क्रांति के बाद से पृथ्वी के तापमान में लगभग एक से डेढ सेल्सियस तापमान की वृद्धि दर्ज की गई है जो आने वाली पीढ़ियों के लिए बेहद खतरनाक है। ऐसे में पर्यावरण को बचाना बेहद जरूरी है। किसी भी तरह के विकास कार्यक्रमों में पर्यावरण का अनिवार्य रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2005, पृ. 107-108
2. गाडगिल, माधव एवं गुहा, रामचंद्र, कमल नयन चैबे (अनु.), यह दरकती ज़मीन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2018, पृ. 110-111
3. वही, पृ. 114
4. माजी, महुआ, मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 160
5. वही, पृ. 119
6. वही, पृ. 190-191
7. वही, पृ. 184-185
8. वही, पृ. 218
9. मिश्र, अनुपम, साफ माथे का समाज, पेंगुइन बुक्स, इंडिया, पृ. 65-66
10. कुमार, विनोद, रेड जोन, अनुज्ञा बुक्स, नई दिल्ली, 2015, पृ. 369
11. वही, पृ. 38
12. वही, पृ. 131
13. वही, पृ. 395
14. वही, पृ. 368-369

*****

विभाजन विमर्श और पसमांदा मुस्लिम समाज: सन्दर्भ 'छाको की वापसी'

- राहुल कुमार यादव
शिवपुरम कॉलोनी,
बसंत मेडिसिटी हॉस्पिटल
डाफी, वाराणसी-221011
ईमेल: rahulartbhu95@gmail.com
मो० न०: 8960298405

भारत विभाजन एक जटिल मुद्दा है। विभाजन की जिम्मेदार कोई एक राजनीतिक पार्टी और राजनेता नहीं है। चूँकि मुस्लिम-लीग ने विभाजन की माँग की और विभाजन हुआ भी इसलिए विभाजन की सारी जिम्मेदारी मुसलमानों और मुस्लिम-लीग पर डाल दिया गया। जबकि विभाजन में ब्रिटिश शासकों के साथ-साथ मुस्लिम-लीग, हिन्दू महासभा और कांग्रेस का नेतृत्व करने वाले अभिजात्यवर्गीय हिन्दुओं और मुसलमानों की भी बराबर की भूमिका रही है। इस बात को समझाने के लिए मैं अपनी बात 1857 के विद्रोह से शुरू करना चाहूँगा।

19वीं शताब्दी में निम्नवर्गीय मुसलमानों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को बिगड़ते देख इन्होंने 1857 में अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का साथ देने के बजाय अभिजात्यवर्गीय मुसलमानों ने अंग्रेजों का साथ दिया। सर सैयद पूरे भारतीय मुस्लिम समाज के नेता नहीं थे बल्कि वे अभिजात्यवर्गीय मुसलमानों के नेता थे। सर सैयद की मूल चिंता में यह बात निहित थी कि मुस्लिम समाज का संभ्रांत वर्ग अंग्रेजी भाषा को अपनाये और शासन-प्रशासन में अपनी भागीदारी बढ़ाए। जिससे उनकी दशा-दिशा सुधरे। भगवान सिंह ने अपनी किताब 'भारतीय मुसलमान' में संभ्रांत वर्गीय मुसलमानों के प्रति सर सैयद के नजरिए को कुछ इस ढंग से व्यक्त किया है "सर सैयद की नजर में भारतीय आबादी तीन भागों में बँटी थीं। पहली श्रेणी में विदेशी मूल के मुस्लिम जमींदार और रईस थे जिनकी दशा के बारे में वह सबसे अधिक चिंतित थे। उसके बाद धर्मांतरित मुसलमान संख्या-बल के लिए आते थे। परंतु उनके लिए उनके पास कोई योजना नहीं थी।"[1]

सर सैयद अंग्रेजों के प्रति स्वामीभक्ति के बदले में सम्भ्रांत मुसलमानों के लिए सुविधाएं हासिल करने के पक्षधर थे। अंग्रेजों के प्रति स्वामीभक्ति के चलते ही रामधारी सिंह दिनकर ने उन्हें 'संस्कृति के चार अध्याय' में 'राजभक्त मुसलमानों का नेता' कहा है। जवाहरलाल नेहरू भी सर सैयद को सारे मुसलमानों का नेता नहीं मानते थे और उनका कहना था कि "सर सैयद एवं अन्य साम्प्रदायिक नेतागण वास्तव में लोगों की राजनीति एवं सामाजिक उत्थान के विरोधी थे। उनकी मांगों का साधारण जनता से कोई रिश्ता नहीं था। उनकी मांगे केवल समाज के ऊपरी तबके के एक छोटे समूह के लिए सीमित थी।"[2]

वहीं दूसरी तरफ भारतीय मुस्लिम समाज का एक बड़ा तबका बुनकर समुदाय से आता था। ब्रिटिशों के भेदभाव नीति के चलते लगभग 1910 ई. के आसपास इन्होंने पेशे के आधार पर अपना संगठन बनाना शुरू कर दिया। जिसका नेतृत्व मौलाना अली हुसैन उर्फ आसिम बिहारी और अब्दुल कय्यूम अंसारी ने किया था। आसिम बिहारी ने तांतीबाग कोलकाता में 1920 ई. में 'जमीयतुल मोमिनीन' नाम का एक संगठन बनाया जो आगे चलकर 'मोमिन कॉन्फ्रेंस' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जैसे ही 'मोमिन कॉन्फ्रेंस' सामाजिक संगठन से राजनीति में प्रवेश करता है वैसे ही उच्चवर्गीय मुसलमानों ने इसका विरोध करना शुरू कर दिया। आगे चलकर जिन्ना और 'मुस्लिम लीग' ने दलित-पिछड़े मुसलमानों के बुनियादी मांगों को डिस्कोर्स से बाहर करने के लिए पाकिस्तान की माँग छेड़ दी। दलित और पिछड़े मुसलमानों का पाकिस्तान की माँग में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी। इसलिए पाकिस्तान की माँग को समर्थन उच्च जाति के मुसलमानों, नवाबों, जागीरदारों और सरमायादारों ने ही किया था।

1946 ई. के चुनाव में 'मोमिन कॉन्फ्रेंस' एक राजनीतिक पार्टी के रूप में मैदान में उतरी। पाकिस्तान की माँग का माहौल जब अपने चरम पर था उस समय 'मुस्लिम लीग' के 'टू नेशन थ्योरी' का विरोध करते हुए 'मोमिन कान्फ्रेंस' 6 सीटों पर विजय हासिल करने में कामयाब रही। अब्दुल कय्यूम अंसारी ने 1937 ई. में जवाहर लाल नेहरू को एक चिट्ठी लिखकर मोमिन समुदाय की समस्याओं के बारे में बताया। नेहरू, अब्दुल कय्यूम अंसारी के इन विचारों से सहमत थे कि मोमिन समुदाय सामाजिक-आर्थिक और शैक्षणिक रूप से बहुत पिछड़ा हुआ है। नेहरू यह भी मानते थे कि हिन्दुओं की तरह मुसलमानों में भी उच्च जाति के लोगों का वर्चस्व बना हुआ है "मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मैं आपकी इस टिप्पणी से पूरी तरह सहमत हूँ कि मुसलमानों के बीच खास उच्च वर्ग का एक समूह भारत में कमोबेश पूरे मुस्लिम समाज पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए है और इससे अन्य लोगों को नुकसान पहुँचाया जा रहा है। यह बात इसी रूप में हिन्दुओं पर भी लागू होती है। जैसा कि आप भी जानते हैं कि उच्च वर्ग का एक समूह अन्य लोगों के विशाल समूह पर प्रभुत्व स्थापित किया किया हुआ है। निश्चय ही यह समस्या दोनों ही तरफ समान रूप से मौजूद है।"[3] 'मोमिन कॉन्फ्रेंस' का बार-बार यह तर्क होता था कि दलित-पिछड़े मुसलमानों का 'मुस्लिम लीग' की राजनीति से कोई वास्ता नहीं है, इसलिए मुस्लिम समाज से सम्बन्धित किसी भी निर्णय में 'मोमिन कॉन्फ्रेंस' को भी शामिल किया जाए। लेकिन 'कांग्रेस पार्टी' इस बात को लगातार इग्नोर करती गयी, जिसके चलते देश को विभाजन जैसी बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ा। 'मोमिन कॉन्फ्रेंस', जिन्ना और 'मुस्लिम लीग' के भारत विभाजन के प्रस्ताव का सख्त विरोधी था। राम मनोहर लोहिया 'भारत विभाजन के गुनाहगार' में लिखते हैं कि "वैसे, मुसलमानों में पिछड़ी जातियां आमतौर पर मुस्लिम लीग से अलग ही रही

हैं। दंगे की स्थितियों के अलावे वे कभी बहुत उत्साहित भी नहीं थीं, और सो भी उनमें से कुछ ही। किसी-किसी अवसर पर राष्ट्रीय आन्दोलन ने पिछड़े मुसलमानों, मोमिनों को प्रोत्साहित करने की नीति को जरूर अपनाया, लेकिन यह नीति इतनी दांवपेच भरी थी कि संतोषप्रद नतीजे नहीं निकले। यदि सभी पिछड़ी जातियों, हिन्दू और मुसलमानों को जातिप्रथा का नाश करने और बराबरी लाने की नीयत से प्रोत्साहन दिया जाता और यदि राष्ट्रीय आन्दोलन, कम से कम असहयोग आन्दोलन के समय से इस नीति पर ढंग से अमल होता, तो भारत विभाजन न होता।"[4] लोहिया आगे और लिखते हैं "भारत के राजनीतिकों ने अब तक सचमुच देश के पीड़ित अल्पसंख्यक और हिन्दू तथा मुस्लिमों की अनगिनत पिछड़ी जातियों के हितों की रक्षा करने की चिन्ता नहीं की। उन्होंने शक्तिशालियों का अल्पसंख्यक के नाम पर हित साधन किया है, जैसे- पारसी, क्रिस्तान, मुसलमान और हिन्दुओं में उच्च जाति वालों का।"[5] 1946 के आम चुनाव के आधार पर ही पाकिस्तान निर्माण के निर्णय को मान लिया गया। इसे लोकमत संग्रह (रेफरेंडम) के आधार पर तय बताया गया। जबकि हकीकत यह है कि इसमें केवल 13 प्रतिशत बालिग मर्द और औरतों को ही वोट देने का अधिकार था। जिसमें 64 रुपये सालाना मालगुजारी, सवा रुपये चौकीदारी टेक्स देने वाले तथा मैट्रिक पास व्यक्ति ही वोट देने के योग्य थे। इस तय किये गये योग्यता के चलते पसमांदा मुसलमानों का एक बड़ा तबका वोट देने से वंचित रह गया, जो निश्चित तौर पर पाकिस्तान माँग या 'मुस्लिम लीग' के खिलाफ वोट करता।

बदिउज़्ज़माँ 'छाको की वापसी' में कुछ इसी तरह की निशानदेही करते हैं। उपन्यास में अभिजात्यवर्गीय मुसलमान न केवल निम्नवर्गीय मुसलमानों से भेदभाव करते हैं बल्कि उनके विचार मुस्लिम लीग के विचार से मिलते हैं। 'छाको की वापसी' विभाजन केंद्रित उपन्यासों से कुछ अलग अपनी विशिष्टता लिए हुए है। इस उपन्यास में छाको विभाजन की त्रासदी का शिकार होता है। पाकिस्तान जिसे एक धर्म, एक देश, एक संस्कृति के तर्क पर बनाया गया था, 'छाको की वापसी' में उस विमर्श का क्रिटिक रचा गया है। यह बेवजह नहीं है कि उपन्यास में हबीब भाई कहते हैं कि "हिन्दू और मुसलमान कभी एक नहीं हो सकते। मजहब, कल्चर, लिबास, जबान कोई भी तो नुक़्ता नहीं जहाँ दोनों एक-दूसरे से मिलते हों।"[6] इस तरह के सांप्रदायिक विचार स्वधर्मीय समुदायों में व्याप्त सामाजिक और आर्थिक विषमता के विचार को नज़रअंदाज करते हैं। 'छाको की वापसी' में हबीब भाई कहतें हैं कि "यह एक बहुत तकलीफ़देह हक़ीक़त है लेकिन है हक़ीक़त कि बिहारी मुसलमानों की बंगाली मुसलमानों के साथ गुज़र नहीं हो सकती। बड़ा ही जानलेवा एहसास है यह कि हम जिन आदर्शों को सीने से लगाए हुए थे और जिनसे हमारे दिल और रूह को ताजगी और सुकून मिलता था उन्होंने अचानक ही जहरीले साँपों की तरह हमें डसना शुरू कर दिया है। मैं सच कहता हूँ कि बिहार के हिन्दू इन बंगाली मुसलमानों से यकीनन बेहतर थे।"[7] 'छाको की वापसी' में पाकिस्तान जाने वाले पात्रों की अपनी अलग-अलग वजहें हैं। बतौर छाको को इसलिए पाकिस्तान जाना पड़ा क्योंकि "...इलाही मास्टर ऐसी बात कह दीहिन कि हमको आना पड़ा। कहिन कि अच्छे वक्त में तो साथ दिया लेकिन जब तकलीफ का डर है तो साथ छोड़ रहे हैं। हम बोले कि मास्टर हम ऐसे नहीं हैं। आप ऐसा सोचते हैं तो हम जरूर चलेंगे। नहीं जाएँ तो बाप का पेशाब पिएँ। एही सब वजह से हमको आना पड़ा क्या करते, ज़बान दे चुके थे।"[8]

छोटे अब्बा और हबीब भाई का मानना था कि पाकिस्तान में उन्हें अच्छी नौकरी और जल्दी तरक्की का अवसर मिलेगा। बदीउज़्ज़माँ इस बात का खास ख्याल रखते हैं कि बस्ती का कोई भी गरीब आदमी पाकिस्तान नहीं जाता है। जमींदार वर्ग से ताल्लुक रखने वाले इसलिए पाकिस्तान गए क्योंकि उनका विश्वास था कि विभाजन के बाद उनकी जमींदारी छिन जाएगी और भारत में रहे तो उन्हें हिन्दू बना दिया जाएगा या मार दिया जाएगा। जिसकी वजह से मोहल्ले में पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय मुसलमानों की तादाद लगातार कम हो रही थी "लेकिन जुलाहे, दरजी, राजमजदूर कसाई और इस तरह के निचले तबके के वे दूसरे लोग मुहल्ले में वैसे ही मौजूद थे जैसे पहले। इनकी तादाद बढ़ी ही थी, घटी नहीं थी।"[9] ऐसे में निम्न तबके से आने वाले छाको के बाप महम्दू खलीफा से जब खाजे बाबू पाकिस्तान जाने के बारे में पूछते हैं तो महम्दू का कहना था कि "पाकिस्तान में हमनी सबका का काम बाबू? पेट भरे को दु मुट्ठी चावल हियाँ ना मिलतई का! दुसरा देस के जाए के जरूरत!"[10]

विभाजन के दौरान उपजी सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा ने जिन दो ध्रुवांत विचार शिविरों को जन्म दिया उपन्यास में उन्हीं दो ध्रुवांत विचार शिविरों के प्रतिनिधि चरित्र हबीब भाई और गाँधी भाई हैं। उपन्यास में जहाँ हबीब भाई पाकिस्तान के समर्थक हैं वहीं इसके विपरीत गाँधी भाई विभाजन के कटु आलोचक। हबीब भाई का विश्वास है कि "पाकिस्तान बनकर रहेगा"[11] और "हिंदुस्तान के तमाम मुसलमानों की कौमी ज़बान उर्दू है"[12] गाँधी भाई इस विचार का विरोध करते हैं कि "मियाँ भेड़चाल चलने की कोशिश न करो। खुदा ने अक़्ल और आँखें दी हैं। खुद सचाई तक पहुँचने की कोशिश करो। नारों में कुछ नहीं रखा है। पाकिस्तान का ख़याल बहुत बड़ा फरेब है, हसन बिन सब्बाह की जन्नत की तरह।"[13] और "किसी बंगाली और सिंधी मुसलमान से बात करके तो देखो। वह कभी उर्दू को अपनी ज़बान नहीं मानेगा।"[14]

'छाको की वापसी' में बदिउज़्ज़माँ ने मुस्लिम-लीग के पाकिस्तान विमर्श में बढ़-चढ़कर भाग लेने वाले उच्च और मध्यवर्गीय मुसलमानों की मानसिकता को कुछ इस तरह से व्यक्त किया है "उनका (हबीब भाई) ख्याल था कि जाहिल और गँवार मुसलमान पाकिस्तान न हीं जाएँ तो अच्छा है। पढ़े-लिखे मुसलमानों को ही वहाँ जाना चाहिए। ये लोग पाकिस्तान के लिए मुफीद होंगे और इनको भी पाकिस्तान से फायदा पहुँचेगा। छाको जैसे लोग वहाँ पहुँचने लगे तो मुसलमानों का यह मुल्क क्या ख़ाक तरक्की करेगा! इस तरह के लोग हिंदुस्तान में ही रहें तो अच्छा है।"[15] मुसलमान भाई-भाई होता है। इस्लाम ऊँच-नीच को नहीं मानता। सारे मुस्लिम कौम की भाषा उर्दू है जैसे प्रचलित मुहावरे की बुनियाद पर जिस पाकिस्तान विमर्श का निर्माण किया जा रहा था, बदीउज़्ज़माँ उसे 'छाको की वापसी' में जाति विमर्श के प्रश्न से प्रश्नांकित करते हैं। अभिजात्य वर्गीय परिवार किस तरह से अपने बच्चों को ऊँच-नीच और श्रेष्ठता बोध की शिक्षा देता है उसे इस उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। जब खाजे बाबू के अब्बा उसे कमीन लड़कों के साथ न खेलने की सलाह देते हैं "खून और जात बेबुनियाद चीजें नहीं है। जानवरों तक

की नस्ल देखी जाती है। इंसान क्या जानवरों से भी गया-गुजरा है? जब जानवरों की कद्र भी उनकी नस्ल के लिहाज से की जाती है तो इंसान की नस्ल को अहमियत देना किस तरह गलत हो सकता है?...जुलाहे जुलाहे ही रहेंगे और सैयद सैयद ही रहेंगे।"[16]

'छाको की वापसी' की कथावस्तु इस मायने में विशिष्ट है कि इसमें बदीउज़्ज़माँ ने विभाजन के कारण उत्पीड़ित और विस्थापित पात्रों की तकलीफों को दर्ज किया है। साथ ही एक धर्म, एक संस्कृति, एक भाषा और एक देश के विमर्श पर निर्मित पाकिस्तान के बहस को पूर्वी पाकिस्तान के निर्माण द्वारा ध्वस्त किया है। पाकिस्तान बनने के बाद एक तरफ मुसलमानों का पढ़ा-लिखा मध्य वर्ग ऊँची नौकरियों और सुरक्षित जीवन की खोज में पाकिस्तान चला गया, तो वहीं दूसरी तरफ मुसलमानों का व्यापारी वर्ग पैसे की हवस में पाकिस्तान गया। यही कारण है कि आजादी के बाद बड़ी तादाद में पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय मुसलामानों के पाकिस्तान चले जाने से मुस्लिम समुदाय में कोई सामाजिक सुधार देखने को नहीं मिलता है "मोहल्ले के हाजी अब्दुल करीम पाकिस्तान बनने के तुरंत बाद ही ढाका चले गए थे और सुनते हैं कि वहां उनका लाखों का कारोबार है।... अब्दुल करीम का नाम करीमवा हुआ करता था।... हराम की कमाई से ही घर भरिस है। लानत है ऐसे पैसे पर।"[17] 'छाको की वापसी' में उपन्यासकार ने विभाजन के पश्चात बढ़ती सांप्रदायिक घटनाओं के प्रतिरोध के रूप में भारतीय समाज की सामंती संरचना के उस साझी संस्कृति के विरासत का उपयोग करते हैं, जहाँ सांप्रदायिक सौहार्द के उदाहरण भरे पड़े हैं। उपन्यास में जब रामधनी को हिन्दू कट्टरपंथियों द्वारा सिपर उठाने के कारण धमकी दी जाती है, तो वह परेशान हो उठता है। उसका मानना था कि जो काम उसे अपने बाप-दादाओं से विरासत में मिला है वह उसे कैसे छोड़ सकता है "सिपर उठाना कैसे छोड़ दें! लोग क्या सोचेंगे उसके बारे में? और सवाल सिर्फ लोगों के सोचने का नहीं है। उसे पाप नहीं होगा क्या! सिपर नहीं उठाई तो इमाम साहब श्राप नहीं दे देंगे क्या?"[18] स्वाधीनता आंदोलन के दौरान एक भाषा, एक धर्म और एक संस्कृति के नाम पर जिस एक मुसलमानी देश की बात की जा रही थी, वह विमर्श अपने अस्तित्व में आने के महज 24 वर्ष बाद ही धाराशाही हो गया। यह प्रसंग है पश्चिमी पाकिस्तान से पूर्वी पाकिस्तान (आज का बांग्लादेश) का अलग होना। पश्चिमी पाकिस्तान से पूर्वी पाकिस्तान क्यों अलग खड़ा हुआ? इस प्रश्न को बदीउज़्ज़माँ बड़े ही बेबाक ढंग से 'छाको की वापसी' में उठाते हैं। इतिहासकार पश्चिमी पाकिस्तान से पूर्वी पाकिस्तान के अलग होने की पड़ताल करते हुए जिस सांस्कृतिक आर्थिक पहलू पर जोर देते हैं उस निष्कर्ष पर बदीउज़्ज़माँ बहुत पहले ही पहुँच चुके थे। दरअसल उत्तर भारत का अभिजात्य और नौकरीपेशा मुसलमान जो विभाजन के बाद पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान गया, उसे यह विश्वास ही नहीं था कि दूसरे इलाकों के मुसलमानों की भाषा, रहन-सहन और खान-पान उनसे अलग हो सकता है। उत्तर भारतीय अभिजात्य मुसलमानों की यह धारणा थी कि सारे मुसलमान उर्दू भाषा-भाषी हैं। उपन्यास में इस विचार का प्रतिनिधित्व करने वाले हबीब भाई का मानना था कि "बंगाली मुसलमानों का रहन-सहन और तौर-तरीके हम लोगों जैसे नहीं हैं। इन पर हिन्दुओं का बहुत असर है। नमाज़-रोजे के पाबंद जरूर हैं। लेकिन ये लोग आम मुसलमानों से बहुत अलग दिखाई देते हैं। अक्सर तो पहचानना मुश्किल हो जाता है कि कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान। उर्दू ये बिल्कुल नहीं जानते। कलचर के लिहाज़ से इन्हें हिन्दू कहना ज्यादा सही होगा। हिन्दुओं के दबाव ने इन्हें इस्लामी तहज़ीब से बिल्कुल अलग कर दिया है।"[19]

विभाजन के पश्चात आजाद पाकिस्तान की राजनीतिक बागडोर पश्चिमी पाकिस्तान के मुसलमानों के हाथों में थी। पूर्वी पाकिस्तान में अधिकांश जनता बांग्ला भाषी थी। एक तो इन्हें राजनीतिक सत्ता में उचित भागीदारी नहीं मिल रही थी दूसरे पाकिस्तान के नेताओं द्वारा उर्दू को राजभाषा बनाने का आग्रह, पूर्वी पाकिस्तान की जनता को दोयम दर्जे की नागरिकता के साथ जीने के लिए विवश किया जा रहा था। बांग्ला भाषी होने की वजह से उन्हें हीन नजरिए से देखा जाता था। जो बांग्लादेश के अस्तित्व में आने की बड़ी वजह बनी। छाको जाति से दर्जी था इसलिए उसके साथ खेलने के लिए खाजे बाबू को बार-बार मना किया जाता है। नहीं मानने पर एक बार खाजे बाबू के अब्बा उन्हें पीटते हैं और कहते हैं कि "मर दूद! सूरत हराम! कितनी बार मना किया, कमीने लड़कों के साथ न खेला कर। पर कमबख़्त मानता ही नहीं। आयंदा कभी देखा इस तरह खेलते हुए तो जान से मार डालूँगा।"[20]

खाजे बाबू का खानदान सैयदों का था। खाजे बाबू के अब्बा श्रेष्ठता बोध से भीतर तक धंसे हुए थे। जब पूरे मुसलमान कौम की बात आती थी तो उनका मानना होता था कि "इस्लाम ने तो सबको बराबर दर्जा दिया है। न कोई बड़ा है न छोटा। बस आमाल अच्छे होने चाहिए।"[21] पर जब व्यक्तिगत हित की बात आती थी तो इस्लाम की बजाए अपने सैयद होने को ज्यादा महत्व देते थें। महम्दू खलीफा से अपना पैर दबवाते हुए वे अपने श्रेष्ठता बोध को इंज्वाय करतें हैं "बाबू! काहे रोकह! ई तो सबाब के काम हइ। सैयद के पाँव दबावे से हो सक हइ कि अल्लाह मियाँ खुस हो जथिन। हमरा भी जन्नत देथिन अल्लाह मियाँ।"[22] कुल मिलाकर बदीउज़्ज़माँ ने 'छाको की वापसी' में ऐसे निम्नवर्गीय बेजुबान लोगों की कहानी कही है जो विभाजन के विरोधी-समर्थक बाइनरी से इतर हिंदुस्तान की साझा-संस्कृति में विश्वास रखने के बावजूद बढ़ती सांप्रदायिक घटनाओं और पलायन के सबसे अधिक शिकार हुएं। जहाँ छाको का यह दर्दनाक चीत्कार "जेहल दे दे चाहे फाँसी हम तो छोड़ के न जैबई अपन घरवा।"[23] कोई मायने नहीं रखता।

भारत में इस्लाम के आगमन और मुगलों के लंबे इतिहास में हिन्दू तथा अन्य धर्म के लोगों ने धर्मांतरण कर इस्लाम कुबूल किया। 'छाको की वापसी' में भी एक ऐसा प्रसंग आया है। हिन्दू धर्म से दो तरह के लोगों ने इस्लाम कुबूल किया। एक तो वे लोग जो हिन्दू धर्म के जाति प्रथा से पीड़ित थे– अर्थात् दलित और अछूत जातियाँ। दूसरे वे जिन्होंने सत्ता की लालच तथा अन्य वजहों से इस्लाम कुबूल किया। उपन्यास में ढल्लन सिंह का प्रसंग आया है। ढल्लन सिंह हिन्दू धर्म के ब्राह्मण जाति में पैदा हुए लेकिन उन्हें नियजनी से मोहब्बत हो गई। जिससे निकाह करने के लिए वे ढल्लन सिंह से युसूफ खाँ बन गए। किंतु उन्होंने अपने बेटे का नाम खुदा बख्श सिंह ही रखा क्योंकि "सिंह तो उसके जातिगत गौरव की निशानी था जो उसे धर्म से कहीं ज्यादा प्यारा था।"[24] इस्लाम कुबूल करने पर ढल्लन सिंह का स्वागत तो बड़ा गर्मजोशी के साथ हुआ, किंतु यह जोश कुछ ही दिनों में ठंडा पड़ गया। धर्मान्तरित मुसलमानों को मौलवी,

पेश-इमाम और अभिजात्यवर्गीय मुसलमानों द्वारा हेय नजरिए से देखा जाता था। 'छाको की वापसी' में जाति व धर्म की पृष्ठभूमि में धर्मान्तरित मुसलमानों के साथ अभिजात्यवर्गीय मुसलमानों का अंतर्विरोध दिखाया गया है। ढल्लन सिंह के मौत ने इस्लाम के मसावत वाले विचार का पर्दाफाश किया है "अजीब मसला पैदा कर दिया था ढल्लन सिंह की मौत ने। लोगों का कहना था कि वह मुसलमान नहीं मरा। जो आदमी 'राम-राम' कहते जान दे उसे मुसलमान कैसे मान लिया जाए? और अगर वह मुसलमान नहीं था तो उसकी जनाजे की नमाज़ कैसे पढ़ी जाए, उसे दफ़न भी कैसे किया जाए?"[25] 'छाको की वापसी' में पसमांदा या निम्नवर्गीय मुसलमान केंद्र में है। छाको दर्जी समाज से आता है जो विभाजन की चक्की में अनायास ही पीस जाता है। पाकिस्तान तो अभिजात्य मुसलमानों का सपना था। आजादी के बाद अधिकांशतः मुसलमानों का अशराफ तबका पाकिस्तान चला गया। स्वाधीनता आंदोलन की शुरुआत से ही उत्तर भारत के अशराफ मुसलमानों की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक स्थिति प्रभावशाली थी। पाकिस्तान विमर्श को खाद पानी और शक्ति इन्हीं उत्तर भारत के मुस्लिम तालुकेदारों, जमीदारों और पढ़े-लिखे अफसरों से मिलती थी। 'छाको की वापसी' विभाजन को हाशिये के अनुभवों से देखने का वैकल्पिक दृष्टि प्रदान करती है।

सन्दर्भ सूची

1. भगवान सिंह, भारतीय मुसलमान, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 38
2. अली अनवर, मसावत की जंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 103
3. वही, पृ. 108
4. राममनोहर लोहिया, भारत विभाजन के गुनाहगार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ. 51
5. वही, पृ. 52
6. बदिउज़्ज्माँ, छाको की वापसी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975, पृ. 91
7. वही, पृ. 182
8. वही, पृ. 104
9. वही, पृ. 17
10. वही, पृ. 69
11. वही, पृ. 93
12. वही, पृ. 92
13. वही, पृ. 92
14. वही, पृ. 92
15. वही, पृ. 24-25
16. वही, पृ. 41
17. वही, पृ. 15-16
18. वही, पृ. 27
19. वही, पृ. 23
20. वही, पृ. 37
21. वही, पृ. 43
22. वही, पृ. 43
23. वही, पृ. 186
24. वही, पृ. 36
25. वही, पृ. 103-104

*****

मुझे पहचानो (संजीव) उपन्यास में अभिव्यक्त भारतीय सरोकार (स्त्री , धर्म , राजनीति के आलोक में)

-डॉ अंकिता विश्वकर्मा
असि.प्रोफेसर(सीनियर स्केल),
हिन्दी विभाग
पूर्णियाँ कॉलेज, पूर्णियाँ
(पूर्णियाँ विश्वविद्यालय, पूर्णियाँ)
मो.नं.-8687662080
ईमेल – vishwakarmaankita16@gmail.com

शोध सारांश - मुझे पहचानो उपन्यास में कथाकार ने भारतीय समाज की परंपरावादी पितृसत्तात्मक मानसिकता का चित्रण किया है। मुझे पहचानो उपन्यास के माध्यम से सती प्रथा जैसी को प्रथाओं का उल्लेख करते हुए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन किया गया है। इस उपन्यास के माध्यम से कथाकार ने स्त्री विमर्श के प्रश्नों को रेखांकित किया है ।स्त्री क्या है? उसका अस्तित्व क्या है? समाज में उसे वह स्थान क्यों नहीं प्राप्त है ? सती प्रथा की शिकार सावित्री कुँवर को लोग सती मैया बनाकर पूज रहे हैं, किंतु वास्तव में उसे कोई पहचान नहीं पा रहा है। कथाकार ने मुझे पहचानो उपन्यास के माध्यम से धर्म, स्त्री और राजनीति के सरोकारों का चित्रण किया है। भारत की अंतिम सती के रूप में विख्यात सावित्री कुँवर जैसे ऐतिहासिक पात्र में काल्पनिक कथा के अंशों को जोड़ते हुए वर्तमान समय में विद्यमान को मॉबलीचिंग तथा डायन प्रथाओं की भांति समाज के लिए चिंतनीय समस्या के रूप में अभिव्यक्त किया है।

बीज शब्द -सती प्रथा, मंदिर,धर्म, कर्मकांड, शोषण राजनीति, स्त्री, अंधविश्वास, लोकतंत्र, व्यक्ति,समाज।

मूल आलेख - मुझे पहचानो उपन्यास के केंद्र बिंदु में सती प्रथा है । इसके आसपास उपन्यास के पूरे कथानक को बुना गया है । इसमें सती प्रथा के कारण के साथ समाज में विद्यमान स्त्री, धर्म तथा राजनीति के प्रश्नों को भारतीय परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त किया गया है । उपन्यास के केंद्र में उड़ीसा के रतनापट्टी नामक स्थान का वर्णन है , जो कंठा नदी के आस -पास विजयगढ़ तथा आजमगढ़ दो रियासतों की कथा कहती है ।

राजा उदय सिंह के दो पुत्र हैं जिनका नाम राय साहब और लाल साहब है । राय साहब विवाह से उत्पन्न पुत्र हैं जबकि अविवाहित रखैल से उत्पन्न पुत्र लाल साहब कहलाते हैं । राय साहब का नाम सुरेंद्र प्रताप सिंह तथा लाल साहब का नाम विरेन्द्र प्रताप सिंह है । लाल साहब की माँ कुँवारी जिनका उपनाम कुलदेवी था । वह कंठा की रहने वाली बेडिन जाति की स्त्री थी , जिसने किसी राजा की दासी या रखैल बनने से इनकार किया था । कुलदेवी ने अपनी शर्तों पर महाराजा उदय प्रताप सिंह से विवाह किया था । उनके शब्दों में- तो सुनो महाराज अव्वल तो यह बिना ब्याहे मुझे महल में नहीं ले जाओगे । दोयम यह कि मुझे रानी की ही तरह प्यार और इज्जत से रखोगे। " [1] कुलदेवी ने जनता के हित में कार्य किया । कंठा में जल की धारा प्रवाहित करने का कार्य किया।

पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्रियों की स्थिति आज भी पहले जैसी ही है । वर्ण सुचिता , वर्ग सुचिता तथा जातिगत सुचिता की आधारशिला आज भी स्त्रियों को ही माना जाता है । लाल साहब के लिए उनकी मॉ एक कलंक मात्र बनकर रह गई थी । कुलदेवी के माध्यम से कथाकार संजीव ने 21वीं सदी में भी पिछडे एवं वंचित परिवार की स्त्रियों के अपहरण एवं यौन शोषण का चित्रण किया हैं - " कंठा की दूसरी लड़कियों की तरह बारह-तेरह की होते ही लाली-काली लगाकर खड़ी हो गयी होगी । वही देखा होगा रियासत के राजकुमारों ने उस परी को और उठवा लिया होगा । कहते तो यहाँ तक है कि डोली में लेकर जा रहा था कोई और लठैतो ने घेर लिया । " [2]

भारतीय समाज में धार्मिक अंधविश्वास की जड़ में जनता की आस्था है। जिसे लगता है कि ब्राह्मण और साधुओं के कर्मकांड या तंत्र-मंत्र से उनके बिगड़े हुए काम , सारी समस्याएँ दूर हो जाऐंगी । इसलिए लाल साहब की पत्नी अपने पति का प्रेम पाने के लिए साधुओं की शरण में जाती हैं । साधुओं के छद्म यथार्थ को अभिव्यक्त करते हुए कथाकार कहते हैं –
" यह हराम पर पलने वाले जीव है , इन्हें न कुछ आता है , न ही ये कुछ करने वाले । छद्म सिर से पाँव तक छद्म ! सत्ता पर किसी भी तरह काबिज रहने का शीर्षासन और हठयोग । " [3] जनता की अंधभक्ति ही इस प्रकार के साधुओं की विजय पताका पूरे देश में फैलाने का कार्य करती है । भारतीय धार्मिक अंधविश्वास के कारण ही किसी स्त्री को जिंदा जलाने जैसे कुकृत्य को देखना उस समय पुण्य का कार्य समझा जाता था।

वर्तमान समय में जीवन में ऐश्वर्य और सुख का प्रदर्शन करने के कारण व्यक्ति ऋण के बोझ में इतना अधिक दब गया है कि उसे स्वयं उसका जीवन निरर्थक लगने लगा है । संसाधनों में कमी के बावजूद राजा रजवाड़े व्यर्थ के शानों-शौकत के चक्कर में पडकर अपने जीवन को घुटन भरा बना लेते हैं । लाल साहब की स्थिति भी वैसी ही है – " यह सब कुछ मर रहा है और मुझे जिंदगी चाहिए , ऐसी जिंदगी जहाँ खुलकर साँस ले सकूँ । मगर मैं मजबूर हूँ , मुझे लाश को जिंदा साबित करते रहना है कि नहीं मैं मरा नहीं मैं अभी उतना ही प्रतापी हूँ , उतना ही दुर्दमनीय ……..।" [4] भौतिकवादी संस्कृति के कारण आज भारतीय समाज में वस्तु की कीमत व्यक्ति से बढ़कर हो गई है । जिसके पास जितने सुख-साधन की की वस्तुएँ हैं, उसे समाज में उतना ही बड़ा व्यक्ति माना जाता है।

कंठा के दोनों रियासतों में सती मैया को पूजा जाता था, किंतु सती मैया

के इतिहास भूगोल के बारे में किसी को कुछ नहीं पता था।सती मैया राय साहब के छोटे भाई की पत्नी सावित्री कुँवर थी। जिन्हें रियासत एवं संपत्ति का विभाजन न हो इसलिए जबरदस्ती सती करने की योजना बनाई गई थी। प्राकृतिक कारणों से चिता पर वृक्ष की टहनी गिर जाने के कारण सावित्री कुँवर का अर्धनग्न और अधजला शव पानी में गिर जाता है ।जिसके बाद उन्हें अनमोल मल्लाह और उनकी माँ काफी इलाज के बाद ठीक कर पाती हैं। सावित्री कुँवर जिदा बचने के बाद अपने पिता के घर जाती है, किंतु पिता ने भी कहा कि उनकी बेटी सति हो गई है, इस स्त्री को मैं नहीं जानता । समाज की इस संकीर्ण मानसिकता को अभिव्यक्त करते हुए कथाकार सावित्री कुँवर के माध्यम से कहते हैं कि -" जान जाए कि जिंदा हूँ तो थूकेंगे और मर गई तो पूजा, माई बाप भी। समाज भी। पूरा परबस्त....। हमें तो अफीम पिलायी गयी थी पर उन्हें क्या पिलाया गया था, जिसका नशा अफीम से भी खतरनाक

है।"[5] धर्म को भी अफीम कहा जाता है ,जिससे व्यक्ति की सोचने-समझने की शक्ति समाप्त हो जाती है। ईश्वर कभी भी इस प्रकार की अमानवीय व्यवहार को उचित नहीं समझते है , किंतु धर्म के ठेकेदार जनता को अंधविश्वास के बंधन में बाँधकर संवेदनाहीन बना देते हैं ।

व्यक्ति का अस्तित्व समाज से है, किंतु सती प्रथा के शिकार स्त्री अपने अस्तित्व की खोज के लिए तड़प रही है।वह समाज से अपील कर रही है कि मुझे पहचानो! मैं वही स्त्री हूँ जिसे तुमने जलाने का प्रयास किया , किंतु मैं समाज को अपने बारे में बता दूँ तो मुझे पुनः जला दिया जाएगा । मुझे मरा हुआ मान कर लोग सती मैया बनाकर पूजा कर रहे हैं, किंतु मैं देवी नहीं हूँ, मैं साक्षात मानव देह हूँ। जिसमें संवेदनाएँ एवं अनुभूतियाँ विद्यमान है,मुझे कम से कम स्त्री रूप में तो स्वीकार करो । ड़

सती मंदिर निर्माण हेतु सती हुई स्त्रियों की ऐतिहासिक पड़ताल की गई जिससे पता लगा कि हाड़ा राजा ने अपनी पत्नी का सर स्वयं काट दिया, जिससे उनकी पत्नी किसी और की ना बनने पाएँ। बूँदी की रानी, चित्तौड़ की रानी पद्मिनी का जौहर यह सभी घटनाएँ स्त्री के मान सम्मान की रक्षा की प्रतीक है, किंतु क्या जौहर ही इस समस्या का एकमात्र विकल्प था ? यह चिंतन का विषय है। सती प्रथा के ऐतिहासिक सूची बनाने के क्रम में चर्चा उत्पन्न हुई कि क्या कभी कोई राजा या पति भी कभी अपनी पत्नी के लिए आग की भेंट चढ़ा है ? इस प्रश्न के माध्यम से संजीव ने स्त्री के प्रति समाज के अमानवीय दृष्टि को चित्रित किया है। और वे समाज से प्रश्न करते हैं - "कबी जी सती की लिस्ट हो तो हो रही है , सता की भी कोई लिस्ट बनाई है आपने, मतलब वे पति जो पत्नी के मरने पर सिर काट कर मरे या आग-पानी में ? "[6] समाज द्वारा प्रेम, समर्पण तथा त्याग की अपेक्षा केवल स्त्री से ही की जाती है। पितृ सत्तात्मक विचारधारा केवल यौन सुचिता एवं वर्ग सुचिता के बारे में सोचकर स्त्री को सती प्रथा जैसे मानवीय परंपरा की भेट चढ़ा देती थी।

मुझे पहचानो उपन्यास में सती प्रथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन राजा राममोहन राय के माध्यम से संजीव ने किया है। वे कहते हैं- "सन् 1829 ई. में वायसराय विलियम बैंटिक ने राजा राममोहन राय के कहने पर सती प्रथा को रोकने का कानून बनाया था न? हाँ और राममोहन को यह पीड़ा क्यों हुई ? इसलिए ना कि उनकी भाभी को सती किया गया था और वह भाभी को बहुत मानते थे । " [7] राजा राममोहन राय ने इस कुप्रथा को बंद करने के लिए न केवल विरोध किया बल्कि शास्त्रार्थ में भी विद्वानों को पराजित किया था । सती प्रथा के कारणों की पड़ताल करते हुए कथाकार संजीव ने बताया है कि भारतीय समाज में सभी सती प्रथा के समर्थन नहीं थे, किंतु कुछ इसके विरोधी भी थे जो चाहते थे कि यह प्रथा समाप्त हो जाए। सती प्रथा के कारण के रूप में मुख्यतः संपत्ति हड़पने की भावना और यौन सुचिता तथा धार्मिक अंधविश्वास ही था ।

भारतीय महिलाएँ धार्मिक अंधविश्वास एवं कर्मकांड में विशेष आस्था रखती हैं । वर्तमान समय में भी विभिन्न कथावाचकों तथा साधू सन्यासियों की शिष्या बनकर उनके धार्मिक विचारों का प्रचार-प्रचार करने में लगी हुई है। अभी हाल में ही भोले बाबा की चरण-रज लेने के लिए मची होड़ में न जाने कितने भक्त काल कलवित हो गए । स्त्रियों पर होने वाले शोषण का जिम्मेदार कोई एक वर्ग नहीं बल्कि पूरा समाज है । जो मूकदर्शक बनकर इस प्रकार के कुकृत्यों को तटस्थ भाव से देखकर तमाशबीन बन जाता है ।

धार्मिक अंधविश्वास एवं कर्मकांडों पर विश्वास करने वाले अधिकांशतः दलित-पिछड़ी जाति के होते हैं। सती प्रथा के शिकार लोगों का वर्णन करते हुए संजीव कहते हैं –"सन् 1823 के बंगाल सरकार के पुलिस प्रतिवेदन के अनुसार उस वर्ष यानी 1823 महिलाओं के प्रति होने वाले अपराधों का मूल कारण में बंगाल में कुल 575 सतियों की खबर है। जिनमें ब्राह्मण 234, क्षत्राणी 35, सेठानी या वैश्य 14 और शूद्रा 292 बताई जाती है । " [8] इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि शूद्र ज्यादा धर्मपरायण होते हैं और इन कुप्रथाओं के सर्वाधिक शिकार भी।

महिलाओं के प्रति होने वाले अपराधों का मूल कारण पुरुषों के संस्कार है। जो उन्हे अपने परिवार से मिलता है। पुरुषों के अंर्तमन में प्रत्येक स्त्री के प्रति मान-सम्मान का भाव होना चाहिए,किंतु समाज में विभेद विद्यमान है । इसलिए महिलाओं के प्रति अपराध होते हैं । कथाकार संजीव ने अपने उपन्यास मुझे पहचानो के माध्यम से समाज से एक अपील की हैं कि पुरुषों को अपनी मानसिकता में परिवर्तन करना होगा तभी समाज में महिलाओं को एक सुरक्षित वातावरण प्राप्त होगा –" हमने हजार परदे, पहरे बिठा दिये, घूँघट नकाब और बुरके और लक्ष्मण रेखाओं में जकड़ दिया.....पर खुद को.....खुद को मुक्त रखा ? " [9] यह मुक्ति ही पुरुषों को अपराध करने की छूट देती है। इसलिए पुरुषों को भी अपने अंदर महिलाओं के प्रति सम्मान की भावना को विकसित करना होगा ।

सती प्रथा को समर्थन स्त्री-पुरूष,माता-पिता,पुण्यार्थी,धर्म,परम्पराएँ तथा पूरा समाज देता है।इसलिए अलोक मंजरी के सतीदाह का हैल्युलेशन-मंचन के समय सावित्री कुँवर स्वयं अलोक मंजरी के रूप में मंच पर आकर लोगों से अपने अस्तित्व की पहचान की माँग करती है कि मुझे पहचानो- सैकड़ो वर्षों से जलाई जाती रही धर्म और परंपरा की बेदी पर सैकड़ो वर्षों से । पर इसकी जिद देखिए यह मरी नहीं, जिंदा है।जलने के दाग- यें यें यें यें । " [10] स्त्रियों के शोषण की यह कहानी आज भी दूसरे रूप में समाज में प्रचलित है।ऑनर किलिंग , मॉब लीचिंग तथा डायन प्रथा जैसी कुप्रथाएँ आज भी भारतीय समाज में विद्यमान है । अतः उन्हें दूर करने के लिए सामाजिक जागरूकता शिक्षा एवं संस्कारों में परिवर्तन की महती आवश्यकता है।

भारत धर्मनिरपेक्ष देश है , किंतु सबसे अधिक मंदिर , मस्जिद ,

गुरुद्वारे तथा चर्च यहीं पर है। ये धर्मस्थल व्यक्ति के आस्था के सूचक है। अर्थ तंत्र की लूट तथा धर्म के ठेकेदार स्वार्थ के कारण इन पवित्र स्थलों को भी अपने लालच के कारण सौदेबाजी करने से बाज नहीं आ रहे है। सती प्रथा के केंद्र बिंदु में सामाजिक कारण जो भी हो किंतु धर्म के आड़ में सती मैया या दूसरे और भी देवी देवताओं के नवीन धर्मस्थल निर्माण का मूल कारण आर्थिक है। भारतीय जनता की धर्मांधता का वर्णन करते हुए कथाकार संजीव कहते हैं "अपने देश में खुद को, खुद के बाल बच्चों को बेच कर भी धरम के नाम पर सब कुछ न्यौछावर कर देने की परंपरा रही है।" [11] धार्मिक कर्मकांडों और आडंबरों में आस्था के कारण भारतीय जनता का शोषण हो रहा है ,लेकिन उन्हें इस बात की आहट तक नहीं है।

मंदिरों के नूतन निर्माण कार्य में ही सती मैया के विशाल मंदिर बनवाने का सुझाव दूबे जी राय साहब को देते हैं। जिसमें देश भर की सती मैया के थान की मिट्टी से विशाल मंदिर का निर्माण होगा। मंदिर निर्माण के पाँच स्रोत का उल्लेख करते हुए सभी पॉच सुझाव देते हैं - 1. नई पुरानी सतियों की भूमि की मिट्टी 2. पंचकन्याओं के पीठ की मिट्टी 3. सभी पवित्र नदियों तथा कुंडों का जल 4. सभी हिंदू , जैन , सिख बौद्ध धार्मिक स्थलों की मिट्टी 5. विश्व की सुंदर इमारतों के वास्तुशिल्प से मॉडल को चुनना। वैश्विक भूखमरी सूचकांक 2023 में जो देश 111वीं रैंक पर हो , वहॉ पर जनता की क्षुधापूर्ति का उपाय प्रशासन को करना चाहिए ।जिस तन में ईश्वर निवास करते हैं , उनकी सेवा और कल्याण के स्थान पर केवल निर्जीव मंदिर के निर्माण , रख -रखाव एवं दान-पात्र पर ही धर्म के ठेकेदारों और सरकार का ध्यान है। वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप से धन की उगाही से राजकोष भरता है।

मुझे पहचानों उपन्यास में राजनीतिक यथार्थ को उजागर किया गया हैं। राय साहब राजनीति के क्षेत्र में जाना चाहते है। समाज में नेताओं को विशेष प्रतिष्ठा तथा मान सम्मान प्राप्त है। वे एम.पी. या एम.एल.ए. बनना चाहते है , किंतु ऊँची जाति की पार्टी टिकट के लिए करोड़ों रुपयों की माँग करती है। एक करोड़ देना होता तो वे दे भी देते किंतु पॉच करोड़ की व्यवस्था करने में वे असमर्थ थे। राजनीति में किसी भी पार्टी की कोई वैचारिक सिद्धांत नही है। जिसे कथाकार संजीव ने चित्रित किया है – सुनोगे पहले , तिरंगे में गये नही मिला , फिर भगवा में गये नहीं मिला , फिर साइकिल में गये नहीं , हाथी में गए नहीं मिला , हँसुआ हथौडा तारा में गये नहीं , आखिर में हमसे कहाँ कि नक्सलियों की कोई पार्टी है उसी में चले जाते है। आश्चर्य उन्हे कोई दिक्कत नहीं हुई और पार्टियों को भी कोई दिक्कत नहीं हुई।"[12]

भारत लोकतंत्रात्मक देश है , किन्तु आज उसकी आत्मा कराह रही है। पहले राजनीति देश सेवा का माध्यम थी , लेकिन आज व्यवसाय बनकर देश का दोहन एवं शोषण करने के अवसर में परिवर्तित हो गया है। पूँजीपतियों के अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप से राजनीति जनता का हितसाधक न होकर उनके हित की विरोधी बन गयी है। राजनीतिक दलों को चुनाव जीतने के लिए एक मोटी रकम की दरकार होती है। जिसे पूँजीपति वर्ग अपने शर्तों पर देते है। आज राजनीतिक दल आर्थिक रुप से पूँजीवादी एवं वर्चस्ववादी औद्यौगिक क्षेत्र की गुलाम बनकर रह गयी है। ये पूँजीवादी तंत्र भारतीय शासन-प्रणाली में नीति-निर्माता बन गये है ,जिससे जनता आहत है - " पार्टियों के पीछे-पीछे कुत्ते की तरह दौड़कर क्या हासिल होगा ? जिसके पास पैसा है , देश उसकी जेब में , कानून उसकी जेब में। वही पार्टियों को आँख के इशारे से उठाता-बैठाता है। पार्टियाँ बदल जाती है, वो नहीं बदलता, पार्टियाँ मर जाती है , वो नहीं मरता "[13] वर्तमान समय में राजनीति पर अर्थतंत्र हावी है। सरकार जिस भी राजनीतिक दल की बने। सत्ता के साथ ये पूँजीपति तथा उद्योगपति जुड़कर देश को चलाने का कार्य करते हैं।

इस प्रकार कथाकार संजीव ने मुझे पहचानो उपन्यास के माध्यम से भारत की अंतिम सती के रूप में जाने जाने वाली सावित्री कुँवर के माध्यम से सती प्रथा की जड़ को अपनी लेखनी के माध्यम से ऐतिहासिक पड़ताल के रूप में चित्रित किया है। इसके माध्यम से संजीव ने भारतीय समाज की परंपरावादी पितृ-सत्तात्मक मानसिकता का चित्रण किया है। उन्होंने सती प्रथा जैसी को कुप्रथाओं का उल्लेख करते हुए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, भारतीय धार्मिक अंधविश्वास से परिपूर्ण लोक आस्था एवं बौद्धिक पाखंड का निरूपण करने का प्रयास किया है। राय साहब तथा लाल साहब का संपत्ति के लिए झगड़ा, रतनापट्टी में रत्न का न मिलना, कुलदेवी के माध्यम से कंठा की स्त्रियों के यौन शोषण, राय साहब की राजनीति में रूचि, धार्मिक अंधविश्वास एवं कर्मकांड का वर्णन हुआ है। सती प्रथा के मूल कारण की पड़ताल करते हुए उसके जड़ में धार्मिक आस्था, यौन सुचिता एवं संपत्ति हड़पने की इच्छा मुख्य कारण है।

संदर्भ सूची –

1. संजीव, मुझे पहचानो, हेतु प्रकाशन, नोएडा, उत्तर प्रदेश,संस्करण-2020, पृ.सं.- 30
2.वही,पृ.सं.-37
3.वही,पृ.सं.-39
4.वही,पृ.सं.-43
5.वही,पृ.सं.- 60
6.वही, पृ.सं.- 123
7.वही,पृ.सं.-107
8.वही,पृ.सं.- 153
9.वही,पृ.सं.- 172
10.वही, पृ.सं.- 175
11.वही, पृ.सं. – 93
12.वही, पृ.सं.-68
13. वहीं, पृ.सं.-76

*****

'जहरीली जडे': मानवीय संवेदनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति

-प्रो. रामाश्रय सिंह
हिन्दी और अन्य भारतीय भाषा विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी (उ0प्र0)
मो.9555692184
ई–मेलः *ramashryasingh@gmail.com*

रूपनारायण सोनकर जी के लेखन में मानवीय रिश्तों, जीवन स्थितियों, मनुष्य मन की अंदरूनी प्रकोष्ठों का एक बेहतरीन संसार है। इन्होंने जहरीली जड़ों के माध्यम से मानवीय जीवन की स्थितियों, विडम्बनाओं, मोहभंगों और मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्यों को ज्यादा लिया है। उनकी कलम की दुःखती रग है।

मानवीय समाज विकसित होने के साथ–साथ दिनों–दिन और ज्यादा अमानवीय क्यों होता जा रहा है। इन्हें सहेजने के लिए हम अपनी मूल सोच, दर्शन और परम्पराओं की ओर किस तरह लौट सकते हैं? यहीं इनके लेखन का प्राणतत्व है।

सचमुच गाँवों में मिट्टी के घरों में रहते हैं। अधिकतर मजदूर हैं। मेहनत, मजदूरी करके अपने बाल–बच्चों का भरण पोषण करते हैं। जाड़ों में इसके पास तन ढकने एवं ओढ़ने के लिए कपड़ें व रजाइयाँ नहीं होती है। पुवाल की रजाई बनाकर पूरी सर्दी परिवार के साथ काट देते हैं। दबंगों द्वारा बेगार करवायी जाती है। बेगार न करने पर उनकों मारा पीटा जाता है। मंदिरों की सफाई तो करा लेते हैं, ले. किन धार्मिक अनुष्ठानों में इनकों भाग लेने से वंचति कर दिया जाता है। पर रूपनारायण सोनकर जी तमाम धूल कणों के बावजूद जीवन दायनी देने का एहसाह कराते हैं। जहरीली जड़ें की प्रत्येक कहानी सत्य का आभास कराती है जो सत्य का वहन करती हैं। समाज की विषमताओं, विसंगतियों, और विद्रुपताओं को उद्घाटित करती हैं।

रूपनारायण सोनकर जी को जब कोई ऐसी संवेदना का पारस स्पर्श मिलता है तो उनकी कलम उठ जाती है। लेखक बहुत अच्छा लिख रहे हैं। जीवन की जटिलताओं को वे जिस तरह अभिव्यक्त कर रहे हैं, सराहनीय है। वे बहुत ही गहरी संवेदना में ले खन कर रहे हैं। वह अस्थायी रूप से चौंका भले दें पाठकों को, ले. किन कुछ मूल्यवान तो अवश्य ही है। लेखक मानवीय जीवन से जुड़े स्थायी मूल्यों पर केन्द्रित लेखन से साहित्य को समृद्ध करने का प्रयास बहुत ही बेहतर ढंग से कर रहे हैं। साहित्य में परिवर्तन लाने की बात तो वह तभी संभव है जब हमारा स्वयं का दृष्टिकोण बदले।

हम मन से अपने निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्रीय और मानवीय हित में सोच सकें। कहना नहीं होगा सोनकर जी विकृत व्यवस्था, भ्रष्ट तंत्र, विकलांग लोकतंत्र और अमानवीय समाज के त्रासक को हीरालाल के माध्यम से व्यक्त किये हैं। हीरा गाँव का नाम के हीरा नहीं बल्कि हीरा है। उसके पिता राजगीर हैं। जो किसी के जागीर से कम नहीं हैं। लेकिन दुःख है कि वह दलित है। वास्तविक अर्थों में जिसे आम आदमी कहा जाता है। उस विकृत समाज की परत दर परत खोलने का साहस सोनकरजी की रचना में है।

परम्परागत अपेक्षाओं को नकारते हुए साहित्य का नहीं अपने समय का साथ दिया है। दलित, उत्पीड़ित, अपेक्षित और त्रस्त समाज का साथ दिया है। उनकी चेष्टाओं ने समाज की कुरूपता के प्रति चिन्तन मनन के लिए आम पाठक को उद्वेलित और उत्प्रेरित किया है। ऐसे में बिना किसी दिखावट के सहज सरल बेमिसाल निश्चल धारा की तरह बहते हुए लेखक की जहरीली जड़ें सबको सोचने के लिए मजबूर करती है। देखो, ठहरो तब जाओ। नहीं तो उपेक्षित ही रह जाओगे। जैसे–

दिल साफ होने के कारण उनकी सिधाई, सज्जनता का फायदा अक्सर लोग उठाया करते थे।[1] इस उदाहरण से सबसे पहले निर्णय कर लेना चाहिए कि सब इंसान समान हैं, न तो कोई जन्म से भिन्न पैदा हुआ है और न कोई विभाजन से। अर्थात् एक आदमी गरीब मेहतर के घर पैदा हो गया है। इसलिए जीवन भर मैला ही साफ करेगा और दुनिया में किसी तरह के विकास पाने का उसे हक नहीं है ये बाते फिजूल है।[2] सोचिए लेकिन उन्होंने बड़ा पाप किया। मानव के भीतर की मानवीयता को समाप्त कर दिया। आत्मवि"वास और स्वालम्बन की भावनाओं को समाप्त कर दिया। बहुत दमन और अन्याय किया। आज उस सबके प्राय"चित का वक्त है। उदाहरणार्थ–निर्दयी मास्टर। हरामी की औलाद बच्चे को मारता है।[3] मेरा मानना है कि गाँवों में आज आर्थिक स्थिति में दलित और गैर दलित में ज्यादा अन्तर नहीं है। लेकिन जो गैर दलित गाँवों में केवल खेती पर निर्भर हैं नौकरी नहीं करते हैं उनकी आर्थिक स्थिति खराब हुई है। लेकिन उनके मन मे अब भी ऊँच नीच, छुआछूत की भावना कायम है। वही भगत सिंह की भावुक अपील ठीक लगती है। अछूत कहलाने वाले असली जन सेवक उठों! अपना इतिहास देखो। गुरूगोविंद सिंह की फौज की असली शक्ति तुम्हीं थे। शिवाजी तुम्हारे भरोसे पर ही सब कुछ कर सके, जिस कारण उनका नाम आजे भी जिन्दा है। तुम्हारी कुर्बानियाँ स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई है। तुम जो नित्य प्रति सेवा करके जनता के सुखों में बढोत्तरी करके

और जिन्दगी संभव बनाकर यह बड़ा भारी अहसास कर रहे हो। उसे लोग नहीं समझते।[4] वैसे बहुत से दलित ऐसे हैं जो भलाई के काम करने वालों को भी नहीं पहचान पाते। कुछ दलित अज्ञानव''ा अत्याचारी गैर दलितों का साथ देने लगते हैं। मेरा मानना है कि रूपनारायण सोनकर जी समाज में जातिवाद, छुआछूत, ऊँच–नीच और धार्मिक पाखण्डता की जहरीली जड़ें फैल चुकी है। वे अपने जीवन से उन जड़ों को मानवता एवं समानता की कुल्हाड़ी से काटने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ हीरालाल मन में सोचता है–क्या मैने जातिवाद भेदभाव, ऊँच नीच छूआछत और धार्मिक पाखण्डता की जहरीली जड़ों को खोल दिया है जो विचारों की गन्दगी में छिपी हुई है।[5] क्या हम अपमान की कुल्हाडी से इन जहरीली जड़ों को काट पाऊँगा जो समाज को बहुत मजबूती से जकड़े हुए हैं।[6]

कहना नहीं होगा गाँव के ब्राम्हणों के लड़के–लड़कियाँ रामच. रित मानस का अखण्ड पाठ करने लगे। ब्राम्हण लड़के–लड़कियों के साथ हीरालाल भी रामचरित मानस की चौपाई पढ़ने लगा। हीरालाल को अखण्ड पाठ करते देख आग बबूला हो गये। इस अछूत को रामायण की चौपाई पढ़ने का कोई अधिकार नहीं है। यह अखण्ड पाठ खंडित हो जायेगा। उसने हीरालाल को डॉटते हुए कहा–– यहाँ ले खक की वैचारिक आधारभूमि को समझने के लिए उसने जीवन की राह में आने वाले विभिन्न पड़ाव ही उसे चिंतन के स्तर पर परिपक्व बनाते हैं। उसे वैचारिक दिशा प्रदान करते हैं। यही उसके व्यक्तित्व की विशाल यात्रा भी है। परिवार, समाज, समाजिक सोच आदर्श और उपलब्धियों के साथ सृजन कर्म, इनके बीच से एक तस्वीर बनती है। जो लेखन कर्म और व्यक्तित्व का परिचय देती है। यही कारण है कि रूपनारायण सोनकर जी जहरीली जड़ों की कहानी लिखकर अपने समय और समाज का दस्तावेज तैयार किये हैं। कहानी में जो प्रसंग है केवल स्मृतियों में डूबने के लिए ही नहीं है, बल्कि ये हमारे हिन्दुस्तान के गाँवों की तस्वीरें हैं। व्यवस्था गत कमजोरियों का लेखा–जोखा है। विशेषकर गाँवों में जातिगत सामाजिक ढांचा और शिक्षा के प्रति व्यवस्था जनक उदासीनता को इंगित करता है। एक वास्तविक संकट की ओर रूपनारायण सोनकर जी संकेत करते हैं। वे ग्रामीण संस्कृति के मुकम्मल चित्र को खींचे हैं। जो पाठकों के सामने गंभीर प्रश्न उपस्थित करते हैं। मेरा मानना है इनकी कहानियों में ग्रामीण मजदूर समाज का मार्मिक चित्र है। जो सच्चाई को व्यक्त करता है। जो उनकी चिन्ताओं को रेखांकित करता है। साहित्य में ऐसी कहानी कम लिखी गयी है, पर सोनकर जी को महानता हासिल है। गाँव की बेवसी की उनके मन में गहरी छाप है। जितनी बारीक जानकारियाँ उन्होंने दी हैं उन्हें किसी भी पाठक को जानना जरूरी है। जहरीली जड़ें इन्हीं विशिष्टताओं का गुलदस्ता हैं। जो आजीवन महकता रहेगा। कहानी बेहद मार्मिक और संवेदना से भरपूर है। यह कहना जरूरी है कि सोनकर जी के पास किस्सों का अद्भूत खजाना है, बेहद चुटीली और फुदकती भाषा में लिखे गये कहानी संग्रह केवल उनके ही नहीं बल्कि उस समाज और समय को समझने के लिए जरूरी दस्तावेज भी है। उदाहरणार्थ ''गरीब बच्चे किसी भी काम को करने में शरमाते नहीं है। दूसरों की मुसीबत और परेशानी अपने ऊपर ले लेते है। ऐसे ही बच्चे देश के भविष्य होते हैं। यही बच्चे देश को मजबूत वैभवशाली और गौरवशाली बनाते है।[7] दरअसल जब किसी पात्र की कहानी कही जाती है। वह अकेले पात्र की नहीं होती उसके जीवन पर सबकी छाप होती है। इन सबके बीच से ही हमें जीवन को दे खने का नजरिया मिलता है। सोनकर जी की कहानी जहरीली जड़ों की यात्रा अनूठे शिल्प की कथा है। पाठक को पढ़ते हुए अनायास अलग-अलग तरह से सोचने वाले लोगों के मानसिक द्वंद्व को भी उजागर करती है। उनकी कहानी हमें बताती है कि जब संवेदनाए और मनुष्यता तक लुप्त होने की कगार पर है तो ''हीरा''वह कड़ी है जो इस दुनिया को फिर से खूबसूरत बना सकता है।इनकी कहानियों में बहुआयामी विविध वर्णों जीवन के कई रंग है, चटकीले, धूसर और बदरंगी भी, लेकिन जीवन हर जगह। धड़कता है। जहाँ जहाँ जीवन धड़कता है वहाँ–वहाँ से कहानियाँ आती रहेंगी। कहानी मनुष्य की सहधर्मी है। जहरीली जड़ें कहानी पढ़कर मेरे भीतर बरबस–गोर ख पांडे की पंक्तियाँ कौंध जाती हैं–

ये आखें हैं तुम्हारी
तकलीफ का उमड़ता हुआ समुन्दर
इस दुनिया को
जितनी जल्दी हो
बदल देना चाहिए।

(कथाक्रम/जुलाई सितम्ब्र, 2025 पृ0 72)

यह कहानी मूल कथा के अतिरिक्त अनेकानेक सूक्ष्म स्थितियों का विवरण भी लिये हैं। कदम कदम पर विसंगतियों से जूझना पड़ता है। उन्मुक्त जीवन के जादुई मोहपाश पागल बना देते हैं। बहुत कुछ छीन भी लेते हैं। जैसे हीरालाल का रंग गोरा, कद गठीला और छोटा था। मास्टर उसको प्यार से बन्टवा करकर पुकारते थे।[8] हीरालाल गरीब की मार झेलना बचपन से ही सीख गया था। रोटी के लिए कैसे संघर्ष किया जाता है वह जान गया था। इससे जाहिर हो जाता है, कि कहानी छोटी है। लेकिन कथ्य की सघनता और शिल्प की सुघड़ता के कारण कहीं भी पाठक को बोझिल नहीं होने देती।

कहना नही हागा रूपनारायण सोनकर जी भारतीय कहानी के धरोहर हैं। वे कहते हैं कहानी हमारी आत्मा है। कहानी का कैनवास एक विशाल पर्वत है; जो परम्परा को विश्व के साथ जोड़ा है। उनकी लेखनीय आज भी एकता की मिसाल है। जो पाठकों को झकझोर रही है। रूपनारायण सोनकर जी हिन्दी जगत के एक अनमोल सितारे हैं, सांस्कृतिक के दीपक हैं। जहाँ उनके कार्य ने सीमाओं, भाषाओं और संस्कृतियों को लाँघकर मानव जीवन की

संवेदनाओं को स्वर दिया है। मैं कहना चाहता हूँ कि वे एक रंग वैज्ञा. निक हैं। उन्होंने अपनी लेखनीय को एक अनुपम कार्यशाला के साथ–साथ प्रयोगशाला भी बनाया है। उनका मंच वह पवित्र स्थल हैं। जहाँ मानवीय अनुभवों का कच्चा स्पंदन एक अनुपम सत्य और सौन्दर्य के रूप में सावंदित हुआ है। उनकी रंगमंचीय प्रस्तुतियाँ केवल नाटक नहीं है। अपितु युद्ध, पहचान और मानवता की अनंत खोज पर गहन चिंतन है। उनके नाटक अशांत, सामाजिक राजनैतिक परिदृश्य का दर्पण है। जो आज भी बेजोड़ है। जो मानव महत्वाकांक्षा और त्रासदी की शा"वत को उजागर करता है। सोनकर जी कवेल रंगमंच निर्माता नहीं हैं। वे एक दार्शनिक विद्रोही स्वप्न दृष्टा हैं। इन्होंने सामाजिक परिवर्तन का रंग मंच तैयार किया है। सोनकर जी की कहानियों को पढ़ना एक नये अविष्कार को पढ़ना है। उन्होंने लोगों को प्रेरित किया। जितना साहस पूर्वक स्वप्न देखने का साहस करेगा उतना साहस दिया है। क्योंकि आपकी विरासत एक शाश्वत ज्योति है। आपकी कहानियों के नायक याद किये जाते हैं? इस लिहाज से कि बहुत सी स्मृतियाँ सतह पर आ जाती हैं। समाज की सभी महत्वपूर्ण किरदार इनकी कहानियों में उपस्थित हैं। कथानक भाषा शैली और परिवेश की नव. ीनतम् इन संग्रह की प्रमुख विशेषताएँ हैं। आने वाले समय में यह संग्रह हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मील की पत्थर साबित होगा। कहानी को सिलसिलेवार शामिल करना मस्तिष्क में साफ–साफ तरीके से अंकित हो जाती है। साथ ही साथ पाठक के मस्तिष्क में गाँव का खाँचा सा बन जाता है। हर खाँचे में वास्तविक परिस्थिततयाँ सटीक बैठ जाती है। मानों उसमें धंस सी जाती हैं। क्योंकि यहाँ–जहाँ अंधेरी गुफाएँ हैं। घनघोर बीहड भी है। तलवों को लहू लुहान करती शिलाए भी हैं। उग्रता के वीभत्स चित्र भी हैं। जीवन के संवेदनात्मक निर्मल प्रकाश भी हैं। वहाँ तक इनकी कहानी की संवेदना है। जो कला की अभिव्यक्ति देती है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि जहरीली जड़ें भ्रांतियों को खंडित करती नयी आख्यान है। इतिहास बदला! व्यवस्था बदली! समाज के तेवर बदले! लेकिन संवेदनाओं में कोई बदलाव नहीं आया। यह सोचनीय विषय है। सोनकर जी आज भी सदियों के इतिहास की गवाही दे रहे हैं। इनकी गवाही रोम हर्षक है। यह कांटो पर चलने या अंगारों पर लोटने जैसी है। सेना के कमांडो प्रशिक्षण से कहीं अधिक यातना पूर्ण और कठिन है। लेखक द्वारा जहरीली जड़ों का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण प्रयास है। एक रोचक कथा का वितान खड़ा कर उन्होंने तथ्यों का कुशल गुंफन किया है, जो सराहनीय है। पुस्तक पाठक को जहरीलीं जड़ों की यात्रा पर ले जाती है। पर कहीं भी रोचकता का अभाव नहीं है। रूपनारायण सोनकर जी की कहानियाँ रचनाशीलता के सारे मानकों के सांचों को तोड़ती है। क्रूर गैर दलितों द्वारा ढाए गये अत्याचारों की जीवन्त गाथा है। बाबा साहब के हाथ में संविधान की पुस्तक व उनकी अन्य रचनाएँ यह संदेश देती हैं कि इस कृति में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं न्याय व्यवस्था समायी हुई है। जो प्रत्येक मानव के लिए कल्याणकारी है। रूपनारायण सोनकर जहरी जड़ों के माध्यम से समाज में फैली जातिवाद छुआछूत, ऊँच–नीच और धार्मिक पाखंडता जैसी जहरीली जड़ों को कतरने का नहीं बल्कि मूल से समाप्त करने का सार्थक प्रयास किया है।

संदर्भ सूची–

1.जहरीली जड़ें– रूपनारायण सोनकर, पृ0 11.
2.भगत सिंह की दृष्टि में अछूत समस्या–कंवल भारती कथाक्रम/जुलाई सितम्बर, 2025, पृ0 40
3.जहरीली जड़ें–रूपनारायण सोनकर, पृ0 15.
4.भगत सिंह की दृष्टि में अछूत समस्या कंवल भारती कथाक्रम/जुलाई सितम्बर, 2025, पृ0 49.
5. जहरीली जड़ें–रूपनारायण सोनकर, पृ0 16.
6. वही, पृ0 16.
7. वही, पृ0 15.
8.जहरीली जड़े–रूपनारायण सोनकर–पुस्तक से।

*****

दक्षिण एशिया में नृजातीयता की समस्या: पाकिस्तान के विशेष संदर्भ में

- पूजा
शोधार्थी,
राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्लीईमेल:
poojascholar26@gmail.com
फोन : 9958714006

सारांश

नृजातीय, भाषाई तथा धार्मिक बनावट के मामले में पाकिस्तान काफी विविध समाज है| दक्षिण एशिया में नृजातीयता की समस्या एक ज्वलंत समस्या है| पाकिस्तान नृजातीय रूप से काफी विविध राष्ट्र है| इसके जन्म के समय से ही नृजातीय शक्तियाँ इसके लिए एक बड़ी समस्या बनी हुई है| हालाँकि पाकिस्तान का निर्माण इस्लाम के आधार पर हुआ, जिसने भारतीय मुस्लिमों को एकताबद्ध किया और फलस्वरूप 'द्वि राष्ट्र सिद्धांत' के आधार पर पाकिस्तान का जन्म हुआ, किन्तु पाकिस्तान के निर्माण के साथ ही जल्द ही नृजातीयता ने इस्लाम से ज्यादा महत्व प्राप्त कर लिया और यह देश को चलाने वाली एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरकर सामने आई| नृजातीय राष्ट्रवाद की समस्या आज बहुजातीय तथा बहुसांस्कृतिक राज्यों में अपनी जड़े जमा चुकी है| परिणामस्वरूप नृजातीय राष्ट्रवाद की समस्या ने ना केवल राज्य केन्द्रित नीतियों पर प्रभाव डाला, बल्कि इसने सांस्कृतिक परंपरा, राजनैतिक अर्थव्यवस्था, आधुनिकीकरण, शहरीकरण तथा विकास जैसी अवधारणाओं को भी जटिल बना दिया है|

मुख्य बिंदु

पाकिस्तान, नृजातीयता, राष्ट्रीय एकता, धर्म, समस्या|

प्रस्तावना

दक्षिण एशिया में नृजातीयता ने उपनिवेशवाद के बाद आई आधुनिकता के जरिये प्रवेश किया| शरूआत में लोगों के मन में राष्ट्रवाद की भावना पनपी, परन्तु नव स्वतंत्र राष्ट्रों के निर्माण के बाद यह भावना बहुजातीय देशों में नृजातीय राष्ट्रवाद की समस्या के रूप में प्रकट हुई| आज विश्व का लगभग हर देश तथा नागरिक समाज बहुसंजातीय समाज है, जहाँ सामाजिक, राजनैतिक तथा जातीय असमानता की झलक दिखाई देती है, जिसके कारण लोगों ने धर्म, भाषा, संस्कति तथा नृजातीय से संबंधित अनेक विवादों को जन्म दिया है|[1] आज भी भारत में धर्म, भाषा, जाति तथा नस्ल जैसी अवधारणाएं नृजातीय आन्दोलनों के उद्भव का कारण बनी हुई है, वहीं श्री लंका में तमिलों व सिंघलियों के बीच नृजातीय हिंसा की समस्या जगजाहिर है| नृजातीय राष्ट्रवाद की इस लहर ने धीरे-धीरे भारत, श्री लंका, ब्रिटेन कनाडा, रूस, स्पेन तथा अमेरिका, एशिया व अफ्रीका महाद्वीप के अनेक देशों अपनी पकड़ बना ली है|[2] देश की आने वाली सरकारों ने इन नृजातीय ताकतों को राज्य व्यवस्था में समायोजित करने तथा राजनैतिक रियायत देने के बजाय इनका दमन करके इनके विकास के रास्ते में बाधाएं उत्पन्न की| 1980 का वह दशक जब पाकिस्तान अपने इतिहास के सबसे लंबे सैनिक शासन की अंग में झुलस रहा था| तब नृजातीय विषमता और सांस्कृतिक बहुलता को पूरे देश के लिए एक बड़ा खतरा मानते हुए देश के शासकों ने धार्मिक समानता पर बल दिया| नृजातीय विषमताओं को मान्यता, प्रांतीय स्वायत्तता, शक्ति हस्तांतरण, विकेंद्रीकरण, पूरे देश के लिए बराबर नीति निर्धारण जैसी मांगो को नकारा अथवा अनदेखा किया गया| इफ्तिखार मलिक का तर्क है कि 'पाकिस्तान की स्थापना से ही नृजातीय विषमताओं और सांस्कृतिक बहुलवाद को पूरे देश हेतु एक भय के रूप में देखा गया'[3]

नृजातीयता का अर्थ एवं परिभाषा

'नृजातीय' शब्द अग्रेजी के सर्वप्रथम ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में 1953 में इस्तेमाल हुआ है, जिसका शाब्दिक अर्थ ग्रीक भाषा के 'एथनोस' से लिया गया है, जिसका अर्थ है सामान्य पहचान, जिसमें विभिन्न भाषा समूह अपने आप को दूसरे भाषा समूह से जाति, भाषा, संस्कृति या धार्मिक रूप से अलग- थलग समझते है|[4] नृजातीयता से हमारा अभिप्राय 'एक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के उस समूह से है जो कि अपनी जाति, नस्ल, रंग, रक्त संबंध, संस्कृति और राष्ट्र के साथ एक-दूसरे से संबंधित होते है| वे अपने आस-पास के वातावरण से अपने आपको व अपने जन समुदाय को पृथक बनाए रखते है और अपने अस्तित्व की रक्षा करते है|' साधारण अर्थो में नृजातीय या एथनिक समूह का संबंध एक नस्ल विशेष से होता है, परन्तु जब एथनिक समूह समुदाय अथवा किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होते है तो ये संस्कृति के साधारण को प्रभावित करते है| सामान्य रूप से नृजातीयता, ग्रीक भाषा के 'एथनोस' से लिया गया है, जिसका अर्थ है सामान्य पहचान| अर्थात् गैर-ईसाई राष्ट्र या वे लोग जिनका ईसाई या यहूदी धर्म में परिवर्तन नहीं हुआ है| इस शब्द का प्रयोग, उन बड़े समूहों के संदर्भ में भी किया जा सकता है जिसमे लोगों का एक समूह अपने आप को दूसरे समूहों से भाषा, जाति, संस्कृति या धर्म किसी भी आधार पर पृथक समझता है| नृजातीय शब्द सामान्य रूप से सामाजिक एकता का स्पष्ट उल्लेख करता है जो एक पृथक और सामान्य भाषा पर आधारित है| इस शब्दावली का प्रयोग सामाजिक वर्ग के नृजातीय या राष्ट्रीय अल्पसंख्यक समूह तथा समाज के सांस्कृतिक और सामाजिक समूहों को दिखाने के लिए भी किया जाता है| कुछ लोगों के अनुसार नृजातीय समूह में आदिकालीन संबद्धता और जुड़ाव

पाया जाता है| उनके अनुसार यह वह पहचान है जिसके साथ मनुष्य का जन्म होता है अर्थात् कुछ नृजातीय लोग समूह के रूप में वंश की पहचान है| 'नृजातीय-समूह' का शाब्दिक अर्थ राष्ट्र से है, और 'नृजातीयता' की उत्पत्ति इसी शब्द से हुई है| परन्तु 'नृजातीयता' का अर्थ राष्ट्रीयता से नहीं जोड़ा जाता| नृजातीयता का अर्थ लोगों के एक समूह से लगाया जाता है, जिसकी प्रकृति इसकी प्रजाति, वंश और संस्कृति के आधार पर विशिष्ट प्रकार की कही जा सकती है| नृजातीयता का तात्पर्य नृजाति समूह के बीच अंतर्संबंधो से है| कोहेन (1974) में सामाजिक समूहों के बीच काम कर रहे संस्कृति समूहों के बीच बातचीत' की प्रक्रिया के रूप में नृजातीयता को परिभाषित करता है|[5] जॉन एरिकसन का मानना है कि नृजातीयता की पहचान को हमेशा उसी के संबंध में परिभाषित किया जाना चाहिए जो वो नहीं है, अर्थात् नृजातीयता को अन्य समूहों के साथ सांस्कृतिक अंतर के साथ समझा जाता है| नृजातीयता किसी विशेष जातीय समूह के व्यक्ति या समूह के अपनेपन की भावना है| तरह समूह के एक व्यक्ति के रूप में आप सांस्कृतिक चिन्हों को साँझा करते हो जो आपके समूह को दूसरो से अलग बनाते है, इसलिए उस समूह पहचान की भावना को नृजातीयता कहते है|[6]

पाकिस्तान में नृजातीय राष्ट्रवाद का उदय एवं पृष्ठभूमि

पाकिस्तान नृजातीय एवं भाषाई रूप से काफी विविध राष्ट्र है| परन्तु इसके जन्म के समय से ही यहाँ नृजातीय ताकते इसके लिए एक बड़ी समस्या बनी हुई है| हालाँकि पाकिस्तान का निर्माण इस्लाम के आधार पर हुआ, जिसने भारतीय मुस्लिमों को एकताबद्ध किया और फलस्वरूप 'द्वि राष्ट्र सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान का जन्म हुआ| देश के इन नृजातीय राष्ट्रवादी समूहो ने धीरे- धीरे देश की शक्ति संरचना में हिस्सा लेना शुरू किया और द्वि राष्ट्र सिद्धांत के आधार पर भारत से पृथक हुए इन नृजातीय राष्ट्रवादी समूह ने पाकिस्तान में जल्द ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया और देश की शक्ति संरचना से जुड़ गए| पाकिस्तान में नृजातीय समस्या ने ना केवल वहाँ के राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया एवं लोकतंत्र को नुकसान पहुँचाया बल्कि आर्थिक विकास को भी बाधित किया| जब 1947 में पाकिस्तान अस्तित्व में आया, तब वह दो भागो में विभक्त था- पहला पश्चिम पाकिस्तान एवं दूसरा पूर्वी पाकिस्तान| पश्चिम पाकिस्तान में विभिन्न जातीय समूह विघमान थे जिसमें - पंजाबी, पख्तून, सिंधी, बलूच एवं मुहाजिर प्रजातियाँ निवास करती है| ये जातीय समूह पूर्णतया एक दूसरे से पृथक थे और पृथक-पृथक संस्कृतियों तथा भाषाओं को मानने वाले थे|[7]

पाकिस्तान हालांकि एक बहुल जातीय तथा बहुल सांस्कृतिक राज्य है, किन्तु इसके बावजूद यहाँ नृजातीय राष्ट्रवाद को राज्य ने सैनिक शासन के जरीये तथा धार्मिक अभिजनों ने इस्लाम के नाम पर दबाया है| पाकिस्तान के जन्म के समय यहाँ 6 प्रमुख नृजातीयताएं थी – बंगाली, पंजाबी, बलूची, पठानी, सिंधी तथा मुहाजिर| यही कारण था की 1947 में पाकिस्तान निर्माण के साथ ही नृजातीयता यहाँ एक बड़ी समस्या बनकर उभरी, किन्तु आने वाली शासन वव्यवस्थाओं ने देश के इन नृजातीय समूहों की सामाजिक तथा आर्थिक पहचानो को अनदेखा कर दिया, जिसका भारी नुकसान 1971 में बांग्लादेश के निर्माण रूप में पाकिस्तान को उठाना पड़ा, जिसने अन्य नृजातीय समूहों को आवाज उठाने हेतु एक हवा दे दी|[8] इस्लाम जहाँ पाकिस्तान का निर्माणकारी तत्व था, वहीं नृजातीयता आज देश को चलाने वाली प्रमुख शक्ति बन चुकी है| हालाँकि शुरू से आज तक इस्लाम के नाम पर देश को एकीकृत करने की कोशिश की जा रही है, पाकिस्तान को एक इस्लामिक राष्ट्र तथा इसके नागरिकों को मुस्लिम की संज्ञा देना इसी कोशिश का परिणाम है|[9]

उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद दक्षिण एशियाई देशों के सामने नृजातीय राष्ट्रवादी घटनाओं ने अनेक चुनौतियाँ पेश की है| भारत में 1956 में भाषा के आधार पर राज्यों का गठन, 1971 में पाकिस्तान का विघटन तथा सिंध, बलूचिस्तान, पख्तूनिस्तान के नृजातीय समूहों के आंदोलनों तथा श्री लंका में तमिल बनाम सिंघली संघर्ष इसके उदहारण है| जब पाकिस्तान अपने इतिहास में लम्बे समय से सैनिक शासन की आग में झुलस रहा था तब देश की आने वाली सरकारों ने इन नृजातीय ताकतों को राज्य व्यवस्था में समायोजित करने के बजाय इनका दमन करके इनके रास्ते में बाधा उत्पन कर दी|[10] इसी दौरान पाकिस्तान में कई अलग- अलग मांगों के साथ विभिन्न नृजातीय राष्ट्रवादी आन्दोलन उभर कर आए|

सिंध प्रांत में सिंधी नृजातीय राष्ट्रवादी आंदोलन

सिंध, पाकिस्तान का तीसरा बड़ा एवं बेहद समृद्ध प्रांत है तथा जनसंख्या के हिसाब से इसका दूसरा स्थान है| 1951 की जनगणना के अनुसार सिंध प्रांत में 74 प्रतिशत सिंधी, 10 प्रतिशत उर्दू भाषी, 9 प्रतिशत बलूच, 3 प्रतिशत पंजाबी तथा 4 प्रतिशत अन्य भाषी रहते है|[11] सिंध प्रांत की इतनी समृद्धता के बावजूद भी सिंधी लोग आज असमानता व दमन को झेल रहे है| जहाँ एक तरह उर्दू भाषा के अधिपत्य ने सिंधी भाषा व संस्कृति का दमन किया है, वहीं दूसरी तरह सिंध का राजनैतिक वातावरण भी बेहद अस्थिर रहा है तथा लगातार नृजातीय राष्ट्रवाद ने यहाँ की राजनीति तथा अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया है| सिंध प्रांत के मूल निवासी आज भी सर्वाधिक पतित एवं गरीब है| व्यापर व उद्योगों का केंद्र होने के बावजूद भी सिंधियों की दैनिक आय बेहद कम है| सिंधी राष्ट्रवाद का जन्म सिंधियों की नृजातीय पहचान को सशक्त करने के लिए हुआ| सिंधी लोग पंजाबियों, बलूचियों या पठानों से भिन्न थे, इनकी अपनी भाषा व समृद्ध सभ्यता है, जिससे इन्हें गहरा लगाव है| पिछले कुछ सालों में सिंध में अंतरप्रांतीय प्रवासन भी बढ़ा है तथा साथ ही भारत से आए मुहाजिरों की भी सिंध में महत्वपूर्ण स्थिति है| सिंध प्रांत की सबसे दुखदायी बात यह है, कि इसकी कुल जनसंख्या में सिंधी केवल 50 प्रतिशत ही है| यहाँ 30 प्रतिशत मुहाजिर तथा पंजाबी है| वहीँ 20 प्रतिशत बलूची तथा 5 प्रतिशत पख्तून लोग यहाँ निवास करते है|[12] सिंध प्रांत मे मुजाहिरों की प्रभावशाली स्थिति, उर्दू भाषा का राष्ट्रभाषा बनना, सिंधी भाषा की अनदेखी जैसे मुद्दो ने सिंधियों तथा मुहाजिरों में संघर्ष तथा तनावों को बढ़ा दिया| हालाँकि सिंध में आकर बसे मुहाजिरों को सिंध की जमीनें, संपत्ति तथा नौकरियाँ आसानी से मिल जाती है , किन्तु फिर भी इन लोगों ने स्वयं को सिंध में आत्मसात करने की कोशिश नहीं की| सिंधी समुदाय के लिए मुहाजिर और उर्दू भाषा दोनों खतरे के संकेत बन गए, जिसके कारण सिंधी स्वयं को दमित तथा शोषित महसूस करने लगे|[13]

सिंध प्रांत पाकिस्तान का एक बहुनृजातीय प्रांत है| भारत विभाजन के समय भारत से आए मुहाजिरों के सिंध में आकर बसने तथा बाद में पाकिस्तान के अन्य प्रांतो से आकर सिंध में बसे लोगों के कारण

आज सिंधी अपने ही प्रांत में अल्पसंख्यक हो गये है| आज सिंध में पाकिस्तान की लगभग 13 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है| भारत से आए इन मुहाजिरों ने देश के सबसे शक्तिशाली नृजातीय समूह पंजाबियों के साथ मिलकर देश तथा सिंध प्रांत पर अधिपत्य जमाया जिसके कारण सिंधियों में अलगाव तथा वंचना की भावना ने जन्म लिया| वहीं 1970 के बाद से सिंध में सिंधी राष्ट्रवाद उभर कर आया| जिसमे जी. एम. सईद ने जुल्फिकार अली भुट्टो को यह सोचकर समर्थन दिया, कि वह सिंधी भाषा तथा संस्कृति को बढ़ावा देगे, किन्तु भुट्टो पंजाबियों के हितों को भी ध्यान में रखते हुए उनको भी नुकसान नहीं पहुँचाना चाहते थे| उर्दू भाषा जिसे राष्ट्र भाषा बनाया गया था, के खिलाफ सिंधियों राष्ट्रवादियो ने सिंधी भाषा को सिंध में ही निर्देश की भाषा बनाने की मांग की तथा 1972 में सिंध विधानसभा में एक बिल पास करवाकर सिंधी भाषा को सिंध में निर्देश की भाषा घोषित किया|[14]

बलूच प्रांत में बलूच नृजातीय राष्ट्रवाद का उदय एवं विकास

भारत विभाजन के समय पख्तूनों की तरह बलूच भी पाकिस्तान में शामिल ना होकर अपना एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाना चाहते थे।1947 में कलात के आखिरी शासक अहमद यार खान ने कलात को स्वतंत्र घोषित कर भी दिया था, परन्तु पाकिस्तान में इसे बलपूर्वक मिलाया गया। सेना के इस बलपूर्वक कब्जे से पहली बार यहाँ बलूच राष्ट्रवाद को हवा मिली|

बलूचिस्तान क्षेत्रफल की दृष्टि से पाकिस्तान का सबसे बड़ा प्रांत है। जो की देश का 40 प्रतिशत हिस्सा है, लेकिन रणनीतिक (Strategically) रूप से यह बलूचिस्तान देश की जनसंख्या का केवल 5 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करता है।[15] 1951 की जनगणना के अनुसार यहाँ 34 प्रतिशत बलूची, 23 प्रतिशत पश्तो, 16 प्रतिशत सिंधी, 7 प्रतिशत पंजाबी, 1 प्रतिशत उर्दू भाषी तथा 18 प्रतिशत अन्य भाषाओं के लोग रहते है। खनिज स्रोतों से भरे पूरे भंडार होते हुए भी यहाँ सर्वाधिक पिछड़ापन है।[16] मानव विकास सूचकांक के मामले में भी यह प्रांत बेहद पीछे है। 2003 में जहाँ पंजाब का मानव विकास सूचकांक 0.557, सिंध का 0.540, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत का 0.510 था वही इनकी तुलना में बलूचिस्तान में यह केवल 0.499 रहा है।[17] प्रांत के अपार प्राकृतिक स्रोतों तथा संसाधन भी प्रांत के पिछड़ेपन को दूर नहीं कर पाए। यहाँ सुई गैस, खनिज, कोयला इत्यादि के अपार भंडार है।

बलूच लोगों की हमेशा विभिन्न सरकारों से यह शिकायत रही है कि इन्हें अपने प्राकृतिक संसाधनों के लाभ का जायज हिस्सा नहीं मिल रहा। यद्दपि, बलूचिस्तान अभी तक पाकिस्तान के 36 प्रतिशत गैस का उत्पादन करता है, लेकिन इसके लिए केवल 12 प्रतिशत रॉयल्टी मिलती है। जबकि इस प्रांत में इस गैस की आधी खपत भी नहीं होती। पंजाब जैसे समृद्ध प्रांत ही इसका लाभ उठा रहे है। बलूचिस्तान की कुल आबादी का औसत 5 प्रतिशत घरेलू प्रयोजनाओं के लिए गैस के उपभोग करने की क्षमता रखता है। प्रांत में कोई भी सीएनजी स्टेशन नहीं है।[18] यह गैस के द्वारा प्रति वर्ष 1.4 बिलियन डॉलर का उत्पादन करता है लेकिन सरकार से केवल 116 मिलियन डॉलर प्राप्त करता है। बलूच समुदाय के खिलाफ वित्तीय भेदभाव शुरू से ही बहुत अधिक था।[19]

मुत्ताहिदा कौमी मूवमैंट (MQM) का उदय तथा मुहाजिरों के नृजातीय संघर्ष का विकास

मुहाजिर शब्द की उत्पत्ति अरबी भाषा के शब्द 'हिजरत' से हुई है, जो मुहम्मद पैगम्बर द्वारा मक्का से मदीना के लिए की गई पवित्र यात्रा हेतु प्रयोग होता है, यह यात्रा उन्होंने इस्लाम के दुश्मनों से बचने के लिए की थी| आज के संदर्भ में मुहाजिर शब्द का अर्थ है, इस्लामिक उद्धेश्य से प्रवासन (Migration)|[20] मुहाजिर वो लोग थे, जो भारत के अलग अलग हिस्सों से आकर सिंध में बसे थे| सांस्कृतिक तथा भौगोलिक रूप से इनमे एकरूपता ना होने के कारण पाकिस्तान के अन्य नृजातीय समूह इन्हें नृजातीय राष्ट्रवादी समूह नहीं मान रहे थे, जबकि मुहाजिर का दावा था कि प्रवासन का समान अनुभव, समान भाषा, धर्म तथा पाकिस्तान के निर्माण में इनकी एक समान भूमिका ने इन्हें एक नृजातीय समूह की पहचान में ढाल दिया है|[21]

मुहाजिर समुदाय को एक नृजातीय समूह मानना हमेशा से एक विवाद का विषय रहा है| मुहाजिर समुदाय में शामिल लोगों का ना तो एक समान वंश रहा है, ना ही समान संस्कृति| पाकिस्तान के मुहाजिरों में सर्वश्रेष्ठता का भाव सर्वाधिक था| भाषा के मुद्दे को भी मुहाजिरों ने पहचान निर्मित करने के लिए इस्तेमाल किया| मुहाजिरों का मानना था कि, हम उर्दू भाषी मुहाजिर दिल्ली, लखनऊ, आगरा, हैदराबाद, भोपाल, अलीगड़ और रामपुर जैसे ऐतिहासिक तथा समृद्ध शहरों को छोड़कर पाकिस्तान में आए| उर्दू ही वह भाषा थी, जिसने मुस्लिम पृथकतावाद को भी जन्म दिया तथा नये इस्लामिक गणराज्य की नीवं रखी और यही कारण था कि, 1947 के बाद उर्दू भाषी मुहाजिर तथा पंजाबी शासकों में शक्ति का बंटवारा किया गया|[22] 1970 के बाद भाषा के नाम पर उठे विवादों में मुहाजिरों ने उर्दू भाषा को एक राजनैतिक हथियार बनाकर स्वायत्तता की मांग की|[23]

एम.क्यू.एम सबसे ज्यादा जातीय संगठित राजनीतिक पार्टी है, जिसकी जड़े मध्यम वर्गीय उन समुदायों की बीच रहती है, जो भारत के विभाजन से मध्य भारत से आते है, जो सिंध में आकर बस गये| जो लोग भारत से विभाजन के दौरान पाकिस्तान चले गये उन्हें पाकिस्तान में मुहाजिर कहा गया जाता है, उनकी बोल-चल की भाषा उर्दू है| सर्वप्रथम कराची विश्वविद्यालय के एक छात्र, अल्ताफ हुसैन ने विश्वविद्यालय में दाखिले और सरकारी नौकरियों में मुहाजिरों के संकट के प्रत्युत्तर में ऑल पाकिस्तान मुहाजिर स्टूडेंट ऑर्गनाइजेशन (APMSO) की स्थापना की|[24] इस दल ने अपनी स्थापना के आरम्भ से ही मुहाजिरों के साथ हुए भेदभाव का मुद्दा जोर-शोर से उठाता रहा है| इस दल पर दहशतगर्दी एवं हिंसा का आरोप विरोधियो द्वारा लगते रहते है, लेकिन कुछ भी हो इन सभी आरोपों के बावजूद एम.क्यू.एम निसंदेह शहरी सिंध में सबसे शक्तिशाली राजनीतिक ताकत के रूप में अस्तित्व में रही है| दल ने 'मुहाजिर कौमी मूवमेंट' से बदलकर अपना नाम मुताहिदा कौमी मूवमेंट रख दिया ताकि अपनी नीतियों को अधिक से अधिक समावेशी बनाया जाये|[25]

पूर्वी पाकिस्तान (पूर्वी बंगाल) में नृजातीय राष्ट्रवादी आन्दोलन

पाकिस्तान निर्माण के समय से ही पूर्वी पाकिस्तान के लोगों (जो कि देश का बहुसंख्यक समूह थे) को भी पाकिस्तान की सरकार से भारी आशायें तथा अपेक्षाएँ थी| किन्तु देश के शक्ति अभिजनों, सेना तथा नौकरशाही द्वारा अपनाई गई भेदभावपूर्ण नीतियों के कारणवश यह सारी आशाये तथा अपेक्षाये टूट गई और स्वतंत्रता के कुछ समय बाद ही पूर्वी पाकिस्तान में

नृजातीय राष्ट्रवादी आन्दोलन शुरू हो गया, जिसका परिणाम 1971 में पाकिस्तान के विभाजन से बांग्लादेश बनने के रूप में सामने आया|[26]

बंगालियों (पूर्वी पाकिस्तान) की समस्याएं

पाकिस्तान के जन्म के थोड़े समय बाद ही केंद्र सरकार द्वारा बंगालियों की, पूर्वी पाकिस्तान के शासन संचालन में भागीदारी को नकारना, सांस्कृतिक दमन और आर्थिक असमानता ने क्षेत्रीय भावनाओं को जन्म दिया| पश्चिमी पाकिस्तान के नेताओं ने क्षेत्रीय मांगों को राष्ट्रीय एकीकरण को खतरे के रूप में देखा है| पूर्वी पाकिस्तान में रहने वाले बंगालियों के नृजातीय समूह की जनसंख्या पाकिस्तान की जनसंख्या का कुल 54 प्रतिशत थी| पाकिस्तान के शक्ति अभिजनो खासकर राजनीतिज्ञों की शोषणकारी नीतियों के कारण ही पूर्वी पाकिस्तान में क्षेत्रवाद के बीज पनपे|[27] पूर्वी और पश्चिम पाकिस्तान में भाषाई संघर्ष भी एक महत्वपूर्ण कारण था| बंगाली भाषा पूर्वी पाकिस्तान के लिए एक महत्वपूर्ण भाषा अवश्य रही है, किन्तु पश्चिम पाकिस्तान के शासकों ने ना केवल बंगाली भाषा की अनदेखी की, बल्कि उर्दू भाषा को इन लोगों पर जबरदस्ती थोप दी और बंगालियों को यह आश्वासन दिया कि बंगाली भाषा का राज्य भाषा के रूप में इस्तेमाल करने पर इन्हें राजद्रोह का दोषी माना जायेगा|[28] पाकिस्तान की नई राज्य व्यवस्था में भी बंगालियों का बहुत कम प्रतिनिधित्व रहा है| खासकर सेना, नौकरशाही इत्यादि में| रौनक जहाँ के अनुसार बंगाली लोगों का सेना में केवल 5 प्रतिशत, व्यवसायिक कार्यों में 10 प्रतिशत और नौकरशाही में केवल 11.1 प्रतिशत प्रतिनिधित्व है|[29]

पंजाबियों का अधिपत्य एवं वर्चस्व

पंजाब जनसँख्या की दृष्टि से पाकिस्तान का सबसे बड़ा राज्य है| पंजाब की अर्थव्यवस्था का आधार कृषि था जिस पर प्रान्त की 60 प्रतिशत जनसँख्या निर्भर थी| पंजाब प्रांत में सरकार का गठन दोनों ही राजनीतिक दलों के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न था क्योंकि पंजाब न केवल पाकिस्तान का सर्वाधिक जनसँख्या वाला और उद्योग संपन्न प्रांत है वरन् इसे पाकिस्तान का हृदय भी कहा जा सकता है| जहाँ पंजाब प्रान्त का देश की सेना और नौकरशाही में वर्चस्व था| एक रिपोर्ट के मुताबिक, पंजाब में 56 फीसदी मुस्लिम पंजाबी, 26 फीसदी हिन्दू पंजाबी, 14 फीसदी सिख पंजाबी, और 4 फीसदी ईसाई पंजाबी शामिल है| उपनिवेशिक शासन के दौरान से ही पंजाबियों का अधिपत्य तथा वर्चस्व पाकिस्तान की राजनीति में लाभान्वित समूहों की भांति रहा है, जिसका प्रमुख कारण ब्रिटिश प्रशासन में बड़े जमींदारो के रूप में रहा है, जिससे वह शासन पर नियंत्रण बनाए रखते थे| पंजाबियों का कहना है की पंजाब पाकिस्तान में नेतृत्वकारी प्रान्त है, लेकिन पंजाबी नेतृत्वकारी भाषा के रूप में शामिल नहीं है| प्रथम विश्व युद्ध के समय भी पंजाबियों ने अंग्रेजो को भारत पर नियन्त्रण के लिए सेना में अपने जवान उपलब्ध कराएँ, जिसके बाद अंग्रेजो ने इन्हें काफी लाभ दिए|[30]

चार्ल्स कैनेडी ने अपनी पुस्तक 'Bureaucracy in Pakistan' में बताते है, कि पाकिस्तान के निर्माण के समय से ही पंजाबियों की स्थिति यूं तो काफी अच्छी रही, किंतु जिया उल हक्क के शासन काल (1977-88) ने उसे और शक्तिशाली बना दिया है| इस समय सेना में 85 प्रतिशत पंजाबी, 12 प्रतिशत पख्तून (जिनकी भूमिका पाकिस्तान के शासन में छोटे भागीदार के रूप में थी)| पाकिस्तान तथा सिंध प्रान्त की मुख्य सिविल सेवाओं तथा छोटे पदों पर जो भर्तिया की गयी थी उनमें अकसर 10 प्रतिशत पंजाबियों को शामिल किया गया था|[31]

पख्तून नृजातीय राष्ट्रवादी आन्दोलन

पख्तून भी पंजाबियों के बाद देश का दूसरा सबसे बड़ा जातीय समूह है| पाकिस्तानी राज्य ने अपनी स्थापना के बाद से, 'इस्लामिक' पहचान पर जोर देते हुए (सिन्धी, बंगाली, पख्तून तथा बलूचो) का दमन किया है| इसलिए पख्तून तथा बलूच, राज्य के खिलाफ हिंसा, उग्रवाद तथा आक्रामकता के साथ जुड़े हुए है| उनकी राजनीतिक शिकायतों को उनकी जातीयता के संदर्भ में देखा जाता है| पख्तून आन्दोलन भी वर्षो से अपने स्वतंत्र राज्य के निर्माण के लिए लड़ रहा है| बलूच, सिंध तथा मुहाजिर नृजातीय राष्ट्रवादी आन्दोलनों के साथ पख्तून आन्दोलन भी अपनी कई मांगों के साथ उभरकर सामने आया| ये लोग पाकिस्तान की राज्य संरचना में पंजाबी-मुहाजिर के अधिपत्य से डरे हुए थे, तथा देश की शक्ति संरचना में स्वयं के लिए भी हिस्सा चाहते थे| 1947 तक पख्तून ब्रिटिश अफगान साम्राज्य का हिस्सा था| 19वीं सदी के दौरान अंग्रेज, अफगानिस्तान के रूप में एक बफर राज्य चाहते थे, जो उनके ब्रिटिश भारत से अलग ही इसलिए 1893 में डूरंड लाइन भारत तथा अफगानिस्तान के पृथक्करण हेतु खिंची गयी, जिसके कारण पख्तून लोग अफगानिस्तान तथा ब्रिटिश भारत से विभाजित हो गये, जो पख्तून लोगों को सहन न हो सका और इसी करणवश पख्तून राष्ट्रवाद का जन्म हुआ|[32] पख्तून, जो कि देश की जनसंख्या का 15.42 प्रतिशत हिस्सा है|[33] पख्तून नृजातीय राष्ट्रवादी आन्दोलन 1929 में खान अब्दुल गफ्फार खान, किन्हें सीमांत गाँधी भी कहते है, के नेतृत्व में शुरू हुआ| यह आन्दोलन दुनिया के सर्वाधिक हिंसक लोगों का हिसंकवादी आन्दोलन था|[34] अन्य नृजातीय राष्ट्रवादी आन्दोलनों की तरह पख्तून आन्दोलन भी अपने भविष्य के लिए अनेक विकल्पों में विभाजित रहा है| जिसमे उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत और इसके सदस्यों को पाकिस्तान के पुर्नगठित संघ में अधिक शक्तियाँ प्राप्त हो|[35] बलूचों की तुलना में पख्तून अपनी नृजातीयता का दावा अपनी महान ऐतिहासिक संस्कृति के द्वारा कर सकते थे, किंतु फिर भी पख्तून राष्ट्रवाद ने अपने आपको बलूच राष्ट्रवादियों की तरह हिंसक रूप में अभिव्यक्त नहीं किया| इसका कारण यह है कि भले ही पख्तून लोगों का इस्लामाबाद सरकार द्वारा कुछ हद तक शोषण किया गया है, पर वह बलूचों, सिंधियों और मुहाजिरों के मुकाबले पख्तूनों से पाकिस्तानी शासकों ने बेहतर बर्ताव किया| बलूची और अन्य नृजातीय राष्ट्रवादी समूह पाकिस्तानी नेतृत्व से बाहर ही रहे है जबकि देश के पेशेवर संस्थानों और सेना में पख्तूनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है|[36]

1. Census Report of Pakistan 1998, Population Census Organization Pakistan, Government of Pakistan, available at, www.census.gov.pk
2. 1981 Census Report of Sindh Province, Population Census Organization, Statistics Division, Government of Pakistan, 1984, available at, www.census.gov.pk
3. Census Report of Pakistan 1951, Vol. 1, Table 19-A, Vol. VI, p. 65, Population Census Organization Pakistan, Government of Pakistan
4. Census Report of Pakistan 1998, Population Census Organization, Pakistan, Government of Pakistan, available at, www.census.gov.pk, Accessed on 19.02.2012.
5. Resolution no. 21, 'Resolution about Sindh and Urdu Language Teaching', Board of Intermediate and Secondary Education, (Government of Pakistan, 21 December, 1970)
6. Feroz Ahmad, *Ethnicity and Politics in Pakistan,* (Karachi: Oxford University Press), 1998, P. 07
7. Malik Iftikhar H. *State and Society in Pakistan, Politics of Authority: Ideology and Ethnicity,* (Oxford: St. Martin's Press, 1997) P.178-81.
8. John Hutchinson and Anthony D. Smith, 'Introduction' In Ethnicity (eds). By John Hutchinson and Anthony D. Smith (Oxford, Oxford University Press, 1996), Pp. 1-4.
9. Abner Cohen, Urban Ethnicity, (London: Tavistock), Vol. 54, Issue, 2, December 1974. P. 12
10. Hylland Eriksen, Ethnicity and Nationalism: Anthropological Perspectives, (London: Pluto Press), 2002. Pp. 10-12
11. अभय कुमार दुबे (संपादित), राजनीति की किताब, रजनी कोठारी का कृतित्व', (नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, सी.एस.डी.एस), 2003, Pp-349-350
12. Adeel Khan, *Politics of Identity, Ethnic Nationalism and the State in Pakistan,* (New Delhi, Sage Publication, 1998), Pp.15-16
13. Ahmad Aijaz, 'Democracy and Dictatorship' in Hassan Gardezi and Jamil Rashid (eds). *Pakistan: The Roots of Dictatorship,* (Delhi: Oxford University Press, 1983), P.16
14. Iftikhar H. Malik, *State and Civil Society in Pakistan, Politics of Authority, Ideology and Ethnicity* (New York: St. Martin & Press Inc., 1997), P. 169., Also see Slamat Ali, Sidh Erupts on Wave of Ethnic Killing, *Far Eastern Economic Review,* 7 June 1999 and News Week (New York: 11 June, 1990)
15. Harihar Bhattacharyya, Federalism in Asia: India, Pakistan and Malaysia (New York: Rutledge), 2010, P. 33 and also see Census Report of Pakistan 1951, Population Census Organization Pakistan, Government of Pakistan.
16. Harihar Bhattacharya, Federalism in Asia: India, Pakistan and Malaysia (New York: Rutledge, 2010), p.33 and Also seen, Population Census 1951, Population Census Organization of Pakistan, Government of Pakistan.
17. Pakistan National Human Development Report 2003, UNDP, Pakistan, Estimation by Wasay Majid and Akmal Hussain, at http://www.un.org.pk/nhdr/htm_pages/cp_1.htm, accessed on 10.01.13
18. Baluchis of Pakistan: On the Margins of History', The Foreign Policy Centre Report, London, The Foreign Policy Centre, November 2006, p. 49
19. John, C.K. Daly, 'The Baluch Insurgency and its Threat to Pakistan's Energy Sector', *Global Terrorism Analysis,* The James Town Foundation, Terrorism Focus, 21 March 2006, 3(11), available at, http://www.jamestown.org/terrorism/news/article.phd?articled=2369935, Accessed on 20-11-2013
20. Feroz Ahmad, Ethnicity and Politics, The Rise of Muhajir Separatism, Comparative Studies of South Asia, Africa and the Middle East, Spring/Fall, Vol. VIII, No. 1-2, 1988, Pp. 33-45.
21. Feroz Ahmad, *Ethnicity and Politics, The Rise of Muhajir Separatism*, op.cit, P. 34.
22. Tariq Rahman, *Language and Politics in Pakistan,* (Karachi: Oxford University Press), 1997, P. 02
23. Nichola Khan, *Muhajir Militancy in Pakistan, Violence and Transformation in the Karachi Conflict,* (New York: Rutledge), 2010, P. 82.
24. Feroz Ahmad, *Ethnicity and Politics in Pakistan* (Karachi: Oxford University Press, 1998), Pp. 156-157.
25. Kamaluddin Ahmad, *Ethnicity Disparity and the Breakup of Erstwhile Pakistan,* in Pandav Nayak (ed.) *Pakistan Society and Politics* (New Delhi: South Asian Publication, 1984), P. 70
26. Rounaq Jahan, *Pakistan: Failure in National Integra-*

tion (New York: Columbia University Press, 1972), P. 28

27. Khalid Bin Sayeed, *Politics in Pakistan: Nature and Direction of Change* (Praeger, Praeger Publication, 1980), P. 81.
28. Adeel Khan, *Politics of Identity: Ethnic Nationalism and the State in Pakistan* (New Delhi: Sage Publication, 2005), P. 83.
29. C.D Hurst, *Pakistan's Ethnic Divide, Studies in Conflict and Terrorism,* Vol. XIX (1996), p. 187 and also See Selig S. Harrison, Ethnicity and the Politics Stalemate in Pakistan. in Ali Banuazizi and Mynor Weiner (eds.), *The State, Religion and Ethnic Politics* (New York: Syracuse University Press, 1986), P. 290.
30. Veena Kukreja, *Contemporary Pakistan: Politics Processes, Conflict and Crisis* (New Delhi: Sage Publication, 2003), P. 127.

References

- Malik Iftikhar H. State and Society in Pakistan, Politics of Authority: Ideology and Ethnicity, (Oxford: St. Martin's Press, 1997) P.178-81.
- Ahmad Feroz, Ethnicity and Politics in Pakistan, (Karachi, Oxford University Press, 1998)
- John Hutchinson and Anthony D. Smith, 'Introduction' In Ethnicity (eds). By John Hutchinson and Anthony D. Smith (Oxford, Oxford University Press, 1996), Pp. 1-4.
- Savita Pande, Politics of Ethnicity and Religious Minorities in Pakistan, (Delhi, Shipra Press, 2005), P.10
- Adeel Khan, Politics of Identity, Ethnic Nationalism and the State in Pakistan, (New Delhi, Sage Publication, 1998), Pp.15-16
- Ahmad Aijaz, 'Democracy and Dictatorship' in Hassan Gardezi and Jamil Rashid (eds). Pakistan: The Roots of Dictatorship, (Delhi: Oxford University Press, 1983), P.16
- Mahfuzul Haque, Ethnic Insurgency and National Integration: A Study of Selected Ethnic Problems in South Asia, (New Delhi, University Press Limited, 1998), P.13
- Mohd. Arif, Sindh in the Midst of Crisis', Strategy Analysis, Vol. XXIII, No.11, February 2002, Pp. 1895-1908
- 1998 Census Report of Pakistan, Population Census Organisation, Pakistan, Government of Pakistan, Available at, www.census.gov.pk, retrieved on 15-3-13.
- Resolution no. 21, 'Resolution about Sindh and Urdu Language Teaching', Board of Intermediate and Secondary Education, (Government of Pakistan, 21 December, 1970)
- Veena Kukreja , Contemporary Pakistan: Political Processes, Conflict and Crisis, (New Delhi: Sage Publication, 2003), p. 132.
- John, C.K. Daly, 'The Baluch Insurgency and its Threat to Pakistan's Energy Sector', Global Terrorism Analysis, The James Town Foundation, Terrorism Focus, 21 March 2006, 3(11), available at., http://www.jamestown.org/terrorism/news/article.phd?articled=2369935, Accessed on 20-11-2013.
- Feroj Ahmad, 'Ethnicity and Politics, The Rize of Muhajir Separatism', Comparative Studies of South Asia, Africa and the Middle East, Spring/fall, Vol. VIII, No.1-2, 1998, Pp.33-45
- Moonis Ahmad, 'Ethnicity and State Power in Pakistan: The Karachi Crisis', Asian Survey, Vol. XXXVI, No. 10, October 1996, Pp.136-37
- Charles H. Kennedy, 'The Politics of Ethnicity in Sindh', Asian Survey, Vol, XXXI, No. 10, October 1991, P. 281
- Kamaluddin Ahmad, Economic Disparity and the Breakup of Erstwhile Pakistan' in Pandav Nayak (ed.) Pakistan Society and Politics (New Delhi: South Asian Publication, 1984), P. 70
- Raunak Jahan, Pakistan: Failure in National Integration (New York, Columbia University Press, 1972), P. 28
- Khalid Bin Sayeed, Politics in Pakistan: Nature and Direction of Change (Praeger, Praeger Publication, 1980), P. 81

पूर्वाञ्चल के लोक कहावतों का सामाजिक संदर्भ

नंदकिशोर प्रसाद
सहायक-प्रोफेसर, राजधानी कॉलेज,
दिल्ली यूनिवर्सिटी

पूर्वाञ्चल क्षेत्र के लोक कहावतों ,कविताओं और जनश्रुतियों को आधार बनाकर इस शोध पत्र को तैयार किया गया है। इस शोध पत्र में लोगों द्वारा प्रयोग में आने वाली अनेक कहावतों जैसे स्वास्थ्य संबंधी कहावतें ,नीति संबंधित कहावतें , खान –पान व किसान संबंधित कहावतों को शमिल किया गया है। सुबिधाओं के अभाव में गाव के लोग अनेक रोगों का इलाज देसी तरीके से करते थे ,साथ ही खेतों में जो अन्न उपजता था उसी से अपना जीवन –यापन करते थे। ऐसे मे दैनिक जीवन व किसान जीवन मे आने वाले समस्याओं पर विचार किया है और उसके निवारण के लिए सामाजिक समानता और सामाजिक बदलाव पर भी विचार किया गया है। कहावतों के माध्यम से एक स्वस्थ समाज बनाने पर जोर दिया गया है जबकि आज पहले से भी अधिक सामाजिक स्थिति खराब है।

गाँव में कहावतों कविताओं का जनता के भीतर आने मे काफी समय लगता है। मसलन बिना किसी संदर्भ या प्रकरण के वह जनश्रुतियों का हिस्सा नहीं बन सकता। सवाल यह है कि लंबे अरसे से यह जनश्रुतिया अपने पारंपरिक रूप में काम कर रही थी। इस शोध में कुछ जनश्रुतियों और घुमंतू कवियों जिन्हे भाट कहा जाता है ,को आधार बनाया गया है। इस लेख में भोजन को केंद्र में रखते हुए घांघ ,भण्डारी और अन्य स्रोतों से उपलब्ध कुछ ग्रामीण कविताओं के माध्यम से उस समय के खान –पान व सामाजिक ढांचे का अध्ययन किया गया है। 'माघे' मछली और चैते बकरी" यह कहावत अधिकतर किसान जानते हैं। साथ ही वे यह भी जानते हैं कि किस समय कौन सी चीजे खाना चाहिए और कौन सी नहीं। यदि कविता के भीतर समय और स्थान को विशेष तरजीह दी जाए तो कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आता है।प्रथम वे कौन लोग थे जो भोजन के प्रति इतना जागरूक थे और अभिजात किस्म के कविता लिख रहे थे और अभिजात वर्ग के स्वास्थ्य के प्रति चिंता जता रहे थे। दूसरा यह है कि गरीब जनता (मैं जाति की बात नहीं कर रहा हूँ क्योंकि एक समय ऐसा था लोगों को भर पेट भोजन नहीं मिलता था)जिसे समय से भोजन उपलब्ध नहीं था वहा ऐसे कविता का क्या उपयोगिता है। अध्ययन के क्रम में यह तथ्य अधिक प्रासंगिक है कि जिस तरह से यह कहावत " गया मर्द जो खाय खातई। गई नारी जो खाये मिटाई।: सवाल यह है की संस्कृति के अंतर्गत खाने की संस्कृति से किस तरह वर्ग विशेष को निर्धारित किया गया था। अतः अध्ययन के क्रम में यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि उस समय समाज का सामाजिक एवं आर्थिक ढांचा कैसा था। भोजन के प्रति जों कहावतें , कविताएं , लोकोक्तिया इत्यादि मिलती हैं, उसका ऐतिहासिक संदर्भ क्या था। अनाजों के प्रति रुचि संस्कार और उसके खाने के प्रति जिज्ञासा साफ दर्शाती है कि शुरू से ही कविता का संबंध सर्वभोगी लोगों के हिस्से की चीज रही है ' जैसा खाए अन वैसा होवे मन' अन का मन से संबंध की तलाश किया जाए तो हम पाते हैं कि प्राय: मोटे अनाजों से ही गरीबों का संबंध रहा है, जैसे महुआ,मकई , जो , सावा कोदो , मसूरी ,जौ –गोजई इत्यादि से गरीब जनता अपनी जीविका चलाते थे जबकि अमीरों का खाना गेहू ,दाल ,चावल , दूध, मेंवा- मिश्री था। अर्थात उनका मन उनके भोजन के उपयोग पर निर्भर था अत: उनकी सोच छोटी जात के लोगों के प्रति बहुत खराब थी। " छोट जात लतीयवले , बड़ जात बतीयवले " वाली कहावत इसी तरह की मानसिकताओं की ऊपज है।

घाघ कवि ने कहा है कि

"उच्चे चढ़े के बोले मडुआ। सभी जनो मे 'मैं' मड़वा।
आठ दिन जो मोको खाय। भले मर्द से उठा न जाय।" घाघ और भड्ड़री की कहावतें-पृ 160

दरसल माडुआ एक मोटा अनाज है , जो हर स्थिति में बहुत कठिन अनाज है। बुआई के समय भी काफी मेहनत लगता है। रोपाई के लिए दंडे से जमीन में सुराग करके दो - दो,तीन - तीन बीज बोया जाता है जिसमे काफी समय लगता है। उपज के मामले में भी अन्य मोटे अनाजों की अपेक्षा इसकी उपज ज्यादा होती है। गरीब इस अनाज को अपनी श्रुधापूर्ति के लिए बोता है , क्यूंकि इसे खाने के बाद भूख कम लगती है और लोग कम खाते भी है। स्वर्णो के यहाँ इसकी खेती मजदूरी देने के लिए होता था।अतः धोबी, चमार, मल्लह, कुम्हार, हजाम, आदि विनिमय वाली जातियों को यही अनाज 'साली' (अर्थात साल भर मे दो बार फसल कटाई के बाद श्रमिक जातियों को दिया जाने वाला अनाज) काम के बदले अनाज के रूप में दिया जाता था। जहां तक इसे खाने का प्रश्न है, कहां गया है कि "महुआ राजा जब तक सेको , तब तब ताजा। खाये में माजा , हगे में लाझा "अर्थात मडुवा को खाने के बाद ढंग से पानी नहीं पिया जाए तो वह खून के साथ बाहर आता है क्यूंकि बहुत ही टाइट पखाना होता है। इसलिए श्रमिक मजदूर, किसान इसे खाकर पानी अधिक पीते थे।आठ दिन यह खाने के बाद आदमी स्वयं कमजोर हो जाता है तो पूर्वांचल के वे गरीब लोग जों कई महीनों तक इसी अनाज को खाकर जीवन यापन करते थे। उनकी क्या स्थिति होगी जबकि अपने खेतों में काम करने के साथ-साथ सवर्णों के खेतों में भी काम करना पड़ता था।

''जाको मारा चाहिए। बिन लगी बिन घाव।

बको यही खिवाईये। छुईयो पूरी खाया।' घाघ और भड्ड़री की कहावतें पृ -163

इस कविता में दो अर्थ निहित है प्रथम यह कि अगर किसी व्यक्ति को व्यक्ति को प्यार से मारना चाहते हो तो उसे अरबी की सब्जी और पूरी खिला दो । इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि पंडितों और राजपूतों में ऐसा माना जाता था कि जब कोई व्यक्ति खाते-खाते मर जाए तो खिलाने वाले का रौब बढ़ जाता है। अतः पैसा देकर भी लोगों को खिलाया जाता था। एक तरफ पुरोहित एवं सामंतो की छलकपट इस कविता में झलकती है वहीं दूसरी तरफ उनकी चतुराई और खाने के प्रति सतर्कता भी।

खाने के संदर्भ मे किस महीनो में क्या खाना चाहिए क्या नहीं, इसका भी उल्लेख मिलता है। सावन से लेकर आषाण तक खाने की चर्चा मिलती है। सवाल यह है कि जो सावधानियां बताई गई है वह किस वर्ग के लिए है। घाघ लिखते है कि –

" सावन हरे मादो चीत। क्वार मास गुर खामउ मीत।
कातिक मूली अगहन तेल। पूस में किहेउ दूध से मेल।
माघ मास घिउ खींचरि खाय।फागुन उठि के प्रातः नहाय।
चैत नीम बैसाखै बेल। जेठे सयन असाढ़े खेल।" घाघ और भड्ड़री की कहावतें पृ -161

इसी तरह गाँव के गोबर से घर लिपना ऐसा माना जाता है कि गाय के गोबर में ऐसी बैक्टीरिया होती है जो मिट्टी में छिपे हानिकारक बैक्टीरिया को मार देती है। घर कि लिपाई- पुताई गोबर और माटी से होता था जो अब लगभग खत्म होता जा रहा है। धीरे –धीरे घरेलू उपचार खत्म हो रहे है। जैसे

'अगर घाव पकता नहीं या तो धतूरे या नीम की पत्ती को पिस्कार, घाव का मुँह छोड़कर चारों तरफ लगा देने से रात भर में ही घाव अपने आप ही बह जाता था।जबकि गाँव में घाव बहुत बड़ी संख्या में बच्चों को होता था धतुरे का एक प्रयोग बैल के पेट खराब होने में भी किया जाता है।

धतुरे के फल को आग में पकाकर उसे रोटी के साथ खिला दिया जाता है, एक ही बार में पशु का पेट ठीक हो जाता है। जबकि आज धतुरे को भंग के रूप में सर्वाधिक प्रयोग किया जा रहा है जिससे नये- नये बच्चे होली के विशेष अवसर पर चाकू बाजी करते है , ऐसे में नौजवान भाँग, सिगरेट ओरक्रेस्ट्रा , छोकरी और चाकू व बंदूक को अधिक प्राथमिकता देने लगे है। बिहार में शिक्षा पुनः कम होती जा रही है खासतौर पर पंद्रह से बीस साल के बच्चों में।

इसी तरह चोट लगने पर हल्दी , चुना और सरसों का तेल मिलाकर एवं गर्म करके चोट वाली जगह पर छाप दिया जाता था और यदि गुम चोट हो तो हल्दी और दूध दिया जाता था । वैसे ही बच्चों के आँख लाल हो जाये जिसे आँख आना बोलते है तो बरगद के तुसा को तोड़कर उसका रस भाखरा सिंदूर के साथ आँख में डालने पर दों तीन बार में साफ हो जाता था। हाथ जल जाये तो तुरंत स्याही या मधु लगा लेते थे। इन सब सूचनाओं के पीछे में एक ही बात कहना चाहता हूँ की जिन संसाधनों का उल्लेख घरेलु उपचार में किया गया है वह ऐसे साधन है जो सहज़ ही गाँव में उपलब्ध है उसके लिए किसी पंसारी की दुकान पर जाने की जरुरत नहीं है अर्थात यह इलाज किसान मजदूरों व श्रमिकों के आर्थिक तंगी के कारण पैदा हुए होंगे, जो आज ख़त्म होता जा रहा है। जबकि आर्थिक तंगी में बहुत बदलाव नहीं आया है, इन सब तथ्यों से गरीब जनता का विश्वास का उठना बहुत ही जटिल तथ्य है। श्रमिक महिला - पुरुष को नाड़ा/ नाभी उखड़ जाता था जिसे एक तरह से पेट में खिचाव कह सकते है। यह जरुरत से ज्यादा वजन उठाने की वजह से होता है। पशुओं के संदर्भ में भी अनेक तरह की बीमारियाँ व उसके घरेलू उपचार होता था। लाल पेशाब, गला का रुकना, जीभ पर कांटे, खुजली, सिंह का टूटना,कम्पन रोग, हेनुआ रोग, जुगाली न करना, जवर, पेट दर्द इत्यादि।

अकसर पशुओं के जीभ पर कांटे हो जाते हैं जिससे वह चारा नहीं खा पाते ऐसे में किसान उसमें जीभ पर नमक या हल्दी मिलता है और कई बार पशु एक दूसरे से लड़ते रहते है। कई बार ऐसा होता है कि पशु अचानक कांपने लगता है और ऐसे में गेरू को पानी में घोलकर पिलाया जाता है और उसके आसपास छिड़क दिया जाता है वही कई कोई पशु मर जाता है तब भी पूरे घर के साथ पशुओं के स्थान पर गेरू का छिड़काव करते हैं , पशु अक्सर जुगाली करना बंद कर देता है तो उसे काली मिर्च,नमक और अजवाइन को मिलाकर दिया जाता है पशुओं से संबंधित रोगों का उल्लेख करना मात्र इतना ही है कि जो अपना दुख व्यक्त कर सकता है उसका घरेलू उपचार को एक तथ्य है उसमें बड़ा तथ्य यह भी है कि जब किसान का बैल,गाय, भैंस व अन्य पशु चारा नहीं खाता पूछ उठाकर बार-बार छरियाता है, पैर पटकता है हिलने लगता है , कभी उठता है कभी बैठता है ,कभी एकदम शांत हो जाता है तो उस समय किसान उस पशुओं को बहुत आत्मीय तरीके से उसके रोगों को पहचानने की कोशिश करता है और तुरंत उसका उपचार करता है यह उपचार किसी भी तरह से लिखित तथ्यों पर आधारित नहीं होता कई पीढ़ियां इसी उपचार को करती आ रही है और आज भी अधिकतर किसान अपने पशुओं की देखभाल इसी तरह से कर रहे हैं सवाल यह है कि क्या इन तथ्यों का वज्ञानिक विश्लेषण संभव नहीं।आज बहुत सी चीज खत्म होती जा रही है मैं यहां इन तथ्यों पर बोल रहा हूं क्योंकि मैंने अपना अधिकतर समय गांव में पशुओं के साथ बिताया है लेकिन मेरे बच्चे शायद इन चीजों को ना समझ सके। कहने का अभिप्राय यह है की प्रासंगिकता केवल लिखित तथ्यों को उजागर करने की नहीं है बल्कि मौखिक परंपरा में बहुत सी चीज ऐसी है जो आज भी बहुत कारगर है और उस पर विचार किया जाना चाहिए। जहां तक साहित्य और आयुर्वेद की बात है तो हिंदी साहित्य में सीधे-साधे इसका उल्लेख नहीं मिलता और मिलता भी है तो बहुत कम । रीतिकालीन कवियों के नुक्से या जिसे घरेलू उपचार भी कह सकते हैं के रूप में पढ़ने को मिलता है क्योंकि कवि दरबार में रहता था अतः समय-असमय कुछ नुक्से भी दिया करता था बिहारी ने लिखा है कि ' मेरी भव बाधा हरो राधा नागरी सोई,जतन री छाई परै शाम हरित दुति हुई' यहां राधा का अर्थ धनिया है सोवा भी एक प्रकार का धनिया होता है एवं नागर का अर्थ मोथा होता है इन तीनों को मिलाकर पीस दिया जाए और मुंह पर लेप लगा दिया जाए तो मुंह की छाही दूर हो जाती है। यह सर्वविदित है कि ग्रामीण समाज में आज भी अधिकतर स्त्रियों की मुंह की चमक छाही से खत्म हो जाती है लेकिन यह औषधि ज्ञान जनता के पास नहीं पहुंच सकी क्योंकि कवि और उसकी कविता दरबारी थी जनता की नहीं।

मध्यकालीन कवि कबीर ने भी चंदन और उसमें शीतलता की चर्चा की है जायसी भी चंदन चरचि भाव नितबेना कि बात करते हैं अर्थात चंदन और खस एक प्रकार की सुगंधि जिसे अभीष्ट भी बोलते हैं शरीर में स्त्रियाँ लगाए तो सुगंध के साथ सौंदर्य भी निखर जाता है इस तरह दाखि दाख लेहि रस बेरसहि आँन सहार, हरिहर तन सुवता कर जो अस चाखन हार।

अर्थात अनार, अंगूर, आम, सहकार (कलमी आम)जैसे फल चखनेवालों का शरीर सुरंगे जैसे हरिहर हो जाता है।

कवियों के संदर्भ में अगर भाटों के बात करे टों पाते हैं कि भाटों ने सर्वाधिक आयुर्वेद से संबंधित बात की है, खानपान के संदर्भ में उनकी बात बहुत महत्वपूर्ण है किस मौसम में क्या खाना चाहिए क्या नहीं, जैसे

" मुंग कि दाल के खाय भोगी, के खाय रोगी।
भोजन कटके पड़े उतान। आठ सॉस ताको प्रमान।
सोहलह दाहिने बतिस बाये। तब रस बने उन के खाये।
" प्रातःकाल के नित्ये नहाय। ताको देखि बेद पछताये।
" बासी भात तेवासी माथा और ककरी के बतिया। आधी रात जुड़ावनि आवै मुई लेबया की खटिया। घाघ और भड्ड़री की कहावतें पृ -163

जब किसी बात को एक कहानियां कहावत की अपेक्षा उसे समाज के भीतर समय और स्थान के हिसाब से मूल्यांकन किया जाता है तो उसकी सच्चाई मालूम पड़ती है भोजन और सामाजिक स्तर का गहरा सम्बन्ध रहा है उसे आज भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। बात बहुत पुरानी नहीं है आजादी के दिनों की बात है अकाल स्थानांतरण पड़ने के साथ ही गांव के गांव साफ हो जाते थे महामारी लोगों की मुख्य कारण बन गई थी ऐसे में हम देखते हैं कि अनेक स्वास्थ्य संबंधी कहावतें बनती है जिनके अपने सामाजिक सरोकार है।

" सुरती कहै सुनो नर नारि। मोहि का खायउ बहुत विचारि पहिले देउँ दांत करिआम। एक एक कर देउँ हिलाए। दूसरे दृष्टि मंद करि देउँ। तिसरे गँवहि भूख हरि लेउँ।
" चौथे सुधि बुधि देउँ भूलाय धरती छोड़ि सरग मंडराय।
पांचवे एक बड़ा गुरु मोरा। दिन खावा सो नियोरा।
" बाती कहै में आऊँ। रोटी कहै में दिल पहुंचाऊँ
भात कहै मेरा हलका खाना। मेरे भरोसे कही ना जाना।
" चना कहें मेरी ऊची नाक। एक घर दरिमे दो घर हाक।
" सौ बेर सबू नौ बेर चबेना। एक बार रोटी लेना न देना। घाघ और भड्ड़री की कहावतें पृ -162

स्वास्थ व खान –पान संबंधित इन सभी उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि खान –पान के संदर्भ मे भारतीय समाज में अनेक वर्गीय भेद था । साथ ही इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि जिस मोंटे अनाज को वर्णवादियों ने गरीब मजदूरों के लिए निर्धारित कर दिया था आज वही मोंटे अनाज अनाज दुनिया को स्वस्थ रखने में सर्वाधिक उपयोगी है ।

संदर्भ सूची

•घाघ और भड्ड़री की कहावतें : संपादक- डॉ. रमेश प्रताप सिंह,उ. प्र. हिंदी संस्थान, लखनऊ, संस्करण 2008।
• घाघ और भड्ड़री की कहावतें : नीति, कृषि, और ज्योतिय की अनोखी पुस्तक : संपादक-पं हरिहरप्रसाद त्रिपाठी, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहबाद, संस्करण 1949।
- कहावतों के मास्टर और हुड़का नाच के निर्गुण गायक जवाहिर साह से बातचीत और उनके कहावतों को इस लेख में जिक्र किया है ।
- युतुब का भी मदद लिया गया है ।

*****

Ambedkar's Vision and the Crisis of Social Justice in Modern India

-Dr. Minati Kalo
Assistant Professor (Guest Faculty)
Maitreyi College, University of Delhi
Email Id: minati.jnu@gmail.com

Abstract In the contemporary era of globalization, liberalization, and privatization, the concept of social justice has transitioned from a constitutional ideal to an urgent socio-political necessity. While the Indian Constitution envisions a legal system that guarantees equal opportunity regardless of economic or physical disability, the reality for marginalized communities suggests a profound disconnect between theory and practice. True democratization in India is inextricably linked to the emancipation of Dalits and the restoration of their self-respect, a mission pioneered by Dr. B.R. Ambedkar. His comprehensive framework for social justice remains the primary ideological blueprint for any progressive force seeking to dismantle systemic inequality. However, the current landscape for Scheduled Castes (SCs) and Scheduled Tribes (STs) remains marred by systemic violence and exclusion. The alarming frequency of crimes against these communities highlighted by the fact that a crime is committed against a Dalit every 16 minutes on and an average 1,500 Dalit women are raped every year, serves as a stark indictment of the nation's failure to uphold the constitutional promise of "Fraternity". When exploitation, rape, and displacement remain recurring themes in the lives of the weakest sections, the state's commitment to social and economic justice appears more rhetorical than substantive. This analysis argues that the relevance of Ambedkar's mission is not merely historical but an urgent contemporary necessity; the state must transition from passive rhetoric to an active, uncompromising commitment to political, social, and economic justice if it is to honour its democratic foundations. Ambedkar's Vision and the Crisis of Social Justice in Modern India.

Key Words: Social Justice, Ambedkar, Dalits, Discrimination, Fraternity etc.

Introduction

"Life's most persistent and urgent question is, what are you doing for others?"

- Martin Luther King Jr.

"A just society is that society in which ascending sense of reverence and descending sense of contempt is dissolved into the creation of a compassionate society."

- Dr. B.R. Ambedkar

A welfare state is fundamentally built on the conviction that social justice is a primary necessity rather than an abstract dogma. At its core, this concept seeks to ensure that every citizen is treated with fairness and dignity. To achieve this, a healthy democracy must strike a delicate balance: it should avoid the "excessive bravery" of imposing intrusive, unnecessary regulations, yet it must also reject the "cowardice" of failing to address systemic inequality. True socioeconomic justice requires a persistent commitment to protecting individual freedom and liberty, while simultaneously applying reasonable regulatory measures to ensure those freedoms benefit society as a whole (Guru, 2002).

Dr. B.R. Ambedkar, widely known as Babasaheb, understood "social justice" as the foundation of a just and equal society where every individual regardless of caste, class, gender, or religion has equal rights and opportunities. Ambedkar's conception of social justice serves as a radical departure from mere legalism, positioning the trinitarian values of liberty, equality, and fraternity as the essential moral fabric of everyday life. To Ambedkar, justice was unattainable within a social structure governed by the caste system, which he viewed as a fundamental denial of human dignity and self-respect. Consequently, his vision necessitated the annihilation of caste a systemic dismantling of social hierarchies to ensure that equality is realized not just in political representation, but across economic, educational, and religious spheres. By linking social justice to economic democracy, Ambedkar argued that true freedom is impossible without a fair distribution of resources that allows every individual to live with dignity. Ultimately, his legacy defines social justice as a moral imperative for systemic change, laying the groundwork for a social democracy that proactively eradicates exclusion and oppression (Dwivedi and Sinha, 2016).

As the Chief architect of the Indian Constitution, Dr. B.R. Ambedkar synthesized his profound understand-

ing of India's fragmented social fabric into a legal framework aimed at reconciling deeply conflicting interests. He transcended traditional political theory by defining social justice through the radical lens of "one man, one value," asserting that true patriotism and nationalism can only flourish when every citizen is granted equal moral worth. In crafting this vision, Ambedkar deliberately rejected several established models: he dismissed the Varna system for its inherent hierarchy, the Aristotelian and Platonic orders for their justification of social stratification, Gandhian Sarvodaya for its reliance on voluntary paternalism, and Marxist socialism for its perceived neglect of the unique cultural and religious dimensions of caste. By charting this independent course, Ambedkar sought to establish social democracy as a prerequisite for political stability, ensuring that justice served as the vital link between the individual and the state (Purohit and Joshi, 2003).

Dr. B.R. Ambedkar conceptualized democracy as a profound "way of life" rather than a mere mechanism for governance or majority rule. At its core, his vision was built upon the inseparable triad of liberty, equality, and fraternity, which he believed were essential for dismantling entrenched social hierarchies. For Ambedkar, a functional democracy required more than just the "formal equality" found in legal statutes; it demanded substantive equality, where outcomes and opportunities are genuinely accessible to all. He argued that political democracy is hollow unless underpinned by social and economic democracy, as the progress of a nation depends on the empowerment of its most marginalized citizens. Central to this philosophy was the absolute necessity of abolishing untouchability. Ambedkar viewed the caste system as a fundamental barrier to the democratic spirit, asserting that true democracy cannot exist in a society where a large section of the population is excluded from public life. He envisioned democracy as a dynamic tool for peaceful social change and justice, aimed at bridging the gap between law and reality. By advocating for proactive measures to uplift the oppressed, Ambedkar sought to transform the social fabric of India, ensuring that every individual, regardless of their birth, could participate as an equal stakeholder in the nation's future (Jaiswal, 2012).

Dr. B.R. Ambedkar identified the Hindu caste system as the fundamental source of social injustice against Scheduled Castes and Scheduled Tribes, describing castes as "enclosed units" that operate through a conscious conspiracy of exclusion. He argued that this system functions via a "mechanical law" where groups are forcibly excommunicated and compelled to form their own isolated Castes, leading to a widening multiplicity of social divisions. To Ambedkar, the hierarchy of oppression was structural: the root of untouchability lay within the caste system itself, which was sustained by religious doctrines. These doctrines were anchored in the concept of *Varnashram*, which he traced back to "Brahminism", a philosophy he believed maintained its dominance through the strategic control of political power (Shabbir, 2005).

Dr. B.R. Ambedkar championed a progressive and non-violent approach to social justice, viewing the press as a vital instrument for driving systemic change and securing human freedom. Rejecting militant means, he sought to awaken the public consciousness by founding and editing magazines such as *Mook Nayak*, *Janata*, and *Samata*. Despite their intellectual depth, these publications faced significant commercial challenges and often remained unsold. This lack of popular reception was largely attributed to the radical and unconventional nature of his ideas, which directly challenged the social orthodoxies of the time and demanded a level of introspection that many in the contemporary audience were not yet ready to embrace (Raghavendra, 2016, 27)

The constitutional prohibition of untouchability stands as one of Dr. B.R. Ambedkar's most enduring legacies, reflecting his lifelong commitment to dismantling social evils. His transformative leadership provided a sense of dignity and collective identity to the oppressed, effectively unifying various marginalized groups under the singular designation of Scheduled Castes (SCs). By tirelessly advocating for special reservations in education and government services at both state and central levels, Ambedkar ensured that the "downtrodden" were not left in a perpetual state of suffering. These proactive measures were designed as a bridge to substantive equality, moving beyond mere legal rights to provide the practical support necessary to compete with historically advanced classes. The tangible impact of Ambedkar's vision is evident in the contemporary social landscape, where individuals from SC/ST communities occupy vital roles as Members of Par-

liament (MPs), Members of the Legislative Assembly (MLAs), IAS and IPS officers, doctors, and professors. By enshrining these principles of reservation and social concessions within the constitutional framework, he created a pathway for educational, economic, and social mobility. Ultimately, his efforts shifted the trajectory of millions, replacing a history of exclusion with a future defined by representation and the possibility of progress (Raghavendra, 2016, 28).

Dr. B.R. Ambedkar conceptualized women's rights as an integral component of the broader struggle for social justice, recognizing that true reform was impossible without dismantling gender-based hierarchies. He was a staunch advocate for gender equality, actively campaigning against regressive practices such as child marriage and the systemic subjugation of women. His most significant legislative contribution was the introduction of the Hindu Code Bill, a landmark initiative designed to revolutionize the legal status of women. By proposing equal rights in inheritance, marriage, and divorce, Ambedkar sought to grant women economic and social autonomy, effectively challenging the patriarchal foundations of traditional personal law and positioning gender equity as a cornerstone of a modern, democratic India (Jaferelot and Thomas, 2004). Dr. B.R. Ambedkar's vision for social justice transcended national boundaries, as he actively engaged with international forums to advocate for the rights of marginalized populations globally. He recognized a profound sociological parallel between the struggles of tribal communities and Scheduled Castes, emphasizing that addressing their collective socioeconomic and educational deficiencies required robust, specialized constitutional protections. By embedding these safeguards into the legal framework, he transformed the fight against discrimination from a local struggle into a structured pursuit of human rights. His legacy continues to serve as a cornerstone for global human rights movements, offering a blueprint for how legislative reform and the empowerment of the oppressed can reshape a nation's social fabric. Ambedkar's unwavering pursuit of a more inclusive society has left an indelible mark on India and remains a source of inspiration for social justice organizations worldwide. His life's work underscores the universal truth that a truly just society is measured by its commitment to uplifting its most vulnerable members and dismantling the structures of exclusion (Jaffrelot and Thomas, 2018).

Dr. B.R. Ambedkar's distinguished career as a legal expert and jurist fundamentally reshaped the trajectory of Indian society. As the primary architect of the Indian Constitution, he embedded the core values of equality, justice, and liberty into the nation's foundational legal and social framework. His visionary inclusion of constitutional protections and affirmative action laws transformed the law into a potent instrument for the empowerment of historically marginalized communities. Beyond his role in drafting the Constitution, Ambedkar's legal legacy established a progressive precedent for human rights in post-colonial India, shifting the focus from mere procedural law to substantive justice. By institutionalizing social equity, he created a resilient legal structure that continues to safeguard individual dignities and foster a more inclusive national identity (Narain, 2017).

Ambedkar envisioned a social system where an individual's status is determined by merit and achievement rather than the circumstances of their birth, fundamentally rejecting the concepts of nobility or untouchability. As a staunch advocate for the marginalized, he championed policies of preferential treatment to uplift the socially oppressed and economically exploited. This vision was crystallized in the Constitution of India, drafted under his chairmanship, which mandates the state to ensure justice, liberty, equality, and fraternity for all citizens. Beyond these broad principles, the Constitution includes specific protections for the downtrodden, such as Article 17, which formally abolishes untouchability. Upon the Constitution's passage, Ambedkar reflected on his labor by noting that while "New Bharat" had achieved political freedom, the vital "sunrise" of social and economic liberty remained an urgent, unfinished task for the nation (Prasad, 2020).

Despite his pivotal role in shaping the nation's legal framework, Dr. B.R. Ambedkar faced relentless resistance from upper-caste elites and powerful societal groups who opposed his radical calls for fundamental social change. He astutely recognized that while legal protections are a necessary foundation, they are inherently insufficient if they lack a corresponding shift in public consciousness. Ambedkar's profound insight was that "social consciousness ultimately safeguards right"; he understood that without a genuine transformation in the hearts and minds of

the populace especially among dominant groups even the most progressive laws would fail to eradicate deep-seated discriminatory practices. For Ambedkar, true social justice required more than just legislative enactments; it required a society that actively embraced and protected the rights of all its members through a shared moral commitment (Jafferlot, 2005).

B.R. Ambedkar's philosophy offers a powerful lens for both diagnosing and dismantling systemic social inequality. Although his legislative and constitutional reforms fundamentally altered the Indian social landscape, the "unfinished agenda" of his vision is highlighted by the persistence of caste-based discrimination and the logistical hurdles in executing reservation policies. Furthermore, the compounding layers of oppression experienced by marginalized women emphasize that social justice must be intersectional to be effective. Ultimately, Ambedkar's work suggests that legal frameworks alone are insufficient; true progress requires a profound transformation of the societal conscience a call for change that remains as vital and urgent today as it was during his lifetime.

Conclusion

Ambedkar's vision for social justice was rooted in the holistic removal of inequalities tied to race, sex, caste, and wealth, aiming to create a society built on the pillars of liberty, equality, and fraternity. He believed that true justice required the equitable distribution of social, political, and economic resources, a conviction that fueled his lifelong struggle against the marginalization of Dalits and women. This philosophy is now woven into the fabric of the Indian Constitution, where the Preamble, Fundamental Rights, and Directive Principles serve as a blueprint for an egalitarian social order. By enshrining these human values into law, Ambedkar sought to guarantee dignity for every individual, ultimately striving to uplift the most vulnerable sections of society and integrate them into the national mainstream.

Although Ambedkar is no longer present, the widening chasm of socio-economic disparity in modern India stands as a stark contradiction to his vision of an egalitarian state. This "tale of two Indias" is visible in the jarring juxtaposition of urban luxury—skyscrapers and five-star hotels against the squalor of slums where citizens are relegated to sub-human living conditions. Such extreme polarization suggests that while political democracy was achieved, the social and economic democracy Ambedkar championed remains elusive. In a landscape defined by this deepening inequality, the constitutional promise of a society based on equality feels less like a tangible reality and more like a distant, receding dream, highlighting a critical failure to bridge the gap between legal rights and lived experiences.

References

Dwivedi, H.S. and Sinha, R. (2016). Dr. Ambedkar: The Pioneer of Social Democracy.

Gopal Guru (2002), "Ambedkar's Idea of Social Justice", in Ghanshyam Shah (Ed), *Dalits and the State*, Concept Publishing Company, New Delhi.

Jaffrelot, C., and Kumar, N. (Eds.). (2018), *Dr. Ambedkar and Democracy*, New Delhi: OUP.

Jaffrelot, C., and Thomas, B. H. J. Z. (Eds.). (2004), *Hindu Nationalism and Indian Politics: An Omnibus*, New Delhi: OUP.

Jaffrelot, Christopher (2005), *Dr. Ambedkar and Untouchability: Fighting the Indian Caste System.* New York: Columbia University Press.

Jaiswal, A. (2012), "Social and Economic Democracy and Removal of Untouchability", *Global Journal of Human-Social Science Research*, 12(1).

Mohamed Shabbir (2005), *Ambedkar on Law, Constitution and social Justice*, Rawat Publication: Jaipur.

Narain, A. (2017), "What Would an Ambedkarite Jurisprudence Look Like?", *National Law School of India Review*, 29(1), 1–20.

Prasad, K. Babu Rajendra, (2020), "Dr. B R. Ambedkar's Concept Of Social Justice And Constitution of India", *International Journal of Creative Research Thoughts*, 8 (12): 2618-2621.

Purohit B.R, Sandeep Joshi (2003), "Social justice in India" Rawat Pub, Jaipur, 2003.

R. H., Raghavendra (2016), "Dr B.R. Ambedkar's Ideas on Social Justice in Indian Society", *Contemporary Voice of Dalits*, SAGE Publications, 8 (1): 24-29.

*****

श्रौत यज्ञानुष्ठान स्वरूप एवं अधिकार विधि मीमांसा

-श्री प्रकाश पाण्डेय
(शोधार्थी)
संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली,110007.

-प्रो.दया शंकर तिवारी
संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली,110007

शोधकर- वेद अपौरुषेय एवं सम्पूर्ण ज्ञान का आदि स्रोत है। महर्षि वेदव्यास ने जनसामान्य की सहजता के लिए इसे ऋग्वेद, यजुर्वेद,सामवेद एवं अथर्ववेद संहिताओं के रूप में इसे विभाजित किया। जिसके गम्भीर विषयों का व्यापक रूप से विवेचन ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषदों में प्राप्त होता है। वेदों के उपकारक के रूप में शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण व ज्योतिष षडाङ्गों की रचना हुई। शिक्षा वेदांग के अन्तर्गत मन्त्रों के उच्चारण की प्रक्रिया कि वैज्ञानिकता का बोध होता है। 'हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते' कल्प को वेदपुरुष का हस्त कहा गया है। इसके अन्तर्गत श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्वसूत्र का समावेश किया गया है। इसमें यज्ञ-विधि, संस्कार - व ध, धर्म-निरुपण तथा यज्ञ-वेदी निर्माण की प्र क्रयाओं का उल्लेख सूत्रोक्त विधि द्वारा किया गया है। निरुक्त के अन्तर्गत मन्त्रों में पठित पारिभाषिक शब्दों की वैज्ञानिक पद्धति से व्याख्या तथा निर्वचन आचार्यों के द्वारा किया गया है। छन्द वेदांग के अन्तर्गत वेदों में पठित मन्त्रों की छन्द विवेचना की गई है। व्याकरण के अन्तर्गत मन्त्रों में प्रयुक्त होने वाले पदों की प्रकृति- प्रत्यय का निर्धारण तथा वह पद किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसकी भी समीक्षा की गई है। ज्योतिष वेदांग के अन्तर्गत याग के काल विषयक मुहूर्त चिंतन तथा काल गणना से सम्बन्धित खगोल शास्त्रीय विषयक गम्भीर चिन्तन किया गया है। प्रस्तुत् शोध पत्र में श्रौतसूत्रोक्त यज्ञानुष्ठान के स्वरूप एवं अधिकार से सम्बन्धित विधि की मीमांसा की जायेगी तथा इसके व्यावहारिक पक्ष की समीक्षा की जायेगी।

संकेत शब्द- 1.यज्ञ 2.सोम 3.विधि 4.देवता 5.त्याग

कल्प वेदांग के अन्तर्गत श्रौतसूत्र का सर्वप्रथम स्थान है जिसका उद्देश्य श्रौतयाग से सम्बन्धित विधि का विधान करना है। जिसकी शैली मुख्यरूप से सूत्रात्मक है। श्रौतसूत्र प्रणेता आचार्य वेदोक्त विधि की मीमांसा के प्रसंग में विधि का कथन व्यापक रूप से करते हैं तथा उस विधि में प्रयुक्त होने वाले मन्त्र का संकेत सूत्र रूप में करते हैं। इस विधि का आश्रय सभी श्रौतसूत्रकार आचार्यों ने लिया है। श्रौतसूत्र के अन्तर्गत श्रौतयाग में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य,देवता तथा त्याग विषयक पदार्थों का गम्भीर चिन्तन किया गया है। द्रव्य से तात्पर्य दधि-सोम,ब्रीही-यवादि,देवता से आशय इन्द्र, इन्द्राग्नि, महेद्र,सविता,पुषा,सोमादि तथा त्याग से तात्पर्य उस देवता को उद्देश्य करके श्रुतियुक्त विधि द्वारा किया गया द्रव्य त्याग तथा उसके वृत्ति के अनुकूल किया गया व्यापार त्याग कहलाता है।

मानव जीवन में अग्नि-यज्ञ सम्बन्ध- प्राचीन भारतवर्ष में तत्त्व वेत्ता मन्त्र दृष्टा महर्षियों ने भारतीय संस्कृति के गम्भीर रहस्य यज्ञ विज्ञान को यथा विहित परम्परा का आश्रय ग्रहण करते हुए श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र नामक यज्ञ विधि-निषेध विधान परक ग्रन्थों का प्रणयन किया। श्रौतसूत्र में विहित कर्मों का साक्षात सम्बन्ध श्रुति प्रतिपादित कर्मानुष्ठान से है। श्रौतसूत्र के अन्तर्गत श्रौतयज्ञ में सम्पादित होने वाली समस्त क्रियाओं जैसे द्रव्य,देवता,तथा त्याग विषयक मीमांसा का अक्षरशः निरूपण किया गया है। श्रौतयज्ञ से तात्पर्य श्रौतसूत्रोक्त विधि द्वारा श्रौताधान पूर्वक अग्नित्रय में सम्पादित होने वाले यज्ञ श्रौतयज्ञ कहलाते हैं। इसी प्रकार से गृह्यसूत्र के अन्तर्गत विवाह काल में ग्रहण की गई वैवाहिकाग्नि के मध्य सम्पादित होने वाले स्मृति तथा धर्मशास्त्रोक्त षोडश संस्कार एवं औपासन अनुष्ठान(पाक यज्ञ संस्था) का विधि पूर्वक विवेचन किया गया है। श्रौतसूत्रोक्त तथा गृह्यसूत्रोक्त कर्मों का सम्पादन उत्तरोत्तर अधिकार पर आश्रित है। जिस प्रकार के ब्रह्मचर्य अवस्था में समीदाधानाग्नि तथा विवाहकाल में औपसनाग्नि ग्रहण करके नित्यनैमित्तिक अनुष्ठान का प्रतिपादन किया जाता है। उत्तरोत्तर त्तर औपासन अग्नि का व्यवस्थित अनुष्ठान सम्पादन एवं संरक्षण करने के पश्चात् श्रौताग्नि के संरक्षण करने की योग्यता प्राप्त करके अह्वनीय,गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि नामक श्रौताग्नियों का श्रौतसूत्रोक्त विधि से आधान किया करना चाहिए। इस प्रकार के विधि पूर्वक अग्न्याधान को श्रौताधान कहा गया है। कुछ आचार्यों का मत है की श्रौताधान काल में ही सभ्यावस्थ्य नामक अग्नियों का भी आधान कर लेना चाहिए। मनुष्य जन्म से मृत्यु पर्यन्त तक किसी न किसी प्रकार से अग्नि साक्षात सम्बन्ध रहता है। अग्नि के विना किसी भी नित्यनैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासनादि कर्मों का सम्पादन सम्भव नहीं है। ऐसी भारतीय संस्कृति है ।

अधिकारनिरूपण-कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रथम सूत्र में

यह उल्लेख किया गया है कि स्वशाखा का अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् ही वेद प्रतिपादित अनुष्ठान को करने का अधिकार प्राप्त होता है अथातोधिकारः।[1] श्रौतसूत्र निर्देशित करता है कि अङ्गहीन, अश्रोत्रिय को श्रौत अनुष्ठान का अधिकार नहीं है। जो दृष्टि हीन होगा वह आज्यावेक्षण नहीं कर सकता। जो कर्ण से सुन नहीं सकता वह व्यक्ति यज्ञ काल में पठित मन्त्र को न सुनने के कारण यथा समय पर त्याग नहीं बोल सकता। जो बोल नहीं सकता है ऐसा व्यक्ति व्रतग्रहण त्याग आदि के अनुष्ठान क्रम में मन्त्रोच्चारण नहीं कर सकता। जो पङ्गु व्यक्ति है वह चल करके सम्पादित होने वाले विष्णुक्रमणादि कार्य करने में असमर्थ होता है। जिस व्यक्ति ने स्व शाखा वेदाध्यन नहीं किया है उसे भी श्रौतयज्ञ में अधिकार नहीं है। वेदाध्ययन न होने के कारण द्रव्य,देवता तथा त्याग जैसे कर्मानुष्ठान से वह सर्वदा अनभिज्ञ रहता है यह एक विशेष कारण है जिससे वह श्रौत अनुष्ठानकार्य में असमर्थ रहेगा । एक विशेष कारण यह भी है कि यज्ञ के समय में कब कौन से यज्ञांग का अनुष्ठान किया जाना है और उसमे कौन सा मन्त्र प्रयुक्त होगा वह व्यवहार नहीं कर सकता। श्रौतयाग में पत्नी की पूर्ण सहभागिता होती है जैसे आज्या-वेक्षण आदि कार्य पत्नी के लिए विहित है पत्नी के अभाव में भी यज्ञानुष्ठान करना सम्भव नहीं है नास्ति स्त्रीणा पृथग्यज्ञो न बतं नाप्युपोषणम् । शुश्रूषयति भर्तारं तेन स्वर्गे महीयते ।। [2] सभी यज्ञों में यजमान के समान पत्नी भी दीक्षित होती है मेलनया यजमानं दीक्षयति, योक्त्रेण पत्नीम्।[3] इस प्रकार यद्यपि स्वतन्त्र रूप से पत्नी का अधिकार नहीं है तथापि यजमान के साथ अनुष्ठान में समान अधिकार है ।

श्रुति में ब्राह्मण,क्षत्रिय तथा वैश्य को श्रौतयज्ञ करने का अधिकार प्राप्त है ब्राह्मणराजन्यवैश्यानां श्रुतेः।[4] रथ निर्माणकर्ता जिसे रथकार कहा गया है उन्हे भी श्रौतकर्म के अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त है रथकारस्याघाने।[5] अनुलोम विवाह के क्रम में क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न माहिष्य कहा है तथा वैश्य पुरुष और शूद्रा स्त्री से उत्पन्न करिणी कही है और माहिष्य पुरुष और करिणी स्त्री से जो उत्पन्न होता है वह रथकार कहलाता है। श्रौतसूत्र में रथकार को भी यजमान होने का अधिकार दिया गया है ।

यद्यपि उपर्युक्त योग्यता को धारण करने वाले सभी को याग में यजमान होने के अधिकार है किन्तु ऋत्विज का कर्म में केवल ब्राह्मण ही कर सकता है। यज्ञ में ऋत्विक कर्म करने वाले की मुख्य अहर्ता यह है कि वह स्वशाखा के साथ श्रौतसूत्र का निष्ठा पूर्वक अध्ययन किया हुआ होना चाहिए। ब्राह्मण ही ऋत्विक कर्म करे इसका एक कारण यह भी है कि हवि के शेष का भक्षण और सोमरस के पान का अधिकार भी श्रौतसूत्र में केवल ब्राह्मण को ही प्राप्त है तद्वै नाब्राह्मणः पिवेत्।[6] इस प्रकार भक्षण के निषेध करने से ऋत्विक का निषेध भी प्राप्त हो जाता है। क्योंकि याग में वर्णित विधि के अनुसार में हविः शेष का भक्षण नित्य प्राप्त है। इसी तरह श्रुति में प्राप्त होता है कि सृष्टि में दो ही देवता हैं । देव तथा भूदेव। यज्ञ विहित श्रुति युक्त अनुष्ठान से प्रदत्त आहुति से देवता प्रसन्न होते हैं और दक्षिणा से ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं द्वया वै देवा देवाः, आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान्।[7] इस प्रकार से यज्ञ में दक्षिणा पाने के अधिकारी केवल वेदज्ञ श्रौतनिष्ठ ब्राह्मण ही हैं। दक्षिणा के अभाव में यज्ञ की सफलता नहीं है। फलतस्वरूप ब्राहाण ही यज्ञ में ऋत्विक कर्म के अधिकारी है। इस प्रकार यजमान तथा ऋत्विजों के द्वारा अनुष्ठेय कार्य श्रौतसूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है ।

श्रौतयज्ञ के सम्पदनार्थ यजमान के अधिकार का निरूपण करते हुए महर्षि कात्यायन उद्धृत करते है कि यजमान तीन विशेषणों से युक्त होना चाहिए। सर्वप्रथम उसके पास विद्या हो द्वितीय अग्नि तथा तृतीय सामर्थ्य। यहाँ विद्या का तात्पर्य स्वशाखा अध्ययन से है तथा अग्नि का आशय श्रौतसूत्रोक्त विधि द्वारा किए गए श्रौताधान से है, और सामर्थ्य का अर्थ अंगादि विकाराभाव विकलांगादि दोष राहित्य है। इस प्रकार के विशेषणों से युक्त मनुष्य ही श्रौतकर्म को करने का अधिकारी हो सकता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्स्वर्गकामो यजेत' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि अधिकार विधि विधयक वाक्य हैं जो विधान करता है कि इन यज्ञों का अनुष्ठान करके मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है। जबकि स्वर्ग प्राप्ति में सभी साधारण मनुष्यों का भी अधिकार है किन्तु पूर्व में कहे गए अधिकार निरूपण के प्रसंग में विद्या,अग्नि,तथा सामर्थ्य रूप अधिकार विशिष्ट अधिकार का निरूपण करता है। इसी प्रकार से अन्य स्थानों पर भी विशेष अधिकारों का उल्लेख किया गया है जो केवल अधिकारी के ही अधिकार क्षेत्र का विषय है और वह भी अपने उसी अधिकार के आश्रय के आश्रित हो करके अपने अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। श्रौतसूत्र में विविध अनुष्ठानों के सम्पादन के लिए इस प्रकार की व्यवस्था की गई है। उदाहरण स्वरूप - एक पक्ष तक नित्य सायं-प्रातःकाल अग्निहोत्र होम करने के पश्चात् ही यजमान दर्शपौर्णमास नामक प्रकृति यज्ञ को सम्पादित करने का अधिकारी होता है इसके पश्चात् अग्निहोत्र तथा दर्शपौर्णमास का अनवरत अनुष्ठान करता हुआ यजमान चातुर्मास्य नामक याग करने का अधिकारी हो जाता है तत्पश्चात् चातुर्मास्ययज्ञ का विधि पूर्वक अनुष्ठान करने के पश्चात् श्रौतसूत्रोक्त विधि का आश्रय ग्रहण करते हुए अन्य (दाक्षायण एवं अग्रायण) श्रौतसूत्रोक्त विहित अनुष्ठान को पूर्ण करता हुआ निरुढपशुबन्ध नामक पशु याग को करने का अधिकारी हो जाता है। इसी प्रकार से एक यज्ञ के विधि पूर्वक

सम्पादित हो जाने के पश्चात् यजमान को उत्तरोत्तर यज्ञों के सम्पादन का अधिकार प्राप्त होता जाता है ऐसी श्रुति है-
न नियमनिमित्ताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासदाक्षायणाग्रयणपशुषु प्रवृत्तेः।[8]

धर्मसूत्रों में इक्कीस प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान का उल्लेख किया गया है महर्षि गौतम ने इनकी गणना संस्कारों के अन्तर्गत की है-
गर्भाधानपुंसवनसामन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौ
लोपनयनं चत्वारि वेदव्रतानि स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मणामेतेषां च अष्टका पार्वणं श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्रयाश्वयुजी चेति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः अग्नचाधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ आग्रयण- चातुर्मास्यानि निरूढपशुवन्धः सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थयष्पोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्यामा इति सप्त सोमसंस्थाः इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः।[9]

सप्त पाकयज्ञसंस्था, सप्त हविर्यज्ञसंस्था तथा सप्त सोमयज्ञसंस्था जिसमे सप्त पाकयज्ञसंस्था स्मार्त यज्ञ के अन्तर्गत वर्णित है तथा सप्त हविर्यज्ञसंस्था एवं सप्त सोमयज्ञसंस्था को श्रौतयज्ञ के अन्तर्गत निबद्ध किया गया है। औपासनहोम, वैश्वदेव,पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, श्रवणा तथा शूलगव सप्त पाकयज्ञ है। जिसका अनुष्ठान वैवाहिकाग्नि में सम्पादित होता है। इस अग्नि को ग्रहण करने के लिए गृह्यसूत्र में मुख्य रूप से दो पक्ष बताये गये हैं। प्रथम पक्ष विवाह कल में चतुर्थी कर्म के पश्चात् अग्नि ग्रहण करे जिसे वैवाहिकाग्नि(आवस्थ्य) की संज्ञा दी गई है आवसथ्याधानं दारकाले ।[10] द्वितीय पक्ष जब घर में बँटवारा हो उस समय आवसथ्य नामक अग्नि ग्रहण करे दायाद्यकाल एकेषाम्।[11]भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा।[12]कर्म स्मार्त विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही। दायकालादृते वापि श्रोतं वैतानिकाग्निषु ।[13]

इसी गृह्यग्नि(आवसथ्याग्नि)में स्वशाखा के स्वगृह्यसूत्रोक्त विधि द्वारा सप्त पाकसंस्था यज्ञों का अनुष्ठान सम्पादित किया जाना चाहिए। सप्त हवीर्यज्ञसंस्था के अन्तर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुवन्ध, तथा सोत्रामणी नामक यज्ञों का समावेश किया गया है। सप्त सोमयज्ञसंस्था के अन्तर्गत अग्निष्टोम,अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य,षोडशी,वाजपेय,अतिरात्र,तथा अप्तोर्याम नामक यज्ञों का समावेश किया गया है ।स्वशाखा के अनुरूप स्वश्रौतसूत्रोक्त विधि द्वारा वसन्तादि ऋतु में श्रौताधान पूर्वक सप्त हविर्यज्ञसंस्था तथा सप्त सोमयज्ञसंस्था उभय संस्था के श्रौतयज्ञों का सम्पादन स्वश्रौतसूत्रोक्त विधि द्वारा आहिताग्नि सम्पादित करता है।

श्रौतसूत्र का संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध - संहिता के अन्तर्गत यज्ञ सम्पादन क्रम से मन्त्र पठित हैं। यही क्रम ब्राह्मणों में भी यथावत दृष्टिगोचर होता है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ के मध्य एक विशेष भेद यह है कि संहिता में मन्त्र केवल मूल रूप में प्राप्त होते है और इस मन्त्र का विनियोग कहा किया जाये यह स्पष्ट नहीं होता जबकि ब्राह्मण ग्रन्थ में मन्त्र तथा उसका विनियोग किस स्थान पर व किस प्रकार से किया जाये इस विषय को लेकर गम्भीर चिंतन प्राप्त होता है। प्रयोग की दृष्टि से संहिता की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थ में श्रौतानुष्ठान विषयक क्रमबद्ध चिन्तन किया गया है। जिसमें प्रधानरूप से श्रौतयज्ञ की परम्परा,प्रकृति,प्रयोगविधि,समय,अधिकारी आदि का निरूपण व्यापक रूप से प्राप्त होता है। इस प्रकार से हम निर्णायक रूप से कहा जा सकता है कि श्रौतसूत्र का मूल आधार स्रोत संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ हैं।

श्रौतसूत्र की उपदेयता - श्रुति विहित यज्ञादि अनुष्ठान की सांगोपांगविधि को क्रमबद्ध रूप से प्रयोगात्मक कलेवर श्रौतसूत्र प्रदान करता है। श्रौतसूत्र के अन्तर्गत लघु तथा वृहदकाय दोनों प्रकार के श्रौतयाग और उन्हें किस प्रकार से सम्पादित किया जाए इसकी विधि का सूत्रात्मक रूप वर्णन किया गया है। प्रारम्भ से अन्त तक का श्रौतकर्म प्रयुक्त होने वाली अनुष्ठानात्मक प्रक्रिया कदम-कदम पर नियमों से बधी हुई है। उदाहरणस्वरूप- "उदिते जुहोति"; उदिते सूर्ये ब्रह्मवरणाद्युपक्रमः अर्थात् सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र होम तथा याग के निमित्त ऋत्विजों का वरण करना चाहिये।[14] इष्टि के द्रव्य के रूप में यज्ञ प्रमुख देवता को उद्देश्य करके पुरोडाश निर्माणार्थ प्रत्येक पुरोडाश के निमित्त चार मुट्ठी आटा लिया जाता है। उनमें भी प्रथम तीन मुट्ठी आटे का ग्रहण समन्त्रक और चौथी मुट्ठी आटे का ग्रहण अमन्त्रक किया जाता है एसी विधि है। याग करने के निमित्त स्रुचियों को लेकर अध्वर्यु जब जुहोतिस्थान से यजतिस्थान पर जाय तब उसे बायाँ पैर आगे रखते हुए जाना चाहिये तथा यजतिस्थान से लौटने के समय दाहिना पैर आगे रखते हुए लौटना चाहिये इस प्रकार की विधि है सव्येनेतो दक्षिणेनामुतः।[15] साथ ही ऋत्विक को यह भी स्मरण रखना चाहिये कि किसी भी समय वह अपना पैर वेदि में न रखे। इस प्रकार पद-पद पर कही गयी विधि की जटिलता का निर्वाह श्रौतसूत्र के बिना सम्भव नहीं हो सकता।

श्रौतसूत्र का स्वरूप- श्रौतयाग का विधान श्रुति के यथावत् निर्देश के अनुसार हो सके यही श्रौतसूत्र का मुख्य प्रयोजन है। चारों वेदों के शाखा भेद से सभी शाखाओं के अपने-अपने स्वतन्त्र श्रौतसूत्र हैं। ऋग्वेद के शांखायन और आश्वलायन दो श्रौतसूत्र प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद के दो विभाग है शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद के भी आपस में दो विभाग हैं शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी और कण्व इन दोनों ही शाखाओं के लिए केवल एकमात्र कात्यायन श्रौतसूत्र है और यह शाखायें उत्तर भारत में बहुप्रचलित हैं। कृष्णयजुर्वेद के आपस्तम्ब,

बौधायन, सत्याषाढ, बाराह, वैखानस, मानव, भारद्वाज,बाधूल,संशक,तथा हिरण्याकेशी आदि सर्वाधिक श्रौतसूत्र इस शाखा में प्राप्त होते है। कृष्णयजूर्वेद का पठन-पाठन मुख्य रूप से द्रविणदेश (दक्षिणभरत) में होता है। सामवेद के अनेक श्रौतसूत्र हैं जिनमे से कुछ का प्रकाशन हुआ है शेष अमुद्रित अवस्था में हैं। उनमें लाट्यायन, निदात, क्षुद्ध, जैमिनि, पञ्चविध तथा दाह्यरायण श्रौतसूत्र हमें मुद्रित अवस्था में प्राप्त है। जबकि कल्पसूत्र, कल्पानुपद, अनुपद और अनुस्तोत्र प्रभृति सूत्र अप्रकाशित अवस्था में हैं। अथर्ववेद का एक मात्र वैतान श्रौतसूत्र है।

श्रौतसूत्र का प्रतिपाद्य- श्रौतसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय श्रौतयज्ञ है। जिसके अन्तर्गत वेदोक्त कर्मानुष्ठान एवं श्रौतविधानों का विधि-निषेध परक यज्ञादि कर्मों के प्रतिपादन का वर्णन सावधानी पूर्वक किया गया है। इसे श्रौतयाग का नियमबद्ध अनुष्ठानिक संविधान कह सकते हैं। श्रौतसूत्र वस्तुतः श्रौतकर्मानुष्ठान के हाथ की भाँति हैं। सम्भवतःकल्प को वेदपुरुष (यज्ञपुरुष) के हस्त की संज्ञा दी गई है। यद्यपि सभी श्रौतसूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रौतयज्ञ है तथापि इन सभी श्रौतसूत्रों के विविध प्रतिपाद्य विषय में विविध स्थानों पर सूक्ष्म भेद भी है। उन भेदों की यदि परिकल्पना की जाये तो मुख्य रूप से इनके पाँच भेद हो सकते है। प्रथम याजमान द्वारा सम्पाद्य विधि, द्वितीय हौत्र कर्म ,तृतीय अध्वर्यव कृत्य, चतुर्थ औद्गात्र कृत्य एवं पञ्चम ब्रह्मत्व कृत्य है। इन लोगों के द्वारा किए गए यज्ञांग कृत्यों का प्रतिपादन विभिन्न श्रौतसूत्रों के द्वारा किया गया है। यह विभाजन वेद के आधार पर होता है। गोपथ ब्राह्मण में वर्णन आता है कि ऋग्वेद से हौत्र कर्म, यजुर्वेद से आध्वर्यव कर्म, सामवेद से औद्गात्र और अथर्ववेद से ब्रह्मत्व कर्म का सम्पादन विहित परम्परा के अनुसार करना चाहिये। प्रत्येक ऋत्विकों के यज्ञ भेद से अनेक कृत्य हैं और उनका भेद कई प्रकार किया जा सकता है। किसी भी लघु अथवा वृहद्काय यज्ञ के अनुष्ठान में चारों वेदों की आवश्यकता होती है। श्रौतसूत्र में कर्म का त्रिविध निरूपण किया गया है। प्रथम होम द्वितीय इष्टि तृतीय पाक। लगभग सभी यज्ञों के कुछ यज्ञांश प्रकृति विधान के अनुसार, कुछ यज्ञांश विकृति विधान के अनुसार अन्य कृत्य उभयात्मक विधि पर आश्रित होता है।

प्रकृति कर्मानुष्ठान- जिस अनुष्ठानिक कर्म का ववेचन करते समय अन्य समस्त अंगों का सविस्तार पूर्वक वर्णन किया जाता है उसे प्रकृति कर्म की संज्ञा दी गई है। ऐसे कर्म को प्रकृति होम, प्रकृति इष्टि तथा प्रकृति याग की संज्ञा दी गई है। उदाहरणस्वरूप - अग्निहोत्र होम अन्य सभी होम की प्रकृति है, दर्शपौर्णमासयाग अन्य सभी इष्टि यागों की प्रकृति है इसी प्रकार से अग्निष्टोमयाग सभी सोमयागों की प्रकृति है।

विकृति कर्मानुष्ठान- श्रौतसूत्रों में जिस अनुष्ठान का वर्णन करते समय उसमें होने वाले केवल विशेष कृत्यों का वर्णन किया जाता है उन्हें विकृति की संज्ञा दी गई है। अन्य सभी कर्म प्रकृतिवत अनुस्यूत होते हैं। उदाहरणस्वरूप- उपयढ्ढोम अग्निहोत्रहोम की विकृति है, मित्रविन्दा इष्टि पौर्णमासेष्टि की विकृति है तथा अग्निष्टोम के अनन्तर होने वाले अत्याग्निष्टोम याग अग्निष्टोमयाग को विकृति हैं। इसी कारण श्रौतसूत्रों में पौर्णमासेष्टि और अग्निष्टोमयाग का विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया है।

उभयात्मक कर्मानुष्ठान- श्रौतसूत्रों में प्रकृति कर्म और विकृति कर्म के इतर कुछ कर्म स्वतंत्र रूप से कहे गये हैं जिन्हें प्रकृति और विकृति उभयात्मक कर्म कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप अग्निष्टोम याग उभयात्मक है। इस याग में सम्पादित होने वाला अग्निषोमीय याग दर्शपौर्णमास याग की विकृति होने के बाद भी यह अग्निष्टोम याग के अनन्तर होने वाले अन्य सभी यागों का प्रकृतिरूप है। फलस्वरूप अग्निष्टोम याग में विद्यमान प्रकृति और विकृति इन दोनों के लक्षण होने के ब्याज से इसे उभयात्मक कर्म की संज्ञा दी गई है।

श्रौत कर्मानुष्ठान के प्रकार

श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत कर्मानुष्ठान के चार स्वरूप वर्णित हैं - नित्यकर्म , नैमित्तिक कर्म , काम्य कर्म एवं निषिद्ध कर्म-

नित्यकर्म- यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत तथा ताभ्यां यावज्जीवं यजेत, त्रिशतं वा वर्षाणि, जीर्णो वा विरमेत्[16] इत्यादि श्रुतियुक्त प्रमाणों से जिस कर्म का अनिवार्य रूप से अनुष्ठान करना विहित है उन कर्मों को नित्य कर्म की संज्ञा दोई गई है। उन कर्मों का यथाविहित नियम से सम्पादित न करने से मनुष्य को प्रत्यवाय का दोष लगता है। उदाहरणस्वरूप- अग्निहोत्र होम , दर्शपौर्णमास याग, संध्यावन्दनादि प्रभृति कर्म नित्य कर्म संज्ञक हैं।

नैमित्तिककर्म- जिस अग्निहोत्री के घर में आग लग जाय उसे अग्निदेवता-निमित्तक अष्ट कपाल पुरोडाश की इष्टि करना चाहिए यस्य गृहान्दहत्यग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्।[17] इसी प्रकार से जब अग्निहोत्री के घर पुत्र जन्म लेता है उसके निमित्त जातेष्टि नामक इष्टि संस्कार को नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं ।

काम्यकर्म - किसी प्रकार की कामना से प्रेरित होकर जिस कर्मानुष्ठान को किया जाता है वह काम्य-कर्म कहलाता है। उदाहरणस्वरूप यदि यजमान श्री, राष्ट्र, मित्र और आयुष्य की कामना रखता है तो उसे मित्रविन्दा नामक इष्टि करनी चाहिए मित्रविन्दा श्रीराष्ट्रमित्रायुष्कामस्य।[18] वृष्टि अभिलाषा रखने वाले यजमान को कारीरी नामक इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए 'कारीर्या यजेत वृष्टिकामः' वृष्टि। [19]

निषिद्ध कर्म- श्रुति तथा स्मृतियों में जिन कर्मों का निषेध किया गया है उन्हें निषिद्ध कर्म की कोटि में रखा गया है।[20]महर्षि गौतम ने गौतम धर्मसूत्र निषिद्ध कर्म को इस प्रकार से कहते हैं कि म्लेच्छ,अपवित्र तथा अधार्मिक व्यक्ति के साथ वार्ता नहीं करना चाहिए न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह सम्भाषेत।[21] पंखा, शूर्प और हाथ से अग्नि-प्रज्वालन कार्य नहीं करना चाहिए। इत्यादि श्रुति वाक्यों से वर्णित कर्म को निषिद्ध कर्म की संज्ञा दी गई है।

श्रौतयज्ञ - श्रौतयज्ञ मुख्यरूप से आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि नामक तीन श्रौताग्नियों के मध्य सम्पादित होने वाला अत्यन्त लोक व्यावहारिक व वैज्ञानिक कृत्य है। आचार्य मनु ने इन अग्नियों की तुलना मनुष्य के जीवन के आधायक तत्त्व माता पिता तथा गुरु से की है। जिसमें आहवनीय को आचार्य, गार्हपत्य को पिता व दक्षिणानि को माता की संज्ञा दी ।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ।।[22]

वेदी निर्माण में प्रयुक्त होने वाली विधि गणितशास्त्र के उत्कर्ष को रेखांकित करती है। याग में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य, समिध, हवि-निर्माण की विधि तथा यज्ञ में पठित मन्त्र एवं परस्पर ऋत्विकों के द्वारा संवाद,पत्रासादन मन्त्रान्त आहुति आदि याज्ञिक कृत्य अत्यन्त वैज्ञानिक हैं।

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा एवं संस्कृति के मूल में यज्ञानुष्ठान है। आज भी पर्यावरणीय सन्तुलन के लिए यज्ञ उतना ही कल्याणकारक है जितना वैदिक काल में था। यदि श्रौतोक्त विधि द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान किया सम्पादित किया जाये तो आज भी अतिवृष्टि अनावृष्टि जैसे समस्याओं का समाधान हो सकता है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. का.श्रौ.1.1.1
2. मा.स्मृ.5.155
3. तै. सं. 6.1.3
4. का.श्रौ.1.1.6
5. का.श्रौ.1.1.9
6. शा.ब्रा.2.3.1.29
7. शा. ब्रा. 2.1.6.6.
8. का.श्रौ.1.1.32
9. गौ.ध.8.14-22
10. पा.गृ.1.2
11. पा.गृ.1.2
12. गौ.ध.1.5.6
13. या.स्मृ.5.17
14. दे.प.पृ.25
15. का. श्रौ.3.19
16. आप.श्रौ. 3.14.11
17. तै. सं. 2.2.2
18. का.श्रौ. 5.121
19. का.श्रौ.5.12.1
20. आ.श्रौ.19.27.23
21. गौ.ध.1.9.17
22. मनु.स्मृ. 2.231

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वाजसनेयि-संहिता (उव्वट एवं महीधर भाष्य सहित) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1912.
2. ताण्ड्य ब्राह्मण (सायणभाष्य सहित) चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1935
3. शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन सायण भाष्य सहित) वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1940
4. मैत्रायणी संहिता, दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, गुजरात, 1942
5. अथर्ववेद का सुबोध भाष्य दामोदर सातवलेकर (भाष्य) स्वाध्याय मण्डल, पारडी, गुजरात,1957
6. निरुक्त (यास्क रचित) छज्जूराम शास्त्री तथा पं० देव शर्मा शास्त्री (सम्पा.) भारत भारती, दिल्ली, 1963
7. भारद्वाज श्रौतसूत्र, काशिकर, सी०जी० वैदिकसंशोधन मण्डल, पूना, 1964
8. कात्यायन श्रौतसूत्र, श्रीविद्याधरशर्मणा, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी संवत्, 1987
9. सरस्वती स्वामी सत्यप्रकाश, शतपथ ब्राह्मण, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1998
10. यजुर्वेद का सुबोध भाष्य दामोदरसातवलेकर (भाष्य) स्वाध्याय मण्डल, पारडी, गुजरात, 1999
11. ऋग्वेद का सुबोध भाष्य दामोदर सातवलेकर (भाष्य) स्वाध्याय मण्डल, पारडी, गुजरात,2000.
12. अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण, ओम प्रकाश पाण्डेय (सम्पा.) पेन मैन पब्लिसर्स, दिल्ली, 2002.

*****

ढूंढ़ाड़ी भाषा के लोकगीतों में स्त्री और समाज

-डॉ. रामचंद्र मीना
सहायक आचार्य
श्यामा प्रसाद मुखर्जी कॉलेज ऑफ़ वीमेन
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

लोकगीत, लोकसाहित्य की एक विद्या हैं। जिन्हें एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता हैं। सामान्यतः लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए गाये गये गीतों को लोकगीत कहाँ जाता हैं। लोकगीत एक कंठ से दुसरे कंठ, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक यात्रा करते है। हिंदी साहित्य कोश के अनुसार "लोकगीत सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त लोकमानस की सुख-दुखात्मक अनुभूतियों की सरस रागात्मक अभिव्यंजना का लयनात्मक उपहार हैं।"[1] लोकगीत अपनी संस्कृति एवं परम्परा को संरक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये गीत पीढ़ियों से चले आ रही कहानियों, मिथकों और रीति-रिवाजों को संजोए रखते हैं। यह साहित्य मौखिक होता हैं और परम्परागत रूप से चला आ रहा हैं। 'लोक' शब्द से एक समाज का बोध होता हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम' से नहीं हैं। बल्कि नगर या ग्रामों में फैली समस्त जनता से हैं। जिसकें व्यवहारिक ज्ञान का आधार साधारण पोंथियां नहीं हैं। ये लोक नगर में परिष्कृत रूचि संपन्न तथा संस्कृति समझे जाने वाले की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।"[2] इस प्रकार 'लोक' मानवीय समाज का एक वर्ग है तथा लोकगीत सामाजिक संरचना को समझने में मदद करते हैं। वे जाति, वर्ग, लिंग और अन्य सामाजिक वर्गों के बीच संबंधों को प्रकट करते हैं। लोकगीतों के माध्यम से मानव जीवन के जन्म से लेकर मृत्यु के संस्कार, माता-पिता के करुण स्वर, आनंद, विवाह का अवसर, बधाई या मंगलाचार आदि को अभिव्यक्त किया जाता हैं। साथ ही लोकगीतों में अलग-अलग क्षेत्रीय एवं स्थानीय भाषा, बोली, संस्कृति, रहन-सहन में संवाद देखने को मिलते हैं। भारत एक बहुभाषिक देश हैं। यहाँ सांस्कृतिक विविधता के साथ-साथ भाषायी विविधता भी देखने को मिलती हैं। लोकगीत भी अलग-अलग क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों में लिखे गए हैं, जैसे भोजपुरी, मैथिली, मराठी, पहाड़ी, बृज, मारवाड़ी तथा ढूंढ़ाड़ी आदि प्रमुख क्षेत्रीय भाषाएँ और बोलिया हैं।

राजस्थान का अपना गौरवमयी इतिहास रहा हैं। यहाँ की लोक-संस्कृति में लोकगीत रचे-बसे हैं। राजस्थानी भाषा की बोलियों में मारवाड़ी, मेवाती, मालवी एवं ढूंढ़ाड़ी प्रमुख हैं। ढूंढ़ाड़ी राजस्थान की प्रमुख बोली है। इसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान हैं जिसे ढूंढ़ाड़ प्रदेश भी कहाँ जाता हैं। ढूंढ़ाड़ी बोली को जयपुरी या झाड़शाही भी कहाँ जाता है। यह भाषा अजमेर, टोंक, जयपुर, दौसा व अलवर के कुछ भागों में बोली जाती हैं। ढूंढ़ाड़ी बोली की उपबोलियों में तोरावती, नागरचोल, चौरासी, हाड़ोती आदि प्रमुख हैं। ढूंढ़ाड़ी शब्द की उत्पत्ति 'ढूंढ़' शब्द से हुई हैं जिसका मतलब होता है टीला। अतः इस क्षेत्र से बहने वाली 'ढूंढ़' नदी के नाम से इसको ढूंढ़ाड़ी कहाँ जाता है। इस संबंध में इतिहास वेत्ता कर्नल टॉड ने लिखा है, "पूर्व काल में जो बनेर नामक स्थान के निकट ही ढूंढ़ नाम का विख्यात शिखर था उसी से ढूंढ़ाड़ नाम की उत्पत्ति हुई हैं। ढूंढ़ शिखर के संबंध में चौहान जाति में एक कथा प्रचलित है कि चौहान जाति के विख्यात राजा बीसलदेव ने इसी शिखर पर तपस्या की थी।"[3] ढूंढ़ाड़ प्रदेश के लोकगीतों की परम्परा बहुत पुरानी हैं। इन गीतों का एक चरण प्राचीन है तो एक आधुनिक । यहाँ के गीतों में एक ओर प्राचीन आख्यान मिलते है, वहीं दुसरों ओर आधुनिक समाज का वास्तविक स्वरूप देखने को मिलता हैं। ढूंढ़ाड़ी भाषा के लोकगीतों का गायन जन्म, मुंडन, विवाह, मिलन-वियोग, प्रेम-हर्ष, विषाद तथा उत्सव आदि अवसरों पर होता रहा हैं। जिसमें एक ओर सांस्कृतिक विविधता एवं भक्ति भावना मिलती है वहीं दूसरी ओर समाज में व्याप्त सामाजिक कुप्रथाएं, स्त्री के प्रति समाज का दृष्टिकोण, कन्या भ्रूण हत्या, दहेज़ प्रथा, स्त्री शिक्षा तथा स्त्री-पुरुष समानता के प्रश्न आदि सामाजिक समस्या का यथार्थ चित्रण ढूंढ़ाड़ी भाषा के लोकगीतों में मिलता हैं।

लोकगीतों के माध्यम से राजस्थानी संस्कृति को जोड़ने के साथ-साथ समाज व स्त्री चेतना का प्रतिबिम्ब दिखाई देता हैं। विवाह के पश्चात् स्त्री ग्रहस्थ जीवन में प्रवेश करती हैं। पति की सहधर्मिणी होने के नाते उसके भी वे सब अधिकार और कर्तव्य होते है, जो पति के होते हैं। ससुराल में वधु के आते ही चारों और प्रेम-स्नेह की वर्षा होने लगती हैं। वधु अपनी सास के

स्नेह को देख कर कहती हैं--

ई कलजुग में दोई भला
इक माय दूजी सास।
माय ने जण जन्म दिया
सासू ने दिया घर बार
ई कलजुग में दोई भला
इक ससुराजी दूजा बाप
दादाजी दरब लुटाइयो
ससुराजी लाया दल जोड़
ई कलजुग में दोई भला
एक राजन दूजा वीर
वीर उढ़ावे वाला चुंदड़ी
सायब जी रों अछबल राज
सायब जी रों दूनो डोडो राज।

वधु ने सास से कहाँ कि इस काल में दो ही तो भले हैं पहली माँ, जिसने जन्म दिया हैं और दूसरी सासू, जिसने घरबार दिया। इस युग में दो ही भले हैं, पहले ससुराजी और दुसरे पिताजी। पिताजी ने प्यार लुटाया है और ससुराजी विवाह करवा के लाये है। इस युग में दो ही भले है, पहले राजन (पतिदेव) और दूसरा भाई। भाई चुंदड़ी उढाता है, और पतिदेव की छत्रछाया में मैं राज करती हूँ। उपर्युक्त लोकगीत की पंक्तियों में नवागता वधु ने किस खूबी से अपने मायके और ससुराल की तुलना करके दोनों को समान ठहराया हैं।

भारतीय समाज में पुरुषाधिपत्य से लाखों स्त्रियाँ दबी पड़ी हैं। लिंग विभेद अथार्त् समाज में स्त्री का अपमान पुरुष का सम्मान, पुरुषों की भूमिका श्रेष्ठ व महत्वपूर्ण और स्त्री की भूमिका को हीन माना जाता रहा हैं। किसान परिवार की नारी की दशा पर लोकगीत का प्रखर पक्ष सामने आता है --

ओंरी जीजी, हम्बे जीजी
भायों खेंवे थ्हारी जीजी सु कह दीज्यो
बथुओं रादें, सैके मक्का रोटी
और खेंवे घोड़-घाडछाछ राबड़ी लाज्यो
जीजी भागे बथुआ काटन बेटी सेके रोटी
बेटी खेंवे हम्बे जीजी लागे भूख पेटी
बेटी खावे रोटी-तो जीजी बांधे रोटी
भायों देखे जोत में कब आवैं बेटी
बेटी पहुचें खेत में हैल्यों भायों पावैं
अब भायों धाम-धूम रोटी खाबा आवैं
बेटी घालें रोटी भायों खावे रोटी
बेटी खेवें भायों कैसी लागे मक्का रोटी
भायों खेवें या जून मे आछी बथुआ
मक्का रोटी।

उपयुक्त पंक्तियों में किसान आदिवासी नारी की दशा से अवगत हो सकते हैं। इस लोकगीत के माध्यम से नारी और पुरुष की स्थिति से पता चलता है कि जब एक किसान पुरुष जून के महीने में खेत में कार्य करने के लिए जाता है पत्नी और बेटी भी साथ जाती हैं। दोपहर होने लगती हैं, भूख लगने लगती है तो किसान पत्नी से कहता है कि भूख लगने लगी हैं। पत्नी दौड़कर घर जाती हैं और मवेशियों को पानी पिलाकर बेटी का इन्तजार करती हैं। बेटी जब घर पहुचती है तो माँ और बेटी के बीच संवाद देखने को मिलता हैं। राजस्थान के माड़ श्रेत्र में जब एक किसान परिवार को खेत में काम करते समय भूख लगती है तो वह किसान इस लोकगीत को गुनगुनाकर अपने पेट की भूख शांत कर लेता हैं। इस लोकगीत के माध्यम से एक किसान परिवार की स्थिति के साथ-साथ पुरुष के जीवन में स्त्री के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया हैं।

भारतीय समाज में बाल-विवाह बहुत अधिक होते रहे हैं। जबकि हमारे भारत का संविधान और कानून इसके खिलाफ़ हैं। ढूंढ़ाड़ श्रेत्र में भी बाल विवाह प्रमुख समस्या रही हैं यहाँ की बच्चियों को भी इस समस्या से जूझना पड़ता हैं। बाल-विवाह के विरोध में लोकगीत गाये गये हैं—

नौड़ो-नौड़ो ब्याहखाज्या पां वड़ा पुड़ी
छोट्या बाड़क मत परणाओं छोड़ों पाछली रोड़ी
पहले पढ़ा लिख्याकर हो पैरों पे खड़ा
म्हारीं मन की बात बता दुकौने मार रै पौड़ा

इस लोकगीत के माध्यम से समाज में हो रहे बाल-विवाह के प्रति विरोध प्रकट किया हैं। लोकगीत में कहाँ गया है कि लोग जल्दी-जल्दी आकर विवाह में पुआ-पुड़ी खाते हैं। छोटे बच्चे की शादी मत करो, पुरानी बाते छोड़ो। पहले बच्चे को पढ़ा-लिखाकर पैरो पर खड़ा करों उसके बाद ही विवाह करो। इस प्रकार ढूंढ़ाड़ी भाषा के लोकगीतों के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त बाल-विवाह जैसी प्रथा पर तीखा प्रहार किया गया हैं। बालविवाह के लेकर यह लोकगीत प्रसिद्ध है---

काका तौने छोटी सी को ब्याह करा दीयों
घुघट कांड कोन जाणु
ननद-भौजाई से बात कोन कर जाणु
काका तौने छोटी सी को ब्याह करा दीयों।

इस प्रकार जब कम उम्र में बेटी की शादी हो जाने पर ससुराल में किस तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता हैं। इसके सम्बन्ध में बेटी अपने काका(पिताजी) से संवाद कर रही है कि काका आपने मेरा विवाह छोटी सी उम्र में ही कर दिया हैं। जिसके कारण मैं न तो ससुराल में घुघट

निकलना जानती हूँ और न ही ननद-सासू से बात करना जानती हूँ।

ढूंढ़ाड़ी भाषा के लोकगीतों में नारी के दो रूप देखने को मिलते हैं। एक ओर तो नारी चतुर ग्रहणी, आज्ञाकारी पत्नी, ग्रहलक्ष्मी एवं प्रियतमा है वहीं दूसरी ओर निंदक, अत्याचारिणी, जलने वाली एवं अयोग्य पत्नी हैं। समाज में कन्या के जन्म को शुभ नहीं माना जाता हैं। किसी स्त्री का महत्त्व पुत्र जन्म होने से मिलता हैं। पुत्र के जन्म होने पर अच्छे व्यंजन मिलते है वहीं पुत्री के जन्म होने पर साधारण खाना दिया जाता हैं। इस लोकगीत में पति पत्नी से कहता है---

हँस हँस बाँधी पागडी जी
काई झटक संभाल्यों पेच
या लो सुंदर औवरों जी
जो घर जन्मी ड़ावडी जी
थां ने दांगा जी पीर खंदाय
बधाई सुंदर कुण करे जी
थां के अमल्यों का लाडू बंधाय
बधाई थाका बाओ करे जी
जो था जन्मी जी ड़ावडी जी
दादाजी को वंश बड़ाय जी।

इस लोकगीत में कमरे से निकलते समय सुन्दरी पत्नी को भी पति यह कहता है कि प्रिय! पुत्र उत्पन्न करना, पुत्री उत्पन्न किया तो तुम्हे पीहर भिजवा दूँगा और इमली के लड्डू खाने को मिलेंगे; और यदि तुमने पुत्र को जन्म दिया तो वह दादाजी का वंश बढ़ायेगा, तुम्हारे लिए कीमती वस्त्र का पर्दा तनवा कर महल में खाट बिछवाऊंगा। इस लोकगीत के माध्यम से ससुराल में स्त्री की स्थिति का पता चलता हैं। पुत्री के जन्म होने पर समाज उसे हीनता की दृष्टि से देखता हैं। आज भी समाज को कन्या-भ्रूण हत्या जैसी विकट समस्या का सामना करना पड़ रहा हैं।

भारतीय समाज में दहेज़ प्रथा को एक अभिशाप के रूप में माना जाता हैं। लड़का पक्ष मनमाने रूप से लड़की पक्ष के पास दहेज़ मागता है और लड़की पक्ष की तरफ से दहेज़ न देने पर लड़की को उत्पीड़न और दंड का सामना करना पड़ता हैं। ढूंढ़ाड़ी भाषा के लोकगीतों में दहेज़ प्रथा के प्रति जागरूक करने का प्रयास किया हैं और इसका वरोध प्रकट किया गया हैं। इस लोक गीत में दहेज़ प्रथा की समस्या को अभिव्यक्त किया हैं –

जों मांगे छे पिसा जाने राख दयों भूखा
कोई-कोई बहु का भूखा रह च कोई दहेज़ का भूखा,
सासरा में नखरे रेवे काजल-टिकी को
छोरी मारी वजह सू लुट गों घर काका र जीजी को,
मांगे तो दहेज़ छोरो देख ज्यो मतअ
काका र मारा रह जावंगी कुंवारी
धरती बेच ज्यो मत।

इस लोकगीत में दहेज़ प्रथा का विरोध किया गया हैं। जिसमें कहाँ गया है, कि जो पैसे(दहेज़) मागते हैं उनको यहाँ कोई अपनी लड़की मत देना क्योंकि समाज में कुछ लोग बहु के लिए सोचते है तो कुछ लोग केवल दहेज़ के बारे में सोचते है। लड़की के लिए ससुराल में केवल काजल-टिकी जरूरी होती है लेकिन दहेज़ की वजह से लड़की के माता-पिता का घर लुट जाता हैं। इन तमाम समस्याओं को देखते हुए लड़की पिता से संवाद कर रहीं है, कि काका(पिताजी) कोई अगर दहेज़ मागता है तो मेरे लिए लड़का मत देखना, मैं जीवन भर कुवारी रह लुंगी। लेकिन मैं नहीं चाहती मेरे दहेज़ के लिए आप जमीन बेचों। इस प्रकार भारतीय समाज में दहेज़ प्रथा एक विकट समस्या हैं जिसकी वजह से न केवल लड़की का जीवन बर्बाद होता हैं बल्कि उसके माता-पिता भी लम्बे समय तक इस समस्या से बाहर नहीं निकल पाते हैं। आज भी देश में स्त्रियों को दहेज़ की वजह से ससुराल में उत्पीड़न और शोषण का शिकार होना पड़ता हैं और अंत में आत्महत्या करने को मजबूर हो जाती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त ढूंढ़ाड़ी भाषा के लोकगीतों के माध्यम से स्त्री और समाज का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता हैं। ढूंढ़ाड़ क्षेत्र के लोग आज भी लोकगीतों के माध्यम से समाज में व्याप्त सामाजिक कुप्रथाओं, समाज में स्त्री का शोषण, नारी शिक्षा आदि को लेकर लोगों में चेतना जागृत करते हैं। पूर्वी राजस्थान में मीणा गीत दंगल, कन्हैया गीत दंगल, कालबेलिया गीत और रात्री जागरण आदि आयोजनों के द्वारा लोकगीतों का गायन किया जाता रहा हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ढूंढ़ाड़ क्षेत्र के लोकगीतों में बढ़ा रहस्य छुपा हुआ हैं। इनको नहीं अपनाया गया तो धीरे-धीरे हमारे समाज की लोक-संस्कृति जर-जर अवस्था में आने लगेगी और भारतीय समाज की मूल संस्कृति का विनाश होता चला जाएगा और पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव देखने को मिलेगा। इसलिए समाज में लोकगीतों का अपना महत्त्व हैं।

1. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान संपादक) हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, पृष्ठ संख्या 118
2. . द्विवेदी, हजारी प्रसाद, जनपद, वर्ष 1 पृष्ठ 65
3. . बलदेव प्रसाद मिश्र, ज्वाला प्रसाद मिश्र एवं राय मुंशी देवी प्रसाद (अनुवादक एवं संपादक) जैम्स टॉड कृत जयपुर और शेखावाटी राज्य का इतिहास, 1987 .

*****

लोक संस्कृति में मौखिक साहित्य

कु शीतल
शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
फ़ोन: 8750311184
ईमेल: arpit75464@gmail.com

सभ्यता किसी भी समाज का शरीर और संस्कृति उसकी आत्मा होती है। संस्कृति केवल रीति-रिवाजों, खान-पान, पर्व -त्योहारों या कलाओं तक सीमित नहीं रहती, अपितु जीवन जीने की संपूर्ण पद्धति को व्यक्त करती है। भारतीय संदर्भ में संस्कृति का अर्थ और भी व्यापक है, क्योंकि यह बहुस्तरीय विविधता वाला देश है जहाँ सहिष्णुता, सह-अस्तित्व और समन्वय का अनूठा मिलाप देखने को मिलता है। भारतीय संस्कृति का मूल आधार ही "वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् 'पूरा विश्व एक परिवार है' की भावना है। यह विचार भारतीय समाज को उदार, सहनशील और मानवीय बनाता है। भारतीय संस्कृति की जड़ें प्राचीन इतिहास में बहुत गहराई तक फैली हुई है। सामाजिक समावेशिता का उदाहरण भारतीय इतिहास के प्रत्येक युग में दिखाई देता है। वैदिक काल से लेकर बौद्ध, जैन, भक्ति और सूफी आंदोलनों तक, हर युग ने इस सांस्कृति में नए विचार जोड़े। इन विचारधाराओं ने भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक, नैतिक और दार्शनिक दृष्टि से और अधिक समृद्ध किया। यहाँ धर्म केवल पूजा-पद्धति नहीं, बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है।

भारत चूंकि हमेशा से ही ग्राम प्रधान एवं ग्रामोन्मुख रहा है, इसलिए इसकी लोक संस्कृति की भी समृद्ध विरासत समाज में जीवंत रूप में उपलब्ध मिलती है। लोक संस्कृति किसी भी देश की जीवंत आत्मा होती है। यह शिष्ट संस्कृति की तुलना में लोक जीवन के अधिक नजदीक होती है। यह आम जनजीवन से जन्म लेती है और उनकी दिनचर्या, श्रम, पर्वों, विश्वासों तथा संघर्षों की सहज अभिव्यक्ति होती है। लोक संस्कृति का सीधा संबंध आम लोगों के जीवन और श्रम से होता है। खेती, पशुपालन, मछली पालन, बुनकरी या दस्तकारी - हर पेशे से जुड़े अपने-अपने गीत, कहावतें और परंपराएँ हैं। ये लोक अभिव्यक्तियाँ न केवल मनोरंजन का साधन हैं, बल्कि सामूहिक स्मृति और सामाजिक ज्ञान का भंडार भी हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परंपरा के माध्यम से ये लोक रूप आगे बढ़ते रहे हैं। भारतीय लोक संस्कृति ने ही देश की सांस्कृतिक विविधता को जमीनी स्तर पर आकार दिया है। भारतीय लोक संस्कृति में उत्सवों और मेलों की विशेष भूमिका है। ये मेले केवल व्यापार या मनोरंजन तक सीमित नहीं होते, बल्कि सामाजिक मेलजोल, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और सामूहिक आनंद का माध्यम बनते हैं। लोकनृत्य और लोकसंगीत इन अवसरों पर समाज को एक सूत्र में बाँधते हैं और सामूहिक पहचान को मजबूत करते हैं। लोक संस्कृति लोक जीवन का जीवंत दर्पण होती है। यह किसी समुदाय के वृहत् पारंपरिक ज्ञानानुभवों, परंपराओं, जीवन मूल्य, समाजार्थिक व्यवस्था और सांस्कृतिक लोकाचारण का वह समृद्ध संसार है जो समाज में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता चलता है। इस पीढ़ीगत ज्ञानान्तरण की सबसे प्राचीन, सशक्त और प्रभावशाली माध्यम मौखिक साहित्य की है। श्रीधर मिश्र लिखते हैं, "लोक के पास ज्ञान का संचित कोष है। लोक का साहित्य एक विशाल समुन्द्र की भांति है, जिसमें अनुभव की विविध नदियां आकर मिलती हैं। वह सबको अपना लेता है। उसमें जीविका के साधनों में खेती को उत्तम, व्यापार को मध्यम, नौकरी को अधम तथा भीख माँगने को सबसे निकृष्ट माना है।"[1] लिखित रूप की उत्पत्ति व आगमन से बहुत पूर्व आदिम मानव समाज ने अपने अस्तित्व, ज्ञान और अनुभूतियों को गीतों, कथाओं और सूक्तियों में पिरोकर सुरक्षित रखा और इन

अनुभूतियों को वाचिक परम्परा में अपनी अगली पीढ़ी को हस्तांतरित किया। लोक संस्कृति की इसी वाचिक अभिव्यक्ति को मौखिक साहित्य कहा जाता है और यही मौखिक साहित्य लोक संस्कृति की आत्मा और उसकी जीवंत परंपराओं का आधार बन गया।

लोक संस्कृति किसी भी समाज का उस स्तर पर अध्ययन करती है जहाँ संस्कृति स्वाभाविक रूप से जन्म लेती है। इसकी उत्पत्ति गाँवों में, समुदायों की साझी स्मृतियों में, लोकजीवन के उत्सवों में और रोजमर्रा के व्यवहार में होती है। मौखिक साहित्य लोक संस्कृति के इसी रूप की अभिव्यक्ति है। लोक और लोक साहित्य के सम्बन्ध में कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं, "आधुनिक सभ्यता से दूर अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली तथाकथित अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को 'लोक' कहते हैं जिसका आचार-विचार एवं जीवन परंपराययुक्त नियमों से नियंत्रित होता है। इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं उन्हें लोक की संज्ञा प्राप्त है। इन्हीं लोगों के साहित्य को लोक साहित्य कहा जाता है।"[2] लोक साहित्य, जोकि प्रमुखतः साहित्य की मौखिक परंपरा में अभिव्यक्ति पाती है, के कई रूप होते हैं यथा लोकगीत, लोककथा और लोकोक्ति। जहाँ भी लोक-जीवन है, वहाँ गीत हैं; जहाँ गीत हैं, वहाँ लोक-संस्कृति का विश्वास, संघर्ष, उल्लास और दुख सब प्रतिबिंबित होते हैं। लोकगीत जीवन के हर अवसर अर्थात् जन्म से मृत्यु तक, प्रत्येक चरण में रहते हैं। उदाहरणार्थ किसानों के बीज बोने, कटाई करने, वर्ष के स्वागत और संकट के समय गीत गाए जाते हैं; विवाह, जन्म, मृत्यु और त्योहारों पर गीत गाए जाते हैं; छोटे बच्चों को सुनाने और सुलाने के लिए लोरियाँ गाई जाती हैं; औपचारिक अनुष्ठानों में मंगल वाक्य या आशीर्वचन स्वरूप सोहर व मंगलगीत गाए जाते हैं; शादियों में गारी, त्योहारों पर कजरी, होरी व फाग और वीरता और संघर्ष के रूप में अलंकारिक गीत, बिरहा व आल्हा इत्यादि लोक गीतों के अलग-अलग रूप हैं। इन गीतों में संगीत, भाव और लय का अद्भुत संतुलन होता है, जो पीढ़ियों तक लोगों की स्मृति में बना रहता है। लोक काव्य किसी एक कवि की रचना न होकर सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति होती है। लोक काव्य में जनता का सुख-दुख, श्रम, संघर्ष, आस्था और उल्लास सहज रूप में प्रकट होता है।

लोक काव्य का विषय क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसमें वीरता, प्रेम, विरह, प्रकृति, खेती, ऋतुएँ, त्योहार, सामाजिक संबंध और धार्मिक विश्वासों का प्रभावी चित्रण मिलता है। रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्य और संत-कवियों की वाणी आज भी सामाजिक चेतना को दिशा देती है। इसकी भाषा सरल, सरस और क्षेत्रीय लोकबोलियों से युक्त होती है, जिससे यह सीधे हृदय को स्पर्श करता है। अलंकारों की कृत्रिमता के स्थान पर इसमें भावों की सच्चाई और सहजता प्रमुख होती है। गायन, लय और ताल लोक काव्य के अनिवार्य तत्व हैं। यही कारण है कि यह केवल पढ़ा नहीं जाता, बल्कि गाया और जिया जाता है। सामूहिक गायन लोक काव्य को सामाजिक एकता और सांस्कृतिक पहचान का माध्यम बनाता है। लोरी, सोहर, कजरी, सावन-भादो के गीत, प्रेम-व्यथा से भरे बिरह के गीत इत्यादि लोक गीतों के प्रमुख उदाहरण हैं और इन सभी में ग्रामीण स्त्रियों की बहुत रचनात्मक भूमिका होती है। भावावेश में ग्रामीण स्त्रियाँ जब कारुणिक रुदन करती हैं तो अपनी पीड़ा व व्यथा भी वो गीतों में ही प्रस्तुत करती हैं। उनकी इन मार्मिक अभिव्यक्तियों में कोमल संवेदनाएँ, करुणा, संघर्ष, प्रेम, मातृत्व और विरह इत्यादि देखने को मिलती हैं।भारत में लोक काव्य ग्रामीण जीवन की आत्मा है। यह समाज की सांस्कृतिक स्मृति को सुरक्षित रखता है और जनमानस की संवेदनाओं को सशक्त साहित्यिक स्वर प्रदान करता है।

लोककथाएँ न केवल मनोरंजन करती हैं, बल्कि जीवन मूल्य, नैतिकता और व्यावहारिक बुद्धि भी सिखाती हैं। पंचतंत्र, कथासरित्सागर, जातक कथाएँ और ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित लोक-किस्से इत्यादि लोक कथाओं के प्रमुख उदाहरण हैं। इन कथाओं में चमत्कार, हास्य, व्यंग्य, ज्ञान और लोकानुभव का

निचोड़ होता है। लोक गाथाएँ भी लोक काव्यों के माध्यम से ही सुनाई जाती हैं। ऐसे काव्यों में आल्हा प्रमुख है। आल्हा लोक काव्य उत्तर भारत की वीरगाथात्मक लोक परंपरा का एक प्रमुख रूप है। इसका उद्भव बुंदेलखंड क्षेत्र में माना जाता है। यह काव्य आल्हा और ऊदल नामक दो वीर भाइयों के शौर्य, स्वाभिमान और रणकौशल का ओजस्वी आख्यान प्रस्तुत करता है। लोक काव्य सामान्यतः सरल भाषा में, प्रवाहमयी और जनजीवन से जुड़ी होती हैं। इसमें संस्कृतनिष्ठता के स्थान पर लोकबोली की सजीवता दिखाई देती है, जिससे यह सीधे श्रोता के हृदय को स्पर्श करता है। लोक कथाएँ केवल सुनी नहीं जाती, बल्कि वृहत् लोक समाज द्वारा अनुभव भी की जाती हैं।

इसी तरह लोकोक्तियाँ लोकजीवन की सूक्ष्म अनुभवधर्मिता का सार प्रस्तुत करते हैं। ये वृहत् जीवनानुभवों को एक पंक्ति में समेट देती है, जैसे – 'अधजल गगरी छलकत जाए', 'जैसी करनी वैसी भरनी' और 'नर करै सो नर पावै' इत्यादि। इनमें लोक संस्कृति की व्यावहारिक बुद्धि और जीवन-दर्शन छिपा होता है। लोकोक्ति लोक साहित्य की एक अत्यंत संक्षिप्त किंतु प्रभावशाली विधा है। यह जनसामान्य के दीर्घ अनुभव, व्यवहारिक बुद्धि और जीवन-दर्शन का निचोड़ होती है, जो छोटी-सी उक्ति में गहरे अर्थ को समेटे रहती है। लोकोक्तियाँ किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं होतीं, बल्कि समाज की सामूहिक चेतना से जन्म लेकर पीढ़ी दर पीढ़ी प्रचलित होती रहती हैं। घाघ और भड्डरी जैसे लोक कवियों ने ग्रामीण जीवन की सम्पूर्ण कृषि कर्म और प्रक्रिया को ही लोकोक्तियों और मुहावरों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। पहेली और सूक्ति लोक और मौखिक साहित्य के कुछ अन्य उदाहरण हैं। पहलियाँ लोक की रचनात्मक प्रतिभा का प्रमाण हैं। ये पहेलियाँ बच्चों का मनोरंजन ही नहीं करतीं, प्रत्युत उनकी बुद्धि और कल्पनाशक्ति को भी विकसित करती हैं और उन्हें चैतन्य बनाती हैं। सूक्तियाँ सदैव से ही समाज को एक नैतिक दिशा प्रदान करती रही है। यह एक नैतिक निदेश है जो लोक में सही और गलत का भेद बताते हैं। लोक में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः सूक्तियों का प्रयोग होता है। मौखिक साहित्य अर्थात् लोक गीत, लोक गाथा, लोक उक्तियाँ, पहेली और सूक्तियाँ इत्यादि केवल मनोरंजन के साधन हैं, बल्कि एक समाज की सामूहिक एवं सामासिक स्मृति और इतिहास का हिस्सा भी हैं। ये स्मृति और हिस्सा आज क्षरण की अवस्था में है। लोकोक्तियों का मुख्य उद्देश्य जीवन के सत्य को सरल और रोचक ढंग से प्रस्तुत करना है। इनमें नीति, अनुभव, चेतावनी, व्यंग्य और व्यावहारिक ज्ञान निहित रहता है। "जैसी करनी वैसी भरनी" या "दूर के ढोल सुहावने" जैसी लोकोक्तियाँ मानव व्यवहार और जीवन की वास्तविकताओं को सहज रूप में स्पष्ट कर देती हैं। इनकी भाषा सरल, लोकबोध से युक्त और प्रभावशाली होती है, जिससे वे स्मरण में आसानी से बनी रहती हैं। साहित्यिक दृष्टि से लोकोक्ति अलंकार, प्रतीक और रूपक का सुंदर प्रयोग करती है। कम शब्दों में अधिक अर्थ कहने की क्षमता ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। संवाद और कथन में लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा को सजीव, रोचक और प्रभावपूर्ण बना देता है। भारत में लोकोक्तियाँ ग्रामीण जीवन, कृषि, पारिवारिक संबंधों और सामाजिक अनुभवों से गहराई से जुड़ी हुई हैं। वस्तुतः लोकोक्ति लोकजीवन की व्यावहारिक बुद्धि और सांस्कृतिक स्मृति का सशक्त साहित्यिक रूप है।

लोक में प्रचलित एक उक्ति है - *'गंध गई जाने किस देस'*। इस उक्ति के अनुसार आज हम अकेलेपन के साथ एक आभासी दुनिया में जी रहे हैं और अपनी जमीनी और लोक संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं। जमीनी संस्कृति से लगाव ही हमारी परंपरा को समृद्ध करती है। लोकसाहित्य समाज के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों को दर्शाता है। अपनी प्रकृति में सामूहिक और परिवर्तनशील होता है। यह किसी एक व्यक्ति की नहीं बल्कि समाज की सामूहिक उपज होती है और इसमें समय के साथ स्वयं को परिवर्तित करने की क्षमता भी होती है। लोकसाहित्य न सिर्फ साहित्य अपितु परंपराओं की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण होता है। इसमें जीवन के सभी पहलुओं का उसके वास्तविक स्वरूप में चित्रण होता है। शिष्ट साहित्य में, जहाँ

लेखन एवं विवरण का परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया जाता है, वहीं लोक साहित्य में लोकानुभव अपने मौलिक एवं वास्तविक स्वरूप में होती हैं। लोकसाहित्य को जानने के लिए शिष्ट साहित्य को जानने की अपेक्षा नहीं होती। वर्तमान में हमारे पास लोकसाहित्य का विपुल मौखिक एवं लिखित भंडार है। लोक साहित्य की विपुलता के संबंध में राधावल्लभ शर्मा लिखते हैं, "जिस प्रकार पृथ्वी विशाल है, उसी प्रकार हमार चारों ओर विस्तृत लोक का ज्ञान भी अपरिमित है. इसके अध्ययन के बिना हम किसी देश की सभ्यता-संस्कृति, धर्म-नीति, रीति-रिवाज, कला साहित्य, सामाजिक अभ्युदय और आकांक्षाओं का सूक्ष्म अवलोकन नहीं कर सकते।"[3]

मौखिक साहित्य न केवल स्मृतियों और रिवाजों को संजोता है, अपितु समाज को कई स्तरों पर प्रभावित भी करता है। इसके माध्यम से परम्पराएँ जीवित रहती हैं और एक सांस्कृतिक निरंतरता बनी रहती है। यह किसी भी समाज के साझे जीवन मूल्य और पहचान का निर्माण करता है। सूक्तियाँ लोक समाज का नैतिक मार्गदर्शन करती हैं और साथ ही इससे समाज की एक विशिष्ट संस्कृति का निर्माण होता है। मौखिक साहित्य में लालित्य, सरलता, संगीतात्मकता और स्वाभाविक होती है। यही कारण है कि यह साहित्य आम लोगों की स्मृति में लंबे समय तक बना रहता है। लोक साहित्य में स्त्रियों की भागीदारी बहुत महत्त्वपूर्ण रही है।

यद्यपि लोक में मौखिक साहित्य के ये विविध रूप प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, तथापि वर्तमान में तकनीकी विकास, पलायन, जनसंचार माध्यमों के विविध रूपों की उपस्थिति, पारिवारिक संरचना में बदलाव, स्थानीय भाषाओं के क्षरण और शहरीकरण ने लोक जीवन में अनेकानेक परिवर्तन किए हैं। इसके परिणामस्वरूप मौखिक साहित्य के रूप में भी परिवर्तन हुआ है और कहीं न कहीं ये अपनी प्रासंगकिता को खोते जा रहे हैं। लेकिन इसी के बरअक्स लोकगीतों के डिजिटल संस्करण, लोक कलाकारों की मंचीय उपस्थिति में बढ़ोत्तरी, यूट्यूब व सोशल मीडिया और लोक साहित्य के क्षेत्र में बढ़ता शोधकार्य लोक और मौखिक साहित्य के पुनर्जागरण के संकेत भी हैं।

मौखित साहित्य लोक संस्कृति का जीवंत हृदय है। यह केवल गीत, कथाएँ या कहावतें नहीं, बल्कि एक समाज की स्मृति, चेतना, अनुभव, इतिहास और पहचान है।

आधुनिकता के दबावों के बावजूद मौखित साहित्य आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है - क्योंकि यह मनुष्य की आत्मा से निकलता है और पीढ़ियों की अनुभूतियों को जोड़ता है। लोक संस्कृति को समझने के लिए मौखित साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है, और इसे संरक्षित करना हमारी सांस्कृतिक जिम्मेदारी भी है। भारतीय संस्कृति केवल अतीत की विरासत नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य का मार्गदर्शक भी है। इसकी विविधता, मानवीय मूल्य और समन्वय की भावना न केवल भारत को, बल्कि पूरे विश्व को एक सकारात्मक दिशा देने की क्षमता रखती है। हमें मौखिक साहित्य को उसके वास्तविक स्वरूप में संरक्षित करने के लिए परंपरा से दूर होता युवा वर्ग, विलुप्त होती बोलियां और भाषाएं, लोक कला का आर्थिक शोषण एवं कलाकारों के लिए संसाधनों का अभाव इत्यादि जैसी चुनौतियों से बचने का राह ढूँढने का सक्रिय प्रयास करना चाहिए तभी हम लोक और साहित्य के साथ न्याय कर सकेंगे।

1. मिश्र, श्रीधर –भोजपुरी लोकसाहित्य : सांस्कृतिक अध्ययन, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1971, पृष्ठ 163
2. उपाध्याय, कृष्णदेव - लोक साहित्य की भूमिका, लोकभारती प्रकाशन ,पृष्ठ - 11
3. शर्मा, राधावल्लभ – भोजपुरी संस्कार गीत : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, संस्करण-द्वितीय-2011, पृष्ठ क

*****

स्वाधीनता आंदोलन में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान

-प्रो. प्रदीप कुमार
हिंदी विभाग
स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल- Pradeep.kriti@gmail.com
Ph- 93502 17047

भाषा केवल संप्रेषण नहीं करती, भाषा केवल विचार पैदा नहीं करती, भाषा केवल शब्द नहीं गढती हैं व चरित्र का उद्घाटन भी करती है, मात्र व्यक्ति के चरित्र का ही नहीं, पूरे राष्ट्र के चरित्र को उजागर करती है। समाज को जोड़ती है, धारण करती है।

हिंदी पत्रकारिता की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की कहानी है। हिंदी पत्रकारिता के आदि उन्नायक ! जातीय चेतना, युगबोध और अपने महज दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत थे। कदाचित इसलिए विदेशी सरकार की दमन नीति का उन्हें शिकार होना पड़ा था। साथ ही उनके नृशंस व्यवहार की यातना झेलनी पड़ी थी।

अंग्रेजों की 150 वर्षो की गुलामी हमने भुक्ति है। आजादी की प्रथम जंग 1857 ई. में शुरू हुई। दूसरी ओर आजादी की लड़ाई, जान हथेली पर लेकर यहां के छोटे-बड़े समाचार पत्रों ने पूरी ईमानदारी और शुद्धता के साथ लड़ी। कुछ ही पत्र थे जो यह चाहते थे कि अंग्रेजों का राज कायम रहे। किंतु अधिकांश पत्रों की नीति "अकबर इलाहाबादी" की अभिव्यक्ति पर ही कायम थी।

" न खींचो कमान न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।।"

यह पंक्तियाँ प्रेस को तलवार से भी शक्तिशाली बतला रही हैं अर्थात कलम हथियार से अधिक ताकतवर है। यह बात समाज के सामने उजागर की गई है। हिंदी का पहला अखबार 'सप्ताहिक' "उदंत मार्तंड" आज से लगभग 196 साल पहले किसी हिंदी प्रदेश से नहीं बल्कि एक बंगला भाषी क्षेत्र कोलकाता से एक देशभक्त 'पंडित युगल किशोर शुक्ल' के संपादकत्व में 30 मई 1826 को निकला।

वह निसंदेह उगते सूर्य की तरह इस घोषणा के साथ आया था कि- " हिंदुस्तानियों के हित हेतु नाना देश के सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ें और समझ ले। हालांकि उस समय कुछ और पत्र-पत्रिका निकली हैं। राष्ट्रीय जागरण काल में कई हस्तलिखित पत्र-पत्रिकाएँ गुपचुप वितरित की जाती थी। यहाँ तक की खाने में, रोटियों में छुपाकर भी कुछ पत्र एक-दूसरे तक पहुँचाए जाते थे। कुछ विद्वान बताते हैं कि इससे पूर्व हिंदी में 'दिग्दर्शक' नामक अखबार निकल चुका था।

हिंदी प्रदेश से पत्रकारिता में प्रथम पदार्पण किया "बनारस अखबार" ने यह भी सप्ताहिक था इसके प्रधान संपादक थे मराठी भाषी स्वर्गीय 'पंडित गोविंद रघुनाथ' यह लिथो प्रेस से प्रकाशित होता था। और इसके प्रकाशक थे 'राजा शिवप्रसाद सितारे 'हिंद' 'उदंत मार्तंड' के पश्चात कई जगह से कई पत्रिकाएँ निकली और कुछ दिन चलने के बाद अंग्रेजों के दमन के कारण बंद होती गई। उनकी जगह दूसरी पत्रिकाएँ निकलती गई। यह सभी पत्र-पत्रिकाएँ ब्रिटिश गुलामी के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता और राष्ट्रीय एकता को समर्पित थी। 08 फरवरी 1857 में दिल्ली से 'अजीमुल्ला' ने एक हिंदी उर्दू साप्ताहिक पत्र निकाला नाम था। "1920 में आजादी" उसकी पहली ही प्रति पर उस समय का राष्ट्रीय गीत छपा था।

"हम हैं इसके मालिक, हिंदुस्तान हमारा।
पाक वतन है कोम का जन्नत से भी प्यारा।।"

अंग्रेज सरकार ने इसकी सारी प्रतियाँ जप्त कर ली। केवल एक प्रति लंदन में उपलब्ध है। हिंदी पत्र पत्रिकाओं ने समाज में राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में बहुत बड़ा योगदान किया है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हरिश्चंद्र चंद्रिका, हरिश्चंद्र मैगजीन, कवि वचन सुधा, बालबोधिनी नामक पत्र 1867 से 1874 के बीच शुरू की। उनके प्रकाशनों में प्रमुख स्वर राष्ट्र चेतना, निर्भीकता और प्रगतिशील आदर्शों का हुआ करता था। ब्रिटिश दमन के कारण भारतेंदु जी को 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' का प्रकाशन बंद करना पड़ा था।

इसके पश्चात राष्ट्रीय एकता और स्वराज के लिए, साथ ही सामाजिक कुरीतियों के विनाश तथा पश्चिमी संस्कृति की नकल के विरुद्ध कई पत्रिकाएँ निकली जिनमें 'बनारस' से "सुधाकर" और "ज्ञानदीप" आगरा से "बुद्धि प्रकाश" 'भरतपुर' से "मजहर सलून" 'ग्वालियर' से "ग्वालियर गजट" तथा "प्रजाहितैषी" निकले। यह सभी अखबार राष्ट्रवादी, राष्ट्रीय एकता के सौहार्द और अंग्रेजों की दासता के विरोधी थे।

हिंदी पत्रकारिता को इस बात का गौरव हासिल है कि उन्होंने अंग्रेजों की चापलूसी नहीं की। "समाचार सुधावर्षण" का प्रकाशन 1854 में प्रारंभ हुआ। हिंदी के प्रथम दैनिक का प्रकाशन भी कलकत्ते से हुआ। इसके संपादक थे बंगाली मोशाय "बाबू श्यामसुंदर सेन" 1857 के प्रथम स्वतंत्रता के युद्ध की घटनाओं का बड़ी निर्भीकता के साथ वर्णन किया। 26 मई1857 के अंक में उन्होंने लिखा है- "हाल ही में अंग्रेजों ने हमारे धर्म को नष्ट करने का प्रयास किया है। अतः ईश्वर उन पर क्रुद्ध हैं ऐसा आभास मिलता है कि ब्रिटिश साम्राज्य का अंत आ रहा है। जब दास मालिक को जवाब देने लगता है तब समझ ले कि मालिक का अंत निकट है। सच्ची बात तो यह है कि युद्ध में दम आ रहा है। और अनेक क्षेत्रों की जनता सेना में शामिल हो रही है।"

1889 में "सुधानिधि" साप्ताहिक के संपादक "श्री राधा कृष्ण गोस्वामी" ने लिखा है- "हम देशी पत्र संपादक हैं। हमारा सत्य कहना बुरा लगता है। हमसे खुशामद कराने के लिए प्रेस एक्ट की घुड़की दी गई है।" इन संपादकों, पत्रकारों से कंपनी सरकार इतनी भयभीत हो गई थी कि उसने बिना लाइसेंस प्रेस रखना गैरकानूनी करार दे दिया। "समाचार सुधारत्न" के संपादन "बाबू श्यामसुंदर दास" थे "दूरबीन" के "अहमद अली" संपादक थे। "सुल्तान उल अखबार" के "मोहम्मद ताहिर" संपादक थे । इन तीनों पर मुकदमा दायर कर दिया गया। दो संपादकों ने माफी मांग ली और अपना मुकदमा वापस करा लिया। लेकिन बाबू श्यामसुंदर दास ने माफी मांगने से इनकार कर दिया।

ऐसा बताया जाता है कि तीन दिन की एकतरफा कार्रवाई करके उनके विरुद्ध फैसला सुना दिया गया। "बाबू श्यामसुंदर सेन" कोलकाता की सुप्रीम कोर्ट गए वहाँ यह मुकदमा चला और श्याम सुंदर सेन को दोषी साबित नहीं किया जा सका । अखबारों की आजादी को लेकर चला यह मुकदमा हिंदुस्तानी पत्रकारिता के इतिहास में एक दृष्टांत बना ,नजीर बनी।

1857 में "पायामें आजादी" के नाम से उर्दू तथा हिंदी में एक पत्र प्रकाशित हुआ। जो अंग्रेजों के विरुद्ध क्रांति का प्रचारक था। इसको बाद में सरकार द्वारा जप्त कर लिया गया था। जिस किसी के पास उसकी प्रति पाई जाती उसे राजद्रोह का दोषी मानकर कठोर से कठोर यातनाएं दी जाती।

अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संघर्ष में कोलकाता का "हिंदू पेट्रियट" नामक पत्र उल्लेखनीय है। जिसकी स्थापना 1853 ईस्वी में श्री गिरीश चंद्र घोष ने की थी। जो "श्री हरीशचंद्र मुखर्जी" के नेतृत्व में असाधारण लोकप्रियता प्राप्त कर गया। 1861 ईस्वी में इस पत्र में "श्री मनमोहन घोष" का एक नाटक "नीलदर्पण" निकला जिसने गोरे व्यापारियों के विरुद्ध नील की खेती को खत्म करने के लिए आंदोलन चलाया। और इसके फलस्वरूप एक नील कमीशन की नियुक्ति हो गई। बाद में यह पत्र श्री ईश्वर चंद्र विद्यासागर के हाथ आ गया। इस पत्र के द्वारा सरकारी जातियों का खुलकर विरोध किया गया।

शिशिर कुमार घोष और मोतीलाल घोष द्वारा संपादित अमृत बाजार पत्रिका का स्वतंत्रता संग्राम में विशेष योगदान रहा 1849 में पुणे से ज्ञान प्रकाश का प्रकाशन हुआ था। स्वतंत्रता संग्राम के आरंभिक वर्षों में "महामना मदन मोहन मालवीय" ने "दैनिक हिंदुस्तान" का संपादन और "अभ्युदय" नामक साप्ताहिक तथा दैनिक पत्र भी प्रकाशित किया। जिसकी प्रेरणा से अनेक पत्रों ने जन्म लिया और स्वतंत्रता की महत्वपूर्ण लड़ाई में अपनी अहम भूमिका निभायी।

नवजीवन, हरिजन, हरिजन सेवक, यंग इंडिया और हरिजन बंधु जैसे पत्रों का जन्म भी इसी बीच हुआ । हिंदी भाषा ने कभी विभेद की बात नहीं कि, न भाषा भेद की, न प्रांत भेद की । स्वतंत्रता आंदोलन में तो हिंदी और उर्दू दोनों पत्र-पत्रिकाएं जान हथेली पर लेकर लड़ रही थी । युगांतर, ग़दर, वंदेमातरम, संध्या ,स्वराज, कर्मयोगी, प्रताप, वीरअर्जुन, तेज, मिलाप, कर्मवीर, केसरी, भाला इत्यादि कितने ही पत्रकारों, संपादकों की जान पर बन आयी। परंतु वे ना हटे, ना डीगे। "पंडित रूद्रदत्त शर्मा" को भूखों मरना पड़ा । अमृत लाल चक्रवर्ती कर चुका पाने के कारण जेल गए। ऐसा कई लोगों के साथ हुआ। क्योंकि ब्रिटिश सरकार जितने भी पत्र और पत्रिकाएं निकलती थी उनको सरकारी कार्यालय में लेने के लिए मना कर देते थे। ताकि उनकी बिक्री ना हो सके उनको कहीं से अंश एवं धन प्राप्त ना हो सके। और उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़े ।

"युगांतर" पर मूल्य लिखा हुआ था। "फिरंगेर काचा माथा" युगांतर के कई संपादकों ने जेल भुक्ति। जैसा कि हम सबको मालूम है भारतेंदु युग की पत्रकारिता 1868-1900 तक मानी जाती है। इस युग की पत्रकारिता करने वाले पत्रकारों के समक्ष एक महान आदर्श था वह नवीन सभ्यता के संपर्क में प्रवेश कर चुके थे। तथा देश समाज में नवयुग का संचार करने के उत्सुक थे । अपने कार्य को मंजिल तक पहुंचाने के लिए कटिबद्ध थे।

भारतेंदु युग की पत्रकारिता के महत्व के संबंध में डॉक्टर "कृष्णबिहारी मिश्र" ने लिखा है कि- "देश दशा का जितना यथार्थ चित्रण इन पत्रों में है और ब्रिटिश सरकार के अनुचित का उद्घाटन जिस साहस से इस समय के तेजस्वी पत्रकारों ने किया वह वस्तुतः हर दृष्टि से असाधारण महत्व की बात है।"

"कविवचन सुधा" 15 अगस्त 1867 ईस्वी को भारतेंदु ने उत्तर प्रदेश के काशी शहर से मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। कुछ दिनों के बाद इसे पाक्षिक कर दिया गया। 1875 में यह सप्ताहिक पत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा।

कवि वचन सुधा का सिद्धांत वाक्य-

"खल गगन को सज्जन दुखी मत हो ही हरिपद मति रहे।
अपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुःख बहै।।
बुद्ध तजहि मत्सर, नारि नर सम होहि, जग आनंद लेंहै।
तज ग्राम कविता, सुकविजन की अमृतवानी सब सहै।।"

डॉ रामविलास शर्मा लिखते हैं - "कवि वचन सुधा ने साहित्यकारों की एक पूरी पीढ़ी को भाषा साहित्य और देशभक्ति की शिक्षा दी थी निसंदेह इतना गौरवपूर्ण काम किसी संपादक या पत्रकार ने आज तक नहीं किया 'कवि वचन सुधा' की जो प्रतियां सरकार लेती थी। चाटुकारों के कारण वह बंद कर दी। अधिकारियों का उत्साह और निकृष्ट व्यवहार देखकर भारतेंदु बाबू ने 'आनरेरी मजिस्ट्रेटी' से उसी समय त्यागपत्र दे दिया तथा सरकारी अधिकारियों से मिलना भी बंद कर दिया। भारतेंदु की इस देशभक्ति पूर्ण प्रतिक्रिया ने कवि वचन सुधा को और भी लोकप्रिय बना दिया ।"

भारतेंदु युग के लेखक इस पत्रिका में अपनी रचनाएं प्रकाशित करना एक गौरव की बात समझते थे। पंडित श्री राधाचरण गोस्वामी, बाबू गदाधर सिंह, बाबू काशीनाथ खत्री, लाला श्रीनिवास दास, पंडित बिहारीलाल चौबे, पंडित सरयू प्रसाद, बाबू तोताराम वर्मा, मुंशी कमला प्रसाद, पंडित दामोदर शास्त्री, बाबू ऐश्वर्या नारायण सिंह, बाबा सुमेर सिंह, बाबा संतोष सिंह, बाबू गोकुल चंद, बाबू नवीन चंद्र राय आदि प्रसिद्ध थे। जो इन में लिखा करते थे ।

हरिश्चंद्र मैगजीन, कवि वचन सुधा के प्रकाशन के 6 वर्षों के

उपरांत भारतेंदु जी ने काशी से ही 15 अक्टूबर 1873 को हरिश्चंद्र मैगजीन, मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। इसका नाम बाद में 'हरिश्चंद्रचंद्रिका' पड़ गया। 1874 से 1880 में इसका संयुक्त अंक मोहन चंद्रिका 3 वर्षों तक प्रकाशित होता रहा। "बिहार बंधु" यह हिंदी का दूसरा साप्ताहिक पत्र और बिहार का पहला हिंदी पत्र था। पंडित बालकृष्ण भट्ट, देवी प्रसाद, बनवारी लाल, बिहारी, केशवराम भट्ट, हरनाथ प्रसाद, भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि इसके लेखक थे।

स्वतंत्रता एवं निर्भीकता के कारण यह तत्कालीन सरकार की आंखों को अत्यधिक अखरता था। "हिंदी प्रदीप" 'पंडित बालकृष्ण भट्ट' ने 1 सितंबर 1877 को इसका मासिक प्रकाशन आरंभ किया। यह विक्टोरिया प्रेस से प्रकाशित होता था। इसका उद्देश्य हिंदी भाषा का प्रचार, उसकी समृद्धि, देश दशा का सुधार, समाज सुधार आदि था। इस पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का गहरा प्रभाव पड़ा। यह स्वतंत्रता स्वाभिमान की आवाज को बुलंद करती रही और देश सेवा के लिए भारतीयों का आह्वान करती रही।

"भारत मित्र" 17 मई 1818 में कोलकाता से प्रारंभ हुआ । 'रुद्र दत्त शर्मा' इसके संपादक थे। यह शुद्ध राष्ट्रीय पत्र था। देश की राजनीति, वाणिज्य, भाषा और समग्र जातीय चेतना का विकास उसका लक्ष्य था। 'सर सुधा निधि' भारतेंदु युग में कोलकाता से निकलने वाले साप्ताहिक पत्रों में इसका नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसका प्रकाशन 13 जनवरी 1879 ईस्वी में आरंभ हुआ था।

"उचित वक्ता" 1894 में 'दुर्गा प्रसाद' द्वारा संपादित अत्यंत लोकप्रिय पत्र था। 'आनंद कादंबिनी' पंडित बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा संपादित मासिक पत्रिका 1881 में प्रकाशित हुई। इनमें संपादक के क्रांतिकारी भावों की सफल अभिव्यक्ति हुई। साहित्य, समाज, धर्म, राजनीति आदि में परिवर्तन लाना ही पत्रिका का उद्देश्य रहा। "ब्राह्मण" 'पंडित प्रताप नारायण मिश्र' ने 1883 में कानपुर से मासिक पत्रिका का संपादन प्रारंभ किया था। समाज में फैले अंधविश्वासों, मत-मातांतरो और कुरीतियों का इसमें खुलकर विरोध किया।

"नागरी नीरद" 1893 में 'पंडित बद्रीनारायण प्रेमधन' ने साप्ताहिक पत्र के रूप में प्रकाशित किया। समाज, धर्म और राजनीति में एक नया मोड़ लाने का इसका उद्देश्य रहा। कोलकाता का एक प्रसिद्ध हिंदी समाचार पत्र "भारत मित्र" था जो 17 मई 1978 पाक्षिक के रूप में निकला बाद में यह दैनिक हो गया। राष्ट्रीय आंदोलन में इस पत्र का अत्यधिक योगदान रहा। इस पत्र के प्रकाशक 'दुर्गा प्रसाद मिश्र' और 'श्री छोटू लाल मिश्र' कश्मीरी थे। 50 वर्षों तक इस पत्र ने राष्ट्रीयता का प्रचार किया। कश्मीर को हड़पने की ब्रिटिश सरकार की योजना का इसमें भंडाफोड़ किया। और इसके संपादक 'श्री बालमुकुंद गुप्त' ने लॉर्ड कर्जन के अत्याचारों पर "शिवशंभू के चिट्ठे" नाम से जो टिप्पणियां की उससे देश में बहुत जन जागृति फैली।

द्विवेदी युगीन पत्रकारिता 1900-1920 में सरस्वती के प्रकाशन से हिंदी पत्रकारिता जगत में एक नई धारा का परिवर्तन हुआ। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन कौशल ने हिंदी साहित्य जगत में एक नई क्रांति को जन्म दिया।

1901 में कुल नौ मासिक पत्र चंद्रधर शर्मा गुलेरी के संपादन में चल रहे थे।

1905 सात मासिक एक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ।

1906 उन्नीस पत्रों की संख्या मिलती है।

1907 में सोलह मासिक पत्रों का प्रकाशन हुआ।

1908 में ग्यारह समाचार पत्रों का प्रकाशन हुआ।

1909 में अनेक पत्र साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और त्रैमासिक रूप से प्रकाशित होते रहे।

1910 से 1919 के बीच एक लंबी सूची प्राप्त होती है।

स्वतंत्रता संग्राम में इन सभी पत्रों और पत्रिकाओं की अभूतपूर्व भूमिका रही है। स्वतंत्र नामक पत्र श्री अंबिका प्रसाद वाजपेयी द्वारा प्रारंभ किया गया। हास्य का पत्र मतवाला था। "विशाल भारत" 'बनारसीदास चतुर्वेदी' के संपादकों में विदेशों में रहने वाले भारतीयों की दुर्गति की ओर ध्यान दिला रहा था। 'पंडित सुंदरलाल' ने इलाहाबाद से 'कर्मयोगी' साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया जो।जो उग्र विचारधारा का पत्र था। 'श्री सुंदरलाल' ने साप्ताहिक भविष्य नामक पत्र भी प्रकाशित किया। जिसके द्वारा राजनीतिक विचारधारा के प्रसार में बड़ा योगदान दिखाई दिया।

स्वाधीनता प्रेमियों मैं गणेश शंकर विद्यार्थी का नाम प्रमुख रूप से जाना जाता है। 'प्रताप' के संपादन में इन्होंने बहुमूल्य भूमिका निभायी है।

1920 में 'श्री शिव प्रसाद गुप्त' ने 'श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर' के संपादकत्व में 'आज' नामक पत्र निकाला। दिल्ली में प्रसिद्ध समाजसेवी स्वामी श्रद्धानंद जी ने 'वीर अर्जुन' और उर्दू में 'तेज' का प्रकाशन शुरू किया। यह दोनों पत्र राष्ट्रीय आंदोलन के प्रबल पक्षधर रहे। इनके बलिदान के पश्चात पंडित इंद्र विद्यावाचस्पति देशबंधु गुप्ता इन्हें चलाते रहे।

लाहौर में ,'महाशय खुशहाल चंद' ने 'मिलाप' और महाशय कृष्ण ने उर्दू पत्रों का प्रकाशन किया। यह पत्र भी राष्ट्रीय आंदोलन के प्रचारक रहे। पंजाब के राष्ट्रवादी पत्रकारों में एक अत्यंत गौरवशाली नाम सूफी अंबाप्रसाद का है, जिन्होंने पंजाब से 'हिंदुस्तान, देशभक्त और पेशवा जैसे समाचार पत्रों में कार्य किया। साप्ताहिक पत्रों में 'अभ्युदय' और 'हिंदी केसरी' का नाम उल्लेखनीय है। अब उज्जैन का मुख्य उद्देश्य देश की राजनीति में जागृति लाना था। इसके संपादक पंडित मदन मोहन मालवीय थे।

छायावाद की पत्र-पत्रिकाओं में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। सरस्वती पत्रिका के माध्यम से बहुमूल्य योगदान देखा जा सकता है। जिसमें हिंदी को परिनिष्ठित, संस्कारित एवं सुसज्जित ढंग से समाज के सामने प्रस्तुत किया गया। ताकि समाज, राष्ट्र, देश एक कड़ी के रूप में इकट्ठा हो सके तथा अंग्रेजों से मुक्ति प्राप्त हो।

'प्रभा' 1913 में खंडवा से मासिक रूप में प्रकाशित होती थी। जिस के संपादक कालूराम गंगराड़े थे।

'श्री शारदा' 1920 में जबलपुर मध्य प्रदेश से प्रकाशित होती रही। इसके संरक्षक बाबू गोविंद दास थे। संपादक नर्मदा प्रसाद मिश्र थे। यह

मासिक रूप से प्रकाशित होती थी।

'चांद' 1920 में साप्ताहिक रूप से प्रकाशित हुई। रामसखा सहगल ने ज्ञानानंद ब्रह्मचारी के संपादकत्व में प्रकाशित किया।

'माधुरी' 30 जुलाई 1922 श्री नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुई।

'मतवाला' सप्ताहिक पत्र 26 अगस्त 1923 को प्रकाशित हुआ। इसके मुख्य पृष्ठ पर निराला की कविता छपती थी।

'सुधा' अगस्त 1927 में लखनऊ में प्रकाशित हुआ।

श्री दुलारे लाल भार्गव एवं पंडित रूप नारायण पांडे इसके संपादक थे। यह मासिक रूप से प्रकाशित होती थी।

1926 में 'कवि चंद्रोदय' नामक पत्र प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष 'प्रेम' नामक पत्र वृंदावन से प्रकाशित हुआ।

1926 में ही 'महारथी' मासिक का संपादन रामचंद्र वर्मा द्वारा दिल्ली से किया गया।

1927 में 'आशा' सुधाकर शर्मा तथा सुधा नामक पत्र दुलारे लाल भार्गव के संपादकत्व मैं लखनऊ से प्रकाशित किया गया।

1928 में किसान, नवयुग, विशाल भारत तथा सुकवि नामक पत्र प्रकाशित हुए।

1929 में 'वनलता' मासिक का प्रकाशन किया गया।

'संदेश' नामक पत्रिका इसी वर्ष रामजीवन शर्मा द्वारा मुंबई में प्रकाशित हुई।

1930 में हंस, अभय, कल्पवृक्ष, युवक आदि को प्रकाशित किया गया। हंस के संपादक मुंशी प्रेमचंद थे।

1931 से गंगा भागलपुर से राम गोविंद त्रिवेदी ने इसका संपादन किया। आर्य जगत, आलोक, कल्याण कादंबरी, देवनगर, नारायण, पूर्णेन्दु, वीणा, सम्मेलन, सरोज आदि पत्रिकाएं भी इसी समय प्रकाश में आयी।

1932 में शिवपूजन सहाय और प्रेमचंद के संपादक में 'जागरण' पाक्षिक पत्र प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष निराला के संपादन में 'रंगीला' नामक साहित्य पत्रिका प्रकाश में आती।

1936 में शांतिनिकेतन से "विश्वभारती" नामक पत्रिका प्रकाश में आई। यह शोध पत्रिका भी थी।

1938 में 'रूपाभ' इसके संपादक सुमित्रानंदन पंत थे।

यह मासिक पत्रिका थी 19 वी सदी के 40 के दशक में अज्ञेय जी द्वारा संपादित पत्रिका को अत्यधिक सम्मान के साथ जाना जाता है। समसामयिक समस्याओं और उनके निराकरण का मुख्य उद्देश्य इन सभी पत्र एवं पत्रिकाओं में दृष्टिगत होता है।

अतः भारत का कोई प्रांत ऐसा नहीं था जिसने राष्ट्रीयता का प्रचार करने वाले पत्रों एवं पत्रकारों को जान्म न दिया हो। यदि राष्ट्रीय आंदोलन के समय यह सभी पत्र उपलब्ध न होते तो हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप किस प्रकार का होता, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। स्वाधीनता आंदोलन में पत्र-पत्रिकाओं ने बलिदानी भूमिका निभायी और पूरी ईमानदारी एवं पूरी निष्ठा के साथ अपने स्वरूप को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। जिसके परिणाम स्वरूप समाज एकत्र हुआ। राष्ट्र में शक्ति संवर्धन हुई और हिंदी को बल मिला जिससे भारतीय स्वाधीनता को बल मिला।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, हिंदी पत्रकारिता के कीर्तिमान, साहित्य संगम इलाहाबाद।
2. डॉ. राम मनोहर पाठक, साहित्यिक, पत्रकारिता ज्ञान मंडल, वाराणसी।
3. डॉ रमेश चंद्र त्रिपाठी, पत्रकारिता के सिद्धांत, राधा पब्लिकेशंस, नई सड़क, दिल्ली।
4. डॉ. वेद प्रताप वैदिक, हिंदी पत्रकारिता : विविध आयाम, हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली।
5. सविता चड्ढ़ा, नई पत्रकारिता और समाचार लेखन, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. डॉ कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
7. एन.सी पंत, पत्रकारिता एवं संपादन कला, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
8. डॉ .(श्रीमती) सुशीला जोशी, हिंदी पत्रकारिता: विकास और विविध आयाम, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
9 अंबिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्र कला, हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ।
10.राजेंद्र मिश्र, पत्रकारिता के विविध आयाम, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली।
11 एन.सी.पंत एवं मनीषा द्विवेदी, पत्रकारिता एवं जनसंचार, कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

*****

अमरकान्त की कहानियों में स्त्री अंतर्मन

डॉ.राजवंती
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग
मानवीकी विद्यापीठ इग्नू

आधुनिक समाज में भारतीय नारी की जो स्थिति दिखाई देती है उसके पीछे एक बहुत गहरी अवधारणा छुपी हुई है। स्त्री का स्त्री होना उसकी पहचान है या एक चैतन्य मन होना यह एक बहुत गंभीर सवाल आज हमारे सामने खड़ा है। अगर बहुत गहरे से स्त्री संकल्पना को देखते हैं तो एक चीज निकल कर सामने आती है की स्त्री पहले स्त्री है या मानव। अगर वह मानव है तो उसकी चेतना का प्रकाश सबसे महत्वपूर्ण हुआ। अगर आत्मा का कोई लिंग नहीं है तो फिर स्त्री का जीवन क्या लिंग पर आधारित होने के कारण सदैव से शोषित रहा है? यह एक महत्वपूर्ण विषय है। जो तथ्य दिखाएं या बताए जाते हैं उनमें कितनी सत्यता है। स्त्री-पुरुष की पहचान से अलग क्या बोध,ज्ञान और विवेक के रूप में भी एक स्त्री की पहचान रही है। इस संप्रत्यय पर विचार करना अत्यंत महत्वपूर्ण है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति किस प्रकार की रही है। प्रेमचंद के बाद या उनके समकालीन कौन-कौन से कहानीकार हुए जिन्होंने स्त्री के यथार्थवादी जीवन को चित्रित किया जिसमें स्त्री के जीवन से संबंधित स्वर प्रस्फुटित हुए हैं ।1940 से लेकर 2014 तक के स्त्री चैतन्य को कहानीकार अमरकांत ने अपनी कहानियों के माध्यम से समाज के सामने रखा है। उन्होंने अपनी कहानियों में स्त्री की इच्छाओं, हौसलों, अधिकारों, प्रेम की अभिव्यक्ति, औरत होने की गरिमा के साथ - साथ परित्यक्त स्त्री की समस्याओं का विस्तृत अंकन किया है। आधुनिक समय में भारतीय स्त्री की जो स्थिति दिखाई जाती है वह काफी महत्वपूर्ण है। उनकी कहानियों में स्त्रियों की भावनाएं कहीं ओझल नहीं रहीं हैं। वे स्त्री को परमात्मा की उत्कृष्टतम कृति मानते हैं। जब स्त्री शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसका आशय लिंग से न होकर धारणा से होता है। समाज ने परंपराओं ने स्त्री को स्त्री होने की जो परिभाषा दी है वह मात्र एक छवि है ।अमरकांत की कहानियां उस छवि को तोड़ती हुई नजर आती हैं। उनकी कहानी 'लड़का - लड़की' स्त्री चेतना के भाव अपने आप में समेटे हुए है। स्त्री का जीवन बिना पुरुष के भी ठीक वही अस्तित्व रखता है जो एक पुरुष का बिना स्त्री के । उन्होंने इस कहानी में प्रेम के भाव का वर्णन नायिका 'तारा' के माध्यम से किया है। प्रेम का अर्थ आर्थिक संसाधन और देह पर आधारित न होकर एक आत्मिक भाव के रूप में अमरकांत जी ने इस कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया है।'तारा' डरी सहमी लड़की नहीं है, वह अपनी भावनाएं खुलकर रखने में सक्षम स्त्री है। इस कहानी के माध्यम से उन्होंने एक संघर्षशील स्त्री के जीवन का चित्रण किया है। स्त्री के प्रेम और पुरुष के प्रेम में गहरा अंतर है।तारा कहती है,-"लेकिन आज आपको सब कुछ सुनना पड़ेगा। मैं आपको कितना प्यार करती हूं यह नहीं बता सकती लेकिन आज आपकी भी गलत बातों को मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती। आपका भी ऐसा ही कहना है। आपके लिए तो मैं बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार थी लेकिन इधर मैंने यह महसूस करना शुरु किया है कि आप केवल अपनी ही बातों को महत्व देते हैं दूसरों की भावनाओं की आपको कतई परवाह नहीं"[1]एक लड़की जो शिक्षक रूपी पुरुष से प्रभावित होकर अपने जीवन को बदलने को प्रयासरत है एक समय के बाद वह शिद्दत से महसूस करती है कि जिसे वह अपने अपना प्रेरणा स्रोत मान रही है वह भी कहीं ना पितृसत्तात्मक ढांचे का ही एक पहलू है । क्यों आज भी भारतीय स्त्री का जीवन एक पुरुष के प्रेम के बिना अधूरा माना जाता है।स्त्री होना किसी भी स्त्री की मौलिक पहचान नहीं हो सकती है।जिसे हम लिंग कहते हैं क्या उसका संबंध आत्मिकता से होता है ? स्त्री का जन्म परंपराओं और जिम्मेवारियों के निर्वहन के लिए ना होकर अपने जीवन के उच्चतम शिखरो को प्राप्त करने के लिए ही हुआ है। स्त्री का अंतर्मन कितना आहत होता है जब वह किसी पुरूष को अपना सर्वस्व मान लेती है और वह उसे मात्र अपनी महानता दर्शाने का एक उपकरण। यह कौन सी परंपरा है जिसमें एक स्त्री एक पुरुष को अपनी ऊर्जा का केंद्र मानकर उसी के इर्द-गिर्द अपने जीवन का ताना-बाना बुन लेने में अपने आप को सौभाग्यवती समझती है। अमरकांत ने इस कहानी के माध्यम से स्त्री और पुरुष को समान मानते हुए दोनों के विचारों को समाज के सामने रखा है।

अंतर्मन के द्वंद्वों और हृदय के बहुत गहरे कोने में झांकने के इस प्रयास से एक कदम आगे बढ़ते हुए अमरकांत ने स्त्री की आत्म निर्भरता को सबसे अधिक महत्व दिया है। स्त्री का आत्मनिर्भर होना, स्वयं का वजूद गढ़ना सबसे महत्वपूर्ण है। वह स्त्री होने से पहले मानव है। वह देह मात्र नहीं है वह एक चैतन्य मानव है जिसे अवश्य ही आत्मनिर्भर होना चाहिए। 'शुभ चिंता' कहानी में उन्होंने स्त्री की आत्म निर्भरता पर ज़ोर देते हुए लिखा है "और हाँ भाई, मुझे गंदी औरतों से सख़्त नफरत है। मैं उन सभी औरतों को गंदी मानता हूं जिनकी आदतें भद्दी होती हैं। आखिर सलीके से रहने में क्या जाता है? साफ और अच्छा पहनिए, अच्छा ओढ़िये, कायदे से रहिए, सबसे शिष्टाचार पूर्वक बात कीजिए, अपने से बाज़ार हाट कर लीजिए। उन स्त्रियों से मुझे बहुत चिढ़ है जो सुस्त पड़ी रहती हैं, हमेशा व्यर्थ हँसती रहती हैं और बैठकर दूसरों की शिकायत करती है...और, सीता, मैं उस औरत को पसंद करता हूं जो थोड़े ही पैसों में अपने बच्चे को ढंग से रखे, घर का खर्चा ठीक से चला ले, बेकार समय में कुछ सीखने की फिराक में रहे, दूसरों से बेकार शर्म और संकोच ना करें और

स्वाभिमान के साथ रहे। फिर शिक्षा को मैं बहुत ज़रूरी समझता हूं। स्त्री इतना ज़रूर पढ़े कि मौका आने पर अपने पैरों पर खड़ी हो सके।" [2] एक स्त्री का विकास संपूर्ण परिवार का विकास है। संपूर्ण मानव जाति के लिए प्रेरणा स्रोत हैं जो मजबूती से अपने कर्तव्यों का निर्वाह करती हैं।

जब एक स्त्री आत्मनिर्भर होती है तो संपूर्ण परिवार का उत्कर्ष होता है। आर्थिक स्वतंत्रता, स्त्री स्वायत्तता के साथ-साथ एक सकारात्मक माहौल परिवार को प्रदान करती है। परिवार से ही समाज और समाज से ही देश का विकास होता है। "अनादि काल से हम नारी को सर्वोच्च स्थान पर स्थापित करते आ रहे हैं क्योंकि वह तेजोम है,धीरोदात्त है,सृष्टि क्रम की नायिका है, जिसने विपरीत परिस्थितियों में भी अपना विवेक नहीं खोया।"[3] स्त्री मन के विभिन्न भावों को कहानीकार ने अपनी लेखनी के माध्यम से व्यक्ति किया है त्याग, धैर्य, विवेक बोध, इनकी अपेक्षा स्त्री से ही क्यों की जाती है। स्त्री ही क्यों पुरुषों को अपना सर्वस्व मानकर अपने अनमोल भावों को एक पुरुष पर न्यौछावर कर के सदैव अपनी कामनाओं का त्याग कर पुरुष को स्वयं से ज़्यादा महत्व देकर उसे श्रेष्ठ बनाने को तत्पर रहे? इस प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति अमरकांत की कहानियों को विशिष्ट बनाते हैं।

अंतर्मन से स्त्री पुरुष से अधिक कोमल होती है। उसमें करुणा और दया पुरुष से अधिक पाई जाती है। अपनी संवेदनाओ के माध्यम से वह बहुत सी समस्याओं को बड़ी ही संजीदगी से सुलझा देती है, उसकी काल्पनिकता का दायरा बहुत विस्तृत होता है जो उसे विशाल फलक देता है। "रसिकता की पराकाष्ठा इन्द्रियों की मूर्त अनुकूलताओं में रूकी नहीं रहीं। गोचर को छोड़कर अगोचर को ढूंढने की इच्छा मनुष्य में है और बिना मूर्त और स्थूल साधना के भी वह रसिकता की तृप्ति कर सकता है। इसी आवश्यकता ने काव्य और साहित्य को जन्म दिया। मानसिक कल्पना और वाणी की सहायता से मनुष्य अपने अन्तर्जगत के सपनों में ही तमाम मूर्त अनुकूलताओं को भोगने का सामर्थ्य पैदा कर सका।"[4] जिन सामाजिक, सांस्कृतिक ,धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों में भारतीय नारी अपना जीवन यापन करती है। उन्हीं का चित्रण अपने सृजन में करती है।कल्पनाशीलता व्यक्ति को जीवंत बनाती है। अमरकान्त की कहानियों में यही स्त्रीगत जीवंतता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। मां के रुप में भारतीय स्त्री की गरिमा सदैव से ज्यादा रहने का मूल कारण यही है कि वह ममता के आलावा मातृभाव भी जानती है। इस का बहुत ही गहरा उदाहरण उनकी कहानी 'मित्र मिलन' में मिलता है।कहानी के नायक उमाशंकर बाबू की पत्नी रुक्मिणी के माध्यम से कहानीकार यह भाव स्पष्ट रूप से प्रकट किया है। उमाशंकर बाबू अपने बचपन के दोस्त शिवनाथ की पचास वर्ष पहले आई चिट्ठी को पढ़कर आनंदित हो रहे थे वही उनकी पत्नी रुक्मिणी सिर्फ एक ही बात कहती है "रुक्मिणी ने उमाशंकर बाबू की गोद में पड़े पत्र को झपट्टा मारते हुए उठा लिया और जल्दी-जल्दी पढ़ने लगी फिर शिकायत - भरे स्वर में बोली लल्लू को बुखार आ गया इसके बारे में लिखा ही नहीं।"[5] एक स्त्रीमन ही इस तरीके से सोच सकता है। पुरुष और स्त्री की संवेदना में गहरा अन्तर होता है। रुक्मिणी के कथन से स्पष्ट है कि उसे कहीं ना कहीं बच्चे की बिमारी की समस्या ज़्यादा महत्वपूर्ण लगती है। एक मां का सबसे ज्यादा ध्यान सबसे पहले बच्चे पर ही होता है।

अपने भावों को व्यक्त करने की शक्ति स्त्री में एक अनूठेपन को लिए होती है। सहज भाव से वह अपने विचारो को प्रकट करने की क्षमता रखती है। अपने आप को पुरुष के विचारों के अनुसार ढालने के प्रयास में वह अपने जीवन का बहुत सा समय व्यतीत कर देती है। स्वयं की चेतना के विकास पर ध्यान न देकर वह अपने आदर्श पुरुष वचनों का पालन वेदों के मन्त्रों की तरह करती है जो उसे अन्दर तक तोड़ कर रख देते हैं। 'शुभचिंता' कहानी की नायिका सीता अपने आदर्श पुरुष से चेतना पाकर स्वयं को परिवर्तन की राह पर ढकेल देती है। "और जानती हो, मंजु ,मैं जल्दी ही एक अजीब आशा और उमंग में बहने लगी, यह सब कैसे हो गया ? मैं ऊंचा उठ सकती हूँ, इस कल्पना से मुझको लगा कि मैं दूसरों को प्रभावित कर सकती हूँ। इस ख्याल ने मुझको पागल बना दिया। तुम हँसोगी लेकिन मुझे अपना शरीर,अपनी शक्ल ,अपनी चाल-ढाल, सब कुछ बहुत अच्छा लगने लगा। फिर मैं बहुत डर गई और तब मेरे दिल में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं जीवन भर शादी नहीं करूँगी। मेरे अन्दर गंभीर उथल-पुथल मची थी। मैं अपने से लड़ती रही। जितना मैं सोचती, मुझको लगता , मुझको अपने आदर्श और उत्साह के अलावा कुछ नहीं चाहिए"[6] उत्साह व्यक्ति के जीवन में नव चेतना का संचार करता है। पति पत्नी का रिश्ता सामान्यत देह और आर्थिक संसाधनों पर आधारित होने के कारण स्त्रियों को बहुत सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। बहुत से ऐसे कारण है जिनके कारण स्त्री अपने ही विचारों की उच्चता से वह अपने वजूद को अकेले ही गढ़ती रहती है।स्त्री का स्वभाव सबके साथ कोमल, अच्छा व्यवहार उसके आवरण का हिस्सा होता है। छोटे छोटे मुद्दों में वह अपना जीवन समर्पित कर देती है। दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं यहां तक की अपने घर पर काम करनें वाले नौकर भी उसका जीवन का हिस्सा होते हैं। घर के नौकर चाकरों के साथ स्त्री के व्यवहार का वर्णन करते हुए अमरकान्त जी कहते हैं "निर्मला आँगन में खड़ी होकर पड़ोसियों को सुनाते हुए कहती थी, बहादुर, आकर नाश्ता क्यों नहीं कर लेते ? मैं दूसरी औरतों की तरह नहीं हूँ जो नौकर-चाकर की तलती-भूनती हैं। मैं तो नौकर चाकर को अपने बच्चों की तरह रखती हूँ।"[7] नौकरों को भी परिवारों में एक सदस्य के रूप में सदैव से माना जाता रहा है। भारतीय संस्कृति की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है। बहुत सी महिलाओं के ग्रहणी होने के कारण उनके जीवन के मुद्दे भी घर के आसपास ही घूमते हैं।उनके लिए कपड़े, रोटी, बर्तन, बच्चो की परवरिश, सास, ससुर व परिवार से जुड़े हर मुद्दे की अपनी एक गहरी विचारधारा होती है।"अब स्त्री सिर्फ स्त्री के रूप में सामने आती है यह स्त्री भी किसी बड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करती अधिकतर वह मध्यवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय स्त्री की भाषा बोलती है।"[8] स्त्रियों को नहीं लड़नी होती हैं बड़ी लड़ाइयाँ, वे तो आह्लादित हो जाती हैं छोटी-छोटे उपहारों से, खिल उठती हैं अपने प्रिय के ठीक से मुस्कुराने पर भी। परिवार के प्रति अपनी संवेदनाओं से रिश्तों को मोतियों की तरह से पिरो कर रखती हैं। इन्हीं छोटी-छोटी संवेदनाओं का वर्णन अमरकांत ने अपनी कहानियों में किया है। अपनी कहानी में स्त्री के अंतर्मन का बहुत ही सटीक चित्र उन्होंने खींचा है।'बीमारी' कहानी में इस भाव को व्यक्त कर करते हुए लिखा है "लगभग एक महीने बाद मेरे घर में खुशी का माहौल देखने में आया। पत्नी के उत्साह का अंत नहीं था और वह पड़ोस में

सबको बता आई कि योग्य डॉक्टर पैसा अधिक लेते हैं तो खलता नहीं, अब देखिए न, डॉ. वाजपेयी की दवा की एक खुराक खाकर ही बच्चे का बुखार छूमंतर हो गया।"[9] हर छोटी बड़ी खुशियां वे सब के साथ साझा करते हुए अपने जीवन के हर पल को बड़ी ही खुशी से जीती है। पारिवारिक संरचना भारतीय स्त्री के जीवन को अनेक रूप प्रदान करती है। घर के केंद्र में स्त्री ही होती है। जिस पर पारिवारिक ढांचे की बुनियाद टिकी होती है। पारिवारिक मामलों में किसी तीसरे व्यक्ति का हस्तक्षेप परिवार मे क्लेश का माहोल तैयार कर देता है। स्त्रियों के आपसी संबंधों की बड़ी गहरी समझ हमें अमरकान्त की कहानियों में दिखाई पड़ती है। अपनी कहानी 'शुभविवाह' में तीन बहनों और उनके पतियों की कहानी के माध्यम से सामाजिक यथार्थ की विवेचना अमरकान्त जी ने की है। वे लिखते हैं "रमेश ने किसी को भी स्टेशन नहीं जाने दिया। उनके जाने के बाद रमेश और अमिता की खूब आलोचना हुई, रमेश भी बीवी का गुलाम निकला। इस पर जोर का ठहाका लगा। बहुत दिनों बाद तीने बहनों और उनके पतियों के बीच स्नेह और मतैक्य का ऐसा दुर्लभ दृश्य दिखाई दे रहा था।"[10] भले ही किसी तीसरे व्यक्ति के कारण घर में कलह का माहौल हो जाता है, लेकिन अपनत्व का भाव कहीं ना कहीं इससे बड़ा है। आपसी स्नेह, प्रेम ,इज्जत वह मर्यादाओं पर ही परिवार की बुनियाद होती है। अगर इसमें कहीं पर भी कमी आती है तो परिवार टूट कर बिखर जाता है। पिता, पुरुष या पति जब संरक्षक के रूप में स्त्री के साथ आते हैं तो वह कहीं ना कहीं उसके साथ संपत्ति की तरह से व्यवहार करने लगते हैं। यह पितृसत्तात्मक मानसिकता कहीं ना कहीं स्त्री को विद्रोही बना देती है। इसी भाव उसका उल्लेख करते हुए अमरकांत जी कहते है "कल किसी लड़के ने इसे रास्ते एकू चिठ्ठी दे दी थी … क्या ? अचल बेहद उत्तेजित हो उठा। हाँ, उसने मेरी राय माँगी। मैंने इतना ही कहा कि संभलकर चलो बेटी - रास्ते में खूब गंभीर रहो, अधिक सजकर और फैशन से न निकलो। बस इतना ही कहना काल हो गया।"[11] एक विद्रोह यहाँ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जिस समय अमरकान्त जी ने लिखा कि चिट्ठी से ही प्रेमी अपने भावों को व्यक्त करते थे। किसी ने लड़की को प्रेम प्रस्ताव दिया तो यह लड़की की ही गलती है। उसने जरूर कोई ऐसी हरकत की होगी जो इसे ही प्रपोज क्यों किया गया। आज तो चैटिंग का युग है जिसने स्त्रियों के लिए अनेक समस्याओं के द्वार खोल दिए हैं। अमरकान्त जी ने अपनी कहानियों के माध्यम से स्त्रीगत समस्याओं को समाज के सामने रखा है साथ ही समस्याओं के समाधान पर भी अपनी गहरी दृष्टि प्रस्तुत की है। अपनी कहानी 'चक्र' में वे लिखते है "अचानक मेरे दिल का बोझ एकदम हलका हो गया। इच्छा हुई, मैं आकाश में उड़ने लगूं। एक वास्तविक खुशी का स्रोत मेरे दिल के अंदर फूट रहा था। ऐसी ही खुशी से हिम्मत आती है बुद्धि आती है, खुशी स्वयं ही अपने अंदर पैदा करनी होती है"[12]जब स्त्री अपने अंतर्मन भाव को स्पष्ट कर देती है तो वह उसके लिए एकदम खुली हवा में सांस लेने जैसा होता है। अपने विचारों के ताने-बाने को जब वह जिसके प्रति उसका प्रेम है उसके समक्ष रख देती है तब वह निर्लेप हो जाती है। उसके जीवन में रंग भरने प्रारंभ हो जाते हैं। वह अपने आप पर गर्वित होती है। क्योंकि स्त्री का अंतर्मन होता है सागर से भी गहरा। उन गहराइयों में छुपी होती है उसके जीवन की बहुत सी कहानियां जो वह कभी किसी से कह नहीं पाती। क्योंकि सामाजिक संरचना और उसकी परवरिश उसे बहुत से बातों की इजाजत नहीं देती। जब वह पाती है सानिध्य सत्य का तो वह खिल उठती है नए उजास की तरह से। क्योंकि सत्यता के प्रकाश की रोशनी से बड़ा कोई प्रकाश नहीं होता।

अमरकांत की कहानियों के नारी पात्र के ममत्व, आत्मनिर्भरता, धार्मिक रूढ़ियों से मुक्ति के साथ-साथ मानवतावादी व्यवहार की मांग करते नजर आते हैं। सीता, निम्मों, दीम्ति, कीर्ति, लक्ष्मी, रुक्मिणी, मंजु, निर्मला भारतीय आत्मा को प्रदर्शित करने वाली नारी पात्र हैं जो अपनी चेतना के बल पर नये आयाम पाने की जद्दोजहद करती, आज भी नज़र आ जाती हैं।

आज स्त्री को सबसे ज्यादा आवश्यकता है आत्मनिर्भरता के साथ-साथ अपने आत्म बल को मजबूत करने की। अपनी चेतना के उत्कर्ष के लिए निरंतर ज्ञान से अपने हाथ मजबूत करने की। मात्र देह के रूप में कुछ समय के लिए वह सुविधा तो प्राप्त कर सकती है लेकिन नैतिक मूल्यों के निर्वाह के बिना वह समाज को एक नई दिशा कभी नहीं दे सकती है। अमरकांत की कहानियों में इसी विचार की दृढ़ता का फलक स्पष्ट दिखाई देता है।

संदर्भ ग्रंथ:-

1)10 प्रतिनिधि कहानियां (अमरकांत),किताब घर ,अंसारी रोड दरियागंज,नई दिल्ली110002, प्रथम संस्करण 1997, पृष्ठ 48

2)महान भारतीय महिलाएं (प्रेरक जीवन चरित्र), विजय कुमार गुप्ता गोतम सपरा, सुरुचि प्रकाशन,केशव कुंज झंडेवाला,नई दिल्ली- 110055, पृष्ठ 4

3)10प्रतिनिधि कहानियां (अमरकांत),किताब घर,अंसारी रोड दरियागंज,नई दिल्ली110002, प्रथम संस्करण 1997, पृष्ठ 3

4)संक्रान्ति और सनातनता डॉ० छगन मोहता, वाग्देव प्रकाशन, बीकानेर ,सुगन निवास, चन्दन सागर पृष्ठ-100-101

5)दस प्रतिनिधि कहानियाँ अमरकांत, किताबघर प्रकाशन २५,अंसारी रोड , दरियागंज नई दिल्ली 110002, पृष्ठ 54

6)दस प्रतिनिधि कहानियाँ (अमरकान्त) प्रकाशन किताबघर असारी रोड 24, नयी दिल्ली - 110002 प्रथम संस्करण, पृष्ठ 40

वहीं, पृष्ठ 60, बहादुर कहानी

7)धनी व्यक्ति का बयान, अमर कान्त, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - प्रथम सस्करण, 1997

कहानी संग्रह- एक धनी व्यक्ति का बयान, कहानी शुभविवाह, पृष्ठ 50

8)हिंदी साहित्य का आधा इतिहास- डॉ सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया लोधी रोड नई दिल्ली 11003 प्रथम संस्करण 2011 पृष्ठ 316

9)धनी व्यक्ति का बयान, अमर कान्त, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली - प्रथम सस्करण, 1997

10) कहानी संग्रह- एक धनी व्यक्ति का बयान,कहानी शुभविवाह, पृष्ठ 50

11) एक धनी व्यक्ति के बयान -अमरकांत, राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली 110002, पृष्ठ53

12) वही, पृष्ठ 60

*****

प्रेमचंद की परंपरा में दलित विमर्श और चेतना

-तानिया लाम्बा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

पिछले अध्यायों में बार-बार यह बात सामने आ चुकी है कि आधुनिक काल की दो सबसे बड़ी पहचानें हैं—नारी विमर्श और दलित विमर्श। ये दोनों विमर्श अपने-आप नहीं उभरे, बल्कि इनके पीछे नवजागरण काल में चले सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलनों की बड़ी भूमिका रही है। इन आंदोलनों ने समाज की जड़ हो चुकी सोच को चुनौती दी और दबे-कुचले वर्गों की स्थिति पर नए सिरे से सोचने की ज़मीन तैयार की।

भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के पहले हिस्से तक औरतों की स्थिति बहुत दयनीय थी। धर्म और शास्त्र के नाम पर उन पर कई तरह की पाबंदियाँ लगा दी गई थीं। पढ़ने-लिखने से लेकर अपने जीवन के फैसले लेने तक, हर जगह उन्हें रोक दिया गया था। इसी कारण समाज के जागरूक लोगों ने महिलाओं की स्थिति पर नए नजरिए से विचार करना शुरू किया। नवजागरण काल में नारी शिक्षा, विधवा-विवाह, सती प्रथा का विरोध, दहेज प्रथा की आलोचना और बाल विवाह के खिलाफ आवाज़ उठाने जैसे मुद्दे खुलकर सामने आए। इन प्रयासों ने नारी विमर्श की नींव रखी।

इसी तरह दलित विमर्श भी उसी दौर की एक महत्वपूर्ण देन है। जिस तरह औरतों पर धर्म और शास्त्र के नाम पर बंधन लगाए गए थे, उसी तरह दलितों और शूद्रों पर भी कई तरह के अन्याय किए गए। उन्हें शिक्षा, मंदिर प्रवेश और सामाजिक सम्मान से वंचित रखा गया। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत से दलितों की स्थिति सुधारने के लिए सामाजिक स्तर पर कई प्रयास हुए।

इन दोनों विमर्शों का प्रभाव साहित्य पर भी साफ दिखाई देता है। साहित्य की लगभग हर विधा में नारी और दलित जीवन से जुड़े विषयों पर रचनाएँ लिखी गईं। हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में भी इन विषयों पर बड़ी संख्या में कहानियाँ रची गईं। पिछले अध्याय में हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में दलित जीवन के चित्रण की चर्चा की जा चुकी है। इसलिए इस अध्याय में केवल कहानी विधा पर ध्यान केंद्रित किया गया है।

हिंदी के आधुनिक काल में नारी विमर्श की शुरुआत प्रेमचंद के समय से ही हो जाती है। वहीं दलित विमर्श का सशक्त चित्रण भी हमें प्रेमचंद युग से ही मिलता है। इसीलिए प्रेमचंद और प्रेमचंद की परंपरा के लेखकों द्वारा लिखी गई दलित जीवन से जुड़ी कहानियाँ इस अध्याय का मुख्य विषय हैं।

दलित विमर्श के संदर्भ में प्रेमचंद पहले और सबसे महत्वपूर्ण कहानीकार माने जाते हैं। उनकी कहानियों में दलित जीवन की पीड़ा, अपमान और संघर्ष गहराई से उभरकर सामने आता है। लेकिन विषय को समझने में आसानी हो, इस उद्देश्य से यहाँ क्रम में थोड़ा बदलाव किया गया है। पहले प्रेमचंद की परंपरा के अन्य कहानीकारों की दलित विमर्श से जुड़ी कहानियों पर संक्षेप में विचार किया गया है, उसके बाद प्रेमचंद की कहानियों का विस्तार से विश्लेषण किया जाएगा।

प्रेमचंद की परंपरा के कहानीकारों में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' को इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण और परिवर्तनकारी लेखक माना जा सकता है। उनकी सोच प्रगतिशील थी और वे समाज में बदलाव और क्रांति के पक्षधर थे। इसी कारण उनकी कहानियों में दलित जीवन से जुड़े सवाल बार-बार सामने आते हैं।

उग्र की दलित विषयक कहानियों में समाज की पुरानी रूढ़ियों और परंपराओं की अमानवीयता साफ दिखाई देती है। वे यह दिखाते हैं कि ये परंपराएँ किस तरह इंसान के खिलाफ खड़ी होती हैं और अत्याचार को जन्म देती हैं।

उनकी कहानी 'रंगीला' समाज के असली चेहरे को उजागर करती है। इस कहानी में दलितों के मंदिर में प्रवेश न कर पाने की समस्या को केंद्र में रखा गया है। कहानी का अछूत किसान बहुत धार्मिक है और भगवान में उसकी गहरी आस्था है, लेकिन फिर भी उसे मंदिर में जाने की अनुमति नहीं है। इसके उलट डाकू और पापी लोग, जो ऊँची जाति के हैं, बिना किसी रोक-टोक के मंदिर में प्रवेश कर सकते हैं।

यह स्थिति एक गहरी विडंबना को जन्म देती है। भगवान का सच्चा भक्त उनके दर्शन के लिए तरसता रहता है, जबकि अधर्मी लोग आसानी से मंदिर पहुँच जाते हैं। उग्रजी मंदिर के स्वामी के कथन के माध्यम से दलितों पर होने वाले अमानवीय अत्याचार और समाज के पाखंडी रूप को उजागर करते हैं। लेखक के शब्दों में—

"भगवान ने अछूत बनाकर समाज से कितना विद्वेष, कितना अमानुषिक और कितना कठोर इन दंड दिया है। ये विद्या का अभ्यास नहीं कर सकते, क्योंकि अछूत हैं। ये जीव-जंतु का नाम तक नहीं ले सकते, क्योंकि अछूत हैं। हाथ हैं। ढोंगी समाज।"

उग्र की एक और कहानी "ब्राह्मण-द्रोही नायक" में भी जातिवाद के खिलाफ स्पष्ट विमर्श दिखाई देता है। इस कहानी का पंडित कमलनाथ सामान्य हिंदू समाज का प्रतिनिधि है। वह परंपरागत सामाजिक ढांचे का समर्थक है और मानता है कि समाज में ब्राह्मण का स्थान सबसे ऊपर होना

चाहिए। उसके अनुसार बाकी जातियाँ ब्राह्मण से नीचे हैं।

इसके विपरीत, पंडित कमलनाथ का पुत्र जीवन और मास्टरजी जैसे पात्र अपेक्षाकृत प्रगतिशील सोच रखते हैं। वे मानते हैं कि ब्राह्मण श्रेष्ठ है, लेकिन ब्राह्मण होना जन्म से नहीं, बल्कि कर्म से तय होना चाहिए। इसी संदर्भ में कहा गया है—

"कर्म ही ब्राह्मण है। धीर, रैदास और गांधी से बढ़कर ब्राह्मण होना असंभव है।"

इस विचारधारा के संदर्भ में प्रेमचंद के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। उनके समय में कुछ आलोचकों ने उन पर ब्राह्मण-विरोध का आरोप लगाया था। इस आरोप का उत्तर देते हुए प्रेमचंद ने स्पष्ट किया—

"लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं एक महान पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुंचता है। हरेक स्वैराचारी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं उस पद का अपमान नहीं कर सकता।"

इस प्रकार प्रेमचंद की परंपरा के कहानीकारों की रचनाओं में दलित विमर्श सामाजिक अन्याय के खिलाफ एक सशक्त आवाज़ के रूप में सामने आता है, जो आगे चलकर प्रेमचंद की कहानियों में और अधिक गहराई के साथ विकसित होता है।

छायावाद के कवियों और लेखकों में सबसे अधिक प्रगतिशील और मानवीय दृष्टि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' में दिखाई देती है। उन्होंने कविता के साथ-साथ गद्य में भी समाज के वंचित और दबे-कुचले वर्गों की पीड़ा को गंभीरता से समझा और प्रस्तुत किया। उनके उपन्यास 'निरुपमा' और 'कुल्ली भाट' में दलित जीवन की स्थितियों का यथार्थ चित्रण मिलता है। यही प्रगतिशील सोच उनकी कहानियों में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। दलित विमर्श के संदर्भ में उनकी कहानी 'चतुरी चमार' विशेष रूप से चर्चित और महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस कहानी में निरालाजी का मानवीय दृष्टिकोण पूरी संवेदनशीलता के साथ सामने आता है।

कहानी में लेखक चतुरी का परिचय देते हुए बताते हैं कि चतुरी चमार डालगंज थाना, मौजा गढ़ाकोटा, जिला उन्नाव का पुराना निवासी है। वह जाति से चमार है और चमड़े के जूते बनाना उसका पुश्तैनी काम है। यह काम वह पीढ़ियों से करता आ रहा है। चतुरी अपने काम में बेहद कुशल है। उसकी मेहनत और कला के कारण उसके बनाए जूतों की हर जगह सराहना होती है। आस-पास के इलाकों में वह अपने काम के लिए जाना जाता है।

लेखक चतुरी के जूतों की मजबूती और टिकाऊपन का वर्णन करते हुए लिखते हैं— पाती हप्ते में तीन दिन हिरन, चौगड़े और बनैले हार उद्धार कर फांसते हैं, 'किसान अरहर की फलियों पर ढोर भगाते हुए दौड़ते हैं, कंटीली झाड़ियों को दबाकर चले जाते हैं, छोपड़े बैल, बापूल कीस और चेर के घंटों से गुजरे हुए बागों से सरपट भागते हैं, लोग बैंगने पर महीने करते हैं, द्वारिका का नाई न्यौता बांटता हुआ दो साल में दो हजार कोस से ज्यादा चलता है, वैसे ही चतुरी के जूते उपरिवर्तनवाद के धुर रूप जैसे टस से मस नहीं होते।

इस उद्धरण के माध्यम से निराला यह दिखाते हैं कि चतुरी का हुनर किसी भी तरह से कमतर नहीं है, बल्कि वह समाज के तथाकथित ऊँचे वर्गों की मेहनत से कहीं अधिक टिकाऊ और भरोसेमंद है।

कहानी में निराला चतुरी चमार के भीतर धीरे-धीरे जाग रही दलित चेतना की ओर संकेत करते हैं। एक स्थान पर चतुरी अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहता है— जमींदार के सिपाही को घर तल एक जोड़ा जूता देना पड़ता है। एक जोड़ा जूता गले से दो साजन चलता है, परन्तु जमींदार के सिपाही को साल में एक जोड़ा जूता देने ही पड़ते हैं और वह भी मुफ्त में।

यह कथन उस समय की सामाजिक व्यवस्था की सच्चाई को सामने रखता है, जहाँ दलितों से जबरन बेगारी ली जाती थी। चतुरी का दुख उसकी आँखों से बहते आँसुओं में साफ दिखाई देता है।

चतुरी केवल दुख सहने वाला पात्र नहीं है। उसके भीतर संघर्ष करने का साहस भी है और धैर्य भी। उसे अपने अधिकारों का कुछ-कुछ एहसास होने लगा है। यही वजह है कि अन्याय के खिलाफ खड़े होने की ताकत उसमें पैदा होती है। वह चाहता है कि उसका बेटा पढ़-लिखकर आगे बढ़े और उस जीवन से बाहर निकले, जिसमें वह खुद फँसा हुआ है। इस प्रकार निरालाजी चतुरी के माध्यम से दलित समाज में ऊपर उठने की चेतना को दिखाते हैं।

अगर ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'अम्मा' से तुलना करें तो दोनों समयों का अंतर साफ नजर आता है। 'अम्मा' में अम्मा खुद तो पुराना काम करती है, लेकिन उसके बेटे-बहुएँ उस काम को नहीं करते। वे कहते हैं कि अम्मा उन्हें ऐसा करने नहीं देती। लेकिन 'चतुरी चमार' के समय में किसी पात्र में ऐसी जागरूकता दिखाना ही बहुत बड़ी बात थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि निराला अपने समय से काफी आगे सोच रहे थे।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के साहित्य में भी दलित विमर्श के तत्व मिलते हैं। उनके उपन्यास 'गोनी' में दलित जीवन की झलक दिखाई देती है। वहीं उनकी कहानी 'मेहतर की बेटी का भात' दलित विमर्श का एक अलग और सकारात्मक रूप सामने रखती है।

इस कहानी में एक मेहतर की बेटी की शादी का प्रसंग है। शादी में मायके से 'भात' चढ़ाने की परंपरा होती है और भात चढ़ाने वालों को 'भातई' कहा जाता है। मेहतर अपने भातई का इंतजार कर रहा होता है। उसी समय गाँव के जमींदार चौधरी रूपराम मालगुजारी की रकम लेकर बादशाह के पास जा रहे होते हैं। मेहतर गलती से उन्हें ही भातई समझ लेता है। जब उसे अपनी भूल का एहसास होता है तो वह डर के मारे चौधरी के पैरों में गिरकर माफी माँगने लगता है। लेकिन चौधरी रूपराम उदार और संवेदनशील व्यक्ति हैं। वे सारा पैसा और सामान 'भात' के रूप में चढ़ा देते हैं और मेहतर को गले लगाकर उसके भातई बन जाते हैं।

जब बादशाह को यह बात पता चलती है तो वे भी प्रसन्न होते हैं और अपनी ओर से जड़ाऊ चादर आदि शाही भात के रूप में भेजते हैं। इस तरह आचार्य चतुरसेन शास्त्री इस कहानी के माध्यम से समाज के एक उजले और मानवीय पक्ष को सामने लाते हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन मार्क्सवादी विचारधारा के लेखक थे, इसलिए उनके साहित्य में दलित विमर्श का होना स्वाभाविक है। दलित दृष्टि से उनकी कहानियाँ 'पुजारी', 'सत्तमी के बच्चे', 'प्रभा',

'सुपर्ण यौद्धेय', 'सुमेर' आदि विशेष महत्व रखती हैं। इनमें 'प्रभा' और 'सुपर्ण यौद्धेय' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, जबकि बाकी कहानियाँ समकालीन जीवन से जुड़ी हैं।

कहानी 'पुजारी' का पुजारी सुधारवादी सोच रखता है। वह जाति-भेद को नहीं मानता और इन सीमाओं से ऊपर सोचता है। इसी कारण वह चिनगी चमार को अपना शिष्य बना लेता है। चिनगी को पुजारी पर गहरा भरोसा और सम्मान है। जब चिनगी की मृत्यु हो जाती है तो पुजारी उसके अंतिम संस्कार में स्वयं उपस्थित रहते हैं। सामाजिक दबाव के बावजूद वे अपने फैसले से पीछे नहीं हटते।

लोग तब हैरान रह जाते हैं जब पुजारी कहते हैं कि चिनगी का दाह -संस्कार गंगा तट पर होगा, जो वहाँ से तीस कोस दूर है। आम तौर पर ऐसा संस्कार केवल ऊँची जाति के अमीर लोगों का होता था। लेकिन पुजारी खुद गंगा तट तक जाते हैं और चिनगी का संस्कार करवाते हैं। इस तरह वे समाज की जड़ परंपराओं को चुनौती देते हैं। मार्क्सवादी होने के बावजूद राहुल सांकृत्यायन यह दिखाते हैं कि यदि धर्म से जुड़े लोग प्रगतिशील सोच अपनाएँ, तो समाज में सकारात्मक बदलाव संभव है।

राहुल सांकृत्यायन की दूसरी कहानी 'सत्तमी के बच्चे' में चमार समाज की बेहद दयनीय और गरीब स्थिति दिखाई गई है। इस कहानी में यह साफ दिखता है कि चमार किसी एक व्यक्ति के निजी गुलाम नहीं होते, लेकिन पूरा गाँव और पूरा समाज उनसे गुलामों जैसा व्यवहार करता है। राहुलजी ने इस सच्चाई को बहुत सीधे और स्पष्ट ढंग से सामने रखा है, बिना किसी बनावट या भावुकता के।

सामान्य रूप से जब हम गुलामी की बात करते हैं, तो वहाँ एक गुलाम किसी एक परिवार या मालिक के अधीन होता है। लेकिन भारत में दलितों की स्थिति उससे भी कहीं ज्यादा खराब रही है। यहाँ उन्हें पूरे समाज की सामूहिक गुलामी करनी पड़ती है। पुरानी गुलामी की व्यवस्था में कई बार ऐसे मालिक भी होते थे जो अपने गुलामों की सेहत, भोजन और जीवन का कुछ न कुछ ख्याल रखते थे। लेकिन भारतीय समाज में दलितों की सेहत, दुख और जीवन की जिम्मेदारी किसी ने नहीं ली। वे सिर्फ काम के लिए जरूरी समझे गए, इंसान के रूप में नहीं।

कहानी में एक जगह चमारों और ब्राह्मणों के घरों की संख्या का उल्लेख आता है। वहाँ यह बात सामने आती है कि ब्राह्मणों के घर चमारों से ज्यादा हैं। यह सिर्फ संयोग नहीं है, बल्कि एक सोची-समझी शोषणकारी व्यवस्था का हिस्सा है। ऊँची जातियों के लोग गाँव या शहर में उतने ही दलितों को रहने देते थे, जितने उनकी जरूरत होती थी। गुजरात में दलितों के लिए 'चरावने' शब्द का बहुत प्रयोग होता रहा है। इसका अर्थ है कि दलितों को जानवरों की तरह रखने और काम में लगाने के लिए बसाया जाता था।

दलितों को जो जमीन घर या खेती के लिए दी जाती थी, वह उनकी निजी संपत्ति नहीं होती थी। उसे गाँव की साझा जमीन माना जाता था, जिस पर उनका कोई अधिकार नहीं होता था। इस सच्चाई को जगदीशचंद्र के उपन्यास 'धरती धन न अपना' में भी साफ तौर पर दिखाया गया है।

राहुल सांकृत्यायन की एक और कहानी 'सुमेर' में मुख्य पात्र सुमेर एक दलित चमार है। वह गांधीवादी विचारों से गहरा असंतोष रखता है। वह गाँव वालों से साफ शब्दों में कहता है—

"मैं हरिजन नाम से सख्त चिढ़ करता हूँ। मैं हरिजन नाम को पुरातन पंथी और भारत को पुनः अंधकार-युग की ओर खींचनेवाला पत्र समझता हूँ और गांधीजी को अपनी जाति का सबसे बड़ा दुश्मन।"

वह आगे कहता है—

"गांधीजी को हमारे हिन्दुओं में से निकाल न जाएं।"

यह विचार डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों से मेल खाता है। अम्बेडकर भी मानते थे कि वर्ण व्यवस्था का समर्थन करने वाले गांधीजी के विचार दलितों के उत्थान में सहायक नहीं, बल्कि बाधक हैं।

कहानी में सुमेर अपने जीवन का परिचय देते हुए अपने परिवार की पीड़ा बयान करता है। वह कहता है—

"मैं एक साधारण चमार का लड़का हूँ। मेरे घर में एक बीघा भर भी अपनी जमीन नहीं है। जमींदार ने जबरदस्ती दबाकर वहां अपना बगीचा बनवा लिया। मां कूट-पीस कर अब भी मजदूरी पाती है।"

सुमेर काल से जुड़े जो ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि उस समय गाँवों में रहने वाले दलित वर्ग की आर्थिक स्थिति बेहद कमजोर और दयनीय थी। समाज की पूरी संरचना ऐसी थी जिसमें श्रम करने वाले लोगों को सबसे नीचे रखा गया था और उनके जीवन में अभाव, असुरक्षा और अपमान लगातार मौजूद रहता था। इतिहास केवल राजाओं, युद्धों और साम्राज्यों का विवरण नहीं होता, बल्कि उसमें समाज के हाशिए पर खड़े लोगों का जीवन भी शामिल होता है। लेकिन अक्सर इतिहास लेखन में यही वर्ग सबसे अधिक उपेक्षित रह जाता है।

राहुल सांकृत्यायन ऐसे लेखक हैं जिन्होंने इतिहास को केवल सत्ता की दृष्टि से नहीं, बल्कि समाज और वर्ग संघर्ष के नजरिए से देखा। उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित कई रचनाएँ लिखीं, जिनमें 'प्रभा' और 'सुपर्ण यौद्धेय' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो लेखक इतिहास को आधार बनाकर कहानी, उपन्यास या नाटक लिखते हैं, वे इतिहास को अपने वैचारिक दृष्टिकोण के अनुसार देखते और समझते हैं। इसलिए एक ही ऐतिहासिक घटना अलग-अलग लेखकों के यहाँ अलग रूप में सामने आती है।

राहुल सांकृत्यायन मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़े लेखक थे। इस कारण उनके साहित्य में वर्ग चेतना, शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध और समानता के मूल्य स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। वे इतिहास की उन्हीं घटनाओं और प्रसंगों को विशेष महत्व देते हैं जिनमें शोषण के खिलाफ आवाज़ उठती है और मनुष्यता के पक्ष में कोई संघर्ष दिखाई देता है। उनके लिए इतिहास कोई जड़ और मृत चीज़ नहीं, बल्कि वर्तमान से जुड़ा हुआ जीवंत अनुभव है।

कहानी 'प्रभा' में राहुल सांकृत्यायन अश्वघोष के माध्यम से वैदिक धर्म की शोषणकारी प्रवृत्तियों पर तीखा प्रहार करते हैं। इस कहानी में लेखक यह दिखाते हैं कि किस तरह धर्म के नाम पर समाज के एक बड़े हिस्से को हमेशा के लिए नीचे धकेल दिया गया। कहानी का मूल संदेश यह है कि शूद्रों, दासों और चांडालों के साथ भी मनुष्य जैसा व्यवहार होना चाहिए। अश्वघोष बार-बार ब्राह्मण धर्म की आलोचना करता है और उसके पाखंड को उजागर करता है। वह साफ शब्दों में कहता है—

"मुझे ब्राह्मणों के पाखंडों से अपार घृणा है। ... अपने यहां के शूद्रों, चांडालों और दासों को इन्होंने हमेशा के लिए वहीं रखा। जिस धर्म से आदमी का हृदय ऊपर नहीं उठता, जिस धर्म में आदमी का स्थान उसकी थैली या डंडे के अनुसार होता है, मैं उसे मनुष्य के लिए भारी कलंक समझता हूँ।"

इस कथन के माध्यम से राहुल सांकृत्यायन उस धार्मिक व्यवस्था पर सवाल उठाते हैं जो इंसान को बराबरी नहीं, बल्कि ऊँच-नीच सिखाती है। यहाँ धर्म का मूल्यांकन उसके नैतिक प्रभाव के आधार पर किया गया है, न कि उसकी परंपरा या सत्ता के आधार पर।

यह विचारधारा डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की सोच से भी गहराई से जुड़ती है। बाबासाहेब ने भी इसी कारण बौद्ध धर्म को अपनाया था। उनका प्रसिद्ध कथन—कि मैं हिंदू के रूप में जन्मा हूँ, लेकिन हिंदू के रूप में मरूँगा नहीं—इसी मानसिकता को दर्शाता है। जीवन के अंतिम समय में बौद्ध धर्म अपनाकर उन्होंने अपने इस कथन को व्यवहार में भी बदल दिया। 'प्रभा' कहानी का अश्वघोष कहीं-न-कहीं बाबासाहेब की ही तरह प्रतीत होता है, जो धर्म को मनुष्यता की कसौटी पर परखता है।

राहुल सांकृत्यायन की दूसरी कहानी 'सुपर्ण यौद्धेय' में बौद्धों और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष को दिखाया गया है। इस संघर्ष के केंद्र में वर्ण व्यवस्था और जातिगत भेदभाव का प्रश्न है। कहानी में यह स्पष्ट किया गया है कि बौद्ध धर्म वर्ण व्यवस्था के खिलाफ था और उसे जड़ से खत्म करना चाहता था। राहुल सांकृत्यायन इतिहास की इस पृष्ठभूमि को सामने रखकर यह दिखाते हैं कि समानता और न्याय की लड़ाई कोई नई चीज़ नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें बहुत पुरानी हैं। इस तरह वे ऐतिहासिक घटनाओं में भी प्रगतिशील और मानवीय मूल्यों को खोज निकालते हैं।

प्रेमचंद परंपरा के लेखकों में उपेंद्रनाथ 'अश्क' का नाम भी विशेष महत्व रखता है। उनकी कहानियों में समाज की जटिलताओं और विरोधाभासों का गहरा चित्रण मिलता है। दलित विमर्श की दृष्टि से उनकी कहानी 'पिंजरा' अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस कहानी की नायिका शांति के आसपास भंगी और चमार जाति के लोग रहते हैं। लेखक ने उनके रहने की जगह का वर्णन बहुत यथार्थ रूप में किया है—

"जिस मकान में शांति रहती थी, उसके नीचे टैंडी पनार अपने आठ बहू-लड़कियों के साथ जमा हुआ था, दूसरी चौड़ी गली में मारवाड़ी की दुकान थी और जिधर दरवाजा था उधर गंगी रहते थे। उसके दरवाजे के बराबर ही परे भंगियों ने तंदूर लगा रखा था, जितका धुआं सुबह-शाम उसकी रसोई में आ जाया करता था।"

यह वर्णन बताता है कि दलित बस्तियाँ कितनी तंग, गंदी और अस्वस्थ परिस्थितियों में होती थीं। ऐसी जगहों पर बीमारियाँ फैलना आम बात थी। टैंडी पनार का लड़का निमोनिया से मर जाता है, लेकिन इस दुखद घटना के बाद भी शांति का व्यवहार अमानवीय ही रहता है। वह दलितों को अपने नल से पानी भरने नहीं देती और कहती है—

"पुजारी की काली कसौटी हमारा नल भंगी चमारों के लिए नहीं है।"

इस कथन से जातिगत घृणा और अस्पृश्यता की मानसिकता खुलकर सामने आ जाती है। अश्क इस कहानी के माध्यम से दलितों की पीड़ा और समाज की संवेदनहीनता को सामने लाते हैं।

समयचरण जैन की कहानी 'कौड़ियों का हार' भी गाँव के दलित जीवन से गहराई से जुड़ी हुई है। इस कहानी के मुख्य पात्र हैं—'मैं', चुन्नी और धपिया। कथानायक 'मैं' एक जमींदार का बेटा है, जबकि चुन्नी एक भंगी है और उसका मित्र है। धपिया चुन्नी की बहन है। उसे चौपड़ की कौड़ियों और खिलौनों का बहुत शौक है। नायक उसके लिए कौड़ियाँ लाता है, जिनसे वह एक हार बनाती है।

बचपन में तीनों के बीच कोई जातिगत भेद नहीं होता। वे खेल-खेल में रिश्तों की भूमिकाएँ निभाते हैं। लेकिन जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, समाज की सच्चाई सामने आने लगती है। जब नायक का परिवार गाँव छोड़कर शहर चला जाता है, तो चुन्नी कहते हुए विदा करता है—

"भंगी देवी भूल न जाना।"

यह वाक्य अपने आप में व्यंग्य और पीड़ा दोनों को समेटे हुए है। जाते समय धपिया पीली ओढ़नी ओढ़कर और बाल धोकर गाड़ी के पास आती है और नायक के पैरों से लिपट जाती है। तभी गाड़ीवाला चिल्लाता है—

"अरे भैया को छू लिया रांड की बच्ची अब नहाना पड़ेगा।"

यहाँ अस्पृश्यता की मानसिकता पूरी क्रूरता के साथ सामने आती है। नायक की माँ का व्यवहार थोड़ा मानवीय दिखाई देता है, लेकिन वह भी पूरी तरह जातिगत सोच से मुक्त नहीं है। वह कहती है—

"नहीं रे, नहाना थोड़े क्या, पानी छिड़क दूंगी। बच्ची है। बच्चे हैं, साथ-साथ खेले हैं ... जा बेटी जा, अपने घर जा। हम लोग पलटी लौटेंगे। राजी खुशी रहियो। ले, यह मीठी पूरी ले, जा लीजा और यह चार पैसे ले।"

समय बीत जाता है। नायक पढ़-लिखकर ग्रेजुएट बन जाता है। धपिया की शादी हो जाती है, लेकिन उसका जीवन दुखों से भर जाता है। उसका पति उसे मारता-पीटता है। एक दिन चुन्नी धपिया को लेकर शहर आता है और नायक से मिलवाता है। अब वही नायक, जो बचपन में उसका मित्र था, कहता है—

"छीः गन्दी लड़की छीः चुडैल।"

धपिया बिना कुछ कहे उसके पैरों में कौड़ियों का वही हार फेंक देती है और चली जाती है। कहानी का अंत इस वाक्य से होता है—

"वह पागल लड़की।"

लेकिन इसी वाक्य के साथ लेखक पाठक के सामने सवाल छोड़ देता है—वह पागल थी या वास्तव में पागल वही था जिसने इंसान को उसकी जाति से पहचाना?

इस कहानी में समयचरण जैन ने बिना किसी उपदेश के कठोर यथार्थ को सामने रखा है। जाति की ऊँच-नीच, अमीर-गरीब का फर्क, अस्पृश्यता, दलितों की पीड़ा और शिक्षित वर्ग की खोखली संवेदनशीलता—सब कुछ बहुत साफ दिखाई देता है। चुन्नी और धपिया दोस्ती निभाते हैं, लेकिन नायक सामाजिक हैसियत के साथ अपनी इंसानियत खो देता है। यही इस कहानी की सबसे बड़ी सच्चाई है।

यह पूरा पाठ हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में दलित विमर्श

के विकास और उसकी गहराई को कहानी विधा के माध्यम से समझाने का एक विस्तृत प्रयास है। मुख्य रूप से प्रेमचंद परंपरा के लेखकों की रचनाओं पर केंद्रित यह विवेचन नवजागरण से शुरू होकर प्रगतिशील और मार्क्सवादी प्रभाव तक दलित जीवन की पीड़ा, अन्याय, अस्पृश्यता और जागरूकता की यात्रा को उजागर करता है।

पाठ की शुरुआत में स्पष्ट किया गया है कि नारी विमर्श और दलित विमर्श आधुनिक हिंदी साहित्य की दो प्रमुख पहचानें हैं, जिनकी जड़ें नवजागरण काल के सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों में हैं। इन आंदोलनों ने जाति-व्यवस्था, सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा-विवाह जैसे मुद्दों पर सवाल उठाए और दबे-कुचले वर्गों के लिए नई सोच की नींव रखी। कहानी विधा में इन विमर्शों का प्रभाव सबसे साफ दिखता है, खासकर दलित जीवन के यथार्थ चित्रण में।

प्रेमचंद को दलित विमर्श का सबसे महत्वपूर्ण कहानीकार माना गया है, लेकिन विश्लेषण की सुविधा के लिए पहले प्रेमचंद की परंपरा के अन्य लेखकों पर ध्यान दिया गया है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियाँ जैसे 'रंगीला' और 'ब्राह्मण-द्रोही नायक' समाज की रूढ़ियों, पाखंड और जातिवाद की अमानवीयता को बेनकाब करती हैं। उग्र मंदिर प्रवेश की विडंबना और कर्म से ब्राह्मणत्व की अवधारणा के ज़रिए परिवर्तन की माँग करते हैं। प्रेमचंद भी ब्राह्मण को जन्म से नहीं, बल्कि कर्म और सदाचरण से परिभाषित मानते थे।

छायावाद के कवि निराला की कहानी 'चतुरी चमार' दलित शिल्प कौशल, बेगारी की पीड़ा और जागती चेतना को संवेदनशीलता से प्रस्तुत करती है। चतुरी का हुनर ऊँची जातियों से बेहतर बताया गया और उसके बेटे के लिए बेहतर भविष्य की आकांक्षा दलित समाज में उत्थान की शुरुआती चिंगारी दिखाती है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'मेहतर की बेटी का भात' में समाज का उदार और मानवीय पक्ष उजागर होता है, जहाँ जमींदार और बादशाह दलित के साथ भाईचारे का परिचय देते हैं। यह सकारात्मक संभावना दिखाती है।

मार्क्सवादी दृष्टि से राहुल सांकृत्यायन की कहानियाँ सबसे गहरी हैं। 'प्रभा' में अश्वघोष के ज़रिए ब्राह्मणवाद के पाखंड और शूद्र-चांडालों के प्रति अन्याय पर प्रहार है। 'सुपर्ण यौद्धेय' बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष को समानता की पुरानी लड़ाई के रूप में देखता है। 'सत्तमी के बच्चे' में चमारों की सामूहिक गुलामी और 'सुमेर' में गांधीवादी 'हरिजन' अवधारणा के प्रति तीखा विरोध अम्बेडकरी विचारधारा से जुड़ता है। सुमेर गांधी को अपनी जाति का दुश्मन कहकर वर्ण-व्यवस्था विरोध की स्पष्ट आवाज़ बनता है।

उपेंद्रनाथ अश्क की 'पिंजरा' में दलित बस्तियों की गंदगी, अस्वास्थ्यकर हालत और ऊँची जाति की संवेदनहीनता ('पुजारी की काली कसौटी...') को यथार्थ रूप से दिखाया गया है। समयचरण जैन की 'कौड़ियों का हार' बचपन की मासूम दोस्ती से शुरू होकर जातिगत भेदभाव की क्रूर सच्चाई तक पहुँचती है। धपिया का कौड़ियों का हार फेंकना और नायक का अमानवीय व्यवहार शिक्षित वर्ग की खोखली संवेदना पर गहरा प्रहार करता है। कहानी यह सवाल छोड़ती है कि असली पागल कौन था—जाति से इंसान को पहचानने वाला या उसका विरोध करने वाला।

कुल मिलाकर यह पाठ दलित विमर्श को हिंदी कहानी में एक सतत संघर्ष के रूप में स्थापित करता है। प्रेमचंद युग से निराला, राहुल, अश्क और समयचरण जैन तक यह विमर्श पीड़ा के चित्रण से शुरू होकर जागरूकता, प्रतिरोध और समानता की माँग तक विकसित होता है। लेखक धर्म, परंपरा और समाज की शोषणकारी संरचना पर सवाल उठाते हैं, कभी पाखंड उजागर कर, कभी मानवीय संभावना दिखाकर, कभी कठोर यथार्थ से। यह साहित्य न केवल दलित जीवन की वास्तविकता दर्ज करता है, बल्कि समाज को आईना दिखाकर बदलाव की प्रेरणा भी देता है। दलित चेतना की यह यात्रा आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि जातिगत अन्याय और असमानता अभी भी मौजूद हैं। साहित्य के इस योगदान से ही वास्तविक सामाजिक न्याय की नींव मज़बूत हो सकती है।

1. बलवंत साधु जाधव, प्रेमचंद साहित्य में दलित-चेतना (दिल्ली: ___ प्रकाशन, ___), 69
2. वही, 69
3. अमृतराय, कलम का सिपाही (दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, ___), 530
4. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', "चतुरी चमार," ___
5. वही।
6. धनवंत साधु जाधव, प्रेमचंद साहित्य में दलित-चेतना (दिल्ली: ___ प्रकाशन, ___), 71
7. वही, 71
8. वही, 71
9. वही, 71
10. वही, 71
11. प्रेमचंद, "कौड़ियों का हार," दान तथा अन्य कहानियाँ (दिल्ली: ___ प्रकाशन, ___), 11
12. वही, 113
13. वही, 113
14. वही, 116
15. प्रेमचंद, "सद्गति," मानसरोवर, भाग ___ (दिल्ली: ___ प्रकाशन, ___), 16
16. डॉ. कात्यायन, प्रेमचंद और अछूत समस्या (दिल्ली: ___ प्रकाशन, ___), 150–151

*****

शोध केन्द्रित सवालों की जाँच-पड़ताल

- भारती
शोधार्थी, पीएच.डी
(हिंदी)
डॉ.बी.आर.अम्बेडकर विश्वविद्यालय
लोथियन मार्ग, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006.
संपर्क सूत्र- 7042540069
ईमेल- mebharti19bharti@gmail.com

आधुनिकता के इस दौर में आज हम जिन सुख-सुविधाओं का अनुभव कर रहे हैं उसके मूल में 'अनुसंधान' है।अनुसंधान मस्तिष्क की वह प्रक्रिया है जिसमें आरंभ से लेकर अंत तक अनेक क्रिया कलाप घटित होते हैं जिन्हें सामान्यतः 'चिंतन-मनन' करना कहते हैं। बेस्ट जॉन कहते हैं कि "हमारी सांस्कृतिक उन्नति का रहस्य शोध में निहित है। शोध नये सत्यों के अन्वेषण द्वारा अज्ञान के क्षेत्रों को लुप्त कर देता है और वे सत्य हमें कार्य करने की उत्कृष्टतर विधियाँ और श्रेष्ट परिणाम प्रदान करते हैं।"[1]

समय-समय पर 'सत्य' भी बदलता है। 'अनुसंधान' अज्ञानता के धूल को साफ करता है।

सभ्यता के आरम्भ के साथ ही हमें शोध का आरम्भ भी समझना चाहिए। मनुष्य अपनी शक्तियों का प्रयोग करके प्रकृति के रहस्य तथा जीवन को उपयोगी बनाता आया है। अनुसंधान को सिद्ध करने के लिए अनेक आयामों से गुजरना होता है। यह एक बोधपूर्वक, योजनानुसार, वैज्ञानिकता और लक्ष्य की ओर उन्मुख होता है।

विष्णुकांत शास्त्री अपने संस्मरण 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की' में 'अज्ञेय' के एक व्याख्यान का जिक्र करते हैं। जिसे मैं बताना चाहूँगी। जो विद्यार्थियों और अज्ञेय के बीच संवाद रूप में घटित हुआ।

विद्यार्थी पूछता है कि "क्या आप फ्रायड से प्रभावित है?"[2] उनका उत्तर था- "फ्रायड को पढ़ना कोई दोष नहीं है। जब अपनी दृष्टि-शक्ति क्षीण हो तो चश्मे की सहायता लेनी पड़ती है। उसी तरह जगत के व्यापारों को समझने के लिए बड़े मनीषियों की कृतियों का अध्ययन गौरव का विषय है, लज्जा का नहीं।"[3]

इसी तरह का अनुसंधानकर्ता अनेक साक्ष्यों के माध्यम से एक नव सत्य तक पहुँचने की कोशिश करता है। जैसे ईटों के ढेर को कितना बड़ा क्यों न कर दिया जाए उसे 'दीवार' नहीं कहा जा सकता है और जब ईटें उठाकर क्रमगत एक के ऊपर एक रख दी जाती है तो वह दीवार का रूप ले लेती है।

शोध के क्षेत्र में ज्ञान बिखरा पड़ा है। अनुसंधानकर्ता एक–एक फूल को चुनता है और उनसे कुछ 'नया उत्पन्न' करता है।

यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि शोध के केंद्र में जो सवाल बने हुए है उनके जवाब तक पहुंचना ही मेरा उद्देश्य होगा।

अनुसंधानकर्ता को देखना होगा कि 'स्त्री समाज में कहाँ है?' और वे तय करें कि वे शोध-पत्र में कहाँ है?

अगर एक नज़र इतिहास में कालगत डाले तो हम पाएंगे कि वैदिक संस्कृति चाहे जितना भी उदात्त हो, अपने दृष्टिगत में पितृसत्तात्मक ही है।

वेद सूत्रों में हमें स्त्री के वस्तु के समान खरीदे और बेचे जाने का वर्णन भी मिलता है। प्राचीन काल में विवाह के लिए लड़कियों का क्रय-विक्रय होता था। स्त्रियाँ सदियों से पुरूषों के अधीन रही है।

मध्यकाल में जैसे भारत में इस्लामी आक्रमण हुआ उसका सबसे ज्यादा दुष्परिणाम स्त्री को भुगतना पड़ा। उसकी स्थिती में और गिरावट आ गयी है क्योंकि मुस्लिम संस्कृति में स्त्रियों पर बहुत अंकुश है। इस्लाम के भारत में आने के बाद सामाजिक भेदभाव बढ़ गए। बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, सती प्रथा आदि बुराईयों का बोलबाला हो गया, जिसके चलते कन्या जन्म सामाजिक अप्रतिष्ठा का विषय बन गया।

19वीं शताब्दी में अनेक परिवर्तन हुए तथा स्त्री की समस्याओं को आधुनिकता के आईने में देखने का सिलसिला शुरू हुआ था। गाँधी जी के स्वतंत्रता आन्दोलन में स्त्रियों का बड़ा योगदान रहा है। पण्डिता रमाबाई, कमला नेहरू, कस्तूरबा आदि सत्याग्रही महिलाओं की अग्रणी भूमिका रही है।

नारियों ने निम्न शब्दों में स्वर को बुलंद किया। जैसे कि "फूल वही चुन पाते हैं, जो कांटो से टकराते हैं, अधिकार न मांगे मिले कभी, अधिकार तो छीने जाते हैं।"[4] समाज में 'नैतिकता' को लेकर स्त्री का क्या स्वरुप है ? वहीं आप देखेंगे कि समाज अपने दोहरे मूल्यबोध के कारण ही पुरुष की नैतिकता और स्त्री की नैतिकता का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से करता रहा है।

स्टुअर्ट मिल कहते हैं कि "स्त्री की नैतिक श्रेष्टता को समाज द्वारा आंतरिक सद्गुणों के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए बल्कि यह समझना चाहिए कि स्त्री के ये सद्गुण 'सामाजिक अनुकूलन' का परिणाम हैं। स्त्री के सद्गुणों की प्रशंसा और महिमा मंडन वास्तव में पितृसत्तात्मक समाज के स्वार्थों की पूर्ति है। पुरूष उन्हीं मनोवैज्ञानिक गुणों को स्त्री स्वभाव में बढ़ावा देता है, जो गुण पुरूष के अहम् को संपोषित करे, उसकी स्वार्थपूर्ति में सहायक बने। स्त्री को सिखाया गया कि वह दूसरों के लिए जीए और हमेशा त्याग करती रहे।"[5]

डॉ. मिल के कथन से स्पष्ट होता है कि स्त्री नैतिक रूप से हीनतर

नहीं है बल्कि नैतिकता का जो मनोवैज्ञानिक मानदण्ड बना है वह पुरूषों के मस्तिष्क की उपज है। पुरूष ने अपनी सुविधा का विशेष ध्यान दिया तथा अपने ही गुणों का महिमामंडन किया।

गृह का वार्तावरण मुक्ति होना चाहिए, पति और पत्नी दोनों के लिए। वह किसी विशेष के लिए पहचाना नहीं जाना चाहिए।

आज इस आधुनिकता के दौर में स्त्री खुद भी मुक्त रहना चाहती है और लोगों को मुक्त रखना चाहती है। वह परिवार के दायरे में नहीं रहना चाहती है। आकाश को छूना चाहती है। वह परिवार की संरचनात्मक बनावट में पति से समानता का अधिकार चाहती है। स्त्रियाँ खुद का निर्माण चाहती है।

वहीं आप समाज की भयावह स्थिती देखेंगे कि पुरूष समाज ने स्त्री को खूंटे से बाँधने के लिए ही ब्याह का बंधन बनाया। स्त्री के लिए, वह पिंजरा है। परिवार में पुरूष भी रहता है लेकिन वह परिवार में कैद नहीं होता है जैसे स्त्री होती है। इस तरह आप देखेंगे कि विवाह और परिवार की अवधारणा के मूल में दोहरी शोषण व्यवस्था निहित है।

स्त्री अपने अस्तित्व की लड़ाई खुद लड़ रही है। समाज के सामने एक गुहार लगा रही है। एक बेहद संजीदा ईरानी कवयित्री 'मर्गेयेह अहमदी उस्कोई' की कविता को 'नासिरा शर्मा' अनुवाद में कुछ इस तरह लेकर आती है कि "एक औरत जिसके लिए/ तुम्हारी शर्मनाक शब्दावली में/ कोई भी पर्याय शब्द नहीं है/ जो उसके अस्तित्व के महत्त्व को समझा सके।/ तुम्हारी शब्दावली में उन औरतों के लिए अर्थ हैं/ जिनके हाथ साफ सुथरे हैं, त्वचा मुलायम/ बालों में खुश्बू के बादल बसे हुए हैं।/ मैं एक औरत हूँ जिसके लिए तुम्हारी शब्दावली में।/ कोई पर्याय शब्द नहीं/ जो मेरा महत्त्व बता सके।"[6] दर्शन का जीवन से गहरा संबंध है इसका उद्देश्य सिर्फ मानसिक कौतूहल खड़ा करना नहीं है बल्कि जीवन के तहों को खोलना तथा समस्याओं को सुलझाना है। दर्शन के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है।

ज्ञान का जन्मदाता कौन है ? लोककथाएँ, जातक कथाएँ आदि इतना महत्त्व क्यों रखते है ? व्यक्ति और समाज में क्या संबंध है ? आदि

प्रो. हिरीयाना ने दर्शन का आरम्भ जीवन की नैतिकता को बताया है कि "पाश्चात्य दर्शन की भांति भारतीय दर्शन का आरम्भ आश्चर्य एवं उत्सुकता से ना होकर जीवन की नैतिक एवं भौतिक बुराईयों के शमन के निमित्त हुआ था। दार्शनिक प्रयत्नों का मूल उद्देश्य था जीवन के दुखों का अंत ढूँढना और तात्विक प्रश्नों का प्रादुर्भाव इसी सिलसिले में हुआ।"[7]

प्रो. हिरियाना के कथन से स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन का कहीं न कहीं उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति के लिए किया गया। मोक्ष का सीधा सा मतलब है कि 'दुखों से निवृत्ति'।

मोक्ष की प्राप्ति आत्मा के माध्यम से होगी इसलिए आत्मा को जानना ही आचार्यों का परम कर्त्तव्य रहा है । वहीं आप देखेंगे कि पाश्चात्य दार्शनिकों ने बुद्धि की महत्वता पर बल दिया। इस क्षेत्र में डेमोक्राइटस, सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, हीगल आदि का बड़ा योगदान रहा है।

जातक शब्द का अर्थ है- जन्म संबंधी । ऐसा कहा गया है कि भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म संबंधी कथाएँ- 'जातक कथाएँ' है।

कोई भी अचानक बुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर लेता है। इसलिए जातक कथाएँ बौद्ध भिक्षु को अनेक स्तर पर तैयार करती है। जिसके केंद्र में नैतिकता भी है।

वहीं दूसरी तरफ लोक कथाओं में हम मानव के परम्परागत रूप को देखने के साथ ही उसकी मानसिक क्रियाओं को देखते है। लोक कथाएँ व्यक्ति में संस्कार देने का कार्य करती है। ये मौखिक परम्परा में चलती आयी है इसलिए इसका प्रभाव व्यक्ति पर ज्यादा पड़ता है । जीवन भर दादी-नानी की वे लोककथाएँ हमारे जेहन में रहती है।

मानव के सभ्य होने में लोक कथाएँ और जातक कथाएँ आदि का विशेष योगदान है। इसलिए व्यक्ति अतीत का दामन पकड़े रहना चाहता है।

कला के लिए, जीवन को समग्रता में समझना बहुत जरूरी है अगर जीवन को समझना है तो कला माध्यम को समझना होगा । कला माध्यम को समझना है तो उसमें नाटक है, संगीत है, नृत्य है, वादन है, चित्रकारी है, उसमें मनोविज्ञान है, उसमें दर्शन है, इतिहास है, कालचक्र है इतनी चीज़े उसने समेटी है। इन सबको समझने के लिए आपको अध्ययन का रास्ता तय करना होगा।

आप को देखना होगा कि समस्या कहाँ है ? किसी भी कला के केंद्र में समस्या है जिसका यथार्थ रूप में हल प्रस्तुत करना 'कला का काम' है और अनुसंधानकर्ता होने के नाते समस्या से यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने तक, आपको एक शोधात्मक प्रक्रिया से गुजरना होगा। आप नये-नये तरीके से अनुभव करेंगे जिससे एक नव ज्ञान (New knowledge) उत्पन्न होगा।

जब कोई व्यक्ति किसी भी घटना के संपर्क में आता है वह उसको उसी रूप में स्वीकार कर लेता है लेकिन वहीं जब उसमें काट-छांट करता है अर्थात अपने स्तर पर कुछ कलात्मक बनाने का प्रयास करता है। वह गौण ज्ञान कहलाता है। उदहारण के तौर पर देखें तो- एक व्यक्ति शहर से गाँव अपने मामा के यहाँ जाता है और वहां के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक परिदृश्य से उसका वास्ता पड़ता है लेकिन सामान्य मानव केवल उसे स्वीकार कर लेता है लेकिन वहीं एक कलात्मक मस्तिष्क उसको आधार रूप में देखेगा और 'राग दरबारी' उपन्यास जैसी कृति रच देगा।

एक अभिनेता की तरह ही एक शोधकर्ता को अपने 'स्पेश' को जानना होगा और साथ ही साथ उसे निरंतर अभ्यास करना पड़ेगा जिससे उसके कार्य में निखार आयेगा।

प्रख्यात अभिनेता आलोक चटर्जी 'अभ्यास' के सम्बन्ध में कहते हैं कि "रियाज मतलब दोहराव नहीं, बल्कि अपनी ही चीजों का पुनः अविष्कार, उसको नए तरीके से खोजना, नए तरीके से पाना, उसे नए तरीके से जानना।"[8]

कलाएँ समाज का आईना है अर्थात कला माध्यम से आप एक पुरे समाज की परिस्थितिओं से अवगत होते हैं । मुझे जावेद अख़्तर साहब का वो साक्षात्कार याद आता है जिसमें एक साक्षत्कारकर्ता उनसे पूछता है कि हमारे यहाँ मार-धाड़ की फ़िल्में क्यों बनती है ? तो उनका जवाब था कि 'फ़िल्म से अगर कोई भी गिला है तो आप समाज को ठीक कीजिए फ़िल्में खुद-ब-खुद ठीक हो जाएंगी।'

वहीं डॉ. जयदेव तनेजा अपनी पुस्तक 'हिंदी रंगकर्म दशा और दिशा' में 'उत्पल दत्त' के कथन को जगह देते है कि "कला समचार पत्र नहीं है जिससे सिर्फ सूचना दी जाती है, न ही कला कोई भाषण है। कला पार्टी की नीति, सूखे समाचार और वैचारिक वाद-विवाद से अलग है। रंगमंच का काम आज ही वास्तविकता को कलात्मक तरीके से प्रस्तुत करना है साथ ही भविष्य की ओर इंगित करके यह भी बताना कि वास्तविकता कैसी होनी चाहिए ?"[9]

कोई रचनाकार किसी रचना को क्यों रचता है?, हम सभी को आहार के सेवन की आवश्यकता क्यों है ?

ऐसे तो काव्य प्रयोजन को लेकर काव्यशास्त्र में अनेक तर्क प्रस्तुत किये गए गई कि सृजनकर्ता यश, मोक्ष, धन प्राप्ति आदि के लिए काव्य का सृजन करता है। बाबा तुलसीदास अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' में सृजन का प्रयोजन –'स्वयं सुखाय' बताते हैं। मानव आहार का सेवन इसलिए करता है कि वह ऊर्जा से भरपूर हो आदि जो कि ऐसा करने में एक पूरा 'मेकनिजम' कार्य करता है। अगर इसे 'प्रेमचंद' के शब्दों में कहे तो- "जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो। जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[10]

कला में व्यक्ति को मनुष्य बनाने की अद्भुत चमत्कारी शक्ति होती है। क्या आपने कभी सोचा है कि साईकिल चालक दो पहिये पर बड़े आसानी से एक जगह से दूसरी जगह आता जाता है। साईकिल चालक कौशलपूर्ण तरीके से दो पहिये पर बैलेंस बनाने में सफल होता है। समय के साथ-साथ वे अच्छे साईकिल चालक हो जाते हैं। आप देखेंगे कि बच्चे शुरूआती दिनों में साईकिल नहीं चला पाते हैं। यह निरंतर प्रयास से होता है। इसी प्रकार अभिनेता वस्तुओं के साथ सौहार्दपूर्ण और मिलनसार रिश्ता बनाने की कोशिश करता है। अंततः वह ऐसा करने में सफल होता है।

अनुसंधान किसी कार्य को प्रमाणित बनाता है जो कि कई स्तरों पर होता है। समाज में व्यक्तियों के जीवन का अवलोकन करना होगा क्योंकि किसी भी व्यक्ति को बनाने में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियाँ कार्य करती है। भारतीय महिलाओं की जो भयावह स्थिति समाज में बनी हुई है। उसी को प्रदर्शित करता एक कथन स्त्रीवादी चर्चाओं में बड़ा प्रचलन में रहा है कि 'स्त्री पैदा नहीं होती है, बनाई जाती है।' इस वाक्य से आप समझ सकते हैं कि स्त्री को बनाने में कैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक परिस्थितियाँ कार्य कर रही हैं। एक अनुसंधानकर्ता को 'कला और व्यक्ति' के रिश्ते को समझना होगा।

निष्कर्षतः शोधकर्ता को अपने रूझान विषय से एक मिलनसार रिश्ता कायम करना होगा । साथ ही ईमानदारी का पालन करना होगा। उसे सुनिश्चित करना होगा कि उसका कार्य मौलिक और उपयोगी होगा।

संदर्भ सूची

1. [1]डॉ. एस. एन. गणेशन, अनुसंधान प्रविधि सिद्धांत और प्रक्रिया, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ सं.-15.
2. [2]विष्णुकांत शास्त्री, सुधियाँ उस चन्दन के वन की, लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ सं.-40.
3. [3]उपरिवत
4. [4]सं. गीताश्री, नागपाश में स्त्री, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.167.
5. [5]सं. गीताश्री, नागपाश में स्त्री, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.58.
6. [6]सं. विजय बहादुर सिंह, मैत्रेयी पुष्पा : स्त्री होने की कथा, किताबघर प्रकाशन, पृष्ठ सं. 133.
7. [7]प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रुपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, पृष्ठ सं. 2.
8. [8]सं. मंडल (रा. ना. वि.)- अर्जुन देव चारण, सुरेश शर्मा, हेमा सिंह, रंग प्रसंग, दिल्ली, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, अंक-51, पृष्ठ सं. 138.
9. [9]डॉ. जयदेव तनेजा, हिंदी रंगकर्म : दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन,पृष्ठ सं.143.
10. [10]डॉ. जयदेव तनेजा, हिंदी रंगकर्म : दशा और दिशा, तक्षशिला प्रकाशन,पृष्ठ सं.145.

*****

नैषधीयचरितम् महाकाव्य में आध्यात्मिक चेतना

-भुवनेश भारद्वाज
Email:-b.bhuvnesh47@gmail.com

संस्कृत साहित्य की महाकाव्य-परम्परा में *नैषधीयचरितम्* एक ऐसी काव्यकृति है, जिसमें काव्य-सौन्दर्य, भाव-गाम्भीर्य और चेतनात्मक सूक्ष्मता का विलक्षण समन्वय दृष्टिगोचर होता है। श्रीहर्ष द्वारा रचित यह महाकाव्य सामान्यतः श्रृङ्गारप्रधान काव्य के रूप में विख्यात है, परन्तु इसके अन्तस्थ में व्याप्त आध्यात्मिक चेतना इसे केवल लौकिक प्रेमकाव्य की सीमा में नहीं बाँधने देती। नल का चरित्र इस महाकाव्य में केवल ऐतिहासिक या राजनैतिक नायक के रूप में ही नहीं उभरता, अपितु वह आत्मचिन्तनशील, धर्मनिष्ठ तथा भगवद्भाव से आन्तरिक रूप से अनुप्राणित व्यक्तित्व के रूप में विकसित होता है। इस दृष्टि से *नैषधीयचरितम्* भारतीय आध्यात्मिक परम्परा के उस सूक्ष्म प्रवाह से जुड़ता है, जहाँ मानव-जीवन का परम लक्ष्य आत्मबोध और ईश्वराभिमुखता माना गया है। महाकाव्य में ही नल के व्यक्तित्व में आत्मदर्शन की जो झलक मिलती है, वह आध्यात्मिक चेतना की प्रथम सूचक है—

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम्।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥[1]

इस पद्य में प्रयुक्त 'हंस' भारतीय दार्शनिक परम्परा में आत्मा और ब्रह्म का प्रतीक है। उपनिषदों में हंस को परमात्मा के बोध से जोड़ा गया है- "**हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्**" (कठोपनिषद्) यहाँ हंस उस चेतना का प्रतीक है जो स्थूल जगत् से ऊपर उठकर आत्मतत्त्व की ओर उन्मुख होती है। 'अबोधि' क्रियापद नल के भीतर जाग्रत हो रहे उसी आत्मबोध की ओर संकेत करता है। यह बोध सौन्दर्याभिलाषा एक आन्तरिक चेतना है, जो नल को उसके जीवन-पथ के गहन प्रश्नों की ओर प्रवृत्त करती है। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में आत्मचिन्तन को ही मनुष्य की श्रेष्ठ अवस्था माना गया है। भगवद्गीता में कहा गया है—

"**उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्**"[2]

नल का आत्मावलोकन इसी आत्मोद्धार की प्रक्रिया का आरम्भ है। वह अपने जीवन को केवल राजसी वैभव और कामनाओं तक सीमित नहीं रखता, बल्कि अपने कर्म, अपने दोष और अपने दायित्वों पर दृष्टिपात करता है। यह प्रवृत्ति उसे एक सामान्य नायक से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक पात्र के रूप में प्रतिष्ठित करती है। *नैषधीयचरितम्* में नल के चरित्र में आत्मपीड़ा, आत्मनिन्दा और दैवी सत्ता के प्रति श्रद्धा निरन्तर प्रगाढ़ है। यह भाव भारतीय भक्ति-परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। नारद भक्तिसूत्र में कहा गया है-

"**तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्**"[3]

भक्ति के लक्षण विविध हो सकते हैं, जिनमें आत्मदैन्य और ईश्वर पर पूर्ण आश्रय प्रमुख हैं। नल का चरित्र इन्हीं लक्षणों की ओर अग्रसर होता हुआ दिखाई देता है। रामायण में राम कहते हैं-

"**आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्**"[4]

इस प्रकार *नैषधीयचरितम्* महाकाव्य में आध्यात्मिक चेतना बीज रूप में विद्यमान है, जो आगे चलकर नल के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आकार प्रदान करती है। यह चेतना उसे आत्मदर्शी, धर्मनिष्ठ और भगवद्भाव से अनुप्राणित नायक के रूप में प्रतिष्ठित करने की दिशा में अग्रसर करती है। नल की आध्यात्मिक चेतना आत्मबोध से आगे बढ़कर आत्मनिन्दा और ईश्वराश्रय के स्तर पर पहुँचती है। श्रीहर्ष ने नल के चरित्र को अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ विन्यस्त किया है। चतुर्थ सर्ग में नल के मुख से व्यक्त आत्मालोचना उसके आन्तरिक विकास की स्पष्ट सूचना देती है—

"स्मर ! स मद्दुरितैरफलीकृतो
भगवतोऽपि भवद्दहनश्रमः।
सुरहिताय हुतात्मतनुः पुनः
ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥"[5]

इस पद्य में नल यह स्वीकार करता है कि उसके दुरितों के कारण शिव द्वारा किया गया कामदहन भी निष्फल हो गया। यहाँ नल का स्वर आत्मदोषदर्शन का है। वह स्वयं को इतना पतित अनुभव करता है कि उसे अपने दोषों के आगे दैवी कर्म भी निष्फल प्रतीत होते हैं। यह आत्मनिन्दा भारतीय भक्ति-साहित्य में भक्त के उत्कर्ष का लक्षण मानी गई है। कवि कुलशेखर रचित मुकुंदमाला में भी भक्त के इसी भाव को रेखांकित किया गया है—

"**नाहं वन्दे तव चरणयोर्द्वन्द्वमद्वैतहेतोः**"[6]

यहाँ भक्त अपने अहंकार का परित्याग कर ईश्वर के चरणों में पूर्ण समर्पण करता है।नल की यह आत्मदृष्टि उसे ईश्वर के प्रति और अधिक आश्रित

बनाती है। वह अपने जीवन की समस्त पीड़ा को दैवी व्यवस्था के अन्तर्गत स्वीकार करता है। भगवद्गीता में कर्म और ईश्वर-आश्रय की इसी भावना को स्पष्ट किया गया है—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"[7]

नल का विश्वास भी इसी तत्त्व पर आधारित है कि समस्त घटनाएँ भगवद् सत्ता के विधान से संचालित हैं और व्यक्ति को अपने अहंकार का परित्याग कर उस विधान को स्वीकार करना चाहिए। आत्मनिन्दा का यह भाव आगे चलकर और अधिक गहन रूप ले लेता है। सप्तदश सर्ग में नल स्वयं को पापसमुद्र में निमग्न अनुभव करता हुआ कहता है—

"एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्ते निमज्जतः ।
कः श्रौतस्यात्मनो भीरो भारः स्यादुरितेन ते ॥"[8]

यहाँ नल अपने दुःख को व्यक्तिगत न मानकर सार्वभौमिक पापबोध के रूप में देखता है। वह स्वयं को समस्त पापों का आश्रय मानता है। इस प्रकार का आत्मदैन्य भक्त के भीतर करुणा, विनय और पूर्ण शरणागति को जन्म देता है। नारदभक्तिसूत्र में इसी भाव को भक्ति का आधार कहा गया है—

"स त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा"[9]

परम प्रेम तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने अहंकार को पूर्णतः विसर्जित कर दे। नल की आध्यात्मिक चेतना केवल भावात्मक नहीं है, अपितु वह जीवन -आचरण में भी व्यक्त होती है। रामायण में भी आत्मनिन्दा को आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना गया है। विभीषण का कथन—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥[10]

यह दर्शाता है कि दोषयुक्त व्यक्ति भी यदि ईश्वर की शरण में है तो वह आदरणीय हो जाता है। नल का चरित्र इसी शरणागति-भाव से आलोकित है। महाकाव्य में नल का व्यक्तित्व आत्मद्रष्टा पुरुष के रूप में उभरता है। श्रीहर्ष ने इस स्तर पर नल के अनुभवों को उपनिषद्-सम्मत भाषा और बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया है, जिससे काव्य में आध्यात्मिक गाम्भीर्य की स्पष्ट वृद्धि होती है। नैषधीयचरितम् के एकादश सर्ग में नल के आन्तरिक बोध की पराकाष्ठा का संकेत इस पद्य में मिलता है—

"निःसीमानन्दमासीदुपनिषदुपमा तत्परीभूय भूयः"[11]

इस पंक्ति में 'उपनिषदुपमा' शब्द अत्यन्त अर्थगर्भित है। श्रीहर्ष नल के अनुभव को प्रत्यक्षतः उपनिषद्-सदृश घोषित करते हैं। उपनिषदों में ब्रह्मानुभूति को आनन्दरूप बताया गया है—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" [12]

नल के लिए यह आनन्द इन्द्रियजन्य नहीं है, अपितु आत्मानुभव से उत्पन्न चेतना है, जो सीमा और भेद से रहित है। यह अवस्था नल के जीवन में क्रमिक विकास का परिणाम है। आत्मनिन्दा द्वारा अहंकार का क्षय, शरणागति द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि और अब ब्रह्मबोध द्वारा आत्मतत्त्व की उपलब्धि यह क्रम भारतीय साधना-परम्परा के अनुरूप है। भगवद्गीता में इसी क्रम को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः"[13]

नल का ज्ञान श्रद्धा और संयम से उद्भूत हुआ है । नल के ब्रह्मबोध में द्वैत का स्थान नहीं है। वह स्वयं को प्रकृति और पुरुष के भेद से ऊपर अनुभव करता है। यह भाव उपनिषदों के महावाक्य से साम्य रखता है- **"अहं ब्रह्मास्मि"**

यद्यपि श्रीहर्ष इस महावाक्य को प्रत्यक्ष रूप में उद्धृत नहीं करते, परन्तु नल के अनुभव का स्वरूप उसी अद्वैत चेतना की ओर संकेत करता है। इस बोध में व्यक्ति स्वयं को सीमित देह या राजसत्ता से अलग देखता है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्मबोध को भक्ति की पराकाष्ठा कहा गया है—

"वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्"[14]

नल के जीवन में भी भक्ति ज्ञान का कारण बनती है। यहाँ ज्ञान और भक्ति परस्पर विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक ही चेतना के दो आयाम हैं। श्रीहर्ष का यह दृष्टिकोण काव्य को साधारण प्रेमकथा से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक अनुभूति का क्षेत्र प्रदान करता है। यहाँ आध्यात्मिक अनुभव मौन नहीं रहता, अपितु स्तुति और नम्र वाणी के माध्यम से प्रकट होता है। भारतीय साधना-परम्परा में यह अवस्था विशेष महत्त्व रखती है, जहाँ आत्मबोध प्राप्त करने के उपरान्त साधक ईश्वर की महिमा का गायन करता है। नल के चरित्र में यह भाव दत्तात्रेय-स्तुति के प्रसंग में विशेष रूप से उदीप्त होता है। एकविंशतितम सर्ग में नल द्वारा की गई दत्तात्रेय-स्तुति उसके अन्तःकरण की योगात्मक स्थिति को स्पष्ट करती है—

"सन्तमद्वयमयेऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोर्जनबीजम् ।
नौमि योगजयितानघसंज्ञं त्वामलर्कभवमोहतमोर्कम् ॥"[15]

इस श्लोक में दत्तात्रेय को 'अद्वयमार्गे स्थित', 'योगजयिता' और 'अघनाशक' कहा गया है। यह स्तुति नल की आत्मानुभूति से उत्पन्न स्वाभाविक कृतज्ञता का प्रकाशन है। 'अद्वयमार्ग' का उल्लेख नल के ब्रह्मबोध से सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है। उपनिषदों में अद्वैत चेतना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—

"नेह नानास्ति किञ्चन"[16]

नल की स्तुति इसी अद्वैत दृष्टि से अनुप्राणित है। दत्तात्रेय भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में गुरु-तत्त्व के प्रतीक माने जाते हैं। महाभारत में भी उन्हें योग और आत्मज्ञान का आदर्श कहा गया है। नल द्वारा उनका स्मरण यह दर्शाता है कि उसकी चेतना अब केवल व्यक्तिगत साधना तक सीमित नहीं है, बल्कि वह गुरु-परम्परा से जुड़कर व्यापक आध्यात्मिक धारा में प्रवाहित हो रही है। श्रीमद्भागवत में गुरु-तत्त्व के महत्त्व को इस प्रकार कहा

गया है—

"तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्"[17]

नल की स्तुति इसी जिज्ञासा और शरणागति का सूचक है। नल की स्तुतिपरक चेतना में योगभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वह ईश्वर को केवल आराध्य के रूप में नहीं देखता, अपितु आत्मशुद्धि और चित्त-निग्रह का साधन मानता है। योगसूत्र में योग की परिभाषा दी गई है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[18]

नल के जीवन में यह निरोध बाह्य संघर्षों के मध्य भी विद्यमान रहता है। उसकी स्तुति में शान्ति, स्थैर्य और विवेक का समावेश है।

नैषधीयचरितम् में भक्तिभाव, आत्मबोध और योगात्मक अनुशासन एक ही प्रवाह में समाहित दिखाई देते हैं। श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा इस स्तर पर अत्यन्त सूक्ष्म रूप से कार्य करती है, जहाँ नायक की स्तुति उसके आन्तरिक आध्यात्मिक विकास की स्वाभाविक अभिव्यक्ति बन जाती है। यह अवस्था नल को साधक, भक्त और आत्मद्रष्टा तीनों रूपों में एक साथ प्रतिष्ठित करती है। भारतीय परम्परा में आध्यात्मिक चेतना का यह स्तर विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण माना गया है, जहाँ व्यक्ति अपने आचरण द्वारा धर्म का संरक्षण करता है। नल का चरित्र इसी आदर्श का प्रतिनिधित्व करता हुआ दिखाई देता है। नैषधीयचरितम् में नल का धर्मपालन दमयन्ती के साथ दिव्यगमन के प्रसंग में स्पष्ट रूप से उभरता है, जहाँ वह व्रत-भंग की आशंका से स्वर्गारोहण तक को अस्वीकार करता है—

"नापगेयमनयः सशरीरं द्यां वरेण नितरामपि भक्तम्।
मा स भूत्सुरवधूसुरतज्ञो दिव्यपि व्रतविलोपभियेति॥"[19]

इस पद्य में नल का निर्णय केवल लौकिक विवेक का परिणाम नहीं है, बल्कि यह उसके अन्तःकरण में प्रतिष्ठित धर्मबोध की अभिव्यक्ति है। वह यह स्वीकार करता है कि यदि दिव्य लोक की प्राप्ति भी व्रतभंग के माध्यम से हो, तो वह स्वीकार्य नहीं है। यह भाव गीता के कर्मयोग-सिद्धान्त से सुस्पष्ट रूप से सम्बद्ध है—

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्"[20]

नल का आचरण इसी स्वधर्म-निष्ठा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। धर्मनिष्ठा नल के लिए ईश्वर-समर्पित जीवन की अनिवार्य शर्त है। श्रीमद्भागवत में भक्त के आचरण को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः"[21]

नल के जीवन में धर्म ईश्वर-स्मरण से पृथक नहीं है। उसका प्रत्येक निर्णय आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित है। रामायण में राम के वनवास-प्रसंग में भी यही भाव दृष्टिगोचर होता है, जहाँ वे राजसिंहासन की अपेक्षा पितृवचन और धर्मपालन को वरीयता देते हैं—

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन्।
पितुर्वचननिर्देशात् कैकेय्याः प्रियकारणात्॥[22]

नल का आचरण भी इसी प्रकार धर्मपरायण है। उसके लिए धर्म कोई बाह्य अनुशासन नहीं, बल्कि आत्मा की आन्तरिक प्रेरणा है। नारद भक्तिसूत्र में भक्त के जीवन को ईश्वर-समर्पित आचरण से युक्त बताया गया है—

"तदर्पिताखिलाचारता"[23]

नल का जीवन इसी सूत्र का साक्षात् रूप प्रतीत होता है। उसके समस्त कर्म, निर्णय और व्रत ईश्वरार्पित भाव से सम्पन्न होते हैं। इस कारण उसकी धर्मनिष्ठा कठोरता नहीं बनती, बल्कि करुणा और संयम से संयुक्त रहती है। उपनिषदों में धर्म और आत्मबोध के सम्बन्ध को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"सत्यं वद धर्मं चर"[24]

नल का चरित्र इस उपदेश की काव्यात्मक मूर्ति के रूप में उभरता है। उसका सत्य और धर्म जीवन के प्रत्येक स्तर पर आध्यात्मिक चेतना को सुदृढ़ करते हैं। नैषधीयचरितम् को प्रायः श्रृङ्गारप्रधान महाकाव्य कहा गया है। नल–दमयन्ती का प्रेम, सौन्दर्यवर्णन और भावात्मक उत्कर्ष इस काव्य की बाह्य पहचान है। परन्तु श्रीहर्ष ने श्रृङ्गार को केवल इन्द्रियजन्य आकर्षण के रूप में नहीं चित्रित किया। यहाँ श्रृङ्गार अन्तःकरण की परिष्कृति का माध्यम बनता है, जो अन्ततः आत्मबोध और ईश्वराभिमुखता की ओर ले जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में भी श्रृङ्गार को रसों का राजा कहा गया है, क्योंकि वह मानव-चित्त को सबसे पहले आकृष्ट कर उच्चतर अनुभूतियों की ओर ले जाता है। इसी भाव को श्रीमद्भागवत में इस प्रकार संकेतित किया गया है-

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥[25]

यह श्लोक स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि धर्म-संयमित काम स्वयं भगवद्स्वरूप है। जब काम ईश्वरार्पित हो जाता है, तब वह बन्धन का कारण न रहकर साधना का साधन बन जाता है। नल के जीवन में श्रृङ्गार इसी रूप में परिणत होता है। नल का सम्पूर्ण जीवन-क्रम आत्मबोध, आत्मनिन्दा, ब्रह्मानुभव, स्तुति, योग और धर्मनिष्ठा के चरणों से होकर गुजरता है। यह क्रम उपनिषदों में वर्णित साधना-पथ से साम्य रखता है—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति"[26]

यहाँ ज्ञान की प्राप्ति क्रमिक साधना का परिणाम है। नल का जीवन भी इसी क्रमबद्ध आध्यात्मिक विकास का काव्यात्मक रूपान्तरण है। भगवद्गीता में आदर्श पुरुष की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव"[27]

नल का चरित्र इस स्थितप्रज्ञ अवस्था की ओर अग्रसर दिखाई देता है। वह जीवन के सुख–दुःख, ऐश्वर्य–विपत्ति और मिलन–वियोग को समभाव से स्वीकार करता है। यह समत्व ही उसकी आध्यात्मिक चेतना की

परिपक्वता का प्रमाण है। भगवद्गीतामें कहा गया है—

"**आत्मनैवात्मना तुष्टः**"[28]

नल की तुष्टि भी बाह्य उपलब्धियों से नहीं, बल्कि आत्मसंतुलन और धर्मपालन से उत्पन्न होती है। नल का सम्पूर्ण आचरण इसी सूत्र का मूर्त रूप प्रतीत होता है। उसका प्रेम, उसका त्याग, उसका संयम और उसका धर्म सब ईश्वराभिमुख चेतना से अनुप्राणित हैं। इस प्रकार *नैषधीयचरितम्* में आध्यात्मिक चेतना किसी उपदेशात्मक तत्त्व के रूप में नहीं आती, बल्कि काव्यात्मक अनुभव के रूप में विकसित होती है। श्रीहर्ष की यह विशेषता है कि वे आध्यात्मिकता को काव्य के ऊपर आरोपित नहीं करते, बल्कि उसे चरित्र के स्वाभाविक विकास से उद्भासित करते हैं। नल का चरित्र इस दृष्टि से एक समग्र आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसमें श्रृङ्गार मानव-भावना का, भक्ति आत्मसमर्पण का, ज्ञान आत्मबोध का और धर्म जीवन-मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि *नैषधीयचरितम्* केवल श्रृङ्गाररस का महाकाव्य नहीं है, बल्कि भारतीय आध्यात्मिक चेतना की काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी है। श्रीहर्ष ने इस कृति के माध्यम से यह सिद्ध किया है कि महाकाव्य का वास्तविक सौन्दर्य बाह्य वर्णनों में नहीं, बल्कि उस अन्तःचेतना में निहित होता है, जो मनुष्य को आत्मदर्शन और धर्मनिष्ठ जीवन की ओर प्रेरित करती है। यही *नैषधीयचरितम्* की स्थायी साहित्यिक और आध्यात्मिक महत्ता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. **भगवद्गीता** — लेखक: वेदव्यास; पुस्तक: *श्रीमद्भगवद्गीता*; प्रकाशन: गीताप्रेस, गोरखपुर; वर्ष: 2019; संस्करण: पुनर्मुद्रित।
2. **नैषधीयचरितम्** — लेखक: श्रीहर्ष; पुस्तक: *नैषधीयचरितम्* (टीका सहित); प्रकाशन: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी; वर्ष: 2016; संस्करण: द्वितीय।
3. **नारदभक्तिसूत्र** — लेखक: नारद; पुस्तक: *नारदभक्तिसूत्रम्*; प्रकाशन: मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; वर्ष: 2014; संस्करण: पुनर्मुद्रित।
4. **श्रीमद्वाल्मीकि रामायण** — लेखक: वाल्मीकि; पुस्तक: *श्रीमद्वाल्मीकि रामायणम्*; प्रकाशन: गीताप्रेस, गोरखपुर; वर्ष: 2018; संस्करण: पुनर्मुद्रित।
5. **तैत्तिरीयोपनिषद्** — लेखक: वैदिक ऋषि; पुस्तक: *तैत्तिरीयोपनिषद्* (शिक्षावल्ली एवं भृगुवल्ली सहित); प्रकाशन: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी; वर्ष: 2015; संस्करण: तृतीय।
6. **श्रीमद्भागवत** — लेखक: वेदव्यास; पुस्तक: *श्रीमद्भागवत महापुराण*; प्रकाशन: गीताप्रेस, गोरखपुर; वर्ष: 2020; संस्करण: पुनर्मुद्रित।
7. **कठोपनिषद्** — लेखक: वैदिक ऋषि; पुस्तक: *कठोपनिषद्* (शंकरभाष्य सहित); प्रकाशन: चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी; वर्ष: 2013; संस्करण: द्वितीय।
8. **योगसूत्र** — लेखक: पतञ्जलि; पुस्तक: *पतञ्जलि योगसूत्र* (व्यासभाष्य सहित); प्रकाशन: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी; वर्ष: 2017; संस्करण: तृतीय।
9. **बृहदारण्यकोपनिषद्** — लेखक: वैदिक ऋषि; पुस्तक: *बृहदारण्यकोपनिषद्* (शंकरभाष्य सहित); प्रकाशन: चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी; वर्ष: 2014; संस्करण: द्वितीय।

सन्दर्भ:-

1. *नैषधीयचरितम्1.117*
2. भगवद्गीता – 6/5
3. नारद भक्तिसूत्र 15
4. रामायणम्/युद्धकाण्डम्/सर्गः 117.11
5. नैषधीयचरितम् 4/95
6. मुकुंदमाला 4
7. भगवद्गीता 18/61
8. नैषधीयचरितम् 17/56
9. नारदभक्तिसूत्र 2
10. श्रीमद्वाल्मीकिरामायण 18/33
11. नैषधीयचरितम् 11/129
12. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली 1
13. भगवद्गीता 4/39
14. श्रीमद्भागवत 1/2/7
15. नैषधीयचरितम् 21/94
16. कठोपनिषद्
17. श्रीमद्भागवत 11/3/21
18. योगसूत्र 1/1
19. नैषधीयचरितम् 21/82
20. भगवद्गीता 3/35
21. श्रीमद्भागवत 1/2/8
22. श्रीमद्वाल्मीकिरामायण 1/1/24
23. नारद भक्तिसूत्र 19
24. तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली 11/1
25. भगवद्गीता 7.11
26. बृहदारण्यकोपनिषद्
27. भगवद्गीता 2/54
28. भगवद्गीता 2/55

*****

भारतीय भाषाओं की वर्तमान स्थिति और विदेशीकरण का प्रभाव

-कविता शर्मा

भाषा विचारों के आदान-प्रदान का सबसे सशक्त माध्यम है। भाषा का संबंध केवल भाषा से ही नहीं बल्कि समाज और संस्कृति से भी सीधे तौर पर जुड़ा है। सर्वविदित है कि भारत एक बहुभाषी देश है। यहाँ प्रत्येक राज्य की अपनी भाषा तथा बोलियाँ हैं जो कि उस राज्य की संस्कृति और पहचान को एक खास अंदाज़ में प्रस्तुत करती हैं जो अपने आप में भिन्न होते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बांधती हैं। इसी प्रकार सभी राज्य अपनी संस्कृति तथा भाषाई के स्तर पर अपनी भिन्न पहचान रखते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र को एकसूत्र में संबोधित करते हैं। जिस प्रकार एक परिवार के सभी सदस्य एक परिवार होते हुए भी सामाजिक स्तर पर अपनी व्यक्तिगत पहचान रखते हैं और एक मजबूत राष्ट्र बनाने में अपना सहयोग देते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र अपनी भिन्न पहचान के साथ एक मजबूत देश बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आजादी से पूर्व से लेकर वर्तमान तक भाषा के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। स्वतंत्रता आंदोलन में भाषिक योगदान एक सशक्त माध्यम के रूप में हमारे सामने आता है। कहा जा सकता है कि किसी भी देश तथा उसकी संस्कृति को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला माध्यम भाषा ही है। भाषिक गुलामी सबसे बड़ी गुलामी के रूप में देखी जा सकती है। अतः ऐसे में भाषा को लेकर जागरूक रहना सबसे महत्त्वपूर्ण बन जाता है। वर्तमान में राष्ट्रीय शिक्षा नीति में भाषा को लेकर मातृभाषा में शिक्षा का जो प्रावधान है वह इसी जागरूक नज़रिए की ओर ईशारा करता है। ज़ाहिर है इससे भारतीय भाषाओं की वर्तमान स्थिति में अपेक्षाकृत सुधार अवश्य देखने को मिलेगा।

भाषा का प्रश्न बातचीत करने में जितना सरल लगता है वास्तव में वह उतना सरल न होकर बहुत जटिल है। इसके साथ सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सभी प्रश्न जुड़े होते हैं। किसी भी मुद्दे का किसी भी स्तर पर विवादों में उठना ही उसे प्रश्नांकित करता है। आज यदि भाषा का प्रश्न उठ रहा है तो जरूरी है कि उसमें कुछ तो ऐसे बिन्दु अवश्य होंगे जो आज भी उसे प्रश्न के घेरे में लाकर खड़ा कर देते हैं। ध्यातव्य है कि इन सभी मुद्दों की जड़ें इतिहास से जुड़ी हैं। कोई भी पेड़ बिना जड़ के बड़ा नहीं होता और बड़ा और घना होने पर भी यदि वह फलदार नहीं बनता तो भी वह प्रश्न के घेरे में आता है। भारतीय भाषाओं को लेकर भी यही बात कही जा सकती है। भारतीय भाषाएँ अपने आप में इतनी समृद्ध होते हुए भी अपने अस्तित्व को बचाए रखने को लेकर आज संकटग्रस्त क्यों दिखाई देती है, लोक व्यवहार से वह क्यों दूर होती जा रही है? यही आज का हमारा प्रश्न है।

सामान्यतः कहा जा सकता है कि कोई भी विषय विवादों में तभी आता है जब उसमें किसी अन्य का हस्तक्षेप होता है। भाषाई विवाद की जड़ें भी इसी हस्तक्षपे के कारण ही बननी आरम्भ हुई। हम सभी जानते हैं कि भारत अंग्रेजी और मुगल शासन के अधीन रहा है। किसी भी राष्ट्र को अधीन बनाए रखने के लिए उसकी भाषा को गुलाम बनाना सबसे बड़े अहिंसक हथियार के रूप में प्रयागे किया जाता रहा है। मुगल शासन में उर्दू, अरबी, फारसी का प्रयोग अधिक होता रहा है। एक समय तो फारसी भारत की राजभाषा भी रही है। अंग्रेजी शासन में पूरे प्रयोजन के साथ अंग्रेजी को न सिर्फ शासन, प्रशासन की भाषा बनाया बल्कि हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को भी गौण बना दिया। बिटिश पार्लियामंटे के सदस्य चार्ल्स ग्रांट ने तत्कालीन शिक्षा नीति के संबध में दिए गए सुझावों में कहा था कि ‘‘मुगलों ने अपनी राज्य-स्थापना के साथ ही अपनी भाषा को भी लागू कर दिया था तो इतने वर्षों तक शासन के बाद हमें भी भारत में अंग्रेजी को शिक्षा और सरकारी काम में लागू कर देना चाहिए।‘‘[1] यही नहीं उन्होंने अपनी कूटनीति से अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को हिन्दी के विरोध में लाकर खड़ा कर दिया जबकि हिन्दी का विरोध किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा से कभी था ही नहीं। शिक्षा तथा रोजगार के स्तर पर प्रांतीय भाषाओं के महत्त्व को कम करने के पीछे उनकी राजनीतिक सोच काम कर रही थी वह थी लोगों को अपने अधीन बनाए रखने की मानसिकता। वे न अपनी भाषा में सोच पाएंगे न ही अपने अधिकारों की बात समझ सकेंगे। इससे उनका आत्मविश्वास सदैव अस्थिर रहेगा। प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा है कि ‘‘ये

लोग अच्छी तरह जानते हैं कि देशभाषाएँ आती हैं तो स्वदेशी भावना भी आती है और आत्मनिर्भरता भी बढ़ती है। जब लोग शोषण की प्रक्रिया समझ लेंगे तो उसका विरोध करेंगे । जब उद्योग, खेती, प्रशासन में आत्मनिर्भता आएगी तो एकाधिकारवादी वर्गों का सारा अर्थशास्त्र गड़बड़ा जाएगा। वे भाषायी फासले इसीलिए बनाए रखना चाहते हैंकि आम आदमी उनकी स्पर्धा में खड़ा न हो सके।''[2] प्रांतीय भाषाओं के साथ आम आदमी खड़ा है अपनी भाषा और समझ के साथ। कोई भी राष्ट्र किसी भी राज्य को किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाकर तरक्की नहीं कर सकता। ''हर उन्नत देश यह अच्छी तरह समझता है कि राष्ट्रभाषा का हित प्रांतीय भाषाओं के सार्थक विकास में ही है और प्रांतीय भाषाएँ राष्ट्रभाषा की पारस्परिकता में ही विकसित और समृद्ध हो सकती है।''[3] ऐसे में दोनों की प्रतिस्पर्धा का सवाल ही नहीं उठता बावजूद इसके ऐसी दुर्भावना का प्रचार किया गया जिससे राष्ट्र और प्रांत आमने-सामने खड़े हो गए। किन्तु यहाँ भाषाई एकता को बनाए रखना भले एक चुनौति के रूप में आया किन्तु एकजुट होकर ही इस समस्या का निदान संभव था। यह बात वर्तमान में भी सार्थकता पा रही है कि सबके साथ से ही सम्पूर्ण विकास संभव है।

विदेशी भाषाओं में जो सर्वप्रचलित भाषा शासन प्रशासन के कामकाज की भाषा के रूप में भी आज काम कर रही है उसका प्रभाव न सिर्फ भारत बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी देखा जा सकता है उसकी जड़ें भी अंग्रेजी शासन के दौरान ही जम चुकी थी जब अंग्रेज सरकार ने शिक्षा, ज्ञान और रोजगार के क्षेत्र से भारत में इसे जोड़ा था। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय भाषा हिन्दी हर स्तर पर गौण होती चली गई और बढ़ते समय के साथ लोगों ने इसपर ध्यान देना ही बंद कर दिया। जिससे यह भाषा जितना और जैसा विकास कर सकती थी उतना वह नहीं कर पाई क्योंकि समाज में अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने और जीवनयापन के लिए मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति का विषय एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु के रूप में उनके सामने था, जिसकी आपूर्ति के लिए धन की आवश्यकता होती थी और उसकी पूर्ति रोजगार के माध्यम से ही संभव थी। और उस समय रोजगार के द्वार केवल उन्हीं के लिए खुले थे जो अंग्रेजी भाषा जानते थे। तत्कालीन सरकार द्वारा जारी घोषणापत्र में कहा गया था कि ''1844 ई. में लार्ड हार्डिंग द्वारा जारी घोषणापत्र के आधार पर सरकारी कर्मचारियों का चयन करते समय केवल अंग्रेजी भाषा ज्ञान और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्ति को ध्यान में रखा जाता था। गवर्नर जनरल का आदेश था कि सरकारी सेवा में नियुक्ति के समय यथासंभव पहले उन युवकों का चयन किया जाए जिन्होंने सरकारी अथवा प्राइवेट संस्थाओं में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की है और विशेषतः जिन्होंने असाधारण योग्यता अर्जित की है।''[4] अंग्रेजी सरकार की वह नीति आज तक भारतीय जनमानस की कमर तोड़ने वाली साबित हो रही है। जिस सरल सहज मार्ग पर चलकर वह अतुल्य ज्ञान और विकास का मार्ग तय कर सकते थे उसके लिए उन्हें कठिन रास्ते का चयन करना पड़ा। विदेशीकरण के इस प्रभाव के कारण आज एक बड़ा वर्ग है ऐसा है जो अंग्रेजी ठीक से जानता नहीं और हिन्दी ठीक से जानना नहीं चाहता।

वर्तमान में आज स्थिति यह कि लोग हिन्दी न आने को लेकर शान और प्रतिष्ठा का विषय मानते हैं जो कि एक बहुत ही शर्मनाक बात है। जिस देश में रह रहे हैं, जिस देश का गुणगान जिस भाषा में कर पाने में सहज महसूस करते हैं उस देश की राजभाषा आरै पारिभाषिक रूप से राष्ट्रभाषा भी, को नहीं जानने में गर्व की बात समझते हैं जबकि विदेशी तथा गुलाम बनाए रखने की मानसिकता से गढ़ी गई भाषा को लेकर गर्व का भाव रखते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि उस भाषा में भी वे पूर्ण रूप से पारंगत नहीं होते। वर्तमान में भारत में यह प्रभाव भारी मात्रा में देखने को मिलता है। प्रारम्भिक शिक्षा में माता-पिता की बच्चों को लेकर जो चिंता देखने को मिलती है वह यह कि इतने महंगे स्कूल में पढ़ाकर भी बच्चा अंग्रेजी ठीक से बोलना नहीं सीख पाया। अंग्रेजी के अतिरिक्त जो अन्य विदेशी भाषाएँ हैं वे प्रचलित भले ही कम हों किन्तु उनकी माँग राजे गार के लिए लगातार बढ़ रही है। रोजगार मुख्य मुद्दा है जिससे लोगों को किसी भी स्तर पर प्रभावित किया जा सकता है। वर्तमान में सफलता का मौल ही है आर्थिक संपन्नता और सामाजिक प्रतिष्ठा रह गई है।

भारतीय भाषाओं की वर्तमान स्थिति में आ रही गिरावट को देखते हुए वर्तमान सरकार ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में मातृभाषा में शिक्षा का जो प्रारूप दिया है वह निश्चय ही सराहनीय है। इससे बच्चों में प्रारम्भिक स्तर की शिक्षा से ही भाषा को लेकर सही समझ के साथ ज्ञान अर्जित कर सकेंगे। '' मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने पर समझ, ज्ञान और प्रबुद्धता का विकास अधिक तेजी और गहराई से होता है, क्योंकि तब क्षमता का अधिकांश भाग ज्ञानार्जन में लगता है, जबकि विदेशी भाषा में शिक्षा प्राप्त करने पर अधिकांश क्षमता भाषा ज्ञान में खर्च हो जाती है।''[5] इस नीति से भाषा को लेकर आधारभूत समझ का विकास तो होगा ही इसके साथ-साथ ज्ञान में भी वृद्धि होगी और ज्ञान की माँग हर क्षेत्र में है वह ज्ञान आपका अपनी भाषा में भी हो यह इस नीति से संभव हो पाएगा। किसी एक भाषा का आधिपत्य अन्य भाषओं के अस्तित्व पर हावी हो जाता है। इस नीति से प्रत्येक भाषा अपने प्रभाव को बनाए रख पाने में सक्षम होगी। इसके साथ ही जो प्रांतीय भाषाएँ लगातार

लुप्त होती जा रही थी उन्हें भी जीवित रखा जा सकेगा।

इसके अतिरिक्त भी कई सरकारी संस्थानों द्वारा हिन्दी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के संरक्षण को लेकर आवश्यक कार्य किए जा रहे हैं किन्तु फिर भी अपेक्षित सुधार देखने को नहीं मिल रहा। भाषागत ज्ञान की समझ और आर्थिक मजबूती का प्रश्न इसके आड़े आता है जिसपर लगातार विचार किया जा रहा है। संभवतः हमें अपेक्षिअपेक्षित सुधार अवश्य देखने को मिलेंगे। इसके लिए जितना सहयोग राजनीतिक स्तर पर आवश्यक है उतना ही हमें व्यक्तिगत तारै पर भी करना चाहिए। भाषा का प्रश्न आज इतना महत्त्वपूर्ण इसलिए बन गया है क्योंकि प्रांतीय भाषाओं में बड़ी संख्या में गिरावट आई है जिसका कारण विदेशी भाषा मुख्य रूप से अंग्रेजी की ओर अधिक आकर्षण कहा जा सकता है। यह आकर्षण आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा को लेकर अधिक है। अतः हमें इस प्रभाव से स्वयं को बचाए रखना है। और इसके साथ-साथ अपनी प्रान्तीय भाषाओं जिससे हमारी पहचान हमारी अस्मिता जुड़ी है जिसमें हम सबसे अधिक आत्मीय और सहज महसूस कर पाते हैं उससे अपने जुड़ाव को बनाए रखना है। अपनी मातृभाषा से दूर होने का मतलब ही है कि हम कहीं न कहीं स्वयं अपने आप से दूर होते जा रहे हैं। प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा है ''अंग्रेजी शासन की भाषा थी, जबकि हिन्दी आत्मीय संबंधों की और संवाद की भाषा है। अंगे्रजी के होने से भारतीय भाषाएँ पृष्ठभूमि में चली जाएँगी, जबकि हिन्दी के साथ सभी भाषाएँ अपनी मुख्य भूमिका में रह सकती हैं।''[6] अतः कहा जा सकता है कि प्रांतीय भाषाएँ विकसित होंगी तो इससे राष्ट्र भी मजबूत होगा। इससे उनकी पहचान और संस्कृति को भी एक अलग रूप में पहचान मिलती है। व्यक्ति जितना अपनी प्रांतीय भाषा में स्वयं को सहज महसूस करता है वह किसी अन्य भाषा में नहीं हो पाता। सबसे भावुक क्षणों में और अपने आत्मीय जनों के साथ वह अपनी भाषा में ही सहज रूप से बात कर पाने में समर्थ होता है। अतः प्रांतीय भाषाओं का जीवित रहना इसीलिए भी आवश्यक बन जाता है। भारतेन्दु ने भी कहा ही है कि ''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल, बिन निज भाषा-ज्ञान के मिटे न हिय के शूल।''[7] अर्थात हमारे हृदय के सबसे नज़दीक जो भाषा होती है हम उसी में अपने मन की पीड़ा को व्यक्त कर पाते हैं। यदि हम इसी भाषा से दूर हो जाएँगे तो हमारी पीड़ा भी हमारे भीतर ही कहीं जमकर रह जाएगी और हम एक घूटन में जीने को मजबूर हो जाएँगे। इसके लिए सबसे आवश्यक है अपनी भाषा को लेकर सजगता बनाए रखना और जो भाषा अपनी भाषा पर वर्चस्व बनाए रखती है उससे मुक्ति ही इसका एकमात्र उपाय है ''हिन्दी या प्रांतीय भाषाओं के साथ अंग्रेजी लिखने की प्रथा देश से समाप्त करनी होगी। हिन्दी के साथ किसी भी निकटस्थ प्रांतीय भाषा को लिखना और प्रांतीय भाषाओं के साथ हिन्दी को लिखना अंग्रेजी से मुक्त होने का एक उपाय है।''[8]

अंततः कहा जा सकता है कि वर्तमान में भारतीय भाषा को लेकर जो अपेक्षित सुधार किए जा रहे हैं उनकी लम्बे समय से आवश्यकता महसूस की जा रही थी। अब व्यवहार में आने पर निश्चय ही इस दिशा में सुधार अवश्य देखने को मिलेगा फिर हम भी अन्य राष्ट्र की भाँति अपनी भाषा के साथ न सिर्फ गौरव महसूस करेंगे बल्कि हमें इससे अपेक्षित रोजगार भी प्राप्त हो सकेगा। अंग्रेजी तथा अन्य जो भाषाएँ जिन कारणों से आज भी भारत में अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं उन कारणों को ध्यान में रखकर हिन्दी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के साथ उन्हें जोड़कर सुधार करने का प्रयास अवश्य ही इस दिशा में किया जाना अपेक्षित है। यदि ऐसा संभव हो पाया तो न सिर्फ हम अपनी प्रांतीय भाषाओं को बचा सकेंगे जो कि लुप्त होती जा रही हैं बल्कि इन भाषाओं की मदद से हम अपनी एक अलग मजबूत पहचान बना पाने में भी सक्षम होंगे। जिस गौरव के साथ गाँधी जी आज़ादी से पहले हिन्दी का प्रयोग करते थे उसी गौरव के साथ भारत का जन-जन अपनी मातृभाषा का प्रयोग करेगा।

संदर्भः-

1. भाषा साहित्य और संस्कृति- डॉ. मुकेश अग्रवाल, प्रकाशक, के. एल पचैरी, षष्ठम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-262.
2. हिन्दी कल आज और कल-प्रभाकर श्रोत्रिय, किताबघर प्रकाशन,नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-21.
3. हिन्दी कल आज और कल-प्रभाकर श्रोत्रिय, किताबघर प्रकाशन,नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-24.
4. भाषा साहित्य और संस्कृति- डॉ. मुकेश अग्रवाल, प्रकाशक, के. एल पचैरी, षष्ठम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-264, 265.
5. हिन्दी कल आज और कल-प्रभाकर श्रोत्रिय, किताबघर प्रकाशन,नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-20.
6. हिन्दी कल आज और कल-प्रभाकर श्रोत्रिय, किताबघर प्रकाशन,नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-18.
7. भाषा साहित्य और संस्कृति- डॉ. मुकेश अग्रवाल, प्रकाशक, के. एल पचैरी, षष्ठम संस्करण-2009, पृष्ठ संख्या-273.
8. हिन्दी कल आज और कल-प्रभाकर श्रोत्रिय, किताबघर प्रकाशन,नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-2004, पृष्ठ संख्या-24.

*****

द्वितीय नगरीकरण के काल में बौद्ध विहार और स्तूप: शहरी संरचना एवं सांस्कृतिक परिवर्तन

-देवेश तिवारी
शोधार्थी,
बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

सार

द्वितीय नगरीकरण के दौरान बौद्ध धर्म केवल आध्यात्मिक आंदोलन नहीं रहा, बल्कि उसने प्राचीन भारतीय नगरों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक ढाँचे को भी रूप दिया। बौद्ध विहार (मठ) समय के साथ साधारण आश्रयों से विकसित होकर व्यवस्थित धार्मिक, शैक्षिक और सामाजिक केंद्रों में परिणत हुए, जहाँ भिक्षु ध्यान, अध्ययन और संघ-कार्य संभालते थे। बौद्ध वास्तुकला में विहारों के साथ ही स्तूपों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा, जो बुद्ध के अवशेषों या उनके स्मरणीय घटनाओं को सुरक्षित रखने का धार्मिक प्रतीक थे और श्रद्धालुओं को आकर्षित करते थे।स्तूपों का निर्माण और विहारों का संगठन शहरी केंद्रों के आसपास अधिक देखा जाता था, जहाँ नगरों का जनसंपर्क, व्यापार और यात्रा अधिक था। प्रारंभिक स्तूपों का रूप सरल मटमैली ढेर से विकसित होकर प्रतिबद्ध वास्तुशिल्प में बदल गया, जिसमें अद्भुत प्रतीक, परिक्रमा पथ और तोरण द्वार शामिल हो गए थे। यह परिवर्तन शहरी जीवन में धर्म को केवल एक आध्यात्मिक तत्व नहीं, बल्कि सामाजिक एकता, सामुदायिक पहचान बौद्ध विहारों और स्तूपों का प्रभाव द्वितीय नगरीकरण के साथ-साथ नगर के आर्थिक और सामाजिक जीवन में स्वाभाविक रूप से समाहित हुआ। विहारों ने व्यापार मार्गों के निकट आवास, भोजन और विश्राम सुविधाएँ प्रदान कीं, जिससे व्यापारियों और तीर्थयात्रियों का आवागमन बढ़ा और नगरों की सांस्कृतिक विविधता एवं अंतरआंचलिक संपर्क को प्रोत्साहन मिला। साथ ही स्तूपों के आसपास पर्यावरणीय और सांस्कृतिक उत्सवों ने नगर जीवन को सामूहिक सामाजिक गतिविधियों से जोड़ा जिससे संस्कृति की भावना और शहरी सामूहिकता को बल मिला।इस प्रकार बौद्ध विहार और स्तूप प्राचीन नगरों में सिर्फ धार्मिक ढांचे न रहकर, शहरी संरचना, सांस्कृतिक एकता और सामाजिक आदान-प्रदान के महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गए, जिन्होंने द्वितीय नगरीकरण के प्रभाव को गहरा और दीर्घकालिक रूप दिया।

मुख्य शब्द- द्वितीय नगरीकरण,बौद्ध विहार एवं स्तूप,शहरी संरचना,धार्मिक स्थापत्य और संस्कृति,सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन

भूमिका

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के बीच भारतीय उपमहाद्वीप में जो गहन सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें सामान्यतः द्वितीय नगरीकरण के संदर्भ में समझा जाता है। इस काल में गंगा घाटी और उससे जुड़े क्षेत्रों में नगरों का पुनरुत्थान, व्यापारिक प्रणाली का विस्तार, मुद्रा प्रचलन तथा शिल्प-उद्योगों का विकास स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ऐसे परिवर्तन केवल आर्थिक स्तर तक सीमित नहीं थे, बल्कि उन्होंने धार्मिक संस्थाओं और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को भी गहराई से प्रभावित किया।इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में बौद्ध धर्म एक संगठित और संस्थागत परंपरा के रूप में उभरता है। बौद्ध संघ ने नगरीय समाज की आवश्यकताओं और संवेदनाओं के अनुरूप अपने धार्मिक और सामाजिक स्वरूप को विकसित किया। बौद्ध विहार शिक्षा, साधना और सामाजिक संपर्क के केंद्र बने, जबकि स्तूप धार्मिक आस्था, स्मृति और सामूहिक सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक के रूप में उभरे। इन स्थापत्य संरचनाओं की नगरों, व्यापारिक मार्गों और जनसामान्य से निकटता यह संकेत देती है कि बौद्ध धर्म नगरीय जीवन से गहरे रूप में जुड़ा हुआ था।यह शोध लेख द्वितीय नगरीकरण के काल में बौद्ध विहारों और स्तूपों को केवल धार्मिक संरचनाओं के रूप में नहीं, बल्कि शहरी संरचना और सांस्कृतिक परिवर्तन के सक्रिय घटक के रूप में समझने का प्रयास करता है। इसके माध्यम से प्राचीन भारतीय नगरों में धर्म, समाज और संस्कृति के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय नगरीकरण की अवधारणा

भारतीय इतिहास में 'द्वितीय नगरीकरण' की अवधारणा उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को संकेतित करती है, जिसके अंतर्गत ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के आसपास उत्तर भारत, विशेषतः गंगा–यमुना दोआब और मध्य गंगा घाटी में नगरों का पुनः उदय हुआ। यह नगरीकरण सिंधु सभ्यता के पतन के बाद विकसित हुई ग्रामीण-केंद्रित वैदिक व्यवस्था से भिन्न था और एक नवीन

सामाजिक-आर्थिक संरचना को जन्म देता है। इस काल में नगर केवल प्रशासनिक इकाइयाँ नहीं रहे, बल्कि वे व्यापार, शिल्प, धार्मिक गतिविधियों और बौद्धिक विमर्श के केंद्र बन गए।इतिहासकारों के अनुसार द्वितीय नगरीकरण का प्रमुख आधार कृषि अधिशेष की वृद्धि थी, जिसे लौह प्रौद्योगिकी के प्रसार ने संभव बनाया। लोहे के उपयोग से कृषि उपकरण अधिक प्रभावी हुए, जिससे उत्पादन बढ़ा और अतिरिक्त उपज ने शहरी जनसंख्या के भरण-पोषण को संभव किया। इसके साथ ही आंतरिक और बाह्य व्यापार का विस्तार हुआ, सिक्कों का प्रचलन बढ़ा और श्रेणी-आधारित शिल्प उत्पादन विकसित हुआ। नगरों में व्यापारी, शिल्पकार, साहूकार और प्रशासनिक वर्गों का उभार स्पष्ट दिखाई देता है।द्वितीय नगरीकरण की एक महत्वपूर्ण विशेषता सामाजिक संरचना में आया परिवर्तन था। वर्ण-आधारित वैदिक व्यवस्था की कठोरता के बीच नगरों में अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक गतिशीलता दिखाई देती है। शहरी समाज में नए वर्गों का उदय हुआ, जिन्होंने वैकल्पिक धार्मिक और दार्शनिक विचारों को संरक्षण दिया। इसी संदर्भ में श्रमण परंपराएँ विशेषतः बौद्ध और जैन विचार नगरों में व्यापक स्वीकृति प्राप्त करती हैं। यह स्पष्ट करता है कि द्वितीय नगरीकरण केवल भौतिक या आर्थिक प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि गहन वैचारिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की भी वाहक थी।पुरातात्त्विक साक्ष्य जैसे- राजगृह, श्रावस्ती, कौशांबी, उज्जयिनी और वैशाली इस नगरीकरण की ठोस पुष्टि करते हैं। यहाँ प्राप्त आवासीय संरचनाएँ, सड़कें, मुद्राएँ और धार्मिक स्थापत्य इस बात का संकेत देते हैं कि नगर नियोजित और बहु-आयामी सामाजिक जीवन के केंद्र थे। इस प्रकार द्वितीय नगरीकरण को प्राचीन भारतीय इतिहास में एक ऐसी निर्णायक प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है, जिसने न केवल शहरी जीवन को पुनर्स्थापित किया, बल्कि धार्मिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक परिदृश्य को भी गहराई से रूपांतरित किया।

बौद्ध धर्म का संस्थागत स्वरूप

बौद्ध धर्म का उदय केवल एक दार्शनिक या नैतिक आंदोलन के रूप में नहीं हुआ, बल्कि समय के साथ यह एक सुदृढ़ और सुव्यवस्थित संस्थागत परंपरा के रूप में विकसित हुआ। गौतम बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके उपदेशों को संरक्षित और व्यवस्थित करने की आवश्यकता ने बौद्ध संघ को एक संगठित संस्था का रूप प्रदान किया। यह संघ न केवल आध्यात्मिक साधना का केंद्र था, बल्कि सामाजिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का भी प्रमुख आधार बन गया।बौद्ध संघ की संरचना विनय पिटक में निर्धारित नियमों पर आधारित थी, जो भिक्षुओं और भिक्षुणियों के आचरण, अनुशासन और सामूहिक जीवन को नियंत्रित करता था। संघ में प्रवेश जाति, वंश या सामाजिक स्थिति के आधार पर प्रतिबंधित नहीं था, जो इसे समकालीन वैदिक संस्थाओं से भिन्न बनाता है। यह समावेशी स्वरूप द्वितीय नगरीकरण के काल में विकसित हो रहे शहरी समाज के अनुकूल था, जहाँ सामाजिक गतिशीलता और नैतिक विकल्पों की खोज बढ़ रही थी।संस्थागत दृष्टि से बौद्ध धर्म की एक महत्वपूर्ण विशेषता स्थायी विहारों की स्थापना थी। प्रारंभिक काल में बौद्ध भिक्षु भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते थे, किंतु वर्षावास की परंपरा के साथ स्थायी आवासों विहारों का विकास हुआ। ये विहार न केवल निवास और साधना के केंद्र थे, बल्कि शिक्षा, अध्ययन और बौद्धिक संवाद के भी प्रमुख स्थल बन गए। कालांतर में नालंदा, विक्रमशिला और वल्लभी जैसे महाविहारों ने इस संस्थागत स्वरूप को अंतरराष्ट्रीय स्तर तक विस्तारित किया।बौद्ध धर्म का संस्थागत विकास गृहस्थ समुदाय के सहयोग के बिना संभव नहीं था। दान (दान परंपरा) बौद्ध संघ की आर्थिक आधारशिला बनी। व्यापारी वर्ग, नगरवासी और शासक वर्ग विहारों और स्तूपों के निर्माण तथा संघ के भरण-पोषण में सक्रिय भूमिका निभाते थे। इस पारस्परिक संबंध ने बौद्ध धर्म को शहरी समाज से गहराई से जोड़ा और इसे सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बना दिया।इस प्रकार बौद्ध धर्म का संस्थागत स्वरूप एक संतुलित व्यवस्था के रूप में उभरता है, जिसमें नैतिक दर्शन, अनुशासनात्मक संगठन और सामाजिक सहभागिता का समन्वय दिखाई देता है। यह संस्थागत संरचना ही बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार, दीर्घकालिक प्रभाव और भारतीय इतिहास में उसकी स्थायी उपस्थिति का मूल आधार बनी।

बौद्ध विहार और शहरी संरचना

द्वितीय नगरीकरण के काल में विकसित हो रही शहरी संरचना और बौद्ध विहारों के बीच एक गहरा और परस्पर निर्भर संबंध दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध विहार केवल धार्मिक साधना के स्थल नहीं थे, बल्कि वे नगरों की सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक संरचना के सक्रिय घटक के रूप में कार्य करते थे। उनके स्थान-चयन, स्थापत्य स्वरूप और कार्यात्मक भूमिका से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध संघ ने शहरी जीवन की आवश्यकताओं और गतिशीलताओं को समझते हुए स्वयं को संस्थागत रूप में ढाला।अधिकांश बौद्ध विहार नगरों के समीप, व्यापारिक मार्गों, राजमार्गों या नगर-उपवनों के निकट स्थापित किए गए। यह भौगोलिक स्थिति आकस्मिक नहीं थी, बल्कि इसके पीछे गृहस्थ समुदाय विशेषतः व्यापारी और शिल्पकार वर्ग से निरंतर संपर्क और दान-समर्थन की

व्यावहारिक आवश्यकता निहित थी। नगरों की आर्थिक समृद्धि विहारों के संरक्षण और विस्तार के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान करती थी, जबकि विहार नगरों को नैतिक अनुशासन, शिक्षा और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा प्रदान करते थे।स्थापत्य की दृष्टि से प्रारंभिक विहार अपेक्षाकृत सरल थे भिक्षुओं के निवास हेतु कक्ष, सामूहिक सभा के लिए उपासना-स्थल और अध्ययन के लिए सीमित सुविधाएँ। किंतु जैसे-जैसे शहरी संरचना अधिक जटिल होती गई, वैसे-वैसे विहार भी बहु-आयामी संस्थानों में परिवर्तित हो गए। इनमें पुस्तकालय, अध्ययन-कक्ष, अतिथि-गृह और जल-संरचनाएँ सम्मिलित होने लगीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि विहार शहरी अवसंरचना का अभिन्न हिस्सा बन चुके थे।बौद्ध विहारों की सामाजिक भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण थी। ये स्थल नगरवासियों और भिक्षु समुदाय के बीच संवाद के केंद्र थे। उपदेश, धार्मिक विमर्श, उत्सव और सामूहिक अनुष्ठानों के माध्यम से विहार शहरी समाज में नैतिक मूल्यों और सामाजिक अनुशासन के प्रसार में योगदान देते थे। इस प्रक्रिया में विहारों ने नगरों को केवल भौतिक बसावट नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक इकाई के रूप में आकार देने में सहायता की।शहरी प्रशासन और राजनीतिक सत्ता के साथ भी विहारों का संबंध देखा जा सकता है। अनेक नगरों में शासक वर्ग द्वारा विहारों को भूमि-अनुदान, कर-मुक्ति और संरक्षण प्रदान किया गया। इससे विहारों को स्थायित्व मिला और वे शहरी जीवन के दीर्घकालिक संस्थान बन सके। यह संरक्षण केवल धार्मिक आस्था का परिणाम नहीं था, बल्कि शासकों द्वारा सामाजिक स्थिरता और वैधता के निर्माण का एक माध्यम भी था।इस प्रकार बौद्ध विहार और शहरी संरचना के बीच संबंध को एक द्वि-दिशात्मक प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है। नगरों की आर्थिक और सामाजिक ऊर्जा ने विहारों को पोषित किया, जबकि विहारों ने शहरी जीवन को बौद्धिक, नैतिक और सांस्कृतिक गहराई प्रदान की। द्वितीय नगरीकरण के संदर्भ में बौद्ध विहारों का अध्ययन प्राचीन भारतीय नगरों की आंतरिक संरचना और सांस्कृतिक आत्मा को समझने का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य प्रस्तुत करता है।

स्तूप: स्थापत्य, प्रतीक और सांस्कृतिक अर्थ

स्तूप बौद्ध परंपरा में केवल एक स्थापत्य संरचना नहीं है, बल्कि वह स्मृति, श्रद्धा और सामूहिक सांस्कृतिक चेतना का सशक्त प्रतीक है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके अवशेषों के विभाजन और संरक्षण से स्तूप परंपरा का प्रारंभ हुआ। प्रारंभिक बौद्ध समुदाय के लिए स्तूप एक ऐसे पवित्र केंद्र के रूप में विकसित हुआ, जहाँ भौतिक अवशेषों के माध्यम से बुद्ध की उपस्थिति का अनुभव किया जाता था। इस प्रकार स्तूप श्रद्धा और प्रतीकात्मकता के समन्वय का मूर्त रूप बन गया।स्थापत्य की दृष्टि से स्तूप का विकास क्रमिक और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध रहा है। प्रारंभिक स्तूप अपेक्षाकृत सरल अर्द्धगोलाकार ढाँचों के रूप में निर्मित थे, जिनमें अंड, हरमिका, यष्टि और छत्र जैसी संरचनात्मक इकाइयाँ सम्मिलित थीं। कालांतर में परिक्रमा-पथ, वेदिका और तोरणों का विकास हुआ, जिसने स्तूप को एक गतिशील धार्मिक स्थल का स्वरूप प्रदान किया। स्थापत्य के ये तत्व केवल सौंदर्यपरक नहीं थे, बल्कि वे अनुष्ठानिक गतिविधियों और सामूहिक सहभागिता को संभव बनाते थे।प्रतीकात्मक स्तर पर स्तूप का अर्थ अत्यंत गहन है। अंड को ब्रह्मांडीय पूर्णता और जीवन-चक्र का प्रतीक माना जाता है, जबकि यष्टि और छत्र आध्यात्मिक उत्थान और निर्वाण की ओर संकेत करते हैं। परिक्रमा की परंपरा साधक को शारीरिक गति के माध्यम से ध्यान और श्रद्धा से जोड़ती है। इस प्रकार स्तूप एक ऐसा प्रतीकात्मक स्थल बन जाता है, जहाँ दर्शन, साधना और शारीरिक क्रिया एक-दूसरे में अंतर्ग्रथित हो जाते हैं।सांस्कृतिक दृष्टि से स्तूपों ने शहरी और ग्रामीण समाज के बीच सेतु का कार्य किया। द्वितीय नगरीकरण के काल में स्तूप नगरों के समीप, व्यापारिक मार्गों और सार्वजनिक स्थलों के निकट स्थापित किए गए। इससे वे न केवल धार्मिक आस्था के केंद्र बने, बल्कि सामाजिक मेलजोल, उत्सव और सामूहिक पहचान के स्थल भी बने। स्तूपों की वेदिकाओं और तोरणों पर उकेरी गई कथात्मक मूर्तियाँ उस काल की सामाजिक जीवन, लोकविश्वास और नैतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करती हैं।इस प्रकार स्तूप को बौद्ध संस्कृति में एक बहुस्तरीय संरचना के रूप में समझा जा सकता है,जहाँ स्थापत्य, प्रतीक और संस्कृति एक-दूसरे में समाहित हैं। स्तूपों का अध्ययन न केवल बौद्ध धर्म की धार्मिक अभिव्यक्ति को समझने में सहायक है, बल्कि प्राचीन भारतीय समाज की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना को भी उजागर करता है।

शहरी संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन

द्वितीय नगरीकरण के काल में उभरती शहरी संस्कृति ने प्राचीन भारतीय समाज की संरचना, मूल्य-व्यवस्था और सामाजिक संबंधों में गहन परिवर्तन उत्पन्न किए। नगर केवल भौतिक बसावट या प्रशासनिक केंद्र नहीं थे, बल्कि वे नई सांस्कृतिक चेतना, वैचारिक संवाद और सामाजिक गतिशीलता के सक्रिय स्थल बन गए। इस शहरी परिवेश ने पारंपरिक ग्रामीण और वैदिक संरचनाओं से भिन्न जीवन-पद्धति को जन्म दिया, जिसमें सामाजिक पहचान और नैतिक मूल्यों का पुनर्संयोजन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।शहरी संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता आर्थिक विविधता और श्रम-विभाजन का विस्तार था। कृषि अधिशेष, व्यापारिक प्रणाली

और शिल्प उत्पादन के विकास ने नगरों में विभिन्न सामाजिक समूहों व्यापारी, शिल्पकार, साहूकार और प्रशासनिक वर्ग को एक साझा सामाजिक क्षेत्र में संगठित किया। इस सहअस्तित्व ने पारंपरिक वर्ण-आधारित सामाजिक सीमाओं को आंशिक रूप से शिथिल किया और सामाजिक गतिशीलता के नए अवसर उत्पन्न किए। नगरों में व्यक्ति की पहचान वंश या जाति के स्थान पर पेशा, नैतिक आचरण और आर्थिक भूमिका से भी निर्धारित होने लगी।सांस्कृतिक स्तर पर नगरों ने सार्वजनिक जीवन को नई दिशा प्रदान की। सभा-स्थल, बाजार, धार्मिक परिसर और विहार जैसे सार्वजनिक स्थान सामाजिक संवाद और सांस्कृतिक सहभागिता के केंद्र बने। यहाँ धर्म केवल अनुष्ठान तक सीमित नहीं रहा, बल्कि वह नैतिक विमर्श, शिक्षा और सामाजिक आलोचना का माध्यम बना। बौद्ध धर्म जैसी श्रमण परंपराओं ने शहरी समाज में करुणा, अहिंसा और नैतिक अनुशासन जैसे मूल्यों को व्यापक रूप से प्रसारित किया, जिससे सामाजिक आचरण में परिवर्तन आया।शहरी संस्कृति में दान और सार्वजनिक पुण्य की अवधारणा भी महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन का सूचक है। विहारों और स्तूपों को दान देना केवल धार्मिक कर्तव्य नहीं था, बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा और नैतिक उत्तरदायित्व का प्रतीक बन गया। इससे शहरी समाज में सामूहिक सहभागिता और परोपकार की भावना विकसित हुई। दान के माध्यम से गृहस्थ और संन्यासी समुदाय के बीच एक स्थायी संबंध स्थापित हुआ, जिसने सामाजिक संतुलन को बनाए रखने में भूमिका निभाई।इसके अतिरिक्त, शहरी जीवन ने स्त्रियों, शिल्पकारों और निम्न सामाजिक वर्गों के लिए भी सीमित किंतु महत्वपूर्ण अवसर प्रदान किए। बौद्ध संघ में भिक्षुणी परंपरा और शहरी धार्मिक स्थलों में स्त्रियों की सहभागिता इस परिवर्तन का संकेत देती है। यद्यपि सामाजिक असमानताएँ पूर्णतः समाप्त नहीं हुईं, फिर भी शहरी संस्कृति ने वैकल्पिक सामाजिक अनुभवों के लिए स्थान निर्मित किया।इस प्रकार शहरी संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन को एक गतिशील ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है। द्वितीय नगरीकरण के संदर्भ में नगरों ने न केवल आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन को जन्म दिया, बल्कि भारतीय समाज की सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों और सामाजिक संरचना को भी गहराई से रूपांतरित किया। बौद्ध धर्म और शहरी संस्कृति के अंतर्संबंध ने इस परिवर्तन को एक स्थायी और व्यापक स्वरूप प्रदान किया।

पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्य

द्वितीय नगरीकरण के काल में बौद्ध विहारों, स्तूपों और शहरी संरचना के अध्ययन के लिए पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्य अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये साक्ष्य न केवल ऐतिहासिक घटनाओं की पुष्टि करते हैं, बल्कि उस काल के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की बहुआयामी झलक भी प्रस्तुत करते हैं। दोनों प्रकार के स्रोत परस्पर पूरक रूप में कार्य करते हुए एक समग्र ऐतिहासिक दृष्टि निर्मित करते हैं।पुरातात्त्विक साक्ष्यों में उत्खनित नगर-अवशेष, स्थापत्य संरचनाएँ, मुद्राएँ, अभिलेख और मूर्तिकला प्रमुख हैं। राजगृह, श्रावस्ती, कौशांबी, वैशाली, उज्जयिनी और पाटलिपुत्र जैसे स्थलों से प्राप्त अवशेष द्वितीय नगरीकरण के दौरान विकसित शहरी नियोजन और आवासीय संरचना को स्पष्ट करते हैं। इन नगरों के समीप स्थापित बौद्ध विहार और स्तूप यह दर्शाते हैं कि धार्मिक संस्थाएँ शहरी जीवन से पृथक नहीं थीं, बल्कि उसकी अभिन्न इकाइयाँ थीं। साँची, भरहुत, सारनाथ और अमरावती जैसे स्तूपों से प्राप्त स्थापत्य और अलंकरण उस काल की धार्मिक आस्था के साथ-साथ सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक प्रतीकों को भी अभिव्यक्त करते हैं।पुरातात्त्विक प्रमाणों में प्राप्त अभिलेख और दान-सूचियाँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। इनमें व्यापारियों, शिल्पकारों, स्त्रियों और स्थानीय शासकों द्वारा दिए गए दानों का उल्लेख मिलता है, जो बौद्ध संघ और शहरी समाज के घनिष्ठ संबंध को रेखांकित करता है। यह तथ्य स्पष्ट होता है कि विहार और स्तूप केवल आध्यात्मिक केंद्र नहीं थे, बल्कि शहरी अर्थव्यवस्था और सामाजिक प्रतिष्ठा की संरचना से भी जुड़े हुए थे।साहित्यिक साक्ष्यों में बौद्ध त्रिपिटक, विनय पिटक, जातक कथाएँ और अवदान साहित्य प्रमुख हैं। ये ग्रंथ नगरों, बाजारों, व्यापारियों और गृहस्थ जीवन के विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इनमें विहारों के दैनिक जीवन, संघ के नियमों और गृहस्थ-संघ संबंधों का उल्लेख मिलता है, जो संस्थागत बौद्ध धर्म के स्वरूप को समझने में सहायक है। जातक कथाओं में वर्णित नगर जीवन, नैतिक संघर्ष और सामाजिक व्यवहार उस काल की शहरी संस्कृति को प्रतिबिंबित करते हैं।इसके अतिरिक्त, चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तांत जैसे प्राचीन बौद्ध तीर्थों और विहारों के विवरण भारतीय शहरी और धार्मिक संरचना की अंतरराष्ट्रीय छवि को उजागर करते हैं। ये विवरण यह प्रमाणित करते हैं कि बौद्ध विहार और स्तूप न केवल स्थानीय महत्व रखते थे, बल्कि वे व्यापक सांस्कृतिक और बौद्धिक प्रणाली का हिस्सा थे।इस प्रकार पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्य मिलकर द्वितीय नगरीकरण के काल में बौद्ध धर्म, शहरी संरचना और सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन के लिए एक ठोस और विश्वसनीय ऐतिहासिक आधार प्रदान करते हैं।

निष्कर्ष

द्वितीय नगरीकरण का काल प्राचीन भारतीय इतिहास में केवल शहरी पुनरुत्थान का चरण नहीं था, बल्कि यह सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक

और सांस्कृतिक संरचनाओं के गहन पुनर्गठन की प्रक्रिया का द्योतक था। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में बौद्ध विहारों और स्तूपों का उदय और विकास नगरीय जीवन की आवश्यकताओं, संवेदनाओं और वैचारिक प्रवृत्तियों से गहरे रूप में जुड़ा हुआ दिखाई देता है। इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म और शहरीकरण के मध्य संबंध एकपक्षीय नहीं, बल्कि परस्पर प्रभावशील और गतिशील था।बौद्ध विहारों ने शहरी संरचना में केवल धार्मिक संस्थाओं की भूमिका नहीं निभाई, बल्कि वे शिक्षा, सामाजिक संवाद और सांस्कृतिक निरंतरता के केंद्र भी बने। नगरों के समीप स्थित विहारों ने गृहस्थ समाज और संन्यासी समुदाय के बीच सेतु का कार्य किया। दान परंपरा के माध्यम से शहरी अर्थव्यवस्था और धार्मिक संस्थाएँ एक-दूसरे से जुड़ीं, जिससे सामाजिक सहभागिता और नैतिक उत्तरदायित्व की भावना को बल मिला। यह व्यवस्था शहरी समाजस्तूपों का स्थापत्य और प्रतीकात्मक स्वरूप शहरी संस्कृति के सामूहिक आयाम को अभिव्यक्त करता है। वे केवल स्मारक नहीं थे, बल्कि सार्वजनिक धार्मिक जीवन के केंद्र थे, जहाँ सामूहिक आस्था, उत्सव और सांस्कृतिक पहचान का निर्माण होता था। स्तूपों की वेदिकाओं और अलंकरणों में अंकित दृश्य उस काल की सामाजिक संरचना, नैतिक मूल्यों और लोकजीवन की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार स्तूप शहरी समाज की सांस्कृतिक स्मृति के स्थायी प्रतीक के रूप में उभरते हैं।शहरी संस्कृति के संदर्भ में यह अध्ययन दर्शाता है कि द्वितीय नगरीकरण ने सामाजिक गतिशीलता और वैकल्पिक नैतिक दृष्टियों के लिए स्थान निर्मित किया। नगरों में आर्थिक विविधता, श्रम -विभाजन और सार्वजनिक जीवन के विस्तार ने सामाजिक संबंधों को पुनर्परिभाषित किया। बौद्ध धर्म ने करुणा, अहिंसा और मध्यम मार्ग जैसे नैतिक सिद्धांतों के माध्यम से इस शहरी समाज को वैचारिक आधार प्रदान किया, जिससे सामाजिक आचरण और सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन संभव हुआ।पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों के समन्वित विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध विहार और स्तूप न तो आकस्मिक संरचनाएँ थीं और न ही केवल धार्मिक प्रतीक। वे शहरी नियोजन, सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक विकास की व्यापक प्रक्रिया का हिस्सा थे। इस शोध लेख के निष्कर्ष यह संकेत देते हैं कि द्वितीय नगरीकरण को समझने के लिए धर्म, स्थापत्य और शहरी संस्कृति के अंतर्संबंधों का अध्ययन अनिवार्य है।अंततः यह कहा जा सकता है कि द्वितीय नगरीकरण के काल में बौद्ध विहार और स्तूपों ने प्राचीन भारतीय नगरों को केवल भौतिक रूप से ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टि से भी आकार दिया। यह अध्ययन भारतीय इतिहास में शहरीकरण और धर्म के संबंधों को एक नए, समग्र और बहुआयामी दृष्टिकोण से समझने की संभावना प्रस्तुत करता है।

संदर्भ सूची

- शर्मा, आर. एस. (2005). इंडियाज़ एंशिएंट पास्ट. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- सिंह, उपिंदर. (2008). ए हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट एंड अर्ली मीडिवल इंडिया. पियर्सन लॉन्गमैन.
- मजूमदार, आर. सी. (1951). द एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी. भारती विद्याभवन.
- रायचौधरी, एच. सी. (1953). पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशिएंट इंडिया. यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता.
- सरकार, डी. सी. (1965). इंडियन एपिग्राफी. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- शास्त्री, के. ए. नीलकंठ. (1967). ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- रे, निहार रंजन. (1976). मौर्य एंड पोस्ट-मौर्य आर्ट. मुंशी राम मनोहरलाल.
- मित्रा, डेबाला. (1971). बौद्ध मॉन्युमेंट्स. साहि अकादमी.
- घोष, अमलानंद. (1989). एंशिएंट इंडिया. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया.
- चट्टोपाध्याय, ब्रजदुलाल. (1994). द मेकिंग ऑफ अर्ली मीडिवल इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- चक्रवर्ती, डी. के. (1995). अर्बनाइज़ेशन इन एंशिएंट इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- नारायण, ए. के. (1993). इंडो-ग्रीक्स. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- जोशी, लालमणि. (1977). स्टडीज़ इन बौद्धिज़्म. मोतीलाल बनारसीदास.. पी. (2
- रे, हिमांशु प्रभा. (1986). मोनास्टिक नेटवर्क्स इन एंशिएंट इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
- देहेजिया, विद्या. (1997). इंडियन आर्ट. फाइडन प्रेस.
- मुखर्जी, बिमल नंदा. (1981). द राइज़ एंड फॉल ऑफ द कुषाण एम्पायर.
- राय, हिमांशु प्रभा. (2003). द आर्कियोलॉजी ऑफ सीफैरिंग इन एंशिएंट साउथ एशिया. कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.
- शर्मा, आर. एस. (1983). मटेरियल कल्चर एंड सोशल फॉर्मेशन्स इन एंशिएंट इंडिया. मैकमिलन इंडिया.
- चक्रवर्ती, रणबीर. (2001). एक्सप्लोरिंग अर्ली इंडिया. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

*****

स्त्रियों के हिस्से का लोकतन्त्र : झूलानट के बहाने स्त्री-विमर्श

-डॉ चेतन आनंद

शोध सार : बिसवी सदी से प्रारम्भ विमर्श में स्त्री विमर्श ने मजबूती के साथ दखल दिया है। अपने बंधे बँधाये दायरे को तोड़कर स्त्रियाँ लोकतन्त्र में अपनी प्रबल दावेदारी की पक्षधर हैं। यह शोध पत्र स्त्रियों के हिस्से के लोकतन्त्र और मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास झूलानट के बहाने स्त्रीविमर्श पर आधारित है। झूलानट मे आए स्त्रियों के हिस्से का लोकतन्त्र का विश्लेषण एवं समकालीन रचनाकारों के पक्षों का आकलन एवं भविष्य की संभाव्यता अंतर्निहित है।

भूमिका :

स्त्रियों के अंतर्द्वंद्व और बाह्य की लड़ाई को एक साथ लड़ती स्त्री अपने लोकतन्त्र के दायरे में बहुत कुछ करती और सहती है। व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त उसकी वैचारिकता समाज और राष्ट्र के गठन और संचालन से लेकर उसके उत्थान और पतन तक की संभाव्यता उनके सकारात्मक और नकारात्मक पहल पर निर्भर है।

शोध-पद्धति : यह शोध गुणात्मक एवं वर्णनात्मक-विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। मूल स्रोत के रूप मे झूलानट तथा अन्य समकालीन रचनाओं का आकलन है।

अवधारणा :

स्वाधीनता के बाद भारत की राजनीति ने अनेक बदलाव देखे हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के इस बदलाव ने लेखन जगत को अच्छा-खासा प्रभावित किया है। आधुनिकता और चुनिन्दा वाद को लेकर आगे बढ़ता साहित्य-जगत विभिन्न विमर्शों के माध्यम से लोकतन्त्र के खोखलेपन को समाज के सामने रखने का मुकम्मल प्रयास किया है।

विश्लेषण एवं विवेचन:

लोकतन्त्र माने स्त्रियों के हिस्से का लोकतन्त्र। अपनी जमीन तलाशता, अपने इर्द-गिर्द के अड़चनों को रौंदता, लोकतन्त्र के खोखलेपन और शक्ति-विमर्श के संघर्ष की हौसला –अफजाई करता विमर्श बड़ी शिद्दत के साथ संघर्ष के आबोहवा को तरोताजा करता दिखाई पड़ता है। बिना किसी पृष्ठ-भूमि के सम्बन्धों के बीहड़ता को नाटकीय रोचकता के साथ प्रस्तुत करना मैत्रेयी पुष्पा की पहचान रही है। शीलो राजनीति की परिभाषा नहीं जानती, लेकिन अडिग धैर्य और साहस से स्त्री-विमर्श के लिए नए आयाम पैदा करती है।

"झूलानट की शीलो हिन्दी उपन्यास के कुछ न भूले जा सकने वाले चरित्रों में एक है। बेहद आत्मीय, पारिवारिक सहजता के साथ मैत्रेयी ने इस जटिल कहानी की नायिका शीलो और उसकी 'स्त्री-शक्ति' को फोकस किया है.....

पता नहीं 'झूलानट' शीलो की कहानी है या बालकिशन की ! हाँ, अंत तक, प्रकृति और पुरुष की यह 'लीला' एक अप्रत्याशित उदात अर्थ में जरूर उद्भासित होने लगती है।

निश्चय हीं 'झूलानट' हिन्दी का एक विशिष्ट लघु उपन्यास है... । [1]

वास्तव में बालकिशन की दुर्गति का अफसोस न जताकर पाठक 'शीलो' के संघर्षपूर्ण जीत की खुशी में झूम उठते हैं। तो क्या यह हार शक्ति-विमर्श की है? स्त्री-विमर्श के हाथों पराजित होता शक्ति-विमर्श ! अपने इर्द-गिर्द के तमाशबीनों को परास्त करती शीलो। न हार की फिकर, न बेशील होने का गीला-शिकवा । 'शीलो' अपने शील की मर्यादा से कहीं ज्यादा ऊपर उठ चुकी है। संघर्ष के पथरीले राह को सुगम बनाती शीलो ,राजनीति के मद्देनजर लोकतन्त्र के खोखलेपन और शक्ति-विमर्श की चुनौतियों को भली -भांति स्वीकारती है। सास-बहू के बीच पिसता बालकिशन, लोकतन्त्र के माफिक खोखला और शक्ति-विहीन है।

" बूढ़े झुर्री-भरे हाथ फेंक रही हैं अम्मा,'जगाए देती हूँ खसम को । बैरी पूत नींद-सुख ले रहा है और यह बाघिन छोड़ राखी है यहाँ ..."। [2]

औरत की आँखों में ऊल्लू की पुतलियाँ होती हैं , तभी न शीलो ने खटिया तले के नीम - अँधेरे में रखा अम्मा वाला खाली कटोरा देख लिया । तेजी से पाँव चलाकर निकाल लिया बाहर। बालकिशन की मुँदी आँखों ने सुना कटोरे का शोर ,बंद पलकों मे से भाँप लिया कि चुम्मा लेती हुई रेशमी निगाह एकदम ठोस हो गई और सरिया की तरह पैनी।

"अच्छा , तो माता जी मेहर कर गईं।" [3]

अब तक प्यार की पुचकियाँ लेती शीलो ने 'खाली कटोरा' देखते हीं अपना नजरिया बदल दिया। बालकिशन समझ गया अब उसकी खैर नहीं। व्यंगवाण वह झेल भी पाएगा या नहीं।

"ह...ह...ह...शीलो नागिन की तरह जहरीली हँसी छोड़ने लगी।

'बूढ़ियों के घर हुये, तो मरघट किसकी बाट हेरेगा ?'

भक्ति,शक्ति ,प्यार-प्रीति ! झांझ-मजीरे और देवी के छंद उलट-पलट होने लगे, ज्यों तूफान आ गया हो। दूर से आती लय-ताल चटक रही है।" [4]

बालकिशन को जहाँ माँ की तौहीन बर्दाश्त नहीं वहीं उसकी सहानुभूति समान रूप से 'शीलो' के लिए भी उतना हीं मायने रखती है। माँ उसे 'शीलो' का गुलाम समझती है तो शीलो उसे अपना दुख-दर्द का सच्चा साथी। पढ़ाई के क्रम ढोर-डंगर की तरह पिटाई-कुटाई के बाद भी उसपर सरस्वती की मेहरबानी नहीं हो पायी। वह पुरुष है तो क्या हंता होना भी आवश्यक है। वह किसी स्त्री को दागदार कैसे साबित करे। पर समाज की विडम्बना यह कि इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि पत्नी को पति के द्वारा हीं चाल-चलन की सच्ची सनद मिलती है। भाभी के रहते भैया ने दूसरी व्याह रचा ली। पुरानी बातों को याद कर बालकिशन का मन कुंढता है। पर माँ के लिए श्रद्धा में कोइ कमी नहीं आयी।

"अम्मा, मैं लात-घूँसे और संटियों की मार खाकर भी बहादुर की तरह नहीं खड़ा रहता था ? अंत में तुम ही न झेल पातीं, जैसे चोट तुम्हारे कंधे लहू-लुहान कर रही हो। तुम रोने लगतीं, मेरे कारण रोने लगतीं...तुम पर बहुत प्यार आता मुझे, और साथ में मैं भी रोने लगता।

तुम चुप करातीं 'रोना नहीं बालू। तेरे पिता के ठौर है तेरा भइया। " [5]

बड़ा भाई ! पिता तुल्य ! फिर न्याय और अन्याय में फर्क क्यों नहीं समझते बड़े भाई ? बालू को अपनी नहीं बल्कि अपने भाभी की ज्यादा चिंता है। उसे भइया के मार का दुख नहीं, बल्कि अपने माँ और भाभी के दुखी होने का ज्यादा गम है।

बालकिशन का बड़ा भाई हाकिम है, इस बात से उसे कोई ज्यादा उज्र नहीं। माँ, ममता वश ऐसा सोच सकती है पर वह नहीं। बड़े भाई के लिए अदब से ज्यादा खौफ समाया रहता है बालकिशन के दिलों में। उनके लाड़-प्यार से दिये लते से वह अपने माँ को भरमाने की कोशिश करता है। रिश्ते के खोखलेपन के राजनीति का मोहरा बनता जा रहा है बालकिशन।

वे संभावना के परे की चीजों को भांप लेती हैं। उपन्यास जगत के लिए ऐसी संभावनाओं की पृष्ठभूमि तैयार करना तथा उसके लिए वास्तविक धरातल ढूँढना कोई खेल नहीं। इसके लिए तो कल्पना और यथार्थ के सागर में गोते लगाकर मोती निकालने से भी वृहत कार्य है। इस संभावनाओं की अनिवार्यता को 'मिलान कुंदरा' ने कुछ इस प्रकार रखा है।

"उपन्यास यथार्थ को नहीं अस्तित्व को परखता है और अस्तित्व वह नहीं जो घटित हो चुका। अस्तित्व तो मानवीय संभावनाओं का एक ब्रह्मांड है। वह सब कुछ जो मनुष्य बन सकता है, वह सब कुछ जिसका सामर्थ्य उसमें है। एक उपन्यासकर इस या उस मानवीय संभावना का आविष्कार कर अस्तित्व का खाका खींच सकता है। लेकिन फिर भी अस्तित्व का अर्थ है-संसार में बने रहना। इस तरह चरित्र और उसकी दुनिया को संभावनाओं के रूप में समझा जाना चाहिए।" [6]

यहाँ संदर्भ का परिप्रेक्ष्य 'शीलो' तथा 'बालकिशन' की चारित्रिक संभाव्यता को लेकर है। मानवीय मूल्यों तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की कसौटी पर 'झूलानट' को रख कर देखना, उपन्यास की समकालीनता में बदलाव का द्योतक है।

औरत के वजूद को हमेशा से शक्ति विमर्श के द्योतक जेवर-जेवरात तथा छद्म सहूलियतों के घेरे में बांध कर रखा जाता है। उससे बाहर निकलकर सोचना सबके वश की बात नहीं। 'शीलो' के संबंध में भी विवाह के वक्त से हीं उसके अंदर के औरत को 'जेवरों' के लक़दक़ में दबा दिया गया। ऐसा सिर्फ 'शीलो' के साथ हीं नहीं बल्कि तमाम स्त्री-समुदाय के साथ होता रहता है। बालकिशन भाभी की गोद में बैठकर रश्म निभाया, गुड़िया ले ली पर मन से भैया का डर न गया। वह भाभी के पास चाहकर भी बैठने में झिझकता।

मैत्रेयी जी उपन्यास में अशिक्षा , बेरोजगारी जैसी समस्याओं के कुप्रभाव को भी साथ-साथ रचती हैं। बालकिशन अशिक्षा का शिकार रहा। नतीजतन इस कारण हीं उसे 'शक्ति-विमर्श' के प्रतिक अपने भैया व माँ ,भाभी सबके इशारों का गुलाम बनना पड़ रहा है। ऐसे में भला भगवान के सिवा किसी और का क्या भरोसा।

बालकिशन कम पढ़ा लिखा है। किन्तु ऊसकी आत्मा ऊसे कचोटती है। भैया का सम्मान तथा अपने प्रति दो भाव की व्यवस्था से आहत है। घर में उसकी कोई पूछ नहीं, लोकतन्त्र के स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित बालकिशन अपनों के आगे ही परास्त हो रहा है। यह लोकतन्त्र की हार है । परन्तु यह तो शुरुआत है । अन्य पहलुओं का आकलन ही निश्चित करेगा कि लोकतन्त्र का खोखलापन किस हद तक शक्ति-विमर्श से तालमेल बिठाता है । इसके मजबूत कड़ी के रूप में शुरू में कमजोर दिखती'शीलो' अंततक जननायिका बन जाती है । जबकि अपने कर्मों का फल भोगता बालकिशन गुमनामी का शिकार। सुमेर के घर आने पर उसके घर आदमी जुड़ जाते हैं । दारोगा की डींगे और उसकी माँ का सीना फख्र से ऊंचा ।

तमाम चर्चाओं में शूरता –वीरता बघारता पुरुष-समुदाय कमजोर पहलुओं को हीं अपने बचाव का हथियार बनाता है। औरतों को पकड़ कर ज़ोर आजमाइश सिर्फ उदाहरण मात्र है या समुदाय विशेष को कमजोर दिखाने की साजिश !

शक्ति का प्रतिक सुमेर अपने पद और प्रतिष्ठा के गुमान में मदान्ध हो गया है। अपने शोहरत के वशीभूत सुमेर अपनी व्याहता के साथ अन्याय करता है।

"आपे से बाहर मत होओ। ठंडे दिमाग से सोचो, तुम्हारी छः उँगलियों वाली कल्लो बहू मेरे दोस्त को रोटी परोसने ही आ जाती, तो वह कल के दिन मुझे बोलने न देता। काले गोरे दो रंग... पर तुम्हारी बहू तो नीली है, बैंगनी ।" [7]

माँ को अपने वाकपटुता से समझाने का भरपूर कोशिश सुमेर कर रहा है। रंग -रूप के आधार पर अपनी व्याहता के प्रति ऐसा अन्याय ! घोर निंदनीय कार्य।

एक औरत के सबसे निजी पलों को अनछूआ छोड़कर सुमेर शीलो को तील -तील कर मारता है। रात भर शीलो बिस्तर पर अकेले तड़पती है। 'शीलो' पति त्यक्ता होकर भी घर छोड़ना नहीं चाहती। माँ दुखी है शीलो को लेकर। शीलो को सब्र की सलाह देती है इस उम्मीद से की कल गए सुमेर उसे अपना ले।

पुरुष और स्त्री के सोच और व्यवहार में इतना अंतर क्यों ? सुमेर ने बिना शीलो को बताए दूसरी शादी कर ली पर शीलो अभी तक उसे लेकर पौजेसीव है। अपने पति के सिवा किसी गैर मर्द के बारे में सोचना भी उसे पाप लगता है।

भारतीय परंपरा का बोझ भला स्त्री हीं क्यों ढोये ? जाने अनजाने बालकिशन के गलतियों को सुधारती 'शीलो' सहनशीलता के शीर्ष तक काबिज है। भारतीय सोच और मध्यवर्ग की मानसिकता उसे अपनी ही कमियों को गिनाता है। अपने आप को आगत परिवेश में ढालने की भरपूर कोशिश करती है शीलो।

"शीलो भाभी लगन। सारे व्रतों को पार करती हुई सती-कथाओं में प्रवेश कर गई। कथाएँ बालकिशन सुनाता- अनुसूइया, लोपामुद्रा, मदालसा, सावित्री, दमयंती...अम्मा विमली जिज्जी से 'नारी अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर' जो माँग लाई थी। विमली जिज्जी सती-कथाएँ अर्था-अर्थाकर सुनाती हैं। सुनाते समय उनके साँवले चेहरे पर सती का तेज छा जाता है।" [8]

स्त्रियों के अदम्य साहस और सतीत्व की तमाम कथाएँ शीलो सुन चुकी है। पर बाद में उसका मन उलझनों में घिर जाता है।

इन सबके बीच 'माँ' की सबसे ज्यादा चिंता अपने वंश बेल को लेकर है। सच्चाई जानते हुए भी माँ ने उम्मीद नहीं छोड़ा । ऊपर इन सबके पीछे दोषवार शीलो को हीं समझतीं। कहतीं –'तू हीं न दलिद्दर होती तो यह घर ऐसे न उजड़ता। भाभी को भैया को वश में करने के लिए अनेक नुस्खे बताया करतीं।

संवेदना स्त्रियोचित गुणों में सर्वाधिक होता है। परंतु ऐसा हमेशा हो कोई जरूरी नहीं। एक स्त्री से दूसरे का सुख देखा नहीं जाता, या तो अपनों को लेकर ज्यादा संजीदा हो जाती हैं। कहना बड़ा मुश्किल है। 'शीलो' के साथ दिखतीं अम्मा, शीलो के हीं खिलाफ नजर आ रही हैं क्योंकि यहाँ बड़े बेटे का सवाल है। पर छोटा बेटा क्या चाहता है, इसकी उनको कोई फिकर नहीं। उनके नजरों में अबोध बालकिशन 'शीलो' के चंगुल में है।

अपनापन और बराबर के प्यार में पिसते बालकिशन की कभी-कभी हास्यास्पद स्थिति हो जाती है। पेटदर्द का इशारा पाते हीं माँ और भाभी दोनों के द्वारा समान रूप से बालकिशन के ऊपर नुस्खे आजमाए जाने लगे। पपीता, जीरे का पानी, टुंडी के ऊपर हिंग का लेप। दोनों बटाईदारों के बीच में बालकिशन के पेट का वारा-न्यारा हो जाता है। जुलाबें लगने लगीं। बड़ी मुश्किल से बालकिशन की जान बची।

प्यार निराला होता है। माँ की ममता और भाभी के जिस्मानी प्यार के बीच में बालकिशन की नैया डांवाडोल है। 'शीलो' बालकिशन को खूब दूध-मलाई खिलाती। अब तक भाभी में सीता मैया ढूँढता बालकिशन 'शीलो' के साथ प्यार के पेंगे लेने लगा जो की माँ को खटकने लगा। शीलो ने भी अब तक संभाल कर रखे अपने सम्पूर्ण यौवन को उसके आगे न्यौछावर कर दिया। पर उसने बालकिशन का बछिया मंजूर नहीं किया और उसका साथ भी नहीं छोड़ा।

वास्तव में ऐसा प्रयोग मैत्रेयी ने समाज में हो रहे बदलाव को दिखलाने के लिए किया है। अगर ईतनी सरल शीलो सरलता के साथ-साथ नया रुख अपनाती है तो इसका सीध-सीधा कारण जागृति और बदलाव है। आधुनिक समाज बदलाव की माँग कर रहा है। मनः स्थिति बदलकर परिस्थिति बदलने का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ रहा है।

सामान्य तौर पर यह हो सकता था कि वह (शीलो) बालकिशन का बछिया स्वीकार कर समाज के ठेकेदारों के आगे आदर्श नमूना बनकर सामाजिक दबाव के आगे घुटने टेक देती। पर यहाँ संभावनाओं के परे 'शीलो' ने असहजता में सहजता का परिचय देते हुए अपने दैनिक सुख भोगने में सफल रही। साथ हीं स्त्री-विमर्श के मजबूत पहलू के रूप में पुरुष दमन के चंगुल से भाग खड़ी न होकर दमनकारी पुरुष का प्रतीक बालकिशन को दर-दर भटकने को मजबूर कर दिया। यहाँ स्त्री विमर्श के हाथों शक्ति विमर्श की पराजय दिखाइ पड़ती है।

बालकिशन के क्रिया कलापों से उसके मानसिक असंतुलन का आभास होता है। वह अपनी शीलो को हर जर्रे-जर्रे में तलाशता है। यहाँ तक की जाने –अनजाने अपनी माँ से भी अभद्रता करते –करते बचता है। उसकी स्थिति दयनीय है। कुंठा का शिकार बालकिशन का चरित्र असहाय और निर्बल जैसा हो गया है। वहीं तमाम संघर्षों को धत्ता बताती 'शीलो' प्रधान नायिका के रूप में उपन्यास में स्थापित हो जाती है।

शीलो की सहानुभूति बालकिशन के साथ है, पर वह सुमेर को बेखौफ शेर के भांति घुमने नहीं दे सकती। सुमेर को डर के साये में जीना सीखा दिया है शीलो ने। उन्हे डर है कि शीलो उनकी नौकरी न ले बैठे क्योंकि अभी तक शीलो ने बालकिशन का बछिया स्वीकार नहीं किया है।

लोकतन्त्र के खोखलापन को दर्शाता बालकिशन का चरित्र पुरुष के दोहरे मानसिकता को दिखलाता है। पदच्युत तथा अपने खोदे खाई में गिरकर रव -रव का नर्क भोगता बालकिशन शक्ति-विमर्श पर स्त्री-विमर्श की विजय-पताका स्वरूप स्थापित शीलो दमन के खिलाफ की लड़ी लड़ाई में पूर्णतः सफल है। 'अर्चना वर्मा' ने झूलानट को घरेलू मुहावरे में शक्ति-विमर्श का

प्रतिक माना है। मैत्रेयी के किस्सागोई पद्धति को जहां उन्होने सराहा है वहीं इसके दूरगामी परिणामों / प्रभावों को लेकर चिंतित हैं।

किस्सागोई हिन्दी साहित्य के लिए कोई नई, कोई बड़ी बात नहीं । ऐसे प्रयोग कई उपन्यासकारों ने पहले भी किया है। पर मैत्रेयी के इस अनुप्रयोग की बात हीं कुछ और है।

"मैत्रेयी की किस्सागोई अबतक सुपरिचित और विख्यात हो चुकी है। किस्सगोई मूलतः वाचिक सम्प्रेषण की कला है, जिसके सर्वश्रेष्ट को लिखित कथा-साहित्य में अंतर्भुक्त करने का काम वे बखूबी कर रही हैं, लेकिन इसके अपने कुछ संभावी खतरे हैं। सुनाने की कला में निष्णात लेखक स्वयं अपनी भाषा पर मुग्ध हो उठने के खतरे से हमेशा ग्रस्त रहता है। ऐसी स्थितियों में कई बार भाषा देहविहीन खाली लबादे की तरह खूँटी पर झूलती रह जाती है। अपने हिसाब से रोचक प्रसंगों को वह अनुपातविहीन ढंग से खींचता चला जा सकता है। झूलानट में ऐसा बार-बार हुआ है। वही और वैसी हीं स्थितियाँ बिना किसी अर्थान्तर के दुहराई गई हैं।" [9]

आलोचकों की आलोचनाएँ रचना की गूढ़ता को बढ़ाने में मददगार साबित होती हैं। आद्यंत यह उपन्यास रोचकता से परिपूर्ण है। इसे पढ़ने में कहीं बोरियत का अहसास नहीं होता। पारिवारिक कथा-कहानी से बढ़कर अन्य कई विशेषताओं का कयास पाठक पढ़कर स्वतः हीं लगा लेते हैं।

सत्यदेव त्रिपाठी 'झूलानट' को अनुभवों की सजातीयता की कसौटी पर कसते हैं। श्री त्रिपाठी के अनुसार कथा एक स्थान और तान में चलती है। 'शीलो' के अनुभव जनित व्यवहार को 'बोल्ड' की संज्ञा देते हैं। देहगन्ध के बल पर शीलो बालकिशन की मालकिन बन बैठी है। इस उपक्रम में नारी की भूमिका हीं दोहरे मापदंड की है।

निष्कर्ष :

राजाराम मोहन राय, स्वामी विवेकानंद, दयानन्द सरस्वती ने जिस बौद्धिक समाज की स्थापना की, उन तक अपने विचारों को, अनुभवों को पहुँचाकर उसकी साझेदारी के द्वारा विराट राजनीतिक पक्ष का निर्माण किया जा सकता है। यह कोई सपना या काल्पनिक लेखा-जोखा नहीं, अपितु अनुभवजनित आधारभूत मौलिक संकल्पना है। सफलता का मूलमंत्र है अनुभवों को संजोना तथा उसे आधार बनाकर अथवा प्रयोग में लाकर विराट राजनीतिक पक्ष के लिए उर्वर जमीन तैयार करना। उपयुक्त वातावरण को पाकर राजनैतिक समझ का पौधा पूरे हौसला के साथ अंकुरित होकर फलदायिनी बन जाता है। संघर्ष है, परिस्थितियाँ हैं, पर परिणाम आशाजनक और संतोषप्रद है।

मैत्रेयी अपने अनुभव के सितारों को 'अल्मा कबूतरी' तथा 'झूलानट' में पात्रों के माध्यम से साझेदारी कर लोकतन्त्र के व्यापक पहलू के रूप में राजनैतिक विराटता के सबल व सक्षम पक्ष के निर्माण को, संभावनाओं की ऊर्जा के साथ पूर्णता प्रदान किया है।

संदर्भ:

1. झूलानट/ (आमूख: राजेन्द्र यादव);मैत्रेयी पुष्पा :[आईएसबीएन-978-81-267-0291-6-राजकमल प्रकाशन]
2. झूलानट : मैत्रेयी पुष्पा ; पहला संस्करण -2001, तीसरी आवृति -:2013, पृ॰सं॰ -8, राजकमल प्रकाशन ,1-बी नेताजी सुभाष मार्ग ,दरियागंज ,नई दिल्ली - 110002 ,भारत।
3. झूलानट : मैत्रेयी पुष्पा ; पहला संस्करण -2001, तीसरी आवृति -:2013, पृ॰सं॰ -14, राजकमल प्रकाशन ,1-बी नेताजी सुभाष मार्ग ,दरियागंज ,नई दिल्ली - 110002 ,भारत।
4. झूलानट : मैत्रेयी पुष्पा ; पहला संस्करण -2001, तीसरी आवृति -:2013, पृ॰सं॰ -15, राजकमल प्रकाशन ,1-बी नेताजी सुभाष मार्ग ,दरियागंज ,नई दिल्ली - 110002 ,भारत।
5. झूलानट : मैत्रेयी पुष्पा ; पहला संस्करण -2001, तीसरी आवृति -:2013, पृ॰सं॰ -17, राजकमल प्रकाशन ,1-बी नेताजी सुभाष मार्ग ,दरियागंज ,नई दिल्ली - 110002 ,भारत।
6. उपन्यास की समकालीनता/ 206;ज्योतिष जोशी :[आईएसबीएन-978-81-263-893-3; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ,(मूल: द आर्ट ऑफ द नॉवेल, पृष्ठ-42)]
7. मैत्रेयी पुष्पा :झूलानट; पहलासंस्करण -2001,तीसरीआवृति-:2013, पृ॰सं॰ -37 राजकमलप्रकाशन 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग ,दरियागंज ,नई दिल्ली -02,भारत
8. मैत्रेयी पुष्पा :झूलानट; पहलासंस्करण -2001,तीसरी आवृति - राजकमलप्रकाशन 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग ,दरियागंज ,नई दिल्ली -02,भारत :2013, पृ॰सं॰ -44
9. मैत्रेयी पुष्पा :स्त्री होने की कथा :सं॰-विजय बहादुर सिंह ;पहलासंस्करण -2011,किताबघर प्रकाशन,अंसारीरोड ,दरियागंज ,नई दिल्ली -02,भारत: पृ॰सं॰225

*****

ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहित डॉ. रावुरि भरद्वाज की कहानियों में चित्रित जनमानस की समस्याएँ "जो धनवान है - वही प्रधान है |"

-सय्यद मक़सूद

हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय

लेखक रावुरी भरद्वाज का संक्षिप्त परिचय--

रावुरि भरद्वाज के दादा पुल्लय्या सिद्ध साधक थे | दूसरे पुत्र कोटाय्या समाज सुधारक थे | उनकी पत्नी का नाम मल्लिकाम्ब था | उनके प्रथम पुत्र के रूप में भरद्वाज ने 5 जुलाई 1927 में वर्तमान कृष्ण जिले के मोगल्तूरु नामक गाँव में जन्म लिया | कोटाय्या उस समय के प्रसिद्द समाज सुधारक और हेतुवादी त्रिपुरानेनी रामस्वमी चौधरी से तथा राष्ट्रीय आंदोलन के नेता उन्नाव लक्ष्मी नारायण पंतूलू से अधिक प्रभावित हुए , इन दोनों प्रकार के आंदोलनों में भाग लेने के कारण कोटाय्या जी को घर कि ओर ध्यान देने की फुरसत नहीं थी , धीरे – धीरे उनकी सारी जायदाद बिक गई | 1941 -1942 तक जब भरद्वाज 15 - 16 वर्ष के थे , दरिद्रता उनके घर में पैर जमा दी , ऐसी हालत बन गई कि कोई न कोई काम किए बिना घर का गुज़ारा मुश्किल हो गया | उस समय तक रावुरि भरद्वाज ने सातवीं कक्षा पास कर , आठवीं कक्षा में प्रवेश लिया था , उन्हें अध्यापक के पीटने से स्कूल छोड़ना पड़ा | उस समय हिन्दी के अध्यापक की प्रेरणा से उन्होनें राजनैतिक आंदोलन में भाग लिया | उसके बाद खेती – बाढी का काम , मज़दूरी करते हुए , बढ़ई के पास आरा मशीन चलाने का काम करते हुए लोहार के पास धोकनी चलाने का काम , किसी मिल में मजदूर का काम करते हुए जीवन यापन किया | दिन में काम करते हुए रात के समय राजनैतिक आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेते थे |

एक छोटे से गाँव में साधारण मध्यवर्गीय परिवार में जन्म लेने वाले कलाप्रपूर्ण रावुरि भरद्वाज के कहानी , उपन्यास , नाटक , बाल साहित्य , संस्मरण साहित्य जीवन विज्ञान लेखनी जैसी कई प्रक्रियाओं में नवीन प्रयोग करके तेलुगु साहित्य को समृद्ध किया, यह तेलुगु साहित्य जगत् के लिए गर्व की बात है कि रावुरि भरद्वाज को सबसे प्रतिष्ठित ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया है |

1943 – 1959 तक का समय भरद्वाज के जीवन में घोर आर्थिक संकट का समय रहा | जीविकोपर्जन के लिए उन्होंने मिल्ट्री में पापरे बॉय का काम किया , वहाँ से लौट आने के बाद जमीन रैतू , दीनबंधु , ज्योति , समीक्षा , चित्र – सीमा , अभिसारिका , आदि कई पत्र – पत्रिका में छोटी – मोटी नौकरियाँ कर लेने के उपरांत 1959 में पहली बार वे हैदराबाद आए और युवा नामक पत्रिका में संपादकीय कार्य किया |

रावुरि भरद्वाज अपनी कहानियों के जरिए वे आम आदमी के बहुत करीब रहे | वे सच्चे अर्थों में एक स्थितिप्रज्ञ संत थे | मजदूर के जीवन से गुजरते हुए उन्होंने स्वाध्याय और स्वानुभाव की एक ऐसी राह चुनी जो उन्हें कबीर , रविदास और दादू की परंपरा से भी कहीं न कहीं जोड़ती है | ग़रीबों के हिमायती रहते हुए रावुरि ने आजीवन मानवीय मूल्यों के लिए संघर्ष का प्रण निभाया | उनका कथा साहित्य सर्वहारा वर्ग के शोषण और उत्पीड़न का विस्तृत दस्तावेज है |

उपन्यास , कहानी , बाल साहित्य , स्मृति साहित्य आदि की रचना में भरद्वाज अपनी उत्कृष्ट रचना शैली और अभिव्यक्ति की उत्तमता के कारण सचमुच कलाप्रपूर्ण , 20 वीं शताब्दी के महान लेखक है | सामान्य परिस्थितियों में जन्म लेकर प्रतिकूल वातावरण में पलकर , अनेकानेक बाधाओं व कठिनाइयों का सामना कर अनन्य स्तर तक पहुंचने वाले इने गिने कलाकारों में श्री रावुरि भरद्वाज अग्रगण्य है |

समाज के निम्नवर्ग में जन्म लेकर भरद्वाज का जीवन जो यथार्थ और आदर्श – मुख चित्रण किया हैं , वह अनन्य है | इस दिशा में अनेक उपन्यास और कहानियाँ और "जीवन समर" नामक रेखा चित्र सर्वथा उल्लेखनीय हैं | तीन विश्वविध्यालय और साहित्यक , सांस्कृतिक संस्थाओं ने भरद्वाज को मानद उपाधियाँ देकर सम्मानित कर, अपने आपको गौरान्वित किया |

किसी घटना को चुनने में और उसे कहानी का रूप देने में भरद्वाज की शैली उनकी अपनी – अपनी कथा रचना विधान के बारे में उन्होंने इस प्रकार कहा " **कथा वस्तु को अपने चारों ओर के जीवन से ही चुना है, जो देखा परखा हो |"**

भरद्वाज की रचनाओं में यथार्थ और सामाजिक चेतना , स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है , भरद्वाज ने समाज को छोड़कर रचनाएँ नहीं की समाज में जो लोग निम्न वर्ग के है , शोषित , तड़ित – पीड़ित है , वे ही उनकी कहानियों के पात्र है , उन्होंने जिस ग़रीबी , बेरोजगारी , अपमानों का अनुभव किया है वे सब उनकी कहानियों की वस्तु के रूप में काम आए |

भरद्वाज ने अपने बारे में ऐसा कहा " **मैं 1940 से लिखता था , जो मैंने अनुचित समझा उसकी निंदा करने के लिए लिखा , मैंने उस सिद्धांतों के प्रचार – प्रसार के लिए लिखा जिनमे मैं विश्वास करता था , मैंने वे घटनाएं दृश्य लिखे जिन्होंने मुझे दूसरों को बताने**

के लिए प्रेरित किया , मैंने सभी को वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध कराने के लिए लिखा है | मैंने वे बातें लिखी है जो केवल मैं ही लिख सकता हूँ ताकि वे मेरे भीतर नष्ट न हो जाएं |"

भरद्वाज की कहानियों में , मजदूरों को देख सकते है निम्न वर्ग में भिन्न – भिन्न पेशे वाले , सच्चरित्रवन , सज्जन , शराबी , व्यभिचारी , मजदूर भिखारी और उनके जीवन में छिपे दुःख आदि भरद्वाज की रचना के प्रेरणा स्रोत बन गए | जिन्होंने जिन विषयों के बारे में सुना या देखा , उनके बारे में लिखा , एक वाक्य पर विशेष रेखते हुए लिखा इस सामाजिक पद्धति के प्रति आक्रोश के कारण लिखा , सामाजिक स्थिति को यथार्थ रूप से चित्रित किया अपनी रचनाओं में पात्रों के सजिव चित्रण में वे सफल हुए |

भरद्वाज कि सामाजिक विलक्षणता है कि अपने जीवन में अनुभूत प्रत्येक घटना और दृश्य को वे मन में रिकार्ड कर लेते है , उसकी गहरायों को आत्मसात कर लेते है, उसमे से अपने लिए उपयोगी अंशों को अपनी रचनाओं में समाहित कर देते है , अपने जीवन के किसी भी अनुभव को व्यर्थ नहीं जाने देते , उन्हें देखा , सुना उनसे प्राप्त किया गए अनुभव और अनुभूतियों को लिपिबद्ध करते है |

रावुरी भरद्वाज की कहनियाँ

जीवन समर यह काठिन परिस्थितियों में जीवन बीताने वाले ग़रीब और पीड़ित लोगों की सच्ची कहानियों का संग्रह ग़रीबी , जरूरतमंदों जो समाज के आधे से अधिक है, उन लोगों का जीवन बहुत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है , ऐसा लगता है कि यह संघर्ष किसी व्यक्ति , वर्ग़ , पेशे का नहीं जीवन का यह संघर्ष सभी देशों और लोगों पर सार्वभौमिक रूप से लागू होता है | यह कई पेशे के लोग भूख से मर रहे , अपने जीवन में ग़रीबी से पीड़ित लोगों के समवेदनाओं के प्रति भरद्वाज की लगन है | जैसे अंजम्मा टिफ़िन बेचनेवाली , जहांगीर ताला मरम्मत करने वाला , पवित्रम्मा बाज़ार में मिर्ची – पकौड़े बेचने वाली , रिक्शा चलनेवाला पुल्लया , लोहार की भट्टी , कुम्हार का पय्या , मच्छवारे की लगाम , मकड़ी का जाला , कुल्हाड़ी और दराँती बनानेवाला एक शब्द में कहें तो यह जीवन संघर्ष सहस्त्रवृत्तियों के सभी प्रतीकों का सार्वभौमिक रूप हैं |

"जीवन समर " भरद्वाज की प्रमुख कृति है , जीवन समर में भरद्वाज के जीवन को ही नहीं , तेलुगु साहित्य को नया मोड दिया , आनेक पेशों के लोग जो भूख की पीड़ा का अनुभव कर रहे है , उन अभागों के आंसुओं और दुर्बलताओं को भरद्वाज ने प्रस्तुत किया|

भरद्वाज ने अपनी रचनाओं में साधारण व्यक्ति का अर्थपूर्ण चित्रण किया है | तुम क्या कर रही हो ? नामक कहानी में रमणी के पात्र द्वारा यह स्पष्ट किया है कि एक व्यक्ति के नैतिक जीवन का निर्णय करने के लिए उस व्यक्ति की आर्थिक परिस्थितियाँ , मानसिक दबाव और पालन – पोषण इस सबके कारण प्राप्त संस्कारों को ध्यान में रखना चाहिए |

भरद्वाज का विश्वास है कि " **देख सकने की दृष्टि , लिख सकने की कुशलता है तो सारे संसार में कहानियाँ ही कहानियाँ है , सच तो यह है कि यह संसार ही बहुत बड़ी कहानी है |"**

पालापुंता कहानी के द्वारा लेखक भरद्वाज फिल्मी दुनिया में होने वाली समस्यायें , मांगायम्मा प्रसिद्द अभिनेत्री के होने के बाद पति पत्नी के बीच झगड़ा होना, और पति का घर से चले जाना फिर मांगायम्मा का पूरी जायजाद बेचकर मद्रास से बेजवाड़ा आ जाना उनके जीवन में होने वाले समस्याओं का चित्रण किया है, आर्थिक स्थिति का व्यक्ति के संबंधों पर पड़ने वाले प्रभाव को अपनी कहानियों में चित्रित किया है | वाड़े – विड़ू इस कहानी में नायक के बारे में जो बातें कहीं गई है, उनमे से अधिकांश लेखक भरद्वाज के जीवन की याद दिलाती है, धूप में जलना , बारिश में भीगना मैं जनता हूँ मैं अपने हाथों से ठंड को सेकना जनता हूँ, भरद्वाज के स्वयं अपने जीवन में बीती हुए समस्याओं को इस कहानी के मध्यम से आम जनता की समस्याओं , संवेदनाओं, पीड़ाओं , कठिनाइयों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है | रावुरि भरद्वाज की कहानियों की संवेदना हमारे आम जनमानस की संवेदना है |

यह 1965 में लिखी गई कहानी है, "मैं भगवान के दर्शन करना कहता हूँ " जिसमे लेखक तारीखों के साथ कहानी को चलाया था | इसमे कई मामलों में लेखक, नायक के रूप में सामने आता है ,जब एक दिन भगवान के दर्शन करने की इच्छा हुए तो , जब उसने रिक्शा चलाने वाले की मदद की तब रिक्शावाले की आँखें प्रकाश की किरणों की तरह हो गई भगवान स्वयं अपने प्रतीकों से कहाँ क्या आप चाहते है और आपको अहसास हो गया होगा मुझे क्या चाहिए तात्पर्य यहाँ है कि जरूरतमंद लोगों की सहायता करना, उनकी आँखों में खुशी देखना, भगवान के दर्शन के समान माना जाता है | रावुरि भरद्वाज इस कहानी के माध्यम से ग़रीब और जरूरतमंद लोगों की सहायता जैसे मानवीय मूल्यों को विकसित कराया है | कथा प्रक्रिया के माध्यम से अपने जीवन के अनुभवों को जोड़ते हुए सामाजिक व्यवस्था को चित्रित किया है , इस कहानी को तेलुगु साहित्य की सर्वश्रेष्ट कहानियों में शामिल किया जाता है| रावुरि भरद्वाज उस आदमी के कथाकार है , जो अपनी रोटी की जद्दोजहद में बुरी तरह फँसा हुआ है , जिसकी सोच रोटी से बहुत आगे नहीं जा पाती, उन्हें जन सामान्य की कथा लिखने वाले कथाकार के रूप में जाना जाता है |

माँ की ममता कहानी शकुंतला नामक पात्र को केंद्र में रखकर लिखी गई कहानी है | इस कहानी में एक अनाथ आश्रम में रहनेवाली शकुंतला की मनो :स्थिति एवं पारिवारिक समस्याओं को प्रकट किया है | **शकुंतला हमेशा वह सोचकर दुःखी होती रही कि मैं एक अनाथ हूँ , माता – पिता के प्यार से वंचित अभागिनि हूँ** | माता – पिता और उनकी ममता से वंचित बच्चों की समस्याओं को बहुत ही मार्मिक ढंग से दर्शाया गया है | डॉक्टर की दुनिया कहानी में दक्षिण से आकर मद्रास में बसे एक ग़रीब परिवार की कहानी है, जिसमें मज़दूरों की समस्याओं को उजागर किया है, मजदूर को दिन - रात की कड़ी मेहनत के बाद भी दो वक़्त की रोटी नसीब नहीं होती, कई बार तो ऐसा होता था कि बच्चों को खिलाकर माँ-बाप भूखे ही रह जाते थे | मनुष्य को जीने के लिए जी – जान से जूझना पड़ता है | इस कहानी के पात्र रामकृष्ण के द्वारा लेखक कहते है कि " **पैसे की सृष्टि मानव ने ही की , मगर आज उसने मानव को ही अपना गुलाम बना लिया , जो धनवान है – वही प्रधान है** |" ग़रीब के तरफ कोई भी ध्यान नहीं देता उसका अस्तित्व उसके लिए नगण्य है | आधुनिक सामाजिक व्यवस्था मानव को कितना खोकला बना देती है इस कहानी के मध्यमस से लेखक रावुरि भरद्वाज ने

प्रस्तुत किया है | नर (क) लोक कहानी में मानवीय मूल्यों पर प्रश्न उठाया है | जनता अनाज के अभाव में भूखे मर रही है तो दूसरी ओर गोदामों में अनाज सड़ रहा है ,चोर बाज़ारी पर किसी की रोक नहीं व्यापारी खुले हाथों लूटमार कर रहे थे , न कोई पूछने वाला और पूछने पर जवाब देने वाला | इस प्रकार लेखक ने जनमानस की समस्याओं को प्रकट किया है, कथा कथन की शैली , चुने गए दृश्यों के बारे में व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करने पर प्रत्यक वाक्य में मानवात्मा की मुक वेदना परिलक्षित होती है| तरह – तरह के प्रलोभ , इच्छाओं के कारण मानव जाति कितनी नीच स्तिथि तक पहुँच गई है , इस कहानी का प्रत्येक दृश्य यह साफ – साफ बता देता है |

'दिल कि बात ' काहनी में कपाड़िया पात्र के द्वारा लेखक इस प्रकार कहते है कि **" आज कल बिना पैसा, जमीन ,जायजाद के इंसान का कोई मूल्य नहीं है साहब |"**

'दिल की बात' कहानी के पात्र रामदास कहते है , **"यहाँ पैसे का युग है जिसके पास पैसा है वह राजा माना जाता है, वहीं देवता भी , मैं नहीं समझता की पैसों के बिना कोई इस युग में अपना अस्तित्व बनाए रखता है |"**

नीली छाया – इस कहानी में वह भूख की घाटक शक्ति को याद दिलाती है, एक स्त्री ने अपनी बेटी के स्वास्थ्य के लिए सब कुछ सहा , उसे अपने बच्चे के स्वास्थ के अलावा कुछ भी पता नहीं था कि क्या अच्छा या क्या बुरा | इस कहानी के अंतर्गत लाचार , बेबसी , स्त्री के जीवन में आनेवाली विडंबनाओं , समसायों , संवेदाओं को बहुत ही मार्मिक ढंग से दर्शाया है | बेचारे सत्य की कथा कहानी में बेराजगरी की समायाओं को प्रकट किया है , पढ़ाई और नौकरी में संबंध जहाँ, बी . ए और एम . ए पढ़ने – लिखने के बाद भी कई लोग बेरोजगारी की समस्याओं का सामना कर रहे हैं, नौकरी मिलना मुश्किल हो गया है, इस कहानी के अंतर्गत बेरोजगारी की समस्या को चित्रित किया गया है | |

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि रावुरि भरद्वाज ने जिन लोगों को देखा है ,परखा है , उन्हे ही अपने कथा साहित्य में समस्त आम जनता को उनकी मानसिकता के अनुसार ही चित्रित किया है | आम जनता की विडंबना , त्रासदी , विसंगति और दयनीय स्तिथि का निरूपण उनकी कहनियों में संवेदना उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होता है | रावुरि भरद्वाज की अधिकांश कहानियों के पात्र साधारण व्यक्तियों की समस्याओं , स्थितियों या सपनों में उलझे फंसे या डूबे हुए लोग हैं, उन्हें दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो उनकी सारी छोटी -छोटी ख्वाहिश हास्यास्पद चेष्टाएं बनकर रह जाती है | भरद्वाज के संबंध में श्री पन्याल रंगनाथराव ने कहा है कि - **" भरद्वाज की रचनाओं में प्रतिभा है , शिल्प है और एक विशिष्टता है , भरद्वाज की रचनाओं को पढ़ने वाले पाठक इन विशिष्टताओं से स्वयं अवगत हो जायेगा |"**

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. तेलुगु स्मृति – साहित्य में बीसवीं शताब्दी के महान लेखन रावुरि भरद्वाज , मिलिंद प्रकाशन , हैदराबाद -2003,पृष्ट सं – 26
2. तेलुगु स्मृति – साहित्य में बीसवीं शताब्दी के महान लेखन रावुरि भरद्वाज , मिलिंद प्रकाशन , हैदराबाद -2003,पृष्ट सं – 49
3. तेलुगु स्मृति – साहित्य में बीसवीं शताब्दी के महान लेखन रावुरि भरद्वाज , मिलिंद प्रकाशन , हैदराबाद -2003,पृष्ट सं – 57
4. भारतीय कहानीकार रावुरि भरद्वाज – उन आँखों की कथा – सं. भीमसेन निर्मल वाणी प्रकाशन ग्रुप – 2024 पृ – 49
5. भारतीय कहानीकार रावुरि भरद्वाज – उन आँखों की कथा – सं. भीमसेन निर्मल, वाणी प्रकाशन ग्रुप – 2024 पृ – 13
6. भारतीय कहानीकार रावुरि भरद्वाज – उन आँखों की कथा – सं. भीमसेन निर्मल ,वाणी प्रकाशन ग्रुप – 2024 पृ – 14
7. भारतीय कहानीकार रावुरि भरद्वाज – उन आँखों की कथा – सं. भीमसेन निर्मल, वाणी प्रकाशन ग्रुप – 2024 पृ – 81
8. भारतीय कहानीकार रावुरि भरद्वाज – उन आँखों की कथा – सं. भीमसेन निर्मल वाणी प्रकाशन ग्रुप – 2024 पृ – 102
9. ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहीत डॉ . रावुरि भरद्वाज , साहित्य एक – परिशीलन – रावुरि लक्ष्मी कुमारी – विक्रांत प्रकाशन ,विजयवाड़ा - पृ -23
10. ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहीत डॉ . रावुरि भरद्वाज , साहित्य एक – परिशीलन – रावुरि लक्ष्मी कुमारी – विक्रांत प्रकाशन ,विजयवाड़ा - पृ -54
11. ज्ञानपीठ पुरस्कार ग्रहीत डॉ . रावुरि भरद्वाज , साहित्य एक – परिशीलन – रावुरि लक्ष्मी कुमारी – विक्रांत प्रकाशन ,विजयवाड़ा - पृ -67,68
12. जनसत्ता पत्रिका जुलाई 5 -2020
13. जीवन समरम – नवचेतना प्रकशन , हैदराबाद -2017
14. रावुरि भरद्वाज की रचनाएँ – एक परिशीलन – संप – एन . मधुकर , विशालन्धरा बुक हाउस अबीड्स हैदराबाद -2014 पृ – 66
15. रावुरि भरद्वाज की रचनाएँ – एक परिशीलन – संप – एन . मधुकर , विशालन्धरा बुक हाउस अबीड्स हैदराबाद -2014 पृ – 67

*****

इक्कीसवीं सदी के प्रमुख दलित उपन्यास : एक अध्ययन

-डॉ. संतोष कुमार अहिरवार
प्रधानमंत्री कॉलेज ऑफ एक्सीलेंस
शासकीय नर्मदा महाविद्यालय नर्मदापुरम म.प्र.

-दीपक कुमार अहिरवार
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी
पं. दीनदयाल उपाध्याय शासकीय महाविद्यालय
बेगमगंज जिला रायसेन मध्य प्रदेश

सारांश

दलित साहित्य ने हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की है। यह साहित्य उस वर्ग की आवाज़ है जिसे सदियों से सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से मुख्यधारा में विमुख किया गया। इक्कीसवीं सदी में दलित चेतना का स्वर तीव्र हुआ है। उपन्यास विधा ने दलित साहित्य का संवर्धन किया है तथा इसे व्यापक सामाजिक धरातल पर प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। प्रस्तुत शोध पत्र में इक्कीसवीं सदी के प्रमुख दलित उपन्यासों का अध्ययन किया गया है, जिनमें समाज के यथार्थ, संघर्ष, समानता और आत्मसम्मान का बोध होता है। इस शोध पत्र में सूअरदान : रूपनारायण सोनकर, ज़ख़्म हमारे : मोहनदास नैमिशराय, आज बाज़ार बंद है : मोहनदास नैमिशराय, वीरांगना झलकारी बाई : मोहनदास नैमिशराय, उधर के लोग : अजय नावरिया, थमेगा नहीं विद्रोह : उमराव सिंह जाटव, भंवर : कैलाश चंद चौहान, विद्रोह : कैलाश चंद चौहान, दलित : विजय सौदाई के उपन्यासों का वर्णन किया गया है।

मुख्य शब्द: इक्कीसवीं सदी के प्रमुख दलित उपन्यास, सूअरदान, ज़ख़्म हमारे, आज बाज़ार बन्द है, वीरांगना झलकारी बाई, उधर के लोग, थमेगा नहीं विद्रोह, भंवर, विद्रोह, दलित।

परिचय

भारतीय समाज में जातिगत भेदभाव और छुआछूत जैसी प्रथाओं ने एक बड़े वर्ग (दलित) को शोषित और वंचित बनाए रखा। इस वर्ग की वेदना, संघर्ष और आत्मसम्मान की कथा को साहित्य में स्थान मिला। इक्कीसवीं सदी का दलित साहित्य विशेषकर उपन्यास साहित्य और भी मुखर हुआ। दलित उपन्यास केवल सामाजिक यथार्थ का चित्रण नहीं करते, बल्कि वे परिवर्तन और समानता की चेतना भी जगाते हैं। इस सदी में दलित लेखकों ने अपने अनुभवों को आत्मकथात्मक यथार्थ से जोड़कर समाज की जमीनी सच्चाई को उजागर किया है। दलित उपन्यास वह है जो सामाजिक अन्याय, जातिगत शोषण, आर्थिक असमानता और मानव गरिमा के प्रश्नों को केंद्र में रखता है। मानवीय एकता दलित साहित्य का केन्द्रीय बिन्दु है। यह साहित्य 'मनुष्यता' की स्थापना का साहित्य है — जो गांधी के हरिजनवाद या नेहरूवादी समाजवाद से आगे बढ़कर डॉ. भीमराव अंबेडकर की सामाजिक दृष्टि से प्रेरित है। डॉ. अंबेडकर दलित अस्मिता एवं दलितों की तस्वीर एवं तकदीर बनाने वाले दलित विचारकों में से महत्त्वपूर्ण विचारक हैं। उसी विचार को आगे ले जाने वाला साहित्य दलित साहित्य है।

इक्कीसवीं सदी के प्रमुख दलित उपन्यास एवं उनके उपन्यासकार

सूअरदान : रूपनारायण सोनकर- लेखक परिचय: रूपनारायण सोनकर हिंदी दलित साहित्य के प्रमुख उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपने लेखन में दलित समाज के संघर्ष, पीड़ा, शोषण और आत्मसम्मान की चेतना को प्रमुखता दी है। उनका लेखन सामाजिक यथार्थ पर आधारित है और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा को व्यक्त करता है। **उपन्यास का सारांश :** गोदान उपन्यास की तर्ज पर सूअरदान उपन्यास का सृजन किया गया है। इस कथा में चार मित्र जो कि उच्च शिक्षा प्राप्त किये रहते हैं वे अपना व्यवसाय पिगरी फार्म अर्थात सूअर पालन का कार्य करते हैं। एक पंडित बीमारी से पीड़ित रहता है। उसकी कोई खबर नहीं लेता। लेकिन चारों मित्र उसे सहायता पहुंचाते हैं। वह स्वस्थ हो जाता है। कथा का अंत सूअरदान से होता है। जब कथा का नायक अंतिम विदा लेता है तो सूअर के बच्चे पर हाथ रखता है और इस दुनिया से विदा लेता है। उसके साथी कहते हैं कि गजब हो पंडित ने सूअरदान कर दिया। 'सूअरदान' उपन्यास भारतीय ग्रामीण समाज की उस सच्चाई को उजागर करता है जिसमें जातिगत भेदभाव, सामाजिक विषमता और दलितों के अपमानजनक जीवन का मार्मिक चित्रण है। इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय है — दलित समुदाय की मानवीय गरिमा की खोज और समाज द्वारा थोपे गए नीच कार्यों के विरुद्ध उनका संघर्ष। पुजारी दयाशंकर पिगरी फार्म के चारों पार्टनर और उनके व्यवसाय से पुजारी की जान बची इसका पुजारी जीवनभर ध्यान रखता है। जो बुरे वक्त में काम आए वही सच्चा होता है। मानवीयता भी उसी को कहेंगे। "चारों पार्टनरों को छोड़कर किसी भी ब्राह्मण ने मेरी सहायता नहीं की। मैने उनके साथ बुरा व्यवहार किया; आप लोगों के भड़काने पर। लेकिन उन्होंने मेरी गलतियों को क्षमा ही नहीं किया बल्कि मरते आदमी का इलाज करा कर जिला दिया। पचास लाख रुपये मेरी बीमारी में खर्च कर दिए। ऐसे ही लोगों को महामानव कहा जाता है। जाति-पाति सभी फिजूल की चीजें हैं। मैं अब अपना सारा जीवन पिगरी-फार्म में लगा दूंगा।"[1] पुजारी सूअरों के कारण ही जीवित बचा है इसलिए वह उनसे विशेष लगाव रखता है। वह लोगों की परवाह किए बगैर अपने कर्म में व्यस्त रहने लगता है। कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं - "जब मैं मर रहा था तब आप लोग कहाँ थे? आप लोग मेरे मरने का इंतजार कर रहे थे कि मेरे बाद आप इस मन्दिर के पुजारी बन जाएं। मैं इस मन्दिर की पूजा-पाठ करना छोड़ दूंगा। मैं सूअरों की सेवा में अपना पूरा जीवन अर्पण कर दूंगा।"[2]

नैतिक उन्नति से सामाजिक उन्नति होती है। नैतिकता से संबंधित चंद पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं – "किसी दूसरे की उन्नति को देखकर कुढ़ना। उसकी

उन्नति के रास्ते में कांटे बिछाना। जाति के आधार पर किसी को हेय समझना। साम, दाम और दण्ड भेद से उसको पराजित करना। ये ही बुरे संस्कार हैं। आज का युग बहुत ही कम्पीटीशन का है। आप जरा सा चूके अवसर आपके हाथ से निकल जाएगा। इस वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक तरीके से सोचें। यदि आप इन्हीं दकियानूसी विचारों में पड़े रहे तो आप जिनको नीच जाति के कहते हो वही ऊंच जाति के होंगे। आप नीच जाति के होंगे। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी मजबूत होगी कि उनकी कई पीढ़ियां बैठकर खाएंगी। आप लोगों की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर और दयनीय होगी कि आपकी कई पीढ़ियां भीख मांगकर गुजारा करेंगी। अभी वक्त है सम्भल जाओ।"[3]

ज़ख़्म हमारे : मोहनदास नैमिशराय - लेखक परिचय : मोहनदास नैमिशराय हिंदी दलित साहित्य के प्रमुख साहित्यकार हैं। वे न केवल एक उपन्यासकार बल्कि कहानीकार, निबंधकार और आत्मकथाकार भी हैं। उनका साहित्य दलित जीवन की सच्चाइयों, संघर्षों और आत्मसम्मान की चेतना से ओतप्रोत है। उनकी प्रमुख कृतियाँ — अपने-अपने पिंजरे, दलित हस्ताक्षर, समय के पंखों पर, ज़ख़्म हमारे आदि हैं। नैमिशराय का लेखन दलित समाज के भीतर से उठी हुई आवाज़ है जो अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध और मानवता के पक्ष में आस्था को व्यक्त करता है। **उपन्यास का सारांश :** 'ज़ख़्म हमारे' उपन्यास भारतीय समाज की जातिगत संरचना में दलितों के शोषण, अपमान और सामाजिक अन्याय की गहरी पड़ताल करता है। यह केवल पीड़ा की कथा नहीं, बल्कि स्वाभिमान, जागरूकता और प्रतिरोध की चेतना का दस्तावेज़ है। उपन्यास का कथानक दलित समाज के उन लोगों के इर्द-गिर्द घूमता है जो सदियों से शोषित और उपेक्षित रहे हैं। वे समाज के निचले पायदान पर खड़े हैं, जहाँ उन्हें न सम्मान है, न समान अवसर। परंतु धीरे-धीरे उनमें आत्मबोध और संघर्ष की भावना जागती है। 'ज़ख़्म हमारे' शीर्षक स्वयं में गहरी संवेदना लिए हुए है — यह केवल शारीरिक या सामाजिक घाव नहीं, बल्कि ऐतिहासिक और मानसिक घावों का प्रतीक है, जिन्हें दलित समाज ने युगों से सहा है। लेखक ने अपने पात्रों के माध्यम से दिखाया है कि कैसे ये 'ज़ख़्म' अब क्रांति और परिवर्तन की शक्ति में बदल रहे हैं। नैमिशराय के उपन्यास 'ज़ख़्म हमारे' में दलित अस्मिता, आत्मसम्मान, सामाजिक और आर्थिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष का स्वर मुखर है। वे दलितों की पीड़ा और समाज स्थिति से रूबरू कराते हैं। जाति व्यवस्था इस देश का कड़वा सच है। होता यह है कि मनुष्य मनुष्यता बाद में पहले जाति देखता है। जाति का बोलबाला अधिक प्रचलन में है। इस उपन्यास की चंद पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं – "बेटा, यह हिन्दुस्तान है। यहाँ जातियाँ और धर्म पहले हैं और आदमी बाद में।"[4] आधुनिक भारत में दलितों की शीर्ष पदों पर भागीदारी नगण्य है। ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिनमें दलितों को मुखिया के तौर पर गिनती नहीं है। 'ज़ख़्म हमारे' उपन्यास की चंद पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं – "मुझे बताएँ आजादी के बाद आधी शताब्दी बीत जाने के बाद भी क्या किसी दैनिक अखबार या टीवी चैनल में कोई दलित मुस्लिम संपादक, संवाददाता या समाचार वाचक है? मुझे बताएँ कि क्या देश में किसी दलित या मुसलमान का कोई दैनिक अखबार है?"[5]

आज बाज़ार बंद है : मोहनदास नैमिशराय - उपन्यास का सारांश : यह उपन्यास वेश्यावृत्ति पर केन्द्रित नैमिशराय जी का प्रमुख उपन्यास है। इस उपन्यास में वेश्याओं की समस्याओं का चित्रण किया गया है। दलित लड़कियों को देवदासी बनाया जाता है फिर वेश्याएं। वेश्याएं जो कि अधिकांत: दलित जातियों से हैं उनकी मार्मिक स्थिति का वर्णन किया गया है। वेश्याओं का शोषण, उनकी मानसिक, शारीरिक, आर्थिक स्थिति का यह उपन्यास दिग्दर्शन कराता है। एक सज्जन पुरुष उन्हें इस दीनता से निकालने का प्रयास करता है। उनका जब शोषण होता है तो वह पुलिस के पास जाती हैं। ताज्जुब तो तब होता है जब वे शारीरिक शोषण की शिकायत करने पुलिस से पास जाती हैं तो पुलिस द्वारा भी शोषण किया जाता है। इसमें पत्रकारिता का वर्णन भी इसमें किया गया है। होता यह है कि राष्ट्रीय त्यौहार स्वतंत्रता दिवस पर अवकाश रहता है परंतु हवस के भूखे इस दिन भी वेश्याओं को चैन नहीं देते। राष्ट्र की बेटियों पर संकट आता है तो महामहिम राष्ट्रपति वहां पहुंचते हैं। 'आज बाज़ार बंद है' एक सशक्त दलित सामाजिक उपन्यास है, जिसमें मोहनदास नैमिशराय ने भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव, आर्थिक असमानता और सामाजिक अन्याय का गहराई से चित्रण किया है। 'आज बाज़ार बंद है' उपन्यास में वैश्यावृत्ति की समस्या केन्द्रीय विषय-वस्तु है। उक्त महिलाओं की दारुण कथा की चंद पंक्तियॉं प्रस्तुत हैं – "देखो तो मेरे जीवन की विडम्बना। घर से मंदिर, मंदिर से वेश्यालय और वेश्यालय से मरघट नहीं अभी नहीं ? शायद एक दलित महिला को और भी पीडा भोगनी होती हैं।"[6] दलित समाज की कन्याओं को मंदिरों में भेज दिया जाता था। उनके साथ शारीरिक संबंध बनाने जाते थे। ऐसी महिलाएं वेश्यावृत्ति के मार्ग को अपनाती थीं। दलित महिलाओं के साथ दोहरी नीति को इस उपन्यास की पात्राओं ने इस प्रकार व्यक्त किया है- "हमें पहले देवदासी बनाया, फिर वेश्या। एक ही जाति की कुआंरी लड़कियों को देवदासी क्यों बनाया जाता है ? उसने कई बार मंदिर में जाकर यह सवाल पूछा था। "[7]

वीरांगना झलकारी बाई : मोहनदास नैमिशराय - उपन्यास का सारांश : 'वीरांगना झलकारी बाई' उपन्यास भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की एक भूली-बिसरी वीरांगना — झलकारी बाई — के जीवन, साहस और योगदान पर आधारित है। यह उपन्यास इतिहास के उस अंश को सामने लाता है जिसे मुख्यधारा के इतिहासकारों ने या तो नज़रअंदाज़ किया या कम करके दिखाया। झलकारी बाई का जन्म झाँसी के पास एक दलित (कोली) परिवार में हुआ था। बचपन से ही उनमें असाधारण साहस, स्वाभिमान और देशभक्ति की भावना थी। वे घुड़सवारी, हथियार चलाने और युद्धकला में निपुण थीं। विवाह के बाद वे रानी लक्ष्मीबाई की सेना से जुड़ गईं। रानी लक्ष्मीबाई ने उनके साहस और नेतृत्व क्षमता को पहचानकर उन्हें अपनी सेना में विशेष स्थान दिया। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, जब अंग्रेज़ों ने झाँसी पर हमला किया, तब झलकारी बाई ने रानी लक्ष्मीबाई का रूप धारण कर मोर्चा संभाला ताकि रानी सुरक्षित निकल सकें। यह त्याग, साहस और नेतृत्व का अभूतपूर्व उदाहरण था — एक दलित स्त्री का ऐसा योगदान जिसे इतिहास ने पर्याप्त मान्यता नहीं दी। मोहनदास नैमिशराय ने इस उपन्यास में झलकारी बाई के व्यक्तित्व को केवल एक योद्धा के रूप में नहीं, बल्कि दलित समाज की अस्मिता और भारतीय स्त्री शक्ति के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। वे दिखाते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम में केवल राजघराने या उच्चवर्गीय नायक

ही नहीं थे, बल्कि दलित-श्रमिक वर्ग की महिलाएँ भी देश की आज़ादी के लिए अग्रणी थीं। 'वीरांगना झलकारी बाई' जैसे उपन्यास दलित समाज के इतिहास गौरव-बोध कराते हैं। 'वीरांगना झलकारी बाई' उपन्यास की चंद पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं - "झलकारी को रानी ने जो जिम्मेदारी सौंपी थी उसे पूरा करने में वह जी जान से जुटी थी। उसे रानी ने झाँसी की लुगाइयन की फौज की कमांडर फिर से बना दिया था। झाँसी में यह एक नया प्रयोग था महत्त्वपूर्ण भी। महिलाओं की इस फौज की कमांडर दलित समाज की एक महिला को बनाना उस समाज के लिए यह प्रेरणा की बात थी। जिसने अपना पैतृक व्यवसाय छोड़कर सैनिक बनना स्वीकार किया था। अब उसे किले में बार-बार जाना होता था। युद्ध में हमला और बचाव दोनों तरह का प्रशिक्षण तेजी से लेना शुरू कर दिया था। बन्दूक चलाने का अभ्यास तो वह कई माह से कर रही थी । उसके साथ कोरी, काछी, चमार, बखोर, कडेरे, कुर्मी, खटीक, पासी आदि बहादुर जातियों की महिलाएँ झाँसी की रक्षा के लिए सजग हो तरह-तरह के हथियार चलाने का प्रशिक्षण लेने लगी थीं। उनके भीतर भी बलिदान देने की भावना थी और मर-मिटने का जज्बा भी था। यहाँ तक कि नगर की वेश्याओं ने भी वेश्यागिरी छोड़ सिपाहीगिरी अपना ली थी। झाँसी में एक सैलाब आ गया था। युद्ध उत्सव जैसी स्थिति में परिवर्तित होता जा रहा था। जन-जन का अपनी झाँसी से जुड़ाव होने लगा था। कितनी ऐसी महिलाएँ थीं जो दुल्हन बनकर झाँसी में आई थीं। उन मेहँदी लगे हाथों ने भी बन्दूकें सँभाल ली थीं। झाँसी की आन-बान सबसे पहले थी। झाँसी की रक्षा करना उनका धर्म था। हिन्दू-मुस्लिम हों या सिख और बौद्ध सभी ने झाँसी की रक्षा करने की जिम्मेदारी ली थी। महिलाओं में भावना जागृत हुई तो पुरुष कहाँ पीछे हटनेवाले थे।"[8] इस उपन्यास में दलित एवं पिछड़े झांसी की रक्षा हेतु सेना में प्रतिभागिता सुनिश्चित करते हैं। वह अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष को तत्पर हैं। चंद पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं - "दलित और पिछले समाज के लोगों के बीच सेना में भर्ती होने के लिए होड़-सी लगी थी। सेना में भर्ती होना उनके लिए सम्मान का प्रतीक था। फिर की रक्षा करने का जज्बा उनके भीतर भी था। अंग्रेजों के खिलाफ उनके मन में न जाने कब से आग सुलग रही थे। अब तक वे अंगारा बन दहकने लगे थे। वे देश के काम आ जाए, इससे सार्थक बात और क्या हो सकती है।"[9]

उधर के लोग : अजय नावरिया - लेखक परिचय : अजय नावरिया हिंदी दलित साहित्य के समकालीन और अग्रणी उपन्यासकार, कहानीकार तथा चिंतक हैं। उनकी रचनाएँ दलित जीवन, सामाजिक यथार्थ, अस्मिता और आधुनिक समाज की विषमता पर तीखा प्रश्न उठाती हैं। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं — पर्वत पर पहाड़, पटाखे का दुख, नमक, उधर के लोग, और सीढ़ियाँ आदि। अजय नावरिया का लेखन दलित अनुभव को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत करता है — जहाँ जाति केवल गाँव तक सीमित नहीं, बल्कि शहर और शिक्षित वर्ग के भीतर भी जीवित है। **उपन्यास का सारांश :** 'उधर के लोग' अजय नावरिया का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है, जो आधुनिक शहरी जीवन में व्याप्त जातिगत भेदभाव और मानसिक विखंडन का सशक्त चित्रण करता है। यह उपन्यास केवल गाँव या पारंपरिक समाज की कहानी नहीं है, बल्कि उस "नई दुनिया" की सच्चाई को सामने लाता है जहाँ आधुनिकता के आवरण में भी पुरानी जातिवादी सोच जीवित है। उपन्यास का मुख्य पात्र एक दलित युवक है जो शिक्षा और संघर्ष के बल पर शहर में अपनी पहचान बनाने आता है। वह सोचता है कि अब शहर में जाति नहीं होगी, सब बराबर होंगे — लेकिन जल्द ही उसे पता चलता है कि "उधर के लोग" यानी ऊँची जातियों और उच्चवर्ग के लोग अब भी अपने भीतर भेदभाव की दीवारें खड़ी किए हुए हैं। यह पात्र लगातार अपनी पहचान, अस्तित्व और सामाजिक स्वीकृति के बीच संघर्ष करता है। अजय नावरिया का उपन्यास 'उधर के लोग' में दलित जीवन का सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं का समन्वय है। इसमें सामाजिक संघर्ष, बाज़ार, यौन संसार और प्रेम की मार्मिक गाथा का चित्रण किया गया है। 'उधर के लोग' उपन्यास की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं - "जब काम की वजह से ही हमें गन्दा समझा जाता है, तो हम ऐसा काम क्यों करें?" वह आज भी कहती है। "शहर को साफ करो और खुद पर गन्दगी पुतवाओ, ऐसा काम करने से कौम को क्या फायदा?" "यह सिर्फ लोकतंत्र में सम्भव है कि मोची का बेटा राष्ट्रपति बने और सफाई कर्मचारी का बेटा सुशील कलेक्टर बने। लोकतंत्र बराबरी के मौके देता है।"[10] वाल्मीकि समाज के सफाई कार्य, सीवर कार्य से इस कथा का एक पात्र घिन करता है जबकि वह स्वयं प्रतिदिन स्वयं की शौचक्रिया से उसको घिन नहीं होती। जो व्यक्ति नगर की सफाई करता है, उसे स्वच्छ बनाने में अपना योगदान देता है और समाज उसे ही अपवित्र मान उससे घृणा करता है। एक बानगी देखिए - "मुझे इस काम से घिन आती है, जबकि मैं जानता हूँ कि मैं रोज खुद अपना मल अपने ही हाथ से धोता हूँ। पर क्या करूँ? मन को समझाता हूँ, पर मन मानता नहीं। अगर उसके पापा सीवर साफ करने का काम नहीं करते होते तो कोई बात नहीं थी।"[11]

थमेगा नहीं विद्रोह : उमराव सिंह जाटव - लेखक परिचय : उमराव सिंह जाटव हिंदी के प्रमुख दलित उपन्यासकार, चिंतक और सामाजिक यथार्थवादी लेखक हैं। उनका साहित्य दलित चेतना, सामाजिक अन्याय के प्रतिरोध, और आत्मसम्मान की भावना से ओतप्रोत है। वे उन लेखकों में से हैं जिन्होंने दलित समाज के संघर्ष, जागृति और विद्रोह को साहित्य के केंद्र में रखा। उनके लेखन की भाषा सरल, यथार्थपूर्ण और आंदोलनीय है, जो दलित समाज की आवाज़ को मुखर करती है। **उपन्यास का सारांश :** 'थमेगा नहीं विद्रोह' उमराव सिंह जाटव का एक सशक्त और विचारोत्तेजक उपन्यास है, जिसमें लेखक ने दलित समाज की अनवरत संघर्षशीलता, अस्मिता और क्रांतिकारी चेतना का चित्रण किया है। यह उपन्यास दलितों के उस सामाजिक और मानसिक विद्रोह की कथा है जो सदियों की अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध अब रुकने वाला नहीं है। उपन्यास का शीर्षक ही अपने आप में घोषणात्मक है — "थमेगा नहीं विद्रोह", अर्थात् अब दलितों का संघर्ष, उनका आत्मसम्मान और अधिकारों की मांग किसी भी ताकत से दबाई नहीं जा सकती। कहानी का केंद्र एक ग्राम्य परिवेश है जहाँ परंपरा, जातिगत भेदभाव और ऊँच-नीच की दीवारें आज भी मजबूत हैं। लेखक दिखाते हैं कि जब अन्याय की हद पार हो जाती है, तो विद्रोह अनिवार्य हो जाता है — और यही विद्रोह सामाजिक परिवर्तन का आधार है। 'थमेगा नहीं विद्रोह' में दलित जीवन की परिस्थितियों तथा उनके संघर्षों को उजागर करता है। इस उपन्यास का कथास्थल दरियापुर को बनाया गया है। इस उपन्यास में दो समाजों गूजरों और जाटवों के अंतर्द्वंद्व को रेखांकित किया गया है। 'थमेगा नहीं विद्रोह'

उपन्यास की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं - "गूजरों की धींगामस्ती, जोर-जबरदस्ती, अत्याचार-अनाचार के सहारे इस गाँव की साँसें चलती और रुकती हैं। अपने अस्तित्व और गरिमा को अक्षुण्ण रखने की जद्दोजहद में जाटव अलबत्ता गूजरों से झड़पने में परहेज़ नहीं करते हैं और प्रायः ही उनके हाथों पिटते रहते हैं तथा कभी-कभार गूजरों को जमकर पीट भी देते हैं... ताकत में ये गूजरों के सामने उन्नीस नहीं बल्कि अठारह पड़ते हैं, लेकिन शिक्षा में ये मीलों आगे हैं। शिक्षा के प्रति इनमें यह जागृति स्वर्गीय बाबासाहब भीमराव अंबेडकर के द्वारा दिए गए अमोघ मंत्र 'शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो' के कारण है।"[12] दरियापुर गांव के कुंए से पानी लेने पर जंग होती है। पानी पर लड़ाई बहुत पहले से होती आई है। डॉ. अंबेडकर ने दलितों को चवदार तालाब से पानी लेने का सत्याग्रह किया। मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुंआ' पानी और दलित समस्या को रेखांकित करती है। इस उपन्यास की चंद पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं- "खड़े लोगों का उसने तनिक सा जायजा लिया और बाकी बात पूरी की, "पानी सिर से ऊपर होकर गुज़र रहा है, हम यदि ये सोचकर बैठे रहेंगे कि दलन, अपमान, अत्याचार, अनाचार रूपी पानी का यह ज्वार देर सबेर उतर जाएगा और हम ताजा हवा में साँस ले पाएँगे तो ये सोच हमारी मूर्खता होगी। कुआँ का हक हमने कचहरी में जाकर माँगा है तो केवल इसलिए कि उस पर हमारा 'दादालाई' का हक है, और कि हमारे पास पानी के लिए कोई अन्य विकल्प भी नहीं है, और कि हमें विकल्प रूप में किसी और कुएँ से पानी की भी उन्होंने इजाजत नहीं दी क्या हम जानवर, ढोरों के समान जोहड़-पोखरों से पानी पिएँगे? अच्छी प्रकार से हमें अब यह समझ लेना होगा कि गूजरों का यह कृत्य केवल हम दलितों का दलन ही नहीं है, बल्कि उनका इरादा अब हम को इंसान भी नहीं रहने देने का है। उनके खेतों में कुत्ते, बिल्ली और सूअर घूम सकते हैं, हम नहीं।"[13]

भंवर : कैलाश चंद चौहान : कैलाश चंद चौहान का उपन्यास 'भंवर' एक दलित जीवन की सामाजिक, आर्थिक और मानसिक त्रासदी को चित्रित करने वाला सशक्त सामाजिक उपन्यास है। यह कृति भारतीय समाज में व्याप्त जातिवाद, शोषण और असमानता की गहराई तक पहुँचती है और यह दिखाती है कि किस प्रकार दलित व्यक्ति सामाजिक भंवर (चक्रव्यूह) में फँसकर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है। **उपन्यास का सारांश :** उपन्यास का केंद्रीय पात्र एक दलित युवक है जो शिक्षित होकर अपने समाज को नई दिशा देने का प्रयास करता है। वह ऊँची जातियों द्वारा बनाए गए सामाजिक ढाँचे और भेदभाव के खिलाफ आवाज उठाता है। लेकिन समाज की रूढ़ियाँ, जातिगत दीवारें और सत्ता के खेल उसे बार-बार पीछे धकेलते हैं। कहानी में दिखाया गया है कि शिक्षा, मेहनत और ईमानदारी के बावजूद दलित व्यक्ति को सम्मान और समान अवसर नहीं मिलते। वह बार-बार 'भंवर' में फँसता है — यह भंवर केवल सामाजिक नहीं, बल्कि मानसिक और आर्थिक भी है। मुख्य पात्र के माध्यम से लेखक यह दर्शाते हैं कि दलित चेतना का विकास कितना कठिन है और कैसे व्यवस्था उसे बार-बार कुचलने की कोशिश करती है। 'भंवर' उपन्यास में दलित किस प्रकार से जीवन के भंवर में फसता है इसका चित्रण किया गया है। 'भंवर' उपन्यास की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं - "हम बदनामी के डर से कोई कदम नहीं उठाते, तभी तो उनकी हिम्मत हो जाती है हमारी बहू-बेटियों के साथ गलत हरकत करने की. इसी धर्म सिंह ने उस भूरे लाल की लड़की के साथ गलत हरकत कर दी थी. किसी की हिम्म नहीं हुई बोलने की. इज्जत की खातिर बात दबी रहने दी. लड़की इतनी शर्मिंदा हुई कि उसने नहर में डूबकर अपनी जान दे दी. अगर उसी समय धर्म सिंह को उसकी हरकत का जवाब मिल जाता तो वह आज इस तरह की हरकत करने की दोबारा कोशिश न करता. हमारी भी इज्जत है."[14] अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध दलित समाज अब जागरूक हो चुका है। वह शोषण के हथकंडों को समझ गया है और बाबा साहब के संघर्ष के नक्शे-कदम संघर्ष करने के लिए तत्पर है। बाबा साहब डॉ. अंबेडकर के जीवन को दलित समाज आदर्श मानता है। इस उपन्यास की चंद पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं - "ठाकुर साहब बहुत हुआ. अपनी बहू बेटियों पर होने वाले अत्याचार अब नहीं सहेंगे. हम तुम लोगों पर निर्भर नहीं हैं, जो तुम्हारे बिना हमारा काम नहीं चलेगा. बल्कि तुम्हारा ही काम हमारे बिना नहीं चलेगा."[15]

विद्रोह : कैलाश चंद चौहान – कैलाश चंद चौहान का उपन्यास 'विद्रोह' समकालीन दलित जीवन, सामाजिक विषमता और अन्याय के खिलाफ उठती हुई चेतना का प्रखर दस्तावेज है। यह उपन्यास दलित समाज के भीतर पैदा हो रहे आत्मसम्मान, संघर्ष और परिवर्तन की आकांक्षा को सशक्त रूप में प्रस्तुत करता है। **उपन्यास का सारांश :** उपन्यास का केंद्र एक दलित पात्र है — जो पीढ़ियों से चले आ रहे शोषण, अपमान और असमानता के विरुद्ध विद्रोह का प्रतीक बनता है। वह समझता है कि सिर्फ सहनशीलता या भीख में मिले अधिकार दलितों की स्थिति नहीं बदल सकते। यह पात्र सामाजिक व्यवस्था की जड़ता, ऊँच-नीच और सत्ता-संरचना से टकराता है। वह अपने समुदाय में शिक्षा, जागरूकता और संगठन की भावना जगाने का प्रयास करता है। उसका यह संघर्ष न केवल बाहरी समाज से है, बल्कि भीतर की हीनभावना और भय से भी है। 'विद्रोह' का नायक यह दिखाता है कि दलितों के लिए असली मुक्ति तब ही संभव है जब वे स्वयं अपने अधिकारों के लिए खड़े हों, सवाल उठाएँ और अन्याय के विरुद्ध संगठित हों। इस उपन्यास में सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह को दर्शाया गया है। 'विद्रोह' उपन्यास की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं - "हां, चिपकी रह जाती है. हिंदू धर्म में कुछ ऐसा ही है. कर्म के आधार पर बनी जातियां जन्म लेने से लेकर मरने तक पीछा नहीं छोड़ती. शमशान घाट में भी नहीं. चाहे कोई अच्छा पढ़ लिखकर आईएएस ऑफिसर ही क्यों न बन जाए, उसकी जाति वही रहेगी जिस कर्म वाली जाति में उसका जन्म हुआ. डॉक्टर अंबेडकर के साथ क्या हश्र हुआ था, यह सब मैं पढ़कर जान चुका हूं." [16] दलित समाज की शिक्षा पर बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर का गहरा प्रभाव पड़ा। बाबा साहब ने स्कूल कक्ष से बैठकर अध्ययन किया। समय का बदलाव हुआ। अब जहां पर शिक्षा की अलख दलित समाज में जगी तो अन्य समाज भी इससे प्रभावित हुआ। दलित समाज के चल रहे कोचिंग सेंटर में अन्य समाज या गैर दलित पढ़ने के लिए प्रयासरत हैं। कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं- "एक समय था, जब दलितों के बच्चों को स्कूल में पढ़ने की इजाजत नहीं थी. इजाजत मिली तो उन्हें गैरदलितों के बच्चों से दूर बैठाया जाता था. स्कूल के बच्चे भी उनसे अच्छा व्यवहार नहीं करते थे, आज हो यह रहा था कि वाल्मीकि मंदिर में चलने वाले सैंटर में गैरदलित अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए बार-बार प्रार्थना कर रहे थे, लेकिन थे वह दूसरी बस्ती के." [17]

दलित : विजय सौदाई : विजय सौदाई का उपन्यास "दलित" आधुनिक हिंदी साहित्य में एक महत्वपूर्ण दलित चेतना प्रधान उपन्यास है। यह कृति भारतीय समाज की जातिगत संरचना, सामाजिक अन्याय और दलित वर्ग के जीवन-संघर्ष को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है। लेखक ने इसमें यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार दलित व्यक्ति अपने अस्तित्व, अधिकार और सम्मान के लिए संघर्ष करता है, और कैसे यह संघर्ष केवल सामाजिक नहीं बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी गहराई से जुड़ा हुआ है। **उपन्यास का सारांश :** उपन्यास का नायक एक दलित युवक है जो बचपन से ही समाज की ऊँच-नीच, अपमान और भेदभाव का सामना करता है। गरीबी और सामाजिक तिरस्कार के बावजूद वह शिक्षा प्राप्त कर आगे बढ़ने की कोशिश करता है। जब वह अपने अधिकारों की बात करता है, तो समाज के सवर्ण वर्ग और सत्ता-संरचना उसके विरुद्ध खड़ी हो जाती है। उसकी हर सफलता को कुचलने की कोशिश की जाती है। लेकिन नायक हार नहीं मानता — वह प्रतिरोध करता है, अपने समुदाय को संगठित करता है और समानता के लिए संघर्ष छेड़ता है। कहानी का मूल भाव यही है कि 'दलित' होना कोई हीनता नहीं, बल्कि संघर्ष और आत्मसम्मान का प्रतीक है। 'दलित' नामक उपन्यास में विभिन्न प्रकार के सामाजिक संघर्षों एवं राजनीतिक उठा-पटक का चित्रण किया गया है। 'दलित' नामक उपन्यास की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं – "अम्बेडकर साहब ने देश को लूटने वाले गोरों के बाद के इन काले चोरों को परख लिया था इसलिए उन्होंने इनका विरोध किया। गरीबों के हक में लड़ाई की, मगर वह मसीहा अकेला पड़ गया। और इन छलियों ने उन्हें कामयाब न होने दिया। काश! दो-चार और अम्बेडकर हो जाते तो देश का नक्शा आज कुछ और होता...।"[18] इस उपन्यास में चंदर दलित समाज से मुख्यमंत्री बनने का दावा प्रस्तुत करता है वह बन भी जाता है। उसी पार्टी के कद्दावर नेता पूर्व मुख्यमंत्री जिसे 'बापू जी' कहा जाता है। बापू जी अपने पौत्र युवराज को मुख्यमंत्री बनाना चाहते हैं। बापू जी को राजनीतिक चालों का गहरा अनुभव है। वह समय के अनुसार स्थितियों को भांपकर फैसला लेते हैं। कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं - "भाइयो, मेरा सपना था कि युवराज सी.एम. बने, लेकिन मेरे दलित भाइयों ने मेरी आंखों पर पड़ा पौत्र मोह का परदा हटा दिया। 'चन्दर' भी मेरे पौत्र जैसा ही है और सी.एम. बनने का सच्चा अधिकारी भी। चन्दर को सी.एम. की गद्दी सौंपकर एक ओर जहां मैं अपने पूर्वजों की दलितविरोधी नीतियों का पश्चाताप कर सकूंगा, वहीं दलितों को अपनी बराबरी में बैठाकर, समाज से ऊंच-नीच, जात-पात व भेदभाव को समाप्त करके सामाजिक समानता व एकता का सूत्रपात करके स्वयं को धन्य कर पाऊंगा।"[19]

निष्कर्ष : इक्कीसवीं सदी के दलित उपन्यासकारों ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने न केवल हाशिए पर खड़े वर्गों को स्वर दिया, बल्कि समाज को आत्ममंथन के लिए बाध्य किया। दलित उपन्यास आज भारतीय लोकतंत्र के सामाजिक पक्ष की सच्ची व्याख्या कर रहे हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दी साहित्य का समकालीन स्वर अब दलित अनुभवों के बिना अधूरा है। इक्कीसवीं सदी में दलित उपन्यासकारों का योगदान हिंदी साहित्य के समागम में अद्भुत है। उनके साहित्य ने न केवल जाति आधारित शोषण, उत्पीड़न और असमानता के विषयों को उजागर किया, बल्कि समाज के भीतर व्याप्त पूर्वाग्रहों और वर्जनाओं को चुनौती भी दी। उनके कार्य ने राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना को नई ऊर्जा दी है। उनका साहित्य आधुनिक भारत के परिदृश्य में दलित जीवनधारा का सच्चा प्रतिबिंब है, जिसने जाति पर केन्द्रित संघर्षों को नए दृष्टिकोण से चित्रित किया है। इक्कीसवीं सदी का दलित उपन्यास केवल दलित समुदाय का साहित्य नहीं, बल्कि भारतीय समाज की आत्मालोचना का दस्तावेज है। यह साहित्य मानवतावादी चेतना को आगे बढ़ाता है और सामाजिक समरसता की ओर ले जाता है। दलित लेखकों ने अपनी लेखनी से सिद्ध कर दिया है कि साहित्य का उद्देश्य केवल सौंदर्य नहीं, बल्कि न्याय और समानता भी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1.सोनकर, रूपनारायण, सूअरदान, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली, तृतीय संस्करण 2018, पृ. 84

2.वही, पृ. 85

3.वही, पृ. 98

4.नैमिशराय, मोहनदास, ज़ख़्म हमारे, वाणी प्रकाशन दरियागंज नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 71

5.नैमिशराय, मोहनदास, ज़ख़्म हमारे, वाणी प्रकाशन दरियागंज नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 112

6.नैमिशराय, मोहनदास, आज बाज़ार बन्द है, वाणी प्रकाशन दरियागंज नयी दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. 92

7.वही, पृ. 92

8.नैमिशराय, मोहनदास, वीरांगना झलकारी बाई, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, दिल्ली, तृतीय संस्करण 2016, पृ. 82

9.वही, पृ. 88

10.नावरिया, अजय – उधर के लोग, राजकमल पेपरबैक्स, दिल्ली, पहला संस्करण 2013, पृ. 54

11.वही, पृ. 54

12.जाटव, उमराव सिंह, थमेगा नहीं विद्रोह, वाणी प्रकाशन दरियागंज नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 24

13.वही, पृ. 73

14.चौहान, कैलाश चंद, भंवर, सम्यक प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृ. 128

15.वही, पृ. 129

16.चौहान, कैलाश चंद, विद्रोह, कदम प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 79

17. वही, पृ. 61

18. सौदाई, विजय, दलित, सतलुज प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), प्रथम संस्करण 2013, पृ. 15

19. वही, पृ. 213

*****

Dhamma and Economics in the Age of Artificial Intelligence: Toward an Ethical Framework for Human-Centred Development

-Dr. Chandan Kumar
Assistant Professor
Satyawati College
University of Delhi

-Avinash Kumar
Assistant Professor
Satyawati College
University of Delhi

Abstract

The rapid advancement of Artificial Intelligence (AI) is reshaping global economic systems, labour structures, governance, and social relations. While AI promises efficiency, innovation, and productivity gains, it also generates deep concerns regarding inequality, unemployment, ethical governance, and human alienation. In this context, Buddhist Dhamma offers a normative framework capable of reorienting economic thinking toward compassion, sustainability, and collective well-being. This article examines the relationship between Dhamma and economics in the AI age, arguing that Buddhist ethical principles, such as right livelihood, moderation, interdependence, and compassion, can guide the development of humane technological economies. The study explores Buddhonomics (Buddhist economic) thought, contemporary AI-driven economic transformations, ethical challenges posed by automation, and policy pathways grounded in Dhamma. It proposes a model of "Compassionate AI Economics" centred on human welfare rather than mere profit maximization.

Keyword: Buddhist Dhamma, Artificial Intelligence (AI), Economic transformations, Compassionate AI Economics and Buddhonomics

Introduction

Artificial Intelligence has emerged as one of the most transformative forces of the twenty-first century economy. Automation, machine learning, robotics, and algorithmic decision-making now shape industries from manufacturing and finance to healthcare and governance. Governments and corporations view AI as the engine of future productivity and competitiveness.

Yet this technological acceleration raises serious socio-economic concerns. Automation threatens employment structures, wealth concentration is intensifying, and surveillance capitalism increasingly shapes social relations. Traditional economic frameworks, focused largely on productivity and growth, offer limited ethical guidance in addressing these concerns.

Buddhist philosophy offers an alternative perspective. The Dhamma, articulated by the Buddha, addresses suffering, desire, interdependence, ethical conduct, and liberation. These teachings also have economic implications. Applying Dhamma principles, moderation, compassion, ethical livelihood, and social responsibility, can help reorient economic development toward human well-being rather than material accumulation alone.

In an AI-driven world where algorithmic systems increasingly guide economic decisions, integrating ethical traditions such as Dhamma into economic thinking becomes both timely and necessary.

Dhamma in Socio-Economic Context

Dhamma refers to universal truth and ethical order. Although often treated as a spiritual doctrine, Buddhist teachings also engage with economic realities. Several principles directly relate to economic life:

1. **Middle Path** - avoiding extremes of indulgence and deprivation.
2. **Dependent Origination** - highlighting interconnected economic and social outcomes.
3. **Right Livelihood** - discouraging harmful professions.
4. **Compassion** - requiring welfare-oriented action.
   Non-attachment - discouraging excessive materialism.

Buddhist texts emphasize that poverty contributes to social disorder. The *Cakkavatti Sīhanāda Sutta* links economic injustice to moral and political decline. Economic welfare thus becomes a responsibility of

governance.

Foundations of Buddhonomics

Modern articulation of Buddhonomics is often attributed to E. F. Schumacher's work *Small Is Beautiful*, which argued that Western economic systems prioritize consumption rather than well-being[2].

Buddhist economic thinking emphasizes:

- Production based on need, not greed.
- Work as meaningful activity.
- Sustainable consumption.
- Community welfare.

Ethical business conduct.

Economic activity, therefore, must contribute to human moral and spiritual development[3].

AI and the Transformation of Economic Systems

Artificial Intelligence represents a structural turning point in global economic organization comparable to the Industrial Revolution. Unlike previous technological waves that mechanized physical labour, AI increasingly automates cognitive and decision-making functions, fundamentally altering production, labour relations, capital accumulation, and governance. Contemporary economies are therefore not simply adopting new tools; they are undergoing systemic transformation driven by algorithmic intelligence, data infrastructures, and digital networks[4].

This transformation unfolds across several interconnected dimensions.

1. Automation of Labour and Changing Employment Structures

Automation is not new to economic history; mechanization replaced manual labour in agriculture and industry over the past two centuries. However, AI-driven automation differs in scope and impact because it targets both **manual and cognitive tasks**.

Expansion of Automation into Cognitive Work

Earlier automation affected primarily factory-based work. AI now performs tasks once assumed to require uniquely human intelligence, including:

- Financial risk analysis,
- Legal document review,
- Medical diagnostics,
- Translation and customer service,
- Logistics management,

Programming assistance.

Machine learning systems process vast datasets faster than humans, enabling automated decision-making in sectors traditionally dependent on professional expertise[5].

Labor Market Polarization[6]

The result is a growing polarization of labour markets:

- High-skilled workers capable of designing or managing AI systems command increasing wages.
- Low-skilled service jobs continue to exist but often remain insecure and poorly paid.

Middle-skill jobs, such as clerical and administrative roles, face the greatest displacement risk.

This phenomenon creates a shrinking middle class in many economies, undermining traditional social mobility pathways.

Transformation Rather Than Elimination?

Some economists argue automation transforms jobs rather than eliminating them. New occupations emerge-AI engineers, data scientists, algorithm auditors, digital ethicists. Yet transitions are uneven and slow, leaving many workers displaced without immediate alternatives[7].

Informalization and Gig Work

AI also supports gig-economy platforms where labour becomes fragmented into short-term contracts. Workers increasingly lack job security, social protection, and stable income.

From a social perspective, automation challenges the economic foundation of work as a source of dignity and community participation.

2. Data-Driven Market Dominance and the Rise of Data Capitalism

In the AI economy, **data functions as a primary economic resource**, sometimes described as the "new oil." Corporations capable of collecting and processing massive data volumes gain competitive advantage[8].

Network Effects and Market Concentration[9]

Digital markets often operate through network effects: the more users a platform has, the more valuable it becomes. This dynamic leads to:

- Winner-takes-all markets,
- monopolistic or oligopolistic dominance,

reduced competition.

Large technology firms accumulate user data, refine algorithms, and strengthen market power, making entry difficult for smaller firms.

Surveillance Capitalism

Many digital services appear free but operate by har-

vesting user data. Companies monetize behavioural information through targeted advertising and predictive analytics.

This economic model raises concerns:

- Users become products rather than customers.
- Personal autonomy erodes.

Privacy becomes commodified.

Global Inequality Between Nations

Countries with advanced data infrastructure and AI capabilities accumulate disproportionate economic power. Developing nations risk becoming data providers without technological ownership, deepening global inequalities.

3. Platform-Based Capitalism and New Labor Relations

Digital platforms reorganize economic activity by acting as intermediaries between producers and consumers[10].

Platform Dominance

Platforms such as ride-hailing, delivery services, and e-commerce marketplaces control access to markets. Workers and businesses increasingly depend on platforms for livelihood.

Algorithmic Management

Instead of human supervisors, algorithms now manage workers by:

- assigning tasks,
- setting wages dynamically,
- monitoring performance,

enforcing discipline.

Workers often cannot contest algorithmic decisions, creating power asymmetry.

Gig Economy Precarity[11]

Platform workers frequently lack:

- health insurance,
- pension contributions,

legal employment protections.

Income volatility and job insecurity become structural features of platform capitalism.

Capital Concentration

Platforms accumulate wealth by extracting commissions and controlling digital infrastructure, while workers bear economic risks.

4. Algorithmic Governance and Decision-Making

AI systems increasingly influence public and private governance processes[12].

Automated Decision Systems

Algorithms now assist or determine decisions in:

- credit approvals,
- hiring processes,
- policing and surveillance,
- welfare distribution,
- immigration assessments,

judicial risk evaluations.

These systems operate at scales impossible for human administrators[13].

Risks of Algorithmic Bias[14]

Algorithms trained on historical data may reproduce social biases, leading to:

- discrimination in hiring,
- unfair loan denials,

unequal policing practices.

Because AI systems operate opaquely, affected individuals struggle to challenge outcomes.

Democratic Accountability Issues

When automated systems shape governance decisions, responsibility becomes unclear. Who is accountable—the developer, corporation, or government?

Algorithmic governance risks undermining democratic oversight if transparency and regulation remain weak.

5. Global Productivity Competition and Geopolitical Rivalry

AI development has become a geopolitical competition among major powers[15].

Productivity and Economic Leadership

Countries leading in AI research and innovation gain economic advantages through:

- higher industrial efficiency,
- technological exports,
- military superiority,

digital infrastructure control.

National AI Strategies

States increasingly treat AI as strategic infrastructure, investing heavily in research, education, and industrial policy.

Technological Dependency Risks

Developing countries lacking AI capacity may become dependent on foreign technology providers, limiting sovereignty and economic independence.

Structural Challenges Emerging from AI Transformation[16]

While AI promises economic growth, it also generates significant structural challenges.

Rising Unemployment and Job Displacement

Automation threatens sectors employing millions, creating transitional unemployment and social anxiety. Without retraining and social safety nets, economic insecurity intensifies.

Increasing Inequality

AI-driven wealth accumulates primarily among technology owners and highly skilled workers. Income and wealth inequality widen within and between nations.

Corporate Monopolies

Large firms controlling data and infrastructure consolidate economic power, reducing competition and innovation diversity.

Ethical Problems in Data Control

Data ownership remains contested. Questions arise:

- Who owns personal data?
- Who profits from digital labour?

How can privacy be protected?

Algorithmic Bias and Social Justice

Unregulated AI systems may entrench discrimination and exclusion, undermining fairness in economic participation.

Limitations of Traditional Economic Models[17]

Conventional economic frameworks struggle to address AI-induced challenges for several reasons:

1. **Growth-Centric Metrics** GDP growth ignores inequality, social welfare, and ecological costs.
2. **Labor Market Assumptions** Traditional models assume technology ultimately creates more jobs than it destroys; AI challenges this assumption.
3. **Market Neutrality Myth** Markets are assumed to self-correct, but digital monopolies resist competitive pressures.
4. **Ethical Blind Spots** Economic models rarely incorporate ethical considerations such as dignity, fairness, or social cohesion.

Technological Externalities Social and psychological consequences of automation are insufficiently addressed.

Ethical Challenges from a Dhamma Perspective

Greed-Driven Innovation

Technological development driven solely by profit intensifies suffering, corresponding to Buddhist critiques of greed (lobha)[18].

Technological Unemployment

Automation threatens right livelihood and requires social protection policies.

Consumerism Amplification

AI-driven marketing intensifies craving, identified in Buddhism as a source of suffering[19].

Surveillance Capitalism

Digital monitoring undermines autonomy and dignity.

Environmental Costs

AI infrastructures consume substantial energy resources, conflicting with ecological harmony.

Toward Compassionate AI Economics

A Dhamma-oriented approach suggests:

- Ethical AI governance frameworks,
- Human-centerer technology development,
- Inclusive economic redistribution,
- Sustainable infrastructure investment,

Corporate responsibility beyond profit.

Technology must serve collective welfare rather than narrow corporate interests[20].

Work, Meaning, and AI

From a Buddhist perspective, work is not merely income generation but contributes to dignity and social participation. AI should reduce drudgery while expanding opportunities in creative, educational, and ecological sectors.

Policy Implications

1. Global ethical AI standards.
2. Social security for displaced workers.
3. Ethical and technological education reforms.
4. Promotion of community-based economies.

Alignment with sustainable development goals.

Dhamma and Economic Civilization

In Buddhist thought, *Dhamma* refers not only to spiritual teachings but also to ethical principles governing social, political, and economic conduct. It emphasizes harmony, responsibility, and balance in human relationships and material pursuits.

Ethical Foundation of Economy- Early academic study examining economic principles embedded in Buddhist societies and teachings[21].

- Compassion (*karu ā*) in economic interactions
- Non-harm (*ahi sā*) toward people and environment
- Right livelihood (*sammā ājīva*) as an economic principle

Moderation and avoidance of excessive consumption

Economic activity becomes a means for collective well-being rather than accumulation of wealth alone.
A Dhamma-centred economic civilization encourages:

- Sustainable development
- Community-centred growth
- Ecological responsibility

Long-term human flourishing over short-term profit

The AI era represents a civilizational turning point. If guided solely by profit, it may intensify suffering. Guided by compassion and wisdom, it can enhance collective well-being[22].
Economic success must be measured through social harmony and ecological balance, not merely GDP[23].
AI is based on the Cloud platform, that consume enormous amount of electricity. The production of electricity should be environment that will be based on Buddhonomics with environmental sustainability[24].
In today's era of AI, automation, and platform capitalism, Dhamma offers ethical guidance to ensure technology and economic systems enhance human dignity rather than deepen inequality.

Conclusion

Artificial intelligence offers immense opportunities to transform economies, improve healthcare, expand education access, and enhance global cooperation across societies. Yet without ethical foundations, rapid AI deployment risks widening inequality, displacing workers, concentrating power, and deepening social and psychological alienation worldwide. Buddhist Dhamma offers a moral compass centred on compassion, moderation, interdependence, and right livelihood, guiding innovation toward collective welfare. Integrating these principles into economic policy, corporate responsibility, and technological governance can balance efficiency with empathy and sustainability. Such alignment encourages inclusive growth, protects human dignity, supports meaningful employment, and ensures technology remains a servant of humanity. Policymakers, developers, and communities must therefore collaborate to design systems prioritizing transparency, fairness, accountability, and social resilience globally. Education and ethical awareness should accompany innovation so citizens can adapt creatively while preserving cultural and ecological balance. Ultimately, responsible AI guided by compassionate values can foster prosperity, shared security, and enduring human flourishing everywhere sustainably.

Bibliography

Ref:

1. *Cakkavatti Sīhanāda Sutta*, Dīgha Nikāya 26, Pali Text Society edition.
2. E. F. Schumacher, *Small Is Beautiful: Economics as if People Mattered* (London: Blond & Briggs, 1973).
3. Sivaraksa, Sulak. *Buddhism and Development*. Bangkok: Sathirakoses-Nagapradipa Foundation, 1992
4. Carl Benedikt Frey and Michael A. Osborne, "The Future of Employment: How Susceptible Are Jobs to Computerisation?" *Technological Forecasting and Social Change* 114 (2017): 254 –280.
5. Erik Brynjolfsson and Andrew McAfee, *The Second Machine Age: Work, Progress, and Prosperity in a Time of Brilliant Technologies* (New York: W. W. Norton, 2014).
6. Nick Srnicek, *Platform Capitalism* (Cambridge: Polity Press, 2017).
7. Shoshana Zuboff, *The Age of Surveillance Capitalism: The Fight for a Human Future at the New Frontier of Power* (New York: PublicAffairs, 2019).
8. David Autor, "Work of the Past, Work of the Future," *AEA Papers and Proceedings* 109 (2019): 1–32.
9. Thomas Piketty, *Capital in the Twenty-First Century* (Cambridge, MA: Harvard University Press, 2014).
10. Graham, Mark, and Mohammad Amir Anwar. "The Global Gig Economy: Towards a Planetary Labour Market?" *First Monday*, vol. 24, no. 4, 2019.
11. Scholz, Trebor, ed. *Uberworked and Underpaid: How Workers Are Disrupting the Digital Economy*. Polity Press, 2017.
12. OECD, *Artificial Intelligence in Society* (Paris: OECD Publishing, 2019).
13. Yeung, Karen. *Algorithmic Regulation: A Critical Interrogation*. Regulation & Governance, vol. 12, no. 4, 2018, pp. 505–523.
14. Kitchin, Rob. "Thinking Critically About and Researching Algorithms." *Information, Communication & Society*, vol. 20, no. 1, 2017, pp. 14–29.

15. Kai-Fu Lee, *AI Superpowers: China, Silicon Valley, and the New World Order* (Boston: Houghton Mifflin Harcourt, 2018).
16. United Nations Conference on Trade and Development (UNCTAD), *Digital Economy Report* (Geneva: United Nations, 2021)
17. International Labour Organization, *World Employment and Social Outlook: Trends 2023* (Geneva: ILO, 2023).
18. P. A. Payutto, Buddhonomics *: A Middle Way for the Market Place* (Bangkok: Buddhadhamma Foundation, 1994).
19. Ven. Master Hsing Yun, Humanistic Buddhism- A Blueprint for Life, Buddha's Light Publishing, 2005, p.40.
20. Padmasiri de Silva, Environmental Philosophy and Ethics in Buddhism, Lodon: Macmillan Press LTD,1998, p. 156.
21. Pryor, Frederic L. *The Economics of Buddhism*. Journal of Political Economy, vol. 81, no. 3, 1973, pp. 675–696.
22. Richard L. Kimball, His Lai Journal of Humanistic Buddhism, editor: A.W.P. Guruge, p. 238
23. Martine, Batchelor; (Kerry, Brown editor), Buddhism and Ecology, Lodon: Villiers House, 1992, p. 22
24. Daniels, Peter. "Buddhist Economics and the Environment: Material Flow Analysis and the Moderation of Society's Metabolism." *International Journal of Social Economics*, vol. 30, no. 1/2, 2003, pp. 8–33

Primary Sources

Cakkavatti Sīhanāda Sutta, Dīgha Nikāya 26, Pali Text Society edition.

Secondary sources

1. Autor, David. "Work of the Past, Work of the Future." *AEA Papers and Proceedings* 109 (2019): 1–32.
2. Bostrom, Nick. *Superintelligence: Paths, Dangers, Strategies*. Oxford: Oxford University Press, 2014.
3. Brynjolfsson, Erik, and Andrew McAfee. *The Second Machine Age: Work, Progress, and Prosperity in a Time of Brilliant Technologies*. New York: W. W. Norton, 2014.
4. Frey, Carl Benedikt, and Michael A. Osborne. "The Future of Employment: How Susceptible Are Jobs to Computerisation?" *Technological Forecasting and Social Change* 114 (2017): 254–280.
5. Harari, Yuval Noah. *Homo Deus: A Brief History of Tomorrow*. London: Harvill Secker, 2016.
6. International Labour Organization. *World Employment and Social Outlook: Trends 2023*. Geneva: ILO, 2023.
7. Kahneman, Daniel. *Thinking, Fast and Slow*. New York: Farrar, Straus and Giroux, 2011.
8. Lee, Kai-Fu. *AI Superpowers: China, Silicon Valley, and the New World Order*. Boston: Houghton Mifflin Harcourt, 2018.
9. OECD. *Artificial Intelligence in Society*. Paris: OECD Publishing, 2019.
10. O'Neil, Cathy. *Weapons of Math Destruction: How Big Data Increases Inequality and Threatens Democracy*. New York: Crown, 2016.
11. Payutto, P. A. Buddhonomics *: A Middle Way for the Market Place*. Bangkok: Buddhadhamma Foundation, 1994.
12. Piketty, Thomas. *Capital in the Twenty-First Century*. Cambridge, MA: Harvard University Press, 2014.
13. Schumacher, E. F. *Small Is Beautiful: Economics as if People Mattered*. London: Blond & Briggs, 1973.
14. Sen, Amartya. *Development as Freedom*. Oxford: Oxford University Press, 1999.
15. Srnicek, Nick. *Platform Capitalism*. Cambridge: Polity Press, 2017.
16. UNCTAD. *Digital Economy Report*. Geneva: United Nations, 2021.
17. United Nations Development Programme. *Human Development Reports*. New York: UNDP.
18. uboff, Shoshana. *The Age of Surveillance Capitalism: The Fight for a Human Future at the New Frontier of Power*. New York: PublicAffairs, 2019.

*****

कबीर का रहस्यवाद

- परमार रेखा बेन मनुभाई
लुनवा (वनकरवास)
तहसील - खेरालु
जिला - महेसाना
ईमेल - Parmarrm31@gmail.com
Mo - 8140223067

सारांश
रहस्यवादी कवियों में कबीर को चरम कोटि का माना जाता है। कबीर के रहस्यवाद को उनके दोहो और उलटबांसीयों के माध्यम से समजा जाता है। उनका रहस्यवाद उपनिषदों के ऋषियों के समान रहस्यवाद है, जो अद्वैत है अंतर्विरोधी में समन्वय करने वाली अनुभूति है। कबीर का रहस्यवाद ईश्वर के स्वरूप, उसकी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति तीनों स्तर पर देखा जा सकता है। कबीर ने जीवात्मा, परमात्मा, इंगला, पिंगला, कुंडलिनी, षटचक्र, ब्रह्मरन्ध्र त्रिकुटी आदि प्रतीक और उपमानों के सहारे ब्रह्म को समजाने की कोशिश करते है।

प्रस्तावना:
रहस्यवाद के अंतर्गत साहित्य में जीवात्मा और परमात्मा का पारस्परिक संबंध स्थापित किया जाता है। आत्मा और परमात्मा की मिलन अवस्था रहस्यवाद की चरमावस्था है। रहस्यवाद का अर्थ है एक एसी आध्यात्मिक और धार्मिक प्रक्रिया जिसमें व्यक्ति प्रत्यक्ष ज्ञान, अंतर्ज्ञान या व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से ईश्वर, परम सत्ता या किसी दिव्य सत्ता से सीधे जुड़ता है, जो अक्सर प्रतीको और गूढ भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता है क्योंकि आम भाषा इन गहन अनुभवों को व्यक्त करने में असमर्थ होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'साधनाके क्षेत्र में जो ब्रह्म है, साहित्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।' रहस्य दो रूपों में प्रकट होता हैं (1) भावनात्मक रहस्यवाद और (2) साधनात्मक रहस्यवाद। भावनात्मक रहस्यवाद में जीवात्मा परमात्मा के अलौकिक सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता हैं। साधनात्मक रहस्यवाद में जीवात्मा की परमात्मा से मिलन के लिए विकलता की अभिव्यक्ति होती है। कबीर ने दोनों प्रकार के रहस्यवादी रूपों का वर्णन अपने काव्य में किया हैं। परमात्मा के वियोग में आत्मा की विकलता को कबीर मार्मिकता के साथ इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं:-

सुखियां सब संसार हैं, खावे अरु सोवै।
दुखियां दास कबीर है, जागे अरु रोवै॥[1]

कबीर ने सूफियों के ठरें पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपतिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते है। इसी प्रकार उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (जैसे चंद, सूर, नाद, बिंदु, अमृत, आंधा, कुआँ) को लेकर अदभूत रूपक बांधे है। जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतंक जमाते है। जैसे-

सूर समाना चंद में दहूँ किया घर एक।
मन का चिंता तब भया कछू पुराबिला लेख॥
आकासे मुखि आंधा कुआँ पाताले पनिहारि।
ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला आदि बिचारि॥[2]

कबीर पर सिद्धों, नाथों और योगियों का प्रभाव पड़ा था। इस कारण उनके काव्य में रहस्यवाद के साधना पक्ष को भी देखा जा सकता है। वे कुंडलिनी को जागृत कर ब्रह्मरन्ध्र या सहस्त्रदल कमल तक पहुँचने का आग्रह करते हैं क्योंकि यही सिद्धि की अंतिम अवस्था हैं। साधक अपनी साधना की अंतिम स्थिति में पहुँच कर परमात्मा के साथ एकाकार हो जाता हैं। इस स्थिति को 'जल और घट' के उदाहरण से कितनी सरलता के साथ समजाया गया हैं।

"जल में कुंभ, कुंभ में जल है, भीतर बाहर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथ्यो गियानी॥"[3]

कबीर प्रेम तत्त्व को महत्वपूर्ण मानते थे। उनके विचार में प्रेम के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति संभव हैं। प्रेम का एक अक्षर पढ़ कर हि मनुष्य ज्ञानी बन जाता है।

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकै अक्षर प्रेम का पढै सो पंडित होय॥"[4]

रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और विरहणी के आश्रय से होती है। यह प्रेममूलक रहस्यवाद भी भावनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत ही आ जाता है। कबीर ने परमात्मा से मिलानावस्था का वर्णन करते हुए जीवात्मारूपी दुलहिन को मंगलाचार गाने को प्रेरित किया है-

"दुलहिन गावहु मंगलाचार
हम घर आए राजाराम भरतार।"[5]

कबीर के हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेमभाव की अवंतरित अबाध द्वारा प्रवाहित होती रहती है, उनकी उक्तियों में आत्मा-परमात्मा, जीव, माया आदि सम्बन्धी आध्यात्मिक तत्त्वों का सन्निवेष मिलता हैं। उनकी भक्ति साधना में भारतीय आदर्श लक्षित होते हैं। कर्मकांड और शास्त्रीय ज्ञान को अनावश्यक मानकर उन्होंने आचार-विचार की सादगी और पवित्रता पर बल दिया। उनकी भक्ति साधना का द्वार ब्राह्मण, शूद्र, ऊँच-नीच सभी के लिए खुला था। कबीर मुख्य रूप से संत और भक्त थे पर हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना करके तथा उनकी कुरीतियों; रूढ़ियों और आडंबरो को दूर करने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया। इस प्रकार उनका समाज सुधारक रूप भी उजागर होता हैं।

मसी – कागज को बिना छूए हि तथा विधिवत काव्य-शास्त्र का अध्ययन किए बिना ही कबीर ने जो कुछ कहा वह किसी भी साहित्य को श्रृंगार देने की क्षमता रखता हैं। आदि से अंत तक कबीर का प्रयास सत्य की खोज करना ही था। कबीर के काव्य का विषय भक्ति हैं जो अनुभूति का विषय हैं और भाषा के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती।

कबीर का रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के अद्वैत या एकीकरण की गहन अनुभूति को दर्शाता हैं, जहाँ 'मैं' और 'तू' का भेद समाप्त हो जाता हैं। कबीर ने गुरु की महत्वपूर्ण भूमिका बताई हैं, जो साधक को अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाता हैं और अहंकार का दमन करके ब्रह्म में लीन होने में मदद करता हैं। कबीर ने ईश्वर को पुरुष (चेतन) तथा प्रकृति को स्त्री (जड़) रूप में माना। इस प्रकार कबीर ने सूफियों की प्रेम की मादकता को तो माना हैं किन्तु सूफियों की साधना से वे सहमत नहीं क्योंकि सूफी संतो ने ईश्वर को प्रेमिका (स्त्री रूप) और आत्मा को प्रेमी (पुरुष) रूप में माना हैं। इस प्रकार कबीर ने भक्ति साधना में सूफियों की आभारतीय पद्धति को नकार दिया और भारतीय साधना पद्धति को महत्वपूर्ण स्थान दिया।

कबीरदास में यह जो अपने प्रति और अपने प्रिय के प्रति एक अखंड विश्वास था उसीने उनकी कविता में असाधारण शक्ति भर दी हैं। उनके भाव सीधे हृदय से निकलते है श्रोता पर सीधे चोट करते हैं। जो लोग उस रहस्य को नहीं जानते वह व्यर्थ ही पांडित्य प्रदर्शन से पाठको का समय नष्ट करते हैं। नाथपंथ की साधना पद्धति का नाम हठयोग हैं। कबीरदास को समजने के लिए इस साधना-पद्धति की जानकारी होनी चाहिए। कबीर ने साधना की बातों को भी अभिव्यक्ति की कुशलता के माध्यम से इस प्रकार उदघाटित किया हैं कि वे रहस्यवादी हो गई है।

निष्कर्ष:-

अंत: कहा जा सकता हैं कि हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। कबीर ने उलटबांसीया और रूपकों के द्वारा रहस्यवाद को समजाया हैं। कबीर का रहस्यवाद एक गहन व्यक्तिगत प्रेम आधारित अनुभव हैं जो सहज साधना और आध्यात्मिक जागृतिके माध्यम से परमात्मा के साथ एक होने कि लालसा रखता हैं।

संदर्भ सूचि:

1) कबीर ग्रंथावली – श्याम सुन्दर दास – पृष्ठ. संख्या.215
2) हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृष्ठ. संख्या.45
3) कबीर ग्रंथावली – श्याम सुन्दर दास – पृष्ठ. संख्या.103
4) कबीर ग्रंथावली – श्याम सुन्दर दास – पृष्ठ. संख्या.30
5) कबीर ग्रंथावली – श्याम सुन्दर दास – पृष्ठ. संख्या.69

*****

हिंदी दलित आत्मकथाओं में प्रयुक्त शैली का तुलनात्मक भाषिक विश्लेषण

आंचल यादव

हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

दलित लेखक–लेखिकाएँ अपने जीवन में बीते अनुभवों को आधार बनाकर आत्मकथाओं का सृजन करते हैं। इनमें व्यक्तिगत जीवन की झलक के साथ–साथ सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति मिलती है। दलित ले खक–लेखिकाओं ने वर्णात्मक, यथार्थवादी, संवेदनशील, भावात्मक, संघर्षात्मक एवं विद्रोही शैली का प्रयोग किया है। इनकी रचनाओं में व्यंग्यात्मक का पुट मिलता है। इसके साथ–साथ वृतान्त और पत्रकारिता शैली का प्रयोग है। दलित आत्मकथनों में विवरणात्मकता की अधिकता है, वहीं पर संवेदना और मार्मिकता क्षीण है। इनमें घटनाओं का वर्णन ज्यादा है। वही व्यक्तिगत प्रसंगों और घटनाओं के वर्णन में औपन्यासिकता जैसा रस मिलता है। ये आत्मकथन अपनी बेबाकी, स्पष्टता और भाषा–शैली के कारण महत्त्वपूर्ण है। इनमें वे सभी गुण विद्यमान है जो दलित साहित्य लेखन की बुनावट में अनिवार्य है।

'अपने–अपने पिंजरे' आत्मकथा में पत्रकारिता, संघ र्षात्मक एवं विद्रोही शैली का प्रयोग किया है। मो. हनदास नैमिशराय ने पत्रकारिता शैली में मेरठ शहर का वर्णन किया है जिसमें पहले स्वतंत्रता संग्राम, पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शहर आने–जाने और डॉ. अम्बेडकर के शहरी दौरे आदि का विवरण है। वहीं इसके बाद इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए लिखते है– ''कैसा निर्मम था वह इतिहास और संस्कृति जिसे हम लम्बे समय से ओढते–बिछाते आये थे। हम हारे हुए लोग थे, जिन्हें आर्यों ने जीतकर हाशिये पर डाल दिया था।''[1] संपूर्ण आत्मकथा में यथार्थवादी शैली में जीवनानुभवों को लिखा है। 'अपने–अपने पिंजरे' में गंगा के मेले के बारे में बताया गया है। बहन की ससुराल के गाँव निठारी के भौगोलिक परिवेश के साथ अन्य सामाजिक विद्रूपताओं का जिक्र किया है। वहीं इसमें जातिगत वैमनस्य को दिखाया गया है जो समाज को दीमक की तरह कमजोर कर रहा है। जातिगत भेदभाव इस कदर मजबूत है कि उच्च जाति के लोग किसी दलित व्यक्ति को पानी तक नहीं पिलाते। आत्मकथा में लेखक द्वारा जोहड़ी के गन्दे पानी पीने की घ ाटना का वर्णन है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि अपने–अपने पिंजरे आत्मकथा में पत्रकारिता, वर्णनात्मक, विवरणात्मक आदि शैलियों का चित्रण मिलता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' की शैली वर्णनात्मक है। कुछेक स्थानों पर घटनाओं और स्थितियों का वर्णन करने में चित्रात्मक भाषा–शैली का प्रयोग किया हैं इसमें गंभीर स्थितियों का वर्णन करने के साथ–साथ पाठक को तर्कसंगत निष्कर्ष पर पहुंचाने के लिए तथ्यों का विश्लेषण किया गया है। इन्होंने आत्मकथात्मक संवाद शैली का प्रयोग किया है जिस कारण आत्मकथा रोचक, जीवंत और सरस बन गई है। लेखक को महाराष्ट्र के चन्द्रपुर में ट्रेनिंग के दौरान रहना पड़ा। इस बीच एक ब्राह्मण कुलकर्णी परिवार की लड़की सविता लेखक को ब्राह्मण समझकर बातचीत करने लगी। इससे जुड़ा एक प्रसंग दृष्टव्य है–

''लेखक– मेरे बारे में तुम्हारी राय क्या है?

सविता– आई बाबा तुम्हारी तारिफ करते हैं।... तुम्हें अच्छा मानते हैं।

लेखक– अच्छा, यदि मैं एस.सी/सेड्यूल कास्ट। हूँ ... तो भी...?

सविता – तुम एस.सी. कैसे हो सकते हो?

लेखक – क्यों? यदि हुआ तो?

सविता – तुम तो ब्राह्मण हो।

इस वास्तविकता को जानकर वह रोने लगी। मेरा एस.सी. होना जैसे कोई अपराध था। वह काफी देर तक सुबकती रही। हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। एक झूठ को हमने संस्कृति मान लिया था।''[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'जूठन' आत्मकथा की शैली मा.

र्मिक, जीवंत और गंभीर है। इन्हीं वर्णनों के साथ–साथ शिक्षकों की भूमिका, पाठ्यक्रम की कमियों, क्रूर वर्ण–व्यवस्था एवं तत्कालीन समाज की स्थिति को रे खांकित किया है। जाति व्यवस्था और धर्मशास्त्रों की मान्यताओं से असंतुष्ट लेखक वर्णनात्मक शैली का अतिक्रमण कर भावात्मक शैली में लिखते है– ''तरह–तरह के मिथक रचे गए–वीरता के, आदर्शों के। कुल मिलाकर क्या परिणाम निकले? पराजय, निराशा, निर्धनता, अज्ञानता, संकीर्णता, कूपमंडूकता, धार्मिक जड़ता, पुरोहितवाद के चंगुल में फँसा समाज जो टुकड़ों में बँटकर कभी यूनानियों से हार, कभी शकों से। आत्मश्लाघा में डूबकर सच्चाई से मुँह मोड़ लेना, इतिहास से सबक न लेना, आखिर किस राष्ट्र निर्माण की कल्पना है।''[3] दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने पाठकों को सोचने पर मजबूर किया है। ऐसी भाषा–शैली का प्रयोग किया है जो पाठक पर अपना प्रभाव छोड़ती है। डॉ. तुलसीराम की रचना 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' की अन्तव. ंस्तु में जितनी भावों की गहराई है, उतनी ही अभिव्यक्ति में सहजता और प्रमाणिकता मिलती है। इनमें वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक एवं व्यंग्य आदि बौली का प्रयोग हुआ है।

'मुर्दहिया' आत्मकथा में लेखक तुलसीराम ने अपने जीवन के अनुभवों, प्रसंगों और घटनाओं को आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में 'मुर्दहिया' का एक प्रसंग प्रस्तुत है– ''सन् 1961 के ही जाड़े की बात है, पिताजी माँ को मारने के लिए फरूही लेकर दौड़े। मैं वही खड़ा था। मैंने बहुत जोर से पिता जी को एक तमाचा मारा। उन्होंने मुझे उलटकर वैसे ही मारा। मुझे ऐसा लगा था कि मानों मैं अन्धा–सा हो गया। किन्तु इस घटना का परिणाम यह हुआ कि आगे पिताजी माँ को मारने से घबराने लगे।''[4] उपरोक्त प्रसंग में अनुभूति की प्रमाणिकता झलकती है। उन्होंने अपने जीवनानुभवों के मार्मिक प्रसंगों को आत्मकथात्मक शैली में सहजता से अभिव्यक्त किया है। इसमें सामाजिक जीवन की उथल–पुथल को रेखांकित करने हेतु व्यंग्य शैली का प्रयोग दृष्टव्य है। डॉ. तुलसीराम ने अंध ाविश्वास, धार्मिक मान्यताओं एवं पाखण्डों को आत्मकथा में चिन्हित किया है। इससे जुड़ा एक प्रसंग इस प्रकार है– ''अंधविश्वासों की कड़ी में हमारे घर की एक भाभी दुलरिया एक तरह से मनोरोग से पीड़ित हो गई। उनका अक्सर पेट दर्द करता और वह तुरंत ओझैती वाली भभूत माँगने लगती। कुछ दिन तक तो मैं चमैनिया से भभूत लाकर देता रहा, किन्तु बाद में मुझे एक खुरापात सूझती। मैं मुर्दहिया के पास नटनिया की झोपड़ी से राख लेकर एक पलाश के पत्ते में लपेटकर कुछ देर बाद घर वापस आ जाता। इस राख को भी खाकर वह कहती कि पेट दर्द ठीक हो गया।''[5] इस तरह स्पष्ट है कि लेखक ने व्यंग्य–शैली में धार्मिक पाखण्डों का पर्दाफाश किया है। इसलिए आत्मकथा के दोनों खण्डों में वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक एवं व्यंग्य शैली का प्रयोग किया है। सामाजिक विसंगतियों को रेखांकित करने के लिए लेखक ने व्यंग्य शैली का प्रयोग किया है जो सटीक है। इस संदर्भ में डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है– ''हजारों साल की यह वेदना समूह रूप में व्यक्त होती है। क्योंकि यह वेदना एक 'मैं' की वेदना नहीं है। पूरे दलित समाज की है। इसलिए इस वेदना का स्वरूप सामाजिक है।''[6]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि डॉ. तुलसीराम हिन्दी के मूर्धन्य लेखक है। इनकी आत्मकथा हिन्दी साहित्य में मील का पत्थर साबित हुई। दलित साहित्य पर शिल्प को लेकर आरोप लगते रहे है। कविता, कहानी या आत्मकथा आदि विधाओं की भाषा–शैली साहित्य की चली आ रही परम्परागत भाषा–शैली से हटकर है। इसी संदर्भ में प्रो. मैनेजर पाण्डेय का कहना है यह दलित साहित्य का अपना सौन्दर्यशास्त्र है, अपना शिल्प। दलित आत्मकथाओं का अपना संसार है, उनमें नई संवेदनाएँ है। कई आला. ंचकों ने इस नयेपन को नकारा है, इस पर कमजोर होने का आरोप मढ़ा है। वहीं दूसरी तरफ कुछ आलोचकों ने इसे मुख्यधारा के साहित्य का आईना दिखाने वाला बताया है। 'दोहरा अभिशाप' की भाषा–शैली संयोजित है। उन्होंने अलंकारों, कहावतों एवं लोकोक्तियों से युक्त भाषा प्रयोग किया है। वे अपने पति के सम्बन्ध और स्त्री शोषण के संदर्भ में लिखती है–

–मानो मेरे पीछे बाघ दौड़ा आ रहा है।

–मंहगाई ने तो माँ–बाप की कमर तोड़ दी थी।

'दोहरा अभिशाप' की भाषा–शैली सहज, सरल और अनावश्यक कलात्मकता से परे है। इसमें वृतांत, व्यंग्यात्मक और कलात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। ऐसी भाषा–शैली का प्रयोग रचना को सुन्दर बनाता है। इसका एक उदाहरण

इस प्रकार है– ''मैं जाति–पाँति नहीं मानती। मेरे एक लड़के की पत्नी आयंगार ब्राह्मण है, मद्रास की, दूसरे की पत्नी बंगा. ली कायस्थ और तीसरे मध्यप्रदेश की। हमारे सगे रिश्तेदारों की शादियां राजस्थानी, नेपाली, गोवानीज, उत्तरप्रदेशीय आदि में हुई है। जाति तो हमने कब की झटक दी है।''[7]

'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा वृतांत शैली और सहज भाषा में अनुभूतियों को संप्रेषित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसी संदर्भ में आत्मकथा की भूमिका में मस्तराम कपूर लिखते है– ''यह एक सीधी–सादी जीवन कथा है जो हर प्रकार के साहित्यिक छलों से मुक्त है।''[8] इसका शिल्प विधान पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल रहा है। अस्पृश्य समाज में रहते हुए लेखिका ने आत्मपीड़न को बिना किसी विशेष कलात्मक सौन्दर्य के सहज, सरल एवं सधे हुए शब्दों में वर्णित किया है। इसमें चित्रात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक, व्यंग्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक आदि शैली का प्रयोग किया है जिस कारण इस आत्मकथा को महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' आत्मकथा में बालश्रम, गरीबी अशिक्षा, अन्धविश्वास, स्त्री–शोषण आदि का चित्रण मिलता है। उत्तरप्रदेश के पाली, मुकीमपुर एवं नंदरौली आदि क्षेत्र के भौगोलिक परिवेश का सूक्ष्माकन करती है। इसमें ले खक के बाल मजदूर से शिक्षित होने की यात्रा का चित्रण बोलचाल की भाषा में किया है। 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' आत्मकथा में यातनाओं की अधिकता है। लेखक के पिता की असमय मृत्यु हो जाने के कारण आर्थिक तंगी का दौर शुरू हो गया था। लेखक आत्मकथा में बताते हैं कि ''परिवार के भरण–पोषण के लिए पौने दो बीघे जमीन थी जिसमें ताऊ का आधा हिस्सा था। उसमें एक बीघा कल्लर (बंजर) की चपेट में आ चुका था।''[9]

उपरोक्त उदाहरण से पता चलता है कि आत्मकथा में सहज, सरल और ग्रामीण भाषा–शैली का प्रयोग किया हैं। इसमें वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक एवं व्यंग्यात्मक आदि शैलियों का प्रयोग किया है। इसमें गद्यात्मकता की अधिकता है। वहीं लेखक ने सहज, सरल, चित्रात्मक भाषा का प्रयोग कर प्रसंगों को सजीव कर दिया है। इसमें दलित समाज की संरचना का बेबाकी से चित्रण किया है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं– ''अम्मा उन दिनों मानसिक रूप से बेहद परेशान थी। उसे हमारी चिंता थी। हमारा उजड़ता हुआ भविष्य उसे साफ दिखाई दे रहा था। जिस भिखारी को उसने सहारा देने के लिए चुना था, वही उसके बच्चों का भविष्य चौपट करना चाहता था।''[10]

इस आत्मकथा में दलित बचपन और उससे उपजे कारणों पर प्रकाश डाला है। इसे बारह अध्यायों में बांटा गया है। इसके अध्याय है– 'बेवक्त माली गुजर गया', 'रामलाल : तेज धूप में जर्जर साया,' 'घर? बगुला भक्ति', 'कॉम के ठेकेदार', दो रोटी भर के चून' की चोरी पेशी प्रधान के', 'दिल्ली : बड़ी दुनिया में छोटे कदम', 'यहाँ एक मोची रहता था आदि।' इसके कुछ अंश 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित हुए। भारतीय समाज में व्यवस्थागत भिन्नता रही है। इस आत्मकथा में भारतीय दलित समाज का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। इसके माध्यम से लेखक ने समाज की विद्रूपताओं पर प्रहार किया है। वहीं पाठक से संवाद कायम करने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में कंवल भारती लिखते हैं–

''सिर्फ तिलमिलाने से काम नहीं चलता। टकराव की स्थिति छोड़कर हमें सामंजस्य का परिवेश निर्मित करना चाहिए।''[11] इस आत्मकथा में लेखक ने बहुआयामी जीवन दृष्टि प्रदान की है। उन्होंने अपने गांव के साथ–साथ आसपास के गांवों के व्यवसाय और दलितों को आर्थिक स्थिति का विवरण प्रदान किया है। उन्होंने पाली और आस–पास के क्षेत्रों के रोजगार संबंधी सर्वे भी करवाया इसी संदर्भ में वे आत्मकथांश में लिखते हैं– ''पेशे के आधार पर भी यह समाज बँटा हुआ है– रंगईया, चर्मकार या चर्म–शोधक या भट्ठे पर जाने वाले भूमिहीन थे। जो थोड़ी बहुत जमीन के मालिक थे, वे न चमड़े का काम करते थे न भट्ठे पर जाते थे। चमारों का मोहल्ला दो भागों में बंटा था। इनके अलग–अलग कुएँ थे। इनमें परस्पर खान–पान नहीं होता था।''[12]

इस तरह लेखक ने जाति–व्यवस्था, सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन, आर्थिक समस्याओं आदि का वर्णन–विश्लेषण किया है। वहीं व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग भी किया है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं– ''जामे कोई अन्ध ीं, कोई लंगड़ों ही होत है। सही सलामत होत ही कौन है? और जो होत है, सो मरिजात है। उन दिनों मुझे बोझ

बनी अपनी जिंदगी को कन्धों पर ढोते रहने का कोई अर्थ नहीं मिल रहा था।''[13] कुल मिलाकर इस आत्मकथा के केन्द्र में दलित बाल–मजदूर की त्रासदीपूर्ण पीड़ा एवं संघर्ष का सूक्ष्मांकन मिलता है। वह बालक अपनी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा करते हुए शिक्षित होता है और समाज को नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है। इसमें घटनाओं का दोहराव है। स्मृतियों के आधार पर घटनाओं को लिखा गया है। दलित आत्मकथाओं में यथा स्थिति आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। सूरजपाल चौहान द्वारा लिखित आत्मकथा 'तिरस्कृत' एवं 'संतप्त' में यथार्थवादी एवं संघर्षात्मक शैली का प्रयोग किया है। यथार्थ वर्णन में परिवेश की वास्तविक भाषा ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। 'तिरस्कृत' और 'संतप्त' आत्मकथा में वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, चित्रात्मक, व्यंग्यात्मक आदि शैली का प्रयोग हुआ है। दलित समुदाय की पीड़ा, बेबसी, उत्पीड़न, शोषण आदि को चित्रित करने के लिए वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, व्यंग्यात्मक, एवं चित्रात्मक भाषा–शैली का सार्थक प्रयोग हुआ है। इसमें सामाजिक विसंगतियों पर दृष्टिपात किया है। इसमें परम्परागत हिन्दू समाज की आलोचना की गई है। वहीं दलित समाज की परम्पराओं, समस्याओं एवं जाति आधारित मान्यताओं का वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैली में अंकन किया है। लेखक ने दिल्ली और उसके आस–पास के क्षेत्रों में आई चेतना को रेखांकित किया है। इनमें दलित लेखक सूरजपाल चौहान ने अपने गांव सम्बन्धी अनुभव, बचपन की स्मृतियों, सवर्ण मानसिकता एवं घर–परिवार के खट्टे–मीठे अनुभवों का साकार चित्र खींचने का प्रयास किया है। लेखक के पिता साफ–सफाई का काम करते थे। वहीं माँ बेगारी के रूप में ठाकुरों के मुहल्ले में साफ–सफाई करती थी। एक बार जब वह बीमारी के चलते बेगारी करने नहीं जाती। ऐसे में गाँव का ठाकुर प्रताप उसे गालियाँ देता हुआ उसके घर आ जाता है। बदले में वह लेखक को लेकर चला जाता है। वहीं लेखक ने दलित विद्यार्थियों, स्कूली वातावरण और मौजूद शिक्षकों के जातिगत व्यवहार पर टिप्पणी की है। वे लिखते हैं– ''संस्कृत के अध्यापक वेदपाल शर्मा कहते है कि यदि देश के सारे चूहड़े चमार पढ़–लिख गए तो गली–मोहल्ला की सफाई और जूते बनाने का कार्य कौन करेगा।''[14]

उपरोक्त गद्यांश से स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज पर जातिगत व्यवहार का बोलबाला था। इसी संदर्भ में अजमेर सिंह काजल लिखते हैं– ''जातीय हीनता–बांध की स्थिति में ले जाने के लिए ऐसे व्यवहार पहली पीढ़ी के युवाओं को अधिक झेलने पड़े है। मगर आज की पीढ़ी भी ऐसे दुर्व्यवहारों से मुक्त नहीं हो पाई है।''[15]

'तिरस्कृत' में लेखक ने अपने संघर्षपूर्ण दिनों के बारे में बताया है। इसमें छुआछुत की मर्यादाओं को लांघकर गरीबी और अभावों के चलते लेखक और उसकी माँ शादी–विवाहों में झूठी पत्तलों को ठिकाने लगा कर बचा–खुचा खाना इकट्ठा कर घर ले जाते। दलित लेखक सूरजपाल चौहान ने यथार्थवादी शैली का प्रयोग करते हुए लिखा है, ''जब एक–एक निवालों के भी लाले हों और आदमी–आदमी के हाथों नारकीय जीवन जीने को विवश हो, तब वह स्वयं में और पशुओं में अंतर नहीं कर पाता।''[16] इसमें ग्रामीण दलित जीवन के कई ऐसे प्रसंग है जो पाठक की चेतना को परिष्कृत करते है और अतीत से जुड़ने की माँग करते है। लेखक ने अपने ननिहाल दलित जीवन का चित्रण किया है। इसी संदर्भ में गंगा सहाय लिखते हैं– ''गाँव की सारी गंदगी का केन्द्र गंदे पोखर के किनारे छितरे भंगी और चमारों के मुहल्ले। सामान्यतः होता यही है कि शहरों में ही नहीं, गाँवों में भी दलित परिवार ऐसी जगहों पर रहते हैं, जो सामान्य आबादी के रिहायशी इलाके के एक तरफ कोई गंदगी युक्त जगह होती है।''[17]

आत्मकथा के दूसरे खण्ड में लेखक ने सामाजिक विद्रूपताओं का उद्घाटन किया है। इसमें आत्मकथात्मक शैली में व्यक्तिगत जीवन के प्रसंगों का खुलासा किया है। परम्पराओं और समाज के अंतर्द्वन्द्व, परम्पराओं, जातिगत पूर्वाग्रह, और परम्परागत पेशे से उत्पन्न समस्याओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। लेखक की मौसी ने उन्हें साफ–सफाई के काम पर लगा दिया था। पिता के विरोध करने पर लेखक के जीवन में चेतना का प्रसार हुआ। उस नन्हें मन पर पिता की मार ने जीवन धारा को बदल दिया। इस आत्मकथा में दलित समाज का जीवंत और दाहक विवरण मिलता है जो अन्यत्र नहीं मिलता। इसमें एक ओर जहाँ जीवन की विडम्बनाओं का चित्र है, वहीं बचपन की स्मृतियों का सहज और सरल भाषा में अंकन है। इसमें

वर्णनात्मक, विश्लेषणात्क एवं व्यंग्यात्मक शैलियों आदि का प्रयोग मिलता है।

सुशीला टाकभौरे द्वारा 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा पारम्परिक प्रश्नों के साथ दलित समाज के इतिहास को रे खांकित करती है। इसमें साहित्यिक भाषा–शैली के साथ–साथ सहज, सरल, संतुलित और प्रवाहमयी भाषा का प्रयोग किया है जिससे पाठक भावविभोर हो जाता है। 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा में भावात्मक, व्यंग्यात्मक और वृतान्त शैली का प्रयोग किया है। जीवन के मार्मिक प्रसंगों का चित्रण सुशीला बड़े संवेदनशील ढंग से करती है। विवाह हो जाने के बाद परिवार और समाज एक स्त्री से यह उम्मीद करता है कि वह अपनी कोख से बच्चे पैदा करें। ऐसा न हो तो उसे तरह–तरह के उपहास और अपमान का हिस्सा बनना पड़ता है। इसी तरह का एक प्रसंग प्रस्तुत है– ''ये तो बांझ बंझौटी है। इसको बच्चे नहीं होंगे। बार–बार यह सुनकर मेरा दिल तार–तार हो जाता। 1974 से 77 तक यही बातें सुनते–सुनते मैं इतनी दुखी हो गई कि रास्ते चलते किसी किसी के बच्चे को देखती तो दे खती रह जाती।''[18]

इसी तरह रजनी तिलक द्वारा लिखित 'अपनी जमीं अपना आसमां' में विभिन्न शैलीगत प्रयोग किये गए हैं। इसमें वर्णनात्मक, व्यंग्यात्मक, विवरणात्मक शैली का प्रयोग किया है। अपनी भाषा को जीवंत एवं प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए लेखिका ने स्थानीय परिवेश की बोली का प्रयोग किया है। वहीं भारत–पाक के विभाजन की त्रासदी एवं उससे उपजे परिणामों पर प्रकाश डाला है। लेखिका ने वर्णनात्मक और व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। वे लिखती है– ''हमारे दादा, भाईजी, मेरे नाना–नानी, मेरे चाचा और हमारे आस–पास बि खरे–उजड़े हुए लोग उच्च जातियों द्वारा सताये गए। हमारी बिरादरी के लोगों की जिंदगी में झांककर इस उजड़न को देखा जा सकता है। मैं भी ऐसी जातीय हिंसा के शिकार परिवार के मरुस्थल की कैक्टस हूँ, जिन्होंने जातीय अत्याचारों और बहिष्कार को झेला है।''[19]

दलित आत्मकथाकार कावेरी की आत्मकथा टुकड़ा–टुकड़ा जीवन में विभिन्न शैलियों का प्रयोग मिलता है। इसमें वर्णनात्मक, प्रश्नात्मक, व्यंग्यात्मक एवं विवरणात्मक आदि शैलियों का प्रयोग मिलता है। इसी तरह अनिता भारती की आत्मकथा 'छूटे पन्नों की उड़ान' में भी विविध शैलियों का प्रयोग मिलता है जो दृष्टव्य है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि दलित आत्मकथाओं का शिल्प बेजोड़ है। इनमें नवीनता, ताजगी और विविधता है जो अन्य आत्मकथा साहित्य में दुर्लभ है। दलित आत्मकथा साहित्य में विविध शैलियों जैसे वर्णात्मक, विवरणात्मक, विश्लेषणात्मक, व्यंग्यात्मक आदि शैलियों का प्रयोग हुआ है। इस कारण इनका शिल्प–सौन्दर्य विशेष है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. नैमिशराय, मोहनदास, अपने–अपने, पिंजरे, पृ. 18
2. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, जूठन, भाग–1, पृ. 121
3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, जूठन, भाग–1, पृ. 163
4. डॉ. तुलसीराम, मुर्दहिया, पृ. 126
5. डॉ. तुलसीराम, मुर्दहिया, पृ. 148
6. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और दलित दृष्टि, पृ. 117
7. बैसंत्री कौसल्या, दोहरा अभिशाप, पृ. 116
8. वही, पृ. 28
9. बैचेन, श्यौराज सिंह, मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, पृ. 26
10. बैचेन, श्यौराज सिंह, मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, पृ. 51
11. भारती, कंवल, दलित साहित्य की अवधारणा, पृ. 67
12. बैचेन, श्यौराज सिंह, मेरा बचपन मेरे कन्धो पर, पृ. 56
13. वही, पृ. 135
14. चौहान, सूरजपाल, तिरस्कृत, पृ. 13
15. काजल, अजमेर सिंह, दलित आत्मकथाएँ वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपातंरण, पृ. 99
16. चौहान, सूरजपाल, तिरस्कृत, पृ. 16
17. तिरस्कृत में दलित चेतना, मीणा, गंगा सहाय, अपनी माटी, अंक– 35–36, जनवरी–जून, 2021, पृष्ठ–34
18. टाकभौर, सुशीला, शिंकजे का दर्द, पृ. 157
19. तिलक, रजनी, अपनी जमीं अपना आसमां, पृ. 12

*****

पाठ्यचर्या की अवधारणा : एक सैद्धांतिक अन्वेषण

-नेहा भगत (Correspondent Author)
विद्यार्थी, क्लस्टर विश्वविद्यालय, जम्मू,
nehabhagat26012002@gmail.com

-अखिलेश कुमार गौतम (Correspondent Author)
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (अतिथि),
महर्षि वाल्मीकि शिक्षा महाविद्यालय, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली akhilesh.gautam09@gmail.com

-निपुण निशान्त(Correspondent Author),
शोधार्थी, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
nipun2nishaht@gmail.com

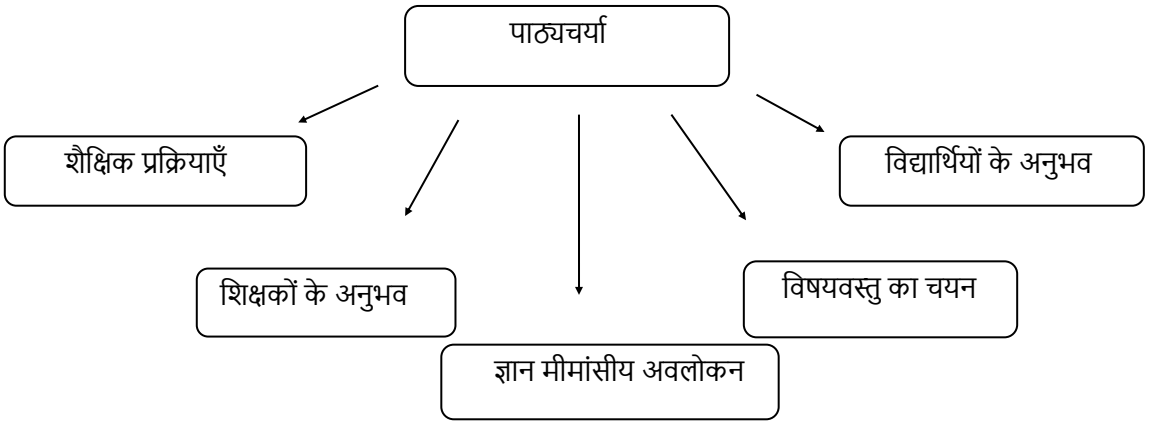
सार

शैक्षिक सिद्धांतों में पाठ्यचर्या की अवधारणा एक केन्द्रीय स्थान रखती है, फिर भी यह अवधारणा निरंतर विचारणीय एवं गतिशील रहती है और बहुत अधिक संदर्भ उन्मुख होती है। यह अवधारणात्मक पर्चा पाठ्यचर्या को एक तय पाठ्यक्रम या विषयवस्तु के एक स्थिर हिस्से से कहीं ज़्यादा के तौर पर आलोचनत्मक विश्लेषण करता है। पाठ्यचर्या अध्ययन में क्लासिकल और पुरातन नज़रिए को ध्यान में रखते हुए, यह पर्चा जांचता है कि पाठ्यक्रम को एक वस्तु , प्रक्रिया , अभ्यास और जीवित अनुभव के तौर पर कैसे विकसित किया गया है। यह उन दार्शनिक, सामाजिक और वैचारिक मूल्यों की जांच करता है जो पाठ्यचर्या के विचार को आकार देते हैं, और इसके निर्माण में प्रभाव, संस्कृति, ज्ञान के चयन और मूल्यों के असर को रेखांकित करता है। इस सैद्धांतिक अन्वेषण का उद्देश्य पाठ्यचर्या के आस-पास की अवधारणात्मक विरोधाभासों एवं भ्रमों को स्पष्ट करना और समकालीन शिक्षा में इसके विकसित हो रही प्रकृति को समझने के लिए एक रूपरेखा प्रदान करना है।

मुख्य शब्द – पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम, गतिशीलता, अवधारणात्मक, समकालीन शिक्षा।

भूमिका

पाठ्यचर्या शिक्षा से जुड़ा हुआ ऐसा महत्वपूर्ण पक्ष है जो एक लंबे समय से शिक्षा जगत को दिशा-निर्देशित करता रहा है। चूंकि इसका विस्तार लगभग संपूर्ण विश्व में है इसलिए सांस्कृतिक, क्षेत्रीय, राजनीतिक और भौगोलिक विविधताओं के साथ इसकी मौलिक अवधारणा के विविध पक्ष हैं और विभिन्न आयाम है। इस अवधारणा के संबंध में सिद्धांतकारों के मत भी काफी भिन्नताएँ लिए हुए हैं। एक तरफ साओं वेन सु (2012) पाठ्यचर्या को शिक्षा जगत की एक महत्वपूर्ण अवधारणा मानती हैं। उनके अनुसार पाठ्यचर्या एक विस्तृत अवधारणा है जो अपने भीतर शिक्षा से जुड़े कई मुद्दे और सरोकार लिए हुए है। दूसरी तरफ प्रैट (1994) भी पाठ्यचर्या की एक विस्तृत परिभाषा करते हैं। उनके अनुसार पाठ्यचर्या शब्द का उद्भव लैटिन भाषा से हुआ है जिसका अर्थ 'भागना' या 'भागने के मैदान' से लिया जाता है। परंतु, 19वीं सदी में पाठ्यचर्या की अवधारणा शिक्षा से जुड़नी शुरू हुई जिसने इसे शिक्षा-जगत की एक महत्वपूर्ण अवधारणा बना दिया। बैरो और मिलबर्न (1990) पाठ्यचर्या के बहुआयामी स्वरूप के संबंध में टिप्पणी करते हैं, कि पाठ्यचर्या एक बहुआयामी चरित्र लिए हुए है जिसके अन्तर्गत वह शिक्षा जगत से जुड़े हुए विभिन्न अंतःक्रियाओं, प्रक्रियाओं और सामंजस्यों को सम्मिलित किए हुए हैं। लॉगस्ट्रीट और शेन (1993) पाठ्यचर्या के संबंध में एक महत्वपूर्ण विवेचना करते हैं कि पाठ्यचर्या एक ऐतिहासिक दुर्घटना है। यह किसी पूर्वनिर्धारित उद्देश्यों के संबंध में नहीं गढ़ी गई अपितु यह इस शैक्षिक जगत की निर्णय लेने की जटिल प्रक्रियाओं के बीच समय साथ विकसित हुई है। व्यु चैंप (1977) इस संबंध में मानते हैं कि पाठ्यचर्या शब्द का प्रयोग कई बार काफी सीमित अर्थों में किया जाता है तो कुछ संदर्भों में काफी विस्तृत रूपों में, परंतु पाठ्यचर्या संकीर्णता से विस्तार की प्रक्रिया को लिए हुए एक जटिल अवधारणा है। वह आगे लिखते हैं कि संकीर्ण अर्थों में हम पाठ्यचर्या को मात्र कुछ शैक्षिक उद्देश्यों तक पहुँचने का साधन मान सकते हैं परंतु अपने विस्तृत अर्थों में पाठ्यचर्या, पाठ्यचर्या निर्माण की एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत विभिन्न शैक्षिक प्रक्रियाएँ, शिक्षकों के अनुभव, विद्यार्थियों के अनुभव, विषयवस्तु के चयन आदि मुद्दों को सम्मिलित किए हुए है।

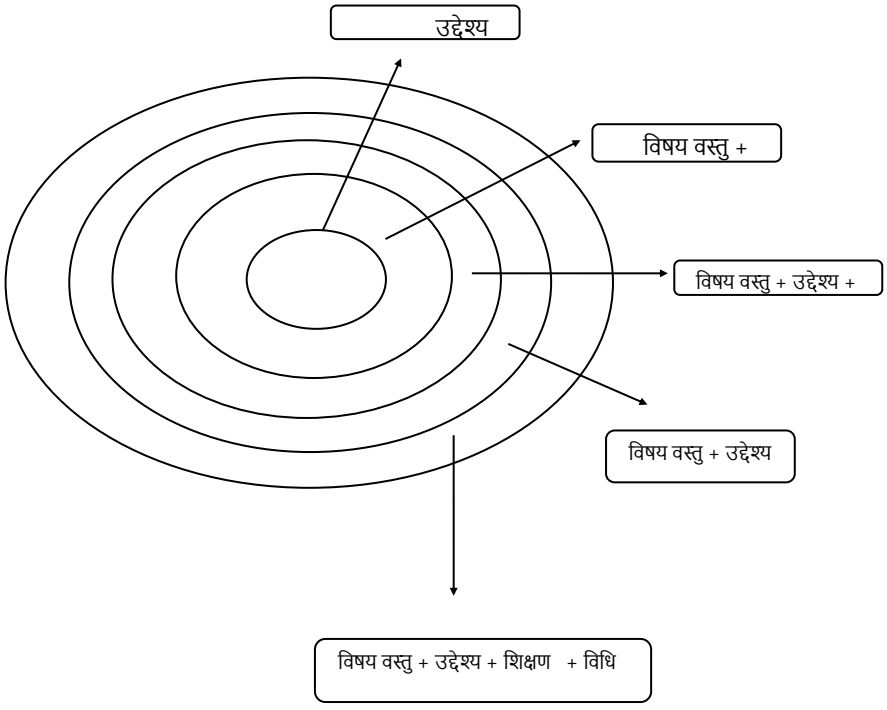


पाठ्यचर्या को गढ़ते भिन्न कारक

पाठ्यचर्या को समझने के लिए, पाठ्यचर्या की अवधारणा को समझने के लिए उपरोक्त सैद्धांतिक उदाहरण यह स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि पाठ्यचर्या एक बहुआयामी अवधारणा है और उसके विभिन्न पक्ष हैं। मुख्य रूप से पाठ्यचर्या की अवधारणा के पाँच पक्षों की चर्चा की जाती है जो कि निम्नलिखित हैं-

1. पाठ्यचर्या उद्देश्यों का एक समुच्चय है।

पाठ्यचर्या का एक पक्ष यह मानता है कि पाठ्यचर्या उद्देश्यों का एक समुच्चय है। और इन उद्देश्यों के इर्द-गिर्द ही यह शिक्षण अधिगम प्रक्रियाओं को निर्देशित करता है। यह आयाम यह भी मानता है कि पाठ्यचर्या में वर्णित उद्देश्य विभिन्न संस्थाओं द्वारा नियंत्रित किए जाते हैं। इस आयाम को सरल शब्दों में समझा जाए तो यह पाठ्यचर्या को काफी सीमित रूप में बांध देता है।



पाठ्यचर्या की अवधारणा

2. पाठ्यचर्या विषयवस्तु का एक कोर्स है।

पाठ्यचर्या की अवधारणा का ये आयाम पाठ्यचर्या को विषयवस्तु के चयन की एक प्रक्रिया के रूप में देखता है। इस आयाम को मानने वाले प्रमुख सिद्धांतकार बे पैंप, वुड और डेविस हैं। प्रस्तुत आयाम के अनुसार पाठ्यचर्या उन सभी विषयवस्तु का चयन करती है जिन्हें किसी शैक्षिक संदर्भ में प्रयोग में लाना है। यह एक प्रकार का निर्देशन कार्य है। विषयवस्तु का चयन और उसको शैक्षिक संदर्भों के प्रयोग में लाना एक बहुआयामी कार्य है जो विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और भौगोलिक कारकों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है।

3. पाठ्यचर्या एक योजना के रूप में।

पाठ्यचर्या का ये आयाम पाठ्यचर्चा को एक योजना के रूप में परिभाषित करता है। इसके अनुसार पाठ्यचर्या शैक्षिक गतिविधियों को व्यवस्थित रूप से लागू करवाने का एक ब्लूप्रिंट है। इन अर्थों में पाठ्यचर्या विषयवस्तु के साथ-साथ निर्देशन प्रविधि को भी अपने में सम्मिलित कर लेती है। टॉम (1984) इस संबंध में लिखते हैं पाठ्यचर्या एक शिक्षण की योजना है। प्रैट (1994) के अनुसार पाठ्यचर्या शिक्षण अधिगम की एक समग्र प्रक्रिया है। वे आगे अपने कथन को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि वास्तविक शिक्षण अधिगम की प्रक्रिया पाठ्यचर्या नहीं है अपितु यह निर्देशन गतिविधियों की एक योजना है। इन अर्थों में प्रैट भी पाठ्यचर्या को एक ब्लूप्रिंट मान लेते हैं।

4. पाठ्यचर्या एक दस्तावेज़ के रूप में।

ब्रैडी (1995) पाठ्यचर्या को एक दस्तावेज़ के रूप में देखते हैं, उनके अनुसार पाठ्यचर्या एक शैक्षिक कोर्स की वह रूपरेखा है जो एक कागज के टुकड़े पर लिखी हुई है। अपने इस रूप में पाठ्यचर्या एक आधिकारिक दस्तावेज़ बन जाती है जो कि शिक्षा मंत्रालय या क्षेत्रीय प्राधिकरणों द्वारा प्रकाशित की जाती है। अपने इन अर्थों में पाठ्यचर्या एक व्यवस्थित रूप से गठित दस्तावेज़ बन जाती है। जिससे की इसको लागू करवाने में काफी सहूलियत होती है। बैरो और मिलबर्न (1990) के अनुसार एक लिखित दस्तावेज़ के रूप में पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम का पर्यायवाची बन जाती है।

5. पाठ्यचर्या अनुभवों के समुच्चय के रूप में।

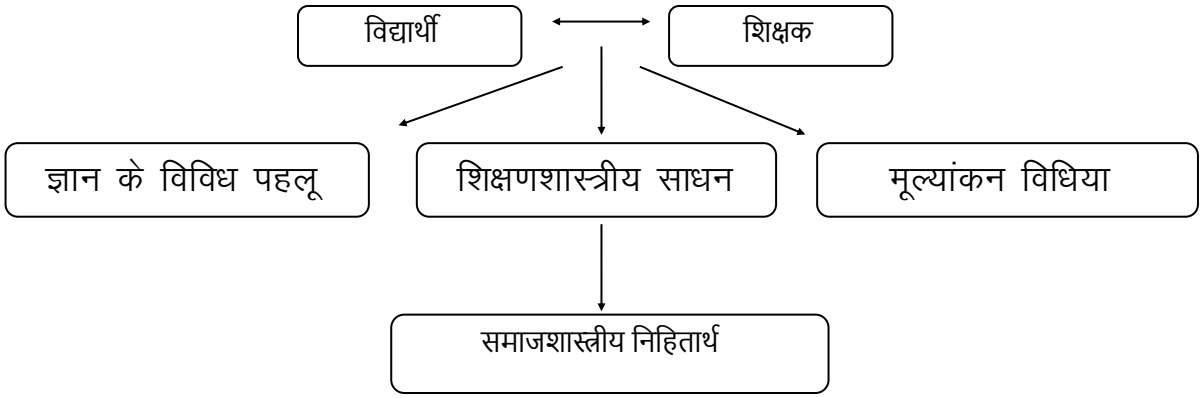
पाठ्यचर्या के संकीर्ण आयामों के इतर यह आयाम पाठ्यचर्या को एक विस्तृत रूप प्रदान करता है जो इसे मात्र कुछ उद्देश्यों के क्रियान्वयन की सीमा से बाहर निकालकर खड़ा कर देता है। यह आयाम पाठ्यचर्या को एक संपूर्ण और समग्र कार्यक्रम के रूप में देखता है। मार्स (1997) इस संबंध में विस्तृत विवेचना करते हैं। इनके अनुसार पाठ्यचर्या अन्तर्संबंधित योजनाओं और विद्यार्थी अनुभवों का एक समुच्चय है। इस परिभाषा के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पाठ्यचर्या योजनाओं और अनुभवों के अन्तर्संबंधों पर आधारित एक दस्तावेज़ है। जहाँ एक ओर योजना का अभिप्राय पूर्व निर्धारित पाठ्यचर्या से है वहीं अनुभवों का संबंध कक्षा में होने वाली अनियोजित घटनाओं से है।

उपरोक्त सैद्धांतिक विमर्श हमें यह स्पष्ट रूप से बताते हैं कि पाठ्यचर्या की अवधारणा को लेकर विद्वानों में काफी भिन्नता उपस्थित है। जहाँ एक ओर यह भिन्नता पाठ्यचर्या की परिभाषा को विस्तार देती है वहीं दूसरी ओर यह शोधार्थी को पाठ्यचर्या की विविध विशेषताओं को चिन्हित करने का अवसर प्रदान करती है। इन विशेषताओं के आधार पर हम पाठ्यचर्या की एक क्रमागत रूपरेखा खींच सकते हैं। यह रूपरेखा पाठ्यचर्या निर्माण को सात क्रमिक बिन्दुओं में स्पष्ट करती है, जोकि निम्नलिखित हैं-

1. जरूरतों की पहचान,
2. उद्देश्यों का निर्धारण करना,
3. विषयवस्तु का चयन करना,
4. विषयवस्तु को व्यवस्थित करना,
5. अधिगम अनुभवों का चयन करना,
6. अधिगम अनुभवों को व्यवस्थित करना,
7. पाठ्यचर्या लागू होने के बाद उसकी सफलता या असफलता का मूल्यांकन करना।

पाठ्यचर्या के संबंध में किया गया उपरोक्त सैद्धांतिक विश्लेषण यह स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि पाठ्यचर्या एक व्यवस्थित रूप से गठित दस्तावेज़ है, जो अपने भीतर शैक्षिक उद्देश्यों, विषयवस्तु के चयन के निर्देशन सिद्धांतों, शिक्षक और विद्यार्थियों के अनुभवों एवं मूल्यांकन की प्रक्रियाओं को समेटे हुए है। परंतु पाठ्यचर्या अपने व्यापक अर्थों में इससे से भी कुछ अधिक है। छुपी हुई पाठ्यचर्या (हिडन करिकुलम) की अवधारणा इस संबंध में हमारा मार्गदर्शन करती है। हिडन करिकुलम एक ऐसा करिकुलम है जो विद्यालयी समाज और शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में प्रभावशाली ढंग से उपस्थित होता है परंतु यह पाठ्यचर्या के निर्धारित दस्तावेज़ में अंकित नहीं होता। इसे हम पाठ्यचर्या का एक सामाजिक वास्तविक से जुड़ा पक्ष कह सकते हैं। अगर उदाहरण की सहायता से समझें तो शिक्षक कक्षा में प्रयुक्त पाठ्यपुस्तक और निर्धारित पाठ्यचर्या के निर्देशन के आधार पर कक्षा शिक्षण करने के लिए प्रतिबद्ध होता है। वह कक्षा में क्या संप्रेषित करता है यह उसके सामाजिक संदर्भों में उपस्थित व्यवस्था से प्रत्यक्ष रूप से निर्देशित होता है। शिक्षक गैर इरादतन रूप से समाज

में उपस्थित वर्चस्व अनुक्रम को ले आता है। यही प्रक्रिया विद्यालय की अन्य प्रक्रियाओं में भी दुहराई जाती है और विद्यार्थियों के आपसी अंतःक्रिया में भी इसका अनुकरण होता है। इस उदाहरण से हम यह समझ सकते हैं कि पाठ्यचर्या जिन उद्देश्यों को लेकर चलती है विद्यार्थी उन उद्देश्यों के इतर भी काफी कुछ सीखते हैं जो पाठ्यचर्या के उद्देश्यों में सम्मिलित नहीं होते। इसको हम हिडन करिकुलम कह सकते हैं। जीरु (2001) इस संबंध में हमारा मार्गदर्शन करते हैं। उनके अनुसार विद्यार्थियों और शिक्षकों की आपसी अंतःक्रिया में ज्ञान के विविध पहलू, शिक्षणशास्त्रीय साधनों और मूल्यांकन विधियाँ अपने साथ गहरे समाजशास्त्रीय निहितार्थ लिए हुए होती हैं।



विद्यार्थियों और शिक्षकों की आपसी अंतःक्रिया

जब कोई बच्चा अपने समाज का एक विस्तृत चित्र खींच लेता है और अपनी भविष्य की भूमिकाओं के संबंध में इस चित्र का अनुकरण करने लगता है, तो वह विद्यालय के वातावरण को खाली बक्से के समान नहीं रहने देता अपितु वह समाज की विभिन्न विशेषताओं, कुरीतियों, वर्चस्व की संरचनाओं और आर्थिक भूमिकाओं से संबंधित ज्ञान को विद्यालय परिसर में साथ लेकर रहता है। और, इसी प्रकार से अन्य विद्यार्थी भी समाज से इन विशेषताओं को लेकर विद्यालय में आते हैं, और जब वह आपस में संवाद या अंतःक्रिया करते हैं तो वह काफी कुछ नया सीखते हैं जिसमें कुछ नकारात्मक होता है तो कुछ सकारात्मक होता है। ऐसे में विद्यालय एक ऐसी जगह बन जाती है जहाँ सिर्फ पाठ्यचर्या में अंकित निर्देशों का पालन नहीं होता अपितु ज्ञान की परिभाषा करने के विविध दृष्टिकोण भी पैदा होते हैं। फिलिप जैक्सन (1968) इस संबंध में मानते हैं कि विद्यालय एक स्तर पर सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के एक साधन के रूप में कार्य करने लगता है। जीरु (2001) इस प्रक्रिया को सरलता से परिभाषित करते हुए कहते हैं कि हिडन करिकुलम विद्यार्थियों को परंपराओं, मूल्यों और विश्वासों को हस्तांतरित करने की एक प्रक्रिया है जो कि विद्यालय और कक्षा की दैनिक प्रक्रियाओं में उपस्थित होती है। फिलिप जैक्सन (1968) हिडन करिकुलम के संबंध में अपनी पुस्तक 'लाइफ इन क्लास रूम' में लिखते हैं कि विद्यार्थी स्कूल और कक्षाओं में विभिन्न माध्यमों से समाज में उपस्थित वर्चस्व, शक्ति और अनुक्रम की अवधारणाओं को आत्मसात करते हुए असमानता की अवधारणा को भी आत्मसात कर लेते हैं। पॉल भंडारी (2014) द्वारा दिल्ली में किए गए अपने एथनोग्राफी शोध के माध्यम से यह बताते हैं कि विद्यार्थी माध्यमिक स्तर तक आते-आते विभिन्न समूहों में बंट जाते हैं ओर इस बंटवारे का आधार शैक्षणिक, व्यवहारपरक आदतें और सामाजिक स्तर होता है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि कक्षा और विद्यालय में विद्यार्थी मात्र वह नहीं सीखता है जो पाठ्यचर्या में निर्धारित होता है अपितु वह बहुत सारी चीजें भी सीखता है।

उपरोक्त सैद्धांतिक विमर्श पाठ्यचर्या को विस्तृत रूप से परिभाषित करता है और उसकी विशेषताओं और आयामों पर प्रकाश डालता है। परंतु अब प्रश्न यह उठता है कि विद्यालय में पाठ्यचर्या किस रूप में पहुँचती है। अगर हम सभी पहलुओं पर नज़र डालें तो विद्यालय में पाठ्यचर्या की मौलिक प्रतिनिधि पाठ्यपुस्तकें ही होती हैं। पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन से ही हमें पता चलता है कि पाठ्यचर्या में उल्लिखित विषय उद्देश्य किस हद तक एक साधन के रूप में विद्यालय में पहुँच पाए हैं। हालाँकि कोई भी पाठ्यपुस्तक का निर्धारण पाठ्यचर्या में उल्लेखित उद्देश्यों के अनुरूप होता है। परंतु यह प्रक्रिया इतनी सरल और सीधी नहीं है, चूंकि पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तक के बीच के स्थान में बहुत से कारक भूमिका निभाते हैं जिनको जानने और समझने के लिए हमें पाठ्यपुस्तकों के निर्माण और अवधारणा को विस्तार से समझना होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- Brady, L. (1995). Curriculum development. Sydney: Prentice Hall.
- Chen, Y.U.H.(2007). The role of culture in a EFL curriculum of the 21th century. Selected paper from the sixteenth international symposium on English Teaching (pp119-129). Taipei, Taiwan: Crane.
- Giroux, H. A. (2001). Theory and resistance in education: Towards a pedagogy for the opposition. Westport, CT: Bergin and Garvey.
- Giroux, H. A., & Giroux, S. S. (2004). Take back higher education. Hampshire, England: Palgrave Macmillan.
- Jackson, P. (1986). Life in Classrooms. Newyork: Holt, Rinehart, and Winston. Pp. 33-35
- Longstreet, W.S., & Shane, H.G.(1993). Curriculum for a new Millennium. Boston: Allyn and Bacon.
- Marsh, C. J. (ed.) (1997). Perspectives: Key concepts for understanding curriculum 1. London & Washington, D.C.: The Falmer Press.
- Philip Wesley Jackson (1968). Life in Classrooms. Holt, Rinehart and Winston. Reprinted as Philip Wesley Jackson (1990). Life in Classrooms. Teachers College Press. pp. 33–37. ISBN 978-0-8077-7005-4.
- Pratt, D.(1994). Curriculum planning:A Handbool for Professionals. Frot worth: Harcourt Brace College Publishers.
- Pratt, D.(1980). Curriculum Design and development. New York: Harcourt Brace Jovanovich inc.
- Tom, A. R. (1984). Teaching as a moral craft. New York: Longman.
- Van Els, T. et al. (1984). Applied Linguistics and the learning and teaching of foreign languages. London: Edward Arnold.

*****

तालाबों का क्षेत्र के सामाजिक ,आर्थिक स्थिति पर प्रभाव

-आशीष कुमार सिंह
शोध छात्र,
सल्तनत बहादुर पी 0 जी 0 कॉलेज बदलापुर, जौनपुर

विकास खण्ड रामपुर कुल 10 न्यायपंचायतों व 185 ग्रामपंचायतों में बटा हुआ है | जिसमें कुल 173 तालाब स्थित है, जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप में ग्रमीणों के सामाजिक या आर्थिक जीवन पर पड़ता है | कृषि व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण भाग माने जाने वाले "तालाब" ग्रामीण जीवन के ही नही वरन् शहरों एवम् कस्बों के भी पहचान हुआ करतें थे | सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में ऐसा कोई गॉव , शहर या कस्बा नही जहॉ पर ज्यादातर मात्रा में तालाब न पाये जाते हो | पुराने समय में तालाब खेती – किसानी के ही नही अपितु प्यास बुझाने के सबसे सुलभ श्रोतों के रूप में विद्यमान थे | परन्तु आज आधुनिक नये –नये विकास के मॉडल अपनाये जाने के कारण लोगों में तालाबों के प्रयोग (इस्तेमाल) और संरक्षण की परम्परा समाप्त होने लगी है | विगत 60-70 वर्षो में लाखों तालाब या तो सूख गये या उन पर अतिक्रमण कर लिया गया या तो उनकी पहचान ही मिटा दी गयी, जो तालाब पहले कृषि , बागवनी ,जीवन संस्कार पर्यावरण को सुरक्षित रखने के आधार बने हुये थे आज उनके प्रति लोगों में उपेक्षा की ऐसी नकारात्मक प्रवृत्ति पैदा हुई कि देखते ही देखते वे अपने अस्तित्व को ही खो बैठे | " भारतीय सामाजिक और सांस्कृ -तिक परम्परा में जल संरक्षण हर मनुष्य का परम् पावन कर्तव्य हुआ करता था | जब - तक यह विचार व परम्परा मानव के जेहन में चलती रही तब - तक समाज में पानी की कोई किल्लत नही थी |राजघरानों , ताल्लूकदारों , जंमीदारों और सेठ – सरीखे व्याक्तियों के स्वभाव में जल संरक्षण कूट-कूट कर भरा हुआ था | परंतु आज समय बदल गया है और लोगों में इनके प्रति अभिरुचि भी बदल गयी है | लोग अपनी जरूरतों एवम् आवश्यकतानुसार ही अपने स्वार्थ के निमित्त तालाबों से सम्बंधित कार्यो का निष्पादन कर रहे है, जिससे समाज में तालाबों का समाजिक व आर्थिक अस्तित्व खतरें में पड गया है | ग्रमीण क्षेत्रों में तालाबों का सामाजिक जीवन पर बहुत ही गहरा प्रभाव रहा है जिसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

1- तालाबों का ग्रामीण क्षेत्रों पर समाजिक प्रभाव :- "तालाब" ग्रामीण समाज का अभिन्न अंग रहा है; जब से मानव सभ्यता विकसित हुई तब से आज तक " तालाब " मानव समाज ही नही वरन् पशु समाजका भी अभिन्न अंग रहा है | तालाबों ने हमें विभिन्न प्रकार के सामाजिक कृत सिखाये है जो हमें पूर्वजों द्वारा आशीर्वाद स्वरूप आज भी प्राप्त है | "तालाब" मानव संस्कृति के " विकासात्मक प्रवृत्ति का प्रतिफल है, जो उनके द्वारा बनाये गये विकासात्मक विचारों का स्वरूप है |" आज का समाज चाहे जितना विकसित क्यों न हो गया हो, परंतु मानव सभ्यता तथा संस्कारों के कुछ एसे कृत है जो आज भी तालाबों के किनारों पर ही निर्वाहित किये जाते है |

कुछ ऐसे तीज –त्योहार है जो कि तालाब के अभाव मे पूर्ण ही नही किये जा सकते | ग्रामीण समाज ही नही अपितु समूचे भारतीय संस्कृति मे तालाबों का बहुत बडा योगदान रहा है |तालाब खेती – किसानी ही नही अपितु जीव - जगत के लिये प्यास बुझाने का सर्वसुलभ एवम् सरल साधनो मे से एक रहा है | पुराने समय में विभिन्न प्रकार के सामाजिक कृत जैसे तीज – त्योहार, पूजा - पाठ, मृत्यु संस्कार आदि मानव जीवन की सामाजिक क्रिया - कलापों में तालाबों का योगदान सर्वोत्कृष्ट रहा है | समूचे ग्रामीण जीवन को तालाबों ने सामाजिक रूप से बहुत अधिक प्रभावित किया है | एक तरफ जहां तालाब अपने लिये पर्यावरण मानसून एवम् प्रकृति पर निर्भर रहते है, वही मानव समाज अपने अस्तित्व के लिये तालाबों पर निर्भर रहता है | जब तक ग्रामीण तालाब जल से युक्त थे तब - तक समाज में सूखा व अकाल का कोई असर नही था क्योंकि तालाबों में जल उपयुक्त मात्रा में भण्डारित रहता था | जिसका दोहन मनुष्य एवम् अन्य जीव अपनी आवश्यकतानुसार किया करते थे | पुराने समय मे हमारा समाज प्रकृति से तालमेल बनाकर उसकी शक्तियों के चतुर्दिक घूमता रहता था | अग्नि, जल ,पृथ्वी , वायु, आकाश ,सूर्य ,चंद्रमा ,ग्रह ,नक्षत्र , तारों आदि को दैवीय रूप मानकर उनकी पूजा-आरधना किया करता था | इसका अभिप्राय यह था कि मानव जीवन के लिये उपयोगी प्राकृतिक चीजों मं ईश्वर को देखता था | इसलिये उसे गंदा करने या आवश्यकता से अधिक दोहन करने का विरोधी हुआ करता था | लोग प्राकृतिक शक्तियों एवम् देवी देवताओं को श्रध्दा व धार्मिक परम्परा के रुप मे माना करते थे | जो इन्हें अपने जीवन में विभिन्न पर्वो .त्योहरों तथा धार्मिक क्रिया - कलापों को तालाबों और जलाशयो के सन्निकट ले आया |आज भी हमारे समाज मे महिलाएं तीज –त्योहार के अवसर पर तालाब के जल का उपयोग करतीं है | इसी प्रकार हिन्दू धार्मिक रीति- रीवाजों के अंतर्गत विभिन्न पर्वो एवम् वैवाहिक जीवन के विभिन्न कृतों एवम् मानव संस्कृति व मानव जीवन से सम्बन्धित शुभ एवम् अशुभ कार्यो का क्रियांवयन मानव समुदाय तालबों व जलाशयो के सन्निकट करता है | जिसकी उपयोगिता मानव जीवन के सामाजिक कार्यो मे अत्यन्त प्रबल थी | इसी प्रकार दुर्गा पूजन , गणेश पूजन के उपरांत मुर्ति का विसर्जन भी तालाबों व जलाशयो मे किया जाता है| ये

संस्कार व परम्पराएँ प्राचीन काल से अनवरत चली आ रही है | सम्पूर्ण जगत में मानव संस्कृति का विकास वहां के भौगोलिक स्थिति, धरा के विभिन्न क्षेत्रों, पर्यावरणीय दशाओं एवं वहां के संसाधनों पर निर्भर करता है | मनुष्य एक सामाजिक व क्रियाशील प्राणी है,जो अपने विवेकानुसार एवं अपने कार्यकुशलता से उपलब्ध संसाधनों द्वारा प्राकृतिक परिवेश में सदैव परिवर्तन करता रहता है| जिन स्थनों पर मनुष्य परिवर्तन करने में असमर्थ है वहां पर वह उसे अपने अनुकूल बनाने की कोशिश करता रहता है " तालाब" उसके इसी प्रयास का प्रतिफल है | इसी क्रम में मानव सांस्कृतिक व समाजिक विकास के लिए सदैव तत्पर रहता है | जिससे स्थान विशेष के भौतिक स्वरूप एवं संस्कृति को संसाधन के रूप में मान्यता प्राप्त कर उनका दोहन करता रहता है | पहले के समय में तालाबों के रख – रखाव का सम्पूर्ण जिम्मा समस्त ग्रामिणों का हुआ करता था | तालाब निर्माण से लेकर उसके रख – रखाव को लोग अपनी नैतिक जिम्मेदरी समझते थे | परंतु आज नल , नलकूप ,ट्यूबेल , सब्मर्शिबल आदि जैसे आधुनिक सयंत्रों के आ जाने से परम्परगत जल श्रोतो की उपेक्षा हो रही है | लोग वर्षा के जल संग्रह तरीको को भूलते जा रहे है | जिससे आज मानव विभिन्न प्रकार की जल सम्बंधित समस्यायो से जूझ रहा है |

2.तालाबों की आवश्यकता तथा अदृश्य होते तालाब – आज ग्रामीण समाज में तालाबों की व्यवस्था बहुत ही दयनीय हो गयी है किसी तालाब में जल कुम्भी या जलीय पौधे तो किसी में ग्रामीणों के अपशिष्ट पदार्थो के प्रत्याग से तालाब इतने गंदे हो गए है की उनकी दशा एवं दिशा आने वाली पीढ़ी के लिए बद् से बदतर होती जा रही है, कुछ ऐसे भी तालाब है जिनपर अतिक्रमण कर लिया गया है जिसके कारण समाज से तालाब विलुप्त होते जा रहे है | कुछ तालाब तो ऐसे भी है कि मानो वे ग्रामीणों के आशियानों के लिए ही बने हुए है आज के समाज में तालाब की स्थिति बहुत ही दूभर है |लोगों में तालाबो के प्रति ऐसे नकारात्मक प्रविति पैदा हुई है की देखते ही देखते तालाब अपने अस्तित्व को खो बैठे, न तो ग्रामीणों द्वारा इनके रख – रखाव, साज-सज्जा के लिए अपनी जेम्मेदारी निभाई जा रही है और न ही राज सरकारों या केंद्र सरकारों द्वारा उनपर विशेष ध्यान दिया जा रहा है | जिसके कारण तालाब ग्रामीण समाज से विलुप्त होते जा रहे है कई तालाब तो ऐसे भी है जो केवल सरकारी फाईलों में बंद है | उनपर भौतिक रूप से ग्रामीणों का अधिपत्य स्थापित है किसी-किसी गाँव में इनपर ग्राम प्रधानों राजस्व कर्चारियों आदि के द्वारा ध्यान दिया जा रहा है तो उनपर किसी भी प्रकार का प्रशासनिक कार्यवाई होने में काफी समय लग जा रहा है जिसका सीधा प्रभाव सम्पूर्ण ग्रामीण समाज पर पड़ रहा है| कुछ तालाब तो ऐसे भी है जो गाँव के दबंग पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली बने हुए है, जिससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूरा समाज प्रभावित होता है |

3.तालाबों का पारिस्थितिकीय पर्यावरण पर प्रभाव – तालाब प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से पारिस्थितिकीय परितंत्र को प्रभावित करते है जिसका प्रभाव ग्रामीण समाज पर पड़ता रहता है | तालाब परितंत्र में निवास करने वाले विभिन्न प्रकार के जीव – जंतु प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पर्यावरण से जुड़े होते है जिसका सीधा असर मानव तथा प्रकृति पर पड़ता है| तालाब में स्थित विभिन्न प्रकार के पारिस्थितिक वनस्पति , जीव – जंतु , कीड़े-मकोड़े, मछलियाँ आती सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ग्रामीण पर्यावण एवं समाज पर अपना प्रभाव छोड़ते रहते है, तालाबों के जल से भू-गर्भ का जल स्तर ऊपर उठता है जिससे धरातल का सतही जलमाप बराबर रहता है | तालाब प्राकृतिक पर्यावरण को घनीभूत करने में सहायक होते है | जिससे मानसून में सहायता प्राप्त होती है | तालाब या जल संसाधन के विकास से पर्यावरण पारिस्थितिकीय संतुलन बना रहता है | तालाब के किनारों पर स्थित वृक्षों से पर्यावरण संतुलन में सहायता प्राप्त होती है तालाब में अनेक प्रकार के जलीय जीव निवास करते है जैसे मछली, मेंढ़क, जोंक, केकड़ा, जलीयसर्प, कछुवा, घोंघा, सीप, एवं अन्य विभिन्न प्रकार के कीड़े – मकोड़े आदि प्रमुख है जो तालाब परितंत्र के अलावां प्राकृतिक पर्यावरण एवं ग्रामीण समाज को प्रभावित करते है | तालाबों में निवास करने वाले जीव तालाबों के अलावां अलग-अलग स्थानों पर भी निवास करते है | तालाबों के किनारों पर लगे पेड़ – पौधों से पर्यावरण हरा भरा रहता है जिससे तालाब का तापमान वातानुकूल बना रहता है जो प्राकृतिक पर्यावरण को प्रभावित करता है | भिन्न-भिन्न गावों में कई प्रकार के तालाब पाए गए है जिनका उपयोग मानव अपनी आवश्यकतानुसार करता चला आ रहा है | मानो तालाबो के जल का उपयोग पीने के लिए व स्नान करने, वस्त्र प्रक्षालन, सयंत्रो के धुलाई, निस्तारी करण आदि विभिन्न प्रकार के कार्यो हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार के तालाबों का प्रयोग करते थे जो प्राकृतिक पर्यावण एवं ग्रामीण समाज दोनों को प्रभावित करता है |परन्तु आज सीमित मात्रा में तालाब रह गए है एवं उनका सही ढंग से समाज में प्रयोग ही नहीं हो पा रहा है| ज्यादा तर लोग तालाबों के किनारों व उसके जल को दूषित कर दे रहे है तथा तालाब पर अतिक्रमण करते जा रहे है|

4.तालाबों का क्षेत्र के आर्थिक स्थिति पर प्रभाव – तालाब प्राचीन कल से ही ग्रामीण समाज के विभिन्न आवश्यकताओं के पूर्ति करता चला आ रहा है | पहले के समय में ग्रामीण अपने विभिन्न प्रकार के फसलों की सिंचाई के लिए तालाबों के जल का प्रयोग किया करता था | जिससे फसल उत्पादन में वृद्धि होती थी जिसके कारण लोग तालाब को महत्त्व देते थे और तालाबों के प्रति लोगो में जागरूकता एवं श्रद्धा भाव हुआ करता था परन्तु आज समय बदल चुका है | भिन्न – भिन्न प्रकार की आधुनिक तकीनीकी आ चुकी है जिससे ग्रामीण समाज भी अछूता नहीं है| आज का ग्रामीण आधुनिक संयत्रों का बखूबी से प्रयोग कर रहा है | सभी ग्रामीण अपनी पूंजी के अनुसार विभिन्न प्रकार के आयामों को अपना कर अपने आर्थिक स्थित को मजबूत कर रहे है | ब्रिटिश काल में अंग्रेजों ने अपने राजस्व को बढाने के लिए जलाशयो के प्रति अपना अलग ही नियम बना रखे थे | वे गावों से अधिक राजस्व इकट्ठा करने के लिए तालाब के संरक्षात्मक क्रियाओं को अपने हाथों में ले रखे थे जिससे गावों, कस्बों एवं शहरों में तालाब संरक्षरण संस्कृति की परंपरा धीरे – धीरे समाप्त होने लगी जिसका दूरगामी प्रभाव पर्यावरण पर पड़ा जिससे गावों में तालाबों के प्रति लोगों में उपेक्षा की प्रवृति पैदा होने लगी जिससे तालाब संरक्षण में कमी हुई और तालाब पटते चले गए| अंग्रेजों के जाने के बाद

लोगों में तालाबों के प्रति संरक्षण का कर्तव्य बोध समाप्त हो गया इसी वजह से आजादी के बाद भी तालाबों के प्रति लोगों में उपेक्षा और नकारात्मक भावना परिलक्षित होने लगी जो आज भी दिखाई देता है | परन्तु वर्तमान सरकारों व लोगों की आवश्यकताओं ने आधुनिक संसाधनों की मदद से तालाबों के अस्तित्व को पुनः वापस किया | जहाँ लोग केवल खेती किसानी के लिए तालाब का प्रयोग करते थे वही आज विभिन्न प्रकार के मांगो के अनुसार तालाबों का विकास भी संभव हुआ| लोग अपने आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए तालाबों को प्रयोग में ला रहे है| आज भिन्न-भिन्न प्रकार के रोजगार तालाबों से ही संभव हुआ जैसे – मत्स्य पालन , कछुआ पालन, सीप पालन, बत्तक पालन , केकड़ा पालन , मेंढ़क पालन एवं जोंक पालन आदि के व्यवसाय से ग्रामीण कृषि में मुनाफा हुआ है|

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्र0सं0 लेखक पुस्तक / ग्रंथ / पत्रिकाएं

1 अनुपम मिश्र :- आज भी खरे है तालाब (1993) |

2 पंकज चतुर्वदी :- तालाबो को बचाने की जरूरत (2014) |

3 ज्ञानेंद्र रावत:-पर्यावरण : विकास और यथार्थ (2010) |

4 कुलदीप चंदेल:- भारत मे तालाब संस्कृति से टलेगा संकट(2010)|

5 कृष्ण कुमार मिश्र :-मैंनहन (भारत) के जलीय पौधे और तालाब| (2010)

6 सुनीता वर्मा :- विकास खण्ड सेवापुरी (जनपद वारणसी) मे | समकेतिक ग्रामीण विकास का भौगोलिक अध्ययन(2010)

7 श्यामचरण दूबे :- भारतीय ग्राम (2013)

8 जितेंद्र कुमार घृतलहरे :- रायपुर जिले के ग्रामीण क्षेत्रो मे तालाबो का भौगोलिक अध्ययन : सारांश(2011)

9गूगल:- वृक्षारोपण :– विकिपीडिया / ट्रीप्लांटिंग|

10 h in d i.in d ia w a te rp o r ta l . o rg . (l) |

11अनिल अग्रवाल :-'सेंटर फॉर साइंस एंड इन्वायरमेंट' |

12 R.P.MISHRA :- "Digusion of Agricultural innovations"(1968) |

13 R.K. Singh :- "rural AreaDevelopment of Gazipur district
Unpublished Ph.d. Thesis B.H.U. Varanasi(1988)|

14A.N.Mishra :-Recent changes the LanduseTarai Rsgin,up (1966) |

15 B.S.tyagi :- Chumon Tahasil ,A study in land utilization" (1939)

16 D.N.Wadia and J.B.Auden :-"Geology and Structure of Northern India " (1939)

17 A.Ahamad :"-Agricultural Stagnation Under population pressure A case Of Bangaladesh "(1984)

18 P.C.bansal :- "Agricultural problem of india "(1977)

19 M. Agrawal :-Morphometric evaluation of land foms and settlement -sauth-eastern part of the Jabalpur district "(1971).

20 H.L. Chhiber :-"the Landfoms life and radil drainage of maunt oarsnath,(1953)

21 Singh ,R.L.and singh,j. :-"Enviromental management ",U.B.B.P.and N.G.S.I Allahabad.(1984)

22 कलवार.एस.सी. :- "पर्यावरण व परती भूमि" (1996) |

*****

भारतीय सनातन परम्परा में मातृ शक्ति लक्ष्मी की आराधना

-डॉ कल्पना कुमारी
दिल्ली विश्वविद्यालय

सार संक्षेप

भारत आदिकाल से ही ऋषि मुनियों का देश रहा है। भारत वर्ष एक आध्यात्मिक क्षेत्र है, जिस भारत में देवी–देवताओं, ऋषि मुनियों ने अवतार लेकर दुष्टों का संहार करते हुए धर्म की स्थापना की, राष्ट्र को नया चिन्तन, नया संदेश दिया। वेदों ने ''माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'' की प्रेरणा दी । हमारी परम्पराओं की जडें बहुत गहरी है। अतः जितनी भी भारतीय परम्पराएं प्रचलित है, प्रायः उन सभी का मूल्य स्रोत कहीं न कहीं पौराणिक कथाओं में विभिन्नि आख्यानों के रूप में संकलित या उल्लेखित है। वैष्णव और शैव धर्म की तरह समाज में शक्ति का भी प्रभाव रहा है तथा इसके अनुयायी भी रहे हैं। शक्ति की पूजा और उपासना करने के कारण इसके धर्मावलम्बी शाक्त कहे गए। देश काल एवं परम्परा से शक्ति के विभिन्न रूप हैं। शक्ति रूप के रूप में पूजित देवीयों की दो धाराएँ हैं– एक आदिशक्ति ब्रह्मस्वरूपणी सनातन धर्म से सम्बन्धित। दूसरा लोक परम्परा अनुसार। शक्ति पूजा भारत में अतीत से ही चली आ रही है। मेरा विषय यहाँ भारतीय धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा में नर और नारी स्वरुप ईश्वरीय अवधारणा में देवी देवता के अंतर्गत मातृशक्ति माँ लक्ष्मी या श्री लक्ष्मी की आराधना से है। जैसे हम पृथ्वी में मिट्टी खोद कर बीज डालते है उसे पौधा अंकुरित होता है। इसका भावनात्मक भाव है कि पृथ्वी में शक्ति है। वैसे ही नारीस्वरूप देवी की कल्पना की गयी जिसे हम शक्ति कहते हैं। भारतीय जनमानस में सनातन काल से शुभ लाभ एवं धन वैभव कल्याणस्वरूपा माँ लक्ष्मी की पूजा विष्णु प्रिया के रूप में पूजा जाता है। जिसका वर्णन में इस आलेख के माध्यम से करने का उद्देश्य है।

बीज शब्द - सनातन परंपरा ,लक्ष्मी ,विष्णु ,वेद ,उपनिषद ,राजवंश प्रश्रय ,मूल्यांकन

विस्तृत व्याख्या –

वैष्णव और शैव धर्म की तरह समाज में शक्ति का भी प्रभाव रहा है तथा इसके अनुयायी भी रहे हैं। शक्ति की पूजा और उपासना करने के कारण इसके धर्मावलम्बी शाक्त कहे गए। देश काल एवं परम्परा से शक्ति के विभिन्न रूप हैं। शक्ति रूप के रूप में पूजित देवीयों की दो धाराएँ हैं– एक आदिशक्ति ब्रह्मस्वरूपणी सनातन धर्म से सम्बन्धित। दूसरा लोक परम्परा अनुसार। शक्ति पूजा भारत में अतीत से ही चली आ रही है। ऋग्देव के दशम मण्डल में एक पूरा सूक्त ही शक्ति के रुप में विवृत है जिसे तान्त्रिक देवसूक्त कहते हैं। महर्षि अभृण की ब्रह्मवादिनी दुहिता का नाम वाक् था, जिसकी देवी के साथ अभिन्नता थी। उसी के उद्‌गार इस सूक्त में दर्शित होते हैं। सिन्धु सभ्यता की मातृदेवी शक्ति–पूजा की ओ लक्षित करती है। कालान्तर में उस वाक् शक्ति का कथन है, मैं ही ब्रह्म के द्व `षियों को मारने के लिए रुद्र का धनुष चढ़ाती हूँ। मैं ही सेनाओं को मैदान में ला खड़ी करती हूँ। मैं ही आकाश और पृथ्वी का सर्वत्र व्याप्त हूँ।[1] **(ऋग्वेद, 10.125, अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विपे शारवै हनतवाउ।अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश।** निश्चय ही यह कथन शक्ति की महत्ता और तेजस्विता को व्यक्त करता है। वह अन्यत्र कहती है, मैं सम्पूर्ण जगत् की अधीश्वरी हूँ। अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वा. ली, साक्षात् करते योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रुप में जानेवाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहनेवाले देवता जहॉ कहीं जो कुछ भी करते हैं, वह सब मेरे लिए करते हैं।[2] स्पष्ट है कि देवी अद्वैत रुप में व्याप्त है। जगत् के उद्‌भव, पालन और संहार की जो कथा देवी से सम्बद्ध की गई, उसका सूत्र ऋग्वेद में ही है। शक्ति का तत्व अन्यन्त विस्तृत है। वह पृथ्वी और आकाश दोनों से परे है ;परो दि्वा पर एना पृथ्यिा। श्वेताष्वरोपनिषद में पुरुष, प्रकृति, माया, ब्रह्मस्वरूप, मायामयी आदि का वर्णन है। ब्रह्मावर्त पुराण के प्रतिखण्ड के अनुसार परमात्मा ने सृष्टि के लिए योग का आलम्बन लेकर अपने के दो भागों में विभक्त किया। दक्षिण भाग से

पुरुष और वाम भाग से प्रकृति का आविर्भाव हुआ। प्रकृति के "प्र" का अर्थ प्रकष्ट और कृति का अर्थ सृजन या सृष्टि। इन पुराणों के अनुसार सृष्टि की अधिष्ठत्री प्रकृति देवी स्वयं पांच भागों में विभक्त करती है – दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावत्री। इन्ही प्रकृति देवी के अंशकला, कालांश भेद से अनेक रूप है, जो विश्व के स्त्री स्वरूप में दिखाई देती है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार–" स्त्रीयः समस्ताः सकला जगत्सु। अम्बिका के रुप में देवी का उल्लेख वाजसनेयी संहिता में हुआ है, जहॉ उन्हें रुद्र की बहन स्वसा बताया गया है। तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मनों में भी अम्बिका को रुद्र की बहन कहा गया है।[3]**(वाजसनेयी संहिता, 3.57य सतपथ ब्राहह्मण, 2.6.2.9,)** वैसे, तैत्तिरीय आरण्यक में रुद्र की पत्नी पार्वती का सन्दर्भ मिलता है। उमा शब्द का उल्लेख केन उपनिषद में हुआ है, जहॉ उन्हें विद्यादेवी का रुप मानते हुए ष्हेमवतीष्हिमालय की पुत्रीद्ध कहा गया है।[4] उनका प्रादुर्भाव देवताओं को यह षिक्षा देने के लिए होता है कि अपनी तुच्छ शक्ति के ऊपर उन्हें कभी गर्व और अभि.ामान नहीं करना चाहिए, क्योंकि सर्वषक्तिमान् परब्रह्म की शक्ति के वे प्रतीक मात्र हैं। **इस प्रकार देवी की भाक्ति निरन्तर बढ़ती गई और उसका प्रभाव व्यापक होता गया।**

ई. पूं. 300 से 600 ई. के बीच मुख्यतः गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म के पुनरूत्थान का प्रतीक माना जाता है। गुप्तसम्राटों में कुछ वैष्णव, कुछ शैव और कुछ बौद्ध थे। इस समय तक ब्राह्मण धर्म के तीन महत्वपूर्ण पक्ष विकसित हुए। पहला मूर्ति उपासना का केन्द्र बन गयी और दूसरा यज्ञ का स्थान उपासना ने ले लिया। तीसरा सिद्धान्त पक्ष में मानव जीवन के चार लक्ष्य बताये गये – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। हिन्दू विचारकों का यह जीवन–दर्शन विश्व का अकेला और अनुपम जीवन–दर्शन है, जिसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है तो मुक्ति भी है, कामना है तो साध.ना भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है। जब सहजता, स्वाभा.विकता, आत्मचिन्मन, आध्यात्मिकता, बौद्विकता, का उदय होने लगता है तब वह निवृति–मार्ग की ओर उत्कोठत होता है।जब उसमें ज्ञान, बौद्विकता और विवेकशीलता का उदय होता है तथा वह गुण–दोष को तौल सकने में समर्थ होता है, तब वह प्रवृत्तियों से विलंग होने की चेष्टा करता है।अ.ध्यात्मिकता और सात्विकता के सहारे वह मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है।

अतः शक्ति के तीन प्रधान रुप माने गए–1. सौम्य रुप, 2. प्रचण्ड रुप और 3. काम–प्रधान रुप। समाज में प्रायः देवी के सौम्य रुप की ही पूजा–आराधना प्रचलित है। जन–साधारण देवी के सौम्य रुप की ही उपासना करता है।शक्तिमान देव भी स्व–स्व शक्ति से संचालित तथा सामर्थ्य–युक्त होते है। अंकुर में बीज, अग्नि में ज्वाला, तरलत्व में जल, आकाष के अवकाश, धृति, कीर्ति, बुद्धि, श्री, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, क्षमा, कान्ति, ह्री, वाक्– सभी नारियॉ हैं तथा प्रकारान्तर से चराचर में सर्वत्र शक्ति व्याप्त है। उस शक्ति को जानकर उसकी उपसना से उसे सर्वत्र प्राप्त किया जा सकता है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां। बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपा। (श्वेत0 उपनिषद्,4.15)

अर्थात आदिशक्ति आज एक है। उसके लोहित,शुक्ल और कृष्ण रूप से ही विविध प्रकार की सृष्टि हुई। ऐश्वर्य, पराक्रम तथा ज्ञान प्रदान करने के साथ ही महाशक्ति अपने भक्तों के बाहरी तथा भीतरी शत्रुओं का नाश कर उन्हे आपत्तियों से विमुक्त कर देती हैं। इसीलिए भारत में सर्वत्र देवी की उपासना की जाती हैं।

श्री **लक्ष्मीदेवी**–

'श्री' एवं 'लक्ष्मी', ये दोनों नाम यद्यपि संस्कृत धातुओं से बने है। लक्ष्मीदेवी के रुप में श्री की स्तुति करने वाला प्राचीनतम पाठ श्रीसूक्त है, जो ऋग्वेद[5] में परिशिष्ट के रुप में युक्त है और यह माना गया है कि ऋग्वेद के परिशिष्टांश उस समय रचे गए जब यजुर्वेद अथवा 'ब्राहमण' ग्रथ लिखे एवं संकलित किए जा रहे थे। यह सूक्त श्री एवं लक्ष्मी में भेद नहीं करता और दोनों ही नामो से देवी की वंदना करता है।यह शतपथ ब्राहमण(11.4.3.1)में उल्लिखित उस पूर्ववर्ती परंपरा का अनुवर्तन प्रतीत होता है, जिसमें उसे प्रजापति की पुत्री बताया गया था।महाभारत (1 .60.13) यह भी कहता है कि लक्ष्मी धर्म के साथ विवहित दक्ष की दस पुत्रियो में से एक है। लक्ष्मी की उत्पतिका सर्वाधिक प्रसिद्ध वुत्तांत महाभारत के आदिपर्व में दिया गया है। महाभारत, (1.16.34,6)जिसमें समुद्र मंथन की कथा वर्णित है। श्री, शुभ्र परिधान में सोम, सुरा, श्वेत अश्व, कौस्तुभ मणि तथा अमृत का पात्र लिए धन्वतरि के साथ समुद्र से बहार आई। यह वृत्तंत यद्यपि प्रबल वैष्णवीय प्रभ.ाव प्रदर्शित करता है, क्योकि समुद्र मंथन तभी संभव हो पाया जब विष्णु ने देवताओं को अपनीशक्ति एवं आशीर्वाद प्रदान किया। श्रीसूक्त' में उस देवी को 'हस्तिनाद प्रमो.दिनी' अर्थात हाथियों के चिंघाड़ से प्रसन्न होने वाली कहा गया है। विष्णु पुराण(1.9.102) का कथन है कि जब वह देवी समुद्र से बहार निकली; तो हाथियों ने उसे स्वर्णकलशों में भरे पवित्र जल से स्नान कराया। श्रीलक्ष्मी के कुछेक प्राचीनतम निरुपण उसे 'गजलक्ष्मी' के रुप में

चित्रित करते है।देवी दो गजों के मध्य एक कमल पर खड़ी या बैठी अवस्था में चित्रित की गई है, जिसके दोनो ओर खड़े हाथी अपनी उठे हुए सुंडों से पकड़े कलश से देवी पर जल डाल रहे है।इस तरह का रुप भरहुत, सांची एवं बोधगया में प्राचीन उद्भृत चित्रों में उपस्थित है।[6] ' पुराणों में 'श्रीपंचमी' श्रीलक्ष्मी के पूजन के निमित्त एक पवित्र पर्व माना गया है। बौधायन गृहसूत्रों (3.1) में श्री एवं षष्ठी के सम्मान में शुक्ल पक्ष की क्रमशः पंचमी और षष्ठी तिथि को आयोजित होने वाले कर्मकांडीय संस्कार, श्रीकल्प एवं षष्ठीकल्प के आयोजन के लिए निर्देश दिए गए है।मानव गृहसूत्र(2.13) श्रीसूक्त के स्तोत्रों को षष्ठी कल्प में प्रयोग करने का निर्देश देता है और उसमे देवी श्री, ह्री, लक्ष्मी, उप लक्ष्मी, नंदा, हरिद्रा, षष्ठी, जया तथा कामा के रुप में वर्णित की गई है।बौधायन गृहसूत्र 3.7.17 में षष्ठी की स्तुति धन ध ान्य प्रदान करने के निमित्त की गई है। भगवद्गीता (भाग 10.34) में वह स्त्रियों के बीच कीर्ति, वाक्, स्मृति, मेधा, ध ृति एवं क्षमा, इन भावो के मूर्त रुप के साथ विष्णु की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। महाभारत(1.61.90,95) में विष्णुके नरावतारो की पत्नियां भी श्री के अवतारों के रुप में वर्णित की गई है। महाभारत के आदिपर्व का एक अवतरण जो वासुदेव को नारायण का अंशवतार कहता बतलाया है, कि श्री का एक अंश वासुदेव की पत्नी रुक्मिणी के रुप में अवतरित हुआ था। इसी प्रकार सीता भी हरिवंश (2.51.31) तथा विष्णु धर्मोतर पुराण में लक्ष्मी के रुप में अभिज्ञापित की गई है। विष्णु की शक्ति के रुप में श्रीलक्ष्मी की कल्पना वैष्णव एवं शाक्त तत्वों के मिश्रण का दार्शनिक अनुवर्तन थी। भरत के नाट्यशास्त्र(3.86) में श्री एवं लक्ष्मी तथा अनेक अन्यान्य देवियों का उल्लेख दिव्य मातृकाओं के रुप में हैं। शांतिपर्व महाभारत(12.225.8) में श्री स्पष्ट रुप से कहती हैं कि वह लक्ष्मी के नाम से विख्यात हैं। शातिपर्व[7] के राजधर्म खंड के अंतर्गत नारायण विष्णु के साथ श्री को प्रत्य क्ष रुप से संबंधित किया गया है;। इसमें कहा गया है कि श्री एक स्वर्णिम कमल से उत्पन्न हुई थी, जो कमल विष्णु के ललाट से स्फुटित हुआ था तथा विष्णु धर्मोत्तर में दोहराई गई। एक कथा के अनुसार श्री भृगु एवं ख्याति की पुत्री थी, जिसका विवाह उन्होंने नारायण से किया था। श्री के साथ श्रीधर की तथा लक्ष्मी के साथ जनार्दन की पूजा का विधान सर्वप्रथम विष्णु धर्मोत्तर में किया गया है और देवी को विष्णु के वक्ष में निवास करने वाली कहा गया है।[8]कुछ जर्मन विद्वानों के मतानुसार श्री का मूल आर्यकाल से पहले का था और वह उर्वरता की देवी थी।[9] 'सूक्त में श्री 'आर्द्रा' अर्थात स्निग्ध प्रकृति वाली, 'नित्य पुष्ट' रहने अर्थात सर्वदा पुष्ट रहने वाली तथा 'करीषिणी' अर्थात सूखे गोबर में भरपूर होने वाली कही गई है। उसे 'कर्दम' (कीचड़) से प्रजा की सृष्टि करने वाली कहा गया है।[10]वह 'पद्मेस्थिता' अर्थात कमल में निवास करने वाली, 'पद्मवर्णा' अर्थात कमल के समान वर्ण वाली, पद्ममालिनी' अर्थात कमल की माला धारण करने वाली तथा 'पद्मनेमि' अर्थात कमल का परिवेश रखने वाली के रुप में वर्णित है।[11] कुमारस्वामी,द ईस्टर्न आर्ट, (पृष्ट178) के मतानुसार कमल जल का प्रतीक है और इस प्रकार उर्वरता से संबद्ध है। देवी से 'अलक्ष्मी' अर्थात दुर्भाग्य, दरिद्रता का नाश करने की और पशु एवं संतान प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

'जातक' जातक, (स.382) भी वणिजों एवं व्यापारियों को श्री से संबंद्ध करते है। 'सिरिकालकण्णि जातक' जातक, (स. 546) में वणिक सुचिपरिवार श्री का सम्मान करता है और काली की कालकण्णि को दूर भगाता है।'महाउमग्ग जातक जातक, (स. 546) में मिथिला के वणिक का नाम सिरिबद्धक है। और बसाढ़ मुद्रओं पर श्रेष्ट सिरिदास का उल्लेख है। इन कृषकों एवं अन्न उत्पादकों में से कुछ अतिरिक्त व्यापार करने लगे और कालंतर में उर्वरा शक्ति के प्राचुर्य की देवी व्यापार एवं वणिज्य की अधिष्ठातृ देवी (वाणिज्यश्री) हो गई।जब एक बार श्रीलक्ष्मी को संपति एवं समुद्धि की देवी के रुप में मान्यता मिल गई, तो उसकी उपासना की और सभी वर्गो के लोगों का आकृष्ट होना अवश्यंभावी था, और यद्यपि आज तक उसके साथ विशेष रुप वैश्य जाति को ही संबद्ध किया जाता है।किंतु उसकी आरधना समाज के सभी वर्गो में प्रचलित हो गई।[12] श्रीलक्ष्मी की उत्पति के संबंध में अनेक कथाएं है, जो अपने आप में उसकी लोकप्रियता के प्रमाण है।

'विष्णु धर्मोत्तर' लक्ष्मी को वैष्णव शक्ति कहता है और विष्णु तथा श्री का संबंध क्रमशः 'पुरुष' और 'प्रकृति' से जोडता है। जिसके माध्यम से देवी इच्छा संस्कृतिक कार्यकलापो का निर्वाहण करती है।'श्रीलक्ष्मी' आर्यों के आगमन से पूर्व उर्वरता की देवी थी, जिसने कालांतर में आर्यो के आगमन से पूर्व उर्वरता की देवी थी। जिसने कालांतर में आर्यो एवं आदिवासियों की देवियो से संबद्ध अनेक धारणोओं को आत्मसात कर लिया। कुषाणकाल के अंत तथा गप्त काल के प्रारंभ में तंत्रमत के उत्थान के साथ वह विष्णु की षक्ति मान ली गई, जिस रुप उसने पंचरात्र वैष्णवों की गुप्तोत्तरकालीन धर्मषास्त्रीय परिकल्पनाओं में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।,लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी मानी गई है।एक महान देवी के रूप में लक्ष्मी की कल्पना रामायण, महाभारत तथा पौराणिक साहित्य में हुई

है।

उर्वरता की देवी के रुप मे श्रीलक्ष्मी की कल्पना महाकाव्यों एवं पुराणों में भी खोजी जा सकती है। अनुशासन पर्व में श्री को गौओं के गोबर एवं मूत्र में निवास करने वाली कहा गया है।समृद्धि की देवी के रुप में श्री का गौओं या पशुओं से धनिष्ट संबंध है।श्रीसूक्त उसे हरिणी अर्थात हरिण के समान रुप वाली कहता है।[13]विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उसका चिह्न कमल है।गोंडा ने यह दिखलाने के लिए काफी प्रमाण एकत्र किए है कि भारतीय द्वीप पुंज के उद्भिदीय जीवन से श्री घनिष्ठ रुप से संबद्ध रही है।बालि द्वीप में वह धान की उत्पत्ति और कृषि से संबधित है। 'श्रीस्तव' एवं 'श्रीतांडुली' एवं 'धान्यराज्ञी' अर्थात धान और अन्न की देवी पुकारता है।[14] बालि द्विपीय एक कथा के अनुसार 'श्रीदेवी नाम' कटे किंतु बिना दंवाये धान का है, 'उमा देवी' धान के बीज का, गिरिनाथ' छोटे पौधे का तथा देवी धान की खेती (रोपनी) के बीच लोकप्रिय रहा है।।[15]

बौधायन धर्मसूत्र (2.5.9.10) श्री, सरस्वती, तुष्टि तथा पुष्टि को वैष्णव देवसमूह की देवियो के रुप में पगिणित करता है। विष्णु के साथ इस जनप्रिय देवी श्रीलक्ष्मी के सम्मिलन शायद कुछ हद तक, गुप्त काल में विष्णु के संप्रदाय का बढ़ता हुआ महत्व था। यह 'स्त्रियो के अधिकार की महत्ता का द्योतक है। सुविरा जयसवाल के अनुसार, नारायण के पार्श्व में श्रीलक्ष्मी की उपासना दांपत्य जीवन के उस आदर्श को प्रस्तुत करती थी, जिसकी स्थापना पुराणो में हुई थी तथा जिस पर गुप्त काल में बल दिया गया था। इसमें पत्नी को अधिनस्थ सहायक साथी के रुप में माना गया था, जिसे अपने विवाह की बदौलत सामाजिक विषेशाधि ाकार प्राप्त थे। आध्यात्मिक स्तर पर यह सांख्य दर्षन में वर्णित पुरुष प्रकृति की धरणा को साकार रुप देता था जिसमें प्रकृति नारी रुप में सृष्टि की रचना में बहुत ही महत्वपूर्ण किंतु अधीनस्थ भूमिका निभाती है।

गुप्तकालीन मुर्तियों में उन्हे ब्राहमणीय देवसमूह के प्रमुख देवताओं के गुणो से युक्त दिखाया गया है। और उन्हे ब्राहमी, कौमारी, माहेश्वरी, वैष्णवी, इंद्राणी, नारसिंही आदि संज्ञाओंसे अभिहित किया गया है। इस नई प्रवृति से इस बात का संकेत मिलता है। कि मातृदेवियों की लोकोपसना को ऐसा रुप जा दिया रहा था जिससे पौराणिक धर्म के पुरुष प्रधान दृष्टिकोण से उसका सांमजस्य स्थापित हो सके।पूर्व मध्य काल में षाक्त धर्म की प्रबलता से प्रकट होता है कि उससे पहले के काल में भी उसका बोलबाला रहा होगा। पौराणिक कथाओं में मातृदेवियों कों ब्राहमणीय देवसमूह के देवताओं की पत्नियो या षक्तियों का रुप देकर समझौता कायम किया गया। विष्णु से श्रीलक्ष्मी के विवाह को इसी दृष्टि से देखना चाहिये।

लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्र मंथन के फलस्वरूप हुई और वह विष्णु की पत्नी बनी।[16] उसे विष्णु प्रिया कहा गया है।[17] पुराणों में लक्ष्मी के अन्य विरुदों का उल्लेख हुआ है, जैसे–जगन्माता[18], सर्वलोक नाम जननी[1919], धृतपंकजा[20], पद्माकर[21] आदि। प्रथम दो विरुदों से यह ज्ञात होता है कि पुराणों में लक्ष्मी की कल्पना सम्पूर्ण संसार की रचचिता एवं लोगों का पालन करने वाली के रूप में हुई है। अन्य दो विरुद कमल के साथ उसे संबंधित कर उसे उर्वरता की देवी प्रमाणित करते हैं।यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कृषकों का पालन करने वाली देवी के रूप में वह वैदिक काल से ही ज्ञात थी। उसी की दया पर लोगों का भाग्य निर्भर करता है।

लक्ष्मी की पूजा की लोकप्रियता सिक्कों पर उसके चित्रण से प्रमाणित होता है। प्रारंभिक बौद्धकला में लक्ष्मी का चित्रण हुआ है। मत्स्य पुराण[22] में गज–लक्ष्मी का उल्लेख हुआ है, (दो हाथी दोनों ओर से उसे स्नान कराते हैं तथा उसके हाथों में श्री–फल तथा कमल होता है। श्री लक्ष्मी का चित्रण भरहुत, साँची और बोधगया के वेदिकाओं तथा तोरणों (द्वितीय–प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) पर भी हुआ है।भरहुत में सिरिमा–देवता के नाम से चित्रित नारी आकृति औरपूर्ण खिले कमल पर खड़ी हाथा में कमल लिए नारी आकृति श्री लक्ष्मी का रूप ही प्रतीत होता है।। बोध ागया एवं साँची में भी ऐसा चित्रण मिलता है।श्री लक्ष्मी का चित्रण बसाढ़ में कतिपय शुंगकालीन मिट्टी के टुकड़ों पर मिलता है।

प्रारंभिक कुषाणकालीन एक छोटे से प्रस्तर पट्ट पर अद्ध ंनारीश्वर, विष्णु, गजलक्ष्मी एवं कुबेर का अंकन एक साथ हुआ है। कुबेर के साथ लक्ष्मी के अंकन के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं।गुप्त नरेशों के स्वर्ण सिक्कों तथा मुहरों पर श्री–लक्ष्मी तथा गज–लक्ष्मी का चित्रण मिलता है। गुप्त नरेश वैष्णव मतावलम्बी थे इसलिए विष्णु की पत्नी का उनके सिक्कों पर अंकन स्वाभाविक है। इन सिक्कों पर देवी के हाथों में पाश एवं 'कार्रोकोपिया' अथवा डंटल युक्त कमल आदि को दिखाया गया है। गजलक्ष्मी का चित्रण शशांक के सिक्के पर हुआ है। बसाढ़ से मिले एक मुहर पर लक्ष्मी की खड़ी आकृति के दोनों ओर हाथियों को जल डालते दिखाया गया है तथा बौनी आकृतियाँ रुपये की थैली जैसी वस्तु लिए दिखायी गयी हैं।ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में लक्ष्मी एवं कुबेर के बीच निकटतम सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। गुप्त सिक्कों एवं मुहरों के

अध्ययन ये यह स्पष्ट हो जाता है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार लक्ष्मी आठ कोशों (पदम्, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नील, आनन्द और शंख) की अधिष्ठात्री देवी है। अर्थात् गुप्तकाल में धन की देवी के रूप में लक्ष्मी की कल्पना की गयी और इसी रूप में उसकी पूजा होती थी।

गुप्तकाल में लक्ष्मी विष्णु की पत्नी के रूप में उल्लिखित हुई।स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में लक्ष्मी को विष्णु एवं कमल के साथ संबंधित किया गया है।मिहिरकुल के ग्वालियर प्रस्तर लेख में विष्णु का वर्णन भी श्री को वक्ष पर धारण करने वाले के रूप में हुआ है।आदित्यसेन के अपषढ़ लेख में श्री को वासुदेव की पत्नी कहा गया है।संभव है कि विष्णु की पूजा की लोकप्रियता ने लक्ष्मी को उसके साथ संबंधित करने को बाध्य किया हो। लक्ष्मी को विष्णु के चिह्नों के साथ भी युक्त किया गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों तथा भीटा और बसाढ़ से मिले मुहरों पर लक्ष्मी को शंख से युक्त दिखाया गया है। भीटा से प्राप्त मुह पर गरुड़ भी अंकित है। गज–लक्ष्मी एवं श्री लक्ष्मी का चित्रण दक्षिण भारत में भी हुआ है। जैसा कि महाबलिपुरम एवं एलोरा के उदाहरणों से स्पष्ट होता है।अतः वैष्णवमत की बढ़ी लोकप्रियता ने लक्ष्मी को भी लोकप्रियता प्रदान की।

मूल्यांकन

प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के विकास की प्रगति द्वन्द्वदात्मक होती है। एक तो उसमें परम्परा का सूत्र होता है और उसके अनुसार वह चिन्तनधारा अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों को ग्रहण करती है और अपने को उन्हीं की रूपरेखाओं के अन्तर्गत रखती है। दूसरे वह अपने युग की आवश्यकताओं से प्रभावित होती है तथा लोकपक्ष के प्रभावें को आत्मसात् करती हैं। जो चिन्तधारा जीवित और जागरूक होती है वह लोक पक्ष के प्रभावों को गहनता से आत्मसात् करती है एवं परम्परागत दर्शन को नयी कल्पनाओं, नयी तर्क श्रृंखलाओं से लोकमत के अनुरूप बनाने का प्रयास करती है। संस्कृति के अध्यात्मिक पक्ष के विकास में ज्ञान बीज का कार्य करती है और सामाजिक स्थिति भूमि का। दोनों के सहयोग से ही नवीन आध्यात्मिक परम्परा बनती है या बिगड़ती है। अतः वैष्णवमत की बढ़ी लोकप्रियता ने लक्ष्मी को भी लोकप्रियता प्रदान की।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.ऋग्वेद,10.125,अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विपे शरवै हनतवा उ।अहं जनाय समदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी आविवेश।

2.अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितूर्षा प्रथम यज्ञियानाम्। तां मा देवी व्यदधुः पुरुत्रा भुरिस्थात्रां भूर्यावेषयन्तिम्।।

3.वाजसनेयी संहिता, 3.57; शतपथ ब्राहह्मण, 2.6.2.9,

4.केन उपनिषद्, 3.12, स तस्मिन्नेवाकाशे स्वियमाजगाम बहुशोभमानामुमॉ हेमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति।

5.ऋग्वेद, खिलानि सूक्त

6.जयसवाल सुवीरा , वैश्णव धर्म का उद्भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी ,2005, पृष्ट 80

7.महाभारत,12.59.131,34

8.विष्णु पुराण 1.8.15

9. जयसवाल, सुवीरा, वैश्णव धर्म का उद्भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी ,2005, पृष्ट 79

10.वही,79

11.ऋग्वेद,2.6.5

12.वही,82

13.महाभारत 13.82.24

14.जयसवाल सुवीरा, वैश्णव धर्म का उद्भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी ,2005, पृष्ट 81

15.वही,81

16.महाभारत : 1.110–11,विष्णु पुराण, 1.9.10 – 107

17.महाभारत : 55.34, रामायण, 11/118–20, विष्णुपुराण 1.9.142.1.8.27

18.वही,1.9.133–36

19.वही,1.9.133–36

20.वही,1.9.133–36

21.वही,1.9.133–36

22.मत्स्य पुराण 261.40

*****

Decolonizing Environmental Ethics: A Buddhist–Indic Critique of the Anthropocene

-Abhishek Kumar Singh
Email: iabhisheksinghdu@gmail.com

Abstract

The concept of the Anthropocene has emerged as a central framework for understanding the global ecological crisis, positing that humans function as a geological force affecting Earth's processes. The Anthropocene narrative is generally engrained in Eurocentric epistemologies, generalizing accountability and concealing the industrial, colonial and capitalist histories that have contributed to environmental degradation. This paper discusses a Buddhist –Indic critique of the Anthropocene through the Buddhist texts, and contemporary concerns in environmental ethics and decolonial theory. It argues that Buddhist and Indic ontologies, anchored in interdependence, non-dualism, and ethical restraint, offer a persuasive alternative to anthropocentric and extractivist frameworks. This framework highlights relationality, cyclical temporality, and moral causation (karma), hence challenging the epistemic and ethical foundations of the Anthropocene and facilitating the decolonization of environmental ethics.

Keywords: Anthropocene; Buddhist Environmental Ethics; Decolonial Theory; Indic Philosophy.

1. Introduction

The escalating ecological catastrophe of the twenty-first century which is evident in climate change, biodiversity depletion, deforestation, and widespread pollution, has compelled scientists from all disciplines to reevaluate the connection between humanity and the natural environment. The term "Anthropocene," introduced by atmospheric scientist Paul Crutzen, refers to a novel geological epoch defined by human activity as the primary influence on Earth's systems (Crutzen, 2002). The Anthropocene has gained significant prominence in Earth system science and the humanities, illustrating a compelling story that underscores the profound extent of human impact on the planet.

Nonetheless, despite its explanatory appeal, the concept of the Anthropocene has considerable theoretical and ethical limitations. Critics contend that it simplifies accountability by assigning ecological degradation to "humanity" collectively, thus obscuring the historical and structural factors—especially colonialism, industrial capitalism, and imperial extraction—that have disproportionately driven environmental destruction (Chakrabarty, 2009; Bonneuil & Fressoz, 2016). The Anthropocene may perpetuate a Eurocentric narrative that obscures disparities in power, accountability, and susceptibility. Furthermore, while recognizing the extent of human impact, the Anthropocene frequently adopts an anthropocentric perspective, depicting humans as custodians responsible for managing or governing the Earth system (Latour, 2017). This story inadvertently reinforces the rationale of power and control that underlies the ecological catastrophe.

These critiques have led to alternative concepts like the “Capitalocene” and “Plantationocene” that aim to highlight the historical character of environmental degradation and its connection to systems of exploitation and inequality. Similarly, Indic traditions such as the Upaniṣhad, the Bhagavad Gītā, and Jain philosophy emphasize non-dualism, reciprocity, and non-violence (ahiṃsā). The concept of yajña in the Bhagavad Gītā exemplifies human effort as a reciprocal trade that maintains cosmic equilibrium, while the Jain principle of parasparopagraho jīvānām emphasizes the mutual interdependence of all sentient beings. These perspectives starkly oppose the extractive and utilitarian approach to nature characteristic of modern industrial civilization.

These traditions are not only abstract philosophical frameworks but are integrated into ethical practices that emphasize restraint, compassion, and awareness. Buddhist ethics identify desire (taṇhā) and ignorance (avijjā) as the fundamental sources of suffering

(dukkha), which are perceived as primary catalysts of consumerism and environmental degradation in the modern era (Loy, 2019). Buddhist philosophy provides both a critique of the conditions that produce environmental damage and a transformative framework for addressing these issues. This work aims to formulate a Buddhist–Indic criticism of the Anthropocene within the context of a larger initiative to decolonize environmental ethics.

2. The Discontents of Anthropocene

The concept of the Anthropocene has emerged as an essential framework for understanding the scale and seriousness of the present ecological crisis. The term, coined by Paul Crutzen in the early 2000s, denotes a proposed geological period in which human activity significantly impacts Earth's climatic systems, biogeochemical cycles, and biodiversity (Crutzen, 2002). The empirical evidence supporting this claim is substantial, encompassing rising atmospheric carbon levels and significant extinction events. The Anthropocene has been widely adopted in diverse disciplines, such as Earth system science, philosophy, and the humanities, as a unified account of planetary change.

Nonetheless, despite its analytical efficacy, the Anthropocene remains very contentious. An increasing amount of scholarship has recognized substantial intellectual, ethical, and political constraints within the paradigm. These critiques are essential for decolonizing environmental ethics, as they reveal the underlying assumptions that shape prevailing environmental discourse.

2.1 The Issue of Universal Humanity

A common critique of the Anthropocene is its tendency to generalize responsibility. The assignment of ecological change to "humanity" as a species obscures the profound disparities present in the causes and consequences of environmental degradation. Chakrabarty (2009) argues that the Anthropocene conflates natural history with human history, although this amalgamation risks obscuring the specific historical nuances of industrial capitalism, colonial expansion, and dependence on fossil fuels.

Bonneuil and Fressoz (2016) augment this critique by demonstrating that the ecological catastrophe is not attributable to humanity in its whole, but rather to specific socio-economic institutions and historical progressions. The industrial revolution, mostly driven by European colonial powers, developed patterns of extraction and consumption that have profoundly impacted global environmental outcomes. Similarly, contemporary carbon emissions are primarily concentrated in affluent nations, although the most pronounced impacts of climate change are often observed in the Global South.

Terms like "Capitalocene" (Moore, 2016) and "Plantationocene" (Haraway et al., 2016) have been suggested to overcome these restrictions. These frameworks aim to emphasize the influence of capitalism, colonialism, and racialized systems of exploitation in generating ecological crises. Although these changes provide significant corrections, they predominantly reside within Western critical theory and do not adequately address non-Western ontologies and ethical traditions.

2.2 Anthropocentrism and Planetary Stewardship

A secondary critical concern relates to the Anthropocene's intrinsic anthropocentrism. The concept acknowledges the harmful impacts of human actions while often highlighting human agency by proposing improved management of Earth systems as the solution. This is evident in dialogues like "planetary stewardship," geoengineering, and sustainable governance, which depict individuals as responsible custodians of a passive environment (Latour, 2017).

This managerial paradigm has several limitations. It initially maintains the binary distinction between mankind and nature, despite its aim to address their interconnection. Nature is regarded as an entity to be managed, improved, or restored, rather than as a collection of entities with intrinsic value. Furthermore, it emulates the concepts of domination and subjection that form the foundation of modern industrial civilization. The technological and rationalist approaches that caused ecological degradation are now proposed as solutions, often overlooking the foundational cultural and ethical principles that support them. This perspective might be critically regarded as an extension of Enlightenment humanism, which emphasizes human reason and activity while marginalizing alternative modes of life. Even in its more introspective manifestations, the Anthropocene often emphasizes human accountability in ways that perpetuate hierarchical dynamics between humans and the non-human realm.

2.3 Eurocentrism and Epistemic Dominance

The Anthropocene is influenced by Eurocentric epistemic beliefs. It originates from the fields of geology and Earth system science, which are products of con-

temporary Western scientific perspectives. These paradigms are characterized by linear temporality, objectivity, and a focus on quantifiable processes. While these approaches have yielded considerable insights, they also impose a certain worldview that may lack general applicability. Decolonial scholars have emphasized the imperative to challenge this epistemic hegemony. Escobar (2018) promotes a "pluriversal" viewpoint that recognizes the possibility of several ontologies and epistemologies. From this perspective, the Anthropocene may be regarded as a "one-world world" narrative that marginalizes alternative cosmologies and epistemologies, particularly those of Indigenous and non-Western traditions.

Moreover, the temporal framework of the Anthropocene—usually marked by the industrial revolution or the mid-twentieth-century "Great Acceleration"—illustrates a linear conception of history, contrasting with the cyclical or relational temporalities common in many non-Western cultures. This timeframe cultivates a narrative of progress and upheaval that may obscure persistent patterns of human-environment interaction.

2.4 The Crisis of Representation

A crucial element of the Anthropocene critique concerns representation. The methodology is primarily grounded in scientific models, graphics, and global datasets to depict environmental change. While these techniques are essential for understanding complex systems, they can also make the ecological crisis seem abstract and impersonal, impeding engagement with its experiential and ethical dimensions.

Furthermore, the rhetoric surrounding the Anthropocene sometimes operates at an abstract level that obscures specific local realities and knowledge systems. Communities that have historically coexisted with their ecosystems may retain ecological knowledge that is not readily encapsulated under scientific paradigms. The marginalization of different viewpoints signifies both an epistemological deficiency and an ethical failure to acknowledge diverse relationships with the natural environment.

2.5 Towards a Decolonial Recontextualization

Collectively, these arguments demonstrate that the Anthropocene is not simply a neutral scientific notion but a construct influenced by particular historical, cultural, and epistemological contexts. Its universalizing tendencies conceal disparities; its anthropocentrism perpetuates human supremacy; and its Eurocentric roots exclude alternative epistemologies. Decolonizing environmental ethics necessitates more than only altering the terminology associated with the Anthropocene. It requires a thorough reevaluation of the ontological and ethical premises that support environmental discourse. This entails interacting with non-Western traditions that provide alternative viewpoints on the connection between humanity and the natural environment.

Buddhist and Indic philosophies offer a notably persuasive contrast in this context. Their focus on interdependence, non-duality, and ethical restraint opposes the dualistic and anthropocentric premises of the Anthropocene. Furthermore, their pluralistic and process-oriented epistemologies correspond with decolonial demands for the acknowledgment of other worlds and modes of knowledge.

3. Buddhist Ontology: Interdependence, Anatta, and Ecological Relationality

Any endeavour to construct a Buddhist–Indic criticism of the Anthropocene must commence with a meticulous elucidation of Buddhist ontology. Buddhist thought promotes a fundamentally interrelated conception of existence, in contrast to contemporary Western frameworks that typically assume distinct entities and hierarchical divisions between humans and nature. This ontology is based on three interconnected principles: dependent origination (pratītyasamutpāda), non-self (anātman), and impermanence (anicca). Collectively, these notions establish a conceptual basis that undermines anthropocentrism and redefines the ethical relationship between humans and the natural environment.

3.1 Dependent Origination (Pratītyasamutpāda) as Relational Ontology

The principle of dependent origination is a core tenet of Buddhist philosophy. Concise in the Saṃyutta Nikāya; "When this is, that is; with the arising of this, that arises; when this is not, that is not" (SN II.28), it conveys a perspective of reality wherein all things emerge contingent upon causes and conditions. No entity exists autonomously or possesses an inherent, self-sustaining essence. This idea possesses significant ontological ramifications. It refutes both substantialism (the notion that entities possess immutable essences) and rigid dualism (the division between subject and object, or humanity and nature).

Reality is perceived as a dynamic network of interrelations in which all entities are mutually constituted. In this regard, existence is inherently processual rather than static. From an ecological standpoint, dependent origination provides a robust framework for comprehending environmental interconnectedness. Ecosystems are intricate networks of causal linkages, wherein the disturbance of a single element triggers cascading consequences across the system. In contrast to contemporary ecological research, which frequently perceives these linkages as exterior interactions among distinct phenomena, Buddhist ontology posits that relationality is fundamental to life itself.

3.2 Non-Self (Anātman) and the Deconstruction of Human Exceptionalism

The idea of non-self (anātman), closely associated with dependent origination, refutes the notion of a permanent, independent self. In the *Anattalakkhaṇa Sutta* (SN 22.59), the Buddha examines the five aggregates (skandhas)—form, sensation, perception, mental formations, and consciousness—illustrating that none can be recognized as a permanent person. The rejection of a static self carries profound ethical and ecological consequences. If the self is not a discrete thing but a contingent process, then the boundary between self and other becomes permeable. This undermines the foundation of anthropocentrism, which frequently depends on a clear differentiation between human subjects and non-human objects. In the realm of environmental ethics, anātman diminishes the rationale for the use of nature as a resource for human purposes. If an independent self does not exist, the pain of other beings cannot be seen as inconsequential. Śāntideva posits in the Bodhicaryāvatāra that the differentiation between self and other is fundamentally artificial, and ethical consideration ought to encompass all sentient creatures (Śāntideva, VIII.90–103). Furthermore, the notion of non-self might be perceived as a critique of the modern subject—the independent, rational individual crucial to Enlightenment philosophy. This topic is frequently regarded as the catalyst for advancement and regulation, a function that supports the Anthropocene discourse. Buddhist philosophy, via deconstruction of this concept, facilitates a more connected and less hierarchical comprehension of human existence.

3.3 The Four Elements (Mahābhūta) and Embodied Ecology

Buddhist scriptures often characterize the body through the four main elements (mahābhūta): earth (solidity), water (cohesion), fire (temperature), and air (movement). In the Mahāhatthipadopama Sutta (MN 28), these elements are shown not as things but as experienced qualities that form both the body and the external universe. This fundamental examination eradicates the boundary between the human body and the environment. The identical elements constituting the body are present in the natural world, indicating a continuity between them. The Satipaṭṭhāna Sutta (MN 10) urges practitioners to reflect on the body through the lens of these elements, promoting an understanding of ecological interconnectedness.

This understanding contradicts Cartesian dualism, which distinguishes between mind and body, and the wider separation between humans and nature. Rather, it depicts the body as a locus of connectivity, where internal and external processes intersect. This embodied perspective has profound implications for environmental ethics, as it grounds ecological knowledge in lived experience rather than in abstract reasoning.

3.4 Mahāyāna Advancements: Interpenetration and Cosmic Relationality

Mahāyāna Buddhism elaborates on these ontological discoveries through notions such as śūnyatā (emptiness) and the interpenetration of all things. The *Avataṃsaka Sūtra*, especially in its Huayan interpretation, presents one of the most advanced expressions of this perspective. The metaphor of Indra's Net illustrates a universe where each diamond mirrors all others, reflecting the boundless interconnectedness of all entities. This concept of radical interdependence surpasses the initial Buddhist focus on causal relationships, proposing a model of mutual containment or co-arising where each phenomenon encapsulates the entirety. This perspective carries significant ecological ramifications, suggesting that damage to any component of the system equates to damage to the entirety. The notion of śūnyatā further substantiates this perspective by positing that all phenomena lack intrinsic existence. Emptiness does not signify nihilism; instead, it denotes the lack of a fixed essence, hence facilitating relationality. Nāgār-

juna posits in the Mūlamadhyamakakārikā that dependent origination and emptiness are synonymous, both indicating the contingent and relational essence of reality.

4. Indic Cosmologies and Ecological Reciprocity

Buddhist ontology critiques anthropocentrism by emphasizing interdependence and non-self, and a deeper exploration of Indic traditions enhances this framework. The Hindu and Jain philosophical frameworks present complementary perspectives on ecological interconnectedness based on non-dualism, reciprocity, and non-violence. Collectively, these traditions present a cosmological and ethical alternative to the exploitative and utilitarian perspective linked to modernity and the Anthropocene.

4.1 Yajña and Cosmic Reciprocity in the Bhagavad Gītā

The Bhagavad Gītā articulates an ecological morality via the notion of yajña, or sacrificial reciprocity. In Chapter 3, Kṛṣṇa elucidates a circular process wherein humans, deities, and nature mutually maintain one another via acts of offering: "From food arise beings; from rain is produced food; from sacrifice comes rain" (*Bhagavad Gītā* 3.14). This cosmology depicts the world as a web of interdependent interactions rather than a structure of dominance. Human actions are situated within a broader cosmic order (ṛta), and ethical behavior entails preserving equilibrium within this framework. Neglecting to engage in this reciprocity—due to egocentric or exploitative conduct—disturbs the cycle and results in ecological and societal disarray.

The notion of yajña may be viewed as a critique of contemporary extractivism. While industrial capitalism perceives nature as a repository of resources for consumption, the Gītā conceptualizes human interaction with the natural world as a reciprocal exchange. This viewpoint underscores accountability and moderation, opposing the rationale of acquisition that propels environmental deterioration.

4.2 Jain Ecology: Extreme Non-Violence and Interconnectedness

Jain philosophy has a highly rigorous formulation of ecological ethics within the Indic tradition. The principle of ahiṃsā (non-violence) is fundamental to Jain philosophy and encompasses all life forms, including flora and microbes. The Tattvārtha Sūtra articulates this principle with the phrase: parasparopagraho jīvānām, meaning, all life is interconnected via mutual assistance and interdependence. This notion not only confirms the interdependence of living entities but also imposes a moral duty to reduce harm. Jain practices, including vegetarianism, mindful consumerism, and non-attachment (aparigraha), demonstrate a profound dedication to ecological moderation. From a modern viewpoint, Jain ethics presents a profound challenge to the anthropocentric and utilitarian paradigms that prevail in environmental discussions. Jainism acknowledges the inherent worth of all life forms, hence broadening moral consideration beyond human concerns and advocating for a transformation in human conduct towards sustainability and compassion.

4.3 Advancing an Indic Ecological Paradigm

Collectively, these Indic traditions express an ecological framework based on non-dualism, reciprocity, and non-violence. They contest the ontological and ethical premises of modernity, presenting alternative frameworks for comprehending the relationship between humanity and the natural environment. These traditions offer not only abstract philosophical insights but are also integrated into practical applications that foster sustainability and ethical moderation. Consequently, they provide essential resources for reevaluating environmental ethics within a decolonial framework.

5. Ambedkar and the Decolonial Reinterpretation of Buddhism

An essential aspect of any decolonial environmental ethic is its involvement with matters of social justice and historical inequity. B. R. Ambedkar's work provides a crucial insight in this context. Ambedkar, as a jurist, social reformer, and major architect of the Indian Constitution, redefined Buddhism as a logical, egalitarian, and socially active tradition.

5.1 Buddhism as Social Ethics

In *The Buddha and His Dhamma* (1957), Ambedkar

articulates Buddhism as not only a spiritual journey but also a paradigm for societal change. He underscores the Buddha's condemnation of hierarchy, especially the caste system, and reinterprets fundamental ideas through the lens of ethical and social values. Ambedkar's interpretation of Buddhism emphasizes the material conditions of suffering, associating them with systems of inequality and oppression. This viewpoint corresponds with current issues of environmental justice, emphasizing the unequal effects of ecological deterioration on underprivileged populations.

5.2 Decolonizing Faith and Epistemology

Ambedkar's endeavor might likewise be interpreted as a manifestation of epistemic decolonization. By reasserting Buddhism as a rational and ethical tradition, he contests both colonial depictions of Indian faiths and Brahmanical supremacy within Indian culture. This twofold critique aligns with wider decolonial initiatives aimed at reclaiming marginalized knowledge systems and contesting epistemic hierarchies. Ambedkar's perspective in environmental ethics emphasizes the necessity of contextualizing ecological concerns within wider battles for justice and equality. Environmental deterioration constitutes not merely a technical or scientific issue but also a social and political challenge.

5.3 Advancing an Ambedkarite Ecological Ethics

While Ambedkar did not directly confront environmental concerns, his focus on social justice, rationalism, and ethical behavior establishes a basis for an Ambedkarite ecological ethic. This ethic would amalgamate considerations of environmental sustainability with a dedication to confronting inequity and oppression. This viewpoint is especially pertinent in the Global South, where environmental concerns are frequently linked to issues of development, poverty, and resource accessibility. An Ambedkarite perspective, by highlighting these characteristics, contests the universalizing inclinations of the Anthropocene and underscores the necessity for context-specific and justice -oriented solutions.

6. A Buddhist–Indic Critique of the Anthropocene

This part formulates a comprehensive Buddhist–Indic critique of the Anthropocene, building upon prior talks regarding its limitations, Buddhist ontology, Indic cosmologies, and Ambedkar's decolonial reinterpretation. This section contends that these traditions provide a fundamentally distinct ontological, ethical, and epistemic framework, rather than serving merely as supplementary ethical resources. This framework reveals the conceptual limitations of the Anthropocene and facilitates the potential for a truly decolonized environmental ethics.

6.1 Ontological Critique: Transitioning from Substance to Relational Process

The Anthropocene fundamentally relies on an implicit ontology that assumes distinct entities—humans and nature—interacting across a separation. Even when recognizing entanglement, it often perceives humans as a separate geological force influencing an external world. This lingering dualism is apparent in scientific and policy discussions that regard ecosystems as systems to be modeled, managed, and optimized. Buddhist ontology, as expressed through dependent origination (pratītyasamutpāda), fundamentally denies the existence of separate beings. Reality is perceived as a dynamic network of interrelations wherein all things emerge interdependently (Saṃyutta Nikāya II.28). Likewise, the Mahāyāna notion of śūnyatā (emptiness) refutes intrinsic existence, highlighting the contingent and relational essence of all entities (Nāgārjuna, Mūlamadhyamakakārikā). Indic non-dualism further substantiates this viewpoint. The Upaniṣadic equation of ātman with brahman eliminates the distinction between self and world, but Jain philosophy underscores the reciprocal interconnectedness of all life (parasparopagraho jīvānām). Collectively, these traditions express an ontology centered on relational processes rather than on substance.

From this perspective, the Anthropocene's characterization of humans as a distinct force becomes philosophically indefensible. Humans are not external agents influencing nature; rather, they are formed by the same processes that sustain the natural world. The ecological crisis should not be perceived as a disturbance instigated by an external entity but rather as a distortion inside a network of interdependent relationships. This ontological transformation carries substantial ramifications. It subverts the foundation

of anthropocentric thought and necessitates a reorientation of environmental rhetoric from control and management to participation and coexistence.

6.2 Ethical Critique: Advancing from Stewardship to Compassion and Non-Violence

The Anthropocene has elicited several ethical reactions, usually articulated in terms of stewardship or responsibility. Although these methodologies recognize the necessity for human involvement, they frequently maintain an anthropocentric perspective, viewing humans as custodians of a passive ecosystem.A Buddhist–Indic framework contests this approach by substituting stewardship with compassion (karuṇā), non-violence (ahiṃsā), and ethical restraint. Buddhism posits that the acknowledgment of interdependence engenders an ethical obligation to alleviate suffering in all life forms. The initial precept, refraining from killing life widens moral consideration to encompass animals and other sentient entities.

Likewise, Jain ethics intensifies this dedication through its stringent adherence to non-violence, whereas the Bhagavad Gītā's notion of yajña underscores mutual responsibility within a cosmic framework. These traditions do not regard humans as stewards of nature but as members of a moral and ecological community. This transition has significant implications for environmental ethics. A Buddhist–Indic approach prioritizes reducing damage, promoting virtue, and sustaining balance over maximizing utility or managing resources. It necessitates a metamorphosis of aspirations and behaviors, targeting the fundamental origins of environmental deterioration in greed (lobha), aversion (dosa), and ignorance (avijjā).

6.3 Epistemic Critique: Transitioning from Universalism to Pluralism

The Anthropocene serves as both an ontological and ethical framework, as well as an epistemological one. It depends on the authority of contemporary research to delineate and depict environmental change, frequently favoring quantitative data and global models. Although these tools are essential, they also embody a specific epistemology that may exclude alternative viewpoints.

Decolonial researchers underscore the significance of epistemic multiplicity, contending that no singular framework can adequately encompass the intricacies of ecological reality (Escobar, 2018). Buddhist and Indic traditions provide alternate epistemologies that both complement and contest scientific methodologies. Buddhist epistemology, for instance, highlights experiential knowledge (pratyakṣa) and insight (vipassanā), which emerge via direct interaction with reality. This stands in opposition to the abstract and frequently impersonal viewpoint of scientific observation. Indic cosmologies similarly encompass cyclical temporality and moral causation (karma), providing an alternative perspective on time and cause.

6.4 Recontextualizing the Anthropocene: From Catastrophe to Metamorphosis

Collectively, these ontological, ethical, and epistemological objections indicate a fundamental reconfiguration of the Anthropocene. Instead of perceiving it merely as a geological age characterized by human influence, it may be interpreted as an indication of underlying cultural and philosophical beliefs—specifically the division of humans from nature and the emphasis on control and accumulation.

A Buddhist–Indic viewpoint emphasizes inward transformation over external administration. The ecological catastrophe is not merely an issue of carbon emissions or resource depletion; it also is an expression of societal ignorance and desire. Resolving it necessitates a realignment of ideals, practices, and institutions. This does not entail the dismissal of scientific knowledge or technical solutions, but rather contextualizing them within a more comprehensive ethical and ontological framework. A Buddhist–Indic approach, by highlighting interdependence, compassion, and plurality, presents a more comprehensive and inclusive perspective on environmental ethics.

7. Conclusion

The Anthropocene has become a significant framework for comprehending the magnitude of the current ecological disaster, emphasizing the substantial influence of human activities on Earth's systems. This study contends that the idea is constrained by its universalizing, anthropocentric, and Eurocentric assumptions. Attributing environmental degradation to

"humanity" as a collective obscures the historical and structural causes that have influenced ecological outcomes, while its focus on planetary management may reinforce the underlying logic of domination that contributes to the catastrophe.

The importance of this framework resides in its capacity to transcend critique and propose constructive alternatives. A Buddhist–Indic approach, by prioritizing relational ontology, ethical transformation, epistemic pluralism, and social justice, offers a comprehensive perspective on environmental ethics that encompasses both ecological and human issues. It necessitates a transition from domination to coexistence, from extraction to reciprocity, and from universality to plurality.

To conclude, decolonizing environmental ethics is not simply an intellectual endeavor but an imperative response to the global ecological catastrophe. This aims to contribute by interacting with Buddhist and Indic traditions, illustrating the current implication of these ideologies in tackling the questions of the Anthropocene. This underscores the consequence of utilizing varied intellectual traditions to envision more equitable and sustainable futures.

References

Ambedkar, B. R. (1957*). The Buddha and his Dhamma*. Siddharth College Publications.

Bodhi, B. (Trans.). (2000). *The connected discourses of the Buddha: A translation of the Saṃyutta Nikāya*. Wisdom Publications.

Bonneuil, C., & Fressoz, J.-B. (2016). *The shock of the Anthropocene: The earth, history and us*. Verso.

Chakrabarty, D. (2009). The climate of history: Four theses. *Critical Inquiry, 35(2),* 197–222.

Cleary, T. (Trans.). (1993). *The flower ornament scripture: A translation of the Avataṃsaka Sūtra*. Shambhala Publications.

Escobar, A. (2018). *Designs for the pluriverse: Radical interdependence, autonomy, and the making of worlds*. Duke University Press.

Haraway, D. (2016). *Staying with the trouble: Making kin in the Chthulucene*. Duke University Press.

Harris, I. (1991). How environmentalist is Buddhism? *Religion, 21(2),* 101–114.

Harvey, P. (2000). *An introduction to Buddhist ethics: Foundations, values and issues*. Cambridge University Press.

Ives, C. (2013). *Zen on the trail: Hiking as pilgrimage.* Wisdom Publications.

James, S. P. (2004). Zen Buddhism and environmental ethics. *Environmental Ethics, 26(2),* 181–204.

Kaza, S. (2000). *Hooked! Buddhist writings on greed, desire, and the urge to consume.* Shambhala Publications.

Latour, B. (2017). *Facing Gaia: Eight lectures on the new climatic regime*. Polity Press.

Loy, D. R. (2019). *Ecodharma: Buddhist teachings for the ecological crisis*. Wisdom Publications.

Macy, J. (2007). *World as lover, world as self.* Parallax Press.

Moore, J. W. (2016). *Anthropocene or Capitalocene? Nature, history, and the crisis of capitalism*. PM Press.

Nāgārjuna. (1995*). The fundamental wisdom of the middle way: Mūlamadhyamakakārikā* (J. L. Garfield, Trans.). Oxford University Press.

Ñāṇamoli, B., & Bodhi, B. (Trans.). (1995). *The middle length discourses of the Buddha: A translation of the Majjhima Nikāya*. Wisdom Publications.

Olivelle, P. (Trans.). (1996). *Upaniʿads*. Oxford University Press.

Sargeant, W. (Trans.). (2009). *The Bhagavad Gītā.* SUNY Press.

Śāntideva. (1995). *The Bodhicaryāvatāra* (K. Crosby & A. Skilton, Trans.). Oxford University Press.

Tatia, N. (Trans.). (1994). *Tattvārtha Sūtra: That which is*. HarperCollins.

Thich Nhat Hanh. (2008). *The world we have: A Buddhist approach to peace and ecology*. Parallax Press.

Tucker, M. E., & Williams, D. R. (Eds.). (1997). *Buddhism and ecology: The interconnection of dharma and deeds*. Harvard University Press.

*****

छन्द:शास्त्र में प्रयुक्त गणों का स्वरूप और विकास

chandaḥśāstra meṃ prayukta gaṇoṃ kā svarūpa aura vikāsa

-डॉ. रवि कुमार मीना
सहायक प्राध्यापक
संस्कृत विभाग
श्री वेंकटेश्वर महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल: karauliravi219@gmail.com

भूमिका:- संस्कृत साहित्य विश्व का सर्वाधिक प्राचीन, सम्पन्न एवं सर्वश्रेष्ठ साहित्य है । वेदों में मानव जीवन के सभी अभ्युदय एवं नि:श्रेयस सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है। वैदिक परम्परा को आगे बढ़ाने तथा उसको समझने के लिये शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष नामक छ: वेदाङ्गों की रचना की गई । छन्द एक वेदाङ्ग है जिसको वेद का पाद कहा गया है। जिस प्रकार मनुष्य पैर के बिना चल नही सकता उसी प्रकार वेद भी छन्दों के बिना आगे नही बढ़ सकता । छन्दों को उनके साहित्य के आधार पर दो प्रकार का बताया गया है वैदिक एवं लौकिक । संस्कृत छन्द अनेक प्रकार के होते हैं । छन्द:शास्त्र में कुल 119 वैदिक छन्द तथा 162 लौकिक छन्दों का वर्णन किया गया है। छन्द:शास्त्र के अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं जिनमें वृत्तरत्नाकर, छन्दोमञ्जरी, वृत्तमञ्जरी, नाट्यशास्त्र आदि मुख्य हैं।

बीजशब्द:- पिङ्गल छन्द-शास्त्र, वृत्तरत्नाकर, छन्दोमञ्जरी, छन्द:समीक्षा आदि।

संस्कृत वाङ्मय दो भागों में विभक्त है वैदिक और लौकिक। इस आधार पर छन्द भी मुख्य रूप से वैदिक और लौकिक भेद से दो प्रकार के स्वीकार किये गये हैं।

वैदिकछन्द:- वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होने वाले छन्दों को वैदिक छन्द कहते हैं। इनमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और स्वरित आदि चार प्रकार के स्वरों का विचार किया जाता है। वैदिक छन्दों के प्रत्येक पाद में अक्षरों की सङ्ख्या गिनी जाती है। वैदिक छन्द एकपादी, द्विपादी, त्रिपादी, चतुर्पादी एवं चार से अधिक पादों वाले हो सकते हैं।

लौकिक छन्द:- लौकिक छन्द मात्रा और वर्ण का नियामक होता है। अतः यह भी मात्रा और वर्ण के भेद से दो प्रकार छन्द का है। जिसे क्रमशः मात्रिक एवं वर्णिक कहा जाता है। वृत्तरत्नाकर में भी मात्रा और वर्ण के भेद से लौकिक छन्दों के दो विभाग किये गये हैं[1]।

कुछ आचार्य गण, मात्रा और अक्षर के रूप में छन्दों के तीन भेद स्वीकार करते हैं[2]। आचार्य पिङ्गलकृत छन्द:शास्त्र के टीकाकार हलायुध ने तीन प्रकार के छन्दों का विभाजन किया है। इस प्रकार मात्रा और वर्ण के रूप में छन्दों का विभाजन करने पर मात्राछन्द में ही गणच्छन्दों का भी संग्रह होता है। छन्दसूत्र के चतुर्थ अध्याय के 15वें सूत्र से लेकर 32वें सूत्र तक गणछन्द का उल्लेख प्राप्त होता हैं[3]। चतुर्थ अध्याय के 33वें सूत्र से लेकर 53वें सूत्र तक मात्रा छन्दों का वर्णन किया गया हैं[4]। भास्करराय के अनुसार छन्द के गद्य, पद्य तथा मिश्र भेद से छन्द के तीन भेद हैं तथा इनमें से प्रत्येक में सम, अर्धसम तथा विषम भेद प्राप्त होते हैं[5]।

लौकिक छन्दों के प्रकार:- लौकिक छन्दों का विभाजन संरचना के अनुसार वर्णों और मात्राओं के आधार पर किया गया है। इस प्रकार से लौकिक छन्द मुख्यतः दो प्रकार होते हैं।

वर्णिक छन्द:- वर्णिक को वर्णवृत्त छन्द भी कहते हैं। जिसमें अक्षरों की नियत सङ्ख्या में छन्दों की रचना की जाती है अर्थात् इसमें प्रत्येक पाद में गणों के अनुसार वर्णों की गणना की जाती है, यथा- इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि। वर्णिक छन्द भी दो प्रकार के होते हैं।

गणात्मक:- गणात्मक वर्णिक छन्दों को वृत्त भी कहते हैं। जिन छन्दों में पाद की व्यवस्था होती है, उन्हें वृत्त कहते हैं। पाद की व्यवस्था होने के कारण ही वृत्त को पद्य भी कहते हैं। इनकी रचना तीन लघु और दीर्घ गणों से बने हुए गणों के आधार पर होती है। लघु तथा दीर्घ के विचार से यदि वर्णों की प्रस्तार-व्यवस्था की जाये तो 8 रूप बनते हैं। इन्हीं को "8 गण" कहते हैं, इनमें भगण, नगण, मगण एवं यगण शुभ गण स्वीकार किये गये हैं और जगण, रगण, सगण एवं तगण को

अशुभ गण के रूप में स्वीकार किया गया हैं। वाक्य के आदि में प्रथम चार गणों का प्रयोग उचित है, अन्तिम चार का प्रयोग निषिद्ध है। यदि शुभ गणों से प्रारम्भ होने वाले छन्द का ही प्रयोग करना है, तो देवतावाची या मंगलवाची वर्ण अथवा शब्द का प्रयोग प्रथम करना चाहिए, इससे गणदोष दूर हो जाता है। इन गणों में परस्पर मित्र, शत्रु और उदासीन भाव स्वीकार किया गया है। छन्द के आदि में दो गणों का मेल स्वीकार किया गया है। वर्णों के लघु एवं दीर्घ मानने का भी नियम है। लघु स्वर अथवा एक मात्रा वाले वर्ण लघु अथवा ह्रस्व स्वीकार किये गये और इसमें एक मात्रा मानी गई है। दीर्घ स्वरों से युक्त संयुक्त वर्णों से पूर्व का लघु वर्ण भी विसर्ग युक्त और अनुस्वार वर्ण तथा छन्द का वर्ण दीर्घ स्वीकार किया जाता है। पद्य में पदों की व्यवस्था होती है। इसके दो भेद प्राप्त होते हैं[6] वृत्त और जाति। आचार्यों द्वारा छन्द का एक नाम वृत्त भी स्वीकार किया गया है तथा यह छन्द का एक प्रकार भी है। उस गणात्मक या वृत्त के तीन भेद प्राप्त होते हैं- समवृत्त, अर्धसमवृत्त तथा विषमवृत्त[7]।

समवृत्त:- जिस पद्य के चारों चरणों में अक्षर या वर्ण सङ्ख्या समान हो, एक ही लक्षण से युक्त हों छन्दशास्त्री लोग उसे समवृत्त के रूप में स्वीकार करते हैं, जैसे– उपेन्द्रवज्रा यह एक समवृत्त छन्द है क्योंकि इसके चारों चरणों में 11-11 अक्षर होते हैं और उनमें गुरु-लघु का नियम भी एक ही समान होता है[8]। छन्दसूत्र में तनुमध्या[9] से लेकर उत्कृति[10] तक कुल 73 समवृत्त छन्दों का उल्लेख किया गया है।

अर्धसमवृत्त:- जिस छन्द का प्रथम चरण तृतीय चरण के समान और द्वितीय चरण चतुर्थ चरण के समान हों तथा अक्षर और स्वरों की सङ्ख्या समान हो वह अर्धसमवृत्त छन्द कहलाता है, जैसे– पुष्पिताग्रा क्योंकि इस छन्द में पहला तथा तीसरा, दूसरा तथा चौथा चरण अक्षरों की सङ्ख्या एक समान होती हैं[11]। उपचित्रक[12] से लेकर शिखाखञ्जा[13] तक कुल 13 अर्धसमवृत्त छन्दों का विवेचन किया गया है।

विषमवृत्त:- जिस छन्द के चारों चरणों में वर्णों एवं स्वरों की सङ्ख्या तथा लक्षण भिन्न-भिन्न हो वह विषमवृत्त कहलाता है, जैस– उद्गाता और गाथा आदि छन्द विषमवृत्त हैं[14]। ये वर्ण परस्पर पृथक होते हैं। वर्णों और मात्राओं की निश्चित सङ्ख्या के बाद बहुसङ्खयक वर्णों और स्वरों से युक्त छन्द दण्डक कहे जाते है इनकी सङ्ख्या बहुत अधिक है। समानी[15] से लेकर शुद्ध विराड्-ऋषभ[16] तक कुल 25 विषमवृत्त छन्दों का वर्णन किया गया है ।

अगणात्मक:- अगणात्मक मात्रिक छन्दों को जाति भी कहते हैं। इस छन्द में गुरु-लघु मात्राओं की सङ्ख्या गिनी जाती है अर्थात् जिस छन्द में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत स्वरों की 1, 2, 3 इस प्रकार मात्राओं की तथा व्यञ्जन की अर्धमात्रा की गणना की जाती है, उसे जाति छन्द कहते हैं अर्थात् इसमें प्रत्येक पाद में गणों के अनुसार मात्राओं की गणना की जाती है, यथा– आर्या, गीति आदि मात्रावृत्त हैं। इसके प्रत्येक श्लोक में चार पाद या चार चरण होते हैं। और यह एक विशेष लय अथवा गति (पाठप्रवाह अथवा पाठपद्धति) पर आधारित रहते हैं। इसलिये ये छन्द लय प्रधान होते हैं। उस जाति के भी तीन भेद प्राप्त होते हैं- समवृत्त, अर्धसमवृत्त तथा विषमवृत्त इत्यादि[17]।

समवृत्त:- जिस पद्य के चारों चरणों में अक्षर या वर्ण सङ्ख्या समान हो, एक ही लक्षण से युक्त हों छन्दशास्त्री लोग उसे समवृत्त के रूप में स्वीकार करते हैं, जैसे– उपेन्द्रवज्रा यह एक समवृत्त छन्द है क्योंकि इसके चारों चरणों में 11-11 अक्षर होते हैं और उनमें गुरु-लघु का नियम भी एक ही समान होता है[18]।

अर्धसमवृत्त:- जिस छन्द का प्रथम चरण तृतीय चरण के समान और द्वितीय चरण चतुर्थ चरण के समान हों तथा अक्षर और स्वरों की सङ्ख्या समान हो वह अर्धसमवृत्त छन्द कहलाता है, जैसे– पुष्पिताग्रा क्योंकि इस छन्द में पहला तथा तीसरा, दूसरा तथा चौथा चरण अक्षरों की सङ्ख्या एक समान होती हैं[19]।

विषमवृत्त:- जिस छन्द के चारों चरणों में वर्णों एवं स्वरों की सङ्ख्या तथा लक्षण भिन्न-भिन्न हो वह विषमवृत्त कहलाता है। उद्गाता और गाथा आदि छन्द विषमवृत्त हैं[20]। ये वर्ण परस्पर पृथक होते हैं। वर्णों और मात्राओं की निश्चित सङ्ख्या के बाद बहुसङ्खयक वर्णों और स्वरों से युक्त छन्द दण्डक कहे जाते हैं इनकी सङ्ख्या बहुत अधिक है ।

छन्द के अवयव:- छन्द:शास्त्र में छन्दों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन छन्दों को समझने के लिये सबसे पहले छन्द के अवयवों को समझना आवश्यक होता है। अत: छन्द के निम्नलिखित अङ्ग होते हैं-

चरण या पाद:- छन्द:सूत्र में आचार्य पिङ्गल ने चरण या पाद छन्द के चतुर्थांश अर्थात् ¼ भाग को पाद या चरण कहते हैं[21]

मात्रा:- किसी वर्ण के उच्चारण में लगने वाले समय को मात्रा कहा जाता है। मात्राएँ दो प्रकार की होती हैं– (1) लघु (।) (2) गुरू (S)। जिनके उच्चारण में थोड़ा कम समय लगता है उन्हें लघु (ह्रस्व) मात्रा कहा जाता है जैसे– अ, इ, उ, अं की मात्राएँ। मात्राओं की गणना के समय लघु अक्षर का चिह्न सीधी रेखा (लकीर) " । " से अंकित किया जाता है, और जिनके उच्चारण में अधिक समय लगता है उन्हे गुरु मात्रा

कहा जाता है।

वर्ण:- भाषा में प्रयुक्त सबसे छोटी ध्वनि वर्ण कहलाती है। छन्द:सूत्र में 'ल' वर्ण से लघु और 'ग' वर्ण से गुरु का ज्ञान होता है[22]। छन्द में दो प्रकार के वर्ण होते हैं। लघु वर्ण– ह्रस्व स्वर और उसकी मात्रा से युक्त व्यञ्जन वर्ण को लघु वर्ण कहा जाता है।

सङ्ख्या:- मात्राओं एवं वर्णों की गणना को सङ्ख्या कहते हैं। छन्द की पहचान करने में यह अवयव बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

क्रम:- लघु-गुरु के स्थान निर्धारण को क्रम कहते हैं। छन्द:शास्त्र के कुछ आचार्य पाद के आदि में होने वाले अक्षरसंयोग को 'क्रम' कहते हैं।

यति या विराम:- आचार्य पिङ्गल ने छन्दसूत्र में यति का विधान किया है। श्लोक के उच्चारण के समय जीभ जहाँ अपनी इच्छा से रुक जाती है, उसे 'यति' कहते हैं[23]

गण:- प्रत्येक पद्य को गणों में विभाजित किया जाता है। मात्राओं तथा वर्णों की सङ्ख्या और क्रम की सुविधा के लिए तीन वर्णों के समूह को एक गण मान लिया जाता है। गण दो प्रकार के होते हैं (1) वर्णगण और (2) मात्रागण।

वर्ण गण:- छन्द में कुल आठ गण होते हैं [24](शास्त्री, 1998 तथा द्विवेदी एवं सिंह, 2008) तथा प्रत्येक गण में तीन-तीन वर्ण होते हैं। छन्द:शास्त्र में इन्ही आठ गणों को सूत्रवत् तरीके से य-म-त-र-ज-भ-न-स-ल-ग के रूप में व्यक्त किया गया है। सूत्र के प्रथम आठ वर्ण आठ गणों को बताते हैं और अन्तिम दो वर्ण 'ल' और 'ग' लघु और गुरु वर्ण को प्रकट करते हैं। वक्र (ऽ) और ऋजु (।) रेखाओं द्वारा गणों को बताया जाता है। वक्ररेखा को गुरु और ऋजुरेखा को लघु स्वीकार किया गया है। आठ गणों का विस्तृत वर्णन एवं मात्रा गणना तथा सांकेतिक चिन्ह तालिका सङ्ख्या 2.9 में दर्शायी गई है ।

नाम	स्वरूप	उदाहरण	सांकेतिक
यगण	।ऽऽ	यमाता	य
मगण	ऽऽऽ	मातारा	मा
तगण	ऽऽ।	ताराज	ता
रगण	ऽ।ऽ	राजभा	रा
जगण	।ऽ।	जभान	ज
भगण	ऽ।।	भानस	भा
नगण	।।।	नसल	न
सगण	।।ऽ	सलग	स

तालिका 2.9 छन्द के गण

अन्य आचार्यों ने भी इन्ही आठ गणों को अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया है[26]। वर्ण गणों के स्वरूप को निम्न प्रकार से प्रकट किया जाता है।

यगण (।ऽऽ):- जहाँ पहला अक्षर लघु और शेष दो अक्षर गुरु होते हैं, उस स्थान पर यगण होता है। जो एक लघु और दो गुरु वर्णों के समूह (व रा सा) को प्रकट करती है, जिनकी 5 मात्राएँ होती हैं। इस गण का देवता जल है। श्लोक के आरम्भ में इस इस गण का प्रयोग करने से कवि की वंशवृद्धि होती है। यह भृत्यगण के रूप में स्वीकार किया गया है।

मगण (ऽऽऽ):- जिस स्थान पर तीनों अक्षर गुरु होते हैं, वहाँ पर मगण होता है। छन्दसूत्र में मगण को 'धी श्री स्त्री म्' इस सूत्र[27] के माध्यम से बताया है। मगण की 6 मात्राएँ गिनी जाती हैं। छन्दसूत्र में इस गण की देवता भूमि स्वीकार की जाती है। किसी पद्य की रचना कवि यदि मगण से करता है तो उसको श्री की प्राप्ति होती हैं। इस गण को मित्रगण के रूप में स्वीकार किया गया है।

रगण (ऽ।ऽ):- जिस गण में तीन अक्षरों के समूह में से बीच का अक्षर लघु हो और उसके दोनों ओर एक-एक गुरु वर्ण हो तो वहाँ रगण होता है, अर्थात् जो मध्य में एक लघु और उसके दोनों ओर एक-एक गुरु वर्णों के समूह (का गुहा) को बताती है। इसकी भी 5 मात्राएँ होती हैं। इस गण का देवता अग्नि है। किसी श्लोक के प्रारम्भ में इस गण का प्रयोग करने से प्रयोक्ता को मृत्यु प्राप्त होती है। इसको उदासीन गण कहते हैं।

सगण (।।ऽ):- अर्थात् जो प्रारम्भ में दो लघु और अन्त में एक गुरु वर्ण के समूह (वसुधा) को प्रकट करती है। इसकी 4 मात्राएँ होती हैं। इस गण का देवता वायु है। इसका प्रयोग करने से प्रयोक्ता का दूरजाने वाला होता है। इस गण को नीच (शत्रु) गण स्वीकार किया जाता है।

तगण (ऽऽ।):- जहाँ पर त्रिक में अन्तिम अक्षर लघु होता है और शेष दो अक्षर गुरु होते हैं, उस स्थान पर तगण होता है। तगण की 5 मात्राएँ होती हैं। यह इस तगण के समूह (सा ते क्व) को प्रकट करता है। इस गण का देवता व्योम है। कवि द्वारा अपने काव्य में इस गण का प्रारम्भ में प्रयोग करने पर वह शून्यत्व को प्राप्त होता है। इस गण को नीच स्वीकार किया जाता है।

जगण (।ऽ।):- जिस गण का बीच का अक्षर गुरु हो तथा प्रारम्भ और अन्त में एक-एक लघु वर्ण के समूह (कदा स) को प्रकट करता है, वह जगण कहलाता है। जगण की 4 मात्राएँ होती हैं। इस गण का देवता सूर्य है। इसका श्लोक के शिरु में प्रयोग करने पर प्रयोक्ता को रोग की प्राप्ति होती हैं। यह एक उदासीन गण है।

भगण (ऽ।।):- इस गण में 4 मात्राएँ होती हैं। जो प्रारम्भ में एक गुरु और बाद में दो लघु वर्णों के समूह (किं वद) को प्रकट करती हैं, इसलिये इसको भगण कहते है। इस गण का देवता चन्द्र है। आरम्भ में इसका प्रयोग करने से प्रयोक्ता को यश प्राप्त होता है। इसे भृत्य (दास) गण स्वीकार किया गया

है।

नगण (।।।):- इस गण में तीनों अक्षर लघु होते हैं। जो तीन लघु वर्णों के समूह (न हस) को प्रकट करती हैं। इस गण की 3 मात्राएँ होती है। इस गण का देवता नाक (स्वर्ग) है। पद्य के आरम्भ में इसके प्रयोग से प्रयोक्ता को सुख प्राप्त होता है। इसे मित्र गण स्वीकार किया गया है। इस प्रकार छन्दसूत्र के प्रथम अध्याय में आठ गणों का वर्णन किया गया है। वर्ण छन्द के अवान्तर भेद गण छन्द तथा अक्षर छन्द हैं। इनमें सभी गणों के अक्षर-घटित होने के कारण गण छन्द को अक्षर छन्द भी कहा जा सकता है।

मात्रिक गण:- जिस प्रकार आचार्य पिङ्गल ने वर्णिक छन्दों के लिए 8 गणों का उल्लेख किया है, उसी प्रकार मात्रिक छन्दों का उल्लेख भी अपने छन्द:शास्त्र में किया है। इसमें 4 अक्षरों वाले गण का विवेचन किया है अर्थात् चार लघु अक्षरों का भी एक गण होगा जिसे 'नगणल' स्वीकार किया जा सकता है, इसका तात्पर्य है नगण (।।।) के साथ एक लघु (।) वर्ण आ गया है[28]। मात्रिक छन्दों में प्रत्येक पाद या चरण की मात्राएँ गिनी जाती हैं। प्रत्येक मात्रिक गण में चार मात्राएँ होती हैं। लघु (ह्रस्व) अक्षर की 1 मात्रा मानी जाती है और गुरु (दीर्घ) की 2 मात्राएँ। मात्रा छन्दों के गण चार लघु अक्षरों के बराबर होते हैं। मात्रागण 5 हैं[29]। इनके नाम और चिह्न इस प्रकार हैं-

1) गौ, मगण- ऽ ऽ (दो गुरु अक्षर),
2) गन्त, सगण- ।। ऽ (अन्त गुरु, शेष दो लघु),
3) ग्-मध्य, जगण- । ऽ । (मध्यगुरु, शेष दो लघु),
4) ग् आदि, भगण- ऽ ।। (आदि गुरु, दो लघु),
5) ल:, नगण- ।।।। (चार लघु अक्षर), (पाठक, 2015 तथा द्विवेदी एवं सिंह, 2008)।

छन्द:शास्त्र में गणों का विकास स्वच्छंदता से अनुशासन की ओर बढ़ने की प्रक्रिया है। जहाँ वैदिक छन्दों में लय का लचीलापन था, वहीं लौकिक छन्दों में गणों के माध्यम से संगीत और गणित का अद्भुत मेल स्थापित किया गया। ये गण न केवल कविता को गाए जाने योग्य बनाते हैं, बल्कि भाषा में एक निश्चित प्रवाह और सौंदर्य भी उत्पन्न करते हैं।

सन्दर्भसूची:-

1. पिङ्गलादिभिराचार्यैर्यदुक्तं लौकिकं द्विधा । मात्रावर्णविभेदेन छन्दस्तदिह कथ्यते ॥ (1/4)।
2. आदौ तावद् गणच्छन्दो मात्राच्छन्दस्तत: परम् । तृतीयमक्षरच्छन्द-श्छन्दस्त्रेधा तु लौकिकम् ॥ पि. छन्दसूत्र– 4/11 भाष्य।
3. आर्याद्युद्गीतिपर्यन्तं गणच्छन्द: समीरितम्। पि.छन्दसूत्र– 4/15 से 32.
4. वैताल्यादि चूलिकान्तं मात्राच्छन्द: प्रकीर्तितम्। वही– 4/33 से 53.
5. गद्यं पद्यं मिश्रकं चेति त्रिविधमपि छन्दों विषमार्धसमसमभेदात् प्रातिस्विकम् त्रिविधम्। भास्कराय 4.17.
6. पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा । वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥ छन्दोमञ्जरी- 1.4.
7. सममर्धसमं वृत्तं विषमं चेति तत् त्रिधा ।
   समं समचतुष्पादं भवत्यर्धसमं पुन: ॥ 1/5 ॥
   आदिस्तृतीयवद् यस्य पादस्तुर्यो द्वितीयवत्।
   भिन्नचिह्न-चतुष्पादं विषमं परिकीर्तितम् ॥ 1/6 ॥ (छन्दोमञ्जरी)।
8. अङ्घ्रयो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षणलक्षिता: । तत् छन्द:शास्त्रतत्त्वज्ञा: समं वृत्तं प्रचक्षते ॥ (1.14)।
9. छन्दसूत्र- 6/2.
10. छन्दसूत्र- 7/30.
11. प्रथमाङ्घ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत् । द्वितीयस्तुर्यवत् वृत्तं तदर्धसममुच्यते ॥ (1.15)।
12. छन्दसूत्र- 5/32.
13. छन्दसूत्र - 5/44.
14. यस्य पादचतुष्केऽपि लक्ष्म भिन्नं परस्परम्, तदाहु: विषमं वृत्तं छन्द:शास्त्रविशारदा: ॥ (1.16)।
15. छन्दसूत्र- 5/6.
16. छन्दसूत्र - 5/30.
17. सममर्धसमं वृत्तं विषमं चेति तत् त्रिधा ।
   समं समचतुष्पादं भवत्यर्धसमं पुन: ॥ 1/5 ॥
   आदिस्तृतीयवद् यस्य पादस्तुर्यो द्वितीयवत्।
   भिन्नचिह्न-चतुष्पादं विषमं परिकीर्तितम् ॥ 1/6 ॥ (छन्दोमञ्जरी)।
18. अङ्घ्रयो यस्य चत्वारस्तुल्यलक्षणलक्षिता: । तत् छन्द:शास्त्रतत्त्वज्ञा: समं वृत्तं प्रचक्षते ॥ (1.14)।
19. प्रथमाङ्घ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत् । द्वितीयस्तुर्यवत् वृत्तं तदर्धसममुच्यते ॥ (1.15)।
20. यस्य पादचतुष्केऽपि लक्ष्म भिन्नं परस्परम्, तदाहु: विषमं वृत्तं छन्द:शास्त्रविशारदा: ॥ (1.16)।
21. पादश्चतुर्थभाग:। (छन्दसूत्रम् 4/10), पृष्ठसङ्ख्या-85.
22. ग्लौ। (छन्दसूत्र - 1/14), पृष्ठसङ्ख्या-19.
23. 'यतिर्विच्छेद:' (पिं. सू. 6/1)।
24. मगणो यगणश्चैव रगण: सगणस्तथा।

तगणो जगणश्चैव भगणो नगणस्तथा ॥ (श्रुतबोध- पृष्ठसङ्ख्या- 4)।

25. यमाताराजभानसलगाः,(छन्दसूत्र- पृष्ठसङ्ख्या- 4-5)।
26. मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ॥ 8 ॥ (छन्दोमंजरी (तैलङ्ग), पृष्ठसङ्ख्या – 6) ।
आदि मध्यावसानेषु यरता यान्ति लाघवम् ।
भजसा गौरवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम् ॥ (छन्द:सूत्रम्, पृष्ठसङ्ख्या– 4)।
27. छन्दसूत्र- 1/1.
28. पिङ्गल छन्दसूत्र, ल: समुद्रा गण: - 4.12.
29. छन्दसूत्र, गौ गन्तमध्यादिर्लश्च- 4.13.

1. उपाध्याय, बलदेव (सम्पा.). 1966. *अग्निपुराण*. चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन. वाराणसी।
2. उपाध्याय, बलदेव (सम्पा.). 1980. *नाट्यशास्त्र*. चौखम्भा संस्कृत संस्थान. वाराणसी।
3. उपाध्याय, बलदेव एवं पाण्डेय, ओमप्रकाश. 1997. *संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास वेदाङ्ग खण्ड*. उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान. लखनऊ।
4. ऋषि, उमाशंकर शर्मा. 2012. *संस्कृत साहित्य का इतिहास*. चौखम्भा भारती अकादमी. वाराणसी।
5. कृष्णदास, गंगाविष्णु (सम्पा.). 1988. *श्रुतबोध*. लक्ष्मी-वेंकटेश्वर स्टीस प्रेस. बम्बई।
6. गीताप्रेस (सम्पा.). 2008. *स्कन्धपुराण*. गीताप्रेस. गोरखपुर।
7. चतुर्वेदी, ब्रजमोहन (सम्पा.). 2011. *नाट्यशास्त्रम्*. विद्यानिधि प्रकाशन. दिल्ली।
8. जोशी, कन्हैयालाल (सम्पा.). 2003. *श्रुतबोध*. चौखम्भा पब्लिशर्स. वाराणसी।
9. ज्ञानी, एस. डी (सम्पा.). 1964. *अग्निपुराण: एक अध्ययन*. चौखम्बा प्रकाशन. वाराणसी।
10. झा, व्रजमोहन (सम्पा.). 1968. *सुवृत्ततिलकम्*. चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस. वाराणसी।
11. तैलङ्ग, जगन्नाथशास्त्री (सम्पा.). 2013. *छन्दोमञ्जरी*. भारतीय विद्या प्रकाशन. वाराणसी।
12. त्रिपाठी, ब्रह्मानन्द (सम्पा.) एवं उपाध्याय, बलदेव (सम्पा.). 2012. *वृत्तरत्नाकर:*. चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन. वाराणसी।
13. द्विवेदी, कपिलदेव (अनु.) एवं सिंह, श्यामलाल (अनु.). 2008. *पिङ्गल कृत छन्द: सूत्रम्*. विश्वविद्यालय प्रकाशन. वाराणसी।
14. पाठक, चित्तनारायण (सम्पा.). 2015. *छन्द:शास्त्रम् (मृतसञ्जीविन्याख्य)*. चौखम्बा विद्याभवन. वाराणसी।

*****

पतंजलि के अनुसार कर्मवाद एवं व्यक्तिगत जीवन में उसका प्रभाव

-डॉ. प्रदीप कुमार
डी0एस0बी0 परिसर, नैनीताल।
मोबाइल नम्बर- 9927604385
मेल आई डी-pradeepkumar.kumar123@gmail.com

सारांश (Abstract)

कर्मवाद भारतीय दर्शन का एक केन्द्रीय सिद्धान्त है, जो यह स्पष्ट करता है कि प्रत्येक व्यक्ति के कर्म उसके जीवन और भविष्य को आकार देते हैं। पतंजलि, योगसूत्रों के प्रतिपादक, कर्मवाद के महत्त्व को योगिक और दार्शनिक दृष्टि से स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार, कर्म केवल शारीरिक क्रियाओं तक सीमित नहीं है; मानसिक प्रवृत्तियाँ और वाचिक अभिव्यक्तियाँ भी कर्म की श्रेणी में आती हैं। भारतीय दर्शन में कर्मवाद का अर्थ है ''कर्म और उसके परिणामों का नियम।'' यह दृष्टिकोण मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति की क्रियाएँ उसके जीवन की दिशा निर्धारित करती हैं और उसके भविष्य में प्रतिफल लाती हैं। इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति न केवल अपने जीवन के लिए, बल्कि समाज की नैतिक और सामूहिक संरचना के लिए भी जिम्मेदार है। पतंजलि का कर्मवाद व्यक्तिगत जीवन में अनुशासन, संयम और नैतिकता विकसित करने का माध्यम है, जबकि सामाजिक जीवन में यह सहयोग, शान्ति और सामंजस्य सुनिश्चित करता है। पतंजलि के अनुसार, कर्म का प्रभाव व्यक्ति और समाज दोनों पर गहरा प्रभाव डालता है। उन्होंने कर्म को तीन प्रकार से विभक्त किया है- सत्त्विक कर्म- ये कर्म पुण्य और नैतिकता को बढ़ता हैं और व्यक्ति के मानसिक और आध्यात्मिक विकास को प्रोत्साहित करता हैं। राजसिक कर्म- ये कर्म इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं से उत्पन्न होता हैं और व्यक्ति में सक्रियता और प्रेरणा को लाता हैं, लेकिन असंतुलित होने पर लालच और तनाव का कारण बन सकता हैं। तमसिक कर्म- ये कर्म अज्ञानता, आलस्य और अव्यवस्था उत्पन्न करता है। और व्यक्ति तथा समाज दोनों में नकारात्मक प्रभाव डालता हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक कर्म का परिणाम न केवल व्यक्तिगत जीवन पर बल्कि सामाजिक जीवन पर भी गहरा असर डालता है। पतंजलि का उद्देश्य केवल कर्म करने तक सीमित नहीं है; वे व्यक्ति को सही, संतुलित और नैतिक कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। यह दृष्टिकोण जीवन में नैतिकता और आत्म-साक्षात्कार दोनों को विकसित करने में सहायक है। पतंजलि के अनुसार, व्यक्ति के विचार, शब्द और क्रियाएँ उसके व्यक्तिगत विकास में निर्णायक भूमिका निभाती हैं। यदि कोई व्यक्ति सतत सत्त्विककर्म करता है, तो उसका मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य बेहतर होता है। यह दृष्टिकोण अनुशासन, संयम और नैतिकता को बढ़ावा देता है। जैसे- अपने विचारों और भावनाओं पर नियन्त्रण रखने वाला व्यक्ति मानसिक शान्ति, निर्णय क्षमता और आत्मनियन्त्रण में सुधार अनुभव करता है। इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में सतत जागरूकता और नैतिकता सुनिश्चित करने के लिए पतंजलि का कर्मवाद अत्यंत प्रभावशाली सिद्धान्त हैं। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के कर्म का प्रभाव केवल व्यक्तिगत स्तर तक सीमित नहीं रहता; यह समाज की संरचना और नैतिक मूल्यों पर भी गहरा असर डालता है। पतंजलि के अनुसार, यदि समाज के सदस्य अपने कर्मों के प्रति जागरूक और नैतिक हों, तो सामाजिक जीवन में शान्ति, सहयोग और सामंजस्य स्थापित होता है। जैसे- जब व्यक्ति अपने कर्मों के परिणामों के प्रति जिम्मेदार होता है, तो वह समाज में दूसरों के अधिकारों और भावनाओं का सम्मान करता है, जिससे सामूहिक नैतिकता और न्याय की स्थापना होती है। आधुनिक सन्दर्भ में यह दृष्टिकोण अत्यधिक प्रासंगिक है, क्योंकि आज के समाज में व्यक्तिगत और सामाजिक जिम्मेदारियाँ गहराई से जुड़ी हुई हैं। पतंजलि का कर्मवाद यह दर्शाता है कि कर्म केवल दार्शनिक विचार नहीं बल्कि जीवन और समाज के लिए व्यवहारिक मार्गदर्शक हैं। उनके सिद्धान्त व्यक्तिगत जीवन में अनुशासन, संयम और नैतिकता को बढ़ावा देते हैं, जबकि सामाजिक जीवन में सहयोग, सामंजस्य और उत्तरदायित्व की नींव रखते हैं। आधुनिक समाज में, जहाँ नैतिक और सामाजिक मूल्यों की कमी देखने को मिलती है, पतंजलि के कर्मवाद का अध्ययन और पालन अत्यधिक प्रासंगिक है। उनका दृष्टिकोण हमें यह सिखाता है कि प्रत्येक कर्म का व्यक्तिगत और सामाजिक परिणाम होता है, इसी के साथ जीवन जीने से व्यक्ति और समाज दोनों का विकास सम्भव है।

मुख्य बिन्दु : ''पतंजलि के अनुसार कर्मवाद एवं व्यक्तिगत जीवन में उसका प्रभाव''

प्रस्तावना-

भारतीय दर्शन में कर्मवाद एक अत्यंत प्राचीन और व्यापक रूप से स्वीकार्य सिद्धांत है, परन्तु पतंजलि योगदर्शन में इसे एक विशिष्ट रूप प्रदान किया गया है। जहाँ वेदान्त कर्म को अविद्या के परिप्रेक्ष्य में देखता है, वहीं सांख्य कर्म और प्रकृति-विकास के संबंध को महत्त्व देता है। पतंजलि इन सभी प्रवृत्तियों का समन्वय करते हुए एक

मनोवैज्ञानिक-योगिक कर्मवाद प्रस्तुत करते हैं, जिसमें कर्म को चित्त की आन्तरिक संरचना तथा साधना-प्रक्रिया से जोड़ा जाता है। पतंजलि के लिए, कर्म केवल शारीरिक क्रियाएँ नहीं हैं, बल्कि इसमें मानसिक विचार और वाणी भी शामिल है। योग सूत्र (4.7) में वे कर्मों के चार प्रकार बताते हैं-मूल सिद्धांत: कर्म का सिद्धांत 'प्रकृति' (भौतिक संसार) के भीतर कार्य करता है। जब तक 'पुरुष' (आत्मा/चेतना) प्रकृति के साथ खुद को जोड़कर रखता है, तब तक कर्मों का चक्र चलता रहता है। संस्कार और वासना- हर कर्म मनस (मन) में एक सूक्ष्म छाप छोड़ता है जिसे 'संस्कार' कहते हैं। इन संस्कारों का संग्रह 'वासना' (प्रवृत्तियाँ/इच्छाएँ) बनाता है। ये वासनाएँ ही भविष्य में नए कर्मों को जन्म देती हैं, जिससे एक अन्तहीन चक्र बन जाता है। पतंजलि के अनुसार, कर्म (कर्मों का फल) तीन प्रकार के परिणाम देते हैं- जाति (जन्म का प्रकार) किस योनि या परिस्थिति में जन्म होगा। आयु (जीवन काल) जीवन की अवधि कितनी होगी। भोग (अनुभव) जीवन में सुख, दुःख, स्वास्थ्य या बीमारी के रूप में मिलने वाले अनुभव। कर्मवाद का व्यक्तिगत जीवन पर प्रभाव केवल भाग्यवादी नहीं है, बल्कि यह व्यक्तिगत जिम्मेदारी और सक्रिय परिवर्तन की संभावना पर जोर देता है। मनोवैज्ञानिक प्रभाव (क्लेश और दुःख) कर्म सीधे तौर पर 'क्लेशों' (दुःख के मूल कारण) से जुड़े हुए हैं, जो हैं- अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (अहंकार), राग (आसक्ति), द्वेष (घृणा), और अभिनिवेश (जीवन से चिपके रहने का भय)। हमारे कर्म इन क्लेशों से उत्पन्न होते हैं, और बदले में, ये क्लेश नए कर्मों को बढ़ावा देते हैं। व्यक्तिगत जीवन में हम जो भी मानसिक अशांति या दुःख अनुभव करते हैं, वह इस कर्म-क्लेश चक्र का परिणाम है। नैतिक दिशा (यम और नियम) पतंजलि का अष्टांग योग कर्मवाद की एक व्यावहारिक प्रतिक्रिया है। 'यम' (अहिंसा, सत्य, आदि) और 'नियम' (संतोष, तपस, आदि) व्यक्ति को ऐसे कर्म करने से रोकते हैं जो नकारात्मक संस्कार पैदा करते हैं। नैतिक जीवन जीना केवल अच्छा होने के बारे में नहीं है। यह आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक मानसिक शुद्धता (चित्त शुद्धि) प्राप्त करने का एक साधन है। पतंजलि का कर्मवाद व्यक्तिगत जीवन को एक ऐसी पाठशाला के रूप में देखता है जहाँ व्यक्ति अपने कार्यों के परिणामों से सीखता है। यह व्यक्ति को निष्क्रिय दर्शक बने रहने के बजाय, जानबूझकर नैतिक और आध्यात्मिक अभ्यास (योग) में संलग्न होने के लिए सशक्त बनाता है ताकि न केवल वर्तमान जीवन को बेहतर बनाया जा सके, बल्कि अन्ततः कर्मों के संपूर्ण चक्र से बाहर निकलकर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त की जा सके। इसी कर्मवाद और उसके व्यक्तिगत प्रभावों का सम्यक् अध्ययन करता है।

कर्मवाद- पतंजलि के योग दर्शन में कर्मवाद (कर्म का सिद्धांत) एक केंद्रीय और गहन विषय है, जिसे केवल एक नैतिक नियम नहीं, बल्कि अस्तित्व का एक मूलभूत सार्वभौमिक नियम माना जाता है। जिसका व्यक्तिगत जीवन पर गहरा और व्यावहारिक प्रभाव पड़ता है। पतंजलि का कर्मवाद योगदर्शन में चित्त के अदृश्य आयामों का ऐसा सूक्ष्म-तत्त्वनिरूपण प्रस्तुत करता है, जिसमें कर्म न केवल व्यवहार का बाह्य प्रवाह है, बल्कि अस्तित्व के अन्तःकरण में संस्कारित एक सूक्ष्म-बीज-संचय है, जो कालान्तर में 'जाति-आयु-भोग' की त्रिविध नियति को स्वयं उद्घाटित करता है। कर्माशय की अदृश्य अधिष्ठान-शक्ति संस्कारों की पुनरावर्तित छापें, और वासनाओं की अनादि-प्रवहमान प्रवृत्तियाँ मिलकर चित्त में एक ऐसी आध्यात्मिक संरचना निर्मित करती हैं, जहाँ क्लेशजन्य प्रवाह व्यक्ति के अनुभव-प्रपंच को नियोजित करते हुए पुनर्जन्म-चक्र की अविच्छिन्नता को संचालित करता है। इस गूढ़ तंत्र में मनुष्य न पूर्णतः दैवाधीन है, न पूर्णतः स्वतन्त्रय अपितु वह चित्त की आन्तरिक परिष्कृति द्वारा कर्म-बीजों के क्षय का साधक बनकर अपने अस्तित्व को पुनर्लिखित कर सकता है। अतः पतंजलि का कर्मवाद वस्तुतः एक अधिभौतिक-मानसिक यंत्रणा है, जो साधना, विवेक और चित्त-निरोधन के माध्यम से व्यक्ति को संस्कार-परिवर्तन के सूक्ष्मतम मार्ग पर स्थापित कर, अन्ततः कैवल्य के अतिमर्मज्ञ अनुभव की ओर उन्मुख करती है इस प्रकार पतंजलि का कर्मवाद मानव-व्यक्तित्व को गतिशील प्रक्रिया के रूप में देखता है, जहाँ साधना, यम-नियम और चित्तशुद्धि के माध्यम से संस्कार-परिवर्तन संभव है। व्यक्तिगत जीवन में इसका प्रभाव आत्मदायित्व, नैतिक अनुशासन और मनोवैज्ञानिक संतुलन की ओर उन्मुख करता है, जिससे आत्मोद्धार और मुक्ति-साधना की दिशा में प्रगतिशील परिवर्तन की संभावना सुनिश्चित होती है। पतञ्जलि द्वारा सूत्ररूप में कथित कर्म के सिद्धान्त की गुत्थियाँ सर्वप्रथम भाष्यकार व्यासदेव द्वारा सुलझाई गई। उन्होंने भेद प्रभेद पूर्वक कर्मवाद का ऐसा स्वच्छ चित्रण किया है कि उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्र, भोजदेव, रामानन्दयति आदि सभी व्याख्याकारों की बुद्धि में वह समान रूप से उतरा। कर्मवाद को लेकर उनमें मतभेद नहीं दिखलाई पड़ता है; अतः वाचस्पति मिश्र आदि योग के सभी व्याख्याकारों की ओर से कर्मवाद पर विचार प्रस्तुत है।

कर्म के भेद- कर्मजाति चार प्रकार की है[1]- पाप-कर्मजाति (कृष्णकर्मजाति), पुण्य-कर्मजाति (शुक्लकर्मजाति), पुण्यपापमिश्रित-कर्मजाति (अशुक्ला कृष्णकर्मजाति) तथा पुण्य पाप से रहित कर्मजाति (अशुक्ला कृष्ण कर्मजाति)। पूर्व- पूर्व कर्मजाति की अपेक्षा उत्तरोत्तर कर्मजाति श्रेयान् है। जीवन्मुक्त योगी के दैनिक क्रिया-कलापों में अशुक्ल -अकृष्णकर्म दृष्टिगत होता है।[2] योगी द्वारा पापकर्म न किए जाने से तथा ध्यानादि पुण्य कर्म निष्काम भाव से किए जाने से उसकी कर्मराशि अशुक्लाकृष्ण कही जाती है।[3] तात्पर्य यह है कि जीवन के चरम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति के साधनभूत अविलुतसत्त्वपुरुषान्यताख्याति-सिद्ध जीवन्मुक्त योगी ध्यानादि शुभ क्रियाओं को किसी विशेष फल प्राप्ति की भावना से नहीं करता है। ध्यान आदि उसके अन्तर्मुखी सात्त्विक चित्त की सहज (प्रयत्न-निरपेक्ष) क्रियाएँ हैं। योगी जब शुक्ल कर्मों को ही निष्काम भाव से करता है, तब उसके द्वारा कृष्ण कर्म किए जाने की सम्भावना नहीं की जा सकती है। अतः ज्ञानी एवं निष्कामी के कर्म अशुक्लाकृष्ण होते हैं। श्रुति एवं स्मृति शास्त्रों में भी योगियों की कर्मराशि इसी प्रकार से प्रतिपादित हुई है।[4] योगियों से नीचे किन्तु सामान्य मनुष्यों से ऊपर उठे हुए तपस्वी, स्वाध्यायी एवं ध्यायी पुरुषों की कर्मराशि शुक्त होती है।[5]

शुक्लकर्मराशि मनोमात्रसाध्य है। अतः बाह्य-साधनाधीन न होने से उसमें परपीड़ा आदि का अवकाश नहीं है।[6] तपस्, स्वाध्याय तथा ध्यान आदि क्रियाओं से सामाजिक अहित नहीं होता है। तपस्वी पुरुषों द्वारा केवल शुक्लकर्म किए जाने से उनके चित्त का सत्त्वगुण पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।[7] क्योंकि चित्त की पूर्ण सात्त्विक अवस्था में ही व्यक्ति का सुझाव शुक्ल कर्म की ओर होता है। तपस्वी आदियों की अपेक्षा सामान्य श्रेणी के अज्ञ एवं कामी व्यक्तियों की कर्मराशि शुक्लकृष्ण होती है।[8] वे अच्छा तथा बुरा दोनों प्रकार का कर्म करते हैं। क्योंकि उनके कर्म बाह्य साधनों से प्रभावित रहते हैं।[9] धनोपार्जन की इच्छा से व्यक्ति दूसरे के धन को अनुचित रूप से छीनता है। अपनी झूठी मान प्रतिष्ठा के लिए दूसरों का अपमान करता है। अन्नोत्पादन की इच्छा से जीवहत्या एवं बैल आदि को कष्ट देता है। कार्य की सिद्धि के लिए व्यक्ति न्यूनाधिकरूप से अशुभ कर्म करता है। चैत्तिक रजोगुण के बलवान् होने पर इस प्रकार के अशुभ कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। दूसरी तरफ सत्त्वगुण के उद्रेक काल में वह परोपकारक कर्म भी किया करता है। अतः साधारण कोटि के व्यक्ति मिश्रित कर्म करते हैं। अत्यन्त निकृष्ट कोटि की पापी दुरात्माओं की कर्म-राशि कृष्ण ही होती है।[10] क्योंकि उनका तमोगुण अन्य दो गुणों को पूरी तरह से दबाए रहता है। अतः उनका तमोमय चित्त अपने अनुरूप कृष्णकर्म ही निरन्तर करता है।[11] इस प्रकार वर्णित चार प्रकार की कर्मराशियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- कर्माशयोत्पादक कर्मराशि एवं कर्माशयानुत्पादक कर्मराशि। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत कृष्णकर्म, शुक्लकर्म एवं कृष्णशुक्लकर्म हैं। अशुक्लाकृष्ण-कर्मजाति द्वितीय प्रकार की हैं। जीवन्मुक्त योगियों द्वारा सम्पादित कर्मों से धर्माधर्मरूप कर्माशय नहीं बनता है। फलस्वरूप उन्हें देहान्तर नहीं धारण करना पड़ता है। इसलिए व्यासभाष्य आदि में ऐसे योगियों को चरमदेहवान् कहा गया है। अन्य त्रिविधजातीय कर्मों से कर्माशय बनता है, क्योंकि वे फलवान् हुआ करते हैं। इस प्रकार वर्णित कर्म के क्षय का एकमात्र उपाय है, उन्हें भोग लेना। अन्यथा वे जन्मजन्मान्तर पर्यन्त व्यक्ति (कर्त्ता) का पीछा किया करते हैं।[12]

शुभाशुभ कर्मों की उत्पत्ति का मूल हेतु- व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र आदि सभी व्याख्याकारों का कहना है कि काम, क्रोध, लोभ एवं मोह मनुष्य को अच्छे या बुरे कर्मों में प्रवृत्त कराते हैं।[13]

काम-भावना स्वर्गस्थ देवाङ्गनाओं के भोगेच्छुक को ज्योतिष्टोम आदि शुभ कर्म में प्रवृत्त कराती है। अथवा वही काम भावना परस्त्री के लोलुप से बलात्कार जैसी पाशविक क्रिया करवाती है। इसी प्रकार क्रोध मनुष्य से दोनों प्रकार के कर्म करवाता है। उदाहरण स्वरूप पिता द्वारा अपमानित हुए ध्रुवकुमार में ऐसी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हुई कि उसने (क्रोध ने) पिता को जीतने की इच्छा से तपश्चर्या जैसे कष्टसाध्य शुभकर्म की ओर ध्रुवकुमार को प्रवृत्त कराया और उसकी तपश्चर्या सफल भी हुई। अथवा क्रोध के वशीभूत होकर व्यक्ति दूसरे का सिर काटने के लिए भी प्रवृत्त होता है। लोभ के कारण व्यक्ति परद्रव्य का अपहरण आदि निन्दित कर्म करता है अथवा यज्ञादि शुभकर्म के अनुष्ठान के लोभ से नीतिपूर्वक द्रव्य का संग्रह करता है। मोह भी व्यक्ति को अच्छे-बुरे कर्म में प्रवृत्त कराता है। उदाहरण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य माधुर्य पर मुग्ध होकर वृजाङ्गनाएँ सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण में सर्वात्मना अनुरक्त हुईं। यह अनुरक्ति मोहनाशक मोक्षदाता भगवान् की प्राप्ति के निमित्त होने से श्रेयस्करी थी; प्रेयस्करी नहीं। ऐहलौकिक या पारलौकिक फल के लोभ से ग्रस्त व्यक्ति पशुहिंसा आदि अशुभ क्रियाओं में धर्म-बुद्धि करके प्रवृत्त होता है। एतावता मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की क्रिया के मूल में कामादि में से कोई न कोई भावना काम करती है। कूर्मपुराण में रागादि को शुभाशुभ कर्म का हेतु कहा गया है।[13] भाष्यकार व्यासदेव तथा उनके मतानुयायी वाचस्पति मिश्र आदि सभी व्याख्याकारों ने कामादि को पुण्य एवं अपुण्य कर्मों की प्रवृत्ति का मूल आधार बतलाया है। यह सूत्रानुसार है। पतञ्जलि ने कर्मजन्य कर्माशय को अविद्या आदि क्लेशमूलक कहा है;[14] और कामादि प्रकारान्तर से क्लेश कहे जाते हैं। इसलिए आचार्य रामानन्दयति, नारायणतीर्थ आदि ने 'क्लेशमूलः' का अर्थ किया है- 'कामादिमूलः'।[15] अतः प्रत्येक प्राणी की क्रियाओं (पलकों का उठना- गिरना आदि स्वाभाविक क्रियाओं को छोड़कर) के मूल में काम आदि मानसिक भावनाएँ काम करती हैं।

कर्मजन्य कर्माशय (कर्म-संस्कार) में साक्षात् फलदातृता- पातञ्जल-योग के व्याख्याकारों ने कामादि से प्रेरित शुभाशुभ क्रियाओं तथा तज्जन्य शुभाशुभ संस्कारों (कर्माशय) को विपाकारम्भी बतलाया है। योगशास्त्र में भी ज्ञानरूप अथवा क्रियारूप कर्म का तृतीय क्षण में नाश माना गया है। क्रिया नष्ट होने से पूर्व अपने फल को उत्पन्न नहीं कर पाती है। शुभाशुभ कर्म और उससे मिलने वाले फल के मध्य अल्प या बहुत समय का अन्तर रहता है। अतः पतञ्जलि ने तत्-तत् कर्मजन्य कर्माशय के द्वारा फलोत्पत्तिपर्यन्त कर्मों की स्थिति मानी है। वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों ने 'कर्माशय' शब्द का शुभाशुभकर्मजन्य धर्माधर्मरूप संस्कार अर्थ किया है। ये कर्मसंस्कार विपाकोन्मुख हुए बिना (फल दिए बिना) कथमपि (प्रसंख्या-नाग्निरूप साधन को छोड़कर) नष्ट नहीं होते हैं। ये चित्तभूमि में बीजरूप से पड़े रहते हैं और अवसर आने पर कर्त्ता को शुभाशुभ कर्म का सुख-दुःख भोग प्रदान करते हैं। कृष्णादि त्रिविध कर्मों की दृष्टि से कर्माशय तीन प्रकार का है- कृष्ण-कर्माशय (पाप-कर्माशय), शुक्ल-कर्माशय (पुण्य कर्माशय) तथा कृष्ण-शुक्ल- कर्माशय (धर्माधर्म-कर्माशय)।[16]

कर्माशय का विलम्ब अथवा अविलम्ब से विपाकोन्मुख होना- अतीत जन्मों में किए गए परोपकारक एवं परापकारक कर्मों से जायमान धर्माधर्म रूप कर्मसंस्कारों का वर्तमान जन्म में फलोन्मुख होना अनिवार्य नहीं है। वर्तमान जन्म में किए गए शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न कर्माशय विपाकोन्मुख नहीं भी हो सकता। इस स्थिति में व्याख्याकारों ने कर्माशय के- दो भेद किए हैं[17]-दृष्टजन्मवेदनीय (वर्तमान जन्म में अनुभवनीय) तथा अदृष्टजन्मवेदनीय (आगामी जन्म में अनुभवनीय)। कर्माशय की यह दृष्ट अथवा अदृष्ट जन्मवेदनीयता शुभ अथवा अशुभ कर्मों को क्रमशः पूर्ण मनोयोग (अतिमात्रतीव्रसंवेग) अथवा सामान्य मनोयोग (मृदुमध्यसंवेग) के साथ करने के कारण है। शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक सभी शक्तियों के द्वारा ईश्वर, देवता अथवा ऋषि-मुनियों की अराधना एवं सेवा-शुश्रूषा आदि करने से अनुसेवी (उपासक) का उदित हुआ पुण्यकर्माशय वर्तमानजन्म में ही अत्युत्कृष्ट फल देने में समर्थ होता है। इसी प्रकार श्रद्धेय तपस्वियों का अपमान करने से, दुःखी व्यक्ति को जानबूझकर पीड़ित करने से अथवा

अपने विश्वस्त मित्र को छलने से व्यक्ति का जो पाप-कर्माशय संचित होता है, वह भी तुरन्त कष्टकारक फल प्रदान करता है।[18] शिलाद मुनि के पुत्र नन्दीश्वर कुमार ने बाल्यावस्था में महादेव की अविचल भक्ति करके जिस शुभकर्माशय का संचय किया था वह दृष्टजन्मवेदनीय था। इसी प्रकार इन्द्र-पद-प्राप्ति के अभिमान में चूर हुए राजा नहुष द्वारा ऋषि मुनियों पर चलाए गए पाद प्रहार जैसे अत्यन्त निन्दित कर्म से दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय उत्पन्न हुआ। मनुष्य के जीवन में सामान्यरूप से घटित होने वाले अच्छे-बुरे कर्म (जिनसे वर्तमान जीवन में फल नहीं मिल पाता है) अग्रिम जीवन में फल प्रदान करते हैं। वर्तमान जीवन में अपक्व (अभुक्त) शुभाशुभ कर्माशय अदृष्टजन्मवेदनीय कहलाता है।

कर्माशय की फलप्राप्ति की अनिवार्यता का खण्डन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि अतीत अथवा वर्तमान जन्म में किए गए सभी शुभ-अशुभ कर्म अनिवार्यतः इसी जन्म में फलित हों—यह आवश्यक नहीं। इसी आधार पर व्याख्याकारों ने कर्माशय के दो भेद माने हैं—**दृष्टजन्मवेदनीय**, जो वर्तमान जन्म में फल देने में समर्थ होता है, तथा **अदृष्टजन्मवेदनीय**, जिसका फल आगामी जन्म में प्राप्त होता है। यह भेद कर्म के संपादन में निहित मनोयोग की तीव्रता पर निर्भर करता है। अत्यन्त तीव्र संवेग और पूर्ण समर्पण से किए गए महान पुण्य या घोर पाप कर्म तत्काल फलदायी होते हैं, जबकि सामान्य मनोयोग से किए गए कर्मों का फल विलम्ब से प्राप्त होता है। ईश्वर, देवता अथवा तपस्वियों की पूर्ण श्रद्धा से की गई उपासना दृष्टजन्मवेदनीय पुण्यकर्माशय उत्पन्न करती है, वहीं तपस्वियों का अपमान या विश्वासघात जैसे निन्दनीय कर्म तात्कालिक दुःखद फल देते हैं। इसके विपरीत, जीवन में सामान्य रूप से किए गए अधिकांश कर्म अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं और उनका फल भविष्य के जन्म में प्रकट होता है।

उपसंहार-

पतञ्जलि-व्यास परम्परा में कर्मवाद एक अत्यन्त सुव्यवस्थित, तर्कसंगत एवं नैतिक उत्तरदायित्व-बोध से सम्पन्न सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है। कर्म केवल क्रिया-मात्र नहीं, अपितु चित्त में संस्काररूप से संचित होकर कर्माशय बनता है और वही उपयुक्त देश-काल-निमित्त प्राप्त होने पर विपाकरूप से फलित होता है। कर्माशय का दृष्टजन्मवेदनीय अथवा अदृष्टजन्मवेदनीय होना कर्म की तीव्रता, मनोयोग तथा भावभूमि पर निर्भर करता है-यह धारणा कर्मफल की अनिवार्यता के साथ-साथ उसकी समय-सीमा में लचीलापन भी स्वीकार करती है। इसी से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कर्म तत्काल फल दे-यह आवश्यक नहीं, किन्तु कोई भी कर्म निष्फल नहीं रहता। कर्मजातियों के चतुर्विध विभाजन- कृष्ण, शुक्ल, शुक्लकृष्ण एवं अशुक्लाकृष्ण-के माध्यम से योगदर्शन ने मानवीय आचरण की सम्पूर्ण नैतिक श्रेणीबद्धता प्रस्तुत की है। विशेषतः अशुक्लाकृष्ण कर्म की संकल्पना जीवन्मुक्त योगी की विशिष्ट स्थिति को रेखांकित करती है, जहाँ निष्काम भाव से सम्पन्न क्रियाएँ कर्माशयोत्पादक नहीं होतीं और जन्मबन्धन का कारण नहीं बनतीं। इस प्रकार योगदर्शन कर्म को त्याज्य नहीं, अपितु शुद्ध, विवेक युक्त एवं निष्काम बनाकर मोक्ष साधन के अधीन कर देता है। अन्ततः शुभाशुभ कर्मों की उत्पत्ति के मूल में काम, क्रोध, लोभ एवं मोह जैसे क्लेशों की भूमिका स्वीकार कर पतञ्जलि यह प्रतिपादित करते हैं कि कर्म का वास्तविक क्षय बाह्य आचरण-परिवर्तन से नहीं, अपितु अविद्या-निवृत्ति और क्लेश-क्षय से सम्भव है। जब तक क्लेश विद्यमान हैं, तब तक कर्माशय का निर्माण और उसका विपाक अनिवार्य है; और जब क्लेशों का क्षय हो जाता है, तब कर्म भी बन्धनरूप नहीं रह जाते। इस प्रकार कर्मवाद योगदर्शन में केवल नैतिक कारण-कार्य सिद्धान्त न रहकर मोक्षमार्ग की दार्शनिक आधारशिला बन जाता है।

सन्दर्भ

1. चतुष्पात् खल्वियं कर्मजातिः - कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णा चेति- व्यासभाष्य- पृष्ठ संख्या-399।

2. कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्- योगसूत्र- 4.7।

3. (क) तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद्, अकृष्णं चानुपादानात्- व्यायभाष्य- पृष्ठ संख्या-401।

(ख) योगिनां तु संन्यासवतां त्रिविधकर्मविपरीतं यत् फलत्यागानुसंधानेनैवानुष्ठानाद् न किञ्चित् फलमारभते- राजमार्तण्ड- पृष्ठ संख्या-63।

(ग) संन्यासिनो बाह्यसाधनसाध्यकर्मत्यागान्न शुक्लकृष्णकर्म, क्षीणक्लेशत्वान्नकृष्णम्, योगजधर्मस्य फलमनभिध्यायेश्वरार्पितत्वान्न शुक्लं कर्मास्ति, अतश्चित्तशुद्धिविवेकख्यातिद्वारा मोक्षैकफलकमशुक्लाकृष्णं कर्मेत्यर्थः- मणिप्रभा- पृष्ठ संख्या-77।

(घ) एवं संन्यासिनां क्वचिदपि बहिःसाधनसाध्ये कर्मणि अप्रवृत्तानां कृष्णस्याभाव एव योगानुष्ठानसाध्यस्य फलस्येश्वरे समर्पणान्न शुक्लमपीत्यवधेयम्- नागेशभट्टीयलघुयोगसूत्रवृत्ति- पृष्ठ संख्या-89।

4. त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।। -गीता 4।20। यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वाऽपि स इमाँल् लोकात् न हन्ति न निबध्यते।। -गीता 18/17।

5. (क) तत्र शुक्लं कर्म विचक्षणानां दान-तपः-स्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम् - राजमार्तण्ड- पृष्ठ संख्या-63।

(ख) वाङ्मनससाध्यं सुखैकफलकं शुक्लं कर्म स्वाध्यायतपःशीलानां भवति- मणिप्रभा- पृष्ठ संख्या-76।

6. सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिःसाधनाधीना न परात् पीडयित्वा भवति- व्यासभाष्य- पृष्ठ संख्या-400।

7. शुक्ला सुखफलदा सत्त्ववर्द्धकत्वात्- योगवात्तिक- पृष्ठ संख्या-400।

8. शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम्- राजमार्तण्ड- पृष्ठ संख्या-63।

9. शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या तत्र परपीडाऽनुग्रहद्वारेण कर्माशयप्रचयः - व्यासभाष्य- पृष्ठ संख्या-400।

10. तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्- व्यासभाष्य- पृष्ठ संख्या-400।

11. कृष्णा दुःखफलदा तमोवर्धकत्वात्- योगवत्तिक- पृष्ठ संख्या-400।

12. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।। -पातंजल-रहस्य- पृष्ठ संख्या -401।

13. (क) तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामक्रोधलोभमोहप्रसवः- व्यासभाष्य- पृष्ठ संख्या-161।

(ख) रागद्वेषादिक्लेशनिदानः कर्मणाम्... -योगसुधाकर- पृष्ठ संख्या-33।

(ग) कामात्काम्यकर्मप्रवृत्तौ स्वर्गादिहेतुर्धर्मो भवति, एवं लोभात् परद्रव्यापहारादाधर्मः, एवं मोहादधर्मे हिंसाऽऽदौ धर्मबुद्धः

प्रवत्र्तमानस्याधर्म एव...। अस्ति क्रोधजो धर्मः, तद्यथा ध्रुवस्य जनकावमानजन्मनः क्रोधात् तज्जिगीषयाऽऽहितेन

कर्माशयेन पुण्येनान्तरिक्षलोकवासिनामुपरि स्थानम् अधर्मस्तु क्रोधजो ब्रह्मवधादिजन्मा प्रसिद्ध एव भूतानाम्-

तत्त्ववैशारदी- पृष्ठ संख्या-161।

14. रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः॥
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः -कूर्मपुराण 3।20-21।

15. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः -योगसूत्र 2।12।

16. क्लेशाः कामक्रोधादयो मूलमस्येति क्लेशमूलः -मणिप्रभा- पृष्ठ संख्या-31।

17. (क) जात्यायुर्भोगहेतवः संस्कारा आशयाः; कर्म चित्तेन्द्रियप्राणानां व्यापारः; तदनुभवजाता ये संस्काराः पुनरभिव्यक्ताः सन्तः

स्वानुगुणाश्चेष्टा जनयेरंस्तथा च चेष्टासहभावीनि शरीरेन्द्रियसुखदुःखादीन्याविर्भावयेयुः। स एव कर्माशयः- भास्वती-

पृष्ठ संख्या-161।

(ख) आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः, कर्मणामाशयौ धर्माधर्मौ- तत्त्ववैशारदी- पृष्ठ संख्या-161।

(ग) कर्माशयो धर्माधर्मौ- योगवत्तिक- पृष्ठ संख्या-161।

(घ) अतो वासनारूपाण्येव कर्माणि... राजमार्तण्ड- पृष्ठ संख्या-24।

18. (क) क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म वेदनीयः -योगसूत्र 2।12।

(ख) अस्मिन्नेव जन्मनि अनुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः; जन्मान्तरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः- राजमार्तण्ड- पृष्ठ

संख्या-24

(ग) स च दृष्टजन्मवेदनीय इहैवानुभाव्यः; अदृष्टजन्मवेदनीयश्चामुत्रानुभाव्यः - योगसुधाकर- पृष्ठ संख्या-33।

(घ) येन देहेन कर्म कृतं तद् दृष्टं जन्म, तेनैव देहेन भोक्तव्य आद्यः- मणिप्रभा - पृष्ठ संख्या-31।

19. तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपः समाधिभिर्निर्वृत्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते

पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः

पुनरपकारः। स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते- व्यासभाष्य- पृष्ठ संख्या-162।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. योगसूत्राणि व्यासभाष्यसमेता टीकाकार- व्यास (भाष्यकार)- पं. राजारामशास्त्री भट्ट- चैखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
2. पतञ्जलिमुनिप्रणीतानि योगसूत्राणि व्यासभाष्यसमेता- टीकाकार- व्यास- पं. हरिहरानन्द आर्य- चैखम्बा विद्या भवन/चैखम्बा ओरियण्टालिया।
3. राजमार्तण्ड- भोजदेव- भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी-1963।
4. मणिप्रभा- रामानन्दयति- विद्याविलास प्रेस, वाराणसी-1903।
5. नागेशभट्टीय लघुयोगसूत्रवृत्ति- सं0 महादेवशास्त्री-निर्णयसागर, बम्बई-1917।
6. गीता (श्रीमद्भगवद्गीताद्ध- सं0 कृष्णपन्तशास्त्री- अच्युत ग्रन्थमाला, काशी सं0-2023।
7. रामायण-मञ्जरी- महेश्वर तीर्थ- चैखम्बा संस्कृत सीरीज।
8. तत्त्ववैशारदी (साङ्गं योगदर्शनम्)- सं0 दामोदरशास्त्री- चैखम्बा प्रकाशन, वाराणसी-1935।
9. पातञ्जलरहस्य- सं0 दामोदरशास्त्री- चैखम्बा प्रकाशन, वाराणसी-1935।
10. कूर्मपुराण- सं0 आनन्दस्वरूप गुप्त सर्वभारतीय काशीराजन्यास दुर्ग रामनगर, वाराणसी-1972।
11. योगसुधाकर- सदाशिवेन्द्रसरस्वती- वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम्-1912।
12. व्याख्या-भारती- टीकाकार (विभिन्न परम्पराएँ)- चैखम्बा संस्कृत पुस्तकों के संस्करण।
13. ध्याना-भारती- योग/ध्यान ग्रंथ का भाष्य- चैखम्बा/विभिन्न पारम्परिक प्रकाशन।
14. योग-वार्तिक- वाचस्पति मिश्र- चैखम्बा संस्कृत सीरीज।
15. तत्त्वविवेक (धर्म-मीमांसा का ग्रन्थ)-नाग प्रकाशन, दिल्ली।
16. योगसारसंग्रह- स्वामी सनातनदेव- मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी सं0-2014।
17. योगवासिष्ठ- अच्युतग्रन्थमाला, काशी सं0-2005।
18. व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जल-योगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन- डॉ0 विमला कर्णाटक- काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय शोध-प्रकाशन-1974।
19. मार्कण्डेयपुराण- मनसुखराय मोर संस्करण 5 क्लाइवरोड कलकत्ता-1-1962।
20. गूगल सर्च इंजन

*****

महर्षिदयानन्दानुसारं वैदिकाख्यानानां स्वरूपम्

डॉ. हंसराज जोशी
अध्यापक, दिल्ली
Emai - joshihansraj29@gmail.com

वेदाः खलु सर्वविद्यानिधानानि नाम। ईश्वरेण विनिर्मितास्ते विश्वस्य प्राचीनतमं धर्मं, प्राचीनतमां संस्कृतिं, प्राचीनतमां सभ्यताञ्च प्रदर्शयन्ति। ईश्वरस्यनिश्वासभूताः एते वेदाः नित्याः एव अतस्तेषु अनित्यः इतिहासो नास्तीति, महर्षिदयानन्दस्याभिमतम्।भारतीयां संस्कृतिं, आधुनिकीं साधयितुं, स्वधर्मस्य च प्रचारं विधातुं पाश्चात्यकोविदैः वेदेषु प्रयुक्तानि नामान्याश्रित्य, आख्यानानि च विलोक्य, तेषां कालनिर्धारणप्रयत्नः अकारि। तेषामांग्लानाम्, अनुसरणं कुर्वद्भिः कैश्चित् भारतीय-पंडितैरपि तेषामेव मार्गः अनुसृतः। परिणामस्वरूपञ्च वेदानां वास्तविकं गम्भीराध्ययनमध्यापनञ्च विलुप्तम्। तस्यैव दुष्परिणामोऽयं यत् अद्य वेदानामाख्यानानि तथ्यरूपाणि यथार्थानि च मत्वा भारतीयछात्राः वेदापौरुषेयत्व विषये संदेहं कुर्वाणाः दृश्यन्ते।

वस्तुतः वेदमन्त्रेषु आख्यानसिद्धान्तः गौणरूप एव। यतस्ते वेदाः अनादयोऽपौरुषेयाश्च सन्ति। यदि आख्यानानि सत्यरूपाणि गृह्यन्ते तर्हि वेदः सादिः पौरुषेयश्च भविष्यतीति शास्त्रकाराः निगदन्ति।

मीमांसासूत्राणां भाष्यकारः शबरस्वामी स्पष्टं लिलेख इतिहास-वचनमिदं, इतिहासे च विधौ सन्ति आदिमत्ता दोषो वेदे प्रसज्येत।

अर्थात् आख्यानानि इतिहासवत् प्रतीयन्ते वस्तुतः तानि 'नैतिहानि'- यदि तत्र यथार्थ इतिहासः मन्येत तर्हि वेदः सादिः पौरुषेयश्च भविष्यति। निरुक्तस्य प्राचीनो भाष्यकारः स्कन्दस्वामी निगदति-

एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषुः च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यान समयः परमार्थे तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्। वररूचिः निरुक्त समुच्चये कुमारिलभट्टश्च तन्त्रवार्तिके अस्यैव सिद्धान्तस्य पुष्टिं व्यदधात्।

महर्षिः दयानन्दः उक्तविचारान् स्वीकृत्यैव स्व वेदभाष्यमकार्षीत्। स्वरचितायां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां स कतिपयाख्यानानां चर्चामपि चकार। यथाहि तीर्थ शब्दःवेदेषु बहुशः समागतः, यजुर्वेदस्यैकस्मिन् मंत्रे तीर्थाय नमस्कारः कृतोऽस्ति**'नमस्तीर्थाय च, ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः।**[1]

इमं तीर्थं शब्दं वीक्ष्य कोविदैः न जाने कति आख्यानानि प्रकल्पितानि। वस्तुतः नमस्करणीयः कश्चन जडस्तु न भवति, महर्षि दयानन्दः उक्तमन्त्रस्य भाष्यं कुर्वन् परमेश्वरमेव परमतीर्थं प्राह, परमेश्वर एव दुःखिनो जनान् दुःखसागरात् तारयति। स परमेश्वर एव वेदविज्ञानं प्रदाय लोकशोकमपहरति अतः - स एव तीर्थरूपः अस्ति।

नमस्तीर्थाय च इति पदस्य भाष्यं कुर्वन् महर्षिः लिलेख- "तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु" पूर्वोक्तेषु भवः स तीर्थ्यस्तस्मै तीर्थाय परमेश्वराय नमोऽस्तु अग्रे च भाष्यं प्रकुर्वन् महर्षिलिखति-ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्यसेविनो रूद्राः महाबलाः सृकाहस्ताः- विद्याविज्ञाने हस्तो येषां ते, निषङ्गिणः- निषङ्गः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः।**तंत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति** ब्राह्मणवाक्यात्, उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः। इति एवोक्तस्तीर्थ्य इति। सर्वेषां तारकाणां तीर्थानामात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात् परमेश्वर एवास्ति एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि"।ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य-प्रसङ्गे महर्षिः स्पष्टं भणति यत्वेदानुयायिनामार्याणां मते काशी-प्रयाग-पुष्कर-गंगा-यमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिद्ध्यति। किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैःसम्प्रदायस्थैः जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिः

अल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि।

अतः तीर्थपदमधिकृत्य प्रचारितानि आख्यानानि न खलु यथार्थानि अपितु केवलमुदरपूर्तिकराणि नाम। पुराणेषु तावत् गंगावाराणसीप्रभृतीनां तीर्थानां विशदवर्णने सत्यपि तेषां प्रामाणिकता नास्ति। अपि च मार्कण्डेयपुराणे, अन्यान्यपि बहूनि तीर्थानि निगदितानि। यथा-

सत्यं तीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदयातीर्थं सर्वत्रार्जवमेव च।।[2]
दानं तीर्थं दयातीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते। ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थञ्च प्रियवादिता।।[3]
ज्ञानं तीर्थं धृतितीर्थं पुण्यं तीर्थमुदाहृतम्। तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा।।[4]

इमानि पुराणोक्तानि तीर्थानि निश्चयेन वेदसम्मतानि, तेषामाचरणेन वस्तुतः मनसः परमशुद्धिः जीवननिर्माणञ्च भवति। एतैः तीर्थैरेव जनाः दुःखाशान्तिसागरं तरन्ति।

ऋग्वेदे इन्द्रविषये शतशः मन्त्राः सन्ति, तत्र च इन्द्रेण वृत्रवधस्य चर्चापि नैकमन्त्रेषु विराजते नाम। तद्यथा-

अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन।
स्कन्धासीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः।।[5]

एतादृशान् मन्त्रान् वीक्ष्य केचन भाष्यकाराः देवासुर-संग्रामस्याख्यानं कल्पितवन्तः, पुराणेषु च तस्य संग्रामस्य विस्तृताख्यानरूपेण चर्चा विद्यते।

वस्तुतः इन्द्रः सूर्यो वर्तते, वृत्रश्च मेघोऽस्ति। यदा च सूर्यः अतिशयेन गर्जितं मेघं भिन्नं-भिन्नं कृत्वा भूमौ तथा पातयति यथा कश्चित् कस्यचित् पुरुषस्य नष्टभ्रष्टं शरीरं पृथिव्यां पातयति, तदाऽसौ वृत्रासुरोऽपि भूमौ पतित्वा मृतकवत् शयनं करोति।

निघण्टौमेघ एव वृत्ररूपेण वर्णितः**"तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। तद् वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वावर्धतेर्वा। यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमितिविज्ञायते...।**[6]

सूर्यस्य नाम त्वष्टास्ति, तस्य संततिर्मेघो ननु। सूर्यकिरणैः जलकणाः मेघरूपं धारयन्ति, अस्यैव विचारस्य पुष्टिः- अधोलिखितमन्त्रेषु विद्यते।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तमआशयदिन्द्रशत्रुः।।[7]

महर्षेर्दयानन्दस्य मतमस्ति यत् ईदृश्य एव कथा अनेकग्रन्थेषु प्रसृताः सन्ति ताश्चालङ्कारभूता एव न तु यथार्थाः। एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथाः अन्या एव सन्ति। कुतः तासामप्यलंकारयोगात्।[8]

पुराणेषु देवासुराणां संग्रामस्य, देवानां पराजयस्य असुराणाञ्च विजयस्य आख्यानरूपाः कथाः महर्षिणा दयानन्देन नैकरूपेण वर्णिता सन्ति। तन्मते च इन्द्रवृत्रयुद्धमपि दैवासुरसंग्राम एवास्ति, सूर्यकिरणा देवरूपाः मेघाश्चासुरसंज्ञका विद्यन्ते।**"विद्वांसो वै देवाः"** इति शतपथब्राह्मणे निगदितम्। ये च अविद्वांसः, असत्यभाषिणः, मिथ्याचाराः ते वै असुराः। तेषां च परस्परंनित्यविरोध एव देवासुरसंग्रामो वर्तते।महर्षिदयानन्देन वेदमन्त्रेषु आख्यानानां सत्ता तु स्वीकृता, परं तानि आख्यानानि अलंकाररूपाणि मतानि।

ते पुराणोक्ताख्यानानां वृथात्वं प्रतिपाद्य तेषां वैदिकरूपं ज्ञातुं प्रेरणां प्रथयन्ति, नैकासां कथानां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां व्याख्यानमपि कुर्वन्ति। ताः कथाः प्रजापतिं तस्य दुहितरम्, गौतमअहल्याम्, देवासुरसंग्राम-कश्यपादितीर्थञ्चाश्रिताः सन्ति। पुराणेषु प्रजापतेः तस्य दुहितुः विषये च आख्यानानि वेद-मन्त्रेभ्यो निगृह्य व्याख्यातानि।प्रजापतिना स्वदुहितुरभिमर्शणं ब्राह्मणग्रन्थे निरुक्ते च स्पष्टीकृतम्। शतपथब्राह्मणे सूर्य एव प्रजापतिरस्ति[9] ऐतरेयब्राह्मणे प्रजापतेर्दुहिता आकाशम् उषा वा विद्यते[10] निरुक्ते पर्जन्यः पिता प्रजापतिर्वा पृथ्वी च तस्यपुत्री विद्यते।[11]

अतः तदनुसारं वृष्टिकर्म, उषःकाले प्रकाशस्य आविर्भावश्च प्रजापतेः तस्य दुहितुश्च संगमोऽस्ति।अस्याः कथायाः मूलस्रोतः ऋग्वेदस्यायं मन्त्रो वर्तते-

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्बो योनिरन्तरजा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।।[12]

उषसः प्रकाशः सूर्यादायाति, अतः सा सूर्यपुत्री वर्तते सूर्यश्च तस्याः पितास्ति सूर्यरश्मिरूपेण वीर्येण उषस्प्रकाश रूपो बालः समुत्पाद्यते।अत्र महर्षिः दयानन्दः मन्त्रस्य भाष्ये लिखति- .

"सविता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति तस्य दुहिता कन्यावत् द्यौरूषा चास्ति। यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालंकारोक्तिः।"[13]

अपि च कांश्चित् मन्त्रान् वीक्ष्य कपोलकल्पनापरैः पण्डितैः इन्द्रस्य-अहल्यायाश्च आख्यानं कल्पितम्। तस्य चर्चां कुर्वन् महर्षिः वर्णयति स्वभाष्यभूमिकायाम्-

"तथा च, कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गौतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गौतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्याः रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति।"तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कुतः आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्।

वस्तुतः सूर्य एव इन्द्रः अस्ति, रात्रिः अहल्यास्ति, चन्द्रमसः नाम च गौतम इत्यस्ति। अत्र रात्रिचन्द्रमसोः स्त्रीपुरुषवत् रूपकालंकारोविद्यते। चन्द्रमा स्वभार्यया रात्र्या सर्वाणि भूतान्यानन्दयति, तस्या रात्रेर्जारः सूर्यो विद्यते। स एव रात्र्याः वर्तमानं रूपशृङ्गारं विकृतं करोति। यथा च स्त्रीपुरुषौ मिलित्वा तिष्ठतस्तथैव, चन्द्रमा-रात्रिश्चापि मिलित्वा तिष्ठतः। चन्द्रमा गौतम इति इत्येतेन कारणेन कथ्यते यत् स अतीववेगेन चलति। रात्रिश्चाहिल्याः एतस्मात् कारणात् निगद्यते यदस्यामेव दिनस्य लयो भवति। सूर्यः रात्रिं निवृत्तां करोति अतः स तस्या जारः कथ्यते।

अतएव निरुक्ते लिखितं**"रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते"।**[14]**आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता।।**[15]

महर्षिर्दयानन्दः अस्याख्यानस्य विस्तृतं भाष्यं शतपथ निरुक्तादिकमाश्रित्य इत्थं करोति। इन्द्रः सूर्यो य एष तपति। स अहल्यायाः जारोऽस्ति। सा सोमस्य स्त्री तस्य गौतम इति नाम। गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गौतम इन्द्रः। तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति। रात्रिरहल्या। कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते। स चन्द्रमा सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति।

अत्र स सूर्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया, गौतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते। कुतः? अयं रात्रेर्जरयिता।।

ऋग्वेदस्य केषुचिन्मन्त्रेषुऐतरेयब्राह्मणेतदुत्तरसाहित्ये च विद्यमानस्य शुनःशेपाख्यानस्य मूलं ऋग्वेदे मन्यते। तादृश मन्त्रा त्रय एव विद्यन्ते। ते च मन्त्रा एते सन्ति-

तद्विनक्तं तच्छिवा मह्यमाहुस्तदयं केतो हृद आ विचष्टे।
शुनःशेपो यमहद्दृभीतः सोऽस्मानाजा वरुणोमुमोक्तु।।[16]
शुनःशेपो ह्यह्वद्दृभीस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः संमृज्याद्विद्वां अदब्धा
विमुमोक्तुपाशान्।।[17]
शुनश्चिच्छेप निदितम् शुनश्चिच्छेपं निदितं.....।।[18]

अत्र शुनःशेपस्य नाम वीक्ष्य तस्य मुक्तिं विचिन्त्य ब्राह्मणग्रन्थे आख्यानं समुत्पन्नं, पश्चाच्च इतरसाहित्ये तस्य आख्यानस्य विस्तारो जातः। ग्रिफ़िथप्रभृतयो विद्वांसः अत्र शुनःशेपस्य बन्धनात् मुक्तेरनन्तरं पितृभ्यां सह संगमस्य कथां कल्पितवन्तः, परन्तु शुनःशेपस्य ब्राह्मणे प्रसिद्धायां कथायां स बन्धनमुक्तोऽपि पित्रोः समीपे गमनं न स्वीचकार। विश्वामित्रस्य च शरणमसौ प्राप। आख्याने तस्य पितरौ वधस्थाने उपस्थितावास्ताम्।

वस्तुतः शुनःशेपः महतो विदुषः नामास्ति, यः सत्याचरणं करोति, सत्यकर्मणा, अधर्माचरणेन परमेश्वरं प्रसन्नं करोति, दुःखेभ्यश्च मुक्तिं प्राप्नोति। उपासनयाज्ञानप्रकाशनेन च स दरिद्रताया अपिं मुक्तिं लभते।महर्षिः दयानन्दः एतैस्त्रिभिः मन्त्रैः जीवस्य मुक्तेः पुनरावृत्तिं मन्यते।

कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्...।[19]

अग्नेवयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे...।[20]

सत्यार्थप्रकाशे नवमसमुल्लासेप्रश्नोत्तररूपेण इमौ मन्त्रौ उद्धृत्य महर्षिः लिलेख-

प्रश्न- हम लोग किस का नाम पवित्र माने? कौन प्रकाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाश स्वरूप है। हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है?

उत्तर- हम इस प्रकाश स्वरूप, अनादि, सदा मुक्त परमात्मा का नाम, पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में, आनन्द भुगाकरं पृथ्वी में पुनः माता पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता, सबका स्वामी हैं।

शुनःशेपस्य प्रसंगे एव तृतीयः मन्त्रः इत्थमस्ति-

शुनश्चिच्छेपं निरितं सहस्रायूपादमुञ्चा अशनिष्ट हि षः।
एवास्मदग्ने विमुमुग्धि पाशान्होतांश्चिकित्व इह तू
निषद्य।।[21]

एतेन तृतीयमन्त्रेण ईश्वरादेव सर्वपदार्थानां प्राप्तिः संलक्ष्यते। अस्य भाष्ये महर्षिः लिखति-

हे पृथिवी आदि पदार्थों की उत्पत्ति व रक्षा करने और सबको आनन्द देने वाले जगदीश्वर! हम लोग स्वीकार करने योग्य पृथिवी आदि पदार्थों की यथायोग्य व्यवस्था करने, सबकी सेवा करने योग्य आपको सब काल में प्रत्यक्ष मानते हैं, अर्थात् आप ही सब पदार्थों को प्राप्त होते हो।

एतेन विवेचनेन इदं स्पष्टं यत् वेदेषु यानि आख्यानानि समागतानि तानि इतिहासोद्भवानि न सन्ति। तत्र यथार्थता नास्ति। आख्यानानि आलंकारिकवर्णनेन विविधज्ञानविज्ञानानि आख्यापयन्ति।

सन्दर्भ

1. शुक्लयजुर्वेदे-१६.४२, ६१
2. मार्कण्डेयपुराणे
3. मार्कण्डेयपुराणे
4. मार्कण्डेयपुराणे
5. ऋग्वेद १.३२.५
6. निरुक्त अध्याय २
7. ऋ० १.३२.१०
8. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३०१ ..
9. शतपथ १०.२.२.४
10. ऐ०ब्रा० ३.३३-३४
11. नि०. ४-२१
12. ऋ० १.१६४.३३
13. ऋ०भा० भू० पृ० २९३
14. निरुक्त-अ० ३-१२
15. नि०अ० ३
16. ऋ० ५.२.७
17. ऋ० १.२४.१२
18. ऋ० १.२४.१३
19. ऋ० १.२४.१
20. ऋ० १.२४.२
21. ऋ० ५.२.७

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेदः, व्या. सायणाचार्य, विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध-संस्थान, 1990.
2. ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर, 2006.
3. ऋग्वेदः, सं. विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध-संस्थान, 1966.
4. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, लेखक- स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय अजमेर, राजस्थान, 1970.
5. डॉ० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सामवेद का सुबोध भाष्य (सम्पादक - प्रेम आर्य) स्वाध्याय मण्डल वाराणसी: 2017
6. निरुक्तशास्त्रम्, पं० भगवद्दत्त,रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 2004.
7. परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, ऋग्वेद सहिंता, प्रथम संस्करण, वेदज्योति प्रेस जी - 7 मॉडल टाउन दिल्ली, 2003.
8. परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, यजुर्वेद सहिंता, प्रथम संस्करण, वेदज्योति प्रेस जी - 7 मॉडल टाउन दिल्ली, 2003.
9. मनुस्मृतिः,पं०गङ्गानाथ झा, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 2004.
10. महर्षि दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेदभाष्यम्, (सम्पादक श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार), श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, 2008.
11. मार्कण्डेय पुराण, सम्पादक- श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति-संस्थान, बरेली, उत्तर प्रदेश, 1967.

*****

'सुभद्रा कुमारी चौहान के साहित्य में बाल चेतना का स्वरूप'

- मधुरा केरकेट्टा
असिस्टेंट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग
के. बी. कॉलेज बेरमो, बोकारो, झारखण्ड.
ईमेल – mk21350@gmail.com

सारांश

हिंदी साहित्य के इतिहास में सुभद्रा कुमारी चौहान का नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण कवयित्री के तौर पर दर्ज है। बाद में उन्हें अपने समय के महत्त्वपूर्ण कहानी लेखिका के तौर भी स्वीकार किया गया। सुभद्रा कुमारी चौहान के समय पर अगर गौर करने पर यह दिखाई पड़ता है कि उस समय के साहित्यकार एक ही साथ कई विधाओं में महत्त्वपूर्ण लेखन कर रहे थे। रामचंद्र शुक्ल, इतिहास लेखक और निबंधकार के साथ एक कवि भी थे, ऐसा ही अन्य लेखकों के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है । सुभद्रा कुमारी चौहान से पहले और तुरंत बाद के रचनाकारों के सन्दर्भ में यह बहुत साफ तौर पर दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार सुभद्रा कुमारी चौहान के लेखन कार्य में विविधता देखा जा सकता है।

बीज शब्द- बाल साहित्य, वात्सल्य प्रेम, स्वाधीन चेतना, ममता, प्रोत्साहन

शोध आलेख-

बाल साहित्य लेखन के स्वरूप की बात करें तो हिंदी साहित्य में बाल साहित्यकारों की एक लम्बी परम्परा रही है प्राचीन काल से ही पंचतंत्र, परी कथाएँ, हितोपदेश, जातक कथाएँ, सिंहासन बत्तीसी आदि के माध्यम से बच्चों को मनोरंजनपूर्ण तरीके से शिक्षा प्रदान किया जाता रहा है | हिंदी साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों में अमीर खुसरो की मुकरियों, पहेलियों जैसे – 'एक थाल मोती से भरा/ सबके सिर पर औंधा धरा' में बच्चों के लिए मनोरंजन की सामग्री मिल जाती हैं । तुलसीदास, सूरदास आदि कवियों ने भी अपनी रचनाओं में बाल्यवस्था की मनोरम वात्सल्य को प्रस्तुत किया है । वस्तुतः सूरदास के काव्य की वात्सल्य प्रेम भावना से ही बाल साहित्य का प्रारम्भिक युग गाढ़ा हुआ, जैसे – 'मैया मैं नहीं माखन खायो' अथवा 'मैया, कबहुँ बढ़ेगी चोटी' आदि पदों से बाल मन की जिज्ञासा प्रकट होती है। सूरदास के साथ साथ अन्य कवि कवयित्रियों ने भी श्री कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन करते हुए बाल साहित्य को पुष्ट किया है। इसी क्रम में मैथलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, प्रेमचंद, जैनेन्द्र कुमार, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महादेवी वर्मा आदि की परम्परा में सुभद्रा कुमारी चौहान एक महत्वपूर्ण रचनाकार हैं जिनके साहित्य में बाल मनोविज्ञान को रेखांकित करना आवश्यक है।

सन 1932 -1933ई. के लगभग सुभद्रा कुमारी चौहान का झुकाव बालकों की कविता और कहानियों की तरफ हुआ । सुभद्रा कुमारी चौहान ने कई सारे बाल कविताएँ लिखे हैं, बाल साहित्य पर सुभद्रा कुमारी चौहान की पहली पुस्तक सभा का खेल है किन्तु इसमें बहुत सी कविताएँ नहीं आ पाए हैं | हंस प्रकाशन से सभा का खेल संग्रह का नया संस्करण 'कदम्ब का पेड़' शीर्षक से दो पुस्तकें 'झाँसी की रानी' कविता को भी बाल साहित्य के अंतर्गत स्वीकार किया जाता है। ये सभी कविताएँ बहुत रोचक हैं। वर्तमान में ये काव्य संग्रह उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन इन कविताओं को अन्य शीर्षक के ग्रन्थों में संकलित-सम्पादित किया गया है । अमराई, गौरी, रूपा, कैलाशी नानी, राही, हींगवाला, बिआहा, सुभागी, दुराचारी, मंगला, तीन बच्चे और दो सखी सुभद्रा जी की प्रमुख कहानियाँ हैं, जिनमें वात्सल्य प्रेम है। मातृत्व का स्नेह है। बाल मनोविज्ञान के तत्व विद्यमान हैं लेकिन उन्होंने बच्चों के लिए कहानी लिखना शुरू नहीं किया था । अपितु उनकी बाल चेतना उनकी उपरोक्त कहानियों के माध्यम से देखा जा सकता है।

बाल साहित्य के परिप्रेक्ष्य में सुभद्रा कुमारी चौहान की भूमिका महत्वपूर्ण है। वे जिस तरह की बाल कविताएँ लिख रहीं थीं वह आज भी दुर्लभ है । उनका यह योगदान स्वतन्त्रतापूर्व बाल साहित्य के दायरे में अनुपम था। इस संदर्भ में प्रकाश मनु लिखते हैं कि "सुभद्रा कुमारी चौहान (1904-1948) ने बच्चों के लिए कुछ अत्यंत सुकोमल कविताएँ लिखी हैं। इनमें कहीं कहीं उनका मातृत्व जैसे फूट पड़ा है।"[1]

जिस समय सुभद्रा कुमारी चौहान रचना के क्षेत्र में प्रवृत्त हुई थीं वह समय महिलाओं के लिए अपेक्षाकृत रूप से कम स्वछंद था। परिवार उस समय एक प्रमुख मूल्य था और स्त्री के महत्त्व को उनकी पारिवारिकता से जाना जाता था। परिवार संभालना और बच्चों की परवरिश करना उनका दायित्त्व समझा जाता था । सुभद्रा कुमारी चौहान महिलाओं की उस भूमिका को स्वीकार करते हुए उस भूमिका का विस्तार करती हैं, उसे अपनी रचनात्मक क्षमता में परिवर्तित करती

हैं। ऐसी ही अपेक्षा वह अपने समय की महिलाओं से रखती हैं और उनसे आग्रह करती हैं कि वे बाल-साहित्य रचने की तरफ़ प्रवृत्त हों। इस संदर्भ में वे स्पष्ट कहती हैं कि "प्रेम के अतिरिक्त एक और क्षेत्र है जिसे स्त्रियों का अधिकार क्षेत्र कहा जा सकता है वह बाल क्रीड़ा का। नन्हें- नन्हें बच्चे स्त्रियों के ही चरणों में रेंगकर चढ़ते हैं उन्हीं के सहारे खड़े होते हैं वे अपनी बोली माताओं से ही सीखते हैं। माताओं और बच्चों का इतना नैसर्गिक और प्रगाढ़ संसर्ग रहता है कि बच्चों के मन का माता ही सबसे अच्छा विश्लेषण कर सकती है। माता अपने बच्चे के मन की बात अपने मन से समझ जाती है, उसे समझने के लिए सार्थक शब्दों की आवश्यकता नहीं।"[2]

इसप्रकार स्त्रियों की प्रभावगत नैसर्गिक विशेषताओं को रेखांकित करते हुए सुभद्रा कुमारी चौहान स्पष्ट करती हैं कि अपने प्रेमपूर्ण हृदय के अलावा स्त्रियाँ बाल मन को भी अधिक अच्छे से समझ सकती हैं। उनके अनुसार स्त्री ही बच्चों के हाव भाव को बिना शब्द के समझ सकती हैं। इसलिए सुभद्रा कुमारी चौहान महिलाओं के लिए बाल क्रीड़ा के क्षेत्र में लेखन को बढ़ावा देती हैं और उसे महिलाओं का अधिकार क्षेत्र मानती हैं।

सुभद्रा कुमारी चौहान साहित्य लेखन में बाल-साहित्य लेखन की ओर महिलाओं को प्रोत्साहित करती हुई कहती हैं कि "अबोध और तुतलाते बालक के पास सार्थक शब्द कहाँ? परन्तु बच्चे की ऐसी कौन-सी मनोभावना और आवश्यकता है जिसको माता नहीं ताड़ लेती और नहीं समझ लेती। बच्चे सबको प्यारे और सुंदर लगते हैं। परन्तु माता अपने बच्चे के प्यार और सुन्दरता की खूबियों को जितना पहचानती है उतना कोई दूसरा व्यक्ति नहीं पहचान सकता है ? इसलिए मेरी तो धारणा है कि माताएँ यदि शिशु साहित्य पर लिखने लगें तो उससे हमारे साहित्य की सुन्दरता बढ़ जावे।"[3]

सुभद्रा कुमारी चौहान का समग्र साहित्य का केन्द्रीय भाव है प्रेम। वह वात्सल्य प्रेम और दाम्पत्य प्रेम दोनों के रूप में दिखाई देता है। हिंदी बाल कविताओं में सुभद्रा जी का योगदान अनमोल है। बच्चों के प्रति उनका जो वात्सल्य था वही उनकी अनेक कविताओं में मुखर होता है। सुभद्रा कुमारी चौहान के वात्सल्य भाव की परिधि का विस्तार हो जाता है जब उनके बाल साहित्य में पशु-पक्षी, पेड़-पौधे समा जाते हैं। वे स्वयं तेज गर्मी में झुलसाते कुत्तों को पानी पिलाना, उनपर पानी डालना, घर की तुलसी तथा अन्य पेड़-पौधों पर पानी देना, पक्षियों के लिए सकोरे में पानी भरना नहीं भूलती थी, जिससे सभी को भीषण गरमी में पानी मिलता रहे। ममतामयी हृदय की सुभद्रा कुमारी चौहान में मातृत्व कूट-कूट कर भरा हुआ था। दमयंती तलवार उनकी मातृत्व के संबंध में कहती हैं- "आधुनिक हिंदी लेखकों में शायद सुभद्रा कुमारी चौहान ही एक हैं जिनकी रचनाओं में मातृत्व साकार हो उठा है और जिनके वात्सल्य की सहज सरल व स्वाभाविक अभिव्यक्ति सहसा सूर की यशोदा की याद दिला देती है।"[4] बच्चों के साथ चहकने वाली और उनपर अपनी ममता लूटाने वाली सुभद्रा कुमारी चौहान बच्चों के साथ बच्ची बन जाती है वह बच्चों से बहुत प्यार करती थी इसलिए पहली बेटी के जन्म के पश्चात् अपनी कविता में इसप्रकार लिखती हैं -

"बीते हुए बालपन की यह
क्रीड़ापूर्ण वाटिका है
वही मचलना, वही किलकना,
हँसती हुई नाटिका है।"[5]

सुभद्रा कुमारी चौहान की बाल कविताओं की खासियत यह भी है कि वे अपनी अभिव्यक्ति में देशभक्ति जरुर ले आती हैं। उनकी कविताओं में बच्चे भी अक्सर खेल-खेल में महापुरुषों की भांति बनना चाहते हैं। देशभक्त बच्चों के खेल पर आधारित कविता है सभा का खेल। इस सभा का खेल में बच्चे गाँधी, नेहरू सरोजनी आदि के प्रतिरूप हैं। कवयित्री ने बच्चों की राष्ट्रीय भावना को बहुत ही सरस ढंग से कविता में उकेरा है। बच्चों का यह बाल सुलभ निश्चल मन इसप्रकार द्रष्टव्य है -

"सभा सभा का खेल आज हम
खेलेंगे जीजी आओ,
मैं गाँधी जी, छोटे नेहरु
तुम सरोजिनी बन जाओ |
मेरा तो सब काम लँगोटी
गमछे से चल जायेगा,
छोटे भी खद्दर का कुरता
पेटी से ले आयेगा
लेकिन जीजी तुम्हें चाहिए
एक बहुत बढ़िया सारी,
वह तुम माँ से ही लेना
आज सभा होगी भारी।"[6]

रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचंद्र, प्रेमचंद जैसे बड़े रचनाकारों ने बाल साहित्य का सृजन है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की बाल कहानियाँ तो भारत के साथ विदेशों में भी बहुत ख्याति मिली है। उनकी भांति सुभद्रा कुमारी चौहान बच्चों के लिए कविता, कहानी लिखती हैं जो उनके चरित्र निर्माण की शिक्षा देने वाली विषयवस्तु आधारित है। कविता के माध्यम से वह बच्चों में तत्कालीन स्वतंत्रता की चेतना पैदा करती है। उनमें बचपन से ही स्वाधीनता की चेतना का बीज बो देना चाहती हैं। इन विशेषताओं का चित्रण 'सभा का खेल' शीर्षक बाल कविता में देखा जा सकता है -

"कहा बड़े ने - छोटे जब तुम
नेहरू जी बन जाओगे
गाँधी जी बात मानकर
क्या तुम मार न खाओगे ?
खेल-खेल में छोटे भैया

होगी झूठ-मूठ की मार।
चोट न आयेगी नेहरू जी
अब तुम हो जाओ तैयार।"[7]

सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों में भी बाल चेतना को देखा जा सकता है। वे 'गौरी' शीर्षक कहानी के जरिये बच्चों के लिए माँ के महत्त्व को वर्णित करती हैं। गौरी कहानी में सीतारामजी के दो बच्चे हैं। सीतारामजी की पहली पत्नी का देहांत हो चुका है। वे गौरी को दूसरी शादी के लिए जब देखने आते हैं तब नयी माँ को देखने की ख़ुशी में दोनों बच्चे अत्यंत प्रसन्न हैं - "दोनों बड़े प्रसन्न, हँसमुख, आकर घर में वे इस प्रकार खेलने लगे जैसे इस घर से वे चिरपरिचित हों। कुन्ती एक तरफ बैठी थी। बच्चों के कोलाहल से परिपूर्ण घर उसे क्षण भर के लिए नंदनकानन-सा जान पड़ा।"[8] बच्चे गौरी को अच्छे लगते हैं वह मन ही मन सोचती है कि यदि बिना किसी प्रकार के सम्बन्ध हुए भी सीताराम जी इन बच्चों को संभालने का भर उसे सौंप दें, तो वह खुशी-खुशी ले ले। बच्चे अबोध होते हैं वे मन की बात छुपा कर नहीं रख पाते हैं। इसलिए वे गौरी के घर में अपने पिता से जिद्द करते हैं कि वे उनकी नयी माँ को दिखाए –"अचानक छोटे बच्चे को जैसे कुछ याद आ गया हो। दौड़कर पिता के पास आया। उनके पैरों के बीच खड़ा होकर बोला – बाबू, तुम तो कैते थे कि माँ को दिकाने ले चलते हैं। माँ कआँ है, बतलाओ ? बाबू ने किंचित हंसकर कहा -ये मांजी बैठी हैं, इनसे कहो, यही तुम्हें दिखायेंगी। बालक ने मचलकर कहा – ऊँ हूँ तुमू दिकाओ।"[9] इस कहानी में बच्चे अपनी नयी माँ को देख कर अपनी तुतलाते हुए उनसे सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करते हैं – "गौरी पिछले बरामदे में चुपचाप खड़ी थी। वह न जाने किस ख्याल में थी। तब तक छोटे बच्चे ने उसका आँचल पकड़कर खींचते हुए कहा – क्या तुम अमारी माँ हो ? गौरी ने देखा हृष्ट पुष्ट सुंदर सा बालक, कितना भोला, कितना निश्छल। उसने बालक को गोद में उठाकर कहा – हाँ। बच्चे ने फिर उसी स्वर में पूछा – अमारे घर चलोगी न ? बाबू तो तुम्हें लेने आये हैं औल हम भी आये हैं। अब तो गौरी उसकी बातों का उत्तर न दे सकी। पूछा – मिठाई खाओगे ? 'हाँ खायेंगे' दोनों ने एक ही साथ एक स्वर से उत्तर दिया।"[10]

माता और पिता दोनों के स्नेह में से यदि बच्चों को चुनना हो तब अधिकांश बच्चे माँ के सानिध्य को चुनते हैं। इस क्रम में बच्चे अक्सर अपने पिता की शिकायत माँ से और माँ की शिकायत अपने पिता से जाकर करते हैं। हम इस मनोवृत्ति को गौरी कहानी के इस अंश से पता लगाया जा सकता है - "बच्चे अब भी उसी को घेरे हुए थे। वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। बड़ी मुश्किल से सीतारामजी उन्हें बुलाकर कुछ देर तक अपने पास बिठा सके, किन्तु जरा सा मौका पाते ही वे फिर जाकर गौरी के आसपास बैठ गये। पिता इसके विरुद्ध कुछ देर तक अपने पास बिठा सके, किन्तु जरा -सा मौका पाते ही वे फिर जाकर गौरी के आसपास बैठ गये। पिता के विरुद्ध उन्हें कुछ नालिशें भी दायर करनी थीं, जो पिता के पास बैठकर न कर सकते थे। छोटे ने कहा- बाबू हमें कबी खिलौने नहीं ले देते। बड़े ने कहा – मिठाई भी तो कभी नहीं खिलाते। छोटा बोला – ऑल अमें छोड़कर दफतर जाते हैं, दिन भर नई आते, बाबू अच्छे नई हैं। बड़ा बोला - माँ तुम चलो, नहीं तो हम भी यहीं रहेंगे। बच्चों की बातों से सभी को हँसी आ रही थी।"[11]

सुभद्रा कुमारी चौहान माँ की ममता का एक अद्भुत रूप को 'रूपा' शीर्षक कहानी में चित्रित करती हैं। लेखिका जेल के अंदर एक हत्यारिन माँ का चित्रण करती हैं, जिसका नाम रूपा था। वह अपनी बच्ची को लेकर कुएँ में कूद गई थी। यही कारण था कि वह जेल आयी थी। लेखिका इसके पीछे का पूरा सच जानना चाहती थी। वह उससे पूछती है। जब रूपा सच्चाई बतलाती है तब एक माँ की आर्थिक मजबूरी दिखाई देती है – "बहनजी ! मेरी गोपा इसी तरह थी जैसी आपकी ममता है। आपने बम्बई जाकर सैकड़ों रूपये खर्च करके ममता का मुँह ठीक करवा लिया है, पर मेरे पास रुपया कहाँ से आता। गोपा का बाप कहता था - खूब रुपया कमाकर अपनी गोपा को बम्बई ले जाकर आपरेशन कर देंगे, तब सब ठीक हो जाएगा। और इसलिए खूब रुपया कमाने के लिए वह लड़ाई पर चला गया। तब से उसकी कोई खबर नहीं मिली। इधर मैं अकेली गोपा जरा-सी, जहाँ मेहनत-मजदूरी की जाती वहीं बच्चे और कभी बड़े-बड़े लोग तक गोपा को साफ़ न बोलने पर चिढ़ाया करते। लड़की चिढ़ती, दिन भर रोती और मैं किसका मुँह पकड़ती। बिना मेहनत मजदूरी के काम न चलता और जहाँ जाती वहीं यह बात होती।"[12] रूपा के मातृत्व हृदय का दुःख दर्द से भरा था। वह अपनी बेटी का ईलाज नहीं करा सकती थी इसलिए वह उसके कारण को ही खत्म कर देना चाहती थी, इसलिए वह अपना अपराध इसप्रकार बतलाती है – "जिस दिन मैं कुएँ में कूदी थी, उसके एक दिन पहले मैं एक जगह मजदूरी के लिए गयी थी। ऊपर मैं कुछ काम कर रही थी और वहीं जीने पर गोपा एक लकड़ी लिए बैठी थी। नीचे मुहल्ले भर के दस-बारह लड़के-लड़कियाँ उसे चिढ़ा रहे थे। वह कभी इसे, कभी उसे मारने दौड़ती, पर वह थे दस-बारह और गोपा अकेली। मैंने देखा। मुझे बड़ा क्रोध आ गया। गोपा को मैंने गोद में उठा लिया और पास ही जो लड़का उसकी चोटी खींच रहा था, उसे हल्के से पीठ पर मार दिया। बस फिर इसी बात को लेकर उन लोगों से कहा सुनी हो गयी। अब मुझे काम भी न मिलता। पैसों की तंगी होने लगी। इधर बच्चे गोपा को और ज्यादा चिढ़ाकर तंग करने लगे। सोचा गोपा अभी छोटी है, समझती कम है, जब बड़ी होगी तब गोपा को कितना बुरा लगेगा, मेरी गोपा दुःखी हो जाया करेगी और कहीं मैं मर गयी तो...फिर बहिनजी! मेरे मरने के बाद गोपा की जो दुर्दशा होगी उसे सोचकर...और उस दुर्दशा तक गोपा न पहुँच सके, इसलिए ...।"[13]

'तीन बच्चे' शीर्षक कहानी में यह देखा जा सकता है कि बच्चे कैसे दूसरे असहाय बच्चों की मदद कितनी सरलता से कर लेते हैं। वे अपने हिस्से का भोजन भी उदारतापूर्वक देने को तैयार होते हैं। बच्चों में सबसे अधिक संवेदना होती है। जिसे कहानी में इसप्रकार देखा जा सकता है – "दूसरे दिन हम लोग सुबह की चाय पीकर उठने ही वाले थे वे बाल गवैये फिर आ पहुँचे। हमें, कोमल स्वर में सुनाई पड़ा –'सांवरियाँ हमें भूल गयो, सखि, सांवरियाँ'... मैंने अपने बच्चों से कहा – कल तुमने इन्हें खूब पूरियां खिलायी थीं न। अब वे सब फिर आ गये। जैसे उनके लिए यहाँ रोज पूरियाँ धरी हैं ! – धरी तो हैं माँ ! एक साथ ही बच्चों के मुँह से सच निकला और सबके हाथ एक साथ ही पूरी के डब्बे की ओर बढ़े।"[14] बच्चों की सच बोलने की प्रवृत्ति इस उद्धरण से स्पष्ट है।

बच्चे अक्सर दूसरे बच्चों की सहायता करने के लिए तर्क-वितर्क करते हैं जिसे तीन बच्चे कहानी के अगले भाग में देखा जा सकता है। बच्चों को मदद के लिए आगे बढ़ते देख उन्हें रोकते हुए माँ कहती है – "ठहरो, ठहरो। रोज-रोज इन्हें पूरियाँ खिलाओगे तो दरवाजा ही न छोड़ेंगे। उन्हें चावल या आटा देकर जाने को कह दो। एक बच्चा बोल उठा – बेचारे छोटे-छोटे बच्चे; न जाने उनके माँ भी है या नहीं। वे भला कहाँ पकायेंगे ? दूसरा ताने के स्वर में बोला – इससे अच्छा तो उन्हें कुछ भी न दिया जाय। सबसे छोटा बोला – तुम भी माँ होकर ऐसा क्यों कहती हो माँ। उन बेचारों को भी भूख लगी होगी। मेरे हिस्से की दे दो। लड़की सब में समझदार थी। उसकी दृष्टि यही चाह रही थी कि माँ का इशारा भर मिले और पूरियों का डिब्बा ले जाकर वह पूरियाँ उन बच्चों को खिला दे। मैंने उदासीनता से कहा – पूरियाँ ही दे दो, पर शाम को फिर तुम्हारे लिए नाश्ता बनाना पड़ेगा। 'माँ, शाम को नाश्ता नहीं करेंगे', एक स्वर में एक साथ बच्चों ने कहा और हाथ में पूरियाँ लिए हुए दरवाजे की ओर दौड़े।"[15]

बच्चे घर में अपने माता-पिता के अलावा अपने नाना-नानी, दादा -दादी से अधिक प्रेम करते हैं। बच्चों को उनका साहचर्य अच्छा लगता है। कैलाशी नानी का मन बच्चों के बिना नहीं लगता था। वे बहुत उदार थीं। बच्चों के साथ उनकी खुशी थी। उनके वात्सल्यमयी एवं स्नेहिल स्वभाव पर कहानी में इसतरह प्रकाश डाला गया है – "कैलाशी नानी की जंगल में सूखी रोटियाँ नमक या कभी-कभी चटनी के साथ खाने में जितना स्वाद आता था, उतना स्वाद कभी किसी भोजन में नहीं आया। रोटियाँ भी गेहूँ की नहीं; न जाने कितने तरह के नाज मिलाकर बनाई जाती थी। कैलाशी नानी को हर घर से एक ही नाज तो मिलता था; कहीं गेहूँ कहीं जब। ज्वार, मक्का, उड़द, मूंग, गेहूँ, अरहर, सब मिलाकर इकठ्ठा कर देतीं और रोज, आवश्यकतानुसार किसी की चक्की से पीस लातीं और दूसरे दिन के लिए रोटियाँ सेंक रखतीं। यही उनका प्रतिदिन का आहार था। कभी-कभी गाँव के दूसरे बच्चे नदी में धोती फैलाकर मछली पकड़कर भूनते। उस दिन कैलाशी नानी रोटी भी न खातीं। सत्तू खाकर ही रह जातीं।"[16]

निष्कर्ष-:

निष्कर्षतः यह परिलक्षित है कि सुभद्रा कुमारी चौहान ने स्वयं बाल-साहित्य के क्षेत्र में अमूल्य योगदान दिया। उनके साथ उनकी समकालीन लेखिकाओं ने भी इस क्षेत्र में बहुमूल्य रचनात्मक योगदान दिया। इस संदर्भ में उनकी प्रतिक्रिया है, "अभी तक स्त्रियों ने गृहस्थी और गृह को सुंदर बनाया। अब वे समाज, साहित्य और राजनीति में भी पदार्पण कर रही है...।"[17] वे स्वयं इस उक्ति की पर्याय रही हैं। इसलिए वे चाहती थीं कि महिलाएँ गृहस्थ जीवन से बाहर भी अपना योगदान दें। उनकी यह सदिच्छा आज भी विचारणीय है।

संदर्भ सूची -:

1. प्रकाश मनु , हिंदी बाल कविता का इतिहास, मेधा बुक्स दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2003, पृ. सं. - 43
2. संपादक, रूपा गुप्ता , सुभद्रा कुमारी चौहान ग्रंथावली (भाषण तथा कहानियाँ), भाग-2, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली : 2015, पृ. सं. - - 47-48
3. वही, पृ. सं. – 48
4. डॉ. सावित्री भरतिया, सुभद्रा कुमारी चौहान के साहित्य में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना, गरिमा प्रकाशन, मुरादाबाद, प्रथम संस्करण : 2002, पृ. सं. 93
5. संपादक, रूपा गुप्ता, सुभद्रा कुमारी चौहान ग्रंथावली (कविताएँ) ,भाग -1,स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली : 2015, पृ. सं. - 77
6. वही, पृ. सं. – 213
7. वही, पृ. सं. – 213-214
8. संपादक, रूपा गुप्ता, सुभद्रा कुमारी चौहान ग्रंथावली (भाषण तथा कहानियाँ), भाग-2, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली : 2015, पृ. सं. - 219
9. वही, पृ. सं. – 219
10. वही, पृ. सं. – 219-220
11. वही, पृ. सं. - 220
12. वही, पृ. सं. - 228
13. वही, पृ. सं. - 228
14. वही, पृ. सं. – 299
15. वही, पृ. सं. - 299
16. वही, पृ. सं. – 243
17. वही, पृ. सं. – 48

*****

उज़बेक कोश निर्माण परंपरा का इतिहास

-मामुरा सुलेयमानोवा

हिंदी विभाग,
मानविकी संकाय,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500046.
suleymanovamamura@gmail.com

शोध सर:उज़्बेक कोश निर्माण परंपरा का इतिहास लगभग तेरह शताब्दियों पुराना है। यह लेख उज़्बेक कोशविज्ञान के विभिन्न चरणों का विश्लेषण करता है, जो 11वीं शताब्दी से आधुनिक समय तक विस्तारित है। इसमें मुहम्मद अल-काशगारी की 'दीवान लुग़ट अल-तुर्क', ज़मखशरी की 'मुक़द्दिमत अल-अदब', और अलीशेर नवाई की रचनाओं पर आधारित 'बदायी अल-लुग़ट' और 'अबुशका' जैसे महत्वपूर्ण शब्दकोशों पर चर्चा की गई है। लेख में उज़्बेक शब्दावली के विकास में अरबी, फारसी, और तुर्की भाषाओं के योगदान को भी रेखांकित किया गया है। आधुनिक काल में उज़्बेक शब्दावली में अनुवाद शब्दकोश, विश्वकोश, और व्याख्यात्मक शब्दकोश के विकास पर जोर दिया गया है। यह लेख न केवल उज़्बेक कोश निर्माण की परंपरा को दर्शाता है, बल्कि इसके ऐतिहासिक, भाषाई और वैज्ञानिक महत्व को भी स्पष्ट करता है।

बीज शब्द: उज़्बेक कोशविज्ञान, दीवान लुग़ट अल-तुर्क, मुक़द्दिमत अल-अदब, बदायी अल-लुग़ट, अबुशका, संगलाख़, द्विभाषी शब्दकोश, व्याख्यात्मक शब्दकोश, उज़्बेक भाषा।

19 वीं सदी के 60 के दशक में, जब एमिल मैक्सिमिलियन पॉल लिट्रे (Émile Maximilien Paul Littré) ने फ्रांसीसी भाषा का एक बड़ा शब्दकोश प्रकाशित किया, तो प्रसिद्ध लेखक एमिल एडौर्ड चार्ल्स एंटोनी ज़ोला (Émile Édouard Charles Antoine Zola) ने शब्दकोश का मूल्यांकन 'फ्रांसीसी सभ्यता के इतिहास में एक योगदान' के रूप में किया। वस्तुतः शब्दकोश एक ऐसा उपकरण है जो किसी जाति की वैज्ञानिक एवं बौद्धिक प्रगति को दर्शाता है। क्योंकि शब्दकोश में अतिरिक्त कार्य होते हैं जैसे जाति द्वारा एकत्र किए गए ज्ञान को सारांशित करना और व्यवस्थित करना, एक निश्चित राष्ट्र का अध्ययन करना और एक सामान्य मूल्यांकन देना।

उज़्बेक भाषा का भी कोश निर्माण का एक समृद्ध इतिहास है। उज़्बेक भाषा अल्ताई भाषा परिवार में तुर्की परिवार से संबंधित भाषा है। उज़्बेकिस्तान गणराज्य के संविधान के अनुसार, यह भाषा राजभाषा है। उज़्बेक भाषा, सभी तुर्की भाषाओं की तरह, एक अभिश्लेषी भाषा है। उज़्बेक साहित्यिक भाषा के अतीत में निम्नलिखित अवधियाँ शामिल हैं:

ईसा पूर्व से 10 वीं शताब्दी तक का काल। इस काल की भाषा विज्ञान में *प्राचीन तुर्की भाषा* के नाम से जानी जाती है। उदाहरण के लिए प्राचीन लोककथा- ओरखोन-येनिसी स्मारक (6-7 सदियाँ) इसी भाषा में बनाए गए थे। 11-14 शताब्दियों में प्रयुक्त भाषा को *पुरानी तुर्की भाषा* कहा जाता है। यूसुफ खास हाजिब का 'कुटादगु बिलिग'(आनंदित ज्ञान), अखमद युगनाकी का 'हिबातुल हकायिक' (सच्चाई का खजाना), ख्वारिज्मी का 'मुहब्बतनामा', नासिर अल-दीन इबन बुरहान अल-दीन रबग़ुज़ी की 'क़िसा-ए रबग़ुज़ी' रचनाएँ इसी भाषा में रची गई हैं। 15 वीं शताब्दी से लेकर 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक प्रयुक्त भाषा को *पुरानी उज़्बेक भाषा* कहा जाता है। लुत्फी, अली-शिर नवायी, बाबर, मशरब, मुकीमी, फुरकत और कई अन्य रचनाकारों की रचनाएँ इस भाषा में बनाई गई हैं। ।19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर वर्तमान तक प्रयुक्त भाषा को *आधुनिक उज़्बेक साहित्यिक भाषा* कहा जाता है। 'तुर्किस्तान का समाचार पत्र' (1870) के प्रकाशन के समय से लेकर अब तक निर्मित सभी रचनाएँ आधुनिक उज़्बेक साहित्यिक भाषा में लिखी गई हैं।

11 वीं शताब्दी से उज़्बेक भाषा एक स्वतंत्र भाषा के रूप में सामने आने लगी और 131 वीं शताब्दी में पुरानी उज़्बेक साहित्यिक भाषा का निर्माण हुआ। वर्तमान उज़्बेक साहित्यिक भाषा की शब्द संरचना मुख्यतः पाँच समूहों पर आधारित है- पुरानी तुर्की (पुरानी उज़्बेक या चिगताई) शब्द; अरबी शब्द; फ़ारसी शब्द; दो भाषाओं के संकर शब्द; यूरोपीय भाषाओं के शब्द। पुरानी तुर्की भाषा आज की उज़्बेक भाषा की मुख्य स्रोत है। अरबी शब्द 7वीं-8वीं शताब्दी से उज़्बेक भाषा में प्रवेश करने लगे। क्योंकि उस समय अरबों ने मध्य एशिया पर क़ब्ज़ा किया था। उज़्बेक भाषा में फ़ारसी शब्दों का प्रवेश

फ़ारसी आक्रमणों, व्यापार संबंधों और मध्य युग में फ़ारसी भूगोल के करीब सभी राज्यों के आंतरिक राज्य मामलों में फ़ारसी भाषा के उपयोग और उज्बेकिस्तान की धरती पर मौजूद राज्यों से संबंधित है। संकर शब्द - दो भाषाओं से, पुरानी तुर्की और फ़ारसी, पुरानी तुर्की और अरबी,अरबी और फ़ारसी को मिलाकर, या कभी-कभी इन तीन भाषाओं के शब्दों या प्रत्ययों को मिलाकर बनाये गए, रूसी भाषा से आगत शब्द। रूसी भाषा उज़्बेक राष्ट्रीय भाषा के निर्माण और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। रूसी लोगों और उज़्बेक लोगों के बीच घनिष्ठ संपर्क, विशेष रूप से रूसियों के आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभाव के कारण रूसी भाषा से रूसी और यूरोपीय शब्दों का उज़्बेक भाषा में आगमन हुआ है। ऐसे शब्दों की विविधता ने उज़्बेक भाषा की शब्दावली को समृद्ध किया है।

उज़्बेक कोश निर्माण का पहला चरण 11वीं शताब्दी में मुहम्मद अल-काशगारी के काम 'दीवान लुग़ट अल-तुर्क' से शुरू होता है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि मुहम्मद अल-काशगारी ने 'दीवान लुग़ट अल-तुर्क' रचना का निर्माण करके उज़्बेक शब्दावली के निर्माण की पहली आधारशिला रखी। [3]

'दीवान लुग़ट अल-तुर्क' कृति हमारे लिए ज्ञात पहली बड़ी कृति है और साथ ही, तुर्की भाषाविज्ञान का सबसे बड़ा स्मारक है। अपने समय में, यह कार्य एक विश्वकोश पुस्तक के रूप में बनाया गया था जो पूर्व और पश्चिम के लोगों को अरबी भाषा के माध्यम से प्राचीन तुर्कों की भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाजों और इतिहास के बारे में पूरी जानकारी प्रदान करता है। इस शब्द में 'दीवान' यहाँ एक निश्चित क्रम में शब्दों का एक समूह है। 'लुग़ट' का अर्थ है 'शब्द'। 'तुर्क' का अर्थ है 'तुर्की' और यह उस समय की तुर्की भाषा को संदर्भित करता है। 'दीवान लुग़ट अल-तुर्क' का शाब्दिक अनुवाद 'तुर्की शब्दों का कोश' है।[4]

'दीवान लुग़ट अल-तुर्क' में दो भाग हैं- भूमिका और शब्दकोश। भूमिका में रचना के निर्माण का उद्देश्य, उस समय तुर्कों द्वारा प्रयुक्त लेखन, संज्ञा का निर्माण, संज्ञा तथा क्रिया का योग, शब्दकोश के निर्माण की विधि, तुर्क जातियों का वितरण, उनकी भूमि, तुर्की भाषा की विशेषताएँ और बोलियों में अंतरों का विवरण जैसी जानकारियाँ दी गयी हैं । कोश में प्रत्येक शब्द के अर्थ (बहुअर्थक शब्द, समानार्थी शब्द, विलोम शब्द, पुरातन शब्द) का विस्तृत रूप से विश्लेषण किया गया है, कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति भी दी गई है। [3]

ध्वनियों का विश्लेषण काफी उत्तम है. स्वर और व्यंजन, अल्पप्राण और महाप्राण को प्रतिष्ठित किया जाता है, भाषा में ध्वन्यात्मक परिघटनाएँ और भाषा नियम के बारे में लिखा गया है। कृति की भूमिका में काशगारी ने ऐसा लिखा है –'मैंने इस पुस्तक को एक विशेष वर्णमाला क्रम में विसुत्र, सज (छंदबद्ध गद्य), कहावतों, गीतों और रजज़ (पद्य छंद का एक प्रकार) और गद्य नामक साहित्यिक विधाओं से सजाया है। मैंने सखत स्थानों को नरम कर दिया, कठिन और अंधेरे स्थानों को रोशन कर दिया। मैंने इस कार्य में शब्दों को उनके स्थान पर रखने के लिए, सही शब्दों को आसानी से ढूंढने के लिए कई वर्षों तक संघर्ष किया। अंततः, मैंने मौके पर ही आवश्यक शब्द ढूंढना आसान बना दिया।

कृति के शब्दकोश आठ खंडों में विभाजित हैं, जिनमें से प्रत्येक को 'किताब' कहा जाता है। पदविज्ञान खंड में, शब्दों को अरबी भाषाविज्ञान की परंपराओं के अनुसार तीन भागों में विभाजित किया गया है- क्रिया, संज्ञा और संयोजन। इसमें शब्द निर्माण एवं संयोजन की विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है।

'दीवान लुग़ट अल-तुर्क' के शब्दावली भाग में ७५०० शब्दों की व्याख्या की गई है। मुहम्मद अल-काशगारी ने तुर्की भाषाओं के निर्माण का वर्णन तुलनात्मक पद्धति में किया और भाषा विज्ञान में तुलनात्मक-ऐतिहासिक पद्धति के संस्थापकों में से एक बन गए।

उज़्बेक शब्दावली का एक और ज्वलंत उदाहरण 'मुक़द्दिमत अल-अदब' है। ज़मखशरी के काम 'मुक़द्दिमत अल-अदब' में पाँच भाग हैं: संज्ञा, क्रिया, संयोजन, संज्ञा परिवर्तन और क्रिया परिवर्तन। कार्य का संज्ञा और क्रिया भाग एक शब्दकोश के रूप में संकलित है और ये अन्य भागों की तुलना में बड़ा है। हालाँकि यह काम अरबी में लिखा गया है, यह उज़्बेक शब्दावली के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है [1]

'मुक़द्दिमत अल-अदब'(साहित्य परिचय) में अरबी, फ़ारसी, तुर्की और मुग़ल भाषाओं के शब्द संग्रह है। इसे 'लुग़टी खरेज़मशाही' भी कहा जाता है। 11-12 सदियों में उज़्बेक भाषा के शब्दकोश की स्थिति का अध्ययन करने में 'मुक़द्दिमत अल-अदब' का महत्व है। इस रचना के बारे में उज़बेक लेखक सदरिद्दीन आयनी ने सन् 1920 को 'मजदूरों की आवाज' नामक समाचार पत्र में लिखा था –'उज़्बेक भाषा के लिए यह रचना पूरी दुनिया के खजाने के बराबर है'। कृति का अध्ययन एन.एन. पोप, व्लोड्ज़िमिएर्ज़ ज़ाज्ज़कोव्स्की, वासिली व्लादिमीरोविच बार्थोल्ड, एफ.अब्दुल्लाएव, एम.हकीमजोनोव जैसे वैज्ञानिकों ने किया था। विशेष रूप से, जर्मन वैज्ञानिक जे.जी.वेटश्टायन ने इस कृति का एक तुलनात्मक पाठ संकलित किया और इसे सन् 1850 में लाइप्ज़िश में प्रकाशित किया।'[1] एफ.अब्दुल्लाएव के 'ज़मखशारी का 'मुक़द्दिमत अल-अदब' और इसकी भाषा' लेख में शब्दकोश की सामान्य विशेषताओं के साथ-साथ तुर्की शब्दों का अवलोकन किया गया है।

'बदायी अल-लुग़ट' अलीशेर नवाई की रचनाओं से बना सबसे

पुराना शब्दकोश है। इस शब्दकोश के लेखक ताला अल-हरावी के बारे में लगभग कोई जानकारी नहीं है। इस शब्दकोश पांडुलिपि से परिचित कोई भी व्यक्ति आश्वस्त है कि तोले हरवी एक शिक्षित व्यक्ति थे। फ़ारसी, तुर्की और अरबी भाषाओं के साथ-साथ साहित्यिक विद्या में भी उनकी महारत इस बात से पता चलती है कि शब्दकोश की भूमिका सज छंद में लिखी गई है। [1]

हरवी ने 1500 के दशक में हुसैन बायकारा के निर्देश पर यह शब्दकोश संकलित किया था। इसकी जानकारी लेखक कृति की भूमिका में देते हैं। वर्तमान में, शब्दकोश की दो प्रतियां उपलब्ध हैं, एक ईरान में सिपाहसलार पुस्तकालय में रखी गई है, और दूसरी सेंट पीटर्सबर्ग की सार्वजनिक पुस्तकालय में रखी गई है। सेंट पीटर्सबर्ग में शब्दकोश की पांडुलिपि की प्रतिलिपि 1750 के दशक में लिखी गई थी, और 1960 में, ए.के. बोरोवकोव द्वारा प्रकाशित किया गया। 'बदायी अल- लुग़ट' में तीन भाग शामिल हैं, जिनमें भूमिका, शब्दकोश का पाठ और ज़ैल यानी परिशिष्ट शामिल हैं।

भूमिका पत्रात्मक शैली का एक उदाहरण है। यह छंदबद्ध गद्य में लिखा गया है। बीच-बीच में काव्यात्मक अंश भी दिया जाता है। भूमिका से ज्ञात होता है कि लेखक ने नवाई की कविताओं को समझने के लिए कुछ कठिन पुराने उज़्बेक शब्दों का एक संक्षिप्त शब्दकोश संकलित करने का फैसला करता है।

'बदायी अल-लुग़ट' एक शब्दकोश है जिसमें नवाई की रचनाओं में तुर्की और मुग़ल शब्द शामिल हैं, और फिर बहुत कम मात्रा में अरबी शब्द। शब्दकोश में शब्दों के अर्थ फ़ारसी में व्याख्या किये या समझाये जाते हैं, इसलिए 'बदायी अल-लुग़ट' को भी द्विभाषी शब्दकोशों के प्रकार में शामिल किया गया है। उस समय तक, यानी 15 वीं शताब्दी तक कई अरबी -फ़ारसी, फ़ारसी-तुर्की और तुर्की-अरबी शब्दकोश संकलित किये गये, और बड़े व्याख्यात्मक शब्दकोशों के साथ-साथ अनुवाद शब्दकोशों को संकलित करने की एक समृद्ध शब्दावली परंपरा थी। शब्दकोश में कुल 854 शब्द शामिल किये गये, जिन्हें 24 अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक शब्द, इन अर्थों का समर्थन करने के लिए उदाहरणों के साथ, चित्रों के साथ, एक स्वतंत्र शब्दकोश बनाते हैं और पांडुलिपि में इसके मुख्य शब्द के रूप में, इसे शब्दकोश पाठ से अलग किया जाता है और लाल स्याही से लिखा जाता है इसके ऊपर रेखा खींची जाती है[3]।

'बदायी अल-लुग़ट' की संरचना में सबसे महत्वपूर्ण शर्तों में से एक ऐसे उदाहरण का प्रावधान है जो शब्दों के अर्थ की पुष्टि करते हैं। हरवी ने शब्दकोश के भूमिका में इस शैली को उल्लेख किया है। इन उदाहरणों को 'शाहिद' कहा जाता है। वे मुख्य रूप से 'हायरत उल-अबरार', 'फरहाद और शिरीन', 'लैली और मजनूं', 'सब्बई सयोर', 'सद्दी इस्कंदरी', 'लिसन् उत टायर' महाकाव्य, और 'महबूब उल-कुलुब', 'माजोलिस अन-नफ़ाइस' रचनाओं से लिये गए हैं। यह शब्दकोश बाद के शब्दकोशों के लिए एक उत्कृष्ट स्रोत के रूप में कार्य करता है।

नवाई की रचनाओं के आधार पर बना एक अन्य शब्दकोश 'अबुशका' है। यह शब्दकोश 450 वर्ष पहले संकलित किया गया था और इसे उज़्बेक भाषा में बनाया गया पहला व्याख्यात्मक शब्दकोश कहा जा सकता है। वर्तमान में इस शब्दकोश की दस से अधिक प्रतियाँ हैं, और उनमें से सबसे पुरानी प्रतियाँ विदेशी खजाने में रखी गई हैं। शब्दकोश की वियना प्रति से एक फोटो उद्धरण लिया गया था, जिसे 1442 में एक पुस्तक का रूप दिया गया था। तेहरान प्रति से एक उद्धरण भी प्राप्त किया गया था। जैसा कि फोटोकॉपी से देखा जा सकता है कि पांडुलिपि पूर्ण और अच्छी तरह से संरक्षित है [3]।

शब्दकोश बड़े अक्षरों में 'नस्तालीक' लिपि से लिखा गया है और यह ४०२ पृष्ठों का है। प्रत्येक पृष्ठ पर चार से आठ शब्दों को उदाहरण सहित समझाया गया है। शब्दकोश की यह प्रति तेहरान की 'मालेक' पुस्तकालय में 'फ़रहंगी देवोनी अलीशेर नवाई' पांडुलिपि में रखी गई है। अब तक इस शब्दकोश का लेखक अज्ञात था। वियना और तेहरान प्रतियों की तुलना करने पर पता चला कि इसके लेखक तुर्की विद्वान मुस्तफ़ा बिन सादिक थे। लेकिन इसके संकलन का वर्ष अभी भी मालूम नहीं है। वियना में शब्दकोश की सबसे पुरानी ज्ञात प्रति 1442 की है। शब्दकोश में शब्द का अर्थ मुख्यतः दो अलग-अलग प्रकार से प्रकट होता है। पहली विधि में कोशकार एक शब्द का अर्थ एक शब्द में व्यक्त करता है। दूसरी विधि में व्याख्या के माध्यम से शब्द का अर्थ प्रकट किया जाता है।

अलीशेर नवाई के कार्यों के आधार पर संकलित शब्दकोशों में 'अबुशका' शाब्दिक सामग्री के कवरेज के मामले में 'बदायी अल-लुग़ट' से अधिक समृद्ध है, और पाठकों की एक विस्तृत श्रृंखला के लिए प्रयोग में आसानी के कारण, इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ व्यापक रूप से वितरित की जाती हैं। इसने शब्दकोश को वैज्ञानिक उपयोग में लाने में एक कारक के रूप में कार्य किया। परिणामस्वरूप, 'अबुशका' एक ऐसी पुस्तक बन गई है जिसका उल्लेख नवोई विद्वान, तुर्की विज्ञानी और उज़्बेक शास्त्रीय साहित्य के विशेषज्ञ अक्सर करते हैं। इस प्रकार, 'अबुशका' शब्दकोश, अन्य शब्दकोशों की तरह, नवोई के कार्यों के आधार पर बनाए गए उत्तम कार्यों में से एक है। नवोई के समय से लेकर वर्तमान तक नवोई की रचनात्मकता का अध्ययन करने के लिए अबुश्खा शब्दकोश एक मूल्यवान संसाधन है।

18 वीं शताब्दी में पुरानी उज़्बेक-फ़ारसी शब्दावली परंपरा का विकास मिर्ज़ा मेहदी खान के नाम से जुड़ा है, लेकिन उनके जीवन के बारे में बहुत कम जानकारी है। मिर्ज़ा मेहदी खान ने 'संगलाख़') शब्दकोश का

संकलन किया। इस शब्दकोश में पुरानी उज़्बेक भाषा के 8000 शब्द हैं। इस विशाल कार्य में दो भाग हैं- 1. व्याकरणिक भाग। 2. शब्दकोश।

कार्य के व्याकरणिक भाग को 'माबानी अल-लुग़ट' कहा जाता है। शब्दावली भाग को 'संगलाख़' कहा जाता है। अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में 'संगलाख़'की अतुलनीय रूप से बड़ी मात्रा ध्यान देने योग्य है। यह शब्दकोश, जिसमें ६१८१ शब्दकोश लेख शामिल हैं, सभी शब्दों और शब्द रूपों को एक साथ जोड़ने पर भी 'बदायी अल-लुग़ट' और 'अबुशका' से कई गुना अधिक है। मिर्ज़ा मेहदी खान तुर्क लोगों के 'अफशार' कबीले से थे, और वह ईरान के शाह, नादिर शाह के सचिव थे [3]।

शब्दकोश 1751-1760 में लिखा गया और पूरा हुआ। मिर्ज़ा मेहदी खान ने पुस्तक को एक सामान्य नाम दिया - 'संगलाख़' । इसके बारे में लेखक स्वयं शब्दकोश के भूमिका में लिखते हैं कि उज़्बेक भाषा और नवाई शब्दकोश और अभिव्यक्तियों की गुणवत्ता और शब्दों की कठिनाई के कारण उन्होंने पुस्तक का नाम 'संगलाख़' रखा है। शब्दकोश बनाने का उद्देश्य नवाई के कार्यों में पाए जाने वाले कठिन शब्दों के अर्थ को फ़ारसी भाषी लोगों के सामने प्रकट करना था, इसीलिए उन्होंने शब्दकोश को 'संगलाख़' कहा, यानी पथरीली ज़मीन। अब तक, शब्दकोश की तीन प्रतियों की पहचान की जा चुकी है, और उन्हें इंग्लैंड के पांडुलिपि खजाने के कोष में रखा गया है। 'संगलाख़' शब्दकोश को 1960 में प्रसिद्ध अंग्रेजी वैज्ञानिक जेरार्ड क्लॉसन् द्वारा विभिन्न टिप्पणियों और स्पष्टीकरणों के साथ लंडन में प्रकाशित किया गया था।

कोशकार मुख्य रूप से शब्दों के अर्थ प्रकट करने के लिए अलीशेर नवाई की काव्य कृतियों का उल्लेख करते हैं। कुछ मामलों में बाबर, हुसैन बायकरा और लुत्फी जैसे कवियों के काम के उदाहरण भी दिए गए हैं। इस शब्दकोश का अन्य शास्त्रीय शब्दकोशों से अंतर यह है कि 'संगलाख़' में पहली बार गद्य रचनाओं के उदाहरण शामिल हैं।

अलीशेर नवाई की रचनाओं में पाए जाने वाले कई अनोखे शब्दों के अर्थ शब्दकोश में सामने आए हैं। ऐसे शब्द अन्य शब्दकोशों में नहीं मिलते। शब्दकोश की ध्वन्यात्मक संरचना का वर्णन करते हुए, मेहदी खान ने 18 वीं शताब्दी के एस्टाराबाद उज़बेक लोगों की भाषा के बारे में अनोखे जानकारी लिखी है। इन आंकड़ों के अनुसार, उस समय की भाषा में 9 स्वर (जिनमें से ६ ध्वन्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण हैं) और 28 व्यंजन थे।

ज़हीरुद्दीन मुहम्मद बाबर के 'बाबरनामा'(तुज़्क-ए-बाबरी) में, वक्तृत्व-कला, स्थलाकृतिक टिप्पणियों के अलावा, कोशविज्ञान से संबंधित पहलू भी ध्यान देने योग्य हैं। पहला, हालांकि व्यवस्थित नहीं है, यह कई शब्दों की व्युत्पत्ति में मूल्यवान अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। दूसरा, बाबर भारत की घटनाओं पर विचार करते हुए भारत की वनस्पतियों, जीवों, प्रकृति और रीति-रिवाजों के बारे में विस्तार से बताता है। कुछ स्थानों पर नामकरण की दृष्टि से अन्य भाषाओं से तुलना के मामले भी सामने आते हैं।

बाबर ने नामोंको विषय के अनुसार -जानवरों, पक्षियों, पानी और तटीय पक्षियों, जलीय जानवरों, पौधों फूलों, मौसमों, दिनों के नाम, आदि। इसके अलावा 1993 में प्रोफ़.ए.उमारोव द्वारा इंडियाना विश्वविद्यालय से लाई गई पांडुलिपियों की फोटोकॉपी में 'मुबैयिन' कृति की एक पांडुलिपि की प्रति भी है, और कृति के अंत में एक शब्दावली भी दी गई है। हम नहीं जानते हैं कि यह शब्दकोश बाबर का है या बाद में बनाया गया था।

उज़्बेक शब्दावली के विकास की तीसरी अवधि 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में शुरू हुई और कई शब्दकोश सामने आए। इस अवधि के दौरान, उज़्बेक शब्दावली की परंपराएँ जारी रहीं और विकसित हुईं। 19 वीं सदी के अंत और 20वीं सदी की पहली तिमाही में, विभिन्न कारणों और जरूरतों के कारण तुर्केस्तान में द्विभाषी शब्दकोश निर्माण विकसित हुआ, दर्जनों रूसी-उज़्बेक, उज़्बेक-रूसी शब्दकोश और वार्तालाप कोश संकलित और प्रकाशित किये गये हैं।

इसकखान इब्रत ने 'लुग़टी सिट्टा अल-सिना'(छः भाषाओं का शब्दकोश) नामक एक शब्दकोश बनाया, जिसमें छः भाषाओं के शब्द शामिल हैं- अरबी, फारसी, हिंदी, तुर्की, उज़्बेक और रूसी। इस शब्दकोश में 1150 शब्द शामिल हैं और इसमें 56 पृष्ठ हैं। [2] कृति दो भागों में विभाजित है। पहले भाग को वर्णमाला क्रम में व्यवस्थित किया गया है, और प्रत्येक अक्षर को छोटे खण्डों में विभाजित किया गया है। इस भाग में क्रियाओं के साधारण रूपों और भविष्य काल रूपों का पहले फ़ारसी, फिर अरबी, तुर्की, उज़्बेक, हिंदी और रूसी में अनुवाद दिया जाता है। रचना के दूसरे भाग में 37 अध्याय हैं और इसमें क्रिया के अन्य रूप, संज्ञा, व्यक्तिगत सर्वनाम, दिनों, महीनों, जानवरों और पक्षियों, भोजन और अन्य वस्तुओं के नाम शामिल हैं।

20 वीं सदी के 40 के दशक से भाषाविज्ञान की एक अलग शाखा के रूप में कोशविज्ञान के गठन के परिणामस्वरूप, इसके विभिन्न प्रकार सामने आए हैं। सामान्य और निजी व्याख्यात्मक शब्दकोश सामने आए। नए प्रकार के शब्दकोश बनाए गए: विश्वकोश, वर्तनी, ऑर्थोपिक-मॉर्फेम, आवृत्ति, व्युत्क्रम, वाक्यांशवैज्ञानिक, द्वंद्वात्मक, व्युत्पत्ति संबंधी शब्दकोश। इस अवधि के दौरान विभिन्न उद्देश्यों के लिए कई शब्दावली, शैक्षिक और वर्तनी शब्दकोश, द्विभाषी और त्रिभाषी शब्दकोश बनाए गए। रूसी-उज़्बेक और उज़्बेक-रूसी शब्दकोशों के साथ-साथ उज़्बेक भाषा की अन्य यूरोपीय और विदेशी पूर्वी भाषाओं के साथ तुलना करने वाले शब्दकोशों का इसमें एक विशेष स्थान है। उज्बेकिस्तान में अनुभवी अनुवादकों के सहयोग से उज़्बेक विज्ञान अकादमी के भाषा और साहित्य

संस्थान के कोशकारों द्वारा निर्मित ५ खंड के 'रूसी-उज़्बेक शब्दकोश' (78 हजार शब्द) का प्रकाशन उज़्बेक कोशलेखन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। ये शब्दकोश, विशेष रूप से 1959 में प्रकाशित 'उज़्बेक-रूसी शब्दकोश', 'उज़्बेक भाषा का पहला व्याख्यात्मक शब्दकोश' बनाने का आधार बने और इसका वैज्ञानिक आधार तैयार किया।

20 वीं सदी के 70 के दशक में उज़्बेक विश्वकोश का निर्माण उज़्बेक शब्दावली की एक बड़ी उपलब्धि थी। यह शब्दकोश मूल्यवान है क्योंकि यह उज़्बेक कोशलेखन के इतिहास में पहला विश्वकोश था। उज़्बेक भाषा के खंड का व्याख्यात्मक शब्दकोश, जिसका कोशलेखन के क्षेत्र में बहुत महत्व है। इस शब्दकोश में 60000 शब्द शामिल हैं। यह शब्दकोश 1981 में प्रकाशित हुआ था।

स्वतंत्रता की अवधि में उज़्बेक शब्दावली अग्रणी क्षेत्रों में से एक बनी हुई है। आज़ादी के बाद, उज़्बेकिस्तान में शब्दावली मुख्य रूप से तीन प्रमुख क्षेत्रों में विकसित हो रही है। 1. अनुवाद शब्दकोश, 2. विश्वकोश और 3. व्याख्यात्मक शब्दकोश। अनुवाद शब्दकोश यानि द्विभाषी या बहुभाषी शब्दकोश हैं। अनुवाद शब्दकोशों का उद्भव समाज की आवश्यकता का परिणाम है। इन शब्दकोशों में अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन और कई पूर्वी भाषाएँ जैसी अरबी, तुर्की, फ़ारसी, चीनी, जापानी, उर्दू और हिंदी के द्विभाषी शब्दकोश प्रकाशित हुए। उदाहरण के लिए, श्री ए.अहमदोव का "हिंदी-उज़्बेक शब्दकोश" जिसमें 3000 शब्द हैं और सन 2002 में प्रकाशित 'हिंदी-उज़्बेक लघु शब्दकोश' में लगभग 5000 शब्द शामिल हैं। ए.एन. शामातोव द्वारा 2014 में प्रकाशित किया गया 'दखिनी का ऐतिहासिक शब्दकोश(15-18 शताब्दी की दक्षिणी हिन्दुस्तानी)' तथा ए.एन. शामातोव और बी.आर. राख्मातोव द्वारा संकलित 'उज़बेक -हिन्दी शब्दकोश' हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक भोलानाथ तिवारी ने भी उज़्बेक कोशलेखन के विकास में योगदान दिया था। सन 1970 में उन्होंने उज़्बेकिस्तान के सुरखंदर्या क्षेत्र में बोली जाने वाली हिंदी भाषा की बोली का अध्ययन किया और 'ताज़ुज़बेकी-हिंदी कोश' प्रकाशित किया। 2. विश्वकोशों में से १२ खंडोंवाला 'उज़्बेकिस्तान का राष्ट्रीय विश्वकोश' उल्लेखनीय है। विश्वकोश के सभी खंड २०००-२००६ में प्रकाशित हुए थे। 3. व्याख्यात्मक शब्दकोशों में "उज़बेक भाषा का व्याख्यात्मक शब्दकोश" ध्यान देने योग्य है। इस शब्दकोश में ५ खंड हैं और यह २००६-2008 में प्रकाशित हुआ था।

जैसा कि इन आंकड़ों से देखा जा सकता है कि उज़्बेक कोश निर्माण का इतिहास एक लंबा इतिहास और एक समृद्ध परंपरा है। इन अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 11-13 वीं सदियों के शब्दकोशों की सामान्य विशेषताएँ ये हैं: इन शब्दकोशों में अरबी कोश कला की उपलब्धियों का प्रभावी ढंग से उपयोग किया गया है। उनमें उज़्बेक कोशविज्ञान के साथ-साथ ध्वन्यात्मकता, शब्द विज्ञान और व्याकरण पर प्रारंभिक वैज्ञानिक विचार किये गये हैं। इन शब्दकोशों में एक विश्वकोश कि तरह भाषा विज्ञान, इतिहास, लोकगीत, स्थलाकृति, भूगोल, खगोल विज्ञान जैसे क्षेत्रों पर भी बहुमूल्य जानकारी प्रदान कि गई हैं। पहली बार तुलनात्मक ऐतिहासिक अनुसंधान का प्रयोग किया गया। कई तुर्की परिवार कि भाषाओं की तुलना एक दूसरे से की जाती है। जब हम उज़्बेक कोश निर्माण की दूसरी अवधि के शब्दकोशों को देखते हैं, तो हमें यह देखने को मिलता है कि उनमें कुछ हद तक सुधार हुआ है और सामग्री की सीमा का विस्तार हुआ है। इस स्थिति का अर्थ है कि शब्दकोशों के लेखक परिपक्व वैज्ञानिक हैं और उज़्बेक शब्दावली एक स्वतंत्र, प्रगतिशील क्षेत्र के रूप में उभरी है। 15वीं शताब्दी के उज़्बेक शब्दकोश विज्ञान में शब्दों की व्याख्या, ग्रंथों की समीक्षा, अलीशेर नवोई के कार्यों के उदाहरण पर व्युत्पत्ति संबंधी टिप्पणियाँ देख सकते हैं। उज़्बेक भाषा की कोश निर्माण के विकास का इतिहास तेरह शताब्दियों का है, जिसके दौरान महत्वपूर्ण मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तन हुए हैं। उज़्बेक शब्दावली अपने विकास के कई चरणों से गुज़री है। हालाँकि, आज उज़्बेक भाषा के आधुनिक शब्दकोशों को संकलित करना आवश्यक बन गया है। इसके अलावा, मुख्य कार्य उज़्बेक भाषा की शैक्षिक शब्दावली को विकसित करना और विज्ञान के क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दकोशों के आधुनिक और इलेक्ट्रॉनिक रूप बनाना आवश्यक है।

संदर्भ सूची

1. Аширбоев С. Фитрат Замахшарийнинг "Муқаддимат ул-адаб" асари ҳақида. 1996.
2. Исоқҳон Тўра Ибрат Танланган асарлар. Тошкент Маънавият. 2005.
3. Мадвалиев А. Ўзбек тексикографияси тарихидан. Ўзбек тили ва адабиёти. 2008. 3-сон.
4. Муталлибов С. Маҳмуд Қошғарий. Сўзбоши. Девону луғотит турк. Тошкент. 1963.

*****

औपनिवेशिक भारत में अकाल

–डॉ.ज्योति टम्टा
असिस्टेंट प्रोफेसर ,
इतिहास विभाग ,
एमबीजीपीजी कॉलेज हल्द्वानी ,नैनीताल

शोध सार

भारत के इतिहास में अकालों को अक्सर घटाने वाली घटना के रूप में माना जाता है यद्यपि 1760 से 1943 के बीच भारत में नियमित रूप से भयावहक अकालों का सामना करना पडा, जिसमें लगभग 85 मिलियन भारतीय क्रूरतापूर्वक मौत के शिकार बने। अकाल शब्द लैटिन शब्द फेम्स से लिया गया है जिसका अर्थ है भूख या भोजन का समान्यतः से अत्यधिक अभावो की स्थिति जिसके परिणामस्वरूप भुखमरी या भूख से पैदा बीमारियो से मृत्युदर अत्यधिक होती है। टिम डायसन ने भी अकाल को भोजन की व्यापक और गम्भीर कमी के रूप में परिभाषित किया है। भारत में अकालों का लम्बा इतिहास रहा है। भारत में ब्रिटिश राज के समय 1765 – 1947 तक 12 बड़े अकाल पडे जिनमें ला खों लोगों की मृत्यु हुई। माइक डेविड ने इसे लेट विक्टोरियन होलोकॉस्ट्स कहा है। ब्रिटिश सरकार ने लोगो का भीषण आर्थिक शोषण किया, जिससे भारतीय आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक गरीब हो गये थे और ऐसी स्थिति में अकाल पडने से भारतीयो की स्थिति अत्यधिक गम्भीर हो गई। भारत में अकाल के अनेक कारण उत्तरदायी है, जैसे– अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़–तूफान, बिमारियों के कारण फसलों का बर्बाद होना, मानसून की अनिश्चितता, कृषि का वाणिज्यिकरण, कृषि का पिछडापन, सिंचाई का अभाव आदि। इन कारणों से सूखा पड़ा और फसलें खराब हो गई। स्वतंत्रता के पश्चात यद्यपि भारत में कोई बढ़ा अकाल नही पड़ा। परन्तु भारत के बहुत से क्षेत्रों में वर्षा की कमी और फसलों की खराबी से अकाल जैसी स्थिति पैदा हो गई थी। प्रस्तुत शोध आलेख में औपनिवेशिक शासन की अकाल नीतियों पर प्रकाश डाला गया है।

कुंजी शब्द – अकाल, भुखमरी, औपनिवेशिक, आर्थिक, नीतियॉ।

प्राचीन काल से ही भारतीय किसानों को अकाल या सूखे की स्थिति का सामना करना पड़ा है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है कि एक राजा को दुर्भिक्ष के समय भू– राजस्व वसूल नही करना चाहिए। चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में मगध में 12 वर्षो तक अकाल पड़ा था। जैन ग्रंथो से ज्ञात होता है कि मगध में अकाल के कारण जैन मुनि भद्रबाहु अपने 12 हजार शिष्यों के साथ श्रवण बेलगोला चले गये थे। कल्हण की राजतरंगणी में भी कश्मीर में पड़े अकाल की जानकारी मिलती है। फारसी इतिहासकारों ने मध्यकालीन युग के विभिन्न भारतीय प्रदेशो में पड़ने वाले अकालों का वर्णन किया है। मध्यकाल में अलाउद्दीन खिलजी 1296–1316 के शासन के दौरान एक भयानक अकाल का उल्लेख मिलता है। उस दौरान सुल्तान और अमीरों ने आम जनता को राहत देने का सम्भव प्रयास किया। इतिहासकार बरनी के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी ने दिल्ली में अनाज के भंडार स्थापित कर एक आर्थिक नीति आरम्भ की। मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल के दौरान बारिश न होने के कारण दोआब के कई क्षेत्रों में अकाल पड़ा। अकबर के शासनकाल के दौरान 1574–75 ई. में गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा। अकाल पीडितों में संक्रामक रोग भी फैल गया और अकबर ने उनकी सहायता की व्यवस्था की थी। 1597 में कश्मीर में भयंकर अकाल पड़ा तथा अकाल पीडितों की सहायता के लिये श्रीनगर में 80,000 व्यक्तियों के मुफ्त भोजन की व्यवस्था की गई। अकाल पीडितों को रोजगार देने के लिए एक किले का निर्माण भी कराया गया। शाहजहाँ के शासनकाल में गुजरात व दक्षिण भारत में अकाल पड़ा था। अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार यह अकाल इतना भयंकर था कि लोग कुत्ते का गोश्त भी खाने लगे तथा लाशों से सड़कों का आवगमन भी रूक गया। शाहजहाँ ने स्वयं दक्षिण भारत जाकर 70 लाख रूपये का लगान माफ किया तथा अकाल पीड़ितों में अनाज बॅटवाया। 1649–60 ई0 तथा 1663 ई0 में गुजरात और 1670 ई0 में बनारस व राज. महल के क्षेत्रों में भी अकाल पड़ा। इतिहासकार इरफान हबीब के अनुसार यह अकाल इतना भयानक था कि अकाल पीड़ितों को

अपनी तक बीबियॉ बेचनी पड़ी। सन् 1672,1691,1694, व 1696 ई0 में गुजरात में अकाल पड़े। औरंगजेब के दक्षिण अभियान के समय दक्षिण भारत में अनेक अकाल पड़े।

मनूची ने लिखा है कि वहां पर लगातार युद्ध के कारण खेती उजड गई थी तथा औरंगजेब ने अकाल पीड़ितों के लिए भोजन व निवास की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त उन्हें लगान में छूट तथा फसलों के नष्ट होने पर किसानों को मुआवजा दिया गया। दिल्ली एवं रूहेल खण्ड के क्षेत्रों में सन् 1783 व 1784 ई0 में 600 गाँव अकाल से प्रभावित हुए तथा इन गाँवो के अधिकांश निवासी गाँव छोडकर चले गए। भारत में अंग्रेजो के शासन से पहले भी विभिन्न क्षेंत्र अकाल एवं सूखे से प्रभावित होते रहे थे, लेकिन ब्रिटिश शासन में सूखे व अकालों की संख्या में वृद्धि हुई जिससे किसानों एवं जनता को पहले की अपेक्षा अधिक कष्ट पहुँचा।

अकाल के कारण – भारत में अकालों के अनेक कारण उत्तरदायी थे जैसे–

प्राकृतिक कारण –अकालों के प्रमुख कारण प्राकृतिक ही होते है। प्राकृतिक कारणों में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़–तूफान, ओलें, बिमारियों के कारण फसलों का बर्बाद होना, मानसून की अनिश्चितता और टिड्डियों के हमले आदि प्रमुख कारण है।

आर्थिक कारण – भारत में अकाल पड़ने का दूसरा प्रमुख कारण आर्थिक है। आर्थिक कारणों में निम्नलिखित प्रमुख है। कृषि का वाणिज्यिकरण, कृषि का पिछडापन, सिंचाई के साधनों का अभाव, यातायात के साधनों का अभाव, किसानों का त्रणग्रस्ता, कृषकों पर भारी कर, खाद्यानों के निर्यात में बढोत्तरी आदि।

राजनीतिक कारण – ब्रिटिश सरकार का मूल्य उद्देश्य भारत का अधिक से अधिक आर्थिक शोषण करना था। इस कारण से अंग्रेजो ने अकालों से जनता को बचाने के लिए कोई ठोस कार्य नही किया। उदाहरण के तौर पर ना तो खाद्य संग्रहण नीति का पालन किया और ना ही राशनिंग व्यवस्था को लागू किया। ब्रिटिश सरकार का मानना था कि भारत की जनसंख्या अधिक होने के कारण भारत में अकाल अधिक पड़ते है।

भारतीयों की गरीबी– ब्रिटिश आर्थिक शोषण के कारण भारतीयों की आर्थिक स्थिति सोचनीय थी। घरेलू उद्योग धन्धों का पतन, करो की ऊंची दरे, भारत से धन निष्कासन तथा भारतीय किसानों का जंमीदारो व सरकार द्वारा शोषण किए जाने से भारतीय निरंतर गरीब होते जा रहे थे। जिस कारण अकाल पड़ने पर वह बुरी तरह से प्रभावित हुऐ।

इन कारणों के अतिरिक्त बहुत से अन्य कारण है जिनसें सूखा पड़ा और फसलें खराब हो गई। औपनिवेशिक काल के अकालों को समक्षने के लिये दो प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

1–1770 – 1857 तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन प्रमुख अकाल।

2–1860 – 1947 तक ब्रिटिश शासन के अधीन प्रमुख अकाल ।

1770 – 1857 तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन प्रमुख अकाल

अकाल का वर्ष	स्थान	विषय
1769–70 ई0	बंगाल	इस अकाल में 1/3 जनसंख्या नष्ट हो गई तथा अंग्रेजो द्वारा कोई विशेष कदम नही उठाया गया।
1781–82 ई0	मद्रास	सूखे से बडी संख्या में मनुष्य एवं प्शुओं की मृत्यु।
1783 ई0	उत्तरी भारत	समस्त उत्तरी भारत प्रभावित
1790–92 ई0	बम्बई, मद्रास , उडीसा एवं अन्य प्रदेश	कम्पनी ने अकाल प्रभावित क्षेत्रों के लिये कार्य प्रारम्भ किये।
1799,1801,ई0 1804–05 ई0	बम्बई, मध्य–प्रदेश, राजस्थान, कर्नाटक	अकाल के दौरान गम्भीर स्थिति।
1802 ई0	उत्तर–प्रदेश	कम्पनी द्वारा कृषकों को करों की छूट तथा ऋण दिया गया।
1812 ई0	बम्बई, गुजरात एवं राजस्थान	भयंकर अकाल की स्थिति, गुजरात में जनता प्लेग से भी प्रभावित।
1813,1822, 1832 ई0	उत्तर–प्रदेश	अनावृष्टि के कारण फसल हानि, यातायात की असुविधा के कारण प्रभावित क्षेत्र में पर्याप्त अन्न नही पहुँचाया जा सका।

1824–25 ई0	मद्रास, बम्बई, व दक्षिण	सरकार ने राहत कार्य हेतु एक समिति गठित की।
1833–1834 ई0	गंटूर	दक्षिणी क्षेत्रों में अकाल के साथ प्लेग का प्रकोप।
1837 ई0	उत्तर प्रदेश	यातायात की असुविधा से पीडित क्षेत्रों में अन्न नही पहुँचाया जा सका।
1853–55 ई0	बम्बई,मद्रास प्रेसीडेंसी व राजप. ूताना	अधिक संख्या में मनुष्यों एवं पशुओं की मृत्यु।

1860 – 1947 तक ब्रिटिश भासन के अधीन प्रमुख अकाल

अकाल का वर्ष	स्थान	विशेश
1860–61 ई0	पंजाब, कच्छ, राजपूताना, उत्तर प्रदेश (दिल्ली से आगरा)	इस अकाल में दिल्ली एवं आगरा में मरने वालो की संख्या अधिक थी। प्रथम बार दरिद्रशालाएं बनाई गई। कर्नल बेयर्ड स्मिथ को अकाल कारणो की जांच हेतु नियुक्त किया गया।
1862 ई0	मद्रास प्रेसीडेंसी	कुछ प्रदेशो में जनता को अकाल का सामना करना पड़ा। सरकार पर्याप्त राहत नही दे सकी।
1864–65 ई0	बिहार, उडीसा, उत्तरी मद्रास, हैदराबाद एवं मैसूर	इस अकाल में उड़ीसा की 1/3 आबादी खत्म हो गई किन्तु इससे निपटने के लिए पर्याप्त प्रयत्न नही किए गए ,जिसकी आलोचना स्वयं गर्वनर जनरल द्वारा की गई। मद्रास में सरकार द्वारा 10 लाख रूपये की राहत दी गई, फिर भी मृतकों की संख्या 4.5 लाख तक पहुॅच गई।
1867–70 ई0	उत्तर–प्रदेश, गुजरात एवं मध्य–प्रदेश	इस अकाल में लगभग 1 लाख 6 हजार 5 सौ मनुष्यो की मृत्यु हो गई।
1876–78 ई0	मध्य प्रांत, पंजाब, राजस्थान, बम्बई प्रेसीडेंसी, बंगाल	इन प्रदेशों में 1876–1878 ई0 के बीच अकाल पडा, लगभग 2 लाख 57 हजार वर्ग मील का क्षेत्र इससे प्रभावित हुआ। इस अकाल के समय सरकार को यह स्वीकारना पड़ा कि जीवन की रक्षा करना उनकी शक्ति से भी परे हैं।
1880–89 ई0	उडीसा व बिहार	इस अकाल के समय लॉर्ड रिपन के समय बनाए गए अकाल राहत नियम के अनुसार सहायता पहुॅचाने का प्रयत्न किया गया।
1896–97 ई0	मध्य प्रदेश, राजपूताना, बम्बई प्रेसीडेंसी	इस अकाल का प्रभाव 6 करोड़ जनता पर पड़ा। सरकार ने राहत कार्यो पर 7 करोड़ 27 लाख रूपये खर्च किए। लगभग 40 लाख से अधिक लोगो की मृत्यु।
1899–1900 ई0	राजपूताना, अजमेर	इस अकाल में लगभग 2 करोड़ 80 लाख मनुष्य प्रभावित हुए। सरकार द्वारा राहत कार्यो पर 10 करोड रूपये खर्च किये।
1905–06	बम्बई प्रेसीडेंसी के कुछ क्षेत्र	इस अकाल में सरकार ने किसानों को राहत पहुंचाने का प्रयास किया।
1906–07	बिहार	सीमित अकाल
1933–34	तेलगु प्रदेश	गंटूर जिले में आबादी का एक तिहाई से ज्यादा मनुष्यों की मृत्यु।
1943	बंगाल	इसे मनुष्यों द्वारा निर्मित अकाल भी कहा जाता है। द्वितीय महायुद्ध में बर्मा से चावल का आयात बंद होना तथा व्यापारियों द्वारा कालेबाजारी एवं अनाज की उचित व्यवस्था न करना इसके कारण थे।

अकाल और सूखे के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति

ब्रिटिश सरकार ने 1792 में पहली बार मद्रास में अकाल पीडितों को राहत पहुंचाने के लिये कुछ कार्य आरम्भ किय। 1803 ई. में मद्रास में किसानों को लगान में छूट दी गई तथा उनके पुनर्वास के लिये उन्हें ऋण दिये गये। पहली बार 1860–61 ई. में बेयड स्मिथ ने उत्तर प्रदेश में अकालों की जांच की ।

1– **बेयर्ड स्मिथ का प्रतिवेदन (1860–61)**– उत्तर–पश्चिम प्रांत के अकाल की जांच करने के लिये कर्नल बेयर्ड स्मिथ की अध्य क्षता में एक जांच कमेटी का गठन किया। उन्होंने अपने प्रतिवेदन में भू–राजस्व की मांग और अकाल में घनिष्ठ सम्बंध बताया। उनके अनुसार दमनकारी और अधिक लगान की मांग से अकाल के समय स्थित अधिक खराब हो जाती है। अतः लगान की दर में कमी होनी चाहिए। उन्होंने सिंचाई के साधनों के विकास को भी अकाल रोकने तथा कमी में भी आवश्यक बताया। उन्होंने सड़को और नदीयों के यातायात के विकास पर जोर दिया।

2– **जॉर्ज कैपबेल का प्रतिवेदन (1868 ई.)**– बिहार व उडीसा के 1865–67 के भीषण अकाल की जांच करने के लिए जॉर्ज कैपबेल की अध्यक्षता में एक जांच कमेटी का गठन किया गया। इस कमेटी ने भी अपने प्रतिवेदन में बेयर्ड स्मिथ के समान सिंचाई तथा यातायात के आंतरिक साधनों के विकास पर बल दिया। इस कमेटी कृषि तथा व्यापार की स्थिति का सही अनुमान लगाने के लिये एक विशेष समिति के गठन का सुझाव दिया।

3– **रिर्चड टेम्पल की सिफारिशें**– 1873–1874 के अकालों के बाद लार्ड लिटन ने रिचर्ड टेम्पल को मद्रास और बम्बई प्रांतो की सरकारों से राहत कार्यो की समीक्षा करने के लिए विचार विमर्श हेतु भेजा। रिचर्ड टेम्पल ने सूखों व अकालों के समय लगान वसूली को माफ करने की सिफारिश की तथा राहत कार्यो के श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक देने का सुझाव दिया।

5– **लिटन के निर्देश (1878 ई.)**– लॉर्ड लिटन ने भारत सरकार के सार्वजनिक निर्माण विभाग को अकाल के समय बनाये जाने वाले कार्यो के बारे में प्रांतीय सरकारों को योजनाएं बनाने में सलाह देने के निर्देश दिये। लॉर्ड लिटन के अनुसार अकालों के समय अनाजों को पीड़ित क्षेत्रों तक पहुंचाने के प्रबंधों को प्राथमिकता दी जाये और साथ ही सिंचाई के कार्यो और रेल लाइन के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाये। लेकिन लॉर्ड लिटन के इन आदेशों से 1878 के अकाल में मद्रास की स्थिति को सुधारने में कोई सफलता नही मिली। इसके पश्चात लॉर्ड लिटन ने अकालके लिऐ एक आयोग के गठन का निश्चय किया।

1.प्रथम अकाल आयोग (1880) – भारत में निरन्तर पड़ रहे अकालों का ध्यान में रखते हुए तत्कालीन वायसराय लॉर्ड लिटन ने एक उच्च स्तरीय आयोग का गठन किया। 1878 ई0 में जॉन स्ट्रेची की अध्यक्षता में नौ सदस्यों का एक आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने जुलाई 1880 में अपनी रिपोर्ट पेश की । इस आयोग का कार्य अकालों से बचने व उनका सामना करने के लिए उपायों को सुझाना था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखत सुझाव दिये–

1. अकाल पड़ने पर राज्य सरकार को सहायता का दायित्व स्वयं पर लेना चाहिए।
2. अकाल के समय फसलों की हानि के अनुपात में भूमि–कर में कमी किया जाना चाहिए।
3. काम करने में असमर्थ व्यक्तियों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाए।
4. स्वस्थ व्यक्तियों को उचित मजदूरी पर रोजगार के अन्य साधन उपलब्ध कराये जाए ।
5. भारत तथा प्रत्येक प्रांत में कृषि विभाग की स्थापना की जाए।
6. स्थानीय भूमिपतियों को अपने क्षेत्र की जनता की सहायता करने हेतु प्रेरित किया जाना चाहिए।

आयोग की संस्तुतियां महत्तवपूर्ण थी। भारतीय सरकार द्वारा इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया गया। प्रत्येक बजट में अकालों के लिए 1.15 करोड रू. का प्रावधान किया गया। इन्ही सुझावों के आधार पर 1883 ई0 में अकाल संहिता (Famine Code) तैयार की गई । इसी संहिता के आधार पर भविष्य में पड़ने वाले अकालों में जनता की सहयता की गयी।

2.द्वितीय अकाल आयोग (1898) –इस आयोग का गठन 1898 में सर जेम्स लायल की अध्यक्षता में किया गया। इस आयोग ने निम्नलिखित संस्तुतियां की–

1.अकाल सहायता कोष की स्थापना की जाए।
2.अकाल के समय पीड़ित जनता की निःशुल्क सहायता की जाए।
3.जुलाहों, आदिवासियों एवं पहाडी जातियों के लोगों की सहायता की जाए।

3. तृतीय अकाल आयोग (1901) – द्वितीय अकाल आयोग की संस्तुतियों को लागू किये जाने से पूर्व 1899 ई0 में भारत के विभिन्न भू–भाग में भीषण अकाल पड़ा। अतः सरकार ने तुरन्त तृतीय अकाल आयोग का गठन किया। द्वितीय अकाल आयोग के अध्यक्ष सर ऐंथनी मैक्डोनेल्ड थे। इस आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये–

1. कृषि बैंको की स्थापना की जाए।
2. सिंचाई व्यवस्था का समुचित विकास किया।
3. पशुओं के चारे की समुचित व्यवस्था की जाए।
4. अकाल पड़ते ही अकाल पीडित क्षेत्रों में राजस्व वसूली बन्द की दी जाए।
5. अकाल पीड़ितों को ऋण प्रदान किया जाए।

तृतीय अकाल आयोग की संस्तुतियों के आधार पर अकाल पीड़ितों के लिए प्रत्येक वर्ष बजट में 1.5 करोड रूपये की व्यवस्था की गई। सिंचाई के साधनों का भी विकास किया गया तथा अकाल पीड़ित क्षेत्रों तक खाद्यान पहुँचाने हेतु रेलवे व अन्य यातायात के साधनों का विकास भी किया गया।

4.चतुर्थ अकाल आयोग (1943) – 1942–43 ई0 बंगाल में पडे भीषण अकाल को देखते हुए 1943 ई0 में चतुर्थ अकाल आयोग की स्थापना की गयी जिसके अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड थे। इस आयोग ने निम्नलिखित संस्तुतियां कीं–

1.राशन की व्यवस्था लागू की जाए।

2.'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन को प्रोत्साहित करने हेतु कदम उठाए जाएं।

3.अनाज का आयात किया जाए।

4.कृषि एवं सिचांई के साधनों का विकास किया जाए।

भारत के इतिहास में अकाल को अक्सर घटने वाली घटना के रूप में देखा जाता है।उल्लेखनीय है कि समय–समय पर इन अकाल आयोगों ने संस्तुतियां कीं, किन्तु अकालों का निवारण नही किया जा सका। इन आयोगों की संस्तुतियों का इतना लाभ अवश्य हुआ कि सरकार ने सिंचाई व कृषि के विसा की ओर कुछ ध्यान दिया, किन्तु जनता फिर भी अकालों की विभीषिका से बच न सकी।

ब्रिटिश काल में सूखे व अकालों में वृद्धि के कारण–

1.ब्रिटिश शासन में भू–राजस्व प्रबंधों– स्थाई बंदोबस्त, रैयतवाडी व महालवाडी से किसानो पर लगान का भार बढा। इससे किसान भूमि की उपज बढाने में असमर्थ रहे।

2.ब्रिटिश शासन में जनसंख्या में लगातार वृद्धि होती रही, जिससे भूमि पर दबाव बढा।

3.कम्पनी की आनौद्योगीकरण नीति से ग्रामों व शहरों में कुटीर उद्योगों और दस्तकारी का विनाश हुआ। इससे किसानो की आत्मनिर्भरता समाप्त हुई।

4.कृषि योग्य भूमि को व्यक्तिगत सम्पति मानने के कारण भारत के अनेक प्रदेशों में भूमि के वि खंडीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई जिससे जोतों के आकार छोटे हुए।

5.स्थाई बंदोबस्त वाले क्षेत्रों में जमींदारां तथा उनके एजेंटों ने किसानों का शोषण किया। जिससे किसानों में निर्धनता बढ गई।

6.अंग्रेजों के शासन में कृषि की उन्नति के कार्यो की उपेक्षा की गई 1870 तक सरकार ने कृषि की उन्नति के प्रयास नही किय।

19वी शताब्दी में रेल के विकास के कारण भारत में गेहूँ, चावल,कपास,तिलहन,चीनी और तम्बाकू का यूरोप में नियार्त तेजी से बढ़ा।के एल दत्ता ने लिखा है कि खाद्यान्नों फसलों का स्थान नकदी फसलों ने ले लिया था। जिससे भारत के आन्तरिक बाजारों में खाद्यान्न फसलों की कीमतों में तेजी आई। कीमतों में बढोत्तरी के कारण गरीब तबके के लोग अनाज नही खरीद पाये। जिससे अकाल में और स्थिति खराब हो गई थी। अकालों का भारत की सामाजिक,आर्थिक एवं राजनैतिक स्थितियों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। जिसके परिणामस्वरूप बडी संख्या में मनुष्य और पशु मारें गये। जनता का ब्रिटिश सरकार के प्रति विश्वास में कमी हुई। औपनिवेशिक सरकार अकाल और महामारी को रोकने के लिए चिंतित थी परन्तु उनकी आर्थिक शोषण की नीतियों ने जनता कर दयनीय हालत कर दी। कृषि की कमी से लोगों का गाँव से शहरों की ओर पलायन आरम्भ हो गया। औपनिवेशिक काल के अकालों ने देश के उद्योग– धन्धों, कृषि, व्यापार

आदि प्रत्येक क्षेत्र को बुरी तरह से प्रभावित किया। सामाजिक, राजनैतिक एवं नैतिक रूप से देश को खो खला कर दिया।

संदर्भ सूची

1.दत्त, रमेश, '' द इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया अंडर अर्ली ब्रिटिस रूल फ्रॉम द राइज ऑफ ब्रिटिश पावर इन 1757 टू द ऐक्सेशन ऑफ क्वीन विक्टोरिया इन 1837, रूटलेज : टबनर्स ओरिएंटल सीरीज, पुनर्मुद्रण 2000।

2.माथुर, एलपी., ''आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास'', पबिलकेशन स्कीम, 57, मिश्र राजारी का रास्ता, जयपुर, 2000।

3.हबीब, इरफान, ''मुगल काल में कृषि व्यवस्था' 1556– 1707, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, 2000।

4.भाटिया, बीएम, ''फैमिन एंड ऐग्रिकल्चर लेबर इन इंडिया : अ हिस्टोरिकल पर्स्पेक्टिव'', इंडियन जर्नल ऑफ इंडिस्ट्रियल रिलेशंस, 10(4), 575–594।

5.घोष, एनएन ''प्रारम्भिक भारत का इतिहास'' (हिन्दी अनुवाद) इंडियन प्रेस 1948।

6.शर्मा, रामशरण, ''भारत का प्राचीन इतिहास'', राजकमल प्रकाशन, 2005।

7.मध्यप्रदेश बौद्ध ओपन युनिवर्सिटी, ''भारत का इतिहास 1858 से 1950 तक, 2022।

8.मित्र, दीनबंधु, ''नील दर्पण'', बांग्ला जोन्थ्रो प्रेस, 1860 ।

9.सेन, अमर्त्य, ''गरीबी और अकाल'' राजपाल एंड सन्स्, 2018।

10.ब्रेनन, लांस, ''गर्वनमेंट फैमिन रेलीफ इन बेंगॉल, 1943'', द जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज,47(3) ।

11.दामोदरन, वी, '' टॉपिक्स ऑफ डिजीज : एपिडेमिक्स इन कोलोनियल इंडिया'', ई पी डब्ल्यू, भाग 55, अंक संख्या 21।

12.ऑर्नल्ड, डेविड, '' सोशल क्राइसीस एंड एपेडेमिक्स इन द फैमिन्स ऑफ नाइटीन्थ सेंचरी इंडिया'' सोशल हिस्टी ऑफ मेडिसिन, भाग 6, अंक 3, 385–404 ।

13.भट्ट, ''द नैचुरल डिजैस्टर्ज इन उडीसा अन द नाइटीन्थ सेंचरी'', कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स।

14.भाटिया, बीएम, ''फैमिन इन इंडिया : अ स्टडी इन सम आसपेक्ट्स ऑफ द एकोनोमिक हिस्टी ऑफ इंडिया विथ स्पेशल रेफरेन्स टू फूड प्रॉब्लम 1860–1990।

15.घोष, केसी , ''फैमिन्ज इन बेंगॉल– 1170–1943, कलकत्ता : इंडियन एसोसिएटेड पब्लिशिंग।

16.इस्लाम, एम. मुफखरूल , ''द ग्रेट बंगाल फैमिन एंड द क्वेश्चन ऑफ एफ ए डी येट अगेन'6, मॉडर्न एशियन स्टडीज, 41(2), 121–440 ।

17.दत्त, आरसी ,''ओपन लेटर्ज टू लॉर्ड कर्जन ऑन फैमिन्स एंड लैंड असेसमेंट इन इंडिया, लंदन : केगन पॉल, ट्रेंच, ट्रेबनेर एंड कंपनी लिमिटेड, एडमैंट मीडिया कॉरपोरेशन द्वारा 2005 में पुनर्मुद्रित।

18.ग्रीनफ, पॉल ,''प्रॉस्पेरिटी एंड मिजरी इन बंगाल : फैमिन ऑफ 1943–44'', न्यूयार्कः ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

19.डायसन, टिम, '' इंडियास हिस्टोरिकल डिमॉग्रफी : स्टडीज इन फैमिन, डिजीज एंड सोसायटी, कलेक्टेड पेपर्ज ऑफ साउथ एशिया, नं. 8, लंदन : कर्जन प्रेस।

20.हार्डीमैन, डेविड, ''यूजरी, डर्थ एंड फैमिन इन वेस्टर्न इंडिया'', पास्ट एंड प्रेजेंट, 152, 113–156।

21.डिग्बी, डब्ल्यू, ''फैमिन कैम्पेन इन सदर्न इंडिया : मद्रास एंड बॉम्बे प्रेसीडेंसी एंड मैसूर प्रोविंस, 1876–1878 (भाग 1), लंदन : लॉन्गमैन्स ग्रीन एंड कम्पनी।

22.बोस, सुगाता, '' स्टारवेशन अमिड्स्ट प्लेंटी : द मेकिंग ऑफ फैमिन इन बंगॉल, होनान एंड टोनकिन, 1942–45, मॉडर्न एशियन स्टडीज, 24 (4) ।

23.ऑर्नल्ड डेविड, '' फैमिन, सोशल क्राइसीस एंड एपेडेमिक्स इन द फैमिन्स ऑफ नाइंटीन्थ सेंचरी इंडिया'', सोशल हिस्ट्री ऑफ मेडिसिन, भाग 6, अंक 3, 385–404 ।

24.गुहा, सुमित, '' ऐग्रिकल्चरल प्रॉडक्टिविटी इन ब्रिटिश इंडिया : डिवेलप्मेंट, स्टैग्नेशन ऑर डिक्लाइन, दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

*****

रामायणकालीन सामाजिक संरचना: परिवार, कुटुम्ब और समाज

-संजीव मिश्र
शोधच्छात्र
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नव देलही ११००६७
sanjee55_css@jnu.ac.in

सारांश -

रामायणकालीन सामाजिक संरचना भारतीय प्राचीन समाज की सुदृढ़, नैतिक एवं धर्म आधारित संरचना को उद्घाटित करता है। रामायण केवल एक धार्मिक महाकाव्य नहीं, अपितु तत्कालीन सामाजिक जीवन, संबंध-व्यवस्था तथा मानवीय मूल्यों का प्रमाणिक ग्रंथ है। इस काल का समाज मुख्यतः परिवार, कुटुम्ब और व्यापक सामाजिक ढाँचे पर आधारित था, जिनके समन्वय से एक संतुलित सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई।

रामायणकालीन समाज में **परिवार** सामाजिक संगठन की मूल इकाई था। परिवार पितृसत्तात्मक होते हुए भी कर्तव्य, स्नेह और नैतिक अनुशासन से युक्त था। पिता परिवार का संरक्षक और नीति-निर्देशक होता था, जबकि माता को संस्कारों की अधिष्ठात्री माना जाता था। पारिवारिक मर्यादा और आज्ञापालन को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया था, जिसका आदर्श उदाहरण श्रीराम का पिता की आज्ञा पालन है –

"तद् वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणाम्। कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघवः॥"[1]

यह श्लोक दर्शाता है कि परिवार में व्यक्तिगत सुख से अधिक पिता एवं माता के वचन को अपना कर्तव्य और मर्यादा को महत्व दिया जाता था। विवाह को सामाजिक और धार्मिक संस्था माना गया, जो पारिवारिक स्थिरता और सामाजिक निरंतरता का आधार था।

कुटुम्ब रामायणकालीन सामाजिक संगठन की विस्तृत इकाई थी। संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी, जिसमें अनेक पीढ़ियाँ साथ निवास करती थीं। कुटुम्ब में सामूहिक उत्तरदायित्व, आर्थिक सहयोग और सामाजिक सुरक्षा की भावना विद्यमान थी। यह व्यवस्था व्यक्ति को अकेलेपन से बचाकर सामाजिक सहभागिता की ओर प्रेरित करती थी। कुटुम्ब-व्यवस्था सामाजिक एकता और सह-अस्तित्व का सशक्त माध्यम थी।

रामायणकालीन **समाज** वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित था, किंतु इसका स्वरूप कर्तव्यप्रधान और नैतिक था, न कि शोषणपरक। समाज में सभी वर्गों की भूमिका निर्धारित थी और सामाजिक संतुलन धर्म के माध्यम से बनाए रखा जाता था। समाज में करुणा, समावेशन और मानवीय संवेदना का स्पष्ट दर्शन होता है, जिसका उदाहरण शबरी के प्रति राम का व्यवहार है -

जहाँ सुमति तहाँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहाँ विपति निदाना॥[2]

यह चौपाई मानव-जीवन की नैतिक-दार्शनिक व्यवस्था को उद्घाटित करती है। जहाँ सद्बुद्धि, विवेकपूर्ण चिन्तन और धर्मसम्मत आचरण विद्यमान रहता है, वहाँ बहुविध कल्याणकारी सम्पत्ति स्वयमेव प्रतिष्ठित होती है। सुमति से युक्त व्यक्ति संतुलित, संयमी तथा कर्तव्यनिष्ठ बनकर पारिवारिक एवं सामाजिक उन्नति का आधार बनता है। इसके विपरीत, जहाँ कुमति, अविवेक और अधर्मप्रधान प्रवृत्तियाँ निवास करती हैं, वहाँ अनिवार्य, विनाशकारी एवं दुःखद विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

अतः यह उक्ति स्पष्ट करती है कि सद्बुद्धि ही स्थायी समृद्धि की मूल कारणभूत शक्ति है।

निष्कर्षतः रामायणकालीन सामाजिक संगठन परिवार, कुटुम्ब और समाज के त्रिस्तरीय ढाँचे पर आधारित था, जिसमें धर्म, कर्तव्य और नैतिकता केंद्रीय तत्व थे। यह सामाजिक व्यवस्था न केवल तत्कालीन समाज को स्थायित्व प्रदान करती थी,

बल्कि आज भी भारतीय सामाजिक मूल्यों की समझ के लिए अत्यंत प्रासंगिक और प्रेरणादायक है।

मुख्य शब्द: रामायण; समाज; कुटुम्ब; परिवार; संस्कृति; वर्णाश्रम; मर्यादा; धर्म।

प्रस्तावना -

महर्षि वाल्मीकि द्वारा विरचित रामायण, जिसे 'आदिकाव्य' की संज्ञा प्राप्त है, न केवल एक धार्मिक महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है, अपितु तत्कालीन भारतीय समाज की संरचना मूल्य-व्यवस्था एवं जीवन-पद्धति का प्रामाणिक दस्तावेज भी प्रस्तुत करती है। इसी को आधार मानकर गोस्वामी तुलसीदास कृत श्रीरामचरितमानस ने रामकथा को जनसामान्य तक संप्रेषित कर उसे लोकजीवन में सुदृढ़ स्थान प्रदान किया। दोनों ग्रंथ मिलकर भारतीय समाज की एक व्यापक, नैतिक एवं धर्म-आधारित संरचना को उद्घाटित करते हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध 'रामायणकालीन सामाजिक संरचना: परिवार, कुटुम्ब एवं समाज' शीर्षक के अन्तर्गत रामायण में वर्णित सामाजिक व्यवस्था, पारिवारिक संबंधों, कर्तव्य-बोध तथा आदर्शों का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। रामायण में निरूपित घटनाएँ केवल धार्मिक परिप्रेक्ष्य तक सीमित नहीं हैं, अपितु सामाजिक, नैतिक एवं राजनीतिक जीवन के बहुआयामी पक्षों को भी उद्घाटित करती हैं।

रामायण की शाश्वतता के संदर्भ में कहा गया है -

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।

तावत् रामायण कथा लोकेषु प्रचरिस्यति।[3]

अर्थात् जब तक पृथ्वी पर पर्वत एवं नदियाँ विद्यमान रहेंगी, तब तक रामायण की कथा लोक में प्रचलित रहेगी। यह उद्धरण रामायण के सार्वभौमिक एवं कालातीत महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

साहित्य एवं समाज का अंतर्संबंध -

साहित्य-सृजन का मूल स्रोत व्यक्ति होता है, और व्यक्ति सामाजिक इकाई के रूप में समाज का अभिन्न अंग होता है। साहित्यकार समाज से ही अपनी सृजनात्मक प्रेरणा एवं विषय-सामग्री अर्जित करता है। साहित्यकार की इच्छा हो अथवा न हो, वह सामाजिक परिवेश से अनिवार्यतः प्रभावित रहता है। जीवन एवं साहित्य की प्रेरणाएँ समान स्रोतों से उद्भूत होती हैं ये पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) तथा त्रिविध ऐषणाओं (वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा) में समाहित हो जाती हैं।

साहित्य मानव-जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद एवं आकर्षण-विकर्षण के ताने-बाने से निर्मित होता है तथा उसमें मानवात्मा का स्पंदन प्रतिध्वनित होता है। महर्षि वाल्मीकि का आत्मिक स्पंदन उनके महाकाव्य रामायण में सर्वत्र परिलक्षित होता है, जिसमें उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है।

साहित्यकार न केवल समाज से प्रभावित होते हैं, अपितु समाज को प्रभावित भी करते हैं। विश्व में संघटित विभिन्न आंदोलनों एवं क्रांतियों के मूल में साहित्यकारों की वाणी ही प्रेरक शक्ति रही है। किसी भी क्रांति के ऐतिहासिक विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उसकी मूल प्रेरणा साहित्यिक रचनाओं में निहित रही है। इसी कारण तुलसीदास, रूसो, कार्ल मार्क्स, मैक्सिम गोर्की, प्रेमचंद आदि साहित्यकारों को कालजयी महत्त्व प्राप्त हुआ है।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में साहित्य के प्रयोजनों का विवेचन करते हुए कहें हैं **"रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत्"**[4]

अर्थात् मनुष्य को श्रेष्ठ पुरुषों के जैसे आचरण करना चाहिए यथा राम के समान आचरण करना चाहिए, रावण जैसे दुराचारियों के समान नहीं। यह कथन साहित्य के शिक्षात्मक एवं संस्कारात्मक प्रयोजन को प्रतिपादित करता है।

३. सभ्यता एवं संस्कृति का स्वरूप

किसी सभा, समुदाय अथवा समाज में उठने-बैठने तथा निवास करने योग्य व्यक्ति को 'सभ्य' कहा जाता है; इसी भाव को 'सभ्यता' की संज्ञा दी जाती है। सभ्यता मनुष्य के बाह्य रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, भौतिक विकास तथा पारिवारिक-सामाजिक संस्कारों की परिचायक होती है। इसके विपरीत, संस्कृति मनुष्य की आंतरिक चिंतन-प्रक्रिया, ज्ञान-विज्ञान एवं प्रेरक तत्त्वों को अभिव्यक्त करती है। वस्तुतः आंतरिक आचरण ही बाह्य आचरण का नियामक कारक होता है।

रामायण में भारतीय संस्कृति की सुस्पष्ट झलक प्राप्त होती

है। वस्तुतः यह संपूर्ण ग्रंथ भारतीय संस्कृति का प्रामाणिक परिचायक है। साहित्य के अंतर्गत समाज की विविध स्थितियों, परिस्थितियों, आचार-विचारों एवं व्यवहारों का समन्वित चित्रण होता है। साथ ही, साहित्य समाज को संस्कारित करने की प्रेरणा प्रदान करता है। रामायण भारतीय संस्कृति एवं समाज की प्रतिच्छाया है।

रामायण के सात काण्डों - बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड में तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध आयामों का सूक्ष्म एवं प्रामाणिक चित्रण मिलता है। बालकाण्ड में गुरु-शिष्य परंपरा एवं विवाह-संस्कार, अयोध्याकाण्ड में राजपरिवार एवं राज्य-व्यवस्था, अरण्यकाण्ड में सभ्य-असभ्य समाज का तुलनात्मक चित्र, किष्किन्धाकाण्ड में सामाजिक सहयोग एवं नेतृत्व, सुन्दरकाण्ड में दूत-धर्म एवं निष्ठा तथा उत्तरकाण्ड में आदर्श शासन एवं राजधर्म के सिद्धांत वर्णित हैं।

४. रामायणकालीन परिवार: संरचना एवं मूल्य

४.१ परिवार की अवधारणा

रामायणकालीन समाज में परिवार सामाजिक संगठन की मूल इकाई था। परिवार पितृसत्तात्मक होते हुए भी कर्तव्य, स्नेह और नैतिक अनुशासन से युक्त था। पिता परिवार का संरक्षक और नीति-निर्देशक होता था, जबकि माता को संस्कारों की अधिष्ठात्री माना जाता था। पारिवारिक मर्यादा और आज्ञापालन को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया था।

इस काल का परिवार एकांकी अथवा एकल परिवार नहीं था, अपितु विस्तृत पारिवारिक संरचना थी जिसमें एक ही कुल के अनेक सदस्य साथ निवास करते थे। राजा दशरथ का परिवार इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ तीन रानियाँ, चार पुत्र एवं उनके परिवारजन एक संयुक्त राजपरिवार के रूप में निवास करते थे।

४.२ पिता-पुत्र संबंध एवं आज्ञाकारिता

रामायणकालीन परिवार में पिता की आज्ञा का पालन सर्वोच्च धर्म माना जाता था। श्रीराम का वनगमन इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। पिता दशरथ के वचन को पूर्ण करने के लिए राम ने राजसिंहासन का त्याग कर चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। इस सन्दर्भ में वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के वचन उद्धृत हैं -

"तद् वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणाम्।

कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघवः॥"[5]

यह श्लोक दर्शाता है कि परिवार में व्यक्तिगत सुख से अधिक पिता एवं माता के वचन को अपना कर्तव्य समझकर और मर्यादा को महत्व दिया जाता था। भरत ने भी इसी मर्यादा का पालन करते हुए राज्य को राम की चरण-पादुका के सुपुर्द किया और स्वयं नंदीग्राम में तपस्वी जीवन व्यतीत किया। इसी प्रकार श्री रामचन्द्र अपनी माता जी से कहते है कि -

सुनु जननी सोइ सुतु बडभागी। जो पितु आयसु मानि अनुरागी॥[6]

४.३ माता की भूमिका एवं सम्मान

रामायणकालीन परिवार में माता को अत्यधिक सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त थी। संतान का प्रमुख कर्तव्य माता-पिता दोनों की आज्ञा का समान भाव से पालन करना माना गया है। माता कौशल्या श्रीराम से कहती हैं -

"यदैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्।

त्वां नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम्॥"[7]

इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि परिवार में माता को भी पिता के समान सम्मान प्राप्त था। रामायण में स्त्री का आदर्श स्वरूप केवल गृहिणी तक सीमित नहीं था, अपितु वह परिवार की मर्यादा, परम्परा तथा सांस्कृतिक मूल्यों की संरक्षिका मानी जाती थी।

४.४ आदर्श पत्नी का स्वरूप

रामायण में आदर्श पत्नी के स्वरूप का अत्यंत मार्मिक चित्रण प्राप्त होता है। आदर्श पत्नी वह मानी गई है जो समयानुसार दासी, सखी, भगिनी तथा माता के समान व्यवहार करने में समर्थ हो। इस भाव को निम्न श्लोक में अभिव्यक्त किया गया है -

"यदा यदा च कौशल्या दासीव च सखीव च।

भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ॥"[8]

सीता का चरित्र इस आदर्श का सर्वोत्तम निदर्शन है। उन्होंने पति के साथ वनवास को सहर्ष स्वीकार किया और कठिनतम परिस्थितियों में भी अपनी मर्यादा एवं धर्म का परित्याग नहीं किया। कैकेयी द्वारा पारिवारिक धर्म एवं मर्यादा से विचलित होने के कारण उसे 'कुलघातिनी' जैसे विशेषणों का सामना करना पड़ा। इससे यह ज्ञात होता है कि उस काल में स्त्रियों से उच्च नैतिक आदर्शों की अपेक्षा की जाती थी।

४.५ विवाह संस्था

रामायणकालीन समाज में विवाह को केवल दो व्यक्तियों का मिलन नहीं, अपितु दो परिवारों एवं दो कुलों का पवित्र सम्बन्ध माना जाता था। विवाह एक धार्मिक संस्कार था जो अनेक वैदिक विधि-विधानों के साथ सम्पन्न होता था। राम-सीता विवाह में स्वयंवर की परंपरा, शिव-धनुष का भंजन एवं विधि-सम्मत विवाह-संस्कार तत्कालीन वैवाहिक मूल्यों को प्रकट करते हैं।

५. संयुक्त परिवार प्रणाली एवं कुटुम्ब-व्यवस्था

५.१ संयुक्त परिवार का महत्त्व

रामायणकालीन समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली का विशेष महत्व था। परिवार का संचालन सामान्यतः पिता के अधीन होता था तथा परिवार के सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझते थे। इस व्यवस्था में अनेक पीढ़ियाँ एक साथ निवास करती थीं। कुटुम्ब में सामूहिक उत्तरदायित्व, आर्थिक सहयोग और सामाजिक सुरक्षा की भावना विद्यमान थी।

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ।

क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥[9]

राम ने रावण की मृत्यु के बाद विभीषण से कहा कि मरण के साथ ही बैर समाप्त हो जाता है। अब जो हो गया, उसे भूलकर हमें परिवार और अपने कुल के प्रति कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए। यह दिखाता है कि संयुक्त परिवार में क्षमा और पुनः जुड़ाव कितना महत्वपूर्ण है।

संयुक्त परिवार की यह व्यवस्था व्यक्ति को अकेलेपन से बचाकर सामाजिक सहभागिता की ओर प्रेरित करती थी। कुटुम्ब -व्यवस्था सामाजिक एकता और सह-अस्तित्व का सशक्त माध्यम थी। प्रत्येक सदस्य के अधिकार एवं कर्तव्य सुनिश्चित थे जो पारिवारिक संतुलन को बनाए रखते थे।

५.२ गुरु-शिष्य परंपरा

रामायणकालीन कुटुम्ब-व्यवस्था में गुरुकुल परंपरा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। बच्चों को उचित आयु में गुरुकुल भेजा जाता था जहाँ वे एक विस्तृत पारिवारिक व्यवस्था में रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरु का स्थान पिता के समान होता था और गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान पवित्र माना जाता था। राम एवं लक्ष्मण का महर्षि विश्वामित्र के साथ वनगमन इसी परंपरा का उदाहरण है।

५.३ भ्रातृ-संबंध

रामायण में भाइयों के परस्पर संबंध का आदर्श चित्रण मिलता है। राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न के चतुष्टय में जो पारस्परिक स्नेह, त्याग एवं समर्पण की भावना है वह भारतीय परिवार के आदर्श का सर्वोत्तम उदाहरण है। लक्ष्मण ने राम के साथ वनवास में रहना स्वीकार किया और अपनी नवविवाहिता पत्नी तथा माता का त्याग कर भाई की सेवा को प्राथमिकता दी। भरत ने राज्य की लालसा से सर्वथा मुक्त रहकर केवल बड़े भाई के प्रतिनिधि के रूप में शासन किया।

राम करहीं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भांति सिखावहीं नीती ॥[10]

६. रामायणकालीन व्यापक सामाजिक संरचना

६.१ वर्णाश्रम-व्यवस्था

रामायणकालीन समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित था, किंतु इसका स्वरूप कर्तव्यप्रधान और नैतिक था, न कि शोषणपरक। समाज में सभी वर्गों की भूमिका निर्धारित थी और सामाजिक संतुलन धर्म के माध्यम से बनाए रखा जाता था। ब्राह्मण वर्ग ज्ञान एवं धर्म-निर्देशन का दायित्व निभाता था; क्षत्रिय वर्ग राज्य-रक्षा एवं न्याय का कार्य करता था; वैश्य वर्ग व्यापार एवं अर्थव्यवस्था को संचालित करता था और शूद्र वर्ग सेवा-कार्यों में संलग्न रहता था।

यह व्यवस्था कर्म-आधारित थी न कि जन्म-आधारित।

वाल्मीकि स्वयं इस तथ्य के प्रमाण हैं जो समाज के निम्न वर्ग से उठकर ब्रह्मर्षि के पद पर प्रतिष्ठित हुए। उनकी रामायण-रचना यह सिद्ध करती है कि कर्म एवं ज्ञान द्वारा कोई भी व्यक्ति सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर सकता था।

६.२ समावेशन एवं करुणा

रामायणकालीन समाज में करुणा, समावेशन और मानवीय संवेदना का स्पष्ट दर्शन होता है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण शबरी के प्रति राम का व्यवहार है। शबरी एक वृद्धा निम्नवर्गीय स्त्री थी, किंतु उनकी भक्ति एवं श्रद्धा के कारण राम ने उनके जूठे बेर सहर्ष ग्रहण किए। यह प्रसंग रामायणकालीन समाज की मानवीय दृष्टि को प्रकट करता है जहाँ जाति या वर्ग से ऊपर उठकर व्यक्ति के गुण एवं भाव को महत्त्व दिया जाता था।

तुलसीदास जी ने इस सन्दर्भ में कहा है -

"जहाँ सुमति तहाँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहाँ विपति निदाना॥"[11]

यह चौपाई मानव-जीवन की नैतिक-दार्शनिक व्यवस्था को उद्घाटित करती है। जहाँ सद्बुद्धि, विवेकपूर्ण चिन्तन और धर्मसम्मत आचरण विद्यमान रहता है, वहाँ बहुविध कल्याणकारी सम्पत्ति स्वयमेव प्रतिष्ठित होती है। इसके विपरीत, जहाँ कुमति एवं अधर्म निवास करते हैं वहाँ विपत्ति अनिवार्य है।

६.३ राजधर्म एवं प्रजापालन

रामायणकालीन समाज में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था जिसका प्राथमिक दायित्व प्रजा का कल्याण था।

यथा हि पुरुषस्येह सर्वे ह्यङ्गातिविष्ठितः ।तथा प्रजारञ्जने हि राजा सर्वस्य लोकस्य॥[12]

अर्थ: जैसे पुरुष के सभी अंग शरीर के अधीन होते हैं, वैसे ही समस्त प्रजा राजा के अधीन होती है, इसलिए राजा को प्रजा के रंजन (खुशी) में ही अपना सुख मानना चाहिए।

दशरथ एवं राम दोनों के शासन में यह स्पष्ट दिखता है। राम-राज्य तो भारतीय परम्परा में आदर्श शासन का पर्याय बन गया जहाँ न कोई अकाल मृत्यु थी, न रोग था, न दुःख था। रावण इसके विपरीत राजधर्म के पतन का प्रतीक है जहाँ शक्ति का दुरुपयोग, स्त्री का अपहरण एवं अत्याचार का बोलबाला था।

६.४ ऋषि-परम्परा एवं ज्ञान का प्रसार

रामायणकालीन समाज में ऋषि-परम्परा एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक स्तम्भ थी। वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, भरद्वाज आदि ऋषि न केवल धार्मिक अनुष्ठानों के संचालक थे, अपितु ज्ञान, नीति एवं सामाजिक मार्गदर्शन के केंद्र भी थे। वन में उनके आश्रम शिक्षा एवं संस्कार के प्रमुख केंद्र थे। राजपरिवार भी इन ऋषियों के आश्रयदाता थे और उनके आदेश का पालन श्रद्धापूर्वक करते थे।

७. रामायणकालीन सामाजिक मूल्य-व्यवस्था

७.१ धर्म की केंद्रीयता

रामायणकालीन जीवन में धर्म केंद्रीय तत्त्व था। यहाँ धर्म का अर्थ केवल धार्मिक कर्मकाण्ड नहीं, अपितु कर्तव्यपालन, सत्याचरण, न्याय एवं नैतिक जीवन-पद्धति था। राम को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने सदैव धर्म-मर्यादा का पालन किया। पिता की आज्ञा का पालन, पत्नी की रक्षा, मित्रता का निर्वाह एवं शत्रु के साथ भी उचित व्यवहार ये सभी उनकी धर्म-निष्ठा के उदाहरण हैं। भवभुति कहते है कि -

स्नेहं दया च सौख्यं च यदि वा जानकिमपि। आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥[13]

इस श्लोक में श्रीराम के आदर्श राजधर्म का चित्रण है। वे व्यक्तिगत सुख, प्रेम और पारिवारिक जीवन से ऊपर उठकर लोकमंगल को सर्वोच्च मानते हैं। प्रजा की मर्यादा और समाज के आदर्श की रक्षा हेतु वे अपने निजी सुखों का त्याग करने को भी तैयार हैं। यह राम के त्याग, कर्तव्यपरायणता तथा लोकनायक स्वरूप को प्रकट करता है।

७.२ सत्य एवं वचन-पालन

रामायण में सत्य एवं वचन-पालन को अत्यंत उच्च स्थान दिया गया है। राजा दशरथ ने कैकेयी को दिए वचन का पालन करते हुए अपने प्राणों तक का बलिदान कर दिया। यह प्रसंग वचन-पालन की प्रतिष्ठा को रेखांकित करता है जो उस समाज में व्यक्ति के सामाजिक सम्मान का आधार था। राम ने भी वनवास को इसीलिए स्वीकार किया क्योंकि पिता का वचन सत्य रहना चाहिए था।

"रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जाए पर वचन न जाई॥[14]

यह चौपाई सत्यनिष्ठा, धर्मपालन और आदर्श चरित्र का प्रतीक है। श्रीराम ने पिता दशरथ द्वारा कैकेयी को दिए गए वचन की मर्यादा बनाए रखने के लिए राज्य, सुख और ऐश्वर्य का त्याग कर वनवास स्वीकार किया। इससे स्पष्ट होता है कि रामायणकालीन समाज में वचनपालन को जीवन से भी अधिक महत्त्व दिया जाता था।

७.३ मित्रता एवं सामाजिक सहयोग

रामायण में मित्रता का आदर्श चित्रण भी मिलता है। राम-सुग्रीव मैत्री इसका उत्कृष्ट उदाहरण है जहाँ दो भिन्न प्रजाति के प्राणी एक-दूसरे की सहायता के लिए प्रतिबद्ध हुए। हनुमान की भक्ति एवं सेवा रामायणकालीन समाज में निष्ठा, समर्पण एवं दास्य-भक्ति के आदर्श का प्रतिनिधित्व करती है। विभीषण का रावण-पक्ष छोड़कर राम की शरण लेना भी नैतिक साहस एवं धर्म-निष्ठा का उदाहरण है।

७.४ स्त्री का सामाजिक स्थान

रामायणकालीन समाज में स्त्री का स्थान पारिवारिक संरचना में अत्यंत महत्त्वपूर्ण था। यद्यपि समाज पितृसत्तात्मक था, तथापि स्त्री को परिवार एवं समाज में उचित सम्मान प्राप्त था। सीता, कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा ये सभी स्त्री-चरित्र विभिन्न सामाजिक भूमिकाओं को प्रकट करते हैं। सीता का स्वयंवर में स्वतः वर-चयन का अधिकार, राम से उनकी बौद्धिक समानता एवं उनके तप का सामर्थ्य ये तथ्य स्त्री की गरिमा एवं शक्ति को प्रदर्शित करते हैं।

८. रामायणकालीन सामाजिक मूल्यों की आज की प्रासंगिकता

रामायणकालीन सामाजिक संरचना एवं मूल्य-व्यवस्था आज के संदर्भ में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। आज जब एकल परिवारों की संख्या में वृद्धि हो रही है, वृद्धजनों की देखभाल एक समस्या बन गई है, और पारिवारिक विघटन की प्रवृत्ति बढ़ रही है ऐसे समय में रामायण की संयुक्त परिवार की अवधारणा एवं सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना मार्गदर्शक है।

समाज में बढ़ती अनैतिकता, भ्रष्टाचार एवं सत्ता के दुरुपयोग के संदर्भ में राम-राज्य की अवधारणा एक आदर्श के रूप में सामने आती है जहाँ राजा का प्राथमिक दायित्व प्रजा-कल्याण था। शबरी प्रसंग के माध्यम से रामायण जो समावेशी एवं करुणामय समाज का दर्शन प्रस्तुत करती है वह सामाजिक न्याय एवं समानता की आधुनिक अवधारणाओं से साम्य रखता है।

वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था के संदर्भ में भी रामायण की गुरु-शिष्य परंपरा एवं चरित्र-निर्माण पर बल देने की अवधारणा प्रासंगिक है। आज की शिक्षा केवल व्यावसायिक दक्षता पर केंद्रित है जबकि रामायण बताती है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास एवं चरित्र-निर्माण होना चाहिए।

९. निष्कर्ष

रामायणकालीन सामाजिक संगठन परिवार, कुटुम्ब और समाज के त्रिस्तरीय ढाँचे पर आधारित था, जिसमें धर्म, कर्तव्य और नैतिकता केंद्रीय तत्व थे। परिवार सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई था जो पितृसत्तात्मक होते हुए भी स्नेह, कर्तव्य एवं नैतिक अनुशासन से युक्त था। कुटुम्ब या संयुक्त परिवार सामाजिक सुरक्षा एवं एकता का माध्यम था। समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित था जो शोषण नहीं बल्कि कर्तव्य-विभाजन की व्यवस्था थी।

रामायण का यह समाज करुणा, समावेशन, धर्म एवं मर्यादा के सिद्धांतों पर टिका था। राम का मर्यादा पुरुषोत्तम का आदर्श, सीता का पतिव्रत-धर्म, लक्ष्मण-भरत का भ्रातृ-प्रेम एवं हनुमान की निष्ठा ये सभी चरित्र तत्कालीन सामाजिक मूल्यों के जीवंत उदाहरण हैं। यह सामाजिक व्यवस्था न केवल तत्कालीन समाज को स्थायित्व प्रदान करती थी, बल्कि आज भी भारतीय सामाजिक मूल्यों की समझ के लिए अत्यंत प्रासंगिक और प्रेरणादायक है।

आचार्य मम्मट के अनुसार रामायण का मूल संदेश यही है कि 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यम्' हमें राम जैसे आचरण करना चाहिए। यह केवल व्यक्तिगत आदर्श नहीं, बल्कि एक सामाजिक दर्शन है जो व्यक्ति को परिवार, समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बोध कराता है। रामायण का यह सामाजिक संदेश सहस्राब्दियों से भारतीय समाज की प्रेरणा का स्रोत रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

सन्दर्भ

1. वालमीकिरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग १०५ श्लोक ४३
2. रामचरित मानस सुन्दरकाण्ड दोहा ३९ चौपाई ३
3. रामायण, बालकाण्ड, 2/36)
4. काव्यप्रकाश प्रथम् उल्लास
5. वालमीकिरामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग १०५ श्लोक ४३
6. रामचरित मानस – अयोध्याकाण्ड दोहा.४० चौपाई .४
7. वाल्मीकि रामायण - अयोध्याकाण्ड सर्ग २१, श्लोक २५
8. वाल्मीकि रामायण - अयोध्याकाण्ड सर्ग १२, श्लोक ६८
9. वाल्मीकि रामायण - युद्धकाण्ड, सर्ग ११२ , श्लोक २६
10. रामचरितमानस
11. रामचरित मानस सुन्दरकाण्ड दोहा ३९ चौपाई ३
12. रामायण – अयोध्याकाण्ड
13. उत्तररामचरितम् प्रथम सर्ग
14. रामचरित मानस अयोध्याकाण्ड दोहा २७ चौपाई २

सन्दर्भ-सूची

1. वाल्मीकि, महर्षि। वाल्मीकि रामायण (सात काण्ड)। सम्पादन: द्वारका प्रसाद शर्मा। रामनारायण लाल प्रकाशन , इलहाबाद, २०००।
2. तुलसीदास, गोस्वामी। श्रीरामचरितमानस। सम्पादन: हनुमान प्रसाद पोद्दार। गोरखपुर: गीताप्रेस, 1923।
3. मम्मट, आचार्य। काव्यप्रकाश। सम्पादन: राम शर्मा आचार्य। वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 1971।
4. पाण्डेय, राजबली। हिन्दू धर्मकोश। वाराणसी: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, 1978।
5. उपाध्याय, बलदेव। वाल्मीकि रामायण: एक सांस्कृतिक अध्ययन। वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1980।
6. मिश्र, विद्यानिवास। भारतीय संस्कृति और हिंदी साहित्य। नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन, 1986।
7. शर्मा, रामविलास। भारतीय समाज और हिंदी साहित्य। नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1991।
8. त्रिपाठी, हरिनारायण। रामायण में सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना। लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, 1995।
9. Thapar, Romila. Early India: From the Origins to AD 1300. New Delhi: Allen Lane, 2002.
10. Brockington, John L. The Sanskrit Epics. Leiden: Brill, 1998.
11. उपाध्याय बलदेव,संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास, तृतीय खण्ड आर्षकाव्य, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ।

*****

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक सिद्धांत की वर्तमान समय में प्रासंगिकता

-डॉ. राजेश सिंह
सहायक प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग
राजकीय डिग्री कॉलेज थत्यूड़
टिहरी गढ़वाल, उत्तराखंड।

सारांश (Abstract)

पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय राजनीति, दर्शन तथा आर्थिक चिंतन के महत्वपूर्ण विचारकों में से एक थे। उन्होंने "एकात्म मानववाद" के माध्यम से भारतीय संस्कृति आधारित विकास मॉडल प्रस्तुत किया। उनका आर्थिक चिंतन केवल उत्पादन और उपभोग तक सीमित नहीं था, बल्कि मानव के सर्वांगीण विकास, नैतिक मूल्यों, सामाजिक समरसता, स्वदेशी, आत्मनिर्भरता तथा अंत्योदय की भावना पर आधारित था। वर्तमान समय में जब विश्व आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, पर्यावरणीय संकट तथा सांस्कृतिक विघटन जैसी समस्याओं का सामना कर रहा है, तब पंडित दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। यह शोध पत्र उनके आर्थिक विचारों का विश्लेषण करते हुए वर्तमान भारतीय एवं वैश्विक संदर्भ में उनकी उपयोगिता का अध्ययन प्रस्तुत करता है । शोध में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मनिर्भर भारत, ग्रामीण विकास, रोजगार सृजन तथा सामाजिक न्याय जैसी समकालीन अवधारणाओं में उनके आर्थिक चिंतन की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। उनके सिद्धांत आज भी भारत के लिए संतुलित एवं मानवीय विकास मॉडल प्रदान करते हैं।

मुख्य शब्द : एकात्म मानववाद, अंत्योदय, स्वदेशी, आत्मनिर्भरता, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, नैतिक अर्थव्यवस्था।

भूमिका

भारतीय चिंतन परंपरा में अर्थव्यवस्था को केवल धन अर्जन का साधन नहीं माना गया, बल्कि उसे मानव जीवन, समाज और राष्ट्र के समग्र विकास का आधार समझा गया है। प्राचीन भारतीय दर्शन में "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" को जीवन के चार पुरुषार्थों के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसमें अर्थ को धर्म के अधीन रखा गया है। इसी कारण भारतीय आर्थिक व्यवस्था सदैव नैतिकता, सामाजिक समरसता, आत्मनिर्भरता तथा लोककल्याण की भावना पर आधारित रही है। आधुनिक युग में औद्योगिकीकरण, वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद के प्रभाव से विश्व की आर्थिक संरचना में व्यापक परिवर्तन हुए हैं। पश्चिमी पूंजीवादी व्यवस्था ने आर्थिक विकास को उत्पादन और उपभोग तक सीमित कर दिया, जबकि समाजवादी व्यवस्था व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करती दिखाई दी। इन दोनों व्यवस्थाओं के कारण आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, सामाजिक विघटन, नैतिक पतन तथा पर्यावरणीय संकट जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुईं। भारत जैसे विकासशील देश में भी गरीबी, ग्रामीण पिछड़ापन और संसाधनों का असमान वितरण आज बड़ी चुनौतियाँ हैं। ऐसी परिस्थितियों में दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्यों पर आधारित "एकात्म मानववाद" का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनका आर्थिक चिंतन मानव केंद्रित, नैतिक एवं समन्वयवादी था। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था का उद्देश्य केवल उत्पादन बढ़ाना नहीं, बल्कि मानव के सर्वांगीण विकास को सुनिश्चित करना होना चाहिए। उन्होंने समाज के अंतिम व्यक्ति के उत्थान को विकास का मूल आधार मानते हुए "अंत्योदय" की अवधारणा दी।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय स्वदेशी, आत्मनिर्भरता, ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था तथा नैतिक आर्थिक व्यवस्था के समर्थक थे। उनका मानना था कि भारत की वास्तविक उन्नति तभी संभव है जब गाँव, कृषि, कुटीर उद्योग और स्थानीय संसाधनों को विकास की मुख्यधारा में शामिल किया जाए। वर्तमान समय में "आत्मनिर्भर भारत", "मेक इन इंडिया", ग्रामीण विकास, सतत विकास तथा सामाजिक न्याय जैसी अवधारणाओं में उनके विचारों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

आज जब विश्व आर्थिक असंतुलन, पर्यावरणीय संकट तथा सांस्कृतिक विघटन की समस्याओं से जूझ रहा है, तब पंडित दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक हो उठते हैं। उनका चिंतन भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप एक संतुलित, मानवीय और नैतिक आर्थिक मॉडल प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत शोध पत्र में उनके आर्थिक सिद्धांतों का अध्ययन करते हुए वर्तमान समय में उनकी प्रासंगिकता का विश्लेषण किया गया है।

भारत की आर्थिक व्यवस्था प्राचीन काल से ही नैतिकता, सामाजिक समरसता, श्रम और आत्मनिर्भरता पर आधारित रही है। भारतीय संस्कृति में अर्थ को जीवन का एक महत्वपूर्ण पुरुषार्थ माना गया है, किंतु इसे धर्म और नैतिकता से अलग नहीं किया गया। आधुनिक काल में पश्चिमी आर्थिक विचारधाराओं—पूंजीवाद और समाजवाद—का प्रभाव विश्वभर में बढ़ा। भारत भी इससे अछूता नहीं रहा। स्वतंत्रता के पश्चात भारत ने मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया, किंतु इसके बावजूद गरीबी, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता और ग्रामीण पिछड़ापन जैसी समस्याएँ बनी रहीं। ऐसे समय में पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप आर्थिक

चिंतन प्रस्तुत किया। उन्होंने "एकात्म मानववाद" के माध्यम से मानव केंद्रित विकास मॉडल की बात कही। उनका मानना था कि अर्थव्यवस्था का उद्देश्य केवल सकल घरेलू उत्पाद (GDP) बढ़ाना नहीं, बल्कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन स्तर को सुधारना होना चाहिए। उन्होंने "अंत्योदय" अर्थात समाज के अंतिम व्यक्ति के उत्थान को विकास का आधार माना।

वर्तमान समय में वैश्वीकरण, तकनीकी विकास और उपभोक्तावाद के कारण आर्थिक संरचना में तीव्र परिवर्तन हुए हैं। इससे एक ओर आर्थिक अवसर बढ़े हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक असमानता, पर्यावरणीय संकट और सांस्कृतिक क्षरण जैसी चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। ऐसी परिस्थिति में पंडित दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन पुनः प्रासंगिक हो गया है।

शोध के उद्देश्य

1. पंडित दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक सिद्धांतों का अध्ययन करना।
2. उनके "एकात्म मानववाद" की अवधारणा को समझना।
3. वर्तमान समय में उनके आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता का विश्लेषण करना।
4. आत्मनिर्भर भारत, ग्रामीण विकास एवं सामाजिक न्याय के संदर्भ में उनके योगदान का अध्ययन करना।

शोध पद्धति

यह शोध पत्र मुख्यतः वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। इसके लिए पुस्तकों, शोध पत्रों, सरकारी रिपोर्टों तथा विभिन्न विद्वानों के लेखों का अध्ययन किया गया है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय : जीवन परिचय

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का जन्म 25 सितंबर 1916 को उत्तर प्रदेश के मथुरा जनपद के नगला चंद्रभान ग्राम में हुआ था। वे एक महान राष्ट्रवादी विचारक, संगठनकर्ता तथा दार्शनिक थे। उन्होंने भारतीय जनसंघ के माध्यम से भारतीय राजनीति में वैचारिक दिशा प्रदान की। उनका प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत "एकात्म मानववाद" था, जिसे उन्होंने 1965 में प्रस्तुत किया। उनका चिंतन भारतीय संस्कृति और परंपरा पर आधारित था। वे पश्चिमी विचारधाराओं के अंधानुकरण के विरोधी थे और भारतीय परिस्थितियों के अनुसार विकास मॉडल तैयार करने के पक्षधर थे। उनका मानना था कि भारत की उन्नति तभी संभव है जब विकास भारतीय संस्कृति, ग्राम व्यवस्था, आत्मनिर्भरता और नैतिक मूल्यों पर आधारित हो।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक सिद्धांत

1. एकात्म मानववाद

"एकात्म मानववाद" पंडित दीनदयाल उपाध्याय का प्रमुख दार्शनिक एवं आर्थिक सिद्धांत है। इसका मूल उद्देश्य मानव के सर्वांगीण विकास को सुनिश्चित करना है। उन्होंने मानव को केवल आर्थिक प्राणी नहीं माना, बल्कि शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समन्वित रूप बताया। उनके अनुसार पश्चिमी पूंजीवाद व्यक्ति को केवल उपभोक्ता मानता है, जबकि समाजवाद व्यक्ति को राज्य का साधन बना देता है। इसके विपरीत एकात्म मानववाद व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के बीच संतुलन स्थापित करता है।

यह सिद्धांत निम्न आधारों पर टिका है—

- मानव का समग्र विकास
- नैतिक मूल्यों की स्थापना
- सामाजिक समरसता
- आर्थिक न्याय

सांस्कृतिक संरक्षण

आज जब आधुनिक समाज उपभोक्तावाद और मानसिक तनाव से जूझ रहा है, तब यह सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक दिखाई देता है।

2. अंत्योदय की अवधारणा

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का मानना था कि किसी भी राष्ट्र की प्रगति का वास्तविक मापदंड समाज के अंतिम व्यक्ति का विकास है। उन्होंने "अंत्योदय" की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसका अर्थ है—समाज के सबसे कमजोर एवं पिछड़े व्यक्ति का उत्थान।

वर्तमान समय में सरकार की अनेक योजनाएँ जैसे—

- प्रधानमंत्री गरीब कल्याण योजना
- आयुष्मान भारत योजना
- प्रधानमंत्री आवास योजना

मनरेगा

आदि अंत्योदय की भावना को ही प्रतिबिंबित करती हैं।

भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ आज भी बड़ी संख्या में लोग गरीबी और बेरोजगारी से प्रभावित हैं, वहाँ अंत्योदय की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है।

3. स्वदेशी और आत्मनिर्भरता

पंडित दीनदयाल उपाध्याय स्वदेशी अर्थव्यवस्था के समर्थक थे। उनका मानना था कि विदेशी वस्तुओं और पूंजी पर अत्यधिक निर्भरता राष्ट्र की आर्थिक स्वतंत्रता को कमजोर करती है। उन्होंने स्थानीय उद्योगों, कुटीर उद्योगों और छोटे उद्यमों को बढ़ावा देने पर बल दिया। उनका विचार था कि भारत की आर्थिक प्रगति तभी संभव है जब गाँव और स्थानीय उद्योग मजबूत हों।

आज "आत्मनिर्भर भारत अभियान" में उनके विचारों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। भारत सरकार स्थानीय उत्पादन, "मेक इन इंडिया", स्टार्टअप और MSME क्षेत्र को बढ़ावा देकर आर्थिक आत्मनिर्भरता की दिशा में कार्य कर रही है।

4. ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का मानना था कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। इसलिए ग्रामीण विकास के बिना भारत का समग्र विकास संभव नहीं है।उन्होंने कृषि, पशुपालन, कुटीर उद्योग तथा ग्रामोद्योग को आर्थिक विकास का आधार माना। उनका विचार था कि ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार सृजन करके शहरों की ओर पलायन को रोका जा सकता है।

आज भी भारत की बड़ी आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। ऐसे में

ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूत करना अत्यंत आवश्यक है।

5. नैतिक अर्थव्यवस्था

पंडित दीनदयाल उपाध्याय अर्थव्यवस्था को नैतिक मूल्यों से जोड़ते थे। उनका मानना था कि केवल धन कमाना ही विकास नहीं है। यदि आर्थिक विकास मानवता, नैतिकता और सामाजिक संतुलन को नष्ट करता है तो वह वास्तविक विकास नहीं कहलाएगा। आज भ्रष्टाचार, उपभोक्तावाद, आर्थिक अपराध और पर्यावरणीय दोहन जैसी समस्याएँ आधुनिक अर्थव्यवस्था की बड़ी चुनौतियाँ हैं। ऐसे समय में नैतिक अर्थव्यवस्था की अवधारणा अत्यंत प्रासंगिक है।

वर्तमान समय में पंडित दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक सिद्धांत की प्रासंगिकता

1. आत्मनिर्भर भारत के संदर्भ में

कोविड-19 महामारी के दौरान वैश्विक आपूर्ति श्रृंखला प्रभावित हुई। इससे यह स्पष्ट हो गया कि किसी भी राष्ट्र के लिए आत्मनिर्भर होना अत्यंत आवश्यक है। भारत सरकार ने "आत्मनिर्भर भारत अभियान" प्रारंभ किया, जिसका उद्देश्य स्थानीय उत्पादन और स्वदेशी उद्योगों को बढ़ावा देना है। यह विचार पंडित दीनदयाल उपाध्याय के स्वदेशी एवं आत्मनिर्भरता संबंधी सिद्धांतों से पूर्णतः मेल खाता है। उन्होंने वर्षों पहले ही चेतावनी दी थी कि विदेशी निर्भरता आर्थिक संकट उत्पन्न कर सकती है।

2. बेरोजगारी की समस्या के समाधान में

भारत में बेरोजगारी एक गंभीर समस्या है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय का मानना था कि रोजगार सृजन के लिए कुटीर उद्योग, ग्रामोद्योग और कृषि आधारित उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय स्तर पर उद्योग विकसित किए जाएँ तो लाखों युवाओं को रोजगार मिल सकता है। इससे शहरों पर जनसंख्या का दबाव भी कम होगा।

3. आर्थिक असमानता को कम करने में

आज विश्व में आर्थिक असमानता तेजी से बढ़ रही है। कुछ लोगों के हाथों में अत्यधिक संपत्ति केंद्रित हो रही है जबकि बड़ी आबादी गरीबी में जीवन यापन कर रही है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय का अंत्योदय सिद्धांत आर्थिक न्याय और समान अवसरों पर आधारित है। यदि विकास योजनाएँ समाज के अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखकर बनाई जाएँ तो आर्थिक असमानता कम की जा सकती है।

4. पर्यावरण संरक्षण में उपयोगिता

आधुनिक औद्योगिक विकास के कारण पर्यावरणीय संकट बढ़ता जा रहा है। जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन आज वैश्विक समस्या बन चुका है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय प्रकृति और मानव के बीच संतुलन बनाए रखने के पक्षधर थे। उनका आर्थिक चिंतन सतत विकास की अवधारणा से जुड़ा हुआ था। आज पर्यावरण संरक्षण और सतत विकास के लिए उनके विचार अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

5. सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक संरक्षण

वैश्वीकरण के कारण सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय संस्कृति आधारित विकास मॉडल के समर्थक थे। उनका मानना था कि आर्थिक विकास ऐसा होना चाहिए जो सांस्कृतिक मूल्यों को सुरक्षित रखे। आज भारतीय संस्कृति, परिवार व्यवस्था और सामाजिक समरसता को बनाए रखने के लिए उनके विचार महत्वपूर्ण हैं।

6. ग्रामीण विकास की दृष्टि से

भारत की अधिकांश जनसंख्या आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और आधारभूत सुविधाओं की कमी आज भी एक चुनौती है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने ग्राम स्वावलंबन पर बल दिया। वर्तमान समय में ग्रामीण सड़क, डिजिटल इंडिया, कृषि सुधार और स्वयं सहायता समूह जैसी योजनाएँ उनके विचारों को आगे बढ़ाने का कार्य कर रही हैं।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के आर्थिक चिंतन की सीमाएँ

यद्यपि उनके आर्थिक सिद्धांत अत्यंत उपयोगी हैं, फिर भी कुछ सीमाएँ भी दिखाई देती हैं—

- आधुनिक वैश्विक प्रतिस्पर्धा में केवल कुटीर उद्योगों पर निर्भर रहना कठिन है।
- तकनीकी विकास और औद्योगीकरण की चुनौतियों का पूर्ण समाधान उनके सिद्धांतों में स्पष्ट नहीं मिलता।
- वैश्वीकरण के युग में पूर्ण स्वदेशी नीति व्यावहारिक रूप से कठिन हो सकती है।
- उनके सिद्धांत अधिक आदर्शवादी प्रतीत होते हैं, जिनके क्रियान्वयन में अनेक प्रशासनिक चुनौतियाँ हो सकती हैं।

फिर भी सामाजिक न्याय, नैतिकता और संतुलित विकास के संदर्भ में उनका चिंतन आज भी महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान करता है।

सुझाव

- ग्रामीण उद्योगों और कुटीर उद्योगों को सरकारी सहायता प्रदान की जाए।
- शिक्षा प्रणाली में नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को शामिल किया जाए।
- स्थानीय उत्पादों के उपयोग को प्रोत्साहित किया जाए।
- विकास योजनाओं में अंत्योदय की भावना को प्राथमिकता दी जाए।
- पर्यावरण संरक्षण आधारित विकास मॉडल अपनाया जाए।

निष्कर्ष

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन भारतीय संस्कृति, नैतिकता और मानव कल्याण पर आधारित है। उन्होंने एकात्म मानववाद के माध्यम से ऐसा विकास मॉडल प्रस्तुत किया जिसमें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के बीच संतुलन स्थापित किया गया है। आज जब विश्व आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, पर्यावरणीय संकट और सांस्कृतिक विघटन जैसी समस्याओं से जूझ रहा है, तब उनके विचार अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। आत्मनिर्भर भारत, ग्रामीण विकास, सामाजिक न्याय तथा अंत्योदय जैसी समकालीन अवधारणाओं में उनके सिद्धांतों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

उनका आर्थिक चिंतन केवल भारत ही नहीं, बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए मानवीय एवं संतुलित विकास का मार्ग प्रस्तुत करता है। अतः वर्तमान समय

में उनके सिद्धांतों का अध्ययन और व्यवहारिक क्रियान्वयन अत्यंत आवश्यक है।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन भारतीय संस्कृति, नैतिक मूल्यों तथा मानव कल्याण की भावना पर आधारित था। उन्होंने "एकात्म मानववाद" के माध्यम से ऐसा विकास मॉडल प्रस्तुत किया जिसमें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया गया। उनका मानना था कि आर्थिक विकास का वास्तविक उद्देश्य केवल धन अर्जन या औद्योगिक वृद्धि नहीं, बल्कि मानव के सर्वांगीण विकास और समाज के अंतिम व्यक्ति के जीवन स्तर में सुधार होना चाहिए।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित "अंत्योदय" की अवधारणा आज भी भारतीय आर्थिक नीतियों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो रही है। वर्तमान समय में गरीबी, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, पर्यावरणीय संकट तथा सांस्कृतिक विघटन जैसी समस्याएँ विश्व स्तर पर चुनौती बनी हुई हैं। ऐसे में उनके स्वदेशी, आत्मनिर्भरता, ग्राम आधारित अर्थव्यवस्था तथा नैतिक आर्थिक व्यवस्था संबंधी विचार अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। "आत्मनिर्भर भारत", "मेक इन इंडिया", ग्रामीण विकास योजनाएँ तथा सामाजिक कल्याणकारी नीतियाँ उनके आर्थिक दर्शन की उपयोगिता को प्रमाणित करती हैं। यद्यपि वैश्वीकरण और आधुनिक तकनीकी प्रतिस्पर्धा के युग में उनके कुछ विचारों को व्यवहारिक चुनौतियों का सामना करना पड़ सकता है, फिर भी सामाजिक न्याय, संतुलित विकास और मानवीय मूल्यों के संरक्षण के संदर्भ में उनका चिंतन आज भी महत्वपूर्ण है। उनका आर्थिक दर्शन यह संदेश देता है कि विकास तभी सार्थक है जब वह मानवता, नैतिकता और प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करे।

अतः कहा जा सकता है कि पंडित दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन केवल ऐतिहासिक या वैचारिक महत्व तक सीमित नहीं है, बल्कि वर्तमान और भविष्य की भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए भी एक प्रेरणादायी एवं मार्गदर्शक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उनके सिद्धांतों का समुचित अध्ययन और व्यावहारिक क्रियान्वयन भारत को आत्मनिर्भर, समरस एवं समृद्ध राष्ट्र बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

संदर्भ सूची

1. *उपाध्याय दीनदयाल*। (1965). *एकात्म मानववाद*। नई दिल्ली: सुरुचि प्रकाशन।
2. मिश्रा, के. एन. (2007). *पंडित दीनदयाल उपाध्याय : विचारधारा और दर्शन*। नई दिल्ली: सुरुचि प्रकाशन।
3. शर्मा, महेश चंद्र। (2018). *दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन*। जयपुर: रावत पब्लिकेशन।
4. सिंह, ओमप्रकाश। (2015). *भारतीय आर्थिक विचारधारा*। नई दिल्ली: राज पब्लिशर्स।
5. NITI Aayog. (2021). *न्यू इंडिया @75 रणनीति दस्तावेज*। नई दिल्ली: भारत सरकार।
6. Ministry of Rural Development. (2022). *वार्षिक प्रतिवेदन 2021–22*। नई दिल्ली: भारत सरकार।
7. कुमार, अजय। (2019). समकालीन भारत में एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता। *अंतरराष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका, 9*(4), 112–118।
8. वर्मा, राजेश। (2020). अंत्योदय और भारत में समावेशी विकास। *भारतीय आर्थिक चिंतन जर्नल, 14*(2), 45–53।
9. जोशी, प्रमोद। (2017). ग्रामीण विकास और दीनदयाल उपाध्याय का स्वदेशी चिंतन। *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, 78*(3), 301–309।
10. Ministry of Micro, Small and Medium Enterprises. (2023). *एमएसएमई वार्षिक रिपोर्ट 2022–23*। नई दिल्ली: भारत सरकार।
11. पटेल, संजय। (2021). भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद और आत्मनिर्भरता। *आर्थिक अध्ययन पत्रिका, 11*(1), 66–74।
12. तिवारी, एस. के. (2018). एकात्म मानववाद और सतत विकास। *मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका, 9*(1), 89–95।

*****

Role of Music and Nutrition in Emotional Balance, Stress Management and Emotional Regulation in Adolescents

-**Dr. Deepa Singh**
Assistant Professor,
Department of Home Science
M.B.G.P.G. College, Haldwani Nainital

-Dr. Nirmala Joshi
Associate Professor,
Music Department,
M.B.G.P.G. College, Haldwani - Nainital

Abstract:
Adolescence is a vital period in the life of human beings when there is a fast pace of physical, emotional and psychological change. During this period, adolescents often experience stress, emotional instability and problems with emotional control owing to academic stress, social pressures and personal problems. Music has been discovered as a means through which young people express their emotions, relieve themselves of stress and achieve psychological satisfaction. It is common during this time for adolescents to be unstable emotionally, stressed out and anxious. In recent times, music has been found to play a critical role in helping adolescents manage their psychological and emotional health. Music affects their emotional states, thought processes and behavior in different ways. This research article examines the role played by music in balancing emotions, managing stress and regulating emotions in adolescents. It discusses the meaning and psychological aspects of music, including its relation to human emotions and brain functioning. It examines how musical rhythms, melodies and lyrics can impact emotional experiences and help improve moods and express emotions.

Keywords: Adolescents, Music, Emotional Balance, Stress Management Author"s email id - tanujamelkani10@gmail.com

Music can change the world because it can change people.

—Bono

1.Introduction

Adolescence is another important stage in human development. It is considered the period from childhood to adulthood. This stage occurs between 10 to 19 years of age and sometimes lasts longer depending on social and psychological maturity. Adolescence involves physical, emotional, cognitive and social development. It is a time when adolescents start developing their personality, independent thinking and emotional intelligence. Adolescence is a vital period for personality development, behavioural patterns and future life decisions. During this stage, adolescents undergo several biological and psychological changes affecting their emotions, thoughts and social interactions. Hall (1904) showed adolescence to be a time of "storm and stress" whereby conflicts and challenges of adolescence are not normative parts of the experience. Adolescents become more sensitive to issues of acceptance, peer interaction, academic pressures and self-image at this stage.

Adolescence can be associated with emotional swings, confusion, stress and other psychological problems. An adolescence filled with good health helps develop self-confidence, emotional maturity, social adaptation and emotional well-being. There is a need to learn about the emotional requirements of adolescents and also find ways in which music could assist them. Nowadays adolescents are under a lot of pressures from school and families. The increasing competition and pressure can negatively affect adolescents emotionally and psychologically. Many teenagers have difficulties coping with their emotions like anger, sadness and fear.

Adolescence is regarded as one of the most emotionally vulnerable periods in people's lives. In the course of adolescence, young people experience fast and multiple physical, psychological and social changes which may result in unstable feelings. Adolescents have a better comprehension of the dynamics of group socialization (Leets & Sunwolf, 2005). There has been a sig-

nificant increase in the stress levels among adolescents due to the fast pace of changes in social life, education and technology.

Apart from the academic commitments, they also struggle with social problems such as peer pressure, relationships and social acceptability. The extensive use of social media has added more emotional stress as adolescents compare themselves with others, worry about missing something and feel insecure about their appearance and popularity. Such pressures usually leave adolescents mentally fatigued, worried and emotionally stressed.

Emotional regulation is an ability of a person to appropriately comprehend, control and express feelings and emotions. Adolescence is characterized by rapid emotional shifts caused by both biological factors and environmental influences. In this respect, many young individuals fail to control their emotional state. Such feelings as anger, frustration, fear, sadness and excitement become more frequent during this period. Emotional regulation ensures proper reaction on various situations and ability to think about the way out of problematic conditions, rather than acting impulsively and uncontrollably. It is also necessary for building up positive interpersonal relations and maintaining healthy emotional state.

2Music and Human Emotions

2.1 Meaning and Nature of Music

Music is commonly defined as the art of putting sound together in a harmonious and expressive combination that produces certain emotions, aesthetic and psychological effects. Music is an integral part of any culture or community and performs the function of emotional, social and spiritual expression. In accordance with the Oxford Dictionary, music is "a vocal or instrumental sounds or both, combining in such a way as to produce beauty of form, harmony and expression of emotion." So, music is considered as an art that affects human emotional state and gives rise to certain experiences. In terms of psychology, music can be referred to as an element of emotional communication and mental stimulus. As per psychologists, music can help people control their moods, relieve tension and enhance emotional health. Music is very relevant, especially for adolescents who listen to music greatly and regard music as a significant element of their life (Christenson and Roberts, 1998; Christenson et al., 1985; North et al., 2000; Zillmann and Gan, 1997).

Music has turned out to be an important element of teenagers' lives, especially regarding their emotions. There are many reasons why adolescents listen to music, including as a form of entertainment, to get motivated, express their emotions and relieve themselves of stress. In spite of its popularity and importance, the part played by music in balancing emotions, managing stress and regulating emotions in adolescents needs more scholarly research and discussion. Music serves as one of the major psychological tools through which people find a way of managing their emotions and psychology in general.

Music tends to affect human thoughts, feelings and behavioural characteristics significantly. In this regard, adolescents can benefit from using music as a means for relieving stress and overcoming emotional barriers. For example, music makes possible the creation of various emotions such as joy, peace, motivation and emotional comfort. It enables the person to feel relieved of person‟s problems and difficulties. Music helps alleviate anxiety, stress and emotional distress by making positive emotional experiences possible for adolescents. Sloboda et al. (2001) found that many adolescents use music for managing their emotional reactions while under stress, especially when they face difficulty in communicating emotions

through language. This is because music enables adolescents to relax, experience joy and relieve depression as well as overcome other psychological problems. Music serves as an appropriate companion during difficult times such as loneliness, confusion and instability in the individual's life.

2.2 Psychological and Cultural Dimensions of Music

The importance of music from a psychological perspective cannot be undermined. The different genres of music lead to the creation of different moods and emotions such as happiness, peacefulness, motivation or relaxation. Music works as the mode of emotional and psychological expression. It helps people to manage the stress and anxiety created by emotional tension. Music can help individuals concentrate and elevate the mood along with maintaining their emotional stability. Adolescents can use music to fight their feelings of loneliness, frustration and academic stress.

Music is also loaded with cultural significances. Music expresses the traditions, beliefs, values and lifestyles of people from diverse cultures. Every culture

has a type of music that they practice during festivals, religious occasions and social functions. In Indian culture, music is often linked to spiritualism, peace and harmony. The function of cultural music extends beyond preserving cultural traditions, but also ensures social unity and identity for individuals. Thoma et al. (2013) found that participants listening to self-selected music showed a decrease in both physiological and psychological levels of stress. Adolescents may also find their identities reinforced by their cultural music and how they feel emotionally connected to it. Music plays dual roles as a psychological tool and as a cultural force that bonds an individual to person‟s society and emotions.

2.3 Emotional Connection with Music

There exists a strong emotional bond between music and human beings due to the effect that music can have on people's emotions. Music is emotionally powerful and meaningful as it is associated with certain experiences, emotions and memories that people have in their lives. Different emotions can be evoked in them ranging from happiness to excitement or even sadness. Adolescents usually use music to communicate their emotions when they cannot speak out directly.

The bond formed between the individual and the music enables the adolescent to control emotions and stay emotionally balanced. Relaxing or inspirational music helps relieve emotional stress and boost moods. Adolescents have a tendency to form bonds with particular types of songs, artists or genres because they reflect their emotions and thoughts. Lonsdale and North (2011) found that adolescents view music as an effective method of controlling emotions, with music preference sometimes mirroring their emotional requirements. Music serves as a companion during emotionally trying times. Music is such a strong emotional element that it contributes significantly to the psychological comfort of the young individual.

3.Emotional Balance in Adolescents

3.1 Concept of Emotional Balance

Emotional balance is an ability that allows an individual to keep a stable state of mind in relation to their emotions during various circumstances in life. Emotional balance takes particular importance during the adolescent stage as the rapid growth and development. It takes place during this stage have a great impact on the emotional life of the individuals. Adolescents tend to experience emotional highs and lows as they struggle with academic pressures, peer pressure and family expectations.

The issue of emotional balance among adolescents is associated with the mental state, self-confidence and development of personality in general. Adolescents with emotional stability can more easily handle stress, build interpersonal relations and behave positively. Adolescents with emotional imbalance can display irritability, aggressiveness, anxiety and other negative traits. Adolescents should be provided with an environment conducive to their emotional well-being and taught effective coping strategies. Music has a great potential in helping adolescents with relaxation and emotion regulation.

3.2 Emotional Issues Faced by Adolescents

It is considered that adolescence is a very sensitive period of time during which people face different types of emotions and feelings that make them struggle both emotionally and psychologically. The followings are the major emotional issues generally faced by adolescents:

- **Anxiety:** Another common emotional problem among adolescents is anxiety. Anxiety is associated with feelings of worry or fear for the future, academics, peer acceptance and one‟s own identity. Constant feelings of anxiety might impair their confidence, concentration and emotional well-being.

- **Mood Swings:** Mood swings are common among adolescents because of fluctuating hormones and heightened emotions. Adolescents might rapidly change from being happy to being sad, mad and frustrated. Such dramatic mood swings might impact their relationships and behavior.

- **Peer Pressure:** The third problem associated with adolescents‟ emotional well-being is that of peer pressure. Adolescents might be highly influenced by their peers when making decisions and choices trying to fit into a group and be liked by others. Such negative peer influence might create emotional strain and poor emotional well-being.

- **Academic Stress:** One of the main problems adolescents face today regarding their emotional well-being is that of academic stress. It is associated with constant pressures of taking exams,

competing and having high expectations for their careers.

3.3 Role of Music in Emotional Stability

Music is an essential element in enhancing emotional stability for adolescents by aiding them in managing their emotions in a balanced way. At this stage, people face several changes in life, causing emotional instability and stress. For example, they encounter various challenges in personal, educational and social aspects.

So, music becomes an important factor that helps people in alleviating stress through relaxation and comfort. When people listen to soothing music, it calms their minds, lowers emotional tensions and creates positive emotional experiences.

The use of music plays a vital role in helping adolescents build up their resilience to become emotionally stable. Music helps in lifting one‟s mood positively and making adolescents think positively about things happening around them. Adolescents turn to music to cope when they feel sad, lonely, frustrated or stressed. When motivational and soothing music creates positive feelings like optimism, self-confidence and emotional security, adolescents have the ability to handle the stresses of life better. Due to the impact that music has on the individual's emotions, the value of music in emotional development has been acknowledged.

4. Music and Stress Management

4.1 Meaning of Stress in Adolescence

Adolescent stress is a state of tension, anxiety and uneasiness that adolescents go through during the process of coping with different aspects of development and education. Adolescence is an intermediate phase where an adolescent experiences various physical and emotional transformations and tends to feel confused, anxious and stressed.

Adolescent faces problems while coping with various expectations regarding study, friendships, future planning and self. The failure to cope with such pressure results in stress and emotional instability.

Academic and social stressors are some of the most prevalent forms of stress that occur among adolescents. Academic stress occurs due to tests, heavy workload, competition, parents' expectations and worry about their future careers. Many adolescents are faced with the challenge of doing well in school. Some of the common social stressors are peer pressure, problems with friends, social comparison, bullying and the need to be accepted socially. Social media has made social stress even more prevalent by influencing adolescents' self-image.

4.2 Music as a Coping Strategy

It has been found that music is a very effective technique to cope up with the stresses of life during adolescence. The adolescent phase of life can be filled with anxiety, frustration, feeling alone and confusing emotions. It is at this time when music plays its role as it makes you emotionally comfortable. Music can make a person emotionally happy and help him relax his mind.

Music also provides adolescents with an opportunity to healthily channel their emotions. Adolescents often form an emotional attachment to music genres and songs that portray their emotions and life experiences. Such emotional attachment enables them to understand that they are not alone during challenging times. Music also encourages emotional well-being through the enhancement of self-confidence and motivation. The availability and emotional effect of music make it the most used and valuable coping technique for emotional well-being among adolescents.

5 Music and Emotional Regulation

5.1 Concept of Emotional Regulation

Emotional regulation is the ability of the person to recognize, control and show person‟s emotions in an appropriate way. Emotional regulation means controlling one‟s emotions as well as having a calm response to the situation. Emotion regulation is critical during the teenage years when teenagers go through a number of changes that cause them to feel extremely strong emotion.

These emotions are such as anger, depression, anxiety, excitement or frustration. Proper emotion regulation will help teenagers maintain emotional balance make decisions easily and have positive relations with other people. Various studies on general mood regulation have found that listening to music as a regulatory strategy (Parker and Brown, 1982; Rippere, 1977; Silk et al., 2003; Thayer et al., 1994).

It is important to comprehend emotional control and expression in order to achieve emotional regulation. Emotional control does not imply complete suppression of emotions but rather the management of emo-

tions in a productive manner. Emotional expression includes the proper expression of one‟s emotions without self-harm or inflicting harm on others. Adolescents who learn to regulate their emotions properly are likely to handle stress, solve problems and maintain psychological health effectively.

5.2 How Music Supports Emotional Regulation

Music is instrumental in helping an individual to regulate their emotions through positive manipulation of person‟s emotions and mental states. Music allows one to control emotional reactions, expression and keep emotional stability in emotionally taxing situations. The followings are the some important ways through which music supports emotional regulation among adolescents:

- Self-Awareness through Music: Music contributes to self-awareness among adolescents through self-reflection and contemplation of one‟s thoughts and feelings. The different genres of music and lyrics may resonate with adolescents and provide insight into their emotional states and identity. Adolescents can discover and recognize emotions that are not directly accessible to them using music.

- Regulation of Anger, Sadness, and Frustration: Music regulates negative emotions like anger, sadness, and frustration. Listening to soothing music or songs with deep meaning decreases emotional tensions and produces feelings of serenity and tranquillity. Adolescents resort to music when they encounter emotionally charged scenarios in their lives and use music to cope with their emotional outbursts.

- Emotional Catharsis: Music acts as an emotional catharsis for adolescents. Engaging in music-related activities like singing releases suppressed emotions and emotional stress. Adolescents find themselves feeling lighter, emotionally relaxed and psychologically relieved from emotional burdens and stresses after singing or listening to music.

6.Educational and Psychological Implications: Schools, families and counselors play an important role in ensuring that teenagers maintain good mental health and proper emotional development. The input from such parties can aid teenagers in utilizing music in the right manner for emotional stability.

6.1Role of Schools

Schools can play a significant part in enhancing emotional wellbeing amongst teenagers by incorporating music into their co-curricular activities. Music can be incorporated in various ways including singing, playing musical instruments, joining musical clubs or culture clubs and engaging in various programs. These help teenagers express their feelings, relieve stress and gain self-confidence. The other way that schools can help promote emotional wellbeing is by introducing wellness programs and sessions involving music.

6.2 Role of Parents and Counselors

Parents and counselors play a great part in motivating young adults to engage in a healthy way with music. They can assist young adults in engaging positively with music which will aid in the relaxation process, motivate them and help in stabilizing their emotional health. Music could also be used by parents and counselors when addressing adolescents emotionally. This is through music understanding and the emotional needs of the adolescents which they need at different levels.

7.Suggestions and Recommendations: The following recommendations are made to encourage the appropriate use of music in managing emotions and stress in adolescents:

- Music should be included in educational curricula as a means of enhancing emotional development among adolescents.

- Educational institutions should arrange co-curricular music activities like singing, instrumental performances and cultural events.

- Music relaxation classes can be conducted at educational institutions to assist adolescents in relieving stress and enhancing focus.

- Parents should motivate adolescents to interact with positive and constructive music that stabilizes emotions.

- Music can also be used as a supplementary tool during counseling and emotional guidance sessions.

- Music should not be used by adolescents as an escape route but as a coping mechanism.

- Consciousness-raising programs should be conducted for parents and teachers about the advantages of music emotionally.
- Educational institutions can create music clubs and safe environments where adolescents can express themselves and relieve their emotions through music.
- The involvement of adolescents in various musical activities can be promoted by teachers and other adults for confidence building and emotional stability.
- Exposure to music that contains violent and emotionally upsetting content should be kept to a minimum.
- Music therapy can be adopted in schools and counseling centers for mental well-being.
- It is crucial for teachers to understand the emotional needs of adolescents and encourage constructive musical involvement.
- More research on the association between music and adolescent mental health can be conducted in various cultures.
- Government and educational departments can launch music-based mental health projects for adolescents.
- An environment can be created that includes schools, parents and counselors to utilize music constructively for emotional equilibrium and stress management.

Conclusion

The significance of adolescence as a developmental stage and the common problems associated with this stage such as emotional issues experienced by adolescents and increased academic and social stress in adolescents were discussed. The psychological and cultural factors associated with music were discussed together with the role that music plays in shaping emotions and mood in people. The roles of educational institutions, parents and counsellors need to be harnessed for constructive usage of music as a medium of emotional wellness among adolescents. Whereas too much exposure to certain kinds of music needs to be controlled, appropriate exposure to music will definitely play a great role in emotional wellness among adolescents. The music can be viewed as a therapeutic tool in addition to being entertaining. Music can help adolescents grow emotionally and healthy psychologically.

References:

Christenson, P.G., DeBenedittis, P. and Lindlof, T.R. (1985) „Children‟s Use of Audio Media‟, Communication Research 12(3): 327–43.

Christenson, P.G. and Roberts, D.F. (1998) „It‟s Not Only Rock & Roll‟: Popular Music in the Lives of Adolescents. Cresskill, NJ: Hampton Press.

Hall, G. S. (1904). Adolescence: Its psychology and its relation to physiology, anthropology, sociology, sex, crime, religion and education. Englewood Cliffs, NJ: Prentice-Hall.

Leets, L., & Sunwolf. (2005). Adolescent rules for social exclusion: when is it fair to exclude someone else?. Journal of Moral Education 34, 343-362.

Lonsdale, A. J., & North, A. C. (2011). Why do we listen to music? A uses and gratifications analysis. British Journal of Psychology, 102(1), 108-134.

North, A.C., Hargreaves, D.J. and O‟Neill, S.A. (2000) „The Importance of Music to Adolescents‟, British Journal of Education Psychology 70: 255–72.

*****

The Impacts of AI on the Society and warfare

-Dr. Atul Chand
Assistant Professor
Government Degree College Baluwakote
Pithoragarh Uttarakhand

Abstract- At present we are entered in era where till now computers and internet were influencing our lives now Artificial intelligence has also entered there. AI ChatGPT and Google Gemini has brought a new revolution in the field of technology, where on one hand AI has influence our lives, on the other hand it is also Influencing the field of war and weapons. The use of AI is playing an important role in the field of Education, Research, Innovation, Industry, health sector and weather Forecasting etc. While one hand our lives easier, on other hand it also poses serious dangers. on one hand, Its excessive use will make human lazy and reduce brain usage. On the other hand there is also a danger that AI may consider itself the master of the world and start ruling over humans.

KEY WORDS- AI, ChatGPT, Iron Dome, Covid -19, IMD,IDF, hack, Xray,

Now we have entered the Digital era. In the present time, the emergence of Artificial Intelligence has brought a revolutionary change in society and warfare. It is having a profound impact not only on our daily lifestyle but also on various aspects of war. Where earlier we used to do all the work ourselves with our own hands, today we are becoming increasingly dependent on machines—whether it is a washing machine, refrigerator, cooler, various kitchen appliances, or weapons used in warfare such as automated drones, missiles, air-to-air combat weapons, automated machine guns, or night vision technology. Artificial Intelligence is casting its magic everywhere. Earlier, we used to operate washing machines, refrigerators, etc., manually. Now, we can control and automate them even from far away. Similarly, in ancient times, wars were fought through direct hand-to-hand combat (Dogfight). Today, we are conducting digital wars while sitting in laboratories, engaging in psychological warfare, and using new automated drone and missile technologies. The revolutionary changes that Artificial Intelligence is bringing in the present era find evidence in ancient Indian scriptures such as the Ramayana[1] and Mahabharata from thousands of years ago.

The wars in Ukraine, Israel-Gaza, and Iran are pointing towards the wars of the future. They indicate that the coming time will be of even more automated warfare, where humans will hardly get any chance to react. There is also a possibility that future wars, fought by Artificial Intelligence developed by humans themselves, may become the cause of human destruction. The increasing intervention of science and technology in military systems is changing the character of war.

In our daily life also, Artificial Intelligence is emerging as an important factor. It's important role was seen during the COVID-19[2] pandemic. It is estimated that in the coming times, it will play a crucial role in the fields of education and healthcare. During the COVID pandemic, AI-powered doctor facilities benefited everyone. Thousands of lives were saved through telemedicine. Voice assistants in mobiles, self-driving cars, etc., that you see today are all examples of the growing use of AI. Even more advanced forms of it will be seen in the future.

Use of Artificial Intelligence in the Armed Forces-

The possibilities of using Artificial Intelligence in the military are immense. Future wars will be automated and fought with AI-enabled weapons. When we analyze current wars, we see

that we are only witnessing a small glimpse so far. In the future, it will become much more widespread and destructive. The cyber wars between Russia and Ukraine[3], and between India and Pakistan, India and China[4] , are presenting examples of digitized wars conducted from laboratories. The increasing use of hacking[5] has now become a common occurrence.

Israel's Usage-

It is said that the Israeli Defense Forces (IDF) are using a new AI technology called Habsora (also known as "The Gospel") against Hamas in Gaza. This technology is proving very useful in locating Hamas militants' hideouts, estimating their numbers, estimating the number of deaths, bombing, and targeting. Israel has been successful in precise targeting and identifying the number of militants with its help. This is indicating that future wars will be even more digitized. Artificial Intelligence technology will increase the intensity of war[6]. A former chief of the Israeli army stated that while human intelligence-based analysis could identify only 50 targets in Gaza for bombing in one year, now with the Habsora system, 100 targets can be identified in a single day. This has become possible only with the help of AI because it uses machine learning algorithms to analyze and select the right targets. Israel also successfully thwarted Iran's attack using its AI-enabled weapons.

AI is ready to play a major role in all three branches of the armed forces—Air Force, Navy[7], and Army. With the use of AI, wars will become more precise and destructive. Efforts will also be made to deceive enemies using AI. Sensors will be installed in army tanks and armored vehicles that will make them appear as passenger buses or cargo vehicles, thereby hiding them from enemy sight. The use of AI-based drones has given a new dimension to warfare, where devastating strikes can be made on enemies without any loss of soldiers. Vivid examples of this have been seen in the recent Israel-Iran and Gaza wars. Israel's Iron Dome[8] system has neutralized enemy attacks and misled them, pointing towards future wars[9]. Similarly, naval forces will also succeed in deceiving enemies through its use.

Impact of Artificial Intelligence on Social Life-

In the Health Sector- The use of AI in healthcare has been clearly visible since the COVID period. With the help of AI algorithms, doctors are getting great assistance in diagnosis and treatment planning. It can analyze patient records, lab results, medical images, X-rays, ultrasounds, and other medical data. AI-supported ChatGPT and virtual assistants are also being used for personal healthcare. Along with this, AI is making a special contribution in the discovery of new medicines, genome research, etc. Scientists have succeeded in identifying drug candidates and uncovering insights into complex diseases.

In the Education Sector- AI is also playing an important role in education. AI algorithms can analyze students' learning patterns, abilities, and preferences to create personalized educational content and recommendation-based programs. AI-powered virtual reality and augmented reality applications can create broad educational experiences, making complex concepts more engaging and easier to understand.

Use of AI ChatGPT- AI ChatGPT has initiated a revolutionary change. It is helping not only in writing but also in concept building. Khan Academy founder and CEO SalKhan shared a case study in which a student used AI to understand the symbolism of the green light in F. Scott Fitzgerald's The Great Gatsby. The student asked the AI tutor to act as Gatsby and answer questions in character. The AI tutor responded accurately, tastefully, and relevantly. In the future, students will be able to talk to Einstein about his mass-energy equation, to Marie Curie about her discoveries, to Shakespeare about his plays and life, and to Anne Frank about her life. This will surely be a unique experience.

In Industrialization- In industries, productivity is being rapidly increased through the use of AI. Tasks that used to take humans a lot of time are now being performed with great accuracy by AI using machine algorithms. AI systems analyze large amounts of data, identify patterns, and make far more accurate analyses than humans, leading to increased production capacity.

In Weather Forecasting- AI is now also being used in weather forecasting. Work has started in India and across the world on its applications. Efforts are being made globally to bring accuracy in forecasting rain, floods, droughts, cyclones, tsunamis, etc. India is also testing AI-based climate models. The UK Met Of-

fice says this could bring revolutionary changes in weather forecasting. In India too, the use of AI and machine learning has begun in weather forecasting. Director General of the India Meteorological Department (IMD), Mrityunjay Mahapatra, has stated that emerging technologies in the coming years will complement numerical weather prediction models. The IMD is moving towards more accurate forecasting at the panchayat level or areas larger than 10 square kilometers using observation systems. IMD has prepared a network of 39 Doppler radars covering more than 85% of the country's area and provides hourly forecasts for major cities. IMD has digitized weather records from 1901 onwards, and machine learning and AI can be used for accurate analysis. AI-based models analyze past data without going into the physics of events and provide weather information. The IMD chief said that AI and numerical models will complement each other. The goal is to provide weather forecasts at the panchayat or rural level for agriculture, health, urban planning, hydrology, environment, tsunami, flood, drought, heat wave, malaria, etc.

Adverse Effects of AI- While AI is showing many benefits, destructive consequences are also visible on the other side. It is estimated that future wars will be even more destructive and automated. Increasing use of AI in industries will reduce employment opportunities and increase the unemployment rate. In education too, the need for teachers will decrease. In factories, the work of hundreds or thousands of people will be done by a single machine, leading to higher unemployment. However, there will be benefits in healthcare services, especially in remote areas where doctors cannot reach—treatment will be possible through telemedicine. New drug discoveries and research will happen faster, and solutions to complex diseases will be found. In the military sector, the use of AI will be revolutionary. It will increase psychological warfare and shadow wars. There will be greater chances of human destruction and loss of life and property. There is also a possibility that highly advanced AI systems may cause many weapons to be hacked or jammed. With more sophisticated missile defense systems, attacking enemies will not be easy.

References :-

1. Chand Dr.Atul, "Ramayan kal me Kritrim Buddhimatta ke sakshya" ShodDhara, P-129-135 , December 2022.
2. Chand Dr.Atul, 'Wuhan Various ka Such ' Printing Area, P-174-179, June 2021.
3. Chand Dr. Atul, 'Rusa Ukraine ke Madhya Cyber war' VidhyaWarta P-148 July to September 2022 Vol (03)
4. Singh Saroj, 'China kaise karta hai Cyber Hamale, Bhart inse kaise nipat sakata hai' March 3, 2021, www.bbc.com.
5. Chand Dr.Atul, 'ethical hacking aur Rastriya surksha' Bhart me Cyber surksha Chunautiya aur Vikalp, P229- ASR Publication Lucknow, 2020.
6. Ahronnheim Anna, 'Isreal's Operation against was the world's First AI' The JERUSALAM POST, May 27, 2021
7. tong ready, Je sam Galdorisi George 'AI at War: How Big data Artificial Intelligence and Machine learning are changing the naval warfare Naval Institute Press 2021.
8. 'Israel's Missile defence system Blunt Palestinian Attack from Gaza' The Economist , October 12, 2021 .
9. Sharre Pal,'Army Autonomous Weapons and the Future ka war' Norton 2019.

*****

नवीन परिपेक्ष में नई कविता के विविध आयाम

- राजेश मीना
शोधार्थी,
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
Mail – rajmeenaa97@gmail.com

'प्रयोगवाद' और 'नई कविता' एक-दूसरे से काफी निकट व संबंधित काव्यादोलन है, किंतु मात्र इसी तर्ज पर इन्हें एक-दूसरे का पर्याय मान लेना भी उपयुक्त नहीं। प्रयोगवाद जहां अज्ञेय के संपादकत्व में प्रकाशित तार सप्तक के प्रकाशन काल (1943) से आरंभ माना जाता है, तो वहीं सन् 1851 में दूसरे सप्तक के साथ ही नई कविता का नामकरण व अस्तित्व दोनों ही स्पष्ट तौर पर दिखने लग जाते हैं। अज्ञेय ने ही दूसरे सप्तक की भूमिका में इस काव्य प्रवृत्ति के लिए नई कविता नाम का प्रयोग किया। 1953 में प्रकाशित नए पत्ते से वहां नई कविता का विकास हमें दिखने लग जाता है तो वह 1954 में जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी के संपादन में प्रकाशित नई कविता में नई कविता अपने पूरे सभावित प्रतिमानों व पक्षों के साथ प्रकाश में आती जान पड़ती है।[1] प्रयोगवाद से निकटता के चलते नई कविता को प्रयोगवाद का पूर्व पक्ष या प्रयोगवाद का ही एक विकसित रूप मान लेना भी अनुचित नहीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारतीय जनमानस की आशाए व स्वप्न स्वतंत्रता के बाद निराशा व यथार्थ की कटुता में परिवर्तित हो उठे। मध्य वर्ग का संघर्ष समाप्त न हुआ और पूंजिपतियों का आधिपत्य बना रहा। इसके चलते एक मोहभंग' की प्रक्रिया का भी जन्म हुआ। यही मोहभंग नई कविता में मुखरित बन पड़ा है। इसमें कल्पना की बजाय जीवन की विषमताओं व कड़वाई की अभिव्यक्ति है। अत नई कविता में लघु मानव के केंद्र में आ जाता है और उसकी इच्छाए, संघर्ष व परिस्थिति ही कविता के असल सरोकार है। इस दौर का कवि किसी वाद या विचारधारा में नहीं बंधना चाहता अर्पितु इससे मुक्ति चाहता है। तभी तो वरिष्ठ आलोचक बच्चन सिंह कहते हैं. "नई कविता नाम देने का मुख्य कारण भी यह है कि कवि अपने को किसी वादग्रस्त शिविर में बद नहीं रखना चाहते थे।"[2]

नई कविता की प्रवृत्तिया मात्र सप्तको पर आधारित नहीं अपितु उससे कुछ व्यापक है। सप्तकेतर कवियों का योगदान भी इस काव्यांदोलन के लिए दिशाएं निर्धारित करता रहा था। जीवन के संघर्ष उपयोग के प्रति केद्रित व जीवन के प्रति आस्था रखने वाला यह काव्य मनुष्य को उसके संपूर्ण गुण - दोष व विषम परिस्थितियों के साथ स्वीकार करता चलता है। अत नई कविता में परंपरा की नई व्याख्या विद्यमान है। यह नई स्वीकृति ही नई दृष्टि को भी जन्म देती है। आज की नई कविता में जीवन की पूर्ण स्वीकृति है। लघु मानवत्व की जो बात नई कविता में उठाई गई है, उसे भी जीवन की पूर्णता के ही संदर्भ में देखना होगा। [3]

यथार्थवादी व मानववादी दृष्टिकोण नई कविता के कवियों को मिथ्या आदर्श की परिकल्पनाओं की जजीरों में नहीं जकड़ता अपितु एक ऐसी बौद्धिक चेतना विकसित करने में सशक्त करता जान पड़ता है जो उसके भीतर की संवेदना व उसके परिवेश का नाना स्तरों पर समझ सकने में परिपक्व कर देता है। इसलिए रघुवीर सहाय अत का आरंभ में कह सके है -

'पुण्य की पहचान लेने, तोड़ बंधन वासना के
जब तुम्हारी शरण आ. सार्थ के हुआ था जन्म मेरा
अधम कटकर क्यों दिया इतना निठुर उपलम्भ है यह
अत का प्रारंभ है यह।'

'नई कविता' में क्षणवाद एक नए प्रकार की आधुनिक संवेदना को मुखरित करती है। यहां जीवन के प्रत्येक क्षण को सत्य माना गया है। क्षण-बोध शाश्वत बोध का विरोधी नहीं अपितु उसे प्राप्त करने की प्रक्रिया के रूप में उभरा है। क्षणों में ही जीवन के दर्शन कराने का प्रयास इस काव्य प्रवृत्ति में है। इसे अज्ञेय की 'मैं ने देखा एक बूंद' या रघुवीर सहाय की 'आज फिर शुरू हुआ जीवन' जैसी कविताओं में देखा जा सकता है। क्षण को महत्त्व व प्रत्येक क्षण में शाश्वत जीवन

के दर्शन नई कविता धारा को विशिष्ट घोषित करता है।

नई कविता में मनुष्य अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के साथ प्रस्तुत है। यही इस काव्यधारा की मुख्य प्रवृत्ति भी रही कि यहां व्यक्ति समर्पित न होकर अपनी स्थिति के प्रति सतर्क है। नव मानव में व्याप्त अह सामाजिक उन्नति से विमुख नहीं अपितु वह समाज के प्रति पूरी निष्ठा के साथ प्रस्तुत है। "व्यक्ति सत्ता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर हुआ है। अज्ञेय और भारतभूषण अग्रवाल की कविताएं 'नदी के दीप' और 'हम नहीं है दीप' इस संदर्भ में पढ़ी जा सकती है।"[4]

'आत्म-केंद्रीयता और व्यक्ति स्वतंत्र्य का अर्थ प्राय समाज विमुखता से जोड़ दिया जाता है। इस अवधारणा के विरोध में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताएं देखी जा सकती है. 'देश कागज पर बना नक्श नहीं होता' कि एक हिस्से के फट जाने पट बाकी हिस्से उसी तरह साबुत बने रहे।" (कविता: देश कागज पर बना नक्शा नही होता) (खुटियो पर टंगे लोग) नए कवियों ने बिब' और भाषा के स्तर पर भी नए -नए प्रयोग किए बिब के महत्त्व को रेखांकित करने के लिए तो कवि केदारनाथ सिंह की तीसरे सप्तक के वक्तव्य में दी गई टिप्पणी ही पर्याय है कि "कविता में में सबसे अधिक ध्यान देता हू बिंब विधान पर" [5]

शमशेर की 'ऊषा' कविता में एक नए प्रकार का बिंब उभर आता है, जब वे कहते हैं कि "प्रात नभ था बहुत नीला शख जैसे"[6] साथ ही नए प्रतीको, उपमानों की भी जरूरत इन कवियों को दिखाई पड़ती है। इसीलिए अज्ञेय कह डालते है- "ये उपमान मैले हो गए है।" (कविता: कलगी बाजरे की) तो वही अज्ञेय नए सौंदर्यबोध तथा नए सत्यों की अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा की मांग करते हैं। वे 'पुरानी भाषा को अपर्याप्त मानकर भाषा के लिए नए संघर्ष की बात करते हैं। "विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गए है।"[7]

इसके अलावा नाटकीयता भी नई कविता का एक महत्त्वपूर्ण गुण है। मुक्तिबोध की 'अधेरे में' व रघुवीर सहाय की 'रामदास' जैसी कविताएं एक भिन्न प्रकार की नाटकीयता से पोषित है, जो कविता को एक नायाब आयाम प्रस्तुत करती है। "नई कविता ने अपने 'अंतग्रू थन' द्वारा यह काव्य सिद्धात प्रस्तुत किया है कि कविता में किसी सामान्यता सामान्य विचार भाव या धारणा का 'वक्तव्य' उतना नहीं होता, जितना एक स्थिति विशेष का नाट्यकरण अथवा नाट्यरूपातरण"[8]

भाषा के आधार पर भी नई कविता अपने पूर्ववर्ती युगों से भिन्न है। इस युग की भाषा छायावादी युग की भाति संस्कृत निष्ठ एवं अमूर्त नहीं है बल्कि नई कविता की भाषा आम जनजीवन की भाषा है। यहां पर स्पष्टता, सरलता एवं प्रत्यक्ष बोधगम्यता को वरियता दी गई है। वे शब्द जिनका प्रयोग हम दैनिक जीवन में बिना किसी पूर्वाभास के बस अभ्यास के आधार पर बोलते हैं, उन हर एक शब्दों का उसी रूप में कविता में प्रयोग हुआ है। और इसीलिए इस युग के कवियों ने नई कविता में जटिलताओं के होने के आरोप में उत्तर देते हुए कहा कि यह जटिलताएं जीवन की जटिलताएं है कविता कि नहीं। सरल शब्दों में यथार्थ को प्रस्तुत करती सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता इस मामले में ध्यातव्य है-

"हल की तरह कुदाल की तरह
या युरपी की तरह
पकड़ भी लूँ कलम तो
फिर भी फसल काटने मिलेगी नहीं हम को।"

कविता- 'फसल', (संग्रह-- खुटियो पर तांगे लोग , सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

नारी के प्रति भी नई कविता में एक अलग प्रकार का दृष्टिकोण सामने प्रस्तुत करती है। जहां छायावादी कवियों ने नारी को सहचरी माता, देवी आदि रूपों में देखा और उसकी महिमा का गुणगान किया ' नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहने वाले कवि जयशंकर प्रसाद ने नारी के प्रति आस्था प्रकट करते हुए उसे कला नृत्य साहित्य और संगीत की प्रेरणा स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया है। वहीं नई कविता में नारी को कई रूपों में यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया गया है। यहां पर नारी या तो संस्कृति की वाहिनी के रूप में गांव में वास करने वाली है या फिर बौद्धिक धरातल पर तार्किक होने के नाते इनसे विद्रोह करती हुई। नारी का एक और स्वरूप मध्यम वर्गीय नारी भी कविता में सामने आया है जहां पर वह न संस्कृति को छोड़ पाती है और न पूर्णत तार्किक हो पाती है और अपने जीवन को बोझ बनाकर संघर्ष में गुजारती है।

नई कविता के दौरान आस्था का प्रश्न भी महत्वपूर्ण रहा। नए कवियों का कहना था कि हमारा काव्य अगर अनास्थावादी लगता है तो इसलिए कि आज की सच्चाई यही है। उनके अनुसार, नई कविता वादों, विचारधाराओं, रूढ़ियों, सामूहिक निर्णयों पर झूठी आस्था का विरोध करती है।

वह नियतिवादी भविष्य के भ्रम जालो और आशा के झूठे जजालों पर विश्वास नहीं करती। नई कविता व्यक्ति के अपने विवेक पर आस्था व्यक्त करती है क्योंकि व्यक्ति का विवेक ही उसे सही दिशा दे सकता है ना कि बाह्य सत्य धर्मवीर भारती निजी विवेक के अतिरिक्त

आस्था का और कोई बाह्य आधार नही स्वीकारते अधायुग का प्रत्येक पात्र आस्थाविहीन है। किसी को भी भविष्य पर भरोसा नहीं है। मनुष्य का भविष्य उसे मृत नजर आता है. केवल आत्महत्या ही उन्हें दर्शन, धर्म, कला, संस्कृति तथा शासन में व्यक्त होती नजर आती है..

"यह आत्महत्या होगी प्रतिध्वनित शासन व्यवस्था में
इस पूरी संस्कृति में,
दर्शन में धर्म में
कलाओं में
आत्मघात होगा बस अंतिम लक्ष्य मानव का।"
(काव्य नाटक- अधायुग, धर्मवीर भारती)

नई कविता युग के कवियों ने प्रकृति प्रेम पर भी अपनी कलम चलाई परंतु प्रकृति को जिस रूप में इस युग के कवियों ने लिया वह पूर्ववर्ति युग से भिन्न था। छायावादी कवियों ने प्रकृति प्रेम का चित्रण अपनी कविताओं में स्वतंत्रता के भाव बोध के साथ किया क्योंकि गुलाम भारत में वे भौतिक रूप से इसकी अनुभूति नहीं कर सकते थे परंतु नई कविता के युग में देश आजाद हो चुका था। पुराने मूल्य टूट रहे थे और तेजी से हो रहे औद्योगिकरण एवं शहरीकरण के कारण प्रकृत का स्वरूप भी बदल रहा था एवं पर्यावरण अवक्रमित। इसलिए इस युग के कवियों ने प्रकृति को उसके वास्तविक स्वरूप में स्वीकारा है। केदारनाथ सिंह की कविता 'पानी की प्रार्थना' प्रकृति से स्थापित इसी नए तालमेल को अभिव्यक्त करता है-

"अन्त में प्रभु
अन्तिम लेकिन सबसे जरूरी बात
वहाँ होंगे मेरे भाई बन्धु
यानि आपका मुँह लगा यह पानी
मंगलग्रह या चाँद पर
पर यहाँ पृथ्वी पर मै
अब दुर्लभ होने के कगार तक
पहुंच चुका है" (कविता- पानी की प्रार्थना, केदारनाथ सिंह)

नई कविता स्वयं को किसी विषय से अछूता नहीं समझती। नई कविता समाज की वर्जनाओं और व्यक्ति की कुठाओं से निकल कर स्पष्ट और कोमल अनुभूतियों को यथार्थ की कसौटी पर कस कर अभिव्यक्ति देती है। उसमें यदि आदर्श के प्रति लगाव नहीं है तो अनुभूति के प्रति ईमानदारी में भी कोई कपट नहीं है। नए कवियों ने आवाज उठाई कि "हम तो सारा का सारा लेगे जीवन कम से कम वाली बात हम से न कहिए"।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने हिंदी साहित्य और सवेदना का विकास में एक महत्वपूर्ण बात कही कि "नई कविता इस सारे के सारे जीवन और गरबीली गरीबी का काव्य है। जिसमें व्यक्ति की चेतना जीवन के सारे व्यापारों में, खेत-खलिहान मे, नगर-गांव में व्यापक धरातल पर व्यक्ति की अनुभूतियों को स्वर देती है। मर्यादा और आस्था इस साधारण व्यक्ति के लिए कोई मायने नहीं रखते"[9]

" ज्ञान और मर्यादा
उसका क्या करे हम
उनको क्या पीसेंगे?
या उनको खाएंगे?
या उनको ओढ़ेगे?
या उनको बिछाएगे? "

संदर्भ :

1. आज का भारतीय साहित्य, प्रभाकर माचवें, साहित्य अकादेमी, पू. 403
2. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, पृ. 258
3. हिंदी भाषा और साहित्य, डॉ. रामदरश मिश्र, पू. 67
4. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, डॉ. हरिचरण शर्मा, पृ. 64
5. तीसरा सप्तक. स. अज्ञेय, पृ. 195
6. टूटी हुई बिखरी हुई, शमशेर बहादुर सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 13
7. दूसरा सप्तक, सः अज्ञेय, पृ. 10
8. कविता के प्रतिमान, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, पृ. 31.
9. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी

*****

Joint Stock Merchants and the Transformation of Chief Merchant Authority in Late Seventeenth-Century Madras: The Changing Fortunes of the Venkatadary Brothers.

-Dr. Nitin Kumar
Assistant Director (Research)
ICHR

Abstract

This article examines the transformation of the office of the Chief Merchant in late seventeenth-century Madras through the experiences of the Venkatadary brothers. It analyses how the English East India Company introduced the Joint Stock system to regulate trade and weaken the independent authority of indigenous merchant elites. The study highlights conflicts over accounts, merchant resistance, and the Company's growing intervention in commercial affairs. At the same time, it shows that influential local merchants remained essential for trade, political negotiation, and regional mediation. The article argues that the Joint Stock system transformed Chief Merchants into regulated intermediaries operating under increasing Company supervision.

Keywords: Chief Merchant, Madras, Joint Stock System, Indigenous Merchants, Coromandel Coast Merchant Networks, Company Supervision.

Introduction

The commercial structure of seventeenth-century Madras underwent a significant transformation as the English East India Company increasingly intervened in indigenous systems of trade and mercantile organisation. Central to this process was the office of the Chief Merchant, an institution that mediated between European commercial interests and local networks of production, credit, and political authority. The career of the Venkatadary brothers—Pedda Venkatadary and Chenna Venkatadary—offers an important lens through which to examine the changing nature of this office. Their rise, decline, and partial restoration reveal how the establishment of the Joint Stock of Merchants altered the balance of power between the Company and indigenous commercial elites.

The transition from the highly personalized authority enjoyed by Kasi Viranna to the more regulated and collective framework of the Joint Stock system marked a crucial shift in Company policy. While the Joint Stock was ostensibly created to regularize accounts and ensure efficiency in investment, it simultaneously weakened the independent authority of the Chief Merchant. The experience of the Venkatadary brothers demonstrates both the erosion and subsequent partial recovery of merchant authority under changing political and commercial conditions.

Death of Kasi Viranna and the Succession of Pedda Venkatadary

The death of Kasi Viranna constituted a watershed in the commercial history of Madras, producing repercussions that were felt for decades afterward. Viranna's death created a vacuum in the Company's trade, and to fill this void the Company appointed Pedda Venkatadary to succeed him in office and employment as Chief Merchant.[1] The Company deliberately transformed Pedda Venkatadary's investiture into a formal and ceremonial occasion. *Tasheriffs* were bestowed upon him and the other principal merchants as marks of honour and encouragement. The merchants were invited into the Council Chamber where the ceremony was conducted publicly before them.

Viranna's adopted son was ceremonially named Muddoo Viranna, and a *Ruddel* was carried over him in memory of Viranna's services to the Company, the town, and the surrounding country. As the procession departed from the fort, eleven guns were fired in salute.[2] The grandeur of the ceremony underlined the extraordinary authority and prestige enjoyed by Kasi Viranna during his lifetime. At the same time, it exposed the contrast between Viranna's commanding position and the

comparatively fragile authority of Pedda Venkatadary, who inherited the office under far less favourable circumstances.

Early Challenges and the Weakening of the Chief Merchant's Position

Pedda Venkatadary's tenure as Chief Merchant began amidst mounting tensions that quickly undermined his authority. One of the earliest crises emerged when several Chief Washers complained to the Governor that the Chief Merchants had detained their money. The washers proposed that they could wash the Company's cloth at more moderate rates if Narso and his associates were recognized as Chief Washers. More importantly, they requested direct payment from the Company without the mediation of the Chief Merchant and even offered to reduce costs by twenty percent.[3]

The washers further promised to maintain orderly accounts and offered military assistance to the Company. They undertook to provide armed retainers to accompany Company officials travelling inland and pledged three hundred armed men in times of war.[4] These developments were highly significant because they reflected an attempt by subordinate occupational groups to establish direct relations with the Company, thereby bypassing the Chief Merchant's traditional authority.

Another serious challenge emerged over unsettled accounts. A dispute developed between Pedda Venkatadary and other merchants regarding accounts that had remained unresolved for five years.[5] When the Company invited merchants to undertake new investments, they protested that their previous accounts had not been adjusted and refused to enter into fresh business until settlements were made.[6] These conflicts exposed growing dissatisfaction with the old mercantile arrangements dominated by powerful Chief Merchants.

The Proposal for a Joint Stock and Merchant Resistance

Faced with persistent disputes over accounts, the Governor and Council proposed a fundamental reorganization of the commercial system through the creation of a Joint Stock of Merchants. The Company argued that recurrent disagreements among merchants necessitated a collective commercial structure in which investment and accountability would be more effectively regulated. Under the new arrangement, seven or more principal merchants would supervise trade collectively,[7] while the Company would make payments after goods entered its warehouses.

The merchants initially resisted the proposal. They requested permission to continue under the existing system for another year[8] and pleaded lack of ready money as an obstacle to forming a stock. The Company, however, offered financial assistance and pressed for compliance. Eventually, the merchants consented to the formation of the Joint Stock.[9]

Pedda Venkatadary and his brother, apprehensive about the implications of the new arrangement, avoided participation in negotiations. Their resistance reflected a deeper anxiety that the Joint Stock would diminish their traditional authority and control over commercial operations. When they attempted to obstruct the Company's plans, the Company confined their associate Allinga Pilla to his house until a settlement was reached. The Governor subsequently summoned the Venkatadary brothers and offered them a quarter share in the Joint Stock in recognition of their long association with the Company. Although the brothers ultimately accepted the arrangement,[10] their capitulation revealed the weakening bargaining position of even the most powerful indigenous merchants before Company authority.

Formation and Structure of the Joint Stock of Merchants

The Company convened a meeting of merchants to finalize the structure of the Joint Stock. After extensive discussion, it was agreed that the business would operate through a collective stock managed by seven or more approved Chief Merchants. The stock consisted of one hundred shares valued at five hundred pagodas each, amounting to a total capital of fifty thousand pagodas. Merchant subscriptions exceeded one hundred and fifty shares, indicating broad participation and commercial interest.

The Company read and interpreted the draft agreement to the merchants, specifying the goods required for the year, the prices to be paid, and the standards of quality expected. Following the settlement, the Company ceremonially honoured nine Chief Merchants with *Tasheriffs* of scarlet cloth and salutes of eleven guns. Significantly, Pedda Venkatadary and his brother Chenna Venkatadary received scarlet cloth but not

as Chief Merchants of the Company as was earlier the case. This distinction symbolized their diminished standing within the reorganized commercial hierarchy.

The Company further ordered that salaried servants, dubashes, cancoplies, and Brahmins were not to participate in the Joint Stock. These restrictions were extended to all factories.[12] The regulations also stipulated that the appointed Chief Merchants were responsible for maintaining annual accounts, and failure to do so would result in forfeiture of their office.[13]

The Joint Stock possessed a sophisticated organizational structure. Senior shareholders managed contracts, accounts, and distribution of profits, while responsibilities were divided among officials overseeing textiles, imported European goods, and relations with washers, weavers, dyers, and painters. Junior merchants supervised investments in weaving villages and managed production in the countryside.[14] The presence of Company officials during the formation of the stock and the requirement that merchants deposit capital before contracts were signed reveal the Company's increasing desire to regulate indigenous commercial activity directly.[15]

Joint Stock and the Strengthening of Company Authority

Although the Joint Stock system was designed to improve efficiency, it also substantially strengthened Company authority vis-à-vis the Chief Merchant. Joint-stock merchants often delayed the settlement of accounts for several years, leading to confusion and disputes among shareholders. Similar conflicts had erupted after the death of Kasi Viranna, when disagreements over accounts intensified among the members of his company.[16]

The English frequently intervened in such disputes, ostensibly to safeguard the Company's investments but also to enhance their own authority over indigenous commercial affairs.[17] The unresolved disputes surrounding Pedda Venkatadary became a major test case. Merchants accused Viranna, Pedda Venkatadary, and their partners of withholding payments, manipulating prices, and overcharging for Company goods over the previous five years.

After hearing the case, the Council ordered Pedda Venkatadary and his partners to compensate the merchants according to the contracted rates.[18] Yet the accused merchants claimed ignorance regarding Viranna's financial dealings and pleaded inability to pay.[19] These developments further undermined the authority of the Venkatadary brothers and demonstrated how the Joint Stock arrangement facilitated greater Company supervision over merchant affairs.

Resistance, Mutiny, and the Collapse of Pedda Venkatadary's Authority

The crisis escalated dramatically when Pedda Venkatadary and Chenna Venkatadary attempted to evade their obligations. They fled the town secretly at night along with relatives, retainers, painters, Muckwas, Cattamaran men, and labourers.[20] Their departure triggered a wider disturbance centred around St. Thome, where groups of disaffected persons gathered and threatened those who continued to cooperate with the Company.[21]

The mutineers obstructed the transport of grain and cloth into Madras, causing serious disruption to trade.[22] In response, the Company adopted harsh measures. It ordered the families of the mutineers to be confined in temples, dispatched soldiers and peons to disperse the rebels,[23] and issued public proclamations naming nearly one hundred mutineers.[24] Those who failed to return within ten days faced confiscation of property and permanent banishment from the town.[25]

Gradually many of the mutineers submitted,[26] though the principal associates of Pedda and Chenna Venkatadary initially held out.[27] Eventually, negotiations resumed.[28] Mr. Nathaniell Cholmley entered into bond with Pedda Venkatadary, Kasi Muddoo Viranna, and Chenna Venkatadary for the repayment of eight thousand pagodas owed to the Company. Additional guarantees were provided by Company merchants for repayment of the remaining debts.

Although the Company accepted these securities and released the brothers from imprisonment, it stripped them of their honours and offices. They were forbidden from carrying *Rundells* or enjoying

the ceremonial privileges formerly associated with the office of Chief Merchant.[29] Henceforth, they were to reside in Madras merely as ordinary merchants. This marked the lowest point in the political and commercial fortunes of the Venkatadary family.

Restoration under William Gyfford and the Revival of Chief Merchant Authority

A partial restoration of the Venkatadary brothers' fortunes occurred after William Gyfford replaced Streynsham Master in 1681.[30] Disagreements among Company merchants regarding investments and the lack of experienced intermediaries compelled the Company to reconsider its position. The administration recognized that few merchants in the region possessed the reputation, commercial networks, and political influence formerly exercised by Viranna and his associates.[31]

Consequently, Pedda Venkatadary, Mooda Viranna, and Allingall Pilla were restored to a prominent position within the Joint Stock, receiving one-quarter of the stock collectively. Nevertheless, their authority remained constrained by the requirement that they act in consultation with the seven Chief Merchants. Unlike Viranna, they were expected to maintain a more modest style of living and comply closely with Company directives.[32]

Pedda Venkatadary also resumed his role as intermediary between the Company and regional political authorities. He was entrusted with negotiations with Lingapa to restore cordial relations between the Company and local power holders.[33] The Council further reversed earlier decisions requiring the merchants to pay full customs duties,[34] recognizing that excessive demands would damage their commercial standing and impair the Company's own textile trade.[35]

Chenna Venkatadary and the Reassertion of the Chief Merchant's Role

After the death of Pedda Venkatadary, Chenna Venkatadary emerged as the principal representative of the family and was appointed Chief Merchant.[36] His career reflected a significant revival of the office's prestige and political importance. Chenna Venkatadary and Sura Appia were publicly honoured for assisting the Company against interlopers at a time when unauthorised European traders posed a major challenge to Company commerce.[37]

The Company increasingly relied upon Chenna Venkatadary in negotiations with regional authorities.[38] He acted as intermediary in obtaining cowls and farmans, securing political agreements, and conducting delicate negotiations concerning St. Thome. The Company even proposed that Chenna Venkatadary and Allingall Pilla lease St. Thome in their own names to avoid political complications that might arise if the English contracted directly.[39]

These negotiations reveal the continued indispensability of influential indigenous merchants despite the institutional changes introduced by the Joint Stock system. Chenna Venkatadary's ability to negotiate with local rulers, manage political relationships, and advance Company interests revived aspects of the prestige formerly associated with Kasi Viranna.[40] Nevertheless, the authority he exercised was no longer autonomous but increasingly dependent upon Company sanction and supervision.

Conclusion

The history of the Joint Stock of Merchants in late seventeenth-century Madras illustrates a crucial transformation in the relationship between the English East India Company and indigenous merchant elites. The changing fortunes of the Venkatadary brothers reveal how the Company gradually curtailed the Chief Merchant's independent authority while continuing to depend on such figures for commercial management and political mediation.

The establishment of the Joint Stock system marked an attempt by the Company to institutionalize trade, regulate merchant activity, and reduce dependence on individual magnates such as Kasi Viranna. In the process, merchants like Pedda Venkatadary experienced a dramatic decline in authority, status, and ceremonial privilege. Yet the Company's later restoration of the Venkatadary brothers demonstrates that indigenous merchant intermediaries remained indispensable within the evolving colonial-commercial order.

Thus, the experience of the Venkatadary brothers reflects both continuity and change in the structure of commerce on the Coromandel Coast. While the Joint Stock weakened the traditional autonomy of

Chief Merchants, it did not eliminate their political and economic significance. Instead, it transformed them from relatively independent commercial magnates into regulated intermediaries operating increasingly under Company supervision.

References

1. Records of Fort St. George, 'Diary and Consultation Book of 1680-1681', April 1680, p22.
2. Records of Fort St. George, 'Diary and Consultation Book of 1680-1681', April 1680, p22.
3. Ibid., May 1680, p27.
4. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', p28.
5. Ibid., p41.
6. Ibid., p42.
7. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', p43.
8. Ibid.
9. Ibid. p.44
10. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', July 80, p45.
11. Ibid.
12. Ibid. pp45-46.
13. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', Pp47-49.
14. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1688', 19 April 1688. pp131-3.
15. Arasaratnam S., 'Merchants, Companies and Commerce on the Coromandel Coast, 1650-1740', Oxford, 1986. pp 242-243.
16. Fawcett Charles, 'The English Factories in India, 1678-84', New Series, Oxford, 1952-5. pp20-21.
17. Ibid.
18. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', Oct. 1680, pp71-73.
19. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', p73.
20. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', p75.
21. Ibid., p75.
22. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', Nov. 1680, p.77.
23. Ibid. p.76.
24. Ibid.
25. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1680-1681', pp80-81.
26. Ibid., p82.
27. Ibid., p90.
28. Ibid., p5.
29. Ibid., pp7-8.
30. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1681', p30.
31. Ibid., p35.
32. Records of Fort St. George, 'Diary & Consultation of 1681', p36.
33. Ibid., p40.
34. Fawcett Charles, The English Factories in India, Vol. IV (New Series), The Eastern Coast and Bay of Bengal, Oxford, 1955, p55.
35. Fort St. George, The Diary and Consultation Book of the Agent Governor and Council, 1682, p2.
36. Fort St. George, The Diary and Consultation Book of the Agent Governor and Council, 1683, p22.
37. Fort St. George, The Diary and Consultation Book of the Agent Governor and Council, p85.
38. Ibid., pp120-122.
39. Records of Fort St. George, Diary and Consultation Book of 1686, p66.
40. Records of Fort St. George, Diary and Consultation Book of 1689, p50.

References

Arasaratnam, S. Merchants, Companies and Commerce on the Coromandel Coast, 1650–1740. Oxford: Oxford University Press, 1986.

Fawcett, Charles, ed. The English Factories in India, 1678–84. New Series. Oxford: Oxford University Press, 1952–1955.

Fawcett, Charles, ed. The English Factories in India. Vol. IV, The Eastern Coast and Bay of Bengal. Oxford: Oxford University Press, 1955.

Fort St. George. The Diary and Consultation Book of the Agent Governor and Council, 1682.

Fort St. George. The Diary and Consultation Book of the Agent Governor and Council, 1683.

Records of Fort St. George. Diary and Consultation Book of 1686.

Records of Fort St. George. Diary and Consultation Book of 1689.

Records of Fort St. George. Diary and Consultation Book of 1680–1681.

Records of Fort St. George. Diary and Consultation Book of 1681.

Records of Fort St. George. Diary and Consultation Book of 1688.

21वीं सदी में संत रविदास की प्रासंगिकता

डॉ. सुजाता पी. पातरपेकर
सह प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
एम.ई.एस.एम.एम कला विज्ञान महाविध्यालय
विध्यनगर, सिरसी
Email :sujatakodkani1@gmail.com
Ph: 9663576235

संत रविदास को जानने, समझने का मौका रखने और उनके साहित्य को विश्लेषण तथा मूल्यांकित करने की जिज्ञासा हर पाठक, लेखक, संपादक, शोधार्थी, समीक्षा एवं आलोचक के मन में एक नई दृष्टि तथा सोच के साथ सदैव उमड़ती रही है । उनके काव्य और आध्यात्मिक संग्रहालय को बहुत ही कमा समीक्षात्मक दूरी दिनों से रंगवा डाला गया कमा तो एक संत कार्य कर के रूप में उन्हें कई नामों से सेट किया फिर भी किया गया। क्रूर समय, विगत समाज, भ्रष्ट व्यवस्था एवं कष्टप्रद परिवेश की चुगने एक इंसान की तरह उनका सदा पीछा करती रही लेकिन दुख कष्ट, अभाव, मज़बूरी, निर्धनता आदि चीज़े उनके फौलादी दृढ़ निश्चय, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक पक्ष से टकराकर हार मान लेती थी । कहने का प्रयोजन यह है कि उनकी वाणी और विचारधारा में असीम ताकत थी । उनका मस्तिष्क महान विचारों से परिपूर्ण था और उनकी पवित्र वाणी से उदात्त शब्द, अर्थ एवं भाव झंकृत होते थे। उनका आध्यात्मिकी अवतरण भारतीय लोक चेतना का ध्वज धारण करने के लिए ही हुआ था । अतछ उनकी महानता का आधार उनके लक्ष्यों, प्रयत्नों और संदेश की उच्चता में ही परखा-पहचाना जाना चाहिए। कहना न होगा कि वे व्यक्ति के रूप में, चिंतक के रूप में और वाणीकार के रूप में जितने महान भक्तिकाल में थे, उससे भी अधिक उनकी महानता की प्रासंगिकता, महत्ता इस नाबालिगा नूतन सदी में व्याख्या सापेक्ष है।

इस सत्य तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि संत रविदास को बिना रविदास बने, उनके हृदय में प्रवेश किए तथा काव्य की भीतरी तहों में प्रविष्ट हुए उन्हें समझना, उनके विषय में कुछ उच्चरित करना, लिखना आसान कार्य नहीं है। यह विलक्षण है कि जितनी बड़ी संख्या में रविदास के अनुयायी आज विद्यमान हैं, उतनी संख्या किसी भी समसामयिक संत की नहीं है। इस पर भी ऐसे इन-गिने व्यक्ति ही मिलते हैं, जिन्होंने रविदास और उनके संदेश को सच्चे रखने का स्थान और उनके चरण वहाँ है, जहाँ गरीब से गरीब, दलित से दलित पथभ्रष्ट व्यक्ति वास करते हैं, मानो टैगर के हृदय से संत रविदास बोल रहे हों।

यही वह प्रस्थान बिन्दु है, जहाँ से रविदास की विश्व दृष्टि अंकुरित, प्रस्फुटित, पल्लवित और विकसित होकर यूरोप, अमेरिका और एशिया के विचारकों, दार्शनिकों, चिंतकों और लेखकों को गुरुत्वाकर्षणित करती है। इस ऐतिहासिक सत्य को दृष्टि साम्य कहें या संवेदना की वैश्विक अपील कहें अथवा प्रेरणा- प्रभाव कहें कि भारतीय भक्तिकालीन साहित्य (रविदास, कबीर, गुरु नानक, तुलसी, सूरदास, दादूदयाल आदि) का परिचय अमेरिका, यूरोप तथा एशियाई देशों के विद्वानों को सृजित एवं अनूदित कार्य के माध्यम से 19 वीं शताब्दी से मिलना शुरू हो गया था । विदेशी अध्येताओं ने युगीन धार्मिक एवं सामाजिक परिवेश में भक्तिकालीन संत कवियों की युग चेतना की प्रासंगिकता को आगामी युगों में भी महत्ती तथा अपरिहार्य मानते हुए इस ओर अपनी दिलचस्पी प्रदर्शित की थी। इस संदर्भ में चार्लेट वेनडेविली, लिंडा हेस, एफ.ई,की, विलियम जे डवायर, इवेलिन अंडरहिल, डॉ.ई.ट्रम्प, एम ए. मेकालिफ, एफ पिनकॉट, जॉन बेडले, एम जी. वेस्टकॉट, विलियम क्रुक, एम.कॉलेवर्ट, हॉपकिन्स, नेसफील्ड, जॉन बिग्स आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय नाम हैं।

यह आध्यात्मिक सत्य है कि 1877 में डॉ.ई.ट्रम्प ने अपनी अनुसंधान प्रविधि एवं भावी समय को दृष्टि में रखते हुए 'आदिग्रंथ' को नियोजित किया, जिसमें रविदास के पदों को विशेष महत्व दिया, क्योंकि श्री गुरु ग्रंथ साहिब का अंग्रेज़ी अनुवाद तब तक उपलब्ध हो चुका था। इसके बाद 1886 में एफ.पिनकॉट ने 'द आदिग्रंथ' शीर्षक से एक लंबा महत्वपूर्ण तथा मूल्यांकनपरक लेख लिखा जिसमें रविदास के कुछेक पदों में निहित मानवतावाद, शांति, नैतिकता, अहिंसा आदि तत्वों का उल्लेख भी किया। मेकालिफ ने 1907 में 'सिख रिलीजन' शीर्षक पुस्तक लिखकर एक चमत्काली कार्य किया । इस पुस्तक में सिख गुरुओं की शिक्षाओं तथा रविदास सहित कुछ भक्तों की वाणी के प्रसंग भी दिए गए हैं। विलियम ब्लेक (1757-

1827) के काव्य में प्रभु की सर्वव्यापकता, सार्वभौमिकता एवं परमसत्ता के स्वर गुंजित हैं। कवि कहता है कि 'जो प्रत्येक वस्तु-कण में असीम को देखता है, वह ईश्वर को देखता है। जो केवल अनुपात को देखता है, वह केवल स्वयं को देखता है'। 'द वर्शिप ऑफ गॉड' कविता में कवि कहता है, 'प्रभु मनुष्यता का बौद्धिक पपात है'[2]।टी.एस.इलियट की 433 पंक्तियों की लंबी कविता "द वेस्ट लैंड' (1922) का मूल स्वर पश्चिमी मानव की भावात्मक एवं आध्यात्मिकता शून्यता, निष्पलता और सभ्यता का ऊसरपन है। कविता की अंतिम पंक्ति में कवि उपनिषद् की ओर मुड़ते हुए 'शांति शांति शांति' पुकार उठता है। कवि भारतीय भक्तिकालीन अध्यात्मिममयता से प्रेरित होकर विश्वस्त होता है कि भावात्मकता और आध्यात्मिकता के ज़रिए ही विश्व में शांति, भाईचारा एवं समानता को साकारित किया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक गवाही के मुताबिक व्यक्ति की बचपन में जैसी विचार-प्रक्रिया विकसित हुई होती है, वह हर चीज़ का अर्थ उसी प्रक्रिया के माध्यम से लगाता है, फिर चाहे स्वयं के व्यक्तित्व का मामला हो या फिर समय, समाज, व्यवस्था, स्थितियों-परिस्थितियों का विषय हो। रविदास संपन्न अतीत से विपन्न वर्तमान में विचरण करते हैं। बड़े निस्संकोच भाव एवं दृढ़ता से अपने निम्न जाति के होने की बात कहते हैं। जीवन के सत्य को उद्घाटित करते हुए उनके पद एवं श्लोक अनुभवों और अनुभूतियों की आँच पर तपे हुए हैं। इसीलिए उनकी जीवन-रेखा यदि प्रश्न है तो वाणी उसका उत्तर है। उन्हें तो नई दिव्य दृष्टि और सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का वरदान मिला था। उनकी भक्ति भावना एवं संवाद प्रक्रिया आज की मानवीय जड़ता को नष्ट कर मनुष्य में चिंतनात्मक गत्यात्मकता का निर्माण करती है। वे भारत की शाश्वत आध्यात्मिक परिसंपत्ति हैं और उनका काव्य परिवेश के प्रति, सामाजिक यथार्थ के प्रति, व्यवस्था के प्रति और जीवन के प्रति एक नूतन दृष्टि का बोध कराता है। उनका आर्ष वचन है 'सत्यवादिता का अनुपालन', जो तर्क, निर्णय-आगम, प्रत्यक्ष अनुभूति और गहन स्वाध्याय पर आधारित है। उनकी इसी सत्यवादिता ने दुनिया को एक नया विचार दिया। 21वीं सदी के अखिल विश्व में रविदास का प्रत्येक शब्द, उसका अर्थ एवं ज्ञान हर समाज के साथ संवाद स्थापित कर एक नई दिशा देने में समर्थ है।

यूँ तो रविदास के समय में समाज में पर्याप्त पाखंड एवं ढकोसले प्रचलित थे, जिनका खंडन करते हुए उन्होंने कहा –

'थोथी काया, थोथी माया,
थोथा हरि बिन जनम गँवाया।
थोथा पंडित, थोथी बानी,
थोथी हरि बिन सबै कहानी ।।2।।
थोथा मंदिर, भोग विलासा,
थोथी आन देव की आसा ।।3।।'

यहाँ रविदास का परम आशय यह है कि यदि व्यक्ति के हृदय में भगवान के प्रति सच्ची लगन नहीं है, सच्चा प्रेम नहीं है तो निश्चय ही यो बाह्याडंबर एवं ढोंग मूल्यविहीन हैं। इस अर्थगर्भित संदर्भ में इस सच्चाई को स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि अपने परिवर्तित रूप में ये ढोंग-पाखंड आज भी समाज में प्रचलित हैं। इधर के पदार्थवादी, अर्थवादी, प्रदर्शनवादी एवं सांस्कृतिक बदलावों के माहौल में रहनेवाले मनुष्य ने अपने गृह में निर्मित पूजा कक्ष में परमात्मा को विराजमान किया हुआ है। धार्मिक ग्रंथों की प्रस्थापना भी कर रखी है; पाठ, भजन-कीर्तन होता है और साथ ही मुराद-मन्नतों की सूची भी बाँची जाती है। हृदय में मिथ्याचार, दुराचार, छल -कपट किनारों तक भरा पड़ा है। कथनी और करनी में धरती-आसमान का अंतर है। कहते कुछ हैं, सोचते कुछ और हैं, करते वही हैं जो मनमुख से ध्वनित होता है। सवाल खड़ा है कि क्या यह मिथ्याचारिता, कर्मकाण्ड, पाखंडवादिता रविदास के समय की कुरीतियों का नया संस्करण नहीं है ? यदि 'हैं' तो निश्चित ही नई सदी के सुसंस्कृत एवं सभ्य कहलाए जाने वाले तथाकथित मनुष्य को रविदास के मानवतावादी तथा आध्यात्मिक संदेश को जीवन में उतारना चाहिए। गौरतलब है कि रविदास ने मानव की चेतना और आत्मा को लेकर एक 'मूल्य' शंखनादित किया था। वह मूल्य यह था कि 'जो खराब है, उसे बदलें'। यह कितना विडंबनात्मक तथ्य है कि मुट्ठी भर 'इंडिया' में रहनेवाले लोग 'भारत' का संचालन कर रहे हैं। जबकि रविदास को 'भारतीयता' से ही आस्था मिली थी, क्योंकि 'भारतीयता' अपने आप में एक भारतीय मूल्य है, जिसकी ओर उपभोक्ता संस्कृति में रंगे इस आधुनिक समाज को लौटाना चाहिए।

रविदास ने प्रकृति को खुली आँखों से देखा था। उन्हें मालूम था कि प्रकृति की विशालता, असीमितता से उत्पन्न अनगिनत भाव रचनाकार के आध्यात्मिक और कलात्मक आनंद का माध्यम बनते हैं। इसीलिए उनके काव्य में प्रकृति प्रेरणा बनकर आती है।प्रकृति का वर्णन प्रत्यक्षतछ अथवा प्रतीकों के माध्यम से रविदास वाणी का महत्वपूर्ण अंग बनता है।प्रकृति के एक अन्तर्मुखी साधक के रूप में रविदास उपमानों प्रतीकों और द्रष्टान्तों के ज़रिए प्रकृति का चित्रण करते हैं। उन्होंने ईश्वर के प्रति प्रेम की व्यंजना करने के लिए प्रकृति की वस्तुओं का आश्रय लिया है। रविदास ने अपने मन रूपी चातक को प्रभु-प्रेम रूपी स्वाति-बूँद में तल्लीन करके अपनी प्रेम-व्यंजना को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया –

'त्यों तुम कारन केशवे, लालच जिव लागा।
निकट नाथ प्रापत नहीं, मन मंद अभागा।।
सागर सलिल सरोदिका, जल थल अथिकाई।
स्वाति बूँद की आस है, पिब प्यास न जाई।।
जो रस नाहि चाहिए, चितवत हूँ दूरी।

पंगुल फलन पहुँचाहि, कछु साध न पूरी॥
कहे 'रैदास' अकथ कथा, उपनिषद् सुनीजें।

यह आकरण नहीं है कि रविदास ने प्रकृति के कण-कण में अपने आराध्य देव के दर्शन किए हैं। इसी प्रकार की आध्यात्मिक दृष्टि-विचार-साम्यता विलिमय वर्डस्वर्थ, विलियम ब्लेक, डब्ल्यू.बी. यीट्स, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महादेवी वर्मा के काव्य में आश्चर्यजनक ढंग से परिलक्षित होती है। अमरीकी विचारक एवं कवि आर, डब्ल्यू.इमर्सन, हेनरी डेविड थोरो और विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'द वालडेन' तथा विटमैन की 'लीवज़ ऑफ ग्रास' काव्य कृति को पढ़कर ऐसा लगता है कि मानो भक्तिकालीन प्रकृति दर्शन को भारत भूमि से उखाडकर अमरीका की ज़मीन में रोपा गया हो। फिर यूरोप और अमेरिका की अन्तर्ज्ञानवाद लहर भारतीय भक्ति काव्य के मस्तिष्क की उपज ही थी।

21वीं सदी में पर्यावरण, वृक्षारोपण, गंगा नदी एवं देश की स्वच्छता को लेकर सत्ता पक्ष की ओर कई योजनाएँ और अभियान चलाए जाते रहे हैं और चालाए जा रहे हैं। लेकिन जल, थल और नभ में बढ़ते प्रदूषण, वनों – पेडों पर बरसते कहर और गंगा जल में बहतीं-गिरतीं प्रदूषणमय चीज़ों की रफ़्तार दिन-प्रतिदिन वेगमयी ही होती जा रही है। प्रकृति के रहस्यों और मूल्यवान गुणों की घोर उपेक्षा हो रही है। जबकि रविदास प्रकृति में निहित अध्यात्म तत्व का उद्भुत संयोजक करते हैं –

'बंटक बीज़ जैसा ओंकार, पसरयों तीन लोक विस्तार।
जहाँ का उपज्या तहाँ समाय, सहज शून्य में त्यो लुकार॥
जो मन बिन्दे सोई बिन्द, अमावस में ज्यों दीसै चंदा।
जल में जैसे तुंबा तिरै, परचै पिंड, जीव नहिं मरै॥'5

सार तत्त्ववादी दृष्टि से देखा जाए तो रविदास अपने एक पद में अपने प्रभु को गुलाब और अपने को उसमें रहनेवाला कीट बतलाते हैं। साथ ही उन्हीं की डाल के फल-फूल आदि अमृतरस का पान कर सकने के कारण अपनी मति को हीरावत् बन जाने का उल्लेख भी करते हैं –

'तब मखतूल गुलाब चतुर्भुज, मैं बपुरो जस मीरा।
पीवत डाल फूल फल अमृत सहज भयी मति हीरा॥
तुम चंदन मैं रंड वापुरे, संग तुम्हारे बासा।
नीच वृत तैं ऊँच भये हैं, गन्ध सुगन्ध निवासा।
पाति भी ओछी जनम भी ओछो, ओछा करम हमारा।
हम सरनागति राम-राइ को, कहै 'रैदास' चमारा॥

अचरज नहीं कि प्रकृति के कण-कण में परमात्मा के अस्तित्व की बात अत्यंत विनय भाव से एवं प्रतीकात्मक ढंग से जापान के कवि, वैज्ञानिक तथा पर्यावरणविद् काजोजोशी इकदा के 'पॉइम्स ऑन लव एण्ड पीस' तथा 'ए फिशिंग रॉड' काव्य-संग्रहों की कई कविताओं में कही गई है। डब्ल्यू. एच.डेविस भी अपनी एक लघु कविता 'द नेचर' में रेखांकित करता है कि जीवन की सार्थकता प्रकृति के सर्जक द्वारा सृजित लावण्य चीजों को निहारने और उनमें छिपे रहस्यों को जानने में है। उपर्युक्त प्रस्तुत किए गए तमाम संदर्भ रविदास की विश्व दृष्टि एवं उनके काव्य प्रेरणा के व्यापकतम आयतन को प्रमामित करते हैं।

अपने एक अन्य पद में रविदास जगह-जगह प्रवहमान जल की मानिंद चुच्छ एवं अपवित्र तथआ प्रभु को निर्मल जल से भरपूर गंगा के समान ठहराते हैं और ईश्वर की महिमा तथा कृपा से स्वयं भी गंगोदय जैसा बन जाने के कारण अत्यंत प्रसन्नता का अनुभव करते हैं –

'गली गली को जल बह आये; सुरसरि जाय समायो।
संगत के परताप महातम, नाम गंगोदय पायो।"

महादेवी ने 'प्रकृति और काव्य-रघुवंश' के 'दो शब्द' (भूमिका) में मानो रविदास के प्रकृति दर्शन को उँडेल दिया हो। वे लिखती हैं, "प्रकृति के विविध कोमल-कठिन, सुन्दर-विरूप, व्यक्त रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मनुष्य की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है, उसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणि ठहरेगा। वस्तुत: संस्कार-क्रम में मानव-जाति का भआवजगत ही नहीं, उसके चिंतन की दिशाएँ भई प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित है।"

यह महत्वपूर्ण तथ्य स्वीकारने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि रविदास के काव्य में कान्तिकारिता के स्वर भई उभरते रहे हैं। उनकी क्रान्तिकारिता कबीर और गुरु नानक के बीच का मार्ग अख्तियार करती है। वे बड़े संयमित, अनुशासित, परिमार्जित, संशोधित और शालीन ढंग से अपने समय के समाज की कुरीतियों और व्यवस्थागत विसंगतियों की ओर उँगली उठाते हैं। यदि महान विद्वान रोलोमे के शब्द उधार लेकर कहें तो एक क्रांतिकारी की मनुष्यता इसी बात में है कि सभ्यता उसके कार्य में से उपजती है। वह सुनिश्चित सदाचारी नियमों और मौजूदा सभ्यता की कठोर बनावट को झकझोरता है ताकि समाज को उदासीनता एवं निराशा से बचाया जा सके, भले ही ऐसा करना कितना भी दु:खमयी क्यों न हो। बिना शक रविदास ने अपनी वाणी के माध्यम से नए सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की नए कागज़ पर नई इबारत लिखी। एक क्रान्तिकारी की हैसियत से रविदास ने सर्वप्रथम अपने आसपास के सामाजिक व्यवहार को, जिसमें वे विचरण कर रहे थे, बारीक नज़र से देखा, फिर उसका विश्लेषण किया। विश्लेषणोपरान्त उन्होंने उन स्थितियों एवं सामाजिक असंगतियों को रद्द कर दिया जो आदर्श और स्वच्छ-स्वस्थ समाज के अनुकूल नहीं थीं। इसी धरातल पर वे एक आदर्श समाज की संकल्पना करते हैं, जिसकी

ओर 21वीं सदी के भारत का आज ध्यान आकृष्ट हुआ है –

'बेगम पुरा सहर को नाउ॥
दुखु अंदोहु नहीं तिहि ठाउ॥
ना तसवीस खिराजु न मालु॥
खउफ न खता न तरसु जवालु॥॥॥"

यह तथ्य भी इतिहास सिद्ध है कि विश्व के बहुत-से परम मनुष्यों ने अपने विचारों की दुनिया बसाने केलिए भाव प्रस्तुत किए हैं, जिनमें वाल्मीकि (रामायण), कृष्ण (गीता) प्लेटो (द रिपब्लिक), चाणक्य (अर्थशास्त्र), मनु (स्मृति), मैकयावली (द प्रिंस), थोरो (द वाल्डेन), गुरु नानक (जपुजी), टैगोर (स्वतंत्र स्वर्ग) के नाम खास तौर पर रेखांकनीय हैं। रविदास ने भी अपनी वाणी में आदर्श राज्य और स्वस्थ समाज की कल्पना की है। उल्लेख्य है कि वे जिस बेगमपुरा शहर की संकल्पना करते हैं, वहाँ न कोई चिंता और न ही कोई भय है। वहाँ कोई किसी से ज़बर्दस्ती खिराज़ वसूल नहीं करता तथा न ही कोई किसी को डराता है। वहाँ तो सदैव सुख-शांति का माहौल रहता है-

'काइमु दाइमु सदा पतिसाही॥
दोम न सोम एक सो आही॥
कहि रविदास खलास चमारा॥
जो हम सहरी सु मीतु हमारा॥"

ज़ाहिर है कि रविदास में निर्भयता थी, लेकिन कबीर की तरह अक्खड़ता और आक्रामकता नहीं थी । स्वभाव से मृदुभाषी एवं मितभाषी होने के कारण तत्कालीन बाह्यचारिता और अन्ययमूलक समाज व्यवस्था के सख्त विरोधी थे। उन्होंने असत्याचारों पर अवश्य कटु प्रहार किए, लेकिन अनुशासन, संयम, मर्यादा और विनयशीलता की यथार्थ रेखा पार नहीं की। विरोध स्वरू जहाँ उन्हें कुछ कहना भी था, उसे उन्होंने अत्यंत विनीत शब्दों में संकेतित कर दिया। उन्होंने हिन्दू धर्म ग्रंथों के उन फतवों के खिलाफ आवाज़ बुलंद की जो शूद्र वर्ग के अधिकार पर रोक लगाते थे। उनकामत था कि परमात्मा ही सभी जीवों का सृजनकर्ता है, कोई भी ऊँचा या नीचा नहीं है। इसलिए भक्ति करने का भी सभी को अधिकार होना चाहिए –

'ब्राह्मण बैस सूद अरु खत्री, डोम चंडार मलेछ मन सोइ॥
होई पुनीत भगवंत भजन ते आपु तारि तारे कुल देइ॥''

यह दावे से कहा जा सकता है कि यदि भारतीय लोगों ने और 21वीं सदी के भारतीय समाज ने रविदास के उपर्युक्त संदेश एवं आध्यात्मिक विचारों पर अमल किया होता तो देश में न तो हिंस और साम्प्रदायिक दंगों के ज़लज़ले उठने थे तथा न ही नारी-विमर्श, दलित-विमर्श, युवा विमर्श, वृद्ध विमर्शजैसी अवधारणाओं का सूर्योदय होना था। इस स्थल पर याद दिला दें कि मनु के विधान में अंबेडकर केलिए स्थान नहीं था, लेकिन अंबेडकर के संविधान में मनु केलिए पूरा स्थान है । यह भी कि भौतिकवाद की दिशा में अग्रसर होने से व्यक्ति तथा संस्कृति के मूल्यों की रक्षा नहीं की जा सकती है। भौतिकवाद समाज को विभक्त करता है, जबकि रविदास काव्य समाज को जोड़ता है । देरिंदा का विसंरचनावाद और मिशेल फूको के विचार यूरोप में कोलाहल कर सकते हैं, लेकिन रविदास द्वारा प्रतिपादित मूल्यों को छू नहीं सकते। ये मूल्य तो इस नई सदी में ही नहीं, अपितु आनेवाले युगों में भी स्थायी महत्व के दिशा-संकेत हैं।

रविदास ने किसी किस्म की पूजा सामग्री को प्रभु के योग्य न समझकर जनता को इस अनावश्यक व्यय से राहत दिलाई । उन्होंने प्रचंड शब्दों में कहा कि ये सांसारिक पदार्थ पूजा के योग्य नहीं हैं, ये पवित्र भी नहीं है । इसलिए तन और मन ही प्रभु को अर्पित करना चाहिए –

'दूधु ते बछरे थनहु बिटारिउ॥
फूलु भविर जलु मीनी बिगारिउ॥
माई गोबिन्द पूजा कह लै चरावउ॥
अवरु न फूपु अनूपु न पावउ॥॥रहाउ॥
तनु मनु अरपउ पूज चरावउ॥
गुरु परसादि निरंजन पावउ॥''

ताज़्ज़ुब है कि आगे चलकर गुरु नानक जगन्नाथ पुरी के मंदिर में पूजा-अर्चना के समय की जा रही आरती देखकर अपने शब्दों में 'गगन में थाल रवि चन्द' कहकर पुजारियों-पुरोहितों को सच्ची आरती का अर्थ समझाते हैं। श्री गुरु ग्रंथ साहिब में 'कीर्तन सोहला' के अंतर्गत 'धनासरी महला पहला' शीर्षक से यह संपूर्ण आरती प्रस्तुत की गई है । आज का मनुष्य अहंकार के रथ से नीचे नहीं उतरता। झूठ, चालाकी, विश्वसघात, कृत्रिम मुस्कुराहट, वादाखिलाफी, निजी स्वार्थ और ईर्ष्याभाव उसके चारित्रिक आभूषण हैं। वह पर्दे से बहर नहीं आना चाहता। रविदास ने ऐसे ही तत्कालीन अहंकारियों के अहंकार को तोड़कर उनके पाखंडवाद को बेपर्दा किया और भारतीय जनता को पुजारी वर्ग के बाह्य आडंबरों से सचेत रहने की सदैव प्रेरणा दी। उन्होंने मंदिरों और मस्ज़िदों को ईश्वर और खुदा का घर समझनेवाली जनता को संदेशित किया कि परमात्मा सर्वव्यापक है और जीव के मन के अंदर ही उसका निवास है। इसलिए उसे जंगलों, पहाडों और तीर्थ स्थानों पर तलाशने की ज़रूरत नहीं है। यह कैसा अद्भुत दृष्टि साम्य है कि फांसीसी उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के उपन्यास 'लेस मिजरेबल' के एक अध्याय को आधार बनाकर अमरीकी एकांकीकार नॉर्मेन मेकाइनल द्वार रचित एकांकी 'द बिशप्स केंडलस्टिक्स' में बिशप, कॉनविक्ट से कहता है, "मेरे दोस्त, यह शरीर जीवंत खुदा का घर है।"स्पष्ट है कि रविदास एक

युग पर्वर्तक थे और उन्होंने अपने अग्रगामी संदेश द्वारा मनुष्य को अच्छा इंसान बनने केलिए बडे साहस के साथ अपनी बात कही, जो उनकी क्रान्तिकारिता में निहित विनयशीलता का प्रमाण है । आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी यदि 'कबीर : उपसंहार' में यह कहने में प्रेरित हुए, "हिन्दी साहित्य के हज़ार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं हुआ," तो यह मानने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि भारतीय भक्ति वाङ्मय में रविदास जैसी संतुलित, संयमित एवं अनुशासित वैचारिकता लेकर कोई संत वाणीकार अस्तित्व में नहीं आया।

यह भी धुव सत्य है कि 21वीं सदी में 'धन' केन्द्र में आ गया है और मनुष्य हासिए पर धकेल दिया गया है । सामाजिक व्यवहार एवं मानवीय संबंधों को 'अर्थ' की तुला पर तोला जाता है । भौतिकता की दौड़ में वैदिक मूल्यवान अभिव्यक्तियाँ और महापुरुषों के वचन बहुत पीछे रह गए हैं । सब जगह कुबेर गणित पर ही विमर्श, परामर्श और निष्कर्ष सक्रिय रहते हैं । रविदास को कोई धन लोलुपता नहीं थी । वे तो साधुवेशी भगवान द्वारा प्रदान की गई पारस-मणि को अस्वीकार करते हैं तो स्वर्ण मुद्राओं का अपयोग लोक-कल्याण को कार्यों के लिए करते हैं । रविदास की एकाग्रता रूपी कटार प्रभु सिमरन के धागे से अपने हृदय को परमात्मा के साथ गांठने का प्रयास करती थी । उनका समूचा काव्य शांत रस की नमी से आर्द्रमय है । श्रम की गरिमा को सिद्ध करनेवाले इस प्रतिभाशाली संत कवि ने दृढ़ निश्चयी होकर कहा –

'जाकि छोति जगत कउ लागै ता पर तुहीं ढरै।
नीचहु ऊंच करै मेरा गोबिन्दु काहु ते न डरै।।'

यह छंनंकर आई सच्चाई है कि वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति के कारण ईश्वर की सत्ता पर प्रश्नचिह्न लग गया है। 21वीं सदी का उपनिवेशवाद अनेक नए-नए मॉडलों और उनके लुभावने कार्य-व्यापारों के रूप में उत्तरोत्तर फैलता जा रहा है। उपभोक्ता संस्कृति, वैश्वीकरण, बाज़ारीकरण और आर्थिक उदारीकरण की चालों, साज़िशों एवं क्रीड़ाओं में हमारे चिंतक, इतिहासकार, संस्कृतिविद् और यहाँ तक कि साहित्यकार भई उलझ कर रह गए हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि वे रविदास के संदेश तक नहीं पहुँच पाए। इस नई सदी के रचनाकार रविदास के सामाजिक दर्शन के प्रभाव को गंभीरता से अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। इस महान संत की वाणी पर जितना हम गर्व करते हैं, उसके लक्ष्य तक पहुँचने में उतना प्रयत्न नहीं करते। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए रविदास वाणी की समग्रता को सच्चे अर्थों में समझना लाज़िमी है। तभी आधुनिक भारतीय समाज के गर्दोगुबार से आच्छादित सत्य के निर्मल करके रविदास के सत्य को उजागर किया जा सकता है। इस महान मनीषी ने तो एक युग सत्य से नए युग सत्य का सृजन किया था। थोड़ा गहराई से विचार करें तो 21वीं सदी के सांस्कृतिक दैत्यों को परास्त करने में रविदास वाणी की सामूहिक संप्रेषण शक्ति हमारी बहुत मदद कर सकती है। कड़वा सच यह है कि हम रविदास के विचारों के बारे में बहुत कुछ नहीं जानते हैं। बहुत कुछ जो डानते भी हैं, वह सब हमारे अवचेतन में पड़ा निष्क्रिय हो जा रहा है, क्योंकि उसे व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित नहीं किया जा रहा है। सवाब खड़ा है कि क्या हम रविदास को समग्रतछ में समझने तथा उनकी प्रासंगिकता को सिद्ध करने केलिए विदेशी अध्येताओं, विचारकों और लेखकों की व्याख्याओं पर ही निर्भर बने रहेंगे ?

क्या यह भी याद कराना ज़रूरी है कि एक दार्शनिक के रूप में रविदास शताब्दियों पहले समझा चुके हैं कि भारतीय दर्शन में सृष्टि के प्रति अहंभाव है, स्वीकार भाव है। इसलिए भारत की खोज आत्मगत है। जबकि पाश्चात्य दर्शन में प्रकृति के प्रति-आखेट भाव है, इसीलिए पश्चिम की खोज वस्तुगत है। स्वामी विवेकानंद, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भई तो इसी सच्चाई को बार-बार स्मरण कराया है। मूल बात यह है कि शहरी साम्राज्यवादी और भौतिक संस्कृतिवादी खतरों से निपटने केलिए हमें रविदास को अपना आदर्श मानना ही होगा । वर्षों पहले रुडयार्ड किपलिंग ने कहा था, 'पूर्व और पश्चिम कभई नहीं मिल सकते'। हमने इस सत्य को भई नहीं समझा और अपने ही समाज में द्वन्द्व को पराकाष्ठा पर पहुँचाने में प्रयत्नशील रहे। जीवन के विकास के लिए भौतिकता की आवश्यकताओं की अलग-अलग शुद्धताओं को मर्यादित भई तो किया जा सकता है। रविदास का काव्य हमारे सम्मुख है। इसकी तारों को स्पर्श करेंगे तो ये शाश्वत संदेश स्वरित करने लगेंगी और हम बँधते चले जाएँगे। इस नई सदी में हमारा बँधना, दरअसल, रविदास का खुलना है। यह लक्ष्य करने योग्य है कि निराला की 'रम की शक्ति पूजा' में धर्म और अधर्म के शाश्वत संघर्ष का चित्रण है और पंत की 'स्वर्ण किरण', 'शिल्पी' और 'लोकायतन' काव्य रचनाओं में भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद का समन्वय है। ये दोनों कवि रविदास को मुड़-मुड़कर देखते रहे थे ।

वैदुष्य दृष्टिकोण से देखा जाए तो आज उत्तरसंस्कृति ने हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन को ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक, नैतिक एवं जीवन मूल्यों को भई गहरे में प्रभावित किया है। 21वीं सदी के मानवीय जीवन में निंदात्मक उपक्रम, यशोषणा, धनेषणा, अपराधीकरण, पैशाचिकता, आंतरिक प्रदूषण, पक्षपात, शक्ति शिविरता, भावनाओं का अनादर, वैचारिक त्रासदी, नेस्तनाबूद होते आदर्श, बौद्धिक आतंक, अवसरवादिता, गाढ़े मौकों को भुनाना, फरेबी नाटक, व्यावसायिकता, जुगाड़ प्रविधि, दीमक मनौवृत्ति, दलालवाद, गढ़वाद, जयचंदवाद, अराजकता, अहिंसा हिंसा, आतंकवाद आदि की

अतिरेकी बौछार थमने का नाम नहीं लेती। ज़रा और खुलकर कहें तो ये खतरनाक चीज़ें आज के मनुष्य की संवेदनाओं को चबाकर मनुष्य-जाति का संचालन करने लगी हैं। रविदास ने तो बहुत पहले कह दिया था कि हमारी परंपरा एवं संस्कृति की खालिस खुराक लोक वैचारिकता और आध्यात्मिकता में है। कोई चीज़ नई नहीं होती।

यह कह देना भई समीचीन होगा कि इस नूतन सदी का बाज़ारवाद, वैभव की लालसा, विस्थआपन, नशावाद, आश्रय, प्रशस्ति लोलुपता, प्रदर्शन की तीव्र चाह, प्रतिभा पलायन, परिवेश और धरातल में बदलाव, ग्लोबल वार्मिंग, राजनीतिक विवाद, संस्कृतियों का संघर्ष, मूल विघटन, आचार-व्यवहार में कृत्रिमता, सत्तात्मक प्रभुत्व, यांत्रिक सभ्यता, आर्थिक एकाधिकार, आरोप-प्रत्यारोप, अस्तित्ववादी नियति, सामाजिक विषमता, चौंका देनेवाली हरकतें, भ्रष्टाचार, शोषण, स्वेच्छाचार, अयोग्य नौकरशाही, परोत्पीड़न, मिथ्याचार, घृणा, विक्षोभ, पाशविक मनोवृत्ति, प्रतिशोध की भावना, नकाब ओढ़न, भयावह वास्तविकताएँ, निर्लज्जता, स्वार्थ, भौतिक उन्नति की अंधी दोड़, विषमता की पराकाष्ठा, अन्तर्विरोध, अन्तर्द्वन्द्व आदि कुप्रवृत्तियों का रस निचुड़कर मानो उत्तरसंस्कृति के प्याले में इकट्ठा हो गया है। नैतिक मूल्यों एवं चारित्रिक शुद्धता के जो बीज रविदास की काव्य रचनाओं में बिखरे पड़े हैं, उन्हें एकत्रित कर मानव हृदय में बोने की बेहद ज़रूरत है ताकि हुँमायुँ की तरह लड़खड़ाता 21वीं सदी का आदमी संभल सके और जीवन को उदात्त बना सके। रविदास वाणी का लक्ष्य भी मनुष्यमें सामाजिक चेतना और नैतिकता का निर्माण करके उसकी वैचारिक योग्यताओं और प्रक्रिया को संगठित करना है।

यह भी याद कराना ज़रूरी है कि कार्ल मार्क्स ने धर्म को 'अफीम' कहकर धर्म का मज़ाक उड़ाया था। लेकिन रविदास से शब्द माँगकर कहें तो कार्ल मार्क्स धर्म और अध्यात्म की उन विशिष्टताओं को नज़रअंदाज़ कर गया, जो मनुष्य को उच्चरता के धरातल पर प्रतिष्ठित करती हैं। वर्षों पहले नीत्शों ने भई कहा था, "ईश्वर मर गया है।" अन्य अस्तित्ववादियों ने भी उसके स्वर में अपना स्वर मिलाया था। लेकिन नीत्शे एक बात भूल जाता है कि बिना ईश्वर के भी एक धार्मिक शक्ति होती है, जिसका उदाहरण भारत में मिल जाता है। बुद्ध निरीश्वरवादी थे और जैनियों का भी ईश्वर नहीं था। फिर भी उन्होंने धार्मिक और आध्यात्मिक अनुशासन बनाया था। नीत्शे के निराशवादी कथन का कालजयी स्पष्टीकरण रविदास वाणी में अक्षरतः उपलब्ध होता है, जब वे प्रबलता से कहते हैं कि जो अजन्मा है, सर्वव्यापक है, सर्वशक्तिमान है और प्रत्येक कण-कण एवं हृदय में विद्यमान है, वह अस्तित्वहीन कैसे हो सकता है ? हम नीत्शे के निराशात्मकत विचार के विपरीत अपना सत्य मत यह रखते हैं कि ईश्वर मरा नहीं है। लगता है इस 21वीं सदी में नैतिक मनुष्य मर गया है। अतः मृतक नैतिक मनुष्य इस नई सदी में ही संत रविदास की वाणी और उनके संदेश को आत्मसात कर अपनी ही राख से 'फीनिक्स' (अमर पक्षी) की तरह पुनर्जीवित होगा।

संदर्भ

1.शास्त्री, स्वामी रामानन्द, पाण्डेय, वीरेन्द्रः संत रविदास और उनका काव्य, हरिद्वारा, श्री भारतीय रविदास सेवा संघ, रविदास आश्रम ज्वालापुर, 1955, पृ.28
2.Kathleen Raine : 'A choice of Blake's', Faber and Faber London, 1970, p.131
3.संत रविदास, पद सं.55
4.संत रविदास, पद सं.19
5.संत रविदास, पद सं.1
6.संत रविदास, पद सं.8
7.संत रविदास, पद सं.87
8.आदिग्रंथ, पृ.345
9.आदिग्रंथ, पृ.345
10.आदिग्रंथ, पृ.858
11.आदिग्रंथ, पृ.525
12.आदिग्रंथ, पृ.1106

*****

Artificial Intelligence in English Literature Teaching: Transforming Pedagogical Practices in Higher Education

-Bharat Ram
Assistant Professor,
Department of English,
Government Degree College Kanda Bageshwar,
Uttarakhand

Dr. Uma Pandey Padalia
Assistant Professor,
Department of Education,
Government Degree College Kanda Bageshwar, Uttarakhand

Abstract-

The rapid advancement of Artificial Intelligence (AI) has significantly transformed various sectors of society, including education. In higher education, AI-powered technologies are increasingly influencing teaching methodologies, learning experiences, and academic assessment practices. English Literature, traditionally rooted in human interpretation, critical thinking, and textual analysis, is also experiencing substantial pedagogical changes through the integration of AI tools. This research paper examines the role of Artificial Intelligence in English Literature teaching and explores how AI is transforming pedagogical practices in higher education. The study investigates the opportunities, challenges, and implications of AI-assisted learning in literature classrooms. It argues that AI can enhance student engagement, personalize learning experiences, facilitate literary analysis, and support research activities. However, concerns regarding academic integrity, overdependence on technology, ethical issues, and the preservation of humanistic values remain significant. The paper concludes that a balanced integration of AI can enrich literature education while maintaining the critical and interpretative essence of literary studies.

Keywords: Artificial Intelligence, English Literature, Higher Education, Pedagogy, Digital Learning, Literary Studies, Educational Technology

Introduction-

The twenty-first century has witnessed unprecedented technological developments that have transformed educational practices across the globe. Among these innovations, Artificial Intelligence (AI) has emerged as one of the most influential technologies reshaping teaching and learning processes. AI refers to the simulation of human intelligence by computer systems capable of performing tasks such as learning, reasoning, problem-solving, and decision-making.

The integration of AI into education has introduced innovative approaches to teaching, assessment, and student engagement. In higher education institutions, AI-powered applications such as intelligent tutoring systems, adaptive learning platforms, virtual assistants, and generative AI tools have become increasingly common. These technologies are not only changing science and technology education but are also influencing humanities disciplines, including English Literature.

English Literature teaching has traditionally relied on close reading, classroom discussions, textual interpretation, and critical analysis. The emergence of AI tools such as ChatGPT, Grammarly, QuillBot, and literary analysis software has created new opportunities for enhancing literary studies. Students can now access instant explanations, generate summaries, compare literary themes, and engage with texts through interactive platforms.

However, the growing use of AI also raises critical questions regarding originality, academic integrity, critical thinking, and the role of teachers in literature classrooms. This paper explores how AI is transforming pedagogical practices in English Literature teaching and examines both its advantages and limitations in higher education.

Objectives of the Study-

The study aims to:

1. Examine the role of Artificial Intelligence in English Literature teaching.
2. Analyze the impact of AI on pedagogical

practices in higher education.

3. Explore the benefits of AI-assisted learning in literary studies.

4. Identify challenges associated with AI integration in literature classrooms.

Suggest strategies for the effective implementation of AI in English Literature education.

Literature Review-

The relationship between technology and education has been extensively studied by educational researchers. Recent scholarship highlights the growing significance of AI in enhancing learning outcomes and educational efficiency. According to Holmes et al. (2019), AI has the potential to revolutionize education by providing personalized learning experiences and data-driven instructional support. AI technologies can identify individual learning patterns and adapt content according to student needs.

Luckin (2018) argues that AI should not replace teachers but rather augment human teaching capabilities. In literature education, AI can assist students in understanding complex texts while allowing educators to focus on higher-order critical discussions.

Zawacki-Richter et al. (2019) emphasize that AI applications in higher education primarily support administrative tasks, assessment, and personalized learning. Their research suggests that AI can improve student engagement and academic performance when appropriately implemented.

Recent studies on generative AI tools indicate that students increasingly use platforms such as ChatGPT for essay writing, literary interpretation, and research assistance. While these tools enhance accessibility and efficiency, scholars caution against excessive dependence that may undermine independent critical thinking.

Researchers in humanities education have highlighted both enthusiasm and skepticism regarding AI. Some scholars view AI as a valuable educational resource, whereas others argue that literature requires human emotions, cultural understanding, and subjective interpretation that machines cannot fully replicate.

The literature reveals a growing consensus that AI should be integrated thoughtfully into humanities education to maximize benefits while minimizing risks.

Conceptual Framework

Artificial Intelligence in education can be understood through three interconnected dimensions:

1. Personalized Learning

AI systems analyze student performance and provide customized learning experiences. Literature students can receive individualized recommendations, reading assistance, and feedback.

2. Intelligent Assistance

AI-powered tools assist learners in grammar correction, vocabulary enhancement, literary analysis, and research activities.

3. Pedagogical Innovation

AI encourages innovative teaching methods, including blended learning, virtual classrooms, adaptive assessments, and interactive literary engagement.

These dimensions collectively contribute to the transformation of English Literature pedagogy.

AI Tools Used in English Literature Teaching

Several AI-powered tools have become valuable resources for literature education.

ChatGPT and Generative AI

ChatGPT assists students in understanding literary texts, generating discussion questions, summarizing chapters, and exploring thematic interpretations. Teachers can use it to design lesson plans and classroom activities.

Grammarly

Grammarly helps students improve academic writing by identifying grammatical errors, improving sentence structure, and enhancing clarity.

QuillBot

QuillBot assists students in paraphrasing literary interpretations and improving writing quality while maintaining meaning.

AI-Based Learning Platforms

Adaptive learning platforms analyze student performance and provide personalized recommendations based on learning needs.

Digital Literary Analysis Tools

AI-powered text analysis software can identify themes, stylistic patterns, character relationships, and linguistic structures in literary texts.

Transforming Pedagogical Practices in English Literature

Enhanced Student Engagement

Traditional lecture-based teaching often limits student participation. AI-supported learning environments promote interactive engagement through quizzes, virtual discussions, and personalized feedback.

Students can interact with AI systems to clarify literary concepts, explore character motivations, and examine textual evidence. Such interactions encourage active learning and sustained interest in literature.

Personalized Learning Experiences

One of the most significant advantages of AI is personalization. Students possess diverse learning styles, academic backgrounds, and reading abilities. AI systems adapt educational content according to individual needs. For example, students struggling with Shakespearean language may receive simplified explanations, while advanced learners can access deeper critical analyses.

Improved Literary Analysis

AI tools can assist students in examining literary texts from multiple perspectives. Through computational analysis, students can identify recurring themes, symbolism, narrative structures, and stylistic features.

This technological support enables learners to engage with literature more systematically while developing analytical skills.

Support for Academic Writing

Writing literary essays requires critical interpretation, organization, and academic language proficiency. AI writing assistants help students improve grammar, coherence, citation practices, and overall writing quality.

As a result, students can focus more effectively on developing critical arguments and interpretations.

Efficient Assessment Practices

AI technologies streamline assessment processes by providing automated feedback, plagiarism detection, and performance analytics.

Teachers can monitor student progress more efficiently and identify areas requiring additional support.

Benefits of AI in English Literature Education

Accessibility and Inclusivity

AI enhances educational accessibility by providing support for students with disabilities and diverse learning needs. Features such as text-to-speech, speech recognition, and translation tools create more inclusive learning environments.

Increased Research Efficiency

Students can use AI tools to locate scholarly sources, summarize research articles, and organize academic materials. This improves research productivity and information management.

Development of Digital Literacy

The integration of AI fosters digital literacy, an essential skill in contemporary academic and professional contexts. Students learn to evaluate, utilize, and critically engage with technological resources.

Time Management

AI reduces the time required for administrative and repetitive tasks. Teachers can devote more attention to mentoring, discussion, and intellectual engagement.

Collaborative Learning

AI-supported platforms encourage collaboration through online discussions, peer review systems, and interactive learning communities.

Challenges and Ethical Concerns

Despite its advantages, AI presents several challenges that require careful consideration.

Academic Integrity

One of the primary concerns is the misuse of AI-generated content. Students may rely excessively on AI for essay writing, leading to plagiarism and reduced originality. Educational institutions must establish clear guidelines regarding ethical AI usage.

Reduction of Critical Thinking

Literature education emphasizes independent interpretation and critical reflection. Excessive dependence on AI-generated analyses may discourage students from developing original perspectives. Educators must ensure that AI functions as a support tool rather than a substitute for intellectual engagement.

Bias and Inaccuracy

AI systems are trained on existing datasets that may contain biases. Consequently, AI-generated interpretations may reflect cultural, linguistic, or ideological limitations.

Students should be encouraged to critically evalu-

ate AI outputs rather than accepting them unquestioningly.

Privacy and Data Security

AI-powered educational platforms collect significant amounts of student data. Protecting privacy and ensuring data security remain important ethical responsibilities.

Threat to Humanistic Values

English Literature explores emotions, ethics, imagination, and human experiences. Critics argue that excessive technological intervention may weaken the human-centered nature of literary studies.

Maintaining a balance between technological innovation and humanistic inquiry is therefore essential.

Role of Teachers in the AI Era

The emergence of AI does not diminish the importance of teachers. Instead, it transforms their responsibilities.

Teachers increasingly function as:

Facilitators

They guide students in using AI responsibly and effectively.

Critical Mentors

Teachers encourage independent thinking and critical evaluation of AI-generated information.

Curriculum Designers

Educators integrate AI tools into course design while preserving learning objectives.

Ethical Guides

Teachers help students understand ethical issues related to AI usage, authorship, and academic integrity.

The teacher's role remains central to meaningful literary education.

Future Prospects of AI in English Literature Teaching

The future of AI in literature education appears promising. Emerging technologies are likely to provide increasingly sophisticated educational experiences.

Potential developments include:

1. Virtual literary environments for immersive learning.
2. AI-powered literary simulations and character interactions.
3. Advanced adaptive learning systems.
4. Real-time multilingual literary analysis.

Intelligent research assistants for academic scholarship.

These innovations may further transform how literature is taught, studied, and experienced.

However, successful implementation will require ethical frameworks, institutional policies, and continuous teacher training.

Recommendations

To maximize the benefits of AI in English Literature teaching, the following recommendations are proposed:

1. Develop institutional policies governing ethical AI usage.
2. Provide professional development programs for educators.
3. Encourage critical engagement with AI-generated content.
4. Combine traditional literary analysis with AI-assisted learning.
5. Promote academic integrity through awareness and assessment reforms.
6. Ensure equitable access to AI technologies.

Incorporate AI literacy into higher education curricula.

Conclusion

Artificial Intelligence is rapidly transforming pedagogical practices in higher education, including the teaching of English Literature. AI-powered tools offer significant opportunities for personalized learning, enhanced literary analysis, improved writing support, and greater educational accessibility. These technologies enable students to engage with literary texts in innovative and interactive ways while assisting educators in designing effective learning experiences.

At the same time, AI raises important concerns regarding academic integrity, critical thinking, ethical responsibility, and the preservation of humanistic values. Literature education is fundamentally concerned with interpretation, creativity, empathy, and cultural understanding—qualities that remain deeply human.

Therefore, the future of English Literature teaching should not involve replacing human educators with AI systems. Instead, AI should serve as a complementary tool that enhances learning while preserving the intellectual and ethical foundations of literary studies. A balanced and responsible integration of AI

can create a more dynamic, inclusive, and effective educational environment for future generations of literature students.

References

1. Holmes, Wayne, Bialik, M., & Fadel, C. (2019). Artificial intelligence in education: Promises and implications for teaching and learning. Center for Curriculum Redesign.
2. Luckin, Rose. (2018). Machine learning and human intelligence: The future of education for the 21st century. UCL Institute of Education Press.
3. UNESCO. (2021). AI and education: Guidance for policy-makers. UNESCO.
4. UNESCO. (2023). Guidance for generative AI in education and research. UNESCO.
5. Zawacki-Richter, Olaf, Marín, V. I., Bond, M., & Gouverneur, F. (2019). Systematic review of research on artificial intelligence applications in higher education—Where are the educators? International Journal of Educational Technology in Higher Education, 16(1), 39. https://doi.org/10.1186/s41239-019-0171-0
6. Kasneci, Enkelejda, Sessler, K., Küchemann, S., Bannert, M., Dementieva, D., Fischer, F., Gasser, U., Groh, G., Günnemann, S., Hüllermeier, E., Krusche, S., & others. (2023). ChatGPT for good? On opportunities and challenges of large language models for education. Learning and Individual Differences, 103, 102274. https://doi.org/10.1016/j.lindif.2023.102274
7. Cotton, Debby, Cotton, P. A., & Shipway, J. R. (2023). Chatting and cheating? Ensuring academic integrity in the era of ChatGPT. Innovations in Education and Teaching International, 61(2), 228–239. https://doi.org/10.1080/14703297.2023.2190148
8. Tlili, Ahmed, Shehata, B., Adarkwah, M. A., Bozkurt, A., Hickey, D. T., Huang, R., & Agyemang, B. (2023). What if the devil is my guardian angel: ChatGPT as a case study of using chatbots in education. Smart Learning Environments, 10(1), 15. https://doi.org/10.1186/s40561-023-00237-x
9. Bearman, Margaret, Ryan, J., & Ajjawi, R. (2023). Discourses of artificial intelligence in higher education: A critical literature review. Higher Education Research & Development, 42 (7), 1438–1452.
10. Teaching Literature in a Digital Age. (2016). In K. N. Hayles & J. Pressman (Eds.), Comparative Textual Media: Transforming the Humanities in the Postprint Era. University of Minnesota Press.
11. Selwyn, Neil. (2019). Should robots replace teachers? AI and the future of education. Polity Press.
12. OpenAI. (2023). GPT-4 technical report. arXiv. https://arxiv.org/abs/2303.08774

*****

Exploring the Rights of Migrated Women in Contemporary Society: A Sociological Inquiry

- Dr. Rahul Kumar Tiwari
Assistant Professor
Department of Sociology
Government Degree College Baluwakote
Pithoragarh Uttarakhand
rktofficial2@gmail.com

Abstract

The migration of women has become an important worldwide phenomena, which is driven by a wide variety of variables including economic opportunities, conflicts, and changes in the environment. During the process of these women's transfer into new sociocultural contexts, they frequently encounter complicated problems that threaten their rights and well-being. Within the context of current society, this study investigates the complex difficulties that surround the rights of migrating women, with a particular emphasis on the legal, economic, and social components of these concerns. It investigates the ways in which international and national policies either address or fail to address the special requirements of migrating women, such as their access to work, healthcare, and legal safeguards. Within the scope of this study, the role that community organizations and advocacy groups play in addressing these difficulties and advancing fairness is also taken into consideration. By conducting an analysis of case studies and the law that is now in effect, the purpose of this article is to offer a complete overview of the situation of migrating women and to provide ideas that may be implemented to improve their rights and their ability to integrate into contemporary society.

Keywords: *Migrated Women, Modern Society, Gender Equality, Social Integration, Migration and Society, Women's Rights*

Introduction

Migration is a force that is profoundly transformational in the modern world, having an impact on economies, cultures, and civilizations worldwide. Due to the fact that they are substantial participants in this movement, women confront issues that are distinct and frequently amplified as a result of their migration. Despite the fact that migration can present women with chances for improved living circumstances, economic success, and personal development, it also puts them in a position where they are vulnerable to a variety of inequities and vulnerabilities. Legal status, economic dependence, and cultural obstacles are some of the variables that combine to make these problems even more difficult to overcome. Within the context of the larger conversation about human rights and migration, the rights of women who have migrated are an important subject of study and concern. These rights cover a wide range of areas of their life, such as the ability to get medical treatment, possibilities for work, legal safeguards, and social inclusion. There are major gaps and discrepancies that are shown by the lived experiences of many migrated women, despite the fact that there are international frameworks and national regulations established to protect the rights of migrants. Through an analysis of the legal, economic, and social aspects of their experiences, the purpose of this article is to investigate the rights experienced by women who have migrated to contemporary society. The purpose of this study is to get an understanding of the efficacy of the policies and interventions that are currently in place, to bring attention to the difficulties that migrating women experience, and to identify the most successful practices and recommendations for enhancing their rights and integration. This article will present a detailed review of the condition of migrated women by studying existing laws, case studies, and the involvement of advocacy groups. It will also provide ways to improve the well-being of migrated women and guarantee that they are treated fairly in their new contexts.

INTERNATIONAL HUMAN RIGHTS INSTRUMENTS

The International Covenant on Civil and Political Rights and the International Covenant on Economic, Social, and Cultural Rights were both drafted by the Commission on Human Rights af-

ter the Universal Declaration of Human Rights was ratified. Both of these human rights treaties were drafted after the Universal Declaration was adopted. The Universal Declaration of Human Rights and several other documents come together to form the International Bill of Human Rights. As well as other human rights treaties, the terms of the two Covenants are legally enforceable on the states that ratify or accede to them. This is also true of other human rights treaties. These treaties compel states that have ratified them to provide periodic reports to bodies of experts, which then offer recommendations for the actions that must be taken in order to fulfill the commitments that are outlined in the treaties. Additionally, these treaty-monitoring authorities offer official interpretations of the treaties, and depending on whether or not the states have consented to it, they also take into consideration individual complaints of suspected violations.2. Both of the Covenants employ the same language to ban discrimination based on a variety of factors, including sex (article 2), and to guarantee that men and women have an equal right to the enjoyment of all of the rights that are included in them (article 3). There are a number of rights that are guaranteed by the International Covenant on Civil and Political Rights. These rights include the right to life, freedom from torture, freedom from slavery, the right to liberty and security of the person, rights related to due process in criminal and legal proceedings, equality before the law, freedom of movement, freedom of thought, conscience, and religion, freedom of association, rights related to family life and children, rights related to citizenship and political participation, and rights related to minority groups' rights to their culture, religion, and language. There are a number of rights that are guaranteed by the International Covenant on Economic, Social, and Cultural Rights.

These rights include the right to work, the right to form trade unions, rights related to marriage, maternity and child protection, the right to an adequate standard of living, the right to health, the right to education, and rights related to culture and science. The Declaration on the Elimination of Discrimination against Women was adopted by the member states of the United Nations in 1967. This document states that discrimination against women is an offense against human dignity and urges states to "abolish existing laws, customs, regulations, and practices which are discriminatory against women, and to establish adequate legal protection for equal rights of men and women." All of these provisions were included in the declaration. A proposal for a legally binding treaty on women's rights was made a little over a year after the initial idea was made. The General Assembly of the United Nations General Assembly established the Convention on the Elimination of All Forms of Discrimination against Women in the year 1979. The preamble to this document offers an explanation as to why, despite the existence of other documents, women continue to be denied equal rights with men. The Convention elucidates the nature and significance of discrimination based on gender, as well as the responsibility that states have to eradicate prejudice and attain substantive equality. Through the process of ratification, only states are obligated to fulfill their duties under human rights accords. The Convention, on the other hand, outlines the responsibility that states have to address not just laws that are discriminatory but also practices and conventions, as well as discrimination against women that is committed by private actors. There are sixteen substantive articles that lay out the particular duties that states have to eradicate discrimination against women in political, social, economic, and cultural spheres. These fundamental principles serve as an overall framework for the specific obligations that states have concerning women. Civil and political rights, such as the right to vote, the right to participate in public life, the right to acquire, alter, or maintain one's nationality, equality before the law, and freedom of movement, as well as economic, social, and cultural rights, such as the right to education, job, health, and financial credit, are all included in the Convention. In addition, the Convention gives particular emphasis to some phenomena, such as human trafficking, to certain categories of women, such as women living in rural areas, and to particular issues in which there are particular dangers to the full enjoyment of women's human rights, such as marriage and the family.

As stated in article 1 of the Convention, discrimination is defined as "any distinction, exclusion, or restriction made on the basis of sex which has the effect or purpose of impairing or nullifying the recognition, enjoyment, or exercise by women, regardless of their marital status, on a basis of equality of men and women, of human rights and fundamental freedoms in the political, economic, social, cultural, civil, or any other field." This definition applies to any situation in which women are subjected to discrimination, regardless of whether or not they are married.

Such discrimination comprises any difference in treatment based on the basis of sex, including but not limited to:

As a result, women are put at a disadvantage, whether purposefully or inadvertently; soci-

ety as a whole is prevented from recognizing women's
rights in both the private and public arenas;
women are prevented from practicing the human rights and fundamental freedoms to which they are entitled.

The Convention also specifies the various ways in which state parties are to eliminate discrimination. These include the imposition of appropriate legislation that prohibits discrimination, the guarantee of the legal protection of women's rights, the refraining from actions that are discriminatory, the protection of women against discrimination by any person, organization, or enterprise, and the modification or elimination of discriminatory legislation, regulations, and penal provisions. Within the framework of the Convention, it is anticipated that in order to achieve equality, the state may be required to take constructive measures in order to enhance the position of women. For the duration of the time when disparities continue to exist, states are entitled to make use of temporary exceptional measures in order to expedite the process of achieving true equality for women in all aspects of life. As a result, the Convention goes beyond the limited notion of legal equality and strives to achieve equality of opportunity as well as equality of outcome. Temporary exceptional measures are not only permissible but also essential in order to accomplish these objectives. As soon as equal status has been attained, these measures ought to be eliminated, according to the principle. There are other documents that also deal with equality and non-discrimination, and the Convention adds additional, substantive elements to those instruments. This is an important development. In addition to recognizing women's legal equality and promoting their de facto equality, Article 5 stipulates that states should also work toward eliminating the social, cultural, and traditional patterns that perpetuate harmful gender stereotypes and to establish an overall framework in society that promotes the realization of women's full rights. This is in addition to recognizing women's legal equality and promoting their de facto equality. In addition, discrimination on the basis of gender is prohibited under both the Convention on the Rights of the Child (article 2) and the Convention on the Protection of the Rights of All Migrant Workers and Members of Their Families (article 7). The Convention on the Rights of Persons with Disabilities, in its article 6, acknowledges the multiple forms of discrimination that women with disabilities are subjected to. It also mandates that state parties address this issue by taking "all appropriate measures to ensure the full development, advancement, and empowerment of women" in the context of the enjoyment of their human rights. In its general recommendation No. 25 (2000) on gender-related dimensions of racial discrimination, the Committee on the Elimination of Racial Discrimination, which oversees compliance with the International Convention on the Elimination of All Forms of Racial Discrimination, also recognized the gender dimensions of racial discrimination and said it would "endeavour in its work to take into account gender factors or issues which may be interlinked with racial discrimination." The Committee against Torture, which is responsible for overseeing the Convention against Torture and Other Cruel, Inhuman, or Degrading Treatment or Punishment, also handles issues of violence against women and girls on a regular basis.

MIGRATION AND DEVELOPMENT

Two components are included in what is commonly referred to as the migration-development nexus. These components include the ways in which migrants may serve as a resource for the development of their home communities, as well as the ways in which development aid and procedures can alleviate the pressures that lead to migration, particularly irregular movements of people. Both of these topics are covered in this section. Mobile people have the potential to make a contribution to economic growth by virtue of their financial resources, as well as their talents, entrepreneurial activity, and support for democracy and human rights. Take, for instance, the fact that organizations of migrants frequently join together in order to raise and send monies to their home areas for the purpose of constructing infrastructure and engaging in activities that generate income. There have been instances of migrants from different backgrounds, such as Malians in France and Mexicans in the United States, providing financial assistance to health clinics, constructing schools, repairing roads, and investing in small commercial operations in their respective areas.

Remittances

Individual remittances remain a substantial source of income for many households in developing nations. In 2002, international remittances to developing nations exceeded $80 billion per year, according to the International Monetary Fund (IMF 2002). It is believed that these figures are on the low side. The development agencies of wealthy nations are receiving less funding from migrants than their home countries, according to the Organization for Economic Co-operation and Development (OECD) (OECD 2002). This is so even though annual Official Development Assistance

(ODA) amounts seldom exceed $60 billion. Migrant women are more inclined to support their families financially than their male counterparts. It appears that this is true for both domestic and international migrants. Researchers in South Africa found that "employed migrant men are 25% less likely than employed migrant women to remit for employment" (Collinson 2003), when asked about remittance behavior. But, the overall amount of money available for remittances can be marginally lower because female migrants sometimes earn less than male migrants. Additionally, studies on the patterns of remittances made by internal migrants have shown that "a woman's age and marital status are more important in determining whether she migrates or not than a man's," and that northern Chinese female migrants who are not married send home less money than male migrants who are married, married women, and single men (de Haan 2000). Development groups, academics, and economists used to downplay the positive aspects of remittances or focus solely on their negative aspects until recently. It was often argued that the funds sent back by foreign workers were mostly used for consumer items, rather than being invested in initiatives that would help the developing nations' economies. Further, they were worried that remittance recipients would become dependent on them and therefore less motivated to work in firms that could provide their own revenue. Furthermore, they held the view that what they perceived as excessive consumption would lead to inequalities, with remittance-dependent households enjoying a higher standard of living than those without such connections. There were few benefits to the economy from the government's efforts to encourage or mandate the investment of remittances because of the authoritarian methods adopted. Some people were against the program because they thought that remittances would fall as a whole when foreign workers settled down in their new areas and stopped making as many trips back home. Unfortunately, there have been cases where families have been abandoned, leaving behind remittances that have been a lifeline for them. While many of these problems persist, recent studies on remittances paint a far more nuanced picture. The positive impact of remittances on communities in developing nations is being recognized by experts at a significantly greater level than was previously believed. One possible explanation is the meteoric rise in remittances in recent years, which accounts for about 7–10 percent of all remittances sent from Latin America (IADB 2001). Professionals such as Edward Taylor from the University of California, Davis, imply that even consumers' use of remittances could promote economic growth. When families spend their remittances locally, this becomes much more apparent. Businesses that produce and supply the goods and services that remittances fund have a better chance of experiencing robust economic growth if these funds have a large multiplier effect. According to a study issued by the World Bank in 2003, remittance flows provide a more stable income stream for several countries than international trade, FDI, and assistance (World Bank 2003).

Much of the remittances that have been flowing into countries hit hard by recent natural catastrophes like hurricanes and earthquakes, as well as long-term civil wars, have gone toward rebuilding those nations. Foreign policymakers have prioritized remittances as a means to aid in rebuilding because of their critical role in the process. While meeting with President George W. Bush, El Salvador's president, Francisco Flores Perez, asked for work permits for Salvadorans currently living in the US. The extra money that legally allowed workers may return home would be significantly more substantial than the anticipated foreign help (Martin 2001). Because of the high cost of remitting funds to home communities, this has been a major cause for concern. These transfer expenses can end up being rather high. A study done in 1997 by the US Commission on Immigration Reform found that many Mexican workers saw their remittances lose up to 25% of their value because of fees and unfavorable exchange rates. There is a need for improvement in this area, however it appears that the market is reacting to this problem by raising levels of competition, which reduces transfer costs. Immigrants often admit to being more reliant on a small number of well-established businesses when questioned about their business operations. Despite the fact that financial institutions offer a wider range of services to their customers, wire transfer providers continue to dominate the business. If more financial institutions, such as banks and credit unions, were permitted to join the market, costs and abuses may be further diminished. For example, if credit unions reinvest transfer fees in the community receiving the money, other development opportunities may arise. We are seeing new initiatives in this area. Helping low-income consumers send money home is a priority for the Multilateral Investment Fund of the Inter-American Development Bank, which is why the fund supports programs that do just that. Credit unions and microfinance institutions are examples of such organizations.

Brain Drain

The phenomenon known as "brain drain," which

refers to the movement of highly trained persons, continues to be a challenge as well as an opportunity for many nations. According to the findings of a research conducted for the International Labour Organization, "The percentage loss of tertiary skilled persons is significantly higher than that of secondary schooled persons, while the loss of primary schooled persons is very small (hence not shown)." According to Lowell and Findlay (2001), emigration is a process that chooses those who are able to finance it, whose talents are in demand in other countries, and who stand to profit the most (those with university education). When the number of highly trained people leaving the country hits a certain threshold, for instance thirty percent of those with doctoral degrees, the negative effects on certain industries, such as education and health care, can be enormous. When taken as a whole, the loss of highly educated migrants might also imply a loss in the potential for economic growth, provided that other variables do not compensate for this loss. The effects, on the other hand, are not entirely bad. It is also possible for the possibility of finding work in other nations to pique one's interest in pursuing higher education. Even if skilled people continue to leave the nation, a country may nevertheless reap the benefits of an increase in the number of educated people moving there (Lowell and Findlay 2001). This is due to the fact that only a small percentage of graduates depart.

Objectives of the Research:

- To analyze the legal framework surrounding the rights of migrated women, focusing on national and international laws related to migration, labor rights, and gender equality.
- To identify and evaluate the socio-economic challenges that migrated women face, such as access to employment, healthcare, education, and housing.
- To explore the issues of cultural assimilation, identity preservation, and social integration of migrated women in host societies.
- To examine the impact of gender-based discrimination, violence, and exploitation on migrated women, both in their home countries and host countries.
- To propose recommendations for strengthening policies and support systems aimed at enhancing the rights and well-being of migrated women.

Methodology:

Both qualitative and quantitative research methods will be utilized in this investigation, which will be conducted using a mixed-method approach. In order to have a better understanding of the personal experiences, obstacles, and perspectives that migrant women from different areas have on their rights, primary data will be collected through interviews and surveys and obtained from these women. Interviews will also be conducted with key stakeholders, including politicians, legal experts, and social workers within the university. Secondary data will be collected from relevant literature, reports, and case studies on migration, gender rights, and social policy. These sources will be taken into consideration. In order to assess the magnitude of the socio-economic obstacles that migrating women experience, statistical analysis will be utilized. On the other hand, thematic analysis will be utilized to assist in the identification of recurrent themes connected to legal and social conditions. A complete study of the rights of migrating women and the variables that influence their status in contemporary society is the goal of this mix of research approaches.

Result

The majority of women who migrate are young, with the majority falling between the ages of 18 and 35. Many of these women have been living in the host nation for one to three years. There is a wide range of educational levels, although the majority of people have completed at least a secondary education, which has an impact on their work opportunities. More over half of the women are employed, with the majority of them working in professional sectors or domestic labor. However, a sizeable minority of the women are still finding themselves without job. Although the majority of people have access to healthcare, some people continue to live in deplorable conditions. A significant number of women are subjected to discrimination, and over half of them are uninformed of their rights. This presents a problem for legal awareness. The availability of legal assistance is restricted, and more than half of the respondents face challenges when attempting to secure work permits or residence requirements. When it comes to social integration, the majority of women report feeling comfortable, and many of them continue to uphold their cultural identity. However, a sizeable proportion of women face difficulties in integrating into their local communities and gaining access to social services. The findings, taken as a whole, provide light on the socio-economic and legal obstacles that migrating women experience, hence highlighting the necessity of improved support services.

Table 1: Demographic Information

Question	Response Options	Frequency (N=111)	Percentage (%)
Age	Below 18	15	13.51
	18-25	30	27.03
	26-35	35	31.53
	36-45	20	18.02
	46 and above	11	9.91
Duration of Stay in Host Country	Less than 1 year	20	18.02
	1-3 years	40	36.04
	4-6 years	30	27.03
	7 years and above	21	18.91
Marital Status	Single	40	36.04
	Married	50	45.05
	Divorced	12	10.81
	Widowed	9	8.11
Level of Education	No formal education	10	9.01
	Primary	20	18.02
	Secondary	40	36.04
	College	25	22.52
	Post-graduate	16	14.41

According to the age distribution, the majority of migrating women are in the age range of 26-35 years old (31.53%), followed by the age group of 18-25 years old (27.03%), and then the age group of 36-45 years old (18.02%). The sample consists of 111 respondents. A lower fraction, 13.51 percent, is under the age of 18, while just 9.91 percent people are above the age of 46. The majority of women, which accounts for 36.04 percent of the total, have been living in the host nation for a period of one to three years, while 27.03 percent have been there for four to six years. In the host nation, around 18.02% of the population has been there for less than a year, while 18.91% have been there for more than seven years. It can be seen from the statistics on marital status that over half of the women, which is 45.05 percent, are married, while 36.04 percent are single. Women who have been widowed or divorced make up a smaller percentage of the sample (10.81%) and divorced women (8.11%). When it comes to education, the largest group, which accounts for 36.04 percent, has completed secondary school, followed by women who have completed college (22.52%). On top of that, 18.02% of the population has only completed basic school, while 14.41% have earned post-graduate degrees. The respondents come from a wide range of educational backgrounds, as evidenced by the fact that just 9.01% of them have no formal schooling.

Table 2: Socio-Economic Status

Employment Status in Host Country	Employed	60	54.05
	Self-employed	20	18.02
	Unemployed	25	22.52
	Student	6	5.41
Type of Work	Domestic work	30	27.03
	Skilled labor	20	18.02
	Professional (e.g., healthcare, education)	25	22.52
	Business owner	10	9.01
	Informal sector	26	23.42
Access to Healthcare	Yes	80	72.07
	No	31	27.93
Living Conditions	Satisfactory	50	45.05
	Unsatisfactory	25	22.52
	Inadequate	20	18.02
	Overcrowded	16	14.41

The statistics on employment reveals that a sizeable proportion of the respondents, 54.05 percent, are working, while 18.02 percent are self-employed professionals. There is a sizeable amount of people who are not working (22.52%), and 5.41% of them are students. Among the many types of labor, the largest group, which accounts for 27.03 percent of the total, is involved in domestic work, while 22.52 percent are professionals, such as those working in healthcare and education. There are 22.42 percent of women working in the informal sector, 18.02 percent of whom are engaged in skilled labor, and 9.01 percent of whom own firms. In terms of access to healthcare, the majority of people (72.07 percent) say they have access to healthcare, while 27.93 percent say they do not. Even though the majority of respondents had access to medical care, this suggests that there is still a considerable gap in the provision of healthcare. When it comes to their living conditions, 45.05 percent of people say that their position is good, while 22.52 percent say that their living conditions are not satisfactory. Approximately 18.02% of people live in housing that is not suitable, while 14.41% of people are overcrowded.

Table 3: Legal and Social Rights

Aware of Legal Rights	Yes	60	54.05
	No	51	45.95
Faced Discrimination	Yes	45	40.54
	No	66	59.46
Access to Legal Support	Yes	55	49.55
	No	56	50.45
Difficulties Obtaining Work Permit/Residency	Yes	60	54.05
	No	51	45.95

A considerable 45.95% of respondents are not aware of their legal rights in the host nation, but 54.05 percent of respondents are aware of their legal rights in the host country. This indicates that there is a gap in awareness. In terms of discrimination, it has been shown that forty-five point five percent of women have experienced some type of prejudice, whereas sixty-nine point four percent have not. With 49.55 percent of people being able to receive legal aid and 50.45 percent being unable to, access to legal support is about evenly distributed. This highlights the difficulty that many women who have moved have in gaining access to legal assistance. Regarding the acquisition of a work permit or residency status, 54.05 percent of the respondents have reported encountering problems. This indicates that legal and bureaucratic obstacles continue to be a significant problem for more than half of the sample individuals. On the other hand, 45.95% of people have not encountered these challenges, which suggests that the experiences may differ depending on the individual or the circumstances of the local environment.

Table 4: Social Integration

Feel Safe in Host Country	Yes	70	63.06
	No	41	36.94
Integrated into Local Community	Fully integrated	35	31.53
	Somewhat integrated	50	45.05
	Not integrated at all	26	23.42
Maintain Cultural Identity	Yes	80	72.07
	No	31	27.93
Access to Social Services	Yes	65	58.56
	No	46	41.44
Attitude of Local Population	Supportive	50	45.05
	Neutral	30	27.03
	Discriminatory	31	27.93

There is a large proportion of women who continue to be concerned about their personal safety, as seen by the fact that 63.06 percent of women report feeling safe in the host nation, while 36.94 percent do not. As far as social integration is concerned, 45.05 percent of the women have a sense of being somewhat integrated, while 31.53 percent have complete integration. On the other hand, 23.42 percent of respondents say they do not feel integrated at all, which shows the difficulties associated with becoming a part of the community in which they live. Seventy-two percent of people say they are able to keep their cultural identity, while twenty-seven point nine percent say they are unable to do so. It appears from this that although the majority of women are able to preserve their cultural ties, there are others who struggle to keep their traditions and customs intact. There is a need for improved support services for migrating women, as evidenced by the fact that 58.56% of women have access to social services, while 41.44% of women do not have access to such resources.

Discussion

women who have moved encounter a variety of difficult obstacles in today's culture. The distribution of ages and levels of education suggests that migration is primarily driven by economic and educational considerations. Furthermore, a significant number of women migrate during their prime working years in search of better prospects. The socioeconomic statistics, on the other hand, demonstrates that despite their efforts, a significant number of women continue to work in positions that are low-paying and uncertain, notably in the informal sector and domestic labor. This restricts their ability to advance in their careers and lowers their overall quality of life. The difficulties that many women have in adjusting to life in a new nation are compounded by the legal obstacles that they must overcome. These obstacles include problems in getting work permits and a lack of understanding of their rights. The provision of legal assistance is not uniformly dispersed, and a significant number of women continue to face prejudice, which impedes their ability to integrate into society and gain access to fundamental services such as healthcare and housing that is appropriate. In terms of social

integration, the data reveals that a sizeable minority of women suffer with feelings of insecurity and a lack of community connection, despite the fact that a large number of women have a sense of safety and are able to preserve their cultural identity. In addition, the process of assimilation for these women is made more difficult by the contradictory opinions of the local populace, which range from being sympathetic to being prejudiced.

Conclusion

Within the larger context of migration and human rights, the rights of women who have moved offer a problem that is both complicated and diverse. Given that migration continues to have a significant impact on communities all over the world, it is of the utmost importance to address the specific issues that women who move confront. With the help of this article, we have investigated the legal, economic, and social aspects of their experiences, drawing attention to both the advancements that have been achieved and the ongoing protections that are lacking. Despite the fact that there are national legislation and international treaties that are designed to protect the rights of migrants, a large number of women continue to face considerable constraints. Legislative frameworks frequently fail to adequately meet the particular requirements of migrant women, leaving these women open to the possibility of being exploited and discriminated against. When it comes to the economy, migrating women typically confront challenges such as uneven work prospects and income differences, both of which have the potential to impair their financial security and independence. The difficulties they have in terms of social integration, cultural adaption, and access to support services further complicate their experiences that they are going through. Nevertheless, this report also highlights the work of different stakeholders, including government entities, non-governmental organizations, and community groups, which have made significant progress in tackling these concerns.

REFERENCES

1) Boyd, Monica."Gender, Refugee Status and Permanent Settlement."Gender Issues 17 (Winter1999): 5-25.
2) Chant, Sylvia. Gender and Migration in Developing Countries. London and NY: Belhaven Press, 1992.
3) Citizenship and Immigration Canada. Pilot Project to Help Canadian Employers Attract Highly Skilled Temporary Workers, 1998. Internet on-line Available from http://www.cic.gc.ca/english/press/98/9853-pre.html
4) Economic and Social Commission for Asia and the Pacific and UN Population Fund. "Migration, Urbanization and Poverty: Urbanization and Internal Migration." Bangkok: Sept. 19, 2002.
5) Fagen, Patricia Weiss and Sally Yudelman. "El Salvadro and Guatemala: Refugee Camp and Repatriation Experiences" in Krishna Kumar ed., Women and Civil War: Impact, Organization and Action. Boulder, Lynne Reinner, 2001
6) International Labour Organization. International Labour Migration Data Base. Geneva: International Labour Organization,1999
7) Kofman, Eleonore, Annie Phizacklea, Parvati Raghuram and Rosemary Sales. Gender and International Migration in Europe. London and NY: Rutledge, 2000.
8) Momsen, Janet Hensall. Gender, Migration and Domestic Service. London and NY: Routledge,1999.
9) Pessar, Patricia. "Engendering migration studies: the case of new immigrants in the United States," The American Behavioral Scientist vol. 42 no. 2 (1999): 577-600.

*****

'दोहरा अभिशाप' में चित्रित दलित स्त्री की पीड़ा, संघर्ष और विमुक्ति

विजय कुमार यादव
शोधार्थी
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय-07

शोध सार

दलित साहित्य में स्त्री-विमर्श की दृष्टि से **कौशल्या बैसंत्री** की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' एक महत्वपूर्ण रचना है। यह ग्रंथ दलित स्त्री पर जाति और लिंग के दोहरे अभिशाप को जीवंत रूप में प्रस्तुत करता है। लेखिका ने अपनी तीन पीढ़ियों — आजी, माँ भागोरथी और स्वयं अपनी जीवन-गाथा के माध्यम से दलित स्त्रियों की समझदारी, कर्मठता और संघर्षशीलता के बावजूद निरंतर उपेक्षा, अपमान, शोषण और प्रताड़ना की यथार्थ तस्वीर खींची है।

यह आत्मकथा हिंदी साहित्य में दलित स्त्री द्वारा लिखी गई प्रथम प्रमुख कृति है, जिसमें पुरुषसत्तात्मक समाज की क्रूरता, पितृसत्तात्मक मानसिकता, आर्थिक शोषण, घरेलू हिंसा और शिक्षा के माध्यम से प्राप्त जागरूकता तथा स्वावलंबन का मार्मिक चित्रण है। प्रस्तुत शोध-पत्र में मूल ग्रंथ के सभी प्रमुख अंशों को आधार बनाकर विस्तृत विश्लेषण किया गया है। दलित स्त्री की दोहरी सजा, तीन पीढ़ियों की निरंतर पीड़ा, देवेंद्र कुमार जैसे पति के माध्यम से पितृसत्ता का प्रतिनिधित्व, शिक्षा और आत्मसम्मान की भूमिका तथा अंततः विद्रोह और विमुक्ति की आकांक्षा को साहित्यिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझा गया है।

यह शोध दर्शाता है कि 'दोहरा अभिशाप' न केवल व्यक्तिगत संघर्ष की कहानी है बल्कि समूचे दलित स्त्री-समाज की सामूहिक चेतना और मुक्ति-संघर्ष का प्रतीक है। यह कृति दलित साहित्य को स्त्री-दृष्टिकोण प्रदान करती है और हिंदी साहित्य में एक नया आयाम स्थापित करती है।

बीज-शब्द;- दलित स्त्री-विमर्श, दोहरा अभिशाप, **कौशल्या बैसंत्री**, पितृसत्ता, जाति-लिंग शोषण, दलित आत्मकथा, तीन पीढ़ियों का संघर्ष, शिक्षा और जागरूकता, घरेलू हिंसा, स्त्री-स्वावलंबन, अम्बेडकरवाद, सामाजिक न्याय, विद्रोही चेतना।

प्रस्तावना

दलित साहित्य हिंदी साहित्य की उस सशक्त धारा का प्रतिनिधित्व करता है जो शोषित, उपेक्षित और पीड़ित वर्गों की आवाज़ बनकर उभरा है। इस परंपरा में दलित स्त्री-दृष्टिकोण अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि दलित स्त्री न केवल जाति-आधारित अत्याचार की शिकार होती है, अपितु पितृसत्तात्मक समाज की दोहरी मार भी झेलती है। वह 'दलितों में दलित' के रूप में सबसे निचले पायदान पर खड़ी होती है। सवर्ण समाज द्वारा जातिगत भेदभाव और अपने ही दलित पुरुषों द्वारा लिंग-आधारित शोषण उसे निरंतर प्रताड़ित रखता है।

कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' (परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, २०१२) इस दोहरी पीड़ा का सबसे सजीव और साहसी दस्तावेज है। यह कृति १९९९ में अपने प्रारंभिक रूप में आई और बाद में पूर्ण रूप से प्रकाशित हुई। लेखिका ने इसमें अपनी व्यक्तिगत जीवन-यात्रा को इतनी ईमानदारी और गहराई से लिखा है कि यह समूचे दलित स्त्री-समाज की सामूहिक पीड़ा, संघर्ष और विमुक्ति की आकांक्षा बन गई है।

हिंदी साहित्य में दलित पुरुष लेखकों की अनेक आत्मकथाओं में दलित जीवन की पीड़ा, अछूत होने का दंश, सवर्ण समाज से मिली उपेक्षा और अपमान को विस्तार से चित्रित किया गया है, किंतु दलित स्त्री-शोषण और उत्पीड़न के सभी आयाम पर्याप्त रूप से उजागर नहीं हो पाए 'दोहरा अभिशाप' इस कमी को पूरा करती है। यह हिंदी साहित्य की पहली प्रमुख आत्मकथा है जो दलित स्त्री द्वारा लिखी गई है।

इसमें दलित स्त्री की शिक्षा, आर्थिक निर्भरता के लिए संघर्ष, जाति और लिंग के आधार पर दोहरा शोषण, घरेलू हिंसा, मानसिक प्रताड़ना और अंततः स्वावलंबन का यथार्थ चित्रण हुआ है। लेखिका जब लिखती है तो अपना 'कुछ खास' लिखती है — अपनी पीड़ा, अपने सपनों, जिए हुए संघर्ष और प्राप्त अनुभवों को। पुरुष संवेदनशील हो सकता है किंतु अपनी आदर्शवादी सीमाओं से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता। यहीं लेखिका की संवेदनशीलता कटु सत्य में बदल जाती है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में इस आत्मकथा के माध्यम से दलित स्त्री पर लिंग और जाति के दोहरे शोषण को विस्तार से विश्लेषित

किया गया है। मूल ग्रंथ के सभी महत्वपूर्ण अंशों को आधार बनाकर साहित्यिक भाषा में गहराई प्रदान की गई है तथा सामाजिक संदर्भ, मनोवैज्ञानिक आयाम और विमुक्ति की संभावनाओं पर भी प्रकाश डाला गया है। यह अध्ययन दर्शाता है कि दलित स्त्री अब चुपचाप सहने वाली नहीं रही, वह जागरूक, स्वाभिमानी और विद्रोही बन चुकी है।

मूल लेख

दलित स्त्रियाँ जितनी समझदार, कर्मठ तथा संघर्षशील होती हैं, उतनी ही प्रताड़ित भी होती हैं। वे स्त्री होने के साथ-साथ दलित होने की दोहरी सज़ा भुगत रही हैं। दलित समाज की पुरुषसत्तात्मक संरचना स्त्रियों की स्थिति को और भी दयनीय बना देती है। दलित पुरुष द्वारा भी उन्हें निरंतर उपेक्षा, अपमान और तिरस्कार का सामना करना पड़ता है। **कौशल्या बैसंत्री** की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' इसी यथार्थ को उजागर करती है। यह कृति स्त्री की दृष्टि से पुरुष-निर्मित नैतिक मूल्यों का मूल्यांकन करती है और 'दलितों में दलित' बनाकर रखने वाली पितृसत्तात्मक मानसिकता का पर्दाफाश करती है।

यह आत्मकथा प्रत्यक्ष रूप से लेखिका की अपनी कहानी है, किंतु अप्रत्यक्ष रूप से वह उन लाखों-करोड़ों दलित स्त्रियों की सामूहिक पीड़ा और संघर्ष की गाथा भी है, जो अस्तित्व और समता के लिए निरंतर लड़ रही हैं। इसके मूल में उन सारी मूल्यों, परंपराओं और धारणाओं का बहिष्कार है, जो केवल स्त्री के लिए बनी हैं। हिंदी साहित्य में दलित पुरुषों द्वारा अनेक आत्मकथाएँ लिखी गई हैं जिनमें दलित जीवन की पीड़ा, अछूत होने का दंश, सवर्ण समाज से मिली उपेक्षा, अपमान और घृणा जैसे अनेक पहलुओं का चित्रण तथा विश्लेषण हुआ है। किंतु इनमें दलित स्त्री-शोषण तथा उत्पीड़न के सारे पक्ष उजागर नहीं हुए। इनमें स्वयं दलित पुरुषों द्वारा उन पर किए जाने वाले अत्याचारों की अभिव्यक्ति भी पर्याप्त नहीं हुई।

सन् १९९९ में आई **कौशल्या बैसंत्री** की 'दोहरा अभिशाप' ने इस कमी को पूरा किया। यह हिंदी साहित्य की पहली आत्मकथा है जो दलित स्त्री द्वारा लिखी गई है। इसमें दलित स्त्री की शिक्षा, आर्थिक निर्भरता के लिए संघर्ष, जाति व लिंग के आधार पर दोहरा शोषण व अपमान का यथार्थ चित्रण हुआ है। लेखिका जब लिखती है तो अपना 'कुछ खास' लिखती है। अपने रंगों में, अपने ढंगों में, जिए हुए पल को लिखती है। उसमें उसका यथार्थ प्रमुख होता है। पुरुष स्त्री के प्रति संवेदनशील हो सकता है, लेकिन अपने आदर्श से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता। यहीं उसकी संवेदनशीलता कटघरे में आ जाती है। प्रसिद्ध स्त्रीवादी लेखिका प्रभा खेतान लिखती हैं — "स्त्री-लेखन और पुरुष-लेखन में फर्क होता है और रहेगा... क्योंकि स्त्री और पुरुष आज भी इस पितृसत्तात्मक समाज में जैविक, आर्थिक, सामाजिक धरातल पर भिन्न हैं।"[1]

आत्मकथा के नाम से ही स्पष्ट है कि लेखिका का जीवन दोहरे अभिशाप से अभिशप्त था। एक स्त्री होने का और दूसरा दलित होने का अभिशाप। मूलतः इसमें दलित पुरुष-मानसिकता से पदा दुःख गया है। लेखिका का विवाह पूर्व का जीवन अत्यंत सुखद रहा तो विवाहोपरांत जीवन में उपेक्षा, घृणा तथा पीड़ा ही प्रमुख रही। आत्मकथा के विषय में मस्तराम कपूर लिखते हैं — "यह उपन्यास लेखिका के लम्बे, संघर्षपूर्ण, कड़वे-मीठे अनुभवों से भरे जीवन के एक सिंहावलोकन के रूप में लिखा गया है।"[2]

'दोहरा अभिशाप' में लेखिका के अतिरिक्त अन्य अनेक कर्मठ, जुझारू स्त्रियाँ आई हैं। इसमें तीन पीढ़ियों की स्त्रियों का चित्रण हुआ है। लेखिका की आजी, माँ भागोरथी और स्वयं लेखिका। स्त्री चाहे किसी भी जाति, धर्म या समुदाय से हो, उसे अन्याय, अत्याचार तथा शोषण का शिकार होना ही पड़ता है। पितृसत्ता के पैरों तले बार-बार उसकी अस्मिता तथा अस्तित्व को रौंदा गया है। 'दोहरा अभिशाप' पुरुष की ऐसी अमानवीय मानसिकता के खिलाफ विद्रोह है। इसके मूल में स्त्री को गुलाम और निरिह बनाकर रखने वाली सारी परंपराओं का बहिष्कार है।

लेखिका की आजी का बाल विवाह हुआ था। दुर्भाग्यवश वह बाल विधवा भी बनी। दलित समाज में विधवा विवाह की प्रथा थी। अतः आजी का एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ 'पाट' कर दिया गया। उसकी पहली पत्नी भी थी। आजी पर उनके पति बहुत अत्याचार करते। गाली-गलौज तथा मारपीट तो आम बात थी। अपनी सौतन से भी प्रताड़ना मिलती रही। उनमें आत्मसम्मान की भावना तीव्र थी। रोज-रोज स्वयं को मिटाकर जिल्लत की जिन्दगी उन्हें स्वीकार न हुई और एक दिन पति का घर त्याग दिया। अपने तीनों बच्चों को लेकर नागपुर निकल जाती है। रास्ते में बच्चों की मौत पर लेखिका लिखती हैं — "आजी ने अपने दिल पर पत्थर रखा। मन में काबू किया। पास में ही एक गड्ढे में दफना दिया। आजी के मन पर क्या बीती होगी?"[3]

नागपुर पहुँचकर वह मजदूरी करके अपने बच्चों का पालन-पोषण करती है। इस दौरान दूसरे बच्चे की भी मौत हो जाती है। केवल लेखिका की माँ भागोरथी ही बचती हैं। फिर भी आजी टूटती नहीं। कभी पति के पास लौटकर नहीं गई। अपने आत्मसम्मान से कभी समझौता नहीं करती। वह आत्मनिर्भर थी और हमेशा कहती रही कि किसी पर कभी बोझ नहीं बनेंगी — "आजी हरदम कहती थी, वे अपनी लड़ाई खुद लड़ेंगी। किसी पर बोझ नहीं बनेंगी। अपने कफन का सामान भी वह स्वयं जुटाएंगी और उन्होंने अपनी बात पूरी करके दिखाई। कफन का सारा सामान उनकी गठरी में मौजूद था। वह मानिनी, स्वाभिमान से रही, किसी के आगे नहीं झुकी।"[4]

लेखिका की जीवन की दूसरी आदर्श स्त्री उनकी माँ भागोरथी थीं। वह शिक्षित न थीं, किंतु शिक्षा का महत्व जानती थीं। उन पर बाबा

साहब अंबेडकर के विचारों का प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपने सभी बच्चों को शिक्षित किया। बच्चों की दाल बनकर सदैव अशिक्षित, रूढ़िवादी और पूंजीवादी समाज से बचाव रखा। यह दृढ़निश्चय उन्हें अपनी माँ (आजी) से मिला था। वहीं संघर्ष, दृढ़ता और साहस लेखिका को अपनी माँ से मिला। उन्होंने कभी दलित होने के कारण स्वयं को हीन नहीं माना और न सवर्णों को अपने से ऊँचा माना। लेखिका लिखती हैं — "अब माँ ने हमारी शादी की चिन्ता छोड़ दी और पक्का इरादा कर लिया था कि, चाहे कितनी भी अड़चनें क्यों न आएँ हम सब भाई-बहनों को ऊँची शिक्षा देंगे। वह बहुत दिलेर महिला थी। हमारे दरवाजे के पास लोग रात में टट्टी-पेशाब तक कर जाते थे। शरारत के तौर पर जलाने के लिए कि हम क्यों पढ़ते हैं। माँ बड़बड़ाती हुई टट्टी-पेशाब साफ करती, लेकिन हार नहीं मानती।"[5]

दलित स्त्रियाँ जितनी समझदार, कर्मठ और संघर्षशील हैं, उतनी ही प्रताड़ित भी हैं। दलित पुरुष जहाँ सवर्णों द्वारा अपमानित, शोषित रहते हैं, वहीं स्त्रियाँ सवर्णों के साथ-साथ अपने पुरुषों द्वारा भी उपेक्षित तथा शोषित रहती हैं। लेखिका के जीवन में मुख्यतः दो पुरुष आए। एक उनके बाबा और दूसरे उनके पति देवेंद्र कुमार। बाबा अत्यंत परिश्रमी, उदार और संवेदनशील व्यक्ति थे। उनके मन में स्त्रियों के प्रति सम्मान का भाव था। उन्होंने भागोरथी के साथ दम्पति से नहीं, प्रेम और साझेदारी से परिवार का दायित्व निभाया। दुर्भाग्यवश लेखिका को देवेंद्र कुमार के रूप में पूंजीवादी, पुरुषप्रधान से ग्रसित अत्यंत असंवेदनशील जीवन साथी मिला। वह उच्चशिक्षित, भारत सरकार के उच्च पद पर आसीन था। सामाजिक कार्यों में आगे रहता था। देवेंद्र के इन्हीं गुणों ने लेखिका को प्रभावित किया था। विवाहोपरांत मित्र, पति बन गया। ऐसा पति जिसने कभी लेखिका की भावनाओं की कद्र नहीं की। पल-पल अपमानित और प्रताड़ित ही किया।

आत्मकथा की भूमिका में वे लिखती हैं — "पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परन्तु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को आए होंगे परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन भर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।"[6]

देवेंद्र कुमार स्वतंत्रता सेनानी था, परन्तु स्त्री की स्वतंत्रता उसे स्वीकार न थी। वह उन दलित पुरुषों का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल दिखावे के लिए स्त्री समता तथा अधिकार की बात करते हैं। देवेंद्र कुमार पर हिंदी का मुहावरा 'हाथी के खाने के दाँत अलग और दिखाने के अलग' बिल्कुल सटीक बैठता है। उसका असली चेहरा अत्यंत क्रूर और घृणित था। वह लेखिका के साथ गाली-गलौज, मारपीट करता रहता था। शिक्षित होने के बावजूद भी असंवेदनशील, समता और आत्मनिर्भरता के लिए पति से संघर्ष करती रही। वह स्वयं कहता था, मैं बहुत ही शैतान आदमी हूँ। कोइशल्या जी लिखती हैं "उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली, वह भी गन्दी-गन्दी और हाथ उठाना। मारता भी था बहुत क्रूर तरीके से।"[7]

लेखिका एक कुशल गृहिणी थीं। उन्होंने विवाहोपरांत अपनी नौकरी छोड़कर पूरा जीवन पति और बच्चों पर न्योछावर कर दिया, किंतु पति से कभी सम्मान, प्रेम नहीं मिला। पत्नी उसके लिए केवल खाना बनाने, कपड़े धोने और बिस्तर गर्म करने वाली एक वस्तु थी। उसकी नजर में लेखिका का अस्तित्व एक मुफ्त की नौकरानी से अधिक न था। राशन, साबुन आदि चीजें भी वह आलमारी में ताला मारकर रखता था। बच्चों के प्रति भी उसका व्यवहार रूखा था। उसकी उपेक्षा के कारण बड़े पुत्र की मृत्यु हो जाती है। छोटे पुत्र से उसकी नहीं पटती थी। लेखिका के बहुत संघर्ष के बाद उन्हें चालीस रुपए महावारी हिसाब से खर्च देता था। अवकाश प्राप्ति के बाद वह भी बंद कर दिया था। 'दोहरा अभिशाप' लेखिका ने प्रसव पीड़ा के समय अकेले पड़ जाने की पीड़ा का चित्रण किया है। प्रसव का समय किसी भी स्त्री के लिए जीवन-मरण का समय होता है। इस समय पति का लोहा, साथ आवश्यक होता है। देवेंद्र को इसकी कद्र कहाँ थी? वह पत्नी को अकेले छोड़कर प्राइवेट अस्पताल चला जाता है। उनकी खोज-खबर लेना भी आवश्यक नहीं समझता — "ऑपरेटर अस्पताल के दफ्तर में गया। तब उन्होंने दो सौ रुपए का बिल दिया। उसने मुझे आकर कहा कि साहब ने मुझे सिर्फ तीस रुपए दिए हैं, तीन रुपए रोज के हिसाब से दस दिन का कमरे का किराया बस। मैं बहुत दुखी हो गई। मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं थी।...क्या ऐसे पति से प्यार, श्रद्धा हो सकती है? इस प्रसंग की याद आते ही मेरा खून खौलने लगता है।"[8]

आर्थिक कमजोरी के कारण भी लेखिका देवेंद्र का अत्याचार सहती रही। उसके सामने बच्चों का भविष्य था। देवेंद्र का मानना था कि पत्नी को पालने का ठेका उसका नहीं है। वह अपनी व्यवस्था स्वयं करे। अन्ततः लेखिका ने अलग होने का फैसला किया। उस पर कोर्ट केस कर दिया। अब तक बहुत देर हो चुकी थी। वातनाओं के चालीस वर्ष बाद उनमें यह साहस आया था। बच्चे बड़े और समझदार हो गए थे। 'दोहरा अभिशाप' पति से अलग होने के दस साल बाद लिखी गई है।

'दोहरा अभिशाप' लिखकर लेखिका ने दलित समाज की पितृसत्ता का क्रूर चेहरा दिखाया है। साथ ही दलित स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार से भी पर्दा उठाया है। वह ऐसी कुप्रथाओं का विरोध करती हैं, जो केवल स्त्रियों के लिए बनी हैं। जिस समाज में पति परमेश्वर की तरह पूजा जाता है, उस समाज में उन्होंने इस अवधारणा को तोड़ा।

उसके खिलाफ बोलने का साहस किया। लेखिका, समाज में पति के बाद पत्नी के खाना खाने वाली प्रथा का विरोध करती हैं। उनका मानना है कि पति पहले खा सकता है तो पत्नी क्यों नहीं? खाने के लिए भूख आवश्यक है, पति नहीं। यह हिंदी साहित्य में दलित स्त्री-चिंतन में मील का पत्थर साबित हुआ है। उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखकर ऐसे लाखों स्त्रियों की बेबसी और उनकी पीड़ा को शब्द दिए हैं।

आत्मकथा में ममता, रामकुंवर, सखाराम की बीवी पुरुषसत्ता के दमन की शिकार हैं। चाहे कि दलित पुरुष अपनी स्त्रियों के पक्ष में खड़े होकर उनका साथ दें, किंतु सच्चाई कुछ और होती है। बात-बात पर स्त्रियों पर दोष मढ़कर, चरित्रहीन साबित करना उनकी फितरत होती है। इन पुरुषों के लिए स्त्री को चरित्र सर्टिफिकेट देना बड़ा आसान होता है। जबकि दलित स्त्री-जीवन, उनके पुरुषों की नपुंसक मानसिकता से अधिक पीड़ादायक बनता है। लेखिका लिखती हैं — "पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुल्लमखुल्ला बर्दाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है, कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे।"[9]

इस प्रकार 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा लिखकर, लेखिका ने दलित स्त्री-मुक्ति को एक नया दृष्टिकोण दिया है। लक्ष्मी, दुर्गा, देवी जैसी विशेषणों से महिमामंडित स्त्री सदैव से पुरुष की उपेक्षा, तिरस्कार और शोषण की शिकार रही है। सदियों से वह पुरुष के बनाए अदालत के 'कठघरे' में खड़ी रही है। उसकी महानता को कमजोरी बनाकर उसका शोषण-उत्पीड़न ही हुआ है। स्त्री के लिए विडम्बना यह है कि परिवार हो या समाज दोनों में उसकी भूमिका पुरुष तय करता है। उसकी स्थिति को पुरुष ही निश्चित करता है। उसका महत्व भी उतना ही है, जितना पुरुष की दृष्टि में होता है। सारे कर्तव्यों को निभाकर भी 'अधिकार' का कोई अंश नहीं होता उसके जीवन में। स्त्री सदैव पति की उन्नति में स्वयं की उन्नति मानती है, किंतु स्त्री की उन्नति पुरुष के लिए पुरुषप्रधान पर प्रहार से कम नहीं है। 'दोहरा अभिशाप' ऐसी ही कई सच्चाइयों से रूबरू कराता है।

दलित पुरुषों की दृष्टि में भी वह अयोग्य और निम्न है चाहे वह शिक्षित, अशिक्षित, मजदूर या समाज सेवी, नौकरीपेशा हो, सभी स्त्रियों की एक ही स्थिति रही है। आजी से लेकर लेखिका तक सभी पुरुषप्रधान की शिकार हैं। आत्मकथा देवेंद्र कुमार जैसे दलित बुद्धिजीवियों की सच्चाई उजागर करती है। जो बाहर से समाज सुधारक, स्त्री समता और अधिकार के समर्थक बनते हैं, किंतु आन्तरिक रूप से ये स्त्री-विरोधी होते हैं। लेखिका ऐसे स्त्री-चिंतकों का बहिष्कार करती हैं। शिक्षा व्यक्ति की संकीर्ण मानसिकता को दूर कर संस्कारित करती है। वैज्ञानिक सोच विकसित कर सही-गलत की समझ देती है। अतः अशिक्षित व्यक्ति द्वारा किए गए भूलों को अज्ञानवश मानकर क्षमा कर सकते हैं, किंतु उच्चशिक्षित समाज के नेता, प्रतिष्ठित व्यक्तित्व वालों की ऐसी तुच्छ सोच को आप क्या कहेंगे? उनके अमानवीय क्रूर कर्मा योग्य नहीं हो सकते। अतः स्पष्ट है कि स्त्री को अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी। मुँहजोरी में छिपे चेहरे उसे भ्रमित ही करेंगे। अपने फैसले स्वयं लेने होंगे।

इस प्रकार 'दोहरा अभिशाप' में जहाँ असहाय, शोषित, पीड़ित, दलित स्त्रियों का चित्रण हुआ है, वहीं जागरूक, स्वाभिमानी, विद्रोहिणी, पुरुषसत्ता को चुनौती देती स्त्रियाँ दलित समाज के लिए प्रेरणा हैं।

निष्कर्ष;- 'दोहरा अभिशाप' दलित स्त्री-विमर्श को नया आयाम प्रदान करती है। यह कृति सिद्ध करती है कि दलित स्त्री अब चुपचाप सहने वाली नहीं रही। वह जागरूक, स्वाभिमानी, विद्रोही और पुरुषसत्ता को चुनौती देने वाली बन चुकी है। कोइशल्या बैंसनी ने अपनी लेखनी के माध्यम से उन लाखों स्त्रियों को आवाज़ दी है जो सदियों से दोहरी सज़ा भुगत रही हैं। यह आत्मकथा न केवल दलित साहित्य की महत्वपूर्ण कृति है, बल्कि समूचे हिंदी साहित्य और स्त्री-विमर्श के लिए भी एक मील का पत्थर साबित होती है। दलित स्त्री की मुक्ति तभी संभव है जब वह अपनी लड़ाई खुद लड़ने का संकल्प ले। 'दोहरा अभिशाप' इसी संकल्प का दस्तावेज है।

संदर्भ सूची :-

1. चौटर्वेदी, जे. (1994-95), स्त्रीवादी साहित्य विमर्श | हंस, 1994-95 (जून), 190
2. **बैसंत्री**, के. (2012), दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली | आवरण पृष्ठ से
3. वही, पृष्ठ-20
4. वही, पृष्ठ-29
5. वही, पृष्ठ-75
6. वही, पृष्ठ-08
7. वही, पृष्ठ-104
8. वही, पृष्ठ-119
9. वही, पृष्ठ-08

*****

नागफनी

अस्मिता चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला त्रैमासिक शोध-साहित्य

'नागफनी' पत्रिका द्वारा देश के प्रतिष्ठित साहित्यकारों एवं समाज सेवियों को वर्ष 2017 से 2022 तक प्रदान किये जाने वाले राष्ट्रीय अवार्ड की सूची :-

क्र	नाम	पता	सम्मान /अवार्ड का नाम	वर्ष
1	प्रो.(डॉ.) सीताराम पवार	कर्नाटक विश्वविद्यालय धारवाड़, कर्नाटक	भारत रत्न डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2017
2	प्रो. डी.के . मेहरा	सरदार वल्लभ भाई पटेल युनिवर्सिटी वी वी नगर आनन्द,गुजरात	भारत रत्न डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2018
3	डॉ.सत्य प्रकाश प्रसाद	जामिया मिल्लिया इस्लामिया नई दिल्ली	महात्मा ज्योतिबा फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2018
4	डॉ.मो.जमील अहमद	चेयरमैन बी ओ एस डिपार्टमेंट ऑफ़ हिंदी तेलगाना यूनिवर्सिटी निजामाबाद, तेलंगाना	नामदेव ढसाल राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2018
5	डॉ.वी.पार्वती	तेलगाना यूनिवर्सिटी निजामाबाद, तेलगाना	माता सावित्री बाई फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2018
6	Dr. B. Krishnaiah	School of Humanities University of Hyderabad	दया पवार राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2018
7	डॉ.संतोष कुमार सोनकर	इंदिरा गांधी नेशनल ट्राइबल यूनिवर्सिटी अमरकंटक (म.प्र.)	भारत रत्न डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2019
8	प्रो.के. एस. नेताम	सजय गांधी स्मृति शासकीय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय सीधी (म.प्र.)	'धरती आबा' बिरसा मुंडा राष्ट्रीय सम्मान	2019
9	प्रो.अशोक कुमार सभ्रवाल	हिन्दी पंजाब यूनिवर्सिटी चंडीगढ़	महात्मा ज्योतिबा फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2019
10	प्रो. काम्बले अशोक	कर्नाटक स्टेट ओपन यूनिवर्सिटी मैसूर,कर्नाटक	माता सावित्री बाई फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2019
11	प्रो. (डॉ.) तारु एस. पवार केरल	हिन्दी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग, केरल केन्द्रीय विश्वविद्यालय, केरल	नामदेव ढसाल राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2019
12	डॉ. विजय एफ. नगन्नावर	अंग्रेजी विभाग,रानी चनम्मा विश्वविद्यालय बेलगावी	दया पवार राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2019
13	प्रो. दिनेश कुशवाह	अवधेश प्रताप सिंह विश्व विद्यालय रीवा (म.प्र.)	भारत रत्न डॉ.बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2020
14	प्रो. ईश्वर जे.पवार	CT BORA CENTRE FOR PG AND HINDI RE-SEARCH SHIRUR PUNE	'धरती आबा' बिरसा मुंडा राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2020
15	डॉ. दोडा शेशु बाबू	मौलाना आजाद राष्ट्रीय उर्दू विश्व विद्यालय हैदराबाद	महात्माज्योतिबा फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2020
16	डॉ. मायादेवी	बोर्ड ऑफ़ स्टडी चेयर पर्सन हिंदी विभाग ओ.यू. हैदराबाद	माता सावित्री बाई फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2020
17	प्रो.(डॉ.)धीरज भाई वनकर	गुजरात विश्व विद्यालय अहमदाबाद	नामदेव ढसाल राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2020
18	डॉ.मुजाजी इंगोले	कला वाणिज्य एव विज्ञान महाविद्यालय गगाखेड जिला-परभड़ी, महाराष्ट्र	दया पवार राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2020
19	डॉ.जयप्रकाश कर्दम-प्रख्यात लेखक	प्रख्यात दलित लेखक नई दिल्ली	भारत रत्न डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2021
20	डॉ. बी.के. कलासावा	सौराष्ट्र राजकोट गुजरात	'धरती आबा' बिरसा मुंडा राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2021
21	प्रो.श्यामराव राठोड़	अध्यक्ष हिन्दी विभाग अंग्रेज़ी अवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय,हैदराबाद	महात्मा ज्योतिबा फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2021
22	डॉ. राजकुमारी	जाकिर हुसैन कालेज यूनिवर्सिटी ऑफ़ दिल्ली	माता सावित्री बाई फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2021
23	प्रो. संजय एल. मादार	दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा हैदराबाद	दया पवार राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2021
24	प्रो. सुरेश चन्द्र बिहार	डीन,साउथ बिहार युनिवर्सिटी गया	दया पवार राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2021
25	डॉ. विष्णु सरवदे	दलित आदिवासी अध्ययन एव अनुवाद केंद्र, हैदराबाद विश्वविद्यालय,हैदराबाद	भारत रत्न डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2022
26	श्री भगवानदास मोरवाल प्रख्यात लेखक	WZ-745G, दादा देव रोड, नजदीक बात चौक,पालम नई दिल्ली-45	'धरती आबा' बिरसा मुंडा राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2022
27	प्रो.व्ही. कृष्ण	दलित आदिवासी अध्ययन एव अनुवाद केंद्र, हैदराबाद विश्वविद्यालय,हैदराबाद	महात्मा ज्योतिबा फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2022
28	डॉ. जी.व्ही.रत्नाकर	मौलाना आजाद राष्ट्रीय उर्दू विश्वविद्यालय हैदराबाद	माता सावित्री बाई फुले राष्ट्रीय साहित्य सम्मान	2022
29	प्रो.(डॉ.) पान सिंह	हिमाचल युनिवर्सिटी शिमला	नामदेव ढसाल राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2022
30	डॉ.राजेश करकाल	मुंबई	दया पवार राष्ट्रीय दलित साहित्य सम्मान	2022

नागफनी परिवार आप सभी के उज्ज्वल भविष्य की कामना करता है .

शोधालेख प्रकाशन के मानक

व्यक्तिगत पंच वार्षिक सदस्यता लेने पर पांच साल तक पत्रिका मिलेगी । शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको मेल से ही सूचित किया जाएगा स इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं ।हिन्दी की स्तरीय पत्रिका नागफनी के जो सदस्य हैं उनका ही आलेख प्रकाशित होगा ।

जो भी व्यक्ति शोधालेख भेजना चाहते हैं उसमें निम्नोक्त बिंदु आवश्यक हैं जैसे-

1.सरांश
2. विषय वस्तु / बीज शब्द
3.भूमिका / प्रस्तावना
4. मुख्य अंश / उद्देश्य
5. परिणाम / निष्कर्ष
6. सन्दर्भ

7. शब्द मर्यादा अधिकतम शब्द 3000 । इससे ज्यादा शब्द है तो कार्यकारी संपादक से परामर्श कीजिएगा ।

8. सत्यापन एवं सहमति पत्र देने पर ही आलेख के सम्बन्ध में निर्णय होगा ।

मैं ..... सत्यापित करता/करती हूँ की नागफनी के लिए प्रस्तुत शोधालेख शीर्षक.....मौलिक एवं अप्रकाशित है स लेखन संबंधित सारे संदर्भ सत्य है । किसी भी अंश के विवादित स्थिति के लिए मैं स्वयं जिम्मेदार रहूँगा / रहूँगी । साथ ही प्रस्तूत शोधालेख में नागफनी के पीयर रिव्यू कमिटी को संशोधन, संपादन और संवर्धन करने की सहमति जताता / जताती हूँ । शोधालेख प्रकाशित-अप्रकाशित करने का पूर्ण अधिकार सम्पादक मंडल और पीयर रिव्यू कमेटी का है । स्तरीयता एवं मौलिकता आदि के परीक्षण के बाद ही शोधालेख की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा, मुझे मान्य होगा । उपरोक्त नियम और शर्तो को मैं स्वीकार करता/करती हूँ।

हस्ताक्षर :-

नाम:-

मोबाइल नं. :-

व्यक्तिगत पंच वार्षिक सदस्यता लेने पर पांच साल तक पत्रिका मिलेगी । शोधालेख प्रकाशन की स्वीकृति/अस्वीकृति का जो भी निर्णय होगा वह आपको मेल से ही सूचित किया जाएगा । इसको लेकर संपर्क करने की आवश्यकता नहीं हैं ।

STANDARD NORMS FOR AUTHORS

Nagfani, the U.G.C. Care listed journal publishes articles, research papers etc. written by the members of journals only. The manuscripts should contain the following:

1. Abstract with keywords
2. Objectives
3. Conclusions
4. References
5. Word limit is 3000 (For higher limits, please contact the editor)

UNDERTAKING BY AUTHOR

I———— certify/undertake to say that the manuscript entitled————submitted for publication in the NAGFANI issue is an unpublished original work. I know that I will be fully responsible for any controversial situation arising out of the manuscript/article or part of it. I also transfer the rights to edit, review and conserve the manuscript to the peer review committee of NAGFANI.

Signature of the author:
Mobile No:



अधिक जानकारी के लिए वेबसाइट देखिए http%//naagfani.com